❋ ओम् राम ❋

❋ श्रीसद्गुरुकबीर हनुमत्पुस्तकालय का चतुर्थमणि ❋

श्रीसद्गुरुकबीरसाहब कृत-

❋ बीजकग्रन्थः ❋

तस्य

श्रीमत्स्वामिहनुमद्दासषट्शास्त्रिविरचितया-

स्वानुभूति संस्कृत व्याख्यया ल्पाक्षराहिन्दीव्याख्या

टिप्पण्या च समलंकृतः

सम्पादक

स्वामी सुभद्रदास सांख्ययोगवेदान्ताचार्य

द्वितीयावृत्तिः
सहस्र प्रति

मकर - संक्रान्ति
वि० सं० २०२८

लागत मूल्य १५ रु०
मार्ग व्यय अलग

* ओम् राम *

* श्रीसद्गुरुकबीर हनुमत्पुस्तकालय का चतुर्थमणि *

श्रीसद्गुरुकबीरसाहब कृत-

* बीजकग्रन्थः *

तस्य

श्रीमत्स्वामिहनुमद्दासषट्शास्त्रिविरचितया-

स्वानुभूति संस्कृत व्याख्यया त्पाक्षराहिन्दीव्याख्या

टिप्पण्या च समलंकृतः

सम्पादक

स्वामी सुभद्रदास सांख्ययोगवेदान्ताचार्य

द्वितीयावृत्तिः सहस्र प्रति

मकर-संक्रान्ति वि० सं० २०२८

लागत मूल्य १५ रु० मार्ग व्यय अलग

विषयानुक्रमणिका

❃

सं०	विषय	पद्य सं०		पृष्ठ
१	शुद्धिपत्र			१
२	भूमिका			१
३	विशेष कथा भाग			८१
४	रमैनीरसोद्रेक			१
५	रमैनी	८४		१
६	शब्द	११३		२६३
७	परिशिष्ट शब्द प्र.	(२)		५७०
८	कहरा	१२		५७७
९	विप्रमतीसी	१		६२२
१०	हिंडोला	३		६३२
११	वसंत	१२		६४३
१२	चाँचर	२		६७७
१३	ज्ञान चौंतीसी	३५		६९०
१४	वेलि	२		७२७
१५	बिरहुली	१		७३७
१६	साखी	३८५		७४४
१७	परिशिष्ट साखी	(७२)	...	९९८

ॐ

१४ जनवरी सन् १९७२ ई०

प्रकाशक—
श्रीसद्गुरुकबीरहनुमत्पुस्तकालय,
के. ६७/६६ ए. ईश्वरगंगी, वाराणसी ।

मुद्रक—
हनुमान मुद्रण यन्त्र,
पियरीकलाँ, वाराणसी ।

भूमिका के शुद्धिपत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४	२९	पदिच्छिन्ने	परिच्छिन्ने
५	१७	सत्य पल	सत्य फल
,,	२२	लभेत्	लभेत
९	३०	भदेतो	भेदतो
१०	६	से ह	सेही
,,	१९	श्यित्त	श्चित्त
१३	२	शास्त्रक	शास्त्रैक
१५	१६	ठग ने	ठगने
१६	१८	ब्राह्मणात्व	ब्राह्मणत्व
,,	२५	कहरा का	विप्रमतीसा का
२६	२६	लिख गया	लिखा गया
३६	२०	वर्णश्रम	वर्णाश्रम
४५	४	माग	मार्ग
४४	६	गत	गति
४८	२२	सवाधार	सर्वाधार
५२	१	त्रय	त्रयं
५४	२५	दे दना	दे दाना:
५६	३०	संयासी	संन्यासी
५७	१८	सुगुर	सुगुरु
६४	२६	तदा	सदा
६६	१	काय	कार्य
६८	१६	सवदेव	सर्वदेव
७१	१	त	तथा
७६	२१	कमन्द्रिय	कर्मेन्द्रिय

विशेष कथा भाग

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
९१	९	हागे	होगे
११९	१५	अनायस	अनायास
१२३	३०	कह से	कहने से
१२९	९	केसरी से	केसरी

सम्बन्ध

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
११	९	त्यपगुत्वे	त्यगुत्वे
१३	१०	ऽध्यक्ष	ऽध्यक्षं

टिप्पणी

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
९	२८	दवश्य	दवश्यं
११	२५	कामाश	कामांश

बीजक मूल के शुद्धिपत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
७८	२०	होऊ	होहु
८८	१	कोई	कोइ
,,	२	कोई	कोइ
११५	२१	सो जी	सो जो
१३५	१९	लाक	लोक
१३५	,,	दहु	देहु
२१४	२९	लाव	लावै
२५५	१४	कुन्ता कर्ण	कुन्ती कर्ण
३०१	२८	सा डर	सो डर
३१८	४	पद का	पद को

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३३२	२३	तुरुकजा	तुरुक जो
३४८	६	निराकर	निराकार
३५१	१६	भैसा	भै सो
३५४	२८	नहिं मलै	नहिं मिलै
४२०	१७	सनना	सनान
४६१	२८	धार	धरि
,,	,,	धया	धिया
५०५	१५	नाह	नहिं
५४८	२	कहाह	कहहिं
६०२	२	सो कियो	सो कीयो
६२८	२६	मकलकी	सकल की
६४१	१	धरात	धरति
७०८	४	छिपाव	छिपावै
७१३	७	धम	धर्म
७४०	१६	लाढ़हिं	लोढ़हिं
,,	१७	बाले	बोले
,,	,,	सन जना	सन्त जना
७५८	१६	अटे ओट	ओटे ओट
७६६	२४	कहाँ	कहौं
७६७	२२	अपन	अपने
८०४	३०	ऐहा	ऐहो
६२२	२३	घटै बढ़	घटै बढ़ै
६४१	२१	भरत	भरमत
६८१	११	बाल	बोले

स्वानुभूतिसंस्कृत के शुद्धिपत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
६	१३	जनना	जननी
६	१०	पाखण्ड	पाखण्डं
२७	१३	विचक्षण	विचक्षणः
५६	१	कोऽपि वा	केऽपि वा
८३	३	तरतं	स्तं
६६	१८	षर्व	सर्व
११७	१३	बोध्यत्ते	बोध्येते
१५०	४	गति	गतिं
१५६	२०	जन्तो	जन्तवो
१६२	२६	श्रत्वा	श्रुत्वा
१७६	२०	मारिष्यति	मरिष्यति
१७७	१६	गणौ	गणै
१६५	२१	कि वृथा	किं वृथा
१६७	१८	श्रुतेः	१ श्रुतेः
,,	२२	अन्धा	अन्धा २
२०१	६	मिलित्वैय	मिलित्वैव
२०२	४	स्वस्य	स्वस्य १
२०२	८	कुभाग्यश्च	कुभाग्यञ्च
२०४	१६	नव	नैव
२०५	१५	ऽक्षंत	ऽक्षतं
२१५	६	मयषा	मायैषा
२१६	४	प्ररयच्च	प्रैरयच्च
२२२	११	सन्	सन
,,	१२	रूजादि	रुजादि
२२५	८	निदया	निद्रया
२३२	६	नानासौ	नाऽसौ
२६०	३	स्वायं	स्वादं
२६२	८	तव मागेयं	तव मायेयं
,,	१८	श रारिणः	शरीरिणः
२६६	१३	क्ररा	क्रूरा
३१८	७	सावै	सोवै
,,	,,	भवाणवम्	भवार्णवम्
३३३	२६	एभिमागैं	एभिर्मार्गैं
३४०	५	कयां	कथां

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३४०	७	तस्यव	तस्यैव
३५६	२६	विवेवेके	विवेके
३७२	७	योगा	योगी
,,	,,	रुपे	रूपे
३७७	२६	बलिश्चव	वलिश्चैव
३७८	४	ऽभूच	ऽभूच्च
,,	५	कृष्णी	कृष्णो
३६६	१०	त्व	त्वं
४१६	६	गृह्णाति	गृह्णाति
,,	२०	दुर्मा तः	दुर्मति
४१७	८	मृत्युपैतिह	मृत्युमुपैतिहि
४१६	६	तज्जलल	तज्जलं
४२०	२	भंवी	भंवद्भि
४२४	२४	हहने	हनने
४४८	१४	भाष गुरुः	भाषते गुरुः
४४६	२२	स्वा म	स्वात्म
४५१	२२	सदाः	सदा
४५४	१३	निरथ	निरर्थं
४५५	६	ताः वा	ताः सर्वा
४७३	१६	लोभावशा	लोभवशा
४८४	१६	भक्ति विना	भक्तिं विना
,,	२६	भक्ति विना	भक्तिं विना
४६८	६	सचतना	सचेतनाः
,,	११	दं हि	इदं हि
४६६	२०	मध्ववदं	मध्वदं
५३४	१०	पश्चास्तापै	पश्चात्तापै
,,	२८	सञ्जिता	सञ्चिता
५३५	३०	कस्व	कस्य
५३६	१५	वालि	वालिं
५४४	२०	ज्ञानमुक्ता	ज्ञानान्मुक्ता
५४८	१०	भासते	भाषते

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५५४	१२	संसय	संशय
५६५	१६	सर्वास्तु	सर्वासु
६१३	३	विसज्ज	विसर्ज
६१६	६	द्वापे	द्वीपे
,,	८	यत्त	यत्तु
६२१	२	राम	रामं
६४१	२२	निश्चलामाद	निश्चलोमोद
६४५	२७	वालस्य मन	वालस्य मम
६६४	२४	तायते	तारयते
६६६	३०	सञ्छिष्ये	सञ्छिष्ये
६८१	२०	श्रते	श्रुते
६८८	३०	सविशेन्न	संविशेन्न
६६०	८	विषेके	विवेक
७०८	६	समासक्ता	समासक्तो
७१३	२०	तत्राऽसक्तै	तत्राऽऽसक्तै
७५०	१	कृततात्मा	कृतात्मा
७७७	२२	स्वराज्य	स्वाराज्य
७८१	१३	तृष्णाया	तृष्णया
७८२	२७	ह्मप	ह्मुप
७८४	२	मात्रास्परं	मात्रात्परं
,,	२८	स्वर्ग	स्वर्गं
८०१	१०	दानता	दीनता
८०८	५	गुरोप	गुरोरुप
८२१	२२	भ्रामायत्वा	भ्रामयित्वा
८३६	११	दतना	दना
,,	१२	पापय	पायय
८४०	७	चतुर्व्यू ह	चतुर्व्यूहं
८४६	७	स्वर्पा	सर्पा
८८६	२८	भ्राक्षिता	भ्रंक्षिता
,,	२६	सन्मान्त्रां	सन्मन्त्रां
८६३	१६	नास्त	नास्ति

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
८९५	२५	यान्ति	याति
,,	२६	परोऽति	परोऽस्ति
९२२	८	तदथ	तदर्थं
९२९	४	कौश्चित्त	कैश्चित्तु
,,	६	वांटाश्चहं	वांटाश्चाऽहं
,,	२९	यस्थ	यस्य
९३४	३	विचारद्यैः	विचाराद्यैः
,,	६	बहि चा	वहिश्चा
९३५	२	त्व न	त्वं न
९३९	२९	नश्यत्येवेति	नश्यत्येवैति
९४२	१५	ऽय	ऽयं
,,	१७	सर्व	सर्वे
९५४	१५	च्लुद्धा	च्छुद्धा
९६७	११	ते नात्र	तेनात्र
,,	२८	ऽभावात्त	ऽभावात्तु
९७१	८	आत्मज्ञान	आत्माऽज्ञान
९७५	१६	कश्चित्त	कश्चित्तु
९९६	१०	मायास्तनुजा,	मायायास्तनुजा
,,	१८	करुणाया	करुणया
१०२०	,,	प्रतिपाद्य	प्रतिपद्य
१०२३	३	साक्षिणां	साक्षिणं

हिन्दीव्याख्या टिप्पणी के शुद्धिपत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२	३०	दर	दूर
२०	२०	कौ कर	को कर
,,	२३	कि बात	की बात
२५	९	हातो	होती
,,	२०	जावन	जीवन
२६	२२	उसा को	उसी को
३०	६	ब्रह्मत्मा	ब्रह्मात्मा
,,	२८	वशस्थ	वंशस्थ
,,	२९	बुद्धिवि	बुद्धिर्वि
३१	३०	वर्जिताम्	वर्जितम्
४०	२८	निमेघिहि	निमेधेहि
६०	१५	क्वमुक्त	क्वमुक्तिः
६५	५	ज्ञानि ो	ज्ञानिनो
६७	२९	विष्ठयां	विष्ठायां
७३	२९	क्षास्त्रैश्च	शास्त्रैश्च
७७	३	प्रकृत	प्रकृति
,,	२६	य	ये
८३	८	ऽअ	अ
८५	१५	यवराज	यमराज
८६	२१	कर्मण्य	कर्तव्य
,,	२९	श्रृण्वपि	श्रृण्वन्नपि
८७	२१	ज्ञानपुराण	दान पुण्य
८८	२३	आत्मज्ञादि	आत्मज्ञानादि
९८	२२	देव	देव के
९९	१३	देव भा	देव भी
,,	२२	न पुसक	न पुंसक
१०४	२६	उत्पादान	उपादान
१११	२१	मानन	मानने
११२	१९	रामों	रोमों
११५	१४	गुणकृति	गुणकृत
१२६	१७	दानामिति	दानमिति
१३०	४	हरिभक्ति	हरिभक्त
,,	१५	परामभूवु	पराबभूवु
,,	३०	रात्मानं	रात्मानं
१३३	२	वाम्य	काम्य
१५०	२१	अनिवर	आनिकर

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१५४	३०	आरोग्य	आरोग्यं
१५६	३१	कारणाम्	कारणम्
१६०	२५	का भा	का भी
१६६	२०	भूवाप	भूकम्प
१७४	२६	प्रयुक्त	प्रत्युक्त
१८०	२५	ममेदामित्ति	ममेदमिति
१९९	२	शरी	शरीर
,,	४	औपाधि	औपाधिक
२००	१९	जन क	जन के
२१२	२४	काम्बा	काम्य
२२०	१	पूर्ण जट	पूर्ण घट
२३०	१८	इम	इमं
२४६	२२	साह	साहब
२७६	२६	महात्म्य	महात्म्यं
२८१	१६	विचाने	विचारने
२८२	२१	कोशेन	कोशेनैव
२८३	२९	पवित्र	पवित्रं
२८९	२९	ख्वल्विद	खल्विदं
२९१	१७	श्रात्र	श्रोत्र
३००	१६	मिट्टा	मिट्टी
३०२	९	क ज्ञान	के ज्ञान
,,	१८	ह्य षा	ह्म षां
३०८	१९	विषया	विषयी
३ ०९	१४	परा	परां
३११	३	शरीराद	शरीरादि
,,	२९	प्रोक्ता	प्रोक्तो
३२८	१५	सुना	सुनो
३३५	२२	हान	हीन
३३९	१५	तुम न	तुम ने
३४०	१७	यद्यपेते	यद्यप्येते
३४१	१३	याग्य	योग्य

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३४१	१७	हागे	होगें
३४३	३	क	कै
३४८	३०	लगता	लगाता
,,	,,	स्वरू	स्वरूप
३६१	२९	तव	तरव
३६८	३	वशादि	वंशादि
३९६	४	होता	होता है
४०५	३०	काटि	कोटि
४३३	१४	अवगमन	आवागमन
,,	१८	विघस्त	विध्वस्त
४३७	६	ठहने	ठहरने
,,	१६	प्रतिकार	प्रतिकारं
४३९	८	दह	देह
,,	,,	टोंटा	टोटी
,,	१३	विचारदि	विचारादि
४४१	१०	लाभ	लोभ
४४६	११	संही	सेही
४५९	२२	क लिये	के लिये
,,	,,	क प्रति	के प्रति
४६३	२६	वार्यो	कार्यों
४६६	१०	कैस	कैसे
,,	१३	रग	रङ्ग
,,	२२	इसक	इसको
४९२	१९	कल्पत	कल्पित
४९९	७	ऽध्याद्वेण	ऽध्यद्वेग,
५०४	१२	जाना कर	जान कर
५१६	२४	याग्य	योग्य
५३४	२२	या घर	वा घर
५४३	१५	गंग्र	गृं
५५७	१७	देखा	देख
५९५	२८	मन्तृतं	मन्तृतां

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
६१५	९	जो	को
६२४	१३	आमवस्या	अमावस्या
६७२	में ए-ई, रेफ अनुत्थित है		
,,	७	माह	मोह
,,	८	घाया	धोया
,,	११	अनक	अनेक
,,	,,	लाक	लोक
,,	,,	भागादि	भोगादि
,,	१२	यागिया	योगियों
,,	१३	प्रतात हाता	प्रतीत होता
,,	१७	स्वगादि	स्वर्गादि
,,	१९	भाग	भोग
६९०	१९	चतुर्थंदश	चतुर्दश
६९१	२६	चोक रीत्या	चोक्तरीत्या
६९३	१८	ब्रह्म त्मा	ब्रह्मात्मा
७०६	२४	यथा	तथा
७३१	१६	से चार	में चार
७४३	१२	फल	फूल
७५१	२६	मात्म	मात्मा
७५१	३१	निवृत्य	निवृत्त
७५६	३	क्षर	क्षीर
,,	९	करक	करके
,,	२८	सुवण	सुवर्ण
७६४	१२	कुर्वन्नेव	कुवन्नेवेह
७६८	१८	श्रता	श्रोता
७७३	२१	स्त	स्ति
७७७	२९	हंसारि	संसारि
७८८	२०	सवश्वर	सर्वेश्वर
८३८	२३	एवत्व	एकत्व
८४८	२३	याग	योग
८८८	६	अद्विय	अद्वितीय
८९२	१३	चञ्चता	चञ्चलता
८९६	२	और की	ओर की
,,	२६	कैद दिनों	कैक दिनों
९४२	९	शब्दभा	शब्दाभास
९७३	१७	निन्द	निन्दा
१००१	२५	ब्रह्मा	ब्रह्म

संस्कृत श्लोकों की संख्या

सम्बन्ध	१०३
रमैनी	१३८१
शब्दादि	१९२०
कहरादि	१०३९
साखी	१६६०
परिशिष्ट साखी	१७८

नोट—प्रेस की असावधानी से अनूठे बहुत से रह गये हैं। कृपया पाठकगण सुधार कर पढ़ें।

* ओम् राम *

भूमिका

बन्दे ब्रह्मेश्वरं देवं सद्गुरुं सज्जनान् बुधः।
यज्ज्ञानध्यान पूजाद्यैः परानन्दोऽभिव्यज्यते ॥१॥

ब्रह्म ईश्वरं देवं सद्गुरुं सज्जनान् बुधः (ज्ञानवतः) च बन्दे, यस्य ज्ञानेन, यस्य ध्यानेन यस्य पूजया, यस्य सङ्गत्या उपदेशाच्च येषां सेवया परानन्दोऽभिव्यज्यते ॥१॥

सच्चिदानन्द स्वरूप असङ्गनिर्विकार सर्वात्मा को यहाँ ब्रह्म शब्द से कहा गया है कि जिसके ज्ञान से अमृतत्व (मोक्ष) प्राप्त होता है, अन्यत्र कहीं ब्रह्मा, वेद, प्रकृति, ब्राह्मणादि को भी ब्रह्म शब्द से प्रसंग के अनुसार कहा जाता है। जिस निर्गुण सर्वात्मा को यहाँ ब्रह्म शब्द से कहा गया है, उसीको निर्गुण राम शब्द से भी कहा जाता है। अतः कबीर साहब ने कहा है कि ''भजिये निर्गुण राम को, तजिये विषय विकार'' इत्यादि॥ निर्गुण ब्रह्म का केन उपनिषद् में वर्णन है कि ''यद्वाचाऽनभ्युदितं येन वागभ्युद्यते। तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते १।४'' जो वाक् शब्द से कहा नहीं जाता है, जिसके बल से वाक् कही जाती है। उसी ब्रह्म को तुम समझो, उपासक इदं (अनात्म) रूप से जिस ब्रह्म की उपासना करते हैं, उसको सत्य ब्रह्म नहीं समझो। इसी प्रकार जो मन से जाना नहीं जाता है। जिसको नेत्र से कोई नहीं देखता है, प्राण से जो जीवन का धारण नहीं करता है, किन्तु जिससे मन आदि सब प्रकाशित और जीवित रहते हैं, वही स्वयं प्रकाश ब्रह्म ज्ञातव्य है। उपासक अर्थ करते हैं कि ''यदिदमुपासते तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि'' इदम्=अन्यत्-न विद्धि जिसकी उपासना करते हैं उसी ब्रह्म को समझो, अन्य को नहीं। कठ में कहा गया है कि ''एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म ह्येतदेवाक्षरं परम्। एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा पुनर्जन्म न विद्यते। कठ० १।२।१६'' यह ओंकार अक्षर ब्रह्म है (ब्रह्म का बोधक) है, यही अक्षर पर तत्व है, जिसको ही जान कर (इसकी उपासना करके) जो जिस-जिस सगुण वा निर्गुण वस्तु को प्राप्त करना चाहता है, उसको वह प्राप्त होता है।

"प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते। अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्। मुण्ड० २।२।४" ओंकार धनुष है, जीवात्मा (मन) बाण है, उसका लक्ष्य (ध्येय) ब्रह्म है, सो ब्रह्म प्रमादादि दोष रहित से वेद्धव्य (प्राप्तव्य) है अतः शर जैसे लक्ष्य में मग्न होता है, उसमें प्रविष्ट होता है, तैसे मन को तन्मय होना चाहिये और होता है, अर्थात् मिट्टि में धरा हुआ लोहा जैसे कुछ दिन में मिट्टि हो जाता है, लवण के पहाड़ पर के काष्ठादि जैसे लवण हो जाते हैं, तैसे ब्रह्म निष्ठ विद्वान् का मन ब्रह्म हो जाता है। फिर उस विद्वान् के कामादि रूप हृदय के ग्रन्थि (बन्धन) नष्ट हो जाते हैं, सब संशय नष्ट हो जाते हैं, और कर्म नष्ट हो जाते हैं, और स्वयं प्रकाश ब्रह्म ही सर्वदिशा देश में सब वस्तु स्वरूप दिखने लगता है, और जीवन्मुक्ति की प्राप्ति होती है। क्योंकि "ब्रह्मविदाप्नोति परम्। सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्। सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह। तैत्तिरीय २।१। यतो वाचो निवर्तन्ते, अप्राप्य मनसा सह। आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्, न बिभेति कुतश्चन। तै० २।९" ब्रह्म वेत्ता परतत्त्व को प्राप्त करता है, वह परतत्त्व सत्य ज्ञान अनन्त (त्रिविध परिच्छेद रहित) ब्रह्म है। और उस ब्रह्म को जो परम व्योम (आकाश) हृदयरूप गुहा में निहित (स्थिर व्यक्त) समझता है, सो सब कामों को साथ ही (एक क्षण) में प्राप्त करता है, अर्थात् सब कामों से रहित हो जाता है। और अशुद्ध मन सहित वाक् जिस को विषय करने के लिये प्रवृत्त होकर लौट आते हैं, उसको विषय नहीं करने पाते हैं, किन्तु लक्षणा से शब्द से कथञ्चित् बोधित जिस ब्रह्म विषयक अविद्या को शुद्ध मन की चिदाभास युक्त वृत्ति नष्ट करती है, स्वयंप्रकाश उस ब्रह्म के आनन्द को (आनन्द स्वरूप ब्रह्म को) निजात्म स्वरूप से प्रत्यक्ष जानने वाला विद्वान् किसी से भयभीत नहीं होता है, यही जीवन्मुक्ति कही जाती है। "कं ब्रह्म खं ब्रह्म ।४।१।। यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति। यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोतिनान्यद् विजानाति स भूमा "यत्रान्यत्-पश्यति-तदल्पं यो वै भूमा तदमृतमथयदल्पं तन्मर्त्यम्। छा० ७।४" कं = सुख स्वरूप खं = विभु ब्रह्म है। और जो भूमा विभु ब्रह्म है सोई सुख स्वरूप है, अल्प (परिच्छिन्न) वस्तु में सुख नहीं है। और जिसमें ज्ञानी पुरुष उस ब्रह्म से अन्य किसी वस्तु को सत्य नहीं देखता है, न सुनता है, न जानता है, किन्तु अन्य वस्तु को सर्वाधिष्ठान ब्रह्मस्वरूप ही (ब्रह्ममें कल्पित मिथ्या) जानता है, वही ब्रह्म है और जिसमें अन्य को भी देखता सुनता जानता है, वह अल्प परिच्छिन्न है। और जो भूमा है

सो अमृत (अवीनाशी) है और अल्प वस्तु मर्त्य (विनश्वर) है "बाहर भीतर एक रस, जो चेतन भरपूर। विभु नभ सम सो ब्रह्म है, नहिं नियरे नहिं दूर ॥१॥" विचार सागर। 'अयमात्मा ब्रह्म। योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकाम न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति। बृ० ४.४" यह प्रत्यक्ष जीव साक्षी रूप कूटस्थात्मा ब्रह्म (विभु) है। जो ज्ञानी काम रहित निवृत्त काम वाला पूर्ण काम वाला तृप्तहोता हुआ आत्मकाम (आत्मप्रेमी) होता है। उसके प्राण लोकान्तरादि में प्राप्ति के लिये शरीर के अन्त काल में उत्क्रमण (उर्ध्वगमन) नहीं करते हैं। अतः वह जीवन काल में ही ब्रह्म होता हुआ अन्त में भी ब्रह्म में लीन होता है। उसके प्राणादि महावायु आदि में मिल जाते हैं। अत एव भगवद्गीता अ० १३ में कहा गया है कि "ज्ञेयं यत् तत् प्रवक्ष्यामि यज् ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते। अनादिमत् परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥१२" अमानित्वादि साधनों से जानने योग्य जो ब्रह्म है, उसका प्रवचन करूंगा, कि जिस ब्रह्म को जान कर ज्ञानी अमृत (मोक्ष) पाता है। वह ब्रह्म आदि वाला नहीं है, उत्पत्ति के कारणों से रहित है अत एव सत् (व्यक्त कार्य) और असत् (अव्यक्त कारण) रूप भी वह नहीं कहा जाता है, वह सत असत से पर है, माया से उस में मिथ्या कारणत्वादि कल्पित (सिद्ध) होता है, वही सर्वात्मा है इत्यादि, अतः वन्दनीय है और "ईशावास्यमिदं सर्वं यत् किञ्च जगत्यां जगत्। तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद् धनम्। ईश० १" जगती में (भूमि में) जो कुछ यह जगत् चर अचर संसार है; सो सब ईश्वर से आच्छादनीय (व्याप्य) है, उस के विना किसी की स्थिति व्यवहृति आदि नहीं है। अतः सब ईश्वर का है, इस कारण से अभिमानों के त्याग से अमानित्वादि गीता वर्णित साधनों के द्वारा ब्रह्मात्मा को जान कर अपनी रक्षा करो, सांसारिक वस्तु प्रतिष्ठा आदि की इच्छा नहीं करो, समझो कि धन किसका है, किसी का नहीं॥ सबके हृदय में अन्तर्यामी ईश्वर वर्तमान रहता है, सो तेरा वस्तुतः सत्यात्मा है, उसके शरण में प्राप्त होवो, उसके चिन्तन ध्यानादि करो, यह गीता फरमाती है, "स विश्वकृद् विश्वविदात्मयोनिर्ज्ञः कालकालो गुणी सर्वविद्यः। प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः संसार मोक्ष स्थिति बन्धु हेतुः। श्वेता० ६।१६" वह ईश्वर सब संसार का कर्ता, संसार का ज्ञाता, सर्वात्मा होते हुए, सबकी योनि (कारण) है, क्योंकि ज्ञाता और सर्व नाशक काल का भी काल

है, अर्थात् उसमें काल से भूत भावी आदि रूपता नहीं होती है, अतः काल शक्ति का नाशक है और वह शुद्ध सत्त्वप्रधान माया रूप गुण वाला है। अत एव कहा गया है कि "मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्। तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्। श्वेता० अ० ४।१०" माया को ही जड़ जगत् की प्रकृति (उपादान) समझना चाहिये, मायावी ब्रह्म को जगत का महान ईश्वर समझना चाहिये और उसी के मायिक-अवयव तुल्यपदार्थों से सब जगत् व्याप्त है। और शुद्धसत्त्वप्रधान माया रूप उपाधिवाला होने से जो सर्व विद (सबका विशेष रूप से ज्ञाता) है। अतः प्रधान (प्रकृति और क्षेत्रज्ञ = व्यावहारिक जीव) का स्वामी नियन्ता है, सब सत्त्वादि गुणों का ईश्वर है और संसार से मोक्ष, संसार में स्थिति रूप (बन्ध) का भी हेतु ज्ञाताज्ञात रूप से है। "न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाप्यधिकश्च दृश्यते। पराऽस्यशक्ति र्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च।" श्वेता० ६।८। उस ईश्वर के कार्य (शरीर) और करण (इन्द्रिय) नहीं हैं, न उसके तुल्य वा उससे अधिक (बड़ा) कोई देखा सुना जाता है और उसकी अनेक प्रकार की उत्तम शक्ति सुनी जाती है, स्वाभाविक ज्ञानक्रिया (सर्वज्ञत्वादि) और बलक्रिया (सर्वाधारत्वादि) सुनी जाती है। इसी आशय से कबीर साहब ने कहा है कि "जिहि राखेहु अनुमान कै, स्थूल नहीं अस्थूल। अवधू कुदरत की गति न्यारी" इत्यादि, संसार कार्य से जिस कर्त्ता ईश्वर का अनुमान कर रखे हो, जिसका अनुमान से निश्चय किये हो। उस ईश्वर की गति (प्रवृत्ति ज्ञान आदि) सब विलक्षण हैं, क्योंकि वह स्थूल शरीरादि वाला नहीं है। किन्तु स्थूल रहित है, तो भी सर्वदर्शन श्रवणादि का कर्त्ता ईश्वर होता है इत्यादि॥

"आपुहि कर्ता भया कुलाला" इत्यादि वचनों से भी कबीर साहब ने वैदिक ईश्वर का वर्णन किया है। और "ईश्वरानुग्रहात्पुंसां परमाद्वैत भावना। महाभय परित्राणा द्वित्राणामेव जायते॥१॥" महाभय सेरक्षा करने वाली परम अद्वैत वस्तु की भावना (चिन्तना = भक्ति = ज्ञान) ईश्वर की कृपा से ही दो तीन पुरुष को होती है। अतः ईश्वर वन्दनीय हैं।

"एको देवः सर्व भूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा। कर्माऽध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च। श्वेता० ६।११" अकृत्रिमम-नाद्यन्तं देवनं देव उच्यते। आकारादिपदिच्छिन्ने मिते वस्तुनि तत्कृतः।

योगवासिष्ठ प्र० ६।२६।२०॥ "आत्मैव देवताः सर्वाः सर्वमात्मन्यवस्थितम्। आत्मा हि जनयत्येषां कर्मयोगं शरीरिणाम्। मनुः अ० १२।११६" एक देव सब भूतों में सर्वात्मा रूप से छिपा हुआ है, अतः सब में व्यापक, सब प्राणी का अन्तरात्मा है, तथा सबके कर्मों का साक्षी (द्रष्टा) होता हुआ, सब भूतों में बसने वाला केवल (शुद्ध) निर्गुण चेता (सर्वप्रकाशक) सर्वसाक्षी है॥ अकार्य स्वरूप, आदिअन्त रहित देवन (द्योतन = दीप्ति) देव कहा जाता है। आकारादि से युक्त एक देशी परिमित वस्तु में वह नित्य द्योतन (प्रकाशन) कैसे हो सकता है॥ अतः परमात्मा ही सब देव स्वरूप है, और सब जगत आत्मा ही में अवस्थित = कल्पित = सिद्ध है। और आत्मा ही देवादि रूप से इन शरीरियों के कर्मफल के सम्बन्ध को सिद्ध करता है। अतः देव आत्मरूप से वन्दनीय हैं। अन्यथा नहीं। अत एव कबीर साहब कहते हैं कि "राम नाम का सेवा बीरा, दूरि नहीं दुर आशा हो। आन देव का सेवहु बौरे, ई सब झूठी आशा हो। यदि दूर देशादि की आशा दूर नष्ट नहीं हुई (सर्वात्मा राम को नहीं समझा) तो हे भाई तुम ने राम-नामी को क्या सेवा (क्या भजा) अर्थात् नहीं भजा, और हे बौरे यदि उस राम से अन्य स्वतन्त्र देवताओं को मान कर उनको सेवते हो, तो भी क्या सेवते हो, अन्य देवों की आशा तो सर्वथा मिथ्या है, सत्य फल का हेतु नहीं हो सकती है, इत्यादि॥

"जन्मानेकशतैः सदाऽऽदरयुजा भक्त्या समाराधितो, भक्तैर्वैदिकलक्षणेन विधिना सन्तुष्ट ईशः स्वयम्। साक्षाच्छ्री गुरु रूपमेत्य कृपया दृग्गोचरः सन् प्रभुस्तत्त्वं साधु निबोध्य तारयति तान् संसार दुःखार्णवात्। (शांकर सर्ववेदान्त संग्रहे) ॥१॥ "यावन्नानुग्रहः साक्षाज्जायते परमेश्वरात्। तावन्न सद्गुरुं कश्चित्सच्छास्त्रं वापिनो लभेत्" (सुभाषित रत्नाकरे) ॥२॥

अनेक सौ जन्मो द्वारा वैदिक लक्षण युक्तविधि से और सदा आदर युक्त भक्ति से शिष्य भक्तों से सम्यक् आराधित (सेवित पूजित) ईश्वर सन्तुष्ट होकर, कृपा से स्वयं साक्षात् गुरुरूपता को प्राप्त होकर, वह प्रभु शिष्य की दृष्टि का विषय होकर, साधु (सुन्दर) तत्त्व को समुझाकर, उन शिष्यों को संसार के दुःख रूप समुद्र से मुक्त करता है॥१॥ जब तक ईश्वर से साक्षात् अनुग्रह (दया) नहीं उत्पन्न होता है, तब तक कोई सद्गुरु वा सत शास्त्र को भी नहीं पाता है॥२॥ और "आचार्यवान पुरुषो वेद। छा० ६।१४।२। आचार्याद्ध्येवविद्या विदिता साधिष्ठं साधयतीति। छा० ४।६।

३। तरति शोकमात्मवित्। छा० ७।१।३" आचार्य (सद्गुरु) वाला पुरुष (जीव) सत्यात्मा को जानता है ॥ तथा आचार्य से ही विदित (लब्ध= प्राप्त) विद्या अत्यन्त रम्य (सुन्दर नित्य मोक्ष) को प्राप्त कराती है। आत्म ज्ञानी शोक रहित (मुक्त) होता है। इत्यादि शास्त्र के अनुसार मोक्ष हेतु ज्ञान प्रद सद्गुरु स्वतः प्रकाश ब्रह्म ईश्वरादि के तुल्य उनके अनन्तर वन्दनीय हैं। "सत्सङ्गति संसृति कर अन्ता। बिनु हरि कृपा मिलहिं नहिं सन्ता" इत्यादि वचनों के अनुसार जिन सज्जन सन्तों की सङ्गति संसृति (जन्मादि प्रवाह) को अन्त (नष्ट) करने वाली है, सो हरि कृपा से प्राप्य सन्त भी अवश्य वन्दनीय हैं ॥ श्री कबीर साहब ने कहा है कि "सङ्गति करिये साधु की, हरैं और की व्याधि" (अनादि काल) की अविद्या रूप व्याधि को हरने वाले सन्तों की सङ्गति करनी चाहिये ॥इत्यादि॥

"आत्मज्ञानं समारम्भस्तितिक्षा धर्मनित्यता। यमर्थान्नापकर्षन्ति स वै पण्डित उच्यते। महा भा० उद्योग प० अ० ३३।" शास्त्रानुसार आत्म ज्ञान, शक्त्यानुसार आरम्भ, वैराग्यानुसारतितिक्षा, श्रद्धायुक्त धर्म की नित्यता होने से, ये आत्मज्ञानादि जिसको पुरुषार्थ से च्युत नहीं करते हैं, सो शास्त्रादि का ज्ञाता समदर्शी स्वधर्मनिष्ठ विवेकादि युक्त पुरुष पण्डित कहा जाता है। अतः वह सबका हित कारक होता है, किसी का अहित नहीं करता है, न चाहता है, कबीर साहब ने कहा है कि "पण्डित से बोलिये हितकारी" इत्यादि। अतः पण्डित बन्दनीय होते हैं ॥१॥ बन्दनीय को बन्दि के, आगे कछु सुविचार। करौं सुखद सुविवेक प्रद, सन्त शास्त्र मतसार ॥१॥ बिनु बिचार नहिं मोह मद, पक्षपात हठ जाय। विज्ञहुँ के ताते सदा, सद्बिचार सुखदाय ॥२॥

चला भूमिश्चलः सूर्यश्चलश्चन्द्रश्च तारकाः।
चलाचले हि संसारे ब्रह्मात्मैको हि निश्चलः ॥२॥

सुखमेवास्ति नासौख्यं दुःखमेव नचापरम्।
सुखञ्च वर्तते दुःखं सर्वदैवेति केचन ॥३॥
सुखं प्रियं तु सर्वस्य दुःखञ्चाप्रियमेवहि।
नित्यं सुखं प्रवाञ्छन्ति दुःखंनेच्छन्ति वै क्वचित् ॥४॥

पृथिवी आदि सबभूत चल (विनश्वर) हैं, क्योंकि श्रुति में इनकी

उत्पत्ति कही गई है और जो उत्पन्न होता है, सो अवश्य नष्ट होता है तथा सावयवता परिच्छिन्नता आदि से भी विनश्वरता सिद्ध होती है, अत एव सूर्य चन्द्र तारा आदि भी चल हैं, सब संसार चल है और चलाचल (चञ्चल) इस संसार में ब्रह्मस्वरूप विभुएक सर्वात्मा ही निश्चल (निष्क्रिय अविनाशी) है अर्थात् "यच्चाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानिह । यच्चास्य सन्ततो भावस्तस्मादात्मेति कथ्यते ॥१॥ ऋषिः सर्वगतत्वाच्च शरीरी सोऽस्य यत्प्रभुः । स्वामित्वमस्य यत्सर्वं विष्णुः सर्वप्रवेशनात् ॥२॥ लिंग पु० अ० ७०।९६।९७" जिससे सुषुप्ति काल में जीवात्मा "सता सोम्य ! तदा सम्पन्नो भवति । छा० ६।८।१" सता (सद्ब्रह्म) के साथ सम्पन्न (अभिन्न) होता है और स्वप्नावस्था में जाग्रत की वासनाओं का आदान (ग्रहण) करता है । जाग्रत् काल में संसार में विषयों को भोगता है और जिससे इसका संतत (नित्यनिरन्तर) भाव (सत्त्व) रहता है । अतः (आप्नोति, आदत्ते, अत्ति, अतति, इति) आत्मा कहा जाता है, तहाँ तीन आत्मा के व्यावहारिक स्वरूप होते हैं, सो भी चल हैं, अन्तिम एक ही पारमार्थिक स्वरूप अचल है, वह सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म ही है ॥१॥ सर्वगतत्व से उसको ऋषि कहते हैं "ऋष् गतौ" इस धातु से ऋषि शब्द सिद्ध होता है । इस देह का प्रभु होने से शरीरी कहा जाता है, इसी के सब हैं, अतः उसमें स्वामिता है । सब में प्रवेश से विष्णु कहलाता है । इत्यादि ॥२॥ इस प्रकार से कल्पित व्यावहारिक अनेक नाम स्वरूप के होते भी, सुख स्वरूप ब्रह्मात्मा ही (सत्य) है । असौख्य (दुःख) रूप संसार नहीं है अर्थात् मिथ्या है, क्योंकि "आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते । तैत्तिरीय० ३।६" आनन्द स्वरूप ब्रह्म से सब भूत उत्पन्न होते हैं, आनन्द में स्थिर रहकर उसी में लीन होते हैं और "आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपितत्तथा । वितथैः सदृशाः सन्तोऽवितथा इव लक्षिताः ॥१॥" इस अभियुक्त बचन के अनुसार, जो वस्तु उत्पत्ति से प्रथम आदि काल में नहीं रहती है और अन्त में नहीं रहती है, सो वर्तमान काल में भी कारण से भिन्न सत्ता वाली नहीं रहती है तो भी वितथ (मिथ्या) स्वप्नादि के पदार्थों के तुल्य होते भी व्यवहार काल में सत्य के समान लक्षित (ज्ञात) होती है, सत्य रहती नहीं है । अतः आनन्द स्वरूप ब्रह्मात्मा ही सत्य है । अन्य कोई कहते हैं कि दुःख रूप संसार ही सत्य है, सुख स्वरूप कोई वस्तु नहीं है किन्तु दुःख की निवृत्ति में सुखत्व का अभिमान भ्रम होता

है। अत एव "बाधनालक्षणं दुःखम्। न्यायसूत्र अ० १।१।२१" यह पीड़ा रूप दुःख का लक्षण किया गया है। और भाष्य में कहा गया है कि सब संसार को दुःख से व्याप्त जान कर मुमुक्षु विरक्त होता है, और विरक्त विमुक्त जन्मादि रहित होता है "तदत्यन्त विमोक्षोऽपवर्गः। न्या० १।१।२२" जन्मादि रूप दुःखों से अत्यन्त विमुक्ति (छुटना) अपवर्ग (मोक्ष) है। सुख की प्राप्ति नहीं, क्योंकि मोक्ष में सुखाभिव्यक्ति आदि में प्रमाण नहीं है, इत्यादि॥ कोई कहते हैं कि चित्त के परिणाम रूप अनुकूल वेदनीय सुख और प्रतिकुल वेदनीय दुःख सदा रहते हैं, सत का विनाश नहीं होता है, जो प्रथम भावी रूप से रहता है, सोई वर्तमान रूप से रहकर, भूतरूप से रहता ही है, शशशृङ्गादि जो असत हैं, सो कभी किसी रूप से नहीं रहते हैं (धर्म लक्षण अवस्था) रूप परिणाम मात्र सत वस्तु की होती है, नाश नहीं। घट के कृष्ण रक्तादि धर्म परिणाम होते हैं, भविष्यत्व वर्तमानत्व, भूतत्व रूप लक्षण परिणाम होते हैं, और (नव) नवीनत्व (पुराण) जीर्णत्वादि अवस्था परिणाम होते हैं, ऐसे ही सुखादि में ज्ञातव्य हैं॥२॥

परन्तु संसार में सब को सुख प्रिय होता है, सुख के हेतु होने से सुख से अन्य पदार्थ प्रिय होते हैं, और दुःख तो अप्रिय ही होता है, प्राणीमात्र नित्यसुख की अत्यन्त इच्छा करते हैं चाहते हैं कि सदा मैं सुखी रहूँ, यदि सुख कोई वस्तु नहीं हो, तो ऐसी इच्छा नहीं हो सकती है, अतः सुख सब को अनुभूत है, सुषुप्ति से जागने पर मनुष्य कभी कहता है कि (आज सुख से सोया था) इत्यादि, और सुषुप्ति में सुख के अनुभव होने ही के कारण मनुष्य व्यापारों से दुःखी होने पर सोने के लिये सदा यत्न करता है, और विषयों के बिना सुषुप्ति में सुख भासता है, अतः उस सुख को विषय जन्य भी नहीं कहा जा सकता है, इसी प्रकार समाधि अवस्था में सुख का अनुभव विषयादि के बिना ही होता है, अतः सर्वात्मा ही सुख स्वरूप सिद्ध होता है, इसी से आत्मा अत्यन्त प्रिय होता है, सो आत्मा नित्य प्राप्त सुख स्वरूप है, परन्तु अज्ञान कृत आवरण मन की मलीनता चंचलता आदि से अप्राप्त के समान रहने के कारण, मनुष्य नित्य सुख की इच्छा करता है, और दुःख की इच्छा कहीं कोई नहीं करता है, अतः दुःख से अत्यन्त विपरीत सुख सिद्ध होता है, सो सर्वात्म स्वरूप है, और आत्मा ही ब्रह्म है, अतः श्रुति कहती है कि "आनन्दो ब्रह्मेति व्याजानात्। आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। इत्यादि। तैत्तिरीय० ३।६" यो वै भूमा तत्सुखं

नाल्पे सुखमस्ति। छा० ७।१३" तप विचारादि करके शिष्य ने समझा कि आनन्द स्वरूप ब्रह्म है और उस आनन्द से ही ये सबभूत आकाशादि उत्पन्न होते हैं। और अभियुक्त का वचन पञ्चदशी में है कि "समाधि निर्धूतमलस्य चेतसो निवेशितस्यात्मनि यत्सुखं भवेत्। न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते ॥१" समाधि के अङ्ग और सविकल्प समाधि के अभ्यास से जिस चित्त के मलों का नाश हो गया हो, उस चित्त को आत्मा में निविष्ट (प्रविष्ट स्थिर) करने पर, उस आत्म निवेशित चित्त को जो सुख अनुभूत होता है, सो उस समय वाणी से कहा नहीं जा सकता है, किन्तु स्वयं अन्तःकरण से गृहीत (ज्ञात) होता है। श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया है कि "प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्। उपैति शान्त रजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम्। अ० ६।२७" "योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्ति-राविवेक ख्यातेः। योगद० ।२।२८" योग के अङ्ग यमनियमादि के अनुष्ठान से पापरूप अशुद्धि के नाश होने पर विवेक ख्याति (विवेक ज्ञान) पर्यन्त ज्ञान की दीप्ति (प्रकाश) होती है, अतः कामादि के त्याग से प्रशान्त (ब्रह्म में लीन) मनवाले, अतएव शान्त (निवृत्त) रजोगुणवाले, अक-ल्मष (निर्दोष) ब्रह्मस्वरूप इस योगी को सर्वोत्तम ब्रह्मानन्द स्वरूप सुख प्राप्त (अनुभूत) होता है॥ इससे ब्रह्मात्मा सुख स्वरूप सिद्ध होता है, और उसी के खोज (अन्वेषण) में सब संसारी लगे हैं, तहाँ कबीर साहब कहते हैं कि "जो खोजो सो उँहवा नाहीं। सो तो आहिं अमर पद माही" जिस नित्य सुख को तुम स्वर्ग विषयादि में खोजते हो, सो सुख उनमें नहीं है, किन्तु तेरे विभु अविनाशी पदस्वरूप में ही वह सुख है, उसकी प्राप्ति (अनुभूति) के लिये अहिंसादि योगाङ्ग के अनुष्ठान पूर्वक चित्त को एकाग्र सत्यनिष्ठ कर्तव्य है। इत्यादि ॥३॥

योग अंग बिनु ज्ञान नहिं, ता बिनु भ्रम नहिं भाग।
भरम गये बिनु पानि में, दीखत है नित आग ॥१॥

करिये नित्य बिचार सत, सेविय सद्गुरु सन्त।
भ्रम कामादि नशाय के, पाइय सुखहि अनन्त ॥२॥

अद्वैतं वर्तते नित्यं द्वैतं नैव कदाचन।
द्वैतमेव सदा सत्यं द्वैताद्वैतं च केचन ॥४॥

अवस्था भदेतो द्वैतमद्वैतञ्चापि वर्तते।
कार्यात्मना भवेद्द्वैतं कारणं द्वैत वर्जितम् ॥५॥

उक्त आनन्द स्वरूप ब्रह्म "सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्। छा० ६।२।१" "आत्मैवेदमग्र आसीदेक एव। बृ० १।४।१७" मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किञ्चन। मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति। बृ० ४।४।१९" सृष्टि से प्रथम एक अद्वितीय ही सत् था; और यह जगत तद्रूप ही था, अतः सजातीय विजातीय स्वगत भेद रहित था। सृष्टि से प्रथम एक आत्मा ही था॥ यह सर्वात्म स्वरूप ब्रह्म मन से ही ज्ञातव्य (जानने योग्य) हैं, क्योंकि इसमें नाना (भेद गुण धर्मादि) कुछ नहीं हैं, और ब्राह्य इन्द्रियों से नाना को ही समझा जाता है। जो कोई इस ब्रह्मात्मा में नाना गुणादि के समान भी कुछ देखता है, सो मृत्यु के बाद में भी बार-बार मृत्यु को पाता है। इत्यादि श्रुतिस्मृति के अनुसार कोई कहते हैं कि सदा सत्य वस्तु अद्वैत ही रहती है, उसमें सत्य द्वैत कभी नहीं रहता है और कोई कहते हैं कि सत्य द्वैत ही सदा ही रहता है, कोई कहते हैं कि द्वैताद्वैत सदा रहता है। कोई अवस्था भेद से द्वैत और अद्वैत रहता है, ऐसा कहते हैं, अर्थात मोक्ष अवस्था में जीव ईश्वर से अभिन्न हो जाता है, और संसारी अवस्था में भिन्न रहता है। और कोई कहते हैं कि ब्रह्म का परिणाम (कार्य) जगत है, अतः जैसे सुवर्ण कारण रूप से एक होते भी कटक कुण्डलादि रूप से नाना होता है, तैसे ब्रह्म कारण रूप से अद्वैत है, और कार्य रूप से द्वैत है॥ परन्तु "सदा ज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभोः पुरुषस्यापरिणामित्वात्। योगद० ४।१८॥ साक्षिता का विकारिणः॥ साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च। श्वेता० ६।११" चित्त के प्रभु पुरुष (आत्मा के अपरिणामी होने से चित्त की सब वृत्तियाँ सदा ज्ञात होती हैं, विकारी चित्त के विषयघटादि के समान कभी ज्ञात कभी अज्ञात नहीं होती हैं, अतः आत्मा चित्त वृत्तियों का साक्षी है यदि वह साक्षीविकारी हो तो उस विकारी को साक्षिता क्या हो सकती है, अर्थात् विकारी साक्षी नहीं हो सकता है, श्रुति कहती है कि एक सर्वात्मा देव सब का साक्षी प्रकाशक शुद्ध निर्गुण है, अतः उसके परिणाम का सम्भव नहीं है, धर्म (गुण क्रियादि) लक्षण और अवस्था से ही परिणाम होता है, अन्यथा नहीं, अतः कार्यादि पक्ष सर्वथा अमान्य है। भेदाभेदादि भी परस्पर विरुद्धता से अमान्य है। ईश्वर से जीव की उत्पत्ति का निषेध कबीर साहब ने विरहुली प्रकरण में किया है कि "आदि अन्त नहिं होते विरहुली" इत्यादि, हे विरही जीव तेरा आदि उत्पत्ति, और अन्त (नाश) नहीं होता है। श्रुति है कि "जीवापेतं वाव

क्लेदं म्रियते न जीवो म्रियते। छा० ६।११।३॥ अविनाशी वा अरेऽयमात्माऽनुच्छित्तिधर्मा। बृ० ४।५।१४" जीवात्मा से रहित यह शरीर मरता है, जीव नहीं मरता है॥ अरेमैत्रेयि! यह आत्मा अविनाशी अनुच्छित्ति (उच्छेद=नाश रहितत्व) रूपधर्म (स्वभाव) वाला है, क्योंकि यह ब्रह्म स्वरूप है। ब्रह्म सूत्र में विचार किया गया है कि यद्यपि संसारी मनुष्यों को स्त्री पुत्रादि के काम प्रयोजन, के लिये स्त्री पुत्रादि प्रिय नहीं होते हैं किन्तु आत्मा के (अपने) काम के लिये स्त्री पुत्र पशु आदि सब प्रिय होते हैं, अतः आत्मा अत्यन्त प्रिय है, और सत्य सुख स्वरूप है, क्योंकि दुःख किसी को प्रिय नहीं होता है, अत्यन्त प्रिय होना तो असम्भव है, अतः "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेनमत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्। बृ० २।४।५" अरे मैत्रेयी! आत्मा ही द्रष्टव्य (अपरोक्ष ज्ञातव्य) है, और उसके प्रत्यक्ष दर्शन (ज्ञान) के लिये आत्मा ही श्रोतव्य (श्रवणार्ह) मन्तव्य (मनन योग्य) और निदिध्यासितव्य (ध्यातव्य) है, अरे मैत्रेयी! आत्मा के ही दर्शन श्रवण मनन और विज्ञान से यह सब जगत् विदित (ज्ञात) हो जाता है, यह याज्ञवल्क्य जी का मैत्रेयी के प्रति उपदेश है, तहाँ स्त्री पुत्रादि रूप भोग्य पदार्थों के वर्णनादि से भोक्ता विज्ञानात्मा व्यावहारिक जीव ही द्रष्टव्यादि कहा गया है, और भोक्ता के लिये भोग्य जगत के होने से भोक्ता के ज्ञान से जगत के ज्ञान का वर्णन गौण रूप से किया गया है, ऐसी शंका होती है। तथापि मुक्ति के लिये प्रश्न करने पर जिस आत्मा का उपदेश दिया गया है, और जिसके ज्ञान से सब संसार का ज्ञान हो जाता है। वह आत्मा, परमात्मा ही (सर्वात्मा ब्रह्म ईश्वर ही) हो सकता है, भोक्ता जीवात्मा नहीं, यह सिद्धान्त है। क्योंकि प्रकरण से यह आत्म ज्ञान से सब संसार के ज्ञान का वर्णन भी गौण नहीं प्रतीत होता है, किन्तु सर्वाधारता सर्वकारणता अधिष्ठानता आदि से ब्रह्मात्मा के ज्ञान से सब का ज्ञान मुख्य ही प्रतीत होता है, इत्यादि। यदि कहा जाय कि आप्तकाम परमात्मा में तो स्वप्रयोजन के लिये स्त्री पुत्रादि विषयक प्रेम हो नहीं सकता है, अतः जीवात्मा के द्रष्टव्यत्वादि का वर्णन है, तो इस शंका का उत्तर मतभेद से दिया गया है कि "प्रतिज्ञासिद्धेर्लिङ्गमाश्मरथ्यः। ब्रह्म सू० १।४।२०" (आत्मा के विज्ञात होने पर यह सब जगत विज्ञात होता है। तथा यह सब जगत आत्म स्वरूप है, ये प्रतिज्ञा हैं, इनकी सिद्धि के लिङ्ग (हेतु=बोधक) रूपपुत्रादिप्रियतायुक्त

आत्मा का वर्णन है, कि विज्ञानात्मा जीव परमात्मा से अन्य नहीं है, किन्तु कार्य कारण भाव से भेद के समान अभेद भी है, अतः जीव के ज्ञान से उससे अभिन्न परमात्मा ज्ञात होता है, और परमात्मा के ज्ञान से जगत ज्ञात होता है, यह आश्मरथ्य आचार्य का सिद्धान्त है, और "उत्क्रमिष्यत एवं भावादित्यौडुलोमिः। ब्र० १।४।२१" देहादि के सम्बन्ध से मलिन के समान जीवात्मा के ज्ञानादि से स्वच्छ होने पर, इस देहादि से उत्क्रमण कालिक मोक्षावस्था में ईसका एवंभाव होता है। इसकी परमात्म रूपता की प्राप्ति होती है, अतः उस दृष्टि से जीवात्मा द्वारा परमात्म ज्ञान का उपदेश दिया गया है ॥ यह औडुलोमि कहते हैं और "अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः। ब्र० १।४।२२" परमात्मा की ही जीवरूप से स्थिति होने से अभिन्नता के कारण जीवरूप से परमात्मोपदेश का आरम्भादि उक्त श्रुति में किया गया है, यह काशकृत्स्न आचार्य का मत है, यही सिद्धान्त मुख्य है। श्रुति है कि "अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि। छा० ६।३।२" इस जीवात्मा रूप से तेज आदि में प्रवेश करके नामरूप का विभाग करूं। इत्यादि ॥ कबीर साहब का यही सिद्धान्त बीजक में प्रतीत होता है। अत एव जीव के सत्यस्वरूप में ईश्वर की कार्यता का कबीर साहब ने निषेध किया है कार्य रूप जीव विनश्वर होगा उपाधि की उत्पत्ति का कहीं जीव में व्यवहार—होता है। और "हहु जैसा रहहु तैसा" इत्यादि वचनों से एक रस स्थिति का वर्णन किया गया है कि जिससे अवस्था भेद से भी भेद के अभाव से भेदाभेद का भी स्वीकार नहीं किया है, इत्यादि। भक्त समाज में विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, भेदाभेद (द्वैताद्वैत) केवल द्वैतादि प्रसिद्ध है, उनसे कबीर साहब कुछ विलक्षण ही काशकृत्स्न मत के अनुसार कहते हैं, सो उनके वाणियों के पूर्ण विचार से ज्ञेय है। और उनकी वाणी (बीजक) का अर्थ प्रत्येक प्रकरणों के उपक्रमादि रूपतात्पर्य ज्ञान के हेतु रूप लिंगादि से ज्ञेय हैं, अतः आगे उपक्रमोपसंहारादि का वर्णन किया जाता है ॥

उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वताफलम्।
अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये ॥१॥

ग्रन्थ के उपक्रम और उपसंहार (आरम्भ और समाप्ति) इन दोनों की एकता ग्रन्थ के तात्पर्य के प्रथम लिङ्ग-(चिन्ह ज्ञान के हेतु) होता है, अर्थात् आरम्भ और समाप्ति में जिस अर्थ का वर्णन हो, उस अर्थ की एकता प्रथमलिङ्ग होता है, उस अर्थ का अभ्यास (कैक वार कथन) दूसरा

लिङ्ग होता है। और उस अर्थ में अपूर्वता (विलक्षणता अन्य प्रमाण से असिद्धताशास्त्रकप्रतिपाद्यता) तीसरा लिङ्ग होता है। और फल का प्रतिपादन जिसके हो, सो फल का वर्णन उसका चौथा लिङ्ग होता है। अर्थवाद (स्तुति) पञ्चमलिङ्ग होता है। और उपपत्ति (युक्ति प्रदर्शन) छठवां लिङ्ग होता है। अर्थात् जिस अर्थ की सिद्धि के लिये युक्ति कहा जाय, सो अर्थ उस ग्रन्थ का या उस ग्रन्थ के प्रकरणविशेष का प्रतिपाद्य अर्थ समझा जाता है। तहाँ बीजक केरमैनीप्रकरण का आरम्भ "जीव रूप एक अन्तर वासा" र० १ इस जीव स्वरूप से हुआ है। और "येजियरा तैंदुखहि सम्हारू" इस अन्तिम रमैनी से जीव शब्द पूर्वक (उपसंहार किया गया है) और "जस जिव आप मिलै अस कोई। र० १७" बिजक बतावै वित्त को, जोवितगुप्ता होय। शब्द बतावै जीव को, बूझै बिरला कोय। र० १८॥ जिन जिव कीन्ह आपु विश्वासा। र० ४३।" इत्यादि साक्षात जीव शब्द से जीवात्मा के वर्णन का अभ्यास किया गया है, और जीव के पारमार्थिक स्वरूप में अपूर्वता तो है ही, क्योंकि यह निर्गुण अखण्ड असङ्ग एक सर्वात्मा है, अतः गुण जातिक्रिया सम्बन्धादि युक्त पदार्थों को ग्रहण करने वाले शब्द से अन्य प्रमाणों का वह विषय नहीं होता है सो "हमरे कहल छूटि हहुभाई" इत्यादि से दर्शाया गया है॥ और "जो चीन्है तेहि निर्मल अङ्गा॥ र० ४। ज्ञान अमर पद बाहरे, नियरे ते है दूर। र० ३०॥ इत्यादि बचनों से उसके ज्ञान से मोक्ष रूप फल कहा गया है। और अखण्ड सर्वान्तर ज्योति स्वरूपता, तथा सत्यचित्रकारादि स्वरूपता के वर्णन, से ईश्वरता सच्चिदानन्द ब्रह्मरूपता का वर्णन रूप स्तुति किया गया है। और उसके ज्ञान के लिये विवेक विचारादिरूप युक्तिका वर्णन किया गया है कि "चौतिस अक्षर से निकलै जोई। पाप पुण्य जानै गा सोई। र० २४। जिन यह चित्र बनाइया, साँचा सो सुत धारि। कहहिं कबिर ते जनभले, चित्र हि लेहिं विचारि। र० २६" इत्यादि, इससे रमैनी प्रकरण का जीव के पारमार्थिकादि स्वरूप के प्रतिपादन में तात्पर्य सिद्ध होता है, और उससे जीव अपने व्यावहारिक स्वरूप को समझकर, फिर अपने सत्यस्वरूप को विचारादि से यदि समझेगा तो निज स्वरूप के ज्ञान से अज्ञान संशय भ्रमादि रूप संसार दुःख मूलको नष्ट करके मुक्त होगा, यह इस प्रकार का मुख्य विषय है इत्यादि ॥१॥

इसी प्रकार से शब्द प्रकरण के उपक्रमादि ज्ञातव्य हैं। आरम्भ में राम के कथन पूर्वक द्वन्द्वमचाने वाली माया के कथन से शब्द प्रकरण का

आरम्भ हुआ है। और अन्त में झूठी माया के कथन पूर्वक, सत्य (राम) के वर्णन से प्रकरण को समाप्त किया गया कि "साँचा से भागाफिरै, झूठे का वन्दा" झूठा का दास साँच (सत्य) स्वरूप से भागा फिरता है। गोरी (निर्गुण) वस्तु वाणी रूप से भी राम का ही अन्त में वर्णन किया गया है। और "माया महा ठगिनि हम जानी" शब्द० २। इत्यादि से माया का अभ्यास किया गया है, और मोहादि रूप से भी माया का अभ्यास किया है। तथा "राम गुण न्यारो न्यारो न्यारो।७८। राम न रमसि कौन दण्ड लागा" इत्यादि से राम का अभ्यास किया गया है, शास्त्र में वर्णित राम और माया भी अपूर्व ही पदार्थ है। अतः उस राम स्वरूप एक पुरुष और माया रूप एक नारी के गुरु के उपदेश के अनुसार जो विचार किया, उस विवेकी को जब गुरु ने मोह नीन्द से जगाया, तो वह कामादि शत्रुओं के आक्रमणादि से उबरा और उबरता (बचता) है। (शब्द ५) उस राम नाम वाले को निजात्म स्वरूप निश्चय करने वाला मुक्त होता है। शब्द ७। इत्यादि फल का वर्णन है। और "अवधू कुदरत की गति न्यारी। कहहिं कबीर राम है राजा, जो कछु करै सो छाजै। शब्द ११" इत्यादि स्तुति है। और निर्विकार राम के ज्ञान के लिये "जो पै बीजरूप भगवाना शब्द०८८" इत्यादि शब्दों से युक्ति (तर्क) का वर्णन किया गया है॥ और प्राण अन्तः करणादि उपाधि से जो चेतनात्मा जीवात्मा कहा जाता है, सोई रमण विषयत्व रमण कर्तृत्वादि उपाधि (कल्पित विशेषण से राम कहा जाता है। और वस्तुतः दोनों (रमैनी शब्द) प्रकरण के प्रतिपाद्य वस्तु सत्यात्मा एक ही है। तथापि औपाधिक भेद से दोनों में उपक्रमादि पूर्वक उसका भिन्न-भिन्न प्रतिपादन किया गया है। उपदेश दिया गया है, और उसके ज्ञान के साधन रूप से, हिंसा पाखण्ड (दम्भ) आदि के निषेध द्वारा अहिंसा सत्य, दया, क्षमा, सन्तोष, शौचादि का दोनों प्रकरण में यथायोग्य विधान किया गया है। रमैनी प्रकरण के आदि में जिसको नारी शब्द से कहा गया है। उसी को शब्द प्रकरण के आदि में माया शब्द से कहा गया है। जीव स्वरूप को राम शब्द से कहा गया है। और "नारि एक संसार हि आई। चली जाति देखि एक नारी ॥८।७२।७३॥" यहाँ वर्णित नारी का "सन्तो आवै जाय सो माया" इस शब्द द्वारा विवरण किया गया है, इस रीति से प्रायः शब्द प्रकरण रमैनी प्रकरण का विवरण रूप है; अतः दोनों प्रकरणों का मुख्य प्रतिपाद्य एक सर्वात्मा स्वरूप राम ही है; और उसके ज्ञान के साधन अहिंसादि

तथा विवेकादि प्रतिपाद्य हैं। "करु विचार विकार परिहरु, तरण तारणों सोई। कहहिं कबीर भगवन्त भजु नल, द्वितीया और न कोई। शब्द ॥४॥ कहहिं कबिर जन भये विवेकी, जिन यन्त्री मन लाया। शब्द ॥२॥" इत्यादिवचनों से विचार त्याग अभ्यास विवेकादि का स्पष्ट ही विधान वर्णन किया गया है ॥२॥

कहरा प्रकरण के आदि में देह विषयक मोह ममता आसक्ति आदि को त्यागने के लिये जीव (अज्ञ मनुष्य) को उपदेश दिया गया है कि "ऐसन देह निरापन बौरे। मुये छुवै नहिं कोई हो। कहरा १" यह देह ऐसा निरापन (अपावन = अनात्मा – अपवित्र) माया मय स्वप्न तुल्य मिथ्या है कि जिससे मरने पर इसको कोई सुन्दरादि बुद्धि से छूता (स्पर्श कर्त्ता) भी नहीं है। अन्त में उपदेश दिया गया है कि "कहहि कबीर सुनहु हो सन्तो, ज्यों आवै त्यों फेरी हो। कहरा १२॥ हे सन्तो! अहेर खेलने वाली, ठगने वाली कनक कामिनीं आदि रूप माया जैसे ही आवे तैसे ही उसको फेर दो, उसके संग आसक्ति आदि नहीं करो। क्योंकि "कहहिं कबीर ते छूत विवर्जित, जाकेसङ्ग न माया। शब्द १३" वही छूत से रहित होता है कि जिसके साथ में ठगने वाली अपावन माया नहीं रहती है, जिसको माया के साथ सङ्ग (सम्बन्ध प्रेम) नहीं रहता है इत्यादि, इस प्रकार से कहरा के उपक्रम और उपसंहार में एक रूपता है। और इससे सिद्ध होता है कि माया के निरूपण विचार में भी शब्द प्रकरण का तात्पर्य यद्यपि है, कहा भी गया है कि "एके पुरुष एक है नारी, ताकर करहु विचारा। शब्द० ४" तथापि उसमें हेयत्व (त्याज्यत्वेन) तात्पर्य है, उपादेयत्वेन नहीं। क्योंकि वह जाल पसारने वाली और बन्धन का हेतु है "रामनाम भजु रामनाम भजु" इत्यादि कहरा में उपदेश का अभ्यास है, उसका फल भक्ति और योग द्वारा चित्त का निरोध है, भक्ति योगादि के बिना यमयातनादि का वर्णन युक्ति रूप है, अर्थवाद रूप दशम कहरा है ॥३॥

विप्रमतीसी के उपक्रमादि सब विप्र की कुमति विषयक है, जिस कुमति का फल राक्षसता की प्राप्ति रूप है। अतः कहा है कि "राक्षस करणी देव कहावै" इत्यादि और देवी भागवत स्क० ६।११" में कहा गया है कि "पूर्वं ये राक्षसा राजँस्ते कलौ ब्राह्मणाः स्मृताः। पाषण्डनिरताः प्रायो भवन्ति जनवञ्चकाः ॥१॥ असत्यवादिनः सर्वे वेदधर्मविवर्जिताः। दाम्भिका लोक-

चतुरा मानिनो वेदवर्जिताः ॥२॥ तथैव क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश्चधर्मवर्जिताः। असत्यवादिनः पापास्तथा वर्णोंतराः कलौ ॥३॥" प्रायः जो पाखण्ड में तत्पर जनों को ठगने वाले होते है, हे राजन्! ऐसे लोग पहले राक्षस कहे जाते थे, वे कलि में ब्राह्मण कहे जाते हैं, सो पाखण्ड निरत और जन-वञ्चक होते हैं ॥१॥ वे सब असत्यवादी वैदिक धर्म से रहित दम्भ से व्याव-हारिक लोक में अभिमानी वेद रहित होते हैं ॥२॥ वैसे ही कलि में क्षत्रिय वैश्य और शूद्र भी धर्म रहित असत्यवादी और पापी होते हैं, तथा अन्त्यज भी वैसे ही होते हैं। अर्थात् ब्राह्मण क्षत्रिय से धर्म की रक्षा होती है, उनके धर्म रहित होने पर सब धर्म रहित हो जाते हैं ॥२॥ कलि के प्रभाव से यह अपूर्व (अद्भुत) दशा होती है, तहाँ मिथ्या अभिमान पाखण्डादि को त्याग कर शुद्ध सत्यात्मा के ज्ञान की प्राप्ति करने कराने में इस प्रकरण का मुख्य तात्पर्य है, कि जिस आत्मा की प्राप्ति (अनुभूति) से मुख्य ब्राह्मणत्व सिद्ध हो, वृहदारण्यकवार्तिक अ० २ ब्रा० ५। के वचन है कि "द्विजत्वं विद्धयनुष्ठानाद् विप्रत्वं वेदपाठतः। ब्राह्मण्यं ब्रह्मणोज्ञानादिति वेदान्त-डिंडिमः ॥३॥ भेदसंसर्गहीनोर्थः स्वमहिम्नि व्यवस्थितः। साक्षादित्यादि रूपोऽर्थं ब्रह्म ब्राह्मण उच्यते ॥२॥ इमामवस्थां संप्राप्य सर्वो ब्राह्मण उच्यते। ब्राह्मण्यं गौणमन्यत्र सर्वभूमिषु नाञ्जसा ॥३" संस्कारादि के अनुष्ठान करने से द्विजत्व समझो, वेद पाठ से विप्रत्व और ब्रह्म ज्ञान से ब्राह्मणत्व जानो। यह वेदान्त का ढिंढोरा है ॥२॥ भेद सम्बन्ध से रहित असङ्ग आत्मवस्तु स्वमहिमा = स्वरूप में स्थिर है, जो साक्षात् = अपरोक्ष ब्रह्म स्वरूप है, उस ब्रह्मस्वरूप को ब्राह्मण कहा जाता है ॥२॥ इस ब्रह्मावस्था को सम्यक् प्राप्त कर लेने पर सभी ब्राह्मण कहे जाते हैं। और सब भूमि (स्थान) में अन्य में गौण ब्राह्मणत्व रहता है, अञ्जसा (तत्त्वतः सत्य) ब्राह्मणत्व ब्रह्मनिष्ठ से अन्य में नहीं रहता है, अतः सो सत्य ब्राह्मणत्व कलि में भी प्राप्त करने योग्य है, इत्यादि अर्थ में कहरा का तात्पर्य है। निन्दा को भी अर्थवाद कहा जाता है, अतः सत्य ब्राह्मणता रहित ब्राह्मण की निन्दा की गई है कि जिससे ब्राह्मण कहलाने वाले सत्य ब्राह्मणता की प्राप्ति के लिये प्रवृत्त हों, यत्न करें, इत्यादि ॥४॥

सत्य ब्रह्म रूपता की प्राप्ति के बिना कामी जीव (देव मनुष्यादि, को महा-मोहमय भ्रम से सिद्ध संसार हिंडोला पर अवश्य झूलना (अनन्त सुख दुःख दशा में प्राप्त होना) होता है, और सत्यसुकृत (पुण्य पुण्यात्मा ज्ञानी गुरु)

की प्राप्ति द्वारा ज्ञान की प्राप्ति वैराग्यादि से जीव झूलने से रहित मुक्त होते हैं, उस झूलने का स्थान हिंडोला के वर्णन रूप हिंडोला प्रकरण कां (भरम हिडोलाना) इस मायामय भ्रम स्वरूप से आरम्भ हुआ है और "देहधरे हरि झूलहीं देखहिं हंस कबीर" इस मायामय देह धारी से उपसंहार हुआ है, अतः उपक्रम उपसंहार की एकता है। भ्रम मायामय पाप पुण्यादि का वर्णन अभ्यास रूप है, और संसार में भ्रम रूपता मिथ्यात्व धर्माधर्मजन्यता आदि का ज्ञान गुरु और सत शास्त्र के बिना नहीं होता हैं, अतः यह अर्थ अपूर्व है, और गुरुद्वारा इसमें मिथ्यात्वादि के ज्ञान से विरागादि पूर्वक आत्म ज्ञान से फिर झूलना नहीं होता है, यह फल है। अनस्थिरता परवशता आदि का वर्णन अर्थवाद और युक्ति स्वरूप है, अतः तात्पर्य के षड्-लिङ्ग युक्त यह प्रकरण है। और प्रकरण का मुख्य तात्पर्य यह है कि सत्य सुकृत को प्राप्त करके संसार हिंडोला से रहित होने के लिए मनुष्य को अवश्य यत्न करना चाहिए, सांसारिक सुख सर्वत्र मिल सकता है, परन्तु यह यत्न अन्यत्र नहीं किया जा सकता है, इत्यादि ॥५॥

उक्त झूलना से बचने के लिये शिव (कल्याणेच्छुक) जीव के प्रति उपदेश रूप से वसन्त प्रकरण का आरम्भ हुआ है कि "शिव काशी कस भई तोहारि। अजहुँ हो शिव देखु विचारि" हे शिव स्वरूव जीव! तुम अनादि काल से संसार में देह का धारण कर करके झूल रहे हो, यदि इस झूलना से रहित होना चाहते हो, तो अब भी विचार कर देखो कि यह वर्तमान संसार शरीर रूप काशी तुमको कैसे प्राप्त हुई है, और विषय परा-यणता कामादि से इसकी प्राप्ति होती है, अतः मोक्ष के लिये विषय परा-यणता आदि को त्यागो, इस प्रकार से वसन्त प्रकरण का आरम्भ हुआ है। और "रंग-विरंगी पहिरि चीर। हरि के चरण धरि गावैं कबीर ॥ वसन्त १२" इन्द्रियादि के वशवर्वी जीव, रंग-विरंग (अनेक प्रकार) के शरीर रूप चीर पहिर कर देहधारी होकर, हरिगुरु के चरण को धरकर, फिर दिव्य देह मोक्ष के लिये स्तुति आदि को गाता है, यह कबीर साहब कहते हैं, इस प्रकार से वसन्त का उपसंहार है। अतः आदि अन्त में जीव के स्वरूप विशेष के वर्णन होने से उपक्रम और उपसंहार की एकता रूप प्रथम तात्पर्य का लिंग है "घरहि में बाबू बढलिरारि" इससे उसी जीव के द्वन्द्वयुक्त स्वरूप का अभ्यास (बारबार कथन) किया गया है, जीव का शिव स्वरूप अपूर्व है। और "राम नाम भजु लागु तीर" वसन्त ३" इससे

शिव स्वरूप राम के चिन्तन विचारादि रूप भजन से मोक्ष रूप फल कहा गया है, और "जाके बारह मास वसन्त होय। ताके परमारथ बूझै बिरला कोय" इत्यादि स्तुति और युक्ति दर्शाई गई है। अतः षड्विध तात्पर्य लिङ्ग वसन्त प्रकरण में भी है ॥६॥

"जारहु जग का नेहरा मन बौरा हो" हे मन बौरा (उन्मत्त मन वाले) सांसारिक स्नेह (राग) को जारो (नष्ट करो) उस स्नेह से मन उन्मत्त होता है। इस प्रकार जीव के प्रति उपदेश रूप से चाँचर प्रकरण का आरम्भ हुआ है। और "कहहिं कबीर ते ऊवरे मन बौरा हो, जाहि न मोह समाय समुझु मन बौरा हो" मायाकृत कामादि बन्धन से वे ही जन ऊबरते (छूटते) हैं कि जिनके मन में मोह आसक्ति अविवेक राग नहीं घूसने पाते हैं, अतः उपक्रम उपसंहार की एकता सहित उपदेश के फल को भी यहाँ अन्त में दर्शाया गया है, सोई स्तुति रूप है। तथा उपदेश का अभ्यास ही युक्ति रूप है, और इस उपदेश से शेष सब कथा अपूर्व है। इत्यादि ॥७॥

चौंतीसी का ओंकारार्थ के ज्ञान की दुर्लभता से आरम्भ हुआ है, ज्ञान की दुर्लभता में ही उपसंहार हुआ है। और कहा गया है कि इस मानव शरीर के नष्ट होने पर किसको कौन क्या समझायेगा, अतः इस शरीर के रहते ही ओंकारार्थ को समझना चाहिये। इससे उपक्रमोपसंहार की एकता रूप तात्पर्य का लिङ्ग है। ज्ञानार्थक उपदेश का "कक्का कमल किरणमहँ पावै" इत्यादि से अभ्यास किया गया है, इस ज्ञान में अपूर्वता प्रसिद्ध ही है "ह्वै न क्षीण अक्षयपद लहई" इससे फल दर्शाया गया है। निर्विघ्नता के लिये गुरुवचन में विश्वासादि को युक्ति रूप दर्शाया गया है, और ज्ञान की स्तुति प्रसिद्ध ही है, सो "घटहिं ज्योति उजियारी करै" इत्यादि वचनों से वर्णित हुई है। इत्यादि ॥८॥

मोह निद्रा से जागने के लिये उपदेश रूप से बेलि प्रकरण का आरम्भ हुआ है, और जागने ही के लिये अन्त में कहा गया है कि "मति ढीगहु फैलाये" अपनी मति (बुद्धि) को ढीगहु (पास में) भी फैलाये रहो। अर्थात् विभु ब्रह्मात्मा के बाहर चिन्तनादि करते हुए अपने हृदयादि में भी उसका चिन्तन करो, निजात्मा को ब्रह्म स्वरूप जानो और शरीरादि में आत्मत्व सत्यत्वादि बुद्धि को त्यागो तो मोहादि सहज ही नष्ट होगें, इस

प्रकार से उपक्रम उपसंहार की एकरूपता है, और इसी अर्थ के अभ्यासादि संक्षिप्त रूप से हैं, क्योंकि यह बहुत छोटा (लघु) प्रकरण है ॥९॥

बिरहुली प्रकरण का जन्मादि रहित आत्मा के उपदेश रूप से आरम्भ हुआ है, और उसी के ज्ञान वृक्ष के फल रूप जीवन्मुक्ति की प्राप्ति से सच्ची तृप्ति शान्ति का वर्णन अन्त में हैं, अतः उपक्रमउसंहार की एकता है। और जीवन्मुक्ति के प्रदर्शन से ही फल दर्शन स्तुति आदि प्रदर्शित हो गये हैं, यह अत्यन्त छोटा प्रकरण है, अतः स्पष्ट सब लिंगों का होना अशक्य सा है ॥१०॥

साखी प्रकरण का आरम्भ चिति (साक्षी) स्वरूप से हुआ है, सो पाँच कोश की अपेक्षा छठी चिति स्वरूप कहा गया है, वहीं जीव का अन्तर जोति स्वरूप रमैनी प्रकरण के आदि में कहा गया है, और शब्द के आदि में राम शब्द से कहा गया है, वसन्त के आदि में शिव शब्द से कहा गया है, चौंतीसी के आदि में ओं कक्का खख्खा आदि शब्दों से कहा गया है, तथा विरहुली प्रकरण में आदि अन्त सब विकाराऽऽकार सम्बन्धादि से रहित कहा गया है, सो साखी (साक्षी परम प्रमाण रूप) गुरु वेद वाक्य से ज्ञेय ध्येय है, और स्वयं भी साक्षी (निरपेक्ष-सर्वप्रकाशक स्वयंप्रकाश) है, उसका इस दशम प्रकरण में विशेष रूप से प्रतिपादन है, तथा सब प्रकरणों का यह प्रकरण सार है, अतः यह प्रकरण शरीरों में सार स्वरूप साक्षी के समान इस बीजक ग्रंथ में सार तुल्य है और इसकी समाप्ति भी "वछवा वाकेपेट में, अनदेखी नहिं कोय" इत्यादि अदृश्य माया में छिपे हुए स्वयं प्रकाश साक्षी रूप से ही हुई है। इसके ज्ञान के लिए सार शब्दादि के विवेक धारण वैराग्यादि के उपदेश पूर्वक "हंसा तूं सुवरण वरण। पांचतत्त्व के भीतरे गुप्त वस्तु अस्थान" इत्यादि से बहुधा अभ्यास किया गया है। साक्षी स्वरूप वस्तु अपूर्व है "दुहरा तो नूतन भया, पदहिं न चीन्हे कोय। जो यह पदहि विवेकिया, क्षत्रधनी है सोय ।६५॥" जो कोई इस साक्षी स्वरूप पद (वस्तु) को नहीं चीन्हता (जानता) उसी को यह सूक्ष्म शरीर के प्रथम से रहते भी दुहरा (दूसरा) शरीर हुआ, और होता है, और जो इससाक्षी स्वरूप पद (वस्तु) का विवेक किया, श्रवणादि द्वारा अनुभव किया वह क्षत्रधनी स्वतन्त्र राजा (ज्ञानी) है। इत्यादि से फल दर्शाया गया है, यद्यपि दुहरा शब्द के दोहा छन्द कोई अर्थ करते हैं, तथापि वह युक्त नहीं प्रतीत होता है, क्योंकि क्या दोहा ही नूतन इस ग्रन्थ में हुआ है, और सार

हरिपदादि छन्द कहीं दूसरे ग्रंथ से संगृहीत हुए हैं, और साखी प्रकरण में भी केवल दोहाही नहीं है। तथा दोहा रूप या दोहासम्बन्धी पद (शब्द) के विवेक से कोई छत्रधनी नहीं हो सकता है, किन्तु साक्षी स्वरूप आत्मा के ज्ञान से हो सकता है, ज्ञानी को कबीर साहब राजा (स्वतंत्र) कहते हैं, और शास्त्र भी कहता है, और "मन भर के जो बोइये, घूंघची भर न होय" इत्यादि से युक्ति कही गई है "ज्यों गिरि सायर मुकुर में, भीजभार कछु नाहिं। ऐसे सुख दुख रहित है, ज्ञानी के घट माहिं" इत्यादि से स्तुति रूप अर्थवाद सिद्ध होता है, इस ग्रंथ में सर्वत्र विद्यमान स्वभावादि द्वारा ही स्तुति की गई है, कल्पित स्वभावादि द्वारा नहीं, यद्यपि अज्ञानी के घट में भी साक्षी स्वरूप आत्मा सुख दुःख रहित ही रहता है, तथापि अज्ञानी को वह वैसा भासता (प्रतीत होता) नहीं है, और ज्ञानी को भासता है। अतः ज्ञानी के घट में सुख दुःख रहित कहा गया है। इत्यादि ॥ उक्त रीति से बीजक के सभी प्रकरण विशिष्ट उपयुक्त अर्थ में तात्पर्य के लिङ्गों से युक्त हैं, और सब प्रकरण उपयुक्त श्रेष्ठ अर्थ के बोधक हैं। तथा विशिष्ट आनुपूर्वी सम्बन्ध युक्त हैं। इस प्रकार का ग्रंथ केवल संग्रह रूप नहीं हो सकता है, न इसके संग्रह रूपता में कोई प्रमाण है, पाठ भेद भी इस ग्रंथ का नहीं हुआ है। अतः यह परम प्रमाण रूप है, और किसी कारण वश जिसके चार प्रकार के पाठ भेद भी अभी वर्तमान हैं, सो भी चारो में से कोई भी अप्रमाण नहीं हो सकता है, क्योंकि चारो में बचन (रमैनी) आदि वे ही (तुल्य एक रूप ही) हैं। अतः जैसे एक वेद के चार या तीन वेद श्री व्यास जी से किये गये तो भी वेद अप्रमाणिक नहीं हुए, क्योंकि एक वेद में भी चार या तीन तथा अनेक शाखा सम्मिलित थे, उनका ही विभाग अर्थादि के अनुसार किया गया, जैसे कि कर्म काल में अर्थ का प्रकाशक ऋग्वेद है, कर्म की विधि प्रकारादि का प्रकाशक यजुर्वेद है, और कर्मकालिक देवस्तुति का गान साधक सामवेद है, सो अविभक्त एक ग्रन्थ रूप में रहने पर भी उन्हीं कामों के लिए थे, विभक्त होने पर भी उन्हीं कामो के लिए रहे, तहाँ सुगमता के लिए विभाग से कोई हानि नहीं हुई, लाभ ही हुआ। इसी प्रकार से बीजक ग्रन्थ में कोई शब्द, मालूम पड़ता है कि सन्त को सम्बोधन करके कबीर साहब कह रहे हैं, कहीं प्रतीत होता है कि राम को सम्बोधन करके कह रहे हैं। कहीं पण्डित, तो कहीं अवधू को सम्बोधन करके कह रहे हैं इत्यादि, और सम्बोधन के एक होते भी अर्थ परस्पर

सङ्गति योग्य नहीं है, इस रहस्य को जिन्होंने समझा, वे लोग तो जैसा गुरु या गुरु भाई आदि से लिखित ग्रन्थ पाये उसके ६५० साढ़े छौ सौ संख्या और उस आनुपूर्वी को अर्थानुसार रक्षित रखे। और जिनका यह विचार हुआ कि जिन वचनों का स्पष्ट अर्थ प्रतीत होता है, उनका तो वह अर्थ है ही, परन्तु "धिह सहदूल एक हर जोतिन" इत्यादि का कोई अर्थ नहीं है, ये मन्त्र हैं, सर्पादि के मन्त्रों के समान इनके पाठादि मात्र से फल विशेष मिलता है, सिद्धि मिलती है, इत्यादि, वे लोग अर्थ का प्रवाह ध्यान नहीं करके सन्त सम्बोधन युक्त को एकत्र संगृहीत किये, रामयुक्त को एकत्र पण्डित युक्त को एकत्र किये, इसी प्रकार अन्य प्रकरणों में भी अपनी रुचि के अनुसार आनुपूर्वी का परिवर्तन किये कि जिससे चार प्रकार का पाठ हो गया। और सुना जाता है कि शरीर के बिना सुख को नहीं मानने वाले कोई महन्त मान्य पुरुष "तन धरि सुखिया कोइ न देखा" इस शब्द को बीजक से निकाल दिया, वही किसी का नवीन पाठ है। अभी उसी की वहाँ मान्यता है, उस पाठ में एक सौ बारह शब्द हैं। श्री पूरण साहब ने दो शब्द का संग्रह किया जिससे ११५ एक सौ पन्द्रह शब्द हुए, किसी ने साखी में अपने मन के अनुकूल स्पष्टार्थक नहीं देखा तो उसको निकाल दिया, अर्थ के विचारादि के बिना यह गड़बड़ी हुई, सो कुछ सुनी जाती है, कुछ देखी जाती है। तो भी वचन तो समझने वालों के लिए प्रमाण रूप ही हैं। और किसी भी पाठ से "कनक कामिनी देखि के तूँ मति भूल सुरङ्ग॥ आपा तेजै हरि भजै, नख शिख तजै विकार। जीवन ते निर्वैरता, सन्त मता है सार॥ पक्षापक्षिक कारणे, जगतो जात भुलान। निरपक्षी ह्वे हरि भजै, सोई सन्त सुजान" इत्यादि उपदेश हमें मिले, और कनक कामिनी आदि के मोह ममता में नहीं पड़कर, आपा और सब विकारों को त्याग सकूँ पक्षपात से रहित हो सकूँ और हरि को भज सकूँ तो हमारी बेड़ा पार हो सकती है, फिर अनन्त शब्द सागर से हमें कोई जरूरत नहीं रह जाती है। परन्तु ऐसा भाग्य हमारा कहाँ है, हम तो पक्षपात में पड़कर धक्के खाते हैं, या पक्षपात नहीं करने पर भी प्रबल प्रारब्ध वश निष्कारण फटकारे जाते हैं "साँच कहो तो मारण धावे' इत्यादि का ही उदाहरण हो जाते हैं। इत्यादि॥ सो सब प्रारब्ध का फल है, और प्रारब्ध ने ही जीवों को तत्तत् समाजादि में लाया है, और ऐसी बुद्धि ईश्वर से दिलाया है, कि जिससे आगे वर्तमान सत्य वस्तु नहीं दीखती है, झूठ में आस्था हो जाती है, जैसे मनुष्य उलूक के समान

होकर अज्ञानादिमय मोहादि रूप से प्रेम करता है, प्रकाशमय व्यवहारादि से दूर भागता है, कूपमण्डूकता को धारण करके कही जाने और समझे बिना किसी का निषेधादि ईश्वर या पूर्वपापाधीन होकर करता है, तो वहाँ ईश्वरादि के आगे किसी सत्य वक्ता का वश ही क्या चलता है। तथापि 'मौनात्सत्यं विशिष्यते' इस शास्त्र के अनुसार मौन का धारण नहीं करके सत्य का उपदेश दिया है, और "कबीर कानि राखि नहीं। मुख देखी नाहिन भनी" इत्यादि भक्तमाल कें अनुसार कबीर साहब का बीजक "रमैनी, शब्द, साखी" रूप प्रधान प्रकरण युक्त हैं, उसका भक्त माल में उल्लेख है, जिसका ६५० साढ़े छौ सौ वचन प्रसिद्धि आदि के अनुसार अवश्य होना चाहिये। परन्तु कहीं छौ सौ इक्कीश, कहीं छौ सौ एकावन, कहीं छौ सौ बावन वा, तिरपन संख्या मिलती है। दौलतपुर स्थान के अनुसार साखी ३१२–या ३१८ ही है ॥११॥ और यद्यपि श्री कबीर साहब ने रमैनी के आरम्भ में गायत्री की उत्पत्ति पूर्वक ब्रह्मा आदि की उत्पत्ति कही है, तथापि वहाँ उनकी उत्पत्ति में श्री कबीर साहब का तात्पर्य नहीं हैं, किन्तु जीव जगत ईश्वर के सत्य (पारमार्थिक) स्वरूप ब्रह्मात्मा के तटस्थ लक्षण द्वारा उस ब्रह्मात्मा को समझाने में श्री कबीर साहब का यहाँ तात्पर्य है, इसी लिये देवी भागवत में वर्णित उत्पत्ति आदि का अनुवाद मात्र किया है, अत एव सत्ताइसवी २७ रमैनी में अन्य पुराणों के अनुसार प्रथम ब्रह्मा विष्णु की उत्पत्ति और उनको अधिकार देने के बाद लिङ्ग रूप शंकर को ईश्वर ने उत्पन्न किया, ऐसा लिखा गया है। यदि उत्पत्ति में तात्पर्य होता, तो एक प्रकार से ही उत्पत्ति कही जाती और ८२ शब्द के अन्त में कहा है कि "रजगुण ब्रह्मा तमगुण शंकर, सत्त्वगुणी हरि सोई। कहहिं कबीर राम रमि रहिये, हिन्दू तुरुक न कोई" जो वस्तु रजो गुण उपाधि से ब्रह्मा होती है, तमो गुण से शंकर होती है, सोई सत्त्वगुणी (सत्त्वगुण उपाधि युक्त) हरि कही जाती है, वह वस्तु सच्चिदानन्दस्वरूप राम है। कबीर साहब कहते हैं, कि यदि उस राम में रमते रहा जाय तो सब औपाधिक भेदों के मिट जाने से (गुणकृतमिथ्याभासने लगने से) हिन्दू तुरुकादि के भी कोई भेद सत्य नहीं भासेगें, ब्रह्मा आदि में भेद भासना तो अत्यन्त नष्ट हो जायगा, यही पक्ष कबीर साहब से मान्य है, ऐसा प्रतीत होता है। और अध्यात्मरामायणादि में इस अर्थ का वर्णन है कि "त्वं रजोगुणतो ब्रह्मा जगतः सर्गकारणम्। सत्त्वाद्विष्णुस्त्वमेवास्य पालकः सद्भिरुच्यते ॥१॥ लये रुद्रस्त्वमेवास्य त्व-

न्मायागुणभेदतः ॥२॥ श्री अगस्त्य जी श्रीरामचन्द्रजी में निर्गुण पर ब्रह्मदृष्टिता पूर्वक राम जी से बोले कि सर्वात्म स्वरूप आप रजोगुण उपाधि से सृष्टि का कारण ब्रह्मा हो, और सत्त्वगुण से संसार का पालक विष्णु आप ही हो, सो सत्पुरुषों से कहे जाते हो, और तेरी माया के गुण भेद तमोगुण से इस संसार के लय में कारण रूप रुद्र आप हो ॥१।२॥ "रजोजुषे जन्मनि सत्त्ववृत्तये स्थितौ प्रजानां प्रलये तमः स्पृशे। रवीन्दु-नेत्राय च लोक साक्षिणे चिन्मात्र रूपाय परात्मरूपिणे ॥१" संसार के जन्म काल में रजोगुण सेवी, स्थिति में सत्त्ववृत्ति वाले, प्रजा के प्रलय में तमोगुणयुक्त, सूर्यचन्द्र नेत्र वाले, लोकसाक्षी, चेतनमात्रस्वरूप परमात्म स्वरूप वाले के प्रति प्रणाम है, इत्यादि, आदि पुराण में कहा गया है। इससे त्रिगुण उपाधि वाले विभु ब्रह्मा आदि कबीर साहब के मान्य प्रतीत होते हैं, जो वस्तुतः निर्गुण राम स्वरूप ही हैं, इसी ब्रह्मा का अभिव्यक्त स्वरूप ब्रह्म लोक वासी कहा जा सकता है, तथा "हिरण्य गर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्" इस श्रुति में इसी ब्रह्मा का वर्णन है। देवरूप ब्रह्मा आदि उक्त ब्रह्मा आदि के अंशरूप देहधारी गायत्री से होते हों, ऐसा प्रतीत होता है, परन्तु श्री कबीर साहब का बीजक में एकात्मा के प्रतिपादन और उसके ज्ञान के साधन के प्रतिपादन में तात्पर्य है, कि जिस ज्ञान से शान्ति मुक्ति मनुष्य पा सके। अन्य वार्ता आनुसङ्गिक है। इसी से कहा है कि "बिजक बतावै वित्त को जो वित गुप्ता होय। शब्द बतावै जीव को, बूझै बिरला कोय" जीव को= जीव के सत्य स्वरूप को ॥इत्यादि ॥१२॥ एक बीजक टीकाकार ने टीका को छपवा कर एक सन्त द्वारा भेजते हुए सूचित कराया कि इस के कुछ विचारादि करना, अतः अति संक्षेप से टीका विषयक विचार आगे किया जाता है, यद्यपि मेरे लिये यह युक्त नहीं है, शरीरादि की अवस्था ठीक नहीं है, तथापि अनुमति के अनुसार विचार कर्तव्य है॥

"अन्तर जोति शब्द एक नारी" यहाँ (अन्तर=भीतर वर्तमान जोति स्वरूप एक आत्मा) या सबके अन्तर वर्तमान जीव का स्वरूप, यह अर्थ टीकाकार करते हैं। सो मेरे विचार से असङ्गत प्रतीत होता है, क्योंकि सृष्टि से प्रथम बाहर भीतर का भेद होना असम्भव है, और प्रथम जीव भी नहीं था, अतः जीव अर्थ करना भी असङ्गत ही है, अतः अन्तर ज्योति पद का अर्थ, सबसे अन्तर=सबसे प्रथम स्वगतादि भेद रहित अद्वैत

चेतन ब्रह्म था। ऐसा करना सङ्गत प्रतीत होता है। ऐसा नवीन टीकाकार ने लिखा है। परन्तु यह नहीं समझा है कि वेदान्त में जीव ईश्वरादि छः पदार्थ अनादि माने गये हैं, अतः परमार्थ सत्य के अद्वैत होते भी बीज रूप से व्यावहारिक द्वैत महाप्रलय में भी रहता है, अन्यथा पुनः सृष्टि नहीं हो सकेगी, और ईश्वर की इच्छा से जीव कर्मों के अनुसार सृष्टि का वर्णन किया जाता है, तो यदि जीव और कर्म नहीं रहते हैं, न ईश्वर रहता है किन्तु शुद्ध निर्गुण ब्रह्म ही रहता है तो सृष्टि कैसे हो सकती है हाँ शुद्ध निर्गुण ब्रह्म से भिन्न सत्ता नहीं रहती है, सो सृष्टिकाल में भी नहीं रहती है, अतः "तम आसीत्तमसा गूढमग्रे (ऋग्) नान्यत् किञ्चन मिषत् (ऐतरेय) इत्यादि शास्त्र के अनुसार, मिषत् (चलत= क्रिया युक्त) कोई पदार्थ प्रलय में नहीं रहता है किन्तु तम रहता है, तम से गूढ अन्य रहता है, उन सबका अन्त ज्योंति स्वरूप उस समय भी प्रकाशक ही रहता है, और वस्तुतः तो यह सृष्टि के बाद शिष्यादि के प्रति उपदेश काल में जिज्ञासु के प्रति कहा जा रहा है, अतः कुतर्क और अक्षरार्थ से भिन्न अर्थ करना व्यर्थ है। तथा कभी पाक कर्ता जो होता है, सो अन्य समय भी पाचक कहा जाता है। इत्यादि प्रसिद्ध है। और वृहदारण्यक (अ० ४। ब्रा० ४) में सूर्यादि ज्योतियों के अभाव काल में आत्म स्वरूप ज्योति वाला पुरुष को कहा गया है, और आत्मा को हृद्यन्तर्ज्योंतिः पुरुष कहा गया है। सो प्राणादि उपाधि से जीवात्मता के प्राप्त होने पर भी अनादि ही वह प्राप्ति है, उसको सृष्टि काल में अभिव्यक्ति से ही, नृसिंहोत्तरतापिनी उपनिषद् में कहा गया है कि 'माया स्वाऽव्यतिरिक्तानि पूर्णानि क्षेत्राणि दर्शयित्वा, जीवेशावभासेन करोति माया चाविद्या च स्वयमेव भवति' इत्यादि। महाप्रलय में माया में लीन माया प्रकृति से अभिन्न शरीरों को दर्शा कर (व्यक्त करके) शरीरों में आभास रूप से जीव ईश्वर को माया सिद्ध करती है, और सत्त्व प्रधान स्वरूप वाली माया तथा मलिन सत्त्व प्रधान वाली अविद्या माया (प्रकृति) स्वयं ही होती है, इत्यादि ॥१॥

प्रथम अरम्भ कौन को भाऊ। दूसर प्रगट कीन्ह सो ठाऊँ ॥

इस रमैनी में कार्य और कारण विषयक प्रश्न को, या विचार को सब टीका कार ने समझा, परन्तु "ये सब लागि रहे अविनाशी" इससे जो अविनाशी सर्वात्मा सब का आधार रूप उत्तर रूप में कहा गया उसको प्रायः किसी ने नहीं माना, इससे उत्तर रहित प्रश्न रहा इत्यादि ॥२॥

और "नारी मोचित गर्भ प्रसूती" इस वाक्य के नारी में चित्त के रखने (देने) से गर्भ में अपनी उत्पत्ति होती है, गर्भ में जाना होता है, ऐसा अर्थ करने पर, मो इसको में बनाना पड़ता है, चित को चित्त बनाना पड़ता है, तथा केवल नारी में ही चित्त लगाने से गर्भ स्थान में नहीं जाना होता है, किन्तु सब अनात्मपशु धनपुत्र कनकादि में चित्त लगाने से गर्भ में आना होता है, अतः नारी शब्द की मायिक वस्तु में लक्षणा करनी पड़ती है, अतः यदि ग्रन्थकार को यह अर्थ अभिप्रेत होता, तो "नारी में मन गर्भ प्रसूती" लिखते, इतनी क्लिष्ट कल्पना का कारण वाक्यही क्यों लिखा, ऐसी कल्पना होने पर यदि कहा जाय कि लेखक को (नारी में मन) इत्यादि फुरा नहीं होगा, तो लेखक को अज्ञ सावित करना है। अतः माता रूप नारी से मोचित (उत्पादित=त्यक्त) जिस गर्भ (बच्चे) की प्रसूति (उत्पत्ति) होती है, सो गर्भ फिर उस माता वा पिता से भी कुछ पूछने नहीं लगता है, निज इच्छा से बहुत कल्पित स्वांग (वेष) का धारण करता है, इससे अपने परम्परागत धर्म संस्कृति को खो बैठता है। मानवता से रहित कामादि वश हो जाता है और "मातृदेवो भव" इत्यादि उपदेशों को नहीं मान कर स्वांगादि मात्र से महत्त्व का अभिमान करता है, यह नहीं समझता है कि माता के उपदेश से ही मदालसा के पुत्र सब ज्ञानी मुक्त विरक्त हुए। और "काम क्रोध तृष्णा मद मोहू। जनि स्वप्नेहु इनके वश होहू" इत्यादि माता के उपदेश से लक्ष्मण जी ने निजधर्मादि का प्रतिपालन किया, यदि कहा जाय कि अब ऐसी मातायें नहीं होती हैं, तो कहा जा सकता है कि जैसे बच्चे परम्परागत धर्म को स्वतन्त्रता से भूल गये हैं, इसी प्रकार बच्चियाँ स्वतन्त्रता आदि से अपने धर्मों को भूल गई हैं, और वे भी फिर माता बनती हैं, तो मदालसा सुमित्रा के समान कैसे हो सकती हैं, अब भी जो स्वतन्त्रता उच्छृंखलता को त्याग कर शास्त्रादि के अनुसार स्वधर्म को सम्हारती हैं, सो पूज्य मान्य होती ही हैं, इत्यादि यहाँ ग्रन्थकार का तात्पर्य है। नहिं तो वैद्य कहा कि (केशर खावो) तो रोगिने (लीन्हा केश रखाय) यही दशा यहाँ प्रतीत होती है ॥३॥

"विधि अक्षर का कीन्ह बँधाना" यहाँ दो अक्षर का राम अर्थ किया गया है। और इसको आक्षेप पूर्ण वचन कहा गया है, परन्तु यहाँ प्राथमिक उपदेश का प्रकरण होने से आक्षेप का कोई अवसर नहीं प्रतीत होता है, और यदि दो अक्षर से राम का ग्रहण माना जाय तो शिव और हरि शब्दों

ने क्या अपराध किया है, कि जिससे उनका ग्रहण नहीं किया जा सकता है। राम शब्द के समान शिव हरि शब्द की महिमा भी ग्रन्थों में वर्णित है, परन्तु हरि शिवादि शब्दों में दो अक्षर लेकर कोई युक्ति नहीं बनाई जाती है, और ओम् में ओ सन्ध्यक्षर कहा जाता है, अतः उपनिषदों के अनुसार (अउम्) इस अवस्था में "आद्गुणः" इस सूत्र से अ उ के स्थान में ओ वन जाने से ओम् सिद्ध होता है, और व्याकरण के अनुसार "अव-तेष्टिलोपश्च" (उणादिसूत्र । १३६) इस सूत्र से अवधातु से मन् प्रत्यय होता है, और मन् प्रत्यय के टि (अन्) का लोप होता है, म्—मात्र शेष रहता है, और "ज्वरत्वर" इत्यादि सूत्र से, अव् धातु के दोनों अक्षर के स्थान में दोऊ होते हैं, फिर "अकः सवर्णेदीर्घः" से दोनों के स्थान में एक दीर्घ होने पर "सार्वधातुकार्धधातुकयोः" इससे गुण होने पर ओम् होता है। और गरुड़ पु० (आदिकां०अ०२३४।३) वचन है कि "सकारश्च हकारश्च लोपयित्वा प्रयोजयेत्। सन्धिं च[1] पूर्वरूपोत्थं ततोऽसौ प्रणवोभवेत् ॥१" सोऽहम्, के सकार और हकार का लोप (अभाव) करके प्रयोग करे तो, ओअम् यहाँ पूर्व रूप से सिद्ध सन्धि के करने पर प्रणव ओम् होता है, सो जीव ब्रह्म के अभेद का बोधक होता है, ओंकार में इस प्रकार दो अक्षर को लेकर युक्ति (सन्धि) बनाई जाती है, अतः विवि अक्षर से यहाँ ओंकार का ही ग्रहण सर्वथा उचित है, स्थानि दृष्टि से दो अक्षर रूप है, स्वरूप दृष्टि से एकाक्षर कहा जाता है, और प्रथम कण्ठ से उच्चारित ओंकार द्वारा ही श्री ब्रह्मा का उपदेश आरब्ध हुआ, फिर ओंकार मूलक वेदादि का विस्तार हुआ, यह स्पष्ट भासता है **फिर मिथ्या अन्यार्थ की कल्पना अनुचित है** और "अनादिनिधना वेदा वागुत्सृष्टाः स्वयं भुवा" इस मनु स्मृति आदि के अनुसार सब वेद रूप वाक उत्पत्ति नाश रहित होते भी ब्रह्मा से उत्सृष्ट (व्यक्त) होते हैं, तैसे ओंकार भी होता है, अतः उसके नित्यता के वर्णन से कोई विरोध नहीं सिद्ध होता है। और सभी शब्दों को नित्य मान कर भी लिख गया है कि "असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते। उपायः शिक्षयमाणानां बालानामुपलालनम् ॥ १" असत्य मार्ग में प्रथम स्थिर हो करके ही फिर सत्य को प्राप्त किया जाता है, अतः धातु प्रकृति प्रत्यय आगम आदेशादि रूप जो उपाय हैं, सो शब्द के नित्य होने के कारण उस असत्य मार्ग में स्थिर हो करके ही

---

१. "एङः पदान्तादति" पूर्वरूपकारक यह सूत्र है ॥

बाल बुद्धि वाले सत्य नित्य शब्द को समझ सकते हैं, इस लिए वह उपाय बालकों का उपलालन सुख से सम्बोधन रूप है। और "अवतेष्टिज्ञोपश्च" इत्यादि से ओंकार का साधन प्रसिद्ध ही है, तथा—'ओमभ्यादाने' इस सूत्र से अभ्यादान (आरम्भ) अर्थ में प्लुत होता है, तब "ओ३म्" ऐसा लिखा जाता है। ॐ ऐसा लिखने की सिद्धि किसी सूत्र से नहीं प्रतीत होती है, किन्तु ध्यानार्थक वह कल्पित आकार है, सो ध्याता सम्प्रदाय से सिद्ध हुआ है, इत्यादि ॥ और "पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ, पण्डित भया न कोय। एकै अक्षर प्रेम का, पढ़ै सु पण्डित होय ॥१॥" इस वचन के उत्तरार्द्ध को इस प्रकार से भी पढ़ते हैं कि "ढाई अक्षर प्रेम का, पढ़ै सु पण्डित होय" और "जाकु देव मैं नव पँच सेरवा, ताको होत अढ़ाई हो। कहरा ७" यहाँ एकाक्षर को ही ढाई मात्रा (अक्षर) युक्त कहा गया है। परन्तु इन विवेक ज्ञान के बिना जो कुछ कहा जाय, सो सही कहा गया है कि "मुनि हि हरियरे सूझ" श्रावण के हरियाली काल में अंध होने वाले को सदा भीतर हरियाली भासती है। वैसे ही कुछ सामर्थ्य काल में कुछ महत्वादि को पाने वाले को सामर्थ्य के नष्ट होने पर भी कुछ देर तक पूर्व के महत्वादि भासते हैं, अपनी अज्ञता भी नहीं सूझती है।" "तहिया होत पवन नहिं पानी। र०" इस रमैनी में सृष्टि का प्रसङ्ग कौन है कि जिसका निषेध किया जाय कि "तहिया सृष्टि कवन उतपानी" इत्यादि। और प्रलय काल में कार्य रूप पवन पानी आदि के नहीं रहने पर भी अव्यक्त कारण रूप से सब संसार रहता ही है कि जिससे फिर सब सृष्टि होती है। अतः प्रलय में सबका सर्वथा निषेध बन नहीं सकता है। और (तहिया) शब्द पूर्व प्रसङ्ग में प्राप्त का बोधक होता है। पूर्व से कोई उपयुक्त पदार्थ नहीं प्राप्त हो, तो बुद्धिस्थादि का ग्रहण होता है। यहाँ पूर्व प्रकरण में (निरालम्ब = निर्विकल्पसमाधिस्थ मुक्त महात्मा) वर्णित हैं, अतः तहिया शब्द से उक्त मोक्षावस्था का ही ग्रहण होता है। और मोक्ष वही कहा जाता है कि जिससे संसार में जन्मादि नहीं हो, प्रत्येक प्राणी के व्यष्टि अपने जन्मादिक ही दुःख रूप हैं, उसकी निवृत्ति ही मुमुक्षु चाहता है, परंन्तु जन्मादि के कारण पवनादि के रहते जन्मादि का अभाव होना असम्भव है, अतः कहा गया है, कि उस मुक्त अवस्था के आने पर ज्ञानी मुक्त के जन्मादि के लिए पवन पानी आदि समर्थ नहीं होते हैं, ज्ञानी के शरीर छूटते समय प्रारब्धान्त काल में शरीर सम्बन्धी सब भूत अंश अपने-अपने अंशी में मिल जाते

हैं, यही उनका मानो व्यष्टि स्वरूप का नाश होता है। और सांख्य योग में माना गया है कि "नष्टमप्यनष्टं[1] तदन्य साधारणत्वात्" प्रकृति (प्रधान) विवेकी ज्ञानी मुक्त के प्रति नष्ट होने पर भी अन्य के लिए नष्ट नहीं होती है, क्योंकि वह विवेकी से अन्य के भोग के लिए भी साधारण कारण है, और ब्रह्मसूत्र है कि 'तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति संपरिष्वक्तः प्रश्ननिरूपणाभ्याम्। अ. ३।१।१' शरीरान्तर की प्राप्ति काल में अज्ञानी जीव सूक्ष्म पाँचभूत सूक्ष्म शरीरादि सहित ही गमन करता है, जो श्रुति गत पञ्चाग्निविद्याविषयक प्रश्न और उत्तर से सिद्ध होता है, अधिकारी से भिन्न ज्ञानी को फिर शरीर नहीं होता है, वह मुक्त है "ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति। न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति बृ. ४।४।६" सब काम रहित आत्मनिष्ठ ज्ञानी जीवित अवस्था में ही ब्रह्म स्वरूप होता हुआ ब्रह्म स्वरूप में लीन होता है, उसके प्राण उत्क्रमण नहीं करते हैं। और अज्ञानी के प्राण उत्क्रमण करते हैं, उनके लिए संसार का अभाव नहीं कहा गया है, तहिया शब्द से मोक्षावस्था स्पष्ट कही गई है, और भूत (अतीत) महा प्रलय का "प्रथम आरम्भ कौन का भाऊ" इत्यादि तृतीय रमैनी से सूचनात्मक वर्णन हुआ है, क्योंकि भूत भौतिक पदार्थों की उत्पत्ति के वर्णन से ही सिद्ध होता है कि ये प्रथम नहीं थे। और इनके अभाव युक्त काल को ही महाप्रलय काल कहा जाता है और "जब हम रहलि रहल नहिं कोई। र० ४१" इस रमैनी से भी "सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" इत्यादि श्रुतियों के अनुसार अतीत महाप्रलय का वर्णन किया गया है, और शास्त्र दृष्टि (ब्रह्मात्म दृष्टि) से अपनी स्थिति सर्वाधारता का वर्णन किया गया है कि "हमरहिं माँह रहल सब कोई" और भावी (आगामी) महा प्रलय का वर्णन है कि "पानी पवन आकाश जाहिगें, चन्द जाहिगें सूरा हो। क० १०" इत्यादि। और, तृतीय रमैनी में "ये सब लागि रहे अविनाशी" इस वाक्य से जिस सर्वात्मा राम को सर्वाधार कहा गया है, उसी को कहरा में कहा गया है कि "कहहिं कबीर सारि दुनियाँ विनशल, रहल राम अविनाशी हो" अतः स्पष्ट प्रलयों के वर्णनों के रहते बिना प्रसङ्ग के प्रलय का वर्णन युक्त नहीं हो सकता है॥

किञ्च

विज्ञ पाठकगण सम्वत् १९७९ में मैंने फतुहा पाठ पर 'शिशु बोधिनी' नामक व्याख्या लिखी थी। जो फतुहा मठ से प्रकाशित हुई थी। उक्त

१. कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात्। योगः २।२२॥

पाठ पर ही मैंने सम्वत् १९९६ में "स्वानुभूतिसंस्कृतमूलार्थबोधिनीहिन्दी व्याख्या" लिखी थी। जो श्री कबीर प्रेस सियाबाग बड़ोदा से सन् १९३९ में प्रकाशित हुई थी। उसके पश्चात् उक्त ग्रन्थ स्वानुभूतिसंस्कृतव्याख्या और श्लोकों की हिन्दी व्याख्या सन् १९५० में उक्त प्रेस से प्रकाशित हुआ है। यह जो "स्वानुभूति संस्कृत स्वल्पाक्षरा हिन्दी व्याख्या" प्रकाशित हो रही है, पूर्वोक्त पाठ पर ही है। इन चारों प्रकाशनों का पाठक्रम प्रकरण क्रम एक है; इसमें किसी प्रकार का भेद नहीं है। इसके अतिरिक्त एक धनौती के प्राचीन पाठ पर मैंने "हिन्दीस्वानुभूतिव्याख्या" लिखी थी। जिसका प्रकाशन सन् १९५७ में मैंने वाराणसी से कराया था। जिसका पाठक्रम प्रकरणक्रम फतुहा पाठ से भिन्न है; उस टीका में इसका विशेष उल्लेख है। इन पाठक्रमों को दिया जा रहा है कि वस्तु स्थिति विज्ञ सज्जनों के सामने आ जाय।

शिशुबोधिनी।	स्वानुभूतिसंस्कृतमूलार्थ-बोधिनीहिन्दीव्याख्या।	स्वानुभूतिसंस्कृतस्वल्पाक्षरा-हिन्दीव्याख्या।	स्वानुभूति हिन्दीव्याख्या,
फतुहा पाठ	फतुहा पाठ	फतुहा पाठ	धनौती प्राचीन पाठ
१ रमैनी	१ रमैनी	१ रमैनी	१ रमैनी
२ शब्द	२ शब्द	२ शब्द	२ शब्द
३ कहरा	३ कहरा	३ कहरा	३ कहरा
४ विप्रमतीसी	४ विप्रमतीसी	४ विप्रमतीसी	४ वसन्त
५ हिंडोला	५ हिंडोला	५ हिंडोला	५ चाँचर
६ वसन्त	६ वसन्त	६ वसन्त	६ बेली
७ चाँचर	७ चाँचर	७ चाँचर	७ चौंतीसी
८ ज्ञानचौंतीसी	८ ज्ञानचौंतीसी	८ ज्ञानचौंतीसी	८ हिंडोला
९ बेली	९ बेली	९ बेली	९ विप्रमतीसी
१० विरहुली	१० विरहुली	१० विरहुली	१० विरहुली
११ साखी	११ साखी	११ साखी	११ साखी

इस पाठक्रम को देखकर विज्ञ सज्जन स्वयं समझ सकते हैं कि वस्तु स्थिति क्या है? स्वानुभूति संस्कृत टीका फतुहा पाठ पर है और हिन्दी स्वानुभूति धनौती प्राचीन पाठ पर है। इन दोनों का पाठ भिन्न है और प्रत्यक्ष भी है। शिशुबोधिनी और हिन्दीस्वानुभूति इन दोनों भिन्न पाठ

क्रमों को "विमला" व्याख्याकार मुनि ने एक मान लिया है, यह उनकी परम्परागत तथा उनका स्वाभाविक धर्म है। इन्हें किसी प्रबल प्रमादवस या व्यामोहवश भिन्न पाठक्रम एक दिखाई पड़ रहा है। ठीक ही गोस्वामी तुलसीदास जी ने लिखा है "जाको दिग भ्रम भयउ खगेशा। सोकहँ पश्चिम उगे दिनेशा।" जन मानस में भ्रान्ति फैलाना इनका परम उद्देश्य है। इस दिग्दर्शन से विवेकी सज्जन वृन्द स्वयं सत्य का उद्घाटन करेंगे। इन टीकाकारों ने मत्सरादि वस बीजक में अनेक स्थलों पर अर्थ का अनर्थ किया है, वह सर्वथा अप्रमाणिक तथा अग्राह्य है ही। जैसे—

जसजिव आपु मिलै अस कोई।
बहुत धर्म सुख हृदया होइ ॥रमैनी० १७॥

इसके नूतनटीकाकार लिखते हैं कि श्री कबीर साहब, धर्मदास जी से कहते हैं कि हे धर्म दास! जैसा जीव निर्मल हृदय के अधिकारी मुझे आप मिले हो, ऐसा ही यदि अन्य कोई मिलता है, मिले, तो मेरे हृदय में बहुत सुख होता है इत्यादि यहाँ बीजक में ही सहृदय पाठक को देखना चाहिये की पूर्व पर ग्रन्थ में भी धर्मदास जी का कोई प्रसङ्ग है। अतः यह ग्रन्थ श्री कबीर साहब और धर्मदास जी का सम्बाद रूप है, अतएव श्री कबीर साहब धर्मदास जी से कहते हैं। और इन दोनों से अन्य इसका लेख कर्ता कौन है। इत्यादि बिचार ने पर इसका रहस्य प्रकट होगा। और इस टीकाकार के परम मान्य (अनुरागसागर) ग्रन्थ में लिखा है कि "बीजक ज्ञान दूत जो थापे। जस गूलर कीड़ा घट व्यापे" अनुराग सागर पृष्ट १२२ पर देखें। (वेंकटेश्वर प्रेस प्रकाशित) यमदूत जो होगा सोई बीजक ज्ञान की स्थापना करेगा, और वह गूलर कीड़ों के समान घटों (देहों) में व्याप्त होगा, वार बार शरीरों में प्राप्त होगा, कीड़ों के समान जन्मेगा मरेगा, मुक्त नहीं होगा। इस कथन के अनुसार, इस टीका कार के सम्प्रदाय में इनसे प्रथम बीजक की मान्यता नहीं थी, अब तो इनकी टीका के अनुसार इनके कवीर साहब और धर्म दासजी भी बीजक ज्ञान को थापने वाले सिद्ध होते हैं। अतः इनके मान्य वे दोनों गूलर के कीड़ों के तुल्य ही सिद्ध होते हैं ॥

इनके अनुयायी एक दूसरे टीकाकार हुए हैं। उन्होंने लिखा है कि, गोघाती कसाई जैसे गाय को अपने तरफ खींचता है। तैसे ही धर्म शब्द वाणी रूप गाय को खींच कर धर्मशब्द का धर्मदास अर्थ नहीं किया

है। किन्तु पुण्य अर्थ किया है। यह आक्षेप उक्त १७ रमैनी गतधर्म शब्द के पुण्य अर्थ करने वाले का उक्त दूसरे टीकाकार ने किया है। इस लेख से धर्म शब्द के पुण्य अर्थ करने वाले में कसाई तुल्यता सिद्ध की गई है, कि जिससे धर्म दासजी को मानने वाले उस पुण्य अर्थयुक्त टीका को हाथ से भी नहीं छूवें ॥

अब यहाँ यह विचार कर्त्तव्य है कि उक्त दोनों टीकाकार धर्म शब्द के पुण्य अर्थ बीजक में कहीं भी मानते हैं कि नहीं, यदि "धर्म कथा जो कहते रहई ॥ धर्म कर्म मति बुधि परिहरिया" इत्यादि स्थानों में सर्वत्र धर्म शब्द के धर्मदास अर्थ करें, तो हे धर्मदास जो कथा कहते रहते हैं, यह अर्थ तो कथञ्चित् किया जा सकता है। परन्तु हे धर्मदास ! कर्म मति बुद्धि त्यागा, यह अर्थ होगा, सो किसी प्रकार अज्ञ के लिये संभव नहीं है, और अज्ञ मनुष्य धर्म (पुण्य) कर्म को त्याग सकता है। और बिना प्रसङ्ग के धर्म शब्द के धर्मदास अर्थ करना सर्वथा विरुद्ध मोहमूलक है "स्याद्धर्ममस्त्रियां पुण्यश्रेयसी सुकृतं वृषः" इत्यादि कोश के अनुसार तो धर्मशब्द का पुण्य ही अर्थ हो सकता है। तथापि उक्त टीकाकार के अनुसार कबीर साहब के ग्रन्थ में जो धर्म शब्द का पुण्य अर्थ कहीं भी कर्ता है, सो कसाई तुल्य है, तो कसाई तुल्यता से वह लेखक उसके गुरु आचार्य भी नहीं बच सकते हैं। इससे यह लेखक स्वयं घातक सिद्ध होता है। श्री कबीर साहब का बचन है कि "साधु भया तो क्या भया, बोलै नाहिं बिचार, हतै पराई आतमा, जीभ लिये तरवार" ॥

"सन्तो बीजक मत परमाना" इत्यादि भजनों से बीजक की मान्यता सिद्ध है, तथा जिसके रमैनी शब्द साखी रूप महाप्रकरणों का नाम महात्मा नाभाजी ने लिया है। जिसके कुछ अंशों का उल्लेख गुरुनानक देवजी ने किया है, उसको अनुरागसागर मूलक आदि उक्त टीकाकार ने लिखा है। उसने यह नहीं समझा है कि यदि अनुरागसागर मूलक बीजक होता, तो बीजक में कहीं अनुरागसागर की चर्चा होनी चाहिये थी, सो क्यों नहीं है ? और अनुराग सागर में निन्दित रूप से बीजक की चर्चा कैसे है, सो बीजक की चर्चा प्रथम लिखी गई है। और महात्मा गरीब दासजी ने लिखा है कि "योगजीत करुणामय, मुनिद्र कहो कबीर। बारह पन्थ चलाइया, डिगे बधावैं धीर ॥१॥ काशी तजि करि मगहर पहुँचे, ऐसा निश्चय कहिये। सत गुरु साखी समझ ले भाई, थिर पकरि थिर रहिये ॥२" इन बचनों से

सिद्ध होता है कि काशी में प्रकटित शरीर से सद्गुरु कबीर साहब ने ही बारह शिष्य द्वारा बारह पन्थ को स्थापित किया, और उसके बाद मगहर में जाकर शरीर को लीन किया (त्यागा) उसके बाद धर्मदास जी से मिलने की कथा अति प्रसिद्ध है। और बाद में मिलने पर धर्मदास जी से अनुराग सागरादि के अनुसार कबीर साहब यदि कहते हैं कि—"नाम कबीर हमार कलि माहीं। कबिर कहत यम निकट न आहीं" इत्यादि। परन्तु इस बात को जान सुनकर अन्याय करने वाला यमराज कबीर साहब से बोला कि "तुम्हरो नाम ले पन्थ चलायब। यहि विधि जीवन धोख लखायब" द्वादश पन्थ करब हम साजा। नाम तुम्हारे करब अवाजा। अनुराग सागर पृष्ठ ११६ पर, कबीर नाम मैं अपना धर कर, मैं=यमराज पन्थ चलाऊँगा, और इस प्रकार मैं जीवों को धोखे में (कुमार्ग में) ले आऊँगा बारह पन्थ का साज=साधन मैं करूँगा, परन्तु तुम्हारे=कबीर नाम का आवाज=उच्चारण करूँगा। अर्थात् मैं यमराज होता हुआ कहूँगा कि मैं कबीर हूँ। और मैं सदुपदेश देने के लिए काशी में प्रगट हुआ हूँ इत्यादि। यहाँ बिचारना चाहिए कि श्री गरीबदासजी, श्री गुरुनानकदेव, श्री दादूजी आदि महात्माओं के बचनों के अनुसार श्री कबीर साहब ने काशी में प्रगट होकर, बारह शिष्य द्वारा बारह पन्थ चलाकर, फिर उस शरीर को महगर में लीन करके मथुरा आदि में श्री धर्मदासजी से मिले, और सो धर्मदासजी अनुरागसागर के अनुसार, नीरू जो काशी के जोलाहे थे, उसी के अवतार रूप थे "वंश व्यालिस अंश हमारा। सुकृत ग्रह लैहैं औतारा। धर्म तुमनीरू औतारा॥ आमिन नीमा प्रगट विचारा। अनुरागसागर पृष्ठ ११० देखें, इत्यादि अनुरासागर के बचन हैं, तहाँ विचारना चाहिये कि महात्माओं के बचनों के अनुसार, नीरु-गृह में प्रतिपालित जो श्री कबीर साहब बारह पन्थ चलाकर, बीजक ग्रन्थ साखी ग्रन्थ अनेक भजन वाणियों का उपदेश देकर, फिर श्री नीरुजी के शरीर छूटने पर, उन्हें धर्मदास जी रूप से अवतीर्ण होने पर, कितने वर्षों के वाद कहते हैं कि हमरा कलि में कबीर नाम होगा, और उनका बड़ा भ्राता यमराज कहते हैं कि मैं बारह पन्थ तुम्हारे नाम से चलाऊँगा, अभी यमराज पन्थ चलाये नहीं थे, बहुत दिनों के बाद भविष्यत् काल में चलाने की बात उस दूसरे श्री कबीर साहब से यमराज ने कही थी। फिर श्री कबीर साहब ने धर्मदास जी से कहा कि "मृत्यु अन्धा, एक दूत तुम्हारे घर में अवतार लेगा सो जीवों के लिये दुखदाई होगा॥१॥

दूसरा "तिमिर,, दूत आयेगा, सो तुम्हारे बहुत ग्रन्थ चोरायेगा, और अपना न्यारा पन्थ चलायेगा ॥२॥ "अन्ध अचेतस" तीसरा दूत होगा, सो तेरे पास खवास होकर आयेगा, सो सुरतगोपाल नाम से प्रकाशित होगा, अपना न्यारा पन्थ चलायेगा ॥३॥ "मन भंग" दूत चौथा होगा सो मूल पन्थ चलायेगा ॥४॥ "ज्ञान भंगी" दूत पंचम होगा, सो टकसार पन्थ चलायेगा ॥५॥ "मन मकरन्द" दूतजगत में आयेगा, सो कमाली नामक पन्थ चलायेगा ॥६॥ "चित भङ्ग" नामक सप्तमदूत आयेगा, दौन नाम कह कर पन्थ चलायेगा, बोलनहार पुरुष को व्यापेगा "बीजक ज्ञान दूत जो व्यापे। जस गूलर कीड़ा घटव्यापे" इत्यादि ॥७॥ "अकिल भङ्ग" अष्टमदूत को समझो, वह परम धाम कह कर पन्थ चलायेगा। वह कुछ कुरान कुछ वेद के अंश को चोरायेगा, और कुछ मेरा निर्गुण लेगा ॥८॥ "विशम्भर" नवमदूत के तमाशा देखो "रामकबीर" उसके पन्थ का नाम होगा, वह निर्गुण सगुण को एक में मिलायेगा ॥९॥ दशम पन्थ अब मैं बताता हूं "नकटा नैन" दूत का नाम होगा, वह सतनामी कहकर पन्थ चलायेगा, और चारो वर्णं को एक में मिलायेगा ॥१०॥ "दुरगदानि" एकादश दूत होगा, सो जीव पन्थ चलायेगा ॥११॥ "हंस मुनि" द्वादश दूत होगा, सो प्रथम बचन वंश के सेवक होकर पीछे पन्थ चलायेगा ॥१२॥ अनुरागसागर पृष्ठ १२० से १२३ तक देखें। यहाँ विचारना चाहिये कि इन सागर ग्रन्थों को लिखने वाला कौन है। श्री कबीर साहब और धर्मदास जो के सम्बाद को लिखने वाला तीसरा है, वह साधु सत्य वक्ता नहीं है, क्योंकि साधुअङ्ग साखीग्रन्थ की साखी है कि "रवि का तेज घटै नहीं, जो घन जुरे घमण्ड। साधु बचन पलटै नहीं, पलटि जाय ब्रह्माण्ड" इस लेखक का सभी बचन उलटने ही वाले हैं। व्यालिस वंशादि को कबीर साहब के बचन रूप से अटल आदि से कहा (लिखा) सो सब टलने ही वाले हुए। परमसन्त श्री कबीर साहब मिथ्या बचन कहें यह कभी माना नहीं जा सकता है। यद्यपि अब कोई कहने वाले हैं कि वंश उच्छिन्न नहीं हुआ है, धर्मदास साहब का वंश है ही, परन्तु जिनको पुत्र नहीं हुआ उनकी वंश परम्परा तो नष्ट हुआ ही, वही स्वार्थ फिर सता रहा है, और उपनिषदादि में विद्या वंश के वर्णन होते भी स्वार्थ मूलक बिन्दु वंश मात्र का आग्रह है (वंशोद्विधा विद्यया जन्मना च) इत्यादि का अज्ञान आग्रह में कारण है। और यदि धर्मदास जी के परिवार मात्र की स्थिति से वंश की स्थिति हो, तो व्यालिस की गिनती आदि निरर्थक

होगा इत्यादि ।। अतः ऐसा बचन स्ववंश पोषक किसी अज्ञ का हो सकता है, और उसका यत्न कुछ दिन सफल भी हुआ, खूब पूजाया, यह प्रारब्ध का फल है, परन्तु अज्ञ की माया जाल में मूर्ख को फँसाना चाहिये विवेकी को नहीं, आश्चर्य है कि पण्डित मानी मोह जाज में फँसे हुए अनर्थमय बचनों को बोलते हैं। और लिखते हैं, पूर्वापर के विचार नहीं करते हैं। और बीजक में "जीव जनिमारहु बापुरा" इत्यादि बचनों से अहिंसा का उपदेश दिया गया है ।।१।। "साँच बराबर तप नहीं" इत्यादि से सत्य भाषण का उपदेश है ।।२।। "जनि लो चोरी भिक्षा खाई" इत्यादि से अस्तेय का उपदेश किया है ।।३।। "तबही विष्णु कहा समुझाई। मैथुन अष्ट तुम जीतहु जाई" इत्यादि से ब्रह्मचर्य कहा गया है ।।४।। मूरख मानुष बहुत संयोवे" इत्यादि से परिग्रह (संग्रह) की निन्दा द्वारा अपरिग्रह का उपदेश दिया गया है ।।५।। मांस मद्यादि के निषेध द्वारा आहार की शुद्धि (शौच) का कुसङ्ग के निषेध (त्याग) के उपदेश रूप शौच का विधान किया गया है काम क्रोधादि के त्याग रूप अन्तः शौच का शतशः विधान किया गया है ।।६।। सन्तो है सन्तोष सुख, रहु तो हृदय जुड़ाय" इत्यादि से सन्तोष का उपदेश है। अन्यत्र भी कहा गया है कि "विनु सन्तोष न काम नशाही। काम अछत सुख स्वप्नेहुँ नाहीं" ७।। स्वधर्मानुष्ठान रूप तथा मन इन्द्रिय का निग्रह रूप तप का भी विधान किया गया है कि "अवधू छाडहु मन विस्तारा। सो पद गहहु जाहिते सद्गति, पारब्रह्म ते न्यारा ।। आपन आश कीजै बहुतेरा। काहु न मर्म पावल हरि केरा" इत्यादि ।।८।। "पढ़ना पढ़हु धरहु जनि गोई" इत्यादि से स्वाध्याय (सुन्दर अध्ययन) का उपदेश दिया गया है ।।९।। "जाय छठीली आपनी, बात न पूछो कोय। जिन यह भार लदाइया, निर्वाहेगा सोय ।। अवधू कुदरत की गति न्यारी। रङ्क निवाज करे वह राजा, भूपति करै भिखारी" इत्यादि से ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता सर्वज्ञता प्रकाश रूपता आदि के वर्णन पूर्वक, ईश्वर प्रणिधान (ईश्वर परम गुरु में कर्मार्पण) का उपदेश दिया गया है ।।१०।। इस प्रकार से सब प्रकार के योगों के परम मूल = जड़, नीव रूप यम (संयम = उपरति का, और नियम नियमन हेतु) का उपदेश दिया गया है, तथा "सहज ध्यान रहु, सहज ध्यान रहु गुरु के वचन समाई हो" इत्यादि से सत्यात्म विषयक धारणा = ध्यान समाधि का सन्तोष क्षमा तितिक्षा आदि का उपदेश दिया गया है, और साक्षात् कहा गया है कि "योग युक्ति तन साधहु हो"

इत्यादि ॥ "करु विचार जे सब दुख जाई। कहहिं कबीर जन भये विवेकी, जिन यन्त्री मन लाया ॥ एकै पुरुष एक है नारी, ता कर करहु विचारा ॥ सन्तो भक्ति सत गुरु आनी। नारी एक पुरुष दुइ जाया, बूझहु पण्डित ज्ञानी" इत्यादि से परम सत्य ज्ञान के सहेतुक सफल स्वरूप का उपदेश दिया गया है। इस प्रकार के सर्वथा सत्य सर्वसन्त सर्वशास्त्र से मान्य उपदेशों को देने वाला बीजक ग्रन्थ है। उस बीजक ज्ञान को स्थापन करने वाला यदि गूलर के कीट तुल्य गति पाता है तो उत्तम गति मोक्ष कौन पाता है, यह विद्वान् को विचारना चाहिये, नहीं तो परम मूर्ख और उस लेख को मान कर कुछ बकने लिखने वाला विद्वान् में कुछ भेद नहीं सिद्ध होगा ॥ सर्वज्ञ सागर ग्रन्थ पृष्ठ १२८ में लिखा है कि—

कोटी ग्रन्थ ज्ञान हम भाखा। मुनि के भेद तुम अन्तर राखा ॥
पुनि टकसार मैं कहा अयानी। सो धर्मनि तुम मन नहिं मानी ॥
बीजक ज्ञान कह्यो अर्थाई। सो तुमरे चित एक न आई ॥
चौथे मूल ज्ञान लै आवा। सब लोकन को भेद बतावा ॥
चारो ज्ञान कहा समझाई। तेहि तुम्हें परतीति न आई ॥

इससे भी साफ सिद्ध होता है कि आप के मान्य कबीर साहब ने भी धर्मदास जी के प्रति बीजक ज्ञान (उपदेश) को अर्थ सहित समझाया परन्तु वह औपनिषद् ज्ञान एक भी धर्मदास जी के मन में निश्चित नहीं हुआ, मान (मिति=सीमा) रहित टकसार सत्य आचार विचार भी कहा गया, उसको धर्मदास जी का मन नहीं माना। सबके मूल ईश्वर के ज्ञान को धर्मदास जी के प्रति ले आया गया, कहा गया, शास्त्रों के सब लोकों के भेद को बताया गया, और अन्य करोड़ों ग्रन्थ के ज्ञान को कहा गया कि "ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव केवलम्" तो उसे सुन कर भी तुमने अन्तःकरण में भेद ही रखा। अतः चारो प्रकार के ज्ञानों को मैंने समझा कर कहा, परन्तु उनमें तेरी प्रतीति (विश्वास=श्रद्धा) नहीं आई इत्यादि। इससे समझना चाहिए कि इस उपदेश से अनुराग सागर के उपदेश को क्या सम्बन्ध है, और दोनों में कौन यथार्थ है, इत्यादि। और यदि धर्मदास जी को कबीर साहब ने बीजक ज्ञान का प्रतिपादन किया तो धर्मदास जी समझें या नहीं समझें, कबीर साहब अपने ही अनुराग सागर के बचन के अनुसार आप कीट तुल्य सिद्ध होते हैं। ऐसा कहने वाले कबीर साहब कौन हैं? कि जिनको पूर्वापर का कोई ध्यान

नहीं रहा, इत्यादि विचारणीय है, इति शम् ।। और श्री कबीर साहब ने जो बीजक में लिखा है, सो भक्तमाल के लिखने वाले श्री नाभाजी महाराज ने प्रथम ही कहा है कि, पक्षपात रहित सबकी हित की बात श्री कबीर साहब ने कही है। क्या ? अनुराग सागर की "द्वादश पन्थ जीव जो ऐहैं। सो हमरे मुख आन समै हैं" अनुराग सागर पृष्ठ ६५ बारह पन्थ में जो जीव आयेगें, सो हमरे (काल) के मुख में समायेगें। और "सत्य शब्द के साथ जेहि परवाना देई हैं। सदा ताहि हम साथ, सो जिव यम नहिं पाई हैं" सत्य शब्द युक्त पान परवाना जिसको दिया जायगा, उसके साथ सदा हम (कबीर रहेगें, उस जीव को यम नहीं पायेगें, इत्यादि बाणी पक्षपात रहित है) तथा "बिना पान नहीं कर्म कटोई। कोटिन ज्ञान करे नर कोई ।। सरब बीज पान है सारा। चाखत जीव तजि होवै न्यारा" इत्यादि अम्बुसागर, के बचन भी क्या पक्षपात रहित हैं, और सत्यधर्म मय हैं। विशेष इन सागरों की बात कही नहीं जा सकती है—

अतः श्री नाभा जी के बचन का बीजक के साथ ही समन्वय हो सकता है। उनका बचन है कि "कबीर कानि राखि नहीं, वर्णश्रमषट दर्शनी। भक्ति रहित जो धर्म, सोइ अधरम करि गायो। योग यज्ञ तप दान, भजन बिनु तुच्छ बतायो ।। हिन्दू तुरुक प्रमाण, रमैनी शब्दे साखी। पक्षपात नहिं बात, सबन का हित की भाखी ।। आरूढ़ दशा ह्वै जगत में पर, मुख देखी नाहिन भनी। कबीर कानि राखि नहीं, वर्णश्रमषट दर्शनी ।।१।।" इस विषय में हो सकेगा तो विशेष रूप से फिर लिखा जायेगा, या कोई लिखेगा, बीजक पवित्र ग्रन्थ के साथ इतना ही बहुत है। निष्पक्षपात मुमुक्षु होगा सो इतना ही से रहस्य समझेगा। नहीं तो संस्कृति स्वानुभूति टीका, और हिन्दी स्वानुभूति टीका भिन्न पाठों पर है, दोनों पाठों के प्रकरणों के भिन्न क्रम प्रत्यक्ष हैं। उन्हें देखकर भी लोगों को भ्रम डालने के लिए अश्रद्धा पैदा करने के लिए स्वानुभूति टीका वाले ने गड़बड़ किया है इत्यादि। कोई प्रलापी इस महात्मा नाभाजी के बचन के विषय में कुछ प्रलाप कर सकता है। परन्तु इससे यह सिद्ध होता है कि इस महात्मा नाभाजी के कथनानुसार जो ग्रन्थ हिन्दू तुरुक दोनों के लिये प्रमाण रूप है, उसको संग्रह रूप या छेपकादि कहकर जो अप्रमाण रूप सिद्ध करना चाहता है, उसने उसके रहस्य को नहीं

समझा है, तो उसके घर या सम्प्रदाय में चाहे हजारों वर्ष से पुस्तक रही भी तो क्या फल मिला और श्रीसद्गुरु ने अपने हाथ से पूर्वापर प्रकरण बद्ध बीजक को लिखा सो बीजक से हो सिद्ध होता है। परन्तु वह भाग्य रहित को समझ नहीं पड़ता है, न वह ग्रन्थ उस सम्प्रदाय वालों को अब तक मिला ही था, अब मिलने पर भी निष्कारण द्वेष वश किसी का तुमाफेरी (चोरी वञ्चकता) रूप उसको ठहराना सिद्ध करना चाहता है, तो यह प्रतिबन्धक पूर्व-जन्म के पाप फल का निवारण कौन करे, और श्री सन्त शिरोमणि परमपूज्य प्रातः स्मरणीयः रामानन्द स्वामी परमविवेकी ज्ञानी महात्मा थे। उनके शिष्य श्री अनन्तानन्द जी आदि भी परं ब्रह्मज्ञ थे, अतः "आत्ममध्ये जगत् सर्वमिदं स्थावरजङ्गमम्। आत्ममध्ये च गोविन्दं यः पश्यति स वैष्णवः ॥१॥ आत्मा नारायणो ब्रह्म चात्मैव सकलं जगत्। अहं स सोऽहमित्येवं यो जानाति स वैष्णवः ॥२॥ तिर्यगूर्ध्वमधस्ताच्च सर्वं विष्णुमयं जगत्। तन्मयेनैव भावेन यः पश्यति स वैष्णवः ॥३॥ (श्री कृष्ण भक्ति रसायने) ये हिताः सर्वजन्तूनां गतासूया अमत्सराः। वशिनो निःस्पृहाः शान्तास्ते वैभागवतोत्तमाः ॥४॥ अहमेव परोविष्णुर्मयि सर्वमिदं जगत्। इति यः सततंपश्येत्तंविद्यादुत्तमोत्तमम् ॥५॥ "नारदीय पु०" अपनी सत्यात्मा में ही इस सब चराचर जगत को जो कल्पित देखता है। तथा आत्मा में गोविन्द को जो अभिन्न रूप से देखता है, सो वैष्णव है ॥१॥ क्योंकि सत्यात्मा ही नारायण ब्रह्म और सकल जगत रूप है, अतः मैं उस गोविन्द नारायणादि स्वरूपहूँ और सो गोविन्द मेरा स्वरूप है, ऐसा ही जो जानता है, सो वैष्णव है ॥२॥ तिरछे ऊपर नीचे सब जगत् विष्णुमय है, इस प्रकार जो विष्णुमय भावना से देखता है सो वैष्णव है ॥३॥ सब प्राणी का हित, सद्गुण में दोषाऽऽरोपरूप असूया, अन्य के शुभ में द्वेष रूप मत्सर से रहित, जितेन्द्रिय निष्काम, शान्त उत्तम भागवत (वैष्णव) होते हैं ॥४॥ मैं ही पर विष्णु हूँ और मुझ (आत्मा) में ही यह सब जगत स्थित कल्पित है, इस प्रकार से जो सदा समझता है, उसको उत्तम से भी उत्तम भागवत समझना चाहिये ॥५॥ इन लक्षणों के लक्ष्य श्री स्वामी रामानन्द जी आदि थे और अन्य भी वैष्णव सन्त भक्त उक्त लक्षण के लक्ष्य होते हैं। उनके अनादर के बचन कबीर साहब कभी नहीं कहते हैं, और मुख देखि बात कहने का स्वभाव नहीं होने में उक्त लक्षण रहित को तथा पाखण्डियों को कुछ कहते हैं इत्यादि ॥७॥

"आगि जो लागि समुद्र में, धुआँ न परगट होय" यहाँ कोई कहते हैं कि कामाग्नि संसार समुद्र में लगती है, ज्ञानाग्नि नहीं, क्योंकि ज्ञानाग्नि अन्तःकरण में उत्पन्न होती है, इत्यादि, परन्तु कामादि भी अन्तःकरण में ही उत्पन्न होते हैं, सो नहीं समझते हैं। और वस्तुतः "देवा अपि मार्गे मुह्यन्त्य पदस्य पदैषिणः" अपद (प्रामण्यपद रहित) मार्ग रहित ज्ञानी के मार्ग को चाहने वाले देव भी मार्ग विषयक मोह को प्राप्त करते हैं, इत्यादि महाभारत स्मृति से ज्ञानी का मार्ग और ज्ञान का फल ही अज्ञ से अज्ञेय है। कामादि ऐसे पदार्थ नहीं हैं। और जो यह कहा जाता है कि ज्ञानाग्नि संसार में नहीं लगती है, सो तो सर्वथा विपरीत कथन है, श्रुतियों में एक सत्यात्मा ब्रह्म के ज्ञान से सर्व संसार के ज्ञातत्व का वर्णन है, एकात्म ज्ञान से संसार के बाध का वर्णन है, और "अर्द्धश्लोकेन वक्ष्यामि यदुक्तं ग्रन्थकोटिभिः। ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव केवलम् ॥१॥" इत्यादि रीति से जो ज्ञान होता है, सो जगत विषयक होता हुआ ब्रह्मात्म विषयक होता है। और दूसरी साखी में लाई लावन-हार की बलिहारी कही गई है, तहाँ काम को लाने वाले की बलिहारी क्या है, यह काम तो अविद्या जन्य स्वभाव से ही कर्मवासनादि के अनुकूल प्रकट होता है। ज्ञानाग्नि को लाने वाले की ही बहिलागी कही जा सकती है, और अग्नि शब्द दुःखदवाचक है, यह कथन भी विपरीत ही है। रसोई के सब साधनों में अग्नि को मुख्य कहते हुए भगवान् शङ्कराचार्य ने ज्ञान के साधनों में विचार को मुख्य कहा है, तो जिस रसोई के बिना निर्वाह नहीं है, न शीताक्रान्त गरीब की जिस अग्नि के बिना स्थिति शान्ति है, उस अग्नि का वाचक दुःखद का वाचक है, यह कैसी बात है, दुरूपयोग से तो सब वस्तु ही दुःख रूप हो जाती है। और "ईशावास्यमिदं सर्वम्" इस श्रुति में वर्णित सर्वात्मा ईश्वर ही छप्पर है, ज्ञान से संसार (शरीर) के बाधित होने पर आत्मा ही सत्य निश्चित होता है ॥८॥

दुहरा तो नूतन भया, पदहिं न चीन्है कोय।
जो यह पदहि विवेकिया, छत्र धनी है सोय ॥६४॥
दुहरा कत कहहिं कबीर, प्रतिदिन समय जु देख।
मूये गये न ऊबरे, बहुरि न ऐहो पेख।

यहाँ बहुत लोग अर्थ करते हैं कि कबीर साहब के दुहरा (दोहा) आदि छन्द नूतन ढंग के हुए हैं, अतः उनके पदों को कोई नहीं चीन्हते हैं इत्यादि। परन्तु "वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानिगृह्णाति नरोऽपराणि। तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही। श्रीभगवद्गीता अ० २।२२" जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रों को त्याग कर, अन्य नूतन वस्त्रों का ग्रहण करता है, तैसे ही देही (सूक्ष्म शरीर सहित) जीवात्मा जीर्ण देहों को त्याग कर अन्य नवीन देहों को प्राप्त करता है, तहाँ शरीर के त्याग ग्रहणादि में आत्मा के निर्विकार साक्षीमात्र रहने से विवेकी शोकादि नहीं करता हैं, क्योंकि समझता है कि यह ग्रहण त्याग भी अज्ञान कामादि मूलक होते हैं, अतः ज्ञान के लिये यत्न करना चाहिये। इसी आशय से कबीर साहब कहते हैं कि सांसारिक प्रेमादि के कारण जो कोई निज पद (स्वरूप) को नहीं चीन्हते हैं, उन्ही को नूतन दुहरा (स्थूल देह रूप दोहरा कुर्ता) हुआ और होता है। और "कहहिं कबीर जन भये विवेकी, जिन यन्त्री मन लाया" इत्यादि रीति से जिन लोगों ने यह अपरोक्ष निजात्म स्वरूप पद (वस्तु स्थान) का प्रथम विवेक किया, सो फिर अपरोक्ष आत्मानुभवी छत्रधनी (राजा = स्वतन्त्र) ज्ञानी हैं ॥६५॥ आत्मज्ञान विवेकादि के अभाव से प्रतिदिन सब समय जो दुहरा (स्थूल देह रूप कुर्ता) देखे जाते हैं, कबीर साहब कहते हैं, कि मैं उन्हें कहाँ तक कहूं, ज्ञान के बिना अनन्त शरीर होते हैं, क्योंकि ज्ञान के बिना मर कर जो कहीं गये सो भी नहीं उबरे विदेह मुक्ति नहीं पाये, किन्तु लोकान्तर के भोगों को भोग कर फिर यहाँ आये, अतः मर कर फिर देह में नहीं आवोगे, इसके लिये निज स्वरूप को पेखो (देखो समझो) इस पुनरावृत्तिरहितता के लिये ज्ञान से अन्य साधन नहीं है। अङ्ग की साखी है कि "स्वामी होना सोहरा दोहरा होना दास। गाडर आनी ऊन को, बाँधी चरै कपास" स्वामी होना सहज है, और दास होना कठिन है, स्वामीपन से तो ऐसी दशा होती है कि मानो गाडर (भेड़ी) ऊन् के लिए कोई लाया, और वह बाँधी हुई भेड़ी खुलकर कपास चरने लगी, तैसे सुख के लिये स्वामी बना, परन्तु बाँधा हुआ मन रुका नहीं, विषय भोग परायण हो गया, स्वामिता के अभिमान से सेवा भक्ती भी नहीं हो सकी, अतः प्राप्त सुख साधनादि भी व्यर्थ नष्ट हो गये, अतः कठिन भी दासता ही प्रथम प्राप्तव्य है "हमको स्वामी मत कहो, हम हैं, गरिब अधार। स्वामी कहिये तासुको, जाका सब विस्तार" इत्यादि

से कबीर साहब ने अपने विषयक स्वामी शब्द के प्रयोग का भी निषेध किया है कि जिससे स्वामिता के अभिमान से गरीब की रक्षा नहीं बनती है, इत्यादि। गरिब अधार का = जिव आधार। पाठान्तर है ॥८॥

मसि कागज छूवों नहीं, कलम धरो नहिं हाथ।
चारिहुँ युग के महातम, मुखहि जनाई बात ॥१८४॥

यहाँ छूवों नहीं, का छुयो नहीं, इत्यादि पाठान्तर पूर्वक अर्थ किया जाता है, कि कबीर साहब कहते हैं कि मैंने स्याही और कागज को नहीं छुआ, न हाथ से कभी कलम गहा, (धरा) किन्तु चारो युग के महत्त्वयुक्त बातों को मैंने मुख से ही जनाई, इत्यादि। तहाँ संशय हो सकता है, कि इस साखी को कौन लिखा है, यदि कहा जाय कि कबीर साहब तो निरक्षर थे, किसी दूसरे से लिखवाई होगी, तो लिखवाना और लिखना एक ही होता है। इसी प्रकार से उन्होंने सब ग्रन्थ को लिखवाया होगा, तो इस साखी को लिखवाने का कुछ फल नहीं सिद्ध होता है। तहाँ लेख विशेष प्रकरणादि युक्त ही ग्रन्थ कहा जाता है, वाचनिक व्याख्यान ग्रन्थ नहीं कहा जाता है। अतः यदि बीजक नामक ग्रन्थ है। तो यह अवश्य प्रकरणादि युक्त लिखा गया है, परन्तु जिन लोगों ने जैसा अर्थ समझा है, तैसा पाठ भेद भी बनाया है। अभी एक टीकाकार (कलम धरो नहिं) पाठ लिखते हैं, तो दूसरे (कलम नहीं गहि) ऐसा पाठ लिखते हैं, फिर भी अपने-अपने पाठों को अति प्राचीन बताते हैं, यह एक साखी की दशा है, तो ग्रन्थ भर की दशा बताना (लिखना) कठिन है। वस्तुतः सद्गुरु कबीर साहब निरक्षर नहीं थे, परम विद्वान् श्री रामानन्द स्वामी के सहवर्ती और श्री अनन्तानन्द जी आदि के गुरु तुल्य गुरु भाई होते तथा परम सिद्ध स्वयं प्रतिभात वेदार्थज्ञ होते कबीर साहब निरक्षर हों, यह सम्भव नहीं है, अतः स्वयं लेखक थे, उन्होंने अपने हाथ से बीजक को लिखा है, यह मानना उचित है। तहाँ जैसे वाल्मीकि रामायण में प्रथम दो अध्याय में संक्षिप्त रूप से सम्पूर्ण रामचरित को कह कर उसको फिर विस्तार रूप से कहा गया है, और गोस्वामी श्री तुलसीदास जी रचित मानस रामायण में प्रथम विस्तार रूप से रामचरित को कह कर, फिर सप्तम काण्ड में गरुड़ जी के प्रति काग जी से सूक्ष्म रूप से कथन का वर्णन किया गया है। क्योंकि सूक्ष्म और विस्तार रूप से वर्णित अर्थ श्रोता के चित्त में सुगमता से निश्चित (स्थिर)

होता है। अतः सद्गुरु कबीर साहब ने भी बीजक में प्रथम परम गूढ़ अर्थों को यथा सम्भव विस्तार से कह कर, फिर संक्षेप से कहा है, तहाँ संक्षेप से कथन के आरम्भ में कहते हैं कि इस ग्रन्थ को लिखने के बाद मैं मसी कागज नहीं छूवूँगा, न हाथ में कलम धरूँगा, क्योंकि चारो युग के लिये हित होने से चारो युग के महात्म रूप महत्त्व युक्त जो मुख्य बात है, सो इस ग्रन्थ में मुझसे जनाई (समझाई) गई है, तथा चारो युग के महात्माओं ने भी मुख्य ही बात जनाई है, अतः मैंने भी ऐसा ही किया है ॥

होवत ज्ञानी कोटि का, निश्चय निज मति एक।
मारग फल में भेद नहिं, सन्तन किया विवेक ॥१॥
आगल ज्ञानी थइ गया, वर्तमान में होय।
थासे काल भविष्य में, मार्ग भेद नहिं कोय ॥२॥

आगल (आगे=प्रथम) ज्ञानी, थइ (हो) गये हैं, और वर्तमान काल में भी होते हैं भविष्य काल में भी थासे (होंगे) परन्तु इनके मार्गादि में कोई भेद न हुआ, न है, न होगा ॥२॥

ॐ

* ओम् राम *

भूमिका उत्तरार्द्ध

शुद्धं सर्वहितं सिद्धं करुणामृत सागरम् ।
अद्वैतं द्वन्द्वनिर्मुक्तं कबीरं राममाश्रये ॥१॥

सत्यं सदा विद्धमरूपमेकं विश्वेश्वरं विश्वनिवासमाद्यम् ।
आद्यन्तहीनं परमं पवित्रं रामं कबीरं सततं भजामि ॥२॥
विश्वासवासं जगतां निवासं निरन्तरं निर्मल बोधरूपम् ।
सदाऽसहायं भवभावशक्तं रामं कबीरं सततं भजामि ॥३॥
नित्यं निराकारमनन्तदेवं देवाधिपं देववरं विशुद्धम् ।
भक्ताभयं सर्वहितं प्रसिद्धं रामं कबीरं विमलं भजामि ॥४॥
माया[1] यदीयाऽखिल कार्यशक्ता स्वयं सदाऽसङ्गतयाह्यसक्तः ।
तं साक्षिणं देहगतं[2] विदेहं रामं कबीरं ह्यमलं भजामि ॥५॥
यं चाक्षरं योगविचारगम्यं शान्तं चिदानन्दमखण्डमाहुः ।
तं निर्गुणं निर्मलमादि देवं रामं कबीरं सततं नमामि ॥६॥
भीतो यदीयेन[3] भयेन देवो वह्न्यादिकोऽपि कुरुते स्वकर्म ।
यत्र स्थितो वा उदितश्च यस्मात्तं राममेकं सततं नमामि ॥७॥

अखण्डानन्दबोधाय शिष्यसन्तापहारिणे ।
सच्चिदानन्दरूपाय रामायगुरवे नमः ॥८॥
गुरु ब्रह्मा गुरु विष्णु गुरु देवो महेश्वरः ।
गुरुरेव परं ब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥९॥

वन्दनीय गुरुदेव हमारे, जन को काज सम्भारें ।
सनकादिक व्यास मुनि नारद, शुक का पन्थ प्रचारें ॥

---

१. आनन्दमयविज्ञानमयावीश्वरजीवकौ । मायया कल्पितावेतो ताभ्यां सर्वं प्र कल्पितम् ॥ पञ्चदशी. ६।२१२॥ २. अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्व-वस्थितम् । महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥ कठोप० १।२।२१॥ ३. भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः । भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावतिपञ्चमः ॥ कठोप० २।६।३॥

वेद पन्थ जो शुद्ध सनातन, धर्म ज्ञान शुभ सारा।
दया अहिंसा भक्ति सत्य का, सद्गुरु किया प्रचारा॥
रामानन्द स्वामि भक्तन का, राम समान अधारा।
उनकी मति गति सहित वेद मत, को गहिया शुभ सारा॥
गहि औपनिषद मत अति निर्मल, समता विगत विकारा।
भेद भाव द्वेषादि दूर करि, अद्वय राम[1] पुकारा॥
गुरुनानक दादू दयालु पुनि, पलटू सन्त उदारा।
जग जीवन आदिक सब सन्तन, पन्थ सोइ गह सारा॥
यम नियमादि जु योग सकल के, साधन शुद्ध सुखारा।
क्षमा दया शम दम सत्सङ्गति, विमल विवेक विचारा॥
काम रहित सत्कर्म सुभक्तिहुँ, का गुरुदेव उदारा।
करि उपदेश सदा सुख कारण, विमल बोध परचारा॥
ज्ञेय ध्येय सत सेव्य पूज्य का, करिया शुद्ध विचारा।
निर्गुण सगुण ब्रह्म ईश का, जाते मति लह सारा॥
गम्यागम्य अभक्ष्य भक्ष्य की, मति विवेक जिहि नाहीं।
ज्ञेय ध्येय के ज्ञान रहित सो, नर पशु भव भरमाही॥
बिनु विवेक नर परम पाप करि, ताहि कहै शुभ प्यारा।
मति विहीन बहता भव सागर, तट नहिं लहत गमारा॥
कर्मयोग गुरु भक्तियोग बुध[2], ज्ञान योग शुभ सारा।
त्रिविध योग क्रम से गहि प्राणी, भव दुख उतरत पारा॥

---

१. राम नाम की औषधी, सतगुरु दई बताय। औषधि खायरु पथ रहै ताकी वेदन जाय॥१॥ सो गुरु निशदिन बन्दिये, जासो पाया राम। राम बिना घट अन्ध है, ज्यों दीपक बिनु धाम॥२॥ अङ्ग की साखी॥ राम नाम निज सार है, राम नाम निज मूल। राम नाम सौदा करो, राम नाम नहिं भूल॥१॥ राम करत सो होत है, अपने शिर नहिं लेह। अपने सिर जो लेत है, मुगदर परिहैं गेह॥२॥ सतगुरु सङ्गी सन्त हैं, पारब्रह्म की सेव। राम नाम निर्गुण जड़ी, पास रहै दिल देव॥३॥ श्री गरीबदास जी॥

२. बुध=विवेकी प्राणी कर्मयोगादि त्रिविध योग को क्रम से गह कर, सारा=सब शुभ को गह कर, अशुभ को त्याग कर भव दुःख से पार उतरता है॥

कामी करै कर्म भक्तिहुँ शुभ, तजै न मोह विकारा ।
सो नहिं लहै मुक्ति लह भोगहि, बहता भव की धारा ॥
पामर पाप निरत जो प्राणी, करै न भक्ति विचारा ।
विहिताऽविहित भोगरत मूरख, गति लह निपट असारा॥
पाप त्यागि शुभ भक्ति परायण, सत्सङ्गति शुभ द्वारा ।
पामर लहै कभी शुभ गति को, जो गुरु मिलैं उदारा ॥
गुरु कबीर करुणा के सागर, कहि सत ब्रह्म विचारा ।
जाते पाप मोह मद त्यागी, पावै ब्रह्म अपारा ॥१॥

त्यागहि सब सुख मूल महाना । रागहि दुःख मूल बुध जाना ॥
त्यागिय काम क्रोध मद लोभा । ईर्ष्या मत्सर मोह अछोभा[1] ॥
द्रोह सकल दुर्भावहुँ त्यागी । क्रूर कर्म से दूरहिं भागी ॥
त्यागि कुसङ्ग करिय सत्सङ्गा । पाइय परम विवेक अभंगा ॥
यथाशक्ति करु दान सदाई । अभय दान अति पावन गाई ॥
अन्नदान शुभ पात्र विचारी । द्रव्य[2] दान सब पाप प्रहारी ॥
त्याग स्वरूप दान सुखदाई । ममता त्याग परम पद गाई ॥

त्याग हि से वैराग्य दृढ़, पाइय शम दम साँच ।
श्रद्धा भक्ति विचार लहि, पाइय नहिं भव आँच ॥२॥

सत सुविवेक विचार धर्म से, पाइय शुभ सन्तोषा ।
गहि सन्तोष अस्त्र दृढ नीके, मारिय लोभ कुदोषा ॥
लोभहि सकल पाप का कारण, द्वन्द्व दुःख का मूला ।
सन्तोषहि सुख शान्ति देत नित, नाशत द्वन्द्व समूला ॥

---

१. अछोभ = निर्दयता = क्रूरता ॥ २. "दानेनाऽकार्यकारिणः" दान से अकर्तव्यकारी शुद्ध होता है, यह मनुस्मृति में कहा गया है । "सत्यं दया तपः शौचं सन्तोषोऽनैर्ष्यमार्जवम् । ज्ञानं शमो दमो दानमेतत्पात्रस्य लक्षणम् ॥ स्कन्द पु० खं० ७।२०७।१६ ॥ दानपात्र का लक्षण कहा गया है, और दीन अतिथि आदि भी अन्नदानादि के पात्र होते हैं "भूखे को कछु दीजिये" इत्यादि कहा गया है ॥

क्षमा अस्त्र गहि क्रोध सँहारिय, काम नाशिये आगी[1] ।
लखि संसार स्वप्नसम मिथ्या, ज्ञान योग से जागी ॥
ज्ञानाभ्यास ध्यान तप संयम, गुरु सेवा मन लाई ।
सत्य अहिंसा दया दानशुभ, श्रेय मार्ग गुरु गाई ॥
मूल सहित सब दुख प्रणाशको, मोक्ष कहत श्रुति सन्ता ।
परमानन्द प्रकाश याहि ते, पाइए सहज अनन्ता ॥
ब्रह्मानन्द सुयोगानन्दा, ज्ञानानन्द अपारा ।
आतम[2] परमानन्द एक ही, लखत गुरुन का प्यारा ॥
सन्त सदा सद्गुरु के प्यारे, भेद सकल करि न्यारा ।
निजानन्द को जानि ब्रह्मसुख, पाइय मुक्ति अपारा ॥३॥
बन्दनीय गुरुदेव सबहि का, बन्दनीय गुरुदेव ।
पाप ताप को मेटन हारे, अद्भुत निर्मल एव ॥
बन्दत देव मनुज मुनि जाको, सिद्ध साधु बुध सेव ।
सो सद्गुरु सर्वोत्तम रामहि, व्यापक अमल अछेव ॥
एकहि सर्वोतम परमारथ, व्यावहारिक सब भेद ।
मायायुत परमारथ सोई, ईश होत[3] गत खेद ॥
ईश जीव सब जगत तीन में, माया कृत बहु भेद ।
लखि तहँ परमारथ इक सबका, करिये भेद भ्रमछेद ॥
भेद रहित परमारथ जोहै, सोहै सर्वाधार ।
अविनाशी अज अमल राम सो, सद्गुरु किया विचार[4] ॥

---

१. अग्नि-तुल्य भोग से शान्त नहीं होने वाले कामों को दोष दर्शनादि से नष्ट करो ॥ २. आत्मानन्द और परमानन्द एक ही है ॥ ३. मायाऽऽख्यायाः कामधेनो वत्सौ जीवेश्वरावुभौ । यथेच्छं पिबतां द्वैतं तत्त्वं त्वद्वैतमेवहि ॥१॥ पञ्चदशी० ६।२३६॥

४. राम नाम ईहै निज सारू । औरो झूठ सकल संसारू ॥
निराधार आधार ले जानी । राम नाम ले उचरी बानी ॥
एके काल सकल संसारा । एक नाम है जगत पियारा ॥
तिया पुरुष कछु कहल न जाई । सर्वरूप जगरहा समाई ॥
रमैनी, बीजक ॥

निर्भय निर्विकार सर्वोतम, का करिया उपदेश।
व्यवहारिक जीवन को जो गुरु, अद्भुत उनका देश ॥
मानव व्यवहारिक जो प्राणी, मानै गुरु उपदेश।
हर्ष शोक से रहित होय सो, चिदानन्द लह बेष ॥४॥

स्वप्न तुल्य यह सब संसारा। जीव स्वरूप सत्य तहँ सारा ॥
ज्योति स्वरूप सुसहज प्रकाशा। सूर्यादिक भासहुँ का भासा ॥
सोई ब्रह्म मायी जगदीशा। ताहि सत्य सुख कहत मुनीशा ॥
माया शक्ति रूप तहँ राजै। शक्ति सहित तहँ ईश विराजै ॥
ताकी इच्छा से संसारा। विधि हरि शम्भु सहित विस्तारा ॥
निर्गुण ब्रह्म सगुण सो ईशा। सत्य राम तिहि कहत कवीशा ॥
ब्रह्मचर्य रत मुनि विज्ञानी। ताहि लखहिं निज आतम मानी ॥
पाप परायण परतिय गामी। राम न लखहि न अन्तर्यामी ॥
सर्वाधार जु राम अखण्डा। प्रकटत तहाँ अमित ब्रह्मण्डा ॥
ब्रह्मा विष्णु महेशहुं तासें। प्रकटत भूमि अकाशहु वासें ॥
तिहि जानहिं सद्गुरु विज्ञानी। सकल जगत मिथ्या पहिचानी ॥
विज्ञहुँ करहि राम सुख आशा। करि अपरोक्षहि होहिं निराशा ॥

प्रथम आश करि राम की, लखि अति होहिं निराश।
करहिं मुक्त निज दास को, काटहिं यम जग फांस ॥५॥

मारग चलना है तोहि भाई।

सन्तक चाल चलो अबही से, बहुरि कष्ट नहिं आई ॥
सन्त कहैं सुनिये सो बानी, सत्सङ्गति में जाई।
काम क्रोध मद लोभ बिसारो, तजिये सब निठुराई ॥
दया दान करि तन मन शोधो, ईर्ष्या दूर बहाई।
सत्य वचन मधुरहि नित भाखो, निन्दा परुष विहाई ॥
हिंसा दम्भ कपट सब त्यागो, राम नाम लौ लाई।
मान त्यागि गुरु सेवा कीजै, मारग यह भल भाई ॥
मातु पिता गुरु स्वामि सन्त की, सेवा सब सुखदाई।
ईश सेवि निज धर्म सेवि जन, अभय मुक्त ह्वै जाई ॥६॥

निज घर जाना है तोहि भाई।

बाहर भटकत में दुख पायो, सुमति विचार गमाई ॥

हृदय कमल की खबर न जानी, जहाँ ज्योति अधिकाई।
पाच[1] कोश वा दश कोशहि पर, घर सो सत्य सुहाई॥
कोइ कहते चौविश से आगे, कोइ पचीस से भाई।
कोइ पूर्व कोइ पश्चिम बतावे, उत्तर कोइ ठहराई॥
कोइ कहत अनन्त कोश के, ऊपर हरि का थाना।
हृदया भीतर वेद कहत है, सन्त सुमति सो जाना॥
चिदानन्द घन ब्रह्म हि घर है, सर्वातम सत सोई।
दूर समीप न होत काहु से, गुरु बिनु लखत न कोई॥
मारग ही सतगुरु बतलावैं, चलना है निज कामा।
चलत सँभारि सदा जो प्राणी, सो पहुँचे निज ठामा॥७॥

गुरु बिनु लहै न नाथ सुपन्था। भव बन भुलै कहै सद्ग्रन्था॥
सत्य झूठ कछु जानि न जाई। मृग तृष्णाहु सत्य लखि धाई॥
सत्य सदा सुख परम प्रकाशा। निकट न तहाँ करत विश्वासा॥
सद्गुरु बिनु सो सूझत नाहीं। बिनु विश्वास न पूछत ताहीं॥
वेद विपिन का मर्म न जानै। गुरु बिनु तहँवँ भेद भय मानै॥
अभयदानि गुरु को पहिचानै। ताहि सेविनिज तत्त्व पिछानै॥

गुरुवचनामृतपान करि, होहिं भक्त इह मुक्त।
राम नाम निज जानि के, करहिं न कर्म अयुक्त॥८॥

सत गुरु सब सत साजहि साजै।
जाते निखिलो मोह मान मद, ताप पाप भय भाजै॥
एके वृक्ष देह मति माही, पक्षी दोय विराजै॥
लखि विवेक युत गुरु से प्राणी, मुक्त होय नित गाजै॥

---

१. अन्नमय १ प्राणमय २, मनोमय ३ विज्ञानमय ४ आनन्दमय ५ ये पाँच कोश हैं॥ या स्थूलदेह, पांच प्राण, चार अन्तःकरण, ये दश कोश है, इन्द्रियाँ इनके अन्तर्गत हैं॥ या प्रकृति (माया) महत्तत्त्व (समष्टि बुद्धि) अहङ्कार, एकादशेन्द्रिय (मन सहित कर्मज्ञानेन्द्रिय) पंचतन्मात्रा (सूक्ष्म पांचभूत) पांच महाभूत, ये चौवीश हैं, जीवात्मा सहित पचीस हैं।

समता[१] युत द्वौ पच्छिन माही, इक विमुक्त जो देवा ।
सो निर्मल प्रकाश सुख रूपा, सर्वातम हि अछेवा ॥
भोग रहित सो सदा असङ्गा, ईश्वर माया स्वामी ।
अन्तर्यामिहुँ ताहि कहत हैं, साक्षी सदा अनामी ॥
इक कर्ता भोक्ता कर्मन का, शोक मोह युत होवै ।
पाये सतगुरु से शुभ साजहि, शोक मोह भ्रम खोवै ॥
मोह गये साक्षिहि[२] निज रूपा, चिदानन्द सत भासै ।
ईशतादि माया के कारज, दूजा सत नहि खासै ॥
करि व्यवहार माहिं कर्मादिक, भक्ति दान गुरु पूजा ।
शम दमादि को साधि निरन्तर, सुमिरे एक न दूजा ॥
सत गुरु दया पाय सो सज्जन, होय अगम का भेदी ।
आप तरै औरन को तारै, भव बन को सब छेदी ॥९॥

स्वप्न तुल्य संसार दुःखमय, उपजन बिनशन हारा ।
यद्यपि ईश रचित यह कहिये, तदपी निपट असारा ॥
मायामय अज्ञान भ्रान्तिमय, वासनादिमय होई ।
अन्धकूप सम गर्भादिक में, दुख पावत सब कोई ॥
व्यवहारिक संसार माहि कोइ, व्यवहारिक ही जीवा ॥
कर्म उपासन भक्ति योग करि, लहत भोग नहिं शीवा ॥
काम रहित ह्वै कर्म योग करि, भक्ति उपासन नीके ।
ह्वै विशुद्ध लहि निज विवेक शुभ, त्यागि दुराशा जीके ॥
सद्गुरु चरण शरण के पाये, जानत राम अपारा[३] ।
सर्वाधार अजर अविनाशी, सब विकार से न्यारा ॥

---

१. चेतनता रूप समता युक्त । "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते । तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति । श्वे. ४।६।। अन्यः एकः"

२. समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः । जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः ॥ श्वे. ४।७॥

३. अलह अविगति राम है, निराधार आधार । नाम निरन्तर लीजिये, रोम रोम की लार ।।१।। योगजीत करुणामय, मुनिद्र कहो कबीर । बारह पन्थ चलाइया, डिगै बँधावैं धीर ॥२॥ महात्मा श्री गरीबदास जी ।

जानतेहि भव बन्ध मुक्त बुध, होवत जीवन्मुक्ता।
यह सब वेद संत का सत मत, स्मृति पुराणमत युक्ता ॥
याते सद्गुरु संत कहत जो, सो विलोकि सत ध्याना।
करिय विचार सदा सत्संगति, पाइय पद निर्वाना ॥१०॥
एक समाना सकल में, सकल समाना ताहि।
कबिर समाना बूझ में, तहाँ दूसरो नाहि ॥१॥
एक साधे सब साधिया, एक बिना सब जाय।
उलटि जु सीचै मूल को, फूलै फलै अघाय ॥२॥

बीजक साखी २७९-२८०॥

जिसके ज्ञान से निर्वाण (मोक्ष) होता है। सो एक सर्वात्मा पर ब्रह्म सकल मायिक भूत भौतिक चराचर में समाना (समाया हुआ प्रविष्ट) है, सबमें समस्वरूप से वर्तमान है। सबका आधार अधिष्ठान है। और सब संसार उसी में समाया है, स्थिर है। अर्थात् माला में तन्तु और मणिकायों के समान ब्रह्म और संसार की स्थिति है। तथा रज्जु और उसमें कल्पित सर्प के समान स्थिति है। अतः कबीर साहब कहते हैं कि जब तक मनुष्य ब्रह्म और संसार के बूझ (बिचार=अनुभव) में नहीं समाता (प्रवृत्त=प्राप्त) होता है। तब तक परब्रह्म सत्यात्मा से भिन्न दूसरा पदार्थ (देहादी) भी उसको सत्य आत्मा नित्यादि भासते हैं। परन्तु जो बूझ में समाना (समाया=प्रवृत्त=प्राप्त हुआ) है। तहाँ (उसके मन में) दूसरा (अनात्म पदार्थ) सत्य नहीं भासते हैं। अतः "ज्यों गिरि सायर मुकुर में, भींज भार कछु नाहिं। ऐसे सुख दुख रहित हैं, ज्ञानी के घट माहिं। बी. साखी. ३६२" जैसे दर्पण में पर्वत और समुद्र की मिथ्या प्रतीति होते भी वस्तुतः उसमें भींजना वा भार नहीं होता है। ऐसे ही ज्ञानी के घट में मिथ्या सुख दुःख की प्रतीति होने पर भी ज्ञानी की आत्मा सुख दुःखादि द्वन्द्वों से रहित ही ज्ञानी को निश्चित रहता है। इस एक निश्चय (आत्मानुभव) के साधने (प्राप्त करने) से सब कर्तव्य सिद्ध हो जाते हैं। अज्ञान की निवृत्ति से अज्ञान जन्य कामादि की निवृत्ति पूर्वक पूर्ण तृप्ति होती है। इस एक आत्मज्ञान के बिना कर्मादि से जो सुख लोक तृप्ति आदि होते हैं, सो सब जाय (चले जाते नष्ट होते) हैं। अतः आत्मविचारादि नहीं करके, कर्मादि करना, मानो वृक्ष के मूल के सेचन को छोड़ कर उसके पत्र पुष्पादि के सेचन

के समान व्यर्थ दुःखादि के हेतु हैं। काम कर्मादि से उपरत होकर आत्म विचारादि करना, पत्रादि सेचन से उलट (निवृत्त होकर) मूल सेचन के समान होता है ! अतः जैसे मूल के सेचन से वृक्ष में फूल फल लगते हैं और वृक्ष भी अघाता (पुष्ट तृप्त) होता है, तैसे आत्मविचार अनुभव विराग से सब पुरुषार्थ की सिद्धि और पूर्ण तृप्ति होती है। अतः विचारादि अवश्य कर्तव्य है, श्रीमद्‌भगवद्‌गीता में कहा गया है कि "यावानर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके। तावान् सर्वेषु वेदषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥१॥ अ० २।४६॥ यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः। आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥२॥३।१७॥ ज्ञानामृतेन तृप्तस्य कृत कृत्यस्य योगिनः। न चास्ति किञ्चित्कर्तव्यमस्ति चेन्न स तत्त्ववित् ॥३॥ उत्तर गीता० १।२२" जैसे अनेक उदपानो (छोटे छोटे जलाशयों) में पृथक्-पृथक् स्नान पानादि रूप जितने अर्थ (प्रयोजन) सिद्ध होते हैं। सो सब प्रयोजन, सर्वत्र व्याप्त (पूर्ण) जल वाले एक ही गङ्गा आदि रूप जलाशय में सिद्ध होते हैं, तैसे ही अनेक कर्मकाण्ड रूप वेदों से विहित अनेक कर्मों से जितने फल मिलते हैं, सो निष्काम ब्रह्मनिष्ठ को एक ब्रह्मनिष्ठा से ही प्राप्त होते हैं ॥१॥ अतः जो कोई सत्यात्मा में ही रति (प्रीति) वाला होता है, तथा आत्मानुभव से ही तृप्त रहता है, और आत्मा में सन्तुष्ट रहता है, अनात्म वस्तु की तृष्णा जिसको नहीं रहती है, उसको कोई कर्मादि कर्तव्य नहीं रहते हैं ॥२॥ आत्म ज्ञान रूप अमृत से तृप्त, ज्ञान से ही कृतकृत्य जीवन्मुक्त ज्ञानी योगी की कुछ भी कर्तव्य बुद्धि नहीं रहती है। यदि कर्तव्य बुद्धि हो तो वह कर्तव्य बुद्धि वाला तत्वज्ञ नहीं है ॥३॥

"होवत ज्ञानी कोटि का, निश्चय निज मति एक। मारग फल में भेद नहिं, सन्तन किया विवेक ॥१॥ आगल ज्ञानी थइ (हो) गया, वर्तमान में होय। थासे (होंगे) काल भविष्य में, मार्ग भेद नहिं कोय ॥२॥ कर्म और उपासना के साधन रूप मार्ग बहुत प्रकार के होते हैं। तथा फल की प्राप्ति के लिये उत्तरायण-दक्षिणायनादि मार्ग भेद कहे गये हैं। परन्तु ज्ञान के साधन विवेक वैराग्यादि अमानित्वादि में भेद नहीं रहता है। न ज्ञान के फल की प्राप्ति में मार्ग का भेद कहा गया है, क्योंकि ज्ञान के फल की प्राप्ति का कोई गन्तव्य मार्ग ही नहीं है, न फल में भेद होता है, श्रुति कहती है कि "ब्रह्मैव सन् ब्रह्माऽप्येति। बृ० ४।४।६॥ विमुक्तश्च

विमुच्यते कठ० २।४।१" कामादि रहित होने के कारण जीवन अवस्था में ही ब्रह्म स्वरूप होता हुआ ज्ञानी विदेहावस्था में ब्रह्म में लीन होता है। अतः विमुक्त = जीवन्मुक्त होता हुआ विदेह मुक्त होता है। वह मोक्ष दूर वा गति से प्राप्तव्य नहीं है, किन्तु ज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति रूप ही अज्ञानमय बन्ध की निवृत्ति मोक्ष है॥

उस आत्मज्ञानादि के अहिंसा सत्य भाषणादि साधन हैं। अतः उपदेश है कि "मा हिंस्या सर्वा भूतानि" सब प्राणी अहिंसा का आचारण करें, यथाशक्ति किसी प्राणी की हिंसा नहीं करे॥१॥ "सत्यं वद" मिथ्या भाषण से भी हिंसा होती है, अतः सत्य बोलो। और समझो कि "साँच बराबर तप नहीं, झूठ बराबर पाप। जाके हृदया साँच है, ताके हृदया आप॥" साँच को हृदय में धारण करने वाले के शुद्ध हृदय में आप सच्चिदानन्द पर ब्रह्म प्रकट होता है, अतः सत्य बोलो। और "धर्म चर" अहिंसादि धर्म का आचरण करो, क्योंकि "अहिंसा सत्यमस्तेयमऽकाम क्रोध लोभता। भूत प्रियहितेहा च धर्मोऽयंसार्ववर्णिकः" अहिंसा, सत्यभाषण, अचौर्य, अविहित काम और क्रोध, लोभ, ईर्ष्या, द्वेष, मोह, मत्सर, पाखण्ड, दम्भादि को त्यागना, और यथाशक्ति सब प्राणियों के हित की चेष्टा (व्यापार) करना, ये सब वर्णों के धर्म-पुराण में कहे गये हैं। और "धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः। धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्म लक्षणम्॥" यह मनुस्मृति का वचन है। धृतिः = सन्तोष = धैर्य १, क्षमा २, दम. = मन का दमन = निरोध ३, अस्तेय = अन्याय से पर द्रव्य का अग्रहण ४, शौच = बाहर-भीतर की पवित्रता ५, इन्द्रियों का निग्रह ६, धीः = शास्त्रादि का तत्त्व ज्ञान ७, विद्या = आत्म ज्ञान ८, सत्य भाषण ९, और क्रोध का त्याग १०, ये दश धर्म के लक्षण हैं। "इज्याऽऽचार दमोऽहिंसा दानं स्वाध्याय कर्म च। अयं तु परमोधर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्" यज्ञ १, सदाचार २, मन इन्द्रिय का दमन ३, अहिंसा ४, सत्पात्र के प्रति देशकालादि के अनुसार दान ५, और अपने धर्ममय विद्यामय वेदादि के अध्ययनादि कर्म, ये धर्म कहे जाते हैं। परन्तु यह तो परम धर्म कहा जाता है कि जो कर्म योग ध्यानयोगादिद्वारा शुद्धान्तः करण से आत्मानुभव किया जाता है। इसके लिए प्रथम "मातृदेवोभव १, पितृदेवो भव, २, आचार्य देवो भव, ३, तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व, ४, आहारशुद्धौ सत्त्व शुद्धिः सत्व शुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः। स्मृतिलम्भे

सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः, ५, दाम्यत्त, दत्त, दयध्वमिति = त्रय शिक्षेद, दमं दानं दयामिति, ६, न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः, ७, अशरीरं शरीरेष्वन-वस्थेष्वस्थितम् । महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति, ।८। माता रूप देव वाला वनो, अर्थात् कुबुद्धि को नहीं पैदा करने वाली माता को देव समझो । और उसका सत्कार आदर करो प्रणाम करो । कुबुद्धि को पैदा करती हो, तो भी शक्ति भर उसकी रक्षा करो, परन्तु समझ कर उससे कथित कुबुद्धि को श्री भरतजी के समान हृदयङ्गम नहीं करो, १, इसी प्रकार से पिता रूप देव वाला होवों स्वामी रूप देव वाला होवो इत्यादि २, और आचार्य (गुरु) देव वाला होवो । आचार्य (धर्म ज्ञानोपदेशक) गुरु को ब्रह्मा विष्णु आदि महान् देव और ईश्वर ब्रह्म स्वरूप समझकर, उनके उपदेश को मानो । तथा तन मन बचन से उनकी सेवा करो । क्योंकि 'आचार्यवान् पुरुषोवेद । आचार्याद्धयेव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापयति" आचार्य से ही अधिकारी पुरुष ज्ञेय ब्रह्म को प्रत्यक्षात्मरूप से जानता है । और आचार्य से ही विदित = (ज्ञात = प्राप्त) विद्या अत्यन्त साधु (कुशल = मोक्ष) को प्राप्त कराती है ३, और आचार्य की सेवा मन इन्द्रिय का निरोध कुभोगों के त्याग पूर्वक, विहित भोगों की अल्पता सद्विचारादि रूप तप से ब्रह्मात्मा को जानने की दृढ़ तीव्र इच्छा रूप मुमुक्षा का सम्पादन करो, इस प्रकार का तप मुमुक्षादि द्वारा ब्रह्म प्राप्ति का हेतु होता है, ४, तप में भी सबसे प्रथम आहार की शुद्धि करनी पड़ती है । अशुचिवस्तु का सम्बन्ध, अन्यायाऽर्जितत्वादि सब दोषों से रहितत्त्व रूप आहार की शुद्धि से सत्त्व (अन्तःकरण बुद्धि) की शुद्धि होती है, और सत्त्व की शुद्धि होने पर ध्रुव (निश्चल = अवश्य) स्मृति (स्मरण ज्ञान ध्यान) होती है । और स्मृति (ज्ञान) होने पर अज्ञान मोह मूलक, कामादि ग्रन्थियों (बन्धनों) का नाश रूप मोक्ष (जीवन्मुक्ति) होता है, ४, अशौच अन्यायार्जनादि के त्याग के लिये, दाम्यत = मन इन्द्रिय का दमन करो, दत्त = दान करो । और दयध्वम् = दीन दुःखी पर दया करो, इस उपदेश के अनुसार मनुष्य दम, दान और दया, इन तीनों की शिक्षा को प्राप्त करे । और दमदानादि से बुद्धि को शुद्ध करे । मनुस्मृति का बचन है कि "क्षान्त्या शुद्धयन्ति विद्वांसो दानेनाकार्य कारिणः । प्रच्छन्नपापाजप्येन तपसा वेदवित्तमाः" क्षान्ति से विद्वान्, दान से अकार्यकारी, जप से गुप्तपापाचारी और तप से अतिवेदज्ञ शुद्ध होते हैं, ६, उक्त क्षान्ति सन्तोष ज्ञानादि के बिना वित्त (धन) से मनुष्य तृप्त करने

योग्य नहीं है, क्योंकि धन द्वारा विषय भोग से अज्ञानी की कामाग्नि प्रतिदिन बढ़ती ही है, अतः शास्त्र कहता है कि "न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति" कामियों का काम कभी उपभोग से शान्त (निवृत्त) नहीं होता है, इत्यादि ॥७॥ किन्तु शरीरों में रहते भी शरीरों के सम्बन्ध विकारादि से रहित, तथा अस्थिरों (चञ्चलों विनश्वरों) में भी स्थिर (अचल अविनाशी) महान् (विभु) आत्मा को जानकर विद्वान् शोकादि से रहित (जीवन्मुक्त) होता है। अतः मुमुक्षु सुख शान्ति इच्छुक के लिये, आत्मा ही द्रष्टव्य श्रोतव्य मन्तव्य ध्यातव्य है। अन्य नहीं, किन्तु प्रथम उत्कृष्ट शुभेच्छा मुमुक्षा के लिये यज्ञदान तप आदि निष्कामता पूर्वक कर्तव्य हैं, अहिंसा सत्य शौचादि रूपयम नियमादि अनुष्ठेय हैं, श्री सद्गुरु कबीर साहब ने नवम रमैनी में, ज्ञान, उपासना भक्ति और कर्म का प्रतिपादन करते हुए निष्कामता से मोक्ष कहा है, सो सत्य निष्कामता ज्ञान से होती है, वह ज्ञान उपनिषदादि रूप शब्दों के श्रवणादि से होता है, अतः ऋग्वेदीय उपनिषद् तुल्य रमैनी की रचना की गई है। यजुर्वेदीय तुल्य शब्द प्रकरण है। सामवेद तुल्य कहरा आदि प्रायः गान रूप हैं। साखी अथर्ववेदीप उपनिषदतुल्य है रमैनी के बाद शब्दादि का श्रवणादि जिज्ञासु करें।

सर्व वेद सत् शास्त्र प्रमाना। अहिंसादिसत् धर्म हि माना॥
धर्म विरति अभ्यास विभागा। योग भक्ति ज्ञानद अनुरागा॥
ईश भक्ति जामें ज्यों होई। सुगुरु[1] भक्ति पावै त्यों सोई॥
ईश सुगुरु का भक्त महाना। सोइ लखै सत तत्त्व न आना॥
दुश्चरित्र[2] सब त्यागै माना। शान्त समाहित होय सुजाना॥
श्रद्धा सहित विवेक निधाना। सो लखि पावै सत भगवाना॥
अहिंसादि सत् धर्म समान्यं। वेद सुगुरु का है सोइ मान्यं॥
निष्कामी ताहिते ज्ञाना। पावै पुनि ताते निर्वाना॥

---

१. यस्य देवे परा भक्ति र्यथादेवे तथा गुरौ। तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः। श्वे. ६।२३॥ देवे=परमेश्वरे। परा=उत्तमा॥ २. नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः। नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्॥ कठोप. १।२।२३॥

अहिंसादि अपवाद कहुँ, कामी जन में जानु।
ज्ञान मोक्ष तजि मोह वश, गहत जु काम कृशुनु ॥११॥
त्रिगुण विषय जो वेद बतावत। काम कृशानुहि वायु बढ़ावत ॥
त्रिगुण विषयक वेद सुनि कामी। स्वर्गादिक सुख को सतनामी ॥
कहत न मानत ज्ञान महाना। ब्रह्मातम नहि लखत अजाना ॥
त्रिगुण त्यागि सत् आतम विचारा। किये लहहि बुध आतम सारा ॥
हर्ष शोक सब द्वन्द्व अपारा। मेटि होहिं भवसागर पारा ॥
गीता में श्री हरि कहा, निस्त्रैगुण्य हि होउ।
त्रिगुण विषय वेद हूँ तजि, आश न राखिय कोउ ॥१२॥

काम क्रोध तृष्णा दुख मूला। आशा देत हृदय में शूला ॥
भोगैश्वर्य निरत जे होही। हृदय न ज्ञान लहहि परद्रोही ॥
क्रिया करहिं हिंसादिक युक्ता। ते न होहिं द्वन्द्वादि विमुक्ता ॥
द्वन्द्वविमुक्तिक जे जन कामी। तिन हित युक्ति कही हरि स्वामी ॥
यों[1] हि सन्त श्री सद्गुरु देवा। वेद त्यागि कहि हरि गुरु सेवा ॥
कामादिक नहि त्यागि शक, ताके हित सो वेद।
काम्य कर्म देवादि की, भक्ति कहत जहँ खेद ॥१३॥
वेद पूज्य सब देव महाना। ईश अंश ईश्वर हि न आना ॥
माया मय बहु नाम स्वरूपा। ईश्वर विमल अनूप अरूपा ॥
सत्त्वविभूतिमान् में सोई। प्रकटत भक्त पूज्यहुँ होई ॥
जौ प्रकटत सो निर्गुण रामा। व्यापक ब्रह्म आतमा नामा ॥
समुझि सुगुरु से हृदय निज, प्रकट करहि तिहि सन्त।
श्री सद्गुरु उपदेश गहि, करही भव का अन्त ॥१४॥
जो न सकहि कामादिक त्यागी। सोउ निषिद्ध कामादि विरागी ॥
मन इन्द्रिय को वश करि नीके। जीत हि काम अनीक मही के ॥
धर्म युद्ध करि हरही प्राणा। अथवा निज प्राणहि दे दाना ॥
पालहि प्रजा देश शुभ नीके। नाश हि पाप दुष्ट अवनी के ॥

---

१. सब सन्त और बहुत सम्प्रदाय वालों ने जो कामादि मांसमद्यादि त्याग सकते हैं। उनके लिए ही प्रायः उपदेश दिया है, और वेदों ने परि-संख्या विधि द्वारा कामी आदि के भी कथञ्चित हित के लिये उपदेश दिया है कि "ऋतौ भर्यामुपेयात्" इत्यादि ॥

निज सुविहीत कर्मन में, हिंसादिक जो होय।
ताहि दोष नहिं गणत हैं, अनिवार्य हि है सोय ॥१३॥

समय विशेष माहिं थे धर्मा। अश्वमेध आदिक बहु कर्मा ॥
पुरुष विशेष लागि थे सोऊ। चक्रवर्ति क्षत्रिय जो कोऊ ॥
कलियुग माहिं निषिद्ध हमेशा। कहत पुराण हि यह संदेशा ॥
हिंसा रहित यज्ञ शुभ जापा। दान तपहुँ का प्रकट प्रतापा ॥
कलि में हिंसा करहिं जु जानी। मांस हेतु वा द्वेषहि आनी ॥
यह कलि प्रकट यवन की रीती। प्रकटी अधम अनीति कुरीति ॥

जगत मातु वा शम्भु[1] हित, प्रेतादिक के हेत।
हिंसा करहिं सो नीच हैं, नाम धरावहिं श्वेत ॥१६॥

मानव तनु लहि मानवताही। है विवेक कर्तव्य सदाही ॥
निज सुख दुख सम सब कर जानी। सुखहि देइ नहिं दुखवै प्राणी ॥
निज प्राण हि सम सब कर प्राणा। जानि न हनै विवेक निधाना ॥
मानव देह विवेक विहीना। पशु पक्षिहुँ से हीनहि गीना ॥
पशु भोगत पुराण निज पापा। नूतन नहिं उपजावत तापा ॥
विनु विवेक नर नूतन पापा। करहि सदा पुनि भोगहि शापा ॥

अतः विवेक सुकर्म तप, भक्ति ज्ञान कर्तव्य।
है पुनि ध्यान सुयोग शुभ, परपीड़ा हर्तव्य ॥१७॥

परपीड़ा को नहि त्याग सका, मानव हुआ तो क्या हुआ ॥
पर हिंसा को नहि त्याग सका, निज हिंसा को नहि जान[2] सका ॥
सब वेद पढ़ा सुपुराण पढ़ा, कुरान पढ़ा तो क्या हुआ ॥
समता नहिं आई आतम से, ममता नहिं गई अनातम से।
नहिं प्रीति हुई सर्वातम से, पुनि भक्त हुआ तो क्या हुआ ॥
मन इन्द्रिय को नहिं जीत सका, शुभ सत्य हि बैन न सीख सका।
गुरु भक्ति न आई मानस में, विद्या हुँ शिखा तो क्या हुआ ॥
विधि से नहिं आपन कर्म किया, नहि दान दिया जनदीनन को।
शुभ न्यायार्जित धन जाहि नहीं, गिरहस्थ भया तो क्या भया ॥

---

१. क्व मांसं क्व शिवे भक्तिः क्व मद्यं क्व शिवार्चनम्। मद्यमांसरतानां च दूरे तिष्ठति शङ्करः ॥१॥ स्कन्दपु काशी खं. अ. ४।६०॥ २. अज्ञान से जन्ममरणादिरूपहिंसा को।

जपिया गायत्री नेमहि से, सावित्री हुं पढ़िया प्रेमहिं से।
पर अर्थ न जान सका उनका, गायत्रि पढ़े से क्या हुआ॥
बन में बसिया नहिं मान तजा, संन्यासि हुआ नहि ज्ञान भजा।
नहिं मान तजा कनकादिन का, सन्यासि हुआ तो क्या हुआ॥
सतशास्त्रन का नहिं भेद लखा, शमदान्ति आदि नहिं ज्ञान चखा।
नति क्षान्ति अहिंसा शौच नहीं, ब्राह्मण हुआ तो क्या हुआ॥
नहिं दीनन को प्रतिपाल सका, बहिरन्तर शत्रु न टाल सका।
धृति तेज सुशौर्य हुँदान नहीं, क्षत्रीय हुआ तो क्या हुआ॥
नित न्यायार्जित धन धाम नहीं, निज आश्रित को विश्राम नहीं।
गो ज्ञानिन को आराम नहीं, यदि वैश्य हुआ तो क्या हुआ॥
नहिं इष्ट[1] न पूर्त हुँ कर्म किया, श्रद्धायुत नाहिं सुदान दिया।
नहिं योग न ज्ञान विराग किया, मानवता तेहि न आय हिया॥
गुरुदेव कबीर कृपालु कहैं, करु सत्य विवेकहि मानव है।
तजि पाप दशोविधि के नित ही, भजुराम सुखाकर को चित ही॥

श्रवण सुकीर्तन स्मरणनित, गुरुपद सेवा युक्त।
धारि अहिंसा शौच शुभ, होवत भव दुख मुक्त॥१८॥

तजिपाखण्ड मान सब कामा। भजिय राम सब जग विश्राम॥
मन वच कायदमनमय दण्डा। धारिय होइय अवश अदण्डा॥
सद्गुरु साधु सुजन विज्ञानी। से सुनिये नित धर्म कहानी॥
अधः पतन से बारत जोई। धृति क्षमादि सत धर्म हुँ सोई॥
सदाचार सत्सङ्ग विचारा। शम दम श्रद्धा शौच अचारा॥
शास्त्रज्ञान निज आतम ज्ञाना। काम क्रोध मद का अति हाना॥
श्रवण योग्य वे धर्म अनन्ता। धारि जाहि पाइय भगवन्ता॥
तन मन वचन शौच जिहि होई। द्रव्य शौच सङ्गति शुचि सोई॥
पावै ज्ञान योग्यता ध्याना। परम विवेक शान्ति सुख नाना॥
परम विवेक लहै जो ज्ञानी। होय विमुक्त मोहमद मानी॥

---

१. इष्ट (श्रौत कर्म) पूर्त (स्मार्त कर्म) नहीं किया॥ अग्निहोत्रयज्ञाध्ययनादि श्रौत कहलाते हैं। वापी कूप तालाव देवमन्दिर अन्नदान धर्मशाला आदि पूर्त कहलाते हैं। विद्यार्थी ब्रह्मचारी स्यात् सर्वेषां पालने गृही। वान प्रस्थः संदमने संयासी मोक्ष साधने। शुक्रनीतिः॥

अगुण सगुण सत ब्रह्म के, सत स्वरूप गुण गान।
कीर्तन जानिय शान्तिप्रद, करत मोह मल हान ॥१९॥

अगुण ब्रह्म सत चित आनन्दा। सदा असङ्ग अखण्ड अद्वन्द्वा ॥
आवागमन रहित अविकारी। सर्वातम जानहिं अधिकारी ॥
राम सोइ रमते तहँ योगी। रमत न तहाँ कुसङ्गि कुभोगी ॥
जाके सुख लव को कभि पाई। अज्ञ देहि भव दुख विसराई ॥
करै अनर्थ न जाय बखानी। मद ममता मत्सर हिय आनी ॥
ज्ञानी जन तिहि आतम जानी। जीवन्मुक्तहि होहिं अमानी ॥
ता महँ यह संसार पसारा। स्वप्न समान विवर्त असारा ॥
ईश्वर सगुण ब्रह्म नहिं आना। जीवहुँ तासे भिन्न न नाना ॥
किन्तु ईश एक हि सर्वज्ञा। सर्व शक्ति युत भाखहि तज्ज्ञा ॥
जीव अनेक अल्पमति युक्ता। करतकर्म सो सुख-दुंख भुक्ता ॥
व्यवहारिक सब भेदन साँचा। नित्य मुक्त सत आतम अवाचा ॥
नित्य मुक्त ब्रह्मातम ज्ञाना। करत व्यक्त तिहि जनत न आना॥

श्रवण सुकीर्तन मनन से, समरन से ह्वे ज्ञान।
राम भक्ति विज्ञान से, मोक्षहि लहिय महान ॥२०॥
शुद्धाहार विचार करि, मन वानी को शोधि।
कथा कीरतन करिय नित, सुगुर वचन अनुरोधि ॥२१॥
"गुरु नारायण रूप है, गुरु ज्ञान का घाट।
सत गुरु वचन प्रताप से, मन का मिटै उचाट ॥२२॥
गुरु महिमा गावत सदा, मन अतिराखै मोद।
सो फिर भव आवै नहीं, बैठे प्रभु की गोदं ॥२३॥
कथा सुकिरतन कलि में, भव सागर की नाव।
कहैं कबिर जन रतन को, नाहीं और उपाव ॥२४॥
कथा करो करतार की, निशिदिन सांझ सकार।
काम कथा को परि हरो, कहैं कबीर विचार ॥२५॥
काम कथा सुनिये नहीं, सुनिके उपजै काम।
कहैं कबीर विचारि के, विसरि जात हरि नाम ॥२६॥
सुमिरन से सुख होत है, सुमिरन से दुख जाय।
कहैं कबीर सुमिरन किये, साइँ माँहि समाय ॥२६॥

सुमिरन की सुधियों करो, ज्यों गागर पनिहारि ॥
हाले डोलै सुरति में, कहैं कबीर बिचारी ॥२७॥
सुमिरन सो मन लाइये, जैसे कीट भिरङ्ग ।
कबिर विसारै आप को, होय जाय तिहि रङ्ग ॥२८॥
सहकामी सुमिरन करे, पावै उत्तम धाम ।
निहकामी सुमिरन करे, पावै अविचल राम ॥२९॥
कबीर चित चञ्चल भया, चहुँ दिशि लागी लाय ।
हरि सुमिरन[1]पाथे (हाथे) घड़ा, लीजै वेगि बुझाय ॥३०॥
कबीर मुख से राम कहु, मनहि राम का ध्यान ।
राम क सुमिरन ध्यान नित, यही भक्ति यहि ज्ञान ॥३१॥
नर नारी सब नरक हैं, जब लगि देह सकाम ।
कहैं कबीर सो पीव का, जो सुमिरै निहकाम ॥३२॥
निज सुख आतम राम है, दूजा दुःख अपार ।
मनसा वाचा कर्मणा, कबीर सुमिरन सार ॥३३॥

गुरु मुख से सुनि वेद महाना । सन्त वचन शुभ ज्ञान खजाना ॥
कथा सुकिरतन करहि जु कोई । सुमरन करहि मान मद खोई ॥
सो पावहिं सत आतम ज्ञाना । मोह मार मति नाशहि[2] नाना ॥
पावहिं जीवन्मुक्ति तुरन्ता । पुनः विदेह मुक्ति गत अन्ता ॥

"वेद उदधि विनु गुरु लखे, लागै लवन समान ।
वादर गुरुमुख द्वार ह्वे, अमृत,, फल दे दान ॥३४॥

कहना मात्र भक्ति नहिं ज्ञाना । नाम कथन निष्फल यों माना ॥
विधि विश्वास प्रीति युत जोई । अर्थ ज्ञान युत नाम जु होई ॥
ताका जप शुभ भक्ति कहावै । पाप नाशि सद्गति तहँ पावै ॥
गायत्री जो मन्त्र महाना । ताका पाठ न पाठ जु नाना ॥
पाप विनाश मुक्ति का हेतू । भक्ति बिना नहि भव का सेतू ॥
अर्थ ज्ञान करि मान विनाशी । समरण करै तत्त्व अविनाशी ॥
जपै नाम वा मन्त्र महाना । सो लखि पावै पद निर्वाना ॥

---

१. लाय (अग्नि) लगी तो हरिस्मरण रूप पाथ (जल) के घड़ा से शीघ्र शान्त करो ॥ २. मार = काम ॥ नाना मति = सत्य भेद बुद्धि को ॥

जाति वरण का भेद नहिं, नाम सुसुमिरन माहि ।
हिन्दु तुरुक सब गति लहै, भजै जु ईश सदाहि ॥३५॥
पक्षपात तजि सब अभिमाना । हिंसा दम्भ कपट तजि साना ॥
दुश्चरित्र गर्वादि विहाई । सुमरन भजन सकल सुखदाई ॥
'सुमिरण करहु राम के, काल गहे हैं केश ।
नहिं जानहु कब मारि हैं, क्या घर क्या परदेश ॥३६॥
जप तप संयम साधना, सब कछु सुमिरन माहिं ।
कबीर जानै भक्त जन, सुमिरन सम कछु नाहिं ॥३७॥
अर्व खर्व ले द्रव्य है, उदय अस्त ले राज ।
भक्ति महातम ना तुले, ई सब कौने काज" ॥३८॥
"राम नाम परतत्त्व है, दूजा तत्त्वहि नाहिं ।
राम नाम को ध्यान धरि, मिलि रहिये ता माहिं ॥३९॥
जो नित मन में लग रहा, राम नाम का जाप ।
यह गीता यह भागवत, यह तीरथ तप आप ॥४०॥
जहँ देखू तहँ एक तू, आगे पीछे राम ।
तीन लोक में राम है, और नहीं विश्राम ॥४१॥
ज्योति स्वरूपी राम है, एकहि सत्याकार ।
और सवहि को जानिये, माया का विस्तार" ॥४२॥
"सगुण[1] ध्यान रुचि सरस नहिं, निर्गुण ते मन दूर ।
तुलसी सुमिरहु राम को, नाम सजीवन मूर ॥४२॥
राम नाम के अङ्क है, सब साधन है सून ।
अङ्क गये कछु हाथ नहि, अङ्क रहे दश गून ॥४३॥
हित सो हित रति राम सो, रिपु सो बैर विहाय ।
उदासीन सब सो सरल, तुलसी सहज सुभाय" ॥४४॥
"राम नाम की देखिया, सन्तन चौकी[2] चार ।
रसना हृदय मध कमल, चौथी दश मे द्वार ॥४५॥

---

१. सगुण के ध्यान में रुचि (इच्छा प्रेम) नहीं हो । और सरस (आनन्द युक्त) सच्चिदानन्द निर्गुण ब्रह्म से मन दूर रहता हो, तो भी राम के नाम को स्मरण करो, वही सजीवन मूर है, और होगा ॥ २ चौकी = स्थान ॥

तीन मास रसना जपै, हृदय वरस षट्‌ध्याय।
पत्त अठारह नाभि में, फिर शून्यहि को जाय ॥४६॥
खेचरि मुद्रा रसनाऽभ्यास। भूचरि मुद्रा हृदय निवास॥
होय अगोचरि नाभीस्थान। उन मुनि मुद्रा त्रिकुटी ध्यान॥
चाँचरि मुद्रा भये प्रकाश। वहवाँ देखिय अगम उजास।४७।
"पय नहाय फल खाय जपु, राम नाम षट् मास।
सकल सुमङ्गल सिद्धी सब, कर तल तुलसी दास' ॥४८॥
जहाँ राम तहँ काम नहिं, जहाँ काम नहि राम।
तुलसी कबहुँ कि रहि सकै, रवि रजनी इक ठाम ॥४९॥
चित्रहि सब जग लखन है, चित[1] चातुरी भुलाय।
चित्रकार को जो लखै, सोई चतुर कहलाय ॥५०॥
"चित्र हि चित्त चोरावई, करै मोह मतिहान।
चित्रकार को जो लखै, सो सुमिरै भगवान" ॥५१॥
दस दोषों से रहित जो, पुरुष सदा निष्काम।
नाम जपै भगवान के, नाशै दुख मति वाम ॥५२॥
चोरी जारी हिंसना, निन्दा परुष रु झूठ।
चिन्ता पर धन अहित की, जल्प रु बानर मूठ ॥५३॥

चोरी १, जारी=व्यभिचार २, हिंसना=हिंसा ३, निन्दा=पिशुनता आदि ४, परुष=क्रूरबचन गाली आदि ५, झूठ=मिथ्या भाषण ६, जल्प=व्यर्थ विवाद=वाक् कलह ७, परधन की चिन्ता=चाह=इच्छा ८, पर अहित की चिन्ता=द्रोह=ईर्ष्या=मत्सरादि ९, और बानर मूठ=व्यर्थ हट=आग्रह १०, ये शरीर, बचन, मन के दोष होते हैं। इसे त्याग कर भगवान् (ईश्वर गुरु) के नामों को जपने वाला वाम (टेढी विरूद्ध) बुद्धि और सब दोषों को समूल नष्ट करता है, अर्थात् ज्ञान पाकर मुक्त होता है ॥५३॥ अतः सन्त कहते हैं कि—

राम सुमर राम सुमर यही तेरो काज है॥
माया को सङ्ग त्याग, हरि जु की शरण लाग।
जगत सब मान मिथ्या, झूठो सब साज है॥
स्वप्नहि ज्यों धन पिछान, वृथा क्यों करत मान।
बालू की भीत जैसे, वसुधा को राज है॥

---

१. चित (चेतनात्मा) रूप चित्रकार की चातुरी (विवेक ज्ञान) को भुलाकर, सब संसारी देहादि रूप चित्र मात्र को देखता है॥

नानक जन कहत बात, विनशि जैहे तेरा गात।
छिण-छिण कर गयो काल्ह, तैसो जात आज है ॥१॥
भक्ति बिना संशय नहिं छूटे, गुरु यह भेद बतावै॥
काह भयो तीरथ व्रत कीये, राम शरण नहिं आवै।
योग यज्ञ निष्फल तिस मानो, जो प्रभुयश विसरावै॥
मान मोह दोनों को परि हरि, गोविन्द के गुण गावै।
कह नानक यहि विधि को प्राणी, जीवन्मुक्त कहावै ॥२॥

जामें भजन राम के नाहीं।

तिहि नर जन्म अकारथ खोया, यह समुझहु मन माहीं॥
तीरथ करै व्रत पुनि राखै, नहिं मनुआ वश जाको।
निष्फल धर्म ताहि तुम मानो, साँच कहत मैं थाको॥
जैसे पाहन जल में राख्यो, नहिं भेदे तिहि पानी।
तैसे ही तुम ताहि पिछानो, भक्तिहीन जो प्रांणी॥
कलि में मुक्ति नाम ते पावत, गुरु यह भेद बतावै।
कह नानक सोई जन गरुआ, जो प्रभु के गुण गावै ॥३॥

भूल्यो मन माया अरुझायो।

जो जो कर्म कियो लालच लग, तहँ-तहँ आप बँधायो॥
समुझि न पड़ी विषय रस राच्यो, यशहरि का विसरायो।
संग स्वामि सो जान्यो नाहीं, बन खोजन को धायो॥
रतन राम घटही के भीतर, ताको ज्ञान न पायो।
जन नानक भगवन्त भजन बिनु, बिरथा जन्म गमायो ॥४॥

काहे रे वन खोजन जाई।

सर्व निवासी सदा अलेपा, सो तोहि सङ्ग समाई॥
पुष्प माहिं ज्यों वास बसन्त है, मुकुर माहिं जिमि छाई।
तैसे ही हरि वसन निरन्तर, घट ही खोजो भाई॥
बाहर भीतर एके जानो, वह गुरु ज्ञान बताई।
जन नानक बिनु आपा चीन्हे, मिटै न भ्रम की काई ॥५॥

मन रे साँचा गहो विचारा।

राम नाम बिनु मिथ्या जानो, सगरो यह संसारा॥

जाको योगी खोजत हारे, पायो नहिं तिहि पारा।
सो स्वामी तुम निकट पिछानो, रूपरेख ते न्यारा ॥
पावन नाम जगत में हरि को, कबहूँ नाहिं सँभारा।
नानक शरण परेयो जगबन्धू, राखो बिरद तिहारा ॥६॥

साधो यह मन गह्यो न जाई।

चञ्चल तृष्णा सङ्ग बसत है, ताते थिर न रहाई ॥
कठिन क्रोध घट ही के भीतर, तेहि सुधि सब बिसराई।
रतन ज्ञान सबके हर लीन्हा, जाते कछु न बसाई ॥
योगी यतन करत सब हारे, गुणी रहे गुण गाई।
जन-नानक हरि भये दयाला, तो सब बिध बनि आई ॥७॥

साधो ! मन के मान त्यागो।

काम क्रोध सङ्गति दुर्जन की, ताते अहि निश भागो ॥
आशा तृष्णा दोनों त्यागो, और मान अपमानो।
हर्ष शोक से रहे अतीता, जिन जग तत्त्व पिछानो ॥
अस्तुति निन्दा दोनों त्यागो, खोजो पद निर्वानो।
जन-नानक यह खेल कठिन है, किनहु गुरु मुख जानो ॥८॥

मन मेरे कामधेनु दुहि पीजै।
जन्म मरण के सब दुख जावे, अविचल युग-युग जीवै ॥
रूप विहूनी सुरभी कहिये, जाका वार न पारा।
दूधहुँ है पर रूप विहूना, जाने जानन हारा ॥
भाव वत्स पर नित प्रति दूहो, कबहुँ न खण्डित धारा।
भक्त होय सो दुहि दुहि पीवै, क्या जानै संसारा ॥
अविचल दूध देत अविनाशी, पीवै सो सुख पावै।
कह ज्ञानी यह ज्ञान अगम है, सतगुरु मिलि समुझावै ॥१॥

अदेख देखे शब्द विचारै, आप तरे औरन को तारै।
पक्षा पक्षिक पक्ष न जालै, लोक वेद से उलटा चालै ॥
आत्म तत्त्व का करै विचारा, कह ज्ञानी सो गुरु हमारा ॥२॥

अञ्जन माहिं निरञ्जन ध्यावै। सहज शून्य में सुरत लगावै।
सतगुरु शब्दे लागा रहये। काम क्रोध सो देह न दहये ॥
आशा तृष्णा से रह न्यारा। कह ज्ञानी सो गुरु हमारा ॥३॥

बहु मनुष्या का सङ्ग निवारै। साँचा साहब हृदया धारै।
आप अविद्या अलगी खोवै। शब्द सुनी घट अन्तर जोवै॥
देखै नहीं धरा आकारा। कह ज्ञानी सो गुरु हमारा॥४॥

शरण तुम्हारी जे भये, तिनकी करि प्रतिपाल।
ज्ञानी का भय मेटियो, दीनानाथ दयाल॥१॥

कलि में दान और नाम की महिमा प्रसिद्ध ही है, जिसको उक्त रीति से सन्तों ने माना है, तहाँ रामनाम की महिमा अतिशय गाई गई है। परन्तु कोई, बीजक में "रामनाम भजु लागू तीर" इत्यादि वचनों के अनुसार राम के भजन को मान कर भी—

'सन्ध्या तर्पण औषट् कर्मा। ई बहुरूप करहिं अस धर्मा॥
गायत्री युग चार पढाई। पूछहु जाय मुक्ति किन पाई॥"
॥ बीजक रमैनी ३६॥

इत्यादि वचनों से सन्ध्या आदि का खण्डन समझते हैं, सो समझना ठीक नहीं, किन्तु सदाचार अहिंसादि शौचादि रहित संध्यादि को व्यर्थ बताकर, सदाचार अहिंसादि के विधान में तात्पर्य है, तथा अर्थ के ज्ञान के बिना गायत्री जपादि से मुक्ति के अभाव को समझा कर, अर्थ के ज्ञान सहित मननादि रूप जप के विधान में तात्पर्य है। सन्ध्या के विषय में श्लोक है कि "सन्ध्यामुपासते ये तु सततं संशितव्रताः। विधूतपापास्ते यान्ति ब्रह्मलोकमनामयम्॥१॥ संशित (सम्यक् तीक्ष्ण तेजोमय) व्रत (नियम) वाले, जो कोई सदा सन्ध्या उपासना करते हैं, सो पापों को नष्ट करके ब्रह्मलोक में जाते हैं॥१॥ तहाँ संशितत्व क्या है, सो योग दर्शन में लिखा है कि "जाति देश कालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्। पाद० २।३१" जो अहिंसा सत्यादि किसी जाति देश काल और समय (संकेत) से अवच्छिन्न (संकुचित) नहीं होते हैं, किन्तु सर्वजाति देशादि में व्यापक रूप से सर्व अवस्था में वर्तमान रहते हैं। सो महाव्रत (संशित-व्रत) रूप होते हैं, ऐसे व्रतादि के बिना सन्ध्या आदि तुच्छ होते हैं, यह तात्पर्य है, और "ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः" ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं होती है, यह अटल सिद्धान्त है, तहाँ गायत्री के पाठ मात्र से हिंसा आदि करते हुए जो मुक्ति मान बैठे हैं, उनके लिये कहा गया है कि "गायत्री युग चार पढाई। पूछहु जाय मुक्ति किन पाई" इत्यादि, अतः गायत्री और उसका अर्थ ज्ञातव्य है, और हिंसादि यथाशक्ति त्यक्तव्य है। अतएव गायत्री आदि का अर्थ लिखा जाता है—

॥ ओम् राम ॥१॥

॥ जपः स्मरणम् ॥

अवतीव जगत् सर्वं रमते यत्र योगवान् ।
स ओंकारो विशुद्धात्मा रामः सच्चिन्निजात्मकः ॥१॥

॥ हरिः ओम् तत्सत् ॥२॥

हरिर्हरति पापानि रक्षत्येव स्वबोधतः ।
तनोत्येवान्यथा सर्वं जगत्सत्त्वप्रकाशतः ॥२॥

यद्यपि "अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैत एवमोङ्कार आत्मैव ॥ माण्डूक्य० १२" इस श्रुति के अनुसार ओङ्कार का लक्ष्यार्थ स्वरूप अमात्र (अवाच्य) व्यवहारातीत, प्रपञ्चरहित, कल्याण स्वरूप अद्वैत आत्मा ही है, तथापि सत्ता प्रकाश और माया रूप शक्ति से जाग्रदादि काल में सब जगत् की रक्षा करते हुए के समान ईश्वर स्वरूप वही रहता है, कि जिसमें योगी रमते हैं। अतः यह विशुद्ध स्वरूप सच्चिदानन्द निजात्म स्वरूप ओङ्कार राम कहा जाता है ॥१॥ अपने बोध (ज्ञान) द्वारा ब्रह्मात्मा हरि, अविद्या और अविद्यामय पाप तापादि को हरते (नष्ट करते) हैं और रक्षा ही करते हैं। किन्तु अन्यथा (ज्ञान भक्ति के बिना) सत्ता और प्रकाश द्वारा सब जगत् का विस्तार करते हैं ॥ २ ॥ "ओम् भूर्भुवः स्वस्तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो[1] देवस्य धीमहि, धियो यो नः प्रचोदयात्" ॥ ३ ॥

ओङ्कारलक्ष्यं सच्चित्सुखात्मकं तत्=परं ब्रह्म, सवितु देवस्य (प्रपञ्चाधिष्ठानात्मकस्य) सर्वोत्पादकस्य=ईश्वरस्य=सूर्यस्य, वरेण्यं=वरणीयस्वरूपमस्ति, तत् धीमहि=ध्यायेमहि। यो ध्यातो देवो भर्गः सन् (अविद्या कामादिदोषभर्जन=दाहन=नाशनहेतु ज्ञानविषयः सन्) अस्माकं धियः सन्मार्गे स्वरूपे प्रचोदयात्=सदा सर्वथा प्रेरयेत=न कुमार्गे कुवस्तुषु ॥३॥

ओङ्कार का लक्ष्य, तदा भूः सत्य, भुवः=चेतन, स्वः स्वर्ग=सुख स्वरूप, तत्=वह परब्रह्म, सविता=संसार का अधिष्ठान (आश्रय) सर्वपिता

---

१. भर्ग—या भर्ग्य, यह श्री शिवजी का भी नाम है। भृजी—भर्जने धातु से बना है ॥

ईश्वर और सूर्यदेव का, सबसे वरने (प्राप्त ज्ञान करने) योग्य स्वरूप है। उस देव को तथा उसके स्वरूप को हम ध्यान करते हैं, कि जो देव ध्यान का विषय होता हुआ, अविद्या कामादि दोषों के नाश का हेतु ज्ञान का विषय होकर, हमारी बुद्धि को सन्मार्ग स्वरूप में ही प्रेरणा करे ॥३॥

अथवा "ओम् भूर्भुवः स्वः, ओम् तत्सवितुर्वरेण्यं, भर्गो देवस्य धीमहि, धियो यो नः प्रचोदयात्" ॥३॥

"एतदक्षरमेतां च जपन् व्याहृति पूर्विकाम्। सन्ध्ययोर्वेदविद्विप्रो वेद-पुण्येन युज्यते ॥१॥ ओङ्कारपूर्विकास्तिस्रो महाव्याहृतयोऽव्ययाः। त्रिपदा चैव सावित्री विज्ञेयं ब्रह्मणो मुखम् ॥२॥ मनु स्मृ० २।७८–८१" वेदज्ञ विप्र दोनों सन्धि, सन्ध्या काल में इस ओङ्कार अक्षर और व्याहृतिपूर्वक इस गायत्री को जपता हुआ, सम्पूर्ण वेद के पाठ जन्य पुण्य को पाता है ॥१॥ ओङ्कारपूर्वक अविनाशी अर्थ को कहने वाली तीन व्याहृतियाँ, और अष्टाक्षर तीन पाद वाली सावित्री—गायत्री को ब्रह्म=वेदों का मुख समझना चाहिये ॥२॥

अथवा 'ओम् भूः, ओम् भुवः, ओम् स्वः, ओम् महः, ओम् जनः, ओम् तपः ओम् सत्यम्, ओम् तत्सवितु र्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि, धियोयोनः प्रचोद-यात् आपो ज्योती रसोऽमृतं ब्रह्म, भूर्भुवः स्वः ओम् ॥ नारायणोपनिषत्, ३५" सुवरोम् इति अन्ते पाठभेदः ॥३॥ "भूराद्यास्तिस्र एवैता महाव्याहृतयो-ऽव्ययाः। महर्जनस्तपः सत्यं गायत्री च शिरस्तथा ॥१॥ आपो ज्योतीरसो-ऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवः स्वरिति शिरः। प्रति प्रतीकं प्रणवमुच्चारयेदन्ते च शिरसः ॥२॥ कात्यायनस्मृतिः ॥

भूः, भुवः, स्वः, ये तीन अव्यय व्याहृतियाँ हैं, और महः, जनः, तपः, सत्यम्। ये भी व्याहृतियाँ हैं। तथा जपने के लिए गायत्री और शिर भी हैं। तहाँ प्रत्येक अवयव (प्रतीक) में प्रणव=ओङ्कार का उच्चारण करे, और शिर के अन्त में प्रणव का उच्चारण करे। वह शिर "आपो रसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवः स्वः" इस स्वरूप वाला है ॥२॥

भवतीति भूः सन्मात्रं ब्रह्मोच्यते, भवति वा कर्मादिकं यत्र सा भूमिः, भूरिति कथ्यते ॥१॥ सर्वं भावयति—प्रकाशयतीति भुवश्चित्स्वरूपं ब्रह्मोच्यते। ग्रह चन्द्र सूर्याद्याधारो वा प्रकाशबहुलोऽन्तरीक्ष लोकः कथ्यते ॥२॥ सर्वैः सुव्रियते इति स्वः सर्वैर्व्रियमाणं प्रार्थनीयं सुखस्वरूपं ब्रह्मोच्यते, सुखबहुलो वा स्वर्गः कथ्यते लोकः ॥३॥ महीयते पूज्यते सर्वैरिति महः, सर्वातिशयत्ववद् ब्रह्मोच्यते। ऋषिदेवाभिर्महनीयः स्तुत्यो लोकविशेषोऽपि कथ्यते ॥४॥ जन-

यतीति जनः सकल कारणं ब्रह्म (ईश्वरः) कथ्यते लोकजनकस्य काय ब्रह्मणो वा लोकविशेषः कथ्यते जन इति ॥५॥ तपतीति तपः, इति ब्रह्मणः सर्वतेजो रूपत्वं ज्ञानमयत्वमुच्यते, तपोमय लोको वा कथ्यते ॥६॥ सर्वबाध राहित्यं निर्विकारत्वमविनाशित्वमसङ्गत्वं निरवयवत्वमसद् बुद्धयविषयत्वादि रूपं सत्यत्वं ब्रह्मणः सत्यम् इति कथ्यते। महाप्रलयपर्यन्ताविनाशी वा सत्य लोकः सत्यमिति कथ्यते ॥७॥ सर्वत्राऽऽद्योऽर्थो मुख्यो ज्ञेयो ध्येयश्च। "असद् ब्रह्मेति यो वेद, स्वयमेव भवेदसत्। अस्ति ब्रह्मेति चेद् वेद, सन्तमेनं ततो विदुः। तैत्तिरीयोप० २।६॥७"

सदा एकरस वर्तमान रहने वाला सन्मात्र ब्रह्म भूः कहा जाता है, या कर्मादि का आधार भूमि भूः कही जाती है ॥१॥ सबको प्रकाशने वाला चेतन ब्रह्मभुवः कहा जाता है, या ग्रह ताराचन्द्र सूर्यादि का आधार बहुत प्रकाश वाला लोक भुवः कहा जाता है ॥२॥ सबसे स्वीकाराई— प्रार्थनीय सुख स्वरूप ब्रह्म स्वः, स्वर्ग, कहा जाता है, या बहुत सुख का स्थानरूप लोक स्वः, स्वर्ग, कहा जाता है ॥३॥ सबसे जो पूजित सत्कृत हो, ऐसा सर्वातिशयता (श्रेष्ठता) वाला ब्रह्म महः कहा जाता है, या ऋषि देवादि से स्तुत्य लोक महः कहा जाता है ॥४॥ सबका कारण ब्रह्मईश्वर जनः कहा जाता है। या स्तुत्य लोक जनक कार्य ब्रह्म का लोक विशेष जनः कहा जाता है ॥५॥ ब्रह्म के सब तेज मयत्व रूप ज्ञानमयत्व को तपः शब्द से कहा जाता है, या तपोमय लोक को तपः कहा जाता है ॥६॥ ब्रह्म के सर्व प्रकार से बाध रहितत्व, निर्विकारत्व, अविनाशित्व, असङ्गत्व, निरवयवत्व, असद् बुद्धि के अविषयत्वादि को सत्य शब्द से कहा जाता है। या महाप्रलय पर्यन्त स्थायी लोक सत्य कहा जाता है॥ ब्रह्म असत् है ऐसा जो जानता है, सो स्वयं ही असत् होता है, और यदि ब्रह्म है, ऐसा समझता है, तो उसको विद्वान् सत् समझते हैं। क्योंकि उसकी आत्मा ही ब्रह्म है ॥७॥

यद्यपि उक्त ओङ्कार और गायत्री को जपने आदि का अधिकार, ब्राह्मणादिरूप तीन वर्णों (द्विज) का ही शास्त्र में वर्णित है, परन्तु "सप्ताहं प्रातरस्नायी सन्ध्याहीनस्त्रिभिर्दिनैः। द्वादशाहमनग्निश्च द्विजः शूद्रत्व-मृच्छाति ॥१॥ यस्य पिता पितामहो वा सोमं न पिबेत् स व्रात्यः। व्रात्यो व्रात्यस्तोमेन यजेत्। ब्रह्मसूत्र भामती० अ० १।३।३३" इत्यादि श्रुतिस्मृति के अनुसार। सातदिन प्रातः स्नान रहित, तीन दिन सन्ध्या रहित, बारह दिन अग्नि होत्र रहित, द्विज शूद्रत्व को प्राप्त होते हैं ॥१॥ और जो जिसका

पिता वा पितामह भी सोम पान नहीं किया हो, न आप सोम पान करता हो, सो व्रात्य है, वह व्रात्य स्तोम से यज्ञ करे ॥२॥ अतः जप के अधिकारी का असम्भव प्रतीत होता है, तथापि श्रद्धालु पवित्रात्मा समयानुसार अधिकारी अवश्य मन्तव्य है। प्रायः शुचिभक्तिमान् कलि में अधिकारी होते हैं॥ बहुत लोग कहते हैं कि कबीर साहब ने वर्णाश्रम को नहीं माना है, परन्तु ऐसी बात नहीं है, क्योंकि "ब्राह्मण ह्वै के ब्रह्म न जानै" इत्यादि कथनों से उन्होंने ब्रह्मज्ञ सदाचारी अहिंसादि युक्त शमदमादि मान तपस्वी शुद्धि युक्त पुरुषों में अवश्य ब्राह्मणत्व को स्वीकार किया है। तथा जितेन्द्रियता पूर्वक न्याय से प्रजापालन करने वालों में से क्षत्रियत्व को स्वीकार किया है। अतः कहा है कि "क्षत्रिय सो जो कुटुम से जूझै" क्षत्रिय वह है कि जो निजेन्द्रियरूप कुटुम्ब से युद्ध करे, अर्थात् मन इन्द्रिय को बश में रखने वाला असली क्षत्रीय है, अन्यत्र भी लिखा है कि जो अपने मन और इन्द्रियों को बश में नहीं कर सकता है, सो प्रजा और शत्रु को कैसे बश में करेगा इत्यादि। मनुस्मृति का वचन है कि "सेनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च। सर्वलोकाऽधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति। अ० १२। १००" सेनापतित्व, राज्य, दण्डनेतृत्व, सर्वलोक स्वामित्वादि को वेदशास्त्र के ज्ञानी ही पाने के योग्य होता है, अर्थात् वेदादि के ज्ञान पूर्वक सेनापतित्वादि उचित रूप से किये जा सकते हैं, और ऐसे किये बिना संसार का व्यवहार शान्तिपूर्वक स्थिर नहीं रह सकता है, वर्णाश्रमयोग्यता के अनुसार मानी गई है, योग्यता के बिना पाखण्ड रूप वर्णाश्रमादि को नहीं माना है, योग्यता के अनुसार अवश्य माना है, उसके बिना निर्वाह नहीं है। अतः श्री नाभा जी महाराज लिखते हैं कि—

कबीर कानिराखी नहीं, वर्णाश्रमषट्दर्शनी ॥
भक्ति विमुख जो धर्म, सो अधरम करि गायो।
योग यज्ञ व्रत दान, भजन बिनु तुच्छ दिखायो ॥
हिन्दू तुरुक प्रमान, रमैनी सबदी साखी।
पक्षपात नहिं बचन, सबहि के हित की भाखी ॥
आरूढ दशा ह्वै जगत, परमुख देखी नाहिन भनी।
कबीर कानिराखी नहीं, वर्णाश्रमषट्दर्शनी ॥१॥

श्री कबीर साहब ने वर्ण आश्रम की और योगी, जङ्गम, सेवड़ा, संन्यासी, दरवेश नामक षट्दर्शनी की स्वधर्म भक्ति अहिंसादि रहित दशा

में कानि (मर्यादा प्रतिष्ठा) नहीं राखी[१] (नहीं मानी) अतएव अहिंसा दया क्षमा आदियुक्त ईश्वर गुरु की भक्ति से विमुख (रहित) जो धर्म, उसको अधर्म रूप कहा है। अहिंसादि युक्त भजन के बिना योगादि को भी तुच्छ समुझाया है। हिन्दू तुरुक दोनों के लिये प्रमाण (प्रधान) रूप रमैनी शब्द और साखी आदि नामक बचनों को कहा है कि जिसमें पक्ष-पात का बचन नहीं है। अतः सब ही के लिये हित की बात कही है। और ज्ञान भक्तियोगारूढदशा (अवस्था) में प्राप्त होकर उन्होंने, पर (अन्य) की मुखदेखी (मनोरञ्जक) मिथ्या बात नहीं कही है। किन्तु सत्य ही कही है, इस प्रकार से कानि नहीं राखी है॥ योगी जङ्गम सेवड़ा, संन्यासी दरवेश। छठये दर्शन विप्र का, यामें मीन न मेष ॥१॥

वन्दौ राम सकल शुभ रूपा।

गणनायक सोइ विघ्ननिवारक, ज्ञानदानि शिवरूपा॥
वागदेवि करुणा का सागर, स्वयंप्रकाश स्वरूपा॥
सविता देव रोग दुख हारक, कारक ज्ञान अनूपा॥
बाहर भीतर तम का नाशक, भासक शुद्ध स्वरूपा॥
सर्वदेव श्री सद्गुरु सोई, ज्ञानद ब्रह्म अरूपा॥
सर्वोतम सब नाम रहित पुनि, बिनु नामहु सबनामा।
सारतत्व सर्वेश्वर देवा, नित मैं ताहि प्रणामा॥१॥
अपने ही को नमना है, जिहि नमना है सो आन नहीं।
मायामय व्यवहार सही, जिहि भजना है भगवान सही॥
अंशि अंश का भाव गहो, बिम्बा ऽऽ भास स्वभाव लहो।
एकहि सत्य न आन कहो, सो ब्रह्म अनामय भाव महो॥
बिनु जाने जहँ भजना है, तहँ एक सत्य को तजना है।
ज्ञान बिना दुख रचना है, पशु तुल्य सदा भव पचना है॥
जग सुख से जन वंचित हो, यदि राम नाम धन संचित हो।
जानिय याहि सुभाग्य अहो, या हित शुद्ध विचार गहो॥

---

१. ब्राह्मण ह्वे के ब्रह्म न जाना। ता कहँ कलि में खोट बखाना॥
राक्षस करनी देव कहावै। कलि में बहुत जीव भरमावै॥
भक्ति न जानै भक्त कहावै। तजि अमरित सो विष ही खावै॥
ऐसे के कानी नहिं राखी सन्त सुमति के बहुगुण भाखी॥

मानवतायुत सुविराग जहि, तरिये भव सागर ज्ञान गही।
गुरु कबीर यह बात कही, जहँ संशय दुःख न घात कहीं ॥२॥
कहि कबीर गुरु अद्भुत बानी। बीजक आदि सन्त सुखदानी ॥
वेद शास्त्र सत मत अनुसारा। धर्म भक्ति शुभ ज्ञान विचारा ॥
योग विराग विवेक विधाना। मानवता का तत्त्व बखाना ॥
अघ पाखण्ड दम्भ मद खण्डन। किया ज्ञान सद्भक्ति सुमण्डन ॥

मानवता युत श्रवण शुभ, ज्ञान हेतु विख्यात।
मनन ध्यान शम भजन है, जा ते अघ तम घात ॥३॥

राग द्वेष सब द्वन्द्व विहीना। परम तत्त्व झीनहुँ से झीना ॥
स्वयं प्रकाश सदासुख खानी। अज अनवद्य लखहि तिहि ज्ञानी ॥
सर्वातम सवरूप विहीना। ताहि भजत जन होत न दीना ॥
सदा असंग रहत भव माही। राम विकार गहत नहि काही ॥
जो जानत तिहि सो तद्रूपा। होत नित्य अज अजव अनूपा ॥
जीवन्मुक्त विमुक्तहु ताही। कहत वेद सब सन्त सदाही ॥
अभिमानहि भव बन्धन रूपा। अविद्या हि तहँ मूल स्वरूपा ॥
सनकादिक नारद शुकदेवा। जनकादिक कपिलादि सु देवा ॥
जीवन्मुक्त भये सब ज्ञानी। अधिकारी ह्वे हित विधि ठानी ॥
ताते जन समाज के माही। मनहुँ भेद रत रहहि सदाही ॥
उपदेशहि भक्तिहुँ शुभ कर्मा। आपहुँ करहिं विचारी सुधर्मा ॥

कर्मी ज्ञानि जिज्ञासु की, सङ्गति माहि स्वलीन।
रहहिं न मानहिं भेद सत, ब्रह्मातम गहि झीन ॥४॥
कहहिं भक्त साकार के, अधिकारिन को कोउ।
निराकार के भक्त ही, ज्ञानि लखहि गुरु सोउ ॥५॥

केवल साकारक विज्ञानी। होवै साधु सन्त अभिमानी ॥
तो माया मत्त हि तिहि जानो। निराकार भजि के सुख मानो ॥
निराकार ज्ञातव्य अनन्ता। जानत जाहि होय भव अन्ता ॥
कर्म सुभक्ति उपासन हेतू। मानिय साकारहु भव खेतू ॥

मिथ्या लखि संसार को, निराकार को सत्य।
चिदानन्द भजि ताहि को, त्यागिय जगत असत्य ॥६॥
वारण का वारण किया, सिंह रूप दिखलाय।
पुरुष सिंह ता धीर का, ध्यान धरिय मन लाय ॥७॥

साहब सद्गुरु सन्त, सत्सङ्गति सुविचार भव।
करत सकल दुख अन्त, सुमिरन सेवन करत नित ॥८॥
साहब सब दुख पार है, राम ब्रह्म कहु ताहि।
सहवर्ती सब के सदा, संग-काहु से नाहि ॥९॥
सद्गुरु संत भवाब्धि में, नाविक परम दयालु।
सत्य भक्ति मति नाव से, करहि पार शरधालु ॥१०॥
गहि सत्संग विचार हरि, उतरिय भव दुख पार।
राम स्वरूप दयालु के, गहि उपदेशहि सार ॥११॥
विद्या विनय विवेकिता, शम दम समता युक्त।
क्षमा दया सन्तोषयुत, होय सुखी जन मुक्त ॥१२॥
काम क्रोध मद लोभ छल, निन्दा मत्सर मोह।
ईर्ष्या परुष गुमान तजि, होय सन्त गत द्रोह ॥१३॥
सदा अहिंसा सत्य युत, ब्रह्मचर्य रत सन्त।
शुचि सन्तोषी ज्ञान से, करही भव दुख अन्त ॥१४॥
ज्ञानक हेतु विचार है, ताका विमल प्रकार।
सुनिय कछुक पुनि देखिये, शब्द सुधादि उदार ॥१५॥

॥ पांचो भूतों के प्रकृति आदि ॥

कामः क्रोधस्तथा मोहो भयं लोभस्तथैव च।
व्योमजानि भवन्त्यत्र देहे सर्वस्य देहिनः ॥१॥
कटिश्च हृदयं कण्ठ उदरं च शिरस्तथा।
नभः प्रकृतिकान्यत्र भवन्ति कस्यचिन्मते ॥२॥
चलनं बलनं चैव प्रसारणं तथैव च।
गमनाऽऽकुञ्चने पञ्च वायुजानि भवन्ति वै ॥३॥
क्षुधा पिपासा तथाऽऽलस्यं निद्रा कान्तिस्तथैव च।
भवन्ति वह्निजान्येव देहे सर्वस्य सर्वथा ॥४॥
वीर्यं च रुधिरं लाला मूत्रं स्वेदस्तथैव च।
जलजान्यस्थिमांसं त्वङ् नाडी रोम च भूमितः ॥५॥
भीतिर्हि भूमितो व्योम्नि मोहश्च जलतो भवेत्।
क्रोधश्चाग्निभवः कामो वायुजो लोभकः स्वतः ॥६॥
वायौ व्योमभवं ज्ञेयं प्रसारणं च वह्निजम्।
वलनं जलजं चैव गमनं भूमितस्तथा ॥
आकुञ्चनं हि विज्ञेयं चलनं निजतो भवेत् ॥७॥

वह्नौ वायुभवा तृट् स्यान्निद्रा व्योमभवा त
जलजा कान्तिरालस्यं भूमितश्च क्षुधा स्वतः ॥८॥
जले वह्निभवं मूत्रं पित्तं तज्जनितं तथा।
वातजश्च भवेत्स्वेदो लाला व्योमभवा सदा॥
रुधिरं भूमिजं ज्ञेयं वीर्यं स्वांशः प्रकीर्तितः ॥६॥
भूमौ वारिभवंमांसं नाडी वह्निभवा तथा।
त्वक् च वायुभवा रोम व्योमजं च स्वतोऽस्थि यत् ॥१०॥
भूतसत्त्वांशजं सर्वं बुद्धिन्दियमनोमुखम्।
प्राणः कर्मेन्द्रियाण्येव रजोगुणभवानि वै ॥११॥
तमस्तयोश्चसाहाय्यं करोति गुणयोः किल।
कार्ये साक्षी भवत्यात्मा ह्यसङ्गो दोषवर्जितः ॥१२॥
रसाद्वै शोणितं जातं शोणितान्मांसमुच्यते।
मांसात्तु मेदसो जन्म मेदसोऽस्थीनि चैवहि॥
अस्थ्नो मज्जासमभवन् मज्जातः शुक्रमेव च ॥१३॥
हृदि प्राणो गुदेऽपानः समानो नाभिमण्डले।
उदानः कण्ठदेशे स्याद् व्यानः सर्वशरीरगः ॥१४॥

वस्तुतः एकहि प्राण स्थान और क्रिया भेद से पांच कहे जाते हैं। सभी दर्शन शास्त्र का ज्ञान द्वारा मोक्ष ही मुख्य प्रयोजन (फल) कहा गया है, तहाँ न्याय दर्शन में, प्रमाण प्रमेय, संशय, प्रयोजनादि षोडश (सोलह) १६ पदार्थ के तत्त्व ज्ञान (यथार्थज्ञान) से मोक्ष कहा गया है। तहाँ प्रमाण और प्रमेय रूप ही अन्य सब भी हैं, अतः उन्हें गिनने की आवश्यकता नहीं है। और द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य (जाति) विशेष, समवाय, और अभाव, ये सात पदार्थ वैशेषिक दर्शन में माने गये हैं, तहाँ द्रव्यादि के साधर्म्य (समान धर्म) और वैधर्म्य (विरुद्ध धर्म) के ज्ञान पूर्वक इन द्रव्यादिकों के यथार्थ ज्ञान से मोक्ष कहा गया है। नित्य द्रव्यों में रहने वाले उनके भेदक अपूर्व विशेष पदार्थ को मानने से ही उस दर्शन का वैशेषिक नाम हुआ है। पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, दिशा, काल, मन, और आत्मा को द्रव्य कहते हैं। तहाँ पृथिवी आदि में गन्धादि विशेष गुण माने जाते हैं, क्योंकि गुणवत्त्व, क्रियावत्त्व वा समवायिकारणत्व ही द्रव्य का लक्षण हैं। और जीवात्मा में सुख, दुःख, ज्ञान, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, ज्ञान के संस्कार, संख्या परिमाण, पृथक्त्व, संयोग और विभाग ये १४ चौदह गुण माने जाते हैं। संख्या,

परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न, ये आठ गुण ईश्वर में माने जाते हैं। परन्तु ईश्वर के ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न नित्य रहते हैं, और जीव के अनित्य होते हैं। पृथिवी आदि चार भूत के परमाणु को नित्य माना जाता है, आकाशादि को स्वरूप से नित्य माना जाता है परमाणु रूप मन को माना जाता है। "दुःख जन्म प्रवृत्ति दोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः" देहादि में आत्मत्व बुद्धिरूप अज्ञानमिथ्याज्ञान से राग-द्वेषादि रूप दोष पूर्वक प्रवृत्ति से पुण्य पाप पूर्वक जन्म और दुःख होते हैं। और तत्त्व ज्ञान से मिथ्या ज्ञान की निवृत्तिपूर्वक दोषादि की निवृत्ति से दुःखों का अभाव रूप मोक्ष होता है। यह न्याय वैशेषिक दोनों दर्शनों का मुख्य उद्देश्य है। और सांख्य दर्शन में, प्रकृति (माया) महत्तत्व (समष्टि बुद्धि) अहङ्कार, एकादशेन्द्रिय (मन सहित कर्म ज्ञानेन्द्रिय) पञ्चतन्मात्रा (सूक्ष्म पाँच भूत) पाँच महाभूत, और पुरुष (आत्मा) ये पचीस पदार्थ माने गये हैं, ईश्वर सहित ये ही छबीस पदार्थ कहे जाते हैं, तहाँ इन सभी दर्शनों में आत्मा अनन्त (अनेक) माना गया है, कि जिससे बन्ध मोक्षादि की व्यवस्था हो। परन्तु सांख्य योग मत में असङ्ग उदासीन चेतन मात्र आत्मा को मान कर बुद्धि के साथ सम्बन्ध से अविवेक कृत बन्धादि माना जाता है, तहाँ विवेकाऽभाव रूप अविवेक से भाव रूप बन्धादि हो नहीं सकते हैं। अतः भाव रूप अविद्या अज्ञान से बन्ध और ज्ञान से मोक्ष वेदान्त में माना जाता है, और श्री कबीर साहब ने वेदान्त की प्रक्रिया का ही प्रायः आश्रयण किया है। अतः सो ज्ञातव्य है॥ न्यायादि में आकाश को नित्य माना गया है। परन्तु "तस्माद्वा एत-स्माद् आत्मन आकाशः संभूतः, आकाशाद्वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी, पृथिव्या ओषधयः, ओषधिभ्योऽन्नम्, अन्नात्पुरुषः, मनुष्यः, तैतरीयो० २।१" इत्यादि श्रुतियों में ब्रह्म से आकाशादि भूतों की उत्पत्ति कही गई है, श्वेताश्वतरोपनिषद् में माया को प्रकृति (उपादान कारण) कही गई है, मायी को महेश्वर कहा गया है। अतः मायी ब्रह्म से आका-शादि की उत्पत्ति पूर्वक औषधि अन्न की उत्पत्ति के बाद, अन्नमय कोश रूप स्थूल शरीर (युक्त) पुरुष (मनुष्य) का वर्णन श्रुति में किया गया है, अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमय, कोशों का वर्णन करके इनसे विवेक पूर्वक आत्मा के ज्ञान से अभय की प्राप्ति रूप मोक्ष कहा गया है॥

तहाँ प्रथम सूक्ष्म पाँचो भूतों की उत्पत्ति होने पर, मिलित पाँचों भूतों के सत्त्वांश (सत्त्वगुण भाग) से अन्तःकरण (मन बुद्धि चित्त अहङ्कार) की उत्पत्ति होती है। मिलित रजोंऽश से प्राण की उत्पत्ति होती है, और आकाशादि प्रत्येक के सत्त्वांश से क्रम से, श्रोत्र, त्वक्, नेत्र, रसना, घ्राण, रूप सूक्ष्म इन्द्रिय बाहर ज्ञान के साधन उत्पन्न होते हैं, और पाँचों भूतों के प्रत्येक रजोगुणांश से क्रम से वाक्, पाणि, पाद, उपस्थ, गुदा नामक कर्मेन्द्रिय उत्पन्न होती हैं, स्थूल शरीर के बनने पर, मुख, हाथ, पैर, लिङ्ग, मूलद्वार में रहकर, वचन, ग्रहण, गमन, मूत्र त्यजन, मलत्यजन रूप क्रिया (कर्म) करते हैं। यह सूक्ष्म भूत से सृष्टि कही जाती है। यद्यपि श्रुति में पृथिवी, जल, और तेज इन तीन भूतों का ही संमेलन रूप त्रिवृतकरण कहा गया है। परन्तु उसको उपलक्षण रूप मानकर पञ्चीकरण (पाँचो भूत का संमिश्रण) माना जाता है कि जिस पञ्चीकरण से पाँचों भूत प्रथम की अपेक्षा स्थूल रूप को धारण करते हैं, और स्थूल भौतिक पदार्थ के जनक होते हैं। तहाँ पञ्चीकरण के दो प्रकार माने गये हैं। एक तो यह प्रकार है कि सूक्ष्म पांचो भूतों के समरूप में दो-दो भाग किया गया, उनमें से सब के एक एक भाग को पृथक् रखकर, और बाकी सब के आधे आधे भागों को चार चार भाग किया गया, और चारों को अपने पृथक् रखे भाग को छोड़कर अन्य के पृथक् रखे चारो भागों में मिलाया गया, इस प्रकार से सब भूतों में अपना आधा भाग रहा, और आधा अन्य का भाग आया, इस प्रकार पाँचों भूत मिश्रित होकर स्थूल हो गये। दूसरी रीति है कि सब भूतों के पचीस पचीस भाग तुल्य रूप से किये गये, उनमें इक्किश २१, इक्किश भागों को पृथक् रखकर चार-चार भाग सब में से निकाल कर, अपने-अपने इक्किश अंश को छोड़कर, अन्य के इक्किश अंश में एक एक अंश मिलाये गये, इससे सब भूतों में अपना इक्किश २ अंश और अन्य के चार २ अंश हुए, और स्थूलता हुई, तहाँ अपने अपने भागों के अधिक रहने से पृथिवी आदि का पृथक् व्यवहार (कथन) होता है "वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वादः। ब्रह्मसूत्र ०२।४।२२" पूर्ववर्णित (चार अन्तः करण पांच प्राण और दशेन्द्रियों का समूहरूप जीवों के भोगों का साधन रूप सूक्ष्म शरीर होता है) और इसी शरीर के अन्तर्गत सात्त्विक अन्तः करण अविद्या के सत्त्वांश में जो (आभाश—अभिव्यक्त चित्स्वरूप रहता है, सो व्यवहारिक कर्ता भोक्ता जीव कहा जाता है) यह जीव का स्वरूप अनन्त है, और सबका पारमार्थिक स्वरूप सत्यात्मा एक है, इसी के विषय में ब्रह्मसूत्र है कि "आभास

एव च।अ०२।३।५०” सूक्ष्म शरीर द्वारा जीव स्वप्न के भोगों को भोगता है। पञ्चीकृत स्थूल भूत जन्य स्थूल शरीर से स्थूल भोगों को भोगता है, तहाँ स्थूल शरीर भोग का आश्रय होता है, सूक्ष्म शरीर (इन्द्रियादि) भोग के साधन होते हैं। तहाँ स्थूल शरीर में आकाशादि पाँच भूत और उनके पांच पांच तत्त्व =(कार्य = स्वभाव) रहते हैं, उनको प्रकृति भी कहते हैं।—

१ आकाश के, काम, क्रोध, शोक, मोह और भय, ये पांच तत्त्व (कार्य) हैं॥ २ वायु के, चलन बलन (बलकरन) धावन, प्रसारन और आकुञ्चन, ये पाँच है॥ ३ तेज के क्षुधा, तृषा, (पिपासा) आलस्य, निद्रा और कान्ति ये पाँच हैं॥ ४ जल के, शुक्र (वीर्य) शोणित (रुधिर) लाला (लार) मूत्र और स्वेद (पसीना) वे पाँच हैं॥ ५ पृथिवी के, अस्थि (हाड़) मांस, नाड़ी, त्वक् और रोम वे पाँच तत्त्व देह में हैं॥

पंचीकृत भूतों की ये प्रकृतियाँ हैं, अतः एक एक अपनी है, और चार चार अन्य की हैं। तहाँ आकाश के शोक[1] काम[2] क्रोध[3] मोह[4] और भयरूप तत्त्वों में शोक आकाश का अपना अंश है, क्योंकि शोक होने पर शरीर शून्य तुल्य हो जाता है, और आकाश भी शून्य स्वभाव वाला है॥१॥ आकाश की प्रकृति में काम वायु का भाग है, क्योंकि कामरूप वृत्ति चंचल होती है, और वायु भी चंचल होता है॥२॥ आकाश में क्रोध तेज का भाग है, क्योंकि क्रोधावस्था में शरीर तप्त हो जाता है, और ताप तेज का स्वभाव है॥३॥ आकाश में मोह जल का भाग है, क्योंकि मोह पुत्रादि में धीरे धीरे पसरता है, जल भी धीरे से पसरता है, और नीचे तरफ बहता है, मोह से प्राणी अधःपतित होता है॥४॥ आकाश में भय पृथिवी का भाग है, क्योंकि भय से देह में जड़ता (निष्क्रियता) होती है, और पृथिवी का भी जड़ स्वभाव है॥५॥:

वायु के प्रसारण १, धावन २, बलन ३, चलन ४, और आकुञ्चन रूप प्रकृतियों में, प्रसारण, आकाश का भाग है, प्रसारण स्वभाव वाला आकाश है॥१, धावन वायु का अपना भाग है, दौड़ना वायु का स्वतः स्वभाव है।२॥ बलन तेज का स्वभाव है, क्योंकि बल प्रभाव वाला तेज होता है॥३॥ वायु में चलन जल का भाग है। क्योंकि चलने को चलन कहते हैं और जल भी निम्न देश के तरफ चलता है।४॥ वायु में आकुंचन पृथिवी का भाग है। क्योंकि आकुंचन = संकोचन पृथिवी का स्वभावं है॥५॥

तेज के निद्रा १ तृषा २ क्षुधा ३ कान्ति ४ और आलस्यये पाँच प्रकृतिदेह में हाती हैं। तहाँ निद्रा आकाश का भाग है, निद्रा में शरीर शून्य हो जाता है, सो आकाश का स्वभाव है ॥१॥ तेज में तृषा वायु का स्वभाग है, तृषा कण्ठादि का शोषण करती है, वायु भी शोषण करता है ॥२॥ क्षुधा तेज का अपना भाग है, क्षुधा अन्न को पचाती भस्म करती है, तेज भी फलादि को पकाता है, काष्ठादि को भस्म करता है ॥३॥ तेज में कान्ति जल का भाग है, कान्ति तापादि से घटती है, और जल भी तापादि से घटता है ॥४॥ तेज में आलस्य पृथिवी का भाग है, क्योंकि आलस्य से अकर्मण्यता आती है, सो पृथिवी का स्वभाव है ॥५॥

जल के, लार १ स्वेद २ मूत्र ३ शुक्र ४ और शोणित ५ इन पाँचो तत्त्वों में लार आकाश का भाग है, क्योंकि शरीर में वह आकाश के समान व्याप्त रहता है ॥१॥ स्वेद वायु का भाग है, परिश्रम से स्वेद होता है, और श्वास वायु भी अधिक हो जाता है ॥२॥ जल में मूत्र तेज का भाग है, क्योंकि उसमें उष्णता रहती है ॥३॥ शुक्र जल का अपना मुख्य भाग है, क्योंकि शुक्र श्वेत और सन्तति का हेतु होता है, जल भी श्वेत और अंकुरादि का हेतु होता है ॥४॥ जल में शोणित पृथिवी का भाग है, क्योंकि शोणित रक्त होता है, पृथिवी कहीं स्वाभाविक कहीं पकने पर रक्त होती है ॥५॥

पृथिवी के, रोम १ त्वक् २ नाड़ी ३ मांस ४ और अस्थि ५ ये पाँच भाग देह में हैं। तहाँ रोम आकाश का भाग है, अतः पीड़ा आदि से शून्य होता है ॥१॥ त्वक् वायु का भाग है, अतः वायु के गुण स्पर्श का ज्ञान कराता है ॥२॥ नाड़ी तेज का भाग है, क्योंकि नाड़ी से ताप की परीक्षा होती है, और तेज भी तापरूप है ॥३॥ पृथिवी में मांस जल का भाग है, क्योंकि दोनों में स्निग्धता रहती है ॥४॥ अस्थि पृथिवी का अपना मुख्य भाग है, क्योंकि पृथिवी अस्थि दोनों में कठिनता आदि तुल्य रहते हैं ॥५॥

श्री कबीर साहब ने २६ उनतिस में शब्द में, "गज नव गज दश गज उनइसकी, पुरिया एक तनाई" इस कथन से पाँच प्राण चार अन्तःकरण रूप नव गज, और दशेन्द्रिय रूप दश गज को मिला कर उनइस तत्त्व के सूक्ष्म शरीर द्वारा पुनः शरीरान्तर की प्राप्ति का वर्णन किया है, और उन सभी को मायामय कह कर, फिर मायामय विस्तार को त्याग कर (इसको मिथ्या समझकर) मोक्ष के लिए सच्चिदानन्द राम को भजने

के लिए उपदेश दिया है। और दूसरे वसन्त में "एक बड़ी जाके पाँच हाथ। पाँचहुँ केर पचीस साथ" इस कथन से एक माया (प्रकृति) और पाँच तत्त्व तथा उक्त पचीस कार्यों का कथन करके, उन्हें मिथ्या आदि समझा कर उनके प्रपञ्चों से बचने के लिए उपदेश दिया है। और समझाया है कि ये सब तेरे सत्य स्वरूप नहीं हैं, न तुम इनके सङ्गी या स्वरूप हो, ये सब माया मात्र हैं, और तुम वस्तुतः सच्चिदानन्द स्वरूप हो इत्यादि ॥ उपदेश है कि तीन देह, जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति आदि तीन अवस्था के ज्ञाता आत्मा इनसे पृथक् इनका साक्षी है–तहाँ—

स्वप्न सुषुप्ति से भिन्न=इन्द्रिय जन्य ज्ञान का और इन्द्रिय जन्य ज्ञानों के संस्कार का आधार काल को जाग्रदवस्था कहते हैं,१, व्यावहारिक इन्द्रियों से अजन्य=प्रातिभासिक इन्द्रियजन्य प्रातिभासिक विषयों के ज्ञान (अन्तः करण की वृत्ति) युक्त काल को स्वप्नावस्था कहते हैं,२, सुख और अविद्या (अज्ञान) विषयक अविद्या की वृत्ति काल को सुषुप्ति अवस्था कहते हैं,३, इन सब अवस्थाओं का आत्मा साक्षी है ॥

जाग्रत् अवस्था में स्थूल स्पष्ट भोग जीव को प्राप्त होता है। उसके हेतु चौदह १४ (चतुर्दश) इन्द्रिय (बाहर-भीतर के ज्ञान कर्म के करण) अध्यात्म (आत्माश्रित) कहे जाते हैं,१, उनके सहायक चौदह देव= अधिदेव (देवाश्रित देवात्मक) कहे जाते हैं,२, और उनके चौदह विषय अधिभूत (भूताश्रित) कहे जाते हैं,३, इन व्यालीसों ४२ से जिस अवस्था में व्यवहार होता है, सो जाग्रत् अवस्था होती है ॥१॥

श्रोत्रादि पाँच ज्ञानेन्द्रिय, वाक् आदि पाँच कर्मेन्द्रिय बाह्येन्द्रिय हैं। और मन बुद्धि चित्त अहङ्कार ये अन्तः करण (भीतर के साधन) हैं। सो सब अध्यात्म हैं ॥१॥ इनके अधिदेव ये हैं—

श्रोत्र का अधिदेव (सहायक) दिगभिमानी देव हैं, १, त्वक् का अधिदेव, वायुदेव है, २, नेत्र का अधिदेव, सूर्यदेव हैं, ३, रसना का अधिदेव, वरुणदेव हैं, ४, घ्राण का अधिदेव, अश्विनी कुमार, वा पृथ्वी के अभिमानी देव हैं ॥५॥

वाक् का अधिदेव, अग्निदेव हैं,१, हस्त का अधिदेव इन्द्र हैं,२, पादका अधिदेव विष्णु है,३, उपस्थ का प्रजापति अधिदेव है,४, गुदा का अधिदेव यम हैं ॥५॥

मन का अधिदेव चन्द्रदेव हैं,१, बुद्धि का अधिदेव ब्रह्मा जी हैं,२, चित्त का अधिदेव अच्युत देव हैं, ३, अहङ्कार का रूद्र अधिदेव हैं ॥४॥

ज्ञानेन्द्रियों के शब्द १ स्पर्श २ रूप ३ रस ४ और गन्ध ५ विषय हैं, सो पाँच अधिभूत है ॥

कर्मेन्द्रियों के वक्तव्य=शब्द १, आदातव्य=ग्राह्यवस्तु २, गन्तव्य मार्गादि ३ भोक्तव्य=रतिविषय ४ त्यक्तव्य मल ५ अधिभूत है ॥

मन का मन्तव्य वस्तु विषय है १, बुद्धि का बोधव्य विषय है २ चित्त का चिन्तनीय विषय है ३, अहङ्कार का अहङ्कर्तव्य विषय है,४॥ ये सब अधिभूत हैं। और मनन, निश्चय, चिन्तनादि मन आदि के व्यापार होते हैं॥ उक्त चौदह इन्द्रिय, चौदह उनके सहायक देव और चौदह विषय के मिलित स्वरूपों को चौदह त्रिपुटी (चौदह तीन-तीन की सङ्गती) कही जाती हैं, जैसे कि—

अध्यात्म,	अधिदेव,	अधिभूत	अध्यात्म,	अधिदेव,	अधिभूत।
१ श्रोत्र,	दिग्देव,	शब्द।	१ वाक्,	अग्नि,	वक्तव्य शब्द।
२ त्वक्,	वायु,	स्पर्श।	२ हस्त,	इन्द्र,	आदातव्य।
३ नेत्र,	सूर्य,	रूप।	३ पाद,	विष्णु,	गन्तव्य।
४ रसना	वरुण,	रस।	४ उपस्थ,	प्रजापति,	रति रन्तव्य।
५ घ्राण,	पृथ्वीदेव,	गन्ध।	५ गुदा,	यम,	त्यक्तव्य मल॥

१ मन, चन्द्र, मन्तव्य। २ बुद्धि, ब्रह्मा, बोधव्य।

३ चित्त, अच्युत, चिन्तनीय। ४ अहङ्कार रुद्र, अहङ्कर्तव्य॥

इन चौदहो त्रिपुटियों से जाग्रत काल में स्थूल भोग होता है, सो तीन-तीन के रहते ही भोग सिद्ध होता है। इन्द्रिय रूप नेत्र, और सूर्यदेव रहें भी परन्तु द्रष्टव्य रूप रूपवान पदार्थ नहीं हो, तो दर्शन जन्य भोग (सुख) नहीं होता है, इसी प्रकार विषय और इन्द्रिय हों, अधिदेव सूर्य या उसके अंश रूप कोई प्रकाश नहीं हो, तो अन्धकार में रूप दर्शन जन्य भोग नहीं होता है, विषय और सूर्य के रहते भी अन्धे को रूप ज्ञान जन्य भोम नहीं होता है। इसी प्रकार से सब त्रिपुटी में समझना चाहिये। और सबके भावाभाव व्यवहारादि का साक्षी आत्मा इन सबसे भिन्न है, सो सबमें व्यापक है। परन्तु इनके द्वारा भोग करने वाला जीवात्मा सामान्य रूप से तो शरीर भर में व्यापक रहता है, तो भी जाग्रत के भोग काल में विशेष रूप से नेत्र में या त्रिकुटी में बसता है। अतः श्री कबीर साहब ने कहा है कि "त्रिकुटी सङ्गम स्वामी बसई; रमैनी १३" और वैखरी वाणी बोलता है। स्थूल भोगों को भोगता है, क्रिया शक्तियुक्त रहता है, अतः रजोगुण प्रधान रहता है, और वह भोक्ता जीव विश्वनामा कहा जाता है, क्योंकि

उसमें सुषुप्ति और स्वप्न के भोक्ता भी वर्तमान रहते हैं, सब संसार वर्तमान रहता है। और स्वप्न काल में इस विश्व के भोग का समाज लुप्त सा हो जाता है ॥१॥

किन्तु स्वप्नावस्था से जाग्रत् के ज्ञान ध्यानादि के संस्कार से अत्यन्त सूक्ष्म, हिता नामक, कण्ठ-देशस्थ नाड़ी में स्वप्नावस्था को जीव प्राप्त करता है। तहाँ कर्माधीन सूक्ष्म भोग के लिये प्रातिभासिक विषयादि उत्पन्न होते हैं, सो (बृ० ४।३।१०) श्रुति में वर्णित है। उस विषय के भोगकाल को स्वप्नावस्था कहा जाता है। उस अवस्था में जीव विशेष रूप से कण्ठ देश में बसता है, मध्यमा वाणी से व्यवहार करता है, सूक्ष्म वासनामय भोगों को भोगता है, क्रिया शक्ति का अभाव सा रहता है, ज्ञान शक्ति रहती है, और ज्ञान शक्ति के रहने ही से सत्त्व गुण रहता है, और उस समय के भोक्ता जीवका तैजस, नाम कहा जाता है, क्योंकि तेजोमय अन्तः करण की प्रधानता रहती है, और मनोमय ही सृष्टि आदि उस समय होते हैं। यह स्वप्नावस्था सूक्ष्म देह की होती है, आत्मा की नहीं, आत्मा इसके भावाऽभावादि सबका साक्षी है ॥२॥

अन्तःकरण के विलय से इस स्वप्न के भी अभाव काल को सुषुप्ति अवस्था कहते हैं, कि जिस सुषुप्ति से जागने पर मनुष्य कहता है कि (सुख से सोया परन्तु कुछ जाना नहीं) तहाँ सुख और अज्ञान का प्रकाश साक्षी स्वरूप अनुभव से होता है, और उस समय जीव हृदय में वसता है, पश्यन्ती वाकयुक्त रहता है, आनन्द का भोग होता है, द्रव्य (आत्म) शक्ति रहती है। तमोगुण प्रधान रहता है, सुषुप्ति के भोक्ता जीव को प्राज्ञ, कहा जाता है। यह सुषुप्ति अवस्था कारण स्वरूप देह की है। तथा उस देह के अभिमानी भोक्ता प्रमाता जीव की अवस्था होती है, शुद्ध साक्षी स्वरूप आत्मा की नहीं। यह व्यावहारिक जीव जाग्रत् और स्वप्न में भोगों को भोगता है, परन्तु उससे तृप्ति और शान्ति नहीं पाता है, तो फिर भी भोगने के लिये भोग्य पदार्थों के उपार्जनादि रूप व्यवहारों में प्रवृत्त होता है, तहाँ अतिश्रान्त होने पर विश्राम के लिये, ज्ञानपूर्वज आसन पर सोर कर, वा वदहोसी में बैठे बैठे ही सुषुप्ति अवस्था से प्राप्त हो जाता है। तहाँ जाग्रत स्वप्न के उपाधि द्वन्द्व तो लीन हो जाते हैं, परन्तु अज्ञान रहता है, अतः उस समय "सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति। छा० ६।८।१॥ अयं पुरुष एतस्मा अन्ताय धावति यत्र सुप्तो न कंचन कामं कामकामयते। बृ० ४।३। १५" सत् ब्रह्म के साथ जीवात्मा मिल जाता है। जहाँ यह पुरुष जीव,

इस अन्त (सुषुप्ति अवस्था) के लिये श्रान्त होकर दौड़ता है, तहाँ सुप्त हो जाने से (सो जाने से) किसी वस्तु की इच्छा नहीं करता है, परन्तु अज्ञान के रहने से ब्रह्मात्मा का अपरोक्ष नहीं करने पाता है, अतः प्रारब्ध कर्म के फल देने के लिए ईश्वराधीन उन्मुख व्यक्त होने पर, फिर वह जीव जाग्रत वा स्वप्न अवस्था को प्राप्त करता है। क्योंकि सुषुप्ति में कर्म वासनादि सहित ही जीव रहता है। और इस अविद्यादि रूप व्यष्टि उपाधि, समष्टि ईश्वर की उपाधि से मिल भी जाती है, तो भी सूक्ष्म रूप से अविद्या पृथक् के समान रहती है, तथा लिङ्ग शरीर भी अदृष्ट वासनादि सहित संस्कार (अव्यक्त) रूप से पृथक् के समान वर्तमान रहता है। अतः चिदाभास रूप जीव भी पृथक् के समान रहता है। सत्य भेद तो नहीं है, तथापि मिथ्या भेद की निवृत्तिपूर्वक मोक्ष के लिये तीन अवस्था आदि से रहित आत्मा विचारादि से ज्ञातव्य है कि अवस्था आदि रूप संसार साक्षी स्वरूप में नहीं है। कहा गया है कि "झूठ-झूठ कै छाड़हू, मिथ्या यह संसार। र० साखी ६० कहु हो अम्बर का सो लागा। शब्द ६४।" इत्यादि।

उक्त तीन अवस्था के तीन शरीरों में स्थूल जाग्रदवस्था के शरीर को अन्नमय कोश कहा जाता है॥१॥ सूक्ष्म शरीरान्तर गत प्राण और कर्मेन्द्रिय के समूह को प्राणमय कोश कहते हैं।२। ज्ञानेन्द्रिय सहित मन को मनोमय कोश कहते हैं।३। ज्ञानेन्द्रिय सहित बुद्धि को विज्ञानमय कोश कहते हैं।४॥ वासना आनन्दस्वरूप के प्रतिफलनादि सहित कारण शरीर अज्ञान ही आनन्दमय कोश कहलाता है।५। ये कोश अपने में आत्मता आदि बुद्धि कराने द्वारा मानो सत्यात्मा का आच्छादन करते हैं। तहाँ विवेक से आत्मा ज्ञातव्य है कि जिससे शान्ति मिले इत्यादि उपदेश है॥

यद्यपि-गौडपादीय सांख्यकारिका भाष्य का वचन है कि "पञ्चविंशतितत्त्वज्ञो यत्रतत्राश्रमे वसेत्। जटी मुण्डी शिखी वापी मुच्यते नात्र संशयः॥१॥" आगमो ह्याप्त वचनमाप्तं दोषक्षयाद् विदुः। क्षीणदोषोऽनृतं वाक्यं न ब्रूयाद् धेत्वसम्भवात्॥२॥ सांख्यकारिका है कि "मूलप्रकृतिरविकृति र्महदाद्याः, प्रकृतिविकृतयः सप्त। षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः॥१॥" पचीस तत्त्व (वस्तु) को जानने वाला जिस किसी आश्रम में बसे, जटी—वानप्रस्थ हो, या मुण्डी सन्यासी हो, या शिखी-शिखा धारी ब्रह्मचारी वा गृही हो, तत्त्वज्ञान से मुक्त होता है, इसमें संशय नहीं है॥१॥ सांख्य आप्त का वचन है, दोष के नाश से आप्त को समझते हैं। दोष के अभाव वाला मिथ्या वाक्य नहीं कहेगा, क्योंकि

मिथ्या कहने में दोष रूप हेतु नहीं है ॥२॥ सब कार्य की मूल रूप प्रकृति (कारण) अव्यक्त प्रधान, किसी की विकृति (कार्य) नहीं है। और महत्तत्त्व=समष्टिबुद्धि, अहङ्कार, पञ्चतन्मात्रा=सूक्ष्म भूत, ये सात पूर्व पूर्व के विकृत्ति और उत्तरोत्तर के प्रकृत्ति हैं, जैसे कि मूल प्रकृति के महत्तत्त्व विकृति है, और अहङ्कार की प्रकृति=कारण है इत्यादि। और मन सहित एकादश (ग्यारह) इन्द्रिय, पाँच स्थूल महाभूत, ये सोलह केवल विकार (कार्य) रूप हैं, किसी स्वतन्त्र तत्त्वान्तर के कारण नहीं है, और पुरुष=चेतनात्मा प्रकृति वा विकृति नहीं है। ये पचीस तत्त्व हैं, इनका पुराण और महाभारत में भी वर्णन है, ईश्वर सहित इनको ही योग दर्शन में छब्बीस तत्त्व कहा गया है। "क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुष विशेष ईश्वरः" यह ईश्वर का लक्षण है। और "न वयं षट्-पदार्थवादिनो वैशेषिकादिवत्। सांख्यदर्शन १।२५" इत्यादि लेख से यह उपलब्ध सांख्यदर्शन सर्वादि सांख्य दर्शन नहीं है, तहाँ "मुक्तात्मनः प्रशंसोपासासिद्धस्य वा। सां० १।६५" इससे मुक्तादि के प्रशंसा रूप ईश्वर विषयक श्रुति आदि को माना गया है, और "नाऽद्वैतश्रुतिविरोधो जातिपरत्वात्। सां० १।१५५। जाति परत्त्व से अद्वैवश्रुतिविरोध का वारण किया गया है, इत्यादि। "अष्टौ प्रकृयः प्रोक्तास्त्रय एव हि तद्गुणाः। विकाराः षोडशाचार्यैः पुमानेकः समन्वयात् ॥१॥ स्कन्ध ७।७।२२" इत्यादि श्री मद् भागवत के वचन हैं। तथापि यह प्रक्रिया सर्वथा श्रुति के अनुसार नहीं है। अतः इसको कबीर साहब ने नहीं माना है, अतः इसकी चर्चा नहीं की है, किन्तु "एक हि ते अनन्त अनन्त" इत्यादि कहा है। इसी प्रकार, नैयायिक, षोडशप्रमाणादि को ज्ञेय बताते हैं, बारह=प्रमेय कहते हैं कि जिनका खण्डन वेदान्त में प्रसिद्ध है। वैशेषिक द्रव्यादि के साधर्म्ययुक्त वैधर्म्ययुक्त के तत्त्व ज्ञान से मुक्ति कहते हैं सो भी सर्वथा अमान्य है। विशेष पदार्थ ही नहीं सिद्ध हो सकता है कि जिसके अधीन वैशेषिक नाम भी सिद्ध हो, सो अन्यत्र प्रसिद्ध है, अतः उपनिषद् रूप वेदानुकूल आत्मज्ञानादि का उपदेश श्री सद्गुरु कबीर साहब ने दिया है, और कहा है कि "जाको मुनिवर तप करै, वेद थकै गुण गाय। सोई देउँ शिखापना, कहीं न कोइ पतिआय ॥१॥ वेद कहै सो नहिं करै, समुझै और कि और। चौरासी के धार में, कबहुँ न पावै ठौर ॥२॥" इत्यादि ॥ सभी दर्शनों के उपनिषद् से अविरुद्ध आत्माऽसङ्गत्व नित्यत्व योगादि गम्यत्वादि अंश मान्य हैं, अन्य नहीं। अतः योगादि से आत्मा ज्ञातव्य द्रष्टव्य है कि जिससे शान्ति सुख मोक्ष हो। व्याख्याकार,

* ओम् राम *

अथ विशेष-कथा-भाग

मङ्गलाचरणम् ।

नैदाघे किरणे वारि यथा यस्मिन्निदं जगत् ।
तं वन्दे परमात्मानं सच्चिदानन्दविग्रहम् ॥१॥
यस्य स्मरणमात्रेण यान्ति विघ्नाः सदा लयम् ।
तं वन्दे बुद्धिदं नित्यं यशोराशिं गुरुं स्वकम् ॥२॥
यानाश्रित्य सुमन्दोऽपि द्वन्द्वमुक्तो भवत्यलम् ।
तान् सर्वान् भद्रकान् वन्दे शान्तये चित्तवारिधेः॥३॥
चित्तवारिधिशान्त्यर्थं यत् किञ्चित्प्रवदाम्यहम् ।
तुष्यतु तेन सर्वात्मा परमात्मा सदोन्मुखः ॥४॥

(रमैनी ८ के अन्तर्गत)

(१)

'तत्त्वमसि' इस उपदेश का वर्णन छान्दोग्य उपनिषद् अ० ६ में है। कथा है कि—अरुण के पुत्र का पुत्र श्वेतकेतु थे, पिता की आज्ञा से बारह वर्ष की अवस्था में गुरुकुल में जाकर बारह वर्ष में सब वेदों को पढ़ कर पिता के पास आये; परन्तु आत्मज्ञान के विना अभिमानी रहे, सो देखकर, ज्ञानी पिता (उद्दालक) जी ने पूछा कि, क्यों अभिमानी हो, क्या वह उपदेश अपने गुरु से तुमने पूछा है कि, जिस एक के सुनने से अश्रुत भी श्रुत होता है, इत्यादि। पुत्र ने कहा कि यह उपदेश कैसा है। पिता ने कहा कि, जैसे एक मृत्पिण्ड के ज्ञान से सब उसके कार्य ज्ञात होते हैं, क्योंकि विकार वाणीमात्र है। मिट्टी के सब विकारों कार्यों में मिट्टी ही सत्य है। इससे मिट्टी के ज्ञान से ही उनका ज्ञान हो जाता है, इत्यादि। फिर पुत्र ने कहा कि, यह उपदेश हमारे गुरु जी नहीं जानते हैं, जानते तो अवश्य कहते, अब आपही कहें। इसके बाद "सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्" इस वचन से एक सत्यात्मा को बता कर, सृष्टि का संक्षेप से वर्णन पूर्वक, पिता ने कहा है कि, वही सत्य सबका मूल कारण है, इससे

वही सत्य है, उसी के ज्ञान से सबका ज्ञान होता है; परन्तु भूमि से बाद में उसके कारण को समझो। फिर भूमि के कारण के करण (हेतु) को समझो, इस प्रकार परम्परा से सबके मूल कारण को समझो, और उस परम सूक्ष्म कारणरूप ही यह सब जगत है, क्योंकि वही सत्य है, वही सबकी आत्मा है। "तत्त्वमसि श्वेतकेतो" हे श्वेतकेतो! तुम भी वही सत्यात्मा हो अर्थात् तेरी आत्मा भी वही सत्य है, इत्यादि। इसी अर्थ को फिर भी पूछने पर कैक बार समझाया है ॥१॥

(२)

छान्दोग्य के अ० ७ में कथा है कि—ज्ञान प्राप्ति के लिये नारदजी सनत्कुमार जी के पास में गये हैं। और उपदेश सुनाने को कहा, तब सनत्कुमारजी ने कहा कि, आत्म-विषयक जो कुछ आप जानते हो सो कहो, उसके बाद आपके अज्ञात विषय को मैं कहूँगा। तब नारदजी ने सब वेद इतिहास पुराणादि का वर्णन किया है कि, इन सब विद्याओं को मैं जानता हूँ, परन्तु मन्त्रादिरूप वाक्यों को ही जानता हूँ, आत्मा को नहीं जानता हूँ, क्योंकि आप ऐसे महापुरुषों से सुना हूँ कि, आत्मज्ञानी शोकरहित हो जाता है। "तरति शोकमात्मवित्" और मैं अज्ञानी होने से सोचता हूँ, ताप-युक्त हूँ, आप मुझे शोक से पार कीजिये। तब सनत्कुमारजी ने वेदादि को नाम (शब्द) रूप बताकर, क्रमशः सूक्ष्म पदार्थों को बताते हुए अन्त में ब्रह्म को सुखस्वरूप भेद रहित बताया है। सर्वत्र व्यापक आत्मा को कहा है, उससे अन्य को विनश्वर तुच्छ कहा है, इत्यादि ॥२॥

(३)

नारदीय पु० अ० ३३ में कथा है कि—नारदजी ने सनकजी से पूछा है कि, किस कर्म से योगियों के योग की सिद्धि होती है। तब सनकजी ने उत्तर दिया कि, तत्त्व के चिन्तन करने वालों ने उत्तम मोक्ष की प्राप्ति ज्ञान से कहा है और वह ज्ञान भक्तिजन्य होता है। और सुकर्मवालों को भक्ति प्राप्त होती है। हजारों जन्मों में दान यज्ञादि विविध कर्म जिसने किया है, उसी को हरि में भक्ति होती है। भक्ति के लेशमात्र से भी अक्षय परम धर्म होता है। उत्तम श्रद्धा से सब पाप नष्ट होता है। सब पापों के नष्ट होने पर बुद्धि निर्मल होती है, वही बुद्धि विद्वानों से ज्ञान शब्द से कही जाती है, ज्ञान मोक्षप्रद कहा गया है। और वह ज्ञान योगी को होता है। क्रियायोग बिना ज्ञान नहीं होता है। इससे मन वचन कर्म से परपीड़ा

रहित होकर, विभु विष्णु की पूजा भक्ति सहित करें। और अहिंसा, सत्य, अक्रोध, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, अनीर्ष्या-दया, ज्ञानयोग, और कर्मयोग दोनों के साधक हैं। सबके आत्मा विष्णु हैं, ऐसा समझ करके ही योगाभ्यास करें। अपने समान सब प्राणी को मानने वाले ही विष्णु के प्रभाव को जानते हैं। यदि क्रोधादि से दुष्ट मनवाला देवपूजा करता है, तो उससे विष्णु प्रसन्न नहीं होते हैं, जिससे वह धर्मपति कहलाते हैं। कामादि से दुष्ट मनवाला दम्भी यदि पूजा करता है, तो वह व्यर्थ है। तिससे शमदमादि साधनों में तत्पर होकर, सर्वात्मा विष्णु की पूजा करे, मन वचन कर्म से सबके हित में रत रहे, सोई क्रियायोग (कर्मयोग) कहा जाता है, ॥३॥

(४)

योगवाशिष्ठ प्रकरण २ सर्ग एक में कथा है कि—शुकदेव जी अपने से ही परम तत्त्व को समझे थे। परन्तु अपने विचार में विश्वास नहीं होने से, व्यास जी से पूछा कि, यह संसाराडम्बर कैसे उत्पन्न हुआ है, कैसे नष्ट होता है इत्यादि। तब व्यास जी ने यथार्थ अमलतत्व का उपदेश दिया और संसार को कल्पित (मिथ्या) बताया, तब स्वयं ज्ञात इस उपदेश में भी शुकदेवजी को पूर्ण विश्वास नहीं हुआ। तब व्यास जी पुत्र के अभिप्राय को समझ कर बोले कि, मैं वेद्य वस्तु को तत्त्वतः नहीं जानता हूँ, राजा जनक तत्त्वतः जानते हैं, उनके पास जा। तब सुमेरु पर्वत पर से शुकदेव जी जनकपुर पहुँचे। तब उनके वैराग्यादि की परीक्षा करके, जनक जी ने पूछा कि—

'निःशेषितजगत्कार्यप्राप्ताऽखिलमनोरथः।
किमीप्सितं तवेत्याशु कृतस्वागतमाहृतम् ॥'

आपने सब जगत् के कार्य को समाप्त किया है, सब मनोरथ प्राप्त किया है, आपको जो ईप्सित है, सो शीघ्र कहो; स्वागत करके ऐसा जनक जी ने कहा, शुकदेव जी बोले कि—

'संसाराडम्बरमिदं कथमभ्युत्थितं गुरो।
कथं प्रशममायाति यथावत्कथयाऽऽशु मे ॥'

इस प्रश्न का जो उत्तर व्यास जी ने दिया था, सोई उत्तर जनक जी ने भी दिया। तब शुकदेव जी बोले कि, इस तत्त्व को मैं स्वयं विवेक से समझा था, पिताजी भी यही कहा, आप भी यही कहते हो, शास्त्र भी यही कहता है कि,

'यथाऽयं स्वविकल्पोत्थः स्वविकल्पपरिक्षयात् ॥
क्षीयते दग्धसारोऽयं निःसार इति निश्चयः ॥

जनक जी बोले कि,

अविच्छिन्नचिदात्मैकः पुमानस्तीह नेतरत् ।
स्वसंकल्पवशाद्बद्धो निःसंकल्पश्च मुच्यते ॥
व्यासादधिक एवाहं व्यासशिष्योऽसि तत्सुतः ।
भोगेच्छातानवेनेह मत्तोप्यत्यधिको भवात् ॥' इत्यादि ॥४॥

(५)

देवी भागवत स्कन्ध १ अ० १० अ० १४ आदि में कथा है कि—कलविंक पक्षी के पुत्र स्नेहजन्य आनन्द को देखकर, पुत्र के लिए सौ वर्ष तप करने के बाद, अग्नि के लिए अरणि मन्थन व्यास जी करते थे और उसी समय घृताची नामक अप्सरा आई, उसे देखकर व्यास जी कामातुर हुए। इन्हें काम से मोहित जानकर अप्सरा शुकी रूप होकर वहाँ से चली गई, तो भी काम को नहीं रोक सके। उस अरणि (लड़की) में ही वीर्य गिरा, उससे सुकदेव जी का जन्म हुआ, और वृहस्पति से शास्त्रों का अध्ययन किये। जनक जी के कहने से विवाह भी किये, परन्तु फिर योग में स्थिर होकर पिता को भी त्याग दिये। तब पुत्र के वियोग से अत्यन्त शोकातुर व्यास जी को देखकर छाया शुकदेव बनाकर नारदजी ने व्यास जी को शान्त किया, इत्यादि !

यही कथा महाभारत शान्तिपर्व अ० ३२३ और ३२४ में कुछ भेद से है। कथा है कि—मेरुपर्वत के शृङ्ग पर पार्वती सहित शिव जी विचरते थे, और वहाँ ही व्यास जी उत्तम पुत्र के लिए तप करते थे। वे शिवजी की आराधना करते थे, तब प्रसन्न होकर शिव जी बोले कि, आकाश वायु के तेजादि के समान तेरा पुत्र होगा। बर पाने पर अरणि मन्थनादि की कथा पूर्व समान ही है। शुकदेव जी के जन्म होने पर, उन्हें महा तेजस्वी देखकर, गंगापानी से तर्पण किया और देव ऋषि लोक भी यथायोग्य स्तुति सत्कारादि किये। अ० ३२५ में है कि, मोक्ष के विचार से शुकदेव जी व्यास जी के पास गये तब व्यास जी ने उन्हें राजा जनक के यहाँ भेज दिया। वहाँ ज्ञान की प्राप्ति करके शुकदेव जी फिर उत्तराखण्ड को

ही पधारे। और अ० ३२९ इत्यादि में है कि, नारद जी के उपदेश से योगाभ्यासादि किये, इत्यादि। नारदीय पु० पूर्व सं० अ० ५८ में भी यह कथा है ॥५॥

(६)

याज्ञवल्क्य और जनक का संवाद बृहदारण्यकोपनिषद् अ० ४ में है। प्रथम अ० ३ में कथा है कि—राजा जनक बहुत दक्षिणावाला 'अश्वमेध' (राजसूय) यज्ञ से यजन किये, उसमें कुरु पंजाब के बहुत ब्राह्मण एकत्रित हुए। राजा को जानने की इच्छा हुई कि, इनमें कौन अतिशय विद्वान् हैं। इसे समझने के लिए गौओं के एक सिंग में पाँच पाद सुवर्ण ढलाकर हजार गौ उनके सामने गोष्ठ में रखवाये, और प्रणामपूर्वक बोले, कि आप सब भगवान्‌रूप ब्राह्मण हैं; परन्तु जो आप में अतिशय ब्रह्मनिष्ठ हैं सो इन गौओं का ग्रहण करें। कोई जब उनके लिए नहीं प्रवृत्त हुआ, तब याज्ञवल्क्य जी ने शिष्य को कहा कि, इन गौओं को ले चलो। फिर अन्य ब्राह्मण सब अपना अपमान समझ कर बहुत विवाद, प्रश्न किये, परन्तु सब याज्ञवल्क्य जी से पराजित हुए, और यथायोग्य उत्तर पाये।

यह कथा वायु पु० अ० ६० में भी है। याज्ञवल्क्य जी ने सबका उत्तर दिया है, और याज्ञवल्क्य जी के प्रश्न का उत्तर कोई नहीं दे सका, गार्गी ने प्रश्न करके याज्ञवल्क्य जी के महत्त्व को समझ कर ब्राह्मणों को समझाया कि कोई इनसे विवाद नहीं करो, तौ भी शाकल्य ने बहुत प्रश्न किये, मुनि ने उत्तर दिया, और मुनि का एक प्रश्न का भी शाकल्य उत्तर नहीं दे सका, जिससे उसका शिर फट गया; क्योंकि ऐसा ही नियम करके मुनि ने प्रश्न किया था, यदि इसका उत्तर नहीं दोगे तो शिर फटेगा। 'स एष नेति नेत्यात्मा' इत्यादि मुनि का कथन है। अन्त में 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' यह सबको समझाया है। इसके बाद चतुर्थ अध्याय में कथा है कि—याज्ञवल्क्य जी स्वयं राजा के यहाँ गये हैं और उनके प्रश्न के अनुसार समझा कर अंत में स्वयं प्रकाश असङ्ग आत्मा का वर्णन किया है। शरीरी जीव के कर्मादि के अनुसार गति बताकर, निष्काम ज्ञानी की मुक्ति का वर्णन किया। भेद रहित आत्मा मन से समझने योग्य है। आत्मा में भेद मानने वाला बार २ मृत्यु पाता है। भेद रहित आत्मा को समझने के लिए शमदमादि साधन हैं, इत्यादि उपदेश देकर कहा है कि, यह आत्मा ही अजर अमर अमृत अभय ब्रह्म हैं, जो इस प्रकार

जानता है, सो अभय ब्रह्म ही होता है। महाभारत शान्तिपर्व अ० ३१० से ३१८ तक याज्ञवल्क्य जनक का संवाद है कि, जिसमें सांख्ययोग की रीति से तत्त्वादि का वर्णन है। और अ० ३१८।७६ का श्लोक है कि, 'स निमज्जति कालस्य यदैकत्वं न बुध्यते। उन्मज्जति हि कालस्य समत्वेनाभिसंवृतः।।' कालस्य (कालेन) काल से वह डूबता है कि जब एकता को नहीं समझता है। और वह काल से उबरता है जो समता से युक्त रहता है, इत्यादि ।।६।।

(७)

दत्तात्रेय जी की कथा मार्कण्डेय पुराण अ० १६ आदि में है कि—प्रतिष्ठानपुर में कोई कौशिक नामक ब्राह्मण था। सो पूर्व जन्म के पाप से कुष्ठ रोगवाला था, क्रोधी था। परन्तु उसकी स्त्री पतिव्रता थी, सब प्रकार से सेवा आज्ञा पालन करती थी। उस कामी ब्राह्मण नें एक दिन किसी वेश्या को देखा और रात्रि के समय वहाँ जा नहीं सकता था, तब स्त्री से कहा कि, मुझे वेश्या के पास पहुँचावो, कम से कम मैं उसे देखूँगा, वह मुझे देखेगी। यह सुन कर पतिव्रता पति को काँधे पर लेकर चली, और माण्डव्य नामक ऋषि चोर न होते भी चोरपन की शंका से राजा द्वारा शूली पर चढ़ाये गये थे। सो उसी रास्ते में जीवनयुक्त कष्ट में थे। रात्रि के समय अन्धकार होने से उस पतिव्रता के पति का पैर उनके देह में लग गया। तब माण्डव्य शाप दिये कि, जिसका पैर लगा है, सो सूर्य को देखते ही मर जायगा, पतिव्रता बोली कि सूर्य उदय ही नहीं होगा कि मेरा पति मरेगा। फिर सूर्योदय नहीं होने से सदा रात्रि रहने लगी, यज्ञादि कर्म बन्द हो गये, तब देव सब चिन्ता युक्त हुए। तब प्रजापति ने कहा कि, एक तेज दूसरा तेज ही से शान्त होता है, इससे अत्रिमुनि की स्त्री पतिव्रता अनसूया से ही फिर सूर्योदय होगा। इस बात को सुनकर देव सब अनसूया से प्रार्थना किये, तब अनसूया उसे समझाया कि, दिन होने बिना देवताओं में घबड़ाहट है, सूर्योदय होने दो, मैं तेरे पति को जिवित कर दूँगी। उसने स्वीकार किया, तो अनसूया की स्तुति से सूर्योदय हुआ और उसका पति मर कर फिर जिवित हुआ। इसके बाद ब्रह्मा आदि त्रिदेव अनसूया के पास आकर वर माँगने के लिये कहे तो अनसूया ने कहा कि, आप तीनों मेरा पुत्र होवें, यही मेरी इच्छा है। फिर ब्रह्मा चन्द्रमा हुए, विष्णु दत्तात्रेय हुए, शिव दुर्वासा हुए। यही चन्द्रमा गुरुपत्नी से बुध को उत्पन्न किया, और दत्तात्रेय जनसंघ को छोड़ कर, जल में रह

कर तप करने लगे। परन्तु उनके साधु स्वभाव से ब्राह्मणों के बालक वहाँ भी साथ नहीं छोड़ते थे, तब मायामयी एक स्त्री को साथ में लिये जल से निकले, तौ भी साथ नहीं छोड़ने पर कल्पित मदिरा पीने लगे तब सब साथ छोड़ दिए, इत्यादि। दत्तात्रेय की ही उपासना से सहस्रार्जुन सिद्धि पाया था। तथा मन्दालसा के चौथा पुत्र अलर्क इनके उपदेश से ज्ञानयोग पाया था, इत्यादि। इस कुष्ठी और पतिव्रता की कथा, ब्रह्म पु० खं० १। अ० ५३ में अन्य रूप से हैं। वहाँ अनसूया का वहाँ जाने की कथा नहीं है, किन्तु ब्रह्मा आदिक ही उसे समझाये थे और कुष्ठी के मरने पर दिव्यरूप से उसे जीवित किये थे, इत्यादि॥

भविष्य पुराण, पर्व ३ अ० १७ में कथा है कि—अनसूया सहित अत्रि-ऋषि तप करते थे, तब ब्रह्मा आदि तीनों देव ऋषि से वर मागने के लिये कहने गये। ऋषि कुछ नहीं बोले, तब उनकी स्त्री के पास जाकर तीनों देव कुछ कुचेष्टा करते हुए, रति के लिये कहे और बलात्कार करना चाहे। तब ऋषि पत्नी ने शाप दिया कि, तुम तीनों मेरा पुत्र होगे और तपोबल से तीनों को पुत्र बनाया।

'महादेवस्य वै लिङ्गं ब्रह्मणोऽस्य महच्छिरः।
चरणौ वासुदेवस्य पूजनीया नरैः सदा॥
भविष्यति सुरश्रेष्ठा उपहासोऽयमुत्तमः।'

यह अनसूया देवी की उक्ति है। यहाँ भाव है कि, सात्त्विक विष्णु का अवतार महापतिव्रता का पुत्र दत्तात्रेय महाविरक्त ज्ञानी थे, इससे (दत्तात्रेय वही रस स्वादा) उक्ति उचित ही है। और माण्डव्य ऋषि की कथा स्कन्द पु० खं० ५-३ अ० १९८ में है कि—किसी राजा के द्रव्य चोरा के चोर सब माण्डव्य ऋषि के आश्रम में छिपे थे, राजपुरुष सब आकर ऋषि से पूछा, तब ऋषि कुछ उत्तर नहीं दिये, इससे चोर सहित ऋषि को पकड़ ले गये। फिर ऋषि को भी राजा शूली पर चढ़ा दिया; परन्तु योग तप के प्रभाव से शीघ्र प्राणत्याग नहीं हुआ, तब राजा शूली पर से उतारा और क्षमा माँगा, बाद में ऋषि का शरीर छूटा, इत्यादि।

(८)

वशिष्ठ और राम मिलकर जो कथा गाये, उसका बीजमात्र योगवाशिष्ठ में इस प्रकार है कि—श्रीरामचन्द्र जी विद्यागृह (गुरुकुल) में सब विद्याओं

का अध्ययन करके घर आये और वहाँ आकर तीर्थयात्रा के लिये श्री दशरथ जी से आज्ञा माँग कर, शुभ दिन में भाइयों के सहित यात्रा किये और सब दिशाओं में बार-बार विचरे और सब पृथिवी को देखकर घर आये। सुखपूर्वक घर में रहने लगे। बाद में भरत जी मामा के पास रहने लगे और लक्ष्मण शत्रुघ्न सहित रामजी घर रहने लगे। और विराग की भावना से चिन्तित दुःखी कृश हो गये। उस समय सोलह वर्ष से कम ही उमर थी, चिन्ता दुःख के मारे शारीरिक व्यवहार, नित्य कर्मादि से भी उपराम के समान हो गये कि, जिससे उनके माता-पिता सब चिन्तित हुए और पूछने पर भी दुःख का कारण नहीं बताते थे। तब दशरथ जी ने श्रीवसिष्ठ जी से पूछा कि, राम के दुःख का क्या कारण है ? वसिष्ठ जी ने सोच विचार कर कहा कि, हे राजन् ! इसमें भारी कारण है, अल्प कारण से सन्त लोग हर्ष विषादादि के वश नहीं होते हैं; परन्तु आपको दुःख की कोई बात नहीं है। इस वचन को सुनकर दशरथ जी चुप होकर दुःख सहित समय बीताने लगे और सुख समय की प्रतीक्षा करने लगे। इसी समय में यज्ञ में उपद्रव करनेवाले राक्षसों से विघ्नयुक्त महर्षि विश्वामित्र जी यज्ञ रक्षा के लिये राजा के पास आये कि, राक्षसों से यज्ञ की रक्षा किया जाय। श्री दशरथ जी ने श्री विश्वामित्र जी की पूजा आदि करके पूछा कि, श्रीमान् किस कार्य के लिये आये हैं, सो आप कहें, मैं अवश्य करूँगा, आप महामान्य महर्षि हैं, इत्यादि। तब विश्वामित्रजी हर्षयुक्त होकर बोले कि, आपका यह वचन उचित ही है। और कार्य मेरा यह है कि, सिद्धि के लिये मैं यज्ञ करता हूँ, उसमें राक्षस विघ्न करते हैं। और यह कर्म ऐसा है कि, इसमें शाप देना उचित नहीं है। आपकी सहायता से यह यज्ञ पूर्ण हो सकता है और आपका बड़ा पुत्र राम राक्षसों का नाश करनेवाले हैं, उन्हें ही मुझे आप दो। हमसे रक्षित होकर वही राक्षसों का नाश करेंगे। और मैं भी उनका बहुत कल्याण करूँगा कि, जिससे वे तीनों लोक में पूज्य होंगे, इत्यादि। राजा दशरथ इस बात को सुन कर, एक मूहूर्त निश्चेष्ट दुःखी होकर बोले कि—बालक राम अभी युद्ध योग्य नहीं हैं, अन्य मन्त्री योद्धा हैं, उन्हें ले जाइये। इनके सहित मैं इन्द्र से भारी योद्धाओं के साथ युद्ध करूंगा। और बालक राम अभी क्या करेंगे। और दूसरी बात है कि, इस समय राम स्वयं कृश दुःखी हैं। राक्षसों के साथ युद्ध करना बड़े बलियों के लिए भी कठिन है, इससे मैं राम को नहीं दूँगा, इत्यादि इस बात को सुन कर श्री विश्वामित्र क्रुद्ध हुए, जिससे हलचल हो गया। सो देखकर श्री वसिष्ठ

जी ने विश्वामित्रजी के प्रभावादि को श्री दशरथजी के प्रति समझाकर, उन्हें देने में लाभ समझाया, तब उनसे राम लक्ष्मण दोनों भाई बुलाये गये। प्रतिहार बोलाने गया, थोड़ी देर में आकर, रामजी के विषाद को सुनाया। फिर विश्वामित्रजी बोले, कि यदि ऐसी बात है तो रघुनन्दन को आप सब यहाँ शीघ्र लाओ। यह रघुपति का मोह आपत्ति रागादि से नहीं है। यहाँ आने पर हम सब क्षणभर में मोह को दूर कर देंगे कि जिससे मोह रहित सुखी होकर अपना व्यवहार करेंगे। तब दशरथजी ने दूत को भेजा, तबतक रामजी स्वयं भाइयों के सहित घर से चल चुके थे। आकर पिता और मुनियों को प्रणाम करके, भूमि में बिछाये हुए कपड़े पर बैठ गये। तब श्री दशरथजी बोले, कि तुम विवेकी हो दुःखी नहीं होवो; तुम्हारे समान लोक वृद्ध विप्र गुरु से कथित पवित्रस्थान को पाते हैं, इत्यादि। श्री वसिष्ठजी बोले, कि तुम वीर हो, कठिन विषय-शत्रुओं को जीते हो। अज्ञ तुल्य मोहसागर में क्यों डूबे हो? विश्वामित्र जी बोले, चित्तकृत नेत्र की चंचलता को त्याग कर कहो कि, किन हेतुओं से किन विषयों में कैसे तुम मोहित हो, इत्यादि। कहने से तुम अपना अभिमत इष्ट शीघ्र पावोगे। इस उचितार्थयुक्त वचन को सुनकर, रामचन्द्रजी ने दुःख को त्याग दिया और आश्वासन पाकर बोले कि हे भगवन्! आपके पूछने पर मैं अज्ञ भी इस समय सब कहूँगा। सत् पुरुष के वचन का उलंघन कौन करेगा। ऐसा कहकर रामचन्द्रजी ने संसार के दुःख लक्ष्मी जीवनादि के दोषों का वर्णन किया। और पूछा कि, कौन वह स्थिति का स्थान है, जहाँ शोक नहीं है, जीवन्मुक्त कैसे रहते हैं, इत्यादि। तब विश्वामित्र जी ने कहा कि, तुम स्वयं सूक्ष्मबुद्धि से सब बात जानते हो, केवल परिमार्जन मात्र की जरूरत है, इत्यादि। और फिर कहा कि, रघुवंशी के कुलगुरु श्रीवसिष्ठजी इनके चित्त की विश्रान्ति के लिये युक्त बातें कहें, इत्यादि। तब वसिष्ठजी महाराज विचारादि के लिए उपदेश देकर एकात्मा का उपदेश अनेक युक्तियों से दिया। और कहा कि, सांख्यवादी के मत में जो पुरुष है, योगवादी के मत में जो ईश्वर है; इसी प्रकार जो तत्तन्मत में काल शिवादि हैं, सो सब आत्मज्ञानी के आत्मा हैं ॥८॥

(९)

श्री कृष्णजी उद्धवजी को जो समझाया है, सो कथा श्रीमद्भागवत स्कन्ध ११ अ० २७-२८ में है। उद्धव के पूछने से अध्याय २७ में क्रिया-

योग का वर्णन किया है, कि जिसमें वैदिक तान्त्रिक मन्त्रों द्वारा द्विजों के कर्तव्यरूप पूजा का कथन किया है। और मूर्ति देव प्रतिष्ठा आदि के फल बताया है। अ० २८ में कहा कि प्रकृति और पुरुष के साथ विश्व को एक स्वरूप देखता हुआ दूसरे के स्वभाव कर्म की प्रशंसा निन्दा नहीं करे; क्योंकि जो दूसरे के कर्म स्वभाव की प्रशंसा निन्दा करता है सो असत्य में अभिनिवेश से अपने स्वार्थ से गिर जाता है। निद्रा से प्राप्त तैजस में जैसे शरीरस्थ पुरुष मिथ्या स्वप्न देखता है नष्ट चेतनतावाला मूर्छित प्राणी माया वा मृत्यु को प्राप्त होता है। तैसे ही नाना अर्थ को सत्य देखने वाला संसार स्वप्न को माया मरण को प्राप्त होता है। अवस्तु (मिथ्या) द्वैत का कितना कौन वस्तु भद्र (शुभ) है और कितना कौन अभद्र है; क्योंकि जो वचन से कहा जाता है, मन से ध्यात है, सो मिथ्या है। और छाया के व्यापारादि तुल्य भ्रमरूप असत् है, तो भी संसार में कार्य करनेवाला है। ऐसे ही देहादि असत् होते भी मरण मोक्ष पर्यन्त भय देते हैं। वस्तुतः आत्मा ही माया द्वारा विश्वरूप से प्रगट होता है, प्रभु होकर प्रगट करता है, रक्षित होता है, रक्षा करता है; वही विश्वात्मा हरा जाता है, ईश्वर होकर हरता है। तिससे आत्मस्वरूप सृज्यादि से भिन्न अन्य कोई पदार्थ निरूपित (सिद्ध) नहीं हो सकता। अध्यात्मादि पदार्थों की प्रतीति भी आत्मा में मिथ्या ही है। इसे मायाकृत समझो। मुझसे वर्णित इस ज्ञान विज्ञान की निपुणता को जाननेवाले, किसी की निन्दा स्तुति नहीं करते हैं। किन्तु लोक में सूर्य के समान असङ्ग होकर विचरते हैं। इसलिये प्रत्यक्ष अनुमानागमादि से, अपने विवेक से आदि अन्तवाली सब वस्तु को असत् जान कर, यहाँ असङ्ग होकर विचरे।

फिर उद्धवजी ने पूछा है कि स्वयंप्रकाश द्रष्टा आत्मा को वा अनात्म दृश्य देह को जन्म दुःखादि संसार नहीं है, फिर किसको है, जो दीखता है। अव्यय निर्गुण स्वयंप्रकाश अनावृत्त आत्मा है सो अग्नि तुल्य है कि, जबतक देहेन्द्रिय प्राण के साथ अध्यासिद्ध संबन्ध आत्मा को है तबतक अविवेकी को मिथ्या संसार भी सफल है, सो स्वप्न समान है। सत्य अर्थ के नहीं रहते भी विषयों के ध्यान करनेवालों का संसार नहीं निवृत्त होता है, कि जैसे स्वप्न में अर्थ बिना भी अनर्थ की प्राप्ति होती है। जागने से स्वप्न की निवृत्ति के समान आत्मज्ञान से सब अनर्थों की निवृत्ति होती है, इत्यादि ॥९॥

राजा जनक का विदेह कहलाने की कथा, विष्णुधर्मोत्तर पुराण खण्ड १ अ० ११७ में है कि—निमि नामक राजा के पहले वसिष्ठजी पुरोहित थे। राजा के निरन्तर याग से उपराम होकर विश्राम करना चाहते थे। और राजा यज्ञ कराने को कहा तब ऋषि ने विश्राम लेने को कहा। फिर राजा बोला कि, पारलौकिक कर्म में समय की प्रतीक्षा उचित नहीं है, इससे यदि आप नहीं यज्ञ करा सकते हैं, तो अन्यं पुरोहित बनाकर, उनके द्वारा यज्ञ करूँगा। इस बात को सुनकर वसिष्ठजी ने शाप दिया कि, श्रान्त मुझको छोड़कर अन्य पुरोहित करना चाहते हो, इसमें तुम विदेह हागे (मरोगे)। फिर निमि भी शाप दिया कि, धर्मकार्य में विघ्न करते हो और दूसरा पुरोहित भी नहीं चाहते हो, इससे तुम भी विदेह होगे। फिर विदेह होकर दोनों ब्रह्माजी के पास गये। तब ब्रह्माजी ने निमि को सब जीवों के नेत्रों में वास दिया। और वसिष्ठजी फिर मित्रावरुण के पुत्र हुए, इत्यादि। देवी भागवत स्कन्ध ६ अ० १५ में भी यह कथा है कि-वसिष्ठजी के शाप से निमि राजा विदेह हुए, और इससे उनके वंशज विदेह कहाये, इत्यादि। तो भी जनकजी में ज्ञान के प्रभाव से देहाभिमान के अभाव से उनमें विशेष विदेहता का वर्णन किया है। और उनके ज्ञान का प्रभाव शास्त्र तथा लोक में भी प्रसिद्ध है, इत्यादि ॥१०॥

(रमैनी १३ के अन्तर्गत)

'मुये गये की' कथा कठ उपनिषद् में है कि प्राणी के यह आत्मा मारने से नहीं मरता है, न जन्मता मरता है, यह अज नित्य है, तो भी उपाधि से भिन्न के समान होकर छाया और आतप के समान विलक्षण हुआ है। शरीररूप रथ के स्वामी हैं, जिसमें बुद्धि सारथी है, मन लगाम है, इन्द्रिय घोड़े हैं, विषय सड़क है। अज्ञानी के इन्द्रियाँ वश में नहीं रहती हैं, इससे मरने पर संसार मे कर्मादि के अनुसार प्राप्ति होती है। विज्ञानी इन्द्रियों को वश में करके संसार मार्ग के अन्त तक पहुँचता है, इत्यादि ॥१॥

(रमैनी १४ के अन्तर्गत)

(१)

वामन अवतार की कथा विष्णु धर्मोत्तर पुराण खं० १ अ० २१ में है कि—प्रथम स्वायंभुवः मन्वन्तर में विश्वभुग् देवेन्द्र हुए। उनके दायाद बन्धु घोर असुर सब हुए। और उन असुरों के राजा बाष्कलिनामा असुर

हुआ, सो इन्द्र के राज्य को बलात्कार से हर लिया। तब इन्द्र ब्रह्मा जी के शरण में गये। ब्रह्मा जी इन्द्र सहित विष्णु भगवान् के शरण में गये और सब वृत्तान्त सुनाये। तब भगवान् बोले, कि मैं इन्द्र के राज्य को लौटाऊँगा, आप अपने लोक में जाइये। मैं वामनरूप से वाष्कलि के पास जाऊँगा। तब वह मुझे देखकर विस्मित होगा। उसी समय इन्द्र भी जाकर उससे याचना करें, कि हे वाष्कले! मेरा तीनों लोक तुम बल से हर लिये हो तहाँ इस अति लघु वामन के पैर से तीन पग भूमि मुझे अग्नि स्थापन के लिये शीघ्र दो। इस प्रकार इन्द्र के कहने पर वह अवश्य तीन पग भूमि देगा। ऐसा कहने पर ब्रह्माजी अपने घर गये। भगवान् वामन रूप से वाष्कलि के पास गये। वह भगवान् को देखकर आश्चर्य में था ही कि, इन्द्र भी पहुँचे। वाष्कलि ने इन्द्र का सत्कार किया, आगमन का कारण पूछा, तब इन्द्र बोले, कि दूसरी की भूमि में नहीं रहना चाहता हूँ, इससे अग्निस्थापन के लिये इस वामन के पद से तीन पाद भूमि मुझे दो। वाष्कलि ने कहा, कि अच्छा, इसके तीन पाद में आप सुख से रहो। फिर भगवान् ने बढ़कर तीनों लोक का ग्रहण किया, इत्यादि।

यही कथा पद्मपुराण में कुछ भेद से है। यहाँ सं० १ अ० ३ में अदिति के गर्भ से भगवान् के प्रादुर्भाव का वर्णन है। और मत्स्यपुराण अ० २४४ इत्यादि में भी यह कथा है। वहाँ भी अदिति के गर्भ से प्रगट होने का वर्णन है, और विरोचन के पुत्र बलि से इन्द्र के राज्य को लौटाया है, इसी से कबीर साहब भी कहते हैं कि,

'वामनरूप छल्यो बलिराजा'

श्रीमद्भागवत अष्टम स्कन्ध अ० १८ में भी वामन भगवान् का जन्म अदिति देवमाता से ही लिखा है। असुरों से अपने पुत्रों का राज्य हरण होने पर अदिति दुःखी हुई और अपने पति से दुःख की बात सुनाई, तब उन्होंने एक व्रत बताया कि, जिससे विष्णु भगवान् अदिति को दर्शन दिये और उसके गर्भ से अवतार लेकर बलि के यज्ञ में गये। और स्वयं अ० १९ में तीन पाद भूमि माँगा है। फिर बलि ने और माँगने के लिये कहा है, तब भगवान् ब्राह्मण के धर्म संतोषादि का वर्णन किये हैं, तब बलि देने के लिये वचन दे चुका। उसके बाद उसके गुरु कहने लगे कि, ये देव के पक्षपाती विष्णु हैं, दो पग में ही सब लोक ले लेंगे, तीसरे पग के लिये क्या गति है। तुम्हें महादुःख होगा, नहीं दो। सोच विचार कर बलि ने

कहा कि, झूठ से बड़ा कोई पाप नहीं है अतः सब दुख का सहना स्वीकार है परन्तु न नहीं कह सकते हैं। इसके बाद गुरु शाप दिये, तो भी बलि ने दान दिया। भगवान् दो पैर से सब संसार ले लिये, एक पैर से उसका देह लिये, सुतल लोक में प्रसन्नतापूर्वक भेज दिये। इन्द्र को स्वर्ग में स्थिर किये, इत्यादि।

विष्णु धर्मोत्तर पुराण खं० १ अ० ५५ में वामन अवतार की कथा है कि—नरसिंह भगवान् जब हिरण्यकश्यप को मार दिये, तब प्रह्लाद के पौत्र विरोचन के पुत्र बलि उग्रतप करके सुरासुर में अजेयता का वर ब्रह्मा जी से पाकर, दैत्यों का राजा होने पर इन्द्र को पराजित करके स्वर्ग का राज्य करने लगा। तब इन्द्र कश्यप के शरण में गये कश्यप इन्द्र सहित ब्रह्मा जी के शरण में गये ब्रह्मा के कहने से भगवान् विष्णु के शरण में गये, तब भगवान् ने कहा कि मैं देवरूप होकर बलि को ठगूँगा। फिर कश्यप द्वारा अदिति के वामनरूप पुत्र भगवान् हुए। उसके बाद बलि राजा पालिग्राम में अश्वमेध यज्ञ करने लगा। तब वृहस्पति जी अपने बायें काँधे पर रखकर उन्हें यज्ञ में ले गये। ब्रह्मपुराण की रीति से आप गये और भगवान् यज्ञ की स्तुति किये। धर्मात्मा बलि सुन्दर स्वरूप भगवान् को यज्ञ स्थान में ले गया। वहाँ जाकर भगवान् ने तीन पाद भूमि माँगा फिर बलि ने गुरु के रोकने पर भी प्रदान किया, तब बढ़ कर तीनों लोक का ग्रहण किये और दानवों को मार डाले, बलि को पाताल में रहने का हुक्म दिये, इत्यादि ॥१॥

(२)

हंसाऽवतार की कथा विष्णुधर्मोत्तर पुराण खण्ड २ अ० २२६ में है कि—कृतयुग (सत्ययुग) में प्रजा ज्ञाननिष्ठ थी, समर्थ प्रभुत्व युक्त थी। फिर कृतयुग के अन्त में परिग्रह में प्रवृत्त हुई, जिससे लोभ द्वेषादि की उत्पत्ति होने पर विवेक ज्ञान लुप्त हो गया। तिससे धर्म का नाश हुआ, धर्म का नाश होने से लोक भी नष्ट हुआ फिर नष्ट होता हुआ लोक को देखकर भगवान् हंस रूप होकर भूमि में विचरने लगे। किसी देश में ऋषियों को भी ज्ञान बिना मोहयुक्त चिन्तायुक्त देखकर, उसने कुशल पूछा। ऋषि लोग बोले कि, ज्ञान के बिना कुशल कैसे हो। हंस भगवान् बोले कि, मैं ज्ञान दूँगा। ऋषि लोक बोले कि, ज्ञान के नाश से सब संसार का नाश न हो जाय, इसलिये ज्ञान देकर सबकी रक्षा करें। और अपने

स्वरूप का भी परिचय दें कि, आप कौन हैं। तब भगवान् अपना परिचय देकर ज्ञ.न दिया। फिर ऋषिलोक शिष्यों को ज्ञान दिये, इत्यादि ॥२॥

(रमैनी २७ के अन्तर्गत)

ब्रह्मा विष्णु का ईश्वरत्व के लिये विवाद और शिवलिङ्ग की प्रगटता की कथा अनेक प्रकार की है। भविष्य पुराण खं० १ अ० १५३ में कथा है कि—कल्प के आदि में सृष्टि पालन करते हुए ब्रह्मा विष्णु शिव तीनों को अभिमान हुआ कि, मैं ही महान् हूँ।

"विवादस्तु महानासीत्कञ्जाम्बुनगौकसाम्।
अहं कर्ता विकर्ताऽहं पालकोऽहं महाप्रभुः ॥"

कमलज (ब्रह्मा), अम्बु (जल) ओक (स्थान) वाला विष्णु, नग (पर्वत) स्थान वाला शिव को आपस में महान् विवाद हुआ कि, मैं ही कर्ता आदि हूँ, इतने में मोह अज्ञान रूप तम का प्रवेश हुआ तब ब्रह्मा आदि व्याकुल हुए। फिर दर्प नष्ट होने पर, सूर्य स्वरूप ज्ञान प्रकाश प्रगट हुआ। उसका अन्त खोजने के लिए ब्रह्मा ऊपर गये, शिव नीचे गये, विष्णु चारो तरफ गये। पता नहीं लगने पर उस तेजःस्वरूप को प्रणाम करके स्तुति करने लगे। इत्यादि ॥१॥

लिङ्गपुराण अ० १७ में ब्रह्मा जी का कथन है कि,

"हिरण्यगर्भो रजसा तमसा शंकरः स्वयम्।
सत्त्वेन सर्वगो विष्णुः सर्वात्मत्वे महेश्वरः ॥"

ब्रह्मा जी ने कहा है कि, इस कमलेक्षण विष्णु को सोया हुआ देख कर हाथ से मार कर मैंने पूछा कि, तुम कौन हो, तब जाग कर मुझे देखकर विष्णु बोले कि, वत्स पितामह, तेरा स्वागत है, तब मैंने कहा कि, जगत् कर्ता मुझको तुम पुत्र शिष्य के समान वत्स क्यों कहते हो। तब विष्णु बोले कि, मैं जगत् कर्ता धर्ता हूँ, तुम मेरे अंग से उत्पन्न हुए हो, परन्तु मुझे भूल गये हो, इत्यादि इसके बाद दोनों का युद्ध होने लगा, तब दोनों के सामने प्रकाशमय लिंग प्रकट हुआ, उसके तेज से विष्णु मोहित हो गये और हमसे बोले कि, इसकी परीक्षा करें मैं नीचे जाता हूँ, आप ऊपर जावो। वराह हंस रूप से ऐसा ही किया गया। नहीं पता लगाने से चिन्ताग्रस्त दोनों को समझाने के लिए, ओंकार और वेद प्रगट हुए, कि जिससे विष्णु और ब्रह्मा परमेश्वर को समझ सके। और स्तुति करने लगे, इत्यादि ॥

अ० १६ में है कि, शिव जी प्रसन्न और प्रगट होकर बोले हैं कि,

"त्रिधा भिन्नो ह्यहं विष्णो ब्रह्मविष्णुभवाख्यया।
सर्गरक्षालयगुणैर्निष्कलः परमेश्वरः॥" इत्यादि

अ० २० में ब्रह्मकल्प की कथा है कि—भगवान् विष्णु शेष पर सोये थे वहाँ दैव योग से ब्रह्मा आये विष्णु से बोले कि इस समुद्र में सोने वाला आप कौन हो। विष्णु अपने को जगत्-कर्ता बता कर, ब्रह्मा से पूछे कि–आप कौन हो। ब्रह्मा बोले कि, जैसे आप कर्ता हो वैसे ही मैं भी कर्ता हूँ। मेरे अन्दर सब संसार है देखो। फिर विष्णु ब्रह्मा के मुख द्वारा पैठकर, सब जगत् को देख कर बाहर निकल आये। और ब्रह्मा को अपने मुख में पैठने के लिये कहे। जब ब्रह्मा विष्णु के मुख द्वारा पैठे, तब विष्णु सब द्वारों को बन्द करके सो गये। फिर ब्रह्मा सूक्ष्मरूप होकर, विष्णु के नाभि कमल नाल से निकले। फिर दोनों को विवाद होने लगा। तब शिवजी आये, इत्यादि।

कूर्म पुराण अ० २५-२६ में कथा है कि—उपमन्यु के बताने से कृष्ण भगवान् पुत्र के लिये शिव जी की उपासना–तप किये; फिर प्रगट होकर शिव पार्वती वर दिये। उसके बाद भगवान् कृष्ण शिव जी के साथ कैलास गये, और वहाँ कुछ दिन ठहरे; फिर नारद जी के द्वारा पता लगने पर गरुड़ जी द्वारिका में लाये। तब भगवान् के दर्शन के लिए ऋषि लोक आये। वहाँ शिवलिङ्ग की पूजा करते हुए कृष्ण जी को देख कर मार्कण्डेय ऋषि ने उनसे पूछा कि, लिङ्ग क्या है? तब भगवान् ने कहा कि पहले एकार्णव काल में मैं महाविष्णु रूप में सोया था, इतने में चतुर्मुख ब्रह्मा को भी देखा, दोनों में ईश्वरता के विषय में विवाद होने पर एक लिङ्ग प्रगट हुआ और आकाश वाणी हुई कि, विष्णु नीचे जायँ, ब्रह्मा ऊपर जायँ। जो इसका पता लगा लेगा, सो ईश्वर होगा, वैसा ही करने पर दोनों को पता नहीं लगा। फिर शिव जी अपने जटिल वेष से प्रगट हुए और पालन सृष्टि के लिए आशीर्वाद दिये। स्वयं ब्रह्मा जी का पुत्र होने के लिए वर दिये, इत्यादि॥

शिवपुराण सं० १ अ० ६ इत्यादि में भी ब्रह्मा विष्णु का विवाद युद्ध का वर्णन है। भयानक युद्ध से घबड़ा कर देव सब शिवजी के शरण में गये हैं। तब शिव जी ने गणेशादि को युद्धस्थान में भेजा; परन्तु ये लोग कुछ कर नहीं सके। इन तीनों के अस्त्र से अग्नि उत्पन्न हुई, तब उस अग्नि को भी दबानेवाला ज्योतिर्मय शिव दोनों के मध्य प्रगट हुए।

उसे देख कर दोनों विचार किये कि, इसके आदि अन्त को समझना चाहिये, इत्यादि। अन्त नहीं पाने पर सत्य बोलने से विष्णु पूज्य हुए। और झूठ बोलने से ब्रह्मा अपूज्य हो गये, इत्यादि। उसके बाद सकुटुम्ब लिङ्गरूप शिव की पूजा ब्रह्मा विष्णु किये। प्रसन्न होकर शिवजी ने उस दिन का शिवरात्रि नाम धरा और अपने को व्यापक ब्रह्म आत्मा रूप उन दोनों को समझाया, तथा ओंकार का उपदेश दोनों को दिया। वायुपुराण में भी अ० ५५ में लिङ्गरूपता की कथा है। और २४ में भी अन्य रूप से यह कथा है ॥१॥

(२)

पार्वती जी से शिवजी मोहित हुए सो बात स्कन्ध पुराण खण्ड २।२ अ० २० में है कि--

"कीलितो देवदेवेशः शंकरश्च त्रिलोचनः।
गिरिजया महाभाग पातितो भूमिमण्डले॥" इत्यादि॥

देवी भागवत स्कन्ध ४ अ० १६ में विष्णु भगवान् स्वयं ब्रह्मा जी से मायाजन्य अपने मोह का वर्णन किये हैं कि—

"वयं मायाऽऽवृताः कामं न स्मरामो जगद्गुरुम्।
परमं पुरुषं शान्तं सच्चिदानन्दमव्ययम्॥
अहं विष्णुरहं ब्रह्मा शिवोऽहमिति मोहिताः।
न जानीमो वयं धातः परं वस्तुसनातनम्॥
परतन्त्रोऽस्म्यहं नूनं पद्मयोने निशामय।
तथा त्वमपि रुद्रश्च सर्वे चान्ये सुरोत्तमाः॥
मायया मोहिता मन्दाः प्रवदन्ति मनीषिणः।
करोति स्वेच्छया विष्णुरवतारान्नेकशः॥
मन्दोऽपि दुःखगहने गर्भवासेऽतिसंकटे।
न करोति मतिं विद्वान् कथं कुर्यात् स चक्रभृत्॥"

स्क० ५।१५।६ में माया की उक्ति है कि—

"नाहं पतिंवरा नारी वर्तते मे पतिः प्रभुः।
सर्वकर्ता सर्वसाक्षी ह्यकर्ता निःस्पृहः स्थिरः॥
निर्गुणो निर्ममोऽनन्तो निरालम्बो निराश्रयः।
सर्वज्ञः सर्वगः साक्षी पूर्णः पूर्णाशयः शिवः॥"

और स्क० ५ अ० ३३ में ब्रह्मा आदि में माया की अधिनता का और लिङ्गप्रादुर्भावादि का वर्णन है। इससे कहा गया है कि—'तीन लोक मोहित सब भारी' ॥२॥

(रमैनी ४५ के अन्तर्गत)

विष्णुधर्मोत्तर पु० खं० १ अ० ५३। हिरण्याक्ष के वध की कथा है। लिंग पु० अ० ९४ में भी अन्यरूप से हैं। और पद्म पु० उत्तर खं० अ० २४७ में भी यह कथा है। तथा म० भा० शां० अ० २०९ में कुछ भेदयुक्त है कि—अदिति और दिति दोनों कश्यपजी की स्त्री थीं। अदिति ने इन्द्रादि देवों को उत्पन्न किया और दिति ने हिरण्याक्ष हिरण्यकशिपु दो भयंकर पुत्र को पैदा किया। फिर ब्रह्माजी ने देवों के राजा इन्द्र को बनाया और दानवों के राजा हिरण्याक्ष को बनाया। इन्द्र को स्वर्ग दिया और हिरण्याक्ष को पाताल दिया। बाद में पक्ष रहने के कारण पर्वत सब पृथिवि को छोड़कर आकाश में ही भावीवश उड़ने लगे कि जिससे भूमि हिलने लगी और पाताल जल से भर गया। फिर हिरण्याक्ष युद्ध करके स्वर्ग को दखल किया। तब देव सब विष्णु भगवान् के शरण में गये। देवासुर से अजेयता का वर हिरण्याक्ष को मिला था। इससे भगवान् को वराह रूप होकर दैत्यसभा में जाना पड़ा और वहाँ जाकर सब दैत्यों को चक्र से मारना पड़ा, जिससे हिरण्याक्ष का मरण हुआ॥

श्रीमद्भागवत स्कन्ध ३ अ० १२ आदि में कथा है कि—ब्रह्माजी मनु को उत्पन्न करके सृष्ठि करने के लिए आज्ञा दिये तो आज्ञा को स्वीकार करके मनु ने कहा कि, सब प्राणी का आधार पृथिवि महाजल में डूबी है, इसे ऊपर करने के लिये यत्न किया जाय तो सृष्टि हो सकती है। इस बात को सुनकर और भूमि को जल में निमग्न देखकर ब्रह्मा जी शोचने लगे कि, क्या करना चाहिये और ध्यान किये कि जिसके हृदय से मैं हुआ हूँ, वह ईश्वर इस कार्य को सिद्ध करे। इस प्रकार ध्यान करते हुए ब्रह्मा जी के नासिका से अंगुष्ठाग्र मात्र का एक बराह निकला और वह उनके देखते२ में हस्ती के समान हो गया। ब्रह्मा और सब ऋषि आश्चर्ययुक्त हुए कि यह क्या है? फिर भगवान् को समझ कर सब स्तुति किये, और भगवान् जल में पैठे। वहाँ से पृथिवि को लाते समय हिरण्याक्ष गदा से युद्ध के लिये तैयार हुआ तो उसको मार डाले; इत्यादि॥

लिंगपु० अ० ९४ में कथा है कि—अंधकासुर के पिता हिरण्याक्ष ने देवताओं को जीत कर इस पृथिवी को रसातल में ले जाकर इसे बन्दी किया था, तब उस दैत्य से पीड़ित ब्रह्मादि देव भगवान् विष्णु के पास जाकर समाचार सुनाये। तब भगवान् दैत्यों के सहित हिरण्याक्ष को मार कर बराह

रूप से भूमि लाये, इत्यादि ॥ रावण को श्रीरामचन्द्र मारे सो अति प्रसिद्ध कथा है । कंस को श्री कृष्ण जी ने मारा है ॥१॥

रमैनी ४७ के अन्तर्गत

जरासन्ध की कथा महाभारत सभापर्व अ० १७ आदि में है कि—राजा युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ का विचार होता था, उसमें जरासन्ध से विरोध का भय था; उसके नाश से ही निर्विघ्न यज्ञ हो सकता था । इसी प्रसङ्ग में भगवान् कृष्ण से युधिष्ठिर प्रश्न किये, कि जरासंध कैसा और कौन है । भगवान् बोले कि, बृहद्रथ बड़ा प्रतापी राजा थे, काशीराज की दो लड़की के साथ विवाह किये और दोनों में तुल्य वर्ताव का नियम किये, परन्तु बहुत यज्ञादि करने पर भी पुत्र नहीं हुआ । एक दिन कान्तिवान गौतम के पुत्र चण्डकौशिक मुनि वहाँ आये । पत्निसहित राजा सेवा करके मुनि को प्रसन्न किया । मुनि राजा से वर माँगने के लिए कहे, तब राजा पुत्र के विना दुःख बताया । राजा की बात सुन कर मुनि आम के वृक्ष के नीचे ध्यानस्थ हुए । फिर उनके गोद में एक रस से पुष्ट आम गिरा, उस आम को अभिमन्त्रित करके मुनि राजा को आम दिये और कहे कि, तेरा मनोरथ सिद्ध होगा । राजा दोनों रानी के लिए आम दिया; फिर काट कर दोनों आधा २ आम खाईं, और गर्भवती हुईं, फिर एक २ आँख नाक हाथ पैर वाला दोनों के पुत्र दो खण्ड रूप सप्राण हुए । दोनों रानी देख कर भयभीत हुईं । और दासी द्वारा राजभवन से बाहर दोनों खण्ड को वस्त्र से ढाँक कर, धरवा दिया । उसी समय जरा नामक राक्षसी मांस की इच्छा से आई और दोनों खण्डों को जोड़ दिया, तब जुट कर लड़का बन गया, और रोने लगा, फिर लोग पहुँचे । और जरा भी राजा के प्रति लड़का का समर्पण किया, इसी से वह जरासन्ध कहलाता है और प्रतापी हुआ है और माता-पिता के मरने पर सब राजाओं को पराजित किया है, इत्यादि ॥

परस्पर विचार करके, भीम अर्जुन को साथ लेकर भगवान् जरासन्ध के नगर के पास गये । फिर संन्यासी का रूप धर के तीनों राजा के पास पहुँचे, राजा देख कर सत्कार किया, फिर रहने के लिये जगह देकर, अर्द्ध रात्रि में इन लोकों के पास वहुँचा । और स्वरूप देख कर कहा कि, आप सब कौन हैं, किस प्रयोजन से आये हैं; संन्यासी तो नहीं मालूम होते हैं, इत्यादि । वे दोनों भाई तो मौन ही रहे, परन्तु भगवान् बहुत कुछ कह सुन कर परिचय दिये और अपना प्रयोजन युद्ध बताये । राजनीति के अनुसार राजा द्वन्द्व

युद्ध को स्वीकार किया। कार्तिक के परिवा से त्रयोदशी तक बराबर युद्ध हुआ। चतुर्दशी को राजा कुछ श्रान्त हुआ, फिर भगवान् के समझाने से, जरासन्ध के देह को जोड़ा हुआ जान कर एक २ हाथ से एक २ पैर को धर कर भीम ने बीच से फाड़ डाला। फिर बन्धे हुए सब राजाओं को भगवान् छोड़ाये और राजा युधिष्ठिर के यज्ञ में सहायता करने के लिये कह कर राज-पुत्र को गद्दी देकर चले आये, इत्यादि ॥१॥

सभापर्व में ही अ० ३६ से अ० ४५ तक[1] शिशुपाल वध की कथा है कि—राजा युधिष्ठिर के यज्ञ में सब राजा निमन्त्रित हुए और आये, भगवान् कृष्ण भी आये। बाद में विचार हुआ कि आये हुए सभी का अर्घादि द्वारा सत्कार होना चाहिये; क्योंकि आचार्य ऋत्विक् सम्बन्धी स्नातकादि जो एक वर्ष पर अपने घर आते हैं, उन्हें अर्घ दिया जाता है। इस कारण से इन एक २ राजाओं के लिए अर्घ लाना चाहिये। इस प्रकार भीष्म जी के कहने पर युधिष्ठिर बोले कि, हे पितामह! प्रधान अर्घ आप किसके लिये फरमाते हैं। भीष्म जी बोले कि, हरएक प्रकार से भगवान् कृष्ण प्रधान हैं, इनके लिये मुख्य अर्घ चाहिये। फिर सहदेव ने भगवान् के लिए उत्तम अर्घ लाये, भगवान् कृष्ण भी अर्घ पूजा को स्वीकार किये। परन्तु शिशुपाल उस पूजा को नहीं सह सका इससे भीष्म तथा युधिष्ठिर को डाँट फटकार कर भगवान् कृष्ण को भी फटकारा, कि कृष्ण न वृद्ध हैं, न आचार्य हैं, न ऋत्विगादि हैं। वृद्ध उनके पिता, द्रोणाचार्यादि के रहते, कृष्ण की पूजा उचित नहीं है, इससे आज्ञा देनेवाला भीष्म अनुचित किया है और युधिष्ठिर भी अनुचित किया है तथा कृष्ण भी अनुचित किया है कि, इतने वृद्ध आचार्य गुरु राजा आदि के रहते, स्वयं उत्तम पूजा को स्वीकार किया है, इत्यादि। इससे इन सब राजाओं का अपमान हुआ है। ऐसा करना था तो सबको क्यों बोलाये, इत्यादि कह कर शिशुपाल उठकर चला। तब युधिष्ठिर उसके पीछे दौड़े, शान्ति से बोले कि, भीष्म धर्मज्ञ हैं, आप व्यर्थ कटुभाषणादि नहीं करें। सब राजा भगवान् की पूजा को स्वीकार

---

१. विष्णु पु० अंश ४।१४। में है कि, वसुदेव जी के पृथा श्रुतदेवा श्रुतकीर्ति श्रुतश्रवा राजाऽधिदेवी नाम की बहिनें थीं, उनमें श्रुतश्रवा का चेदिराजा दमघोष से विवाह हुआ, जिससे शिशुपाल का जन्म हुआ, जो पहले हिरण्यकशिपु और रावण हो चुका था।

करके बैठे हैं। आप भी क्षमा करें, इत्यादि। भीष्म जी बोले कि, इसके आगे नम्रता सान्त्वना की जरूरत नहीं है, कि जो कृष्ण की पूजा को नहीं सह सकता। क्षत्रियों में वही पूज्य होता है कि, जो विजयी हो। भगवान् कृष्ण विजयी ज्ञानी आदि सब कुछ हैं। इससे सर्व पूज्य हैं, इत्यादि। सहदेव बोले कि, महापराक्रमी कृष्ण जी की पूजा को जो नहीं सह सकते, उन बलियों के मस्तकों पर मैं पैर धरता हूँ और वे ही वध्य होंगे, इत्यादि। फिर कोई नहीं बोला। और साधु-साधु आकाशवाणी हुई, इत्यादि। फिर सहदेव ने सब पूज्यों को पूजा। बाद में कुछ लोग शिशुपाल के पक्षपाती होकर, यज्ञ में विघ्न करने का, विचार करने लगे। क्षुब्ध राजाओं को देख कर युधिष्ठिर ने भीष्म जी से पूछा कि, यज्ञ का अविघ्न और प्रजा के हित के लिए उपाय बताइये। भीष्म जी बोले कि, भय नहीं करो अभय मार्ग का स्वीकार हम लोगों ने पहले ही किया है। भगवान् शिशुपाल के तेज को हरना चाहते हैं और सर्व समर्थ हैं इत्यादि। इस बात को सुन कर, फिर भी शिशुपाल ने भीष्मादि का बहुत अपमान किया, निन्दा किया। तब उसके क्रूर रूक्ष वचनों को सुनकर क्रुद्ध भीम युद्ध के लिये उठना चाहते थे, तब भीष्म जी ने पकड़ लिया और भीम के प्रति बोले कि, जब चेदि-राजकुल में यह जन्म लिया था, तब चार भुजा तीन नेत्र वाला था और जन्मते ही गदहा के शब्द के तुल्य शब्द किया था, चिल्लाया था, जिससे बन्धु सहित इसके माता-पिता भयभीत होकर इसे त्यागने का विचार करने लगे और सब चिन्तायुक्त हुए, तब आकाशवाणी हुई कि, हे राजन्! इसका पालन करो, इससे डरो नहीं, यह बड़ा बलि होगा, अभी इसकी मृत्यु का समय नहीं है, परन्तु शस्त्र से इसे मारने वाला जन्म ले चुका है। इस बात को सुनकर पुत्रस्नेहयुक्त इसकी माता बोली कि, जो देव वा ईश्वर, इस अव्यक्त वाणी को मेरे पुत्र के विषय में कहा है, उससे मैं कर जोड़ कर पूछती हूँ कि इसका मृत्यु कौन है, यथार्थ रूप से यह भी बता दो। मैं सुनना चाहती हूँ। तब फिर आकाशवाणी हुई कि, जिसके गोद में जाने से इसके दो भुजा भूमि पर गिर जायंगे और ललाट का नेत्र लुप्त होगा, सोई इसके मृत्युरूप होगा। इन सब समाचारों को सुन कर, सब राजा आये, गोद में लिये तो कुछ नहीं हुआ, फिर द्वारका से कृष्ण बलराम आये, तब कृष्ण भगवान् के गोद में रखते ही दो बाहु गिर गये, एक नेत्र लुप्त हो गया। फिर इसकी माता भयभीत होकर, भगवान् से वर माँगी कि, मेरे पुत्र के अपराध को क्षमा करना। भगवान् ने सौ अपराध क्षमा का वर दिया,

इत्यादि। इस बात को सुनकर शिशुपाल बोला कि, हे भीष्म! यदि तुम्हें बन्दी की तरह स्तुति ही करना है, तो कृष्ण की स्तुति को छोड़कर इन बड़े-बड़े राजाओं की स्तुति करो, या द्रोणादि की स्तुति करो, इत्यादि। तब भीष्म जी बोले कि, इन राजाओं की इच्छा से मैं जीता हूँ, परन्तु इन्हें मैं तृणतुल्य नहीं समझता हूँ। इस बात को सुनकर राजा सब क्रुद्ध हुए, कुछ वादविवाद हुआ, तब भीष्म बोले कि, जिनकी हम लोगों ने पूजा की है, सो कृष्ण वर्तमान हैं, जिन्हें शीघ्र मरना है, सो कृष्ण को ही युद्ध के लिये पुकारे, इत्यादि। इस बात को सुनकर शिशुपाल युद्ध की इच्छा से भगवान् से बोला कि, हे कृष्ण! तुम्हें युद्ध की इच्छा से पुकारता हूँ, पाण्डवों के सहित तेरा नाश करूँगा। क्योंकि अपूज्य को इन्होंने पूजा है, इत्यादि। फिर भगवान् राजा सबसे कहे कि, यह मेरा अतिशय शत्रु है, इत्यादि। और इसके बहुत अपराध सहे हैं, अब नहीं सह सकते। फिर भगवान् का वचन सुनकर राजा सब उसकी निन्दा करने लगे, और शिशुपाल हँसने लगा, कुछ कुशब्द बोलने लगा, फिर भगवान् ने चक्र का स्मरण किया और इसका सौ अपराध क्षमा किया, अब नहीं कर सकते, ऐसा राजाओं से कहकर शिर काट लिया, फिर यज्ञ कराया, इत्यादि ॥२॥

सहस्रा—अर्जुन की कथा हरिवंश ग्रन्थ १।३३ में कहा है कि—कृतवीर्य नामक राजा के कार्तवीर्य अर्जुन नाम वाला पुत्र हुआ। वह दस हजार वर्ष अत्रिजी के पुत्र दत्त मुनि की आराधना और परम दुष्कर तप किया। तब दत्त जी उसको चार वर दिये। पहला युद्धादि के समय हजार बाहु होना। दूसरा अधर्म में प्रवृत्त होने पर, महात्माओं के द्वारा निवारण होना। तीसरा उग्र युद्ध से भूमि को जीत कर, अपने धर्म से सबका अनुरञ्जन करना। और चौथा संग्राम में बहुत शत्रुओं को मारने पर किसी महान पुरुष से वध होना वह अर्जुन ८५ हजार वर्ष तक चक्रवर्ती राजा हुआ। पाँच ही बाण में बल (फौज) सहित रावण को मुग्ध करके बाँध लिया, फिर पुलस्त्य जी के कहने से छोड़ दिया। और चित्रभानु (अग्नि) देव की याचना से उनकी तृषा भूख की निवृत्ति के लिये; वह सब राज्य अग्निदेव को दे दिया, फिर अग्निदेव सब जगत् को जलाता हुआ वरुण के आपव वसिष्ठ नामक पुत्र के आश्रम को जला दिया। इससे उनके शाप से परशुराम जी द्वारा मारा गया, इत्यादि ॥

स्कन्ध पु० खण्ड ६ अ० ६६ में कथा है कि—ऋचीक ऋषि के पुत्र

यमदग्नि थे। उनके छोटा पुत्र परशुरामजी थे। एक दिन परशुराम जी सब भाई कन्द मूल के लिए जंगल में चले गये थे। इतने में सहसार्जुन राजा ऋषि के आश्रम में आया, ऋषि को प्रणाम किया, परस्पर कुशल प्रश्नादि होने पर, राजा जाने के लिए आज्ञा माँगा। मुनि ने कहा कि देवार्चन के समय आप अतिथि आये हो, जो कुछ मैं देता हूँ सो आप अपने हाथ से भोजन करो। राजा ने कहा कि, मेरे साथ में सेना है। ऋषि ने कहा कि, मैं सबको भोजन दूँगा। तब परशुराम जी भगवान् की उपासना से जो गौ पाये थे, उस कामधेनु के बल से ऋषि ने सबको भोजन कराया। पद्मपुराण उत्तरखण्ड अ० २४१ में कथा है कि—ऋषि ही इन्द्र की उपासना से कामधेनु गौ और राम पुत्र पाये थे। फिर कामधेनु की महिमा को देख कर, राजा को उसे लेने की इच्छा हुई। ऋषि से माँगने लगा, बेचने को कहा, तब ऋषि स्वीकार नहीं किये। फिर ऋषि को मार डाला और उसकी स्त्री को भी २७ बार मारा और गौ को ले चला, परन्तु गौ नहीं जा सकी, इससे छोड़ गया। बाद में परशुराम जी आये और सब समाचार सुन कर और माता के ऊपर २७ प्रहार देख कर २७ बार निःक्षत्रिय करने का प्रण किया तथा सहसार्जुन से युद्ध करके उसका नाश किया।

महाभारत शान्ति प० अ० ४६ में, और स्कन्द पु० खण्ड ६।६५ में कथा है कि—भृगुऋषि के पुत्र ऋचीक बड़े यशस्वी तपस्वी थे, सो कभी तीर्थयात्रा के प्रसंग से गाधिराजा के स्थान भोजकट गये और वहाँ राजा की कन्या को देख कर राजा से कहा कि, यह कन्या मुझे दो, राजा शाप के भय से और उनकी दशा देखकर भी कहा कि, सात सौ श्याम कर्ण घोड़ा जो देगा, उसे यह कन्या दी जायगी, ऐसा नियम है। यह सुनकर वह ऋषि कानकुब्ज देश में गंगा के किनारे जाकर जप करने लगे, उसी से सात सौ घोड़े की प्राप्ति हुई, वह लेकर राजा को दिया, फिर राजा कन्या दे दिया। फिर विवाह के बाद कामरहित वह मुनि अपनी स्त्री के पास में जाकर कहा कि, मैं तो तप के लिए जाऊँगा, तुम्हारी क्या इच्छा है सोकहो। फिर वह अपनी माता से सलाह लेकर, अपने लिए और अपनी माता के लिए पुत्र माँगा तब ऋषी अपनी स्त्री के लिए ब्राह्म तेजमय चरु (हविः) विशेष तैयार किये और शाशु के लिये क्षात्र तेजमय चरु बनाये। और अपनी स्त्री के हाथ में दोनों चरु समझा कर दिये; परन्तु जब वह अपनी माता के पास

दोनों चरु ले गई, तब उसकी माता ने समझा कि, ऋषि अपनी स्त्री के लिये कुछ अच्छा ही चरु बनाया होगा, इससे अपनी पुत्री का चरु आप खा गई और अपना चरु अपनी पुत्री को दिया, फिर गर्भ होने पर ऋषि अपनी स्त्री के देह में क्षात्र तेज को देखकर, समझ गये कि, यह चरु हेरफेर किया है, तब बोले कि, तुम्हारा पुत्र बहुत क्रूर होगा, सो सुन कर उसने बहुत प्रार्थना किया कि, आप ऐसे महापुरुष का पुत्र क्रूर नहीं होना चाहिए, तब ऋषि बोले कि, पुत्र नहीं तो पौत्र अवश्य क्रूर होगा इससे यमदग्नि शान्त हुए और उनके पुत्र परशुराम क्रूर हुए, इससे क्षत्रियों का नाश किया। और ब्राह्म तेज से उत्पन्न विश्वामित्र प्रथम शान्त हुए; परन्तु शिकार आदि राजधर्म में प्रवृत्त होने से पीछे बहुत क्रूर हो गये और वसिष्ठ जी की कामधेनु के लिये बहुत उपद्रव किये फिर तपस्वी हुए, इत्यादि। और पद्मपुराण उत्तर ख० अ० २४२ में कथा आई है कि—इक्ष्वाकुवंश के क्षत्रियों को परशुराम जी नहीं मारते थे; क्योंकि ये उनके मातामह कुल के थे; परन्तु रामचन्द्र जी के बल प्रताप को सुनकर युद्ध के लिये आये थे, इत्यादि ॥३॥

रावण के बीतने की कथा देवी भागवत स्क० ६।१५। और ब्रह्मवैवर्त पु० प्रकृति खण्ड अ० १३ में है कि—भगवान् से नारद जी ने पूछा कि, तुलसी नारायण की प्रिया कैसे हुई, इत्यादि। तब नारायण भगवान् ने उत्तर दिया कि, दक्ष सावर्णि मनु के वंश में वृषध्वज राजा हुए, सो केवल शिवपरायण हुए, शिव जी का भी उसमें बहुत स्नेह हुआ; परन्तु वह राजा अन्य देव की पूजा को छोड़ दिया, इससे सूर्य शाप दे दिये कि, तुम श्रीरहित होवो, तब शिव जी सूर्य को मारने के लिए त्रिशूल लेकर दौड़े, सूर्य भागे, ब्रह्माजी के यहाँ गये, ब्रह्मा भी भागे, फिर दोनों विष्णु भगवान् के यहाँ गए, शिवजी भी वहाँ पहुँचे; परन्तु भगवान् की महिमा से शान्त हुए। भगवान् के पूछने पर शिवजी बोले कि, सूर्य मेरे भक्त को शाप दिए हैं, उसकी क्या गति होगी। भगवान् बोले कि आधि घड़ी में दैव युग से इक्कीश युग बीत गए, वृषध्वज और उसके पुत्र भी मर गये। उसके पौत्र धर्मध्वज कुशध्वज हैं, अभी भक्ति तप परायण हैं। (अ० १६-१४) वे दोनों लक्ष्मी की आराधना से धनी हुए, कुशध्वज की स्त्री मालावती की पुत्री वेदवती हुई, वह भगवान् की प्राप्ति के लिए तप करती थी, वहाँ ही रावण पहुँचा और अत्याचार करना चाहा, तब उसने शाप दिया कि,

मेरे ही निमित्त से तेरा नाश होगा और अपना शरीर छोड़ दिया, वही सीता हुई। रामजी के वनवास होने पर, अग्निदेव ने रामजी से कहा कि, यह सीताहरण का समय आया है, इस सीता को मेरे यहाँ न्यास (धरोहर) रखो और छाया सीता को अपने पास रखो, ऐसा ही किया गया। रावण छाया सीता को हरा, जिससे उसका नाश हुआ। अग्निपरीक्षा के समय सच्ची सीता फिर रामजी के पास में आई और छाया सीता तप करने गई, फिर वही द्रौपदी हुई।

अ० १७-१५ में है कि—धर्मध्वज की माधवी नामक स्त्री से तुलसी नामक पुत्री हुई, वह भी तपस्विनी हुई॥ अ० १८-१६ इत्यादि में है कि, उस तुलसी का शंखचूड़ नामक दानवेन्द्र से विवाह हुआ। वह दानवेन्द्र सब देव को युद्ध में पराजित किया, तब देव सब विष्णु भगवान् के शरण में गये, भगवान् ने विश्वास दिलाया और कहा कि, मैं युक्ति से उसका नाश करूँगा उसके पास में एक कवच है, उसके रहते उसका नाश नहीं हो सकता, तथा उसकी स्त्री पतिव्रता है, उसके पतिव्रत नष्ट होने बिना भी उसका नाश नहीं हो सकता; ऐसा कह कर शिवजी को उसके साथ लड़ने के लिए आज्ञा दिये और सबको भी आज्ञा दिए। बहुत युद्ध हुआ; परन्तु वह नहीं मरा, तब भगवान् ब्राह्मण रूप होकर उसके कवच माँग लाए, और शंखचूड़ का रूप बना कर वह कवच पहन कर तुलसी के पास गए, उससे युद्ध में अपना विजय बता कर उसके धर्म को नष्ट किये। तब शंखचूड़ मारा गया, उसकी हड्डी से शंख पैदा हुआ। रतिविलास से प्रथम तुलसी ने भगवान् से पूछा कि, युद्ध में कैसे विजय पाये? तब भगवान् बोले कि, सब दानव तो मारे गये, परन्तु ब्रह्मा जी अन्त में मेल करा दिये। फिर रतिविलास के समय तुलसी समझ गई कि, यह मेरा पति नहीं है, इससे शाप देने के लिए तैयार हुई, तब शाप के भय से भगवान् अपना स्वरूप प्रगट किये, तो भी शोक वश शाप दिया कि तुम्हारा हृदय पत्थर के समान है, दूसरे के दुख को नहीं समझते हो, इससे तुम [1]पत्थर होवो, फिर भगवान् उसे समझाये कि, तेरा यह देह पवित्र गण्डकी नदी होगी, और केश पवित्र पुष्प तुलसी होंगी, इत्यादि। तुलसी शंखचूड़ की कथा शिव पु० संहिता २ खं० ५ अ० २७ से ४१ तक में है,

---

१. यही शालिग्राम हुए। जिसका जिकिर रमैनी ७५ में आया है।

सो शिव माहात्म्य विशेष रूप है। तुलसी को शिवजी ने जाकर समझाया है, इत्यादि ॥ यहाँ तुलसीकी कथा प्रसङ्ग से है। रावण के बीतने में वेद-वती सीता ही कारण है ॥ और यद्यपि पूर्व रीति से सीता ही द्रौपदी हुई थी, परन्तु स्कन्द पुराण खं० ४ पूर्वार्ध अ० ४६ में लिखा है कि,

उमापि च जगद्धात्री द्रुपदस्य महीभुजः।
यजतो वह्निकुण्डाच्च प्रादुश्चक्रेऽतिसुन्दरी ॥
पंचापि पाण्डुतनयाः साक्षाद्रुद्रवपुर्धराः।
अवतेरुरिह स्वर्गाद् दुष्टसंहारकारकाः ॥

अर्थात् द्रौपदी उमारूप थी और युधिष्ठिरादि रुद्ररूप थे, तथा विष्णुरूप कृष्ण इनके सहायक थे। शत्रु से दुःख प्राप्त होने पर जंगल में द्रौपदी ने सूर्य की आराधना किया, तब सूर्य भगवान् बटुली, करछी, ढापना दिये और कहे कि, जितने को भोजन कराना चाहोगी, उतने को इससे भोजन करा सकोगी। परन्तु जब तुम भोजन कर लेगी, तब यह बटुली खाली हो जायगी, इत्यादि। और बनपर्व के आरम्भ में महाभारत की कथा है कि, युधिष्ठिर जब वन में चले हैं, तब बहुत ब्राह्मण भी साथ लगे। फिर धौम्य ऋषि से युधिष्ठिर ने पूछा कि, इनकी रक्षा के लिये क्या करें, पास में धन तो है नहीं; तब ऋषि सूर्यदेव की उपासना बताये कि, इसी से रक्षा साधन की प्राप्ति होगी। फिर युधिष्ठिर के उपासना स्तुति करने पर सूर्य प्रगट हुए और तामें की बटुली दिये और कहे कि, जब तक द्रौपदी नहीं खायेगी तबतक इसका अन्न अक्षय होगा, बारहवें वर्ष में तुम्हें राज्य मिलेगा, इत्यादि कहकर लुप्त हो गये ॥४॥

महाभारत आदि पर्व अ० १८ में कथा है कि—पाण्डु राजा महाबन में विचरते समय मैथुन युक्त मृगयूथप को देखकर पाँच बाण से मृग और मृगी को मारा, परन्तु उस मृगरूप में किंदम नामक मुनि थे, इससे मनुष्य की वाणी द्वारा बहुत बात करके राजा को शाप दिये कि मैथुन रूप अनु-चित काल में मुझे मारे हो, इससे तुम भी कामासक्त होते ही मरोगे। इस बात को सुनकर राजा बहुत पश्चात्ताप किया और भूषणादि उतार कर संन्यासी होने का विचार करने लगा। तब कुन्ती उसकी स्त्री बोली कि, यदि आप त्यागोगे, तो मैं भी अभी प्राण त्याग करूँगी। और आप अन्य आश्रम में भी रहकर तप कर सकते हैं, कि जिसमें हम सब भी रह सकते हैं, तब

पांडु मान गये और उत्तरखण्ड में जाकर बहुत काल तक तप किये। फिर यह विचार हुआ कि पुत्र बिना सुगति नहीं होती है, किसी प्रकार पुत्र होना चाहिये। फिर अपने मन की बात कुन्ती से सुनाये, तब बहुत कुछ कह सुनकर कुन्ती बोली कि, मैं बचपन में दुर्वासा ऋषि की सेवा से मन्त्र प्राप्त किया है, कि जिससे आह्वान करने पर जिस देव को चाहें सो देव आ सकते हैं। आप जिस देव को कहें उस देव का आह्वान करें फिर राजा क्रम से धर्म, वायु, इन्द्रदेव का आह्वान के लिये कहा कि, जिससे युधिष्ठिर भीम अर्जुन हुए। बाद में दूसरी स्त्री माद्रि के कहने से राजा ने कुन्ती को मन्त्र बताने को कहा, फिर माद्री मन्त्र पाकर अश्विनी कुमार का आह्वान किया कि, जिससे नकुल सहदेव हुए। ये ही पांण्डुपुत्र कहाये, इन्हीं के पूर्वोक्त प्रभावादि के आशय से कहा गया है कि, 'दुर्योधन अभिमान हि गयऊ। पाण्डव केर भेद नहिं पयऊ ॥५'॥

दुर्योधन के विषय में महाभारत आदि पर्व अ० ११५ में कथा है कि—पाण्डु के बड़ा भाई धृतराष्ट्र की स्त्री गांधारी ने भूख श्रम से पीड़ित व्यासजी की सेवा करके उन्हें प्रसन्न किया, तब व्यासजी प्रसन्न होकर बर देने लगे, तब गान्धारी ने अपने पति के समान पुत्र माँगी। फिर गर्भ होने पर दो वर्ष तक गर्भ का धारण किया। दुःखयुक्त हुई, बाद में कुन्ती के पुत्र का जन्म सुनकर और अपना उदर की स्थिरता को देखकर, चुपके से अपना पेट पीटने लगी, जिससे मांस का पिण्ड लोहपिण्ड के समान पैदा हुआ। उसको बिगने का विचार कर रही थी। इतने में व्यास जी आये और गांधारी से बोले कि, तुम क्या करना चाहती है। वह अपनी बात कह सुनाई, व्यासजी बोले कि, मेरी बात झूठ नहीं हो सकती है। इस पिण्ड को जल से सींचो, सींचने से सौ पुत्र होंगे। फिर घृत से पूर्ण कुण्डों में गुप्त स्थानों में रखो क्रम से सौ भाई पैदा होंगे फिर सींचने से अङ्गुष्ट पर्व मात्रों के प्रथम विभक्त हुए, इत्यादि। कुण्ड में रखने पर सबसे पहले दुर्योधन का जन्म हुआ और महान् अशकुन हुआ। तब गणक कुल का कल्याण के लिये उसे त्यागने को कहा, परन्तु पुत्रमोह से धृतराष्ट्र त्याग नहीं सके, इत्यादि ॥६॥

(रमैनी ५५ के अन्तगत)

रामजी, लक्ष्मणजी सीताजी के जाने की कथा अध्यात्मनारायण उत्तरकाण्ड सर्ग ७ आदि में है कि—बाल्मीकि ऋषि लवकुश सहित जानकीजी

को रामजी के पास ले गये, और कहे कि, जानकी पतिव्रता है, ये दोनों आपके पुत्र हैं, इत्यादि। लोगों के विश्वास के लिये शपथ करते समय जानकीजी ने कहा कि, जिस प्रकार मैं राम से अन्य को मन से भी नहीं स्मरण करती हूँ, तो तैसे ही भूमिदेवी मुझे विवर (मार्ग) देने योग्य है। ऐसा सीताजी के कहने पर, दिव्य पुरुषों और भूमिदेवी सहित एक सिंहासन प्रगट हुआ। भूमि देवी जानकी जी का स्वागत कहकर आसन पर उन्हें बैठाई और उनका भूमि में प्रवेश हो गया, इत्यादि।

सर्ग आठ ८ में कथा है कि—उसके बाद कुछ दिन बीतने पर ऋषि वेषधारी काल रामजी के दर्शन के लिये आया। और लक्ष्मणजी से कहा कि, अतिबल महर्षि का मैं दूत हूँ, राम को देखना चाहता हूँ। उस महर्षि मुख्य की बात बहुत देर तक राम से कहना है। फिर लक्ष्मण जी ने शीघ्र जाकर रामजी से उसके आगमन की बात कही। तब रामजी ने लक्ष्मण से कहा कि, मुनि को शीघ्र लावो। फिर लक्ष्मण जी मुनिवेश वाला काल को रामजी के पास ले गये। मुनि मधुर वचन से राम जी को कहा कि, आपकी वृद्धि हो। फिर उस मुनि की विधिपूर्वक पूजा रामजी ने किया, कुशल पूछा, इत्यादि। फिर रामजी ने कहा कि, जिस कार्य से यहाँ आये हो सो कहो। तब मुनि बोले कि, यह वचन, दो ही के रहते कहने का है। और अन्य को सुनने के नहीं है, जो इसे सुने देखेगा वह आपका वध्य होगा। तब रामजी इस बात को स्वीकार किया और लक्ष्मणजी को कहा कि तुम द्वार पर रहो, यहाँ कोई आने नहीं पावे, जो आवेगा वह मुझसे मारा जायगा, इत्यादि। फिर रामजी और काल की बात होने लगी। इतने में दुर्वासाजी आये और लक्ष्मण से बोले कि, राम को शीघ्र देखावो, मुझे भारी काम है। लक्ष्मणजी बोले कि, कौन काम है कहिये, मैं करूँगा; रामजी किसी काम में व्यग्र हैं, एक मुहूर्त प्रतीक्षा कीजिये। मुनि क्रुद्ध होकर बोले कि, हे लक्ष्मण! यदि राम को शीघ्र नहीं, देखावोगे, तो देश सहित वंश को भस्म करूँगा। सो सुनकर लक्ष्मणजी समझा कि, सबका नाश से एक मेरा नाश कारणवश श्रेष्ठ है, ऐसा निश्चय करके दुर्वासाजी का समाचार रामजी से लक्ष्मणजी ने कहा। फिर रामजी ने काल को विदा किया। शीघ्र दुर्वासाजी का दर्शन किया, प्रणाम करके प्रयोजन पूछा। मुनि ने चिरकालिक उपवास व्रत की समाप्ति के लिए भोजन माँगा। रामजी ने भोजन कराया, भोजन करके मुनि

अपने आश्रम पर गये। बाद में पहली बात को स्मरण करके रामजी दुःखी हुए। तब लक्ष्मणजी बोले कि, मेरी चिन्ता नहीं कीजिये, मेरा बध कीजिये; आपकी प्रतीज्ञा के भंग से मुझे भी नरक होगा, इत्यादि। ऐसा लक्ष्मणजी के कहने पर रामजी ने मन्त्रियों से भी पूछा; मन्त्रियों ने कहा कि, लक्ष्मण को आप त्यागो; परन्तु पतिज्ञा नहीं त्यागो, अन्यथा धर्म निष्फल होगा, धर्म के निष्फल होने से सबका नाश होगा इत्यादि। इसके बाद रामजी ने लक्ष्मण का त्याग किया और कहा कि, सत्पुरुषों का त्याग वा बध तुल्य है। इसके बाद लक्ष्मण जी रामजी को प्रणाम करके सरयू किनारे गये और वहाँ से स्वर्ग गये, इत्यादि। फिर नवम अध्याय में प्रजा सहित रामजी की स्वर्गयात्रा का वर्णन है।

वाल्मीकि रामायण उत्तर काण्ड अ० ९७ में भी इसी प्रकार सीताजी के भूमि में प्रवेश का वर्णन है। और सर्ग १०३ इत्यादि में काल के आगमनादि और लक्ष्मणजी के स्वर्ग गमन की कथा है। फिर आगे सब भाइयों के पुत्रों के राज्याभिषेकादि की और रामजी के स्वर्गारोह की कथा है ॥१॥

कुरुवंशी होने से दुर्योधनादि को ही कौरव कहा गया है। एक भीम के द्वारा वे सब भाई अठारह दिन के युद्ध में मारे गये हैं, सो कथा महाभारत की है। भोजप्रबन्ध की टीका में भोज की कथा है कि—राजा भोज के पिता भोज के बचपन में ही मर गये थे और मुञ्ज नाम के उनके चाचे के हाथ में उन्हें सौंप गये थे। किसी ज्योतिषी से उनका सौभाग्य सुनकर ईर्ष्या से उनका चाचा, एक मन्त्री को उन्हें मारने को कहा; परन्तु मन्त्री दयावश उन्हें न मार कर, राजा को समझाया कि, उन्हें मार दिया बाद में मुञ्ज ने पूछा कि, मरते समय उसने क्या कहा, तब भोज के खून से भोज का लिखा हुआ यह श्लोक मन्त्री ने देखाया कि,

'मान्धातेति महीपतिः कृतयुगेऽलङ्कारभूतो गतः,
सेतुर्येन महोदधौ विरचितः क्वाऽसौ दशास्यान्तकः।
अन्ये चापि युधिष्ठिरप्रभृतयो याता दिवं भूपते!,
नैकेनापि समं गता वसुमती मन्ये त्वया यास्यति ॥'

इसको पढ़कर मुञ्ज विकल हुआ, तब उसी समय एक योगी आया। उसने कहा कि, मन्त्रबल से मैं मृतक को भी जीवित कर सकता हूँ। कुछ होमादि का साधन लेकर गया और वह भोज को साथ में ले आया,

फिर मुञ्ज भोज को राज्य देकर, प्रायश्चित के लिए तप करने गया और भोज राजा धारानगरी में रहकर अच्छी तरह राज्य किया, इत्यादि।

और पाण्डु को पूर्व वर्णित मुनि का शाप था कि, कामासक्त होते ही मरोगे, इससे कभी माद्री के साथ बन में विचरते थे, वहाँ ही कामासक्त होते ही मर गये ॥

हरिश्चन्द्र की कथा मारकण्डेय पु० अ० ७ में है कि–सतयुग में हरिश्चन्द्र राजर्षि हुए। एक दिन किसी मृग पर धावा करते थे, इतने में किसी स्त्री का शब्द सुन पड़ा कि मेरी रक्षा करो। मृग को छोड़ कर राजा बोला कि, भय नहीं करो, मेरे राज्य में कौन अन्यायी है और वहाँ जिस विद्या को शिवादि भी नहीं सिद्ध किये थे, उस विद्या को विश्वामित्र सिद्ध करते थे, इससे उस विद्या ही का वह शब्द था, कि जिससे सिद्धि में विघ्न हो, वह विघ्न ही राजा में भी प्रवेश किया, इससे राजा और कुछ भी बोला, तब विश्वामित्र क्रुद्ध हुए और विद्या सिद्धि नष्ट हुई, फिर विश्वामित्र राजा को डाँटने लगे, तब राजा ने कहा कि, भयभीत की रक्षा राजा का धर्म है, इससे मैं बोला, इत्यादि। तब ऋषि बोले कि, यदि तुम दाता राजा है, तो जो माँगता हूँ सो दो। राजा ने कहा कि, हाँ दूँगा, तब प्रथम राजसूय यज्ञ की दक्षिणा माँग कर, फिर राजा रानी पुत्र के शरीर मात्र को छोड़ कर सब कुछ माँग लिये और बोले कि मेरे राज्य से निकल जावो और राजसूय की दक्षिणा दो, इत्यादि। तब राजा काशी में जाकर, तीनों शरीर को बेंच कर दक्षिणा दिया और पुत्र के मरने पर दोनों प्राणी चिता में जलने के लिए तैयार हुए, तब देव ऋषि सब प्रसन्न होकर बचाये और राजा के विपत्ति को सुनकर, वशिष्ठ जी विश्वामित्र को शाप दिये कि, जिससे विश्वामित्र बक हो गये, और विश्वामित्र के शाप से वसिष्ठ जी आडी नाम के पक्षी हुए, और पक्षी होकर भी दोनों युद्ध उपद्रव करते रहे, तब ब्रह्मा जी फिर पूर्वरूप बनाये और समझाये तब मेल हुआ, इत्यादि।

देवी भागवत स्क० ६ अ० १२-१३ में कथा है कि—पुत्र रहित हरिश्चन्द्र ने वरुण के प्रति नरमेध यज्ञ की प्रतिज्ञा करके पुत्र का लाभ किया था, फिर पुत्र के मोह से उसके बचपन में यज्ञ नहीं किया, फिर होश होने पर, मरण के भय से पुत्र के जंगल में भाग जाने पर, वरुण के शाप से रोगग्रस्त होने पर, कीना हुआ शुनःशेप द्वारा हरिश्चन्द्र यज्ञ करने लगे, तब दुःखी शुनः

शेप को देख कर, विश्वामित्र जी ने छोड़ देने को कहा; परन्तु राजा नहीं छोड़ा, फिर मन्त्रोपदेश देकर वरुण से ही छोड़वाया और उसी क्रोध से हरिश्चन्द्र के राज्य को छल करके हर लिया। और इसी कारण से वसिष्ठ जी से भी बैर हुआ।

स्कन्ध ७ अ० १६ से २७ तक में कथा है कि—पूर्वोक्त रीति से वचन नहीं मानने के कारण हरिश्चन्द्र पर विश्वामित्र क्रुद्ध थे ही; फिर राजा की प्रशंसा वसिष्ठ जी से सुनकर उसे सत्य से गिराने के लिये बहुत यत्न किये; परन्तु राजा सत्य से नहीं गिरा तब फिर सब प्रसन्न हो गये, इत्यादि।

ब्रह्मपु० गौतमी महात्म्य खं० ३४ में कथा है कि—राजा हरिश्चन्द्र के पास में नारद और पर्वत ऋषि गये, राजा उनसे पुत्र का फल पूछा; उन्होंने कहा कि, पुत्र बिना गति नहीं होती है" पिता यदि उत्पन्न जीवित पुत्र का मुख देख लेता है, तो मनुष्य लोक और अन्तरिक्ष लोक के सब भोगों को प्राप्त करता है राजा ने कहा कि, मुझे कैसे पुत्र होगा, तब मुनि बोले कि यदि वरुण प्रसन्न होवें तो श्रेष्ठ पुत्र दे सकते हैं। राजा वरुण को तुष्ट किया, प्रगट होने पर उनसे पुत्र माँगा, तब वरुण बोले कि, पुत्र तब दूँगा कि यदि उसी पुत्र से तुम मेरा यज्ञ करो। राजा स्वीकार किया, पुत्र हुआ; परन्तु टालमटोल करके पुत्र को युवराज बना दिया। फिर वरुण के कहने से यज्ञ करने के लिये तैयार हुआ, तब पुत्र ही जंगल में भाग गया। वरुण क्रुद्ध होकर, जलोदर के लिये शाप दिये। तब राजा का पुत्र ही अजिगर्त ब्राह्मण के मध्यम पुत्र को कीन लाया, और राजा को यज्ञ करने के लिये दिया, तब राजा के मन में हुआ कि, पूज्य ब्राह्मण द्वारा कैसे यज्ञ किया जाय। फिर आकाशवाणी हुई कि इस ब्राह्मण द्वारा यज्ञ करो, इसके वध के बिना ही तेरा यज्ञ पूर्ण होगा, फिर वैसा ही हुआ।

इन यज्ञ दानादिकों से ही हरिश्चन्द्र की अन्तरिक्ष में पुरी छाई रही। श्रीमद्भागवत स्क० ९।७ में भी हरिश्चन्द्र की कथा है।

(रमैनी ७५ के अन्तर्गत)

दशरथकुल (घर) आदि अवतार लेकर आने की कथा, ब्रह्म पुराण उत्तर खण्ड अ० २४२ में इस प्रकार की है कि—प्रथम स्वायंभुव मनु द्वादशाक्षर मन्त्र को जपता हुआ भगवान् विष्णु की पूजा हजार वर्ष किये, तब भगवान् प्रकट होकर वर माँगने के लिये कहा, तब मनु ने तीन जन्म

में भगवान् को अपने पुत्र होने के लिये वर माँगे, जिससे दशरथ और वसुदेवरूप मनु हुए और कृष्णरूप विष्णुदेव हुए, अब कलि के अन्त में शम्भल ग्राम में मनु ब्राह्मण होंगे, तब उनकी मुक्ति होगी उस ब्राह्मण से कल्कि भगवान् होंगे।

रावण से पीड़ित देवताओं की प्रार्थना से दशरथ जी के यज्ञ हविष द्वारा कौशिल्या में प्रगट होकर, विश्वामित्र की यज्ञ की रक्षा करके सीता को विवाह कर, परशुराम को जीत कर, बारह वर्ष अयोध्या में रहकर, पिता के वचन से रामजी ने चौदह वर्ष वनबास किया, जयन्तकाक बन में जानकी जी को देख कर मोहित होकर स्तन में चोंच मारा, तब रामजी ने कुशमय अस्त्र छोड़ा कि जिससे कहीं नहीं शरण मिलने पर, राम के ही शरण में आने पर बचा और सूर्पणखा के नाक कान को रामजी अपने ही काट लिये, क्योंकि वह सीता को खाने के लिये दौड़ी थी। बाद में खरदूषणादि को मारने पर सीता का हरण हुआ, तब रावण से क्षत गृध्र का संस्कार करके मतंग ऋषि के आश्रम में गये, फिर शवरी के यहाँ गये, उसके फल पूजा आदि का स्वीकार करके कवन्ध को मार कर, गोदावरी के पास गये और उसने सीता के विषय में पूछा कि, जानती हो तो कहो, परन्तु वह कुछ नहीं बोली, तब रक्त जलता का शाप दिये। फिर उसका विनय और ऋषियों की स्तुति से कहे कि, शबरी के स्नान करने से यह शाप से मुक्त होगी, फिर वैसा ही हुआ। बाद में सुग्रीव से मित्रता आदि होने पर समुद्र के किनारे गये और वाणों से समुद्र को सूखा दिये। फिर समुद्र पूजा स्तुति आदि किया, तब वरुणास्त्र से समुद्र को भर दिये। और समुद्र के वचन से सेतु बना कर लंका गये, रावण को मारा, इत्यादि।

कबीर साहब कहते हैं कि यह सब मायामय लीला हैं। निर्गुण सर्वात्मा राम के साथ लगो कि, जिससे जन्म मरण छूठे।

वाल्मीकी रामायण बालकाण्ड अ० १५ में कथा है कि—राजा दशरथ जब पुत्रेष्टि यज्ञ का आरम्भ किये, तब सब देव महर्षि भाव का प्रतिग्रह के लिए वहाँ आये और ब्रह्मा जी से बोले कि, आपके वर के प्रभाव से रावण हम सबको पीड़ित करता है, तीनों लोक को उद्विग्न करता है, इत्यादि। उसके नाश के लिये उपाय करने के आप योग्य हैं। सो सुनकर ब्रह्मा जी बोले कि उसका नाश का यह उपाय है कि, वर माँगने के समय देवासुरादि से अवध्यता का वर उसने माँगा है। परन्तु अनादर से मनुष्यों का नाम

नहीं लिया है, इससे वह मनुष्य से मरेगा। इस बात को सुन कर देवादि सब आनन्दित हुए, और उसी समय विष्णु देव भी आ गये, ब्रह्मा जी से मिलकर स्थिर हुए, तब देव सब स्तुति करके बोले, कि हे विष्णो! सब लोक के हित की इच्छा से हम सब आप से कहते हैं कि दशरथ जी की स्त्रियों में आप चार रूप से पुत्र हों और मनुष्य रूप होकर दुष्ट रावण को युद्ध में मारे, हम सब आपके शरण में हैं इत्यादि। फिर विष्णु भगवान् ने राजा दशरथ को पिता स्वीकार किया और देवादि से कहा कि आप लोग भय त्यागे, मैं रावण को मारूँगा, इत्यादि।

अ० १६ में इष्टि से पायस की प्राप्ति और पायस के खाने से कौसिल्या आदि के गर्भ का वर्णन है। अ० १८ में रामादि के जन्म का वर्णन है। इत्यादि और रामायण की रीति से सूर्पणखा के नाक आदि लक्ष्मण जी ने काटा है। तथा सूखाने से पहले ही समुद्र प्रगट हुआ है, इत्यादि ॥१॥

विष्णु देव का देवकी के गर्भ में आने की कथा भागवत स्क० १० के आरम्भ से ही है कि—पृथिवी दृप्त (दर्पयुक्त) नृपरूप असुरों के सैकड़ों हजार फौजों के भार से दबकर रोती हुई गौरूप से ब्रह्मा जी के शरण में गई और अपना दुःख सुनाई, तब ब्रह्माजी अन्य देव और शिवजी सहित समुद्र के किनारे जाकर, पुरुषसूक्त से विष्णु भगवान् की स्तुति किये। फिर समाधि में आकाशवाणी सुनकर, ब्रह्माजी ने देव सबसे सुनाये कि जो वाणी मैं सुना हूँ सो आप सब सुनिये और वैसा ही शीघ्र कीजिये। भगवान् पहले ही भूमि के दुःख को जान गये हैं। और आप लोग भी अंशों से यदुकुल में जन्मिये, इत्यादि। फिर कथा है कि, यदुवंशी क्षत्रियों की राजधानी मथुरा थी। वहाँ कभी उग्रसेन की पुत्री देवकी के साथ विवाह करके चलने के लिए वसुदेव जी रथ पर चढ़े। और उग्रसेन का पुत्र कंस बहन का प्रिय करने की इच्छा से घोड़ों के बागडोर को रथ हाँकने के लिए पकड़ा। फिर आकाशवाणी हुई कि, जिसको तुम रथ द्वारा पहुँचाते हो, इसी का अष्टम गर्भ तेरी मृत्युरूप होगा। सो सुनकर, कंस देवकी को मारने के लिए तैयार हुआ, तब बहुत कुछ कह सुनकर, वसुदेव जी ने उसे समझाया कि, इसके पुत्र से आपको भय है, इसलिए इसके पुत्रों को मैं आप को समर्पण करूँगा। तब कंस ने उसे छोड़ दिया। फिर देवकी का पहला पुत्र हुआ तो वसुदेव जी कंस के पास ले गये, परन्तु कंस ने कहा कि, अष्टम से भय है तो इसको क्यों मारें, ऐसा कह कर लौटा दिया। इसके बाद नारद आकर कंस को

समझाये कि, नन्दादि गोप और उनकी स्त्रियाँ तथा वृष्णि वसुदेवादि और इनकी स्त्रियाँ, बन्धु आदि प्रायः देव सब हैं और सब असुरों को मारने के लिये यत्न कर रहे हैं। सो सुन कर कंस यदुवंशियों को देव समझ कर और देवकी के गर्भज को विष्णु जानकर, देवकी वसुदेव को बाँध दिया और देवकी के पुत्रों को विष्णु की शंका से मारने लगा। माता-पिता आदि को भी बाँध दिया, अपने राज्य करने लगा। उसके बाद सप्तम गर्भ हुआ सो विष्णु की माया द्वारा देवकी के गर्भ से खींचकर, वसुदेव जी की ही स्त्री रोहिणी जो गोकुल में कंस के भय से रहती थी, उसके उदर में किया गया। उससे बलराम जी हुए और विष्णुदेव की मायारूप नन्दजी की पुत्री हुई। अष्टम गर्भ से विष्णु भगवान् कृष्ण रूप हुए। इनके जन्म के बाद अर्धरात्रि में ही वसुदेव जी इन्हें नन्दजी के यहाँ रख आये और उनकी पुत्री को ले आये। जिसे सवेरा होने पर देख कर कंस आकाशवाणी को झूठ समझा, इत्यादि। कृष्णभगवान् को गोद खेलाने का सौभाग्य यशोदा को मिला, देवकी को नहीं मिला ॥२॥

हिरण्यकशिपुका बध की कथा विष्णुधर्मोत्तर पुराण खण्ड १ अ० ५४ में है कि—हिरण्याक्ष के मारे जाने पर, हिरण्यकशिपु घोर तप जपादि किया, तब प्रसन्न होकर देवादि सहित ब्रह्माजी ने आकर वर माँगने के लिये कहा, तब उसने वर माँगा, कि देवासुरादि शस्त्रास्त्रादि से भी मेरा मरण नहीं हो। ब्रह्माजी एवमस्तु कह कर अपने लोक में गये, तब देव सब ब्रह्मा जी के पास गये और कहने लगे कि, इस वर से यह असुर अवश्य देवबध करेगा; इससे इसके बध के उपाय बताइये। तब ब्रह्मा जी बोले कि तप का फल इसको अवश्य मिलेगा, फिर भगवान् इसका नाश करेंगे। इसके बाद वह असुर उपद्रव करने लगा, देवलोक में भी अपना आधिपत्य किया। तब देवलोक भगवान् के शरण में प्राप्त हुए। फिर भगवान् नृसिंहरूप होकर, उसकी सभा में गये और दानवों को नष्ट किये, उसे पछाड़ कर मारा, इत्यादि। लिंगपु० अ० ६५ में भी यह कथा है। पद्मपु० ख० १ अ० ४७ में है। उत्तरखं० २३८ में है। शिवपु० सं० २ खं० ५ अ० ४३ में रूपान्तर से है।

विष्णुपुराण अंश १ अ० १७ में कथा है कि—कश्यपजी की स्त्री दिति के पुत्र हिरण्यकशिपु था। वह इन्द्रादि को जीत कर राज्य करता था। उसके पुत्र प्रह्लाद थे, सो गुरुकुल में पढ़ते थे। एक दिन पिता के पास में

गये। उनसे पिता पूछा कि, जो अब तक पढ़े हो, उसका सार स्वरूप कुछ कहो। उन्होंने कहा कि, सबका सार विष्णु है, सोई मेरे मन में स्थिर है, उसी अनादि अनन्त को मैं प्रणाम करता हूँ, इत्यादि। इस सब बातों को सुनकर हिरण्यकशिपु आध्यापकों पर रंज (क्रुद्ध) हुआ कि, आप लोगों ने इसको क्या उलटा पढाया है। उन लोनों ने कहा कि, इसका यह स्वाभाविक समझ है, हमारा पढ़ाया हुआ नहीं है। फिर पिता प्रह्लाद से पूछा कि, यह उपदेश तुम्हें कौन दिया है। प्रह्लाद ने कहा कि, सबका उपदेशक विष्णु है, उसके बिना कौन किसको उपदेश देता है। इसके बाद प्रह्लाद को मारने के लिये बहुत यत्न किया गया। परन्तु बचते गये और अन्त में नृसिंह-भगवान् ने प्रगट होकर हिरण्यकशिपु को मारा।

भागवत स्कन्ध ७ में आरम्भ में ही प्रश्न हुआ है कि, सम सबके प्रिय भगवान् ने इन्द्र के लिये असुरों को कैसे मारा। तब शुकदेवजी ने कहा है कि, निर्गुण अज अव्यक्त भी भगवान् अपनी माया के गुण में पैठ कर बाध्य बाधकता को प्राप्त हुए हैं। और अविवेक से कल्पित यह संसार है, इसके बाद जय-विजय के शापादि की कथा है, वही हिरण्याक्ष हिरण्यकशिपु हुए हैं। वराहावतार, नृसिंहावतार द्वारा मारे गये हैं। तिसकी कथा विस्तारयुक्त है ॥३॥

गोवर्धन पर्वत का कर से धारण की कथा भागवत स्क० १० पूर्वार्ध अ० २४–२५ में है कि—एक समय इन्द्रयाग के लिये यत्न करते हुए गोपों को देख कर कृष्ण भगवान् ने अनजान के समान पूछा कि, यह आप लोग क्या करते हो, इसका क्या फल है, इत्यादि। तब नन्दजी बोले कि, पर्जन्य-रूप भगवान् इन्द्र हैं, मेघ उन्हीं की मूर्ति हैं; सो प्राणी के जीवनरूप जल वर्षाते हैं। इससे उस इन्द्र को हम सब और अन्य लोग भी उनसे सिद्ध द्रव्यों द्वारा क्रतुओं (यज्ञों) से पूजते हैं, इत्यादि। सो सुनकर, इन्द्र के क्रोध को पैदा करते हुए, कृष्णजी ने नन्दजी से कहा कि, कर्म से ही जन्मादि सब होता है, ईश्वर भी कर्ता ही को फल देता है, अकर्ता को नहीं देता। फिर कर्मानुसारी प्राणी को इन्द्र से क्या जरूरत है, इत्यादि। हम सबको देश ग्राम तो कुछ है नहीं, वनवासी हैं इससे जो इन्द्र का यज्ञ के लिये साधन है, उससे गौ ब्राह्मण पर्वत की ही पूजा किया जाय, यही हमें अच्छा प्रतीत होता है, इत्यादि। इस बात को हरि प्रेरणा से नन्दादि सब मान गये, इन्द्रयज्ञ को छोड़ दिये और कृष्णजी के कथनानुसार किये। तब

इन्द्र क्रुद्ध होकर अकाल में भी बहुत वृष्टि के लिये मेघों को हुकुम दिये और कहे कि इन गोपों की सम्पत्ति को नष्ट करो तो अति वृष्टि होने लगी, तिससे पीड़ित गोपादि को देखकर, सात दिन तक कृष्ण भगवान् गोवर्धन पर्वत को हाथ पर धरे रहे और गौ गोपादि उसके नीचे आराम से ही रहे, सो देखकर इन्द्र अभिमान रहित हुए और मेघों का निवारण किये ॥४॥

मत्स्य होकर जल में विचरने की कथा मत्स्य पुराण अ० १ में है कि— प्रथम राजा मनु ने पुत्र को राज देकर तप किया। और मलयाचल के पास में शमादि सहित उत्तम योग प्राप्त किया। तब ब्रह्मा वर देने आये। तब मनु ने वर माँगा कि, प्रलय काल की प्राप्ति होने पर, स्थावर जंगम प्राणी की रक्षा में मैं समर्थ होऊँ, यही वर मुझे दिया जाय। ब्रह्माजी 'एवमस्तु' कह कर अन्तर्हित हो गये। फिर कभी अपने आश्रम में राजा पितृ तर्पण करते थे, तब हाथ में जल सहित सफरी मछली गिरी। दयावश उसकी रक्षा के लिये उसे जलपूर्ण घड़ा में रख दिये। दिन रात में वह सोलह अंगुल बढ़ गई। और राजा से बोली कि, दया करके मेरी रक्षा करो। फिर बड़ा कुंडा में रखा। तब रात्रि भर में तीन हाथ बढ़ कर बोली कि, रक्षा करो। फिर राजा कूप में रखा। तब वहाँ नहीं समा सकी, तब तालाब में रखा, वहाँ भी बहुत बढ़ने पर गंगा में रखा, गंगा में भी अतिवृद्धि देखकर समुद्र में रखा, और समुद्र में भी उसकी अतिवृद्धि देखकर, भयभीत होकर राजा बोला कि, आप कौन हो, क्या आप भगवान् वासुदेव हो, दूसरा कोई इस प्रकार का मत्स्य कैसे हो सकता है। मत्स्यरूप तुम जगन्नाथ ही हो, इससे तुझे नमस्कार करता हूँ। मत्स्यरूप होकर मुझे दुःखी क्यों करते हो। ऐसा कहने पर साधु-२ कहकर मत्स्यरूप भगवान् वोले कि, तुम मुझे पहचाने हो, कुछ दिन में पृथिवी जल में डूब जायेगी। तब देव समुदाय से निर्मित यह नौका यहाँ आयेगी और मैं भी आऊँगा। उस समय सब प्राणी का बीज-समुदाय की रक्षा के लिये, सब प्राणी को इस पर रखकर रक्षा करना, युगान्त वायु से जब नौका व्याप्त होगी तब मेरे शृंग में नौका को बाँधना। फिर प्रलयान्त में प्रजापति सर्वज्ञ मन्वन्तर के स्वामी देव पूज्य होंगे। अ० २ में मनु के पूछने पर प्रलयादि का वर्णन करके भगवान् लुप्त हो गये। फिर प्रलय होने पर मत्स्यरूप भगवान् मनु के पास में प्रगट हुए। और रस्सीरूप से शेष प्रगट हुए,।

श्रीमद्भागवत स्कन्ध ८ अ० २४ में कथा है कि—राजा परीक्षित ने पूछा है कि, भगवान् हीन मत्स्य स्वरूप का धारण जिस लिये किये सो कहिये। तब शुकदेवजी ने कहा है कि, गो विप्र देव साधु धर्म की रक्षा के लिये भगवान् सब प्रकार के शरीर धरते हैं। और निर्गुण होने से बुद्धि के गुणों से लिप्त नहीं होते। और प्रथम ब्रह्मा के सो जाने से नैमत्तिक प्रलय हुआ, जिससे भूरादि लोक समुद्र में डूब गये। निद्रा युक्त ब्रह्मा के मुख से निकले हुए वेदों को पास में स्थिर हयग्रीव असुर ने हर लिया। सो जानकर भगवान् ने असुर रूप का धारण किया। सत्यव्रत नामवाला कोई राजर्षि भक्त था। सो तप किया था, जो इस कल्प में सूर्य का पुत्र मनु है। एक समय कृतमला नदी में तर्पण करते हुए सत्यव्रत के अंजलि में एक सफरी आ गई, तो वह नदी के जल में ही छोड़ दिया। तब वह सफरी बोली, जाति घातक मच्छलियों से भयभीत मुझको नदी के जल में कैसे त्यागते हो। तब राजा कलश में धर कर आश्रम में लाया; फिर वह मछली बढ़ने लगी, राजा बड़ा जलाशय में रखता गया, अन्त में समुद्र में धरने गया तब मत्स्य बोला कि, यहाँ तो बली मकरादि खा ही जायेंगे। इस प्रकार मोहित होकर राजा ने पूछा कि, आप कौन हो, आप तो भगवान् मालूम होते हो, आपको नमस्कार है। आप जिस कार्य के लिये यह रूप धरे हो सो जानना चाहता हूँ इत्यादि। तब भगवान् बोले कि, आज से सातवें दिन भूर्भुवरादि लोकत्रय प्रलय समुद्र में डूबेगा, उस समय हम से प्रेरित कोई नौका आयेगी, तुम ऋषियों के सहित सब के छोटे बड़े बीजों को लेकर, उस नौका पर चढ़कर, ऋषियों के तेज से अव्याकुल होकर एकार्णव में विचरोगे। बली वायु से काँपती हुई नाव को वासुकी से उपस्थित मेरे शृंग में तुम बाँधना। जब तक ब्रह्मा की रात्रि रहेगी तब तक ऋषियों के साथ तुम को इस समुद्र में तैराते विचरूंगा और मेरी महिमा रूप परब्रह्म को भी तुम पूछ कर मेरी कृपा से हृदय में प्रकाशित समझोगे, फिर वैसा ही हुआ। और हयग्रीव को मारकर वेदों को लेकर फिर जागने पर ब्रह्माजी को दिया।

पद्मपु० उत्तर खं० ६ अ० २३ में कथा है कि—कश्यपजी से दिति अदिति द्वारा दैत्य देव की उत्पत्ति होने पर, मकर नामक महाबली असुर ब्रह्मलोक में जाकर और ब्रह्मा को मोहित करके सब वेद हर लाया। तब सब देव की प्रार्थना से भगवान् विष्णु मत्स्यरूप से उसे मार कर वेद लाये ॥५॥

कच्छप अवतार की कथा श्रीमद्भागवत स्कन्ध ८ अ० ५-६ में है कि— जब युद्ध में असुरों से मारे गये देव सब गिरने लगे और मरने लगे, तथा दुर्वासा के शाप से इन्द्र सहित सब लोकश्री (लक्ष्मी) रहित हो गये। फिर यज्ञादि क्रिया नष्ट हो गई। तब यह देखकर, इन्द्र वरुणादि देव विचार कर भी कर्तव्य का निश्चय नहीं कर सके, तब सब देवगण मेरु के शिखर पर ब्रह्मसभा में गये। और प्रणाम पूर्वक ब्रह्माजी को अपनी दशा सुनाये। फिर ब्रह्माजी ने इन्द्रादि को सत्त्व प्रभा रहित देखकर और लोगों को अमंगल-प्राय देखकर असुरों को उससे विलक्षण देखकर फिर समाहित मन से पर पुरुष का स्मरण करता हुआ, देव सबसे कहा कि, जिसके अवतार अंश कला से हम सब रचे गये हैं, उसी के शरण में हम सब चलें। ऐसा कहकर देव सहित ब्रह्मा तम से परे साक्षात् भगवान् के स्थान में गये और देव वाणी से स्तुति किये। तब भगवान् विष्णु प्रकट हुए। फिर स्तुति नमस्कार करके ब्रह्माजी ने कहा कि, जिस कार्य के लिये हम सब आये हैं, उसे आप सिद्ध करो, हमारा कल्याण करो। फिर भगवान् ने कहा कि, अभी जाओ, आप सब असुरों से सन्धि (मेल) करो और अमृत की उत्पत्ति में शीघ्र यत्न करो, कि जिसके पीने से मृत्युग्रस्त प्राणी भी अमर होंगे। क्षीर समुद्र में तृणलता औषधि डाल कर मन्दर को मन्थान और वासुकि को नेत्र (रस्सी) बना कर, मेरी सहायता से समुद्र को मथो, दैत्य क्लेश भागी होंगे और आप सब फल ग्राहक होंगे, इत्यादि। ऐसा कहकर भगवान् अन्तर्हित हो गये। फिर भगवान् को प्रणाम करके ब्रह्मा और शिवजी अपने २ स्थान में गये और अन्य देव सब बलि के पास गये और भगवान् की बताई हुई बात उससे कहे। असुर सब उस बात को मान गये। समुद्र मथने के व्यापार में लगे। मन्दरगिरि को उखाड़कर ले चले। रास्ते में गिर गया, तब भगवान् पहुँचाये। अ० ७ में है कि—मथते समय गणेश कृत विघ्न से पर्वत नीचे धँस गया। तब सबको विषादयुक्त देखकर, महान् कच्छप होकर भगवान् ने पर्वत को ऊपर किया और पृष्ठ पर धारण किया, इत्यादि।

पद्मपु० खं० १ अ० ४ में कथा है कि—पृथिवी पर विचरते हुए दुर्वासाऋषि एक विद्याधरी के हाथ में अतिसुगन्ध माला देखकर, जटा में बाँधने के लिये, वह माला उससे माँग लिये। कुछ दिन उसे लिये विचरते रहे। फिर ऐरावत पर चढ़ कर जाते हुए इन्द्र को वह माला प्रेम से दिया। इन्द्र लेकर उस माला को हाथी के शिर पर डाल दिये। हाथी भूमि में डाल

दिया। तब क्रुद्ध होकर ऋषि शाप दिया कि तेरा ऐश्वर्य नष्ट होगा, जिससे सब रत्नादि नष्ट हो गये, इत्यादि।

पद्मपु० उत्तर खं० ६ अ० २३१ में है कि—दुर्वासाजी कभी मेरु पर्वत पर गये। फिर इन्द्र को देखने की इच्छा से चले। तब हाथी पर जाते हुए इन्द्र को देखकर, पारिजात की माला इन्द्र को दिये। इन्द्र उसे हाथी के शिर पर रख दिये, हाथी उसे भूमि में फेंक दिया। इससे दुर्वासा क्रुद्ध होकर, त्रैलोक्य की सम्पत्ति के नाश के लिये शाप दिया। इससे इन्द्र की लक्ष्मी आदि नष्ट हो गईं; तब समुद्र का मथन का विचार हुआ। तब कूर्मरूप होकर भगवान् ने मन्दर का धारण किया, इत्यादि।

स्कन्द पु० खं० २-४ अ० ८ में कथा है कि—दुर्वासा के शाप से इन्द्रादि देव ऐश्वर्य रहित हो गये, तब समुद्र के मथने पर ऐरावतादि रत्न उत्पन्न हुए, और हरितकी आदि दिव्य औषधियाँ लक्ष्मी तुलसी उत्पन्न हुईं, इत्यादि ॥६॥

द्वारावती (द्वारिका) में शरीर छोड़ने की कथा महाभारत मौसल पर्व में है कि यादव कुमार सब साम्ब को स्त्रीरूप बनाकर ऋषियों के पास ले गये और पूछे कि, यह बभ्रु की स्त्री पुत्र की इच्छा वाली है, कौन सन्तान पैदा करेगी। ऋषि लोग क्रुद्ध होकर बोले कि, यह घोर लोहा का मूसल को पैदा करेगी और सो तुम सबका नाशक होगा, फिर ऋषि सब भगवान् के पास आये, भगवान् वृत्तान्त सुन कर सब को सुनाये, एक दिन के बाद साम्ब ने मूसल पैदा किया, राजा ने उसे चूर्ण कराकर समुद्र में गिरवाया और नियम किया गया कि; आज से मद्यपान कोई नहीं करे। परन्तु वहाँ काल प्रवेश किया, उतपात अशकुन होने लगे, जिस ग्रहदशा में महाभारत हुआ था, छत्तीस वर्ष पर उसी दशा को भगवान् ने देखा, फिर सब को तीर्थयात्रा के लिये आज्ञा दिया, तब प्रभास क्षेत्र में जाकर सब बसे, परन्तु वहाँ सब माँस मद्यादि खाने पीने लगे, फिर किसी दिन सभा में ही वादविवाद होते २ आपस में युद्ध हो गया। प्रथम अस्त्र शस्त्र से लड़े, अस्त्र शस्त्र नष्ट होने पर उस लोहचूर्ण से जो तृण हुआ था; उसी से मारने लगे और वह तृण वज्र तुल्य मृत्यु का हेतु हुआ। फिर दारुक आया, भगवान् बभ्रु को स्त्रियों की रक्षा में नियुक्त किये। परन्तु बाद में उसे भी मारा हुआ देख कर और बलरामजी को वहाँ छोड़ कर और दारुक को अर्जुन के पास भेज कर, आप

द्वारका गये। पिता से सब समाचार सुनाये और अर्जुन के साथ जाने के लिये कह कर, फिर वहाँ गये तब तक बलराम जी भी शरीर त्याग दिये थे। फिर आप भी जरा भिल्ल के बाण लगने पर देह त्यागे, इत्यादि ॥७॥

जगन्नाथपुरी में जगन्नाथ का पिण्ड गाड़ने की कथा ब्रह्मपुराण अ० ४३ में है कि एक बार श्रीलक्ष्मणजी ने भगवान् से प्रश्न किया, कि योग यज्ञादि तो कल्याण के कठिन साधन हैं ही, कोई सुगम स्थान तीर्थ बताइये कि, जहाँ जाने से सहज में कल्याण हो। तब भगवान् बोले कि–सुखसाध्य सुफल दाता तीर्थ रूप पुरुषोत्तमपुरी है, परन्तु उसका भेद कोई नहीं जानता है, ब्रह्मा भी सब संसार को प्रगट करके मेरे ध्यान में लगे, तो मैं प्रगट होकर उनसे पूछा कि, किस कार्य के लिये ध्यान कर रहे हो, फिर उन्होंने कहा कि, योगादि की अपेक्षा सुगम साधन तीर्थस्थान बताइये, तो उनको भी मैंने यही पुरुषोत्तम स्थान बताया। यह स्थान दक्षिण समुद्र के किनारे है, वहाँ एक अक्षयबट भी है, तथा देव निर्मित एक मूर्ति है, अक्षयबट की छाया में ही जाने से मनुष्य ब्रह्महत्या पाप से मुक्त होता है, और मूर्ति के दर्शन से मेरे लोक में जाता है, मुक्त होता है। परन्तु इस प्रकार अनायस ही मेरे भवन में लोगों को जाता हुआ देखकर, यमराज मेरे (भगवान् के) पास में आये और स्तुति करने लगे, तब पूछने पर उन्होंने कहा कि, इस पुण्य स्थान में जो इन्द्रनील मणिमयी श्रेष्ठ सर्व कर्म फलप्रदा प्रतिमा है, प्रेमभाव से उसे देख करके ही श्वेत नामक आपके भवन में सब चले जाते हैं, इससे मैं अब अपना व्यापार नहीं कर सकता हूँ। इस लिये कृपा करके उस प्रतिमा को हर लीजिये। इस बात को सुनकर, यम से मैंने कहा कि, उस प्रतिमा को मैं बालू से गुप्त कर दूंगा। फिर बालू से उसे ढाँक कर, यम को यमपुरी में भेज दिया, इत्यादि। इसी पुरुषोत्तम स्थान में अवन्तिकापुरी के राजा इन्द्रद्युम्न ने पवित्र स्थान जानकर; अश्वमेध यज्ञ किया और भगवान् का दर्शन पाया तथा कृष्ण बलभद्र सुभद्रा की मूर्तियों की स्थापना किया इत्यादि। नारदीय पु० उ० खं० अ० ५२ इत्यादि में भी यह कथा है। उस मूर्ति को गाड़ने की दृष्टि से वा कृष्णजी की शरीर दृष्टि से कहा गया है कि—'लै जगन्नाथ पिण्ड नहिं गांड़ा'। ब्रह्मपु० अ० ६७ में ब्रह्माजी का कथन है कि, आदि कल्प में अव्यक्त जन्मवाला मैंने विश्वकर्मा से कहा कि, भगवान् वासुदेव की एक पत्थर की मूर्ति बनाओ कि, जिसका दर्शन करके राक्षसादि से भयभीत मनुष्यादि और इन्द्र पर्यन्त देव भी स्वर्ग में निर्भय होकर बसें।

फिर उस प्रतिमा का निर्माण होने पर इन्द्र उसे अपने लोक में ले गये। और उसी की पूजा के बल से वृत्रादि असुरों को नष्ट किये। फिर त्रेता में रावण हुआ। वह तप के बल से इन्द्र को भी जीत कर, उस प्रतिमा को ले आया और विभीषण की प्रार्थना से पूजने के लिये विभीषण को दे दिया। फिर रावण को मारकर रामजी उस प्रतिमा को लाये और निजलोक की यात्रा के समय समुद्रेश को दे गये। वही प्रतिमा कृष्णावतार के समय समुद्रेश के द्वारा समुद्र के किनारे पुरुषोत्तमपुरी में की गई। और अ० ७२। २६ का श्लोक है कि, 'उज्जहारात्मनः केशौ सितकृष्णौ द्विजोत्तमाः।'

क्षीरशायी भगवान् ने बलराम और कृष्णावतार के लिये श्वेत कृष्ण दो बाल उखाड़े। जिससे उनके दो बाल तुल्य ये दोनों हुए। इससे कबीर साहब पूर्ण तत्त्व के साथ लगने को कहते हैं ॥८॥

स्कन्दपु० खं० ६ अध्याय २५१ में कथा है कि—तारकासुर के उपद्रव से देव सब पार्वतीजी की रति में विघ्न किये, तब क्रुद्ध होकर शाप दिया कि—

'मर्त्यलोकं च संप्राप्य प्रतिमासु च सर्वशः।
सर्वे देवाश्च वरदा लोकानां प्रभविष्यथ ॥१॥
यस्माद्विष्णो महेशानस्त्वयाऽपि न निषेधितः।
तस्मात्त्वमपि पाषाणो भविष्यसि न संशयः ॥२॥
हरोऽप्यश्ममयं रूपं प्राप्य लोकविगर्हितम्।
लिङ्गाकारं विप्रशापान्महद् दुःखमवाप्स्यति ॥३॥
निम्नगा गण्डकीनाम ब्रह्मणो दयिता सुता।
पाषाणसारसंभूता पुण्यदात्री महाजला।
तस्याः सुविमले नीरे तव वासो भविष्यति ॥४॥

(रमैनी ८१ के अन्तर्गत)

ब्रह्माजी की धिया (पुत्री) के साथ नशाने की कथा ऐतरेय ब्रा० १३। ६ में है कि—प्रजापति ने अपनी पुत्री को भार्या रूप से ध्यान किया कि, जिसका दिव नाम था, या उष नाम था। रजोदर्शनयुक्त मृगीरूप उसके प्रति मृगरूप होकर प्रजापति प्राप्त हुए, इत्यादि।

स्कन्दपु० खं० ३-१ अ० ४० में कथा है कि—वाक् नामक अपनी पुत्री से भोग की इच्छा ब्रह्मा ने की, वह तो लज्जा से हरिणी हुई ! फिर ब्रह्मा हरिण रूप होकर धावा किये, तब शिवजी व्याधरूप होकर, ब्रह्मा के शिरों को पिनाक से काट दिये। फिर सावित्री गायत्री की प्रार्थना से जीवित किये। शिवपु० सं० २ खं० २ में कथा है कि—ब्रह्माजी की मानसपुत्री संध्या नाम वाली हुई। उसे देखकर ब्रह्मा मोहित हुए। तब उनके पुत्रों के सामने ही शिवजी ने उन्हें बहुत फटकारा। फिर ब्रह्माजी ने स्वयं तप किया और दक्ष से तप करवाया कि जिससे ऐसी स्त्री हो, कि जो शिव को मोहित करे। फिर दक्ष से सती उत्पन्न हुई और उससे शिवजी के विवाह के समय ब्रह्मा भी मोहित हुए और पश्चाताप करने लगे कि, जो दूसरे का अहित चाहता है, उसको अपना भी अहित होता ही है, इत्यादि। और वर्णन है कि, सती के विवाह के समय सती के मुख को देखकर तथा पार्वती के विवाह के समय पार्वती के पैर को देखकर, ब्रह्मा का धातुपात हुआ। दोनों समय रुद्र मारने के लिए तैयार हुए, तब देव ऋषि सब बचाये। सती के विवाह के समय जो धातुपात हुआ, उससे मेघों की सृष्टि हुई। पार्वती के विवाह के समय ब्रह्मा जी के वीर्य से बालखिल्या ऋषि सब उत्पन्न हुए। और तंत्र-वार्तिक में लिखा है कि, विधिनिषेधादि मनुष्य के लिए है, देव प्रजापति के लिए नहीं, इससे कोई दोष नहीं। प्रजापालन करने से प्रजापति सूर्य का नाम है सो अरुणोदय वेला में उषा (प्रभात) को प्राप्त होते हैं, काल्पनिक अर्थ में तात्पर्य है, इत्यादि ॥१॥

ब्रह्मपु० खं० गौतमी माहात्म्य अ० १६ में ब्रह्मा जी का कहना है कि, मैं सब कन्याओं में भी अति सुन्दर कन्या रच कर, गौतम जी के पास में पालने के लिये रख दिया और कह दिया कि, इसे पालो। परन्तु जब युवती हो जाय तब मेरे पास लाना। उसे पोस कर निर्विकार वह मुनि मेरे पास लाये, उसे देख कर, सब देव ऋषि को उसे पाने की इच्छा हो गई। तब मैंने कहा कि, सम्पूर्ण पृथिवी की प्रदक्षिणा करके जो प्रथम आयेगा, उसी से इसका विवाह होगा। सब देवादि भूमि की प्रदक्षिणा करने गये और गौतम जी अर्द्ध प्रसूता गौ तथा शिवलिङ्ग की प्रदक्षिणा करके ब्रह्माजी के पास गये और ब्रह्माजी भी पृथिवी की प्रदक्षिणा मान कर विवाह कर दिये। देव सब धीरे-धीरे आये। और अपने-अपने लोक में गये। परन्तु इन्द्र काम से मोहित होकर ऋषि के आश्रम में ब्राह्मण के वेष से रहने लगे। एक दिन

सबेरे (प्रभात) के संध्या आदि करके गौतम ऋषि शिष्यों के सहित आश्रम से बाहर गये। इन्द्र ऋषि का रूप धर कर, अहिल्या के साथ रति में प्रवृत्त हो गये। इतने में ऋषि भी बाहर से लौट कर आये, तो अहिल्या को नहीं देखा और गृह के रक्षक सब कहने लगे कि आश्चर्य है कि, ऋषी अनेक रूप से रहते हैं, भीतर भी हैं और बाहर से भी आ रहे हैं, इत्यादि। सो सुन कर ऋषि भीतर चले, तब इन्द्र विलाड़ होकर घूमने लगे। डरती हुई अनजान अहिल्या भी आई, तब शुष्क नदी होने के लिए अहिल्या को शाप दिये। फिर प्रार्थना करने पर बोले कि, गौतमी नदी के संगम होने पर अपने रूप को पावोगी और इन्द्र को सहस्र भग का शाप दिये। फिर बोले कि, गौतमी में स्नान करके सहस्राक्ष होवोगे॥ ब्रह्म पु० खं० १ अ० ५६ में यही कथा रूपान्तर से है। प्रायः इस प्रकार की परिमित कथायें तत्तन्माहात्म्य के प्रसङ्ग से बहुत रूप से हो गई हैं। वाल्मीकि रामायण बालकाण्ड सर्ग ४८ में कथा है कि—गौतम जी स्नान करने गये थे, इतने में उनका रूप धरके सहस्राक्ष इन्द्र आये और अहिल्या समझ गई, परन्तु दुष्ट भाव से व्यभिचार किया और भाग जाने के लिए कही, परन्तु तब तक ऋषि आ गये और अफल (वृष्ण रहित) होने के लिये इन्द्र को शाप दिये और प्राणियों से अदृश्य होकर भस्मशायिनी निराहार रहने का शाप[1] अहिल्या को दिये हजार वर्ष के बाद वहाँ रामचन्द्र के जाने से शाप से मुक्ति के लिए कहे और वैसा ही हुआ, इत्यादि। अध्यात्मरामायण बालकाण्ड सर्ग ५ में है कि, गौतम के ब्रह्मचर्य से संतुष्ट ब्रह्मा गौतम को लोकसुन्दरी कन्या अहिल्या दिये और कभी गौतम के बाहर जाने पर, इन्द्र गौतम के वेष से घर में जाकर व्यभिचार किये और मुनिवेष से ही बाहर निकलते समय मुनि उन्हें देखकर, सहस्र भग के लिए शाप दिये और अहिल्या को तप भजन करती हुई अदृश्य रूप ये शिला में निराहार रहने का शाप दिये और अनेक हजार वर्ष के बाद जब राम लक्ष्मण सहित इस आश्रम में आयेंगे, तेरा आश्रम रूप शिला पर चढ़ेंगे, तब तुम पाप से मुक्त होगी, राम की परिक्रमा स्तुति नमस्कार से शाप से मुक्त होगी, इत्यादि ॥२॥

---

१. तंत्रवार्तिक में "अहल्यायां मैत्रेयामिन्द्रो जारः" यहाँ प्रतापी होने से सूर्य को इन्द्र कहा गया है, और अहनि (दिन) में लीन होने रात्रि को अहल्या कहा है, उसे नष्ट करने से सूर्य जार हैं, व्यभिचार से नहीं, इत्यादि विचार है।

चन्द्रमा की कथा मत्स्यपु० अ० २३ में है कि—ब्रह्मा जी अत्रि ऋषि को सृष्टि करने के लिए आज्ञा दिये, तब तीन देव की उपासना आदि रूप तप ऋषि ने किया, जिससे सोम (चन्द्रमा) उत्पन्न हुए। फिर ऋषि देवादि सोम को अपना स्वामी बनाये, दक्ष कन्या प्रदान किये, फिर सोम राजसूय यज्ञ किये। यज्ञ की समाप्ति होने पर, सोम के रूप से मोहित होकर, लक्ष्मी, सिनीवाली, द्युति, तुष्टि, प्रभा, कुहू, कीर्ति, धृति, आदि देवियाँ अपने-अपने पतियों को छोड़कर, स्वयं सोम को सेवने लगीं। सोम भी उनमें आसक्त हुए और उनके पति लोग भी कुछ कर नहीं सके। उसके बाद देवगुरु की पत्नी तारा को किसी बाग में देखकर, सोम उसे पकड़ लिया, तारा भी उसमें अनुरक्त हो गई। देव गुरु भी कुछ कर न सके, दीनतापूर्वक माँगे, तो भी सोम नहीं दिया, तब शिवजी क्रुद्ध होकर युद्ध करने लगे, फिर ब्रह्मा जी के समझाने से युद्ध उपरत हुआ और वृहस्पति को तारा मिली॥ पद्म पु० खं० १ अ० १२ में भी सोम की यही कथा है॥ विष्णुपुराण अंश ४।६ में कथा है कि—ब्रह्मा के पुत्र अत्रि और अत्रि के पुत्र सोम (चन्द्रमा) हुए। ब्रह्मा जी उन्हें सब औषधि द्विज नक्षत्रों के राज्याभिषेक करके राजा बनाये। फिर सोम ने राजसूय यज्ञ किया। जिससे प्रतिष्ठा के बढ़ जाने से उनमें मद का प्रवेश हो गया और मद से गुरुदेव वृहस्पति की स्त्री तारा को हर लिए। वृहस्पति ब्रह्मा जी की प्रेरणा द्वारा सब देव ऋषि के कहने पर भी नहीं दिये। फिर वृहस्पति के द्वेषी शुक्राचार्य चन्द्रमा के पक्ष में हो गये और सब दैत्य दानव भी चन्द्रमा के पक्ष में हुए। और अंगिरा के शिष्य रुद्र वृहस्पति के पक्ष में हुए तथा सब देव भी वृहस्पति के पक्ष में हुए। इस प्रकार तारा के लिए महान् युद्ध हुआ, जिससे सब संसार भयभीत होकर ब्रह्मा जी के शरण में गया, तब ब्रह्मा जी युद्ध को रोककर, तारा को वृहस्पति के प्रति दिलाये। वृहस्पति ने उसे गर्भवती देख कर, गर्भ को त्यागने के लिये कहा। फिर उसने इषीकास्तम्ब में गर्भ को त्यागा, गर्भ (बालक) को सुन्दर देख कर, सोम वृहस्पति दोनों को लेने की इच्छा हुई, परन्तु पूछने से सोम का वीर्यज ठहरा, इससे सोमपुत्र बुध कहलाये। देवी भागवत स्क० १।११ में कथा है कि—तारा चन्द्रमा को यजमान जानकर, उनके घर में गई और वहाँ दोनों कामासक्त हो गये, और वृहस्पति के कहने से नहीं दीये, तब युद्ध होने पर भृगु ऋषि के कह से दिये, इत्यादि॥३॥

महाभारत आदिपर्व अ० ६७ में कथा है कि—वसुदेव जी के पिता शूरसेन थे, उनकी पृथा नाम की अपनी पुत्री थी, उसे अपनी फुआ (पिता

की बहन) का पुत्र कुन्तिभोज के प्रति अर्पण किये; क्योंकि कुन्तिभोज अपत्य रहित थे और शूरसेन प्रथम से करार (प्रतिज्ञा) किये थे, कि प्रथम जो अपत्य होगा, सो मैं आपको दूंगा, पृथा ही फिर कुन्ती कहलाने लगी। और वहाँ दुर्वासा ऋषि की बड़ी सेवा भक्ति उसने किया, तब ऋषि प्रसन्न होकर बहुत मन्त्रादि कुन्ती को बताये। फिर एकान्त में मन्त्र की परीक्षा के लिए कुन्ती ने मन्त्रपूर्वक सूर्य देव का आह्वान किया, तब (हरि) सूर्यदेव मनुष्य शरीर से आये और मोह से रति के लिए प्रवृत्त हुए, जिससे कर्ण की उत्पत्ति कुन्ती की कुमार अवस्था में ही हुई। देवी भागवत स्क० २।६ में भी है कि, कुन्ती शूरसेन की पुत्री थी, कुन्तिभोज उसे दत्तक लेकर, अपनी पुत्री माने थे और कुन्तीभोज के ही घर में कुन्ती ने दुर्वासा की सेवा से मन्त्र प्राप्त किया था, इत्यादि ॥४॥

(शब्द ३ के अन्तर्गत)

यह कथा प्रथम आ गई है कि, तुलसी का पति शंखचूड़ था, उसके मरने पर उसकी हड्डी से शंख हुआ, वही शंखासुर था। और भागवत स्कन्ध १० पूर्वार्ध अ० ३४ में भी कुबेर के अनुचर शंखचूड़ के बध की भी कथा है कि, वह गोपियों को ले भागा था, फिर उसे मुष्टिका से ही मारकर भगवान् उसके शिर में रत्न था, सो ले लिये ॥१॥

स्तम्भ फोर कर बाहर होने की, नख से उदर विदारने की कथा, श्रीमद् भागवत स्क० ७·अ० ८ में है कि—प्रह्लाद असुर के लड़कों को भी भगवद्-भक्ति का उपदेश दिये, सो सुन कर उनके पिता उन्हें मारने के लिये निश्चय किया और बहुत फटकारा और कहा कि, क्रुद्ध होने पर हमसे ईश्वर सहित तीनों लोक काँपता है। तुम किसके बल से मेरी आज्ञा का उलंघन किया है, इत्यादि। तब प्रह्लाद बोले कि, वह भगवान् मेरा ही बल नहीं है, किन्तु आपका भी बल वही हैं और सब बलियों का बल है। स्थावर जंगम पर अवर ब्रह्मादि सब उसके वश में हैं, भगवान् ही सृष्टि आदि करते हैं, आसुरभाव आप छोड़ो तो कोई आपके शत्रु नहीं है, इत्यादि। इन बातों को सुनकर, हिरण्यकशिपु क्रुद्ध होकर बोला कि, अब तुम अवश्य मरने की इच्छावाला हो, इसी से अधिक विरुद्ध कथा करते हो, इत्यादि। और तुमने जो हमसे भिन्न जगदीश्वर कहा है, सो कहाँ है, यदि सर्वत्र है, तो इस स्तम्भ में क्यों नहीं दिखता है, अब मैं तेरा शिर काटूँगा, जिसे तुम

अपना रक्षक मानता है, देखें कि वह तुम्हारी रक्षा करता है, इत्यादि कह कर, तलवार लेकर, आसन पर से उठा और अपनी मुष्टि से स्तम्भ में मारा, उसी समय उस स्तम्भ में भयानक शब्द हुआ जिससे सब डर गये और प्रथम कुछ नहीं दिखा, फिर अद्भुत स्वरूप नृसिंह दिख पड़े। जिससे वह असुर आश्चर्य में पड़ गया, अपनी मृत्यु की शंका करने लगा, गदा लेकर युद्ध के लिए तैयार हुआ, एक बार भगवान् के हाथ में जाकर भी निकल गया। फिर नृसिंह जी की गर्जना से उसकी आँखें ढप गईं, तब भगवान् पकड़ कर, अस्त्रादि से अबध्यता का वर के कारण से द्वार के ऊपर अपने जंघे पर गिरा कर नखों से उदर फाड़ दिये, इत्यादि ॥२॥

कंस बध की कथा श्रीमद्भागवत स्क० पूर्वार्ध अ० ४४ में है कि—चाणूर मुष्टिकादि मल्लों के नष्ट होने पर कंस क्रुद्ध होकर कहा कि दुर्वृत्त वसुदेव के पुत्रों को यहाँ से निकालो गोपों के धन को हर लो, दुर्बुद्धि नन्द को बाँधो और वसुदेव को शीघ्र मारो, इत्यादि। सो सुन कर क्रुद्ध कृष्णदेव, उछल कर अति शीघ्रता से कंस के ऊँचे मचान पर चढ़ गये फिर उन्हें प्रवेश करते हुए देख कर, अपना मृत्यु समझ कर, कंस ढाल तलवार, आसन पर से उठ कर लिया। फिर तलवार लेकर घूमता हुआ कंस को कृष्णजी ने बल से पकड़ लिया। और केशों को पकड़ कर, मंच पर से नीचे गिराया और आप उसके ऊपर गिरे। इतने में उसका प्राण छूट गया, इत्यादि ॥३॥

(शब्द ३० के अन्तर्गत)

वाल्मीक ऋषि की कथा स्कन्दपु० खं० ५ अ० २४ में है कि—भृगुवंश में सुमति नामक ब्राह्मण था, कौशिकी उसकी स्त्री थी, अग्निशर्मा उसका पुत्र था। कभी अकाल पड़ने पर वह सुमति, स्त्री, पुत्र सहित दक्षिण दिशा में गया। और अहीर चोरों के साथ जंगल में रहने लगा। इससे अग्निशर्मा को चोरों के साथ संगति हो गई। उस मार्ग से आनेवालों को वह पापी अग्निशर्मा मारने लगा। किसी समय तीर्थयात्रा के प्रसंग से सप्तर्षि भी उसी मार्ग से आये। उन्हें मारने की इच्छापूर्वक अग्निशर्मा ने कहा कि, वस्त्र छाता आदि धर दो और तुम सब मारे जावोगे। अत्रि ऋषि बोले कि, हम सब तीर्थयात्रा में जा रहे हैं, हम सबको दुःख देनारूप पाप तेरे मन में क्यों भावता है। अग्निशर्मा बोला कि, मेरे माता पिता पुत्र हैं, उनके पालन का भाव मेरे मन में रहता है। ऋषि बोले कि, जाकर पिता आदि से पूछो

कि, तुम सब के लिये मैं पाप करता हूँ, सो किस २ को लगेगा। अग्निशर्मा को कुछ होश हुआ। जाकर पूछा। सब कह दिये कि, पाप तुम को होगा, मैं क्या जानता हूँ। यह सुनकर ऋषियों के शरण में आया। ध्यान और रामनाम महामन्त्र ऋषि बताये। वह ऐसा ध्यानस्थ हुआ कि, उसके ऊपर बल्मीक (दीमक) हो गया। इससे बाल्मीक कहलाया।

स्कन्दपु० खं० ६ अ० १२४ में कथा है कि—चमत्कार पुर में माण्डव्य वंश के लोहजंग नामक ब्राह्मण था। उसकी स्त्री पतिव्रता थी, माता पिता जीवित थे। एक समय अकाल पड़ने पर, आनर्त देश में गया। वहाँ भी भोजन वस्त्र की प्राप्ति नहीं होने पर, माता आदि की रक्षा के लिए, चोरी डकैती करने लगा। फिर अच्छा समय होने पर भी लोहजंग का वही काम जारी रहा। उसी समय तीर्थयात्रा में जाते हुए सप्तर्षि उसे मिल गये, उन्हें वह मारने दौड़ा। फिर उसके यज्ञोपवीत को देखकर ऋषि सब बोले कि, तुम ब्राह्मण होकर यह कुकर्म क्यों करते हो। उसने कहा कि, कुटुम्ब के पोषण के लिये यह कर्म करता हूँ। ऋषियों ने कहा कि, जाकर सबसे पूछो कि इस पाप के वे सब भागी हैं कि नहीं। इस बात को सुनकर वह भयभीत हुआ और जाकर सबसे पूछा, तो पाप के भागीपन को सब नहीं स्वीकार किया। फिर वह पश्चात्ताप करता हुआ ऋषियों के पास में आया और अपने कल्याण के लिये प्रार्थना किया तब हँसी के स्वभाव वाला पुलह मुनि ने उससे कहा कि, 'झाटघोट' यह मन्त्र सब सिद्धि को देनेवाला है, इसीको सदा जपो। फिर मुनि सब वहाँ से चले गये। वह उसको जपते-जपते देहादि को भूल गया। उसके देह पर वल्मीक हो गया, इससे बाल्मीक कहलाया, महासिद्ध ज्ञानी हुआ, इत्यादि।

स्कन्दपु० खं० ७ अ० २७८ में कथा है कि–शमीमुख नामक ब्राह्मण के वैशाख नामक पुत्र था। गुरु सेवा से अन्य कोई शुभ कर्म नहीं करता था। माता पिता के वृद्ध होने पर, चोरी आदि से पालने लगा। कभी सप्तर्षि मिल गये, तो उन्हें भी मारना चाहा, तब वे बोले कि, जिसक पोषण के लिए पाप करते हो, उससे पूछो कि, वह पाप के साझी हिस्सेदार हैं कि नहीं। पूछने पर, पिता आदि बोले कि,

'एकः पापानि कुरुते फलं भुंक्ते महाजनः।
भोक्तारो विप्रमुच्यन्ते कर्ता दोषेण लिप्यते ॥' इत्यादि।

सो सुनकर, वैशाख ऋषियों के पास में गया, विनय करने पर "झाट-घोट" यह मन्त्र सुनाये, उसीको जप कर वह बाल्मीक ऋषि हुआ, इत्यादि।

(शब्द ३७ के अन्तर्गत)

पीपाजी की कथा भक्तमाल में है कि—पीपाजी प्रथम राजा थे और दुर्गा के भक्त थे। फिर संसार से उपराम होकर, दुर्गाजी से भगवद्भक्ति का उपाय पूछा। तब दुर्गाजी ने कहा कि, तुम रामानन्दजी के शिष्य होवो, तब भगवद्भक्ति मिलेगी। फिर राजा काशी में रामानन्दस्वामी के यहाँ शिष्य होने के लिए गया, तब कुछ परीक्षा करके स्वामीजी ने शिष्य बनाया, साधु सेवा के लिए आज्ञा देकर घर लौटा दिये। तब राजा घर जाकर साधु सेवा करने लगा। फिर एक वर्ष के बाद स्वामी रामानन्दजी उनके मकान (घर) पर शिष्यों के सहित गये। तब पीपाजी भी विरक्त साधु हो गये। परन्तु बारह रानी में से छोटी रानी सीता उनका साथ नहीं छोड़ी, वह भी विरक्ता हो गई और दोनों परम उदार चरित्र किये; तथा भक्ति बल से परम सिद्ध पाये इत्यादि ॥१॥

कवि चक्रर्ती जयदेवजी की कथा भक्तमाल में है कि—जयदेवजी राम-कृष्ण गीतगोविन्द के कर्ता परम भक्त हुए हैं। उनको कभी मार्ग में ठग मिल गया। उस समय उनके पास में कुछ द्रव्य था। ठगों ने पूछा कि, तुम कहाँ जाते हो, जयदेवजी ने कहा कि, जहाँ तुम जावोगे, वहाँ ही मैं जाता हूँ, और उन ठगों को ठग जानकर भी जो कुछ द्रव्य था, सो उन्हें दे दिया, कि पाप का जड़रूप धन को त्यागना ही उचित है। ठगों ने समझा कि यह कपटी है, हमें द्रव्य देकर, फिर नगर में जाकर हमें पकड़वा देगा। इससे इसे मार डालना चाहिये। फिर कुछ विचार कर जयदेवजी के हाथ पाँव काट कर, निर्जल कूप में उन्हें डाल दिया। प्रारब्ध का फल समझ कर जयदेवजी प्रसन्न ही रहे। फिर दैवयोग से वहाँ एक राजा आया। उन्हें कूप से निकाल कर, सज्जन भक्त समझ कर, अपने घर ले गया, और सेवा करने लगा। फिर राजा को सन्तसेवी जानकर, वे ठग सब भी सन्त के वेष बना कर वहाँ आये। जयदेवजी उन्हें पहचान गये, तो भी उनकी पूर्ण सेवा के लिये राजा को आज्ञा दिये, परन्तु ठग भी यशदेवजी को पहचान लिये। इससे भय के मारे शीघ्र विदाई माँगने लगे। तब जयदेवजी ने पूर्ण द्रव्य दिलवा कर विदा करवाये। और सिपाही को कहे कि इनके घर तक इन्हें पहुँचावो, ये मेरे भाई हैं, इत्यादि। फिर पहुँचाने वाला सिपाही रास्ते

में उनसे पूछा कि, जयदेवजी से आप सबको कौन सम्बन्ध है कि, जिससे इतना सत्कार करवाया है। ठगों ने कहा कि, हम सब एक राजा के पास नौकर थे। एक अपराध में राजा ने इन्हें मारने का हुकुम हमें दिया, हमने इनके हाथ पैर काट कर छोड़ दिया। इसीसे सत्कार करवाये हैं। इतना कहते हीं ठग सब भूमि में धँस गये। सो सुनकर जयदेवजी हाथ पैर पटकने लगे, फिर ईश कृपा से पूर्व तुल्य हाथ पैर युक्त हो गये, इत्यादि ॥२॥

नामदेवजी की कथा भक्तमाल में है कि—छिपा वामदेव भक्तजी के नाती (दौहित्र) नामदेव भक्त हुए हैं। जिनके विषय में कहा जाता है कि, "नामदेवजी के छाजन छाया। मंदिर फिराया गाय जिलाया ॥" नामदेवजी के घर में अचानक ही अग्नि लग गई, तब अग्नि से बची हुई वस्तु को भी नामदेवजी ने स्वयं अग्नि में डाल दिया कि, हे भगवत् स्वरूप अग्निदेव ! यह भी मैं आपको भेंट करता हूँ, इसको स्वीकार कीजिये, आपके इस घर में अन्य तो आ ही नहीं सकता है। फिर इस भावना से प्रसन्न होकर भगवान् स्वयं उनके घर छाये। उत्सव के समय नामदेवजी भगवद् मन्दिर में गये। तहाँ विचारा कि जूता को बाहर छोड़ने से उसमें मन लगा रहेगा, इससे उसे कमर में बाँध लिया। सो जान कर, अन्य लोकों ने उन्हें धक्का देकर निकाल दिया। फिर नामदेवजी ने प्रसन्नतापूर्वक मन्दिर के पीछे जाकर भजन करने लगे, तो जड़ से मन्दिर फिर गया। नामदेव के सन्मुख हो गया। और नाना के कहीं जाने पर, नामदेवजी भगवान् को भोग लगाये, परन्तु भगवान् प्रकट होकर दूध नहीं पिये, तो नामदेवजी भी भोजन नहीं किये, तीसरे दिन भी भगवान् के दूध नहीं पीने पर नामदेवजी चाकू से अपना गला काटना चाहा। तब प्रेमवश भगवान् प्रगट हुए और दूध पीये। उनके नाना के आने पर, यह वृत्तान्त सर्वत्र फैल गया सो सुनकर यवन बादशाह परीक्षा के लिए मरी हुई गौ को जिलाने के लिए कहा, तो वह भी भगवत्-कृपा से जीवित हो गई, इत्यादि ॥३॥

(शब्द ४० के अन्तर्गत)

कपि (हनुमान्) जी की कथा ब्रह्मपु० गौतमी मा० अ० १४ में है कि—ब्रह्मगिरि के पास में अंजन नामक पर्वत है, किसी मुनि के शाप से भ्रष्ट अप्सरा अंजनी नामक बान्दरी होकर वहाँ रहती थी, उसके पति का नाम केसरी था, सो कभी दक्षिण समुद्र की तरफ चला गया और उसके बाद अंजन

पर्वत पर अगस्त्य मुनि आये और अंजनी की पूजा से प्रसन्न होकर, बर माँगने के लिये कहे, तब अंजनी ने लोकोपकारक बली पुत्र मांगा, फिर उसके बाद वायुदेव आये और कामवश होकर, उससे रमण किये, जिससे हनुमानजी की उत्पत्ति हुई। और वायुदेव के कहने से, अंजनी गौतमी में स्नान किया, उससे शाप से मुक्त हो गई।

भविष्य पु० पर्व ३। अ० १३ में कथा है कि शिवजी मानसरोवर के उत्तर पर्वत पर गये और वहाँ ही अंजनी रहती थी, तथा उसके पति केसरी रहता था, केशरी के मुख में किसी प्रकार रुद्र के घोर तेज प्रवेश किया और वायुदेव भी केसरी के देह में प्रवेश किये, उसके बाद वह केसरी से कामातुर होकर अंजनी से रति किया, जिससे हनुमान जी की उत्पत्ति हुई। फिर कुरूप देख कर माता त्याग दिया, तब हनुमान जी ने उछल कर सूर्य को पकड़ा, फिर रावण युद्ध किया, कि जिससे सूर्य को छोड़ कर रावण से ही लड़ने लगे, तब रावण डर कर भागा, इत्यादि।

शिव पु० संहिता ३। अ० २० में कथा है कि–मोहिनीरूप के दर्शन से जो शिव जी का वीर्य गिरा था, उसी को सप्तर्षि लोक पत्ते में रख दिये थे, उसी को अंजनी में उसके कान द्वारा स्थापित किये कि जिससे रुद्रावतार हनुमान हुये, इत्यादि ॥१॥

ब्रह्मवैवर्त पु० ब्रह्मखंड अ० ८ में नारद जी की कथा है कि—ब्रह्मा जी ने सनकादि आदि की उत्पत्ति करके, उनसे सृष्टि करने के लिये कहा तो, वे लोक सृष्टि नहीं करके तप परायण हो गये। उसके बाद अन्य ऋषियों की और नारद जी की सृष्टि करके; सृष्टि करने के लिये कहा तो, नारद जी ने कहा कि, पहले मेरे पूर्वजों को लाइये और मैं इस सृष्टि में नहीं लगूँगा, इत्यादि। तब ब्रह्मा जी ने ज्ञान का लोप (अभाव) होने का, कामी गन्धर्व होने का और दासी पुत्र होने का शाप दिया। फिर नारद जी ने तीन कल्प तक अपूज्यता का शाप दिया, इत्यादि। अ० २३ में हैं कि शाप से मुक्त होने पर फिर भी नारदजी ब्रह्माजी के पुत्र हुए; तब फिर भी ब्रह्माजी विवाह के लिये कहे, परन्तु किसी प्रकार विनयादि से छुटकारा पाये और तपके लिये पधारे ॥२॥

लिङ्ग पु० अ० ६८ में कथा है कि, सहस्रनामादि द्वारा शिव की पूजा करने से विष्णु भगवान् को चक्र मिला था। और उत्तरार्द्ध अ० ४ में,

'अन्यभक्तसहस्रेभ्यो विष्णुभक्तो विशिष्यते।
विष्णुभक्तसहस्रेभ्यो रुद्रभक्तो विशिष्यते॥
रुद्रभक्तात्परतरो नास्ति लोके न संशयः।' श्लोक २०

इसी की पुष्टि के लिये, उत्तरार्द्ध अ० ५ में है कि, त्रिशंकु की स्त्री पद्मावती मन वचन शरीर से सदा विष्णु भगवान् के भजन करती थी। कभी द्वादशी के उपवास पूर्वक पति के साथ विष्णु भगवान् के मन्दिर में सोई थी, स्वप्न में भगवान् बोले कि, क्या चाहती है ? तब पद्मावती बोली कि, वैष्णव पुत्र चाहती हूँ इत्यादि। फिर भगवान् तथास्तु कह कर फल दिये, जागने पर फल देख कर, पति से वृत्तान्त सुना कर, फल खा गई, कि जिससे अम्बरीष की उत्पत्ति हुई, पिता के मरने पर अम्बरीष मन्त्रियों पर राज्यभार को छोड़ कर तप किये, हृदय में भगवान् की धारणा परायण हुए तब भगवान् इन्द्ररूप होकर वर देने आये। अम्बरीष बोले कि, मैं आपकी आराधना नहीं करता हूँ, न आप से कुछ चाहता ही हूँ, तब भगवान् अपने स्वरूप को धारण किये, तब राजा स्तुति करने लगा, फिर भगवान् वर माँगने के लिये कहे, तब वर माँगा कि जैसे आप भव (शिव) के भक्त तत्परायण हैं, वैसा ही मैं आपका भक्त होऊँ, इत्यादि। फिर तथास्तु, ऐसा कह कर और सब दुःख से रक्षा के लिये शिव से प्राप्त चक्र राजा को देकर गुप्त हो गये। फिर राज्य करता हुआ राजा की श्रीमती नाम पुत्री हुई। कुछ दिन के बाद नादर पर्वत दोनों ऋषि राजा के यहाँ आये, राजपुत्री को देख कर दोनों एकान्त में राजा से उसके लिये प्रार्थना किये, राजा दोनों को प्रणाम करके कहा कि, यह कन्या दोनों में से जिसको वरेगी, उसको मैं दूँगा। तथास्तु, इस प्रकार कह कर, कल्ह आने का वचन देकर दोनों गये और विष्णु लोक में भगवान् विष्णु के पास पहुँचे। एकान्त में नारद जी भगवान् से बोले कि, आपका भक्त अम्बरीष की कन्या से मैं और पर्वत दोनों विवाह के लिये कहा, तब राजा बोला है कि, कन्या जिसको वरेगी उसके साथ मैं विवाह कर दूँगा, इससे आप मेरा हित करें और पर्वत के मुख को बानर के समान कर दें। यदि मेरी भलाई चाहें। तथास्तु ऐसा कह कर, भगवान् नादर को विदा किये, अपने को कृतकृत्य मान कर मुनि अयोध्या चले। बाद में पर्वत भी एकान्त में सब समाचार सुना कर, भगवान् से बोले कि, नादर के मुख को गोलांगूल के समान कर दें। तब उनसे भी तथास्तु कह कर बिदा किये,

फिर दोनों अयोध्या पहुँचे तब राजा दोनों को देख कर नगरी की सजावट विवाह के समान करके सभा में कन्या को बुलाया और कहा कि, इन दोनों महात्माओं में से जिसे चाहती हो, उसे वरो। कन्या दोनों के मुख को विकृत देख कर काँपने लगी। पूछने पर बोली कि, ये नारद पर्वत मुनि नहीं है, उन दोनों को मैं देखती ही नहीं हूँ; किन्तु इन दोनों के बीच में एक षोडश वर्ष के सुन्दर पुरुष को देखती हूँ, इत्यादि। नारद पर्वत उस मध्यगत पुरुष के लक्षण कन्या से पूछे तो वह बताई। बाद में दोनों चिन्ताग्रस्त हुए, सोचने लगे कि, यह किसकी माया है, इत्यादि। कन्या उस मध्यगत पुरुष को वरी और तुरन्त अदृश्य हो गई। भगवान् के यहाँ पहुँच गई। फिर दोनों मुनि भगवान् के यहाँ चले, सो जान कर भगवान् श्रीमती को लुप्त कर दिये, दोनों ऋषि जाकर बोले कि, हमारा आपने क्या प्रिय किया, हमें मोहित करके आप ही कन्या ले आये। भगवान् अंगुलियों से कान बन्द करके बोले कि, आप यह क्या बोल रहे हैं, इत्यादि। फिर मुनि बोले कि, बानरादि के मुख आप क्यों किये? भगवान् बोले कि, आप दोनों के कथनानुसार दोनों का हित किया। मुनि बोले कि, वह कन्या कौन ले गया। भगवान् बोले कि मायावी अनेकों महापुरुष हैं, कोई ले गया होगा, इत्यादि। तब मुनि बोले कि, आपका दोष नहीं है, किन्तु अम्बरीष् की ही माया है। ऐसा कह, कर राजा के पास चले और जाकर बोले कि, तुम हमें बोला कर अन्य किसी को कन्या दिये हो, इससे अपने को यथार्थ रूप से नहीं जानोगे, तम तेरा अभिभव करेगा, इत्यादि। तब राजा के प्रति तमोराशि प्रगट हुआ, इतने में तम के प्रति विष्णुदेव का चक्र धावा किया, तब तम और चक्र मुनियों के पीछे लगा, फिर मुनि लोकों में भ्रमते हुए, त्राहि २ करके भगवान् के शरण में प्राप्त हुए। भगवान् ने चक्र और तम का निवारण किया और भगवान् बोले कि, ऋषि का वचन अन्यथा नहीं हो सकता, इससे जब अम्बरीष के वंश में मैं राम होऊँगा, तब यह तम मुझे प्राप्त होगा इत्यादि। इसके बाद शोकयुक्त दोनों मुनि चले गये। जन्म भर ब्रह्मचर्य का नियम किये और रामाऽवतार में विष्णु अपने को भूल गये। नारद पर्वत कुछ दिन में विष्णु की माया को समझ कर, उसकी निन्दा करके रुद्रभक्त हो गए, इत्यादि ॥३॥

शिवपुराण सं० ३ अ० १९ में कथा है कि—ब्रह्माजी के पुत्र अत्रिजी ब्रह्माजी की आज्ञा से ही तप करते थे। एकपरमात्मा से पुत्र के लिये

प्रार्थना करते थे। तप के तेज बढ़ने पर, सब देव सहित ब्रह्मा विष्णु भगवान् के पास गये, फिर सब शिव के पास गये, उनसे सब समाचार सुनाने पर, तीनों देव अत्रि जी के पास गये। अत्रि ऋषि ने तीनों को नमस्कार किया और सत्कार करके बोले कि, मैंने तो एक ईश्वर का ध्यान किया था, आप तीनों कैसे आये। त्रिदेव बोले कि, आपके ध्यान के अनुसार ही आये हैं, हम तीनों तुल्य हैं, तीनों के अंश से आप के पुत्र होंगे। रुद्र के अंश से दुर्वासा हुए, सो अम्बरीष की परीक्षा के लिये एकादशी की पारणा समय द्वादशी के दिन थोड़ा पहले पहुँचे और भोजन के लिए निमन्त्रण पाकर, स्नान करने गये, वहाँ देर कर दिये, तब तक राजा जल पी लिया, इससे आने पर ऋषि क्रुद्ध हुए, तब चक्र चलना चाहा, इतने में आकाशवाणी हुई कि दुर्वासा को साक्षात् शिवरूप समझो और चक्र को शान्त करो, ये परीक्षा के लिए आये हैं, इस ऋषि के शरण में प्राप्त हो, नहीं तो प्रलय होगा। फिर राजा चक्र की स्तुति किया, चक्र शान्त हुआ, इत्यादि। यही दुर्वासा रामचन्द्रजी की परीक्षा के लिए कालागमन के समय गए थे। और इनके स्नान के समय में कभी लंगोटी दह गई थी, तब द्रौपदी अपने कपड़े में से फाड़ कर परदा के लिए दी थी कि, जिससे वस्त्रापहरण के समय वस्त्र का ढेर लगा, इत्यादि।

श्रीमद् भागवत स्क० ६ अ० ४-५ में भी नाभाग पुत्र अम्बरीष की कथा है, सो दूसरे प्रकार से है। वहाँ है कि—एकादशी उपवास के बाद राजा पारणा के लिए तैयार था, तब दुर्वासा आये और आवश्यक क्रिया के लिये निमन्त्रित होने पर गये, परन्तु जप ध्यान में देर हो गया, तो राजा अन्य विद्वानों से पूछ कर जल से पारणा किया। आने पर ऋषि इस बात को जानकर क्रोधपूर्वक जटा से कृत्या (मारक देव) को उत्पन्न किये। फिर चक्र उस कृत्या को नष्ट करके ऋषि के पीछे लगा। ब्रह्माजो शिवजी के यहाँ ऋषि गये, कोई रक्षक नहीं हुए, भगवान् विष्णु के यहाँ गये, वे भी अपने को भक्ताधीन बताये, रक्षा नहीं किये, और अम्बरीष के यहाँ भेजे, फिर अम्बरीष के पाद पकड़ने से ऋषि का प्राण बचा, इत्यादि ॥४॥

विष्णु पु० अंश ३ अ० ५ में है कि—याज्ञवल्क्य ऋषि ब्रह्मरात के पुत्र थे और व्यास जी के शिष्य वैशंपायन के शिष्य थे। एक समय ऋषि सब महामेरू पर सभा किये, और नियम किये कि, इस सभा में जो ऋषि नहीं आयेगा, उसको सात रात में ब्रह्महत्या की प्राप्ति होगी। वहाँ वैशंपायन जी

नहीं जा सके और अपने भगिने को पैर से थोड़ा मारा, वह छूते ही दैवयोग से मर गया, तब वैशंपायन जी ने सब शिष्यों को कहा कि, इस ब्रह्म हत्या की निवृत्ति के लिये तुम सब व्रत करो। तब याज्ञवल्क्य जी ने कहा कि, इन अल्प तेजवाले ब्राह्मणों को कष्ट देने से क्या फल है, मैं ही इस व्रत को करूँगा। तब गुरुने कहा कि, इन ब्राह्मणों के अपमान करनेवाला, इन्हें अल्पतेजा कहने वाला, तेरे ऐसे शिष्य से हमें काम नहीं है, जो हम से पढ़े हो, सो हमें फेर दो। याज्ञवल्क्य जी ने कहा कि, मैंने तो भक्ति से कहा था; परन्तु आपकी ऐसी ही इच्छा है, तो अपनी विद्या लीजिये। ऐसा कह कर रुधिर युक्त मन्त्रों को त्यागा, अन्य शिष्य तित्तिर बनकर उस विद्या का ग्रहण किये, सो तैत्तिरीय श्रुति हुई। फिर तप करके याज्ञवल्क्य जी ने सूर्य से यजुर्वेद पढ़ा, सूर्य अश्वरूप होकर पढ़ाये, इससे उसका बाजी शाखा नाम पड़ा ॥५॥

विष्णु पु० अंश २ अ० १३ में जड़ भरत की कथा है कि—राजा भरत राज्य छोड़ कर, सालग्राम नामक तीर्थ में विरक्तरूप से रहते थे और अहिंसादि धर्म मनोनिरोध में पूर्ण स्थिति वाला भक्तियुक्त थे। योग जप तप कर्म में पूर्ण स्थिति पाए थे। एक दिन नदी में स्नान करने गए, स्नान करके संध्या आदि कर चुके, इतने में पूर्ण गर्भवती एक मृगी वहाँ जल पीने आई, उसके जल पी लेने पर, सिंह का भयानक शब्द हुआ कि, जिससे डर कर वह मृगी पानी में कूद पड़ी, और उसका गर्भ (बच्चा) नदी में गिर गया, आप वह नदी के पार होकर भय और व्यथा से मर गई। उसे मरी हुई देखकर राजा उसके बच्चा को आश्रम में लाकर पोषने लगे और उसमें स्नेह से आसक्त हो गये। इससे मर कर मृग हुए, परन्तु तपोबल से स्मृति बनी रही, इससे जातिस्मर मृग हुए, मृगत्व का हेतु कर्म को भोग कर, जातिस्मर ब्राह्मण हुए। बहुत अच्छा कुल में जन्म हुआ, आत्मदर्शी ज्ञानी योगी जन्म से हुए, इससे संग के भय से जड़ (अज्ञ) तुल्य रहने लगे, पिता के पढ़ाने आदि पर भी पढ़ना आदि पसन्द नहीं किये। पिता के मरने पर जो कोई काम करावे सो काम कर देते थे और जड उन्मत्त के समान रहने लगे। उन्हें वैसा देखकर सौवीर राजा के क्षत्ता (सारथी) उन्हें देवी का बलिदान देना चाहा, तो देवी उस क्षत्ता को ही नष्ट कर दिया। फिर वह राजा उपदेश लेने के लिए कपिलजी के आश्रम में जाने के लिए तैयारी किया, तब सिपाही लोग उस महात्मा को भी मोटा देख कर वेगार में पकड़ लिया और पालकी ढोने में लगा दिया। पापक्षय की इच्छा से वे भी कहारों के

साथ पालकी ढोने लगे, परन्तु उस काम से नहीं परिचित होने के कारण तथा भूमि देखकर चलने से पालकी टेंढी हो जाने पर, राजा ने कहा कि—संभार कर चलो, मोटे हो तो क्या इतना परिश्रम भी नहीं सह सकते हो। फिर ब्राह्मण ने कहा, ये स्थूलता आदि देह के धर्म हैं, मुझमें स्थूलता आदि नहीं हैं, इत्यादि। फिर राजा चकित होकर, पालकी से उतर गया और पाँव पड़ के उनसे ही उपदेश लिया। नारदीयपु० पूर्व खं० अ० ४८ में और श्रीमद् भागवत स्क० ५ अ० ७ इत्यादि में भी यह कथा विस्तार से है। भागवत में चक्रनकी (गंडकी) के पास पुलहाश्रम के उपवन में भरत राजा का निवास लिखा है ॥६॥

विष्णु पु० अंश १ अ० ११ में ध्रुव की कथा है कि—स्वायंभुव मनु के उत्तानपाद पुत्र थे उत्तानपाद की प्यारी सुरुचि नामक स्त्री से उत्तम नामक पुत्र हुआ और सुनीति नामक स्त्री से ध्रुव नामक पुत्र हुआ। कभी राजा उत्तम को गोद में खेला रहा था, उस समय अपमानित सुनीति के पुत्र ध्रुव भी राजा के गोद में जाने के लिए यत्न करने लगे। सुरुचि के सामने राजा ने उनका आदर नहीं किया और सुरुचि बोली कि, तुम व्यर्थ यत्न करते हो, तुम दूसरी स्त्री के गर्भज हो, मेरा गर्भज पुत्र तुम होता तो राजासन मिलता, इत्यादि। सो सुनकर क्रुद्ध होकर ध्रुव माता के पास गये। पूछने पर माता से सब बात कहे, फिर क्रोध की शान्ति के लिए माता बहुत समझाया; परन्तु नहीं माने और प्रण किये कि मैं वह यत्न करूँगा कि, जिससे सब जगत से पूज्य स्थान को प्राप्त करूँगा, ऐसा कहकर घर से निकल पड़े। फिर बाहर जङ्गल में उन्हें सप्तर्षि मिले, (लिंगपु० अ० ६२) के अनुसार विश्वामित्र मिले, (श्रीमद्भागवत स्क० ४ अ० ८-६) के अनुसार नारद जी मिले और ऋषियों को ध्रुव प्रणाम किए, ऋषियों ने कहा कि, इस चार पाँच वर्ष की अवस्था में तुम्हें वैराग्य का क्या कारण है, तब उन्होंने अपनी कथा कह सुनाई। ऋषि लोक चकित हुए और भगवान् की भक्ति उपासना का उपदेश दिए, मन्त्र बताये कि, जिससे साधन करके ध्रुव राज्यसिद्धि आदि पाये, इत्यादि ॥७॥

शिवपु० सं० २ खं० २ अ० २४ आदि में शिवजी की स्त्री सती की कथा है कि—एक समय सती सहित शिवजी भूमि पर विचरते थे। तब दण्डकारण्य में सीता के विरहयुक्त रामचन्द्रजी को देखे और दूर ही से लक्ष्मणजी सहित रामजी को प्रणाम करके जय-जय कह कर चल दिये।

सो लीला देखकर मोहयुक्त सती बोली कि आप स्वयं परब्रह्म सबका सेव्य प्रणम्य वेदान्तवेद्य हो। विरह व्याकुल ये दोनों कौन हैं कि जिनको प्रणाम करके आनन्द में मग्न हो रहे हो, स्वामी को सेवक के प्रति प्रणाम करना उचित नहीं है! शिवजी बोले कि, बरदान के प्रभाव से (मैं विष्णु को वर दिया हूँ कि तुम हमसे पूज्य अजेय होंगे, उस वर के प्रताप से) मैं आदर से प्रणाम किया हूँ। और ये रघुवंश में उत्पन्न दशरथ के पुत्र राम लक्ष्मण हैं। लघुभ्राता शेष का अवतार लक्ष्मण हैं। बड़ा भाई राम पूर्णांश विष्णु हैं; भूमि भार हरण के लिए अवतार लिये हैं, इत्यादि॥ इन सब बातों को सुनकर भी सती के मन में विश्वास नहीं हुआ। तब शिवजी बोले कि, तुम राम की परीक्षा करके देख लो, तबतक मैं बट तर बैठता हूँ। जिस प्रकार विश्वास हो सो करो। शिवाज्ञा पाकर सती चली और सीता का वेष बनाई कि, विष्णु होंगे तो मुझे समझेंगे, अन्यथा सीता ही समझेंगे और राम के आगे गई। तब शिव-शिव जपते हुए रामजी विहँस कर सती को प्रणाम किये और बोले कि, शिवजी कहाँ हैं, तुम अकेली वन में कैसे आई। यह रूप क्यों बनाई है, सो कहो। सती इस बात को सुनकर चकित हुई; शिवजी की बात सत्य समझ कर लज्जित हुई। फिर अपना रूप धर कर, रामजी से बोली, कि गण सहित विचरते हुए शिवजी आपको दूर से प्रणाम करके वट तर बैठे हैं। और वे आपको विष्णु बताये, तो मेरे मन में विश्वास नहीं हुआ। इससे उनकी आज्ञा से मैंने आपकी परीक्षा की है और अब आपको विष्णु समझती हूँ। तो भी मैं पूछती हूँ कि, आप शिव के प्रणम्य कैसे हुए। तब रामजी बोले कि एक समय शिवजी अपने लोक में विश्वकर्मा को बोलाकर, अपनी गोशाला में एक महान् भवन बनवाये, सिंहासन बनवाये, फिर ब्रह्मा इन्द्रादि सब देव देवी ऋषि आदि को बोलवाकर, राज्याभिषेक सामग्री को मँगवा कर, विष्णु को राज्याभिषेक किये। अपना सब ऐश्वर्य दिये और भक्तवत्सल शिव बोले कि, आज से यह विष्णु मेरी आज्ञा से लोकेश और मेरा वन्दनीय हो गये, इत्यादि। तथा सबके कर्ता धर्ता सबसे अजेय और हमसे भी अजेय होंगे, इत्यादि। उन्हीं की आज्ञा से मैं चार रूप से अवतार लिया हूँ। तथा विष्णु गोप वेष से रहते हैं, अब तेरा दर्शन हुआ कल्याण होगा। इन वचनों को सुनकर सती को शान्ति हुई, परन्तु अपनी सीता रूपता को समझ कर शोक भी हुआ। चिन्तायुक्त सती शिवजी के पास जाकर प्रणाम किया, परीक्षा का प्रकार पूछने पर नहीं कहा। शिवजी ध्यान से समझ कर, सती में स्त्री भाव का

त्याग किया। इसके बाद आकाशवाणी हुई कि, हे शिव! तुम धन्य हो, तुम बिना ऐसा कौन कर सकता है, इत्यादि। इसके बाद कथा है कि— प्रयाग में किसी यज्ञ में शिवजी सती के पिता दक्ष को प्रणाम नहीं किये थे, इससे दक्ष उन पर रुष्ट थे। इस कारण से दक्ष अपने यज्ञ में अन्य देवों को बोलाये, परन्तु शिवजी और सती को नहीं बोलाये। तो भी चन्द्रमा से पिता के यज्ञ का समाचार सुनकर, शिवजी की आज्ञा लेकर, पिता के यज्ञ में गई। और शिव के अपमान से प्राण त्याग किया, इत्यादि ॥८॥

(शब्द ५६ के अन्तर्गत)

पार्वती के पुत्र गणेशजी के विषय में अनेक प्रकार की कथा है। ब्रह्म वैवर्तपु० गणेश खं० की कथा है कि—पार्वती के साथ विवाह होने पर शिवजी रतिपरायण हो गये। उनकी यह दशा देखकर सब देव चिन्ताग्रत हुए और ब्रह्माजी सहित विष्णु भगवान् के पास गये। ब्रह्माजी भगवान् से समाचार सुनाये। भगवान् बोले कि, कोई चिन्ता की बात नहीं है। परन्तु सब देव मिलकर, ऐसा यत्न करो कि जिससे शिव का वीर्य भूमि में गिरे, यदि पार्वती के योनि में वीर्य गिरेगा, तो उससे उत्पन्न पुत्र सुर असुर सबका नाशक होगा। इस बातको सुनकर, देव सब शिवजी के दरवाजे पर जाकर, पृथक्-पृथक् पुकारने लगे कि, शिवजी क्या कर रहे हैं, इत्यादि। सो सुनकर शिवजी को उठने की इच्छा हुई, परन्तु पार्वती के भय से उठ नहीं सके। फिर भी देवताओं के भय को समझ कर उठे, तब डर लज्जा सहित शिव का वीर्य भूमि में गिरा, उसको भूमि नहीं सह सकी, तब अग्नि में दे दिया। अग्नि शर्के जंगल में दिया। वहाँ वह वीर्य बालक रूप हो गया उससे कृतिका को प्राप्त हुआ। यही बालक स्वामी कार्तिकेय कहलाया। शिवजी शीघ्र बाहर आये और देव सब से कहा कि आप सब भागो। बाद में पार्वती आई तो किसी को नहीं देखने से क्रोध को रोक रखी। शिव पार्वती कार्तिकेय को नहीं देखे, इससे पार्वती पुत्र के लिये व्याकुल हुई, तब शिवजी पुत्र के लिये व्रत का उपदेश दिये। व्रत की समाप्ति होने पर, फिर रतिपरायण हुए, तो स्वयं विष्णु भगवान् वृद्ध ब्राह्मण होकर पुकारा कि, मैं भूखा हूँ, कुछ खाने को दो। फिर महादेव और पार्वती उठकर चले। महादेवजी के बिन्दु आसन पर ही गिरा, उससे विष्णु के अंश रूप गणेश हुए। कुछ बात करके ब्राह्मण लुप्त हो गया। फिर पार्वती पुत्र की चिन्तायुक्त हुई। तब

आकाशवाणी हुई कि, पार्वती शान्त होवो, घर में जाकर देखो बालक है, सो भगवान् स्वरूप ही है। पार्वतीजी ने उस पुत्र को घर में देखा, और शिवजी को भी देखाया। फिर उस पुत्र के उत्सव में देव सब आये, शनि भी आये। ऋतुकाल के भंग करने से शनि को अपनी स्त्री का शाप था कि, जिसे तुम देखोगे, वह नष्ट हो जायगा। ईससे शनि नीचे शिर करके पार्वती के पास गये; तो पार्वती के पूछने पर शिर नीचे करने का कारण पार्वती को सुनाये। परन्तु पार्वती को नहीं विश्वास हुआ, इससे बोली कि, मेरे पुत्र को देखो। फिर गले के पास में शनि के देखते ही गणेश का गला कट गया। तब हाहाकार मचा, फिर विष्णु भगवान् ने हस्ती के शिर को जोड कर, अपनीशक्ति से जीवित किये, इत्यादि।

इसके बाद शिव वीर्य को अमोघ जानकर कार्तिकेय का खोज किया। तब देव सब कृतिका के घर से उन्हें लाये। एक समय दुर्वासा जी हरि का प्रसाद रूप माला इन्द्र को दिये थे, जिसके धारण का सर्वपूज्यता फल होना था। इन्द्र प्रमादवश उस माला को अपने हस्ती के गला में डाल दिया था। उसी हस्ती का गला गणेश के गले में लगा। और कार्तवीर्य अर्जुन यमदग्नि ऋषि के आश्रम में गया, तब कामधेनु के बल से ऋषि उसका पूर्ण सत्कार किये। फिर अर्जुन को कामधेनु की इच्छा हो गई और मुनि नहीं दिये। इससे वह मुनि को मार दिया। फिर मुनि के पुत्र परशुराम जी शिवजी से वर पाकर,उसे मार कर शिवजी के दर्शन के लिये गये और उस समय शिवजी पार्वती के साथ एकान्त में थे। इससे गणेशजी ने थोड़ा ठहरने के लिये कहा। फिर कुछ बात होने पर परशुराम जी ने परशु से एक दाँत तोड़दिये, इत्यादि।

स्कन्दपु० खं० ६ अ० १४२ में कथा है कि— एक समय सब मनुष्य तप ध्यान ज्ञानदि के प्रभाव से स्वर्ग में जाने लगे। तब इन्द्र शिवजी से प्रार्थना कीये कि, सब मनुष्य मेरे स्थान को घेर रहे हैं, आप कोई उपाय करो कि, जिससे ऐसा नहीं हो। तब शिवजी पार्वती जी के तरफ देखने लगे। फिर पार्वती ने अपने देह के मैल से चतुर्भुज गणेश को उत्पन्न किया और सब गणों के स्वामी बनाया, तथा हुकुम दिया कि, तुम सब शुभ कार्यों में विघ्न करना। स्वर्ग मोक्ष परायण हो, उनके कार्यों में भी विघ्न करना। फिर गणेश विघ्न करने लगे; इसीसे सब कार्य में उनकी पूजा प्रथम की जाति है। महाभारत शान्तिवर्व अ० ४६ में भी यह कथा है।

स्कन्दपु० खं० १—२ अ० २७ में कथा है कि—देवताओं की स्तुति से दयायुक्त पार्वतीजी ने शरीर के उद्वर्तन के मल से हस्ती के मुखवाला मनुष्य को बनाया। फिर शिवजी पार्वती से बोले कि, यह तेरा पुत्र मेरे समान होगा और भक्ति पूजा आदि रहित के कार्यों में यह विघ्न करेगा।

स्कन्दपु० खं० २—७ अ० ८ में कथा है कि—दक्ष ने यज्ञ की दीक्षा लेकर, शिवजी को बोलाने के लिये कैलास गया, तो भृत्यादि के प्रति स्वामी के उत्थान को निषेध समझ कर, शिवजी ने उत्थानादि नहीं किया इस तत्त्व को समझने विना दक्ष रुस्ट होकर चले आये। फिर शिवजी के रोकने पर भी सती उस यज्ञ में गई और यज्ञ में शिवजी के भागादि को नहीं देखकर प्राण का त्याग किया, इत्यादि। और तारकासुर को ब्रह्मा जी वर दिये कि, शिव जी के पुत्र से अन्य कोई तुम्हें नहीं मार सकेगा। उसने समझा कि, सती के मरण से स्त्री-पुत्र रहित शिव हैं। परन्तु फिर पार्वती द्वारा पुत्र होने से उसका नाश हुआ। और पार्वती के अविरतिपरायण होने से गर्भस्राव होते जाता था। तब देव सब अग्निदेव को भेजकर रति में विघ्न किये कि, इससे पुत्र हो, इत्यादि।

लिंगपु० अ० १०४ में कथा है कि—दैत्यादि भी यज्ञादि करके देवलोक में जाने लगे तब देव सब शिवजी की स्तुति किये। १०५ फिर स्तुति प्रणाम करके स्थिर देव सबको देखकर, शिवजी ने उन्हें आशीर्वाद दिया। तब निर्भय होकर ब्रह्माजी बोले कि, शुभ कर्मादि में असुरों से निर्विघ्नता के लिये प्रथम आपकी प्रार्थना की गई थी। इस समय देवापकारी के यज्ञादि में विघ्न के लिये आपसे प्रार्थना है। इस बात को सुनकर शिवजी आप ही अपना एक दूसरा गणेशरूप शरीर बना लिये। वही गणेश महेश्वर के पुत्र कहलाये, इत्यादि।

भविष्यपु० पर्व १ अ० २२ में कथा है कि—स्वामी कार्तिकेय स्त्री पुरुष का लक्षण रूप एक ग्रन्थ बनाते थे। उसमें गणेश ने विघ्न किया, तब कार्तिकेय ने एक दाँत उखाड़ लिया और मारने के लिये भी तैयार हुए। तब शिवजी ने आकर रोका और क्रोध का कारण पूछा। तब कार्तिकेय बोले कि, पुरुष का लक्षण लिखा हूँ। स्त्री का लक्षण लिखने में इन्होंने विघ्न किया है, यही क्रोध का कारण है। शिवजी बोले कि, मेरा लक्षण कहो। उन्होंने कहा कि, आप कपालपाणि होंगे, सो अविचार का फल होगा। यह सुनकर शिवजी ने उस ग्रन्थ को समुद्र में फेंक दिया। उसके

बाद किसी देवसमाज में, ब्रह्मा और रुद्र को विवाद हुआ कि, मैं बड़ा हूँ, फिर शिवजी ने कहा कि, मैं तेरी उत्पत्ति को जानता हूं, मुझे कोई नहीं जानता। तब ब्रह्मा के पञ्चम शिर ने हंस कर कहा कि, मैं तुमको जानता हूँ। तब रुद्र ने नख से उस शिर को काट डाला और वह कपाल शिवजी के हाथ में ही स्थिर हो गया। फिर दोनों पुरुषों को उत्पन्न किये, युद्ध होने लगा। आकाशवाणी से युद्ध की निवृत्ति होने पर दोनों का मेल हुआ। फिर ब्रह्मा समुद्र से उस लक्षणरूप ग्रन्थ को बनाने के लिये कहे, समुद्र बनाया, सो सामुद्रिक विद्या हुई, इत्यादि।

भविष्यपु० पर्व० ३ अ० १२ में कथा है कि—प्रलय के बाद अनन्त सृष्टि देखकर महालक्ष्मी विस्मित हुई। और भगवान् से बोली कि, इसकी गणना हमसे कैसे हो सकती है; सो सुनकर भगवान् स्वयं दो स्वरूप हो गये। एक चतुर्भुज गणेश हो गये, सोई सब सृष्टि की गणना के ईश्वर गणेश ईश्वर भव नाम से विख्यात हुए और दूसरा जो निरञ्जन चतुर्भुज रहे सो योगियों के ध्येय परमात्मा रहे। एक बार ब्रह्मा से उत्पन्न होकर शिवजी ने गणेशजी की पूजा की, गणेश के प्रसन्न होने पर वर माँगा कि, मेरा पुत्र होवो। तब गणेश पार्वती के देह से उत्पन्न हुए, इत्यादि।

स्कन्दपु० खं० १ अ० १० में कथा है कि हस्ती पर चढ़े हुए गणेशजी को शिवजी नहीं जानते थे कि, यह पार्वती का पुत्र है। इससे बहुत दिन तक युद्ध करने पर भी अजेय समझ कर हाथी सहित गणेश को त्रिशूल से मार डालने पर, पार्वतीजी के कहने से जीवित किये और हाथी के मुख जोड़ दिये कि, जिससे गजानन हुए।

शिवपु० संहिता २ खं० ४ में कथा है कि—एक समय पार्वती से उनकी सखियों ने कहा कि, शिवजी के आज्ञाकारी गण बहुत हैं, हम सबके कोई नहीं हैं, इससे कोई उपाय करना चाहिये। तब पार्वती जी ने अपने देह के मैल से सुन्दर बालक बना कर दरवाजे पर रखा और हुकुम दिया कि, मकान के भीतर किसी को नहीं आने दो। इसके बाद शिवजी गये, तो उन्हें डंटा से मार कर हटा दिया। फिर सब देव उससे युद्ध किये, कोई पार नहीं पाये, तब शिवजी बहुत छलबल पूर्वक त्रिशूल से शिर काट दिये। फिर पार्वती जी को पता लगा, तो प्रलय करने के लिये तैयार हुई। बहुत विनयादि करने पर बोली कि, यदि मेरा पुत्र जीवित हो जाय तब मैं मान सकती हूँ। तब शिवजी ने गणों को हुकुम दिया कि, उत्तर तरफ जाओ।

जो प्राणी पहले मिले, उसका शिर ले आवो। गणों को दैवयोग से एक हस्ती मिला, उसी के गला काट लाये, उसे जोड़ कर देव सब जीवित किये, इत्यादि ॥१॥

(शब्द १०३ के अन्तर्गत)

नारदमुनि के वदन छिपाने की कथा प्रथम भी आई है। और शिवपु० सं० २–१ अ० २ आदि में कथा है कि—एक समय नारदजी के मन में तप करने की इच्छा हुई, तब गंगाजी के किनारे, हिमाचल के उपर जहाँ महादिव्य आश्रम था, महागुफा थी वहाँ गये, और 'अहं ब्रह्मास्मि' इस प्रकार अपरोक्ष अनुभव जिससे हो उस समाधि का अनुष्ठान करने लगे। आसन लगाकर मौन होकर तपनिष्ठ हुए। उन्हें इस प्रकार देखकर इन्द्र काँप उठे कि, यह मुनि मेरा राज्य चाहता है। फिर तप में विघ्न करने के लिये इन्द्र ने काम का स्मरण किया। काम शीघ्र उपस्थित हुआ, तब इन्द्र ने उसकी प्रशंसा करके समाचार सुनाया। तप में विघ्न करने के लिये आज्ञा दिया। तब अभिमान सहाय सहित काम जाकर सब उपाय किया, परन्तु ईश्वरानुग्रह स्थान के प्रभाव से मुनि के मन में विकार नहीं हुआ; क्योंकि उस स्थान में प्रथम शिवजी ने भी तप किया था और उस स्थान को वर दिया था कि, इस स्थान में काम का प्रभाव नहीं चलेगा, इत्यादि। इससे हतोत्साह होकर काम इन्द्र के पास में गया। मुनि के प्रभाव को सुनकर इन्द्र चकित हुए। नारदजी भी वहाँ बहुत दिनों तक तप करके तप को पूर्ण समझ कर तप से उपराम हुए। शिव की माया से मोहित होकर काम के विजय के अभिमानी हुए और अपनी महिमा सुनाने कैलास गये, शिव जी को प्रणाम करके गर्व सहित महिमा सुनाये। भक्तवत्सल शिव जी ने कहा कि, ऐसा कहीं नहीं बोलना, विशेष कर विष्णु देव के आगे इसकी चर्चा नहीं करना, पूछने पर भी यह बात कहने लायक नहीं है, इत्यादि। परन्तु शिव माया से मोहित मुनि इस उपदेश को नहीं मान कर ब्रह्म लोक में गये, ब्रह्माजी को नमस्कार करके अपनी कथा सुनाये, उन्होंने भी मना किया, परन्तु नहीं मान कर मुनि विष्णु लोक में गये। विष्णु भगवान् इन्हें देख कर, आगे आकर मिले। आगमन के कारण पूछे, मुनि सगर्व अपनी महिमा कहे। भगवान् भी इनकी प्रशंसा किये, शिव और शिव की माया को प्रणाम करके बोले कि, नैष्ठिक ब्रह्मचारी आप हैं, आपको कामविकार कैसे हो सकता है, इत्यादि। नारद हँस कर बोले

कि, आपकी कृपा है तो काम का प्रभाव क्या है। और वहाँ से विदा हुए। मुनि के जाने पर भगवान् ने अपनी माया से उनके मार्ग में ही सौ योजन का विस्तार युक्त एक नगर रचे। उसमें शीलनिधि नाम का राजा और उसकी कन्या रचे। उसका स्वयंबर के सामान रचे। मुनि उस नगर को देख कर, उस राजा के पास गये। राजा इनका सत्कार करके कन्या का शुभाशुभ पूछा। नारद लक्ष्मीरूप उस कन्या को देख कर काम से मोहित हो गये और सर्वेश्वर इसका पति होगा, इस प्रकार राजा से कह कर, विष्णु भगवान् के पास सौन्दर्य के लिये गये, भगवान् सब सौन्दर्य दिये, परन्तु मुख वानर का दिये, लौट कर मुनि उस नगर में आये, तब वहाँ ब्राह्मणरूप से दो रुद्रगण रक्षा के लिये रहते थे, सो मुनि के साथ लगे और व्यंग रूप में सत्य बात कह दिये, परन्तु मोह वशता से मुनि समझ नहीं सके, बाद में श्रीमती कन्या भी जयमाला लेकर आई, सो इनके रूप को देख कर क्रुद्ध हुई और लौट गई, किसी राजा को भी नहीं वरी, बाद में भगवान् राजा रूप से आये उन्हें वह वरी। फिर नारद जी शाप दिये कि, जिस रूप से कन्या को स्वीकार किये हो, सोई रूप धरना होगा, स्त्री के वियोगवश दुःख सहोगे। वानर सहायक होंगे, इत्यादि। रुद्रगण को राक्षस होने का शाप दिये मोह मिटने पर पश्चात्ताप किये और गणों को कहे कि शिव के ही अपर शरीर से मृत्यु पाकर शाप से मुक्त होगे, इत्यादि ॥१॥

स्कन्द पु० अवन्तिका मा० खं० ५ अ० २ आदि में कथा है कि ब्रह्मा की स्तुति से प्रसन्न होकर शिव जी वर माँगने के लिये कहा, तब ब्रह्मा ने वर माँगा कि, मेरा पुत्र होवो तब शिव जी ने कहा कि, अच्छी बात है, परन्तु इस अनुचित वर के कारण मैं तेरा पञ्चम शिर कारण वश काटूँगा, उसके बाद ब्रह्मा हवन करते थे, उसी समय एक रक्तबिन्दु उनके ललाट से गिरा, उससे पंचवदन रुद्र प्रगट हुआ, सो ब्रह्मा के पञ्चम शिर काटा, इत्यादि।

स्कन्द पु० खं० ७ अ० २४८ में कथा है कि, सृष्टि करते समय एक अद्‌भुत रूपवाली स्त्री उत्पन्न हुई, उसे देख कर ब्रह्मा जी मोहित हुए और रति के लिये उससे प्रार्थना करने लगे, इतने में भी उनके पञ्चम गर्दभ रूप शिर उसी पाप से गिर गया, इत्यादि ॥२॥

(कहरा १२ के अन्तर्गत)

शृंगी ऋषि की कथा महाभारत बनपर्व अ० ११० में है कि—विभाण्डक नामवाला काश्यप ऋषि महाह्रद में तप करते थे, उर्वशी अप्सरा को देखकर जल में ही उनका वीर्यपात हो गया, कोई मृगी पानी पीने आई, सो वीर्य सहित पानी पी गई, फिर उस अमोघ वीर्य से ऋष्यशृंग हुए। वह मृगी

प्रथम देवकन्या थी, उसे ब्रह्मा का शाप था कि मृगी होकर मुनि को पैदा करके शापमुक्त होगी, उस मुनि के शिर में सिंग भी था, इसी से ऋष्यशृंग कहे जाते थे। वह मुनि पिता से अन्य मनुष्य को कभी देखे ही नहीं थे। इससे नित्य ब्रह्मचारी थे। इसी समय में दशरथजी के मित्र अंगदेश के राजा लोमपाद के राज्य में अनावृष्टि हो गई, पुरोहित के साथ विरोध होने से ब्राह्मण सब उस समय राजा को त्याग दिये थे। पूछने पर एक मुनि राजा को उपदेश दिया कि, ब्राह्मण क्रुद्ध हैं, इसके लिये कुछ प्रायश्चित करो और बनवासी ऋष्यशृंग को स्त्रीयों द्वारा मँगावो, यदि तेरे राज्य में वह आयेंगे तो अवश्य वृष्टि होगी। अ० ११२-११३ में फिर राजा वेश्याओं को धन देकर भेजा, वेश्या सब नौका पर मिष्टान्नादि लेकर गईं और मुनि के पिता की अनुपस्थिति काल में लोभा कर मुनि को ले आईं, उनके आते ही वृष्टि हुई। राजा शान्ता नामक लड़की से उनका विवाह कर दिया और उनके पिता की शान्ति के लिए, उनके मार्ग में लोकों द्वारा सत्कारादि का बन्दोवस्त किया कि, जिससे वे भी आकर शान्ति पूर्वक लौट गये और पुत्र से कह गये कि, पुत्र हो जाने पर, राजा का हित करके फिर वन में आना, इत्यादि। वाल्मीकि रामायण बालकाण्ड सर्ग १० में भी यह कथा कुछ भेद सहित है। मुनि के शाप के भय से मन्त्री आदि ऋष्यशृंग को नहीं ला सके थे, तब राजा वेश्या द्वारा मँगवाया था ॥१॥

ब्रह्मा जी के शिर फोरने की कथा कूर्मपु० उ० अ० ३१ में है कि—एक बार ऋषियों ने ब्रह्मा से पूछा कि, परतत्त्व क्या है, तब माया से मोहित होने के कारण अपने को ही परतत्त्व बताये। फिर नारायणांश त्रिलोचन शिव प्रगट होकर बोले कि, तुम क्या आज उलटा कह रहे हो। मेरी शक्ति से आप सब कुछ करते हो, इत्यादि। विवाद होने पर सब वेद भी शिव को ही परतत्त्व बताया, परन्तु ब्रह्मा नहीं समझे और कहने लगे कि, सदा स्त्री के साथ रहनेवाला शिव परतत्त्व कैसे हो सकते हैं; इतने में अमूर्त प्रणव स्वरूप शिव प्रगट होकर ब्रह्मा को समझाये कि, देवी आगन्तुक है, भगवान् अपने स्वरूप में सदा रहते हैं, इत्यादि। तो भी नहीं मानने पर भैरव रुद्र प्रगट होकर ब्रह्मा के पञ्चम शिर काट लिये, इत्यादि।

ब्रह्मपु० गौतमी मा० अ० ४३ में कथा है कि—देवताओं से हार कर दैत्य सब भागे जाते थे, तब ब्रह्मा के पञ्चम गर्दभ का शिर बोला कि, तुम सब कहाँ भागे जाते हो, जो देव सब आते हैं, उन्हें मैं क्षण मात्र में खा जाऊँगा, इस बात को सुनकर देव सब विष्णु भगवान् से बोले कि, ब्रह्मा

के इस नीच शिर को चक्र से काट दीजिये, विष्णुभगवान् ने कहा कि, इसे चक्र से काटने पर कटा हुआ भी यह चराचर को खा जायगा। शिव जी इसे काट कर धारण कर सकते हैं, फिर शिवजी ने उसे काट कर भूमि में धरना चाहे, तब भूमि बोली कि, इस पापमय शिर को मेरे ऊपर रखोगे, तो मैं रसातल चली जाऊँगी। इससे शिवजी को हाथ में ही रखना पड़ा, इत्यादि ॥ २ ॥

(वसन्त ३ के अन्तर्गत)

राजा वेन की कथा विष्णु पु० अंश १ अ० १३ में है कि—बेन अपने मातामह के संग से दुष्ट चित्तवाला होकर, यज्ञादि सत्कर्मों को बन्द कर दिया। ऋषियों के समझाने पर भी नहीं माना, तब ऋषि सब अभिमन्त्रित कुश से उसे मार दिये। फिर राजा के बिना प्रजा में उपद्रव देखकर बेन के वामा उरु (जंघा) को मथे, उससे पापमय निषाद के प्रगट होने पर वेन के दहिना हाथ को मथे कि जिससे भगवदंशरूप पृथु हुए और धर्म से पृथिवी तथा प्रजा का पालन किये, इत्यादि। पद्मपु० खं० २ अ० २८ आदि में पृथु की कथा है। हरिवंश १।५ में कथा है कि—बेन को शापादि से मार कर, ऋषियों ने प्रथम उसके वामभुजा को मथा, उससे ह्रस्व कृष्ण वर्ण के पापमय निषादादि प्रगट हुए। फिर दाहिना भुजा के मथने पर, पवित्र पृथु राजा उत्पन्न हुए, कि जिनकी पुत्री पृथिवी कहाई। बेन और पृथु की कथा श्रीमद्भागवत स्क० ४ अ० १४ आदि में विस्तार से है। तहाँ उरु मथने से निषाद की उत्पत्ति का वर्णन है और दोनों बाहु के मथने से पृथु और उनकी स्त्री अर्चि हुई है ॥१॥

(चांचर २ के अन्तर्गत)

नारद के मुख मांडने की कथा देवी भागवत स्क० ६ अ० २६ आदि मे है कि—सृंजय नामवाला राजा की पुत्री दमयन्ती थी। नारद पर्वत ऋषि राजा के यहाँ चातुर्मासे में निवास किये। नारदजी के गान सुनकर दमयन्ती मोहित हुई और नारद भी मोहित हुए। सो देखकर पर्वत ने नारद को बानर मुखता के शाप दिये। नारद उन्हें स्वर्गाऽगमन के शाप दिये। फिर नारद के विवाह होने पर, दोनों परस्पर शापानुग्रह किये।

महाभारत शान्तिपर्व अ० ३० में कथा है कि—नारद पर्वत मामा भगिना थे। दोनों पृथिवी पर विचरते समय संकल्प नियम किये, कि शुभ वा अशुभ जो मन का भाव हो सो छिपाना नहीं। बाद में सृंजय राजा के यहाँ रहने लगे। राजा अपनी पुत्री को सेवा में नियुक्त किया। नारद को काम व्याप्त हुआ। परन्तु लाज के मारे पर्वत से नहीं कहे। पर्वत तपोबल

और व्यवहार से समझे, तब नारद को शाप दिया, कि तुम नियम का भंग किये हो। इससे यह कुमारी तेरी स्त्री होगी। और विवाह के बाद आपके वानर का स्वरूप होगा। फिर नारद पर्वत को शाप दिये कि, तुम स्वर्ग नहीं जा सकोगे। फिर पर्वत इस लोक में विचरने लगे, नारद कन्या पाये। विवाह के बाद उनकी स्त्री उन्हें बानररूप देखने लगी। परन्तु उनमें प्रीतिवाली रही। फिर कभी पर्वत नारद को देखे, तब प्रणाम करके बोले कि, कृपा करके शापानुग्रह करें। नारद बोले कि, प्रथम तुम शाप दिये हो, तब मैं शाप दिया हूँ। और तुम पुत्रतुल्य हो, तुम्हें शाप देना उचित नहीं था। बाद दोनों मुनि परस्पर के शापानुग्रह किये। तब नारद की स्त्री उन्हें दिव्यरूपवाला पुरुषान्तर समझ कर भगी। फिर पर्वत के समझाने से समझी। बाद में पर्वत स्वर्ग गये; नारद घर गये, इत्यादि ॥१॥

(कथाओं से प्रतीत होता है कि, नारद पर्वत एक २ व्यक्ति सतयुग से द्वापरान्त तक नहीं थे; किन्तु नाम एक २ था, व्यक्ति अनेक रहे। चरित्रों में भेद रहा। इसी प्रकार ब्रह्मा विष्णु महेश व्यास शुकादि के विषय में भी प्रतीति होती है। या एक २ व्यक्ति होते भी कवि कल्पित अनेक हो सकते हैं, अथवा उपाधियाँ हो सकती हैं। इससे चरित्र भेदादि में संदेह को जगह नहीं है। और व्यक्ति भेद से ही सद्गुरु कबीर साहब ने जिस नाम वाले को कहीं सिद्ध महात्मा मुक्त कहा है। उसी नाम वाले को कहीं संसारी बद्ध भी कहा है, इत्यादि)।

सभापर्व अ० ४३।१ 'न्यस्तमात्रस्य तस्याङ्के भुजावभ्यधिकावुभौ।
पेततुस्तच्च नयनं न्यमज्जत ललाटजम्॥'

इस महाभारत के अनुसार, यद्यपि कृष्ण भगवान् के गोद में आने ही से शिशुपाल के अधिक भुजा गिर गये थे। तथापि कबीर साहब उसे मायाशक्ति से उखाड़ना ही मानते हैं।

इसीसे स्कन्दपु० खं० ५-२ अ० ५ में कथा है कि—कुण्डिनपुर निवासी भीष्मक राजा को आकाशवाणी हुई कि, तुम अपनी पुत्री रुक्मिणी को चतुर्भुज पुरुष के प्रति देना, उसके बाद शिशुपाल के पिता उसके पास गया, राजा ने पूछा कौन चतुर्भुज है कि, जिसको आकाशवाणी के अनुसार पुत्री दिया जाय, उसने कहा कि, मेरा ही पुत्र चतुर्भुज प्रसिद्ध है। फिर राजा उसके साथ विवाह के लिये निश्चय करके सर्वत्र निमन्त्रण दिया, उसमें भगवान् भी गये और रुक्मिणी को हर कर ले चले, उसका भाई युद्ध के लिये तैयार हुआ, तो अपना चतुर्भुज रूपदिखाये, फिर वह प्रणाम करके लौट गया, इत्यादि ॥२॥

(साखी १८७ के अन्तर्गत)

विन्ध्य के चलते (बढ़ने) से धरती बेहाल हुई थी। सो कथा देवी-भागवत स्क० ११।२ इत्यादि में है कि—पर्वतों के मान्य विन्ध्यपर्वत के घर दैवयोग से नारदजी गये। तब विन्ध्य ने अतिथि सत्कार करके आगमन का कारण पूछा। नारदजी बोले कि, मैं सुमेरु और लोकपालों के पास से आ रहा हूँ। फिर शोकयुक्त होकर, श्वाँस लेने लगे। सो देखकर विन्ध्य ने पूछा कि, श्वांस लेने का क्या कारण है। मुनि बोलें कि, हिमाचल शिवजी का श्वसुर होने से पूज्य है, कैलाश शिवजी का स्थान ही है, निषध गन्धमाद-नादि भी अपने २ स्थान में श्रेष्ठ ही हैं। परन्तु सुमेरु को अभिमान है कि, ग्रह नक्षत्र सहित सूर्य मेरी प्रदक्षिणा करते हैं, इस कारण से मैं ही बड़ा हूँ। मेरे समान कोई नहीं है। उसी अभिमानी के अभिमान को स्मरण करके उच्छ्वास आता है। परन्तु मुझे इससे क्या मतलब (फल) है, मैं अपने घर जाता हूँ। ऐसा कहकर नारदजी ब्रह्मलोक चले गए। विन्ध्य चिन्ता से व्याकुल हुआ कि, मैं सुमेरु को किस प्रकार जीतूँ। फिर उसके मन में आया कि, बढ़कर सूर्य के मार्ग को मैं रोक दूँ, कि जिससे अभिमान का जड़ कट जाय और वैसा ही किया। फिर सूर्य के मार्ग रुकने से, सब लोकों में कोलाहल होनेपर, देव सब शिवजी के पास गये फिर वहाँ से विष्णुलोक में गए। तब विष्णु भगवान् के उपदेश से काशी में अगस्त्य मुनि के पास गए। तब अगस्त्य मुनि विन्ध्य के पास गए, वह नम्र होकर प्रणाम किया और मुनि उसे लाँघकर दक्षिण गये और कह गये कि, जबतक मैं नहीं लौटता हूँ तबतक ऐसा ही रहो। स्कन्दपु० काशीखण्ड के आदि में ही यह कथा रूपान्तर से है।

पद्मपु० खं० १ अ० १६ में कथा है कि–मेरु की प्रदक्षिणा करते हुए सूर्य को देखकर, विन्ध्य ने सूर्य से कहा कि, जैसे आप मेरु की प्रदक्षिणा करते हो, ऐसे मेरी भी करो। सूर्य बोले कि, मैं अपनी इच्छा से मेरु की प्रदक्षिणा नहीं करता हूँ; किन्तु ऐसा मेरा मार्ग ही बना हैं, इत्यादि। तब विन्ध्य मार्ग रोकने के लिए उठा, फिर देवताओं की प्रार्थना से अगस्त्यजी वारण किए, इत्यादि। (यह कथा अगस्त्य तारा की दक्षिण स्थिति, विन्ध्य की पूर्व समुद्र से पश्चिम समुद्र तक लम्बाई, ब्राह्मण की महिमा को लेकर प्रसिद्ध हुई है) ॥१॥

'वेदहुँ केर कहल नहिं करई। जरतहिं रहै सुस्त नहिं परई॥' रमैनी ६१ 'वेद कहै सो नहीं करै, समुझै और कि और। चौरासी के धार में, कबहुँ न पावै ठौर॥ परिशिष्ट साखी ६५' वेद कहते हैं कि—

६॥

'संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते ॥'
ऋग्० १०।१९१।२।अथर्व० ६।६४।१

'समानो व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहा सति ॥'
ऋ० १०।१९१।४ अथर्व० ६।६४।३

'यूयं धर्मेण संगताः संयुक्ता भवत। सत्यं हितं वदत। युष्माकं मनांसि संजानताम्—एक समानमर्थमवगच्छन्तु, न विरुद्धम्। यथा पूर्वे देवाः संजानानाः सम्यक् पश्यन्तः स्वं भागमुपासते, नान्यस्य तथा कुरुत ॥' युष्माकमाकूतिः—संकल्पः—भावः, समाना-सरला-एकविधा भवन्तु। हृदयानि-अन्तःकरणानि-समाना-तुल्यानि भवन्तु। मनः—मननं विचारः समानमस्तु। यथा सति-सज्जने, एतानि सुसहानि (सुलभानि) भवन्ति तथा युष्माकं भवन्तु ॥'

आप सब सम्यक् मिलकर चलें, बोलें, मन को अच्छी तरह समझें, प्रथम के देव विद्वानादि जैसे अपना २ भाग ही लेते थे, तैसे करें। आप सबके भावादि सरल निष्कपट तुल्य हों, जैसे सज्जनों में होते हैं।

"तपसा ये अनाधृष्यास्तपसा ये स्वर्ययुः।
तपो ये चक्रिरे महस्तांश्चिदेवापि गच्छतात् ॥" ऋ० १०।१५४।२

तप के प्रभाव से जो विषयादि से अनाधृष्य (अपराजित) हैं। स्वर (स्वर्ग सुख) पाये हैं और जो महत् तप किए हैं या करते हैं, तिनको ही प्राप्त हो, उनका ही संग करो। "न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः। कठ० १।१।२७" धन से तृप्त करने योग्य मनुष्य नहीं है। "अमृतत्वस्य तु नाशाऽस्ति वित्तेन। बृहदा० २।४।२" धन से तो अमृतत्त्व (मोक्ष) की आशा नहीं है। 'तेषमासौ विरजो ब्रह्मलोको न येषु जिह्ममनृतं न माया चेति। प्र० १।१६। तिनको वह निर्गुण ब्रह्मस्वरूप प्राप्त होता है कि जिनमें कपट झूठ माया नहीं है। सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग् ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्। मु० ३।१।५

यह आत्मा सदा सत्य तप सम्यक् ज्ञान ब्रह्मचर्य से पाने लायक है।

स वेदैतत् परमं ब्रह्म धाम यत्र विश्वं निहितं भाति शुभ्रम्।
उपासते पुरुषं ये ह्यकामास्ते शुक्रमेतदतिवर्तन्ति धीराः ॥ मु० ३।२।१

वह आत्मज्ञानी इस ब्रह्म स्वरूप परम धाम को जानता है, कि जिसमें संसार निहित (स्थापित, स्थिर) भासता है, तो भी जो (शुद्ध) है। जो

ग्रीर उस ज्ञानी पुरुष की उपासना भक्ति करते हैं, सो इस शुक्र (वीर्य-रेतः) को नहीं पाते हैं, शरीर रहित मुक्त होते हैं, इत्यादि ।

'य ईं चकार न सो अस्य वेद, य ईं ददर्श हिरुगिन्नु तस्मात् ।
स मातु र्योना परिवीतो, बहुप्रजा निर्ऋतिमाविवेश ॥'

जो मनुष्य ईं (गर्भ) किया, विषयोपभोग से गर्भ के कारण हुआ, सो इस गर्भ के दुःखादि को नहीं जानता है । जो इस गर्भ को देखा सो तिससे हिरुक् (दूर) हो रहा, वह गर्भ माता की योनि में परिवीत (आवृत) रहता है । इससे बहुत प्रजा वाला निर्ऋति (यमलोक) में गया । 'बहुप्रजाः कृच्छ्रमापद्यते, इति परिव्राजकाः ।' निघण्टु० १।१२।८

न विजानामि यदि वेदमस्मि निरायः संनद्धो मनसा चरामि ।
यदा माऽऽगन् प्रथमजा ऋतस्यादिद् वाचो अश्नुवे भागमस्याः ॥

यदि वेदं (यद्यपीदं) यह विश्व में ही हूँ, तो भी तैसा नहीं जानता हूँ । जिससे निराय (मूढ़ चित्त) हूँ, अविद्यादि से संनद्ध (बद्ध) होकर, या मन से बद्ध होकर मन के साथ चलता हूँ । जब ऋत (ब्रह्म) की प्रथमजा (प्रथमा अनुभूति) माऽऽगन् (मुझे मिलेगी) आदित (तभी) इस वेदवाणी का भाग (आनन्द) को पाऊँगा। अन्तर्मुखवृत्ति से ही आनन्द होता है, अन्यथा नहीं ॥ ऋ० १।१६४।३७। अथर्व० ९।१०।१५ ।

अपाङ् प्राङेति स्वधया गृभितो अमर्त्यो मर्त्येन सयोनिः ।
ता शश्वन्ता विषूचिना वियन्ता न्ययं चिक्युर्न चिक्युरन्यम् ॥
ऋ० १।१६४।३८ अथर्व ९।१०।१६

अमर्त्य (आत्मा) मर्त्य (देह) के साथ सयोनि (समान स्थान वाला, परिच्छिन्न) होकर और स्वधा (भोग देह माया) से गृभित (गृहीत) होकर, अपाङ् (नीचे) और प्राङ् (ऊपर) एति (जाता है) और ता (तौ) वे दोनों (देह और आत्मा) शश्वन्तौ अपृथक् होते भी विषूची (विरुद्ध स्वभाववाले) हैं । और वियन्तौ--विरुद्ध गति प्राप्तिवाले हैं । तो भी मनुष्य अन्य (देह) को निचिक्युः (जानते हैं), आत्मा को नहीं जानते, इत्यादि ।

एक एवाग्निर्बहुधा समिद्धः, एकः सूर्यो विश्वमनुप्रभूतः ।
एकैवोषाः सर्वमिदं विभाति, एकं वा इदं विबभूव सर्वम् ॥ऋग्० ८।५८।२

जैसे एक ही अग्नि बहुधा दीप्त होती है, एक सूर्य (ईश्वर या देव) जगत् गोलकादि में अनुप्रविष्ट होकर बहुधा प्रादुर्भूत होता है, एक ही उषा

(प्रभातदीप्ति) इस सब जगत् को प्रकाशता है, तैसे ही एक ब्रह्म इस सब रूप हुआ है और सबको प्रकाशता है, इत्यादि।

"स्वयोनिषु यथा ज्योतिरेकं नाना प्रतीयते।
योनीनां गुणवैषम्यात्तथाऽऽत्मा प्रकृतौ स्थितः॥" श्रीमद्भा० ३।२८।४३
'पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते! प्रभुर्गात्राणि पर्येषि विश्वतः।
अतप्ततनुर्न तदामो अश्नुते, शृतास इद्वहन्तस्तत्समासते॥"
ऋ० ९।८३।१॥ साम० ५६५।८७५

हे ब्रह्मणस्पते! (वेद विद्यादि पालक) प्रभो! तेरा वितत (व्यापक) पवित्रस्वरूप है, इससे प्रभु होकर सबका गात्र (देह) को सर्वतः व्याप्त होते हो। परन्तु तप से अतप्त देहवाला आम (अपक्व) मनुष्य उसको नहीं पाता है। किन्तु शृतास (पक्व) ही साधनों को पाता हुआ उस स्वरूप को पाता हैं।

"यो जागार तमृचः कामयन्ते यो जागार तमु सामानि यन्ति।
यो जागार तमयं सोम आह तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः॥" ऋ०५।४५।१४

जो मोहादि को त्यागा जागा, उसी को ऋक् चाहते हैं, साम मिलते हैं और उसी को यह सोम (विद्यायुक्त ईश्वर) कहते हैं कि मैं तेरा सख्य (मित्रताभाव) में न्योक नियत स्थानवाला अचल) हूँ, इत्यादि।

"स वरुणः सायमग्निर्भवति स मित्रो भवति प्रातरुद्यन्।
स सविता भूत्वाऽन्तरिक्षे याति स इन्द्रो भूत्वा तपति मध्यतो दिवम्॥"
अथर्व० १३.३। १३।

स्मरणादि से वरुण (पाप तापादि वारक) वह परमेश्वर सर्वात्मा ही सायंकाल में दीप्त प्रकाश युक्त अग्नि होता है, प्रातःकाल में उदय होता हुआ मित्र नेत्रानुग्राहक होता है। वही सविता (जगत् स्रष्टा) होकर अन्तरिक्ष में जाता है और इन्द्र होकर मध्य अकाश में तपता है।

"न भोजा मम्रुर्न न्यर्थमीयुर्न रिष्यन्ति न व्यथन्ते ह भोजाः।
इदं यद् विश्वं भुवनं स्वश्चैतत् सर्वं दक्षिणेभ्यो ददाति॥"
ऋ० १०। १०७।८

भोजयिता न मरे न व्यर्थ (निकृष्ट गति) पाये न नष्ट होता है, न वे भोजयिता व्यथित होते हैं। और यह जो विश्वभुवन स्वर्ग है, यह सब उनको दक्षिणा ही देती (प्राप्त कराती) है। "अध्वर इति यज्ञ नाम ध्वरति हिंसा कर्मा तत्प्रतिषेधः।' निरुक्त १।८ अध्वर यह यज्ञ का नाम है, यहाँ ध्वरति पद गत ध्वृ धातु हिंसा अर्थ में है, उसका निषेधरूप ही अध्वर (यज्ञ) है, इत्यादि।

"स्वस्तिपन्थामनुचरेम सूर्याचन्द्रमसाविव।
पुनर्ददताऽघ्नता जानता संगमेमहि॥' ऋ० ५।५१।१५

सूर्य चन्द्रमा के समान दीप्त शान्त होकर कल्याणपथ का अनुसरण करेंगे और दानशील अहिंसक निष्कपट विद्वान् के साथ पुनः २ संगत होंगे, मिलेंगे कृपण हिंसकादि से नहीं मिलेंगे, न मिलना चाहिये।

"व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाऽऽप्नोति दक्षिणाम्।
दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते॥" शुक्लय० १६।३०

यमनियमादि महाव्रत से ज्ञानयोगादि की योग्यता रूप दीक्षा पाता है, उस दीक्षा से श्री उदारता विद्यादिरूप दक्षिणा पाता है। और दक्षिणा (दक्षिणया) से श्रद्धा श्रत् (सत्य) को धारण करनेवाली निर्मल बुद्धि (विश्वास) पाता है, उससे सत्य ब्रह्म प्राप्त होता है।

"यस्मान्न जातः परो अन्य अस्ति, य आविवेश भुवनानि विश्वा।
प्रजापतिः प्रजया संरराणः, त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी॥"
शुक्लय० ८।३६

जिस सत्यात्मा ईश्वर से जात (उत्पन्न) या अन्य (अजात) कोई पर (भिन्न सत्तावाला या उत्तम) नहीं है। या जात प्रपञ्च जिससे पर (उत्तम) अन्य (भिन्न) नहीं हैं। "एकं वा इदं विबभूव।" ऋ० ६।४।२६ "पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भव्यम्।" ऋ० १०।६०।२ "आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किञ्चनास" ऋ० १६।१२६।२। वायु आदि रहित स्वधा (माया) सहित वह एक ही था, उससे अन्य पर कुछ नहीं था। जो परमात्मा सब भुवन (लोक शरीरादि) में पैठा, वही षोडशी (षोडश कला उपहित) प्रजापति, प्रजा (उत्पन्न मूर्ति) से संरराणः (सम्यक् रमता हुआ) अग्नि सूर्य चन्द्ररूप तीन ज्योतियों को सेवता प्रकाशता सिद्ध करता है।

"कः स्विदेकाकी चरति, क उ स्विज्जायते पुनः।
किं स्विद्धिमस्य भेषजं, किं वाऽऽवपनं महत्॥"
"सूर्य एकाकी चरति, चन्द्रमा जायते पुनः।
अग्निर्हिमस्य भेषजं भूमिरावपनं महत्॥" शु०२३।६-१०

सूर्य (आत्मा) ही एकाकी चरति (रहता जानता है)। पुनः (फिर) उससे चन्द्रमा उत्पन्न होता है। हिम (अज्ञान मोह) का ज्ञानाग्नि भेषज (नाशक) है। भूमि (मनुष्य देह) महत् आवपन (मोक्षफल के बीज साधनों के वपन स्थान) है तथा मर्त्यलोक कर्मबीज प्ररोह का स्थान है, इत्यादि।

"दृते दृंह मा मित्रस्य मा चक्षुषा, सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्।
मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे॥"
शुक्लय० ३६।१८

"द्यौः शान्ति" शु० ३६। १७ इत्यादि में वर्णित शान्ति मुझे मिले। हे शान्ति! विदृत (विदीर्ण भिन्न भावयुक्त) होने पर भी मुझे ऐसा तुम दृंह (दृढ अभिन्न करो) कि जिससे सब प्राणी मुझे मित्र की दृष्टि से देखें और सब प्राणी को मैं मित्र की दृष्टि से देखूँ। ऐसा होने पर मित्र की दृष्टि से ही हम देखेगें, इत्यादि। प्रलय सृष्टि आदि का सामान्यरूप से वर्णन हो सकता है, विशेष रूप से नहीं। इसीसे ऋग्वेद का मन्त्र कहता है कि—

"क अद्धा वेद क इह प्रवोचत् कुत आजाता कुत इयँ विसृष्टिः।
अर्वाग् देवा अस्य विसर्जनेनाथ को वेद यत आबभूव॥"

अद्धा (सत्य) रूप से कौन जानता है, या कौन यहाँ विशेष रूप से कह सकता है, कि यह सृष्टि किस निमित्त उपादान कारण से हुए हैं। सर्वज्ञ माने गये देव भी इसकी विसर्जन (सृष्टि) से अर्वाग् (पश्चात्) सिद्ध हुए हैं। अथ (अतः) इससे जिससे हुआ है उसको कौन जान सकता है। ऐसा होने पर भी सत् चिद् आनन्द अनन्त अप्रमेय आत्म स्वरूप से मोक्ष हेतु ज्ञान का भी वेदादि में वर्णन है; क्योंकि जिस ज्ञान से प्रबल राग द्वेष मोहादि का अभाव होता है; सोई ज्ञान शान्ति सुख मोक्ष का हेतु है। ईश्वर माया आदि का विशेष ज्ञान शान्ति आदि का हेतु नहीं है। और इन्हें अनिर्वाच्यादि समझ कर शान्त हो जाय तो कोई हानि नहीं है, पिता के जन्मादि को या निज जन्मादि को विशेष रूप से पुत्र नहीं जाने, तो कोई हानि नहीं है। किन्तु पिता के साथ अपने सम्बन्ध कर्तव्य, अपना स्वरूप को नहीं जाने तो हानि है, यही बात ईश्वर के साथ जीवों की है और स्वरूप को जानना अति दुर्लभ है। श्रुति कहती है कि—"श्रृण्वन्तो बहवो यं न विद्युः।" कठ० १।२।७ "कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षत्।" कठ० २।४।१ ऋग्वेद अ० २का मन्त्र है कि

"अनच्छये तुरगातु जीवमेजद् ध्रुवं मध्य आपस्त्यानाम्।
जीवो मृतस्य चरति स्वधाभिरमर्त्यो मर्त्येनासयोनिः॥"

तुरगातु (शीघ्रगामी) अनत् (श्वांसवाला) एजत् (कम्पादिकर्ता) यह जीव (जीवनयुक्त देह) में शये (शयन करता है रहता है), और समाधि आदिकालमें पस्त्यानां (गृहों के) मध्य (बीच में) ध्रुवं (निश्चल) आ (तिष्ठति)। और मृतस्य (मृत शरीर के सम्बन्धी भी) जीव, मर्त्येन (मृत देह के) साथ, असयोनिः

(असधर्मा) अमर्त्य (अमरणधर्मा, नित्य) ही रहता है। और स्वधाभि (कर्मानुसार प्राप्त अन्नों से) चरति (वर्तता है)। इससे जीव देह का विवेक बताया गया है। अथवा अनत्, एजत्, तुरगातु शरीरं, ध्रुवं जीवमहं शये। अर्थात् जीव सहित शरीर के श्वास कम्प गतियुक्त होने पर भी मैं सर्वात्मा अन्तर्यामी स्वरूप से, जीव के देहरूप घरों में आशये (अच्छी तरह शयन करता हूँ, रहता हूँ। यह सद्गुरुरूप परमात्मा की उक्ति है। और अमर्त्य (नित्य) जीव (प्राणी) मर्त्य (प्राण रहित) वस्तु की स्वधाभिः (भोज्यादि से) मर्त्य देहादि के असयोनिः (असधर्मा विवेकी) होकर विचरता है, सुखी होता है। और प्राणी की हिंसा द्वारा स्वधादि की प्राप्ति से अविवेकी दुःखी होता है, इन वेदवचनों के अनुसार कर्मादि नहीं करने से और नहीं समझने से जीव दुःखी, स्थिरता रहित होता है। भर्तृहरि कहते हैं कि,

'तृषा शुष्यत्यास्ये पिबति सलिलं शीतमधुरं,
क्षुधार्तः शाल्यन्नं कवलयति सूपादिसहितम्।
प्रदीप्ते कामाग्नौ सुदृढतरमालिङ्गति वधूं,
प्रतीकारं व्याधेः सुखमिति विपर्यस्यति जनः॥'

पिपासा से मुख के सूखने पर शीत मधुर जल पीता है, भूख से दुःखी होकर दालादि सहित भात खाता है, कामाग्नि के प्रदीप्त होने पर स्त्री का गाढ़ आलिङ्गन करता है। इस प्रकार व्याधि का प्रतिकार (निवारण) को ही सुख समझकर मनुष्य भ्रान्त होता है। सच्चिदानन्द को नहीं समझता है।

'दधि मधुरं मधु मधुरं द्राक्षा मधुरा सुधापि मधुरैव।
सर्वं यस्मान्मधुरं तं मधुरतरं को न जानाति॥१॥
द्रविणं दयितं सुतोऽपि दयितः शरीरं दयितं युवतिर्दयितैव।
सर्वं यस्माद्दयितं तं दयिततरं को न जानाति॥२॥
अधरं रुचिरं नयनं रुचिरं दन्ता रुचिरा नासाऽपि रुचिरैव।
सर्वं यस्माद्रुचिरं तं रुचिरतरं को न जानाति॥३॥ कविः

'नावेदविन्मनुते तं बृहन्तरम्।' तै० ब्रा० ३।१२।९।७

'त एतदधिगच्छन्ति विष्णोर्यत्परमं पदम्।
अहं ममेति दौर्जन्यं न येषां देहगेहजम्॥' श्रीमद्भा० १२।६।३३

'अहो मायाबलं विष्णोः स्नेहबद्धमिदं जगत्।
कस्य के पतिपुत्राद्या मोह एव हि कारणम्॥' श्रीमद्भा०८।१८

'आत्मानुभूतौ तां मायां जुहुयात्सत्यदृङ् मुनिः ।
ततो निरीहो विरमेत्स्वानुभूत्यात्मनि स्थितः ॥' श्रीमद्भा० ७।१४।४४

अज्ञानादि से ही दधि आदि में स्वन्तत्र मधुरता, धनादि में प्रियता, अधरादि में रुचिरता भासती है। अतिमधुर अतिप्रिय अतिसुन्दर आत्मपरमात्मतत्त्व ज्ञान विराग समाधि सुखादि को कोई नहीं जानता है। और वेदादिरूप सदुपदेश के अज्ञानी उस विभु आत्मा को नहीं समझता है। जिसको देह गेहादि से जन्य अहं ममादिरूप दुर्जनता नहीं रहती है, वही वेदवेत्ता होकर, जो विष्णु (ब्रह्मात्मा) का परमपद (स्वरूप) है, उसको प्रत्यक्ष जानता है। परन्तु विष्णु की माया का बल आश्चर्यरूप है, कि जिससे यह जगत् स्नेह (राग-ममता) से बाँधा है, कौन किसके पति पुत्रादि हैं। इस ममता में मोह (माया) ही कारण है। सत्य दृष्टिवाला मुनि उस माया को आत्मानुभव में हवन करे, तब आत्मानुभव से आत्मा में स्थिर इच्छादि रहित होकर, सब क्रियादि से उपराम हो, इत्यादि।

हनूमान गुरुभक्ति से, वेदतत्त्व को जानि।
सुखमय जग विचरै सदा, तजै भेदमय ग्लानि ॥ १ ॥
सुकरम से कुकरम हनै, ज्ञान भक्ति तम[1] हानि।
करि विचरै वा थिर रहै, बनै न कहुँ अभिमानि ॥ २ ॥
यही मोक्ष औ सुख सदा, बिनु इच्छा स्थिति जोय।
मोह द्रोह जामें नहीं, सदा प्रगट हरि सोय ॥ ३ ॥

❀ ॐ राम ❀

कः शत्रुर्वद खेददानकुशलो दुर्वासनानां[2] चयः।
किं मित्रं सततोपकाररसिकस्तत्त्वावबोधः सखे ॥ १ ॥ (जगन्नाथ कविः)

१ ज्ञानभक्ति से अज्ञान अभिमानादिरूप तम की हानि (नाश) करके विचरे या समाधिस्थ होय, इत्यादि।

२ दुःख देने में चतुर दुष्ट वासनाओं का समूह है और सदा उपकार में रसिक (प्रेमी) तत्त्वज्ञान है, इत्यादि।

* ओम् राम *

अथ रमैनीरसोद्रेकः प्रारभ्यते

तत्र मङ्गलाचरणम्

स्मारं स्मारं निखिलभुवनेऽसारतां[1] तद्विरक्तः[2],
ध्यायं ध्यायं परमविमलं देवमन्तर्निषण्णम् ।
पायं पायं निजहृदि लसत्सच्चिदानन्दपेयं,
गायं गायं निजगुणान् सर्वदा निर्वृतः स्याम् ॥ १ ॥
विश्वस्योद्भूतिहेतुः स्थितिलयविधौ यः समर्थोऽद्वितीयः[3],
सत्याऽऽलोकस्वरूपः सकलकरणाऽगोचरः स्वप्रकाशः ।
जाग्रत्स्वप्नादिसाक्षी निरवधिपरानन्दरूपोऽविनाशी,
हृत्काशीवासिदेवस्तमहमविदं यत्कृपातो[4] नुमस्तान् ॥ २ ॥
अध्येतव्या निखिलनिगमा यस्य सद्बोधसिद्ध्यै,
कर्तव्यं तद्विविधविधिना कर्मजातं सदैव ।
मीमांसा सा श्रुतिशिखरिणां मस्तकानां[5] यदर्था,
भक्त्याभव्ये[6] तदतिलघुना[7] ज्ञापयद्भ्यो नमोस्तु ॥ ३ ॥

---

१ भवन्तीति भुवनानि, निखिलानां भुवनानां समहारो निखिलभुवनं तस्मिन् ।

२ तस्माद्विरक्त इत्यत्र कर्तृकरणे कृता बहुलम्, इत्यत्र बहुलग्रहणाद् विभक्त्यन्तराणामपि क्वचित् कृदन्तेन समासः ।

३ न तस्य कार्यं करणं च विद्यते, न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते ।
पराऽस्य शक्तिर्विविधैवं श्रूयते, स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ॥१॥
स विश्वकृद् विश्वविदात्मयोनि र्ज्ञः कालकालो गुणी सर्वविद्यः ।
प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः संसारमोक्षस्थितिबन्धहेतुः ॥२॥
"श्वेता० अ० ६ । ८-१६"

४ सार्वविभक्तिकस्तसिः । ५ उपनिषदामित्यर्थः । ६ भवतीतिभव्यो योग्यो भव्यज्ञेयेत्यादिना कर्त्तरि यत् । ७ उपायेनेति शेषः ।

यद्वाचमाकर्ण्य[1] सुधावधीरणीं नैवाद्रियन्तीह बुधाः सुधामपि ।
तं दैशिकेन्द्रं प्रणमामि योगिनं ज्ञानावतारं खलु ब्रह्मणोऽपिहि ॥४॥
मायाकृतं द्वन्द्वमनन्तपारं भयावहं तर्तुमपारयन्तम्[2] ।
विलोक्य योऽद्वन्द्वपदं प्रदर्श्य भयापहस्तं गुरुमाश्रयेऽहम् ॥५॥
वाणीं यस्य बुधा निपीय विमलां गायन्ति सर्वोज्ज्वलम्,
सर्वानन्दकरं ह्यलौकियशः स्वानन्दमग्ना मुहुः ।
ध्यायन् यस्य पदारविन्दमनघं भक्तश्च मोमुच्यते,
ग्राहाज्जन्मजरादितो द्रुततरं वन्दे कबीरं हि तम् ॥६॥
मूर्तिर्यस्य मनीषया हृदि धृता धैर्यं च धर्मं क्षणाद्,
दत्ते शान्तिमनुत्तमां च विततां विस्तारयन्ती यशः ।
स्वर्गं मोक्षसुखं[3] च मोक्षमतुलं तद्धेतुविद्याधनम्,
अन्यद्यच्च सुवांछितं तमनघं वन्दे कबीरं गुरुम् ॥७॥
पेयं सुधासमरसं वचनं यदीयं गेया गुणाश्च सततं भवबन्धमुक्त्यै ।
ध्येया सदैव विमला सुजनैर्यदीया मूर्तिर्वरा तमहमाप्तवरं प्रपद्ये ॥८॥
समरसं विरसं[4]भववारिधौ सुशरणं [5]रसशालिनमव्ययम् ।
श्रुतिविदा विदितं विदुषां वरं कविवरं हि कबीरमहं श्रये ॥९॥
कलुषहं करुणाकरसत्कथं त्वकथकायविराजितमोक्षदम्[6] ।
करुणया धृतकायमकायकं कविवरं हि कबीरमहं श्रये ॥१०॥
कुसरणौ प्रतिपद्य विमोहतः कुरमणे रमणाय कृतेहितम् ।
निजदृशि[7] प्रतिपाद्य प्रबोधकं कविवरं हि कबीरमहं श्रये ॥११॥
समुदायास्तविहीनमनीहं विमलबोधमयं गततापम् ।
गतमलं क्षयवृद्धिविहीनं विधुवरं हि भजे बुधबीरम् ॥१२॥
न वज्रधारी न च योऽसुरारिर्गतिर्न यस्याभ्रमुबल्लभेन ।
तथापि धीरं परमं कबीरं भजेऽहमिन्द्रं खलु देवदेवम् ॥१३॥

---

१ सुधाया अवधीरणं च स्वर्गतत्रत्यविषयसुखादीनां तुच्छत्वबोधनेन प्रियतमात्मबोधकत्वेन च । २ पर्याप्तिवचनेष्विति तुमुन् । ३ जीवन्मुक्तिसमाधिजं सुखम् । विदेहनिर्विशेषमोक्षम् ।

४ रागाश्रयविषयादियुक्तेऽपि संसारे सर्वथारागादिभिरसम्बद्धम् ।
५ आत्मानन्दस्वरूपब्रह्मानन्देन सदैव दीप्यमानम् ।

६ यस्य शरीरविषये हीदमित्थतया किञ्चिद्वक्तुम् कैरपि न शक्यते, सर्वथाऽलौकिकविग्रहत्वाच्चिद्विग्रहत्वाच्च । ७ निजदृक् स्वरूपे स्वकीयज्ञानमार्गे वा ।

विरक्तं सुशीलं गतग्रन्थिवर्गं गतस्नेहसन्देहलेशं परेशम् ।
पवित्रं परं पावनं पापदूरं नमस्यामि तं शाश्वतं श्रीकबीरम् ॥१४॥
उदारं गुणागारसंतोषयुक्तं दयागारदैन्यादिहीनं सुशान्तम् ।
गरिष्ठं[1] वरिष्ठं सदा ब्रह्मनिष्ठं हितं भाषमाणं भजेऽहं कबीरम् ॥१५॥
असक्तं जितद्वन्द्वदोषं सुयुक्तमहिंसादयासत्यसौम्यैकमूर्तिम् ।
शमाद्यैः सुयुक्तं मदाद्यैर्वियुक्तं गतद्रोहलेशं भजेऽहं कबीरम् ॥१६॥
गुरुं ब्रह्मभावेन वै मन्यमानं वदन्तं तथा शिष्यवर्गेषु शश्वत् ।
मुनिं ज्ञानविज्ञाननिष्ठं स्थविष्ठं[2] समं निस्पृहं संश्रयेऽहं सुधीरम् ॥१७॥
यद्दर्शनं[3] दोषगणान्निहन्ति साप्नोति सर्वं खलु मङ्गलं च ।
तं निर्मलं शुद्धतमं सुवृत्तं वन्दे सदाऽहं सुगुरुं सुधीरम् ॥१८॥
शमो दमस्तोषविशुद्धसत्त्वाऽहिंसादयामैत्रिमनीषितादि ।
तपःक्षमासत्यविवेकितादिसद्रत्नपूगोऽस्ति भजे हि यस्य ॥१९॥
स्पर्द्धादिहीनं[4] गतगर्वखर्वं सदैव मान्यं बुधसज्जनानाम् ।
दीने दयादानयुतं शरण्यं भजे सदाऽहं सुगुरुं कबीरम् ॥२०॥

संसाराब्धौ प्रचलितमहाकामकोपादिभङ्गात् ,
भ्रान्तान् [5]स्रस्तान् स्वपरमगुरो ! पाहि लालप्यमानान् ।
जीवान् दृष्ट्वा [6]सपदि करुणाव्याप्तचित्तोऽभवद्यो,
मोहध्वान्तावरणहरणे सम्प्रवृत्तो नुमस्तम् ॥२१॥
अहिंसाशौचाद्यैः शमदमदयादाननिवहै-
र्विमृष्टस्वान्ता ये विगतमदमोहाः सुमनसः ।
असारं पश्यन्तो जगदिदमपारं त्वनुपलं,
हितं तेषामुक्तं गुरुवरकबीरैश्च जगतः ॥२२॥
ब्रह्मा चतुर्मुखो[7] यो नो विष्णुर्यो न चतुर्भुजः ।
शिवस्त्रिनयनो यो नो तं धीरं मिहिरं भजे ॥२३॥

---

१ अतिशयेन गुरुन् = गाम्भीर्यसात्त्विकधैर्ययुक्तमतिमहान्तम् । २ विभु-स्वरूपम् , प्रवृद्धम् । ३ यदीयस्वरूपस्य प्रत्यक्षं ज्ञानम् , यदीयविचारात्मकोग्रन्थश्च । ४ गतो गर्वात्मकः खर्वोह्रस्वता यस्मादिति भावप्रधानो निर्देशः । ५ स्खलद्यात् च्युतान् । ६ शीघ्रम् । ७ यश्चतुर्मुखो नास्ति तथापि ज्ञानवान् सन्, ज्ञानवन्तं पुरुषं रचयति । तं रक्षयति अविद्यादिकं संहरतीति भावः । अतएव विधाताविष्णुः शिवश्चयस्तं धीरं मिहिरं (सूर्यं) सर्वप्रकाशकं गुरुम् भजे ।

स्वाम्नायशिखरैस्तुल्या वाणी यस्य विराजते।
तं सर्वसुहृदं हृद्यं कबीरं मिहिरं भजे ॥२४॥
यत्पादकमलं पोतं विधायैवात्र सज्जनाः।
भवन्ति भवपारं तं सत्यं सद्गुरुमाश्रये ॥२५॥
यच्छरणं हरते भवतापं यच्चरणं तरणं भवसिन्धोः।
यद्वरणं[1] वरमानसतोषं तं हि भजे करुणाभकबीरम् ॥२६॥
पूर्वेषां स[2] गुरुरिति वचनाद्यः परः शास्ति सत्यम्,
आचार्यस्य वपुषि स विलसत्यागमोऽप्याह तथ्यम्।
देवानां च परतमरमणः सत्तमोऽद्वैतपथ्यो[3],
वन्दे तं त्विह निखिलनिगमैर्ज्ञेयमेकं कबीरम् ॥२७॥
पठित्वा सकृदेवाहं यद्वाक्यं श्रद्धयाऽभवम्।
महाग्राहाद् भ्रमान्मुक्तस्तस्मै किन्तु ददाम्यहम् ॥२८॥
मनो नास्ति वशेऽस्माकं कायश्च क्षणभङ्गुरः।
किञ्चिद् धनादिकं नास्ति यदस्ति तत्कृतं तव ॥२९॥
अतो मे प्रणतिः शश्वत्पादयोस्ते दयानिधे!।
विधेयं मे मनस्तादृक् त्वत्स्वरूपे हि यद्वसेत् ॥३०॥
मन्त्रं यदीयमलभ्य भवाब्धिमध्ये,
शिक्षातरिं च सुतरां गुरुकर्णधाराम्।
लब्धुं सदाऽस्मि सबलो भवभीतिमुक्त-
स्तं[4] नौमि तं च गुरुमद्वयमात्मरूपम् ॥३१॥
दीक्षाप्रदं[5] गुरुवरं खलु मोहनाख्यं, शिक्षाप्रदं च रमितागुरुमाशुतोषम्।
विद्याप्रदं हरिहरं बुधबोधनालं, वन्दे च यैर्गुरुवरैः प्रतिबोधितोऽहम् ॥३२॥

---

१ जिनका वरण (स्तुति = प्रार्थना) श्रेष्ठ मन की तुष्टि का जनक होता है। करुणया भातीति करुणाभः, तं हि भजे।

२ स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्-इति योगसूत्रम्। परिपक्वमला ये तानुत्सादनहेतुशक्तिपातेन योजयति परे तत्त्वे स दीक्षयाआचार्यमूर्तिस्थः। स ईश्वरः। ३ पथोऽनपेतः पथ्योऽद्वैतश्चासौपथ्य इति विग्रहः।

४ मन्त्रप्रदं शिक्षाप्रदं चाद्वयं परमात्मस्वरूपं गुरुम् नमस्करोमि।

५ दीयते विमलं ज्ञानं क्षीयते कर्मवासना। व्याख्याता तेन दीक्षेति विद्वद्भिस्तत्त्वदर्शिभिः॥ १ ॥ इति क्वचित् "शाम्बुपुराणे अ० ३५ चोक्तम्" स्नानाद्दानाज्जपाद्धोमात्संयोगाद्देवकर्मणः। शिरसो वपनाच्चैवदीक्षितः पुरुषो

गुरुरात्मवतामात्मा शास्ता धाता पितामहः ।
वन्द्यश्च पूजनीयश्च तस्मा अस्तु नमो नमः ॥३३॥
ईशो मेशः सुरेशश्च गणेशः सर्वदेवताः ।
विधिः सरस्वती सूर्यस्तस्मिन्नेव समाहिताः ॥३४॥

भवेत् ॥२॥ इत्यादि वचनों के अनुसार दीक्षाप्रद और शिक्षाप्रद दोनों गुरु ज्ञानप्रद होते हैं। अतः कहीं एक की वन्दना से भी दोनों की वन्दना समझी जाती है। और वस्तुतः "सो गुरु निशिदिन वन्दिये, शब्द लखावै दाव" इत्यादि भेद को मूर्ख नहीं समझते हैं। अतः संशयग्रस्त होते हैं।

इस प्रकरण के प्रथम और तृतीय श्लोक के "मन्दाक्रान्ता" नामक छन्द है। लक्षण है कि "मन्दाक्रान्ता" ऽम्बुधिरसनगैर्मो भनौ गौ य युग्मम्" जिसके पाद में मगन, भगन, नगन दो गुरु, दो यगन होते हैं और चार, छौ, सात पर विश्राम होता है ॥१॥

दूसरा के "सुवंशा" नामक छन्द है "ख्याता पूर्वैः "सुवंशा" यदि मरभना स द्वयं गौ गुरुश्च" यदि मगन, रगन, भगन, नगन, दो सगन, दो गुरु क्रम से हों तो वह पूर्व के आचार्यों से "सुवंशा" नामक छन्द कहा गया है ॥२॥

चतुर्थ के "इन्द्रवंशा" नामक छन्द है। "वदन्ति "वंशस्थविलं" जतौ जरौ। "तच्चेन्द्रवंशां" प्रथमाक्षरे गुरौ" जगन, तगन, जगन, रगन के क्रम से रहने पर "वंशस्थविलं" या "वंशस्तनित" नामक छन्द होता है और उसीमें प्रथमाक्षर के गुरु रहने पर "इन्द्रवंशा" वृत्त छन्द कहा जाता है ॥३॥

पञ्चम के "उपजाति" वृत्त कहते हैं क्योंकि "स्याद् इन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः। "उपेन्द्रवज्रा" प्रथमे लघौ सा" दो तगन एक जगन, दो गुरु के रहने से इन्द्रवज्रा होता है। उसी में प्रथमाक्षर के लघु होने पर "उपेन्द्रवज्रा" वृत्त होता है और प्रथमाक्षर किसी पाद में लघु हो किसी में गुरु हो तो "उपजाति" नामक वृत्त होता है, सो अन्यत्र भी ज्ञातव्य है ॥४॥

छव, सात के "शार्दूलविक्रीडित" वृत्त है। "सूर्याश्वैर्मसजस्तताः स गुरवः "शार्दूलविक्रीडितम्" मगण, सगन, जगन, सगन, दो तगन, गुरु से शार्दूलविक्रीडित" होता है। उसमें सूर्य १२ और अश्व ७ पर विश्राम होता है ॥५॥

अष्टम का "वसन्ततिलक" वृत्त है। "ज्ञेयं "वसन्ततिलकं" तभजा जगौ गः" तगन, भगन, दो जगन, दो गुरु से "वसन्ततिलक" होता है ॥६॥

अथ सम्बन्धः

इयं प्रवृत्तिर्मननात्मिका मम श्रुतस्य वाक्यस्य गुरोर्गरीयसः[1] ।
उपासनैव क्रियते मया त्वियं स्मृतिर्यथा स्यात्सततं गुरोर्गुरोः ॥१॥
लब्ध्वाऽत्र मानुष्यमतीव[2] दुर्लभं योषिद्धिरण्यादिपरैः[3] कुबुद्धिभिः ।
मूर्ध्वस्थितो मृत्युरतीव दुर्धरो नो दृश्यते नैव च सोऽत्र वार्यते ॥२॥

नवम से एकादश पर्यन्त का "द्रुतविलम्बित" वृत्त है । "द्रुतविलम्बित-माह नभौ भरौ" नगन, दो भगन, रगन से द्रुतविलम्बित" वृत्त होता है ।

द्वादश श्लोक में पन्द्रह मात्रा के पाद हैं, एकादशाक्षर हैं । नगन, दो भगन, दो गुरु के प्रत्येक पाद में है, नाम अनिर्दिष्ट है ॥१२॥

तेरहवाँ श्लोक का "उपेन्द्रवज्रा" वृत्त है ॥१३॥ आगे १४ से १७ चौदह से सतरह तक द्वादशाक्षर पाद वाले श्लोक हैं, नाम अनिर्दिष्ट हैं। फिर १८ से २० तक "इन्द्रवज्रा" तुल्य है । इक्कीशवाँ का "मन्दाक्रान्ता" नामक वृत्त है । बाइसवाँ का "शिखरिणी" वृत्त है । २३ से २५ तक अनुष्टुप् है । छब्बिशवाँ का "दोधक" नामक वृत्त है । सताइसवाँ "चित्रलेखा" से मिलित सा है । ३१ और ३२ श्लोकों का "वसन्ततिलक" नामक वृत्त छन्द है ।

सम्वन्ध प्रकरण के प्रथम श्लोक "वंशस्थविल" नामक छन्द रूप है "वदन्ति "वंशस्थविलं" जतौ जरौ" यह उसका लक्षण है ।

दूसरा श्लोक 'इन्द्रवंशा' नामक है, "तच्चेन्द्रवंशा प्रथमाक्षरे गुरौ" यह लक्षण है । ग्यारह श्लोक तक इन दोनों का मिश्रित स्वरूप है (उपजाति है)। द्वादश श्लोक का 'इन्द्रवज्रा' नामक छन्द है । "स्याद् = इन्द्रवज्रा = यदि तौ जगौ गः" यह लक्षण है । फिर १३, १४, १५ श्लोक "वंशस्थविल" और "इन्द्रवंशा" के मिश्रण हैं । सोलहवाँ "इन्द्रवज्रा" है । १७, १८, १६ इनके उक्त ही छन्द हैं । २०,२१ के "वसन्ततिलक" नामक छन्द हैं। ज्ञेयो "वसन्त-तिलकं" तभजा जगौ गः" यह लक्षण है । एकतिसवाँ का कोई लक्षण नहीं मिलता है, कुछ अनुष्टप् हैं । ३५ आदि के उक्त ही छन्द हैं । ५७, ५८ के "भुजङ्ग प्रयात" नामक छन्द है । "भुजङ्गप्रयातं, चतुर्भिर्यकारैः" यह लक्षण है । उनसठ का "सुवंशा" नामक छन्द है, "ख्याता पूर्वैः "सुवंशा" यदि मरभनाः स द्वयं गो गुरुश्च" यह लक्षण है ।

१ अतिशयेन गुरुर्गरीयान् तस्य गरीयसः ।

२ अत्यन्त अधिक दुर्लभ ।

३ योषिदादि परः श्रेष्ठो येषां तैः ।

मृत्युं प्रपद्येद्यदि चान्तिकस्थं भयङ्करं[1] दुर्विषहं च सर्वैः।
आहारनिद्रादिसुखं न[2] भायात् कथं नरः स्यात् स विकर्मकारी ॥३॥
वैराग्यसद्बोधविवर्जितो नरः काम्यादिकर्मादिषु संरतः सदा।
बद्धः पुनः कर्ममयैः कुपासकैः प्रपच्यते वै नरकेषु जन्मसु[3] ॥४॥
अतश्च बोधाय तथा विरक्तये कुर्यात्सुयत्नं खलु सद्विवेकवान्।
ताभ्यां च भक्त्या[4] परमात्मलाभतो भवेत्सुतृप्तो ननु[5] निर्वृतः सदा॥५॥
आर्ताश्च[6] जिज्ञासुजनार्थकामुका बुधा भजन्त्येव परेश्वरं सदा।
आर्ताः सुखार्थं निजबोधलब्धये जिज्ञासवो बोधविशुद्धये[7] बुधाः ॥६॥
अज्ञानतो[8] यद्धि विकर्म जायते तन्नाश्यते जातु सुकर्मणा ह्यपि।
ज्ञानं विना नैव तु कर्मसंचयः संक्षीयते क्वापि सुकर्मणा तथा ॥७॥
अनन्यभावेन बुधो भजंस्ततो विशुद्धविज्ञानयुतो विराजते।
न तत्र भेदो न च कर्मजं भयं जन्मादिजं तत्र भयं न जायते ॥८॥
ज्ञानं विना मुक्तिसुखस्य कामुका ज्ञेया जनैस्ते ननु बालिशा[9] नराः।
कर्मानुसारेण भवन्ति ते सदा सुखस्य दुःखस्य च भाजनानि वै ॥९॥
न कर्मणा कर्मनिबर्हणं[10] भवेदनन्तकल्पार्जितकर्मसंचयः।
अनन्त एवास्ति तथैव वासनाऽप्यनन्तरूपा खलु विद्यते सदा ॥१०॥
ज्ञानाच्च तुष्टौ नहि कर्म तिष्ठति सवासनं नश्यति मूलनाशतः।
तुष्टाश्च तिष्ठन्ति हि दम्भवर्जिता बन्धेऽनृतत्वं ह्यवबुध्य तत्त्वतः ॥११॥
ज्ञानाद् विमुक्तिं श्रुतयो वदन्ति बन्धेऽनृतत्वं[11] स्फुटमेव तेन।
तथैव शश्वद् गुरवो वदन्ति ज्ञानस्य सिद्ध्यै लघुसाधनानि ॥१२॥

---

१ दुःखेन विषह्यते, खल प्रत्ययः परिनिविभ्य इति षत्वम्। २ न भायात्-न रोचेत-तस्मै-इति। ३ जन्मसु-सत्सु। ४ साक्षात्कारतो निष्ठातश्च। ५ ननु-अवश्य। ६ चतुर्विधा भजन्ते मामित्यादि गीता। ७ संशयभ्रम-निवृत्तये श्रवणादिकं बुधाः कुर्वन्ति। ८ प्रायश्चित्तैरपैत्येनो यदज्ञानकृतं भवेत्। कामतो व्यवहार्यस्तु वचनादिह जायते ॥ १ ॥ याज्ञवल्क्यस्मृतौ। ९ अज्ञाः बालतुल्याः। १० निबर्हणं = बहिष्करणम्। ११ उत्तर ज्ञानादिभिः पूर्वज्ञादीनां सुहृद्दर्शनेन शोकस्य च निवृत्तावपि तत्र नातिव्याप्तिः, तत्त्व-ज्ञानत्वेन विमोचकत्वस्य विवक्षितत्वात्। तेषां तु विरोधिगुणत्वादिना निवर्त-कत्वं न तु तत्त्वज्ञानत्वेन। ये तु सत्ख्यातिवादिनः सत्यस्याप्यन्तःकरणादि-बन्धस्य भक्त्या निवृत्तिमभिदधति, तैर्हि "नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः' इत्यादि शास्त्रमश्रुतमेवेति मन्तव्यम्। यां च सतो रोगस्यौषधि-

शमादिसिद्ध्यै ननु योगमभ्यसेन्निष्कामकर्मादिकमाचरेत् सदा ।
शमादिसिद्धौ गुरुपादसेवया बन्धाद्विमुक्तो निजबोधतो भवेत् ॥१३॥
सद्भक्तिकर्मादिषु योगवर्त्मसु सदाऽप्रवृत्ताविह मूढचेतसाम् ।
भवेत् प्रवृत्तिर्ह्यवशं कुवर्त्मसु बलात्प्रकृत्या नरके निपातनम् ॥१४॥
ततो ह्यहिंसादियुतेषु कर्मसु सद्भक्तियोगेषु शमादिलब्धये ।
भवेत्प्रवृत्तो न नरो विकर्मसु नात्मावघातेषु कदापि संचरेत् ॥१५॥
सत्यात्ममिथ्यात्मभिदां निरीक्ष्य गौणात्मभेदं निपुणो विलोक्य ।
तेषामहिंसामथ तद्विहिंसां निरीक्ष्य तेषां हननं न कुर्यात् ॥१६॥
सत्यात्मनोऽज्ञानमथो विपर्ययो हिंसा तदीया कथिता कवीश्वरैः ।
अखण्डसौख्यैकरसेन बोधनं भवेदहिंसाविहिता मुनीश्वरैः ॥१७॥
विकर्मवृत्त्या[1] तमसा प्रवृत्त्या हठैर्विपीड्यास्य विपातनं वा ।
मिथ्यात्मदेहस्य भवेद्विहिंसा ततोऽन्यथा स्यादविहिंसनं च ॥१८॥
गौणात्मपुत्रस्य च शिष्यवृत्तेरशिक्षणं[2] स्यादतिलालनं च ।
विहिंसनं तस्य च शिक्षणादि भवेदहिंसा विहिता श्रुतौ या ॥१९॥

आत्माऽवहिंसनमिदं त्रिविधं वदन्ति,
तस्मात्परं च विविधं मनसा वचोभिः ।
कायेन हिंसनमिदं कथितं परेषां,
हेयं सदा भवति तच्च बुधैर्विविच्य ॥२०॥
हित्वैव हिंसनमिदं स्वपरात्मनोर्वै,
कुर्याद्धितं सुमनसा वचसा शरीरैः ।
एतद्धि धर्ममनघाः[3] परमं वदन्ति,
तस्यैव साधनमिमे खलु सर्वधर्माः ॥२१॥
यथाशक्ति ह्यहिंसैव कर्तव्या सर्वसज्जनैः ।
अशक्ये लघु चाश्रित्य महत्तद्धिंसनं त्यजेत् ॥२२॥

भिर्निवृत्तिं कथयन्ति, तत्कारणे लयमात्रम् भवति, पुनरपि रोगोत्पत्तेः, प्रकृते च पुनरुत्पत्तिरहितः सकारणबाधो मोक्षशब्दार्थत्वेन विवक्षित इति संक्षेपः ।

१ विकर्मणि-विरुद्धे निन्दिते कर्मणि वृत्तिः स्थितिस्तया, किम्वा विकर्मणो वर्तनमाचरणं तेन । तमसा=तमोगुणेन मोहेन या प्रवृत्तिस्तयेत्यर्थः ॥ २ शिष्यस्य वृत्तिर्यस्मिन्तस्य । ३ अहिंसैव परोधर्मः शेषास्तु व्रतविस्तराः । अस्यास्तुपरिरक्षार्थं पादपस्य यथाऽऽवृत्तिः ॥१॥ अहिंसैव मतामुख्या स्वर्गमोक्षप्रसाधिनी । अस्यास्तु-परिरक्षार्थं न्याय्यं सत्यादिपालनम् ॥२॥ "महाभा॰ अनुशासनप॰ अ॰ ११५"

आत्महिंसा न कर्तव्या कदाचिदपि सज्जनैः ।
जीवन् सर्वं नरः कुर्यान्मृतः किं स करिष्यति ॥२३॥
अहिंसाद्यैः सुसंसाध्य शुद्धं चेतो निजात्मनि ।
स्थापयेन्नैव[1] चान्यत्र भवबन्धविमुक्तये ॥२४॥
कायेन विहितं कर्म हिंसाकल्कादिवर्जितम्[2] ।
कामदम्भादिकं त्यक्त्वा शुद्ध्यै कुर्यादगर्वितः ॥२५॥
शास्त्रैश्चविहिते मार्गे जुगुप्सा चेद् भवेत् क्वचित् ।
स्वप्रियत्वाद्धि[3] धर्मस्य तमधर्मं परित्यजेत् ॥२६॥
अशक्तोविहिते मार्गे निन्दितं न समाचरेत् ।
तत्रापि च परीक्षेत देशकालादि सर्वतः ॥२७॥
कायेन मनसा वाचा यद्यत्कर्म समाचरेत् ।
बुद्ध्या विशुद्धया नित्यं तद्ब्रह्मणि समर्पयेत् ॥२८॥
सर्वं करोति वै ब्रह्म मायया सुविकल्पितम् ।
वस्तुतः क्रियते नैव न करोत्यद्वयत्वतः ॥२९॥
द्वितीयाऽभिनिवेशेन[4] भयं भवति नान्यथा ।
आभजेतं ततोऽद्वैतं गुरुदेवात्मविन्मुनिः ॥३०॥
योऽस्त्यात्मा यश्चरामो विभुविभवशाली[5] गुणनिधिः,
यश्चास्ते सर्वदेवो दिवि भुवि विलासी सुखनिधिः ।
सर्वं भूत्वा प्रकृत्या विलसति सदा यो गुणपरः,
तद्देवस्यैव भक्त्या पुनरपि गुणान्धो न भवति ॥३१॥
वेधोविष्णुहरेष्वेवं त्रिगुणेष्वपि कुत्रचित् ।
तावन्मात्रे ह्यलं बुद्धिं कृत्वा सक्तो निबध्यते ॥३२॥

---

१ यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् । ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥ १ ॥ प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् । उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥ २ ॥ "श्रीमद्भ० गी० अ० ६ । २६-२७"

२ कल्कः-पापाशयः । ३ वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः । एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम् ॥ १ ॥ "मनुस्मृ० अ० २।१२"

४ अभिनिवेशोऽत्राऽऽग्रह आशक्तिः "भेदबुद्धौ भवेदेतदवश्यं विदुषामपि । रागोद्वेषो भयं मोहो मदोद्वन्द्वानि सर्वशः ॥१॥ इति निश्चित्य सद्वाक्यैर्वेदान्तैः स्वमनीषया । भेदबुद्धिं परित्यज्य सदद्वैतं सदा श्रयेत् ॥२॥"

५ विभवैः सर्वज्ञत्वादिभिः शलते-सर्वान् संवृणोति = इति विभवशाली,

तत्रापि च विवेकेन परिपश्यँश्चिदव्ययम् ।
तत्तत्[1] तत्त्वमपि ध्यायन् मुच्यतेऽहिंसको नरः ॥३३॥
सर्वेभ्यः सारमादद्यान्मध्ये नैव वसेत् क्वचित् ।
अन्तप्राप्तौ सयत्नः स्यान्मानुष्यं तस्य शोभते ॥३४॥

गुरुं हि मत्वा भवमानवं जना भवन्ति तुच्छस्य फलस्य भागिनः ।
शुद्धं विदित्वा खलु बोधदृष्टितो महाफलं प्राप्यपलायते भवात् ॥३५॥

लोकेषु देवेषु जनेषु चैवं शनैर्विदित्वा परमात्मरूपम् ।
स्वान्तेषु चैवं परिचिन्तयन् तं जनो विमुक्तो भवति त्वसङ्गः ॥३६॥

आत्मैव[2] वेधा च हरो हरिश्च गुणं समाश्रित्य पृथङ् न तादृक् ।
इदं समस्तं जगदात्मरूपं तेष्वस्ति बोधश्च बलं न चात्र ॥३७॥

यदा जनो भिन्नतया निषेवते गुणाँस्तदा सेव्यतया स पश्यति ।
गुणात्मिकेयं ननु बन्धनप्रदा माया तयाऽसौ स्ववशं निबध्यते ॥३८॥

यदा जनोभेदमपास्यदूरतो निषेवते क्वापि परं चिदव्ययम् ।
तदा विधूयात्मसुबोधतो ह्यमूं परात्परे ब्रह्मणि मोदते सदा ॥३९॥

आत्मैवरामः स च कृष्ण उच्यते ब्रह्मैव चात्मा न ततः पृथग्घि सः ।
योग्यादिभिर्ध्येयतया विवक्षितो रामेति शब्देन निगद्यते परः ॥४०॥

अरींश्चकर्षन् सहिकृष्णशब्दभाग् ब्रह्मेति बृद्धेरभियोगतो भवेत् ।
प्राणान् विकर्षन् स च जीवशब्दको मायां वशीकृत्य परेश्वरो भवेत् ॥४१॥

स्वयं न जीवो न च वा परेश्वरस्तथापि रामो रमतेऽत्र सज्जनः ।
धैर्येण सद्धारणया च संयुतो विभेदमुक्तः स जनो विराजते ॥४२॥

उपाधिभेदान्निखिला भिदा भवेदुपाधिभेदो हि गुणप्रभेदतः ।
गुणेषु भेदो मलशुद्धिभेदतस्तयोस्तु भेदः कृतकर्मतो भवेत् ॥४३॥

विमुश्चासौ विभवशालीति । १ एतदभिप्रायेणैवोक्तम् 'रजगुण ब्रह्मा तमगुण शङ्कर सत्त्वगुणी हरि सोई' सर्वात्मा राम एव तत्तद्गुणैर्ब्रह्मादिनामको भवतीत्यर्थः । तत्तन्नामा देवविशेषा जीवास्त्वन्य एव, तत्रापि च तत्तद्गुण-विशिष्टरामस्य ब्रह्मण एवशक्त्योऽभिव्यज्यन्ते इति भावः । २ यच्चाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानिह । यच्चास्य सन्ततो भावस्तस्मादात्मेति गीयते ॥१॥ ऋषिः सर्वगतत्वाच्च शरीरी सोऽस्य यत्प्रभुः । स्वामित्वमस्य यत् सर्वं विष्णुः सर्वप्रवेशनात् ॥२॥ भगवान् भगवद्भावान्निर्मलत्वाच्छिवः स्मृतः । परमः सम्प्रकृष्टत्वादवनादोमिति स्मृतः ॥३॥ "लिङ्गपु० ७०।९६ ९८"

कर्मादिभेदः खलु पूर्वदोषत उपाधिभेदाच्च हि तत्र भिन्नता ।
चक्रेण तुल्या परिवर्तमानता हीत्थं त्वनादिः किल वर्तते भवे ॥४४॥
तत्रैव मूढः परिवर्तमानो विभेति शश्वन्निजकर्मदोषात् ।
विद्वान् विलूयात्र विभेदजातं विराजते दोषभयादिमुक्तः ॥४५॥
अनादिभेदस्य भवस्य मूलतो निवृत्तये वित्तिरलं निजात्मनः ।
विचारवैराग्यशमादितश्च सा प्रलभ्यते कामकलाविवर्जितैः[1] ॥४६॥
निजात्मनस्तावदयं विचारः सर्वैर्विधेयो ननु बोधसिद्ध्ये ।
आत्माऽस्त्यणुः किं स हि देहमात्रे किम्वा विभुः सर्वजनानुविद्धः ॥४७॥
तस्यात्यपणुत्वे हि कथं त्विहस्थाः सूर्यं प्रपश्यन्ति जना दिविस्थम् ।
गत्वेन्द्रियं नैव निवेदयेत्तं जडत्वतो नैव मनोऽपि तस्मात् ॥४८॥
गत्वापि नात्मैव हि बुध्यते तं गत्वागतौ संहननं[2] विनश्येत् ।
आलातवद्भ्राम्यति चात्मचेतः[3] कथेति वेद्या ननु वेदबाह्या ॥४९॥
स्वान्तस्य नेत्रस्य तु तैजसत्वात्स्वच्छत्वतो वृत्तिरथो प्रदीप्तिः ।
मूलं ह्यहित्वैव तु वर्ततेऽलं दूरात्सुदूरे सति तायमाना[4] ॥५०॥
प्रदीपवत्तच्च निजात्मनोऽन्यथा संकोचविस्तारयुतं विवेकिभिः ।
प्रदृश्यते नात्मनि सम्भवेत्तथा ध्रुवं ह्यनित्यत्वमुखास्तथा सति ॥५१॥
अतो नचात्मा खलु देहमात्रके विभुः सदा सर्वत एव विद्यते ।
तेन त्विहस्थोपि रविं प्रपश्यति वित्तो र्व्यवस्था ननु बुद्धिभेदतः ॥५२॥
आत्मा न देहो न मनो न बुद्धि र्नैवेन्द्रियं प्राणमुखा न के ऽपि ।
जडत्व दृश्यत्वविकारयोगादात्मास्त्यसङ्गश्चितिमात्ररूपः[5] ॥ ५३ ॥
ज्ञातत्वयुक्तं च स एव पश्यति ततोऽन्यथा सर्वजगत् स पश्यति ।
सर्वान् विकारांश्च विकारिणं सदा स्वयं प्रकाशः स विकारहीनः ॥५४॥
भूमेः परोऽयं च ततः परोऽयमित्थं प्रधावन् हि जनस्त्विहान्ते ।
नेतः परं वेद्मि किमस्ति किन्नो ह्यास्ते त्वनन्तं किमपि प्रजाने ॥५५॥

---

१ कामांशकामकलनामूलवृद्धिरहितैः । २ शरीरम् । ३ आत्मसहितं चेतः, आत्मनो वा चेतश्चित्तम् । ४ सर्वस्य सत्ताप्रदे सति-आत्मनि कर्मवासनादिभिस्तायमानेत्यर्थः । जीवात्मभिन्नेश्वरे तायमाना तु न जीवभोगव्यवहारादीनां सिद्धये समर्था स्यादित्यनुसंधेयम् । ५ अस्यैवात्मनः, तत्त्वमसि । "छा० ६।८।७" प्रज्ञानं ब्रह्म । "ऐतरेय० ३।५।३" अयमात्मा ब्रह्म । "बृ० २।५।१९" इत्यादिश्रुत्यैकत्वबोधनं क्रियते । "साधो सो सद्गुरु मोहि भावै । यह मन जाय जहाँ लगि जबही, परमातम दरशावै ॥" इत्यादि च ।

इत्थं ह्यनन्तं प्रवदन्ति सर्वे जानन्ति सर्वे च विकारसंघान् ।
मनोमुखानां नहि ते विकारैर्जातु प्रवेद्या ह्यखिला भवेयुः ॥५६॥
रविश्चक्षुसो देवतेत्याह शास्त्रं[1] प्रकाशो रविर्नास्ति तेनानवस्था ।
तथैवायमात्मा स्वयं ज्ञानरूपो जगद्भासयन् वर्तते तैरसङ्गः ॥५७॥
सदेकं[2] प्रभुर्निर्भयं निर्विकारं, श्रुतं यच्छ्रुतौ ज्ञानमात्रं निरीहम् ।
तदेवाभयं निर्गुणं निर्विकल्पं, निजात्मास्ति देवोऽद्वयो दोषहीनः ॥५८॥

योऽसङ्गः सर्वसाक्षी निरवधिपरानन्दरूपोऽद्वितीयः,
इच्छादिद्रष्टृरूपस्तनुमतिमनः प्राणसंघप्रदीपः ।
सर्वस्मात्प्रेष्ठरूपो विहरति किरन् सौख्यलेशं पुरेषु,
सर्वज्योतिः प्रशान्तौ विलसति यो ज्योतिषा स्वेन सात्मा ॥५९॥

यश्चेन्द्रियै र्बाह्यगुणान् प्रपश्यति,
बुद्ध्येन्द्रियं तामपि भासयन् स्वयम् ।
शुद्धो ह्यसौ तत्र गुणस्य विस्तृति-,
र्मायामनोऽध्यासमयैरुपाधिभिः[3] ॥६०॥

यस्मादुदेति लयमेति च यत्र विश्वं,
मायामयं हि सुचिरं परिपाल्यते च ।
शास्त्रैकवेद्यसुखबोधसदात्मको यो,
ज्ञात्वा तमेव सुचिरं परिमोदतेऽलम् ॥६१॥

पृष्टस्तमेव निजशिष्यवरेण केनचित्,
तन्वादिसर्वविरसेन रसात्मलब्धये ।
हृष्टो दयादिगुणपूर्णकलेवरो गुरुः.
सत्यं ह्युवाच तदिदं सुजनै र्निशम्यताम् ॥६२॥

---

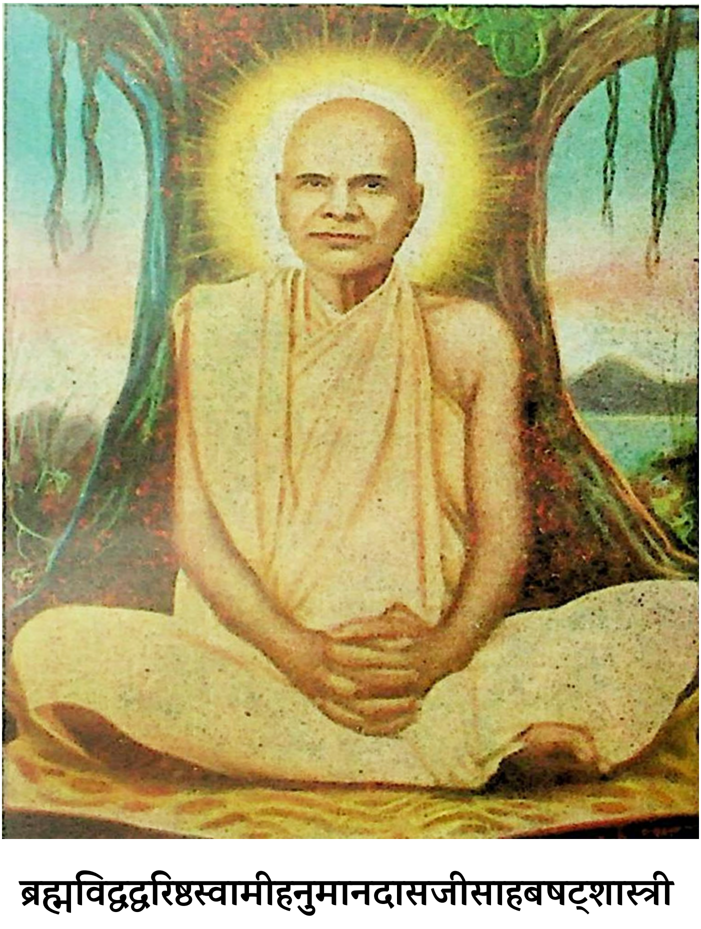
१ सूर्यस्य स्वयं प्रकाशरूपत्वात्सजातीयप्रकाशान्तरापेक्षानास्ति, न वा देवतारूपस्य तस्य चक्षुषो देवतान्तरं सम्भवति । तथैवात्मनि सजातीयप्रकाशान्तराभावो ज्ञातव्यः । विजातीयप्रकाशस्य तु मायिकत्वेन मिथ्यात्वजडत्वादिभिः पराहत्वादपेक्षाशंकैव नोदेति विदुषामिति तत्त्वम् "छान्दोग्य भाष्ये, अ० ५।१।१५" । प्राणसम्वादीये तु, कार्यकरणवतीनां देवतानामकरण ईश्वरो नियन्ता प्रोक्तः स च "अपाणिपाद" इत्यादि श्रुत्यनुसारेण सर्वकार्यकरणहीनोपि सर्वं कर्तुं समर्थः । २ सदेकमित्यादि ब्रह्म श्रुतम् । "प्रभुरीश्वरः श्रुतः" इत्यादि । ३ यत्तु केचित् सूर्यवत् स्वयं प्रकाशे ज्ञानस्वरूपे ब्रह्मणि नाध्यासरूपाया अविद्यायाः सम्भवो ज्ञानाज्ञानयो र्विरोधादतस्तद् भिन्नेऽल्पशक्तौ जीवेऽध्या-

वस्तुतोऽपृष्ट एवेदं प्रोक्तवान् सर्वसिद्धये ।
श्रुत्वा मत्वा च तत्सर्वं सर्वे सिद्धा भवन्तु वै ॥६३॥
तत्त्वमस्यादि वाक्येन दशमोऽसीति वाक्यतः ।
सोऽयमित्यादि सद्वाक्यैरपरोक्षा मति र्यथा ॥६४॥
तथैव सद्गुरो र्वाक्याद्विचारसहितादिह ।
अपरोक्षात्मविज्ञानमुत्तमस्योपजायते ॥६५॥
उत्तमो मध्यमो वापि कनिष्ठोऽभ्यासतत्परः ।
श्रुत्वा मत्वा गुरुं ध्यात्वा स्वात्मानं प्रतिपद्यते ॥६६॥
श्रुत्वा सर्वं नरो भक्त्या ध्यात्वा गुरुपादाम्बुजम् ।
आत्मानं हरिमव्यक्तं ज्ञात्वाऽध्यक्ष विमुच्यते ॥६७॥
हिंसां दम्भं मदं हित्वा लब्ध्वा सुकृतमुत्तमम् ।
शोधयित्वा स्वकं स्वान्तं लभेत हरिमञ्जसा ॥६८॥
रसोद्रेकं जनः श्रुत्वा कृतं हनुमतात्विदम् ।
रसान्मुक्तो[1] रसं प्राप्य रसायामपि राजताम् ॥६९॥

* इति सम्बन्धग्रन्थः सम्पूर्णः *

सादि सर्वसंसार इत्यादि वदन्ति, तैस्तावदिदं नालोचितं यद्यथा स्वयंप्रकाशे सूर्ये तमः सत्तां न लभते तथा तदाश्रिते तत्सन्निधावपि क्वचित्तमो न दृश्यते, तद्वद्ब्रह्माश्रिते जीवे ब्रह्मसन्निधौ वाऽविद्या कथं सत्तां लभेत, यदि ब्रह्मस्वरूपं ज्ञानं तद्विरोधि स्यादित्यकामेनापि, ब्रह्माविद्याया अविरोधि, विद्याऽविद्यात्मकस्य सर्वस्य साधकं साक्षिस्वरूपमेवेत्यभ्युपगन्तव्यम् । तथा च ब्रह्माकारवृत्तीद्धचेतनेनैव व्यष्ट्यविद्यानिवृत्तौ जीवानां मुक्तत्वमप्युपपद्यते, इति सर्वं सुस्थमेव । ब्रह्मणि चाज्ञानादीनां कल्पनासत्त्वेऽपि तत्स्वयं प्रकाशसर्वविदेव, जीवानामेवाज्ञत्वात् । ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशाऽनीशौ, इत्यादि श्रुतयोपि संगच्छन्तेतरामितिदिक् ।

१ रसात्–रागात् । रसं–ब्रह्मानन्दम् । रसायाम्–पृथिव्याम् । राजताम्–जीवन्मुक्तो भवतु ।



ब्रह्मविद्वद्वरिष्ठस्वामीहनुमानदासजीसाहबषट्शास्त्री

* ओम् राम *

श्रीसद्गुरु

कबीर साहब कृत बीजक

[स्वानुभूतिसंस्कृत स्वाल्पाक्षराहिन्दीव्याख्यासहित]

अथ प्रथम रमैनी प्रकरण

रमैनी १, सृष्टि प्रकरण १

जीव रूप एक अन्तर वासा। अन्तर जोति कीन्ह प्रकाशा॥

जीवात्मैको[१] वसत्यन्तर्भासयन्निखिलं जगत्।
अन्तर्ज्योतिर्हि[२] भूतानां सर्वेषां विमलं महः॥१॥
प्रकाशकोऽद्वयः सैव त्वन्तर्यामी परेश्वरः।
साक्षी सर्वस्य विश्वस्य स सत्यानन्दविग्रहः॥२॥
वाय्वग्निरविवत्सैक उपाधिष्वेव भिद्यते।
आभासैर्बुद्धिमायासु तच्छास्त्रेऽत्रापि च स्फुटम्॥३॥

१ जीवस्वरूपेणोपक्रमस्तु वेदितव्ये वस्तुनिपरोक्षत्वात्यप्रसिद्धत्वादि भ्रम-निवारणाय, भ्रमेणैवाप्राप्तप्रतीच्चिनिराकरणाय चेत्यादि स्वयमूहनीयम्। जीवानां व्यावहारिकाणामात्मेतिविग्रहः। "साक्षिणः पुरतोभाति लिङ्गदेहेन संयुतम्। चितिच्छायासमावेशाज्जीवः स्याद् व्यावहारिकः॥ वाक्यसुधा० १६" सर्वेन्द्रियसमायुक्त प्राणान्तःकरणात्मके। लिङ्गेऽविद्यासमायुक्तं चैतन्यं प्रति-विम्बतम्॥१॥ व्यावहारिकजीवस्तु क्षेत्रज्ञः पुरुषोऽपि च। स एव जगतां भोक्ताऽनाद्ययोः पुण्यपापयोः॥२॥

२ योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः। "बृ० ४।३।७" तं देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम्॥ "बृ० ४।४।१६" प्रधानता से जीवों के एक अन्तरात्मा कहा गया है, सब भूतभौतिक चराचर का सत्यान्तरात्मा एक विभु ब्रह्म है, और सबका अन्तर्ज्योति होने से सूर्यादि ज्योतियों का भी अन्तर्ज्योति है।

अनौपाधिकतत्त्वस्य ज्ञानान्मोहतिरस्कृतौ ।
जीवन्मुक्तोविमुक्तश्च जीवो ब्रह्मत्वमश्नुते ॥४॥
ब्रह्मात्मा मङ्गलात्मैव तन्निर्देशोऽत्र विद्यते ।
गणवर्णकृतो दोषो विद्यते ·नात्र कश्चन ॥५॥
"देवतावाचकाः शब्दा ये च भद्रादिवाचकाः ।
ते सर्वे नैवनिन्द्याः स्यु र्गणतो लिपितोऽपिवा" ॥६॥

चिदानन्दघन ब्रह्म का, सद्गुरु का धरि ध्यान ।
भाषाभणित किं भणिति शुभ, भाषा सुनहु सुजान ॥१॥

जिस निज सत्य स्वरूप के अज्ञान से व्यावहारिक जीव कामादिवश पाप पुण्य करके चौरासी लाख योनि आदि में भ्रमते हैं और जिसके ज्ञान से कामादि को नष्ट करके मुक्त सुखी होते हैं, सो सब जीवों का सत्य स्वरूप आत्मा एक अखण्ड अविनाशी है और भूतभौतिक सब संसार सब शरीर के अन्दर बसने वाला है तो भी सबसे असङ्ग है। "अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरणवाणि" इत्यादि श्रुतियों के अनुसार शरीरों में जीवरूप से निवास करता है और सबके भीतर में ज्योतिः (प्रकाश = ज्ञान) स्वरूप से सबका निर्विकाररूप से प्रकाश किया है और कर्ता है, बुद्धि आदि उपाधियों के भेद से आभास प्रतिबिम्ब तुल्य व्यावहारिक जीवों के स्वरूपों में भेद रहता है, सत्यात्मा में नहीं, सो ६४ शब्द और १० कहरा आदि में स्पष्ट वर्णित है।

आदिमध्यावसानेषु यरता यान्ति लाघवम् ।
भजसा गौरवं यान्ति मनौ तु गुरुलाघवम् ॥१॥
मो भूमिः श्रियमातनोति य जलं वृद्धिं रचाग्निर्मृतिम् ।
सो वायुः परदेशदूरगमनं त व्योम शून्यं फलम् ॥२॥
य सूर्यो (भयं) रुजमाऽऽददाति विपुलं भेन्दुर्यशोनिर्मलम् ।
नो नाक (ग) श्च सुखप्रदः फलमिदं प्राहुर्गणानां बुधाः ॥३॥

आदि मध्य और अन्त में लघु (ह्रस्व) अक्षर के होने से यगण, रगण और तगण होते हैं और इसी प्रकार गुरु (दीर्घ) अक्षर के आदि मध्य अन्त में होने पर भगण, जगण और सगण होते हैं और सर्वगुरु वाला मगन, सर्वलघु वाला नगन होता है ॥१॥ मगन का भूमिदेव है सो लक्ष्मी का विस्तार करती है, यगण का जलदेव है सो आयु आदि की वृद्धि करता है। रगण का अग्निदेव है सो मरण फल देता है। सगण का वायुदेव है सो दूर देश-

इच्छा रूप नारी अवतरी । तासु नाम गायत्री धरी ॥
तिहि नारि के पुत्र तिनि भाऊ । ब्रह्मा विष्णु महेश्वर नाऊँ ॥

अन्तर्ज्योतिः स्वरूपस्य साक्षिगः परमात्मनः ।
अहमेको[1] बहुः स्यां वा एवमिच्छा ह्यजायत ॥७॥
मायाऽऽविष्टस्य[2] तस्यैव त्विच्छात्मैवोत्तमावधूः ।
अवतीर्णा हि गायत्री नाम्ना साऽऽसीद्युता सती ॥८॥
त्रयस्ते भ्रातरस्तस्याः पुत्रा जाता अयोनिजाः ।
प्रभावैरसमाः सर्वे ब्रह्मविष्णुहराभिधाः[3] ॥९॥

गमन फल देता है, तगण का आकाशदेव है, उसका शून्य फल है, यगण का सूर्यदेव है, वह विपुल रोग या भय फल देता है, भगण का चन्द्रदेव है सो निर्मल यश देता है, नगण का स्वर्ग या नागदेव है सो सुखप्रद होता है, यह गणो का फल विद्वान् कहते हैं ॥२-३॥ एवं क१, ख२, ग३, घ४, च५, छ६, ज७, ड८, द९, ध१०, न११, य१२, श१३, स१४, क्ष१५, ये शुभाक्षर कहे जाते हैं और ङ१, झ२, ञ३, ट४, ठ५, ण६, त७, थ८, प९, फ१०, ब११, भ१२, म१३, र१४, ल१५, व१६, ष१७, ह१८ ये अशुभाक्षर कहे जाते हैं। तहाँ—

दीजो भूलि न छन्द के, आदि झ, ह, र, भ, ष, कोय ।
दग्धाक्षर के दोष ते, छन्द दोषयुत होय ॥१॥
मङ्गल सुर वाचक शब्द, गुरु होवै पुनि आदि ।
दग्धाक्षर को दोष नहिं, अरु गण दोषहुँ वादि ॥२॥

मायी उस ज्योति स्वरूप से इच्छा रूप नारी ने अवतार लिया (प्रकट हुई) देवीभागवत के अनुसार उसका गायत्री नाम धरा गया । उसी नारी के मानस पुत्र ब्रह्मा, विष्णु, महेश नामवाले तीन भाई इस भूमि पर प्रकट हुए ।

---

१ सोऽकामयत, बहुः स्याम्, प्रजायेयेति । (तैत्तिरीय० २।६।४)

२ मायाशब्देनात्रानिर्वचनीयं भावभूतं वस्त्वभिधीयते, यद्धि "न सदासीन्नासद्सीद्" इत्यादिश्रुतौ तमः शब्देन प्रसिद्धम् । लोकेऽपि मायाविनिर्मिते गन्धर्व नगरादौ बाधार्हे मायाशब्दवाच्यत्वं प्रसिद्धम् ।

३ ब्रह्मणोऽपि गुणसम्बन्धविवक्षया ब्रह्मविष्णुहरादि पदवाच्यत्वं भवति । तच्च "रजगुण ब्रह्मा" इत्यादिना ८२ इति शब्देऽभिहितम् । शास्त्रे च प्रसिद्धम् । जीवरूपा देवा अपि ब्रह्मादिपदवाच्या भवन्ति, ते च साधारण जीवेभ्यो विलक्षणाः सामर्थ्यविशेषयुक्ता भवन्ति, तच्च "ब्रह्मा को दीन्हों

तब ब्रह्मा पूछल महतारी। के तव पुरुष तुँ केकर नारी ॥
हम तुम तुम हम और न कोई। तुमहिं पुरुष हमहिं तोर जोई ॥

जनिं लब्ध्वा विकल्प्यैतज्जगच्चैव चराचरम्।
जिज्ञासायां पुरा ब्रह्मा त्वपृच्छद् भ्रातृसन्निधौ ॥१०॥
मातरं विनयेनैव कोभर्ता तव विद्यते।
भवति! कस्य भार्यासि ब्रूहि श्रोतुं क्षमं यदि ॥११॥
श्रुत्वा तच्चाब्रवीन्माता तत्त्वदृष्ट्या न लोकतः।
यस्त्वं साऽहमहं त्वं च नान्यः सत्योऽत्र विद्यते ॥१२॥
आवयोरात्मनि स्वच्छे भिदालेशो न विद्यते।
सदैव मत्स्वरूपस्त्वं त्वदात्माऽहं न संशयः ॥१३॥
पुरुषो ब्रह्मदृष्ट्या त्वं भार्या तेऽहं गुणात्मिका।
शक्ति महेशितुर्देवी गायत्री शुभनामिका ॥१४॥

तब (जन्म लेने पर) प्रवृत्ति के स्वभाववाले राजस ब्रह्मा ने अनादि स्त्री पुरुष के संस्कारों की अभिव्यक्ति से माता से पूछा कि तेरा पुरुष (पति) कौन है, तूँ किसकी नारी (स्त्री) है। तब माता प्रथम आत्मदृष्टि से बोली कि हम तेरा स्वरूप हैं, तुम मेरा स्वरूप हो, क्योंकि "योऽसौ साऽहंमहं योऽसौ भेदोऽस्ति मतिविभ्रमात्" जो वह परमात्मा है सो मैं हूँ, और मैं हूँ सो परमात्मा है, भेद तो बुद्धिगत भ्रम से है। अतः सत्यात्मा सबका एक है, और आत्मा से अन्य कोई वस्तु सत्य नहीं है। और तुम ही उस सत्यात्मा पुरुष स्वरूप हो (तत्त्वमसि) उससे भिन्न नहीं हो। मैं भी तेरा स्वरूप होता हुआ भी (आत्मदृष्टि से अभिन्न होता हुआ भी) इच्छा (माया) रूप से तेरी जोई (योनि) उत्पत्ति का कारण हूँ (तेरे व्यावहारिक स्वरूप का हेतु हूँ) और अन्यपति के विना चेतनात्मा की सत्ता प्रकाश से ही भोगादि को सिद्ध करनेवाली स्त्री हूँ। तुम सबके ज़िये सरस्वती आदि को सिद्ध करनेवाली हूँ। "गृहाणेमां विधे! शक्तिं सुरूपां चारुहासिनीम्। देवीभा० स्क० ३।३" इत्यादि द्रष्टव्य है। सब देवादि की शक्तियों का और सब प्राणी के निद्रादि का वर्णन (दुर्गासप्तसती) में द्रष्टव्य है, इसी एक चेतनात्मा और माया को कहा गया है कि "एके पुरुष एक है नारी। शब्द ५" इत्यादि।

ब्रह्मण्डा" इत्यादिना निरूपितम्। 'अत्रत्यो विषयो'। (देवीभागवते स्क० ३ अ० ३।४।५।६) इत्यत्र द्रष्टव्योस्ति। "इच्छापरात्मनः कामं नित्यानित्य स्वरूपिणी" इत्यादि। देवीभागवत के वचन हैं।

साखी—बाप पूत की एके नारी, एके माय वियाय।
ऐसा पूत सपूत न देखा, बापहिं चीन्है धाय ॥१॥

ईशजीवात्मनोरेवं मायैका महिला मता।
जननीपुत्रवर्गस्य सैवावस्थाप्रभेदतः ॥१५॥
तादृशश्च सुपुत्रा नो दृश्यन्ते भुवनत्रये।
बहवो ध्यानतोयेऽत्र जानीयुः पितरं निजम् ॥१६॥
असङ्गं सच्चिदानन्दं भिन्नं तु मतिविभ्रमात्।
स्वात्मनश्च सदाऽभिन्नं कर्तारं मायया किल ॥१७॥

आत्मैव योषा पुरुषो निगद्यते काङ्क्षादिकामादिसमाश्रयात्[1] किल।
स्वयं न योषा पुरुषश्च कथ्यते मास्यन्[2] जगन्मातृतया स उच्यते ॥१८॥
स एव माया परिमोहितश्च, तोकादिभावैः[3] परिवर्तमानः।
कर्मादियोगं विदधन् पितापि, ज्ञानेन मुक्तः परितृप्तिमेति ॥१९॥१॥

ईश्वर रूप इच्छा कर्ता बाप (पिता) और व्यावहारिक जीवरूप पुत्र की मायारूप एक ही नारी है। अर्थात् एक प्रकृति शुद्ध सत्त्व की प्रधानता से माया कही जाती है, सो ईश्वर की उपाधि है, मलिन सत्त्व की प्रधानता से अविद्या कही जाती है, सो जीव की उपाधि है, ईश्वर उस माया में कर्मादि बीज को धरकर तामसी माया से भूतभौतिक वस्तु को उत्पन्न करता है, और जीव उस माया रचित संसार में भोग पाता है। अतः एक माया अविद्या माता होकर चराचर पुत्रों को बिआती (उत्पन्न करती) है। तहाँ ऐसे सपूत (सुपूत) नहीं देखे जाते हैं कि जो शुद्ध पिता के ध्यान करके उसको प्रत्यक्ष समझें कि जिससे उसके अज्ञानज बन्ध से मुक्त हो जायँ। अर्थात् ऐसे बहुत कम जीव होते हैं। साखी का हरिपद छन्द है। लक्षण है कि "विषम हरीपद कीजिये सोलह, सम शिव दे सानन्द। हरिपद गाइ हरिहि नित ध्याइय, पाइय परमानन्द ॥१॥ हरिपद छन्द के विषम (प्रथम, तृतीय) चरणों में सोलह-सोलह मात्रा कर्तव्य हैं, सम (द्वितीय चतुर्थ) चरणों में शिव (रुद्र एकादश = ग्यारह) मात्रा कर्तव्य हैं, अन्त में 'नन्द' गुरु लघु साथ रहना चाहिये ॥१॥"

---

१ काङ्क्षादि (प्रबलकामादि)। कामादि (वीर्यादि)। सम्यग् आश्रयणात्।
२ मास्यन्=जगत् (जगत् को मापता हुआ स्वाधीन करता हुआ)।
३ तोकम् (अपत्यम्-सन्तन्तिः)।

सम्बन्ध "अयमात्मा ब्रह्म" इत्यादि के समान प्रत्यक्षात्मा के ज्ञानपूर्वक परोक्ष विभु सर्वात्मा ब्रह्म को समझाने के लिये प्रथम जीव स्वरूप से उपदेश का आरम्भ हुआ है। तहाँ केवल जीव के सत्य ज्योतिःस्वरूप से इच्छा द्वारा ब्रह्मा आदि की उत्पत्ति की प्रतीति होती है। परन्तु मायारूप शक्ति के बिना उत्पत्ति हो नहीं सकती है। अतः मायायुक्त ब्रह्मात्मा से उत्पत्तिका वर्णन करते हुए पूर्वोक्त सामान्य अर्थ का विशेषरूप से वर्णन करते हैं, सामान्य अर्थ के बाद विशेष का वर्णन ही उचित होता है।

रमैनी २

अन्तर जोति शब्द[1] एक नारी। हरि ब्रह्मा ताके त्रिपुरारी॥
ते तिरिये भगलिङ्ग अनन्ता। तेउ न जानल आदिउ अन्ता॥

एकोऽयं वर्तते ह्यन्त र्ज्योतिरात्मा परं महः।
सत्यश्चापरिणामो स ह्यखण्डानन्दविग्रहः॥२०॥
द्वितीया वर्तते माया शब्दादि जननी च सा।
परिणामिन्यनित्या चाऽसत्या शब्दादि रूपिणी॥२१॥
ताभ्यामेव च जायन्ते हरिब्रह्ममहेश्वराः।
यशस्विनो महावीर्यास्तपःस्वाध्यायतत्पराः॥२२॥
सत्त्वादिगुणशालिन्या मायया सहिता हि ते।
सृजन्ति विविधं लोके वनितापुंमयं जगत्॥२३॥
तेभ्यश्च जज्ञिरे चातः स्त्रीपुंसाः खल्वनन्तकाः।
तेऽपि नैवाविदुर्देवं सर्वस्याद्यन्तलक्षणम्॥२४॥
गुरुं विना न यं देवा अविदुर्वै कथञ्चन।
वेदिष्यन्ति कथं तं हि केऽपि सद्गुरुमन्तरा॥२५॥

सबके अन्तर (भीतर) में वर्तमान परम सूक्ष्म ज्योतिस्वरूप सर्वात्मा ब्रह्म एक है और जिसमें ओंकारादि शब्दपूर्वक वेदादि की सब नामरूप की सृष्टि का शास्त्र में वर्णन है उसकी अव्यक्त शब्दादिरूप नारी प्रकृति (माया) भी एक है। उन दोनों से जन्य उस व्यक्त स्वरूप गायत्री के पुत्र हरि ब्रह्मा

---

१ शब्द इति चेन्नातः प्रभवत्वात्प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्। "ब्रह्मसूत्र १।३।२८" विग्रहयुक्त (शरीरी) देव के होने पर, शरीरी देव के, उसके वाचक शब्द के और शब्दार्थ सम्बन्ध के अनित्य होने से, वेद में नित्यता मूलक प्रामाण्य का अभाव होगा, इस शंका का उत्तर दिया गया है कि वैदिक शब्दों से ही

त्रिपुरारि (शिवजी) हुए। फिर मायिक शक्ति सहित ते (उन) तिरिये (हरि आदि तीनों) से अनन्त भग लिङ्गवाले स्त्री पुरुष हुए। परन्तु गुरु विचारादि के बिना वे लोग भी सब संसार के आदि अन्त स्वरूप (उत्पत्ति प्रलय का अधिष्ठान स्वरूप) सत्यात्मा को नहीं जान सके, तथा "ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः। ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीङ्गना ॥१॥ समग्र-ऐश्वर्य, धर्म, यश, लक्ष्मी, ज्ञान, वैराग्य, इन छवों का भग यह इङ्गना=नाम है और उन हरि आदि तीनों में इन भगों के लिङ्ग अनन्त रहे, ऐश्वर्यादि के चिन्ह बहुत रहे तो भी गुरु आदि के बिना आदि अन्त को नहीं जान सके। अतः गुरु आदि प्राप्तव्य हैं। गुरु तथा विचारादि से ज्ञातव्य है कि "आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, आनन्देन जातानि जीवन्ति, आनन्दं प्रयन्त्याभिसंविशन्तीति। तैत्तिरीय० ३।६" "सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जला-निति शान्त उपासीत। छा० अ० ३।१३" आनन्द स्वरूप ब्रह्म से ही सब ये प्राणी अग्नि विस्फुलिङ्ग के समान उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होने पर आनन्द से जीते हैं और प्रलय को प्राप्त होते हुए आनन्द में ही अभिसंवेश (प्रवेश-स्थिति) करते हैं। अतः आनन्दस्वरूप ब्रह्म सबका आदि अन्त स्वरूप है। अतएव यह सब संसार ब्रह्म स्वरूप ही वस्तुतः है, इसलिये राग-द्वेषादि को त्याग कर, तज्ज (ब्रह्मजन्य) तल्ल (ब्रह्म में लयवाले) और तदन् (ब्रह्म में जीवनवाले) ऐसा सबको समझकर शान्त होकर उपासना करे इत्यादि। "किञ्च, माया क्षेत्राणि दर्शयित्वा, जीवेशावभावसेन करोति, माया चाविद्या च स्वयमेव भवति। नृसिंहोत्तरता० खं० ६" माया-सूक्ष्म देहरूप क्षेत्रों को व्यक्त करके चिदाभास द्वारा जीव और ईश्वर को सिद्ध करती है। "जगतो यदुपादानं मायामादाय तामसीम्। निमित्तं शुद्धसत्त्वां तामुच्यते ब्रह्म-तद्गिरा ॥१॥ यदा मलिनसत्त्वां तां कामकर्मादि दूषताम्। आदत्ते तत्परं ब्रह्म त्वं पदेन तदोच्यते ॥२॥ त्रितयीमपि तां मुक्त्वा परस्परविरोधिनीम् अखण्डं सच्चिदानन्दं परं ब्रह्मैव लक्ष्यते। पञ्चदशी १।४४+४६" तामसी=तमः प्रधाना=

देवादि उत्पन्न होते हैं, और देवादि की आकृति तथा अव्यक्त शब्द नित्य हैं, उनका सम्बन्ध भी नित्य है, अभिव्यक्ति अनित्य है, सो प्रत्यक्ष (श्रुति) और अनुमान स्मृति से सिद्ध होता है। "स भूरिति व्याहरत् स भूमिमसृजत्। तै० ब्रा० २।२।४।२" नाम रूपे च भूतानां कर्मणां च प्रवर्तनम्। वेद शब्देभ्य-एवादौ निर्ममे स महेश्वरः। मनु० २।१२१" अनादि वे नाम और रूप मायात्मक हैं। अतः शब्द रूप एक नारी को कहा गया है।

बाखरी एक विधाते कीन्हा । चौदह ठहर पाठ सो लीन्हा ॥
हरिहर ब्रह्मा महतो नाऊँ । तिन पुनि तीन बसावल गाऊँ ॥

विचाराद्यैस्तथा मातुर्ज्ञात्वा तं श्रवणादिविधिः ।
अन्येभ्य उपदेशार्थं दयया प्रेरितो मुहुः ॥२६॥
वेदाँश्चकार शुद्धात्मा[१] पश्यन्त्यादिक्रमेण सः ।
पराया ब्रह्मरूपाया वैखरीशब्दलक्षणान् ॥२७॥
तेषामेव तु वेदानां पठनं पाठनं तथा ।
भुवनेषु हि सर्वेषु प्रावर्तत पुरा सदा ॥२८॥
स्वभूशंभुविधातारो महान्तस्तावदीरिताः ।
तेषां वाचस्ततः सर्वैः प्रमाणत्वेन संधृताः ॥२९॥
देवमानवपातालाँल्लोकाँश्च त्रींस्त एव हि ।
सर्वज्ञा वासयामासुर्लोकानां वृद्धिहेतवे ॥३०॥

माया के द्वारा जो जगत् का उपादान कारण होता है । शुद्धसत्त्ववाली माया द्वारा निमित्त कारण होता है । तत्त्वमसि, मे तत् पद से वह ब्रह्म कहा जाता है, काम-कर्मादि से दूषित मलिनसत्त्वा=अविद्या द्वारा त्वं पद से कहा जाता है, तीनों को त्यागने पर ब्रह्म ज्ञात होता है ।

मातारूप गुरु के उपदेश से तथा विचारादि द्वारा, प्रथम श्री ब्रह्मा विष्णु और महेशजी ने सबके आदि अन्त स्वरूप सर्वात्मा ब्रह्म को समझा, फिर अन्य जिज्ञासुओं को समझाने के लिये विधाता (ब्रह्मा) जी ने एक बाखरी (बखार=धर्मज्ञान शब्द अर्थ का कोषरूप खजाना) रूप बैखरी वाणी-रूप वेदों की रचना की (वेदों को प्रकट किया)। फिर चौदह ठहर (स्थानों भुवनों) में उसी का पाठ लोगों ने लिया । (वेदों का अध्ययन किया)। क्योंकि श्रीहरि, हर, ब्रह्मा महतो (महान्) नामवाले अधिकारी (नेता) पुरुष हुए हैं । अतः उनके उपदेश व्यहारादिक को लोगों ने प्रमाणरूप माना, फिर उन ब्रह्मादिकों ने तीन लोकरूप, तीन ग्रामों को बसाया, तथा ब्रह्मलोक, वैकुण्ठ, कैलास को बसाया ।

---

१ पराया ब्रह्मरूपायाः सकाशात् पश्यन्तीमध्यमा क्रमेण बैखरीशब्दलक्षणान् वेदाँश्चकार "सर्वं परात्मकं पूर्वं ज्ञप्तिमात्रमिदं जगत्" ज्ञप्तेर्वभूवपश्यन्ती मध्यमा वाक् ततः परम् । वक्त्रे विशुद्धचक्राख्ये बैखरी सा मता ततः । नदिकेश्वरकारिका ।

तिन पुनि रचल खण्ड ब्रह्मण्डा । छौ दर्शन छयानबे पाखण्डा ॥
पेटहि काहु न वेद पढ़ाया । सुनत कराय तुरुक नहिं आया ॥

अज्ञानां भोगसिद्ध्यर्थं तज्ज्ञमोक्षार्थमेव च ।
ब्रह्माण्डं सह खण्डैस्ते रचयामासुरादृताः ॥३१॥
षड्दर्शनानि पाषण्डास्तथा षण्णवतिः पुरा ।
जातानि गुणभेदेन किञ्चित्तत्रोच्यते शृणु ॥३२॥
केचिद्गर्भे न वै वेदान् पठित्वा लेभिरे जनिम् ।
लभन्ते न तथा केऽपि छिन्नशिश्नाग्रकाः सदा ॥३३॥
तथापि वेषरूपेण यत्किञ्चित् क्रियते जनैः ।
तत्सर्वं विद्धि पाखण्ड धर्मसम्बन्धवर्जितम् ॥३४॥

फिर तिन (उन) ब्रह्मा आदिकों ने भूमि में नव खण्ड को और ब्रह्माण्ड को भुवनादि को रचा (विविध रचना विभाग युक्त किया) और रचना में ही छः दर्शन और उनके भेदरूप छ्यानबे पाखण्ड (वेपधारी-लिङ्गी) हुए। अर्थात् १२ योगी १, १८ जङ्गम २, २४ सेवड़ा=जैन ३, १० संन्यासी ४, १४ दरवेश=शेख ५, १८ ब्राह्मण ६ हुए। तहाँ माता के पेट से ही वेद पढ़कर कोई हिन्दू नहीं आया। न पेट मे ही सुन्नत कराकर तुर्क आया। अतः जन्ममात्र से न ब्राह्मणादि हुआ न तुरुकादि हुआ। किन्तु सबके आदि अन्त स्वरूप एक ब्रह्म के ज्ञानादि के विना छः दर्शन और छ्यानबे पाखण्ड हुए। "दर्शनं नयनस्वप्न बुद्धिधर्मोपलब्धिषु" नेत्र, स्वप्न, बुद्धि, धर्म और ज्ञान का वाचक दर्शन शब्द होता है, यहां धर्म का वाचक हैं। धर्म मे भेद के बिना वेष प्रवर्तक आचार्य नामादि के भेदमात्र से भेद होना पाखण्ड है। "पाखण्डाः सर्वलिङ्गिनः" यह अमरकोश का वचन है।

नारी मोचित गर्भ[१] प्रसूती । स्वाँग धरे बहुते करतूती ॥

गर्भाद्मुक्ताः समे गर्भा मोचिता मायया समाः ।
जायन्ते ते पुन र्वेषान् कृत्वा श्रैष्ठ्यं तु मन्वते ॥३५॥
कल्पितान् कुरुते वेषान् धर्मभेदेन मानवः ।
वेत्ति नैव परं तत्त्वं सर्वस्याद्यन्तलक्षणम् ॥३६॥

---

१ "कुक्षिभ्रूणार्भका गर्भाः । अमरकोश" बनौती पुराने पाठ में 'मोचित' के स्थान में 'मुञ्चित' पाठ है।

वेषाद्यैः कृतकृत्यत्वं मनुते मोहतो नरः।
अज्ञानादेव संजाताः पाखण्डा नैव तत्त्वधीः ॥३७॥

माता के पेट में कोई वेषादि के नहीं होने पर भी ईश्वर की मायारूप नारी तथा माता से मोचित (उत्पादित) गर्भ (बच्चे) की प्रसूति (प्रजनन) होने पर वह गर्भ (बच्चा) बहुत करतूत (कल्पित) स्वाँग धरता है। अर्थात् प्रसवकाल में स्वतन्त्र नहीं जन्म पाता है। किन्तु ईश्वर की माया और मातारूप नारी से मोचित (गर्भ से मुक्त) गर्भ किया जाता है, फिर न ईश्वर के ध्यान विचारादि करता है कि सबका आदि अन्त स्वरूप वह ईश्वर कौन है की जो निज माया द्वारा मेरा जन्म दिया है। "मातृदेवोभव, पितृदेवोभव, आचर्यदेवोभव। तैत्तिरीय० १।११।२" इत्यादि शिक्षाओं को भी नहीं प्राप्त करता है। किन्तु अपने मन के अनुसार स्वाँग धरता है, वही पाखण्ड कहा जाता है। एकावन रमैनी में कहा गया है कि "रहै वदन नहिं स्वाँग स्वभाऊ" धारणा भक्ति वाला मनुष्य वदन (देह) में स्वाँग (वेष) बनाने के स्वभाववाला नहीं होता है। "देह हलाये भक्ति न होई। स्वाँग धरे नर बहुविधि जोई॥ रमैनी ६७" देह के हलाने (कृश करने) से भक्ति नहीं होती है। यदि कोई बहुत प्रकार के वेष धरे तो उससे भक्ति नहीं होती है। क्योंकि "देह हलाय पिञ्जर करै, धरै रैन दिन ध्यान। तदपि मिटै नहिं वासना, विना विचारे ज्ञान ॥१॥" अतः विचारादि से सर्वाद्यन्त स्वरूप ज्ञातव्य है। "आपुहि कर्ता भया कुलाला। रमैनी २६" इसमें ईश्वराधीन गर्भवास और गर्भ से प्रमोचनादि का विस्तार से वर्णन है तथा "संसारमोक्षस्थितिबन्धहेतुः। श्वेता० ६।१६" इस श्रुति में संसार से मोक्ष का और संसार में स्थिति तथा बन्धन का हेतु ईश्वर को कहा गया है। अतः उसके ज्ञानभक्ति आदि के बिना वेष धारणमात्र निरर्थक होता है।

तहिया हम तुम एके लोहू। एके प्राण वियापै मोहू॥
एके जनी जना संसारा। कौन ज्ञान से भयऊ न्यारा॥

जन्म काले वयं यूयं ह्यसृङ्मासादि संहतौ।
शरीरे प्राणसङ्घे च कृत्वात्मधिषणाः खलु ॥३८॥
आत्म भेदस्तु[1] बोधेन मनुष्ये नान्यथा क्वचित।
ततो बोधं विना सर्वे स्त्रियोऽपि पुरुषाश्च वा ॥३९॥

१ श्रेष्ठतादिप्रयुक्तो विभाग इत्यर्थः। "आहारनिद्राभयमैथुनानि सामान्य-

तुल्या नास्त्यत्र सन्देहो मोहाद्यैरावृतत्वतः।
केन ज्ञानेन चात्रैते जन्मना भिन्नतां गताः ॥४०॥

मायैका जननी वाऽमून् जनयामास देहिनः।
स्वात्मबोधं[1] विना केन बोधेन भिन्नता भवेत् ॥४१॥

तहिया (उस जन्मकाल में) हम तुम सब मनुष्य एके (एक से = तुल्य) लोहू (रुधिर) वाले और एक से प्राणादिवाले रहते हैं। अर्थात् रुधिरादियुक्त शरीर के तुल्य अभिमानी रहते हैं और एक-सा मोहू (मोह) सबको व्यापता है, मोह सबको घेरे रहता है। संसार में सब जनी (स्त्री) और जना (पुरुष) जन्मकाल में एक से रहते हैं अथवा एक मायारूप जनी (स्त्री) ने सब संसारी को जना (जन्माया) है तो जन्मकाल में ही या वेषमात्र के धारणादि से सब कौन (किस) ज्ञान से न्यारा (भिन्न-भिन्न) हो गया। अर्थात् जन्म अज्ञान मोहादिकाल में किसी ज्ञान से न्यारा नहीं हुआ। किन्तु अज्ञानमूलक पाखण्ड से न्यारा-न्यारा हो गया (भेदभाव बढ़ गया)। आत्मज्ञान से देहादि से भिन्न नहीं हुआ।

भौ बालक भग द्वारे आया। भग भोगी के पुरुष कहाया॥
अविगति की गति काहु न जानी। एक जीभ कित कहौं बखानी॥

सुबोधेन हि ये पूर्णाः पुरुषास्त उदाहृताः।
सर्वश्रेष्ठाश्च मान्यास्ते तथा वेदा वदन्ति वै ॥४२॥

अहो तथापि मोहेन जनित्वैव भगान्नरः।
बालो भूत्वा पुनस्तस्य भोगात् पुंस्त्वं प्रमन्यते ॥४३॥

इत्थं भूता नराः केऽपि नादृश्यं सर्वसाक्षिणम्।
आत्मानं क्वापि विन्दन्ति कर्हि वर्षशतैरपि ॥४४॥

मेतत् पशुभिर्नराणाम्। ज्ञानं नराणामधिको हि लोके ज्ञानेन हीनाः पशुभिः समानाः॥ नरसिंहपु० अ० १६।१३"

१ यच्चाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानिह। यच्चास्य सन्ततो भावस्तस्मादात्मेति कथ्यते॥" इस लिङ्ग पुराण के अनुसार आप्नोति, आदत्ते, अत्ति, अतति इति आत्मा व्यावहारिक पारमार्थिक स्वरूप ज्ञातव्य है। महावाक्यों से अखण्ड एक सच्चिदानन्दस्वरूप ज्ञातव्य है।

जिह्वया चैकया वक्तुं कथं कोपि भवेज्जनः ।
समर्थस्तान् जनान् सर्वान् महिम्नो वा महेशितुः ॥४५॥

यह जीवात्मा देहीरूप से भग द्वारा संसार में आकर प्रथम निपट अज्ञ बालक हुआ । फिर ज्ञानध्यानादि के योग्य अवस्था को पाकर भी विवेकादि के बिना भग भोग कर (भग भोग में आसक्त होकर) ही अपनी स्त्री का पुरुष (स्वामी पति) कहलाने लगा । अतः योग्य ब्रह्मचर्यादि से रहित होने के कारण, भोगासक्त काहु (किसी) ने अविगति (अग्राह्य अदृश्य) उक्त ज्योतिःस्वरूप आत्मा की गति (मर्म महिमा) नहीं जानी । अर्थात् ऐसे मनुष्य आत्मा का अनुभव नहीं कर सके, उस आत्मा की महिमा अनन्त है तथा अज्ञ जीव भी अनन्त है । अतः एक जीभ से कहाँ तक व्याख्यान करके कहे जायँ । ये अनन्तरूप से ही ज्ञातव्य हैं । ज्ञान के लिये सत्य, तप, विवेक, ब्रह्मचर्यादि श्रुति में वर्णित साधन सम्पादनीय हैं । फिर ज्ञान होने पर जितेन्द्रिय पुरुष होना उचित है । क्योंकि "आत्मज्ञानेन ये पूर्णाः पुरुषास्त उदाहृताः । यादृशास्तादृशाः सन्तु शरीरेण द्विजोत्तमाः ॥ आत्मपु० अ० ५ ३४२" गार्गी श्रीयाज्ञवल्क्यजी से कही है कि हे द्विजोत्तम ! जो आत्मज्ञान से पूर्ण हैं, वे ही पुरुष कहे गये हैं, शरीर से जैसा हों तैसा रहे ।

जो मुख होय जीभ दश लाखा । तो कोइ आय महन्तो भाखा ॥

अनन्तो महिमा तस्याग्रृह्यस्य वै निजात्मनः ।
एकया जिह्वया तावत् कथंकारेण कथ्यते ॥४६॥
जिह्वावक्त्राणि चेत् कस्य नियुतानि दशाऽत्र वै ।
तत्राप्यस्याल्प एवासौ महिमा[1] कथ्यते हि तैः ॥४७॥

यदि किसी के मुख और जीभ दश लाख हों तो कोई (कुछ) ही महन्त (महिमा) उस महापुरुष की भाखा (भाषण) में आ सकती है, सम्पूर्ण नहीं, इसीसे आगे ७८ शब्द में कहा गया है कि "जाकी गति ब्रह्मा नहिं जानी, शिव सनकादिक हारे । ताकी गति नल कैसे पैहैं, कहहिं कबीर पुकारे ॥"

---

१ "पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम् । उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति । शुक्लयजुर्वेद० अ० ३१ । २" अमृतत्वस्य = मोक्षस्य ईशानः स्वामी = दाता । स अन्नेन = अमृतेन, अतिरोहति = अतिरोधम् करोति । "न तं विदाथ यत इमा जजानान्यद् युष्माकमन्तरं बभूव । नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृप उक्थशासश्चरन्ति । ऋग्वेद, मण्डल १०।६।८२।७" इमा =

साखी—कहहिं कबीर पुकारिके, ई बैली व्यवहार।
राम नाम जाने बिना, बूड़ मुआ संसार ॥२॥

इत्थं भूतात्मतत्त्वं हि न लभ्यं पशुधर्मिभिः।
अहो तथापि लोकोऽयं पशुधर्मे प्रवर्तते ॥४८॥
भगासक्त्यभिमानादिः पशुधर्मो निगद्यते।
तेन रामं नरोऽज्ञात्वा संसारेऽत्र निमज्जति ॥४९॥
रामं ज्ञात्वा महाप्राज्ञा ह्युत्तरन्ति भवार्णवम्।
रामनाम विना मूढो मुहुर्भ्रान्त्वा निमज्जति ॥५०॥
सकृदेव प्रपन्नस्य सर्वभूताभयं यतः।
स रामः सर्वभृत् साक्षी ज्ञानमात्रेण रक्षति ॥५१॥
यस्याज्ञाने च केऽप्यत्र न तरन्ति भवार्णवम्।
तं सर्वसुहृदं रामं वन्दे सच्चित्सुखात्मकम् ॥५२॥
यन्नामवित्त्या[1] सततं च भक्त्या स्मृत्या च यस्यात्र निजात्मतत्त्वम्।
सदाऽप्रबुद्धं त्वधुनाऽनुबुद्धं स्यात्तं भजे राममजं हरिञ्च ॥५३॥२॥

सद्गुरु कबीर साहब पुकार के कहते हैं कि (ई) यह भग भोगादि में आसक्ति, मिथ्या पुरुषसत्वादि के अभिमानादि, बैल तुल्य जड़ मनुष्यों के व्यवहार होते हैं कि जिससे सर्वात्मा रामनामवाले परम पुरुष को जाने बिना ये संसारी जीव संसार सागर जन्मादि प्रवाह में बूड़ (डूब) कर मुये और मरते हैं। इस जीव का व्यावहारिक स्वरूप कहा गया है कि "चैतन्यं यदधिष्ठानं लिङ्गदेहश्च यः पुनः चिच्छाया लिङ्गदेहस्था तत्सङ्घो जीवउच्यते॥ पञ्चदशी प्रकरण ४।११" में कूटस्थ निर्विकार अधिष्ठानस्वरूप चेतन और लिङ्ग (सूक्ष्म) देह लिङ्ग देह में चिदाभास इन तीनों का समूह जीव कहा जाता है ॥२॥

इमानि भूतानि यतस्तं न विदाथ। युष्माकमहं प्रत्ययगम्यानामन्यत् तत् नीहारेण-अज्ञानेन यूयमावृताः, जल्प्याः-मिथ्याज्ञानेनावृताः, अतः प्राणान्-इन्द्रियाणि तृप्यन्तः, उक्थं शंसन्तश्चरन्ति न परमात्मान्वेषणपरा भवन्तीत्यर्थः। भूतभावी वर्तमान जो यह सब वस्तु हैं सो पुरुष स्वरूप (आत्मा ही) हैं। वही अमृतत्व (मोक्ष) का स्वामी (दाता) है। अतः वही अन्न (अमृत) से वृद्धि करता है। जिससे ये प्रजा हुई उसको नहीं जानते हो, तेरा वह अन्य स्वरूप सत्य अन्तर्गत है। तुम अज्ञान से आवृत्त हो। अतः मिथ्या ज्ञान से आवृत्त, इन्द्रिय तर्पक, उक्थगायक होते हो, परमात्मा का अन्वेषण नहीं करते हो।

१ इन्द्रवज्रा-उपेन्द्रवज्रा का मिश्रणरूप (उपजाति) वृत्त=छन्द है।

सम्बन्ध—उक्त मृत्यु से बचने के लिये आगे उपदेश है और विशेष सृष्टि तदाधार का वर्णन है कि—

रमैनी ३

प्रथम अरम्भ कौन के भाऊ। दूसर प्रगट कीन्ह सो ठाऊँ॥
प्रगटे ब्रह्म विष्णु शिव शक्ती। प्रथमहि भक्ति कीन जिव उक्ती॥
प्रगटे पौन पानि औ छाया। बहु विस्तार के प्रगटी माया॥

आरम्भोह्यभवत्[१] केषां तावदेतद्विचार्यताम्।
प्रभवन्ति यतश्चैते द्वितीयो विद्यते स कः॥५४॥
अभिव्यक्तविचारो हि प्रथमः क्रियतां त्वया।
अभिव्यक्ताश्रयस्याथ द्वितीयः स विधीयताम्॥५५॥
वेधोविष्णुहराः शक्ति र्ब्रह्मणोऽपरिणामिनः।
माययापरिणामिन्या ह्याविरासन् युगादिषु॥५६॥
जीवत्वं स्वेषु संकल्प्य भक्तिं चक्रुश्च ते पुनः।
मतारिश्वा पयश्चैव तेजोऽपि व्यनगात्मनः॥५७॥
महाकाशस्वरूपेण स्वयं मायाऽभवत् किल।
आत्मसत्ताप्रकाशाभ्यां जानीहि मतमुत्तमम्॥५८॥

उक्त ज्योतिःस्वरूप सत्यात्मा के ज्ञान के लिये प्रथम यह विचार करना चाहिये कि सृष्टि के प्रथम (आदि) काल में किसका आरम्भ (असत का जन्म) हुआ, दूसरा विचार करना चाहिये कि इन कार्यों से भिन्न इन्हें जन्म देनेवाला कारणरूप दूसरा आधाररूप ठाम (ठिकाना) कौन है? उक्त विचारों से समझना चाहिये कि ब्रह्मा, विष्णु, शिव ये सब देव और शक्ति (देवी) ये सब प्रकट (उत्पन्न) हुए हैं। अतः ये अभिव्यक्ति जन्मवाले हैं, ये ही जगत् का अधिष्ठान आधार या कर्ता नहीं है। अतएव ये सब अपने में जीवभाव की उक्ति (कथन कल्पना) करके प्रथम ही भक्ति किये हैं। अर्थात् अपने में जीवता की उक्तिपूर्वक तप आदि किये हैं। इनसे भी प्रथम पौन (पवन) वायु, तत्त्व और उसके अभिमानी देव प्रगट हुए तथा अभिमानी देव सहित पानी (जल) और छाया (कान्ति-तेज) प्रगट हुए और बहुत विस्तार-स्वरूप आकाशरूप के (से) माया स्वयं प्रगट हुई।

---

१ पूर्वमसतः पश्चात्कारणव्यापारात्कारणाद् भिन्नत्वेनात्मलाभ आरम्भ इति

प्रगटे अण्ड पिण्ड ब्रह्मण्डा। पृथिवी प्रगट कीन्ह नव खण्डा॥
प्रगटे सिद्ध साधक संन्यासी। ये सब लागि रहे अविनाशी॥
प्रगटे सुर नर मुनि सब झारी। ताही खोज परे सब हारी॥

जरायुजाण्डजातानि ब्रह्माण्डानि सहस्रशः।
पृथिवी तत्र खण्डानि प्रादुरासन् पुरा ततः॥५९॥
सिद्धाश्चसाधकाः सर्वे जनाः संन्यासिनस्तथा।
प्रादुर्भूयाऽऽलगन् सर्वे देवे नाशविवर्जिते॥६०॥
देवा नरा मुनीनां च सङ्घा वै भूतजातयः।
प्रादुर्भूय तमन्विष्य परां ग्लानिमुपागताः॥६१॥
अनात्मानं हि यं मत्वा लेभिरे नैव केचन।
तमात्मत्वेन मत्वा तु लभन्तेऽत्र विवेकिनः॥६२॥

ब्रह्माण्ड प्रगट हुआ, उसमें अण्डपिण्ड (अण्डज पिण्डज) प्राणी प्रगट हुए। पृथिवी प्रगट हुई, उसमें नौ (नव) खण्ड (विभाग) किये गये। भारतादि नवखण्ड हुए। सिद्ध (अणिमादियुक्त) साधक (साधनाभ्यासी) संन्यासी (ज्ञानीविरक्त) प्रगट हुए। ये सब अविनाशी सर्वात्मदेव में लग कर स्थिति काल में स्थिर रहे (स्थिर हुए)। अर्थात् अविनाशी अधिष्ठान, ईश्वर सर्वात्मा के आश्रित सब स्थिति पाये। सुर, नर, मुनि सब झारी (अशेष) प्रगट हुए। प्रगट होकर जिसके आश्रित रहे, उसको दूर तटस्थादिमान कर, और कर्म उपासना तप आदि के द्वारा खोज कर हार परे (हैरान हुए) कोई आत्मज्ञानी ही ज्ञान से पाये।

जिस अविनाशी को यहाँ सर्वाधार कहा गया है। उसीको "घट घट अविनाशी बसै" इस प्रकार से (रमैनी साखी ६३) में कहा गया है। रमैनी ७४, में "निराधार आधार ले जानी। राम नाम ले उचरी वानी" निराधार सर्वाधार राम उसीको कहा गया है। "कहहिं कबीर मुवा नहिं सोई, जाके आवागमन न होई। शब्द ४९" इससे अविनाशी सर्वात्मा को

न्यायवैशेषिकमतम्। सतत्त्वतोऽन्यथाभावः कारणसमसत्ताकः परिणाम इति सांख्ययोगमतम्॥ अतत्वतोऽन्यथाभावो विवर्त इति वेदान्तमतम्। अनयो-र्मतयोः सत्कार्यवादस्वीकारादभिव्यक्तिरेव कार्यस्यभवति, तत्र सांख्यादौ स्वरूपसत्वम्, वेदान्ते तु कारणात्मना कार्यसत्त्वमित्यन्यदेतत्॥

साखी—जीव शीव सब प्रगटे, वह ठाकुर सब दास ।
कबिर और जानै नहीं, राम नाम की आश ॥३॥

तटस्थेशाश्च जीवाश्च सर्वेऽमीमायिनोनिजात् ।
प्रादुरासन्नजादेवादतः सर्वेश्वरो हि सः ॥६३॥
ज्ञानिनो न तमन्यं तु पश्यन्ति वै निजात्मनः ।
विविक्तं तं परिज्ञाय वर्तन्ते निश्चिताः स्वयम् ॥६४॥
अविनाशिनमात्मानं ज्ञात्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
श्रेयः प्रेयस्ततश्चैव पश्यन्ति ज्ञानिनः खलु ॥६५॥
सर्वस्य प्रभुमीशानं सर्वस्य शरणं च तम् ।
विज्ञायतन्मयाभूत्वा जायन्ते नैव ते पुनः ॥६६॥
सर्वमुपद्यते यस्माद् यस्मिँस्तिष्ठति लीयते ।
तस्याशां कुर्वते तेऽत्र त्वाशामुक्ताभवन्ति च ॥६७॥
रामं ज्ञात्वा मरुन्नाथं मायानाथं जगत्पतिम् ।
अनाथं सर्वनाथं च जीवन्मुक्ता भवन्ति ते ॥६८॥
श्रुतं श्रुतौ स्मृतं सर्वं स्मृतिसंघे परं महः ।
यत्तं राममहं वन्दे त्वनुभूतं महात्मभिः ॥६९॥३॥

इति हनुमदीये रमैनीरसोद्रेके सृष्टिनिरूपणं नाम प्रथमः प्रवाहः ॥१॥

विमुदर्शाया गया है । तथा "कहहिं कबिर सारि दुनिया विनशल, रहल राम अविनाशी हो । कहरा ११" इससे अविनाशी में श्रुतिसिद्ध अद्वैत सद्रूपता दर्शाई गई है ।

अण्डजादि जीव और ब्रह्माआदि तटस्थशिव (स्वामी ईश्वर) सब प्रगट हुए । परन्तु वह एक अविनाशी राम सच्चा ठाकुर (स्वामी) है, अन्य सब उसी सर्वाधार के दास हैं, इसीसे (कबीर कामविजेता=ज्ञानी गुरु) और (अन्य) को जगदीश सेव्यादि नहीं जानते हैं, किन्तु एक सर्वात्मा राम निज परमार्थ स्वरूप की ही आश (अवलम्ब = ध्यान) रखते हैं । इसी स्वरूप का "निराधार आधार ले जानी । रामनाम ले उचरी वानी । रमैनी. ७४" इत्यादि वचनों से वर्णन किया गया है ॥३॥

अथ रमणादि प्रकरण २, रमैनी ४

प्रथम चरण गुरु कीन्ह विचारा । कर्ता गावै सिरजनहारा ॥
कर्महि कै कै जग बौराया । शक्ति भक्ति लै बाँधिन माया ॥

विश्वस्य प्रथमे भागे काले कृतयुगात्मके ।
येऽभूवन् गुरवस्ते वै विचारं व्यदधुर्मिथः ॥ १ ॥
विचारेण परिज्ञाय साश्चर्यं ते त्विदं विदुः ।
अहो स्वयमयं कर्ता स्रष्टारं मन्यते अन्यकम् ॥ २ ॥
संगायन् भजते तं च तस्यैव प्राप्तये मुहुः ।
वित्ताद्यर्थं च कर्माणि कुरुतेनात्मचिन्तनम् ॥ ३ ॥
कर्माण्येव[1] तु कुर्वाणो लोकः कामादिनाऽमुहत् ।
शक्तिभक्त्या ततो मायाऽबध्नादेनं गुणात्मिका ॥ ४ ॥

संसार के प्रथम चरण (पहला भाग=पाद) रूप सतयुग के गुरु (सर्वाधार ठाकुर के ज्ञानी) ब्रह्मा आदिकों ने अन्यप्राणियों के हित के लिये, संसार के कर्ता आदि का विचार किया कि–"किं स्विदासीदधिष्ठानमारम्भणं कतमत्स्वित् कथासीत् । यतो भूमिं जनयन् विश्वकर्मा विद्यामौर्णोन्महिना विचक्षा । ऋग्म० १।६।८१। यजुः अ. १७।१८" जिससे आरम्भ किया जाय, सो उपादान कारण क्या था, किसका किस प्रकार से आरम्भ हुआ । यह कुछ सत्य नहीं था कि जिससे विश्वद्रष्टा विश्वकर्मा भूमिको रचता हुआ, द्यौः (स्वर्ग) को विऔर्णोत्= बनाया । सो सत्य अधिष्ठान अपनी महिमा से युक्त क्या था, इत्यादि ।

फिर इस विचार से समझा कि स्वयं कर्तास्वरूप जीव किसी अन्य तटस्थ-सिरजनिहार (कर्ता) को गाता है । अर्थात् "विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखः । श्वेता० अ० ३।३। स इह प्रविष्ट आ नखाग्रेभ्यः । बृ० १।४।७।" वह कर्ता ही सब तरफ नेत्रादि वाला बना हुआ है और इस शरीर में आभासादिरूपसे नखाग्रपर्यन्त प्रविष्ट है । अतः सर्वात्मा है, सोई माया शक्ति द्वारा सब का कर्ता है, अज्ञ जीव अन्य को गाता है । वह कर्ता भक्ति ज्ञान से प्राप्तव्य है, ज्ञान के विवेकादि साधन हैं, विवेकादि के सत्कर्म उपासना

---

१ "कर्मणा मृत्युमृषयोनिषेदुः प्रजावन्तो द्रविणमीहमानाः । अथापरे ऋषयो ये मनीषिणः परं कर्मभ्योऽमृतत्वमानशुः॥१॥ नैकान्ततः प्रतिकारः कर्मणां क्षेमं केवलम् । भा. स्क. ७।२६।३४"

अदबुद रूप जाति की वानी । उपजी प्रीति रमैनी ठानी ॥
गुनी अनगुनी अर्थ नहिं आया । बहुतक जने चीन्हि नहिं पाया ॥
जो चीन्है तिहि निर्मल अंगा । अनचीन्हे नर भये पतंगा ॥

अनिर्वाच्यस्वरूपा सा मिथ्याऽऽश्चर्यात्मिका खलु ।
शब्दखाद्यात्मिका जात्या सदा लोकाय रोचते ॥ ५ ॥
प्रीतौ तस्यां तु जातायां तत्रैव रमणं जनाः ।
प्रारभन्त विमोहेन न कदापिचिदात्मनि ॥ ६ ॥
मायायां[1] रममाणाश्च सगुणं वाऽगुणं विभुम् ।
तत्त्वं नैव व्यजानँश्च स्वार्थोऽपि सिद्धयतिस्म नो ॥ ७ ॥
बहवो गुणिनो ये वा मायया वद्धमानसाः ।
विचार्यापि न जानीयुरर्थतत्त्वं कदापि ते ॥ ८ ॥
अजानन्तो जनाः सर्वे महत्यग्नौ पतङ्गवत् ।
नश्यन्ति ज्ञानिनो नैव निर्मलाङ्गा भवन्ति ते ॥ ९ ॥

साधन हैं, परन्तु यह अविवेकी जग (संसारी जीव) सकाम शुभाशुभ कर्म ही कर करके बौराया है । तटस्थेश्वर ब्रह्माआदि की विभूति आदि की इच्छा से कर्म कर करके मोहित हुआ है, अतः माया ने शक्ति की भक्ति रूप रस्सी को लेकर, इन जीवों को वाममार्गादि में बाँध दिया है, उन कुकर्मों में ममता अभिमानादि करा दिया है, इत्यादि ।

उक्त शक्ति और माया का अदबुद (आश्चर्यमय) अनिर्वाच्य स्वरूप है, और वह जाति की दृष्टि से वानी मात्र है, वानीमात्र जाति (उत्पत्तिकार्य) वाली है । अतः कहा गया है कि "वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्" वाणी के आलम्बनमात्रविकार (माया के कार्य) नाममात्र हैं तथा आश्चर्यरूप होने से क्या उसमें वाणी जाती है, अर्थात् वाणी से सत्य असत्यादि कुछ कही नहीं जा सकती है, तो भी माया से बँधे हुए अज्ञों की शब्दादिविषय स्वरूप माया में ही प्रीति उत्पन्न हुई, अतः उसीमें रमैनी (रमण क्रीड़ा करना) जीवों ने ठानी (शुरूनिश्चय किया) । कि जिससे गुणी (सगुण) अनगुणी (निर्गुण) अर्थ (ईश्वर शुद्धब्रह्म) समझ में नहीं आया । न मोक्षरूप अर्थ (फल) प्राप्त हुआ । तथा माया में रमने वाले बड़े बड़े गुणियों ने गुनी (विचारकिया)

---

१ "अविद्यायामन्तरे वर्तमाना वयं कृतार्था इत्यभिमन्यन्ति बालाः । यत् कर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागात्तेनातुराः क्षीणलोकाश्च्यवन्ते । कठो० १।२।९"

साखी—चीन्ह चीन्ह क्या गावहु, वाणी परी न चीन्ह।
आदि अन्त उत्पति प्रलय, आपुहिं कै कै लीन्ह ॥४॥

ज्ञायतां ज्ञायतामत्र तस्मादात्मानमात्मना।
मायां ज्ञात्वा जहीह्येनां शब्दज्ञानेन किं भवेत् ॥१०॥
यावन्न सद्गुरोः सारशब्दः परिचितस्त्वया।
शब्दखाद्यात्मिका माया यावत्परिचिता न च ॥११॥
[1]आत्मनस्तावदाद्यन्तौ स्वयमेव करोषि च।
उत्पत्तिप्रलयौ स्वस्य संकल्पयसि चात्मनः ॥१२॥
आद्यन्तं स्वस्य मत्वाऽन्यं जन्म च मरणं ततः।
मत्वा स्वस्यभयाद्भीतो लभसे न कंचित्सुखम् ॥१३॥
मायामयं[2] सर्वमिदं विदित्वा त्यक्त्वा च मोहं ममतां सुदूरे।
ज्ञात्वा निजैकं शिवबोधरूपं संसारबन्धाद् विनिमुच्यसेऽङ्ग! ॥१४॥४॥

परन्तु उनको सत्य अर्थ नहीं प्राप्त (ज्ञात) हुआ, और बहुतक जने (बहुत लोग) तो माया को भी नहीं चीन्ह पाये, न सगुणनिर्गुण राम को समझपाये, कोई विरल निष्काम जिज्ञासु समझा। तहाँ जो कोई चीन्हता (समझता) है, उसका अङ्ग (स्वरूप) निर्मल (अविद्यादिमल से रहित) हो गया और होता है। अनचीन्हे (अज्ञ) मनुष्य अग्नि में पड़ने वाले पतङ्ग तुल्य हुए। अतः निषिद्धशब्दादि में पड़ कर नष्ट हुए और होते है।

चीन्हे (समझे) के बिना पतङ्ग तुल्य नष्ट होता है। अतः प्रथम चरण के गुरुओं का उपदेश है कि उस आत्माराम और माया को विवेकपूर्वक अवश्य चीन्हो, केवल वाणीमात्र को गाते क्या हो, यह वाणी भी माया का ही स्वरूप है। माया में रमने वालों को विषय रूप वाणी भी नहीं चीन्ह पड़ी है, न चीन्हपड़ती है। अतः शब्दादि विषयों में फँसकर, अपने आदिअन्त (जन्ममरण) रूप उत्पत्तिप्रलय को आपही सिद्ध करते हैं, कर लिये हो। सत्य उपदेश रूप वाणी नहीं समझ पड़ी है कि जिस वाणी ने सब के आदि

---

१ "आत्मनो जायते विश्वमत्रैव प्रविलीयते। स मायी मायया बद्धः करोति विविधास्तनूः ॥ १ ॥ स्वयं कर्म करोत्यात्मा स्वयं तत्फलमश्नुते। स्वयं भ्रमति संसारे स्वयं तस्माद् विमुच्यते ॥ २ ॥ ईश्वरगीता अ० २। ६-७। "स एव माया परिमोहितात्मा शरीरमास्थाय करोति सर्वम्। कैवल्यो० १। १२।"
२ छंद 'इंद्रवज्रा' है।

अज्ञानी जीव कब से जन्मादि दुःख के भागी हुए हैं, ऐसी जिज्ञासा होने पर संसार की अनादिता की दृष्टि से कहा गया है कि—

रमैनी ५

कहँ ले कहौं युगन की बाता । भूला ब्रह्म न चीन्है बाटा ॥
हरिहर ब्रह्मा के मन भाई । बिबि अक्षर लै युक्ति बनाई ॥

अनन्तयुगमारब्धं वर्तते खल्विदं जगत् ।
उच्यतामस्य किं वृत्तमनन्तं वर्तते हि तत् ॥१५॥
ब्रह्मात्मैव स्वयं जीवो ब्रह्मा वा ऽनन्तकालतः ।
भ्रान्तत्वान्नैव सन्मार्गमपश्यद् वै कदाचन ॥१६॥
सारशब्दादिकं मायामपि यो नैव बुद्धवान् ।
किं तेन ज्ञायते स्वात्मा ब्रह्मरूपो निरामयः ॥१७॥
कदाचिन्मातृवाक्येन विचारध्यानतस्तथा ।
हरिब्रह्महराणां हि मनस्सु प्रत्यभादयम् ॥१८॥
सत्यात्मा नित्यनिर्बाधश्चिदानन्दघनात्मकः ।
निर्द्वन्द्वो निर्मलः शश्वदजरामरविग्रहः ॥१९॥
अन्येषामुपदेशाय ते मनस्सु व्यचिन्तयन् ।
अकारोकारयोः सन्धिं चक्रुश्चोङ्कारसिद्धये ॥२०॥
सर्वमोंकारमात्रं वै भूतं भवद्भविष्यकम् ।
कालातीतं हि यत् सत्यमोंकारात्तच्च लक्ष्यते ॥२१॥

अन्त स्वरूपआत्मा को और उससे सबके उत्पत्तिप्रलयादि को कर लिया है । (समझाया है) आत्मा से अन्य आदि अन्त की कल्पना, तथा अपने उत्पत्ति-प्रलयादि तुम आपही कर लिये हो ॥ ४ ॥

अनन्त युगों कि बात कहाँ तक कही जाय, ये जीव अनादिकाल से संसारी हैं । क्योंकि इन का ब्रह्मस्वरूप अनादिसे भूला हुआ है, उसकी प्राप्ति के विवेकादि बाट (मार्ग) को भी स्वयं जीव नहीं चीन्हते (जानते) हैं । इसी प्रकार ब्रह्माआदि भी ब्रह्मस्वरूप और मार्ग को प्रथम भूले रहे । फिर गायत्री माता के उपदेश और विचारादि से हरि हर और ब्रह्मा के मन में ध्यानादि से सतमार्ग और सत्यात्म ब्रह्म वस्तु भाई (भासित-ज्ञात हुई) तब

अन्य के प्रति उपदेश के लिये उन्होंने अकार उकार रूप दो अक्षर लेकर युक्ति (सन्धि) द्वारा उपदेश की रीति बनाई। अर्थात् उपनिषद् में, अ, उ, म्, मात्राओं का ओंकार में वर्णन किया गया है, उस रीति से तो अ, उ, अक्षरों का सम्बन्ध (सन्धि) कहा जा सकता है। "अवतेष्टिलोपश्च" इस उणादि सूत्र १।१३९ के अनुसार अवधातु से मन् प्रत्यय होता है और प्रत्यय के टि (अन्) का लोप होता है, म् मात्र शेष रहता है, 'ज्वर त्वर' इत्यादि सूत्र से अव् धातु के दोनों अक्षर के स्थान में दो ऊठ् (ऊ) होते हैं, फिर "अकः सवर्णेदीर्घः" से दीर्घ होने पर "सार्व धातुकार्धधातुकयोः" से गुण होकर ओम् शब्द सिद्ध होता है। और (गरुडपुराण आदिकाण्ड अ० २३।३०) का वचन है कि "सकारश्च हकारश्च लोपयित्वा प्रयोजयेत्। सन्धिं च पूर्व रूपोत्थं ततोऽसौ प्रणवो भवेत् ॥ १ ॥" सोऽहम् के सकार और हकार के लोप (अभाव) करके प्रयोग करे तो ओ अम्, यहाँ "एङःपदान्तादति" इससे पूर्वरूप-सन्धि के करने पर वह प्रणव (ओम्) होता है, सो जीव ब्रह्म की एकता का बोधक होता है। इस प्रकार से दो अक्षर को लेकर युक्ति बनाई जाती है, फिर भी स्थानिवद्भाव से दो अक्षर समझा जाता है; तथा ओ, और म् की वर्तमानता से भी दो अक्षर कहे जाते हैं, उनको उपदेश के लिये ब्रह्माजी आदिकों ने युक्ति बनाई। अतएव कहा गया है कि "ओंकारश्चाथ शब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा। कण्ठं भित्त्वा विनिर्जातौ तस्मान्माङ्गलिकावुभौ। नारदीय पु० ५१।१०" "सर्ववेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद् वदन्ति। यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्तेपदंसंग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्। कठ० १।२।१५।" ओङ्कार और अथ शब्द ये दो प्रथम ब्रह्माजी के कण्ठ को भेदन करके उनके कण्ठ से निर्गत (प्रकट) हुए, अतः ये दोनों शब्द माङ्गलिक (मङ्गल कारक) हैं। सब वेद (वेदान्त) जिस पद=(प्राप्तव्य) ज्ञेय ब्रह्म को कहते हैं। सब तप (कर्मोपासना) जिसको कहते हैं (चित्त की शुद्धि द्वारा जिसकी प्राप्ति कराते हैं, तथा तपस्वी जिसका कथन करते हैं। तथा जिसकी प्राप्ति की इच्छा करते हुए मुमुक्षु ब्रह्मचर्य। सर्वमैथुन त्याग, कुकर्म त्याग, गुरुकुलवास गुरु सेवा करके श्रवणादि करते हैं। उस ब्रह्मात्मक पद को तेरे प्रति संक्षेप से कहता हूँ कि वह ब्रह्म ओम् इस अक्षररूप प्रतीकवाला इस अक्षर का वाच्य लक्ष्य होने से मानो इस अक्षर स्वरूप ही है। अतः ओंकार के उच्चारण जप ध्यानादि से ब्रह्मात्मा-स्फुरित होता है, इत्यादि। "एक एव पुरावेदः प्रणवः सर्ववाङ्मयः। देवो नारायणो नान्य एकोऽग्निवर्ण एव च ॥१॥ श्रीमद्भा० स्क० ९।१४।४१"

बिबि अक्षर का कीन्ह बंधाना । अनहद शब्द जोति परमाना ॥ ६
अक्षर पढ़ि गुणि राह चलाई । सनक सनन्दन के मन भाई ॥ ७

संसाध्योंकारशब्दं ते तं च हृत्सु समादधुः ।
तस्य च शब्दमुख्यस्य शब्दगम्ये निरञ्जने ।
ज्योतिरात्मनि निःसीमे संकेतं व्यदधु बुंधाः ॥२२॥
तमक्षरं पठित्वा ते विचार्य च पुनः पुनः ।
ज्ञानोपासनयोर्मार्गांश्चक्रुश्चरमचारुदान् ॥२३॥
सनकस्य मनस्येवं सनन्दनमतौ तथा ।
प्रत्यभात् प्रत्यगात्माऽयं चित्स्वरूपः स्वयं प्रभः ॥२४॥
अन्येषां च मनस्स्वेवं कञ्चित्कालं सनातनः ।
सनातनेन[1] मार्गेण भातिस्म परमेश्वरः ॥२५॥

फिर उन दो अक्षरों का बन्धान (संकेत = नियम) करदिया कि ये दो अक्षररूप (शब्द) अनहद (विभु) ज्योतिःस्वरूप ब्रह्म का बोधक हैं । अतः ब्रह्म बोध के लिये प्रमाण रूप हैं । ज्योतिर्मात्र के बोधक ये शब्द ही प्रमाण रूप हैं, अतएव माङ्गलिक हैं । उन अक्षरों को पढ़ गुण (विचार) कर, उन लोगों ने कर्म उपासना भक्ति ज्ञान मार्गों को चलाया (स्थापित किया) गुरु शिष्यभाव को दृढ़ किया । पुनः ब्रह्माजी के उपदेश से सनक, सनन्दनादि के मन में सन्मार्ग सहित सत्यात्मा भासित (प्रतीत-ज्ञात) हुआ ।

---

१ "सत्यं दमस्तपः शौचं सन्तोषश्च क्षमार्जवम् । ज्ञानं शमोदया दानमेषधर्मः सनातनः । गरुड पु० आचार खं० १।१२१।२४" अद्रोहश्चाप्यलोभश्च दमो भूतदया तपः । ब्रह्मचर्यं तथा सत्यमनुक्रोशः क्षमाधृतिः । सनातनस्य धर्मस्य मूलमेतद् दुरासदम् । "वायु पु० अ० १८।११६" सत्यभाषण, दम = इन्द्रियदमन, तप = स्वधर्मानुष्ठान, शौच = बाह्यान्तर की पवित्रता, सन्तोष = न्यायार्जित धन से तुष्टि लोभाऽभाव, क्षमा नम्रता = औधत्याभाव शास्त्रात्मादि का ज्ञान, विवेक, शम = मनोदमन, दया और उचित दान, ये सनातन (अनादि) धर्म हैं । अद्रोह (अहिंसा निर्वैरता) अलोभ, दम, प्राणियों परदया, तप, ब्रह्मचर्य, सत्य, अनुक्रोश = करुणाद्रता' क्षमा, धैर्य ये सनातन धर्म के दुरासद् = दुर्लभ, मूल हैं ।

वेद कितेब कीन्ह विस्तारा। फैलि गेल मन अगम अपारा॥
चहुँयुग भक्तन बाँधल बाटी। समुझि न परल मोटरी फाटी॥

ततो बुद्धिभ्रमादन्ये वेदशास्त्राण्यनेकशः।
सविस्तराणि संचक्रु र्मनसो विस्तृतिं यतः॥२६॥
तेन संशयसंग्रस्तं जनस्यैतन्मनोऽभवत्।
अगम्यापाररूपं सद् विकल्पाकारसंकुलम्॥२७॥
मनसो निग्रहायालं सज्जनास्तु चतुर्युगे।
भक्ता मार्गान् हि संचक्रुः शम्बलं व्यदधुस्तथा॥२८॥
तथापि विस्तृतेस्तेषां तत्त्वं नैवेह गम्यते।
लभ्यते न क्वचिच्छान्तिर्विस्तरान्मति विभ्रमात्॥२९॥
"विस्तारा[1]क्लेशसंयुक्ताः संक्षेपास्तु सुखावहाः।
परार्थं विस्तराः सर्वे त्यागमात्महितं विदुः॥३०॥
द्विधा श्रुतिः स्मृतिश्चैव निश्चयो नाधिगम्यते"।
महाविचारसद्भाग्यान्निश्चयं कोऽपि गच्छति॥३१॥
"एकं[2] यदि भवेच्छात्रं ज्ञानं सुनिश्चितं भवेत्।
बहुत्वादिह शास्त्राणां ज्ञानं तत्त्वं सुदुर्लभम्"॥३२॥

फिर लोगों ने उस ओंकारादि द्वारा वेद और किताबों (वेदाङ्गस्मृति-आदि ग्रन्थों) का विस्तार किया कि जिससे 'मन भी अगम अपार' उस शब्द समुद्र में अगम अपार रूप से फैल गया। पुनः उस फैले हुए मन को समेटने (वश करने) के लिये और तत्त्व समझने के लिये चारोयुग के भक्तों ने बाटी (मार्ग और मार्ग खर्च) बाँधा, आत्मज्ञानादि के लिये योग तप दानादि को सिद्ध निश्चित किया तो भी बहुत लोगों को सन्मार्ग सत्यात्मा समझ में नहीं आया, क्योंकि मोटरी फाट गई। बात बहुत विस्तृतरूप से फैल गई, अनेक भेदभाव युक्त श्रुतिस्मृति सिद्धान्तादि की सिद्धि हो गई।

भय भय पृथिवी दहुँदिशि धावै। स्थिर न होय न औषध पावै॥
होय भिस्त[1] जो चित न डोलावै। खसम छोड़ि दोजख को धावै॥

निश्चयाऽभावतः सर्वे भयभीतजना मुहुः।
पृथिव्यां दिक्षु धावन्ति लभन्ते न स्थितिं क्वचित्॥३३॥

---

१ महाभा० शा० अ० २६८।३७। २ नरसिंह पुराण।

सद्गुरोः शरणे सम्यक् स्थिते लोभं विना जनाः।
आत्मज्ञानौषधं नैव लभन्ते कापि कर्हिचित् ।।३४।।
गुरुं सुहृदमन्विष्य शरणे स्थीयते यदि।
लभ्यते वै जनैर्मोक्षः स्वर्गलाभे किमस्त्युत[2] ।।३५।।
हा तथापि जना मूढा स्वामिनं गुरुमीश्वरम्।
असङ्गं स्वं परित्यज्य धावन्ते नरके स्वयम् ।।३६।।
[3]पुष्णन्ति देहं ममतां च कुर्वते सर्वेण भावेन कुबुद्धयो नराः।
ज्ञानं विना रागमदान्धबुद्धयो घोरातिघोरे नरके पतन्ति च ॥३७॥

उक्तरीति से निर्भय ब्रह्मात्मा के नहीं समझने के कारण, बार बार भयभीत होकर, पृथिवी पर के निवासी जन, पृथ्वी पर तीर्थादि में दशो दिशाओं में दुःखादि से रहित मुक्त सुखी होने के लिये शरीर से तथा मन द्वारा दौड़ते हैं। हरि सद्गुरु स्वामी के शरण में, अपने हृदय में स्थिर नहीं होते हैं। अतः भवरोगादि के भयादि के नाशक ज्ञान, ध्यानादिरूप औषधि को नहीं पाते हैं।

यह जीव यदि विवेकपूर्वक सद्गुरु के शरण में उपदेश में निज हृदय में स्थिर होय, और उनके उपदेश से एक ओंकारार्थ सर्वात्माराम से चित्त (मन) को नहीं डोलावे, ओंकारार्थ के चिन्तन ध्यान में मन को लगाये रहे, तो इसको अवश्य भिस्त[1] (विहिश्त) स्वर्ग और मोक्ष प्राप्त होय। परन्तु यह तो विवेकादि के बिना सच्चे खसम (स्वामी आकाश तुल्य असङ्गविभु आत्मा राम) को छोड़ कर, राम के विचार ध्यानादि नहीं करके, स्वयं दोजख (नरक) में जाता है, नरक के हेतु विषयादि को प्राप्त करता है, उनमें आसक्त होता है, इत्यादि।

---

१ तुरुक मत में विहिश्तपद से मोक्ष ही कहा जाता है, वैष्णवादि के समान उनके मत में लोक विशेष की प्राप्ति ही मोक्ष माना जाता है। "यन्नदुःखेन सम्भिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम्। अभिलाषोपनीतं च तत्सुखं स्वःपदास्पदम् ॥" इस वचन को वैष्णवादि लोक विशेष में संयोजित करते हैं। २ किमुत = अस्ति = क्या संशय = विकल्प = वितर्क है। ३ छन्द 'इन्द्रवंश' है।

पूरब दिशा हंस गति होई । है समीप सन्धि बूझै कोई ॥
भक्ता भक्तिन कीन्ह शिंगारा । बूड़ि गेल सब माँझहि धारा ॥

पूर्वकाये हृदि स्वस्मिन्नत्यन्तं[1] निकटेऽस्ति या[2] ।
तस्या हंसगते मर्म केपि पश्यन्ति सज्जनाः ॥३८॥
ज्ञानिनां च विमुक्तेर्यै रहस्यं नैव बुध्यते ।
भक्तवेषं विधायापि ते ब्रुडन्ति भवार्णवे ॥३९॥
स्त्रियो वा पुरुषा वापि शृङ्गारैकपरायणाः ।
वेषासक्तिविमोहाभ्यां भवमध्ये ब्रुडन्ति हि ॥४०॥

हंस (विवेकी) मनुष्य की पूर्वदिशा में गति होती है, अर्थात् सब कार्य से प्रथम रहनेवाला सर्वात्मा ब्रह्मात्मा के तरफ उसके मन की गति होती है, सो ३७ शब्द में कहा गया है कि "सकल ब्रह्म महं हंस कबीरा" उस ब्रह्म में प्राप्ति के लिये शरीर के पूर्वभाग हृदय में विवेकी मन को स्थिर करता है, तहाँ हृदय कमल के पूर्वदल पर मन को स्थिर करता है कि जहाँ भक्तिपूर्वक धर्म की वृद्धि होती है । संसार के पूर्व (कारण) स्वरूप आत्माराम की गति (प्राप्ति) होती है । वह पूर्व का स्थान और पूर्व की कारणरूप वस्तु अत्यन्त समीप में है, परन्तु उसके भेद मर्म रूपसन्धि को कोई विरल समझते हैं । शब्द जालादि के वश बहुत लोग बाहर भटकते हैं, सद्गुरु आदि के बिना समझ नहीं पाते हैं । क्योंकि प्रायः भक्त और भक्तिन कहलानेवाले वेषमात्र से शरीर के शृङ्गार किये और करते हैं, और धर्म विवेकादि की प्राप्ति नहीं करते हैं, अतः ऐसे लोग जीवन काल में भवार्णव से पार नहीं हुए, किन्तु स्वर्ग पाताल के मध्यवर्ती मानव देहादि के अभिमानादि करके सब मध्य धारा (प्रवाह) में डूब गये ।

---

१ "अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति । कठ० २।४।१२" "एषम आत्माऽन्तर्हृदयेऽणीयान् । एषम आत्मा ज्यायान् । छा० ३।१४।३" यदापूर्वदले विभ्रमते तदा भक्ति पुरःसरं धर्मे मतिर्भवति । इत्यादि । "ध्यानबिन्दू० ६४" आत्माऽस्यजन्तो र्निहितो गुहायाम् । कठो० १।२।२०।" "आत्मप्रबोधतो यस्माद्धन्त्यविद्यामयं पुमान् । तस्माद्धंस इति प्रोक्तः पण्डितै र्वेदवादिभिः । आत्मपु० अ० ६ । ६०२" २ या हंसानां (विवेकिनां) गतिः (मार्ग = आश्रयः स्थानम्) पूर्वकायेस्वस्मिन्नतिनिकटे हृदि = अस्ति, तस्याः—इति सम्बन्धः ।

साखी—बिनु गुरु ज्ञान द्वन्द्व भई, खसम कही मिलि बात ।
युग युग सोइ कहवैया, काहु न मानी बात ॥५॥

गुरुं ज्ञानं विना चैवं द्वन्द्वानि जज्ञिरे यदा ।
स्वामिनो रक्षकाः सर्वे मिलित्वा गुरवस्तदा ॥४१॥
हितं तथ्यं प्रियं वाक्यं प्रोचुः स्थित्यै जनान् प्रति ।
प्रतियुगे च वक्तारो वचः कैश्चिन्न मन्यते ॥४२॥
आत्मना वा प्रकल्प्याऽत्र मिथ्याभूतं पतिं निजम् ।
मोहात्तस्यैव वक्तारो भवन्ति सर्वदा जनाः ॥४३॥
वाचारब्धं वदन्तीमे तं तथा मन्वते नहि ।
सद्गुरोरूपदेशं वा तत्त्वं शृण्वन्ति नो जनाः ॥४४॥
गुरुं विना[1] नैव सदा हृदिस्थं तत्त्वं जनैर्जातु निभाल्यतेऽलम् ।
द्वन्द्वैस्ततस्ते परिभूयमाणा वावद्यमाना विमुखाभ्रमन्ति ॥ ४५ ॥ ५ ॥

इति हनुमदीये रमैनीरसोद्रेके रमणादिनिरूपणं नाम द्वितीयः प्रवाहः ॥२॥

गुरु और ज्ञान के बिना जब संसार में रागद्वेषादि रूप द्वन्द्व हुआ, तब खसम (रक्षक) असङ्ग स्वामी स्वरूप गुरुजनों ने मिलकर विचारपूर्वक सत्य बात कही, तथा खसम की बात गुरुओं ने कही कि वह सर्वात्मा सर्व-हृदयनिवासी है, दूर तटस्थ नहीं है, सब युगों में सद्गुरु सोई बात कहनेवाले हैं, परन्तु कोई अविवेकी उनकी बात को नहीं माना, न मानता है । अतः सत्सङ्गादि द्वारा प्रथम विवेक सम्पादनीय है ।

अथवा विवेक विज्ञान के बिना द्वन्द्व होने पर भी, सब अज्ञमिल कर मिथ्या तटस्थ खसम की बात करने लगे, वाचारब्ध विकार को सत्य मानने कहने लगे । उसी को सब युगों में कहनेवाले हैं, सच्ची बात को किसी ने नहीं मानी न विकारों को बातमात्र समझा इत्यादि ॥५॥

---

१ छन्द उपजाति ।

अथ नित्यमुक्तस्वरूपमोक्षावस्थाप्रकरण ३

रूप आकारादि रहित आत्माराम ब्रह्म को समझे बिना जो उसके रूप आकारादि का वर्णन करते हैं, सद्विवेकादि के लिये यत्न नहीं करते हैं, उनके प्रति विवेकादि के लिये कहा गया है कि—

रमैनी ६

चरणहु कौन रूप औ रेखा। दूसर कौन आहिं जो देखा॥
औ ओंकार आदि नहिं वेदा। ताकर कहहु कौन कुल भेदा॥

ब्रह्म सर्वशरीरेषु बाह्ये चाभ्यन्तरे स्थितम्।
आकाशमिव भूतेषु रूपाऽऽकारविवर्जितम्॥ १॥
निर्भेदं सुमनोगम्यमवाच्यं जातिवर्जितम्।
स्वप्रकाशं निराधारं नामादिभ्यः परं शिवम॥ २॥
वर्ण्यते किं तदा तत्र रूपं संस्थानमेव च।
कश्चान्यो ऽस्ति ततो यो वै तज्जानीयाद् विचक्षण॥ ३॥
ओंकारमूलको वेदो यस्मिन्नैव प्रवर्तते।
सर्वात्मनि परे तस्मिन् कुलगोत्रादिकं कथम्।
सम्भवेदिति चालोच्य कुलगोत्रादिकं त्यज॥४॥

सर्वात्मा राम में किस रूप और रेख (आकार) का वर्णन करते हो, वह तो "अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्" इत्यादिश्रुतियों के अनुसार शब्दस्पर्श रूपादि से रहित निर्गुणनिर्विकार है। उससे अन्य दूसरा द्रष्टा कौन है कि जो उसको देखा, वह तो "नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ। बृ० ३।८।११" अगृह्योनहि गृह्यते। बृ० ४।२।१४" इत्यादि के अनुसार अन्यद्रष्टा ग्रहीता से रहित स्वयं प्रकाश है, अतः वह घटादि के समान सावयव स्थूल दृश्य नहीं है, स्वयं प्रकाश सर्वात्म ज्योतिः स्वरूप से ही ब्रह्म ज्ञातव्य है। "वेदः प्रणव एवाग्रे। भागवत. स्क० ११।१७।१" प्रथम प्रणव (ओंकार) स्वरूप ही वेद था, सो ओंकार जिस वेद का आदि है, सो ओंकारमूलक वेद भी जिस ब्रह्मात्मा को अन्य वस्तु के समान नहीं कह सकता है, क्योंकि "यतो वाचोनिवर्तन्ते। तैत्तिरी० २।९।" जिससे वाक् निवृत्त हो जाते हैं। अतः लक्षणा से जो कथञ्चित् जाना जाता है, उस ब्रह्मात्मा के कुल जाति आदि के भेदों को क्या कहते हो, सब भेद गुणक्रियादि से रहित आत्माराम ज्ञातव्य है।

नहिं तारागण नहिं रवि चन्दा । नहिं कछु होत पिता के विन्दा ॥
नहिं जल नहिं थल नहिं थिर पवना । को धरु नाम हुकुम को बरना ॥
नहिं कछु होत दिवस औ राती । ताकर कहहु कौन कुलजाती ॥

यत्र सूर्यो न वै भाति चन्द्रस्तारागणो न च ।
नास्ति जनयिता यस्य वीर्यविन्द्वादिकारणम् ॥ ५ ॥
भूमेरपां न सम्बन्धो वियत्पवनयो र्न च ।
तस्य नमानि के चक्रुःप्रभोः कस्याऽऽज्ञयाऽथवा ॥६॥
दिवारात्रादिभेदो नो यस्मिन् तत्त्वे हि विद्यते ।
तस्य जातिः कुलं वापि किं कथं चेतिं कथ्यंताम् ॥ ७॥
विदिता[1] विदितस्थूल ह्रस्वादिभ्यो विलक्षणम् ।
जन्मादिविक्रियाहीनं ज्ञायतां तत्परं पदम् ॥ ८ ॥
अस्य मति न तर्केणाऽवरेण गुरुणा न च ।
लभ्यते सद्विवेकाद्यैः[2] सद्गुरो र्वचनाद् ध्रुवम् ॥ ९ ॥
"यतो वाचो निवर्तन्ते यो मुक्तैरवगम्यते ।
तस्य चात्मादिकाः संज्ञाः कल्पिता न स्वभावतः[3]" ॥१०॥

स्वयं प्रकाश होने से ब्रह्मात्मा में तारागण सूर्य चन्द्रादि के प्रकाशों की अपेक्षा नहीं होती है, श्रुति है कि "न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः । कठ० २।५।१५" (श्वे० ६।१४) । "नचास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः । श्वेता० ६।९" उसमें सूर्यादि नहीं भासते (प्रकाशते) हैं। तो यह अग्नि कैसे भास सकती है। और इसके पिता या स्वामी नहीं हैं। अतः पिता के बिन्दा (बिन्दु) आदि कोई कारणों का इसमें सबन्ध नहीं होता है तथा पिता के बिन्दा (लब्धा) होकर कछु (कुछ) मनुष्यादि रूप वह नहीं होता है, क्योंकि "अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम् । महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति । कठ० १।२।२२" शरीरों में शरीर रहित अस्थिरों में स्थिर महान् विभु आत्मा को जान कर ज्ञानी शोक रहित होते हैं, सोई ब्रह्म और राम कहा जाता है।

---

१ "अन्यदेव तद्विदितादथोऽविदितादधि । केन० १ । ३" "अस्थूलमनणुः । बृ० ३ । ८ । ८" 'यत्र नान्यत् पश्यति नान्यद्विजानाति सभूमा "ब्रह्म" । छा० ७ । २४। १" २ मनसैवेदमाप्तव्यम् । कठ० २ । ४ । ११"
३ योगवासिष्ठ स्थि० प्र० स० ५ । ३"

अतः वह जल भूमि थिर (आकाश) और वायु के सम्बन्ध स्वरूपता आदि से रहित है, जल से भीजना भूमि से अवरोध होना आकाश में गमनादि होना ये कोई क्रियादि उसमें नहीं होते हैं, तो फिर उसका नाम कौन धर सकता है, किस के हुकुम (आज्ञा) से उसके नामादि का वर्णन कौन कर सकता है, या उसको हुकुम कौन दे सकता है। अर्थात् आत्मा जैसे रूप आकार से रहित है, तैसे नामादि से भी रहित है, क्योंकि गुण क्रिया जाति सम्बन्धादि से नामसिद्ध होते हैं। ब्रह्मात्मा गुणादि से रहित है, उसको अनात्मा से भिन्नत्व की अपेक्षा से आत्मा, अल्प को अपेक्षा से ब्रह्मादि कहा जाता है। परन्तु जैसे "दशमेऽहिपिता नाम कुर्यात्" इत्यादि शास्त्र की आज्ञा रूप हुकुम से शरीरों के नाम धरे जाते हैं। तैसे ब्रह्मात्मा का नाम नहीं धरा जा सकता है, क्योंकि नाम करण में दशम दिन का कथन किया गया है। कुल जाति आदि के अनुसार सौम्य, बलवत् आदि नाम धरने का शास्त्र में विधान है, नित्य आत्मा में दिन रात्रि आदि किसी काल का कोई सम्बन्ध नहीं होता है। तो उसका कुल और जाति भी कौन है, सो कहो। अर्थात् सब देह और देहो के धर्म तथा भूत भौतिक पदार्थात्मक सब नाम रूप से रहित सब से असङ्ग अन्त ज्योतिस्वरूपनित्यमुक्त आत्मा मुमुक्षु से ज्ञातव्य है, सोई विभु ब्रह्म है। यद्यपि उसके नियत जाति आदि नहीं होने से नियत सत्य नाम भी उसके नहीं हैं, तथापि विचार ध्यानादि से ज्ञेय ध्येय है, तथा श्रवणादिद्वारा प्रत्यक्ष द्रष्टव्य है, क्योंकि—

साखी—सहज शून्य मन सुमिरते प्रगट भई एक जोत।
बलिहारी ता पुरुष की, निरालम्ब जो होत ॥६॥

सहजधारणयाऽथ समाधिना विषयशून्यकृते मनसि स्वयम्।
स्मृतिपथे च कृता मनसाऽमुना स्फुरति वै चितिरद्वयलक्षणा ॥११॥
विषयभावमपास्य तदात्मना[1] भवति यः पुरुषः सुविचक्षणः।
स्तुतिगिरां विषयः स हि [2]मुक्तधीरहह कुत्र जनैरिह लभ्यते ॥१२॥

सहजेन स्वभावेन शून्ये स्वहृदयेऽथवा।
सुविचारे कृते ज्योतिरात्मानन्दोभिलक्ष्यते ॥१३॥

---

१ स्थिर इति शेषः। २ "अशरीरं वाव सन्तं प्रियाप्रिये नस्पृशतः। छा० ८।१२।१" "उभे उहैवैष तरति नैनं कृताकृते तपतः। बृ० ४।४।२२" छन्द द्रुतविलम्बित है। "द्रुतविलम्बित, माह नभौ भरौ।"

ज्ञात्वा तं यो निरालम्बो वर्तते भेदवर्जनात् ।
स एव पुरुषो धन्यो विमुक्तो भवबन्धनात् ॥१४॥

ये वीतरागाश्च[1] जितेन्द्रियास्तथा सुखे च दुःखे च समानवृत्तयः ।
त्यक्तारिमित्रादिकुबुद्धयो नरास्सुखेन ते शान्ति पदस्य भागिनः ॥१५॥६॥

सहज (रागद्वेषादि रहित) चित्त की धारणा आदि के द्वारा, विषयादि के स्मरणादि से शून्य (रहित) मन के द्वारा ब्रह्मात्माराम के स्मरण (चिन्तन-विचार ध्यान) करने पर जिनके हृदय में एक सर्वात्मा राम ज्योतिः प्रगट (अनुभूत) हुई हो, और जिनकी निरालम्ब (नामरूप रहित) में स्थिति से जो निरालम्ब ही समाधिकाल में होते हों, सद्गुरु कबीर साहब कहते हैं कि मैं उन पुरुषों की बलिहारी (धन्यवाद) करता हूँ, वही समाधि मुमुक्षु के लिये कर्तव्य है, और उससे समाधिपरायण जीवन्मुक्ति के सुख और शान्ति को पाते हैं अन्य नहीं ।

एकोवशी सर्वभूतान्तरात्मा, एकं रूपं बहुधा यः करोति ।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषाँ सुखँ शाश्वतं नेतरेषाम् ॥१॥
नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनामेको बहूनां यो विदधाति कामान् ।
तमाऽऽत्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शास्वती नेतरेषाम् ॥२॥
(कठ० २।५।१२-१३)

एक (सजातीयादि भेदरहित) वशी (सब जगत को वश में रखनेवाला स्वतन्त्र) सब प्राणियों के अन्तरात्मरूप जो आत्मा अपने एक निरूपाधिक चित्स्वरूप को औपाधिक बहुधा = नाना प्रकारवाला करता है, आत्मस्थ = अपनी बुद्धि में स्थिर उस आत्मा को जो धीर = विवेकी गुरु उपदेश से अपरोक्ष जानता है, उसको शाश्वत = नित्य सुख (आत्मानन्द) होता है, अन्य को नहीं ॥ १ ॥ जो नित्यरूप से मान्य कालादि का नित्य स्वरूप है, तथा अनित्यों का नित्य अधिष्ठान है, चेतन बुद्धि देवादि का भी चेतन है । तथा एक होते जो बहुतों के कामों = इष्ट पदार्थों को विधान=सिद्ध दान करता है, उसको जो धीर आत्मस्थ समझता है, उसको नित्य शान्ति प्राप्त होती है, अन्य को नहीं ॥ २ ॥ ६ ॥

---

१ छन्द–वंशस्थविल = इन्द्रवंशा – उपजाति है । "सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु । साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥ भ० गी० ६ । ९"

रमैनी ७

तहिया होत पवन नहिं पानी । तहिया सृष्टि कौन उतपानी ॥
तहिया होते कलि नहिं फूला । तहिया होत गर्भ नहिं मूला ॥

आलम्बे तं[1] निरालम्बं सर्वालम्बविवर्जितम् ।
यस्यैवालम्बनाद्भूयः क्वापि लम्बो न लम्बते ॥१६॥
निरालम्बे स्थितौ तावन्निरालम्बबुधस्य वै ।
जन्मादौ न समर्थः स्याच्छ्वसनो वारि वा क्वचित् ॥१७॥
विद्यया बाधितः सर्वो भूतसङ्घस्तदा भवेत् ।
शरीरस्य समुत्पत्तिर्विपत्तिर्वा कुतो बुधः ॥१८॥
कर्मात्मा मुकुलो नैव जन्मात्म कुसुमं न च ।
कलहादिविवादश्च तदानीं नैव जायते ॥१९॥
सर्वेषां मूलभूतं यदज्ञानं तच्च नश्यति ।
गर्भे वासः कुतस्तस्य कुतः कामादि सम्भवः ॥२०॥

उक्त समाधि के फल का वर्णन किया गया कि तहिया (ज्ञानपूर्वक उस निरालम्ब अवस्था के होने पर) उस ज्ञानी के जन्मादि संसार के लिये कारण रूप पवन पानी आदि पाँच भूत तथा प्राण इन्द्रियादि भौतिक पदार्थ समर्थ नहीं होते हैं, अन्तकाल में ज्ञानी के स्वरूप सङ्ग में नहीं रह जाते हैं । अतः उस अवस्था के होने पर फिर ज्ञानी के शरीररूप सृष्टि को कौन उतपानी (उत्पन्न करे) ? क्योंकि उस अवस्था के होने पर वासना पुण्यपापादिरूप कलि (मुकुल) नहीं रहते हैं, न होते हैं, न फिर जन्मकर्मादिरूप फूल होते हैं । अतः आयु कर्मभोगादिरूप फल भी नहीं होते हैं । क्योंकि फिर उसको गर्भवास नहीं होता है, न कामाभिमानादिरूप गर्भ उसकी बुद्धि में रहते हैं । क्योंकि जन्मादि, कामादि के मूल कारणरूप अविद्या भ्रम संशय उसमें नहीं रहते हैं । भाव है कि "तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति सम्परिष्वक्तः प्रश्ननिरूपणाभ्याम् । ब्रह्मसूत्र० अ० ३।१।१" इत्यादि शास्त्र के अनुसार शरीरान्तर की प्राप्तिकाल में अज्ञ जीव सूक्ष्म पाँच भूत और इन्द्रिय कर्मवासना आदि सहित ही गमन करते हैं, जिनके द्वारा शरीरान्तर की प्राप्ति करते हैं और ज्ञानी के कर्मवासना आदि ज्ञान से नष्ट हो जाते हैं । अतः पाँच भूतादि से भी प्रारब्धान्त में वियोग हो जाता है ज्ञानी ब्रह्मात्मा में लीन होता है ।

---

१ आलम्बे (आश्रये) निरालम्बम् (निराधारम्) सर्वालम्बविवर्जिताम् (सर्वशब्दावाच्यम्) लम्बः (अवस्रंसः) न लम्बते (न प्राप्नोति) किन्तु

तहिया होत विद्या नहिं वेदा । तहिया होत शब्द नहिं स्वादा ॥
तहिया होत पिण्ड नहिं वासू । नहिं धर धरनी गमन अकाशू ॥
तहिया होते गुरु नहिं चेला । गम्य अगम्य न पन्थ दुहेला ॥

कामादीनामभावेहि[1] भवबन्धो न विद्यते ।
खिद्यते न जनो भूयो विद्या वेदा निरर्थकाः ॥२१॥
शब्दादिविषया. नैव तेषां स्वादो न विद्यते ।
न शरीरं न तत्रास्य भवेद् बासः कथञ्चन ॥२२॥
शरीराभावतो नात्र क्रिया काप्युपयुज्यते ।
भ्वाकाशगमनाद्यात्मा, गात्रत्राणाय सम्मता ॥२३॥
नापि तत्रोपयुक्तः स्याद् गुरुः शिष्योपि कश्चन ।
गम्यागम्यौ न मार्गौ स्तः सर्वेषां वाधितत्वतः ॥२४॥
गम्यः स्वर्गादिकस्तस्य मार्गोपि मुनिभिः स्मृतः ।
गम्य एव तथाऽगम्योनरको बुध्यते जनैः ॥२५॥
स्वर्गमार्गश्च कष्टेन साध्यते वहुधा तु यैः ।
पाताद्भयं करस्तेषां नरकोपि विशेषतः ॥२६॥

संसार के मूल अविद्या आदि के अभाव होने पर तहिया (उस असस्था में) कोई विद्या और वेदादि ज्ञानी के लिये किसी काम के सार्थक नहीं रहते हैं । न शब्दादि विषय और उनका स्वाद लेना (भोग) ही बाकी रहता है । अतः भोग के लिये फिर किसी पिण्ड (शरीर) में ज्ञानी का वास उस अवस्था में नहीं होता है शरीर में वास नहीं होने से धर (धड़ = शरीर) द्वारा धरणी (भूमि) और आकाशदि में कहीं गमनादि नही होते हैं । इसीसे उस अवस्था में गुरु शिष्य भाव (उपास्य उपासकादि भाव) नहीं रहते हैं, न गम्य (प्राप्तव्य) स्वर्गादि के पन्थ (मार्ग) अगम्य (अप्रातव्य) नरक तिर्यगादि के दुहेला (कठिन) पन्थ वाकी गन्तव्य रहते हैं, न उत्तरायण दक्षिणायण कठिन कर्मोपासना से साध्य मार्ग बाकी रहते हैं, ज्ञान से सबका बाध हो जाता है । अतः गमनागमन रहित ज्ञानी नित्य मुक्त रामस्वरूप हो जाता है ।

"ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति । छा० २।२३ ।१" १ "योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैवसन् ब्रह्माप्येति । वृ० ४।४।६" "यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति । एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम । कठ० २।४।१५"

साखी—अविगति की गति क्या कहौं, जाके गाम न ठाम।
गुण विहूना पेखना, का कहि लीजै नाम ॥७॥

ग्रामो न विद्यते यस्य वासो वापि कथञ्चन।
अदृश्याग्राह्यरूपस्य निरालम्बस्य तत्त्वतः ॥२७॥
जातिक्रियागुणाद्यैश्च विहीनस्यात्मनः खलु।
प्राप्तिः का कथ्यतां धीरैः ज्ञप्तिर्वाऽविषयात्मनः ॥२८॥
गुणत्रयात्परश्चायं सर्वोपाधिविवर्जितः।
इति ज्ञप्तिर्भवेत्तस्य नेति नेत्यादिवाक्यतः ॥२९॥
गुणक्रिये च सम्बन्धो जातिरूढी तथैव च।
नात्मन्येते हि विद्यन्ते नाम किं प्रोच्य गृह्यताम् ॥३०॥
न यस्य[1] नामापि च नो गुणादयो विशुद्धविज्ञानघनस्य तत्त्वतः।
न देशकालौ नहि सङ्गसंकथा तदात्मने वै विदुषे नमोनमः ॥३१॥७॥

इति हनुमदीये रमैनीरसोद्रेके मुक्तिदशावर्णनं नाम तृतीयः प्रवाहः ॥३॥

उक्त रामरूपता से ही कहा गया है कि अविगति (विशेषगति रहित) क्रिया शून्य की गति (प्राप्ति) भी क्या कही जाय कि जिस रामरूपतात्मक मुक्ति का कोई गाम और ठाम (स्थान) नहीं है। अतः सब गुण क्रियादि से विहीन (रहित) ही उस नित्यमुक्त रामस्वरूप ज्ञानी को पेंखना (देखना = समझना) चाहिये, नाम क्या कहकर लिया जाय। अर्थात् गुण क्रियादि को कहकर शुक्ल गन्ता आदि नाम लिये जाते हैं, और निर्गुण निष्क्रिय का नाम वस्तुतः नहीं लिया जा सकता है। अतः वह मुक्त स्वरूप सब नामरूप से रहित ही ज्ञेय-ध्येय और प्राप्तव्य है। क्योंकि "मोक्षस्य नहि वासोऽस्ति न ग्रामन्तरमेव वा। अज्ञानहृदयग्रन्थिनाशो मोक्ष इति स्मृतः ॥ १ ॥" मोक्ष (मुक्त) के वासस्थान या ग्रामान्तर ही नहीं है। किन्तु अज्ञान और अज्ञानजन्य हृदय ग्रन्थि (मनोबन्धन) भ्रम, काम, मोह, अविवेकादि का नाश ही मोक्ष इस शब्द से कहा जाता है ॥ ७ ॥

---

१ "स वेदैतत् परमं ब्रह्मधाम यत्र विश्वं निहितं भाति शुभ्रम। उपासते पुरुषं ये ह्यकामास्ते शुक्रमेतदतिवर्तन्ति धीराः। मुण्डक० ३।२।१" वह ज्ञानी परब्रह्म स्वरूप इस धाम को जानता है कि जिसमें विश्व निहित है तो भी वह धाम शुभ्र = शुद्ध = शुचि है। उसके ज्ञानी पुरुष की उपासना = स्तुति =

तत्त्वोपदेश प्रकरण ४

सम्बन्ध—पूर्ववर्णित रीति से ब्रह्मात्मा राम के नामरूप के अभाव सुनने पर जिज्ञासा हो सकती है कि नामरूप रहित का उपदेश कैसे होता है ? क्योंकि शब्दात्मक नाम से ही उपदेश होता है। अतः नाम रहित के उपदेश की रीति का वर्णन किया गया है कि—

रमैनी ८

तत्त्वमसी इनके उपदेशा । ई उपनिषद कहै सँदेशा ॥
ई निश्चय इनके बड़ भारी । याहि कि वर्णन करु अधिकारी ॥
परम तत्त्व के निज परमाना । सनकादिक नारद शुक माना ॥

एवं नामादि हीनस्य निर्गुणस्योपदेशनम् ।
तत्त्वमसीति वाक्येन सम्यक् सद्भिर्निगद्यते ॥ १ ॥
त्रिगुणेभ्यः परं सत्यं तवैवात्मा न संशयः ।
सर्वे वेदा वदन्त्येवं वेदान्ताः संदिशन्ति च ॥ २ ॥
निरालम्बादिरूपो यः सोऽस्मदात्मेति निश्चयः ।
महानिश्चय एतेषां शिष्याणां च विमुक्तये ॥ ३ ॥
अतश्चास्यैव वाक्यस्य वर्णनाऽप्यधिकारिभिः ।
व्यासाद्यैः क्रियते लोके तस्यार्थो ध्रियते हृदि ॥ ४ ॥
सनकाद्यैः शुकेनापि नारदेन मुनीश्वरैः ।
प्रमाणं परतत्त्वस्य त्विदमेवादृतं सदा ॥ ५ ॥

इन जिज्ञासुओं के प्रति, इन निरालम्बस्थिति वाले ज्ञानियों का यह उपदेश होता है, बनता है, कि 'तत्त्वमसि' तत् = वह नामादिरहित सत्य स्वरूप, त्वम् (तूं ही) असि (हो)। अर्थात् तेरा आत्मा ही निर्गुण अविगति-सच्चिदानन्द स्वरूप है, देहादि का द्रष्टा तुम देहादि स्वरूप नहीं हो। सब उपनिषद् इस संदेश (सम्यक् आनादि उपदेश) को कहती हैं। इन जिज्ञासुओं मुमुक्षुओं के लिये, इन महात्माओं ज्ञानियों का यही भारी (सर्वोत्तम) निश्चय (निश्चित अनुभव) उपदेश है। अतः इसी का वर्णन अधिकारी (मुख्याचार्य = जगन्नेता) लोग करते हैं। परमतत्त्व=परब्रह्मसत्यसर्वात्माके ज्ञान के लिये, यह तत्त्वमसि, महावाक्य निज (खास=नित्य) प्रमाण है कि

नमस्कार जो अकामी धीर करते हैं सो यह प्रसिद्ध शुक्र = रजोवीर्यमय देह का अतिवर्तन=उलंघन करते हैं, विदेहमुक्त होते हैं, ज्ञानी होकर मुक्ति पाते हैं।

याज्ञवल्क्य औ जनक सम्वादा। दत्तात्रेय वहो रस स्वादा॥
वही वसिष्ठ राम मिलि गाई। वही कृष्ण उद्धव समुझाई॥
वही बात लै जनक दृढाई। देहे धरे विदेह कहाई॥

याज्ञवल्क्यस्य सम्वादे जनकेन वृते पुरा।
इदं वै दृश्यते तत्त्वमद्वैतानन्दलक्षणम्॥ ६॥
अयमेव रसस्ताबद्दत्तात्रेयेण धीमता।
स्वादितः कृतकृत्येन विरक्तेन समाधिना॥ ७॥
श्रीरामेण मिलित्वा च वसिष्ठोऽपि महामुनिः।
संजगावमुमेवार्थं श्रीकृष्ण उद्धवेन च॥ ८॥
श्रीकृष्णो बोधयामास यमर्थं ह्युद्धवं प्रति।
तमर्थं विधिवज्ज्ञात्वा जनको याज्ञवल्क्यतः॥
सति देहे विदेहत्त्वं ह्यगमद् दृढबोधतः॥ ९॥

जिसको सनकादिक नारद और शुकदेवादिक महामुनियों ने माना है। ज्ञान के लिये प्रमाणस्वरूप स्वीकार किया है। यह तत्त्वमसि, इस उपदेश का यहाँ ग्रहण "अयमात्मा ब्रह्म" प्रज्ञानं ब्रह्म, अहं ब्रह्मास्मि इत्यादि उपदेशों का भी, उपलक्षण है कि विशेष नामरूप से रहित जो वह सर्वात्मा चेतन प्रज्ञान स्वरूप सर्वाहं प्रत्यय (ज्ञान) में साक्षीरूप से भासता है, सो ब्रह्मात्मा सर्वात्मा है।

श्रीयाज्ञवल्क्य मुनि और जनकजी के परस्पर उपनिषदादि सम्वाद में इसी तत्त्वमसि की चर्चा है, महात्मा दत्तात्रेयजी ने इसी तत्त्वमसि के उस अपूर्व रस (आनन्द) का स्वाद लिया, इसके द्वारा अद्वैतानन्द का अनुभव किया। श्रीरामजी से मिलकर श्रीवसिष्ठजी ने उसी "तत्त्वमसि" अद्वैतात्मा को योगवासिष्ठ में गाया (कहा) और श्रीकृष्णजी ने उसी "तत्त्वमसि" के अर्थ को श्रीउद्धवजी के प्रति समझाया और जनकजी ने उसी बात (उपदेश) को श्रीयाज्ञवल्क्यजी से लेकर दृढ निश्चय अपरोक्ष अनुभव किया कि जिससे देह के रहते जीवन्मुक्त देहाभिमानादि से रहित होने के कारण विदेह कहलाये। बृहदारण्यक उपनिषद, पुराण, योगवासिष्ठादि से इनकी कथायें ज्ञातव्य हैं। यद्यपि पुरोहित वसिष्ठजी के शाप से निमि राजा विदेह = विगत देह हो गये थे = मर गये थे, इससे उनके वंशज की विदेह उपाधि हो गई थी। तथापि यहाँ सद्गुरु कबीर साहब ने निरभिमानिता की दृष्टि से विदेह कहा है।

साखी—कुल अभिमाना खोय के, जियत मुआ नहिं होय ।
देखत जो नहिं देखिया, अदृष्ट कहावै सोय ८॥

देहाभिमानिनां मृत्युः प्राणोत्क्रान्त्यादिलक्षणः ।
दिष्टक्षये भवत्येव नैव स ज्ञानिनां क्वचित् ॥१०॥
अभिमानानि संत्यज्य स्वात्मनिष्ठो भवेदतः ।
अन्यथा भवचक्रोऽयं कदापि न नशिष्यति ॥११॥
अभिमानं समं त्यक्त्वा यो जीवति विमुक्त धीः ।
म्रियते न कदाप्येष साक्षिरूपेण तिष्ठति ॥१२॥
या हि पश्यति सर्वं चित्-दृश्यते नैव केनचित् ।
अदृष्टः सर्वदृक् स्वात्मा साक्षिरूपो निरञ्जनः ॥१३॥
तस्य ज्ञानाद् भवेत्तज्ज्ञः साक्षिरूपोऽव्ययः स्वयम् ।
अदृश्यश्चाप्रमेयश्च विदेहो नात्र संशयः ॥१४॥८॥

कुल (सब) अभिमानों को खोय (त्याग) करके जो ज्ञानी जियत (जीवित) भी रहता है सो कभी मुआ नहीं होता है (मृत्युयुक्त देह का अभिमान कभी नहीं करता है) अभिमानादि के अभाव के कारण देह से उत्क्रान्ति आदिरूप मृत्यु को नहीं पाता है। किन्तु एक सर्वान्तर्ज्योति स्वरूप हो जाता है। अतः जो ज्योतिःसाक्षीस्वरूप सबको देखता (प्रकाशता) है। परन्तु किसी से जो इन्द्रिय द्वारा देखा नहीं गया है, वही आत्मा अदृष्ट कहा जाता है। "एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतोऽदृष्टो द्रष्टा-नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा। बृ० ३।७।२३" इत्यादि। इस उक्त रीति से नामगुणादि रहित का भी उपदेश होता है और उस उपदेशजन्य ज्ञान से जीवन्मुक्तिपूर्वक विदेहमुक्ति होती है, इसी अर्थ का आगे वर्णन है कि "दृश्यमान सो विनशये, अदृश्यहि लखै न कोय। नाहीं कोइ गाहक है, जाहि मिले सुख होय ॥ साखी ३४७" नेत्रादि के दृश्य सब विनश्वर हैं, अदृश्य स्वयं प्रकाश आत्मा ही अविनाशी है, परन्तु उसका कोई अविवेकी ग्राहक (जिज्ञासु) नहीं है कि जिसको वह मिले और उसको सुख हो तथा जिसके मिलने से अन्य को भी सुख हो, ऐसे जन दुर्लभ हैं, श्रुति भी कहती है कि "अतोऽन्यदार्तम्" आत्मा से अन्य सब वस्तु दुःख रूप है, इत्यादि ॥ ८ ॥

सम्बन्ध—उक्त रीति से भक्ति ज्ञानादि के द्वारा अभिमान कामादि रहितों की मुक्ति मुक्ति होती है और अभिमान कामादि से जन्मादिरूप बन्धन होते हैं, उन बन्धन और मोक्ष दोनों का आगे सहेतुक वर्णन है कि—

रमैनी ९

बान्ध्यो अष्ट कष्ट नव सूता। यम बान्ध्यो अजनी के पूता॥
यम के वाहन बान्ध्यो जनी। बान्ध्यो सृष्टि कहाँ लौ गनी॥

जीवन्मुक्तेरसंप्राप्तौ बध्यन्ते सर्वदेहिनः।
यमेनापरिमेयेन कालरूपेण सर्वदा॥१५॥
सिद्धयो[1] निधयश्चैवाविद्यादिक्लेशसंयुताः।
पुर्यष्टकप्रकृत्यष्ट समूहा ये भवन्ति ह॥१६॥
सकामा भक्तयो वापि ह्यष्टधा नवधागुणाः।
सूत्रभूताभवन्त्येते बध्नाति तैर्यमो जनान्॥१७॥
तथैव ये भवन्त्येषामुपासनपरा जनाः।
एतेषां पुत्रवद् भक्तास्तान् बध्नाति स्वयं यमः॥१८॥
अजायाः प्रकृते र्भक्तास्तत्पुत्रा इव ये नराः।
तान् बध्नाति तथैवासौ यमो वै बलवत्तमः॥१९॥
जनिमन्तं तु बध्नन्ति सर्वे तद्वाहनानि च।
तमः काममुखान्यङ्ग! सृष्टिं च कलयामि किम्॥२०॥

जीवन्मुक्ति निरभिमानता की अभाव दशा में अव्यक्त (माया) महतत्त्व (समष्टि बुद्धि) अहंकार और पञ्चतन्मात्रा 'सूक्ष्मभूत' आठ प्रकृति (कारण) जन्य कष्ट स्वरूप देह में जीव बाँधा जाता है तथा "मनोबुद्धिरहंकारस्तथा तन्मात्रपञ्चकम्। इति पुर्यष्टकं प्रोक्तं देहोऽसावातिवाहिकः॥ योगवा० नि० स० ५१।५" मन आदि आतिवाहिक (लोकान्तरादि में प्रापक) देह कही गई है। उससे जीव बाँधा जाता है। यम यातना आदि कष्ट उस देह द्वारा सहता है। इसी प्रकार नवग्रह (चार अन्तःकरण पाँच ज्ञानेन्द्रिय) रूप सूत (डोरी तन्तु) से बाँधा जाता है और ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय, कर्ता, करण, कर्म, भोक्ता, भोग, भोग्यरूप नवविध संसार से बाँधा जाता है और अजनी = जन्मरहित अनादि अजा प्रकृति (माया) के पुत्र (मन माया के वशवर्ती) उसके

---

१ अणिमा लघिमा प्राप्तिः प्राकाम्यं महिमा तथा। ईशित्वं च

उपासक जीवों को यम स्वयं बाँधता है। अर्थात् मायिक सिद्धि आदि के इच्छुक जीव यम से बाँधे जाते हैं और यम के वाहन तमोगुण कामादिक ने सब जनी (जन्म वाले लोगों) को बाँधा है (वश में किया है) तथा सब सृष्टि ही यम के वाहनों से बँधी हुई है, गिनकर कहाँ तक कहा जाय।

बाँध्यो देव तैंतीस करोरी। समरत लोह बन्ध गौ तोरी ॥
राजा समरे तुरिया चढ़ी। पन्थी समरे नाम लै बढ़ी ॥

देवाँश्चासौ त्रयस्त्रिं[1] शत्कोटिकान् बलवान् यमः।
वाहनानि च बध्नन्ति काऽन्येषां बन्धने कथा ॥२१॥
एवं बन्धनयुक्तोऽपि स्मरणात् सुविचारणात्।
मनसःसावधानाच्च दृढं बन्धं भिनत्त्यसौ[2] ॥२२॥
महाराजसमो ज्ञानी स्वतन्त्रः प्राप्य तुर्यके।
तमेव च स्मरञ्छश्वत्सावधानो भवेत् सदा ॥२३॥
उपासकः स्वसेव्यस्य गुणनामादिकं स्मरन्।
अवलम्बेन तेनैव तत्त्वं स्मरति वै बुधः ॥२४॥
सनैः पान्थ इव प्राप्य स्वात्मदेवं निरञ्जनम्।
तत्रस्थो मोदते चासौ सावधानो विराजते ॥२५॥

वशित्वं च सर्वकामावसायिता ॥ १ ॥ सार्वज्ञं दूरश्रवणं परकायप्रवेशनम्। वाक्सिद्धिः कल्पवृक्षत्वं स्रष्टुं संहर्तुमीशता ॥ २ ॥ अमरत्वं च सर्वाग्र्यं सिद्धयोऽष्टादशस्मृताः। चादजरत्वम्। ब्रह्मवैवर्तपु० ब्र० खं० अ० ६।१८-१६॥ अनूर्मिमत्त्वं देहेऽस्मिन् दूरश्रवणदर्शनम्। मनोजवः कामरूपं परकायप्रवेशनम् ॥१॥ स्वच्छन्दमृत्युर्देवानां सहक्रीडाऽनुदर्शनम्। यथासंकल्पसंसिद्धिराज्ञाऽप्रतिहता गतिः ॥२॥ इति दशगुणसिद्धित्वेनान्यत्र वर्णिताः सन्ति, सिद्धयस्तु पूर्वोक्ता अष्टावेवाणिमादयः॥ पद्मोऽस्त्रियां महापद्मः शंखो मकरकच्छपौ। मुकुन्दकुन्दनीलाश्च खर्वश्च निधयोनव ॥१॥ शब्दार्णवकोश॥ भूतेन्द्रियमनोबुद्धिवासना कर्मवायवः। अविद्या चाष्टकं प्रोक्तं पुर्यष्टमृषिसत्तमैः ॥१॥ यद्वा ज्ञानेन्द्रियाणि खलुपञ्च तथा पराणि कर्मेन्द्रियाणि मनआदि चतुष्टयं च। प्राणादि पञ्चकमथो वियदादिकञ्च कामश्च कर्म च तमः पुनरष्टधापूः ॥ २ ॥ वेदान्तसंज्ञायाम् ॥

१ कोटयो द्वादशार्कस्य तथैकादशधूर्जटेः। कोटयोऽष्टौ वसूनां च द्वे कोटीदस्रयोर्मते ॥१॥ २ आत्मचिन्तासमस्तानां दुःखानामन्तकारिणी। चिरसंभृतदुःस्वप्नसंसारभ्रमहारिणी ॥ १ ॥ योगवा० नि० स० २४।२”

यद्यपि अधिक जीवनवाले होने से देव सब अमर कहलाते है, तथापि यम और यम के वाहन तैंतीस कोटिदेव को भी बांधा है और बांधता है, देव भी ज्ञानादि के बिना अभिमानादि से मृत्यु कामादि के वशवर्ती होते हैं। परन्तु इनदेव मनुष्यादि में जो कोई सर्वात्मा राम के स्मरण विचारादि भक्ति किये, सो स्मरते ही अभिमान कामादि रूप अविद्यामय लोह बन्धन तुल्य मोह ममतादि रूप दृढ बन्धनों को तोर (नष्ट) करके संसार से पार मुक्त हो गये। तहाँ राजा (विवेक वैराग्यदि युक्त स्वतन्त्र ज्ञानी) तुरिया (जाग्रदादि अवस्थाओं से पर चतुर्थ) अवस्था में प्राप्त होकर (चढकर) स्मरण ध्यान सम्भारादि करता है। पन्थी (पथिक तुल्य मार्गस्थ उपासक भक्त) अपने उपास्य सेव्य के नाम को लेता (जपता) हुआ, आगे ज्ञान की अवस्थाओं शुभेच्छा सुविचारादि में बढता हुआ स्मरणसम्भार करता है। मन इन्द्रियों का निरोध पूर्वक ध्यान स्मरणादि करता है।

अर्थ विहूनी सँमरी नारी। परजा समरे पुहुमी झारी ॥

अर्थेच्छारहितो यश्च नारीवाऽस्ववशो नरः।
कर्मठः सोऽपि संस्मृत्या परं तत्वमवाप्नुयात् ॥२६॥
अलमत्र बहूक्तेन त्वेतावन्तं विनिश्चिनु।
अर्थत्यागेन निष्कामाः सर्वे शुद्धा भवन्ति हि ॥२७॥
पृथिव्यां सन्ति याः काश्चिद् देवलोकेऽपि सन्ति याः।
प्रजास्ताः परिशुद्धेयुरर्थेच्छादिविवर्जनात् ॥२८॥
न यत्र रागो न च मोहमत्सरौ मानादिहीने गुणबन्धवर्जिते।
न द्रोहरोषौ भयभोगभावना ज्ञेयः सदा सोऽत्र विमोक्षभाजनम् ॥२९॥

अर्थ (द्रव्यादि कर्मफल) की इच्छा से विहूनी (रहित) निष्काम नारी (परवश कर्मी) स्मरती है, स्मरण संभार करने पाती है। निष्काम होने पर, पुहुमी (भूमि) पर रहने वाली झारी (सभी) प्रजा स्मरण विचार संभारकर कसती हैं, सुधर जाती है, क्योंकि कामही सब अनर्थोंका हेतु है, "काम बन्धन मेवैकं नान्यदस्तीहबन्धनम्। कामबन्धनमुक्तोहि ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥" काम ही एक (मुख्य) बन्धन है, काम के बिना इस संसार में अन्यबन्धन नहीं है। अतः ज्ञान विराग द्वारा कामरूप बन्धन से मुक्त मनुष्य ब्रह्म भाव (मोक्ष) के लियेसमर्थ होता है।

दोहा—बन्दि मनावे ते फल पावै, बन्दि दिया सो देइ।
कहहिं कबीर तेइ ऊबरे, निशिदिन नामहि लेइ ॥९॥

बन्धयुक्ता यतः सर्वे कामेनैव निरन्तरम्।
शुभाशुभफलं तेन भुञ्जते च भ्रमन्ति च ॥३०॥
ईश्वरो देववर्गो वा जीवैं दत्तं ददाति हि।
यतश्चैतैः कृतस्यैव फलदाता भवेत् प्रभुः ॥३१॥
देहि[1] मे ते ददाम्येवं यजुर्वेदे स्फुटं श्रुतम्।
दत्तमेव परस्मै च सुखं दुःखं च लभ्यते ॥३२॥
रागद्वेषौ व्युदस्यात्र यो नरः सततं स्मरेत्।
गृह्णीयात् सारशब्दं च स तरेद्भवसागरम् ॥३३॥
सद्गुरुः कृपया प्राह संदेशं तं सनातनम्।
यच्छ्रवणादितो धीरो भवबन्धाद्विमुच्यते ॥३४॥
अर्थादिकं यो निपुणं विहाय कामादिमुक्तः सततं परेशम्।
भजेज्जपेत्तद्विमलं च नाम स बन्धमुक्तो हि तरेद् भवाब्धिम् ॥३५॥९॥

पूर्व जन्म के काम कर्मादि से बन्दि (बन्धनयुक्त परवशदास) जीव मनावे ते (इच्छा प्रार्थना करने से) ही सुखदुःखादि सांसारिक तुच्छ फलों को पाता है, क्योंकि राग, द्वेषादि पूर्वक, अन्य देवमनुष्यादि के प्रति दिये हुए सुख-दुःखादि को ही, सो ईश्वर देवादि इस जीव को देते हैं। अर्थात् अपने सकाम कर्मादि के फल को ही यह जीव, ईश्वर देवादि द्वारा कभी पाता है। अतः जो जीव फलेच्छा अभिमानादि को त्याग कर, निशिदिन (सदा) सत्कर्म ईश्वर स्मरणादिपूर्वक नाम ही लेता (जपता) है, कर्म फलादि नहीं लेता है, सो शुद्धि शान्तिपूर्वक ज्ञान पाकर अवश्य संसार बन्धन से उबरता (मुक्त होता) है।
∴ प्रथम निष्काम सत्कर्म से सद्गति और सकाम से संसार गति कही गई है, यह भेद उपासना भक्ति मे नहीं दर्शाया गया है। अतः सो भेद दर्शाया जाता है कि—

रमैनी १०

राही लै पिपराही बही। करगी आवत काहु न कही ॥१॥
आई करगी भौ अजगूता। जन्म जन्म यम पहिरे बूता ॥२॥
बुता पहिरि यम कै समाना। तीन लोक महँ करै पयाना ॥३॥

---

१ देहि मे ददामि ते, निमेधिहि निते दधे। निहारं च हरासि मे, निहारं निहरामिते, स्वाहा। शुक्लयजुः, ३।५। मे निधेहि—नितरांधारय। अर्द्धेनः यजमानोक्तिः मे निहारं-मुल्येन दातुं योग्यम् हरासि=प्रयच्छ।

पथिकोपासकोऽप्यर्थं गृहीत्वोपास्तिसम्भवम् ।
पिप्पलं[1] श्रुतिसंप्रोक्तं भवनद्या निरुह्यते ॥३६॥
बन्धप्रदस्य तस्यात्र ग्रहणे समुपस्थिते ।
न कोपिप्रोक्तवानेनं पथिकं सज्जनोऽपि हि ॥३७॥
करग्राहमिमं[2] त्यक्त्वा भवनद्यास्तटं श्रय ।
न यापय वृथा कालं न कामवशगोभव ॥३८॥
अतः काम्यफलान्येनं प्राप्य चाश्चर्यरूपताम् ।
प्राप्नुवन् सर्वजन्मादौ कालवेषं विधाय हि ॥३९॥
तेषां वेषात्मकः कालः कृत्वा परिकरं[3] स्वयम् ।
ईयिवाँ[4] स्त्रिषु लोकेषु लोकानां बन्धनाय हि ॥४०॥

राही (उक्तपन्थी) पिपरा (भक्ति उपासना रूप मानस कर्म के लौकिक फल) को ही लेकर (उसकी इच्छा करके) ही संसारसागर में बही (बह गया बहता है, उस इच्छा के करगी (पास समीप) में आते समय जिव को आज तक किसी गुरु ने भी यह बात नहीं कही कि इच्छा प्रार्थना (कामक्रोधादिक) ही संसार नरकादि के हेतु हैं । अतः इन्हें त्याग कर अपना श्रेयः कल्याण करो । तो उस गुरु उपदेशादि से रहित जीव के करगी (पास में अन्तःकरण में) आकर वह कामादिक अजगूत (आश्चर्य) स्वरूप हो गया, और होता है, क्योंकि वही कामादि कामी जीवों के जन्म जन्म (सब जन्मों) में यम के बूत (स्वांग वेष) को पहिरता है (यम के आकार बल का धारण करता है)। यम के बूत को पहिर कर, तथा यमरूप होकर, वह समान (संसार के साधन को सिद्ध तैयार) करता है, तीनों लोक में कामी जीव के साथ पयाना (यात्रा) गमन करता है, वहो सर्वत्र सब अनर्थ का हेतु होता है ।

बाँध्यो ब्रह्मा विष्णु महेशू । सुर नर मुनि सब बाँधु गणेशू ॥
बाँध्यो पवन पावक थल नीरू । चान्द सूर्य बाँध्यो दुइ बीरू ॥
सौंच मन्त्र बाँधिन सब भारी । अमरित वस्तु न जानै नारी ॥

ब्रह्मविष्णुमहेशान् स बबन्धैव महाबलः ।
देवान् मुनीन् मनुष्याँश्च बबन्धैव न संशयः ॥४१॥

---

१ तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति । मुण्डक० ३।१।१ ॥ २ करं गृह्णातीति कर्मण्युपपदेऽण् । ३ आरम्भं परिवारं वा कृत्वा । ४ उपेयिवानित्यादावुपेत्यस्याविवक्षितत्वादीयिवान् इति ।

गणेशं भूतसंघाँश्च पवनं पावकं महीम् ।
नीरं च चन्द्रमस्सूर्यौ वीरौ सैव बबन्ध ह ॥४२॥
सत्यमन्त्रविचारादीन् सर्वानन्विष्य हेलया[1] ।
बबन्धसोऽतिवेगेन कलनाय[2] समुद्यतः ॥४३॥
सर्वेऽतः कामिनो मोहात् कान्तावत् परकामुकाः[3] ।
अस्वतन्त्रा न जानन्ति ह्यमृतत्वं निजात्मकम् ॥४४॥

इन कामादिकों ने बड़े बड़े उपासक ब्रह्मा विष्णु और महेश को बाँधा है । तथा सब देव मनुष्य मुनि और गणेश को बाँधा है । पवन, अग्निथल (भूमि) नीर (जल) देवों को बाँधा है, तथा चन्द्र सूर्य स्वरूप दो वीर (बली) देवों को बाँधा है, अर्थात् पूर्वजन्म के सकाम तप उपासना के वशवर्ती (होकर के ही ब्रह्मा आदिक भी अधिकार को भोग रहे हैं) विदेह मुक्ति नहीं पाये हैं । यह काम ने ही सब सत्य मन्त्र (गुप्त विचारादि) रहस्य उपदेशों को झार (खोज) कर बाँध दिया है, कामियों के हृदयों में प्रगट नहीं होने दिया है, अतः परवशनारी तुल्य कोई कामी अमृत वस्तु को साक्षात् नहीं जानता है, सब कामों से रहित होने पर कोई अमृत आत्मा को जान कर मुक्त होता है, अन्य नहीं ।

साखी—अमृत वस्तु जानै नहीं, मगन भया सब लोय ।
कहहिं कबिर कामो नहीं, जीवहिं मरण न होय ॥१०॥

अमृतत्वं न जानन्ति सर्वेमग्ना भवार्णवे ।
कामेन विषमेनात्र नोन्मज्जन्ति कदाचन ॥४५॥
इदानीमपि चेत्कामं[4] त्यजेत्सर्वात्मना जनः ।
अस्य नैव पुनः कापि मरणं स्यात् कदाचनः ॥४६॥

---

१ अवज्ञया—अनादरेणेत्यर्थः । २ परिगणनाय—प्रमापनाय—मृत्यवे वा समुद्यतः । ३ दृश्यन्ते हि महात्मन ऋषयो दिव्यचक्षुषः । संसक्ताः सूक्ष्मभावेषु ते दोषास्तेषु सञ्जिताः ॥१॥ वायु पु० १२ । २६ ।

४ "अकामो धीरो अमृतः स्वयंभू रसेन तृप्तो न कुतश्चोनः । तमेवविद्वान् न विभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम् । अथर्व १ । ४ । ८ । ४४" "कामानां हृदये वासः संसार इतिं किर्तितः । तेषां सर्वात्मना नाशो मोक्ष उक्तो मनिषिभिः ॥ आत्मपु० अ० ६ । १३०३" कामबंधनमेवैकं नान्यदस्तीह बन्धनम् । कामबन्धनमुक्तो हि ब्रह्मभूयायकल्पते ॥१॥

विस्मृत्य चात्मानमनन्तचिद्घनं कामेन सर्वे खलु संसरन्ति हि।
ब्रह्माशिवो विष्णुमुखा हि देवताः कामेन बद्धा नहि तद्विपर्यये ॥४७॥
यत्रैव भेदोऽपि विभिद्यते तथा वियुज्यते रागमदक्षुधादिकम्।
हृद्येव नित्यामृतपानतः सुधी मृत्योः सुदूरे वितते प्रमोदते ॥४८॥

इति हनुमदीये रमैनीरसोद्रेके तत्त्वोपदेशवर्णनं नाम चतुर्थः प्रवाहः ॥४॥

साँच मन्त्र के बंध जाने से कामी जीव अमृत (अविनाशी) को नहीं जानते हैं। और अमृत वस्तु के अज्ञान से सब लोग संसार में निमग्न (आशक्त) हुए हैं, इसमें डूब रहे है। सद्गुरु कबीर साहब कहते हैं कि यदि अब भी जीव को काम नहीं उत्पन्न हो, सर्वथा काम का अभाव हो जाय, तो फिर उन जीवों के जन्म मरणादि नहीं हों। क्योंकि "अकामो धीरो अमृतः स्वयंभू रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः। अथर्ववेद कां० १। ४। ८। ४४" काम रहित धीर (विद्वान्) अमृत (मुक्त) स्वयंभूः (स्वतन्त्र) रस (आनन्द) से तृप्त, सबसे न्यूनता रहित हो जाता है ॥१०॥

अथ मनोमायादिमहिमा प्रकरण ५

सम्बन्ध–वैराग्यादि के लिये कामादि द्वारा मायाकृत वञ्चनाओं का र्णन है कि–

रमैनी ११

आँधरि गुष्टि सृष्टि भइ बौरी। तीनि लोक महँ लागु ठगौरी ॥
ब्रह्महि ठग्यो नाग कहँ जारी[1]। देवन सहित ठग्यो त्रिपुरारी ॥
राज ठगौरी विष्णुहिं परी। चौदह भुवन केर चौधरी ॥

तामस्याः खलु मायया गोष्ठ्या कामेन वै जगत्।
उन्मत्तं वर्तते सर्वं वञ्चनाऽवो जगत्त्रये ॥१॥
वञ्चकैः क्रियते सा च मनसाऽमार्गगामिना।
मायया कर्मणा चैव कामेनापि दुरात्मना ॥२॥
ब्रह्माणमपि मायैषाऽवञ्चयत् सृष्टिलालसा।
अदहत् सर्वनागान् सा कुभोगैः कामरूपिणी ॥३॥

---

१ जाई। पाठान्तर है।

देवाँश्च सुखलोभेन वामासक्तान् विभूतिभिः ।
शंभुं वञ्चयते स्मैवं संहारेणैव कर्मणा ॥४॥
सर्वेषां भुवनानां तु पालनाकर्मणा हरिम् ।
सर्वलोकप्रधानं साऽवञ्चयद् राजधर्मिणम् ॥५॥

यद्यपि काम के अभाव से ही जीवों का कल्याण होता है, तथापि काम का अभाव कैसे हो ? यह सृष्टि (सब संसारी) आँधरी (तामसी माया कुबुद्धि जड़ वस्तु) की गुष्टि (कथा) में ही बौरी हो रही है, अनात्म कथा से विवेकादि रहित सृष्टि हो गई है । अतः तीनों लोक में मन माया काम कृत ठगौरी (वञ्चना) लगी है, और लगती है । इस गुष्टि जन्य काम ने प्रथम ब्रह्मा ही को ठगा, और नागों के पास में जाकर नागों को ठगा, उन्हें भोग अग्नि आदि में जलाया, अन्य देवों के सहित त्रिपुरारी (शिव) जी को ठगा (मोहित किया) चौदहो भुवनों के चौधरी (स्वामी नेता) विष्णु भगवान् में राज्य कार्य (रक्षण) रूप वञ्चना ही माया से प्राप्त हुई कि जिससे रक्षा आदि के लिये बार बार अवतार लेना पड़ता है । अधिकार भी बन्धनरूप है, अधिकारान्त में अधिकारी मुक्त होते हैं[1] ।

उक्त सब वञ्चना, कामादिवश भय से प्राप्त होती है, अतः उपदेश है कि—

आदि अन्त जाकि जनक न जानी । ताकी डर तुम काहे मानी ॥
वे उतङ्ग तुम जाति पतङ्गा । यम घर कियहु जीव को सङ्गा ॥
नीम कीट जस नीम पियारा । विष को अमरित कहै गमारा ॥

यस्या धातापि नाद्यन्तौ स्वयं वेत्तीह तत्त्वतः ।
अनिर्वाच्यस्वरूपायास्तस्यास्त्वं किं बिभेषि वै ॥६॥
तस्या नैव भयं युक्तं प्रीतिस्तत्र न युज्यते ।
भयेन वशगो भूत्वा भ्रान्तो भ्रमति सर्वदा ॥७॥
उद्यताग्निशिखातुल्या माया तस्यां पतङ्गवत् ।
प्रेम्ना पतति मूढो यः स याति यमसद्मनि ॥८॥
निम्बजातस्य कीटस्य प्रियो निम्बो भवेद्यथा ।
तथैव विषयासक्तो विषं वै मन्यतेऽमृतम् ॥९॥
मोहेनैव त्वया सौम्य ! यमगेहे निजात्मनः ।
सम्बन्धः क्रियते तद्वन् विषयो भुज्यते विषम् ॥१०॥

---

१ "यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम् । ब्रह्मसूत्र० अ० ३।३।३२"

यथा कोऽप्यतिमूढो हि विषं संभाषतेऽमृतम्।
अकृतात्मा तथैवाऽयं विषयान् भाषते हितान् ॥११॥

जिस अनादि माया के आदि अन्त को लोक जनक (पितामह) ब्रह्माजी भी नहीं जान सके, उसका डर (भय) तुम क्यों मानते हो, विमुक्ति के लिये[1] अभय, सत्व (अन्तःकरण) की सम्यक् शुद्धि, ज्ञान और योग में निष्ठा, दानदमादिरूप दैवी सम्पत्तियों का ग्रहण करो। क्योंकि सन्मार्ग में अभय पूर्वक प्रवृत्ति के अभाव रहते, माया से डरने पर, वे काम विषयादि उत्तङ्ग (उँची) अग्नि की शिखा के तुल्य होते हैं। तुम मनुष्य पतङ्ग जाति के तुल्य होते हो, इसीसे यमघररूप संसार सांसारिक विषयों के साथ अपने जीवात्मा (मन) का सङ्ग किये हो, विषयादि में मन को लगाये हो। जैसे नीम के कीटों को नीम ही प्रिय प्रतीत होता है, तैसे सदा विषयों के साथ सम्बन्धवाला गमार (अज्ञ) विषयरूप विष को ही अमृत समझता और कहता है। विवेक से विषयों को त्यागकर सत्यात्म अमृत को प्राप्त करना चाहिये।

विष अमरित गौ एकै सानी। जिन जानी तिन विष कै मानी ॥
विष के सङ्ग कौन गुण होई। किंचित् लाभ मूल गौ खोई ॥

पीयूषविषसम्बन्धं यत्र जानाति बुद्धिमान्।
एकस्मिन् तन्न चादत्ते विषं मत्वा तमञ्जसा[2] ॥१२॥
सुखदुःखसमायोगं ज्ञात्वैवं विषयादिषु।
बुधानाददते तांस्तु ज्ञात्वैव मरणप्रदान् ॥१३॥
विषेण च यथा सङ्गादमृतस्य निजा गुणाः।
विनश्यन्ति तथा सङ्गात्सुखं वै दुःखतां व्रजेत् ॥१४॥
विषयाख्यविषैः सङ्गाल्लाभः क[3] इह देहिनाम्।
अल्पेन सुखलाभेन सुखमूलं न दृश्यते ॥१५॥

क्योंकि जहाँ विष और अमृत (दूध शक्करादि) एकत्र साने मिलाये गये

---

१ श्रीमभगद्गीता० अ० १६।१-३। द्रष्टव्य है।

२ अञ्जसा = तत्वतो-झटिति वा।

३ "विषमिश्रं यथैवान्नं मूढस्य सुखदं भवेत्। एवं प्रेय इदं सर्वं मूढस्य सुखदं स्मृतम् ॥ १ ॥ आत्म० अ० ६। २७१" विषयेन्द्रियसंयोगाद् यत्तदग्रेऽमृतोपमम्। परिणाने विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्। गी० अ० १८।६८"

हों, तहाँ जो उस मेल को जाननेवाले होते हैं, सो उस मिलित वस्तु मोदकादि को विषरूप ही समझते हैं, क्योंकि विष के साथ मिल जाने पर अमृत का अपना कौन गुण रह सकता है ? उसके पोषणादि सब गुण नष्ट हो जाते हैं। अतः विषयुक्त अमृत (स्वादु वस्तु) के खाने पीने से किञ्चित् (अति अल्प) लाभ (उदरपूर्ति) होता है, फिर मूल (भोग का साधन) देह खोय जाती (नष्ट होती है) इसी प्रकार निषिद्ध विषयों के सङ्ग से भी किञ्चित् आत्मानन्द की अभिव्यक्तिरूप लाभ होता है, फिर वह आनन्द अत्यन्त आवृत्त हो जाता है, मोक्ष अलभ्य हो जाता है, और महाअनर्थ की प्राप्ति होती है। अतः दुःख मिश्रित सांसारिक सुख को दुःख ही समझना चाहिये।

काह भयो नर शुद्ध विशुद्धा। बिनु परिचय जग बूड न बुद्धा ॥
मति के हीन कौन गुण कहई। लालच लागी आशा रहई ॥

मूल सौख्यविनाशे च वंशशुद्धया भवेत् किमु।
आचारादिविशुद्धो वा किं करिष्यति मन्दधीः ॥१६॥
सर्वानन्दनिदानस्य स्वात्मनोऽनुभवं विना।
भवाब्धावेव मज्जन्ति सर्वे नैव तु पण्डिताः ॥१७॥

यश्चात्ममतिहीनः स गुणं कं वा वदिष्यति।
शमादिलक्षणं किम्वा ह्यमानित्वादिलक्षणम् ॥१८॥

स लोभेन स्वयंग्रस्त आशया पीड्यते सदा।
यतोऽप्राज्ञेऽविरक्ते च लोभाशे सह तिष्ठतः ॥१९॥

यदि विषय सङ्गादि रहित परमानन्द की प्राप्ति नहीं हुई, तो कुलगोत्र क्रियादि द्वारा शुद्ध-विशुद्ध होनेपर भी क्या फल मिला। क्योंकि आत्माराम के परिचय (अनुभव) के बिना शुद्ध-विशुद्ध भी राग-द्वेषादिमय संसार सागर में बूड़ा (डूब गया)। विषय सङ्गादि के त्यागी बुद्ध (ज्ञानी) ही नहीं बूड़ा तथा अविवेकी बूड़ते हुए अपने को नहीं समझ सका। क्योंकि कुसङ्गादि के कारण जो मति (भावी स्वहितज्ञान) के हीन (ज्ञान की प्राप्ति रहित) है। सो अमानित्वादि शमादिरूप कौन (किस) गुण की बात को कहता है ? या कह सकता है। गुण का आचरण तो उससे दूर रहता है, शुभ गुण की चर्चा भी वह नहीं कर सकता है। क्योंकि उसके मन में सदा लालच (लोभ) रहता है तथा मिथ्या वस्तुओं की आशा लगी रहती है, वे लोभ और आशा दोनों पापजनक दुःख स्वरूप हैं, इत्यादि। भाव है कि वस्तुतः शुद्धि (शौच) वह है

कि जिससे सन्तोष हो और सन्तोष वह है कि जिससे लोभ और आशा का अभाव हो, कुल गोत्रादि की शुद्धिमात्र से सन्तोष नहीं होता है, न्यायोपार्जित भोग भोजनादि से सन्तोष विवेकादि होते हैं। श्रुति है कि "आहार शुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः" आहार की शुद्धि से बुद्धि की शुद्धि होती है, उससे अवश्य उपदेशादि के समय पर स्मृति होती है कि जिससे कुमार्ग में प्रवृत्ति नहीं होती है। न्याय प्राप्त वस्तु में सन्तोष नहीं करके अन्याय से भी अधिकाधिक की इच्छा होना लोभ कहा जाता है और अप्राप्त भावी की इच्छा आशा कही जाती है। तहाँ "अज्ञानप्रभवो लोभो भूतानां दृश्यते सदा। अस्थिरत्वं च भोगानां दृष्ट्वा ज्ञात्वा निवर्तते ॥ म० शा० १६३।११" यावद्विषयभोगाशा जीवाख्या तावदात्मनः। अविवेकेन सम्पन्ना साप्याशा न हि वस्तुतः ॥ योगवा० प्र० ६।१२१।१"

साखी—मुये हौ मरि जाहुगे, मुये कि बाजी ढोल।
स्वप्न सनेही जग भया, सहिदानी रहि बोल ॥११॥

कामलोभादिभिर्विद्वन् बहुकृत्वो मृतो भवान्।
सत्यज्ञाने पुनस्त्वं हि मरिष्यसि पुनः पुनः ॥२०॥
एतस्य मरणस्यैव भेरी लोके निहन्यते।
अतो यत्नो विधातव्यो येन मृत्यु र्न बाधते ॥२१॥

ये लोकास्तं परित्यज्य स्वप्नवन् मायिकेषु वै।
स्नेहं बध्नन्ति नश्यन्ति तेषां नामैव शिष्यते ॥२२॥
न ज्ञानं लभ्यते तैश्च न सौख्यं न परं पदम्।
खिद्यन्ते ते मुधा शश्वत् कालपाशवशंगताः ॥२३॥

मायावशे प्राप्यविमूढमानसाः,
सुवञ्चिताः कामविमोहजालकैः।
भीताः प्रतीताश्च विलज्जिताः क्वचित्,
स्निग्धाः क्वचित् मृत्युमुखे प्रयान्तिहि ॥२४॥११॥

उक्त कामादिवश अनन्त बार मुये हो और फिर मरकर कामादिवश कहीं जाओगे और मुये (मरने) पर मरण का ही ढोल बाजा और बाजता है। अतः जागो और सङ्गादि स्वप्न को त्यागो। क्योंकि जो संसारी स्वप्न तुल्य संगादि को नहीं त्यागकर, स्वप्न तुल्य मिथ्या संसार के स्नेही हुए वे लोग नष्ट ही हो गये, उनकी (बोल) नाममात्र की सहिदानी (निशानी चिन्ह) कुछ

दिन के लिये रह गई। अतः जन्मादि संसार से रहित अविनाशी स्थिति के लिये मोह निन्द से जागना चाहिये। क्योंकि "मोह निसा सब सोवनहारा। देखहि स्वप्न अनेक प्रकारा॥ जानिय तबहि जीव जग जागा। जब सब विषय विलास विरागा॥ ११॥ इत्यादि।

मोह स्नेह और कुसङ्गादि को त्यागने के लिये, शरीर और जन्मादि का आगे वर्णन है कि—

रमैनी १२

माटिक कोट पषाणक ताला। सोई बन सोई रखवाला॥

आत्मनो राजवर्यस्य[1] बुद्धिर्वै नगरी शुभा।
सत्त्वांशोऽस्य गृहं तत्र स सुव्यक्तोऽत्र[2] तिष्ठति॥२५॥
मृन्मयश्चास्य देहोऽयं प्रकारो[3] विद्यते महान्।
क्षणे[4] भङ्गुरतायुक्तो वालुकागृहवन्मतः॥२६॥
मनः पाषाणवच्चैतल्लिङ्गदेहस्तथैव च।
आमुक्तेः स्थायिरूपत्वाद् व्यक्ताव्यक्तस्वरूपतः॥२७॥
मन एव वनं चेदमशुद्धं स्याद् विकल्पनैः।
विषयाक्तं[5] भयस्थानं जीवसंसृतिकारणम्॥२८॥
लिङ्गे चास्मिन् गृहे देहे कपाटयन्त्रिकादिकम्[6]।
रक्षकं चास्य देहस्य जीवस्याविषयो[7] मनः॥२९॥

चेतन स्वरूप जीवात्मा राजा है, सूक्ष्म देह उसकी नगरी है, बुद्धिगत (सत्त्वांश) उसका गृह है, उसमें व्यक्तरूप से हृदय में आत्मा रहता है और मृत्तिका आदि पाँच स्थूल भूतों के कार्यरूप यह स्थूल देह उसका कोट (किला) है, इसी में मिट्टी प्रधान है। अतः इसको माटी का कोट कहा गया है, यह माटी के कोट के समान क्षणभंगुर भी है और चिरस्थायी पाषाण तुल्य, मोक्षपर्यन्त व्यक्ताव्यक्तरूप से रहनेवाला सूक्ष्म शरीर ही उस कोट का

---

१ राजा चासौ वर्य उत्तमः प्रधानमिति यावत्, अथवा राज्ञां वर्यः, पुरुषोत्तमवत्समासः, न निर्धारणे, इति निषेधो नेति—इति भावः। राजभी राजभ्यो वा वर्य इति बोध्यम्। २ अत्र संसारे। ३ प्रकारो वरण इति। ४ क्षणे व्यतीते सतिभंगुरतायुक्तः। ५ विषयैरक्तं व्याप्तमित्यर्थः। ६ यन्त्रिका = तालेति-प्रसिद्धम्। ह्रस्वं यन्त्रं यन्त्रिका, गुधूवीपचीत्याद्युणादित्रप्रत्ययान्ताद् ह्रस्वार्थे कप्रत्ययः, स्त्रीत्वं लोकात्। ७ उत्तरपदप्राधान्यात्पुंस्त्वम्।

रक्षक फाटक ताला आदि स्वरूप है तथा जीवात्मा का भी इस स्थूल में निवासादि का हेतु सूक्ष्म शरीर ही है तथा सूक्ष्म देह में वर्तमान कामवासनादि भी रक्षक होते हैं, सोई सूक्ष्म देह कामादिरूप से मूल भय का स्थानरूप सघन वन है और स्थूल देह का रखवाला (रक्षक) है।

सो वन देखत जीव डराना। ब्राह्मण वैष्णव एकै जाना॥
ज्योंरि किसान किसानी करई। उपजै खेत बीज नहिं परई॥

विकल्पवन्मनो दृष्ट्वा वनभूतं हि जीविकाः।
तस्माद् भीता अनात्मानममन्वत हि रक्षकम्॥३०॥
ब्राह्मणं वैष्णवं सर्वं ह्येकं कृत्वा त्वमन्वत।
पूज्यं नैव स्वमात्मानं सर्वदुःखभयापहम्॥३१॥
ब्राह्मणा वैष्णवाद्या वा ह्येकमन्यं स्म जानते।
भुक्तये मुक्तये चैव स्वात्मानं नैव मुक्तये॥३२॥
यथा कृषीवलः कश्चित् कृषिं कुर्याद्विचक्षणः।
पलालस्यातिवृद्धिः स्यात्तत्र चान्नं लगेन्नहि॥३३॥
तथैवानात्मभानेन ध्यानाद्यैश्च[1] भवेत् सदा।
[2]शरीरक्षेत्रवृद्धि वै बोधबीजं[3] न जायते॥३४॥

भ्रम संशयादियुक्त उस वन को देखकर (समझकर) जब जीव डरा, मरणादि से भयभीत हुआ, तब वैष्णवादि शरीरधारी (शरीरों के अभिमानी) जीवों ने भय से रक्षक किसी तटस्थ एकदेव को समझा और माना, सद्गुरु सङ्ग त्यागादि के बिना सर्वात्माराम को बहुत लोगों ने नहीं समझा कि जिससे सर्वथा भय का अभाव हो। फिर अज्ञान कामादिपूर्वक, उस देव की भक्ति कर्मादि करने से ऐसी दशा हुई कि जैसे कोई किसान किसानी (खेती) करे खेत में डाँठ घास अधिक उपजे। परन्तु उसमें बीज (अन्न दाना) नहीं परे (नहीं लगे) तैसे ही तटस्थ देव की भक्ति सकाम कर्मादि से स्वर्गादि में देहरूप खेत उत्पन्न होता है तथा देह से पुत्र-पौत्रादि धन राज्यादि खेत उत्पन्न होते हैं। परन्तु आत्मज्ञान मोक्ष शान्ति सुखरूप बीज नहीं प्राप्त होता है।

---

१ ध्यानमाद्यं यत्रतैः। २ शरीरमेव क्षेत्रं तस्यवृद्धिः, तत्र कामतृष्णा कर्मादीनां च वृद्धिरित्यर्थः। ३ बोधात्मकं बीजं, बोधस्य वा बीजं विचारवैराग्यादिकमिति।

उक्तरीति से बीज नहीं पड़ने पर सांसारिक क्रीड़ा खैंचतानादि में लगे रहने से भावी ज्ञानादि की सम्भावना नहीं की जा सकती है। अतः भावी ज्ञानादि के लिये उपदेश है कि—

छाड़ि देहु नर झेलिक झेला। बूडे दोऊ गुरु औ चेला ॥
तीसर बूड़े पारथि भाई। जिन वन दाह्यो दावा लाई ॥

भो नरा स्त्यज्यतामस्माद् भवाम्भोधौ विचेष्टनम्।
क्रीडितव्यं तु नैवैवमत्रत्यैः वस्तुभिः क्वचित् ॥३५॥
अत्रैव क्रीडमानौ द्वौ गुरुशिष्यौ न्यमज्जताम्।
व्यर्थवादविवादाद्यैः कालस्य यापने रतौ ॥३६॥
ज्ञानाभ्यासं विना यस्तु हठयोगरतो नरः।
रक्षकः स्वेन्द्रियादीनां विकल्पवनवाधने ॥३७॥
हठेनैव प्रवृत्तोऽभूत् स न्यमज्जत् तृतीयकः ॥३८॥
एवं ये रक्षकाः केचित् क्रोधदावाग्निनाऽदहन्।
संसारवनमेतेऽपि न्यमज्जन् व्यसनग्रहात् ॥३९॥

हे मनुष्यो! अब भी इस संसार झेलिक (झील=अगाध विषय जलाशय) के झेला (क्रीड़ा) क्रिया राग-द्वेषादि को छोड़ दो। क्योंकि इसे छोड़ने के बिना गुरु और चेला दोनों संसार में बूड़ गये और बूड़ते हैं। उन दोनों के पारथि (रक्षक) भ्राता तुल्य तीसरे देव सेव्य राजा आदि भी बूड़ गये कि जिन्होंने स्वार्थवश संसार वन को दावानल लगाकर जलाया है अर्थात् जो देव राजा आदि अज्ञ जीव पर क्रोधादि करके उसको पीड़ित करते हैं सो संसार में स्वयं गोता खाते हैं। अतः परम श्रेयः के लिये देवादि की आशा को त्याग कर, वैराग्यादिपूर्वक आत्मानुभव कर्तव्य है। यद्यपि अर्जुन ने खाण्डव नामक वन को जलाया था और युद्ध स्थान में भगवान् से प्राप्त ज्ञान को विषयासक्ति आदि से भूल गया था तो फिर पूछने पर भगवान् अनुगीता से समझाया ऐसी कथा है तथापि यह उस व्यक्ति दृष्टि से वर्णन नहीं है हिन्दी में रक्षक को पारथी और पारधी भी कहते हैं, काम, क्रोध जनित व्यसनों का मनु में वर्णन है, उनके द्वारा राजा लोग प्रजा को पीड़ित करते हैं योगीजन हठ से संसार को दग्ध करना चाहते हैं, उन सबके तात्पर्य से यह वर्णन है, अर्जुन पार्थ कहलाते हैं, पारथि नहीं।

रक्षक माने गये देव में भी बहुत भेद माना गया है, उनमें कोई सुदेव और कोई कुदेव भी होते हैं, भूत प्रेत, पिचाशादि कुदेव माने गये हैं, तहाँ जैसे कुत्ता से सियार डरता है और बली सियार से कुत्ता भी डरता है, तैसे मनुष्य से कुदेव डरते हैं और कुदेव से मनुष्य डरता है। परन्तु किसी के वचनादि से उन्हें पूज्यादि मान कर उनकी स्तुति आदि मनुष्य करता है, तहाँ अनिष्ट की ही प्राप्ति अन्त में होती है। अतः कहते हैं कि—

भूँकि भूँकि कूकुर मरि गयऊ। काज न एक स्यार से भयऊ॥

विवेकेन विना श्वेव भषित्वेवेह मानवः।
अज्ञस्य जम्बुकस्येव श्रुत्वा वाचोविनश्यति ॥४०॥
श्रुतिपाठादि कुर्वाणा निष्फलं सफलं यथा।
लभन्ते न फलं सत्यं मोक्षं विज्ञानमन्तरा ॥४१॥
नैकं कार्यं समीचीनं वञ्चकादऽभवत् कचित्।
कस्यापिभुवने लोकास्तं तथाप्यनुयान्ति हि ॥४२॥
सालोक्य सामीप्य सरूपतादि भेदस्तु सत्कर्मविशेषसिद्धः।
न कर्मसिद्धस्य तु नित्यतेति विचार्य विज्ञो विरतिं भजेद्धि[1] ॥४३॥

अज्ञ मनुष्यों ने स्वयं हिंसक कूकुर तुल्य होकर तथा कूकुर तुल्य की वाणी को सुनकर, हिंसक प्रेत पिचाशादि की स्तुति की, भूक-भूक कर वे मनुष्य मर गये, परन्तु सियार तुल्य कुदेव से कभी किसी का सच्चा एक कार्य भी सिद्ध नहीं हुआ, किन्तु कष्ट ही हुआ और होता है सो शब्द से आगे कहा गया है कि "यह भ्रमभूत सकल जग खाया। जिन जिन पूजा तिन जहडाया॥" इत्यादि।

साखी—मूस बिलाई एक सँग, कहु कैसे रहि जाय।
अचरज एक देखहु हो (सन्तो), हस्ती सिंहहि खाय ॥१२॥

मार्जारेण समं यद्वत् मूषिको न वितिष्ठते।
धूर्तैश्चैव कुदेवैश्च तथैवायं जनो न हि ॥४४॥

---

१ "वैराग्याभ्यासवशतस्तथा तत्त्वावबोधनात्। संसारस्तीर्यते तेन तेष्वेवाभ्यासमाहर ॥१॥ सम्यक् तत्त्वावबोधेन दुर्बोधे क्षयमागते। गलिते वासनावेशे विशोकं प्राप्यतेपदम् ॥२॥ योगवा॰ नि॰ स॰ २।२१-२२" "अनर्थायाऽर्थ सम्पत्ति भोगौघो भवरोगदः। आपदः सम्पदः सर्वाः सर्वत्रानादरो जयः ॥१॥ स्थितिप्र॰ स॰ ३२।५८"

साधोः ! निरीक्ष्यतामेतदाश्चर्यं विद्यते महत् ।
हरिवत्सज्जनाञ्छिष्यान् धूर्ताः खादन्त्यनेकपाः ॥४५॥
नाशयन्ति ह्यमार्गेण स्वयं नष्टा भवन्ति च ।
न तत्सङ्गो विधेयोऽतः सावधानेन भूयताम् ॥४६॥
कुसङ्गमाच्चैव कुदेवपूजनात् सुखं न तिष्ठन्ति हि जातु दुर्धियः ।
सिंहोऽप्यमार्गेणहिसम्पतन्नरो विनाश्यते धूर्तगजेन्द्रलीलया ॥४७॥१२॥

इतिहनुमदीयेरमैनीरसोद्रेके मनोमायामहत्व वर्णनं नाम पञ्चमः प्रवाहः ॥५॥

कहो और समझो तो मूस तुल्य अज्ञ मनुष्य, बिल्ली तुल्य कुदेव मायावी के संग में एकत्र कैसे सुख शान्तिपूर्वक रह सकते हैं ? अतः एक साथ होने पर मनुष्य मनुष्यतायुक्त नहीं रह जाते हैं। किन्तु मनुष्यता से च्युत नष्ट हो जाते हैं। यद्यपि कुदेव उनकी शक्ति माया हस्ती तुल्य है और मनुष्य उनके प्रति सिंह तुल्य है, तथापि एक आश्चर्य देखो (समझो) कि अविवेक से मनुष्य मूस तुल्य हो गया है। अतः इस सिंह को हस्ती खाता (पीड़ित करता) है। इस पीड़ा से बचने के लिए सत्सङ्गादि द्वारा विवेक का सम्पादन करना चाहिए, विचार परायण होना चाहिये, कहा गया है कि "करु विचार जे सब दुख जाई। परिहरि झूठा केर सगाई ॥ रमैनी २३" इत्यादि "सङ्गो हि बाध्यते लोके निःसङ्गः सुखमश्नुते। तस्मात् सङ्गः परित्याज्यः सर्वदा सुखमिच्छता ॥ १ ॥ १२"

अथ द्रव्यादिजन्य संसारिदशा प्रकरण ६

रमैनी १३

नाहि प्रतीजै यही संसारा। द्रव्यक चोट कठिन कै मारा ॥
सो तो शेषहुँ जाय लुकाई। काहू[1] को परतीति न आई ॥
चले लोग सब मूल गमाई। यम की बाढि काटि नहिं आई ॥

संसारिणो न वैसत्यं विश्वसन्ति कदाचन ।
यतो द्रव्येच्छया ह्येते वर्तन्ते विह्वला इव ॥१॥
भोः साधो ! न त्वया किञ्चित् सत्यमत्र प्रतीयताम् ।
सुखदं वा पवित्रं वा कथञ्चिदप्यनामयम् ॥२॥

---

१ "देखी तो सब कहत हैं, अनदेखी नहिं कोय । अनदेखी तो सो कहै, भीतर पैठा होय ॥ साखी ३७१"

सत्यत्वादि प्रतितौ हि बाधतेऽस्य स्पृहाभृशम्।
कठोराघाततुल्याच स्पृहा भवति दुःखदा ॥३॥
अनयैवाविनाश्यात्मा शिष्यमाणो न लक्ष्यते।
कस्यापि प्रत्ययो जातु नानया सुदृढोऽभवत् ॥४॥
मानुष्यमात्मतत्वं च मूलतत्वं विहाय वै।
यन्त्यन्यत्र जनास्तेषां यमबन्धो न खण्यते ॥५॥

विवेकादि के विना इस संसार में वर्तमान अविनाशी सत्यात्मा राम का प्रतीजै (प्रतीति विश्वास = निश्चय) किसी को नहीं होता है। क्योंकि अविवेकियों को कनकादिरूप द्रव्य की चोट (चाह इच्छा) कठिन द्रव्य के चोट (मार) तुल्य लगी रहती है कि जिससे सब बदहोश हुए रहते हैं। अथवा उपदेश है कि स्वप्न तुल्य संसार की सत्यादिरूप से प्रतीति नहीं करो, न सत्यादि रूपता का विश्वास करो। क्योंकि ऐसी प्रतीति और विश्वास से द्रव्यादि की इच्छा कठिन मार तुल्य पीड़ित करती है। फिर संसार में सत्यादि के विश्वास से तथा सत्यात्मा सत्योपदेशादि में अविश्वास से महाप्रलयादि में भी सो शेष (बाकी) रहनेवाला अविनाशी सर्वात्मा उस अविवेकी से लुकाय (छिप) जाता है। अतः द्रव्यादि के इच्छुक अविवेकी किसी मनुष्य को उस अविनाशी की प्रतीति (ज्ञान) नहीं आई (नहीं प्राप्त हुई)। अतः वे लोग मूलधन सत्यात्मा को गमाय (कोशमय धूल में डार) कर चले, अतएव उनसे यम की बाढ़ी, वृद्धि वरहा कठिन बन्धन) काटी नहीं जाती है, बार बार यमयातनादि वे सहते हैं। निर्बन्ध होने के लिये सत्योपदेशों में विश्वसादिपूर्वक विवेकादि कर्तव्य है।

उक्त विश्वास विवेकादि भो इस मनुष्य तन के रहते ही कर्तव्य है, अन्य जन्मादि की आशा करना उचित नहीं है, इत्यादि आशय से कहते हैं कि—

आजु काज है काल्ह अकाजा। चलेउ लादि दिगन्तर राजा ॥
सहज विचारे मूल गमाई । लाभ ते हानि होय रि भाई ॥

मृत्युबन्धविभेदात्म स्वात्मानन्दाप्ति लक्षणम्।
कार्यं सिद्ध्यति चात्रैव नान्यत्रेति विनिश्चयः ॥६॥
अहो प्राप्य स्वतन्त्रत्वं राजा जीवः प्रतिष्ठते।
अन्यत्र पुण्यपापादि गृहीत्वा दुःसहं भरम् ॥७॥
साधयत्यत्र न स्वर्गं मोक्षं वा न कथञ्चन।
स्वभावसिद्धसिद्ध्यर्थं विचारान् कुरुते सदा ॥८॥

प्रारब्धेन हि सिद्धयन्ति भोगाश्च सर्वसम्पदः ।
तल्लाभार्थं विचाराद्यैस्तल्लाभेन सुखेन च ॥९॥
तुच्छे न महती[1] हानि र्जायते सर्वदा नृणाम् ।
एतावद्धि न जानन्ति मूढाः कर्मविमोहिताः ॥१०॥

"इह चेदवेदिदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदिन्महती विनष्टिः । केन २।५" इत्यादि शास्त्र के अनुसार आजु (इस मानव देह में ही) आत्मज्ञान यमबन्धनादि का नाशरूप कार्य हो सकता है। सत्यानन्द की प्राप्ति मूलधन की रक्षा आज ही हो सकती है। आज इस कार्य के नहीं सिद्ध होने पर काल्ह (जन्मान्तर में) अकाज (महाविनाश) होता है और कष्ट यमयातनादि सहना पड़ता है। क्योंकि यहाँ ज्ञान जीवन्मुक्ति नहीं होने पर इस तनधनादि के राजा जीव कर्मवासनादि के दुःसह बोझ (भार) को अपने अन्तःकरण में लाद कर किसी दिशा देशान्तरादि में चला और चलता है, फिर उसके अनुसार जन्म आयु और भोगादि पाता है, मुक्त नहीं होता है, तो भी अज्ञ जीव मूलधन को गमाय गमा (भूल) कर, प्रारब्धानुसार सहज (अनायास) प्राप्त होने वाले द्रव्यादि का विचार करता है, उनकी प्राप्ति को लाभ समझता है, परन्तु हे भाई ज्ञानादि के बिना इस लाभ से भारी हानी होती है, अर्थात् धर्मादि का भी ज्ञान सन्तोषादि हो तो न्यायार्जित धनादि भोगदानादि से सुख शान्ति मिल सकती है, परन्तु ज्ञानादि के बिना लोभादिवश मनुष्य न्याय को त्याग देते हैं, अतः हानि ही होती है।

ओछी मती चन्द्र गो अथई । त्रिकुटी सङ्गम स्वामी बसई ॥
तबही विष्णु कहा समुझाई । मैथुन अष्ट तुम जीतहु जाई ॥

द्रव्यादिसङ्गमाच्चेयं मतिस्तुच्छा विनश्यति ।
ह्रस्वो बुद्धयात्मचन्द्रो वा स्वेन्द्रियेषु विलीयते ॥११॥
एवं जाते त्वयं स्वामी भ्रूमध्यं प्राप्य तिष्ठति ।
गृह्णन्सदेन्द्रियैरर्थान् मोदं बाह्येषु[2] मन्यते ॥१२॥

---

१ "इहैव सन्तोऽथविद्मस्तद्वयं न चेदवेदीर्महतीविनष्टिः। ये तद्विदुरमृतास्ते भवन्त्यथेतरे दुःखमेवापियन्ति । बृ० ४।४ १४"

२ "पराञ्चिखानि व्यंतृणत् स्वयंभूस्तस्मात् पराङ्पश्यति नान्तरात्मन् । कठ०२।१।१" यहाँ कोई त्रिकुटी में बसनेवाला स्वामी ईश्वर को समझते हैं। परन्तु हृदय गुहा में बसनेवाला ईश्वर को शास्त्र में कहा गया है, सुषुप्ति में

तं निरीक्ष्य तथा विष्णुः सात्त्विकः पुरुषोत्तमः ।
उवाच सर्वजीवेभ्यो मनुष्येभ्यो विशेषतः ॥१३॥
गत्वा स्वे हृदये स्थित्वा त्वष्टधा मैथुनानि वै ।
त्यज्यन्तामात्मनश्चैव विचारः क्रियतां सदा ॥१४॥

स्त्री द्रव्यादि के सङ्ग चिन्तनादि से ओछी (तुच्छ) मति (बुद्धि) रूप चन्द्रमा तुच्छ प्रकाश करके गो (इन्द्रियों) में अथई (अस्त लीन होता है) अर्थात् बुद्धि इन्द्रियों द्वारा भोग परायण होती है अथवा कुविचरादि से अथई गौ (नष्ट ही हो गई) तथा नष्ट ही होती है, क्योंकि अज्ञों में वह मति ओछी रहती है, पूर्ण नहीं । फिर भावी सुबुद्धि से रहित देहादि गेहादि के स्वामीत्व के अभिमानी जीव त्रिकुटी संगम (दोनों भ्रू के बीच) में बसने लगा, हृदय में स्थिर होकर सद्विचार कभी नहीं किया न करता है । तब इसकी ऐसी दशा को देखकर विष्णु (सात्त्विक परहित पुरुषोत्तम) ने उन जीवों को समझाकर कहा कि तुम सत्सङ्गादि में जाकर, प्रथम आठ प्रकार के मैथुन (मिथुन भावरूप सङ्ग) को जीतो । (त्यागो)—"योऽन्य दुःखानि विज्ञाय साधुवाक्यैः प्रबोधयेत् । स एव विष्णुः सत्वस्थः यतः परहिते स्थितः ॥१॥ ना. पु. अ. ७।६८" "दर्शनं स्पर्शनं केलिः कीर्तनं गुणभाषणम् । संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रिया निवृत्तिरेवच ॥ २ ॥ एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः । विपरीतं ब्रह्मचर्यमनुष्ठेयं मुमुक्षुभिः ॥ ३ ॥ कठरूद्रोपनिषद् ६"

तब सनकादिक तत्त्व विचारा । जैसे रंक पाव धन पारा ॥
औ मर्याद बहुत सुख लागा । यहि लेखे सब संशय भागा ॥

सनकाद्यैरिदं यैस्तु श्रुत्वा त्यागपुरस्सरम् ।
सुविचारः कृतस्तै र्हि स्वात्मा लब्धोऽजरोऽमरः ॥१५॥
यथा रङ्को लभेत क्वाप्यपारं धनमुत्तमम् ।
अञ्जसा तेन मोदेत तथैते मोदमाप्नुवन् ॥१६॥

जीव भी हृदय में वशता है अतएव सत ईश्वर से उस समय अभिन्न हो जाता है, जाग्रत काल में जीव ही त्रिकुटी में बसता है कि जिसको मैथुन त्यागने के लिये उपदेश दिया जाता है । "शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः । भ. गी. १५।८" यहाँ ईश्वर शब्द से भी जीव को कहा गया है । अतः स्वामी शब्द वाच्यता उसमें उचित ही है ।

त्यागार्थं मैथुनादीनामुपदेशेन कोऽपवा।
वेषिणस्त्यागमात्रेण तत्त्वप्राप्तिं प्रमेनिरे ॥१७॥
यथारङ्कोऽतितुच्छेन धनेनापि हि मन्यते।
धनिकत्वं तथैतेऽपि मोक्षप्राप्तिं प्रमेनिरे ॥१८॥
सुविचारेण ते धन्याः प्रतिष्ठां लेभिरे सदा।
अक्षयं च सुखं तेनां ज्ञानाच्च संशया गताः ॥१९॥
वेषिणश्च प्रतिष्ठां वा लब्धवन्तः सुखं तथा।
संशयो गतवत्तेन विचारः क्रियतां कथम् ॥२०॥

उक्त श्रीविष्णु के उपदेश से जिन सनकादिक (विरक्तों) ने तब (उपदेश के बाद) तत्त्व (सत्य) का विचार किया, उन्होंने उस मूलधन को इस प्रकार प्राप्त किया कि जैसे कोई रंक (दरिद्र) कहीं पड़ा हुआ धन को आनायास ही पा जाय, और परम सुखी हो जाय। क्योंकि इस मूलधन को पाने वाले विरक्तों की लोक में भी मर्यादा (प्रतिष्ठा) हुई, और बहुत सुख उन्हें लगा, (प्राप्त हुआ) इस अनन्त सुख स्वरूप आत्मा के लेखे (अपरोक्ष करने) से उनके सब संशय अज्ञान भ्रम भग गये (नष्ट हो गये)।

अथवा श्री विष्णु के उपदेश के बाद जिन सनकादिकों (त्यागाश्रम के वेषधारियों) ने त्याग मात्र को ही तत्त्व विचारा (समझा) और जैसे रंक कहीं पड़ा हुआ तुच्छ धन को पाकर सुखी हो, तैसे त्याग मात्र से वे लोग सुखी हुए। क्योंकि लोक में मर्यादा हुई, कि जिससे उन को बहुत सुख लगा, उस प्रतिष्ठा सुख को देखते ही मानो उनका सब संशय भाग गया। फिर विचारादि किस फल के लिये करें।

देखिन उतपति लागु न वारा। एक मरै एक करै विचारा ॥
मुये गये की कोइ न कहई। झूठी आश लागि जग रहई ॥

आत्मनोऽनुभवादेव क्षणादुत्पत्तयोऽखिलाः।
ये हिं दृष्टास्त्वतत्त्वेन तेषां स्युः संशयाः कुतः ॥२१॥
विवेकेन विनैतेनाऽज्ञ एको म्रियतेऽपरः।
विचारं वै धनाद्यर्थं कुरुते नात्मनः सदा ॥२२॥
प्रकृतौ वा विलीयापि स्वोत्पत्तिं लेभिरे पुनः।
स्वल्पेनैव हि कालेन वेषादेरभिमानिनः ॥२३॥
पुनश्चान्यान्यदेहाय विचारं ते प्रकुर्वते।
न ज्ञानाय न मोक्षाय वेषाद्यै मुक्तताधियः ॥२४॥

मृतानां च धनाद्यर्थं त्यक्त्वैव गच्छतां सदा।
वार्ता कोऽपि न च ब्रूते जगदाशां न मुञ्चति ॥२५॥
आशयाऽनृतयैवायं मृत्वामृत्वापि जायते।
कुतः शान्तिं कुतो मोक्षं लभतां वै कुधीर्जनः ॥२६॥
मृतानां वाऽत्रदेहानामनन्तानां न केऽपि हि।
वार्तां संकथयन्तीह मिथ्याशा बाधते ततः ॥२७॥

त्यागपूर्वक विचारादि करने वाले संशयादि से रहित होकर आत्मज्ञान-पूर्वक संसार के उत्पत्ति, प्रलय, गति, अगति, विद्या और अविद्या को भी देख लिये। अतः भगवान् स्वरूप हो गये और उसे देखने में बार (बहुत दिन-देर) नहीं लगा। क्योंकि एक सर्वात्माराम के ज्ञान से ही सबका ज्ञान हो गया। एक आत्मा को सत्य समझकर अन्य को मिथ्या मायामात्र समझ लिया। उन्होंने समझा कि एक आत्मा ही अज्ञ देहाभिमानी होकर मरता है। वही एक आत्मा मरण से रहित होने के लिये विचार करता है, एक आत्मा से भिन्न नाना जीवों की सत्ता नहीं है। अथवा केवल वेषधारी अपनी उत्पत्ति को देखिन (पाये) इसमें देर = अधिक समय नहीं लगा। क्योंकि वे लोग सदा एक शरीर से मरते हैं, एक अन्य देह के लिये विचार कर्मादि करते हैं, मोक्ष के लिये विचारादि नहीं करते हैं। सद्गुरु कबीर साहब कहते हैं कि मुये गये की (मरकर खाली हाथ गये की) बात भी कोई अज्ञ नहीं कहता है। अतः झूठी वस्तुओं की आशा संसारी जीवों में लगी रहती है कि जिस आशा तृष्णादि से फिर जन्ममरणादि होते हैं। अतः मैथुनों के त्यागपूर्वक विचारादि से आत्मानुभव द्वारा आशा आदि निवारणीय हैं।

आशा आदि को त्यागने के लिये साधन का उपदेश है कि—

साखी—जरत जरत ते बाँचेहु, काहु करहु गोहार।
विष विषया कहँ खायेहु, रात दिवस मिलि झार ॥१३॥

भोः सौम्यानन्तयोन्यादौ गर्भाद्यग्नौ पुनः पुनः।
तापत्रयेण संतप्य भाग्येन मानवो भवान् ॥२८॥
भूत्वा तिष्ठति सुस्वस्थ इदानीं सद्गुरोः प्रभोः।
कस्यापि स्तुतिमाह्वानं कुरुतां वै समादरात् ॥२९॥
भुक्तस्य हृदि सक्तस्य विषयाख्यविषस्य[1] च।
वासनाद्यात्मना शश्वत् मिलित्वा तेन वै सदा ॥३०॥

---

१ न विषं कालकूटाख्यं संसारो विषमुच्यते। तस्मात्सर्वप्रयत्नेन संहरेत

निवृत्तावेव सद्यत्नः कर्तव्यो नान्यभक्षणे।
अन्यथा भवबन्धस्ते प्रत्यहं सुदृढो भवेत् ॥३१॥

अनन्तयोनौ नरकाग्निसंघके तापैस्त्रिभिस्त्वं मुहुरत्र संज्वलन्।
केनापि पूज्येन हि कर्मणा सखे मनुष्ययोनाविहजन्म लब्धवान् ॥३२॥
पुनर्यथा नो नरके निपातनं न यातना स्याच्च तथा विधीयताम्।
सद्यश्च मोहो ममता विधूयतां सवासनोऽसौ विषयो विसृज्यताम् ॥३३॥

हे मनुष्यों! अनन्तो बार गर्भ नरकादि अग्नियों में तापत्रय से जलते-जलते इस मानव स्वस्थ शरीर में कुछ बचे हो (शान्ति पाये हो) इस अवस्था में किसी सद्गुरु ज्ञानी सन्त को गोहार (पुकार) करो। उनसे मिलकर जो प्रथम विषय विष को खा (भोग) चुके हो, उसकी वासना आदिरूप विषों को रात, दिन सदा झारो (नष्ट करो) ब्रह्माभ्यास सत्सङ्गादि से वासना कामादि का निवारण करो, अन्य विष नहीं खावो, ऐसा अवसर फिर शीघ्र नहीं मिलेगा। १३

सम्बन्ध—उक्त विषय वासनादिरूप मायामय वस्तुओं को त्यागने के लिये उनमें दोष दर्शाया गया है कि—

रमैनी १४

बड़ सो पापी आहिं गुमानी। पाखण्ड रूप छल्यो नल जानी ॥
बामन रूप छल्यो बलि राजा। ब्राह्मण कीन्ह कौन को काजा ॥
ब्राह्मण हि सब कीन्हो चोरी। ब्राह्मणहि कहँ लागल खोरी ॥

अविद्या वासनाद्यात्मा माया सा मलिनाशया।
महापापत्मिका शश्वदहङ्कार विधायिनी ॥३४॥
अहङ्कारस्वरूपा च पाषण्ड छलरूपिणी।
तत्परा वञ्चनेऽज्ञानां विज्ञाच्च भयमेति सा ॥३५॥
विकृतां मानवाकारैर्मानवं ये तु जानते।
तान् सा वञ्चयते माया बहुरूपं विधाय वै ॥३६॥
खर्वरूपेण मायैव बलिराजमवञ्चयत्।
मायिनो[1] ब्राह्मणाश्चैवं कस्य कार्याण्यसाधयन् ॥३७॥

सुदारुणाम् ॥१॥ लिंगपु० अ० ८६।६" विषया विषवैषम्या वामा कामविमोहदा। रसाः सरसवैरस्या लुठन्नेषु न कोहतः ॥ २ ॥ योगवा० नि० ६३। ३६"
१ "क्षितिं वा देवलोकं वा गम्यतां यदि रोचते। अप्रमादश्च वः कार्यो ब्रह्म हि

वाच्यर्था नियतास्तेषां स्तेननेन हि ते द्विजाः ।
कृतवन्तोऽखिलं चौर्यं तद्दोषभागिनोऽभवन् ॥३८॥

सो (पूर्वोक्त) आँधरी, विषय वासना अविद्यादिरूप वाली माया बड़ (भारी) पापात्मिका और गुमानी (अहङ्कार स्वरूपा) है तथा पाखण्ड स्वरूपवाली है सो मनुष्यों को छल्यो (ठग लिया) है। उसको किसी महात्मा ने जानी है सो उससे बचे हैं, (गइ ठगौरी जब ठग पहिचाना) अथवा मनुष्य रूपता को प्राप्त उस माया को विवेक के बिना जिन्होंने उसको मनुष्य समझा, उन्हें उसने ठग लिया, क्योंकि वह पाखण्ड (ठग) स्वरूप ही है। उस माया ने ही बावन रूप से बलिराजा को ठगा, बावन के समान मायाबी ब्राह्मणों (उपदेशकों) ने भी किसका कार्य किया, किसी का नहीं। उलटा ऐसे ब्राह्मण (उपदेशक) ही सब चोरी किये, उस चोरी के खोरी (दोष) भी ब्राह्मण को ही लगा। अर्थात् "वाच्यर्था नियताः सर्वे वाङ्मूला वाग्विनिःसृताः। तां तु यः स्तेनयेद् वाचं स सर्वस्तेयकृन्नरः। मनु. ४।२५६" सब अर्थ फलादि वचन में नियत हैं, वचन मूलक हैं। वचन से निकले हैं, उस वचन की चोरी करने वाले (मिथ्या भाषी) उपदेशकादि सब चोरी के फल भागी होते हैं, अतः यह सर्वथा त्याज्य है।

ब्राह्मण कीन्हो ग्रन्थ पुराना। कैसहुं के मोहि मानुष जाना॥
इक से ब्रह्मे पन्थ चलाया। इक से हंस गोपालहि गाया॥
इक से शम्भू पन्थ चलाया। इक से भूत प्रेत मन लाया॥

केचिदल्पश्रुता ग्रन्थान् पुराणाद्यान्निजेच्छया।
चक्रुर्मानवतायां वै कथञ्चित् स्वेषु सिद्धये ॥३९॥
मायात्वस्यहि गुप्त्यर्थं सन्तो मायामयाश्रते।
यद्वा ग्रन्थान् विनिर्माय तेऽन्येषु सज्जनेष्वपि ॥४०॥
कथञ्चिद् मानवत्वं हि मेनिरे नाधिकारिताम्[1]।
स्वर्गापवर्गयोस्तद्वच्छास्त्रादीनां कथञ्चन ॥४१॥

प्रचुरच्छलम् ॥ भा. शा. अ. ३३८।५५" हिमालय से भूमि पर जाने के लिये, जैमिनि शुकादि चार शिष्यों ने श्री व्यासदेव से आज्ञा माँगी, तब उन्होंने कहा कि भूमि या देवलोक में जहाँ जाने की इच्छा हो, तहाँ जावो, परन्तु सावधान रहना, ब्रह्म (ब्राह्मण) बहुत छली हैं।

१ ओंकारोच्चारणाद्धोमाच्छालग्रामशिलार्चनात्। मद्यं पक्वान्नदानाच्च

ते चैकेन प्रबन्धेन ब्रह्ममार्गं विनिर्ममुः ।
हंसं गोपालमेकेन गीतवन्तश्च सर्वथा ॥४२॥
शम्भुमार्गं तथैकेन चक्रुरेकेन ते पुनः ।
पुंसां मनांसि भूतादौ प्रेतादौ समयोजयन् ॥४३॥

मायावी ब्राह्मणों ने भी ग्रन्थपुराण की रचना की कि जिससे किसी प्रकार लोग मुझे मायावी (मायात्मक) नहीं समझें, किन्तु हम मानुष जाने जायँ, तथा वे लोग किसी प्रकार मुझे मनुष्य मात्र समझ पाये, ग्रन्थ पुराण के कर्ता ब्राह्मणादि सच्चे सन्त भक्त ज्ञानी के स्वरूप को प्रायः नहीं समझ पाये। अतः एक सत्यामा के ज्ञान के बिना किसी एक ग्रंथ से ब्रह्मा को तटस्थ ईश्वरादि सिद्ध करके ब्रह्मा के पूजनादि रूप पन्थ को चलाया गया। किसी एक ग्रंथ से हंसावतार को गाया, किसी से गोपाल को ही गाया। किसी एक ग्रंथ से शम्भू का शैव मार्ग चलाया। किसी एक ग्रंथ पुराण से मनुष्यों के मन को भूतप्रेतादि में लगाया गाया। 'पञ्चदशी प्र. ६' में कहा गया है कि "अन्तर्यामिनमारभ्यस्थावरान्तेशवादिनः। सन्त्यश्वत्थार्कवंशादेःकुलदैवतदर्शनात् ॥१॥ अद्वितीय ब्रह्मतत्वं न जानन्ति यदा तदा। भ्रान्ता एवाखिलास्तेषां क्वमुक्ति क्वेह वा सुखम् ॥२॥ अन्तर्यामी से स्थावर पर्यन्त को ईश्वर कहनेवाले हैं। क्योंकि पीपल आक, वांश आदि कुलदेव पूज्य देखे जाते हैं ॥१॥ परंतु अद्वितीय ब्रह्म को नहीं जानते हैं, तब सब भ्रान्त हैं। उनको मुक्ति और सुख कहाँ है ।२।

इक से पूजा जैनि विचारा। इक से निहुरि निवाज गुजारा ॥
कोउ काहू का हटा न माना। झूठा खसम कबीरन जाना ॥
तन मन मारि रहु मोर भक्ता। सत्य कबीर सत्य है वक्ता ॥

एवं पूजाविचारञ्च जैनतन्त्रविचारणाम् ।
नम्रीभूय निमाजं यत् तत्सर्वं समसाधयन् ॥४४॥
एकैकेन प्रबन्धेन साधयन्तश्च ते तदा ।
कस्यापि वारणं नैवामन्यन्तैते कुमार्गतः ॥४५॥

विप्रादन्यो व्रजेदधः ॥१॥ ब्रह्मवैवर्तपु.। कृष्ण जन्म खं०। अ. ८३।५२। इत्यादि बचनों के आशय से यहाँ का कथन है, क्योंकि क्षत्रिय वैश्य को भी ओंकारोच्चारार्णादि से बहिष्कृत किया गया है। ऐसे वचन व्यास जी के नहीं हो सकते हैं। भगवान् जो करमा के खिचड़ी सधना व्याध की पूजा आदि से प्रसन्न तृप्त होते हैं, उनकी तो कथा क्या कही जाय ?

असत्यं स्वामिनं चैतेऽमन्यन्त मूढमानवाः ।
गुरुभक्तजनेभ्यस्तु सत्यं सद्गुरुरुक्तवान् ॥४६॥
शरीरं स्वं मनश्चैवासत्यात्संरुध्य यत्नतः ।
[1]सत्ये सर्वात्मरूपे हि ध्रियतां तन्मनः सदा ॥४७॥

किसी एक ग्रन्थ से बहुविध पूजा का तथा जैनियों के मत का विचार किया, एक ग्रन्थ से निवाज गुजारा (निवाज पढ़ना सिद्ध किया) और कोई किसी का हटा (निवारण) को नहीं माना, जिसके मन में जो भासा उस मार्ग को वह सिद्ध किया और उस मार्ग में चलने लगा, सत्य का अन्वेषण सनातन मार्ग द्वारा नहीं किया । इससे एक सत्य सर्वात्मा स्वामी को नहीं जानकर, झूठा (मिथ्या = परिच्छिन्न) खसमों (स्वामियों) को कबीरन (कवियों) ने जाना है तथा उन झूठे खसमों को कबीरों (ज्ञानियों) ने नहीं जाना (माना) है । अतः कबीर साहब कहते हैं कि हे गुरुभक्तजनों ! उन झूठ खसम मार्गादि से अपने तन, मन को मारे (रोके) रहो और जो सत्य कबीर सत्यवक्ता हैं, उनकी बातों को सुनो ।

वह सत्य क्या है कि जिसके वक्ता सत्य कबीर हैं, ऐसी जिज्ञासा होने पर कहते हैं कि—

आपुहिं देवा आपुहि पाती । आपुहि कुल आपुहि है जाती ॥
सर्वभूत संसार निवासी । आपुहि खसम आपु सुखवासी ॥
कहइत मोहि भेल युग चारी । काके आगे कहौं पुकारी ॥

यः स्वयं सर्वदेवात्मा पत्राद्यात्मा च विद्यते ।
कुलजात्यादिरूपश्च सर्वभूतगुहाशयः ॥४८॥
सर्वभूतनिवासी यः सर्वस्य प्रभुरव्ययः ।
न्यायकारी स राजाऽस्ति राज्यवासी सुखी च सः ॥४९॥
स एवास्ते स्वयं ज्योतिः सत्यानन्दादिलक्षणः ।
ब्रुवतां तं गुरूणां च ह्यवर्तत चतुर्युगम् ॥५०॥

---

१ "सर्वं खल्विदं ब्रह्म । छा० ३।१४।१" भावाद्वैतमुपाश्रित्य सत्ताद्वैतमयात्मकम् । कर्माद्वैतमनादृत्य द्वैताद्वैतमयो भव । योगवा० उपशम प्र० २७" भावाद्वैतं सदा कुर्यात् क्रियाद्वैतं न कर्हिचित् । अद्वैतं सर्वभूतेषु नाद्वैतं गुरुणा सह । टीकास्था स्मृतिः ।

कस्याग्रे कथ्यतां चायं दुर्लभाऽस्याधिकारिता।
अन्येभ्यः कथितं सर्वं निष्फलं भवति ध्रुवम् ॥५१॥

सत्यात्मा किसी एक व्यक्ति स्वरूप नहीं है। किन्तु "आत्मैव देवताः सर्वाः सर्वमात्मन्यवस्थितम्। आत्मा वै जनयत्येषां कर्मयोगं शरीरिणाम्। मनु० अ० १२।११६" "इदं सर्वं यदयमात्मा। बृ० ४।५।७" पुरुष एवेदं विश्वं कर्मतपो ब्रह्म परामृतम्। मुण्ड० २।१।१०" इत्यादि शास्त्र के अनुसार आपुहि (आत्मा ही) सब देव स्वरूप सबका प्रकाशक है और आप ही देव पर चढ़ाई जानेवाली पाती (विल्वपत्रादि) है तथा आपही सब कुल और जाति है। अर्थात् सबकी एक ही सत्यात्मा है, भिन्न व्यक्तियाँ मायामय हैं। अतएव सर्वभूत (प्राणी) स्वरूप आत्मा है और सर्वभूतों में निवास करनेवाला अन्तर्यामी सर्वसाक्षी ईश्वर भी आत्मा ही है और आपही खसम (स्वामी राजा) है तथा राज्य में सुख से बसनेवाली प्रजा भी आपही है। श्री कबीर साहब कहते हैं कि इस प्रकार गुरुरूप से कहते हुए चार युग बीत गये। परन्तु लोग समझते नहीं है तो किसके आगे पुकार कर कहा जाय।

साखी—साँचहि कोई न मानई, झूठा के सँग जाय।
झूठहिं झूठा मिलि रहा, अहमक खेहा खाय ॥१४॥

सत्यं केपि न मन्यन्तेयान्ति चासत्यभाषिभिः।
मिलित्वा तैश्च तिष्ठन्ति सर्वेऽसत्यपरायणाः ॥५२॥
नाप्नुवन्ति ततः सौख्यं मोक्षं चाज्ञाः कथञ्चन।
भुञ्जते विषयान् तुच्छानहो माया कदर्थना ॥५३॥

मायामये स्वप्नसमे हि जन्तवः सत्यादिबुद्ध्या खलु सक्तचेतसः।
सत्यं न शृण्वन्ति न साधुसङ्गमे तिष्ठन्ति मूढा विषयेषु सङ्गताः ॥५४॥
कुवञ्चकै र्वञ्चितबुद्धयस्ततः सुखैर्विहीनाः परितो भ्रमन्ति ते।
स्वकर्मणा चार्जितमेव भुञ्जते तृणं फलं नैव सुखं सदव्ययम् ॥५५॥१४॥

इति हनुमदीये रमैनीरसोद्रेके द्रव्यादिरूपमायायां
विश्वासानर्हतावर्णनं नाम षष्ठः प्रवाहः ॥६॥

सत्य बात सत्य वस्तु सत्यात्मा को कोई नहीं मानता है। किन्तु सब झूठे के साथ में जाते हैं और स्वयं झूठा (असत्यभाषी) दूसरे झूठों से मिलकर रहते हैं। अतः ये अहमक (नादान मूर्ख) खेह खाते हैं (तुच्छ विषय भोगते हैं) मानो धूलि फाँकते हैं, सत्यानन्द को नहीं पाते हैं। उचित है कि सत्सङ्ग

सद्गुरु द्वारा सत्यानन्द को प्राप्त करें। परमार्थस्वरूप से सत्यात्मा एक है, व्यावहारिकस्वरूप अनंत है। अतः उपदेशादिका सम्भव होता है सो साधन शुभ संस्कार रहित से दुर्ज्ञेय, अज्ञेय है। अतः साधनादि के लियेउपदेश है ॥१४॥

अथ भवपन्थखेद प्रकरण ७

रमैनी १५

उनइ बदरिया परिगौ संझा। अगुआ भूले वन खण्ड मंझा ॥
पिय अन्ते धनि अन्ते रहई। चौपरि कामरि माथे गहई ॥

आनन्तो मोहमेघोऽयं तृष्णाविद्युत्समन्वितः।
आलम्बते हृदाकाशे मायया जनितः सदा ॥ १ ॥
तावता वृद्धतात्मा वा सन्ध्या मरणरूपिणी।
उपस्थिताऽतिवेगेन सर्वस्वहरणाय वै ॥ २ ॥
तस्मिन् भयावहे काले प्रधानं कुगुरुर्मनः।
भेदभावरतश्चाज्ञो विश्वखण्डे विमोहतः ॥ ३ ॥
भ्रान्तो भ्रमति[1] सद्बुद्ध्या सुखबुद्ध्या शनैः समे।
तच्छिष्याणां कथा कास्ति सदैतं ह्यनुगच्छताम् ॥ ४ ॥
एतेषां सम्मतः स्वामी स्वर्गादवतिष्ठते।
एतेऽत्र मर्त्यलोके तु पत्युर्विरहकातराः[2] ॥ ५ ॥
आत्मापतिं र्महिम्नि स्वे तिष्ठत्येते न तत्र च।
अहो दौर्भाग्यमेतेषामन्तिकस्थो न लभ्यते ॥ ६ ॥
अलाभादन्तिकस्थस्य पत्युः सत्यस्य मानवाः।
अवस्थाभियुते देहे वेदसंख्याभिरात्मताम् ॥ ७ ॥
प्रकल्प्य करणे वान्त दुःखवृष्टिभिरार्द्रिताः।
लभन्ते न कचिच्छर्म भ्रमन्तोऽत्र[3] निरन्तरम् ॥ ८ ॥

---

१ "जनस्तपस्तथा सत्यमिति चाकृतकं त्रयम्। ब्रह्मपु. २१।१९" वैकुण्ठः शिवलोकश्च गोलोकश्च तयोः परः। नित्यो विश्वबहिर्भूतश्चात्माकाशदिशो यथा। ब्रह्मवैवर्तपु. ७।२०" इत्यादि स्तावकवाक्यैः सद्बुद्ध्येति। २ विरहेण=वियोगेन, कातराः—अधीराः—व्याकुलमनस इत्यर्थः। ३ अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते। ईश. ९"

सत्य वचन में विश्वास के अभाव और झूठों के सङ्गादि से मनुष्यों के हृदयाकाश में मोह ममता कामादिरूप बदरी (मेघ) उनई (उमड़) आई। इसी अवस्था में वृद्धतारूप संध्या पड़ गई (प्राप्त हो गई) उस अवस्था में भी अगुआ (अग्रगामी) गुरु और मन, जिनके संसार बन के किसी खण्ड (लोकादि भाग) में सत्यादि बुद्धि से भूले (आसक्त) रहे। उन मनुष्यों का पिय (प्रियतमात्मा) कहीं अन्ते (स्वमहिमा स्वरूप में) रहता है। तथा उनका मान्य तटस्थ स्वामी कहीं अन्य लोक में रहता है। और धनी (धन्या) स्त्री तुल्य वे भक्त उपासक अन्यत्र मनुष्य लोक में रहते हैं और चौपरि, (बाल्य, कुमार, युवा और वृद्धतारूप चार अवस्थावाली) देहरूप कामरी (कम्बल) को ये लोग अपने माथे (शिर) पर गहते हैं, देह में आत्मता के अभिमान किये रहते हैं। अतः सत्यानन्द को नहीं पाते हैं, किन्तु खेद पाते हैं।

साखी—फुलवा भार न ले सके, कहै सखिन सो रोय ॥
ज्यों ज्यों भींजे कामरी, त्यों त्यों भारी होय ॥१५॥

यदा च पुष्पवत् फल्गु भरो न शक्यते हितैः।
ग्रहीतुं स्वेष्टमित्रेभ्यो रुदित्वा कथ्यते तदा ॥९॥
शरीर कम्बलोऽयं भो दुःखौघैः पीड्यते मुहुः।
यथा यथा तथाऽयं वै भराक्रान्तो भवत्यलम् ॥१०॥
कर्म मार्गेषु गत्यर्थं सामर्थ्यं नैव विद्यते।
कथंकारं हिं कर्तव्यं येन संप्राप्यते पतिः ॥११॥
वृद्धाःस्मो मृत्कल्पाः स्मो लब्धो नैव पतिः प्रियः।
मृत्वा लप्स्यामहे नो वा चेत्यादि कल्पयन्ति ते ॥१२॥
जीवन्मुक्तेरभावाच्च शान्ति नैवेह लभ्यते।
न सुखं न समं ब्रह्म कालपाशवशंगतैः ॥१३॥

यै र्नेह लब्धोऽखिललोकवल्लभः सदान्तिकस्थः परमः प्रियः प्रभुः।
ते व्याधिभिश्चैव जरादिभिर्हता रोरुद्यमानाः सततं व्रजन्ति हिं ॥१४॥

अत्यन्त वृद्ध या रोगादि से पीडित होने के कारण, जब फूल का भार नहीं ले सकते, या फूल के समान कमजोर हो जाने से कोई भार नहीं ले सकते, परन्तु प्रारब्ध वश शरीर को भार के समान धारण करना पड़ता है, तब उस समय अपने सखियों (साखाओं मित्रों) से रो कर कहते हैं कि यह

काया रूप कामरी ज्यों ज्यों भीजती है (थकती है) त्यों त्यों भारी होती जाती है। कम्बल का भी स्वभाव है कि वह भीजने से भारी हो जाता है, शरीर भी अन्त में भाररूप हो जाता है, तहाँ अज्ञ चिन्ता से अधिक दुःख पाते हैं, ज्ञानी नहीं। क्योंकि—

"ज्ञानिनोऽज्ञानिनश्चात्र समे प्रारब्धकर्मणी। न क्लेशो ज्ञानिनो धैर्यान्मूढः क्लिश्यत्यधैर्यतः ॥१॥ मार्गे गन्त्रोर्द्वयोः श्रान्तौ समायामप्यदूरताम्। जानन् धैर्याद् द्रुतं गच्छेदन्यस्तिष्ठति दीनधीः ॥२॥ पञ्चदशी ७।३३–३४॥ विषाद युक्तो विषमामवस्थामुपागतः कायवयोऽवसाने। भावान् स्मरन् स्वानिह धर्मरिक्तान् जन्तुर्जरावानिह दह्यतेऽन्तः ॥१॥ योगवा० वैराग्य प्र० २७" ज्ञानी और अज्ञानी के प्रारब्ध कर्म तुल्य ही (अवश्य भोक्तव्य) रहते हैं, परन्तु धैर्य से ज्ञानी को क्लेश (व्याकुलता) नहीं होता है, मूढ अधीरता अविवेकिता से क्लेश पाता है ॥१॥ मार्ग में दो पथिक की श्रान्ति (श्रम=थकावट) के तुल्य होने पर भी गन्तव्य स्थान की अदूरता को जानने वाला शीघ्र गमन करता है, और अपने इष्ट स्थान पर पहुँचता है, और अन्य (अज्ञ) दीनता युक्त बुद्धिवाला होकर मार्ग में रह जाता है। ऐसी अवस्था आत्मज्ञ और अज्ञ की होती है ॥२॥ शरीर आयु के अवसान (अन्त) काल में धर्मरहित अपने भावों का स्मरन करता हुआ, विषादयुक्त और विषम अवस्था को प्राप्त जरा अवस्था वाला प्राणी यहाँ भीतर ताप शोकयुक्त होता है ॥१५॥

रमैनी १६

चलत चलत अति चरण पिराना। हारि परे तहँ अति रिसियाना ॥
गण गन्धर्व मुनि अन्त न पाया। हरि अलोप जग धन्धे लाया ॥

कुवासनाभराक्रान्तो देहाभिमितिमान्नरः।
काम्यकर्मादिमार्गेषु व्रजन्नास्ते सुवर्त्मसु ॥१५॥
तत्रैवं गच्छतस्तस्य मनोबुद्ध्यादिलक्षणः।
चरणो व्यथितोऽत्यन्तं सोऽपिखिन्नोऽतितप्यते ॥१६॥
खेदात्तापाद्विवेकस्य त्वभावेन स मन्दधीः।
क्रुधत्यजस्रमन्येभ्यः स्वापराधं न पश्यति ॥१७॥
प्रकल्प्य चेश्वरं भिन्नं तत्र चायं विमूढधीः।
प्रकल्प्य बहुदोषांश्च तस्मै क्रुध्यति वैभृशम् ॥१८॥
मुनयो गणगन्धर्वा यस्यान्तं न विदन्ति हि।
व्यक्तोऽसौ हरिरंमांश्च संसारेषु क्षिपत्यलम् ॥१९॥

अव्यक्तो वा स भूत्वाऽलं स्वक्रीडार्थं जगज्जनान् ।
व्यवहारे क्षिपन्नास्ते वदत्येवं क्रुधा जनः ॥२०॥
स्वकर्मफल योगेन प्राप्य दुःखमचेतनः ।
निमित्तधारणे वैरं करोति कुमतिः किलः[1] ॥२१॥

उक्त कष्ट अशान्ति में यह कारण है कि अज्ञ जीव स्वामी सुखादि को दूर मान कर उसकी प्राप्ति के लिये, सकाम कर्मादि मार्गों में देहादि के अभिमान सहित चलते हैं, तहाँ चलते चलते जब इनके मन बुद्धि रूपचरण (कर्मसाधन) अति पिराते (पीड़ित होते) हैं। कर्मादि की शक्ति नहीं रह जाती है, और प्रिय स्वामी मानकर जिस हरि आदि देव को खोजते हैं, सो भी यदि नहीं मिलता है, तब तहाँ (उस बन रूप संसार में) ही हार कर परे, और हारकर पड़ते हैं। चलने की शक्ति नहीं रहने पर अत्यन्त रिसियाये और रिसियाते हैं (क्रुद्ध होते हैं) और कहते हैं कि जिस हरि (प्रभु) के अन्त (मर्म) को गणदेव, गन्धर्व देव, और मुनि लोग भी नहीं पासके, सो हरि अलोप (गुप्त) रहकर संसारी जीवों को अनेक धन्धा (कर्म व्यापार) में लगा दिये हैं, इत्यादि ।

गहीन बन्धन बाणि न सूझा । थाकि परे तँह कछु नहिं बूझा ॥
भूलिपरे जिव अधिक डराई । रजनी अन्ध कूप ह्वै आई ॥

स्वयं[2] वै बन्धनं कृत्वा गृहीत्वा बन्धन प्रदम् ।
वाचारम्भणमात्रं न सम्पश्यन्ति जगत् समम् ॥२२॥
सद्गुरोः सारशब्दं च विवेकेन न पश्यति ।
नात्मानं न परं चापि तत्त्वेनातो भ्रमत्यसौ ॥२३॥
भ्रमणाद् व्यथितोऽमार्गे वृद्धत्वं समुपागतः ।
प्रष्टुं चापि न जानाति नैव किञ्चित्तु पश्यति ॥२४॥
एवं स्थिते महामोहे संसारेऽत्र स्थितो जनः ।
अन्धकूपे महारात्रौ मृत्युकाले ह्युपस्थिते ॥२५॥
स विभेत्यधिकं तत्र त्रातारं नैव पश्यति ।
त्राता च विद्यते देहे मोहाद् भाति सुदूरतः ॥२६॥

सद्गुरु श्री कबीर साहब कहते हैं कि वस्तुतः हरि ने संसारी को धन्धों में नहीं लगाया है, किन्तु संसारियों ने स्वयं अज्ञान वासनादिवश बन्धनरूप

---

१ "देवी भा. स्क. ३।२०।४४" २ स्वयं कर्म करोत्यात्मा स्वयंतत्फलमश्नुते। स्वयं भ्रमति संसारे स्वयं तस्माद्विमुच्यते ॥१॥ योगवा. नि. उ. स. १४३।४०"

ग्रन्थों को गहा (पकड़ा) है। क्योंकि बन्धन से रहित करनेवाली सच्ची वाणी इनको मोहादिवश सूझ नहीं पड़ी है (ज्ञात नहीं हुई है) न वाणी-मात्र मिथ्या संसार सूझा (ज्ञात हुआ) है। और यदि स्वस्थावस्था में सब बाते नहीं सूझ पड़ी, तो थाक कर पड़ जाने पर तो तहँ (उस अवस्था में) कोई कुछ नहीं बूझ (समझ) सके, न समझ सकते हैं। इस प्रकार से जो जीव संसार बन में सदुपदेशादि रूप मार्ग को भूलकर, संसार में ही सत्यादि बुद्धि से पड़े रह गये सो अधिक डराते (डरते) हैं और मरणादि काल उनके लिये अन्धकूप तुल्य भयावह रात्रि ही होकर आई और आती है।

माया मोह वहाँ भरपूरी। दादुर दामिनि पवन अपूरी॥
बरषै तपै अखण्डित धारा। रैनि भयावनि कछु न अहारा॥

मायामयी विमोहाख्यजलैः पूर्णं जगत् सरित्।
महाभयावहा तीक्ष्णा[1] तत्रभाति सुदुस्तरा॥२७॥
दुःश्राव्यो दर्दुरादीनां शब्दोऽपि श्रूयते तदा।
विद्युद्वच्चञ्चलस्तत्र प्रकाश उपलभ्यते॥२८॥
स्थिरं न लभते ज्ञानं न प्रकाशं कथञ्चन।
अतिवेगेन वातश्च वाति प्राणान् विघूर्णयन्॥२९॥
प्राणश्चापूर्णतामेति वर्षवातै विधूयते।
तापैश्च तप्यतेऽजस्रं कोप्याहारो न लभ्यते॥३०॥
महाभयावहा रात्रि मृतिरेषाऽविवेकिनाम्।
दुःखदा[2] सर्वलोकेषु योनिषु च पुनः पुनः॥३१॥
तत्र मोहेन वर्षश्च भाति तापश्च संततम्।
बुभुक्षा चतितीव्राऽत्र नाहारो न सुखं तथा॥३२॥

मरणादि से भयरूप अभिनिवेश (जीवन की आशा) वालों के हृदयों में उस मरणकाल में माया (ममता) और मोह (अविवेक आसक्ति) अज्ञानादि

"कर्माणि दुःखोदर्काणि कुर्वन् देहेन तैः पुनः। देहमाभजते तत्र किं सुखं मर्त्यधर्मिणः। भाग० स्क० ११।१०।२६" १ "सुचिराभ्यस्तभावं तु वासनाखचितं मनः। यत्र तत्र भ्रमत् स्वर्गनरकादि प्रपश्यति। योगवा.नि.स.३२।३८" स्वयं स्वप्न इवाभाति मृतस्य परलोकधीः। तमेव पश्यतिचिरं न तत्राप्यस्ति सत्यता॥ नि० उ० स० १४३।४०" २ "विष्ठयां यादृशं दुःखमसह्यं जायते कृमेः। तादृशं ब्रह्मलोकेऽपिमरणादौ प्रजायते॥ आत्मपु० अ० ४।७३६"

अत्यन्तपूर्ण हो जाते हैं और दादुर आदि के अस्पष्ट शब्द सुन पड़ते हैं। बिजुली के समान चञ्चल प्रकाश दीखता है तथा क्षणिक ज्ञान होता है और वायु मानो झकोरता है, प्राणरूप वायु अपूर (शक्ति हीन) हो जाता है। वर्षा और ताप की अखण्ड धारा प्रतीत होती है। भयावह रात्रि तुल्य उस अवस्था में क्षुधा अत्यन्त पीड़ित करती है। परन्तु कुछ भी आहार नहीं मिलता है। इस प्रकार से पापजन्य स्वप्न के समान मरणकाल में भी अज्ञ प्राणी अपने अपराध से ही महा कष्ट पाते हैं, अन्य से नही।

साखी—सबै लोग जहड़ाइया, अन्धा सबै भुलान।
कहा कोइ नहिं मानये, एकहिं माँह समान ॥१६॥

कामान्धा हि जनाः प्रायः सम्मोहमिहिकाहताः।
मायाद्यै र्वञ्चिता भ्रष्टाः सत्यं शृण्वन्ति नामृतम् ॥३३॥
अतः सर्वे इमे लोका ह्येकस्मिन् यममन्दिरे।
महामाये भ्रमे चैव संविशन्ति परे नहि ॥३४॥
एकस्मिन् वा परे तत्त्वे विद्यन्ते सर्वथा समे।
अर्था इति न कस्यापि जनाः शृण्वन्ति भाषितम् ॥३५॥
आजन्म यै नैव सतां सुवाक्यं श्रुतं न दत्तं सुगुणेषु चेतः।
ते ह्यन्तकाले यममन्दिरेषु स्वयं व्रजन्त्यन्धधियो मनुष्याः ॥३६॥१६॥

इति हनुमदीये रमैनीरसोद्रेके मोहान्धधावनश्रान्त्यादि
वर्णनं नाम सप्तमः प्रवाहः ॥ ७ ॥

यदि इस संसार वन के खण्डों में अगुआ भूले तो आप जहड़े (पीड़ित हुये) ही अन्य अनुगामी सब लोगों को भी जहड़ाये (पीड़ित किये) क्योंकि उनके अनुगामी अन्ध (अज्ञ) सब भी संसार में सत्यादि बुद्धि से मोह, ममता करके इस संसार में भूल भटक गया। इस प्रकार से भूलयुक्त अज्ञ कोई मनुष्य सद्गुरु सतशास्त्र का कहा हुआ उपदेश को नहीं मानता है। किन्तु एक यम मन्दिर संसार शरीर में ही सब समाता (पैठता अभिमान करता आसक्त होता) है तथा एक आत्मस्वरूप ही सबमें समान (तुल्य) है, यह उपदेश नहीं मानता है। अतः राग, द्वेषादि करके जहड़ता = जहड़ाता है। भाव है कि "समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः। ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥ भ. गी. ९।२९" न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः। न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥ ५।१४ ॥ "आत्मैवात्मनो

बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः। भ. गी. ६।५" "जस रे कियहु तस पायेहु हो रमैया राम। हमर दोष जनि देहु हो रमैया राम॥" इत्यादि वचनों के अनुसार ईश्वर साधारण कारण हैं, ईश्वर की भक्ति से प्राणी अपने भजनरूप कर्म ही का फल पाता है, ईश्वर को भजनेवाले स्वभाव से ईश्वर में रहते हैं, ईश्वर भी स्वभाव से उनमें व्यक्त रहता है। लोक (देह) के कर्तृत्व को घटादि कर्म को और कर्म फल के संयोग को भी ईश्वर नहीं रचता है। किन्तु स्वभाव (प्रकृति माया) सब रूप से प्रवृत्त होता हैं। अतः प्रकृति (स्वभाव) के अनुसार आपही अपना बन्धु और शत्रु होता है। इत्यादि॥ १६॥

अथ अविवेकनिवारकोपदेश प्रकरण ८

रमैनी १७

जस जिव आपु मिलै अस कोई। बहुत धर्म[1] सुख हृदया होई॥
जासो बात राम की कही। प्रीति न काहू सो निर्वही॥

भ्रान्तश्चायं जनो यद्वच्छोकसूर्येण तापितः।
वर्त्ततेऽवर्त्मनागच्छन् मुह्यमानः स्खलन् पतन्॥ १॥
उत्पतन् निपतँश्चापि विसर्पन् सर्वतो भयात्।
तथा चेदस्य मिलति धर्मं सौख्यं च मन्यते॥ २॥
तस्यैव वचनं ग्राह्यं मन्यते च विमूढधीः।
सार्द्धं गच्छति तेनैव विवेकेन विना सदा॥ ३॥
अतो यस्मै हितं शश्वच्छ्रीरामेत्यमृताक्षरम्।
महद्भिः कृपया प्रोक्तं तच्च तस्मै न रोचते॥ ४॥
रोचनेऽपि न च प्रीतिः स्थिरा भवति वै हृदि।
पुन र्मिलति कामेन कामिभि र्न च सज्जनैः॥ ५॥

सद्गुरु और सतशास्त्र की बातों को नहीं मानने में यह कारण है कि यह जीव जैसे अविवेकी व्यसनी भ्रान्त या कुमार्गी आप रहता है, वैसा ही यदि इसको कोई मिलता है तो इसके हृदय में बहुत धर्म (पुण्य) प्रगट हुआ प्रतीत

---

१ धर्माः पुण्य, यम, न्याय, स्वभावाऽऽचार सोमपाः। अमरकोश। धर्मोऽस्त्री पुण्य आचारे स्वभावोपमयोः क्रतौ। अहिंसोपनिषन्न्याये ना धनुर्यमसोमपे। मेदिनीकोश।

होता है और धर्म का फल सुख होता है। अतः ऐसे जिस किसीसे सर्वात्माराम की बात कही गई या कही जाती है तो उस बात में तथा राम में किसी की प्रीति (श्रद्धा प्रेम) नहीं होती है, प्रीति क्षण भर होती भी है तो वह निर्वहति (स्थिर होती) नहीं है। अतः वे लोग गुरु उपदेशादि को नहीं मानकर, राम को नहीं भजकर, अन्य के भजनादि में लगते हैं। परन्तु "संत्यज्य हृद्गुहेशानं देवमन्यं प्रयान्ति ये। ते रत्नमभिवाञ्छन्ति त्यक्तहस्तस्थकौस्तुभाः॥ योगवा० उपशमप्र० स० ८।१४" जो कोई हृदय गुफावर्ती ईश्वर को छोड़कर प्रयान गमन करते हैं सो मानो हाथ में स्थिर कौस्तुभ नामक सर्वोत्तम मणि को त्याग कर अन्य मणि को चाहते हैं।

विवेक के अभाव से सत्यात्मा राम और सत्योपदेश में प्रीति नहीं होती है। अतः विवेक के लिये उपदेश दिया गया है कि—

एके भाव सकल जग देखी। बाहर परु सो होय विवेकी ॥६॥

योहि सर्वं जगद् दृष्ट्वा मायारूपं ततो बहिः।
ज्ञात्वात्मानं वसेत्तत्र सविवेकी भवेद्ध्रुवम् ॥ ६ ॥
अथवा योऽखिले विश्वे सत्तत्त्वमेकमद्वयम्[1]।
दृष्ट्वा भवति निर्द्वन्द्वः स विवेकी भवेन्मुनिः ॥ ७ ॥
सद्विवेके च वैराग्ये शमितादूयुदये तथा।
अपरोक्षं हि विज्ञानं भवत्येव न संशयः ॥ ८ ॥
इयं च लभ्यते दृष्टिः सद्गुरोः समुपासनात्।
सद्विवेकादिपूर्वं सा नान्यथा जन्मकोटिभिः ॥ ९ ॥

सब संसार को एके भाव (स्वभाव) एक मिथ्यात्व स्वरूप से मायामय देख समझ कर जो सब संसार शरीरादि से बाहर पड़ता (प्राप्त होता) है सो सत्यात्मादि के विवेकी होता है। अर्थात् सब विषय और देहादिरूप यन्त्र से भिन्न सबका विषयी (प्रकाशक) यन्त्री 'संचालक' आत्मा में मन लगानेवाला विवेकी होता है। कहा गया है कि "कहहिं कबीर जन भये विवेकी, जिन यन्त्री मन लाया। शब्द ९" अथवा सब संसार में एक ही भाव (सत्य सत्ता) को विचारादि द्वारा समझकर जो सब संसार से बाहर प्राप्त होता है सो विवेकी

१ "सर्वभावपदातीतं सर्वभावात्मकं च वा। यः पश्यति सदात्मानं स समाहित उच्यते ॥१॥ योगवा० उपशम. प्र. स. ५६।२७" सर्वमेवाहमेवेति तत्त्वज्ञो नावसीदति। न गृह्णाति पदार्थेषु विभागानर्थभावनाम्। यो. उ. स. ४६।३५"

होता है। गीता में कहा गया है कि "सर्वभुतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते। अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्। अ० १८।२०" विभक्त देहादि सब भूत में अविभक्त = अद्वितीय = अविनाशी भाव (सर्वसत्ता) को जिस ज्ञान से जिज्ञासु अपरोक्ष अनुभव करता है, उस ज्ञान को सात्त्विक समझो।

उक्त विवेक विचारादि के बिना जो अनर्थ की प्राप्ति होती है, उसका वर्णन करते हैं कि—

विषय मोह की फन्द छोड़ाई। तहाँ जाय जहँ काटु कसाई॥
आहिं कसाई छूरी हाथा। कैसहु आवै काटै माथा॥

विवेकेन विना केचिल्लब्ध्वापि विरतिं जनाः।
अपरीक्ष्य गुरुं यान्ति गृहं त्यक्त्वा यतस्ततः॥१०॥
त्यक्त्वा गृहादिकं मूढा द्रव्याणि विविधानि च।
तत्र गच्छन्ति यत्रैनान् हन्त्यज्ञो मांसिको यथा॥११॥
अज्ञोऽस्ति कौटिको नूनं क्षुरो हस्तेऽस्य विद्यते।
कथञ्चिदागतस्यासौ शिरश्छेदं करोति हि॥१२॥
वञ्चयित्वा हि वेषेण मुण्डनं प्रविधाय च।
आत्मनो विमुखं कृत्वा शिरो हन्तीति मन्महे॥१३॥

उक्तरीति से संसार से बाहर विवेकी हुए बिना जो वर्तमान विषय (गृह-वित्तादि) के मोहरूप फन्द या मोह की फन्द (बन्धन) को किसी प्रकार से छोड़ाते त्यागते हैं सो बन्धन को छोड़ छोड़ाकर भी विवेकादि के बिना भावी विषयादि की आशा से तहाँ जाते हैं कि जहाँ इनको कसाई काटता है। क्योंकि आशा तृष्णादि तथा अज्ञ सद्भक्ति आदि रहित कुगुरु कसाई आहीं (हैं) क्योंकि इनके हाथ में मानो क्रूरता आदिरूप छूरी रहती है। अतः किसी प्रकार जो इनके पास में आता है, उसके माथा (शिर) को ये काटते हैं, उसे आत्मविमुख करके शिरो मुण्डनमात्र कर देते हैं, अधिकारादि की परीक्षा या ज्ञानोपदेश देना नहीं जानते हैं तो भी अज्ञान अविवेकवश "जस जिव आप मिले अस कोई। बहु धर्म सुख हृदया होई॥" अतः विवेक कर्तव्य है।

मानुष बड़े बड़ा ह्वै आया। एकहि पण्डित सबहि पढ़ाया॥
पढ़ ना पढ़हु धरहु जनि गोई। नहिं तो निश्चय जाहु विगोई॥

महद्भ्योऽपि महान् भूत्वा वेषाद्यैरबुधो नरः।
घ्नन् स्वव[1] इव लोकाँश्चाभूदेकः पण्डितो ह्यसौ॥१४॥

---

१ स्ववः = चाण्डालः।

स पाठयति सर्वांश्च विश्वग्तान् हन्ति सर्वशः ।
कुनरैर्ज्ञायते नैवाऽविवेको बलवद्रिपु ॥१५॥
नरेभ्यो वोत्तमा देवा देवेभ्यश्चोत्तमास्तु ये ।
जनिं लब्ध्वाऽभवन् प्राज्ञा एकं तेऽध्यापयन्ति हि ॥१६॥
अतोऽन्यत् पठनेऽप्यत्र पठितव्यं हि शिष्यते ।
तेभ्यस्तत्पठताजस्रं कालक्षेपो न युज्यते ॥१७॥
पठित्वा तच्च सद्युक्त्या सत्सङ्गाद्यैर्विचार्यताम् ।
छादितव्यं न तत्सद्भ्यो विस्मर्तव्यं न कर्हिचित् ॥१८॥
अन्यथा पठितं सर्वं निश्चितं नाशमेष्यति ॥१९॥

वह माथा (शिर) काटनेवाला, मनुष्यों में बड़े से भी बड़ा होकर आया और आता है। वह एक (अद्वितीय) पण्डित होकर सबही को अनात्मा की कथा पढ़ाया, पढ़ाता है। अतः मनुष्य विवेकी नहीं होने पाते हैं। श्री सद्गुरु कबीर साहब कहते हैं कि सबमें एक भाव स्वरूप सर्वात्माराम की कथा ही पढ़ना (पढ़ने लायक) है, उस कथा को किसी सद्गुरु से पढ़ो और पढ़ने पर उस कथा को गोय (छिपाय) कर नहीं धरो। किन्तु सत्सङ्गादि द्वारा उसका अभ्यास सत्पुरुषों में प्रचार करो। नहीं तो निश्चय समझो कि अभ्यासादि के विना प्रबल वासनादिवश उस सर्वात्माराम को और उसके उपदेशादि को भी विगोय (भूल) जावोगे।

साखी—सुमिरण करहु राम के, छाड़हु दुख की आश।
तर ऊपर धरि चाँपिहैं, कोल्हु कोटि पिचास ॥१७॥

रामं स्मरत भो नित्यं त्यजताशां सुदुःखदाम् ।
अन्यथा सैव सर्वत्राप्यधश्चोर्ध्वं बहिस्तथा ॥२०॥
गर्भेऽन्तश्च सदाचक्रे तिलपीडसमा मुहुः ।
कोटिधा पीडयित्वा च भवतो नाशयिष्यति ॥२१॥
वन्धाद् विमुक्तेर्यदि वर्तते स्पृहा, तदाऽखिलाशां [२]त्यजतातिदूरतः ।
रामं सदा तं स्मरतान्तरात्मनि, सकृद्विभातं परतः परं शिवम् ॥२२॥

---

२ "परित्यजति यो दुःखं सुखं चाप्युभयं नरः। ब्रह्म प्राप्नोति सोऽत्यन्तमसङ्गेन च गच्छति। म०भा०वनप० अ० २१३।३९" "तदेव सक्तः सहकर्मणैति लिङ्गं मनो यत्र निसक्तमस्य। बृ० ४।४।६"

सैवान्तरात्माऽप्यवभातिदूरतः कामादिदोषाहृतबुद्धितः सदा।
तदात्मनश्चैव सुखस्य लब्धये परिभ्रमञ्जीवगणश्च पीड्यते ॥२३॥

जो पढ़ना है, उस राम की कथा को पढ़कर सदा राम के स्मरण, भजन, ध्यान, विचारादि करो और दुःखमयलोक विषयादि की आशाओं को छोड़ दो नहीं तो वे आशा, तृष्णादिक ही तर (गर्भ नरकादि) में धरकर और ऊपर भूमिस्वर्गादि में धरकर (पकड़ कर) चाँपेगें (पीड़ित करेंगे) जैसे कोल्हू में तिलादि पींचे जाते हैं, तैसे आशा आदि तुम्हें करोड़ों बार पींचेगें। क्योंकि–"स्निग्धत्वात्तिलवत्सर्वं चक्रेऽस्मिन् पीड्यते जगत्। तिलपीडैरिवाक्रम्य भोगैरज्ञानसम्भवैः ॥ म०भा०शा०अ० २११।६" तिल पेरकों से तिल के समान अज्ञानजन्य भोगों से इस संसार चक्र में सब जगत् (संसारी) को स्ववश करके पीड़ित किया जाता है, उसमें स्नेह (राग) हेतु है। अतः राग रहित होने पर जीव संसार चक्र से बचता है ॥१७॥

रमैनी १८

अद्भुत पन्थ वरणि नहिं जाई। भूले राम भुले दुनिआई ॥
जौ चेतहु तौ चेतहु भाई। नाहीं तो जिव यम ले जाई ॥

अद्भुतानन्तमार्गाहि मूढैरेव प्रवर्तिताः।
मानितास्तादृशैरेव चित्रवाक्यैः सुसंस्कृताः[१] ॥२४॥
वर्तन्ते वर्णनाऽनर्हा विस्ताराश्चित्ररूपतः।
परस्परं विरुद्धत्वान्मार्गाभासाविमोहदाः ॥२५॥
तत्र सन्मार्गबुद्ध्या च रामं विस्मृत्य दुर्जनः।
सक्ता व्यवहृतौ सन्ति लौकिक्यां न निजात्मनि ॥२६॥
चेतितव्यं त्वया साधो ! चेत्यतां यदि रोचते।
सावधानेन संचिन्त्य सतां मार्गेण गम्यताम् ॥२७॥
अन्यथा त्वां यमो जीव ! यमधाम्निप्रणेष्यति।
सर्वं निर्यातयित्वा च संसारे क्षेपयिष्यति ॥२८॥

दुराशा अज्ञानादि से सिद्ध, अद्भुत (आश्चर्य स्वरूप) अनन्त पन्थ (कर्मादिरूप मार्ग = मत सम्प्रदाय) हैं कि जिनका वर्णन नहीं किया जा सकता है। उन पन्थों में पड़कर मनुष्य राम को भूले हैं। अतः राम के

---

१ "शास्त्रं यदि भवेदेकं श्रेयो व्यक्तं भवेत्तदा। शास्त्रैश्च बहुभिर्भूयः श्रेयो गुह्यं प्रवेशितम् ॥ १ ॥ म० भा० शा० अ० २८७।१०"

स्मरणादि नहीं करते हैं और दुनिआई (संसार के सद्व्यवहार) को भी भूले हुए हैं। अतः आशा को त्याग कर मातृ-पितृ भक्ति वृद्धरुग्णादि की सेवा नहीं करते हैं तथा संसार के असद् व्यवहार में भूले (फँसे आसक्त) हैं। तहाँ उपदेश है कि हे भाई! यदि चेतना हो तो चेतो (भूलों को नष्ट करो) असद् व्यवहारों (हिंसादि) त्याग कर राम को समझो, भजो नहीं तो हे जीव! कुछ काल में तुमको यम (मृत्यु) ले जायगा, फिर यमयातना मिलेगी। क्योंकि "धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः। तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मानो धर्मोहतोऽवधीत" अहिंसादि धर्म हत (नष्ट) होने पर हिंसादिरूप अधर्म होकर मनुष्य को नष्ट करते हैं और रक्षित रहने पर रक्षा करते हैं। अतः स्वधर्म कभी हन्तव्य नहीं है, ऐसा न हो कि धर्म नष्ट होकर तेरा बध करे यह मनुस्मृति का उपदेश है। (मूलि दुनिआई) यह-पाठान्तर है, अर्थ सुगम है।

शब्द न चीन्है कथये ज्ञाना। ताते यम दीयो है थाना॥
संशय सावज बसै शरीरा। ते खायल अनबेधल हीरा॥

सद्गुरोः सारशब्दं यो नो जानाति विवेकतः।
नैवालोचयति ज्ञानं सद्भिश्च भाषितं भृशम्॥२९॥
प्रकल्प्य निजमत्याऽयमसारं भाषते सदा[१]।
तमेव मन्यते ज्ञानं तत्त्वं सर्वहितं तथा॥३०॥
ततो यमोऽस्य नाशाय स्थानं कृत्वेह तिष्ठति।
संशयाख्यमृगोऽप्यस्य हृदयान्नापसर्पति[२]॥३१॥
तिष्ठंश्चासौ शरीरेऽस्य बोधसस्यं विनाशयन्।
मर्दयन् सद्विवेकादींश्चखादाखण्डरत्नकम्॥३२॥
स्वप्रकाशं सदानन्दं सर्वस्य ज्योतिरव्ययम्।
अच्छिद्रं मनसा ग्राह्यमग्राह्यं परमं शिवम्॥३३॥

प्रायः मनुष्य सद्गुरु सतशास्त्र के सार शब्दों को नहीं चीन्हते हैं, न शब्द

---

१ "विवेकोस्ति वचस्येव चित्रेऽग्निरिव भास्वरः। यस्य तेनाऽपरित्यक्ता दुःखायैवाविवेकिता। योगवा० स्थितिप्र० स० १८। ६७" कुशलाब्रह्मवार्त्तायां वृत्तिहीनाः सुरागिणः। तेऽप्यज्ञानितया नूनं पुनरायान्ति यान्ति च। तेजोबिन्दूप० १।४६"। २ "सर्वेषामेव दोषाणामज्ञानं परमो मतः। अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति। "विष्णुधर्मोत्तरपु० ३।२३६।२" यत्तु निःश्रेयसं सम्यक् तच्चैवासंशयात्मकम्। म० भ० शा० अ० २८७"

ज्ञान द्वारा राम को चीन्हते हैं और अपने मन से कल्पित मिथ्या ज्ञान तथा ज्ञान के साधनों का कथन करते हैं तथा शास्त्र में वर्णित ज्ञान मार्गों का भी केवल मुख से कथन करते हैं, हृदय से प्रमाणरूप शब्दादि को नहीं चीन्हते हैं। और विहित निषिद्ध शब्दादिरूप विषयों को भी विवेकपूर्वक नहीं चीन्हते हैं। अतः निषिद्ध शब्दादि का उपभोग करते हैं, तातै (इस कारण से) इन्हें स्ववश करने के लिये यम ने थाना दिया है (इनके हृदय में रहने का स्थान बनाथा है) और अवश्य निवारण योग्य संशयरूप सावज = (मृग) इनके शरीर (हृदय) में सदा बसते हैं, ते (वे) मृग ही अनवेध (अखण्ड = अछिद्र) हीरा (अद्वैतानन्द स्वरूप स्वयं प्रकाश राम) को खा गये हैं, उसके अनुभव स्मरण भजनादि को नहीं होने देते हैं।

साखी—संशय सावज शरीर महँ, सङ्गहि खेल जुआर।
ऐसा घाई बापुरा, जीवहिं मारै झार ॥१८॥

संशयात्म शरण्यं वै स्थित्वा सर्वकलेवरे।
क्रीडित्वा कैतवै र्जीवैस्तान् पराजयते ध्रुवम् ॥३४॥
संशयो घातुकः क्रूरो वर्तते वलवान् खलः।
पराजित्यापि सर्वान् यदयं हन्ति जनान् सदा ॥३५॥
यथाऽयं गृहयालुश्च शरारुर्वेहविद्यते।
विद्यते न तथा कोऽपि दुष्टो दोषगणेस्वपि ॥३६॥
सन्देहयुक्तै र्नहि लभ्यते क्वचित् सुखं च शान्तिः स्थितिरक्षयाऽथवा।
श्रद्धा न सद्भक्तिविचारणादिकं ततो जन ! त्वं त्यज तं विवेकतः ॥३७॥१८॥

संशयरूप सावज (संशय भ्रमयुक्त मन) शरीर के भीतर हृदय में रहता है और इस जीव के साथ मानो जूआ खेलता है तथा संग में रहकर मानो संसार समुद्र के जुआर (तरंग) रूप खेल खेलता है। जीव के साथ कपट करता है, इसको धोखा देता है। क्योंकि यह ऐसा बापुरा (बावरा दुष्ट) घाई (घातक = पड़दा की टट्टी) है कि इसके आश्रित रहकर काल (यम) सबको झार (खोज) कर मारता है। अतः संसय भ्रम प्रमाद से रहित होकर अमृत स्वरूप के स्मरणादि कर्तव्य है। क्योंकि—"असंशयवतां मुक्तिः संशयाविष्टचेतसाम्। न मुक्ति र्जन्मजन्मान्ते तस्माद्विश्वासमाप्नुयात् ॥१॥ मैत्र्युपनिषद् २।१६" "अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति। नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः। भ. गी. ४।४०" संशय रहित ज्ञानी की मुक्ति होती है। संशययुक्त चित्तवालों की अनेक जन्मों के अन्त में भी मुक्ति नहीं हो

रमैनी १९

अनहद अनुभव की करि आशा। ई देखहु विपरीत तमासा ॥
इहे तमासा देखहु भाई। जहवाँ शून्य तहाँ चलि जाई ॥

मोहं नैव मृदित्वाऽयं शतायित्वा न संशयम्।
नादाभ्यासरतो[1] लोके लययोगपरो जनः ॥३८॥
करोति महदाश्चर्यं नादानुभवनाशया।
तत् पश्यन्तु बुधाश्चित्रं विपरीतं हि कौतुकम् ॥३९॥
आनन्दं चिद्घनं त्यक्त्वा शून्ये गच्छत्यसौ नरः।
विवेकादि विना नैव स गच्छेत् परमात्मनि ॥४०।
प्रकृतौ गगनादौ वा महत्तत्त्वमुखेऽथवा।
लीयतेऽसौ विमूढात्मा ज्ञानी ब्रह्मणि लीयते ।४१।

सकती है। अतः सद्गुरु के वाक्य में और निर्णीत एक सत्यात्मा में विश्वास करना चाहिये। क्योंकि जो निःश्रेयस = निश्चित शुभ है सो असंशय स्वरूप ही है ॥ १ ॥ विवेक विज्ञान रहित अज्ञ, गुरु शास्त्र ईश्वर मोक्षादि में श्रद्धा-रहित अविश्वासी और संशययुक्त मनवाला विनष्ट (सत्यार्थ से पतित) होता है। उनमें भी संशयवाला अत्यन्त नष्ट (दुःखी) होता है। क्योंकि संशययुक्त मनवाले का यह साधारण लोक भी नहीं है, न परलोक है, संशय से वह कहीं के लिये न निश्चित साधन कर सकता है, न शान्ति पा सकता है ॥ २ ॥१८॥

विवेकादि के अभाव से आत्माराम के अनुभव द्वारा अज्ञान संशयादि का निवारण नहीं करके बहुत लोग दश प्रकार के अनहद शब्द, विभु प्रकृति आकाशादि के अनुभव की आशा करते हैं। तहाँ इस विपरीत तमाशा को देखो, इसको उल्टा मिथ्या तमासारूप समझो। क्योंकि इस अनहदादि के अनुभव से विनाश के हेतु संशयादि का नाश नहीं हो सकता है। अतः

---

१ चिणी[1], चिञ्चिणी[2], घण्टानाद[3], शङ्खनाद[4], तन्त्रीनाद[5], तालनाद[6], वेणुनाद[7], मृदङ्गनाद[8], भेरीनाद[9], मेघनाद[10], हंसउप० इत्यादि में नाद वर्णित हैं। प्रकृत में भाव है कि "अभ्यास वैराग्याभ्यां तन्निरोधः। अभ्यासेन तु कौन्तेय। वैराग्येण च गृह्यते" इत्यादि शास्त्र के अनुसार चित्तवृत्ति निरोध मनोनिग्रह के लिये ब्रह्माभ्यास ईश्वर भक्ति आत्मचिन्तन करना नादाऽभ्यास से उत्तम है। ब्रह्माभ्यासादि नहीं हो सकने पर भले ही कोई नादाभ्यास-अनात्मचिन्तन कर सकता है अन्यथा नहीं।

हे भाइयो! इसे तमासामात्र देखो (समझो) तमासा समझकर त्यागो, इसमें लगो नहीं। क्योंकि इस तमासे में लगे रहनेवाले, जहाँ शून्य (सत्यानन्दज्ञानादि का अभाव) है, वहाँ अन्त में चले जाते हैं। अर्थात् जड़ प्रकृत आकाशादि में आत्मज्ञान के विना लीन होते हैं। अतः अनहदादिके अनुभवादि की आशा को त्यागकर, सच्चिदानन्द परमप्रिय सर्वात्माराम के स्मरणादि कर्तव्य है कि जिससे अन्त में सच्चिदानन्दरूपता की प्राप्ति हो। क्योंकि—

शून्यहि वाँछे शून्यहि गयऊ। हाथा छोड़ि बेहाथा भयऊ॥
संशय सावज सब संसारा। काल अहेरी साँझ सकारा॥

हा तथापि च लोकोऽयं वांछित्वा शून्यमेव हि।
तत्र[1] गच्छति संत्यज्य हस्तस्थमिव कौस्तुभम्॥४२॥
आत्मानं तस्य बोधं च हृदिस्थं मणिमुत्तमम्।
संशयैं र्ग्रस्यते चातः कालपशौ र्न मुच्यते॥४३॥
संशयात्मा मृगो लोके ज्ञानसस्यं ग्रसत्यलम्।
कालश्च लुब्धको नित्यमाखेटं कुरुते ततः॥४४॥
मृगं त्यक्त्वा जनस्यैव करोति मृगयामसौ।
अहर्निशं जनस्यैतद् दौर्भाग्यमतिदुःसहम्॥४५॥

जो कोई राम के अनुभवस्मरणादि की वाँछा नहीं करके शब्द आकाशादि रूप शून्य की वाँछा किये, शून्य के अनुभवादि की इच्छावाले हुए, सो मरकर शून्य में ही गये। शून्य में लीन हुए। शून्य में लीन होने से हाथ (मन) में प्राप्त भी कुछ ज्ञान सुखादि को वे लोग छोड़ दिये अतः ज्ञानादि बेहाथ (नष्ट लुप्त) हो गये, जड़ में लीन होने वाले जड़ तुल्य हो गये, और संशयरूप सावज सब संसार में (सब संसार विषयक) बना रह गया, जिससे काल भी साँझ सकारे (सबेरे) शिकारी होता है।

साखी—सुमिरन करहु राम के, काल गहे हैं केश।
नहिं जानहु कब मारिहैं, क्या घर क्या परदेश॥१९॥

---

१ "संत्यज्य हृद्गुहेशानं देवमन्यं प्रयान्ति ये। ते रत्नमभिवाञ्छन्ति त्यक्तहस्तस्थकौस्तुभाः॥ योगवा. उपशमप्र०स० ८।१४" "यथा क्रतुरस्मिन् लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति। छा० ३।४।१" "सत्सङ्गश्च विवेकश्च निर्मलं नयनद्वयम्। यस्य नास्ति नरः सोऽन्धः कथं न स्यादमार्गगः॥ गरुडपु.अ.४६।५७"

महाकालाच्चसर्वस्मात् त्रातारं ज्ञानमात्रतः ।
भक्त्यैव सुलभं रामं स्मरतान्यो न चिन्त्यताम् ॥४६॥
गृहीत्वेवेह केशेषु कालस्तिष्ठत्यतन्द्रितः ।
ज्ञायते न कदा चायं मारयिष्यति कुत्र वा ॥४७॥
भक्तिः श्वः[1] करणीयां त्वमद्यैव कुरु सत्वरम् ।
मा भूत्तेहि विलम्बोऽत्र लौकिके कर्मणि कचित् ॥४७॥
ज्ञात्वा[2] हरिं त्वं सुविवेकतोऽञ्जसा ह्यत्यन्तिकस्थं शमनं तथोर्ध्वतः ।
मूर्धस्थितं दुर्विषहं प्रबुध्य वै भजस्व तूर्णं हरिमात्मरक्षकम् ॥४९॥१९॥
इति हनुमदीयेरमैनीसोद्रेकेअविवेकनिवारकोपदेशवर्णनंनामाष्टमःप्रवाहः ८

उपदेश है कि काल कष्टादि से बचने के लिये, क्या घर, क्या परदेश, सर्वत्र सदा, अन्य की वांछा को त्याग कर राम के सुमिरण विचार ध्यानादि करो, और इस स्मरणादि में आलस्यादि नहीं करो, क्योंकि काल तेरे केशों को पकड़ कर बैठा है, सदा शिर पर वर्तमान है । आयु के श्वांसों को मानो गिन रहा है । वह स्वास के पूर्ण होते ही मारेगा । तुम यह नहीं जानते हो कि कब कहाँ मारेगा, क्या घर में मारेगा, या परदेश में मारेगा । अतः शीघ्र राम स्मरणादि द्वारा कालादि के भयादि से रहित मुक्त होवो ॥१६॥

अथ दुःखमययातनादि वारणर्थोपदेश प्र० ९

रमैनो २०

अब कहु राम नाम अविनाशी । हरि छोडि जियरा कतहुं नजासी ॥
जहाँ जाहु तहँ होऊ पतङ्गा । अब जनि जरहु समुझि विष सङ्गा ॥

योगतः सो गतस्तात ! समयः सनचिन्त्यताम् ।
इदानीं भज रामं त्वं ह्यविनाशिनमव्ययम् ॥१॥
स्मरन्ब्रूहि च तन्नामाऽहिंसादिव्रतमाचर ।
सर्वात्मानं हरिं त्वक्त्वा क्वचिन्न याहि भद्रहे ॥२॥
यत्र गच्छसि तत्रैव भवसि त्वं पतङ्गवत् ।
तद्भूयो भवमादेवत्वात्मनाऽऽत्मनि शम्यताम् ॥३॥

---

१ "न श्वः समुपासीत को हि मनुष्यस्य श्वो वेद । शतपथ ब्रा० २।१।३।६" "श्वः कार्यमद्य कुर्वीत पूर्वाह्णे चापराह्णिकम् । नहि प्रतीक्षते मृत्युः कृतमस्य न वाऽकृतम् । म० भा० शा० १७५।१५" २ छन्द (इन्द्रवंशा) है ।

शलभोऽहि यथा दिप्ते वह्नौ मोहेन दह्यते।
तथा त्वं विषये जन्तो! दह्यथाः स्वाविवेकतः ॥४॥
पुनः पुनः सुदग्धोऽसि गर्भादौ विषयेषु च[१]।
इदानीमपि चात्मानं ज्ञात्वा त्रायस्व सुव्रत! ॥५॥
विषयैः सङ्गमादङ्ग! दह्यतां मा न गृह्यताम्।
मनसा जागती लोलकल्लोलभङ्गुरा गतिः ॥६॥

हे जियरा (जीव!) अब भी अविनाशी राम नाम (स्वरूप) को कहो (भजो) राम के नाम को कहो (लो जपो) और हरि, राम को छोड़ कर कहीं नहीं जावो (राम के स्मरण चिन्तन पूर्वक ही सब उचित व्यवहार करो) क्योंकि राम को छोड़ कर जहाँ जाते हो, तहाँ पतङ्ग तुल्य होकर विषय विषाग्नि में जलते हो, अब समझकर उस विषय विष के सङ्ग करके नहीं जलो, अज्ञान से बहुत जल चुके हो।

राम नाम लौ लायसो लीन्हा। भृङ्गी कीट समुझि मन दीन्हा ॥

रामनाम्नि मनो धृत्वा भक्त्या ज्ञात्वा तु तत्त्वतः।
भृङ्गं कीटो यथा ध्यात्वा गृहीत्वा स्वात्मभावतः ॥
भृङ्गो हि जायते तद्वद् विद्वान् रामो हि जायते ॥७॥
हरौ तद्भावतां प्राप्ता विद्वांसो निर्मलेऽद्वये।
नावर्तन्ते[२] पुनस्तेऽत्राऽविद्यामूलप्रहाणतः ॥८॥
नाम[३] मात्रे तु मूर्खस्तु मनोधृत्वा कथञ्चनः।
गृह्णन्ति विषयादीन्वा देवादीन् न हरिं हृदि ॥९॥
यथा भृङ्गो मनौ दध्यात् कीटे तत्त्वाय मोहतः।
तथैते विषयादौ हि मनो दधति मोहतः ॥१०॥

विषयों को विषरूप जानकर, विवेकियों ने रामनाम वाले में लौ (प्रेम

---

१ "नष्टात्मस्थितयो भोगवाह्निषु प्रज्वलन्त्यलम्। देवा दिवि दवेनाद्रौ दह्यमानाद्रुमाइव ॥ योग वा० उ० स० ६७।२७"

२ इष्टं दत्तं तपोऽधीतं व्रतानि नियमाश्चये। सर्वमेतद्विनाशान्तं ज्ञानस्यान्तो न विद्यते। म.भा. अश्वमेधय अ. ४४।२१" "न च पुनरावर्तते। छ० ८।१५।१" "तेषां न पुनरावृत्तिः। बृ० ६।२।१५" "यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम। भ. १५।६" धामशब्दार्थ आत्मैव।

३ अयं भावः, निष्कामस्यैव श्रेष्ठेपि नामनाम्निरतस्य शान्तिविज्ञानादीनां

ध्यान) लगाकर सो (रामनामी) को लिया (प्राप्त किया) और कीट जैसे भृङ्ग को समझकर, उस भृङ्ग में मन देता (लगाता) है, और भृङ्ग रूप हो जाता है। तैसे राम में मन लगानेवाले विवेकी राम स्वरूप हो गये। राम को नहीं समझने वाले अविवेकियों ने राम के नाम मात्र में लौ लगाकर, सो (विषयाग्नि) को लिया, मुख से राम जपा, और हृदय में विषयों को धारण किया। जैसे भृङ्ग ही कीट को ध्येय समझ कर कीट में मन दिया (लगाया) हो, तैसे अविवेकियों ने किसी विषय स्त्री पुत्र लोकादि को भ्रम से अविनाशी सुख स्वरूप समझ कर उनमें मन लगाया कि जिससे अनर्थ हुआ। क्योंकि—

भौ अति गुरु जे दुख के भारी। करु जिय यतन जो देखु विचारी॥
मन की बात है लहर विकारा। ते नहिं सूझै वार न पारा॥

मोहाद् दुःखभरोऽत्यन्तं भवत्यत्र पुनः पुनः।
तद्वेगेनातिखिद्यन्ते सर्वे वै मोहभागिनः॥११॥
अतो बुद्ध्या विविच्यैव सत्यासत्यादितत्वतः।
यत्नो विधीयतां मुक्तौ मनो नैवानुगम्यताम्॥१२॥
अप्रशुद्धं मनो विद्धि सर्वानर्थस्य भाजनम्।
भवाब्धिं तत्र जायन्ते कामाद्या वीचयः सदा॥१३॥
विकाराश्चेह कल्लोलास्तै बुडन्ति कुबुद्धयः।
दृश्यते नास्य पारश्च भङ्गै र्नानाविधैरिह॥१४॥

राम में लौ नहीं लगाकर, विषयाग्नि में मन के लगाने से ही अत्यन्त गरु (गम्भीर) जो दुःख के भारी (भार बोझ) हैं, सो भौ (प्राप्त हुए हैं) अर्थात् भ्रम संशय सहित संसार के कठिन दुःख सब संसार में मन के लगाने

शीघ्रं लाभो भवति। नान्येषाम्। निरतिशय मुनीरमणविषयत्वाद् भक्ताभिष्टार्थ प्रदत्वादेश्च रामनाम्नः सर्वश्रेष्ठत्वं बोध्यम्। (राशब्दो विश्ववचनो मश्चापीश्वर वाचकः। विश्वेषामीश्वरो योहि तेन रामः प्रकीर्तितः। ब्रह्मवैवर्तपु०) तत्र शुद्धं ब्रह्म राम शब्दस्य लक्ष्यार्थ एव, सगुणस्यैवेश्वररामादि शब्द वाच्यत्वं विद्यते। निर्गुणो हि स्वरूपेण सर्वविद् भवति, ईश्वरस्तु मायावृत्त्येति विशेषः। निर्गुण एव तद्गुणोपाधिविवक्षायां ब्रह्मविष्णुहरादिशब्देनाप्यभिधीयते। अवतारास्तु सगुणात् सगुणा भवन्ति, भक्त भक्त्याधीना, यथा शैत्याधीना जले हिमतेत्यादि स्वयमूहनीयम्।

से ही प्राप्त हुए हैं, अतः उपदेश है कि विचार कर जो भजनादि सुखद समझो सो करो, और संसार से मन को हटाओ, सुख स्वरूप राम में मन को लगाकर भजो, क्योंकि विचारादि रहित मन की बात (समझ व्यवहार) तो विकार (दोष) स्वरूप दुष्ट दुःखद लहर (तरङ्ग वा ज्वाला) स्वरूप डूबाने जलाने वाले होते हैं। क्योंकि (वे) उस मन के लहर से ही संसार के वार पार (सत्यात्मा) नहीं सूझता है। अतः विचार अवश्य कर्तव्य है। विचार रहित मन की बात को मेट कर राम ज्ञातव्य है। क्योंकि—

साखी—इच्छा करि भव सागरे, वोहित राम अधार।
कहहिं कबिर हरि शरण गहु, गोखुर बछ विस्तार ॥२०॥

मनः संकल्पसंभूता काङ्क्षेव भवसागरः।
सम्पन्नस्तत्र सर्वात्मा[१] राम एव तरिर्दृढा ॥१५॥
सर्वस्य सारभूतोऽसौ सर्वस्य परमः प्रियः।
तस्यैवाज्ञानतः कामस्ततोऽयं भवसागरः ॥१६॥
गतानां शरणं तस्य सर्वोऽयं भववारिधिः।
वत्सीयखुरवत् सद्यः स्ववतारो भवेद् ध्रुवम् ॥१७॥
युक्त्या[२] वै चरतो ज्ञस्य संसारो गोष्पदाकृतिः।
दूर संत्यक्तयुक्तेस्तु महामत्तार्णवोपमः ॥१८॥
इच्छाकृतोऽयं ननु ते भवार्णव, आधाररूपो हरिरत्र नौस्तव।
तस्यैव सम्यक् शरणं प्रपद्यतां भजेत्तदा वत्सखुरेण तुल्यताम् ॥१९॥

विचारादि रहित अशुद्ध मन से जो जीव ने पूर्वजन्मों में इच्छा करी, सो इच्छा ही इसके लिये वर्तमान जन्मादिरूप संसार हुआ है। इस भवसागर में सर्वाधार स्वरूप अविनाशी राम ही इस जीव के कल्याण के लिये वोहित (नौका) है। अतः उपदेश है कि अन्य सब इच्छा आदि को त्याग कर अब भी केवल हरि (स्मरणादि से दुःख हर्ता) राम के शरण को गहो, तो यह मायामय संसार का विस्तार भी गौ के बछड़े के खुर के समान सुख

---

१ रमन्ते यस्मिन् स सर्वात्मा रामः, हलश्चेतिघञ् प्रत्ययान्तः ॥ रमते सर्वस्मिन्निति रामः, ज्वलादित्वाण्णान्तः रमणं रामस्तं करोतीतिभावघञन्तादच् प्रत्ययान्तोऽपि रामशब्दोबोध्यः। अत्र सर्वत्रपक्षे विशुद्धानन्द स्वरूप ब्रह्मैव रामशब्देन बोध्यते। स असङ्गोपि माययामायीश्वरः सन् सत्त्वांश स्वामित्वविवक्षायां हरिरित्यभिधीयते। २ "योगवा० स्थिति प्र० स० ५७।३३"

से तरने के योग्य हो जायगा, दुस्तर नहीं रहेगा, राम के ज्ञान ध्यानादि से बाधित वर्तमान संसार भी भयावह नहीं रहेगा। (गोखुरवत्) यह मूल पाठ ठीक प्रतीत होता है। वत् का वछ हो गया है। "दुःख जन्म प्रवृत्तिदोष-मिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदन्तरापायादपवर्गः न्यायदर्शन १ । १ । २" दैहिकादि दुःख (ताप) जन्म (मानवादि शरीर की प्राप्ति) शुभाशुभ प्रवृत्ति (दान चौर्यादि) दोष (रागद्वेष मोह) मिथ्या ज्ञान (अज्ञान भ्रम संशय) इनकी निरन्तर प्रवाहरूप से प्रवृत्ति (सिद्धि) संसार कहा जाता है। और तत्वज्ञान से इनमें उत्तरोत्तर (अज्ञानादि) के अपाये = निवृत्ति से पूर्व पूर्व की निवृत्ति को अपवर्ग (मोक्ष) कहा जाता है। इसी अर्थ को "अविद्या हेतवः कामाः काममूलाः प्रवृत्तयः" इत्यादि वचनो से श्री वार्तिककार (सुरेश) ने कहा है, इत्यादि ।

रमैनी २१

बहुते दुःख दुःख की खानी। तब बचिहहु जब रामहि जानी॥
रामहि जानि युक्ति जो चलई। युक्तिहि ते फन्दा नहिं परई॥

अनन्तदुःखरूपेयमिच्छा दुःखाकरात्मिका।
तज्जन्योऽयं[1] भवस्तद्वद्दुःखमेव न संशयः ॥२०॥
भक्त्याह्यनन्यया रामं ज्ञात्वैवास्मात्सुदुःसहात्।
सद्युक्त्या मुच्यते सम्यग् गुरु वाक्येन लब्धया ॥२१॥
रामं ज्ञात्वा सुयुक्त्या यस्त्वमानित्वादिरूपया।
सम्यग् याति विवेकेन स बन्धं बाधते तया ॥२२॥
युक्त्या वै चरतो ज्ञस्य शान्ति दान्त्यादिनिष्ठया।
वर्द्धते ज्ञानवह्नि वै यदि मन्दो भवेदसौ ॥२३॥
अपरोक्षानुभूतित्वं दृढं प्राप्य स एव तु।
पापं दहति वै सर्वं भवबीजं भयावहम् ॥२४॥

इच्छाजन्य संसार में हरि शरण को गहने के बिना यह संसार बहुत प्रकार के दुःखरूप है और दुःखों की खानि (आकर) रूप है। अर्थात् आध्यात्मिक (दैहिक मानस) आधिदैविक (देवजन्य) और आधिभौतिक (प्राणीजन्य) तीन प्रकार के दुःख संसार में होते हैं सो एक-एक भी अनन्तानन्त प्रकार के

---

१ परिणामतापसंस्कारदुःखै गुणवृत्तिविरोधाच्चं दुःखमेव सर्वं विवेकिनः। योगसू० पा० २।१५"

होते हैं। तथा अण्डज, पिण्डज, उष्मज और स्थावर चार प्रकार की खानि भी दुःख के हेतु ही हैं। इस दुःखरूप संसार से तभी बचोगे कि जब अन्य सबकी आशा, तृष्णादि को त्यागकर राम ही को ज्ञेय, ध्येयादि जानकर राम की शरण और भजन, स्मरण को गहोगे। क्योंकि जो राम ही को सत्य, ज्ञेय, ध्येय, निजात्मा जानकर निर्मानिता, निर्मोहिता सङ्गदोषत्यागिता आदि युक्ति से चलता है सो उन युक्तियों के ही प्रभाव से फिर कहीं कभी बन्धन में नहीं पड़ता है। "गीता अ० १५।५" का वचन है कि—"निर्मानमोहाजितसङ्गदोषाऽअध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः। द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्॥" अभिमान मोह से रहित सङ्गरूप, सङ्गजन्य दोषों को जीतनेवाले राग, द्वेषरहित तथा अध्यात्मचिन्तक, काम रहित सुख-दुःख नामक द्वन्दों से मुक्त (हर्ष, शोक रहित) अमूढ (ज्ञानी) उस अविनाशी परपद (मोक्ष) को पाता है।

युक्तिहि युक्ति चला संसारा। निश्चय कहा न मानु हमारा॥
कनक कामिनी घोर पटोरा। सम्पति बहुत रहल दिन थोरा॥

सर्वे संसारिणश्चेह कान्ताकनककामुकाः।
स्वयुक्त्या विचरन्तीह गुरूक्तं सन्न मन्वते॥२५॥
कनकं कामिनीमश्वं वासांसि विविधानि च।
सम्पाद्यैव समे लोकाः सम्पत्तिं मन्वते पराम्॥२६॥
न चिरं वर्तते साऽत्र तिष्ठत्यत्यल्पवासरान्।
चौरादिभयसंयुक्ता दुःखमुक्ता न कर्हिचित्॥२७॥
दुःखहानाय सम्पाद्य दुःखमूलमनर्थदाम्।
अहो मूढतमो लोक एनयैवोन्मदायते॥२८॥
निर्गर्वत्वं सुसम्पत्तौ वैदुष्येऽपि सुनम्रता[१]।
शक्तौ दानादिशीलत्वं यस्यास्ति मुक्त एव सः॥२९॥

यद्यपि जिस अपने मन की बात को विकार लहररूप कहा गया है, उस मन से कल्पित युक्ति ही युक्ति से सब संसारी चलता है तथापि निश्चय करके हमारा (सद्गुरु सतशास्त्र का) कहा हुआ उपदेश को नहीं मानता है। अर्थात् निर्मानितादिपूर्वक राम को जानकर राम के शरण में नहीं प्राप्त होता

---

१ "श्रीमानजननिन्द्यश्च शूरश्चाप्यविकत्थनः। समदृष्टिः प्रभुश्चैव दुर्लभाः पुरुषास्त्रयः। योगवासिष्ठ प्र० १।१३।११"

है। अतः फन्दा में पड़ता है, संसार में डूबता है। क्योंकि अपने मन की युक्ति से चलनेवाला, कनक, कामिनी, घोड़ा, पटोर (रेशमी वस्त्र) आदि मायिक मोहजनक वस्तु को ही बहुत सम्पत्ति समझता है, शमदम श्रद्धा आदि को नहीं। अतः कनकादि के लिये यत्न करके उसको प्राप्त करता है सो सम्पत्ति बहुत थोड़े दिन संसारियों के पास में रही और रहती है। परन्तु उसीके अभिमानादि से यह राम से विमुख होकर फन्दों में पड़ता है। क्योंकि—

थोरेहि सम्पति गौ बौराई। धर्मराय की खबरि न पाई॥
देखि त्रास मुख गौ कुम्हिलाई। अमरित धोखे गौ विष खाई॥

अल्पयैव हि सम्पत्त्या मदान्धाः सर्वदुर्जनाः।
उन्मत्ता अभवन्नैव सन्मार्गं तेऽविदुः क्वचित्॥३०॥
उन्मत्तत्वान्न ये मूढाः संजज्ञुरन्तकस्य हि।
वृत्तान्तमतितीव्रं ते त्रेषु दृष्ट्वैव तं भृशम्॥३१॥
अशुष्यँश्च मुखान्येषां शुशुचुस्ते तदा तथा।
अहो पीयूषबुद्ध्यैव भक्षितं विषमुल्वणम्॥३२॥
विषयाख्यं न चात्मासौ हरि र्ज्ञातो महाऽमृतम्।
भुज्यतेऽफलमस्माभिः कृतं न सुकृतं यतः॥३३॥

कनकादि थोरी (तुच्छ) सम्पत्तियों से ही अविवेकी बौराय गये। अतः राम की भक्ति आदि नहीं कर सके, न गुरुशास्त्र की आज्ञा को सुन सके। अतएव धर्मराज के न्यायादि की खबर भी इन लोगों ने नहीं पाई, पापाभिमानादि जन्य यम यातना को भूल गये। अतः मनमाना कर्मादि करते ही में जब अन्तकाल आया। तब कर्मादि के अनुसार भयानक यमराज को देखकर त्रास (भय उद्वेग) भया हुआ और मुख कुम्हिला गया (सुख गया) और पश्चाताप करने लगे कि अहो मैंने तो अमृत के धोखे में (अमृत के भ्रम से) विषय विष को खा गया कि जिसका यह परिणाम (कुफल) है, इत्यादि दशा बौराने आदि से होती है, जिन्होंने अमृत के धोखे में विष को खाया उन्हें अवश्य कष्ट हुआ और होता है। क्योंकि "जन्ममृत्युजरादुखमनुयान्ति पुनः पुनः। विमृशन्ति न संसारं पशवः परिमोहिताः। योगवा० प्र० १।३३।३६" मोहयुक्त पशु (अज्ञ) प्राणी जन्मादि जन्य दुःख बार-बार पाते है। परन्तु उससे रहित होने के लिये संसार का विचार नहीं करते, तथापि शास्त्र गुरु वचन में विश्वास करके, दुष्ट सङ्ग और विषयादि मुमुक्षु से अवश्य त्याज्य हैं।

साखी—मैं सिरजो मैं मारऊँ, मैं जारो मैं खाँव।
जल थल नभ में रमि रहौं, मोर निरञ्जन नाँव ॥२१॥

सत्ताप्रकाशमायाभिः सर्वकारो निरञ्जनः।
कर्माद्यैर्यमरूपेण सदा भाति च वक्ति च ॥३४॥
सृजाम्यहमिदं विश्वं मारयामि चराचरम्।
संदह्य प्रलये सूर्यैरग्नि सर्वं न संशयः ॥३५॥
सर्गकाले जलं भूमिमाकाशं च जगत्त्रयम्।
व्याप्यैवात्र सुवर्तेऽहं मन्नामास्ति निरञ्जनः ॥३६॥
पापिनां दण्डदश्चाहं धन्येभ्योऽहं च नाकदः।
भव्यानां भोगदश्चापि ज्ञानान्मोक्षो ह्यवाप्यते ॥३७॥

ज्ञानं विना नैव विमुच्यते नरो ज्ञानं नहि स्याच्च शमादिकं विना।
वैराग्यहीनस्य शमादिकं न च न दोषदृष्ट्यादि विना विरक्तता ॥३८॥
सम्पन्मदै र्मत्तधियोन दोषान् पश्यन्ति न स्वान्तवशे चरन्तः।
तेभ्योऽपि तेषां परिदर्शनार्थं सम्यग् ध्युवाचात्र गुरुर्दयालुः ॥३९॥२१॥

त्रास में और मुख के कुम्हिलाने में हेतु दर्शाया गया है कि वह यमराज अज्ञ पापियों से कहता है कि मैं ही संसार को सिरजता (उत्पन्न करता) हूँ और मध्य में पालन करके अन्त में मारता हूँ और महाप्रलयकाल में सूर्यरूप अग्नि से सबको जलाता (पकाता) हूँ और पकाकर सबको खाता हूँ और जल भूमि तथा आकाश में रमा (व्यापक) रहता हूँ और मेरा ही निरञ्जन (असङ्ग ईश्वर) नाम है। अतः सब व्यवहार करता हुआ भी अकर्ता हूँ। भाव है कि सत्कर्म भक्ति ज्ञानादि के विना सर्व रक्षक ईश्वर ही अन्त में भयानक यमादिरूप माया से प्रतीत होता है और ईश्वर ही जलादि में सर्वत्र संहर्ता है, कर्मादि के अनुसार संहारकर्ता है। सोई भक्ति ज्ञानादि द्वारा मोक्षप्रद है। अतः भक्ति द्वारा सर्वेश्वर राम निज स्वरूप ज्ञातव्य है, श्रुति है कि— "एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः। ऋग्म. १ अ. २ अनु. २२। सू. ८ वर्ग १०। ६६" एक ही सत को विप्र बहुत प्रकार से कहते हैं, अग्नि यम और मातरिश्वा भी एक सत् ब्रह्म को कहते हैं ॥२१॥

रमैनी २२

अलख निरञ्जन लखै न कोई। जेहि बन्धे बन्धा सब कोई ॥
जेहि झूठे बन्धाय अयाना। झूठी बात साँच कै माना ॥

धन्धा बन्धा किन व्यवहारा । कर्म विवर्जित बसै नियारा ॥

मन्दप्रज्ञैरलक्ष्योऽयं सर्वाऽऽहारी निरञ्जनः[1] ।
केप्यतरतं न पश्यन्ति बध्यन्ते येन बन्धनैः ॥४०॥
तस्यैव मायया[2] ह्यज्ञा मनसा चातियन्त्रिता ।
प्रपञ्चे ह्यनृतेसक्तास्तथ्येनाऽऽमेनिरेऽनृतम् ॥४१॥
वितथे तथ्यबुद्धयाते त्वात्मनो बन्धनप्रदान् ।
चक्रिरे व्यवहारांश्च नैव जातु विमुक्तिदान् ॥४२॥
अहो तेऽद्यापि सत्कर्मभक्ति ज्ञान विवर्जिताः ।
गोचरेषु वसन्त्यज्ञै नैव तिष्ठन्ति सत्सु च ॥४३॥

वह मृत्युकाल में प्रतीत होनेवाला सर्वेश्वर निरञ्जन सदा प्राणियों के हृदयादि में अन्तर्यामी और सत्यात्मारूप से वर्तमान रहता है । परन्तु सब अज्ञ प्राणियों से सदा अलख (अदृश्य अज्ञेय) रहता है । अतः कोई अविवेकी मलिन मति वाला कर्मी उस अलख निरञ्जन को यथार्थ रूप से नहीं लखता (नहीं जानता) है । और नहीं लखने ही से जेहि (जिस) निरंजन के बन्धे (बन्धन) में सब कोई बँधा है। जिससे रचित संसार में सब बँधा है, वह परमात्मा भी उनको ही बाँधा है कि जेहि (जो) अयान (अज्ञ) स्वयं झूठे (मिथ्या) पदार्थों में बन्धाया (आसक्त बद्ध) हैं। विवेकादि के बिना झूठी बातों को साँच (सत्य) निश्चय करके जो मानते हैं । जिसने बन्धा (बन्धन) रूप छल मायामय धन्धा (कार्य) का ही व्यवहार (उद्यम) किया है, और करता है, अन्याय से द्रव्यादि का उपार्जन करता है । और अवश्य कर्तव्य कर्मों से विवर्जित रहकर, जो सत्पुरुषादि से न्यारा बसता है, सत्सङ्ग सद्भक्ति सद्विचारादि नहीं करके जो कुसङ्गादि करता है, वही संसार में ईश्वर से बाँधा जाता है, अन्य नहीं ।

षट दर्शन औ आश्रम कीन्हा । षट रस बात षट वस्तुहि चीन्हा ॥
चारि वृच्छ छौ सखा बखानै । विद्या अगणित गणै न जानै ॥

---

१ "यस्य ब्रह्म च क्षत्रं चोभेभवत ओदनः। मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः । कठ० १।२।२४" "अत्ता चराचर ग्रहणात् । ब्रह्म सू० १।२ ६" । २ अहिते हितसंज्ञः स्यादध्रुवे ध्रुव संज्ञकः । अनर्थे चार्थ विज्ञानः स्वमर्थं यो न वेति सः ॥ १ ॥ पश्यन्नपि प्रस्खलति शृण्वपि न बुध्यति । पठन्नपि न जानाति देवमाया विमोहितः ॥२॥ गरुड़ पु० अ० ४६।३३।३४"

औरो आगम करै विचारा। ते नहिं सूझै वार न पारा ॥
जप तीरथ ब्रत कीजै पूजा। दान पुण्य कीजै बहु दूजा ॥

सद्भ्योऽन्यत्रैव ये स्थित्वा चक्रिरे दर्शनानि षट्।
आश्रमान् षड्विधां चर्चां षड् वस्तूनि च मेनिरे ॥४४॥
ते वेदांश्चतुरोऽधीत्य षडङ्गानि प्रपठ्य च।
विचार्य विविधां विद्यां नात्मानं न यमं विदुः ॥४५॥
विचार्याप्यागमान्[१] सर्वान् यावत्स्वं नो विदुर्यमम्।
नैवास्य दृश्यते तावत् पारावारो हि तैरिह ॥४६॥
कामं कुर्वन्तु तीर्थानि जपं च व्रतपूजनम्।
दानं पुण्यानि चान्यानि नैतैरस्ति विमुक्तता ॥४७॥
मृत्योः कदर्थनां ज्ञात्वा वैराग्य ज्ञानमन्तरा[२]।
न कश्चिन्मुच्यते जन्तुर्दृढाद्वै भवबन्धनात् ॥४८॥

योगी जङ्गमादि छौ दर्शन, ब्रह्मचर्यादि आश्रम के वेषादि का जिन्हों ने धारण किया, किन्तु एक सत्यात्मा को एक रस की बात को नहीं जाना, षट रस वाली बात षट वस्तु को चीन्हा (सत्य समझा) सो भेद युक्त रस (प्रेम) ज्ञान वाले रागद्वेषादि द्वारा यम से बाँधे गये, और बाँधे जाते हैं। और जो चार वृक्ष तुल्य चार (वेद) और उसके छः शाखा (अङ्ग) का व्याख्यान करते हैं, तथा अगनित (अनन्त) विद्या को गनते (विचारते गुनते) हैं, परन्तु एक सत्यात्मा सच्ची बात को नहीं जानते हैं तो सो यदि औरो (अन्य) आगम (तन्त्र) पञ्चरात्रादि ग्रन्थों का भी विचार करते हैं। तो ते (उन) सबसे भी उनको एक राम की भक्ति ज्ञानादि के विना संसार के आरपार नहीं सूझते हैं। भक्ति और ज्ञान के विना चाहे जप, तीर्थ, व्रत, पूजा आदि किये जायँ। और दूसरे प्रकार के ज्ञान पुराण कर्म किये जायँ, परन्तु इन सबसे भी संसार के वार पार नहीं सूझते हैं। किन्तु भक्ति आत्मज्ञानादि के द्वारा सांसारिक स्नेह (राग आसक्ति मोह) को त्यागने से संसार के वार पार सूझते हैं। क्योंकि—

---

१ सम्यग् दर्शनसम्पन्नः कर्मभि र्न निवध्यते। दर्शनेन विहीनस्तु संसारं प्रतिपद्यते ॥ १ ॥ "मनुस्मृति ६।७४" २ न तीर्थानि न दानानि न कर्माणि न चाश्रमाः। दुष्टाशयं दम्भरुचिं न पुनन्त्यजितेन्द्रियम् ॥ १ ॥ ब्रह्म पु० २३।४" रागाद्युपहिते चित्ते व्रतादि क्रियते हियत्। तद्दम्भः प्रोच्यते तस्य फलमस्ति मनाङ् नच ॥ २ ॥ "योगवासिष्ठ० ३।६।२३"

साखी—मन्दिर तो है नेह का, मत कोई पैठु धाय।
जो कोई पैठु धाय के, बिनु शिर सेतिहि जाय ॥२२॥

शरीराख्यं गृहं चेदं स्नेहेनैवेह जायते।
तत्र केऽपि न गच्छन्तु द्रुतं मोहेन जन्तवः ॥४९॥
ये विशन्त्यत्र मोहेन सुखं मत्वा कुबुद्धयः।
आसक्ताश्च भवन्त्यत्र पुन र्व्यर्थं व्रजन्ति ते ॥५०॥
उत्तमाङ्गो महानात्मा तमप्राप्यैव गच्छताम्।
मानुष्यं निष्फलं नूनमेवं जन्मान्तराणि च ॥५१॥
नान्यत्र ज्ञानतपसो नान्यत्रेन्द्रियनिग्रहात्।
नान्यत्र सर्वसंत्यागात् सिद्धिं विन्दति मानवः ॥५२॥

ज्ञानाऽज्ञानैः स्नेहजालः कृतोऽत्र कृत्वा देहं तत्र बध्वा क्षिपेद्धि।
तस्मात्स्नेहं सर्वयत्नेन हित्वा स्वात्मारामोऽन्वेषणीयः सदैव ॥५३॥
दृष्टं स्याच्चेत् क्षणमप्यस्य रूपं सर्वं वन्धं सनिदानं दहेत् सः।
संसारेऽस्मिञ्छमनो हन्त्यवश्यं वध्वा स्नेहैः कुगुणैरन्यथा वै ॥५४॥

इति हनुमदीये रमैनी रसोद्रेके राम भक्त्यादि बिना दुःखयातनादि वर्णनं नाम नवमः प्रवाहः ॥ ९ ॥

यह वर्तमान संसार शरीर रूप मन्दिर, अज्ञानमूलक पूर्व जन्म के स्नेह का कार्यरूप है सो दुःखरूप अनित्य अपवित्र है। अतः सुखेच्छु मुमुक्षु कोई भावी मन्दिर में स्नेह द्वारा धाय कर नहीं पैठो, किन्तु "हेयं दुःखमनागतम्" इस उपदेश के अनुसार स्नेह के निवारण द्वारा भावी शरीर प्रवेश का निवारण करो, वर्तमान संसार शरीर की आशक्ति को त्यागो। क्योंकि जो कोई इसमें दौर कर पैठता है (स्नेह करता है) सो सेतिहि (व्यर्थ ही) बिना शिर के होकर (शिर कटाकर) जाता है (आत्मज्ञादि के बिना बार-बार मरता है)। "को गृहेषु पुमान् सक्तमात्मानमजितेन्द्रियम्। स्नेहपाशैर्दृढैर्बद्धमुत्सहेत विमोचितुम्। भा० स्क० ७। ६। ९" निःस्नेहो याति निर्वाण स्नेहोऽनर्थस्य कारणम्। निःस्नेहेन प्रदीपेन तदेतत् प्रकटीकृतम्। सुभाषितम्। गृहों में आसक्त अजितेन्द्रिय दृढ़ स्नेहरूप बन्धन से बद्ध आत्मा को विमुक्त करने के लिये कौन पुरुष उत्साह कर सकता है ॥१॥ स्नेह रहित ही मोक्ष पाता है। क्योंकि स्नेह अनर्थ का कारण है, स्नेह (तेल) रहित दीप ने यह प्रकट कर दिया है। "स्नेह नाथ नाथ्यो नहिं छूटै" इत्यादि वचन प्रसिद्धि के अनुसार

स्नेह बन्धन का हेतु प्रायः राग कहा जाता है, अतः उक्त अर्थ किया गया है। यद्यपि "स्नेहेन धनलोभेन लाभेन मणिपोषिताम्। आपात रमणीयेन चेतो गच्छति पीनताम्। योगवा. प्र. ५स-५०" इत्यादि वचनों के अनुसार, स्नेह धन के लोभ और आपात रमणीय मणि स्त्री के लाभ से चित्त (मन) पीनता (पुष्टता) को प्राप्त होता है, सत्त्वापत्तिरूप ज्ञान का साधन मन की तनुता है, तथापि कथञ्चित् अर्थ हो सकता है कि संसार के वार-पार सूझने के लिये शुद्ध स्फटिक के मन्दिर के तुल्य शुद्ध स्नेह (प्रेम भक्ति) का मन्दिर है (प्रेम भक्ति युक्त हृदय है)। परन्तु उसमें बहुत धैर्य शान्ति से पैठा जाता है। अतः कोई दौड़कर बैठने के लिये साहस नहीं करो। यदि कोई इसमें दौड़ कर पैठता है तो वह भी बिना शिर से ही इसमें जाता है। अर्थात् सब अभिमान ममता को त्यागकर शीघ्र भक्ति को प्राप्त करता है। अतः शीघ्र भक्ति-मुक्ति के लिये अभिमानादि त्याज्य हैं ॥२२॥

सम्बन्ध—प्रथम कहा गया है कि स्नेहमूलक शरीररूप मन्दिर में धाय कर बैठने से व्यर्थ ही शिर कटाकर जाना होता है, तहाँ शंका होती है कि व्यर्थ ही कैसे जाना होता है, देह की प्राप्ति होने पर लोक परलोक में नाना प्रकार के भोग सुख की प्राप्ति होती है। तो "नाल्पे सुखमस्ति" छा. ७।२४।१" परिछिन्न विषयादि में सुख नहीं है। "आदिमध्यावसानेषु दुःख सर्वमिदं जगत्। तस्मात्सर्वं परित्यज्य तत्त्वनिष्ठो भवेत् सदा ॥१॥ पञ्चीकरण वार्तिका" "कुत्रापि कोपि सुखीति, तदपि दुःखशबलमिति दुःखपक्षे निक्षिपन्ते विवेचकाः। सांख्यसू. अ. ६।७।८" आदि मध्य और अन्त में यह सब जगत् दुःखरूप है। अतः असत्य बुद्धि आदि से सबको त्याग कर, सत्यात्मनिष्ठ सदा होना चाहिये। कोई विरल प्राणी कहीं सुखी रहता है, तहाँ भी उसका सुख, दुःख से मिश्रित रहता है। अतः विवेकी लोग उस सुख को भी दुःख ही समझते हैं, इत्यादि आशय से शंका का समाधान है कि—

अथ संसारासारता प्रकरण १०

रमैनी २३

अलपे सुख दुख आदि हुँ अन्ता। मन भुलान मैगर मैं मन्ता ॥
सुख विसराय मुक्ति कहँ पावै। परिहरि साँच झूठ कहँ धावै ॥

दुखै ग्रस्तमिदं सर्वं सौख्यमल्पं तु वर्तते।
आदावन्ते च सौख्यस्य नामापीह न लक्ष्यते ॥१॥

तथापीदं मनश्चैव महोन्मत्तो मतङ्गजः ।
दुःखान्येतानि विस्मृत्य धत्ते सौख्याभिमानिताम् ॥२॥
यदि नेदं स्मरेत् सौख्यमभिमानं विवर्जयेत् ।
प्राप्नुयाद् वै तदामोक्षमक्षायां शान्तिमेव च ॥३॥
मनश्चेदं सुखं सत्यं त्यक्त्वैव कुरुते रतिम् ।
असत्ये मुच्यते नातः सुदृढाद् भवबन्धनात् ॥४॥

अल्प (परिच्छिन्न) संसार में सुख भी अल्प (तुच्छ) ही होता है और वह सुख, तथा उस सुख के साधन के आदि और अन्त में दुःख अवश्य व्याप्त रहता है, जैसे कि शरीर के आदि अन्तरूप जन्म मरण काल में महान दुःख रहता है। सुख का नाम भी नहीं रहता है, तैसे ही द्रव्यादि के उपार्जन नाश काल में दुःख रहता है तो भी मैगर (मस्त हाथी) तुल्य मैं मन्ता (अभिमानी) मन उस दुःख को भुलाना (विसरा भूला) रहता है, और सुख ही समझता है। यदि यह मन सांसारिक सुख को विसराय दे (भूल जाय) और दुःख को नहीं भूले तो स्नेह के त्याग विराग भक्ति ज्ञान को प्राप्त करके मुक्ति को प्राप्त करे, परन्तु संसार में सुख माननेवाला मन तो साँच सुख सत्यात्मा सदुपदेशादि को भी त्यागकर, झूठे सुखादि का ही ध्यान करता है, उसके लिये दौड़ता है तो ऐसा मन वाला मुक्ति कहाँ और कैसे पासकता है ? क्योंकि "यन्मनसा चिन्तति, तद्वाचा वदति, यद् वाचावदति तत्कर्मणा (शरीरेण) करोति, यत्कर्मणा करोति तदभिसम्पद्यते" और "ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते । सङ्गात्संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते ॥१॥ क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः । स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥२॥ भ० गी० २।६२ ६३" जिनका मन से चिन्तन करता है, उसको वाणी से कहता है और क्रिया से सिद्ध करके उसको प्राप्त करता है। तथा मन से विषयों के ध्यान करनेवालों का विषयों में सङ्ग (आसक्ति प्रेम) होता है, फिर काम और क्रोध होते हैं, क्रोध से अविवेक स्मरण शक्ति का नाश, ज्ञान शक्ति का नाश क्रम से होता है, फिर मनुष्य जीवनकाल में ही मृतक तुल्य श्रेष्ठ पुरुषार्थ से हीन हो जाता है, मोक्षकी बात ही नहीं रहती है।

अनल जोति डाहै एक सङ्गा । नयन नेहजस जरै पतङ्गा ॥
करु विचार जे सब दुख जाई । परिहरि झूठा केर सगाई ॥
लालच लागे जन्म सिराई । जरा मरण नियरायल आई ॥

यं ध्यायति मनश्चेदं तेनास्यैकोऽत्रसङ्गमः ।
ओषयेद् दह्यते तस्मान्नेत्रस्नेहात्पतङ्गवत्[1] ॥५॥
असत्यैः सङ्गमं त्यक्त्वा विचारः स विधीयताम् ।
येन दुःखानि सर्वाणि समूलानि भवन्ति नो ॥६॥
असत्यस्यैव लोभेन जन्मानि सुबहूनि ते ।
व्यतीतानि पुन र्मृत्यु र्जरा चोत्तिष्ठतेऽन्तिकम् ॥७॥

जिन झूठे विषयादिकों का मन ध्यान करता है, उनके साथ एक सङ्गमात्र ही इस मनुष्यादि को काम क्रोधादि के द्वारा (अनल जोति) अग्नि की ज्वाला के समान डाहता (दाहता) जलता है, तो भी यह मनुष्य विषय संग से स्वयं ही इस प्रकार से जलता है कि नेत्र के विषय-दीपादि में नेह (स्नेह) से जैसे पतङ्गा जलता है, उपदेश है कि झूठा (असत्य) विषयादि के सगाई (संग आसक्ति) को सर्वथापरिहरिं (त्याग) करके, अब भी स्वधर्म सत्यात्मा के विचारादि करो कि जिससे आत्मज्ञान द्वारा अज्ञान की निवृत्ति से अज्ञान मूलक सब दुःख नष्ट हो जायँ । क्योंकि विचारादि के बिना लालच (लोभादि) में लगे रहने से अनेक जन्म सिराय (बीत) गये, इस जन्म का भी बहुत समय बीत गया, परन्तु विचारादि विना सब दुःख नहीं गया और जरामरण पास में आ पहुँचे, अतः इन के पास में आने पर भी विचार अवश्य करो कि जिससे सब दुःख नष्ट हो जायँ । क्योंकि "मनागपि विचारेण चेतसः स्वस्य निग्रहः । मनगपि कृतो येन तेनाप्तं जन्मनः फलम् ॥१॥ सम्यग् विचारिणं प्राज्ञं यथाभूतावलोकिनम् । आसादयन्त्यपि स्फारा नाविद्याविभवा भृशम्[2] ॥२॥" किञ्चिद्विचार से कुछ भी जिसने चित्त का निरोध किया, उसने मानव जन्म का फल पाया ॥१॥ यथार्थवस्तु को जानने वाले सम्यक विचारशील ज्ञानी को अत्यन्त विस्तृत अविद्यामय विभव नहीं प्राप्त होते हैं ॥२॥ अतः विचार अवश्य कर्तव्य है ।

साखी—भ्रम के बाँधल ई जगत, यहि विधि आवै जाय ।
मानुष जन्महिं पाइ नर, काहे को जहडाय ॥२३॥

---

१ स्नेहपाशै र्बहुविधैरासक्तमनसो नराः । प्रकृतिस्था विषीदन्ति जले सैकत वेश्मवत् । म० भा० शा० अ० २६८।३५ ॥

२ योगवा. उपशमप्र. स. ६३।१-४ । नोत्पद्यतेविना ज्ञानं विचारेणान्यसाधनैः । यथा पदार्थभानं हि प्रकाशेन विना क्वचित् ॥१॥ कोहं कथमिदं

भ्रमेणैव सुसन्नद्धाः सर्वे संसारिणो जनाः ।
एवं लोभाभिमानाभ्यां पुनरायान्तियान्ति च ॥८॥
मानुष्यंप्राप्य-किं सौम्य ! पुनर्मोहेन पीड्यसे ।
विचारेण परित्यज्य मोहंसौख्यं समाप्नुहि ॥९॥
मोहं[1] लोभं परिहर तरसा सङ्गंत्यक्त्वा भज हरिमरसम् ।
मानुष्यं स्वं सफलय नर हे किं त्वं भ्रान्तो भ्रमसिविहरहे ॥१०॥
अर्थादिमूलं[2] परमार्थदर्शकं मानुष्यमेतद्बहुजन्मनोऽन्ततः ।
लब्ध्वा तथा यत्नपरो भवान्भवेद्यतो न यायान्नरके विमुक्तितः॥११॥
विमुक्तयलाभेऽपिच मूलरक्षणे कुर्यात्सुयत्नं हि विचक्षणोभवान् ।
मूलस्यसत्त्वे तु विमुक्तिलक्षणा स्यादेव वृद्धिर्हि कदाचिदक्षया ॥१२॥२३॥

विचारादि के बिना अज्ञान जन्यभ्रम के द्वारा अभिमानसङ्ग लोभकामादि से बँधाया हुआ ई जगत (यह संसारी) इस पूर्व कही विधि (रीति) से लोभ सङ्गादि करके जलते हुए आता है जाता है (जन्मता मरता है) तहाँ हे नर ! मानुष जन्महुँ पाकर तुम पशु आदि के समान काहे को (क्यों) जड़ते हो, कामादि वश क्यों पीड़ित होते हो, विचारादि से बचो ॥२३॥

सम्बन्ध—बहुत उपदेशक कहते हैं कि चन्द्रमा के ध्यान के बल से अग्नि के संयोग से भी जैसे चकोर की कोई हानि नहीं होती है, अतः वह अग्नि को खाता है । तैसे परमात्मा या किसी देव को ध्यान करते हुए, विषय के भी ध्यान सङ्गादि से हानि नहीं होती है, न पतङ्ग के समान मनुष्य जलता ही है, ऐसे उपदेशों के दुष्परिणामों का आगे वर्णन करते हैं कि—

रमैनी २४

चन्द्र चकोर अस बात जनाई । मानुष बुद्धि दीन्ह पलटाई ॥
चारि अवस्था सपने कहई । झूठो फूरो मानत रहई ॥
मिथ्या बात न जानै कोई । यहि विधिहि सब गेल चिगोई ॥

जातं को वै कर्तास्यविद्यते । उपादानं किमस्तीह विचारः सोऽयमीदृशः ॥२॥ इत्यादि अपरोक्षानुभूतिः ॥

१ मनसा कर्मणा वाचा परस्वादानहेतुतः । प्रपतन्ति नराः सम्यग् लोभोपहतचेतसः ॥१॥ देवी. भा. स्क. ३।१६।४६ । विभवे सत्यहङ्कारः प्रवलः प्रभवत्यपि । अहङ्काराद् भवेन्मोहो मोहान्मरणमेव च ॥२॥ दे०स्क० ४।४।३४॥ "भो गो नौगो, भ्रमरविलसिता" छन्द है ॥ २ ॥ सर्वस्य मूलं मानुष्यं तद्धि

विचारादीनुपेक्ष्यान्ये चन्द्रं चाकोरको यथा।
ध्यायतीह तथा ध्यानमुपदिशन्ति जनान् प्रति ॥१३॥

तेनैषां मानवीं बुद्धिं चक्रिरे विपरीतगाम्।
अविवेकपरां नित्यं विचारविमुखां सदा ॥१४॥

बाल्य कौमार तारुण्यस्थाविरेषु चतुःष्वपि।
अवस्थासु ततः सर्वे भाषन्ते स्वप्नमेवहि ॥१५॥

असत्यं मन्वते सत्यं जगज्जानन्ति नानृतम्।
विस्मृत्यैवं परं तत्त्वं विलोप्यानुभवंनिजम् ॥१६॥

परित्यज्य सुखं सत्यं शान्तिमुत्सृज्य दूरतः।
दुःखपूर्णा गताः सर्वे गन्तारोऽथाऽविवेकिनः ॥१७॥

उक्तरीति के उपदेशकों ने चन्द्र चकोर के समान बात को जनाई (विषय सङ्गादि का उपदेश किया) कि जिससे मनुष्य की मानुषी (विवेक वती) बुद्धि को पलटा दिया। विवेक विचार रहित कर दिया, क्योंकि चकोर का तो जाति के स्वभाव शक्ति विशेष से अग्नि से मुख नहीं जलता है, जैसे ऊंटका मुंह काँटों से नहीं बिंधता है। और मनुष्यों में तो यह स्वभाव है नहीं, कि विषयादि के सङ्गादि से मोहादि विकार नहीं हो। अतः कुसङ्गादि से मनुष्य मनुष्यता रहित अविवेकी हो गये। जो अविवेकी हुआ सो बाल्यादि चारो अवस्थाओं में स्वप्न तुल्य मिथ्या विषयादि की बातों को कहता है और झूठ (मिथ्या) बात वस्तु को ही फुर (सत्य) मानते रहता है तथा विवेकपूर्वक सत्य मिथ्या को नहीं समझता है, अतः सत्य मिथ्या को एक ही मानते रहता है। अतः मिथ्या बात मात्र विकारों को तथा मिथ्या शब्दों को कोई मिथ्या नहीं समझता है। इस प्रकार से मनुष्यता को गमाकर सब गये (नष्ट हुए)।

आगे दै दै सबन गमाया। मानुष बुद्धि न सपने हुँ पाया ॥
चौतिस अछर से निकलै जोई। पाप पुण्य जानैगा सोई ॥

भाविन्यर्थे मनो दत्त्वा ह्याशापाशैः सुयन्त्रितैः।
तृष्णामोहादिभिः सर्वै र्विचाराद्या विनाशिताः ॥१८॥

यत्नेन रक्षयेत्। तद्वृद्धौ नास्ति चेद्यत्नो मूलं तु परिरक्षय ॥१॥ गरुडपु.। निष्कामिवादिभि र्मानुष्यं रक्षितं भवति, नान्यथा, तथा च शास्त्रम्। "कामक्रोधसमायुक्तोहिंसालोभसमन्वितः। मनुष्यत्वात्परिभ्रष्टस्तिर्वग् योनौप्रजायते।१"

अतो न मानवी बुद्धिः स्वप्नेऽपि लम्भिता[1] हि तैः ।
काम क्रोधपरै मूढैराशालोभहतैः सदा ॥१९॥
चतुस्त्रिंशन्मितेभ्योयो वर्णेभ्योऽतिपरं निजम् ।
जानाति परमं तत्त्वं विवेकेन विचक्षणः ॥२०॥
अवाच्यं परमानन्दं ज्ञात्वा सत्त्वेन तत्त्वतः ।
सर्वान् वर्णानतिक्रम्य विविक्ते स्वेस्थितः सदा ॥२१॥
पुण्यं पापं च जानीयादात्मानं च जगत्तथा ।
विविक्तः सर्वसङ्गेभ्यः परां मुक्तिं स चाप्नुयात् ॥२२॥

जिन लोगों ने काम कुसङ्गादि के त्यागपूर्वक विवेक विचारादि से ज्ञान की प्राप्ति के द्वारा यहाँ जीवन्मुक्ति को नहीं प्राप्त किया, उन सब लोगों ने अन्य के प्रति भी आगे (कालान्तर) की मुक्ति की आशा दे देकर, सद्विचार मनुष्यता आदि को व्यर्थ गमाया । क्योंकि लोकान्तर कालान्तर के मोक्ष सुखादि की आशा वालों ने मानुषी विवेकमयी बुद्धि को स्वप्न में भी नहीं प्राप्त किया । और जो कोई विचारादि द्वारा चौंतिस अक्षर के जाल से निकलता है, नामरूपात्मक देह गेहादि को मायामय मिथ्या समझकर, शुद्ध सत्यात्मा को शब्दावाच्य निजस्वरूप समझता है, सोइ पाप पुण्य (अनात्मा आत्मा) को विवेक पूर्वक अपरोक्ष जानता है, और जानेगा ।

साखी—सोइ कहते सोइ होहुगे, निकरि न बाहर आव ।
हौं हजूर ठाढ़ कहते हौं, धोखे न जन्म गमाव ॥२४॥

यं यं वदसि नासौ त्वं वर्तसे न भविष्यसि ।
वाचामविषयत्वाच्च साक्षित्वाच्चैव केवलम् ॥२३॥
अतो वदसि यान् सर्वान्निष्कृष्यैव ततः स्वयम् ।
स्वात्मानं निर्मलं युक्त्या सदा तिष्ठ तदात्मना ॥२४॥
इत्येवं गुरुभिः प्रोक्तमात्मभूतैर्हि देहिनाम् ।
श्रुत्वा पुनरसत्ये न स्वायु र्गमय सुव्रत ! ॥२५॥
मानुषी सुधिषणात्र गृह्यतां त्यज्यतां निखिलवाच्यमात्रकम् ।
नैव यं वदसि सोऽसि कर्हिचिन्नैव जातु भवितासि देवहे ॥२६॥२४॥

---

१ लभतेर्णिचि (रभेरशब्लिटोः । लभेश्च) इति नुमि, अनुस्वारे, परसवर्णे, निष्ठायांम्, इटि च कृते (निष्ठायां सेटि) इति णिलोपे, लम्भिता (प्रापिता) ।

चौतिस अक्षरों से निकलने के लिये युक्ति बताई गई है कि सोई (उस देहादि) को कहते हुए, तुम क्या सोई (देहादिक) ही कभी हो सकते हो। अर्थात् देहादि को कहनेवाला तुम देहादि स्वरूप कभी नहीं हो सकते हो। क्योंकि "घट द्रष्टा घटाद्भिन्नः सर्वथा न घटो यथा। देहद्रष्टा तथा देहत्रितयाद्भेदमर्हति ॥ १ ॥ घट का द्रष्टा जैसे सर्वथा घट से भिन्न रहता है, घट स्वरूप नहीं होता है। तैसे तीन देहों का द्रष्टा देहों से भेद के योग्य है और जो देहादि का द्रष्टा है, सोई वाक् द्वारा वक्ता है। अतः वह किसी प्रकार वक्तव्य नाम रूपात्मक नहीं हो सकता है। अतः जो कुछ तुम देखो या कहो, उन सबसे बाहर निकल न आवो। अर्थात् माया आदियुक्त चेतनात्मा में ब्रह्म ईश्वर जीवादि शब्दों की शक्ति को जानकर, माया आदि से उपलक्षित (रहित) शुद्ध ब्रह्म स्वरूप निजात्मा को शुद्ध मनोवृत्तिमात्र से व्यक्त करो (समझो) हौं (मैं) हजूर (प्रत्यक्ष) उस स्वरूप से उपस्थित होकर कह रहा हूँ। तुम धोखे (मिथ्या नामरूप) में आत्मबुद्धि करके इस जन्म को व्यर्थ नहीं गमावो ॥ २४ ॥

रमैनी २५

चौतिस अक्षर क यही विशेखा। सहसो नाम याहि महँ देखा ॥
भूलि भटकि नर फिर घट आया। हता जान सो सबन गमाया ॥

चतुस्त्रिंशच्च ये वर्णास्तद्विशेषा इमानि वै।
अनन्तानि हि नामानि रूपाणि विविधानि च ॥२७॥
अत्रासक्तो नरो भ्रान्त्या भवाटव्यामटाट्यते।
अटित्वा पुनरायाति शरीरेष्वेव भुक्तये ॥२८॥
कर्मवासनयाऽऽगत्य तिर्यग्योनिषु मानवः।
धर्माधर्मादिबोधं स्वमऽसंशयमनीनशत् ॥२९॥

पाँच कवर्गादि के पचीस अक्षर और य, र, ल, व, ये चार श, ष, स, ह, क्ष, ये पाँच मिलाकर चौतीस अक्षर होते हैं कि जिनसे निकलना चाहिये। उन चौतिस अक्षरों का ही यह सब विशेष (भेद-प्रकार) रूप संसार है। क्योंकि याहि महँ (इन चौतिस अक्षरों में ही) सहसो (अनन्तो) नाम देखे (सुने) जाते हैं और नाममात्र ही विकारात्मक संसार है, इस प्रकार श्रुति कहती है कि "वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्। छा० ६।१।३" इन नामों (मिथ्या देहादि) में जो मनुष्य सत्यात्मादि बुद्धि से भूला (भ्रान्त आसक्त हुआ) सो भूलकर अनन्त व्यवहार लोकादि में भटका (भ्रमण किया) कोई प्रेतादि होकर मरने

पर भटका और भटककर कर्मवासनादि के अनुसार फिर किसी शरीर में आया और आता है। तहाँ फिर मानव शरीर में बाम्बार आना दुर्लभ हैं। अतः यदि पशु आदि शरीरों में फिर आया तो जो यहाँ जान (ज्ञान प्राण शक्ति) रहता (था) सो ज्ञानादि सब इसने गमाया (खो गया)।

खोजहिं ब्रह्म विष्णु शिव शक्ती। अनन्त लोक खोजहिं बहु भक्ती ॥
गण गन्धर्व खोजहिं मुनि देवा। अनन्त लोक खोजहिं बहु सेवा ॥

स्वं ज्ञानं नाशयित्वैव केचिद् ब्रह्माणमेवहि।
केचिद् विष्णुं शिवं केचिच्छक्तिं चैवापरे नराः ॥३०॥
अनन्तलोकमन्ये च भक्त्या मृग्यन्ति मानवाः ॥३१॥
गणान् गन्धर्वदेवाँश्च मुनींल्लोकाँश्च वै बहून्।
बहुधा सेवया ह्येते मृग्यन्ति सुखलब्धये ॥३२॥
यद्वा ब्रह्मा हरिर्भर्गो दुर्गाऽनन्ता इमे जनाः।
बहुभक्त्या विशेषान् हि मृग्यन्ति न निजं सुखम् ॥३३॥
गणगन्धर्वदेवाश्च लोकाश्च मुनयस्तथा।
विमृग्यन्ति विशेषान् वै यावद्बोधो न लभ्यते ॥३४॥
"विष्णुश्चरत्यसावुग्रं तपो वर्षाण्यनेकशः।
ब्रह्माहरस्त्रयो देवा ध्यायन्तः कमपि ध्रुवम् ॥३५॥
कामयानाः सदा कामं ते त्रयः षर्वदैवहि।
यजन्ति यज्ञान् विविधान् ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः" ॥३६॥

देवीभा. स्क. १।८।४६ ॥

यद्यपि नाम में भूलने से प्राप्त ज्ञान का भी अभाव हो जाता है, तथापि मनुष्य नामात्मक (शरीरी विशेष) स्वरूप ब्रह्मा विष्णु शिव और शक्ति (दुर्गा आदि देवी) को खोजते हैं और जब तक नामों में भूले रहते हैं, तब तक ब्रह्मा आदि भी किसी नाम नामी विशेष को तपों द्वारा खोजते हैं बहुत भक्तिपूर्वक अनन्त लोकों को सब खोजते हैं और गणदेव, गन्धर्वदेव, मुनि लोग भी, अन्य देव भी बहुत सेवा (भक्ति) पूर्वक अनन्त (अविनाशी) लोकादि को खोजते हैं, तथा अन्य जीव गणदेवादि को खोजते हैं, निश्चित आत्म ज्ञानादि के बिना, तथा प्रबल प्रारब्ध के भोग के बिना विशेष के खोज से कोई निवृत्त नहीं हो सकता है। "महाभा० शा० अ० २३।६।२३" का वचन है कि (देवापि मार्गे मुह्यन्ति अपदस्य पदैषिणः) अपद (मार्ग स्थान रहित) ज्ञानी के पद को चाहने वाले अज्ञदेव भी मार्ग में भूलते हैं।

साखी—यती सती सब खोजही, मनहि न मानै हार।
बड़ बड़ जीव न बाँचही, कहहिं कबीर पुकार ॥२५॥

यतिसत्यव्रताः सर्वे ह्यमनो निग्रहं सदा।
अन्वेषयन्ति चाऽऽबोधं विरलोऽस्माद्विमुच्यते ॥३७॥
बोधं विना न विद्वांसो महान्तोपि च बन्धनात्।
विशेषाख्याद्विमुच्यन्ते गुरुरुच्चैर्हि भाषते ॥३८॥

*निर्विशेषसौख्यसान्द्रचिद्घनं पावनं सदैव दोषवर्जितम्।
ज्ञानगम्यविश्ववन्द्यविग्रहं ह्याशया विहाय यान्ति सर्वतः ॥३९॥
अन्तं गतं यस्य हि पापपञ्जरं[1] भवेद्विवृद्धा च तथा सुवासना।
विशुद्धभावोऽपि सदैव वर्तते तत्रैव धीरे निजबोधलब्धये ॥४०॥
स्त्रीबालशूद्राश्श्वपचाधमा अपि भावैर्विशुद्धा ननु बोधभागिनः।
भवन्ति तूर्णं हि सुसाधुसङ्गमात्प्राग्जन्मसंस्कारवशान्न संशयः ॥४१॥
विस्मृत्य चात्मानमनन्त चिद्घनं संसारिणो जीवगणा भवन्ति हि।
ब्रह्मा[2] शिवो विष्णुमुखाश्च देवता आशादिसत्त्वे भवबन्धभागिनः ॥४२॥
इतिहनुमदीयेरमैनोरसोद्रेके संसारासारता वर्णनं नाम दशमः प्रवाहः ॥१०॥

यति (योगादि यत्न करनेवाले संन्यासी) सती (सत्य वक्ता पतिव्रता) ये सब भी नामरूप विशेष को खोजते हैं। क्योंकि जब तक नामरूप से नहीं निकलते हैं, तब तक इन सबका मन खोज से हार ही नहीं मानता है (निवृत्त शान्त नहीं होता है) अतः वह मन ही सबको भटकाता है और इस खोज से मन के हार माने के बिना, इस खोज भूल भटक से बड़े बड़े सिद्ध योगी आदि जीव भी नहीं बचते हैं, और मनो निग्रहपूर्वक कुसङ्गादि को त्यागने पर, निजात्मा के अनुभव से ही सब जीव निर्विशेष आनन्द स्वरूप को प्राप्त करते हैं। अतः सङ्गत्यागादि के लिए श्री कबीर साहब पुकार के कहते हैं। "दौड़त दौड़त दौड़िया, जेतिक मन की दौड़। दौड़ि थके मन थिर भया, वस्तु ठौर की ठौर॥" (अंग की साखी) ॥२५॥

---

१ "ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात्पापस्य कर्मणः। यथाऽऽदर्शतलप्रख्ये पश्यत्यात्मानमात्मनि ॥१॥ म.भा.शा०अ. २०४।८" २ किं विष्णुः किं शिवो ब्रह्मा मघवा किं बृहस्पतिः। देहवान् प्रभवत्येव विकारैः संयुतः सदा ॥२॥ देवीभा० स्क. ४।१३।१५" * छन्द "श्येन्युदीरिता रजौ रलौ गुरुः" श्येनी नामक है।

अथ सत्यकर्ताविचार प्रकरण ११

रमैनी २६

आपुहि कर्ता भया कुलाला । बहु विधि बासन गढै कुम्हारा ॥
विधि ने सबहिं कीन्ह इक ठाऊँ । अनेक यत्न कै बने कनाऊँ ॥

विशेषेभ्यः परं यत्तत्सत्तत्त्वमस्ति चेतनः ।
स्वयमेवमनोमायायोगात्कर्तृत्वमाप्तवान् ॥ १ ॥
घटादीनिव देहादीनास्ते स रचयन् प्रभुः ।
उच्चावचान्न सन्देहो विधिना साध्यतेऽखिलम् ॥२॥
साधनानां समाहारो विधितन्त्रोऽस्ति यद्यपि ।
कर्त्रा यत्नैस्तथाप्येतच्छरीरं बहुभिः कृतम् ॥ ३ ॥

"आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत् किञ्चन मिषत् सईक्षत लोकान्नु सृजा इति । ऐतरेय १।१" सृष्टि से प्रथम यह संसार आत्मा ही में लीन था, इससे एक आत्मा ही था, क्रियायुक्त अन्य कुछ नहीं था, उस आत्मा ने विचार किया कि लोकों की सृष्टि करूँ) इत्यादि श्रुतियों के अनुसार, नाम रूपादि सब विशेषों (भेदों) से रहित जो आत्मा है, सो आप (आत्मा) ही (मनो माया द्वारा) कुलाल के समान कर्ता भया (हुआ) है । और कर्तारूप कुम्भकार लोक भूतादि को रचकर बहुत प्रकार के शरीररूप बासन (घट) को गढ़ता (बनाता) है । तहाँ यद्यपि प्रारब्ध कर्म काल ब्रह्मा रूप विधि ने माता पिता देशादिरूप सब ही साधनों को एक ठाम (स्थान) में एकत्र किया और करते हैं तथापि उस कर्ता के ही सत्ता प्रकाशादिरूप यत्नों से यह कनाऊ (कुत्सित नामवाला कार्यरूप काया) बनकर तैयार हुआ और होता है । और क नामक आत्मदेव बहुत यत्न से शरीर बना और बनता है, अर्थात् जड़कर्मादि मात्र से या असर्वज्ञदेवादि से संसार शरीरादि की व्यवस्थित सृष्टि नहीं हो सकती है । अतः सर्वात्मामायीईश्वर से सृष्टि होती है ।

जठर अग्नि महँ दीन्ह प्रजाली । ता महँ आप भये प्रतिपाली ॥
बहुत यतन कै बाहर आया । तब शिव शक्ति नाम धराया ॥

सम्पाद्यैतच्छरीरं स[1] जठराग्नावपक्षत ।
रक्षकोऽथाऽभवत्तत्र प्रकाशाद्यैः स्वयं प्रभुः ॥ ४ ॥

---

१ एषो ह देवः प्रदिशोऽनुसर्वाः, पूर्वो ह जातः सउगर्भेअन्तः । श्वे० २।१६"

बहुभिश्चास्ययत्नैस्तु गर्भाद्बहिरजायत।
तदाऽस्यैवपुमान् स्त्री वा नामस्वस्याकरोदयम्॥ ५॥
इत्येवं जीवरूपेण प्रविष्टस्य स्वयम्भुवः।
कार्यमस्ति जगत् कृत्स्नं विग्रहस्तु विशेषतः॥ ६॥

उक्त रीति से प्रथम मानस या मायामय संकल्परूप रचना करके, उस कच्चे घट को पकाने के लिए (भौतिक घट को रचने के लिये) कर्ता ने उस देह रूप घट को माता के जठरानल में (गर्भाशय में) प्रजार दिया (जलाया पकाया) और उस स्थान में भी आप प्रति पालक (रक्षक) हुआ, क्योंकि "प्रजापतिश्चरति गर्भेऽन्तरजायमानो बहुधा व्यजायते। तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन् ह तस्थु र्भुवनानि विश्वाः। शुक्लयजुः, ३१।१९" सर्वात्मा प्रजापति गर्भ के अन्तर प्रवेश करता है, और वस्तुतः अजायमान (जन्म रहित) होते भी, भूतों में माया से बहुधा जन्मता है, उसके (योनि) स्थान को ज्ञानी जानते हैं, और उसी में सब भुवन स्थिर हुए हैं। इत्यादि वेद भी उक्तार्थ को कहते हैं। वह कर्ता ही गर्भ में पालकादिरूप से रहकर, जन्म काल में बहुत यत्न करके गर्भ से बाहर शरीर सहित आया, और आता है, तब शरीरी बनकर, वह अपना ही शिव (पुरुष) और शक्ति (स्त्री) नाम धराया, और धराता है। अर्थात् एक सत्यात्मा ही चिदाभासादि द्वारा व्यवहारिक जीव शरीरी होकर अनन्त स्त्री पुरुषादि हुआ है, और वस्तुतः वह स्त्री पुरुषादि भेद से रहित सर्वात्मा है। "न स्त्री न पुमानेष न चैवायं नपुंसकः। यद्यच्छरीरमादत्ते तेन तेन सयुज्यते। श्वेता० ५।११" यह आत्मा स्त्री पुरुष नपुंसक नहीं है, किन्तु अन्तःकरणादि उपाधियों के द्वारा जिस-जिस शरीर का ग्रहण करता है, उस उस व्यवहार से युक्त होता है।

घर के सुत जो होय अयाना। ताके सङ्ग न जाय सयाना॥
साँची बात कही मैं अपनी। भया दिवाना और कि सपनी॥

यथा लोके भवेदत्र कुले जातोपि कस्यचित्।
पुत्रोऽज्ञः पतितो धर्मात् पिता तेन न गच्छति[1]॥ ७॥
तथेदं वर्ष्म विज्ञाय मायामोहमनोमयम्।
अपवादावधूतं च बुधस्तेन न गच्छति॥ ८॥

---

१ त्यजेदेकं कुलस्यार्थेग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्। ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथीवीं त्यजेत्। "चाणक्यनीति। त्यजेत् कुलार्थेपुरुषम्। इत्यादि। म० भा०

आसक्तो न भवत्यत्र तदर्थं यतते न च।
आत्मार्थं कुरुते सर्वं ज्ञात्वा किञ्चित्[१] करोति नो॥ ९ ॥

आत्मना रचितं सर्वमिति सत्यं गुरो र्वचः।
स्वप्न तुल्यान्यवाण्याऽत्र प्रमत्तं वर्तते जगत्॥ १० ॥

कुले जात्यभिमानेन मोहै र्बहुविधैरपि।
विस्मृत्यैवं स्वमात्मानं वर्तते विग्रहे रतः॥ ११ ॥

जैसे घर का औरस पुत्र भी यदि अयान (अज्ञ अधर्मी पतित) कुमार्गी हो जाता है, तो उसके सङ्ग में सयान (विवेकी धर्मज्ञ) पिता नहीं जाता है, तैसे ही अपनी आत्मा से देह इन्द्रियादि उत्पन्न हुए हैं, परन्तु ये अज्ञानमय दुःखद अपवित्र हैं, अतः विवेकी इनमें आसक्त इनके अभिमानी नहीं होते हैं, अविवेकी इनके अभिमानादि करके फिर जन्मादि पाते हैं, और दुःखी होते हैं। श्री कबीर साहब कहते हैं कि यह उक्त अपनी बात मैंने सच्ची कही है कि निज स्वरूप कर्ता से यह शरीर उत्पन्न होता है, सो अज्ञ पुत्र के समान सङ्ग करने योग्य नहीं है, इसके सङ्गादि के त्यागादि से मुक्ति होती है, इत्यादि। परन्तु संसारी मनुष्य अन्य की सपनी (स्वप्न तुल्य) मिथ्या बातों को सुनकर दिवाना (उन्मत्त) हुआ है। अतः सङ्गादि को नहीं त्यागता है, किन्तु मिथ्या देह कुल जाति आदि का अभिमान करता हैं।

गुप्त प्रगट है एकै दूधा। काको कहिये ब्राह्मण शूधा॥
झूठी गर्व भुलो मति कोई। हिन्दू तुरुक झूठ कुल दोई॥

अव्यक्ते[२] व्यक्तसामर्थ्ये सत्यप्राकाशलक्षणा।
जातिरात्मनि[३] चैकैव तत्र गर्वो न युज्यते॥१२॥

कल्पनामात्रजन्यस्तु गर्वो मिथ्यैव बाधते।
ब्राह्मणोऽयमयं शूद्रः शुद्धोऽयं नास्त्ययं तथा॥१३॥

वनप० ६३।११" १ "तद्यथाऽहिनिर्ल्वयनी वल्मीके मृता प्रत्यस्ता शयीतैवमेवेदं शरीरं शेतेऽथायमशरीरोऽमृतः ब्रह्मैव तेज एव। वृ. ४।४।७"

२ "एषो ह देवः प्रदिशोऽनुसर्वाः पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः। स एव जातः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ्जनास्तिष्ठति विश्वतोमुखः॥ शुक्लयजुः ३२। ४" एष देवः सर्वा दिशा व्याप्य वर्तते, स एव गर्भे भवति, प्रतिपदार्थमञ्चतीति प्रत्यङ्, भो जनाः स एव सर्वतोमुखः॥ ३ सामान्य स्वभावः।

आत्मदृष्टौ हि कश्चैवं कथ्यतां कः प्रशस्यताम्।
को वात्र निन्द्यतां जीवः सर्वः शुद्धो न संशयः॥१४॥
देहदृष्ट्यापि सर्वोऽयमेको वर्णोऽभिमानवान्।
कर्माद्यैं भिन्नतां याति नान्यथा वै कथञ्चन॥१५॥
केऽपि मिथ्याभिमानेन भ्राम्यन्तु नात्र सज्जनाः।
आर्यानार्यप्रभेदोऽपि मिथ्यैव वर्तते कुले॥१६॥

जिस शरीर के अज्ञानी अभिमानादि करते हैं सो गुप्त (सूक्ष्म या गर्भस्थ) रहते तथा प्रकट अवस्था में एक दूध (जाति स्वभाव) वाले (माया अविद्यामय) या भौतिक रहते हैं और सब मानव देह की सब अवस्था में एक मानव जाति रहती है, तहाँ शरीर दृष्टि से किसको शुद्ध ब्राह्मण कहा जाय, धर्म सदाचार ज्ञानात्म दृष्टि से शुद्ध कहा जा सकता है। परन्तु श्वेतादि पाँच वर्ण (रंग) गौ के दूध गुप्त प्रकट दोनों अवस्था में एक श्वेत स्वरूप रहता है, तैसे चार वर्ण अन्त्यजादि का शुद्ध आत्मा भी एक वर्ण रहता है, अज्ञ के हृदय में गुप्त रहता है, ज्ञानी के हृदय में प्रकट रहता है। परन्तु आत्मा में विलक्षणता नहीं होती है। अतः न शरीर में शुद्धाशुद्ध जाति आदि का भेद है, न आत्मा में भेद है, सब भेद अज्ञानादि से मिथ्या कल्पित हैं। अतः कहते हैं कि झूठी वस्तु देहादि के गर्व (अभिमान) करके कोई भी सत्यात्मा को नहीं भूलो। किन्तु सत्यात्मा एक राम के सदा स्मरण, भजन करो। क्योंकि ब्राह्मणादि पाँच भेद के समान हिन्दू और तुरुक ये दो कुल भी झूठ ही हैं। सत्य सर्वत्र एक आत्माराम देव ही है सो भजनीय है, अन्य नहीं।

जिज्ञासा हुई कि सब भेद मिथ्या है तो सत्य क्या है? क्योंकि किसी सत्याश्रय के बिना मिथ्या की प्रतीति नहीं हो सकती है, तब कहा गया है कि—

साखी—जिन यह चित्र बनाइया, साँचा सो सुत धारि।
कहहिं कबिर ते जन भले, चित्रहिं लेहिं विचारि॥२६॥

येनेदं रचितं चित्रं सर्वमुच्चावचं खलु।
तं सत्यं सूत्रधारं च जानीत सज्जनाः सुखम्॥१७॥
त एव सज्जना लोके सुखिनश्च[1] विशेषतः।
यैश्चित्राणि विचार्यैवं चित्रवाँल्लक्ष्यते स्वयम्॥१८॥

---

१ "एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति। तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्तिधीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्॥ कठ० २।५।१२" ज्ञानवानेव-

निरन्तरं निर्गुणं निर्विकारं निराश्रयं नित्यमाकारहीनम् ।
सन्मात्रकं ज्ञानगम्यं स्वसिद्धं स्वयं प्रभं सुप्रभं ज्ञप्तिमात्रम् ॥१९॥

एतद्धितं ह्यात्मविदो वदन्ति सर्वात्मभावेन तु[1] भावयन्ति ।
सर्वाश्रयं सर्वपरं विदित्वा तत्र स्थिताश्चेतनया भवन्ति ॥२०॥२६॥

जिन (जिस) सर्वात्मा कर्ता ने अपनी अद्भुत मायाशक्ति से यह संसार शरीररूप चित्र को बनाया है, केवल सांई सूत्रधारी (सर्वनियन्ता अन्तर्यामी) सत्य है । अथवा हे सुत ! (शिष्य !) उस चित्रकाररूप सत्य का धारण (निश्चय) करो । श्री कबीर साहब कहते हैं कि वे ही जन भले (सुखी मुक्त) होते हैं कि जो चित्र को विचार कर उस चित्रकार को लेते (आत्मरूप से प्राप्त करते) हैं । सर्वात्मा चित्रकार को समझते हैं । अतः सो ज्ञातव्य है २६॥

सम्बन्ध–प्रथम कुलालरूप से कर्ता का वर्णन किया गया है । तहाँ "ब्रह्मा येन कुलालवन्नियमितः" इत्यादि पुराण लोकप्रसिद्धि आदि के अनुसार ब्रह्मा आदि विषयक मुख्य ईश्वरत्व भ्रान्ति की निवृत्ति के लिये और "यो ब्रह्माणं विदधातिपूर्वम् । श्वे० अ० ६।१८" "यस्माद्विष्णवादयो देवाः सूर्यादिव मरीचयः । यस्माज्जगन्त्यनन्तानि बुद्बुदा जलधेरिव ॥ योगवा० ३।५।७" जो प्रथम ब्रह्मा को सिद्ध करता है । जिससे विष्णु आदि देव सूर्य से किरणों के समान होते हैं और समुद्र से बुद्बुद् के समान अनन्त संसार होता है । उस एक सर्वात्म सत्य कर्ता को समझाने के लिये कहते हैं कि—

रमैनी २७

ब्रह्मा को दीन्हो ब्रह्मण्डा । सात द्वीप पुहुमी नौ खण्डा ॥
सत्य सत्य कै विष्णु दृढाई । तीन लोक महँ राखिन जाई ॥

जीवत्वमनुभूयापि स्वरूपेण पृथक् स्थितः ।
देवोऽसावीशतां प्राप्य मायया विद्यते स्वतः ॥२१॥
ब्रह्मणे स ददौ सप्त द्वीपैः खण्डैश्च संयुताम् ।
नवभि र्वै महीं सर्वां ब्रह्माण्डं सकलं तथा ॥२२॥

सुखवान् । योगवा० उपशमप्र० स० ६२।४६" १ "त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी । त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतो मुखः ॥ श्वेता० ४।३१" त्वम्-आत्मा । वञ्चसि-गच्छसि । विश्वतोमुखः-सर्वावस्थः ।

विधाताऽधिकृतश्चात्र[१] ह्यन्तर्यामिपरात्मना ।
वर्तते कुरुते कार्यं स्वतन्त्रो नैव विद्यते ॥२३॥
सत्यनामा हि विष्णुश्च सत्त्वेन स्थापितस्तथा ।
तेनैव रक्षितः शश्वत् त्रिलोक्यां स हि वर्तते ॥२४॥

उक्त मायो सर्वज्ञ कर्ता (ईश्वर) ने ब्रह्मा को ब्रह्माण्ड में जन्म दिया और सात द्वीप नव खण्डयुक्त पुहुमी (भूमि) आदि में रचना कार्य विशेष का अधिकार दिया "हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वम् ।" श्वे० ३.४" इत्यादि । सत्यनामवाले विष्णुदेव को सत्यरूप से लोक में दिढ़ाया (निश्चय कराया) सत्य रक्षक बनाया और स्वयं तीन लोक में मानो जाकर उन्हें वहाँ रखा कि जिससे विष्णुदेव तीन लोक में जन्म लेकर जाते हैं, अवतार लेते हैं ।

लिङ्ग रूप तब शङ्कर कीन्हा । धरती खिला रसातल दीन्हा ॥
तब अष्टाङ्गी रची कुमारी । तीनि लोक मोहिन सब झारी ॥
द्वितिय नाम पारवती भयऊ । सो कर्ता शङ्कर कहँ दयऊ ॥

तयो मोहे समुपन्ने स्वे प्रभुत्वे कदाचन ।
लिङ्गरूपं शिवं सोऽत्र रचयामास चाञ्जसा ॥२५॥
आपातालं च तत्कीलं मह्यामस्थापयत् प्रभुः ।
तस्यान्तमविदित्वा तौ मोहमुक्तौ बभूवतुः ॥२६॥
महादेवविमोहेऽसावष्टाङ्गीमकरोद्धरिः ।
सा त्रिलोकीं विमोह्याशु चकार स्ववशेऽखिलान् ॥२७॥
द्वितीयनामधेया सा पार्वती समभूत्सती ।
तपस्यन्तीं पुनस्तां स शङ्करायाददात् किल ॥२८॥

उक्त ब्रह्मा और विष्णु को विभूति मिलने पर देवीभागवत से अन्य पुराणों के अनुसार उन्हें स्वतन्त्र कर्तृता का अभिमान हो गया और परस्पर विरोध हो गया । तब कर्ता (ईश्वर) ही उनके अभिमानादि की निवृत्ति के लिये लिङ्ग रूप ज्योतिर्मय शङ्कर को रचा और रसातल तक धरती (भूमि) में उस लिङ्ग की खिला (कील) गाड़ दिया । फिर सुन्दर आठ अङ्गवाली अष्टाङ्गी सती नामक कुमारी को कर्ता ने दक्ष प्रजापति के द्वारा रचा, उस कुमारी ने

---

१ यो देवानामधिपो यस्मिंल्लोका अधिश्रिताः । स एव काले भुवनस्य गोप्ता विश्वाधिपः सर्वभूतेषु गूढः । यस्मिन् युक्ता महर्षयो देवताश्च तमेव ज्ञात्वा मृत्युपाशांश्छिनन्ति । श्वेता० ४।१३-१५"

त्रिलोकवासी सब देवादि को मोहित किया, वही कुमारी दूसरे अवतार में पारवती नामवाली हुई, तब कर्ता ने शङ्कर के प्रति उसको प्रदान किया। गायत्री से होनेवाले ब्रह्मा आदि से अन्य ही अन्य कल्प के ब्रह्मा आदि ये कहे गये हैं। तात्पर्य है कि इस प्रकार की सब लीला एक ईश्वर से होती है। अतः ब्रह्मा आदि अनेक ईश्वर नहीं हैं। किन्तु—

एक ही पुरुष एक है नारी। ताते रची खानि भौ चारी॥
शर्मन वर्मन देव औ दासा। सत रज तम गुण धरती अकाशा॥

अस्त्येवं पुरुषश्चैकश्चेतनात्मा परः प्रभुः।
नारी मायात्मिका चैका वर्तते सा गुणात्मिका॥२९॥
अण्डजादिप्रभेदेन जाता वै खनयस्ततः।
चतस्रोऽपितथा वर्णा ब्रह्मविष्णुपुरस्सराः॥३०॥
ब्राह्मणाद्याः समुद्भुताः शर्माद्युपाधिसंयुताः।
सर्वे ते मानवाः सन्तः कर्माद्यै भिन्नतां गताः॥३१॥
तत एव समुद्भुता रजःसत्त्वतमोगुणाः।
परस्परस्य साचिव्याद् भूमिः खान्तश्च सर्वशः॥३२॥

इस पूर्व वर्णित रीति से एक ही सर्वात्मा पुरुष है, स्वतन्त्र ईश्वर है और उसकी शक्तिरूप माया नामक नारी भी एक है, उन दोनों से ही रचना होने से चार खानि हुई है और शर्मा उपाधिवाले ब्राह्मण, वर्मा उपाधिवाले क्षत्रिय, देव उपाधिवाले वैश्य और दास उपाधिवाले शूद्र (सेवक) उस एक कर्ता से हुए हैं और सत्वगुण, रजोगुण, तमोगुण का विस्तार तथा पृथिवी से आकाश पर्यन्त का विस्तार एक ही मायी कर्ता से हुआ है। श्रुति है कि "एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा। श्वेता. ६।११" "मायान्तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्। ४।१०" एक देव (ईश्वर) सर्वभूत (प्राणी = आकाशादि में छिपा हुआ है सो सबमें व्यापक और सबका अन्तरात्मा साक्षी स्वरूप है और उसकी शक्ति उपाधिरूप तामसी माया को भूतों की प्रकृति (उत्पादान) कारणरूप समझना चाहिये तथा मायी शुद्धसत्वा (माया) रूप उपाधिवाला को महेश्वर समझना चाहिये।

साखी—एक अण्ड ओंकारते, सब जग भया पसार।
कहहिं कबिर सब नारि के, अविचल पुरुष भतार॥२७॥

ओंकारादेव चैकस्माद् ब्रह्माण्डं निखिलं जगत्।
जातं च विस्तृतं तत्र रामनाम्नश्चिदव्ययात्॥३३॥

भर्ता स एव सर्वेषामचलश्चाद्वयः प्रभुः।
नारीवच्च जगत् सर्वं तदायत्तं प्रवर्तते ॥३४॥
ओंकारात्मन एकस्माज्जगतो विसृति यतः।
ब्रह्माण्ड पूर्विका तस्मात्सर्वेषां स पतिः प्रियः ॥३५॥
अक्रियः स च भर्ताऽस्ति सर्वेषां जगतां प्रभुः।
नान्यस्तत्सदृशोऽप्यस्ति ह्यधिकस्तु कुतोभवेत् ॥३६॥
सर्वभूतेषु गूढः स सर्वव्यापी निराकृतिः।
कर्माध्यक्षश्च साक्षी च सर्वात्मा केवलोऽद्वयः ॥३७॥
ब्रह्माणं व्यदधात्तस्मै वेदान् यः प्रहिणोत्प्रभुः।
सर्वबुद्धिप्रकाशोऽसौ मुमुक्षोः शरणं सदा ॥३८॥२७॥

एक ओंकारार्थ (मायी ईश्वर) से अनन्त अण्ड (ब्रह्माण्ड) और सब जगत का पसार (विस्तार) भया (हुआ) है। अतः सब नारी (पराश्रित-परतन्त्र कार्य) तथा ब्रह्मा से तृण पर्यन्त शरीरी का एक ही अविचल (निष्क्रिय = अविनाशी) पुरुष भर्ता (धारण पोषण कर्ता) है। अनेक नहीं "स विश्वकृद्विश्वविदात्मयोनि र्ज्ञः कालकालो गुणी सर्वविद्यः। प्रधान क्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः संसारमोक्षस्थितिबन्धहेतुः। श्वेता. ६।१६" जिसको जान कर प्राणी मुक्त होता है, वही सब संसार का कर्ता सर्वज्ञ, आत्मा (हिरण्यगर्भ) का कारण स्वरूप, ज्ञः (ज्ञाता) कालों का काल गुणाश्रय होता हुआ जो सर्ववेत्ता है, सोई प्रधान (अव्यक्त) और क्षेत्रज्ञ (व्यावहारिक जीव) का पति है तथा त्रिगुण का ईश = नियन्ता है। अभिमानादिरूप संसार से मोक्ष तथा स्थिति और बन्ध का हेतु है ॥२७॥

रमैनी २८

अस जुलहा का मर्म न जाना। जिन जग आनि पसारिन ताना ॥
धरति आकाश द्विगाड खनाया। चान्द सूर्य दो नरी बनाया ॥

अत्यद्भुतकुविन्दोऽयमोंकारार्थो विचक्षणः।
रहस्यं[1] तस्य विद्युर्नो युक्तिमन्तोऽपि पण्डिताः ॥३९॥
स जगत् पटवानार्थं भूततन्तुततिं तताम्।
अकरोज्जीवभोगाय तत्कर्माद्यनुसारतः ॥४०॥

---

१ क अद्धा वेद क इह प्रवोचत् कुत आजाताः कुत इयं सृष्टिः। इत्यादि ऋग्वे. १०।११।१२९।६" "सर्वेच्छारहिते भानौ यथा व्योमनि तिष्ठति। जायते व्यवहारश्च सति देवे तथा क्रिया। योगवा. ४.५६।२९"

जगत्यां काम्यकर्मादि कृतं यै र्भोगसिद्धये ।
तै र्न ज्ञातः कुविन्दोऽसौ यो कर्ता जगतोऽथवा ॥४१॥
कृतौ तेनैव लोकौ द्वौ स्वर्गभूमिस्वरूपिणौ ।
गर्तभूतौ समुद्भूतौ पादांशस्थापने हितौ ॥४२॥
नालिके चन्द्रसूर्यौस्तः कर्मतन्तु प्रतिष्ठिते ।
सुकृतौ भ्रमतः शश्वत्तावध्यात्माधिभूतकौ ॥४३॥

उक्त अविचल कर्ता ऐसा अद्भुत जोलहा (शरीरादि पट को बीनने वाला) है कि जिसके मर्म (रहस्य) को बड़े बड़े लोगों ने भी नहीं जानी । और जिन (जिस) ने जगत (भूतात्मक) ताना (विस्तार) को आन कर (उत्पन्न करके) प्रत्यक्ष ही फैलाया है (पसारा है) भूत भौतिक संसार को रचा है, तो भी उसके मर्म को लोग नहीं जानते हैं । अथवा जिन लोगों ने सकाम कर्मादि के ताना को जगत् में आकर ताना, भक्ति विचारादि रहित उन लोगों ने इस कर्ता रूप जुलाहे के मर्म नहीं जाना । उस जुलाहे ने भूमि और आकाश (स्वर्ग) रूप दो गाड़ बनाया (व्यावहारिक जीवरूप पाद के गमनागमन का स्थान बनाया) अध्यात्म अधिदैव चन्द्र, सूर्यरूप दो नारी बनाया कपड़ा बुनने के समय जिसमें पैर देकर यन्त्र को पैर से चलाया जाता है, उसको गाड़ कहते हैं और सूत्रों के आधार को नाड़ी कहते हैं ।

सहस तार लै पूरिन पूरी । अजहूं बिनै कठिन है दूरी ॥
कहहिं कबीर कर्मसे जोरी । सूत कुसूत बिनै भल कोरी ॥

तारकाणां सहस्त्रैः स भौतीं[1] ततिमपूरयत् ।
विश्वं च श्वासताराभिः सर्वमेव कलेवरम् ॥४४॥
वयत्येव कुविन्दोऽयमद्याप्येवं न संशयः ।
अनादियुगमारभ्य यावज्ज्ञानं न लभ्यते ॥४५॥
तावद्दूरं च वानेन काठिन्यं सर्वदेहिनाम् ।
सर्वत्र वर्तते साधो ! कर्मादिपारवश्यतः ॥४६॥
संधाय[2] कर्मभिर्यस्मात्तन्तुवायः परेश्वरः ।
उच्चावचशरीरादि सम्पादयति सर्वदा ॥४७॥

---

१ भूतानां विकारोऽयमिति विग्रहेऽणन्तान् ङीप् । २ "पुण्यो ह वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन । बृ. ३।२ १३" "वैषम्य नैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथाहि दर्शयति । ब्रह्म सू. २।१।३४"

तं कः सत्यं नरो वेद प्रब्रूयाद्वा विशेषतः।
काम्यकर्मादि कुर्वाणो मोहद्रोहादितत्परः ॥४८॥
सूर्याचन्द्रमसौ यो वै यथापूर्वमकल्पयत्।
तं यो वेद स वेदाऽत्र सत्यं नान्यस्तु कश्चन ॥४९॥२८॥

इति हनुमदीये रमैनीरसोद्रेके सत्यकर्तृवर्णनं नामैकादशः प्रवाहः ॥११॥

उस कर्ता ने सहस (अनन्त) तारों को रचकर लेकर आकाशरूप पूरी (थान) को पूर्ण किया है और श्वास प्रश्वासादिरूप तारों (तन्तुओं) से शरीर रूप पूरी को पूर्ण किया है। और अनादि काल से अजहूँ (अबतक) बीन रहा है, और आगे कठिन दूर काल पर्यन्त बीनना है। मुक्त के लिये पट नहीं बीना जाता है, अन्य के लिये सदा बीनाई होती है। श्री कबीर साहब कहते हैं कि जीवों के कर्मों से ही टूटे हुए तन्तुओं (जन्मादि प्रवाहों) को जोड़कर वह कोरी (जुलाहा) सूत कुसूत (पुण्य पाप) को भली भाँति से बीनता है, धर्माधर्म के अनुसार सब प्रकार के संसार और शरीरादि को पक्षपातादि के बिना रचता है ॥२८॥

अथसद्गुरु तथासत्यकर्ताकेज्ञानकेबिनाभ्रमादिप्र० १२

रमैनी २९

यहि विधि कहौं कहा नहिं माना। मारग माहि पसारिन ताना॥
रात दिवस मिलि जोरिन तागा। ओटत काटत भरमन भागा॥

उक्तेन विधिना शश्वद् अस्माभिः सन्तु कथ्यते।
सर्वात्मैवाऽव्ययः कर्ता जनै नायं तु मन्यते ॥१॥
प्रकल्प्यान्यं तु कर्तारं भ्रमेणैव जना इमे।
तत्प्राप्त्यर्थानि कर्माणि प्रतन्वन्ति हि कामुकाः ॥२॥
संसारसरणावेवं काम्यकर्मादिलक्षणाम्।
वितर्ति ते वितन्वानाः संदधत्यनिशं त्विमाम् ॥३॥
कर्मादिलक्षणांस्तन्तून् संदधाना इमे नराः।
विब्रुवन्तो विवर्तन्ते वादान् बहुविधान् सदा ॥४॥
विचारेण विना नैषां [1] गुरुपादं विना न च।
भ्रमोऽतोऽपगमन्नाद्यपर्यन्तं वाऽपगच्छति ॥५॥

---

१ "तद्विज्ञानार्थं गुरुमेवाभिगच्छेत्। मुण्ड. १।२।१२" न बिना ज्ञान-

सद्गुरु श्रीकबीर साहब कहते हैं कि मैं इस पूर्व कही रीति से एक सत्य कर्ता की बात को सदा कहता हूँ। परन्तु जिन लोगों ने इस कहा हुआ उपदेश को नहीं माना, उन लोगों ने सांसारिक गमनागमन मार्गों में काम्य कर्मादिरूप ताने को स्वयं पसारा (जन्मादि के हेतुरूप सांसारिक कर्म किया और करते हैं) और अपने परिवारादि से मिलकर, सङ्गासक्तिपूर्वक रात, दिन (सदा) कर्मादि रूप तागों (तन्तुओं) को जोड़ते हैं। जन्मादि के हेतु स्नेह कामादि को बढ़ाते हैं, असंगता का धारण नहीं करते हैं, ओटते काटते (विधिनिषेध करते) हैं। परन्तु असङ्गतापूर्वक सर्वात्मा के विचारादि के बिना, इनका संशय भ्रमादि न भागा है न भाग सकता है। अतः "सर्वसाधन युक्तोऽपि-कुर्यादेव विचारणाम्। आत्मनो ज्ञानसिद्ध्यर्थं सर्वभ्रान्तिनिवृत्तये ॥१॥ यद्यदा-लोचते किञ्चित्कश्चिन्तत्तन्न विद्यते। ईप्सितानीप्सितादन्यन्न तत्र यतते जनः। योगवा. ४।५७।३०"

भरमा सब घट रहल समाई। भरम छोड़ि कतहूँ नहिं जाई ॥
परै न पूरि दिनहुँ दिन छीना। तहइँ जाय जहँ अंग विहीना ॥
जो मत आदि अन्त चलि आया। सो मत सब उन प्रगट सुनाया ॥

सर्वेषां हृदये चैता वासना भ्रमराशयः।
प्रविश्यात्रावतिष्ठन्ते नश्यन्ति न कदाचन ॥ ६ ॥
एतेऽपि च न तास्त्यक्त्वा यान्ति कुत्रापि मानवाः।
गुरूणां शमनिष्ठानां शरणे बोधसिद्धये ॥ ७ ॥
अतो न लभ्यते पूर्णं पदं न शान्तिरुत्तमा।
सन्तोषोपिकुतस्तेषां येषां ज्ञानं न विद्यते ॥ ८ ॥
क्षीयन्ते ते कुसङ्गेन मानमोहादिभि र्भृशम्।
तत्र यान्त्यविवेकेन तिष्ठन्त्यज्ञा नरा यतः ॥ ९ ॥
विवेकचक्षुषा हीनाः शमाद्यङ्गै र्विवर्जिताः।
बोधसूर्यकथा यत्र श्रूयते[1] न कदाचन ॥१०॥

विज्ञाने मोक्षस्याऽधिगमो भवेत्। न विना गुरुसम्बन्ध ज्ञानस्याऽधिगमः स्मृतः। म. भा. शा० अ० १७४ ४६"

१ श्रवणं त्रिविधं प्रोक्तं सात्त्विकं राजसं तथा। तामसं च महाभागाः सुज्ञोक्तं निश्चयात्मकम् ॥१॥ सात्त्विकं वेदशास्त्रादि साहित्यं चैव राजसम्। तामसं युद्धवार्ता च परदोषप्रकाशनम् ॥२॥ सात्त्विकं त्रिविधं प्रोक्तं प्रज्ञावद्-

जन्मादीनां यया मत्या प्रवाहो न विभिद्यते ।
अशुश्रुवन् मतिं तां ते नैव जातु विवेकजाम् ॥११॥

भ्रम के नहीं भागने से सबके घट (हृदय) में भ्रम समा कर रहा (मिथ्या वस्तु सत्य निश्चित हो गई) । अतः यह भ्रान्त मनुष्य भ्रम को छोड़ कर कहीं सत्सङ्गादि में जाता नहीं है । अतएव इसको कभी पूर नहीं पड़ता है (पूर्ण तृप्ति शान्ति नहीं होती है) । कुसङ्गादि से दिनों दिन क्षीण (पुण्यादि से हीन नष्ट) होता है, इस अवस्था में भी तहाँ जाता है कि जहाँ ज्ञानयोगादि के अङ्गों (साधनों) से विहीन अविवेकी, अभिमानी, दम्भी आदि रहते हैं । फिर जो (जिस) मत (निश्चय विचारादि) से इन जीवों के आदि अन्त (जन्म मरण) होते चले आ रहे हैं, वही मत (रागद्वेषादि मय सिद्धान्त) उस अज्ञ ने इनको प्रकट करके सुनाया और समझाया (सत्य भेद रागद्वेषादि को निश्चय कराय दिया ।

साखी—वह सन्देश फुर मानेहु, लीन्हो शिरहि चढ़ाय ।
सन्तो है सन्तोष सुख, रहु तो हृदय जुड़ाय ॥२८॥

सत्यं मत्वा हि सन्देशं तमेवेमे जनाः सदा ।
खिद्यन्ते मस्तके धृत्वा सन्तोषादि विना जडाः ॥१२॥
भोः भोः साधो ! त्वयाऽद्यापि सन्तोषोऽयं निषेव्यताम् ।
यतोऽयं वै महासौख्यं हृत्तापस्य निवर्हणः ॥१३॥
तदर्थं च विवेकादि शमाद्याश्रीयतां त्वया ।
यद्येवं स्थीयते साधो ! हृच्छान्ति र्लभ्यते ध्रुवम् ॥१४॥
"अस्मिन्[१] जगति जन्तूनां जरामरण शालिनाम् ।
अजरामरणं कर्तुं सन्तोषोऽस्ति रसायनम् ॥१५॥
यच्च[२] कामसुखं लोके यच्च[२] दिव्यं महत् सुखम् ।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम्" ॥१६॥२९॥

उस परलोक स्वर्गादि के सन्देश (नित्यत्वादि के मिथ्या उपदेश) को तुम मनुष्यों ने फुर (सत्य) मान लिया है और शिरहि पर चढ़ा लिया है,

---

भिश्च पण्डितैः । उत्तमं मध्यमं चैव तथैवाधममित्युत ॥३॥ उत्तमं मोक्षफलदं स्वर्गदं मध्यमं तथा । अधमं भोगदं प्रोक्तं निर्णीय विदितं बुधैः ॥ ४ ॥ देवीभा० स्क० १ ।६ । १०"

१ योगवा० नि० उ० अ० ४७।४३॥ २ म० भा० शा० अ० १७४।४६॥

उसकी आशा, काम आदि को शिरोधार्य कर लिया है)। अतः आशा आदि की वृद्धि से शोकादि द्वारा हृदय तपता है। तहाँ हे सन्तो! सन्तोष ही सुख स्वरूप है। अतः एक सर्वात्मा को सत्य समझकर अनेक वस्तु की आशा, तृष्णादि को त्यागकर विचारादि से सन्तुष्ट रहो (यथा प्राप्त में सन्तोष रखो) तो अब ही हृदय जुड़ाय (शान्तियुक्त शीतल हो जाय)॥ २९ ॥

रमैनी ३०

वे भूले षट दर्शन भाई। पाखण्ड वेष रहा लपटाई॥
जीव शीव का आहिं नशौना। चारो बद्ध चतुर्गुण मौना॥

विवेकाद्यङ्गहीनानि दर्शनानि हि यानि षट्।
योग्यादिनामधेयानि तानि भ्रान्तानि सर्वशः॥१७॥
अतश्च खलु पाखण्डाः[1] सक्ता वेषेषु सर्वदा।
दृश्यन्ते मङ्गलं चात्र जीवानां नाशयन्ति हि॥१८॥
भ्रमेणैव च सर्वेऽमी निबद्धा अण्डजादयः।
सम्मूके[2] स्थावरे चैव बन्धसत्ता चतुर्गुणा॥१९॥
तमसोऽत्यतिरेकेण विवेकाभावतस्तथा।
स्थावरे जङ्गमे वापि बन्धवृद्धि र्भवत्यलम्॥२०॥

हे सन्तो! भाई विवेकादिरूप ज्ञानाङ्ग से रहित वे षट् दर्शनी भी मिथ्या शरीरादि में भूले हैं। अर्थात् आत्मा को भूलकर शरीरादि में आशक्त हैं। अतः वेषादिमात्र से कल्याण मानते हैं। अतएव पाखण्डरूप (धर्माचरण रहित) वेष ही उनके शरीरों में प्रायः लपटाय (लग) रहा है और ये लोग वेष में लिपट रहे हैं। परन्तु यह पाखण्डरूप वेष अभिमान दम्भादि जीवों के शिव (शुभ) को नष्ट करनेवाले (नशौना) है और शुभ के नष्ट होने से जीव चारो खान (अण्डजादि खानियों) में मरकर प्राप्त होते हैं। वहाँ बद्ध (बन्धनयुक्त = परवश) होते हैं। उनमें भी जो जीव शरीरजन्य दोषों से मौन (मूक = स्थावर) खान में प्राप्त होवे हैं सो अन्य की अपेक्षा चतुर्गुण बन्धन अस्वतन्त्रता को प्राप्त होते हैं, वहाँ से निकलना अतिकठिन हो जाता है।

---

१ शास्त्राचारव्रतैश्चैव नानाधर्मप्रजल्पनैः। सम्मोह्य वित्तहर्तारः पाषण्डास्ते प्रकीर्तिताः॥१॥ भक्तमालस० १" "न लिङ्गं धर्मकारणम्। मनु० ६।६६"

२ "अतो वै खलु दुर्निष्प्रतरम्। छा० ५।७।६" निरभिमानी अनुशयी का कथन है।

तथा योगी आदि चार बद्ध होते हैं और मौन (अनिश्वरवादी) चतुर्गुण बद्ध होते हैं। तहाँ "शरीरजैः कर्मदोषैर्याति स्थावरतां नरः। वाचिकैः मृगपक्षितां मानसैरन्त्यजातिताम् ॥ १ ॥" शरीरजन्य कर्मरूप दोषों से मनुष्य स्थावरता को पाता है। वाचनिक दोषों से मृग पक्षी होता है, मानस दोषों से अन्त्यज होता है, मनुस्मृति में है।

जैनी धर्मक मर्म न जानै। पाती तोर देव घर आनै ॥
दवना मरुआ चम्पक फूला। मानहु जीव कोटि समतूला ॥

दया सर्वेषु भूतेषु सत्याऽहिंसाक्षमादयः।
धर्मः परतमः सद्भि र्गीतो बोधः सनातनः ॥२१॥
जैना अपि न तं धर्मं सरहस्यं विदुस्ततः।
पुष्पपत्रादि संछिद्य[1] जीवयुक्तात्तरोरपि ॥२२॥
मन्दिरादौ नयन्त्येव मूर्तये नन्वचेतसे।
चम्पकप्रस्थपुष्पाणां दमनानां तथैव च ॥२३॥
पुष्पाणि यैर्हि मन्यन्ते जीवकोटियुतान्यपि।
तानि तैरपि चार्प्यन्ते मूर्तये खल्वचेतसे ॥२४॥

एक सत्यात्मा के ज्ञान रहित जैनी परमधर्म के मर्म को नहीं जानता है। अतः सजीव वृक्ष के पत्तियों को निर्जीव देव (मूर्तियों) के घर (मन्दिर) में लाता है और निर्जीव मूर्तियों पर चढ़ाता है और दवना, मरुआ, चम्पा के फूल तो मानो करोड़ों जीव के समतूल (समान) रहते हैं (उनमें रस, गन्ध के इच्छुक सूक्ष्म करोड़ों जीव बसते हैं) या जैनी उनको करोड़ों जीव तुल्य मानते हैं तो भी अहिंसा धर्म को माननेवाले जैनी उन्हें तोड़कर मूर्ति पर चढ़ाते हैं। वस्तुतः "इज्याचारदमाऽहिंसा दानं स्वाध्यायकर्म च। अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्। याज्ञवल्क्य स्मृ० १।८" "सत्यं दमस्तपः शौचं सन्तोषश्च क्षमार्जवम्। ज्ञानं दमो दया दानमेष धर्मः सनातनः। गरुड़ पु० खं० १।२२१।२४" यज्ञ, सदाचार=स्नान सन्ध्याबन्दनादि, दम, अहिंसा,

---

१ "अस्य सोम्य! महतो वृक्षस्य यो मूले ऽभ्याहन्याज्जीवन्स्रवेत्। अस्य यदेकाँ शाखाँ जीवो जहात्यथ सा शुष्यति। छ. ६।११।१-२" "गुरुं हुं कृत्य तुं कृत्य विप्रान्निर्जित्य वादतः। श्मशाने जायते वृक्षः कङ्क गृध्रोपसेवितः ॥१॥ अन्तः संज्ञा भवन्त्येते सुखदुःखसमन्विताः ॥ मनुस्मृतौ" विचित्र कर्माधीन सर्वेन्द्रिययुक्त भी इन्द्रिय गोलकरहित प्राणी वृक्ष होते हैं।

पक्षपातरहित दान, वेदाऽध्ययनरूप अपरधर्म और योग से विभु आत्मा का ज्ञानरूप परमधर्म इन किसी के मर्म को नहीं जानते हैं, न सत्यादि स्वरूप सनातनधर्म के मर्म को जानते हैं। किन्तु कल्पितधर्म को मानते हैं।

औ पृथिवी के रोम उपारै। देखत जन्म आपनो हारै॥
मनमथ विन्दु करै असरारा। कल्पै विन्दु खसै नहिं द्वारा॥
ता कर हाल होय अद्भूता। छौ दर्शन महँ जैनि विगूता॥

किञ्च देहस्य लोमानि लुञ्चन्त्येते कुबुद्धयः।
पृथिव्या लोमभूतांश्च लुञ्चन्ति ते वनस्पतीन्॥२५॥
पश्यन्तोऽपि च ते तस्मादपश्यन्त इवस्थिताः।
जीवितं व्यर्थयन्तीव नो कुर्वन्त्यात्मनो हितम्॥२६॥
वज्रोल्यादिरताः केचिन्मन्मथस्यापि विन्दुना।
कुर्वन्तीवातिविद्रोहं सुबीभत्सेन वर्त्मना॥२७॥
यतः क्षुभ्यति बिन्दुश्च पतति द्वारतो नहि।
तस्य चित्रा दशाऽवश्यं जायते नात्र संशयः॥२८॥
एवं च कुर्वतां तेषां जैनानां गतिरद्भुता।
भवेद् दुःखकरी नूनं नश्यन्ति ते कुयोगतः॥२९॥
दर्शनेषुनिहिनास्ते यतो धर्मादिसाधनम्।
त्यजन्त्यनवधानेनाऽधर्मं धर्मं च मन्वते॥३०॥

और पार्थिव देह के रोमों को जैनी उखाडते हैं! तथा पृथिवी के रोमरूप वनस्पतियों को उखाड़ते हैं, तहाँ जीव को दुःखी करते हुए भी धर्म मानते हैं। अतः अहिंसा को धर्मरूप देखते (जानते) रहते भी मर्म के ज्ञान बिना कुमार्ग में अपने जन्म (देह) को हारते (नष्ट करते) हैं, तथा हिंसा को पाप स्वरूप जानते रहने पर भी हिंसा में जन्म गमाते हैं। और वज्रोली मुद्रा आदि के प्रेमी जैनी मनमथ (काम) के बिन्दु के साथ अस (ऐसा) रार (हठ) करते हैं, या मनमथ बिन्दु का असरार (अभ्यास) करते हैं, स्त्रीसङ्ग करके भी बिन्दु के निरोध के लिये यत्न करते हैं, तहाँ सङ्ग के प्रभाव से बिन्दु कल्पता (क्षुब्ध होता) है, परन्तु अभ्यास विशेष के प्रभाव से लिङ्ग द्वारा योनि में गिरने नहीं पाता है। तहाँ जैनियों का और उनके विन्दु का अद्भुत (विचित्र) हाल होता है (दुष्ट स्थिति होती है) अतः छः दर्शनों में अनीश्वरवादी, दुष्टकर्माभ्यासी यह जैनी अपने कल्याण को अधिक विगोता (गमाता) है।

साखी—ज्ञान अमर पद बाहरे, नियरे ते है दूर।
जानै ताको निकट है, अनजाने को दूर ॥३०॥

ज्ञानात्मकस्य शुद्धस्य ह्यमृतस्याऽद्वयात्मनः।
ज्ञानं दर्शन कर्मभ्यो वहिरेवावतिष्ठते ॥३१॥
अन्तिकस्थाद् सतो दूरे वर्तन्ते तानि सर्वदा।
अतस्तत्त्वं न तैरत्र लभ्यते न मनोजयः ॥३२॥
आत्मज्ञानामृताद्येऽत्र वहिस्तिष्ठन्ति मानवाः।
अन्तिमकस्थात्सुदूरे ते वर्तन्ते निज मोहतः ॥३३॥
ज्ञातुरत्यन्तिकस्थोऽसौ सर्वात्मा हरिरव्ययः।
चित्स्वरूपः सदा भाति मूढेभ्यो दूरतोऽपि च ॥३४॥
दवीयसां[1] दविष्ठं तदन्तिकानां तदन्तिकम्।
कनीयसां कनीयस्त ज्ज्येष्ठं च ज्यायसामपि॥३५॥३०॥

अपनी माया शक्ति से सबका कर्ता होता हुआ भी शुद्ध ज्ञान चित् स्वरूप ब्रह्मात्मा ही अमर पद (अविनाशी स्थान) है और उसका ज्ञान (अपरोक्ष अनुभव) अमरपद (मोक्ष मार्ग) है। परन्तु जो जीव उस अमर पद से बाहर है (उसके ज्ञान से रहित है) सो नियरे (पास की वस्तु स्थान) से दूर है, तथा वह नियरे (पास) की वस्तु उससे दूर अज्ञान से ही है, अतः वह ऊपर दूर देशादिरूप मोक्ष स्थानादि का वर्णन करता है। परन्तु जो सत्य मोक्ष स्थान को जानता है, उसके लिये वह मोक्ष स्थान अत्यन्त निकट निजात्म स्वरूप ही है। अनजान (अज्ञ) के लिये ही दूर है। "दूरात् सुदूरे तदिहान्तिके च पश्य-त्स्विहैव निहितं गुहायाम्। मु० ३।१।७" "तद्दूरे तद्वन्ति के। ईशोप०५" "एष ब्रह्मलोकः। एषाऽस्य परमागतिः। एषोऽस्य परमो लोकः। वृ.४।३।३२" ॥३०॥

रमैनी ३१

बज्रहुँ ते तृण क्षिण महँ होई। तृण ते बज्र करै पुनि सोई ॥
निझरू नीरु जानि परिहरिया। कर्मक बाँधल लालच करिया ॥
कर्म धर्म मति बुधि परि हरिया। झूठी नाम साँच लै धरिया ॥

वज्रतुल्योपि दुर्भेद्यस्तृणेन तुल्यतां क्षणात्।
प्रयाति प्रलयादौयस्तं वज्रं च करोति यः ॥३६॥

---

१ "योगवा० प्र० ५।६१।११८"

निर्ज्ञाना बुद्धिहीनाश्च त्यक्त्वा तं ह्यविनाशिनम् ।
कर्मरज्जुसुसंनद्धा लोभं कुर्वन्ति वस्तुनः ॥३७॥
धर्म्यं कर्मपरित्यज्य मतिं त्यक्त्वा तु भाविनीम् ।
सुबुद्धिं दूरतस्त्यक्त्वा यत्र क्वापि व्रजन्ति हि ॥३८॥
असत्यं नाममात्रं वा गृह्णन्ति सत्यबुद्धितः ।
नो सत्यं रोचते तेभ्यो व्याप्तेभ्यो रजसा खलु ॥३९॥

अज्ञान से दूर ज्ञान से निकटवर्ती कर्ता से ही वज्रतुल्य दुर्भेद्य संसार प्रलय के आरम्भकाल में वज्र से तृणतुल्य क्षणमात्र में हो जाता है और फिर सोई (वही) कर्ता सृष्टि के आदिकाल में तृण से वज्र करता है । अतः संसार उत्पत्ति नाशवाला है और कर्ता अचल अनादि है, उस निझरू (अविनाशी= अखण्ड आनन्द नीर के वर्षानेवाले ब्रह्मात्मा) को निरुज्ञानियों (निर्गत ज्ञान-वाले अज्ञानियों ने परिहरिया (सर्वथा त्यागा) है और काम, कर्मादि से बँधे रहने के कारण कर्माधीन मिलनेवाले तुच्छ विषयादि का लालच (लोभ) किया और करता है और उस लोभ से ही सात्त्विक कर्मादिरूप स्वधर्म का और भावी हित की मति (ज्ञान) का और वर्तमान हित की बुद्धि (ज्ञान) का परिहरि (त्याग) किया है और झूठी (मिथ्या) नाममात्र वस्तु को सत्य नाम लेकर धारण किया है ।

रजगति त्रिविध कीन्ह प्रकाशा । कर्म धर्म बुधिकेर विनाशा ॥
रवि के उदय तार भौ छीना । चर वीहर दूनों महँ लीना ॥

त्रिविधां[1] राजसीमेव द्योतयन्ति गतिं हि ते ।
यतो धर्मस्य बुद्धेश्च विनाशः कर्मणो भवेत् ॥४०॥
यथा सूर्योदयेऽवश्यं लीयते तारकागणः ।
रजसश्चोदये तद्वत्सत्कर्मादि विनश्यति ॥४१॥
ततस्तेहि पुनः शश्वत्स्थावरेषु चरेषु च ।
लीयन्ते मानवा नैते भवन्ति किमुमुक्तिगाः ॥४२॥
कामक्रोधसमायुक्ता हिंसालोभसमन्विताः ।
मनुष्यत्वात्परिभ्रष्टास्तिर्यग्योनौ भवन्ति हि ॥४३॥

---

१ भल्ला मल्ला नटाश्चैव पुरुषाः शस्त्रपाणयः । द्यूतपानप्रसक्ताश्च जघन्या राजसी गतिः ॥२॥ राजानः क्षत्रियाश्चैव राज्ञश्चैव पुरोहिताः । वादयुद्धप्रधानाश्चमध्यमा राजसी गतिः ॥३॥ "गन्धर्वा गुह्यकायक्षा विबुधानुचराश्चये । तथैवाप्सरसः सर्वा राजसीषूत्तमा गतिः ॥३॥ मनु. अ० १२।१५" इत्यादि ।

ब्रह्मचर्यविहिनेभ्यो विषयाक्रेभ्य एव च।
आनन्दात्मापि चित्तस्थो भाति नैव कथञ्चन ॥४४॥

मिथ्या के ग्रहण से श्रेष्ठ सात्त्विक एकात्म ज्ञान सात्त्विक गति भी नहीं हुई, किन्तु उत्तम मध्यम और कनिष्ठ तीन प्रकार की राजसी गति का प्रकाश (अनुभव) किया, तदर्थक कर्मादि किया कि जिससे सात्त्विक कर्मरूप धर्म और बुद्धि (एकात्मज्ञान) का नाश हुआ (अलाभ हुआ) जैसे रवि (सूर्य) के उदय होने से तारे क्षीण हो जाते हैं, तैसे राजस तामस प्रवृतियों से सात्त्विक कर्म धर्म ज्ञान के नष्ट होने पर, जीव सब चर वीहर = अक्रम-कठिन स्थावर योनियों में लीन (प्राप्त) होते हैं, फिर शीघ्र मनुष्य भी नहीं होते हैं, स्वर्ग मोक्ष तो अति दूर पड़ जाता है। यद्यपि "ऊर्ध्वंगच्छन्ति सत्त्वस्थामध्येतिष्ठन्ति राजसाः। जघन्यगुणवृत्तिस्था अधोगच्छन्ति तामसाः। भ० गी० १४।१८" सत्कर्म सात्त्विक भक्ति आदिवाले ऊपर स्वर्गादि में जाते हैं, राजस व्यवहार वाले मनुष्य लोक में रहते हैं, और जघन्य निकृष्टतामसवृत्ति वाले अधः नीचे प्राप्त होते हैं, यह सामान्य गुणकृति गति कही गई है। तथापि मनुस्मृति अ० १२। में गुणों के लक्षणों का और गुण कृत गतियों का वर्णन है, तहाँ तामस गति स्थावर कृमि कीटादि भाव को यद्यपि मनुष्य नहीं चाहते है, तथापि युद्ध, अपेयपान, राज्य, विवाद, गान, तुच्छ देव भावादि रूप राजसी गति चाहते हैं, कि जिससे तप, त्याग, वैराग्य, ज्ञान, शौच, सन्तोष शमदमादि का अभाव हो जाता है। "बुद्धिस्तात्कालिकी ज्ञेया मतिरागमिगोचरा" यह कोश है।

विष के खाये विष नहिं जावै। गारुड सो जी मरत जिआवै ॥

विषस्य भक्षणान्नैव विषवेगो निवर्तते।
तथा[1] न भोगतो जातु कामादिं नश्यति क्वचित् ॥४५॥
यथा गारुडमन्त्रेण ह्यौषधेन परेण वा।
विषं शाम्यति तद्वद्धि गुरुमन्त्रेण बोधतः ॥४६॥
अमानित्वादि लब्धेन कामादि नश्यति ध्रुवम् ॥४७॥
गारुडादिप्रयोगेन मरणात् त्रायते हि यः।
गारुडिः स भवेत्तद्वन्मरणाद् रक्षको गुरुः ॥४८॥

---

१ न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति। हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते। मनुस्मृ० ॥

गुरु न स स्यात्स्वजनो न स स्यात्, पिता न स स्याज्जननी न स स्यात्।
दैवं न स स्यान्नपतिश्च स स्यात्, न मोचयेद्यः[1] समुपेतमृत्युम् ॥४९॥

जैसे विष के खाने से प्रथम के खाये हुये विष की निवृत्ति नहीं होती है, प्रथम के विष की नशा (वेग) फिर विष के खाने से नहीं जाती है। वैसे ही राजसी भोग प्रवृत्ति आदि से प्रथम भोगादि जन्य काम वासना आशा तृष्णादि निवृत्त नहीं होते हैं कि जिससे चराचर योनियों में भ्रमणादि रूप कष्ट होता है। तहाँ जैसे विष से मरते हुए को जो मन्त्रादि द्वारा जिलाता है (मरण से बचाता है) सो गारुड़ कहा जाता है, वैसे ही विषय वासनादि से बार बार मरते हुए को निजोपदेशादि द्वारा ज्ञानी मुक्त सुखी करने वाले ज्ञानी महापुरुष को गुरु आचार्य हित कहा जाता है। अन्य को नहीं।

साखी—अलख जु लागा पलक में, पलकहिं में डँसि जाय।
विषहर मन्त्र न मानये, गारुड काह कराय ॥३१॥

अलक्ष्या खलु मायैषा दन्दशीति सदा जनान्।
कामादिरूपतो यस्य ह्यन्त लगति चञ्चला ॥५०॥
सोपि चेन्न गुरोर्मन्त्रं वासनाविषहारिणम्।
मन्यते संशृणोत्यत्र गुरुस्तस्य करोतु किम् ॥५१॥
लोकवासनया कामा देहवासनया क्रुधा।
शास्त्रवासनया ज्ञानं यथावन्नैव जायते ॥५२॥

त्यक्त्वा[2] प्रभुं सुविमलाद्विमलं विमूढा, धर्म्यं सुकर्मसुमतिं सकलां विहाय।
आदायतुच्छविषयान्गुणबद्धनेत्रा मायाप्रभिन्नधिषणाविवशाभवन्ति॥५३॥३१

इति हनुमदीये रमैनीरसोद्रेके सद्गुरुसत्कर्तृज्ञानादिकं विनाभ्रमणादि वर्णनं नाम द्वादशः प्रवाहः ॥ १२ ॥

परन्तु गारुडी भी साध्य विष को ही मन्त्रादि द्वारा निवृत्त करता है, नेत्रादि मर्म स्थान में साँप के काटने पर वह साँप का विष असाध्य (अनिवार्य) होता है, उसको गारुडी भी निवृत्त नहीं कर सकता है, वैसे ही अविवेकी से अलख (अज्ञेय-अचिन्त्य) जो माया विषयादिरूप सर्प हैं, रजोगुण का प्रभाव है सो जिनके पलक (नेत्र) में लगा, हृदय में लगा और उनके नेत्र या हृदय में पलमात्रकाल में ही डँस कर चला गया। (दर्शनादि के बाद

१ समुपेतमृत्युम्-समुपेतो मृत्युर्येनतम् ॥ भा० स्क०
२ छन्द "ज्ञेयं "वसन्ततिलकं" तमजा जगौ गः"।

विषयादि नष्ट हो गये, दूर हो गये)। परन्तु उनके काम, वासना आदि से व्याकुल यह जीव यदि सद्गुरु के विषहर (विषनाशक) मन्त्र को नहीं मानता है तो सद्गुरुरूप गारुड भी उसको क्या कर सकते हैं? वह जन्मादि संसार से नहीं उबरता है। अतः राजसी प्रवृत्ति आदि के त्यागपूर्वक कामादि की निवृत्ति के लिये सत्सङ्गादि कर्तव्य है ॥ ३१ ॥

अथ सत्यानुभवज्ञान के बिना दुर्दशा प्र० १३

रमैनी ३२

***सुस्मृति आहिं गुणन के चीन्हा। पाप पुण्य का मारग कीन्हा ॥**
सुस्मृति वेद पढ़ै असरारा। पाखण्डरूप करै हंकारा ॥

शोभनाः स्मृतयः[1] सन्ति शमादिगुणलक्षिकाः।
सद्धर्मबोधिकास्तद्वत् पुण्यपापविवेचिकाः ॥ १ ॥
दैवासुरप्रभेदेन मार्गौ यौ द्विविधौ खलु।
स्मृतिसम्पादितौ तौ हि बोध्यते स्मृतिभिस्तथा ॥ २ ॥
वेदाः सन्ति स्मृते मूलं सुविचाराश्च हेतवः।
स्मृतिर्लिङ्गं गुणानां च सत्तर्कोऽपि तथा मतः ॥ ३ ॥
आर्षं[2] धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिना।
यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः ॥ ४ ॥
पठन्ति ताः स्मृती र्वेदान् सदा चैते शठा[3] नराः।
क्रूरा धर्मं न जानन्ति नात्मानं पान्ति ते ततः ॥ ५ ॥
स्मृती र्वेदानधीत्यापि धर्माऽज्ञानेन मानवाः।
पाखण्डा दम्भिनो भूत्वाऽभिमानं कुर्वते मुधा ॥ ६ ॥

जैसे गुरु उपदेशादि से कठिन काम, वासना आदि निवृत्त नहीं होते हैं, तैसे ही वेद सतशास्त्र के पढ़ने से भी नहीं निवृत्त होते हैं। अतएव जो सुन्दर स्मृतियाँ (धर्म शास्त्र) अहिंसादि सद्गुणों सद्धर्मों को चीन्हानेवाली हैं, गुणों के लक्षण को समझाती हैं कि क्षमा, दया, संतोष, ज्ञानादि सात्त्विक हैं, धर्मरूप हैं इत्यादि। अतएव जिन स्मृतियों ने पाप, पुण्य के मार्गों का विवेकादि कर दिया है कि जिससे मनुष्य पाप मार्ग को त्यागकर पुण्य मार्ग में ही निरन्तर गमन करें। उन स्मृतियों और वेदों को भी जो असरारा

---

१ "धर्मशास्त्रं तु वैस्मृतिः। मनुः अ० २।१०" २ "मनुः अ० १२।१०६"
३ धूर्ताः क्रूराः। * सुमृति, पाठ है, उसका स्मृति अर्थ है।

(निरन्तर सदा) पढ़ते हैं सो भी पाखण्ड स्वरूप का धारण करते हैं और पाखण्डरूप वेषादि का ही अहंकार (अभिमान) करते हैं। अथवा स्मृति वेद को पढ़नेवाले भी अस (ऐसा) रार (हठी क्रूर शठ) होते हैं कि जिससे पाखण्डरूप का धारण और अहंकार करते हैं।

पढ़ै वेद और करै बड़ाई। संशय गाँठि अजहुँ नहि जाई ॥७॥
पढ़ै सत्य से जिव बध करई। मूड़ काटि अगमन कै धरई ॥८॥

पठन्ति खलु ते वेदान् स्तुतिं च कुर्वते स्वकाम् ।
मुधैव न यतोऽद्यापि विचिकित्सा विनश्यति ॥७॥
विच्छेदः संशयग्रन्थे र्यावन्न जायते खलु ।
धर्मादिविषयस्यात्र वैदुष्यं तावदस्ति नो ॥८॥
वैदुष्याभावतः सत्यं शास्त्रं चाधीयते हि ये ।
तेऽपि कुर्वन्ति जीवानां वधं मोहेन लोलुपाः ॥९॥
छागादिशिरसां छेदं विधाय पिशितेच्छया ।
स्थापयन्ति निजाग्रे तच्चैते पललकामुकाः ॥१०॥

वेदादि को पढ़कर भी पाखण्डादि करनेवाला अत्यन्त काम, वासनादि के वशवर्ती मनुष्य यद्यपि वेद पढ़ता है तथापि निषिद्ध भी अपनी बड़ाई आप करता है। परन्तु संशय, भ्रम और कामादिरूप गाँठी (ग्रन्थि-बन्धन) उसके हृदय से अजहूँ (अब ही पढ़ने पर भी) नहीं जाते हैं। अतएव जो वेदादिरूप सत्य शास्त्र को पढ़ता है तथा सत्य नामक सात्त्विकदेव भगवान् विष्णु के स्तुति चरित्रादि को जो पढ़ता है, अहिंसादि महाव्रतों को परमधर्मों को जानता है सो भी जीवों का बध तुच्छ स्वार्थ के लिये करता है और बकरे आदि के शिरों को काटकर अपने अगमन (आगे) मास के लिये धरता है, निःसंशय सत्यधर्मादि का ज्ञान हुआ होता और वासनादि पढ़ने से निवृत्त हुए होते तो ऐसा पाप कभी नहीं करता।

साखी—कहहिं कबिर ई पाखण्ड, बहुतक जीव सताव।
अनुभव भाव न दरशये, जियत न आपु रखाव ॥३२॥

जीवसङ्घान् हि पाषण्डाः पीडयन्त्येव सर्वदा ।
अतः स्वानुभावाभावाच्छ्वसन्तः स्वं न पान्ति हि ॥११॥
नैवानुकम्पा हृदि वर्ततेऽमला हिंसाद्यभावो नहि विद्यते तथा ।
तावन्निजात्मानुभवो न जायते तावन्न रक्षापि जनस्य कालतः ॥१२॥

जीवन्न यः स्वं खलु पालयेदिह किं पालयेन्मृत्युमुखे प्रविश्य सः।
शक्तस्तदाऽसौ न भवेत् कथञ्चन कुर्यात्कथं किं ननु मोमुहन् भजन् ॥१३॥
यावन्न मोहो व्यपनुद्यतेऽलं मायामयः सत्यविचारयोगात्।
यावन्न नित्या गुरुपादभक्तिस्तावद्धतिः स्यान्नहि वासनायाः ॥१४॥३२॥

श्री कबीर साहब कहते हैं कि ई (ये) पाखण्ड (पाखण्डी) लोग बहुत जीव को सतावे (पीड़ित करते) हैं, अतः वेदादि के पढने पर भी इनमें सत्य धर्म दया दमादि के सत्यात्मा के अनुभव का (अपरोक्ष ज्ञान का) भाव (सत्व) नहीं दरशाता (दीखता) है। अतः जियते (जीवित) रहते, ये लोग अपनी रखाव (रक्षा) आप नहीं करते हैं, किन्तु अपनी रक्षा के लिये अन्य की मिथ्या आशा करते हैं, वेदादि को पढ़कर भी जो अनुभवादि के बिना अहिंसादि धर्म की रक्षा के द्वारा अपनी रक्षा आप नहीं करते हैं, सो अन्य की रक्षा तो क्या करेंगे। "धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः। तस्माद् धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतोऽवधीत् ॥१॥ मनुः" धर्म ही नष्ट होकर नाश करता है, रक्षित होकर रक्षा करता है। अतः धर्म हन्तव्य नहीं है, वह नष्ट धर्म तेरा नाश नहीं करे। इसलिये वह हन्तव्य नहीं है ॥३२॥

सम्बन्ध—वेद शास्त्र के पढ़ने पर भी संशयादि नष्ट नहीं होते हैं, इसमें क्या कारण है। क्या शास्त्र में कोई दोष है, या पुरुष में ही दोष रहते हैं कि जिससे पढ़ने पर भी संशयादि निवृत्त नहीं होते हैं, ऐसी जिज्ञासा होने पर, पुरुष के दोषों को दर्शाने के लिये कहा गया हैं कि—

रमैनी ३३

अन्ध सो दर्पण वेद पुराणा। दर्वी काह महारस जाना ॥
जस खर चन्दन लादे भारा। परिमल बास न जानु गमारा ॥

अन्धमादर्शवद् वेदाः पुराणानि च सर्वशः।
दर्शयन्त्यर्थतत्त्वं नो धर्म वा स्वाविवेकिनम् ॥१५॥
"यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा शास्त्रं तस्य करोति किम्।
लोचनाभ्यां विहिनस्य दर्पणः किं करिष्यति" ॥१६॥
दर्वीवच्च रसं केन जानीयुस्तामसा जनाः।
चन्दनोद्वाहिवालेयैस्तुल्याः[1] शास्त्रविदोऽपि वा ॥१७॥

---

१ "वालेयो गर्दभः। स्वरूपानुसंन्धानव्यतिरिक्तान्यशास्त्राभ्यास उष्ट्रकुंकुमभारवद् व्यर्थः। संन्यासोपनिद् २।५६"

स्वानन्दं नैव जानन्ति मोहेन विवशीकृताः ।
प्रविष्टाः कामकूपेषु लोभगर्ते निपातिताः ॥१८॥
"अधीत्य चतुरो वेदान् सर्वशास्त्राण्यनेकशः ।
ब्रह्मतत्त्वं न जानाति दर्वी पाकरसं यथा" ॥१६॥
भारवाही खरो यद्वद् भारं वेत्ति न चन्दनम् ।
भक्तिहीनोऽपिविद्वान् सन् शास्त्रं वेत्ति सुखं नहि ॥२०॥

अन्धों के प्रति दर्पण के समान, अविवेकी के प्रति वेद पुराणादि सत् शास्त्र भी निष्फल होते हैं। दर्वी जैसे सुरस युक्त भोज्यादि पदार्थों में घूमने पर भी उनके रसों को नहीं जानती हैं, तैसे जड़ बुद्धि वाले अभिमानी शास्त्र में वर्णित महारस (ब्रह्मानन्द) को अमानितादि को क्या जान सकता है। उसकी तो ऐसी दशा है कि जैसे गदहे पर चन्दन का भार (बोझ) लादा जाय तो वह गमार (अज्ञ) गदहा परिमल (चन्दन) की वास=सुगंध को नहीं जानता है, भार मात्र को जानता है। तैसे अविवेकी भार तुल्य शास्त्र को जानता है। उसमें वर्णित सत्य धर्म आत्मानन्द को नहीं जानता है, अतः संशयादियुक्त रहता है।

कहहिं कबिर खोजै असमाना। सो न मिलाजु जाय अभिमाना ॥

सुखरूपस्य चाज्ञानाद् हृदिस्थस्य निजात्मनः ।
मार्गयत्यम्बरे तत्त्वं सुखमन्यत्र मन्यते ॥२१॥
यस्य ज्ञानेन संप्राप्त्या ह्यभिमानोऽभिभूयते ।
विकीर्यन्ते विकाराश्च समूलं लूयते मलम् ॥२२॥
उदेति चाक्षया क्षान्तिः क्रोधः क्वापि पलायते ।
उल्लसन्ति न लोभाश्च मन्युश्च[1] मुच्यते क्षणात् ॥२३॥
असूया शुष्यति क्षिप्रमभिध्या ध्वंसमेति च ।
पाशाः सर्वे विपिष्यन्ते क्लेशाः क्लिश्यन्त एव हि ॥२४॥
जन्ममृत्युभयं भ्रान्ति भ्रेषो भेदश्च भिद्यते ।
खिद्यते न नरोयेन स्वानन्दं वेत्ति सर्वदा ॥२५॥
महामूढै नं लब्धोऽसौसोऽप्येनान् मिलते न च ।
यस्य ज्ञानं परोधर्मो हिंसा यत्र न संभवेत् ॥२६॥

---

१ मन्युः शोकः। असूया–गुणे दोषारोपः। अभिध्या–परविषयस्पृहा। पाशाः–मोहादि बन्धनानि, नश्यन्ति। भ्रेषः–उचिताद् भ्रंशः॥

न तच्छात्रं न वा ज्ञानं यत्र हिंसा प्रवर्तते।
यस्माद् भवति संसारः सर्वानर्थपरम्परा ॥२७॥
सर्वतीर्थेषु यत्पुण्यं सर्वयज्ञेषु यत्फलम्।
अमांसभक्षणे हिंसाऽभावे स्याच्च ततोऽधिकम् ॥२८॥३३॥

श्री कबीर साहब कहते हैं कि आत्मानन्द के अज्ञान से ही शास्त्र के अध्येता वक्ता भी असमान (शून्य आकाश स्वर्गादि) में आनन्द खोजते हैं (स्वर्गादि के लिये कर्मादि करते हैं, और यहाँ हृदयस्थ समरस सो चिन्तामणि उनको नहीं मिला कि जिसके मिलने मात्र से सब अभिमान दम्भहिंसा कामादि समूल नष्ट हो जायँ, और जीवन्मुक्ति सुख की प्राप्ति हो जाय।' अथवा अस (ऐसे) लोग मान (प्रतिष्ठा गौरव) खोजते हैं, क्योंकि वह तत्त्व उनको नहीं मिला, कि जिससे मानादि की इच्छा तृष्णा आदि चले जायँ, इत्यादि ॥ ३३ ॥

रमैनी ३४

वेद की पुत्री स्मृती भाई। सो जेंवरि कर लेतहि आई॥
आपुहि वरि आपन गर बन्धा। झूठी मोह काल के फन्दा॥

वेदानां कन्यकात्वेन भ्रातर्याः स्मृतयः स्मृताः।
तासां वाक्यकरे सन्ति काम्यकर्मादिरज्जवः ॥२९॥
स्मृतयो वेदबाह्या[1] यास्तास्तु केऽपि कुबुद्धयः।
वेदानां पुत्रिका मत्वा तत्रसक्ता भवन्ति हि ॥३०॥
तासां वाक्येषु हिंसाद्या विमोहाद्याः कुदृष्टयः।
गुणाः सन्ति यतस्तेऽत्र बध्यन्ते मूढमानसाः[2] ॥३१॥
गृहीत्वैव वटी जाताः करे ताः स्मृतयोऽपि हि।
ये कर्माणि स्वयं सृष्ट्वा स्वं बध्नन्ति हि मानवाः ॥३२॥
धीशिरोधौ स्वयं बध्वा सृष्टानि बन्धनानि ते।
कल्पयन्ति मुधा मोहात् कालपाशमहर्निशम् ॥३३॥
असत्ये मोह एवास्ति कालपाशः सदातनः।
तेन बद्धा पुन बन्धान् कुर्वन्ति बहुधा जनाः ॥३४॥

---

१ "या वेदबाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः। सर्वास्ता निष्फलाः प्रेत्यतमोनिष्ठा हिताः स्मृताः। मनु० १२।९५" २ कर्मणा मनसा वाचा बाधतेयः सदाऽपरान्। नित्यं कामादिभि युक्तो मूढधीः प्रोच्यते तु सः। ना० पु० ४।७२

सुन्दर स्मृति और वेदादितो स्वच्छ दर्पण के समान हैं, परन्तु हे भाई वेद की पुत्री मानी गई, वस्तुतः लोभ अज्ञानादि मूलक बहुत स्मृतियाँ भी ऐसी हैं कि जो स्मृतियाँ मानो जीवों को बाँधने के लिए अपने कर (वाक्य रूप हाथ) में जेवँरी (हिंसा काम्य कर्म कामादि रस्सी) लेते ही आई है। स्मृति कहती है कि "कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया तु विमुच्यते। तस्मात्कर्म न कुर्वन्ति यतयः पारदर्शिनः। म.भा." काम्यकर्म से प्राणी बँधता है, आत्मज्ञान से मुक्त होता है, अतः पारदर्शी (ज्ञानी) यति कर्म नहीं करते हैं। ऐसा होते भी बन्धनप्रद हिंसादियुक्त कर्मविधायक उन स्मृतिरूप वाक्यों को किसी मनुष्य ने आपही बरकर (रचकर) या स्वीकार करके अपने गलों में मोह से आप बाँधा है। और मोह वश कालफाँस की झूठी कल्पना की है, तथा उन स्मृतियों से जो झूठी वस्तुओं में झूठी बातों में मोह (स्नेह राग आसक्ति) होता है, सो इन जीवों के लिये काल के फन्देरूप होते हैं।

बाँधत बन्धन छोरि न जाई। विषय स्वरूप भूलि दुनियाई॥
हमरहिं दिखत सकल जग लूटा। दास कबीर राम कहि छूटा॥

कुर्वन्ति बन्धनं चेत्थं यन्नैवोन्मुच्यते दृढम्।
त्यज्यते न गृहीतं च मूढैरेतैः कदाचन॥३५॥
कृत्वेत्थं बन्धनं चैते विषयात्मशरीरके।
संसारे व्यवहारेऽस्य भ्रान्ता भ्राम्यन्ति सर्वदा॥३६॥
आत्मीयत्वेन पश्यन्तो जगच्चैते जनास्तथा।
लुट्यन्ते स्मृतिभिस्तद्वत्सम्पच्चैषां विलुण्ठ्यते॥३७॥
अस्मासु वाऽत्र पश्यत्सु दैशिकेन्द्रेषु साधुषु।
लुण्ठितं वै जगत् सर्वं कामाद्यैश्चैव कुस्मृतैः॥३८।
सुदेवदासभूताश्च केचित् स्मृतिकुबन्धनात्।
रामं मत्वा स्वदेवं तमुक्त्वा मुक्तिं हि मेनिरे॥३९॥
तथाप्यज्ञानकामेभ्यस्तेषां मुक्तेरभावतः।
मुक्तास्ते नेति मन्तव्यास्तावन्मुक्तसमाः स्मृताः॥४०॥

यह जीव ममता कामादिरूप ऐसा दृढ बन्धन बाँधता है कि जो फिर छोड़ा (खोला त्यागा) नहीं जाता है और बन्धन के नहीं खुलने से विषय-स्वरूप (देहाभिमानी विषयासक्त) होकर दुनियाई (सांसारिक व्यवहारमात्र) में भूला (फँसा) रहता है तथा दुनिआई में आत्मविचारादि को भूलकर विषयी (प्रकाश ज्ञानस्वरूप) आत्मा को नहीं जानता है। अतः देहादि विषयस्वरूप

बना रहता है। असंग प्रकाशक आत्मा को नहीं जानने से ही सांसारिक वस्तु देहादि को ही हमारी-हमारी (मेरी-मेरी) देखते (समझते) में सब संसारी कामादि से लूटा गया या हम लोगों के देखते में लूटा गया। किन्तु सद्गुरु श्री कबीर साहब कहते हैं कि कोई विरलदास (हरिगुरु भक्त) राम कहकर (भजकर) स्मृतियों कर्मादि बन्धनों से हिंसादि कुकर्मों से छूटा और छूटता है, कामादि को त्यागकर ज्ञान की प्राप्ति से सर्वथा मुक्त भी होता है।

साखी—रामहिं राम पुकारते, जिह्वा परिगौ रौस।
सूधा जल पीवै नहिं, खोदि पिवन की हौस ॥३४॥

तेषां रामेति रामेति सदैवाऽऽह्वयतां मुहुः।
अभ्यासबलमार्गोऽयं जिह्वायां संबभूव ह ॥४१॥
सुधातुल्यं ततो वाक्यं ते शृण्वन्ति न सद्गुरोः।
पिबन्ति चामृतं नैव रसं स्वानन्दमद्वयम् ॥४२॥
अनायासेन लभ्यं तं रसं त्यक्त्वा समीपगम्।
कर्मणोद्घाट्यपातालं भित्त्वा स्वर्गस्य वाऽर्गलाम् ॥४३॥
भित्त्वा छित्त्वा जनान् कृत्वा प्राणिनां कन्दनं बहु।
अमृतं पातुमिच्छन्ति स्मृतिकामादिवञ्चिताः ॥४४॥

रामो[1] न दूरे न चानात्मरूप आह्वानलभ्यो न स ज्ञानलभ्यः।
सर्वान्तरात्मा चिदानन्दरूपः सत्यः सदा भक्तिभावैकगम्यः ॥४५॥
भक्तौ च नामास्य सद्भिः प्रयुक्तं नैवातितारं हि दूरस्य यद्वत्।
ध्यानेन युक्तः शनैस्तत् प्रयुञ्जन् तेनैव सारेण तत्त्वं प्रपद्येत् ॥४६॥
मायामयं तस्य रूपं दिदृक्षुस्तं संस्मरंस्तस्य नामैव सम्यक्।
जप्त्वैव तं पश्यति प्राज्ञजीवो दिव्येन वै चक्षुषा नान्यथा हि ॥४७॥३४॥

इति हनुमदीये रमैनीरसोद्रेके सत्यानुभवं विना शास्त्रज्ञदुर्दशा वर्णनं नाम त्रयोदशः प्रवाहः ॥ १३ ॥

रामनामादि जपकर सर्वथा निष्काम जीव तो ज्ञान पाकर मुक्त हो गये और होते हैं। परन्तु जिनको इस लोक के विषयादि की कामनाओं के निवृत्त होने पर भी परलोक के विषयादि की कामनायें बनी रह गई तथा निज हृदयवर्ती सर्वात्मा राम को जिन्होंने नहीं समझा। किन्तु दूरवर्ती तटस्थ राम को माना, उन लोगों को राम ही राम पुकारते में जिह्वा में रौस (आवृत-

---

१ छन्द "विध्वङ्कमाला" भवेत् तौ तगौ गः।

ठेला) पड़ गया। अतः दूर के समान सदा राम को पुकारते हैं और सब तापों को शान्त करनेवाला शुद्ध अमृत स्वरूप सुगम उपाय से लभ्य अनायास उपस्थित जल को नहीं पीते हैं, (ब्रह्मात्मानन्द का अनुभव नहीं करते हैं)। किन्तु कर्मादि कुद्दाल से खोदकर स्वर्गादि के जल (सुख) को पीने (भोगने) की हौस (इच्छा) करते हैं। परन्तु किसी प्रकार आत्मानुभव किया जाय तो सब इच्छा निवृत्त हो सकती है, अन्यथा नहीं ॥ ३४ ॥

मोक्षस्थानाभाववर्णन प्र० १४

रमैनी ३५

पढ़ि पढ़ि पण्डित करु चतुराई। निज मुक्ति मोहि कहु समुझाई॥
कहँ बस पुरुष कहाँ सो गाऊँ। पण्डित मोहि सुनावहु नाऊँ॥

अधीत्याधीत्य शास्त्राणि नैपुण्यं क्रियते यदि।
क्रियतां भवता विद्वन् वचनं श्रूयतां त्विदम्॥ १॥
नामादिमात्रतो मुक्तिं यां सालोक्यादिलक्षणाम्।
प्रब्रूते हि भवान् स्वस्य सा विवृत्य निरुच्यताम्॥ २॥
यस्य लोकादिषु प्राप्त्या मुक्तिं मन्मन्यते भवान्।
पुरुषः कुत्र वस्ता स कुत्र ग्रामोऽस्य विद्यते॥ ३॥
यस्मात्सर्वं न चैतद्धि निश्चितं विद्यते क्वचित्।
वक्तुं न शक्यते तस्मात् कल्पनैव विजृम्भते॥ ४॥
"मोक्षस्य नहि वासोऽस्ति न ग्रामांन्तरमेव वा।
अज्ञानहृदयग्रन्थि नाशो मोक्ष इति स्मृतः॥ ५॥
अतएव न मुक्तस्य प्राणाः क्वाप्युत्क्रमन्ति च।
स ब्रह्मैव तु सन् ब्रह्माऽप्येति चेत्यब्रवीच्छ्रुतिः॥ ६॥

परमात्मा को दूर माननेवाले पण्डितों के प्रति कहा गया है कि हे पण्डितो! पढ़-पढ़ कर आप अन्य चतुराई भले ही करो। परन्तु अपनी मुक्ति को तो मुझे समझाकर कहो। अर्थात् यह नहीं कह सकते हो और वह मोक्षदाता पुरुष कहाँ बसता है? उसका वह मोक्ष का स्थानरूप ग्राम कहाँ कौन है? सो ग्राम का नाम मुझे सुनाओ। अर्थात् अनेक मतवाले अनेक लोकादि की कल्पना मिथ्या ही करते हैं, सर्वसम्मत निश्चित लोक ग्रामादि कोई नहीं कह सकते हैं और मरने ही पर मिलनेवाली मुक्ति जो दूर देश में

जाने पर मिलेगी; उसका सत्य पता भी इनको नहीं मिल सकता है कि जिसको ये कह सकें। अतः ग्रामवासादि रहित अज्ञान कामादि की निवृत्तिरूप प्रत्यक्ष जीवन्मुक्ति मन्तव्य है।

चारि वेद ब्रह्मा निज ठाना। मुक्तिक मर्म उनहुँ नहिं जाना॥

ब्रह्माहि चतुरो वेदान् संस्मृत्य कृतवान् पुरा।
मरणासाद्यमुक्तेश्च रहस्यं स न जज्ञिवान्॥७॥
जीवन्मुक्तो हि मुक्तः स्याद्विमुक्तश्च विमुच्यते।
इत्यादिश्रुतयः प्राहु र्मुधा मुह्यति वै भवान्॥८॥
क्रममुक्तौ च देवोऽपि विमुक्तः सन् विमुच्यते।
जीवन्नेव न तत्राऽतोऽव्याप्तिदोषेण दुष्टता॥९॥
नावेद् ब्रह्मापि यां तां त्वं चेद्वेत्थ शोभसे तदा।
अहो ते कुशला बुद्धि र्वाणी ते राजते स्वयम्॥१०॥
किम्वाऽभ्युपेत्य वादोऽयं प्रौढ्या सम्भाव्यते गुरोः।
यदि ब्रह्मापि पञ्चत्वे मुक्तिं विज्ञातवान् स्वयम्॥
तदा वेदविदामग्र्यः स रहस्यं न बुद्धवान्॥११॥

लोक पितामह ब्रह्माजी ने चार वेदों को ठाना (रचा स्मरण आरम्भ किया)। परन्तु तटस्थेश्वरवादियों की कल्पित मुक्तियों (सालोक्यादि) के मर्म को ब्रह्माजी ने भी नहीं जाना। अर्थात् उन्होंने "विमुक्तश्च विमुच्यते। अत्र ब्रह्म समश्नुते। कठ० २।५।१।२।६।१४" इत्यादि श्रुतियों के अनुसार जीवन्मुक्तिपूर्वक विदेहमुक्तिरूप-ब्रह्मरूपता की प्राप्ति को इस लोक में ही बताया है और सद्गुरु तथा विचारादि के बिना ब्रह्माजी भी मुक्ति के मर्म को नहीं जान सके। किन्तु माता के उपदेशपूर्वक विचारादि से जान सके। अतः सद्गुरुपूर्वक विचारादि कर्तव्य है और यदि ब्रह्माजी भी मरने ही पर मुक्ति मानते हों तो समझो कि ब्रह्मा ने भी मुक्ति के मर्म को नहीं पाया; फिर अन्य की तो बात ही क्या कहनी है, यह अभ्युपगमवाद है। क्योंकि गायत्री जन्य ब्रह्मादि की मुक्ति का आगे वर्णन है कि (तीनों भये निहाल) इत्यादि।

दान पुण्य उन बहुत बखाना। अपने मरण की खबर न जाना॥
एक नाम है अगम गँभीरा। तहवाँ अस्थिर दास कबीरा॥

दानानि पुण्यकर्माणि मरणे फलदानि वै।
बहूनि प्रोक्तवान् धाता निजां मुक्तिं न मृत्युजाम्॥१२॥

आश्चर्यं महद्देतद्यदस्मै वेदान् हि सर्वशः ।
प्राहिणोद्देवसर्वात्मा स रहस्यं न चेद्वेद् ॥१३॥
कर्मकाण्डेन वेदेन नाममात्रेग वा ह्यसौ ।
अवेत्त्रैव परं मोक्षं व्यवहारी पितामहः ॥१४॥
एकोऽद्वितीयनामा यो गम्भीराग्राह्यदग्वपुः ।
तत्र न स्थिरतां यान्ति देवदासाह्यबोधतः ॥१५॥

आश्चर्य है कि मरने पर फल देनेवाले दान, यज्ञादि पुण्य, कर्मादि का उन (ब्रह्माजी) ने बहुत व्याख्यान किया है तो क्या अपने मरने पर होने वाली मुक्तियों की खबर (उपदेश सन्देश) को वे भी नहीं जानते थे कि जिससे उस मुक्ति का व्याख्यान उन्होंने नहीं किया । यदि कहा जाय कि ब्रह्माजी से अवर्णित (अव्याख्यात) मुक्ति को देवभक्त क्यों मानते हैं तो उत्तर कहा गया है कि एक अद्वितीय नामवाला "एको देवः सर्वभूतेषु गूढः" इस श्रुति में एक शब्द से प्रसिद्ध, विभुचेतनदेव, बाह्य इन्द्रियों से अगम (अगम्य = अज्ञेय = अग्राह्य) है और गम्भीर अथाह = अपार) है । तहवाँ (उस देव में) ये देवादि के दास (भक्त) कबीरा (जीव) अस्थिर (प्राप्ति स्थिरता से रहित) रहते हैं । अतः मरने पर ही मुक्ति मानते हैं । अर्थात् "त्रयो धर्मस्कन्धा, यज्ञोऽध्ययनं दानामिति प्रथमः, तप एव द्वितीयः, ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन् । सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति । ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति । छा० अ० २।२३।१" धर्म की तीन शाखायें हैं, तहाँ यज्ञ अध्ययन और दानरूप प्रथम है, तप दूसरा है, आचार्य कुल में बसनेवाले ब्रह्मचारी जो अपने शरीर को आचार्य कुल में ही अवसादन (समाप्त) करते हैं सो तृतीय स्कन्ध होता है और ये सब प्रायः देवभक्त पुण्य (पवित्र) देवलोकरूप फलवाले होते हैं, केवल ब्रह्मसंस्थ (ब्रह्मनिष्ठ) अमृतत्व (मोक्ष) पाते हैं ।

साखी—चिउँटी जहाँ न चढ़ि सकै, राई नहिं ठहराय ।
आवागमन की गम नहीं, तहाँ सकल जग जाय ॥३५॥

सर्वात्मत्वातिसूक्ष्मत्व निरं शत्वादिभिस्तथा ।
यत्रारोढुं न शक्नोति सूक्ष्माऽप्येषा पिपीलिका ॥१६॥
तिष्ठेच्च राजिका नात्र स्तो नैव गमनागती ।
सर्वं गच्छति सुप्त्यादौ जगत्तत्रैव चाञ्जसा ॥१७॥

अक्षेत्रज्ञा यथा नैव हिरण्यनिधिमक्षयम्।
तस्योपरिचरन्तोऽपि विन्दन्तेऽत्र तथैव च ॥१८॥
संगच्छन्ति प्रजाः सर्वा ब्रह्मलोकमहर्निशम्।
प्रत्यक्षं नैव विन्दन्तेऽज्ञानेनैव पृथक् कृताः ॥१९॥
एवं हि श्रुतिसम्वादात्समीपे पुरुषः स्थितः।
सर्वात्मत्वाच्च हृद्येव तस्य ज्ञानं विमुक्तिदम् ॥२०॥
"कामत्यागात्तु[1] विज्ञानं सुखं ब्रह्मपरं पदम्।
कामिनां न हि विज्ञानं सनकोद्गीतमेव तत्" ॥२१॥३५॥

इति रमैनीरसोद्रेके मोक्षस्थानादेरभाववर्णनं नाम चतुर्दशः प्रवाहः ॥१४॥

उक्त अगम गम्भीर विभुसर्वात्मा के निरवयव अतिसूक्ष्म सर्वात्मा होने से जिसमें चींटी भी नहीं चढ़ सकती है, न राई ठहर सकती है, न जिसमें किसी के गमनागमन की गम (गति=प्राप्ति) हो सकती है, तहाँ ही सुषुप्तिकाल में संसारी विश्राम के लिये प्रतिदिन जाते हैं, महाप्रलय में सब संसार उसी में विलीन होता है। परन्तु अज्ञान से जीव संसारी बना रहता है, ब्रह्मनिष्ठ हुए बिना मुक्त नहीं होता है। श्रुति है कि "सता सोम्यः तदा सम्पन्नो भवति, सति सम्पद्य न विदुः सति सम्पद्यामहे। छा० ६।८।१।६।९।२" "सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्ति छा० ८।३।२" हे सोम्य! उस सुप्ति में सत् ब्रह्म से जीव सम्पन्न (मिलित) होता है। परन्तु सत में प्राप्त होकर भी जीव जानते नहीं हैं कि हम सत में प्राप्त हो रहे हैं। इस ब्रह्मस्वरूप लोक में प्रतिदिन जाती हुई भी सब प्रजा, इस ब्रह्मलोक को प्राप्त नहीं करती है। अतः अज्ञान से ब्रह्म अप्राप्त ही रहता है, ज्ञान से उसकी प्राप्तिरूप मुक्ति को समझे बिना विद्वान् भी दूर की आशा आदि करते हैं तो अन्य की बात ही क्या कही जाय॥ ३५॥

अथ अज्ञानजमिथ्याहंकारवर्णन प्र० १५

रमैनी ३६

पण्डित भूले पढि गुणि वेदा। आप अपन पौ जान न भेदा॥
सन्ध्या तर्पण औ षट कर्मा। ई बहुरूप करहि अस धर्मा॥

---

1 अग्निपु० अ० ३८२।१०॥

अधीत्याप्यखिलान् वेदानभ्यस्य च पुनः पुनः।
नाधियन्ति स्वमात्मानं पण्डिता ह्यविचारिणः ॥ १ ॥
स्वकल्याणपदस्वस्य रहस्यं स्वं विदन्ति नो।
नातस्ते त्ववगच्छन्ति सर्वानन्द महोदधिम् ॥ २ ॥
संध्यासन्तर्पणादीनि षट् कर्माणि प्रकुर्वते।
एवं बहुविधश्चान्यो धर्मस्तैर्हि वितन्यते ॥ ३ ॥
नैव चात्मविचारादीनहिंसादींश्च कुर्वते।
येन लब्ध्वा परात्मानं सद्यो ह्यत्रैव मुच्यते ॥ ४ ॥
"स्वरूपावस्थिति[1] मुक्तिस्तद्भ्रंसोऽहंत्ववेदनम्।
इति संक्षेपतः प्रोक्तं तज्ज्ञत्वाज्ञत्वलक्षणम् ॥ ५ ॥
न योगेन[2] न सांख्येन कर्मणा नो न विद्यया।
ब्रह्मात्मैकत्वबोधेन मुक्तिः सिद्ध्यतिनान्यथा" ॥ ६ ॥

सुषुप्ति में सब जीव जिस ब्रह्मलोक में जाते हैं, वह यदि दूर तटस्थ हो तो ऐसा हो नहीं सकता है, अतः वह सर्वात्मा है, परन्तु बहुत पण्डित वेदों को पढ़गुनि (विचार) कर भी उस सर्वात्मा को भूले रहते हैं, समझते नहीं हैं, अतः अपने पौ (स्वरूप मोक्षस्थान) के भेद (मर्म) को नहीं जानते हैं, अथवा अपना पौ आप हैं, परन्तु उस के भेद को आप नहीं जानते हैं, अतः अन्य मोक्षस्थान ध्येयादि की आशा करते है। और अन्य की आशा कामादिपूर्वक ही, ई (ये) लोग सन्ध्या वन्दन तर्पणादि, और अध्ययन, अध्यापन, यजन, याजन, दान और प्रतिग्रहरूप षट्कर्म करते हैं। इसी प्रकार बहुत रूप वाले, गुणभेद से भिन्न स्वरूप युक्त धर्मों (कर्मों) को करते हैं, एक प्रकार के शुद्ध सात्त्विक शम, दम, तप, ज्ञानविज्ञानादि को नहीं प्राप्त करते हैं, न निष्काम यज्ञदानादि करते हैं, अतः अपने स्वरूप को नहीं पाते हैं।

गायत्री युग चार पढाई। पूछहु जाय मुक्ति किन पाई ॥

चतुर्युगेहि गायत्रीं पाठयन्ति पठन्ति ये।
तान् सर्वानत्र पृच्छन्तु केऽपि जिज्ञासवो भुवि ॥ ७ ॥
पाठमात्रेण को मुक्तोऽभवज्ज्ञानादृते यतः।
ऋते ज्ञानान्न मुक्ति र्हीत्याहुः श्रुतिगणा मुहुः ॥ ८ ॥
सत्यात्मानं हि येऽबुध्वा गायत्रीं पाठयन्ति वा।
तेविद्वांसं हि पृच्छन्तु कस्य मुक्तिरभूदतः ॥ ९ ॥

---

१ योगवा० प्र० ३।११७।५। २ विवेक चूडामणि :

स्वर्गाय[1] बद्धकक्षो यः पाठमात्रेण ब्राह्मणः।
स बालो मातुरङ्कस्थो ग्रहीतुं सोममिच्छति ॥१०॥

तपश्च[2] दानं च शमोदमश्च ह्रीरार्जवं सर्वभूतानुकम्पा।
स्वर्गस्य लोकस्य वदन्ति सन्तो द्वाराणि सप्तैवमहान्ति पुंसाम् ॥११॥

मोक्षो दूरतरस्तस्मात्स्वर्गात्तस्यहि लब्धये।
पृच्छन्तु योगभक्त्याद्यै ज्ञानं सम्पादयन्तु च ॥ १२ ॥

और राजस तामस कर्मादि में कामादिवश प्रवृत्त पण्डितों ने चारो युगों में गायत्री पढाई। और गायत्री के पाठमात्र से मुक्ति भी मानी गई कि "गायनात् त्रायते सा गायत्री" गाने, पाठ करने से रक्षा करे सो गायत्री मन्त्र है। परन्तु किसी ज्ञानी ब्रह्मनिष्ठ से जाकर पूछो कि शमदमादिपूर्वक आत्मज्ञान के बिना किन लोगों ने कब मुक्ति पाई। अर्थात् पाठमात्र से पापविशेषादि से रक्षा होती है, मुक्ति नहीं। "स्थाणुरयं भारहारः किलाऽभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्। योऽर्थज्ञ इत् सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा। निरुक्त० अ० १।१८" यह स्थाणुः शङ्कु = ठूठ, भार ढोने वाला ही हुआ कि जो वेद को पढ कर अर्थ को नहीं जानता है। जो अर्थज्ञ है, स, इत् (एव) सब शुभ को प्राप्त करता है, क्योंकि ज्ञान से विधूत= विनष्ट पाप वाला हो कर दुःख रहित स्वरूप स्थान को पाता है।

औरक छुये लेत हौ सीचा। तुम ते कहहु कौन है नीचा ॥
अवगुण गर्व करहु अधिकाई। अति कै गर्व न होय भलाई ॥
जासु नाम है गर्व प्रहारी। सो कस गर्व हि सकै सम्हारी ॥

ये हि पृष्ट्वा न जानन्ति स्वात्मानं विधिपूर्वकम्।
वर्जयन्ति न हिंसादीन् मुधादेहाभिमानिनः ॥१३॥

तेऽपि चान्यस्य संस्पर्शाज्जलं सिञ्चन्ति वर्ष्मणि।
चेद्वदन्तु च तेभ्यः के सन्ति नीचा महीतले ॥१४॥
अहो पृथग्जनायेऽपि कुर्वन्ति वृजिनं महत्।
तमोरजः प्रसक्तत्वात्तेऽतिगर्वं च कुर्वते ॥१५॥

गर्वे चातिकृते भद्रं कस्यापीह न विद्यते।
यतो मानेन नश्यन्ति ह्यभिभूतास्तमोगुणैः ॥१६॥

---

१ स्कन्दपु० १-२। अ० १३ ८६। २ मत्स्य पु० अ० ३६।२२।

गर्वं प्रहारिनामा यः सोढुं सक्नोत्यसौ कथम् ।
गर्वं कस्यापि देवो वा बोधोमायाऽथवा प्रभुः ॥१७॥

गायत्री पढ़ने पढ़ाने वाले देहाभिमानी दुर्गुणसक्तों से यह भी पूछो कि और (अन्य) किसी हरिभक्ति से भी छू जाने (स्पर्श होने) पर, आप जल का सींच लेते हो (अपनी देह पर जल छिटते हो) परन्तु समझो और कहो कि संसार में तुमसे नीच कौन है कि जिसके स्पर्श से देह अपवित्र हुई । अर्थात् दुर्गुण दुर्भक्ष्य को त्यागे विना मिथ्या अभिमान करना उचित नहीं है, न सुख और शान्ति है । क्योंकि यदि आप स्वादवश हिंसा आदिरूप अवगुण (पाप) और अन्य को तिरस्कारादिरूप गर्व दोनों अधिक करते हो तो समझो कि अति के (अत्यन्त) गर्व करने पर किसी की भलाई नहीं होती है । क्योंकि जिसदेव तथा परमात्मा का गर्व प्रहारी (गर्वनाशक) नाम है, सो किसी के गर्वको कैसे सह सकेगा । अतः गर्व त्याज्य है । क्योंकि यह गर्व असुरभाव है । तथाहि "देवाश्च वा असुराश्च उभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे, ततोऽसुरा अभिमाननेनैव कस्मिन् वयं जुहुयामेति स्वेष्वेवास्येषु जुह्वन्तश्चे-रुस्तेऽभिमानेनैव परामभूवुस्तस्मान्नातिमन्येत पराभवस्यैतन्मुखं यदभिमानः । शतपथ. ५।१।१" नश्यन्ति मानेनतमोऽभिभूताः पुंसः सदैवेति वदन्ति सन्तः । म. भा. । आदि प० ६०।२२"

प्रजापतिके अपत्यदेव और असुर दोनों परस्पर स्पर्द्धा = ईर्ष्या किये तो असुरों ने अभिमान से ही समझा कि हम किसमें हवन करें, फिर अपने मुखों में ही हवन करते हुए विचरने लगे, तो वे अभिमान से ही पराभव पाये, अतः अभिमान नहीं करना चाहिये । क्योंकि यह अभिमान पराभव का द्वार है ।

साखी—कुल मर्यादा खोय के, खोजिन पद निर्वान ।
अङ्कुर बीज नशाय के, भये विदेही थान ॥३६॥

कुलजात्यादि धर्मं च स्वमर्यादां सनातनीम् ।
परित्यज्याभिवाच्छन्ति निर्वाणपदमव्ययम् ॥१८॥
ज्ञानवृक्षाङ्कुरं तस्य बीजं मोक्षफलप्रदम् ।
नाशयित्वा म्रियन्तेऽतः सर्वेखल्वभिमानिनः ॥१९॥
किम्वासर्वाभिमानादि [१]त्यक्त्वैवान्वेषितंहि यैः ।
निर्वाणफलमत्रैव विनाश्याङ्कुरबीजके ॥२०॥

---

१ "अथ देवाः । अन्योन्यस्मिन्नेव जुह्वन्तश्चेरुस्तेभ्यः प्रजापतिरात्मानं ददौ यज्ञो ह्येषामास यज्ञोह देवानामन्नम् । शतपथ. ५।१।१-२"

वासनाकर्मरूपे वा बुद्ध्यविद्यादिरूपिणी।
ते जीवन्मुक्ततां प्राप्य विदेहत्वं प्रपेदिरे॥
नान्यथा जन्म जन्मान्तेऽप्येतद्वेदानुशासनम्॥२१॥
विरागयोगयुक्तेन सुभक्तेन सुचेतसा।
दैवं पश्यत्यथात्मानमेकरूपमनामयम्॥२२॥३६॥

इति हनुमदीये रमैनीरसोद्रेके ज्ञानं विना विदुषामहंकारवर्णनं नाम पञ्चदशः प्रवाहः॥१५॥

जिन लोगों ने अपने कुल की मर्यादा (धार्मिक नियमशमदमादि) को खोय (नष्ट) करके गायत्री के पाठादिमात्र से निर्वाणपद (मुक्ति) को खोजा (चाहा) वे लोग सुख शान्तिप्रद ज्ञान वृक्ष के अंकुर और बीजरूप विवेकादि को गमा कर (नष्ट करके) विदेही स्थान (मृतक स्थान श्मशान) में प्राप्त हो गये और कुछ हुआ नहीं तथा जिन हिंसादिरहित विवेकियों ने कुल (सब) मर्यादा (मिथ्या अभिमान = हद सीमा) को नष्ट करके नम्रता भक्ति श्रद्धापूर्वक गुरुदेवादि के शरण में जाकर निर्वाणपद को खोजा, उन लोगों ने संसार (जन्मादि) के अङ्कुरबीजरूप कर्म वासनादि को नष्ट करके जीवन्मुक्तिरूप विदेही मुक्ति का स्थान स्वरूप वे लोग हो गये और होते हैं॥३६॥

अथ ज्ञानभूमिका प्र० १६

रमैनी ३७

ज्ञानी चतुर विचक्षण लोई। एक सयान सयान न होई॥
दुसर सयान को मर्म न जाना। उतपति परलय रैनि बिहाना॥

ज्ञानिनः कुशलाः सर्वे विचक्षणजनास्तथा।
जानन्तु त्विति नैवासौ ज्ञानी प्रथम भूमिकः॥ १॥
एकत्वादिविहीनस्य निर्विशेषस्य सर्वथा।
ज्ञातैव कथ्यते ज्ञानी विचारादि समाश्रयात्॥ २॥
द्वितीयभूमिकस्यापि रहस्यं यावदेति नो।
स्तां जन्ममरणे तावदवश्यं हि शुभेच्छिनः॥ ३॥
शास्त्रज्ञाः पण्डिता यं वा सर्वज्ञं त्वेकमीश्वरम्।
तटस्थमेव मन्यन्ते स सर्वज्ञो न विद्यते॥ ४॥

ततोऽन्योस्ति द्वितीयो यः सर्वज्ञः सर्वशक्तिमान् ।
कुशलोऽपि न तं वेत्ति यावत्तावन्न मुक्तता ॥ ५ ॥
किन्तु तावदवश्यं ते भवतो ह्यनिवारिते ।
मुहु र्वै जन्ममरणे लोके रात्रिदिवं यथा ॥ ६ ॥

जीवन्मुक्तिपूर्वक विदेह मुक्ति के हेतुरूप ज्ञान की सात भूमिका (अवस्था) शास्त्र में मानी गई है, शुभेच्छा १, सुविचारणा २, तनुमानसा ३, सत्त्वापत्ति ४, असंसक्ति ५, पदार्थाभाविनी ६, और तुर्यगा ७, ये उनके नाम हैं, तहाँ विरागादिपूर्वक ज्ञान मोक्ष की प्राप्ति की इच्छा को शुभेच्छा कहते हैं, वहाँ श्री कबीरसाहब कहते हैं कि हे ज्ञानी (विवेकी) चतुर (शास्त्रज्ञ) विचक्षण (विचारी) लोई (लोगों) एक सयान (शुभेच्छामात्रवाले प्रथमावस्थायुक्त) वस्तुतः सयान (ज्ञानी) नहीं होते हैं । किन्तु शुभेच्छा ज्ञान का बीज होता है । अतः उसको ज्ञान की अवस्था कहते हैं । जैसे कि अमानित्वादि को गीता अ० १३ में ज्ञान कहा गया है । अतः जब तक दूसरा सयान (सुविचारी) के मर्म को मनुष्य नहीं जानता है (सुविचार नहीं करता है, शुभेच्छामात्र में अंटका रहता है) तबतक रात दिन के समान अनिवार्य उत्पत्ति प्रलय (जन्ममरण) आदिरूप संसार होते ही रहते हैं । अतः शुभेच्छा के होने पर सुविचार अवश्य कर्तव्य है, शुभेच्छापूर्वक सुविचार से तनुमानसापूर्वक ज्ञान अवश्य होता है ।

वाणिज एक सबन मिलि ठाना । नेम धर्म संयम भगवाना ॥
हरि अस ठाकुर तेजि न जाई । बालन विहिस्त गाव दुलहाई ॥

विचारणाद्यभावेन काम्यकर्मादिलक्षणम् ।
संयमं नियमं चैव भगवद्विषयं नराः ॥ ७ ॥
प्रारभन्ते[१]स्म वाणिज्यं कामकर्मादिमोहिताः ।
नैव जातु स्वमात्मानं हरिं पश्यन्ति वै हृदि ॥ ८ ॥
तटस्थहरितुल्यास्त्यक्तुं शक्या न तादृशैः ।
अतस्तेभ्योहि तैः स्वर्गो गीयते न हरिः स्वयम् ॥ ९ ॥
किम्वा स्वात्मा हरिस्त्यक्तुं शक्यते न कथञ्चन ।
गत्वा लब्धुं न शक्यश्च सर्वात्मत्वान्महेश्वरः ॥१०॥
बालास्तथापि गत्वैवाऽन्यत्रपत्युश्च लाभतः ।
स्वर्गं मोक्षं च मन्यन्ते नात्मलाभात्कथञ्चन ॥११॥

---

१ किं वेदैः स्मृतिभिः पुराणपठनैः शास्त्रैर्महाविस्तृतैः, स्वर्गग्रामकुटी-

परन्तु सुविचार नहीं करके शुभेच्छा के होने पर सब लोगों ने मिलकर काम्यकर्मादिरूप एक प्रकार का वाणिज्य ठाना (व्यापार किया) है। भगवान् के नियम से स्मरणादिरूप धर्म तथा संयम (धारणा ध्यानादि) रूप धर्म भी वाणिज्य ही किया है और तटस्थ हरि (ईश्वर) भी ऐसा विचित्र ठाकुर (स्वामी) हैं कि जो इन अज्ञों अविचारियों से त्यागे नहीं जा सकते हैं और तटस्थ बुद्धि को त्यागे बिना सर्वात्मा का विचार नहीं हो सकता है। अतः विचाराभाव के कारण बालन (बालक अज्ञ सब) दुलहाई (दूसरे पति के लाभ = प्राप्ति) रूप विहिस्त (स्वर्ग मोक्ष) गाते (कहते) हैं। अथवा दुलहाई से (दुलहाभाव की प्राप्ति से) मोक्षादि गाते हैं। वस्तुतः सर्वात्मा हरि तो ऐसा ठाकुर है कि जिसके त्यागग्रहणादि हो नहीं सकते हैं तो भी उसे दुलहामान कर अज्ञ लोग उस को स्वर्गादि में गाते (कहते) हैं और वहाँ जाने के लिये कर्मादि करते हैं, हृदयादि में विचारादि के बिना नहीं समझते हैं।

साखी—ते नर कहहु कहाँ गये, जिनहि दीन्ह गुरु घोंटि।
राम नाम निज जानि के, छाड़हु वस्तुहिं खोटि ॥३७॥

उच्यन्तां ते गताः कुत्र येभ्यः सद्गुरुभिः स्वयम्।
दत्तं ज्ञानामृतं शुद्धं मातृभिरौषधं यथा ॥१२॥
तेऽत्रैव स्वात्मलाभेन रागादिरोगवर्जिताः।
मुक्ता आसन्न कुत्रापि गता मायादिवर्जनात् ॥१३॥
अतश्च रामनामानं ज्ञात्वैव स्वं ह्यलेपकम्।
त्यज्यतामखिलं विश्वं दुष्कर्माद्यभिमानिता ॥१४॥
"विचारोपशमाभ्यां[1] हि न विना साध्यते हरिः।
विचारोपशमाभ्यां च भुक्तस्याब्जकरेण किम्" ॥१५॥३७॥

कोई भी कहो कि वे नर (मनुष्य) कहाँ गये और कहाँ जाकर मुक्त सुखी शान्त हुए या मुक्त होकर कहाँ गये कि जिनको सद्गुरु ने हितैषिणी माता की नाई ज्ञान की बूटी की घोंटी दी (पिलाई)। अर्थात् जैसे माता से दी गई औषधि की घोंटी से अज्ञ बालक जहाँ रहता है वहाँ ही रोग दुःख से मुक्त हो जाता है, कहीं जाने से नहीं, वैसे ही गुरुमुख से सत्योपदेश पानेपर सुविचारी ज्ञान पाकर यहाँ ही मुक्त होता है, कहीं जाकर नहीं। अतः गुरु सद्विचारादि

निवासफलदैः कर्मक्रियाविभ्रमैः। मुक्त्वैकं भवबन्धदुःखरचनाविध्वंसकालाऽनलं, स्वात्मानन्दपदप्रवेशकलनं शेषा वणिग्वृत्तयः ॥१॥ भर्तृहरिः, वै०।

१ योगवा. प्र. ५।४३।२३॥

के द्वारा निज नित्यात्मा का ही राम यह नाम जानकर खोटी वस्तु (मिथ्या-देहादि) के अभिमान, ममता, आसक्ति, आशा आदि को छोड़ दो, हिंसादि दुष्कर्म अभक्ष्य-भक्षणादिको त्यागो। क्योंकि "अतत्त्वे तत्त्वभावेन जीवो देहावृत्तः स्थितः। निर्देहो भवति श्रीमान् सुखी तत्त्वैकभावनात्। योगवा० प्र. ५।८२।२१" मिथ्या देहादि में सत्यता आदि की भावना से जीव देहावृत (देही) बना रहता है और सत्य एकात्मा की भावनां से जीवन्मुक्त सुखी होता है। अर्थात् "स यो हवै तत्परमं ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति। मुण्ड. ३।२।६" वह जो कोई विचारवान् उस अविनाशी परब्रह्म को जानता है सो नित्यमुक्तसच्चिदानन्द ब्रह्मस्वरूपही हो जाता है। अतः उसके गमनागमनादि नहीं होते हैं ॥३७॥

रमैनी ३८

एक सयान सयान न होई। दूसर सयान न जानै कोई॥
तिसर सयान सयान हि खाई। चौथ सयान तहाँ लै जाई॥

"ज्ञानभूमिः[1] शुभेच्छाख्या प्रथमा समुदाहृता।
विचारणा द्वितीया तु तृतीया तनुमानसा ॥१६॥
सत्त्वापत्तिश्चतुर्थी स्यात्ततोऽसंसक्तिनामिका।
पदार्थाभाविनी षष्ठी सप्तमी तुर्यगा स्मृता" ॥१७॥
प्रथमां भूमिकां प्राप्तो ज्ञानी नैवाभिधीयते।
द्वितीयाभूमिकस्तत्वं नैव जानाति किञ्चन ॥१८॥

---

१ योगवा. उत्पत्ति प्र. स. ११८। स्थितः किं मूढ एवास्मि प्रेक्ष्येऽहं शास्त्रसज्जनैः। वैराग्यपूर्वमिच्छेति शुभेच्छेत्युच्यते बुधैः ॥१॥ शास्त्रसज्जनसम्पर्कवैराग्याभ्यासपूर्वकम्। सदाचारप्रवृत्ति र्या प्रोच्यते सा विचारणा ॥ २ ॥ विचारणाशुभेच्छाभ्यामिन्द्रियार्थेष्वसक्तता। याऽत्र सा तनुता भावात् प्रोच्यते तनुमानसा ॥ ३ ॥ भूमिका त्रितयाभ्यासाच्चित्तेर्थविरते वंशात्। सत्यात्मनि स्थितिः शुद्धे सत्त्वापत्तिरुदाहृता ॥ ४ ॥ दशाचतुष्टयाभ्यासादसंसङ्गफलेन च। रूढसत्त्वचमत्कारात् प्रोक्ताऽसंसक्तिनामिका ॥५॥ शुद्धसंविन्मयानन्दरूपा भवति पञ्चमी। अर्द्धसुप्तप्रबुद्धाभो जीवन्मुक्तोऽत्र तिष्ठति ॥६॥ भूमिकापञ्चकाभ्यासात् स्वात्मारामतया दृढम्। अभ्यन्तराणां बाह्यानां पदार्थानामभावनात्। पदार्थाभावनानाम्नी षष्ठी संजायते मतिः ॥७॥ भूमिषट्क चिराभ्यासाद् भेदस्यानुपलम्भतः। यत्स्वभावैकनिष्ठत्वं सा ज्ञेया तुर्यगा गतिः ॥८॥ तुर्यावस्थोपशान्ताऽथ मुक्तिरेवेह केवलम्। समता स्वच्छता सौम्या सप्तमी भूमिका भवेत् ॥९॥

तृतीयभूमिकश्चैतज्ज्ञानितायास्पदं मनः ।
करोति तनु तेनैतत् खादतीव स लक्ष्यते ॥१९॥
चतुर्थभूमिकः सत्ये स्वात्मनि स्थितिमेति वै ।
तत्पर्यन्तं हि गत्वेव वासनाविलयान्मुनिः ॥२०॥

शुभेच्छामात्र से खोट के त्याग नहीं होने के कारण गुरु के उपदेश के पाने पर भी जो एक सयान (शुभेच्छामात्रवाला प्रथमभूमिकास्थ) रहता है सो वस्तुतः सयान (ज्ञानी) नहीं हो जाता है और मन की तनुता के बिना दूसर सयान (सुविचारवाला) भी कोई (किसी) सत्य को नहीं जानता है । अतः तिसर सयान (तनु मानसावाला योगी) सब लौकिक सयानता के आश्रय अन्तःकरणरूप मन को तनु (सूक्ष्म) करने से मानो सयान को ही खाता है (नष्ट मृतक निरभिमान करता है) इच्छा कामादियुक्त मन जीवित कहा जाता है और इच्छादि से रहित होने पर मृतक कहा जाता है । फिर मन के मृतक होने पर चौथ (चतुर्थ) सयान (सत्त्वापत्तिवाला) तहाँ लै (वहाँ तक) जाता है कि जहाँ जाने के लिये शुभेच्छाविचारादि किये जाते हैं। अर्थात् वह सत्य तत्त्व के ज्ञान को प्राप्त करता है। अतः वह वस्तुतः ज्ञानी (सत्त्वानुभवी) होता है, प्रथम की तीन भूमिका ज्ञान के साधन होते हैं, चौथी में साध्य ज्ञान प्राप्त होता है ।

पँचय सयान न जानै कोई। छठय माँह सब गेल बिगोई ॥
सतयँ सयान जु जानहु भाई। लोक वेद मँह देहु दिखाई ॥

पञ्चमीं भूमिकामेत्य जगन्मिथ्या प्रपश्यति ।
अविकल्पमनाश्चातः स्वानन्दे वर्तते सदा ॥२१॥
असंपश्यञ्जगत्सर्वं निर्वासनमना मुनिः ।
अनासक्तो हि सर्वत्र वर्तते विगतज्वरः ॥२२॥
षष्ठभूमौ तु सम्प्राप्ते पुंसि सर्वो विलीयते ।
पदार्थसङ्ग इत्यत्र दुःखलेशो न विद्यते ॥२३॥
सप्तमीं भूमिकामाप्तः स्वरूपस्थोभवेत्सदा ।
ज्ञानस्य विषयो नासौ कथञ्चिल्लक्ष्यते क्वचित् ॥२४॥
चर्चाऽपि दुर्लभा तस्य विद्यते लोकवेदयोः ।
यदि जानाति कश्चित्तं स दर्शयतु सज्जनात् ॥२५॥
दर्शनात्पुण्यलाभः स्याच्छान्तिश्चेहोपजायते ।
तद्दृष्टिगोचरो जन्तुर्मुच्यते सर्वकिल्बिषात् ॥२६॥

अभ्यास बल से सत्त्वापन्ति के दृढ़ होने पर मन के संकल्पादि के अभाव से सांसारिक वस्तु में सर्वथा आसक्ति का अभावरूप असंसक्ति नामक भूमिका होती है, तब उस भूमिकावाला पञ्चम सयान आत्मभिन्न कोई (किसी) पदार्थ को सत्यादि नहीं जानता है, अतः किसी में कभी आसक्त नहीं होता है, और इस अनासक्ति के अभ्यास से षष्ठी पदार्थाभाविनी भूमिका होती है कि जिसमें सब अनात्म पदार्थ स्वयं विगोय (भूल) जाते हैं। सर्वथा सत्त्वरहित भासते हैं। केवल आत्मा ही सत्य भासता है और उसके बाद तुर्यगस्थित सप्तम भूमिका वालों का तो दर्शन भी दुर्लभ है, हे भाई ! यदि उन्हें जानते हो तो लोकवेद में उनकी चर्चा को देखा दो। अर्थात् सर्वत्र समतावाले ज्ञानी के अत्यन्त दुर्लभ होने से लोक वेद में प्रायः चर्चा अदृश्य अलभ्य हैं।

"शकुन्तानामिवाकाशे मत्स्यानामिव चोदके। यथा गतिर्न दृश्येत तथा तत्त्वविदां गतिः ॥१॥ सर्वभूतात्मभूतस्य विभोर्भूतहितस्य च। देवाऽपि मार्गे मुह्यन्ति अपदस्य पदैषिणः ॥२॥ महा भा. शा. अ. २३६" पक्षियों की जैसे आकाश में गति होती है, मछलियों की जल में गति होती है, परन्तु मार्ग का चिन्ह जैसे नहीं दीखता है, तैसे ज्ञानस्वरूप ब्रह्म के ज्ञानी की ब्रह्मप्राप्तिरूप गति या उसके मार्ग नहीं दिखते हैं ॥१॥ अतः सबके अन्तरात्मास्वरूप, विभु, सबके हित, अपद (मार्गरहित) ब्रह्मपद (वस्तु) सत्यस्वरूप को अन्वेषणोत्सुक के मार्ग में देव भी मोहित होते हैं। क्योंकि उसका मार्ग ही नहीं है ॥२॥

साखी—बिजक बतावै बित्तको, जो बित्त गुप्ता होय।
शब्द बतावै जीव को, बूझै बिरला कोय ॥३८॥

पुस्तिका बीजकाख्या हि वित्तं बोधयते यथा।
निखातं निहितं क्वापि न्यासं चैवमृणादिकम् ॥२७॥
तथा बोधयते सारशब्दश्च निहितं हृदि।
जीवानां सत्स्वरूपं तद्यज्ज्ञानादतुलं सुखम् ॥२८॥
चिदानन्दस्वरूपं तमदृश्यं सर्वसाक्षिणम्।
निर्विकारं च पश्यन्ति केप्यत्राधिकारिणः ॥२९॥
निखिलभुवनकोशे [1]व्यापको यो निजात्मा,
जनिमृतिगतिहीनः शुद्धचैतन्यमूर्तिः।

---

१ दो नगण एक मगण दो यगण युक्त, मालिनी, छन्द होता है, और भोगी (आठ) लोक (सात) वर्ण पर विराम होता है "न न म यय यु तेयं मालिनी" भोगिलोकैः।

शमविरतिविशुद्धैर्ज्ञानभूमिप्रलभ्यो ,
निगमयति तुरीयं तं सुशब्दोऽहंवित्तम् ॥३०॥३८॥

इति हनुमदीयेरमैनीरसोद्रेके ज्ञानभूमिकाबोधनं नाम षोडशः प्रवाहः १६

जैसे जो वित्तकोश (खजाना) भूमि आदि में गुप्त रहता है, उसको (बीजक) वही बताता है, वैसे ही वेदादिस्वरूप गुरु का उपदेश स्वरूप शब्द पाँच कोशों से गुप्ताच्छादित जीवों के सत्यस्वरूप को बताता है। परन्तु उसे कोई विरला विचारादि करनेवाला विवेकादियुक्त ज्ञानाधिकारी ही बूझता (समझता) है अतः ज्ञान के लिये प्रथम ज्ञानाधिकार को प्राप्त करना चाहिये ॥३८॥

अथ यवन दुरवस्था वर्णन प्र० १७

रमैनी ३९

जिन कलमा कलि माहँ पढाया। कुदरत खोजि तिनहुँ नहिं पाया॥
कर्म ते कर्म करै करतूता। वेद कितेव भया सब रीता॥

यैः कलौ कल्पितो मन्त्रो मुहम्मदमुखैः किल।
पाठितश्च जनान् तेऽपि शक्तिं नैवेशितुर्विदुः॥ १॥
अन्विष्यापि बहुष्वत्र स्वविचाराद्यभावतः।
जात्यादेरभिमानेन नेशं मत्सरिणो विदुः॥ २॥
कुर्वन्ति कर्मणः कर्म कल्पितं नतु वैदिकम्।
सच्छास्त्रसम्मतं नैव कुर्वन्ति ते कदाचन॥ ३॥
कल्पितेषु प्रवृत्त्यैवं वेदशास्त्रैः सुकर्मभिः।
ते रिक्ताः सम्बभूवु वैं व्यर्थाश्चैवागमास्तथा॥ ४॥
स्मृतिभिः किन्तु वेदैश्च पुराणैः शास्त्रविस्तरैः।
स्वर्गदैः कर्मभिः किञ्च यदि ज्ञानं न तात्त्विकम्॥ ५॥

सुविचारादि के अभाव से निजस्वरूप के ज्ञान के बिना, जिन लोगों ने कलियुग में कलमा नामक मन्त्र को पढा पढाया, उन लोगों ने भी तटस्थ कुदरत (ईश्वर और उसकी शक्ति) को खोजा, परन्तु खोजकर भी पाया (समझा) नहीं, क्योंकि वे लोग अब भी करतूत (नवीन कल्पित) सकामादि कर्म ते कर्म (एक कर्म के बाद दुसरा तिसरा कर्म) निरन्तर करते हैं, परन्तु ज्ञानप्रद अहिंसा शमदमादि कर्म नहीं करते हैं। अतः सत्यात्मा के उपदेश

रूप सत्य अहिंसा शमदमादि के उपदेशरूप वेद किताब (ग्रन्थ) सब उनके प्रति रीता (व्यर्थ अप्रमाण) हो गये हैं, उनके पठनादि की रीति मात्र रही भी है तो उनके अनुसार सत्कर्म भक्ति ज्ञान के अभाव से सत शास्त्र निष्फल ही हो गये हैं। अर्थात् अत्यन्त कल्पित जाति निमित्तक कर्म करते हैं। मानवता निमित्तक भक्ष्याभक्ष्य, ज्ञयाज्ञेय ज्ञानाऽज्ञान कर्तव्याकर्तव्यादि के विवेकादि नहीं करते हैं कि जिससे आहारादि की शुद्धि से बुद्धि की शुद्धि आदि हो। अनादि सर्वात्मा ज्ञेय परब्रह्म का ज्ञान हो, मान, दम्भ, हिंसादि के त्यागादि हो और अमृतत्त्व की प्राप्ति हो। "आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः। ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज् ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते" इत्यादि श्रुति गीता के वचन हैं।

कर्म तो सो जो गर्भ अवतरिया। कर्म तो सो जो नामहि धरिया ॥
कर्म ते सुन्नत और जनेऊ। हिन्दू तरुक न जानै भेऊ ॥

जातकर्म च नामादि कृतमेते विदुः शुभम्।
सुन्नतं यज्ञसूत्रं वा कर्म सौख्यप्रदं हितम् ॥ ६ ॥
किम्वा तत्कुर्वते कर्म येन गर्भाज्जनि र्भवेत्।
नामानि विविधान्येव सुन्नतादिंप्रकल्पनम् ॥ ७ ॥
एतादृशानि कुर्वाणा आर्याश्च यवना अपि।
अहिंसादे रहस्यं नो विदु नैवात्मनस्तथा ॥ ८ ॥
"तत्कर्म[1] यद्धि ज्ञानाय सा विद्या या विमुक्तये।
आयासायापरं कर्म विद्याऽन्या शिल्पनैपुणम् ॥ ९ ॥
इत्येवं शास्त्रसद्वाक्यैः प्रोक्तं शृण्वन्ति केऽपि नो।
कुर्वते मूढबुद्ध्युक्तं कथं मर्म विदन्तु ते ॥१०॥

यदि कहा जाय कि वेद शास्त्र कर्म करने के लिये उपदेश देते हैं और हिन्दु तुरुक कर्म करते ही हैं तो वेदादि निष्फल कैसे हैं तो कहा जाता है कि कर्म तो सो करते हैं कि जो गर्भ से अवतार हुआ, अर्थात् पुत्रादि के जन्म काल में जात नामक स्नानदानादि कर्म करते हैं। अथवा सोई कर्म करते हैं कि जिससे गर्भवास और जन्म हुआ है, उससे रहित होने के लिये नही करते हैं, और वेदादि का गर्भादि निवारक कर्म में तात्पर्य है; और व्यवहार के लिये जो बच्चों का नाम धरा गया, उसको नामकरणरूप कर्म समझते हैं। अथवा सो कर्म करते हैं कि जिससे अनेक नाम धरा गया, नामरूप से रहित

---

1 विष्णुपु० अ० १९।४१ ॥

मुक्त अवस्था के लिये निष्काम सत्कर्म नहीं करते हैं। अतः एक स्वरूपता की प्राप्ति नहीं हुई न होती है। इसी प्रकार सुन्नत और जनेऊ के धारण को कर्म कहते हैं और अन्य कर्म (विधि) से सुन्नतादि को और जनेऊ आदि को सिद्ध प्राप्त करते हैं। परन्तु ज्ञान सुखशान्ति के हेतुरूप वेदादि में विहित अहिंसा सत्यादि शौच संतोषादि तथा सुविचारादि हैं उनके भेद (मर्म) को प्रायः हिन्दू तुरुकपन के अभिमानी नहीं जानते हैं कि जिनके अनुष्ठान से योग और ज्ञान की प्राप्ति के द्वारा परम कल्याण हो इत्यादि। "सदा मुनिः सदा योगी मधुमांसस्य वर्जनात्। निर्व्याधिनीरुजौजस्वी सुरामधुविवर्जनात्॥ भविष्यपु० प० ४ अ० ७।५२" इत्यादि "सौभाग्यमाप्नुयाल्लोके नूनं रसविवर्जनात्। आयुष्यमत्यः प्रजाः सर्वा भवन्त्यामिषवर्जनात्। स्कन्दपु० खं० ७ अ० २०७।७८" मधुमांस के त्याग से सदा मुनि योगी होता है सुरा और मधु के त्याग से व्याधि रहित, निर्गत रुजावाला बली होता है। जिह्वा के विषय अविहित रस के त्याग से अवश्य लोक में सौभाग्य पाता है और मांस के त्याग से सब प्रजा आयुष्वाली होती है।

साखी—पानी पवन संजोय के, रचिया ई उतपात।
शून्यहि सुरति समोय के, कासो कहिये जात॥३९॥

रजोरेतोऽभिसम्बन्धात्प्राणस्येदं कलेवरम्।
दुःखमूलं निजोपाधि निष्पन्नं मोहमूलकम्॥११॥
विवेकेन विविक्ते तु तच्छून्ये सच्चिदात्मनि।
मनोवृत्तिं स्थिरीकृत्य कस्मै का जाति रुच्यताम्॥१२॥
"मनुष्याणां न रक्तस्य न मांसस्य न चास्थिनः।
प्राणस्य नात्मनो जाति र्व्यवहारो हि कल्पितः"॥१३॥
स्वविवेकाद्विविक्ते च तच्छून्ये वै निजात्मनि।
मनोवृत्तेः स्थितौ शश्वज्जाति कार्यं न विद्यते॥१४॥
सोऽत्र[1] कर्मजालकं तनोतु तापपूरितं,
यो न जातिवर्जितं हि वेत्ति पूर्णतृप्तिदम्।
साधु तत्र मानसं निधाय योगवित्तमाः,
किं वदन्तु जातिजं क्रियादि वाति विभ्रमम्॥१५॥२६॥

रजोवीर्यादिरूप पानी और प्राणरूप पवन के संयोग सम्बन्ध करके

---

[1] "तूणक" नामक छन्द है।

ई (इस) शरीररूप उतपात (जीवात्मा की उपाधि) को ईश्वर काल कर्मादि ने रचा है। तहाँ उपाधि से शून्य (रहित) शुद्ध सत्यात्मा में सुरति (ध्यान) को समाकर (स्थिर करके) फिर किससे कौन जाति की बात कही जाय, अर्थात् अनात्म परायणता से ही जाति आदि का झगड़ा द्वन्द्व खड़ा होता है। अतः निर्द्वन्द्व सुखशान्ति के लिये आत्मपरायण होना चाहिये और आत्मपरायणता के लिये शुभेच्छापूर्वक सद्विचारादि कर्तव्य हैं ॥३९॥

रमैनी ४०

आदम आदि सुधि नहिं पाई। मामा हौवा कहँ ते आई॥
तहिया होते तुरुक न हिन्दू। न मा के रुधिर पिता के बिन्दू॥

आदमाद्या न चैतस्य स्वात्मनो लेभिरे गतिम्।
आदमस्य[१] स्त्रिया हव्यवत्या वा नोविदु र्गतिम् ॥१६॥
कुतोऽत्र साऽऽगता कस्माज्जाताविश्वविमोहिनी।
नैतदेते विदु र्वेद्यं मिथ्याकल्पनमोहिताः ॥१७॥
आर्येतरप्रभेदो हि तदा नासीन्न जातिमान्।
न रजोवीर्यतः सृष्टिरासीद्यत्र न कर्म च ॥१८॥
किन्तु मनोमयी सृष्टि र्यदासीत्प्राणिनां तदा।
आर्यानार्यादिभेदोऽपि कुतः कस्यापि सम्भवेत् ॥१९॥
अज्ञै र्हि कल्पितो भेदो मिथ्यैवात्मविमोहतः।
अनर्थायैव सर्वेषां सर्वत्रैवाविवेकिनाम् ॥२०॥

कलमा पढ़ने पढ़ानेवाले आदम (ब्रह्मा) के आदि (कारण) की सुधि (खबर=मति) को नहीं पाये और हौवा (हव्यवती) नामवाली आदम की मामा (स्त्री) कहाँ से आई, इस सुधी को भी कलमा पढ़ानेवाले नहीं पाये। तथा आदम आदिकों ने भी जाति आदिकृत भेदरहित आत्मा की सुधी(ज्ञान) को नहीं पाया, न आदम की स्त्री की सुधि (ज्ञान) पाई और जिस समय आदम और उनकी स्त्री आदि प्रगट हुए तहिया (उस समय) हिन्दू और तुरुक नहीं थे, न माता के रुधिर और पिता के बिन्दू से उस समय की सृष्टि थी। किन्तु मानस सृष्टि थी फिर हिन्दू तुरुकादि भेद कैसे हो गया। भाव है कि जाति आदि के भेद आत्मा के अज्ञानादि से सिद्ध हुए हैं। अतः दुःख

---

१ "इन्द्रियाणि दमित्वा यो ह्यात्मध्यानपरायणः। तस्मादादमनामासौ पत्नी हव्यती स्मृता ॥ भविष्यपु० पर्व० ३।४।२६"

जनक भेद भावादि की निवृत्ति के लिये आत्मा ही ज्ञातव्य है, और इञ्जिल में कथा है कि (तब परमेश्वर ने भूमि की धूलि से आदम को बनाया और उसके नथुने में जीवन का श्वास फूँका और आदम जीता प्राण हुआ और परमेश्वर ने आदम को बड़ी नीन्द में डाला और वह सो गया। तब उसने उसकी पसलियों में से एक पसली निकाली और उसके सेती मांस भर दिया। परमेश्वर ने उस आदम की पसली से एक नारी बनाई और उसे आदम के पास लाया, इत्यादि कथा के अभ्युपगम से यहाँ वर्णन है।

तहिया होत न गाय कसाई। तब कहु विसमिल किन फरमाई॥
तहिया होत न कुल औ जाती। दोजख विहिस्त कौन उतपाती॥
मन मुसले की खबर न जानै। मति भुलान दो दीन बखानै॥

तदा चासन्न वै गावो न चैते मांसिकास्तथा।
विसमिल्लेति मन्त्रेण हिंसां कस्योपदिष्टवान् ॥२१॥
कश्च कस्य फलस्यार्थे स्वालोच्यैवावगम्यताम्।
अबुधैः कल्पितो मध्ये नायं धर्मः सनातनः ॥२२॥

कुल जात्यादिभेदो हि तदा नासीद्यतस्ततः।
स्वर्गनारकयो र्भेदो जातिभेदात्कुतो भवेत् ॥२३॥
यवनानां मनश्चैतद्रहस्यं नैव वेत्ति यत्।
स्वबुद्ध्या भ्रान्तया तस्माद्धर्मौ द्वौ हि वदन्ति ते ॥२४॥

अहिंसादिर्हि सद्धर्मः स्वात्मज्ञानादिकस्तथा।
एकधैव मनुष्याणां विभेदो मति विभ्रमात् ॥२५॥

आदम आदि की 'तहिया' उस सृष्टिकाल में गौ और कसाई नहीं होते (नहीं थे) तो कहो कि विसमिल्ला मन्त्र कह (पढ़) कर हिंसा के लिये कौन किसके प्रति फरमाया (हुकुम आज्ञा दिया) अर्थात् यह ईश्वर नहीं फरमाया है। किन्तु जिह्वा स्वादवश तथा अज्ञानादि से हिंसा की जाती है और उस समय कुल जाति आदि के भेद नहीं थे तो कुल जाति आदिके भेदसे दोजख (नरक) और विहिस्त (स्वर्ग) का उतपात (भेद झगड़ा) कौन किया। मुसले (मुसलमानों) का मन इस बात की खबर (उपदेश) को नहीं जानता है, और उस की मति (बुद्धि) भी भुलान (भूलयुक्त) है। तथा भावीहित बुद्धि को वे लोग भूले हुए हैं। अतः अविवेकयुक्त अज्ञ, मन, बुद्धिवाले होने से स्वयं निर्बुद्धि होने से मनुष्य के लिये ये लोग दो दीन (दो धर्म) का बखान (कथन)

करते हैं, मनुष्यमात्र के एक अहिंसादि मानवधर्म को और एक सर्वात्मा ईश्वर को ये लोग नहीं मानते हैं, ये सब आदि की सुधि को नहीं जानने का प्रभाव है। अतः सो ज्ञातव्य है।

साखी—संयोगे का गुण रवै, बीयोगे गुण जाय।
जिह्वा स्वाद के कारणे, कीन्हों बहुत उपाय ॥४०॥

अहिंसासत्यधर्मादेः सद्गुणादेश्च संग्रही।
भवेद्यः सुजनो धीमान् ख्यायन्तेऽस्य गुणा भुवि ॥२६॥
संयमे स्वेन्द्रियाणां यः मनसा तत्परो भवेत्।
एधन्तेऽद्धा गुणास्तस्य प्रज्वलन्ति यशांसि च ॥२७॥

सम्प्राप्तान्यपि नश्यन्ति यात्यधोऽधो जनस्तु सः।
संयमं स्वेन्द्रियाणां यो न करोति विमोहतः ॥२८॥

हा तथापि जना मूढा जिह्वासंतृप्तिहेतवे।
कुयत्नं बहुधा कृत्वा गुणान् सर्वान् व्यनाशयन् ॥२९॥

न[1] धर्मलेशसम्भवो द्रुहादिदोषशालिनि,
दयादिहीनमानवे तु मांसभुक्तिसंयुते।
न मानवेऽस्ति भिन्नता शुचिर्दयालुरस्ति चेत्,
इयं सुधर्मसाम्यता सुखावहा च विज्ञता ॥३०॥४०॥

इति हनुमदीये रमैनीरसोद्रेके ज्ञानंविनायवनदुरवस्थावर्णनं
नाम सप्तदशः प्रवाहः ॥ १७ ॥

जो लोग अहिंसा सत्यादि धर्मों का संयम (संग्रह) करते हैं और इन्द्रियों का संयम (निग्रह) करते हैं, मन इन्द्रिय को सतमार्ग में लगाते हैं, कुमार्ग से रोकते है, उनके शमादिरूप सद्गुण रवै=रवते (प्रसिद्ध प्रख्यात होते) हैं तथा बढ़ते हैं। और इन धर्मों के वियोग (त्याग) होने से सञ्चित धर्मादि गुण भी कुभोगादि से जाते नष्ट होते हैं। तब महान् कष्ट सहना पड़ता है तो भी कामान्ध विषयी लोलुप मनुष्यों ने जिह्वास्वादादि की वशता के कारण धर्म के विरोधी हिंसा आदि अधर्ममय बहुत उपाय किया, और करते हैं। अतः भावी सुख शान्ति से वञ्चित रहते हैं ॥४०॥

---

१ 'पञ्चचामर' नामक छन्द है।

सम्बन्ध—आत्मज्ञान तथा निष्कामता के बिना सञ्चित सुकर्मादि को भोग कर जैसे मनुष्य दुःखी होते हैं, तैसे देव भी कामादि आशा आदि के वर्तमान रहते सञ्चित पुण्य भोग के बाद दुःखी होते हैं। अतः देवादिभाव की आशा आदि नहीं करके ज्ञानादि द्वारा दुःखों के मूलरूप कामादिक ही निवारणीय हैं, इत्यादि आशय से कहते हैं कि—

अथ देवादिमोहविडम्बना प्र० १८

रमैनी ४१

अम्बु कि राशि समुद्र कि खाई। रवि शशि कोटि तैंतिसो भाई॥
भवँर जाल महँ आसन माँड़ा। चाहत सुख दुख सङ्ग न छाड़ा॥

अहो सूर्यशशङ्काद्यास्त्रिंशत्कोटिमरुद्गणाः।
गोचराम्बुसमायुक्ते संसाराख्ये महोदधौ॥ १॥
रागद्वेषग्रहैर्युक्ते व्याप्ते चेन्द्रियजन्तुभिः।
जन्माद्यैश्च महावक्रैरावर्तैं गहने तथा॥ २॥
सुखलोभेन तिष्ठन्ति स्वासनं प्रविधाय ते।
महाऽऽवर्तस्य[1] चक्रेऽपि स्थैर्यं बुध्वा विमोहतः॥ ३॥
सत्सौख्यं ते च[2] वाञ्छन्ति दुःखानि तांस्त्यजन्ति नो।
तेऽपि दुःखकृतां सङ्गं नो त्यजन्ति यतोऽबुधाः॥ ४॥
शरीराद्यभिमानेन युक्ताः केऽपि न जन्तवः।
सुखिनो वै भवन्तीह दुःखमुक्ता न निर्भयाः॥ ५॥

मनुष्यों की तो कथा क्या कही जाय, भोगों की कामना के रहने पर सूर्य चन्द्रादि तथा तैतीस कोटि देवभाई (देवगण) भी विषयात्मक जल की राशि-युक्त संसार समुद्र की खाई (खंड) के भँवर जाल (जन्मादिरूप आवर्त समूह) में आसन माड़े (जमाये लगाये) हैं और इस संसारचक्र में ही सदा सुख चाहते हैं। परन्तु दुःख इनके सङ्ग को नहीं छोड़ा है, दुःख के मूलरूप काम के रहते कोई दुःख रहित नहीं हो सकता है और सांसरिक सुख की इच्छावाले देव भी दुःख के हेतु सङ्गों को नहीं छोड़ते हैं।

---

१ "आवर्तश्चिन्तने वारिभ्रमे चावर्तने पुमान्-इति कोशः। २ "इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः। नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति। मुण्डक० १।२।१०" कामान् यः कामयते-मन्यमानः स कामभि र्जायते तत्र तत्र। मु० ३।२।२"

दुख के मर्म न काहू पाया। बहुत भाँति कै जग बौराया ॥
आपुहि बावर आपु सयाना। हृदय बसै तिहि राम न जाना ॥

दुःखस्यैतद्रहस्यं नो जानन्त्येवाविवेकिनः।
केऽप्यतो बहुधा चैते भ्रमन्ति भवसागरे ॥ ६ ॥

अधर्माज्ञानमोहाद्यै र्मुग्धो यो भवति स्वयम्।
सैव योगविरागाद्यै र्ज्ञानित्वं प्रतिपद्यते ॥ ७ ॥
अहो योगाद्यभावेन यो रामो हृदये स्थितः।
तं देवा यन्न जानन्ति मुह्यन्ति तेन सर्वथा ॥ ८ ॥

[१]भेदाऽज्ञानान्निखिलभुवनाऽऽवर्तिनो दुःखराशे,
र्नित्यस्फूर्जन्निरवधिपरानन्दवित्तेरलाभात्।
मोहध्वान्तैरनिशमवनौ देवलोकेऽपि कामै,
र्जीवाः शश्वत्सुमतिविकला धावमाना विनष्टाः ॥ ९ ॥

भोग के लोलुप होकर संसार में रहने से जो दुःख होता है, उसके मर्म (भेद) को (काहू) किसी अविवेकी कामी ने नहीं पाया (नहीं समझा)। अतः संसार में बहुत भाँति कै (बहुत प्रकार से) भ्रान्त होकर बौराया (उन्मत्त हुआ=भटका) और आप ही बावर (अज्ञ) के हृदय में तथा आप ही सयान (ज्ञानी) के हृदय में जो राम बसता है। अतः सर्वस्वरूप सर्वात्मा आप है, उस रामको इन कामियों ने नहीं जाना। क्योंकि "कामक्रोधौस्थितौ यत्र तत्र दोषास्तदात्मकाः। दुःखानि च समस्तानि संस्थितानि न संशयः ॥ पद्मपु० २।६६।२२७" सत्त्वोत्कटाः सुराः सर्वे विषयैश्च वशीकृताः। प्रमादिनि क्षुद्रसत्त्वे मनुष्ये चात्र का कथा ॥ दक्षस्मृ० ७" जहाँ काम, क्रोध रहते हैं, वहाँ तद्रूप से ही अन्य सब दोष और समस्त दुःख वर्तमान रहते हैं और सङ्ग कामादि के रहने पर उत्कट (अधिक) सत्त्वगुणवाले देव सब भी विषयों से वशीभूत किये जाते हैं तो तुच्छ सत्त्ववाले प्रमादी इन मनुष्यों में तो कहना ही क्या है? अतः सुखार्थी अवश्य संगकामादि को त्यागकर सर्वात्मा राम को समझे कि जिससे समूल दुःख का अभाव हो।

साखी–तेई हरि तेइ ठाकुर, तेई हरि के दास।
याम भया नहि यामिनी, भामिनी चली निराश ॥४१॥

---

१ भेदो विशेषः। छन्द "मन्दाऽऽकान्ता" है।

सर्वात्मा[1] योऽस्ति रामोऽसौ हरिः सैव प्रभुः परः।
सर्वात्मत्वात्स एवास्ति हरे र्दासोऽपि वल्लभः ॥ १०॥
मोहरात्रौ न तल्लाभो यतोऽभूदविवेकिनाम्।
अतस्तेऽन्यत्रगच्छन्ति बाला गत्वा हताशताम् ॥११॥
मायया परिमोहेन शरीरी सर्वकृद् भवेत्।
आत्मैवासौ च भोगेन तृप्तिमेति च जाग्रति ॥१२॥
कामान् कामयमानो हि यत्र तत्रैव जायते।
पूर्णां तृप्तिं न चाप्नोति यावज्ज्ञानं न लभ्यते ॥१३॥
कामाः पर्याप्तकामस्य विलीयन्ते ऽत्र सर्वशः।
अक्षयां तृप्तिमापन्नो नैव याति स कुत्रचित् ॥१४॥४१॥

वह सर्वात्मा राम ही हरि (विष्णु) देव हैं और तेई (वही) ठाकुर (स्वामी ईश्वर) है और वही हरि के दास (अनन्त भक्त) स्वरूप है। परन्तु मोह अज्ञान रूप यामिनी (रात्रि) में उस राम के याम (अनुभव संग) जिसको नहीं हुआ, उसको निजात्मारूप से जो नहीं समझ सका कि वह व्यापक सर्वात्मा होने से ममात्मा भी है वह भामिनी (स्त्री) तुल्य कामादि के वशवर्ती जीव उसकी बुद्धि निराश (हताश) तृप्ति रहित होकर योन्यन्तर देशान्तर में चली और चलती है। अतः कामी कभी स्थित प्रज्ञ नहीं होता है। "न यम भया यामिनी" इस पाठान्तर का अर्थ है कि हरि आदि स्वरूप एक राम को जाननेवालों के लिये यम यमयातना आदि हुए नहीं, न है हीं और मायारूप भामिनी भी उसकी आशा को छोड़ देती है, उसे नहीं फँसाती है ॥ ४१ ॥

सम्बन्ध—एक सर्वात्मा राम के ही हरि ठाकुरादि स्वरूप होने से सृष्टि से प्रथम एक सत्यात्मा राम ही रहता है और संसार उसी में लीन होकर तद्रूप से ही रहता है। अतः सेव्य सेवकादिरूप भेदभाव भी नहीं रहता है, वही भेदरहित स्वरूप अब भी सत्य है, सोई ज्ञेय-ध्येय है, भेद स्वप्नतुल्य मिथ्या है। अतः वह ज्ञेय-ध्येय नहीं है, इत्यादि आशय से कहते हैं कि—

रमैनी ४२

जब हम रहलि रहल नहिं कोई। हमरहिं माँह रहल सब कोई ॥
कहहु राम कौन तोर सेवा। सो समुझाय कहहु मोहि देवा ॥

---

१ आत्मैव देवताः सर्वाः सर्वमात्मन्यवस्थितम्। आत्मा हि जनयत्येषां कर्मयोगं शरीरिणाम् ॥ मनुस्मृ० १२।११९" अनादिरात्मा कथितस्तस्यादिस्तु शरीरकम्। आत्मनस्तु जगत् सर्वं जगतश्चात्मसम्भवः ॥ यागव.स्मृ. अ.३।११७"

यतो रामो हरिः स्वामी दासोऽपि विद्यते स्वयम् ।
अतस्तदात्मनैकोऽहं भेदः सर्वो विकल्पितः ॥१५॥
यदाऽऽसमहमेवैकः[1] सदात्मैवाऽद्वितीयकः ।
तदा नासन्निमे केऽपि देवाद्याखिजगन्ति च ॥१६॥
आसन् मयि स्वरूपेण तादात्म्येनाद्वितीयके ।
अधिष्ठाने न भेदेन नामरूपात्मना तदा ॥१७॥
नामरूपात्मकं सर्वं मायारूपमिदं जगत्[1] ।
माया चैषाऽत्यनिर्वाच्या मिथ्यामोहस्वरूपिणी ॥१८॥
अतः सति न सत्यस्य भेदस्य विद्यते तदा ।
लेशमात्रं तथैदानीं भेदाभावो विमृश्यताम् ॥१९॥
यदा न वर्तते भेदवार्ता सत्यात्मनि ध्रुवा ।
तदा भो राम सेवेयं विद्यते का कृता त्वया ॥२०॥
सम्बोधयतु मह्यं तत् सर्वं तत्त्वं विविच्य वै ।
भो देवेति महत्त्वेन प्रोवाच सादरं गुरुः ॥२१॥
विचाराद्यैः स्वमात्मानमज्ञात्वा क्रियते हि या ।
स्वर्गादि कामतः सेवा सैव बन्धप्रदा भवेत् ॥२२॥
यद्वा सर्वेश्वरं प्राह त्वया देव निरूच्यताम् ।
त्वत्सेवा विद्यते काऽन्या सर्वविस्मरणादृते ॥२३॥
तदर्था भक्तिरन्यास्तु कर्माणि विविधानि च ।
तानि नैवेह वार्यन्ते मुख्या भक्ति र्विधीयते ॥२४॥

सृष्टि से पूर्वकाल में जब हम रामस्वरूप से रहली (थे) तब कोई भेदयुक्त पदार्थ नहीं था। किन्तु हमरे (मेरे) सत्यस्वरूप में ही कारणरूप से सब कोई (देवादि सब) थे। अतः सत्यस्वरूप से अब भी अभिन्नात्मा के अनुभव होने पर हे राम ! तेरी सेवा कौन है सो कहो, और हे देव ! सो भी मुझे समझाकर कहो। अर्थात् "सदेव सोम्येदमग्रआसीदेकमेवाद्वितीयम्। छा.६।२।१" इत्यादि

१ "शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेवत्। ब्रह्मसूत्र० १।१।३०" राजा प्रतर्दन के प्रति इन्द्र की उक्ति है कि "मामेव विजानिहि। कौ० ३।१" माम्-सर्वात्मानम्। मुझे समझो यह शास्त्रीय ज्ञानदृष्टि से इन्द्र का वचन है, जैसे वामदेवजी ने कहा था कि 'अहं मनुरभवं सूर्यश्च' इत्यादि। यही दृष्टि यहाँ है, ब्रह्मा-विष्णु आदि सब ज्ञानी अधिकारी की यह दृष्टि रहती है। "तद्यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत् बृ० १।४।१०"

शास्त्र के अनुसार एक अद्वैत सत्यात्मा के ज्ञान होने पर आत्मचिन्तनादि से भिन्न राम की सेवा या रामस्वरूप ज्ञानी से की गई सेवा सच्ची नहीं हो सकती है। भाव है कि 'भजौं तो को है भजन को, तजौं को है आन।' भजन-तजन से रहित है, सो कबीर मन मान ॥१॥

यद्यपि भेद को सत्य माननेवालों के मत में सुख या मोक्ष का मार्ग ज्ञान से आरब्ध (शुरु) होता है, जड़ प्रकृति आदि से भिन्न जीवात्मा अपने को समझता है सो ज्ञान का स्वरूप होता है और ईश्वर को दुःखादि से रहित सुखी सद्गुणयुक्त समझता है सो भी ज्ञान का स्वरूप होता है, उसके बाद साकार या निराकार का गुरु उपदेश के अनुसार चिन्तन ध्यानादि किया जाता है, सो सेवा भक्ति उपासना होती है, और उसके बाद नाम जप, पूजा, दान, यज्ञादि से मोक्ष मार्ग की समाप्ति होती है। फिर लोक विशेष में प्राप्ति आदिरूप मुक्ति मरने पर मिलती है। तथापि भेद को मिथ्या मायिक मानने वालों का उससे सर्वथा विपरीत ही मोक्ष मार्ग है, सो कर्म से आरब्ध होकर ज्ञान में समाप्त होता है, कर्म और उपासना के साधनों का ज्ञान यद्यपि कर्मोपासना से प्रथम होता है, तथापि वह ज्ञान कर्माङ्ग और उपासनाङ्ग होने के कारण कर्मोपासना रूप ही होता है। और यज्ञ, दान, तप आदि रूप कर्म ज्ञानेच्छा का जनक श्रुति के अनुसार होता है। "क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे मुण्ड.२।२।८" परअवर स्वरूप उस अविनाशी ब्रह्म के ज्ञान से प्रारब्धातिरिक्त भूतभावी सब कर्म का नाश होता है। अतः वह ब्रह्मज्ञान कर्मादि का अङ्ग हो नहीं सकता है। अतः निष्कामशुभ कर्म उपासना के बाद शुद्ध शान्तान्तः करण द्वारा अद्वैतात्मा के ज्ञान होने पर मोक्षमार्ग समाप्त हो जाता है। इस ज्ञान के अधिकारी सदा ही दुर्लभ होते हैं, और अज्ञानादि वश इसके विरोधी ही संसारी रहते हैं इत्यादि आशय से कबीरसाहब कहते हैं।

फुर फुर कहत मारु सब कोई। झूठहि झूठा साधुति होई ॥
आँधर कहै सबै हम देखा। तहाँ दिठार बैठि मुख पेखा ॥

उच्यमानेहि सत्तत्त्वे त्वेवं सर्वेऽविवेकिनः।
सेव्यादिवर्जितेरामे क्रुध्यन्ति ताडयन्ति च ॥२५॥
मिथ्यावादिषु सर्वेऽमी मिथ्यावादरता नराः।
साधुत्वं प्रतिपद्यन्ते सत्यवादिषु नैव च ॥२६॥
अज्ञाश्च विवदन्त्येते प्रपश्यामो वयं खलु।
सर्वं तत्त्वं न संदेहो ज्ञो वृथैवाऽत्र तिष्ठति ॥२७॥

मुख्यं पश्यन् विपश्तन् वा मुखमज्ञजनस्य हि।
स शृणोति न सद्वाक्यं कामाद्यै विंवशीकृतः ॥२८॥

फुर-फुर (उक्त एक सत्य ही सत्य) की बात कहने पर अविवेकी सब कोई (सब मनुष्य) सत्यवक्ता को ही मारते हैं। अतः यह किसी विवेकी के प्रति ही वक्तव्य है, अन्य के प्रति नहीं। क्योंकि झूठहि (झूठों असत्य-भाषियों) को झूठा (असत्यभाषी) में ही साधुति (साधुता) बुद्धि प्रतीति होती है। अतः वे लोग सत्य को नहीं मान सकते हैं और आँधर (अज्ञ) भी कहता है कि हम सब सत्य पदार्थ को देखते हैं और दृश्य पदार्थ सब मिथ्या होता है सो वह नहीं समझता है और उसीके वचन में सब विश्वास करते हैं। अतः वहाँ दिठार (सत्यात्म की अन्तर दृष्टिवाले ज्ञानी) बैठे-बैठे मुख देखते हैं, उनसे कोई कुछ पूछता भी नहीं है अथवा ज्ञानी सुखासन से बैठकर मुख्यात्मा के चिन्तनादि करते हैं, विवाद में नहीं पड़ते हैं।

यहि विधि कहौं मानु जो कोई। जस मुख तस जो हृदया होई॥
कहहिं कबीर हंस मुसुकाई। हमरे कहल छूटिहहु भाई॥४२॥

अहमेवं सदा वच्मि मन्वते ते जना इदम्।
येषां हृच्च मुखं चैव सदैकत्वं गतं भवेत् ॥२६॥
कबीरो वक्ति हंसेभ्यो यूयं शृणुत सादरम्।
गाढवन्धनवद्धाःस्थ मुच्यध्वे[1] मम शासनैः ॥३०॥४२॥

श्री कबीर साहब कहते हैं कि मैं तो सदा इसी प्रकार से कहता हूँ कि एक सत्यात्मा के ज्ञान से अविद्यादि की निवृत्तिरूप मुक्ति होगी। परन्तु इस उपदेश को जो कोई मानेगा, सो वही मानेगा कि जिसका जैसा मुख होगा, तैसा ही यदि उसका हृदय भी होगा, अर्थात् कपटादि रहित सत्य वक्ता ही सद्गुरु के वचनादि में विश्वासादि करके सत्यात्मा को जान सकता है, अन्य नहीं। और शास्त्र गुरु आदि द्वारा ज्ञान की प्राप्ति के विना संसार बन्धन की निवृत्ति नहीं होती है। अतः कहते हैं कि हंस मुसुकाई (मुसुक=कठिन बन्धन युक्त) हंसो! जीवो! मनुष्यों) इस हमरे (सद्गुरु के) कहल (उपदेश जन्यज्ञान) से ही हे भाई! छूटोगे (मुक्त होंगे) अन्यथा नहीं अथवा मुसुका कर हंसों (विवेकियों) से कहते हैं कि हे भाई! हमरे कथन से ही छूटोगे।

---

१ शास्त्रादिषु सुदृष्टापि साङ्गा सहफलोदया। न प्रसीदति वै विद्या विना सदुपदेसतः। "भारद्वाजसं.अ. १।३५" "आचार्यवान् पुरुषो वेद। छ.६।१४।२

"शास्त्रार्थभावनवशेन गिरा गुरूणां सत्सङ्गमेन नियमेन शमेन राम ! । तत्प्राप्यते सकलविश्वपदादतीतं सर्वेश्वरं परमाद्यमनादि शर्म । योगवा. प्र. ६।२।१९१। ३४" हे राम ! गुरुवों के वचन से, शास्त्रार्थ के विचार चिन्तन से शम से सदा गुरु के सङ्ग ये वह पद मिलता है कि जो सब संसार पद से पर है, परम-आद्य=अनादि सुख स्वरूप है ॥४२॥

रमैनी ४३

जिन-जीव कीन्ह आपु विश्वासा । नरक गये ते नरकहिं वासा ॥
आवत जात न लागै वारा । काल अहेरी साँझ सकारा ॥

गुरो[1] र्वाक्यमनादृत्यासत्ये प्रत्ययिनो नराः ।
अविवेककुसङ्गाद्यैः पतन्ति निरये स्वयम् ॥३१॥
विश्वस्ता ह्यपतंस्तत्रऽवात्सुस्तत्रैव ते चिरम् ।
अद्यापि निवसन्त्यज्ञास्तत्र गच्छन्ति सादरम् ॥३२॥
ततोर्निगत्य ये त्वत्रागच्छन्ति हि कथञ्चन ।
तेषां पुन र्गतौ तत्र विलम्बो नैव विद्यते ॥३३॥
जन्ममृत्युप्रवाहेण ह्युह्यन्ते चानिशं जनाः ।
भवाब्धौ विनिपात्यन्ते खाद्यन्ते कामदुर्ग्रहैः ॥३४॥
कालश्चाखेटकस्तेषां सदा भवति सर्वतः ।
बाल्ये वार्द्धक्यकाले वा सायं कल्येऽथवाऽवशम् ॥३५॥

जिन जीवोंने सद्गुरु सतशास्त्रादि के बिना अपने मन से किसी अनात्मा असत्य अधर्म आदि में ही आत्मता आदिका विश्वास किया सो जीव ज्ञानादि के बिना मिथ्या विश्वास से अधर्म करके नरक में गया, नरक ही में उसका वास हुआ और होता है । नरक से निकलने पर भी आते-जाते (जन्मते-मरते) में बार (अधिक समय) नहीं लगता है तथा फिर अधर्म करने पर नरक से आकर भी नरक में जाते में बार नहीं लगता है । क्योंकि उसके लिये साँझ सकारे (संध्या सवेरे) सदा काल अहेरी (शिकारी) बना रहता है ।

चौदह विद्या पढ़ि समुझावै । अपने मरण की खबर न पावै ॥

---

१ "गुरोरवज्ञया मृत्यु र्मन्त्रत्यागाद्दरिद्रता । गुरुमन्त्रपरित्यागी सिद्धोऽपि नरकं व्रजेत् । गुरुगीता" "ऋतस्य दातारमनुत्तमस्य निधिं निधीनामपि लब्धविद्यः । ये नाद्रियन्ते गुरुमर्चनीयं पापाँल्लोकांस्ते व्रजन्त्यप्रतिष्ठाः ॥ म० भा० आदिप० अ० ७६।६४"

जाने जिव को परा अँदेशा । झूठ आनि के कहा संदेशा ॥
सङ्गति छोड़ि करै असरारा । उबहै मोट नरक के भारा ॥

चतुर्दशविधां[1] विद्यां पठित्वा पाठयन्ति ये ।
तेऽन्यानुपदिशन्तोऽपि स्वमृत्यो र्न गतिं विदुः ॥३६॥
विचारादि विनातद्वत् सद्गुरोः शरणं विना ।
सर्वा विद्याः पठित्वापि जायन्ते ते पुनः पुनः ॥३७॥
विचारादि विना तेषां जीवानामविवेकिनाम् ।
संशयाउल्लसन्त्येव हृदयेषु निरन्तरम् ॥३८॥
स्वयं हि संशयाक्रान्ता येभ्यस्तु संदिशन्ति ते ।
तेभ्यो मिथ्यैव संकल्प्य वदन्ति न तु तत्त्वतः ॥३९॥
तथाप्ययं जनः सर्वो हित्वैव गुरुसङ्गतिम् ।
सतां सङ्गमनादृत्य कुसङ्गे रमते हठात् ॥४०॥
तेनैते नरकाणां च भरं धृत्वानिजात्मनि ।
कामादिलक्षणं शश्वदुद्वहन्ति तमादरात् ॥४१॥

आत्मज्ञानी गुरुके बिना जो चौदह विद्या पढ़ कर अन्य को समझाते हैं, सो भी अविवेकी मनुष्य अपने मरण (परलोक) को नहीं जानते हैं । अतः देहात्मवादी होकर भोग परायण होते हैं या मिथ्या मुक्ति की कल्पना करते हैं, केवल पुस्तकपाठियों के कथन से परलोकादि को जानने पर भी जानने वाले को निश्चय नहीं होता है, उलटा जानने वाले जीवों को अन्देशा (संशय) प्राप्त हुआ, और होता है । क्योंकि उन लोगों ने झूठ ही संदेश को आनिकर (कल्पना करके) कहा और कहते हैं । सद्गुरु आदि के बिना परलोकादि के ज्ञान नहीं होने पर भी ज्ञान के लिये मनुष्य प्रायः सत्सङ्गति भी नहीं करते हैं, किन्तु सद्गुरु ज्ञानी सन्त की सङ्गति को छोड़कर अस (ऐसा) रार (हठ) करते हैं कि जिससे नरक के भार को उबहतें (उठातें ढोते) हैं (अशुचि देहादि में सत्यता शुचिता आत्मता प्रियता आदि के अभिमानादि करके बार-बार अशुचि देहादि पाते हैं) मुक्ति नहीं पाते हैं ।

---

१ अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्यायविस्तरः । धर्मशास्त्रं पुराणं च विद्या ह्येताश्चतुर्दश ॥१॥ भविष्य पु० २।६, वायुपु० ६१।७८" अन्यत्र तु (ब्रह्मज्ञानं रसज्ञानं वेदाः स्वरधरं तथा । व्याकृति ज्योतिषं चैव धनुर्विद्या तथा मता ॥२॥ जलोत्तारणकं न्यायः कोकाश्वारोहणे तथा । नटविद्या कृषि र्वैद्यं विद्या ह्येताश्चतुर्दश ॥३॥

साखी–गुरु द्रोही औ मनमुखी, नारि पुरुष विविचार।
ते चौरासी भरमहीं, जौं लगि चन्द दिनकार ॥४३॥

मनोऽनुगामिनो मूढा गुरुद्रोहादि तत्पराः।
विचारविकला मर्त्याः कुनार्यो वा तथाविधाः ॥४२॥
वेद सिद्धिषु लक्षासु तावद्भ्राम्यन्ति योनिषु।
ध्रियते शशभृद्यावत्स तिष्ठति दिवाकरः ॥४३॥
नैतस्मात्पापं गुरुतरमिह ज्ञातपूर्वं त्रिलोक्यां,
द्रोहो विद्वेषः सह गुरुभिर्जायते यो विमोहात्।
मूढस्वान्ताग्र्यं विरसविषयासक्तताऽसत्यभाषा,
त्वाशा मूढानां स्थितिरसुजनैः सत्यवाक्येष्वनास्था ॥४४॥४३॥

इति हनुमदीये रमैनी रसोद्रेके यावदज्ञानं देवादिमोहवर्णनं
नामाष्टादशः प्रवाहः ॥ १८ ॥

क्योंकि गुरु से द्रोह (विरोध) करनेवाले और विविचार (सद्विचार रहित) मनमुखी (स्वच्छन्दचारी) नारी और पुरुष सब ही चौरासी लाख योनियों में तबतक भ्रमते हैं कि जबतक चन्द्र और दिनकर (सूर्य) वर्तमान रहते हैं, अर्थात् महाप्रलय में भ्रमण से रहित होते हैं, सृष्टि काल में नहीं। क्योंकि "कृतघ्नानांहि ये लोका ये लोका ब्रह्मघातिनाम्। मृत्वा तानभिसंयाति गुरुद्रोहपरो नरः। आत्म पु० अ० ८।८६७" कृतघ्नों के जो अनेक हीन लोक गन्तव्य हैं तथा ब्रह्मघातियों के जो पापमय लोक नरक योनि आदि हैं, उन सब लोकों में गुरुद्रोह परायण मनुष्य जाते हैं। अतः "य आतृणोत्यवितथेन कर्णावदुःखं कुर्वन्नमृतं संप्रयच्छन्। तं मन्येत पितरं मातरं च तस्मै न द्रुह्येत् कतमच्च नाह। वसिष्ठस्मृ० २।१६॥ दुःखी नहीं करता हुआ अमृत को सम्यक् प्राप्त कराता (देता) हुआ जो गुरु सत्य शब्द से कानों को पूर्ण तृप्त करते हैं। उनको पिता माता मानना चाहिये। उनसे द्रोह (वैर) नहीं करना चाहिये और कुछ अनुचित वचन नहीं कहना चाहिये ॥४३॥

अथ सत्सङ्गादि बिना संसार वर्णन प्र० १९

रमैनी ४४

कबहुं न भयउ सङ्ग औसाथा । ऐसे हि जन्म गमायो हाथा ॥
बहुरि न पैहहु ऐसो थाना । साधु सङ्गति तुम नहिं पहिचाना ॥
अब तो होइ नरक महँ वासा । निशि दिन रहहु लबारक पासा ॥

न यूयं शरणेऽभूत साधूनां न गुरोः क्वचित् ।
रोचते न सतां सङ्गो भवद्भ्यश्चात्र जन्मनि ॥ १ ॥
तदा व्यर्थमयं याति देहो मानुष्यसंयुतः ।
अमूल्यो महते लब्धः कार्यायाऽऽशु महत्पदम् ॥ २ ॥
पुन र्नेत्थं हि सुस्थानं लभ्यते खल्वनन्तरम् ।
न जानामि कदा कुत्र मानुष्यं लभ्यते जनैः ॥ ३ ॥
न तथापिं भवन्तश्चेत्पश्यन्ति साधुसङ्गतिम् ।
आत्मत्राणाय सौख्यायेत्यहो मोहस्य वैभवम्[१] ॥ ४ ॥
साधूनां संगमाऽभावे त्वस्माद्देहादनन्तरम् ।
भविता नरके वासो ह्यसतां संगमाद् ध्रुवम् ॥ ५ ॥
भवन्तोऽहर्निशं तत्र तिष्ठन्ति स्वप्रमादतः ।
तेन शश्वद्विनश्यन्ति गाहन्ते मोहगह्वरम् ॥ ६ ॥

जो मनुष्य गुरु से द्रोह नहीं भी करते हैं । किन्तु कबही सद्‌गुरु सन्त के सङ्ग में प्राप्त ही नहीं हुए, न सद्‌गुरु के साथ में स्थिर हुए सो मनुष्य अच्छा: (सुन्दर) हाथ (वश)में प्राप्त मनुष्य जन्मको ऐसेही (व्यर्थही) गमाय दिये । अतः कहते हैं कि ऐसा सुन्दर स्थान शीघ्र नहीं पावोगे तो भी इस स्थान में साधु-सङ्गतिको तुम नहीं पहचानते हो न साधुसङ्ग करके सत्यात्मा सत्यधर्मादि को पहचानते हो तो अब आगे शरीर छूटने पर नरक में ही बास होगा । क्योंकि सत्सङ्गविचारादि के अभाव से तुम रात दिन सदा लबारो (असत्यभाषियों) के साथ रहते हो; मिथ्या भाषण भारी पाप है, तथा मिथ्या भाषी का सङ्ग भी भारी पापही है, अतः लबार के सङ्ग को त्यागकर सत्सङ्ग ही कर्तव्य है ।

---

१ वस्त्रमापस्तिलान् भूमिं गन्धो वासयते यथा । पुष्पाणामधिवासेन तथा संसर्गजा गुणाः ॥१॥ मोहजालस्य योनिर्हि मूढैरेव समागमः । अहन्यहनि धर्मस्य योनिः साधुसमागमः ॥२॥ म. भा. वनप. अ. १।२४-२५ ॥

साखी–जात सबन कहँ देखिया, कहहिं कबीर पुकार।
चेतुवा ह्वै तो चेतहु, दिवस परतु है धार ॥४४॥

कुसङ्गाद्विषयासक्ते नश्यन्तः सर्वदेहिनः।
दृश्यन्ते गुरुभिश्चैवमुच्चैस्तेभ्यो हि कथ्यते ॥७॥
मुमुक्षा विद्यते श्रेष्ठा जिज्ञासाऽनुत्तमा यदि।
आत्मतत्त्वं तदा ज्ञात्वा लभन्तां कृतकृत्याम् ॥८॥
मुमुक्षादेरभावे च तदर्थं यत्यतां दृढम्।
प्रमादः[1] क्रियतां नैव सतां सङ्गो विधीयताम् ॥९॥
अन्यथा घस्रतुल्येऽस्मिन्मानुष्ये दिवसेऽथवा।
सुप्रकाशेऽपि कामाद्यास्तस्कराः पश्यतोहराः ॥१०॥
विलुण्ठन्ति हि सर्वस्वं नाशयन्ति जनानपि।
प्रमादिनो विकर्मस्थान् कुविचारपराञ्छठान् ॥११॥४४॥

सत्सङ्गादि के बिना कुसङ्गादि के कारण, सबही को नरकादि में जाते हुए=नष्ट होते हुए महात्माओं ने देखा (समझा) है। अतः श्री कबीरसाहब पुकार के कहते हैं कि यदि चेतुवा (कुछ भी चेतनता विवेक ज्ञान की इच्छा) हो, तो शीघ्र चेतो (समझो पूर्ण ज्ञान को प्राप्त करो) नहीं तो दिन में (प्रकाशमय मनुष्य जन्म में) ही धाड़ा (कामादि डाकू) प्राप्त होते हैं ॥४४॥

रमैनी ४५

हिरणाकश रावण गौ कंसा। कृष्ण गये सुर नर मुनि वंशा ॥
ब्रह्मा गये मर्म नहिं जाना। बड़े गये जे रहे सयाना ॥

हिरण्यकश्यपो यातो रावणोऽपि महाबली।
कंसो मृत्वाऽगमत् क्वापि श्रीकृष्णोऽप्यगमत्तथा ॥१२॥
सुराः नराश्च तद्वंश्यावंश्याश्च मुनयो मुनेः।
सर्वे ते ह्यगमन् मृत्वा ब्रह्मा लोकपितामहः ॥१३॥

---

१ इतः कोऽन्योऽस्ति मूढात्मा यस्तु स्वार्थे प्रमाद्यति। दुर्लभं मानुषं जन्म प्राप्य तत्रापि पौरुषम् ॥ १ ॥ विवेकचूडामणिः। इहैव नरकव्याधेश्चिकित्सां न करोति यः। गत्वा निरौषधं स्थानं सरुजः किं करिष्यति ॥१॥ आयुषः क्षण-एकोऽपि सर्वरत्नैर्न लभ्यते। नीयते तद्वृथा येन प्रमादः सुमहानहो ॥२॥ योग वा० नि० उ० स० १०२।५१।स० १७५ ॥ ७८ ॥

गतो वै तद्रहस्यं नो यतो जानन्ति मानवाः ।
ततो नैवेह तिष्ठन्ति साधूनां सङ्गमे शुभे ॥१४॥
अक्षयं धनमिच्छन्ति पुत्रदारागृहादिकम् ।
शाश्वतत्वं शरीरे च नैव वोधं कथञ्चन ॥१५॥
यद्वा ब्रह्मापि देहादेः स्थास्नुत्वस्य प्रसाधने ।
उपायमविदित्वैव गतो यास्याति च[1]क्षये ॥१६॥
एवं[2] ज्ञात्वेह को विद्वान् देहादीनां प्रसाधने ।
प्रवर्तेत विना मूढं न तु बन्धप्रबाधने ॥१७॥
महान्तो योगिनो ये च सर्वथा कुशला नराः ।
तेऽपि मृत्वागताः क्वापि तदान्येषां कथैव का ॥१८॥

शीघ्र चेतने के लिये, चेतनात्मा को समझने के लिये उपदेश है कि यह चेतनात्मा कोई प्रतापी शरीरी या शरीररूप नहीं है, अविनाशी एक आवागमन से रहित है, सो ज्ञातव्य है। उससे अन्य हिरण्य कश्यप, रावण और कंस ये सब गये, श्रीकृष्ण और सुरनर मुनियों के अनन्त-वंशज गये, लोक पितामह श्री ब्रह्माजी गये, शरीर को सदा रखने के उपायरूप मार्ग को कोई नहीं जान सका। अतः सब शरीरों से भिन्न आवागमन से रहित चेतनात्मा राम को समझना चाहिये क्योंकि—

समुझि परी नहिं राम कहानी। निरबक दूध कि सरबक पानी॥
रहि गौ पन्थ थकित भौ पवना। दशो दिशा उजारि भौ गवना॥

यावन्न श्रीलरामस्य सर्वभूतात्मकस्य वै ।
कथां जानाति योगेन विवेकादिबलेन वा ॥१९॥
क्षीर नीर विवेकस्य कथातुल्यां सुदुस्तराम् ।
तावत्सम्भ्राम्यते जन्तुः सदा संसारवर्त्मसु ॥२०॥
हार्दस्य सरसो दुग्धं हंसैः पेयं किमस्ति तत् ।
किं तद् बकैः सदा पेयं नीरमस्ति कुवारिधेः ॥२१॥
सर्वान् या रमत्येषा मायाख्या त्वबलाऽबुधान् ।
सा का तस्याः कथा का वा यावत्सर्वं न लक्ष्यते ॥२२॥
तावत्संसारमार्गस्य पारमेति न कश्चन ।
सञ्चितानां हि शेषोऽत्रप्रारब्धानां च विद्यते ॥२३॥

---

१ प्रलये-इत्यर्थः ॥ २ अनित्यं जीवितं रूपं यौवनं धनसंचयः। आरोग्य प्रियसंवासो मुह्यन्त्येषुन पण्डिताः ॥ इतिहाससमुच्चये ॥१।६२॥

बहुकर्तव्यशेषोऽपि सामर्थ्याभावकारणात् ।
प्राणवायो र्भवत्येव सत्वरं गमनं क्वचित् ॥२४॥
निर्जनै र्गहनैस्तुल्यास्वाव्रजन् दिक्षु सर्वदा ।
मुदं न लभते क्वापि पुण्यं वा मङ्गलं हरिम् ॥२५॥

जब तक सर्वात्मा राम की कहानी (कथा) जिनको समझ नहीं पड़ी (ज्ञात नहीं हुई) और कथा के नहीं समझ पड़ने से यह भी नहीं समझ पड़ा कि निर्बक (निर्मल) बक के सम्बन्ध से रहित, बकवृत्ति से अलभ्य मानसरोवर का दूध (शुद्धात्मा) कौन है और कि (क्या) सरवक (सम्पूर्ण) या बकसंहित = बकवृत्ति से प्राप्य तालाब का पानी (मायात्मक विषयादि) हैं । तब तक उनको गन्तव्य पन्थ (कर्तव्य कर्मादि) बाकी रह गया और शरीर प्राणादिक थक गये । अतः पन्थ को पूर्ण किये बिना ही वर्तमान शरीररूप नगर को उजारकर (नष्ट करके) उजाड (शून्यतुल्य) दशो दिशाओं में उन अज्ञानियों का गमन हुआ और होता है । अतः गमनागमनरहित स्वरूप में स्थितिरूप मुक्ति के लिये सत्सङ्गादि द्वारा राम कथा ज्ञातव्य है ।

मीन जाल भौ ई संसारा । लोहक नाव पषाणक भारा ॥
खेवै सबै मर्म हम जानी । तैयो कहै रहै उत्तरानी ॥

बन्धनाय तु तस्यायं संसारो मीनजालवत् ।
ब्रुडनाय तु तस्यैव महाब्धिरिव विद्यते ॥२६॥
अहो मोहेन काम्यादि कर्मध्यानादिकं नराः ।
कृत्वा पारं तितीर्षन्ति वासनादियुताः सदा ॥२७॥
यथा लौहीं तरीं कृत्वा या समर्था न तारणे ।
पाषाणभरमादाय तितीर्षन्ति तथाऽबुधाः ॥२८॥
काम्यकर्मादि कुर्वाणा ह्यभिमानं प्रकुर्वते ।
संसारतारणोपायं जानीम इति निश्चयात् ॥२९॥
निमज्जन्तो वदन्त्येते ह्युन्मज्जामो वयं भृशम् ।
महान्तस्तांस्तु पश्यन्ति निमज्जन्ति यथा च ते ॥३०॥

जिनका मार्ग बाकी रह गया, जिनके समझ में राम कथा नहीं आई, उन अविवेकियों के लिये, यह सम्पूर्ण संसार मछलियों के लिये जाल तुल्य हुआ, और है । अतः जहां गये, वहां ही मोह ममता आदि रूप जाल से बंधे, और बंधते हैं । और उनके सकाम कर्मादि अनगढ़ लोहे की नाव तुल्य हुए और वासना आशा तृष्णादि पाषाण के भार तुल्य हुए और इस

अवस्था में उस नौका को सब खेवते हैं (संसार सागर में चलाते हैं) कर्मा-नुष्ठान करते हैं) और समझते हैं कि संसार सागर से पार जाने के मर्म को हम जानते हैं और डूब रहे हैं तो भी कहते हैं कि यह नौका उतराती ही रहेगी अर्थात् सकामकर्मादि से ही आत्मा राम के ज्ञानादि के बिना भी स्वर्गादि में नित्यसुखादि की प्राप्ति आदि रूप मुक्ति संसारिक सुख शान्ति आदि समझते हैं। परन्तु ज्ञानी लोग तो उनको डूबते हुए ही समझते हैं, निष्कामता आदि के बिना मुक्ति नहीं मानते हैं ॥४४॥

उक्तरीति से अज्ञान भ्रमवश प्राणी संसार में आते-जाते (जन्मते-मरते) रहते हैं, दुःखी होते हैं और स्थिति नहीं पाते हैं न सुखी होते हैं तथापि सुख की आशा से संसार में लगे रहते हैं, तहाँ बार-बार जाने (मरने) के भेद को कहा गया है कि—

साखी—मछरी मुख जस केचुआ, मुसवन महँ गिरदान।
सर्पन माँह गहेजुआ, जात सबन कहँ जान ॥४५॥

मत्स्यो बलिशमांसस्य स्वादात् किञ्चुलकस्य वै।
उन्माथान्नस्य भुक्त्या च मूषिकोपि यथा खलु ॥ ४ ॥
लोहपृष्ठमुखानां च मुखे मोहेन धारणात्।
सर्पो नश्यति सर्वेमी तथा नश्यन्ति जन्तवः[1] ॥३२॥
निजमनसि[2] निधाय कान्ताहिरण्यादिकं भङ्गुरं,
हृदि सरसि विराजमानं विशुद्धं तु रामं हरिम्।
अभिमितिहतजन्तोऽमी भजन्ते न हंसं परं,
दिनकरतनयस्य भूत्वा वशेऽतो म्रियन्ते सदा ॥३३॥४५॥

इति रमैनीरसोद्रेके सत्सङ्गविरागगार्थ संसारासारतावर्णनं नामैकोनविंशतितमः प्रवाहः ॥१९॥

मछलियों के मुख में लोहे की काँटी सहित केचुआ (चेरा) के ग्रहण से मूसों के मुख में गिरदानं (चुहेदानी) के अन्न ग्रहण से या गिरदान (लाल गिरगिट) के ग्रहण से और सर्पों के मुख में गहेजुआ (चूहा) तुल्य सकण्डक जन्तु विशेष) के ग्रहण से जैसे इन मछलि आदिकों का नाश (मरण) होता है,

---

१ "विषं विषय वैषम्यं न विषं विषमुच्यते। जन्मान्तरघ्ना विषया एकजन्महरं विषम् ॥१॥ महोप. ३।४४" यथा बडिशमांसञ्च मत्स्यापातसुखप्रदम्। तथा विषयिणां तात! विषयो मृत्युकारणाम् ॥२॥ ब्रह्मवै.पु. ८।३८" २ छंद 'नाराच' है।

वैसे ही विषयवासना कामादि से सब मनुष्यादि का भी जान (प्राण) जाता है या राम कथा के ज्ञानादि के बिना सबको इसी प्रकार से जाते (मरते) हुए जानो (समझो) और इस प्रकार के नाश से बचने के लिये राम कथा को समझकर, आशा तृष्णादि से विमुक्त नित्य तृप्त योगयुक्त होवो ॥४५॥

सम्बन्ध—भूत भौतिक पदार्थ सब उत्पन्न नष्ट होते हैं, तहाँ उत्पत्ति आदि से रहित आत्माराम साक्षिस्वरूप से वर्तमान रहता है, निःसाक्षिक कोई कार्य कभी नहीं होता है । और मायात्मक उसकी शक्ति ही उसकी सत्ता और प्रकाशरूप बल से नाना स्वरूप होकर सब कार्यों को सिद्ध करती है । अतः उत्पन्न नष्ट होने वाले सब पदार्थ मायामात्र रहते हैं, इत्यादि आशय से कहते हैं कि—

अथमायाकृतविनाशवर्णन प्र० २०

रमैनी ४६

विनशे नाग गरुड गलि जाई । विनशे कपटी औ शत भाई ॥
विनशे पाप पुण्य जिन कीन्हा । विनशे गुण निर्गुण जिन चीन्हा ॥
विनशे अग्नि पवन औ पानी । विनशै सृष्टि कहाँ लौ गानी ॥
विष्णुलोक विनशै क्षण माहीं । हौं देखा परलय की छाहीं ॥

नागा नष्टा गरुत्मांश्च गलितोऽमून्महाजवः ।
कपटेन चरंश्चासौ शकुनिर्दुर्नयाद् गतः ॥१॥
भ्रातरो ये शतश्चासन् तेऽपि दुर्योधनादयः ।
कालेन कलिता नूनं सर्वे तेषां सुहृज्जनाः ॥२॥
पुण्यपापे कृते यैस्तु यैश्च ज्ञातौ गुणागुणौ ।
अनश्यंस्तेऽपि सर्वेमी नङ्क्ष्यन्ति चापरे तथा ॥३॥
नश्यत्यग्निश्च वायुश्च जलं नश्यति भूश्चखम् ।
सृष्टिर्नश्यति सर्वापि कियत् संख्याय कथ्यताम् ॥४॥
विष्णोर्लोकः क्षणादेव नश्यत्येव बुधा यतः ।
छायावत्प्रलयस्यातो दृश्यतेऽस्माभिरेवसः ॥५॥

पातालवासी नाग (सर्प विशेष) विनष्ट हुए, उनके विरोधी गरुड भी गल जाते (नष्ट होते) हैं, और कपटी (जुआरी) शकुनि और शतभाई

(सौ भाई) दुर्योधनादि भी विनष्ट हुए। पाप पुण्य जिन्हों ने किये, गुण और निर्गुण को जिन्होंने चीन्हा वे भी नष्ट हुए। अग्नि, पवन और पानी विनष्ट होते हैं। सब सृष्टि विनष्ट होती है, गिनकर या गाकर कहाँ तक कहा जाय, विष्णुलोक (परिछिन्न वैकुण्ठ ब्रह्मलोकादि) क्षणमात्र में नष्ट होता है हौं (मैं) सब संसार को प्रलय की छाया (प्रतिबिम्ब) युक्त अब भी देखा करता हूँ। अर्थात् आत्मानुभव होने पर सब संसार क्षणभंगुर भासता है। आत्मा ही स्थिर भासता है, अन्य नहीं। "वैकुण्ठः कल्पितो येन लोको लोकनमस्कृतः। रमया प्रार्थ्यमानेन देव्या तत्प्रियकाम्यया। श्रीमद्भा० स्क० ८।६।६" इससे कार्यरूप वैकुण्ठादि में मायिकत्वादि सिद्ध होता है।

साखी—मच्छ रूप माया भई, जौरहि खेल अहेर।
हरि हर ब्रह्म न ऊबरे, सुर नर मुनि किहि केर ॥४६॥

मत्स्यरूपाऽभवन्माया ममतामोहरूपिणी।
भोग्या भोक्तृस्वरूपस्य बाधिकाच्छादिका सदा ॥६॥
भूत्वा सहैव सर्वेषां महाऽऽखेटं करोतिसा।
हन्यतेऽत्र हरिः शम्भु ब्रह्मा लोकपितामहः ॥७॥
यदा चैते निहन्यन्ते माययाऽचिन्तया तदा।
देवर्षीणां मनुष्याणां हनने का विचित्रता ॥८॥
ब्रह्माविष्णुश्च[1] रुद्रश्च सर्वा वा भूतजातयः।
नाशमेवानुधावन्ति सलिलानीव बाडवम् ॥९॥
देहद्रव्यादिनाशेन नाशश्चात्राभिधीयते।
साधो ! वैराग्यसिद्ध्यर्थं जीवनाशो न विद्यते ॥१०॥
देहद्रव्यादिसंसक्तो मायानष्टो निगद्यते।
अनासक्तो विमुक्तश्चतन्नाशेऽपि न संशयः ॥११॥४६॥

सबके विनाश में यह कारण है कि जैसे मछली छोटी बड़ी अनेक प्रकार की होती है, और बड़ी मछली छोटी को खा लेती है। तैसे ही छोटे बड़े बली निर्बल शरीरादि रूप माया रूप मछली हुई है, और होती रहती है। और जौरहि (साथ ही) रहकर परस्पर अनन्त रूप से अहेर (शिकार) खेलती है, मरती है और मारती है। उस माया के शिकार से हरिहर और ब्रह्मा नामवाले शरीर नहीं उबरे (बचे) न बचते हैं तो अन्य सुर, नर, मुनि आदि केहि केर (किस) के शरीरादि उबरेंगे। नामरूपात्मक कोई

1 योगवा. प्र० १।२८।६"

पदार्थ अविनाशी नहीं है, सब मायिक विनश्वर हैं, नामरूप से रहित सबकी एकात्मा ही अक्षर अविनाशी ब्रह्म (विभु) है। परिछिन्न वस्तु अविनाशी नहीं हो सकती है। "मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्। हेतुनाऽनेन कौन्तेय! जगद् विपरिवर्तते। भ० गी० ९।१०" "एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा। श्वेतः" श्री भगवान् अन्तर्यामी स्वरूप से कहते हैं कि मुझ अविकारी स्वरूप चेतनात्मा अध्यक्ष से चुम्बक तुल्य सामीप्यमात्र से प्रेरित मायारूप प्रकृति चेतन तुल्य होकर चराचर को रचती हैं। अतः इस अध्यक्षता रूप हेतु मात्र से जगत्-विविधरूप से परिवर्तित होता है। सब में छिपा हुआ एक देव तो सबका साक्षी सबमें व्यापक सब प्राणी का अन्तरात्मा है। इत्यादि श्रुति है ॥४६॥

रमैनी ४७

जरा सन्ध शिशुपाल सँहारा। सहसा अर्जुन छल सो मारा ॥
बड़ छल रावण सो गौ बीती। लङ्का रहल कञ्चन की भीती ॥
दुर्योधन अभिमानहि गयऊ। पाण्डव केर भेद नहिं पयऊ ॥

शिशुपालं जरासन्धं संजहार गुणात्मिका।
मायैव व्यक्तिमापन्नाऽचिन्त्या या चिद्व्यपाश्रिता ॥१२॥
सहस्त्रार्जुनामासीद्यो वीरो दृढविक्रमः।
तं छलस्य प्रबन्धेन सा जघान विमोहिनी ॥१३॥
रावणो यो महानासीद्गर्वद्रव्यादिसंयुतः।
यस्य कुड्यं हि लङ्कायां शातकुम्भमयं श्रुतम् ॥१४॥
सोऽनश्यत् सगणो मोहात् कृत्वैव बहुदुष्कृम्।
उपद्रुत्य विनाश्यान्यान्नष्टो भ्रष्टोऽभवत्कुधीः ॥१५॥
मायामोहाभिमानाक्तो दुर्योधनधनान्धधीः।
अनश्यत् पाण्डवानां स रहस्यं न विवेद च ॥१६॥

माया ने ही भीमरूप से जरा सन्ध का और कृष्णरूप से शिशुपाल का संहार किया, और सहसा अर्जुन छल (था = रहा) सो परशुरामरूप माया से मारा गया या छलरूप माया से मारा गया। और रावण बड़ (बड़ा प्रतापी) छल (था) जिसकी लङ्का में कञ्चन की भीति (दिवाल) रही, सी रावण भी माया से ही बीत गया (नष्ट हुआ) और दुर्योधन अभिमानरूप माया से गया (नष्ट हुआ) और पाण्डवों के भेद (मर्म) को

नहीं पाया (नहीं समझा) माया मद में भूला रहा। "बहूनीन्द्रसहस्राणि देवानां च युगे युगे। कालेन समतीतानि कालोहि दुरतिक्रमः ॥ हजारों इन्द्र देवों के बहुत सहस्र युग युग में काल से नष्ट हो गये। क्योंकि काल दुःख से अतिक्रमण वाला है। यह कालरूपता मायामय है।

माया डिम्भ गेल सब राजा। उत्तम मध्यम बाजन बाजा ॥
छौ चकवे विज्तिधरणि समानी। एको जीव प्रतीति न आनी ॥
कहँ ले कहौं अचेतहि गयऊ। चेत अचेत झगर इक भयऊ ॥

मायाया डिम्बभूता ये सर्वे बालिशका नृपाः।
तेपि मृत्वा गताश्चासन् कीर्तयो मध्यमोत्तमाः ॥१७॥
षट्चक्रवर्तिनो मृत्वा वेणुप्रभृतयोऽथवा।
जरासन्धादयः सर्वे पृथिव्यां प्राऽविशन् खलु ॥१८॥
दृष्ट्वा श्रुत्वापि तत् सर्वे विश्वसन्ति न मानवाः।
विह्वलाः कामिनो यान्ति गताश्चान्ये विमोहिताः ॥१९॥
कियत् संख्याय चोच्यन्तां सर्वेऽगच्छन् ह्यचेतसः।
अयमज्ञश्च तज्ज्ञोऽयं वृथैव कलहो महान् ॥२०॥

माया के डिम्भ (अभिमानी या पुत्र) सब राजा गये, और कर्मादि के अनुसार उनके यश अपयश का उत्तम मध्यम बाजा बजा (कीर्ति गाई गई) जरासन्धादि चक्रवर्तीता के अभिमानी छौ राजा बीत कर (मरकर) पृथिवी में समाये (लीन) हुए। सो देख सुनकर भी एक जीवस्वरूप की सत्यता की प्रतीति को जीवों ने नहीं आनी (नहीं प्राप्त की) न सांसारिक विभूतियों को क्षण भंगुर समझा या विभूतियों में भूला हुआ एक जीव भी सत्सङ्गादि के बिना सत्य प्रतीति को नहीं प्राप्त किया, न माया को मिथ्या समझा। कहाँ तक गिन कर कहा जाय, विश्वास विचारादि के बिना सब अचेत ही गये। और चेत-अचेत का भी एक प्रकार का झगड़ा (विवाद) हुआ, ज्ञानी और अज्ञानी का भो विवेक (सर्वसम्मत निर्णय) नहीं हो सका कि जिससे लोग ज्ञानी के ही शरण में जायँ और ज्ञान को प्राप्त करें। नहीं तो उक्त अचेत पन माया अविद्या रूप है, उससे नष्ट ही होंगे। क्योंकि "अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः। भा० गी० ५।१५" आत्मा कतृत्वादि सब धर्म से रहित है, (स्वभावस्तु प्रवर्तते) मायारूप स्वभाव ही चित्प्रतिबिम्ब = अभासयुक्त होकर उत्पत्ति आदि के लिये भोग करने-कराने आदि के लिये प्रवृत्त होती है,

इस प्रकार का विवेक ज्ञान, अनादि अज्ञान से आवृत्त रहता है। अतः प्राणी मोहको प्राप्त होते हैं और काम संग आसक्ति आदि करके नष्ट होते हैं इत्यादि।

साखी—ई माया है मोहिनी, मोहिन सब जगझार।
हरिचन्द्र सत के कारणे, घर घर शोक विकार ॥४७॥

इयं विमोहिनी मायाऽमूमुहत्सर्वदेहिनः।
हरिश्चन्द्रं विमोह्यैषा यथा शोकमजीजनत् ॥२१॥
सत्यस्य रक्षणार्थं स यथा मोहमवाप्तवान्।
तथैव देहिनः सर्वे विकारैः शोकभागिनः ॥२२॥
"अजितात्मजनो[१] मूढो रूढो भोगैककर्दमे।
आपदां पात्रतामेति पयसामिव सागरः ॥२३॥
अहो नु चित्रामायेयं सर्वविश्वविमोहिनी।
सर्वाङ्गप्रोतमप्यात्मा यदात्मानं न पश्यति ॥२४॥
करोतु भुवने राज्यं विशत्वम्भोदमम्बु वा।
नात्मलाभादृते जन्तुर्विश्रान्तिमधिगच्छति" ॥२५॥

इति हनुमदीये रमैनीरसोद्रेके मायाकृतविनाशवर्णनंनाम
विंशतितमः प्रवाहः ॥ २० ॥

ई (यह) प्रत्यक्ष कनक कामिनी शरीर विषयादिरूप तामसी माया और अविद्या मोहिनी "मोहनेवाली है। सो सब संसारी को झारकर ढूँढ-ढूँढ कर" मोहित किया है। हरिश्चन्द्र जैसे सत्य की रक्षा के लिये विश्वामित्रकृत माया से मोहित हुए, तैसे घर-घर (सब शरीरों) में माया से कामादि विकार जन्य शोकादि होते हैं। राजा हरिश्चन्द्र ने मानस अश्वमेध यज्ञ में मानस अश्व की हिंसा करके, उसके दोष की निवृत्ति के लिये प्रायश्चित्त नहीं किया, उसी हिंसाजन्य पाप का फल को भोगना पड़ा, सो मार्कण्डेय पुराण में लिखा है कि (अश्वमेधविपाकोऽयं हरिश्चन्द्रस्य भूपतेः) इससे प्रायश्चित्तादि रहित याज्ञिक हिंसा का भी कठिन अनर्थ रूप फल सिद्ध होता है, लौकिक हिंसा की अनर्थता को तो कहना ही क्या है ॥४७॥

---

१ योगवा. नि. उ. ३३। २२। पूर्वार्ध ११६। ५। स्थिति प्र. ५७।३४।

अथ यवनमत समीक्षा प्रकरण २१

रमैनी ४८

मानिक पूर कबीर बसेरी। मदत सुनी शेखतकी केरी॥
ऊजे सुनी यवनपुर धामा। भूसी सहर पिरन को नामा॥
एक्किस पीर लिखै तिहि ठामा। खतमा पढे पैगम्बर नामा॥

श्रीकबीरोऽश्रृणोद्ग्रामे श्रीमानिकपुरे वसन्।
स्तुतिं शेखतकीनाम्नः साहाय्यं वा विशेषतः॥ १॥
अन्यच्चाप्यश्रृणोत्स्थानं पुरान्तयवनाभिधम्।
झूसीं च नगरीं यत्र गुरुनामानि सन्ति हि॥ २॥
एकविंशतिसंख्यानि लिखितान्येव पट्टके॥ ३॥
मृतानां तानि नामानि ज्ञात्वाऽन्येयवनाः खलु।
खतमां पुस्तिकां तेभ्यः श्रावयन्ति समादरात्॥ ४॥
यस्यां स्वेषां गुरूणां च नामानि च व्रतानि च।
विद्यन्ते श्रावयन्ते तामाचार्याणां हि नाम च॥ ५॥
कथयन्ति तु येऽन्येभ्यो मूर्तिपूजां सुनिन्दिताम्।
तां कुर्वन्ति तु ते तेनाप्यहो लज्जा न जायते॥ ६॥

मायाकृतयवनों के विमोह के प्रदर्शन के लिये श्रीकबीर साहब कहते हैं कि एक समय मेरी बसेरी (निवास स्थिति) मानिकपुर में थी तो वहाँ शेखतकी की मदत (मदहत स्तुति साहाय्य) सुनी गई। ऊजे (वह प्रसिद्ध जो) यवनपुरधाम (स्थान=मुकाम) है, वहाँ की बात भी सुनी गई। भूसी सहर में रहने वाले पीरों के नाम सुने गये और उस भूसी में मुये हुये इक्किस पीरों के नाम कबरों में लिखे हुए सुने गये। और उन कबरों के पास में पैगम्बरनामा (पैगम्बरों की नामावली) रूप खतमा (किताब) को मुसलमान पढ़ते हैं, और उन मृतकों को सुनाते हैं, इत्यादिक बात मानिक पुर में सुनी गई॥

सुनी बोल मोहि रहो न जाई। देखि मुकरवा रहा भुलाई॥
हबी नबी नबीहुं को कामा। जहँ लगि अमल सु सबी हरामा॥

दृष्ट्वेदं धर्ममूढत्वं वचः श्रुत्वा च मानिनाम्।
न मौनमशकत्कर्तुं कबीरो ह्युक्तवाँस्ततः॥ ७॥
भवतां भो वचः श्रुत्वा मौनी स्थातुं न शक्यते।
प्रेतस्थानं विलोक्यैवं किं भ्राम्यथ विचेतसः॥ ८॥

कः शृणोति जनो यं वै श्रावयन्ति समादरात् ।
खतमां पुस्तिकां मत्वा कार्यं निजमहेशितुः ॥ ९ ॥
ईश्वरस्याथ मित्रस्याचार्याचार्यस्य वा भवेत् ।
कार्यं यद् व्यसनं तुच्छं तत्सर्वं मलिनं महत् ॥१०॥
अनात्मभूतदेहादावात्मबुद्धिं हिं देहिनाम् ।
साऽविद्या तत्कृतो बन्धो दुःखदारिद्र्यमेवच ॥११॥

श्रीकबीर साहब कहते हैं कि उन बातों को सुन कर मुझे चुप लगाकर रहा नहीं गया । अतः भूसी में जाकर उनसे कहा कि अन्य को आप बुतप्रस्त कहते हो और स्वयं जड़ मुकरवा (मोकरवा कबरों) को देखकर भूले (भ्रान्त) हुए हो, कि जिससे कबरों को श्रोता चेतन मान कर इसको खतमा सुना रहे हो । उन लोगों ने कहा कि हम भ्रान्त नहीं हैं । किन्तु यह हबी (ईश्वर या मित्र) और नबी (पैगम्बर आचार्य) का काम (सेवा) कर रहे हैं । तब श्रीकबीर साहब ने कहा कि चाहे हबी का या नबियों के नबी का काम हो । परन्तु जहाँ तक अमल (व्यसन-फल ज्ञान रहित तुच्छ आग्रह) है सो सब हराम (निषिद्ध पापरूप अपवित्र) है, श्मशान भी अपवित्र होता है, पवित्र पाठादि करने का स्थान वह नहीं होता है, उस स्थान को पवित्र मानना भी भ्रम है इत्यादि ।

साखी हरिपद—शेख अकरदी शेख सकरदी, मानहु वचन हमार ।
आदि अन्त औ उतपति परलय, देखहु दृष्टि पसार ॥४८॥

भोः शेखोऽकरदी त्वं च त्वंभोः सकरदी तथा ।
मन्यस्व वचनं सत्यमस्माकं शोकनाशनम् ॥१२॥
अस्यैव सुविचारेण सर्वाद्यन्तादिलक्षणम् ।
कूटस्थंचिद्घनं पश्य महता ज्ञानचक्षुषा ॥१३॥
"मुक्तिमिच्छसि चेत्तातः विषयान् विषवत्त्यज ।
क्षमार्जवदयाशौचं सत्यं पीयूषवत् पिब" ॥१४॥
सत्या[1]ऽस्त्येषा जगति सुविदुषां दृष्टिपूता मनीषा ।
सर्वस्यादि र्जनिमृतिरहितो विक्रियाहीन एकः ॥
देवो लभ्यः सुगुरुवचनतः शिष्यवर्यैः सदैव ।
श्रद्धावित्तैः सुविशदहृदयैः रागमानादिहीनैः ॥१५॥४८॥

हे अकरदी सकरदी आदि शेखों ! हमारे वचनों को मानो तो उन व्यसनों

---

१ छन्द (चित्रलेखा) ।

को त्यागकर, और विवेक दृष्टि को पसार (बढा) कर, सब संसार के आदि अन्त स्वरूप, सब की उत्पत्ति प्रलय का स्थानसर्वाधार सर्वात्मा को देखो (समझो) कबरों को क्या देखते हो ॥ ४८ ॥

रमैनी ४९

दर की बात कहो दरवेसा । बादसाह है कौने वेषा ॥
कहाँ कूच कहँ करै मुकामा । मैं तोहि पूछौ मुसलमाना ॥
लाल जरद् की नाना बाना । कौन सुरति को करहु सलामा ॥

भो दरवेशनामानो भवद्भिरपि बुध्यताम् ।
मूलतत्त्वस्य सर्वस्य ह्यस्मान् वार्ता सुबोध्यताम् ॥१६॥
ईश्वरः केन वेषेण वर्तते कुत्र याति च ।
सदा तिष्ठति कुत्रासौ किंरूपोऽयं नमस्यते ॥१७॥
रक्तोऽसावथवा पीतश्चित्रो वा विद्यते प्रभुः ।
नमस्यन्ति भवन्तो यं पृच्छामो यवना हि तम् ॥१८॥
नासौ रक्तो न वा पीतः सर्ववेषविवर्जितः ।
एकः सर्वसुहृच्चैव किं वृथा परिमुह्यते ॥१९॥

दरवेशों ! (विरक्त फकीरों) व्यसन को त्यागकर दर की (सत्य मुकाम की) बातों को कहो और बादशाह (खुदा = ईश्वर) कौन वेषवाला है सो कहो। अर्थात् सबका आदि अन्त स्वरूप परमात्मा सब वेष आकारादि से रहित है, उसे समझकर अन्य को समझावो और हे मुसलमानों ! मैं तुमसे पूछता हूँ कि सब जगत का आधार बादशाह जगत में कहाँ कूच (यात्रा) करता है और कहाँ मुकाम करता है (ठहरता है) आसन करता है और वह लाल है कि जरद (पीला) है कि नाना वाना (वेष) वाला विचित्र है और तुम कौन सुरति (आकार) को सलाम-नमस्कार कहते हो। अर्थात् यात्रा मुकामरूप आकारादि रहित सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् परमात्मा को अपने दरवेशों से समझो और उसीको सलाम करो अन्य को नहीं।

काजी काज करहु तुम कैसा । घर घर जबह करावहु भैसा(भैंसा) ॥
बकरी मुरगी किन फरमाया । किसके हुकुम तुम छुरी चलाया ॥
दर्द न जानै पीर कहावै । बैता पढ़ि पढ़ि जग समुझावै ॥
कहहिं कबीर सयाद कहावै । आपु सरीखे जग कबुलावै ॥

नाम्ना काजीति संप्रोक्ताः पण्डिततत्वाभिमानिनः ।
कीदृशं क्रियते कार्यं भवद्भिरिति चिन्त्यताम् ॥२०॥
गोमहिष्यादि हिंसा या कार्यते वै गृहे गृहे ।
स्थित्वा नैतद्धि कर्तव्यमकार्यं त्यज्यतां द्रुतम् ॥२१॥
अजादि कुक्कुटादीनां मांसं को ह्युपदिष्टवान् ।
प्रयुक्ता चाज्ञया कस्य छुरिका तत्कृते भवेत् ॥२२॥
परपीडां न जानन्ति कथ्यन्ते गुरवश्च ये ।
वाक्यानि पापठित्वा ते बैतनामानि दुर्धियः ॥२३॥
जगत्यामपि कर्माणि मिथ्यैवोपदिशन्त्यहो ।
न सत्कर्म न सत्यं वा वदन्त्युपदिशन्त्यथ ॥२४॥
सैयदेति च कथ्यन्ते ये मनोमलदूषिताः ।
विश्वे स्वसदृशाचार स्वीकारं कारयन्ति ते ॥२५॥

हे काजी (पण्डित) तुम कैसा कार्य करते हो, तुम घर-घर में बैसा (बैठा) हुआ गो भैंसादि की हिंसा (जबह) कराते हो, क्या यही कर्तव्य कार्य है। तुम्हें बकरी मुरगी किन महापुरुषों ने फरमाया है (बकरी आदि को कौन भक्ष्य बताया है) और उनके ऊपर तुम किसके हुकुम (आज्ञा) से छुरी चलायो और चलाते हो। अर्थात् हुकुमादि के बिना स्वादवश स्वार्थान्धता से छूरी चलाते हो। और अन्ध होने ही से जो दूसरे की पीड़ा दर्द को नहीं जानता है सो हिंसक भी पीर (गुरु) कहलाता है और बैंत (गान विशेष) पढ़-पढ़ (गा-गा) कर आप सत्य को समझे बिना संसारी को मिथ्या ही समझाते हैं। श्रीकबीर साहब कहते हैं कि जो सयाद (सैयद) ब्राह्मण कहलाता है सो स्वयं हिंसक होता हुआ, अपने ही समान संसारियों से हिंसा आदि कबूल (स्वीकार) कराता है। परन्तु ये सब अकाज (अकर्तव्य) हैं। 'कहहिं कबीर सयाद कहावे' के स्थान में 'कहहिं कबिर सैयद बहावै' कहीं पाठ है, कहीं 'बहावे के बहाई' पाठ है।

साखी—दिन को रोजा रहत हौ, राति कुहत हौ गाय ।
यह तो खून वह बन्दगी, क्योंकर खुशी खुदाय ॥४९॥

दिवा करोषि रोजाख्यं व्रतं रात्रौ विहिंसनम् ।
गवादीनां तदा जाता हिंसेयं महतीं वृता ।
तुच्छा सा वन्दना तस्याः प्रसन्नः स्यात् कथं हरिः ॥२६॥
हरेः प्रसन्नता येन जायते नेह कर्मणा ।
न तत् कर्म विकर्मैतत् सम्मतं नैव तत्सताम् ॥२७॥

"भूतानां कुरुते योऽत्र सुखं वा दुःखमेव वा ।
आत्मनः कुरुते सर्वमिह लोके परत्र वा" ॥२८॥
यदा[1] पापं हिंसां सुलघयति यो बोधतः सद्विचारैः,
प्रियान् मत्वा जन्तून् तनुवचनतो मानसैश्चापि दुःखम् ।
कृपादृष्ट्या तेषामपगमयते नैव दत्तो स्वयं च,
हरेः सत्यो भक्तः स इह लभते सुप्रसन्नं स्वरामम् ॥२९॥
मनोवचोभिः करपादकर्णकै र्यो ह्यत्र दान्तः सततं भवेन्नरः ।
स एव भक्तः परपावनो मतः क्रियाविकारैः परिवर्जितः सदा॥३०॥४९॥

इति हनुमदीयेरमैनीरसोद्रेके तुरुष्कमतसमीक्षा नामैकविंशतितमः प्रवाहः२१

दिन को (दिन में) रोजा व्रत (उपवास) रहते (करते) हो और रात्रि के समय मातातुल्य दूध देनेवाली गाय को कुहते (मारते) हो तो अपराध तो यह प्राणी का खून (घात) रूप हुआ और बन्दगी (सेवा भक्ति) दिन के उपवास-मात्र हुई तो इस प्रकार से न्याय कर्ता खुदा कैसे खुशी (प्रसन्न) होगा। अर्थात् इस प्रकार के आचरण करनेपर ईश्वर की प्रसन्नता किसी प्रकार नहीं हो सकती है। अतः ईश्वर की प्रसन्नता के लिये हिंसा त्याज्य है, तहाँ भी गो हिंसा अत्यन्त त्याज्य है। क्योंकि "गोभिर्विप्रैश्च वेदैश्चसतीभिः सत्यवादिभिः। अलुब्धै दानशूरैश्चसप्तभिर्धार्यते मही ॥१॥ रक्षित सुपोषित गौओं से, स्वधर्मनिष्ठ रक्षित विप्रों से, अधीतज्ञात सुरक्षित वेदों से, सती पतिव्रता स्त्रियों से, सत्यवादी स्वधर्मनिष्ठ पुरुषों से और लोभादि रहित दानवीरों से, इन सातों से भूमि धरी जाती है (भूकम्प अतिवृष्टि अनावृष्टि आदि उपद्रव दुःखों से रहित प्रजावाली रहती है) अन्यथा उपद्रुत रहती है ॥४६॥

अथ आसक्तिजज्ञानदुर्लभता प्र० २२

रमैनी ५०

कहइत मोहि भेल युग चारी। समुझत नाहिं मोर सुत नारी॥
वंशहि आगि लगि वंशहि जरिया। भरम भूला नल धन्धे परिया॥

एवं वदत्सु चास्मासु गतं सर्वं चतुर्युगम्।
जना नैव विजानन्ति मोमुह्यन्ति निरन्तरम्॥ १ ॥

---

१ छन्द "मेघविस्फूर्जिता"।

इयं भार्या सुतश्चायं मदीयावतिवल्लभौ।
इति बुद्ध्या जनः सर्वो मोहजाले विशत्यलम् ॥ २ ॥
यथा वंशातिसंघर्षादग्निः सन्दीप्यते वने।
दह्यते च वनं तेन मोहात्तापस्तथा भवेत् ॥ ३ ॥
जना इमे भ्रमेणैव सुतदारादिकर्मसु।
निमग्ना एव वर्तन्ते न तु जातु विचारणे ॥ ४ ॥
"महाजालसमाकृष्टाः स्थले मत्स्या इवोद्धृताः।
मोहजालसमाकृष्टा भवन्ति मनुजा भुवि ॥ ५ ॥
निबन्धिनी रज्जुरेषा ग्रामेषु वसतो रतिः।
छित्वैतां सुकृतो यान्ति नैनां छिन्दन्ति दुष्कृतः"[१] ॥ ६ ॥

मोहभ्रमकी निवृत्ति के लिये मोहि (मुझे गुरु को) इस प्रकार से कहते हुए, चारयुग हो गये। परन्तु लोग प्रायः गुरु की बात को समझते नहीं हैं। किन्तु अज्ञान मोहादिवश समझते और कहते हैं कि यह मोर (मेरा) प्यारा पुत्र है, यह मेरी प्यारी नारी है। इनसे वंश की स्थिति के द्वारा लोक-परलोक में मुझे सुखशान्ति मिलेगी इत्यादि। परन्तु बाँसों में परस्पर के रगड़ से जैसे अग्नि उत्पन्न होती है और उससे बाँस जल जाते हैं। वैसे ही वंश कुलादि के अभिमानियों में राग-द्वेषादि उत्पन्न होते हैं कि जिनसे उनका नाश होता है तो भी भ्रमसे सत्य सुखशान्ति के मार्गों को तथा प्रियतमात्मा को भूलकर मनुष्य केवल वंशादि के धन्धों व्यवहारों में पड़े रहते हैं, यह मोह की महिमा है।

हस्तिक[२] फन्दे हस्ती रहई। मृगा[३] के फन्दे मृगा रहई[४] ॥
लोहहि लोह काटु[५] जस आना। तिय के तत्त्व तिया पै जाना ॥

पाशे हस्तिनिमित्तो वै यथा हस्तीनिबध्यते।
मृगो मृगनिमित्तो च स्वनिमित्तो तथा जनः ॥ ७ ॥
यथा लौहेन लौहोऽन्यः छिद्यतेऽयं तथा जनः।
स्वजनेनैवसंच्छिन्नः खिन्नः पन्नो भवेत्सदा ॥ ८ ॥
यथा स्त्रियाहि कापिस्त्री भिन्ना स्याद्तिमूढया।
स्वजनेन तथा भिन्नो दूनो हीनो विलज्जते ॥ ८ ॥

---

१ म० भा० शा० १७५ २६ ॥

२ हस्तिनि फन्दे। ३ भृगी के। ४ परई। ५ जस काटु सयाना। पहिचाना पाठान्तर हैं।

रागेण बद्धः कुरुते स्पृहां जनस्ततोऽतिबन्धं लभते निरन्तरम् ।
अतश्च रागं निपुणा विधूय तं क्रीडन्ति रामे भवकानने नहि ॥१०॥

जैसे पोसे हुए शिक्षित हाथी के फन्दे (बन्धन) में जंगली हाथी रहते हैं (प्राप्त होते फँसते हैं) और मृग सम्बन्धी बन्धन जालरूप फन्दे में मृग रहते (प्राप्त होते फँसते) हैं या हाथी को फन्द में डालने के लिये हाथी रहता है, मृग के बन्धन के लिये मृग रहता है, वैसे ही मनुष्य को बन्धन में डालनेवाला ममता का विषय मनुष्य होता है और स्ववंशादि के मोहादि फन्दों में मनुष्य आप बंधता है और जैसे लोहा ही अन्य लोहा को काटता है, वैसे स्ववंश के लोग दुर्बल अन्य को पीड़ित करते हैं और जैसे स्त्री के तत्त्व (रहस्य मर्म) को अन्य स्त्री से ही जाना जाता है, वैसे ही वंश जाति से ही किसी की गुप्त बात जानी जाती है कि जिससे हानी होती है तथापि मोहवश ममता नहीं छूटती है ।

साखी—नारी रचन्ते पुरुषा, पुरुष रचन्ते नारि ।
पुरुषहि पुरुषा जो रचै, सो बिरला संसारि ॥५०॥

रमन्ते पुरुषाः स्त्रीषु लालसन्ति च लब्धये ।
लब्ध्वा सक्ता भवन्त्यासु स्त्रियोपि पुरुषेषु च ॥११॥
ये तु सत्पुरुषाः सत्सु पुरुषेषु गुरौ हरौ ।
आत्मन्येव रमन्ते ते भवन्ति विरला भुवि ॥१२॥
मोहोन्मत्तमनो[1] वशंवदतया बद्धो ममत्वै जनः,
रागान्धो रमते स्त्रियां सुखधिया पुत्रादिलाभेच्छया ।
योषैषापि तथैव बद्धहृदया पुंस्येव कान्ते यथा;
भक्त्या बन्धविघातकेऽतिविमले सन्तो रमन्ते तथा ॥१३॥
एकान्तशीला गतमानमत्सराः सर्वेन्द्रियप्रीतिनिवर्तका नराः ।
केचिद्भवन्तीह सुसाधवो जना,रामे परप्रीतियुता विमुक्तिगाः ॥१४॥५०॥

इति हनुमदीये रमैनीरसोद्रेके, आसक्त्या ज्ञानदौर्लभ्योपदर्शनं नाम द्वाविंशतितमः प्रवाहः ॥ २२ ॥

उक्त रीति से वंशादि द्वारा ममता मोह मूलक नाश बन्धनादि के होने पर भी मोह कामादि के वशवर्ती पुरुष माया रूप मोहोन्माद जनक नारी के

---

१ छन्द "शार्दूलविक्रीडित" "येविरज्यन्ति न स्त्रीषु कामासक्ता विचेतसः । देहोऽन्यथा वरस्त्रीणामन्यथा तैश्च चिन्तितम् ॥१॥ जन्म भूमिषु ये रक्ता जन्यन्ते जन्तवः पुनः । मुक्तिमार्गात्पुनर्भ्रष्टा जायन्ते पशुयोनिषु ॥२॥ स्कपु.खं.२अ.१२"

शरीर में रचते (आसक्त होते) हैं और नारी की रचना करते हैं। पुरुष शरीरों में नारी आसक्त होती है और पुरुष की रचना करती है, इस प्रकार से प्रकृति पुरुष के सम्बन्ध से संसार का प्रवाह बना रहता है। और जो स्वयं पुरुष (जितेन्द्रिय स्वतन्त्र ज्ञानी मुक्त गुरु) होकर, स्वतुल्य पुरुष की रचना करते हैं तथा जो स्वयं जितेन्द्रिय जिज्ञासु होकर (विवेकादि युक्त पुरुष होकर) पूर्ण तृप्त सतगुरु रूप पुरुष में रचते (प्रेम सेवा करते) हैं तथा ईश्वर परायण भक्त होते हैं, सो विरले संसारी (जीव) होते हैं ॥५०॥

अथ धारणारहस्य प्रकरण ३२

रमैनी ५१

जाकर नाम अकहुआ भाई। ताकर काह रमैनी गाई॥
कहै के तात्पर्य है ऐसा। जस पन्थी बोहित चढ़ी बैसा॥

योऽवाच्यः[1] सर्वशब्देन लक्ष्यो भङ्ग्या कयापि च।
तस्यात्र रमणं लोके किं लोकैः परिगीयते॥१॥

अस्य मे वचसो भावश्चेत्थं मे हृदि वर्तते।
यथाऽत्र पथिकः कश्चिन्नावमारुह्य सुस्थिरः॥२॥

गच्छेन्महोदधेः पारमचलस्वप्रतिष्ठया।
एवं धारणया धीरो वैराग्यरसरक्तया॥३॥

ज्ञानं तरिं समासाद्य संसाराब्धेः परं व्रजेत्।
नैवं रमणगानेन रहस्यरहितेन वै॥४॥

पुरुष होकर पुरुष में रमनेवालों की धारणा के वर्णन के लिये कहते हैं कि हे भाई! जिस परब्रह्म परमात्मा का अकहुआ (अकह=अवाच्य) नाम है। जो किसी वाणी या किसी इन्द्रिय का विषय नहीं है, क्योंकि "अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्" इत्यादि शास्त्र के अनुसार वह निर्गुण निर्विकार है, उस निर्गुणनिर्विकार की रमैनी (रमन लीला क्रीड़ा) आदि क्या गाते हो, उस

---

१ यद्वाचाऽनभ्युदितं येन वागभ्युद्यते। तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते। केन. १।४। वैराग्यविचारवता चेतसा गुणशालिना। देवं पश्यत्यथात्मानमेकरूपमनामयम्। योगवा० प्र० ५।६। वेद्मीति यद्बलादाह न वेद्मीति च यद्बलात्। योगिनोऽनुभवत्येतमगोचरतयैव हि। अनुभूति प्रकाश. अ.१७।११५।

को समझने के लिये योग, ध्यान, विचारादि कर्तव्य है, प्रथम कहा गया है कि "करु विचार जे सब दुख जाई। परिहरि झूठा केर सगाई ॥ रमैनी २३" इससे यह नहीं समझना चाहिये कि यहाँ अकह की चर्चाका या उसके कल्पित नामादि का निषेध किया गया है, किन्तु इस कथन का ऐसा तात्पर्य है कि जैसे नदी से पार जानेवाला पथिक वोहित (नौका) पर चढकर शान्ति से बैठता है, तब नाविक के खेवनेसे पार होता है, केवल नाविक या नौकाके नामादि से नहीं।

है कछु रहनि गहनि की बाता। बैठा रहै चला पुनि जाता॥
रहै वदन नहिं स्वाँग स्वभाऊ। मन अस्थिर नहिं बोलै काऊ॥

यथा नावि समारूढो ह्यगच्छन्नपि गच्छति।
एवं ज्ञानेन तत्त्वस्य स्थिरो मुक्तिं निगच्छति ॥ ५ ॥
यतः शमादियुक्तेन विचारादिसहेन च।
रहस्येन परा मुक्तिस्ततोऽस्यान्वेषणं कुरु ॥ ६ ॥

तद् गुह्यं योऽभिजानाति स वेषैर्न तनुं स्विकाम्।
संभण्डयति शुद्धात्मा न वक्ति चलमानसः ॥ ७ ॥
प्रत्याहृत्येन्द्रियं[1] स्वं सदितरविषयाभ्रासाग्रनयनो,
ध्यायन् सत्यं हृदब्जे जनिमृतिरहितं ब्रह्मात्मपुरुषम्।
आसीनो वात्र गच्छन् स्थिरतरमनसा सर्वेन्द्रियगणं,
कृत्वा मौनी वशे स्वे जगदुदधितटं शीघ्रं स लभते ॥ ८ ॥

उक्त नदी के पार होने में नौका पर बैठने के समान, संसारसिन्धु से पार होने में कुछ रहनी (रहस्य सच्चरित्र विवेक वैराग्य शमदमादि धारणा) की गहनी (ग्रहण) की बात (उपदेश) शास्त्र में है कि "निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा अध्यात्मनित्याः विनिवृत्तकामाः। द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययंतत्। भ० गी० अ० १५।५" अहंकार मोह से रहित, संग जन्य रागद्वेष को जीतने वाले, सदा आत्मपरमात्मविचार परायण, निष्काम, सुख दुःख नामक द्वन्द्वों से रहित, अमूढ (विवेकी) उस अविनाशी निर्गुण पद (स्वरूप) को पाते हैं, इत्यादि। जैसे नौका पर बैठा भी रहता है और पार भी चला जाता है, तैसे इन शास्त्रोक्त धारणाओं में स्थिति वाला, स्थिर रहते भी संसार से पार चला जाता है और उक्त धारणा वाला मनुष्य बदन (देह) में स्वाँग (वेष) बनाने के स्वभाव वाला नहीं रहता है, किसी

---

१ छन्द. (सुवदना)।

साधारण सात्विक वेष से रहता है, वञ्चनार्थक राजस तामस वेष का धारण कभी नहीं करता है। न अस्थिर (चञ्चल) मनपूर्वक किसी से कोई बात बोलता है। अर्थात् "हिये तराजू तौलि के, तब मुख बाहर आन। साखी २८२" और मन के स्थिर होने पर संसार व्यवहार की बात प्रायः कोई नहीं बोलते हैं, अर्थात् "मौन रहैं कि हरियश गावै। शब्द ६७"

साखी—तन रहये मन जात है, मन रहये तन जाय।
तन मन एकै ह्वै रहै, हंस कबीर कहाय ॥५१॥

तनुस्तिष्ठति सन्मार्गे मनोयाति कुवर्त्मसु।
मनस्तिष्ठति मार्गे वा तनुरन्यत्र धावति ॥ ९ ॥
एतदुक्तमभव्यानां भव्यानां त्विदमुच्यते।
तत्वा स्वान्तेन चैकः सन्मार्गो देवो निषेव्यते ॥१०॥
यदा विवेकतश्चैवं वर्तन्ते मनुजा भुवि।
तदा ते वै निगद्यन्ते हंसा वा परहंसकाः ॥११॥
"न[1] विभेति यदा जन्तुर्यदा चास्मान्न विभ्यति।
कामद्वेषौ च जयति तदात्मानं स पश्यति ॥१२॥
यदाऽसौ सर्वभूतेभ्यो न द्रुह्यति न काङ्क्षति।
कर्मणा मनसा वाचा ब्रह्मसम्पद्यते तदा" ॥१३॥५१॥

पूर्ण धारणा के विना किसी का तन (शरीर) स्थिर सन्मार्ग में रहता है, लोक लाज भयादि से कुमार्ग में नहीं जाता है। परन्तु अभिमानी मन जहाँ तहाँ जाता है और किसी का मनस्थिर रहता है, परन्तु लज्जादि वश तन कहीं अयोग्य स्थान में भी जाता है, इन दोनों अवस्थाओं में हंस दशा (पूर्ण विवेक ज्ञानावस्था) नहीं रहती है, किन्तु जब तन मन दोनों से एक धारणा में एकाऽवस्था में एकात्मनिष्ठ होकर रहे, तब वह प्राणी हंस (पूर्णविवेकी ज्ञानी) कहा जाता है। यह श्री कबीर साहब का उपदेश है। अथवा तन व्यवहार में रहता है, मन भजन में जाता है या मन व्यवहार में रहता है और तन पूजा सेवा पाठादि भक्ति में जाता है। परन्तु तन मन दोनों से जब एक सत्यात्मनिष्ठ होता है, तब सद्गुरु श्री कबीर का हंस कहा जाता है ॥ ५१ ॥

सम्बन्ध—पूर्ण हंस दशा के विना मनुष्य हरि को दूरवर्ती तटस्थ मानते हैं और शिव शेषादि को तटस्थ हरि के भक्त और अब भी हरि के वियोगी मानते

---

१ भ. भा. शा. अ. २। ४-५।

हैं। अतः तन, मन की एक स्थिति के लिये यत्न भी नहीं करते हैं कि जिससे पूर्ण हंस दशा की प्राप्ति हो, इत्यादि आशय से हंसदशा की प्राप्ति कर्तव्यता के बोध के लिये कहते हैं कि—

रमैनी ५२

जिहि कारण शिव अजहुँ वियोगी। अंग विभूति लाय भौ योगी ॥
शेष सहस मुख पार न पावै। सो अब खसम सही समुझावै ॥
ऐसी विधि जो मो कहँ धावै। छठये माँह सो दर्शन पावै ॥
कौनहुँ भाव दिखाई देऊँ। गुप्ते रहि सुभाव सब लेऊ ॥

यस्य रामस्य लब्ध्यर्थं तटस्थस्य शिवः स्वयम्।
अद्यापि सुविरक्तः सन् वियुक्त इव वर्तते ॥१४॥
गात्रे भस्म समालेप्य योगी भूत्वाऽपि सर्वदा।
यशसां यस्य नाद्यापि सोऽन्तं वै गतवान् प्रभुः ॥१५॥
शेषो मुखसहस्रेण यद्गुणान्तं न हीयिवान्।
स एव मानवो भूत्वा सत्यं सन्दिशति प्रभुः ॥१६॥
अनेनैव प्रकारेण यो मां ध्यायति सर्वदा।
षष्ठे मासे ध्रुवं तेन दर्शनं मम लभ्यते ॥१७॥
अहं केनापि भावेन तद्दृष्टेः गोचरो भवन्।
गृह्णामि भावसर्वस्वं गुप्त एव समाचरन् ॥१८॥

जिसको तटस्थ बुद्धि से शिवजी भजते हैं और जिहि कारण (जिसकी प्राप्ति के लिये) अजहुँ (अब भी) वियोगी (विरही भक्त-विरक्त) बने हैं और अंग (देह) में विभूति (भस्म) लगाकर योगी हुए हैं। हजार मुख से गाने पर भी शेषनाग जिसके गुणों के पार (अन्त) नहीं पाते हैं, सोई खसम (स्वामी) अब (सृष्टिकाल में) कपिल, व्यासादिरूप से प्रकट होकर (अवतार लेकर) अपने सही (सत्य) स्वरूप को समझाते हैं, कि ऐसी विधि से (तन, मन को एक करके) जो कोई मोकहं धावै (मेरा ध्यान करे) तो छठये मास में मेरा दर्शन पा सकता है। क्योंकि देवादि किसी भाव से मैं उसको दिखाई (दर्शन) देता हूँ और गुप्त ही रहकर उसके सब भक्तिभाव (प्रेम) आदिको मैं लेताहूँ (ग्रहण स्वीकार करता हूँ)।

साखी—कहहिं कबीर पुकारि के, सबका उहै विचार।
कहा हमार मानै नहिं, किमि छूटै भ्रम जाल ॥५२॥

उक्तः सर्वस्य लोकस्य विचारोऽत्र प्रवर्तते ।
मन्यते नैव सद्वाक्यं सद्गुरोरूपदेशनम् ॥१९॥
हंसत्वसाधकं साक्षात्परतत्त्वस्य बोधकम् ।
कथं नश्यतु सा भ्रान्ति र्महानर्थप्रसाधिका ॥२०॥
यद्वा शिवश्च शेषाद्या यस्यान्तं न विदुर्बुधाः ।
स स्वयं गुरुमूर्तिस्थः सत्यं संदिशति प्रभुः ॥२१॥
गुरुभिः प्रोक्तमार्गेण यो मां ध्यायति सर्वदा ।
पञ्चकोशात्परं मां स पश्यत्येव निजात्मनि ॥२२॥
येन केनापि भावेन यो ध्यायति निरन्तरम् ।
तद्दर्शनपथे भूत्वाऽव्यक्तो भावं तु भावये ॥२३॥
इत्येवं सर्वविज्ञानां विचारो वर्तते सदा ।
मन्वते चेज्जना नैव कथं भ्रान्तिर्विलीयताम् ॥२४॥५२॥

इति हनुमदीये रमैनोरसोद्रेके धारणारहस्यवर्णनं
नाम त्रयोविंशतितमः प्रवाहः ॥ २३ ॥

श्रीकबीर साहब पुकार के कहते हैं कि प्रायः सबका ऊहे (तटस्थेश्वर) विषयक ही विचार है और हमार (आत्मज्ञ उक्त धारणावालों का) कहा (रहनी गहनी के उपदेश) को कोई नहीं मानता है तो भेद भ्रमादिरूप जाल (विस्तार) कैसे छूटे । वस्तुतः एक सत्यात्माराम के सद्धारणादि द्वारा अनुभव से ही भ्रम-जालकी निवृत्ति मुक्ति होती है । अतः सद्धारणादि ज्ञानके लिये कर्तव्य है॥५२॥

अथ दुराशाप्राबल्यप्रकरण २४

रमैनी ५३

महादेव मुनि अन्त न पाया । उमा सहित उन जन्म गमाया ॥
उनहूँ से सिध साधक कोई । मन निश्चय कहु कैसे होई ॥

महादेवो मुनि र्यस्य नान्तं वेद कदाचन ।
उमया सहितः सोऽत्र जीवनं यापयत् प्रभुः ॥ १ ॥
किं ततोऽपि भवेत्कश्चित् सिद्धो वा साधको महान् ।
यो वेत्स्यति हि तत्त्वेन निश्चयोऽपि यतो भवेत् ॥ २ ॥
[1]यदन्तं न शिवोऽविन्दत्तदन्तनिश्चयः कदा ।
कथं मनसि सम्भाव्यः केनापि पुरुषेण हि ॥ ३ ॥

---

१ "एकधैवानुद्रष्टव्यमेतदप्रमयं ध्रुवम् । विरजः पर आकाशादज आत्मा

महादेव जी ऐसे मुनि या महादेव जी और अन्य मुनि जिसके गुणशक्ति आदि के अन्त को नहीं पाये न जिसके स्वरूप के अन्त (मर्म) को पाये, क्योंकि वह स्वामी गुप्त रह करके ही भाव लेता है, प्रकट नहीं होता है, इसीसे अन्त के खोज में शिवजी ने उमा सहित जन्म गमाया। परन्तु अन्त नहीं पाया तो क्या उस शिव और उमा (पार्वती) से अधिक सिद्ध और साधक कोई होगा कि जो अन्त पायेगा और अन्त पाये विना मन में उसका निश्चय कैसे हो सकता है सो कहो और समझो। अर्थात् एक सत्यात्मराम ही माया से अनन्तस्वरूप होता है, उसीके अन्त को महादेवजी आदिकों ने भी नहीं पाया। क्योंकि अनन्त का अन्त है ही नहीं तो कोई पावे कैसे। अतः उसके आदि अन्त को खोजना किसी तटस्थ वस्तु को अनन्त कहना व्यर्थ अज्ञानमूलक समझना चाहिये। यदि अनन्तात्मविभूति के आदि अन्त को कोई वर्णन करे या तटस्थ के गुणादि की अनन्तता को कोई वर्णन करे तो किसी विचारवान् के मन में उसका निश्चय कैसे हो सकता है। तटस्थ के स्वरूपादि को अन्तयुक्त और ब्रह्म को वह अनन्त ही समझेगा।

जब लग तन में आहै सोई। तब लगि चेति न देखै कोई॥
तब चेति हो जब तजि हो प्राणा। भया यान तब मन पछताना॥
इतना सुनत निकट चलि आई। मन विकार नहिं छूटी भाई॥

अहो यन्महिमाऽनन्तो यश्चानन्तः स्वयंप्रभः।
अस्मिन् स वर्तते देहे मानवे जीवरूपतः[१] ॥४॥
यावत्स वर्तते तावन्न यः पश्येद्विवेकतः।
स किं प्राणात्यये सम्यग् भोत्स्यते मूढमानसः॥५॥
मरणे चेह संप्राप्ते पश्चात्तापेन तप्यते।
आधिनैतन्मनः शश्वत् पीड्यते खिद्यते भृशम्॥६॥

महान् ध्रुवः॥ बृ० ४।४।२०" नान्तं विदाम्यहममी मुनयोऽग्रजास्ते, मायाबलस्य पुरुषस्य कुतोऽपरे ये। गायन् गुणान् दशशतानन आदिदेवः शेषोऽधुनापि समवस्यति नास्यपारम्॥ श्रीमद्भा. स्क २।७।४१॥ श्रीब्रह्मानारदं प्रयुक्तवान्।

१ अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूवः। एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च॥१॥ एकोवशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति। तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम्॥२॥ कठ० २।५।६-१२॥

एतावच्छृण्वतां तावन्मरणं समुपस्थितम्।
मनसो ये विकारास्ते न नष्टा न तिरस्कृताः ॥७॥
एतावच्छ्रवणाद् यद्वा मोक्षमार्गादिसन्निधौ।
केचित्प्राप्तास्तथाप्येषां मनोदोषो न नश्यति ॥८॥

साहब कहते हैं कि जिस अनन्त को तटस्थ मानकर, उसके अन्तादि को सब खोजते हैं, सो अनन्त ही जब लग (जब तक) जीवित अपने शरीर में अन्तर्यामीरूप से कूटस्थात्मरूप से और जीवरूप से आहै (वर्तमान और प्रकट है) तब तक कोई अविवेकी चेतकर (सावधान होकर) उसे नहीं देखते हैं, किन्तु लोकान्तरादि में बाहर देखना चाहते हैं। तहाँ कहा जाता है कि क्या तब चेतोगे (समझोगे) कि जब प्राण त्यागोगे। अर्थात् मरने पर मानव शरीर सत्सङ्ग गुरु आदि के अभावकाल में चेत नहीं सकोगे। अतः चेतने के बिना जब जिसका मानव शरीर से यान (यात्रागमन) भया, तब वह मन में पश्चाताप ही किया। तुम्हें भी अभी चेतने के बिना फिर मन में पछताना होगा। अतः अभी चेतना चाहिये। परन्तु इतनी बातों को सुनते २ मृत्यु भी निकट चल-आई, तो भी हे भाई चेतने के बिना किसी के मन के विकार कामादि नहीं छूट सके (मन के विकारों से छुट्टी नहीं मिली) तथा इन बातों को सुनकर जिनकी बुद्धि मोक्षमार्ग के निकट में आई (शुभेच्छा हुई) चेतने के बिना उनकी भी बुद्धि विकारों से नहीं छूट सकी। अतः आत्मा चेतयितव्य (ज्ञातव्य) है।

साखी—तीनि लोक में आयके, छूटि न काहु कि आश।
एक अँधरा जग खाइया, सबका भया विनाश ॥५३॥

त्रिलोक्यां हिं जनेर्लाभात् केषाञ्चिन्नाविवेकिनाम्।
आशापाशाद्विमोक्षोऽभूद्विकारान्मनसस्तथा ॥९॥
अतश्चैको महान्धोऽयं कालः स्वस्वान्तमेवहि।
खादति स्म जगत्सर्वं सर्वे नष्टास्ततोऽभवन् ॥१०॥

न यावद्विवेको मतौ संस्फुरेत्सन् भवेन्नैव यावत्त्रिलोकेष्वनास्था।
न चाशा पिशाचीविनष्टा च यावन्नतावन्मनः कालपाशाद्विमुक्तिः॥११॥५३॥

इति हनुमद्दीयेरमैनीरसोद्रेकेदुराशाप्राबल्यवर्णनंनामचतुर्विंशतितमःप्रवाहः

तीनों लोक में कहीं भी जन्म लेकर आने से अर्थात् उत्तम स्वर्गादि में भी प्राप्त होने से, तीनों लोक के विभूतियों को प्राप्त कर लेने से, आत्मज्ञानादि

के बिना किसीकी आशा, तृष्णा नहीं निवृत्त हुई और आशा, तृष्णा, वासना के वर्तमान रहते, एक कामान्धमन कालरूप होकर जगत् (संसारी) को खा गया (धर्म ज्ञानादि को नष्ट किया) कि जिससे सबका विनाश हुआ और होता है (सदा जन्ममरणादि जन्य कष्ट भोगना पड़ता है) ॥५३॥

सम्बन्ध—इस लोक के शरीर सम्पत्ति आदि को विनश्वर समझकर, इनकी आशा आदि को कोई त्यागता भी है, तो भी ब्रह्मलोक ब्रह्मा आदि के शरीरादि को नित्यमानकर, उनकी आशा आदि से मन के वश में पड़ता है, आत्मज्ञान विवेकादि से वञ्चित रहता है। अतः उनकी आशा आदि की निवृत्ति के लिये वर्णन है कि—

अथ मृत्युममत्वप्राबल्य प्र० २५

रमैनी ५४

मरि गौ ब्रह्मा काशिक वासी। शीव सहित मूये अविनाशी ॥
मथुरा मरिगौ कृष्ण गोआरा। मरि मरि गये दशो अवतारा ॥
मरि मरि गये भक्ति जिन ठानी। सर्गुण में जिन निर्गुण आनी ॥

ममारैव स्वयं ब्रह्मा काशीवासी शिवस्तथा।
अविनाशी मृतः सोऽपि गतः क्वापि गतो न वा ॥१॥
मथुरायाश्च कृष्णोपि गोपास्तद् वल्लभास्तथा।
अवतारा मृताः सर्वे कल्पभेदेषु ये श्रुताः ॥२॥
यैश्च भक्तिः कृता शश्वद् गुणैर्निर्गुणधीस्तथा।
यैर्लब्धा ते मृतायत्र तत्र को न मारिष्यति ॥३॥
सकलं जगत् क्षणभङ्गुरं जनिमृत्युभागि चराचरं।
परमेष्ठिविष्णुहरैर् युतं ह्यवतारभक्तसमन्वितम् ॥४॥
गुणसङ्गनिर्गुणबोधिनो नहि केपि तेन मृतिं विना।
समवस्थिता ननुमोहतः स्थिरता विभाति जगत्त्रये ॥५॥

गायत्री द्वारा इस भूमि में जन्म लेनेवाले ब्रह्मा मर गये, क्योंकि जिसका जन्म होता है, उसका अवश्य मरण होता है और सो ब्रह्म स्वरूप से अविनाशी ज्ञानी काशी के वासी शिव सहित मुये (स्थूल शरीर से रहित हुए) स्थूल शरीर सहित सदा नहीं रह सके। इसी प्रकार मथुरा के निवासी श्रीकृष्ण और उनके सङ्गी गोआर (गोप गोपी) सब मर गये, और अनन्तो

कल्प के दश-दश अवतार सब मर-मर गये और जिन्होंने भक्ति ठानी (की) और सगुण में जिन्होंने निर्गुण को आनी (प्राप्त किया) भक्ति से सगुण में निर्गुण का अपरोक्ष अनुभव किया, वे भी मर गये, उनके भी शरीर नहीं रहे। अतः किसी नित्य शरीर की आशा से भक्तियोगादि नहीं करना चाहिये, सब शरीर से रहित सर्वात्मा को समझना चाहिये, शरीर शब्द का अर्थ ही विनश्वर है, वह किसी योगविद्यादि से भी अविनाशी नहीं हो सकता है।

साखी—नाथ मच्छन्दर छुटे नहीं, गोरख दत्त औ व्यास।
कहहिं कबीर पुकारि के, परे काल के फाँस ॥५४॥

मत्स्येन्द्रो हि महायोगी गोरक्षो दत्त एव च।
व्यासोपि च महाविद्वान् कालपाशेऽपतद् ध्रुवम् ॥५॥
एतत्सर्वं विदित्वापि जीवनस्य दुराशया।
न जानन्ति परं तत्त्वं वसन्तोऽमी कलेवरे ॥६॥
अहो दौर्भाग्यमेतेषामाभाष्य कथयाम्यहम्।
कथ्यमानं नश्रृणवन्ति कुर्वन्ति च निजाऽहितम् ॥७॥

न यत्र सिद्धाः स्थिरतां प्रयान्ति हि न साधका व्यासमुखा विपश्चितः।
महाबलैः कालगणैर्निपीडिता, जनश्चिरं स्थैर्यमहो प्रवाञ्छति ॥८॥५४॥

श्री कबीर साहब पुकार के कहते हैं कि गोरखनाथ के गुरु महासिद्धयोगी मच्छन्दर (मत्स्येन्द्र) नाथ, गोरखनाथ, महात्मा दत्तात्रेय, और परम विद्वान् व्यासमुनि, ये सब भी मृत्यु से नहीं छूटे। किन्तु काल के फाँस में (मृत्यु के वश में) सब पड़े। अथवा ये सब काल के फाँस से परे रहे। बलात्कार से काल के बन्धन में पड़ने वाले नहीं थे तो भी अनिवार्य मृत्यु से नहीं छूटे, स्वेच्छा से भी मरना पड़ा। अर्थात् सिद्ध अवतारादि के शरीरों की भी ऐसी अवस्था काल स्वभाव से ही आ जाती है कि जिससे उन्हें भी शरीर को त्यागने की इच्छा अवश्य होती है। अतः शरीर नहीं रहता है। "संसारावलयो ग्रस्ता निगीर्णा रूद्र कोटयः। भुक्तानि विष्णुवृन्दानि क्व न शक्ता वयं मुने ! ॥१॥ योगवा. प्र. ४ १०।१७" "ब्रह्मविष्ण्विन्द्ररुद्राद्यायेहि कारणकारणम्। तेषामप्यतिकल्पान्ते नामापीह न विद्यते ॥२॥ योगवा० ५।४३।३०" संसार की पंक्तियों को हम खा चुके हैं, करोड़ो रुद्र को निगले हैं। कैक वृन्द विष्णु को खा चुके हैं, हे मुने ! हम कहाँ समर्थ नहीं हैं, यह भृगु मुनि के प्रतिकाल की उक्ति है ॥१॥ जो कुछ कारणों के कारण रूप ब्रह्मा विष्णुइन्द्र रुद्रादि हैं, उनका भी अति कल्पान्त में यहाँ नाम भी नहीं रहता है ॥५४॥

रमैनी ५५

गये राम औ गये लक्ष्मना। सङ्ग न गई सीता अस धना॥
जात कौरवहि लागु न वारा। गये भोज जिन साजल धारा॥
गये पण्डु कुन्ती सी रानी। सहदेवहुं जिन मति बुधि ठानी॥
सर्व सोने का लङ्क उठाया। चलत बार कछु सङ्ग न लाया॥

रामचन्द्रोगतः क्वापि लक्ष्मणो वीरसत्तमः।
सीता सहचरी धन्या न रामेण गता सती॥९॥
कौरवाणां गतौ तावद् वासरा नाधिका ययुः।
अत्यल्पेन हि कालेन सर्वे ते मानिनो हताः॥१०॥
भोजराजो गतो येन धाराख्यानगरी शुभा।
साधितोपस्कृता सम्यक् परिक्षिप्ता च रक्षिता॥११॥
गतः पण्डुर्गता कुन्ती राज्ञी सूर्यविमोहिनी।
सहदेवो गतो येन मतिबुद्धी प्रवर्तिते॥१२॥
यश्च स्वर्णमयीं लङ्कां सर्वां तोलितवान् बलात्।
प्रावृंहयद्विशेषेण सोऽगच्छन्नाददात्कणम्॥१३॥

इस मानव लोक और देह से श्री राम और लक्ष्मण गये। अर्थात् जिस देह की बाल्यादि अवस्था होती है, उस देह सहित यदि लोकान्तर में भी जाया जाय तो कभी उसको छोड़ना ही पड़ता है और उस देह के छूटने पर यदि किसी को उस देह का दर्शन होता है, तो उस दर्शन को माया जन्य नूतन देह विषयक स्वप्न तुल्य समझना चाहिये, अतः श्री रामचन्द्रादि मानव देह से रहित हो गये, यह सत्य है। और सीता ऐसी धना (धन्या) पुण्यवती स्त्री भी राम जी के साथ नहीं गई। दुर्योधनादि कौरव (कुरुवंशी) को जाते (मरते) में बार नहीं लगा और जिन (जिस) भोज राजा ने अपनी धारा नामक नगरी को साजा (सुसज्जित किया) सो भोज गये। पण्डु राजा गये, कुन्ती सी विदुषी उनकी रानी गई। और मति बुद्धि (भावी वर्तमान विषयक ज्ञान) को ठानने (प्रकट प्राप्त करने) वाले सहदेव भी गये। और सम्पूर्ण लंका में सोने की दिवाल कोट उठाया (बनाया धारण) किया, सो रावण चलते समय कुछ संग नहीं ले सका।

जाकी पुरी अन्तरिक्ष छाई। सो हरिचन्द देखल नहिं जाई॥

मुरख मानुष बहुत संयोवै। अपने मरे और लगि रोवै ॥
इ न जाने अपने मरि जैवे। विभव टका दश औरहि खैवे ॥

अन्तरिक्षं स्पृशन्तीव नगरी यस्य विस्तृता।
आसीत् सोपि हरिश्चन्द्रो नेह कुत्रापि दृश्यते ॥१५॥
तथापीमे महामूढा मानवा बहुसंग्रहम्।
कुर्वन्ति धन वित्तादे र्ममताहतचेतसः ॥१६॥
स्वयं ते म्रियमाणाश्च पुत्राद्यर्थं रुदन्ति चेत्।
सञ्चिन्वन्तस्तदर्थं च शोकाद्यैश्च तपन्ति ते ॥१७॥
एतन्मूढा न जानन्ति यदस्माकं मृतौ धनम्।
दशरूप्यादिकं सर्वं तदन्यैरेव भोक्ष्यते ॥१८॥
"नैवात्रात्यन्तसंवासः कस्यचित् केनचित् सह।
अपि स्वेन शरीरेण किमुतान्यैः धनादिभिः" ॥१९॥
ममताहत जन्तुस्तु न कचित् सुखमेधते।
सम्प्रवृत्तस्तया यस्मात् स्थितिमेति न कुत्रचित् ॥२०॥

जिस हरिश्चन्द्र की नगरी (पुरी) ऊँचे महलों के कारण मानो अन्तरिक्ष लोक में छाई (बसी) थी सो हरिश्चन्द्र आज कहीं देखल (दिखे) नहीं जाते हैं, न मरने के बाद हरिश्चन्द्र ने उस नगरी में जाकर फिर कभी उसको देखा। ऐसा वियोग होने पर भी मूर्ख मनुष्य अपने लिये बहुत संयोग (संग्रह) करते हैं और आप मरते हैं (मरण के निकट पहुँच जाते हैं) तो भी अन्य धनपुत्रादि के लिये रोते हैं (चिन्ता करते हैं) उस समय भी आत्मचिन्तनादि नहीं करते हैं और यह नहीं जानते (समझते) हैं कि हम आप मरकर यहाँ नहीं रह सकेगें, मरकर कर्मादि के अधीन कहीं अन्यत्र ही जाना होगा तो जो हमारे दश टका (रुपये) आदि विभव हैं, उन्हें लेकर अन्य लोग ही खायेगें (भोगेगे) हमारे काम के ये भी नहीं रहेगें, फिर भी अन्यधनादि के लिये क्यों चिन्ता करें इत्यादि।

साखी—अपनी अपनी करि गये, लागि न काहुकि साथ।
अपनी करि गौ रावणा, अपनी दशरथ नाथ ॥५५॥

अस्माकमिदमस्माकमिति कृत्वा गता जनाः।
केनापि सह किञ्चिन्न संलग्नं सञ्चितं धनम् ॥२१॥
तथापि ममतां कृत्वा यथाऽसौ रावणो गतः।
तथैव ममतायुक्तो राजा दशरथोऽगमत् ॥२२॥

यावच्च ममता ह्येषा दह्यते न समूलकम् ।
तावद् गतागते चैते नश्यतो नैव कस्यचित् ॥२३॥
"सुखाधिगमलोभेन यतमानो हि पूरुषः ।
सहस्रगुणमाप्नोति दुःखमेव ममत्वतः" ॥२४॥
अनादौ[1] संसारेऽवशमिदमहो मूढमनसाम् ,
जनित्वा जन्तूनां मरणमथ मृत्वापि जननम् ।
इयं सा दुःखानां सरणिरिति सञ्चिन्त्य कृतिना ,
निधातव्यं चेतो जननमरणोच्छेदिनि पदे ॥२५॥५५॥

इति हनुमदीये रमैनीरसोद्रेके मृत्युममत्वप्राबल्यवर्णनं
नाम पञ्चविंशतितमः प्रवाहः ॥२५॥

उक्तरीति से अन्त में भी नहीं समझने, नहीं विचारने के कारण अन्तकाल तक अपनी-अपनी (मेरी-मेरी) करके सब गये और जाते हैं। परन्तु कोई वस्तु सम्पत्ति किसी के साथ में नहीं लगी (नहीं गई) न जाती है तो भी अपनी बुद्धि ममता करते ही रावण गया (ममता करके गया) ममता से मुक्त होकर नहीं गया अपनी बुद्धि करके ही राजा दशरथ शोक से व्याकुल होकर गये इत्यादि ॥५५॥

अथ ममत्वादि फलवर्णन प्रकरण २६

रमैनी ५६

दिन दिन जलै जलन के पाऊँ। डाढे जाय न उमगे काऊँ ॥
कान्द न देइ मसखरी करई। कहु दुइ भाँति कैसे निस्तरई ॥

ममत्वाऽऽशादिसंछन्नः पापतापादिवह्निभिः ।
दह्यतेऽत्र[2] जनः शश्वदाधिवृद्ध्या दिनेदिने ॥ १ ॥
जनो जाज्वल्यमानोऽपि कामादिज्वलनैः पुनः ।
मनो बुद्ध्यात्मपादौ द्वौ तत्रैवार्पयते कुधीः ॥ २ ॥

---

१ छन्द "शिखरिणी"।

२ "मम माता ममपिता मम भर्या ममात्मजाः। ममेदामिति जन्तूनां ममता बाधते वृथा। नारदीय पु. ३७।४१" पुत्रदारकुटुम्बेषु सक्ताः सीदन्ति जन्तवः। सरः पङ्कार्णवेमग्ना जीर्णा वनगजा इव। ना. पु. ६.। ६५ ॥ ममेति बध्यते जन्तु र्नममेति विमुच्यते। पैङ्गलोप० ४। २० ॥

ततस्तापमवाप्नोति दग्धो भवति सर्वथा ।
नैवोत्थानमवाप्नोति हर्षोत्फुल्लो न जायते ॥ ३ ॥
सतां सदुपदेशेऽपि कर्णं नैव ददाति च ।
कुरुते हास्यनिन्दादि तेषामेवाविशङ्कया ॥ ४ ॥
तान् दृष्ट्वा स्मयते मूढस्तदुक्ती न शृणोति च ।
स्वयं चिन्ते न चेत् क्वापि निर्वृत्तिं कथमेतु सः ॥ ५ ॥
अविचारोऽश्रुतिश्चैव स्तो जन्तोर्नरकाय हि ।
सत्सङ्गः सुविचारश्च सर्वदा सुखसाधने ॥ ६ ॥

उक्त ममता मोहादि के वशवर्ती प्राणी प्रतिदिन काम क्रोधादिरूप अग्नि से जलते हैं (दैहिकादि तापों से पीडित होते हैं) फिर भी जलन (अग्नितुल्य) में पावँ (मन) देते हैं या जलन को ही पाऊं (पाते) हैं, जिससे डाढे (दाहे जलाये) जाते हैं और काऊँ (कोई कभी) उमगते (बढते-पनपते) नहीं हैं । इस अवस्था में यदि कोई ताप से रहित होने के लिये वृद्धि के लिये दयावश उपदेश देता है तो उस सद्गुरु सतपुरुष की बातों उपदेशों में कान नहीं देते हैं (प्रेम विश्वासादिपूर्वक श्रवण नहीं करते हैं) उल्टा उन उपदेशकों से मसखरी करते हैं तो कोई कहो तो कि इन दोनों प्रकारों से निस्तार (मोक्ष) कोई कैसे पासकते हैं । अर्थात् सत्पुरुष का अनादर और उनके उपदेश का अनादर, ये दोनों कठिन संसार के हेतु हैं । इनके रहते संसार से निस्तार नहीं हो सकता है ।

अकरम करै कर्म को धावै । पढि गुनि वेद जगत समुझावै ॥
छूंछा परै अकारथ जाई । कहहिं कबिर चित चेतहु भाई ॥५६॥

कृत्वा निषिद्धकर्माणि हिंसाऽसत्यमयान्यपि ।
विचारादि विना जन्तुस्तानि कर्माणि मन्यते ॥ ७ ॥
वेदादींश्च पठित्वापि विचिन्त्य बहुधा तु ये ।
स्वबोधेन विनाऽन्येभ्य उपदेशं ददन्ति चेत् ॥ ८ ॥
निष्फलः स भवेत्तेषां जन्माप्यफलतां व्रतेत् ।
अतश्चाद्यापि मनुजाः ! सावधानैर्हि भूयताम् ॥ ९ ॥
"यस्य नास्ति विवेकस्तु केवलं यो बहुश्रुतः ।
स जानाति न शास्त्रार्थान् दर्वी पाकरसं यथा" ॥१०॥
तस्माद् यूयं कुरुध्वं तं विवेकं सर्वसाधकम् ।
बाधकं ममतादीनां समतादि प्रवर्तकम् ॥११॥

शोधयध्वं स्वमात्मानमर्चयध्वं तमेवहि ।
आत्मनाऽऽत्मानमालोक्य सन्तिष्ठध्वं गतज्वराः ॥१२॥५६॥

क्योंकि दयालु सत्पुरुषों को और उनके उपदेशों को नहीं मानने वाले हिंसा आदि रूप अकरम (अकर्तव्य कर्म) करते हैं, उसी को कर्तव्य कर्म रूप से घावते (ध्यावते-समझते) हैं या अकर्म करते हैं और कभी बन्धप्रद कर्म के लिये घावते (दौड़ते) है । और वेदादि को पढ़गुन (विचार) कर भी उन अकर्म कर्म को ही संसारी मनुष्य के प्रति समुझाते (कर्तव्य बताते) हैं । तहाँ सत्सङ्गसद्विचारादि द्वारा उन कुकर्मों को त्यागे बिना, भक्ति निष्कामता आदि के बिना उनके पठन-पाठनादि सब छूँछा पड़ते हैं (तुच्छफलप्रद या निष्फल होते हैं) और उनका जीवन अकारथ (व्यर्थ अकार्य में) जाता है, अतः श्रीसद्गुरु कबीर साहब कहते हैं कि हे भाई ! अब भी चित (चेतनात्मा) को चेतो (समझो) तथा चित्त से चेतो (सावधान होवो) सत्पुरुष सदुपदेशों को मानो कुकर्म कुकामादि से रहित होकर, सत्कर्म भक्ति विचारादि करो ॥५६॥

रमैनी ५७

कृतिया लोक सूत्र इक अहई । लाख पचास की आयु कहई ॥
विद्या वेद पढै पुनि सोई । वचन कहत प्रत्यक्षे होई ॥
पहुँची बात विद्या के पेटा । वाहुको भरम भया संकेता ॥

कार्यरूपो महानेकः सूत्रलोकस्तथैव च ।
लोके सूत्रात्मको ग्रन्थो विद्यते कार्यबोधकः ॥१३॥
यमधीत्य वदन्त्यत्र ह्यायूंषि बहुधा जनाः ।
पञ्चाशतां च लक्षाणामायूंषि वर्णयन्ति ते ॥१४॥
ब्रह्मलोकादिषु त्वत्र प्राक्तनेषु हि योगिषु ।
ग्रन्थाश्च बहुधा कार्यमायूंषि वर्णयन्ति हि ॥१५॥
इमे सर्वे च वक्तारो विद्या वेदान् पठन्ति वै ।
कल्पयन्ति हि लिङ्गैस्ते भाषन्तेऽक्षगतं यथा ॥१६॥
तेषां यद्यपि वाक्यानि सत्यानि विदुषामिह ।
प्रायेणैव भवन्त्येव सावधानेन चिन्तनात् ॥१७॥
संकेतज्ञानजान्येव तथाप्येतानि नान्यथा ।
संकेते च भ्रमात्तानि भ्रान्तान्येव विनिश्चिनु ॥१८॥

लोक में कृतिया (कार्य का बोधक) सूत्रात्मक एक ज्योतिष का ग्रन्थ है ।

अथवा सूत्र (ब्रह्मा) का एक कृतिया कार्यात्मक ब्रह्मलोक है तहाँ उस ग्रन्थ को पढ़ने वाले, लाखों पचासों की आयु का या ब्रह्मलोक वासी आदि के पचासों लाख वर्ष पर्यन्त की आयु का कथन करते हैं। और वे लोग बहुधा विद्या वेदादि को पढ़ते हैं और विद्यादि को पढकर विद्या के बल से ही आयु आदि का कथन करते हैं। परन्तु वचन इस प्रकार से कहते हैं कि मानो प्रत्यक्ष ही देखकर कहते हो। परन्तु वस्तुतः प्रत्यक्ष देखकर नहीं कहते हैं। किन्तु विद्या की बात इनके पेट (हृदय) में पहुँची हुई (निश्चित) रहती है। अतः वह ज्ञान संकेत जन्य होता है कि जिससे मिथ्या मायामय को सत्य मानते हैं। अतः ज्योतिषादि से चिरायुष्कता आदि समझकर चिदात्मा के चेतने में आलस्यादि नहीं करना चाहिये, किन्तु शीघ्र चेतना चाहिये।

साखी—खग खोजन कहँ तूं परा, पीछे अगम अपार।
बिनु परिचय ते जान हूं, झूठा है हंकार ॥५७॥

अतो मुधैव भो विद्वन्नाकाशपथगामिना।
मनः खगेन वै क्लृप्तं मार्गयस्यायुरादिकम् ॥ १९ ॥
अनाद्यतिगभीरं च यद्गतं भ्रमणं तव।
पश्चाद् भावि च यन्मोहात्तन्न वेत्ति भवान् खलु ॥२०॥
यावन्न ज्ञायते चायमात्माऽनादिः स्वयंप्रभः।
तावदन्यं प्रपश्यन् हि मुधा गर्वं तनोति च ॥२१॥
"धनं शरीरं स्वजनं स्वजीवितं प्रियाणि मित्राणि शरीरसम्पदः।
चिरायुषः पश्यति मूढचेतनो न तत्समः कश्चिदिहास्ति दुर्मतिः ॥२२॥
ब्रह्मादीनां त्रयाणां तु स्वहेतौ प्रकृतौ लयः।
प्रोच्यते कालयोगेन पुनरेव समुद्भवः ॥२३॥५७॥

इति हनुमदीये रमैनीरसोद्रेके ममत्वादिना तापादि वर्णनं नाम
षड्विंशतितमः प्रवाहः ॥ २६ ॥

चिदात्मा को जाने बिना खग (आकाशगामी चिर जीवी देवादि) को खोजने में तूं (मनुष्य) सब लगे हो (पड़े हो) और देवादि के पीछे (पूर्व काल में) वर्तमान अगम अपार वस्तु सर्वात्मा रहता है। उस कारण को छोड़ कर तुम आगे के कार्यों को खोजते हो और उस पीछे की वस्तु के परिचय (ज्ञान) के बिना देवादि को सत्यादि स्वरूप समझते हो और ज्ञानीपन का अहंकार करते हो। परन्तु यह अहंकार झूठा (निष्फल) है, निर्विषय है,

क्योंकि तुम ज्ञानी नहीं हो, आत्मज्ञानी ज्ञानी कहा जाता है, अन्य नहीं। ज्ञानं तु—"आत्मज्ञानं विदु र्ज्ञानं ज्ञानान्यन्यानि यानि तु। तानि ज्ञानावभासानि सारस्यानवबोधतः। योग वा० प्र० ६। २। २१। ७" आत्मज्ञान को ही महात्मा ज्ञान समझते हैं और जो अन्य ज्ञान हैं, सो ज्ञान तुल्य भासने वाले हैं। परन्तु सत्य ज्ञान नहीं हैं, क्योंकि उनसे सारस्य (ब्रह्मानन्दरूप रस सहितता) का बोध नहीं होता है। अतः सत्यानन्द के अज्ञान भ्रम सहित अन्य ज्ञान रहते हैं॥ ५७॥

अथ गुरुभक्तिजनिर्द्वन्द्व स्वाराज्य प्र० २७

रमैनी ५८

तैं सुत मातु हमारी सेवा। तो कहँ राज देव हो देवा॥
अगम दुर्गम गढ देउँ छुड़ाई। औरो बात सुनहु कछु आई॥
उतपति परलय देउँ दिखाई। करहु राज सुख विलसहु आई॥

सर्वाशां संपरित्यज्य कुरुष्व गुरुसेवनम्।
गुरूणां सेवनादेव राज्यलाभो भविष्यति॥ १॥
गुरुरेव स्वयं प्राह मत्सेवा तत्परो भव।
अहं तुभ्यं प्रदास्यामि राज्यं निष्कण्टकं[1] सदा॥ २॥
त्याजयिष्याम्यगम्यं च कल्पितं नाममात्रतः।
दुर्गम्यं गृहसालादि[2] लोकं देहं जगत्तथा॥ ३॥
एषु वैराग्यमाश्रित्य त्वागत्य गुरुसन्निधौ।
एभ्योभिन्नं हि यत्तत्त्वं तस्यैव श्रवणं कुरु॥ ४॥
अहं त्वां जगतामेषामुत्पत्तिप्रलयादिकम्।
प्रत्यक्षं दर्शयिष्यामि येन भूयो न बाध्यसे॥ ५॥
अतः शरणमागत्य गुरूणां भावितात्मनाम्[3]।
अखण्डं क्रियतां राज्यं लस्यतां[4] च सुखं तथा॥ ६॥

हे सुत! (सज्जन शिष्य!) तुम मिथ्या अहंकार को त्यागकर हमारी (गुरु की) सेवा को मानो। आत्मज्ञान के लिये गुरु की सेवा को कर्तव्य समझो और सेवा करो। तो हे देव! (दैवी सम्पत्तिवाले) तुझे मैं (सद्गुरु) निष्कण्टक

---

१ क्षुद्रशत्र्वादिरहितम्। २प्राकारादि। ३लब्ध आत्मवाले। ४ क्रीड़ा करो।

राज्य (स्वतन्त्र मोक्ष) दूँगा क्योंकि "सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि। समं पश्यन्नात्मयाजी स्वाराज्यमधिगच्छति। मनुस्मृ० १२।९१" सब प्राणी में अपनी सम आत्मा को और आत्मा में सब प्राणी को देखता (समझता) हुआ आत्मपूजक स्वाराज्य (मोक्ष) पाता है और हे देव ! मैं अगम दुर्गमगढ (कल्पित लोक पर लोक) छोड़ा दूँगा, गमनागमन से रहित, सब देहों से मुक्त अचल सुख स्वरूप कर दूँगा। अतः लोकादि रूप गढ़ों से औरो (अन्य) वस्तु की कुछ बात को गुरुशरण में आकर सुनो। तो मैं तुम को सब संसार की उत्पत्ति और प्रलय को आत्मविभूति रूपसे दिखा (समझा) दूँगा, फिर उत्पति आदि का ज्ञाता भगवान् स्वरूप होकर, तुम स्वतन्त्रतारूप राज्य करो और राज्यावस्था में आकर सुखमय विलास-क्रीडा लीला करो (अर्थात् जीवन्मुक्त होकर ब्रह्मानन्द का अनुभव करो)।

एको बार न होइ हैं बाँको। बहुरि जन्म नहिं होइ हैं ताको॥
जाय पाप सुख दीहौं घाना। निश्चय वचन कबीर के माना॥

स्वाराज्ये भवतो ह्यस्मिन् वाल एकोपि वक्रताम्।
न व्रजिष्यति कान्या ते हानिरत्रभविष्यति॥ ७॥
योऽस्मिन् राज्ये सकृद्गच्छेज्जन्म तस्य भवेन्नहि।
भाव्येऽस्मिन् भवचक्रेऽसौ पुनः क्वापि न यास्यति॥ ८॥
भोः साधो सर्वपापानि नशिष्यन्ति क्षणात्तव।
सुखं तुभ्यं तु दास्यामि ह्यनन्तमचलं दृढम्॥ ९॥
इदं मद्वचनंसत्यं तत्त्वेनैवावधार्यताम्।
भवरोगविनाशाय निश्चितं परमौषधम्॥१०॥
"इष्टं[1] दत्तं तपोऽधीतं व्रतानि नियमाश्च ये।
सर्वमेतद्विनाशान्तं ज्ञानस्यान्तो न विद्यते॥११॥
न[2] तपांसि न तीर्थानि न शास्त्राणि जयन्ति च।
संसारसागरोत्तारे सज्जनासेवनं विना"॥१२॥

इस राज्य विलास में आने पर एक बार भी बाँका नहीं होगा। क्योंकि ताको (इस राज्य में आने वाले को) फिर जन्म नहीं होगा। और उसके जन्म के कारण रूप अविद्या मोह कामादि सञ्चित अदृष्टवासना संस्कारादि सब पाप चले जायगें, दुःखादि के हेतु सब ज्ञानाग्नि से नष्ट हो जायगें, इस प्रकार

---

१ म. भा. अश्वमे. ४४।१२। २ योगवा. ४।३३।१४।

से समूल दुःख को नष्ट करके मैं (घाना-निरन्तर अनन्त) सुख दूँगा । इस श्री कबीर साहब के (सद्गुरु सन्त के) वचन को निश्चय करके मानना चाहिये । और जो प्रथम निश्चय करके माना है, उसी के सब पाप नष्ट हो जायगें और उसी को घाना सुख दूँगा इत्यादि ।

साखी—साधु सन्त तेई जना, माना वचन हमार ।
आदि अन्त उतपति प्रलय, देखहु दृष्टि पसार ॥५८॥

साधवस्ते च सन्तस्ते यैरस्माकं वचो मतम् ।
तथा कृत्वा त्वया साधो ! सर्वान्तादि प्रदृश्यताम् ॥१३॥
सर्वस्यैवादिरूपो यः सर्वान्ते यश्चतिष्ठति ।
उत्पत्तिप्रलयौ यस्मात्तं विवेकेन पश्यतु ॥१४॥
"प्रलयोत्पत्तितत्त्वज्ञाः सर्वज्ञाः समदर्शिनः ।
वीतरागा विमुच्यन्ते पुरुषाः सर्वबन्धनैः ॥१५॥
ज्ञानसिद्धया[२] मोक्षसिद्धिः सर्वेषां गुर्वनुग्रहात् ।
मोक्षात्स्वरूपसिद्धिः स्यात्परानन्दं समश्नुते ॥१६॥
गुरोर्वाक्यैः[3] प्रीतो विदितनिखिलाध्यात्मतत्त्वस्य सत्यैः,
सदा सद्ब्रह्मेशप्रभुहितधिया तस्य सेवापरो यः ।
सुखीशान्तो मुक्तो निखिलंभुवनाकार कारागृहात्सः,
महाराजैस्तुल्यो विलसति मुदा द्वन्द्वमुक्तः सुविद्यः ॥१७॥५८॥

इति हनुमदीये रमैनीरसोद्रेके गुरुभक्त्या निर्द्वन्द्वस्वाराज्यलाभ-
वर्णनं नाम सप्तविंशतितमः प्रवाहः ॥ २७ ॥

तेई (वेही) जन साधु (चतुर-कुशल) और सन्त (सज्जन विवेकी भक्त) हैं, कि जिन लोगों ने हमारे (सद्गुरु के) उपनिषदादि रूप वचनों को माना है और स्वाराज्य का लाभ किया है । अतः सब मनुष्य सद्गुरु के वचनों को मानो और विवेक विज्ञान रूप दृष्टि को पसार (फैला बढा) कर, सबके आदि अन्त स्वरूप सर्वाधार सर्वाधिष्ठान सत्य सर्वात्मा को देखो (समझो) और मायामय मिथ्या उत्पत्ति प्रलयादि को समझो, इत्यादि ।

---

१ ब्रह्मपु० ११६ ।६। २ शिवपु० विद्येश्वरसं० १३ । ४६ । ३ छन्द--मेघविस्फूर्जिता ।

अथ वैराग्यार्थोपदेश प्रकरण २८

रमैनी ५९

चढ़त चढ़ावत भँडहर फोरी। मन नहिं जानै के कर चोरी॥
चोरा एक मुसे संसारा। विरला जन कोइ बूझनहारा॥
स्वर्ग पताल भूमि ले बारी। एके राम सकल रखवारी॥

तत्त्वज्ञानं विना यस्तु कल्पिताम्बरलोकयोः।
आरोढुं यतमानः सन्नन्यानारोहयंस्तथा॥ १॥
देहरूपं घटं ह्येतं बम्भजीति कुयोगतः।
मनस्तस्य न जानाति सर्वस्वं हरतीह कः॥ २॥
चोर एकोऽस्ति मोहोऽयं सैवाविद्यादिशब्दभाक्।
आशातृष्णादिरूपेण सएव परिवर्तते॥ ३॥
सैव मुष्णाति सर्वेषां सुखं संसारिणां हितम्।
जानन्ति विरलाः केपि धन्यास्तं हि विवेकिनः॥ ४॥
रक्षकोपि[१] तथैवैको रामो भूमौ च वारिषु।
स्वर्गे पातालखण्डे च सद्यः सर्वत्र सर्वदा॥ ५॥
यस्य विज्ञानभक्तिभ्यां तस्करोऽयं विलीयते।
सद्य एव स सर्वात्मा रामः सर्वस्य रक्षकः॥ ६॥
उक्तराज्यस्य दाता च गुरू रामः स्वयं प्रभुः।
स एव सर्वजगतां रक्षको ज्ञानदानतः॥ ७॥

सद्गुरु की बात को तथा सेवा को नहीं माननेवाले लोकान्तरादि में स्वयं चढते हुए में तथा अन्य को चढाते में (स्वर्गादि के लिये कर्मादि करते-कराते में) शरीररूप भँडहर (घट) को फोडते हैं। अतः कामादियुक्त अशुद्ध उनका मन यह नहीं जानता है कि मूलधन सुख शान्ति की चोरी कौन करता है। और मोह अविवेक रूप एक ही चोर सब संसारी के सब धन को चोराता है और उस चोर को समझने (बूझने) वाला विरला कोई जन होता है। और स्वर्ग पाताल भूमि तथा वारि (जल) ले (पर्यन्त) सब स्थानों में एक ही राम सदा सबका रखवारी (रक्षा करनेवाला) होता है और है ईश्वर देवादि-रूप से भी राम ही रक्षा करता है और ज्ञात होने पर अत्यन्त रक्षा करता है।

---

१ यो देवोऽग्नौ योऽप्सुयो विश्वं भुवनमाविवेश। श्वेता० २।१७॥

मोक्षदेता है और "सएनमविदितो न भुनक्ति । बृ० १।४।१५" अज्ञात अनुपालित रहते इसकी रक्षा नहीं करता है ।

साखी—पाहन ह्वै ह्वै सब गये, बिन भितियन को चित्र ।
जासो कियो मिताइया, सो धन भया न हित्त ॥५९॥

रामस्यास्याऽप्रबोधेन पाषाणघनमूढताम् ।
गृहीत्वैव गताः सर्वे पामरा येऽविवेकिनः ॥ ८ ॥
वशता कामचौरादे र्येषामस्ति न शुद्धता ।
ते पाषाणसमा मूढा ये नाऽऽरूढाः सुवर्त्मसु ॥ ९ ॥
आश्रयेण विना चित्रं कल्पयन्तस्तु ते दिवि ।
कुर्वते मित्रतां यैस्तु धनैस्तानि हितानि नो ॥१०॥
सुखबुद्ध्याऽसुखेनित्यं ह्यभिमानं प्रकुर्वते ।
आत्मनस्त्वहितं सर्वं रक्षकं तद्भवेन्नहि ॥११॥
कुर्वते जन्मने मूढा जायन्ते मरणाय च ।
न ज्ञानाय सुयोगाय तृणानीव न मुक्तये ॥१२॥
आकाशभित्तौ विलिखन् मनोमयं चित्रं विचित्रं धनमानसंयुतः ।
आशादिबद्धश्च जडो गतो ह्यतस्त्राता न कोप्यस्य धनादिकोऽभवत् ॥१३॥५९॥

उस अत्यन्तहितरक्षक राम के भजन निष्कामसत्कर्म उपासना सत्सङ्ग गुरु सेवा आदि से मनुष्य में सच्ची चेतनता आती है, सद्विवेकिता होती है। अतः भजनादि के अभाव से, उक्त राम और चोर के ज्ञान से रहित सब मनुष्य पाहन (पत्थर) के समान जड़ हो हो कर गये, और जाते हैं और बिना भित्तियों के ही शून्य आकाश में अनन्त लोक सम्पत्ति देहादि की कल्पना द्वारा चित्र रचते हैं। उससे प्रेम करते हैं, राम से नहीं। और राम से प्रेम के बिना जिस वर्तमान धनादि से धनादि के लिये किसी अन्य से मिताई (मित्रता) किया सो धनादि इसका हित नहीं हुआ न होता है, किन्तु ज्ञानादि के बिना रागद्वेष वासनादि द्वारा अहित ही धनादि होते हैं। अतः सद्गुरु आदि द्वारा ज्ञान धन उपार्जनीय है। आगे कहा गया है कि "क्षेम कुशल और सही सलामत, कहहु कौन को दीन्हा हो" इत्यादि ॥५९॥

रमैनी ६०

छाड़हु पति छाड़हु लबराई । मन अभिमान छूटि तब जाई ॥

स्वामित्वं सर्ववस्तूनां त्वसत्यबहुभाषणम् ।
वञ्चकत्वं विवदांश्च शरीरेष्वात्मताधियम् ॥१४॥

स्नेहं बन्ध्वादिवृन्देषु द्वेषं चामित्रकादिषु।
त्यज साधो! मुमुक्षा चेद्विद्यते हृदि निश्चला ॥१५॥
तटस्थं स्वामिनं देवमसत्यं गुणकीर्तनम्।
व्यवहारेऽन्यथात्वञ्च त्वं जहीहि हि मत्सरम् ॥१६॥
एतेषां त्यजनादेव ह्यभिमानो नशिष्यति।
मानसे वर्तमानो यो महाशत्रुः शरीरिणाम् ॥१७॥
अभिमानः सुरापानं ह्यभिमानश्च रौरवम्।
अभिमानपरित्यागो मोक्ष उक्तो मनीषिभिः ॥१७॥
"ना[1]ऽत्यक्त्वा सुखमाप्नोति नात्यक्त्वा विन्दते परम्।
नाऽत्यक्त्वा चाभयः शेते त्यक्त्वा सर्वं सुखी भव" ॥१९॥

उक्त अत्यन्त हित रक्षक राम के ज्ञान के लिये, तथा सद्गुरु की प्राप्ति आदि के लिये, अहित स्वरूप धनादिके पति (पतित्व स्वामित्व के अभिमान) को छोड़ दो। तथा सत्य सर्वात्मा एक रामस्वरूपपति की प्राप्ति (अनुभूति) के लिये, अनात्म स्वरूप कल्पित मिथ्या पतियों को छोड़ दो, अनेक देवादि में भिन्न भिन्न ईश्वरत्व बुद्धि को त्याग दो और "आत्मैव देवताः सर्वाः" इत्यादि शास्त्र के अनुसार सभी देवादि को एकराम सच्चिादानन्द स्वरूप समझो। और लबराई (असत्य वचन व्यवहार वञ्चकता) को छोड़ दो, तो भेद भ्रम की निवृत्ति से तथा असत्यभाषणादि जन्य पापों के अभाव से पाप-मूलक अभिमान मन से चले जायगें, अनर्थ का हेतु अभिमान नहीं रहेगा।

जनि लो चोरी भिक्षा खाई। फिरि बिरवा पलुहावन जाई॥
पुनि सम्पति औ पति कहँ धावै। सो बिरवा संसारहि आवै॥

स्तैन्येनाऽनार्यवृत्त्या वा कस्यापीह न किञ्चन।
गृहाणापत्तिकालेऽपि न्याय्यां वृत्तिं समाश्रय ॥२०॥
"यथासम्भवया वृत्त्या लोकशास्त्राविरुद्धया।
सन्तोषतुष्टधीः शान्तो भोगगर्धां परित्यजेत्" ॥२१॥
यस्तु त्यक्त्वैव चौर्यादि भिक्षावृत्त्यापि जीवति।
स जीवो दुःखदग्धोपि पुनर्विस्तारमेति हि ॥२२॥
"यथाप्राप्तार्थसन्तुष्टो यो गर्हितमुपेक्षते।
साधुसङ्गमसच्छास्त्रपरः शीघ्रं स मुच्यते"[2] ॥२३॥

---

१ म० भा० शा० १७६।२२। २ योगवा० ४।६।१६-१७॥

भिक्षावृत्त्यैव बुद्धस्य सर्वानन्दः सदा भवेत् ।
मुखकान्त्यादिना ह्यस्य हृद्यानन्दोऽनुमीयते ॥२४॥
पौनःपुन्येन यो लोके सम्पत्तिं स्वामितादिकम् ।
ध्यायति स पुन र्याति संसारे धनवानपि ॥२५॥

चोरी (अन्याय) से किसी के धनादि जनि (नहीं) लो । किन्तु भिक्षा (न्यायार्जित) अन्नादि को जो खाता (भोगता) है, अपने धनादि को भी ईश्वरार्पित करके उसकी ममता को त्यागकर । फिर मानो ईश्वर से माँगकर जो खाता है सो अभिमान रहित प्राणी प्रथम के शुष्क बुद्धि बलादिवाला होते भी वह विरवा (संसार वन के वृक्ष तुल्य प्राणी) फिर पलुहावन (अपने को पनपाने बढ़ाने) के लिये संसार में जाता है (मोक्ष के लिये संसार में जन्म लेता है) बँधने के लिये नहीं, उसकी वह न्याययुक्त वृत्ति भी उसको पनपाने बढ़ाने के लिये जन्म लेती है और जो कोई उक्त वृत्ति आदि नहीं करके पुनः पुनः (बार-बार) धन की सम्पत्ति (सम्यक् प्राप्ति वृद्धि) को और पति (पतित्व स्वामित्व) तथा मिथ्या पति को ध्यावते (ध्यानादि करते) हैं या धनादि के लिये जैसे-तैसे दौड़ते हैं सो विरवा (जीव) बार-बार संसार में ही आते हैं, संसार वन के वृक्ष बने रहते हैं, मुक्त नहीं होते हैं ।

साखी—झूठ झूठ कै छाड़हू, मिथ्या यह संसार ।
तिहि कारण मैं कहत हूँ, जाते होय उबार[1] ॥६०॥

असत्यमिति निश्चित्यमिथ्याभूतं जगत् त्यज ।
त्यागादेव भवेन्मोक्षस्तव तेन ब्रवीम्यहम् ॥२६॥
"यावत्सर्वं न संत्यक्तं तावदात्मा न लभ्यते ।
सर्ववस्तु परित्यागे शेष आत्मेति कथ्यते"[2] ॥२७॥
आत्माऽयं सच्चिदानन्दो ह्यसङ्गो जन्मवर्जितः ।
एको ब्रह्माद्वयश्चैव सृष्ट्याद्याः खलु मायिनः ॥२८॥
"आविद्यो बन्धजातो विरमति यतो बोधतोऽतो मृषैव ,
आत्मैवैकोऽत्र सत्यस्तदविभजनात्सत्यता चात्र भाति ।

---

१ "दृश्यात्यन्ताऽभावबोधं विना तन्नानुभूयते । कदाचित्केनचिन्नाम स्वबोधोऽन्विष्यतामतः ॥१॥ दृश्यं नास्तीति बोधेन मनसो दृश्यमार्जनम् । सम्पन्नं चेत्तदुत्पन्ना परानिर्वाणनिर्वृतिः ॥२॥ योगवा. १।३।३-५" २ अन्नपूर्णोप. १।४५।

सत्यो ह्येकोऽनुभूतः श्रुतिगुरुवचोऽभ्यासतः सज्जनेन,
भिन्ने सत्ये न मानं किमपि निगमैस्तुल्यमास्तेऽनवद्यम्" ॥२६॥६०॥

इति हनुमदीये रमैनीरसोद्रेके वैराग्यार्थोपदेशवर्णनं
नामाष्टाविंशतितमः प्रवाहः ॥ २८ ॥

उपदेश है कि जन्मादिरूप संसार से रहित मुक्त होने के लिये पतित्वादि के अभिमानादिरूप जन्मादि संसार के हेतुओं को और कनक-कामिनी आदि रूप संसार को झूठ से झूठ = अत्यन्त मिथ्या निश्चय करके इन्हें त्याग दो। क्योंकि यह संसार वस्तुतः मिथ्या (अनिर्वाच्य) है। परन्तु मिथ्या होते भी सदुपदेशादि जन्य ज्ञानादि के बिना इस संसार से उबार (निस्तार-मोक्ष नहीं) होता है, यह संसार दुष्ट स्वप्न के समान अज्ञ के लिये दुःखप्रद बना ही रहता है। इसी कारण से मैं कहता हूँ (सद्गुरु सदा कहते हैं) कि जिसके श्रवणादिजन्य विवेक-विरागादि और ज्ञान-ध्यानादि से मुमुक्षुओं का उबार (मोक्ष) हो॥६०॥

अथ अज्ञानवञ्चनादि प्र० २९

रमैनी ६१

धर्म कथा जो कहते रहई। लाबरि उठी परातहिं कहई॥
लाबरि बिहने लाबरि साँझा। इक लाबरि बसु हृदया माँझा॥
रामहुँ केर मर्म नहिं जाना। लै मति ठानिन वेद पुराना॥
वेदहुँ केर कहल नहिं करई। जरतहिं रहै सुस्त नहिं परई॥

अहो धर्मकथां नित्यं कथयन्तीह ये नराः।
तैरपि स्वाविवेकेन कल्येऽकल्याणमुच्यते॥ १॥
प्रत्यूषे ते समुत्थायाऽसत्यं शंसन्ति मोहतः।
सायं काले ब्रुवन्त्येवं धरन्ति हृदयेऽनृतम्॥ २॥
असत्यस्य तु वासेन हृद्येकस्य हि सर्वदा।
सर्वात्मनोऽस्य रामस्य रहस्यं न विदन्ति ते॥ ३॥
स्वान्ते रामस्य चाज्ञानात् पुराणश्रुतिविश्रुतम्।
आरभन्ते सदा काम्यं कर्म वा मतिविभ्रमम्॥ ४॥
वेदतत्त्वस्य चाज्ञानान्नैव कुर्वन्ति तच्छ्रुतम्।
निष्कामं विमलं कर्म हिंसाशाठ्यादि वर्जितम्॥ ५॥

आत्मनश्चिन्तनं दानं दम्भासत्यादि वर्जनम्।
दह्यन्ते तेन ते शश्वत् सुखायन्ते न कर्हिचित्॥ ६॥

अभिमान को त्यागे बिना सन्तोष, विराग, आत्मज्ञान से रहित जो कोई धर्म की कथाओं को कहते रहते हैं, काम, लोभ, अज्ञानादि वशवर्ती वे भी प्रात ही ऊठकर लाबरी (असत्य कथा) कहते हैं। विहने (प्रातःकालके बाद सूर्योदय के समय) और सन्ध्या के समय भी लाबरी (लबराई की वात) कहते हैं और कोई एक लाबरी सदा उनके हृदय में बसती है। सत्यराम को हृदय में बसाये बिना कोई मिथ्या वस्तु या बात हृदय से निकलती नहीं है और राम को तो हृदय में कैसे बसावें, लाबरी कहनेवाले अभिमानी होते हैं। अतः उन्होंने तो राम को हृदय में बसाने आदि के मर्म को भी नहीं जाना। किन्तु सद्गुरु आदि के बिना अपनी मति के अनुसार वेद-पुराण को लेकर कथा करना ठाना (आरम्भ किया)। अतः वेदार्थ के ज्ञानादि के अभाव से वेद के कहे हुए धर्मों को वे लोग नहीं करते हैं, इस कारण से कामादि अग्नि से जलते रहते हैं, शान्ति सुख स्वस्थता नहीं पाते हैं।

साखी—गुणातीत के गावते, आपुहि गये भ्रमाय।
माटिक तन माटी मिले, पवनहि पवन समाय॥६१॥

वदन्तोऽन्यं[1] गुणातीतं स्वं तथैवाधियन्ति नो।
स्वस्थतां न लभन्ते ते ह्यतिव्याकुलितेन्द्रियाः॥७॥
गुणातीतंहि गायन्तः स्वस्मिन् भ्रान्ता यदाऽभवन्।
मृण्मयोऽयं गतो भूमौ प्राणो वायौ समाविशत्॥८॥
साधिता नानुभूति यैं र्देहेनाऽनेन सुव्रत।
तेषामित्थं हि मानुष्यं व्यर्थमेव गतं गतम्॥९॥
भ्रमन्तो रटन्तो गुणातीतमुच्चै, र्न यावद्विदन्ति स्वकं रूपमाद्यम्।
न तावद्विमुक्ता भवन्तीह जीवा, व्रजन्त्येव भूतेषु मेम्रियमाणाः॥१०॥

---

१ अनुभूतिं विना मूढो वृथा ब्रह्मणि मोदते। प्रतिबिम्बित शाखाग्रफलाऽऽस्वादनमोदवत्। मैत्र्युप० २॥२२" नाममात्रेणसन्तुष्टाः कर्मकाण्डरता नराः। मन्त्रोच्चारणहोमाद्यै र्भ्रामिताः क्रतुविस्तरैः॥१॥ एक भुक्तोपवासाद्यै र्नियमैः कायशोषणैः। मूढा परोक्षमिच्छन्ति मम मायाविमोहिता॥२॥ गरुड पु० ४९।६०-६१" परोक्षवादो वेदोऽयं बालानामनुशासनम्। कर्ममोक्षाय कर्माणि विधत्ते ह्यगदं यथा॥१॥ न चरेद्यस्तु वेदोक्तं स्वयमज्ञोऽजितेन्द्रियः। विकर्मणा ह्यधर्मेण मृत्यो र्मृत्युमुपैति सः। श्रीमद्भा०११।३।४४-४५"

शान्ति नहीं पाने में यह कारण है कि वेद के कहना के नहीं करने से हृदय की अपवित्रता के कारण गुणातीत सर्वात्मा राम के ज्ञान से रहित प्राणी राम से भिन्न किसी अनात्मा को गुणातीत समझ करके उसी गुणातीत के गाने में और उसकी धर्म कथा के करने में अपने को भ्रमाय गये (अपने स्वरूप अपने कर्तव्य को भूल गये) गीता १४ अध्याय में वर्णित गुणातीत अपने को नहीं कर सके और इसी अवस्था में माटी के कार्य स्थूल तन माटी में मिल गये और प्राणवायु महा वायु में समाय गया (लीन हो गया) ब्रह्मात्मा में नहीं लीन हुआ। अतः शान्ति नहीं मिली, जन्मादि संसार बाकी रह गया अब भी गुणातीत को गाना छोड़कर गुणातीत निजात्मा को समझना चाहिये, और गुणातीत होना चाहिये ॥ ६१॥

रमैनी ६२

जो तैं कर्ता वरण विचारा। जन्मत तीन दण्ड अनुसारा ॥

त्वयैव कर्मणां कर्त्रा बहुवर्णा विचारिताः।
जन्मतोऽनुसृता दण्डास्त्वयैवार्णाभिधास्त्रिधा ॥११॥
तापरूपास्तथा दण्डा निर्मितास्तव कर्मभिः।
निरपेक्षो न कश्चिद्धि हेतुरस्ति जगत्कृतौ ॥१२॥
वाग्दण्डोऽथ मनोदण्डः कायदण्डस्तथैव च।
यस्यैते निहिता बुद्धौ त्रिदण्डीति स उच्यते ॥१३॥
इति किं मनुना प्रोक्ता दण्डा दमनलक्षणाः।
जन्मनैव धृता येन जन्मना द्विजता भवेत् ॥१४॥
यदि चैतै विना कश्चिच्छ्रैष्ठ्यमात्मनि मन्यते।
स भ्रान्तो वञ्चयत्यन्यान् कुविचारं करोति च ॥१५॥

जो तुम अपने स्वरूपादि को भूलने वालों ने तटस्थगुणातीत कर्ता का विचार किया, और "चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुण कर्मविभागशः। भ० गी० ४।१३" इत्यादि के अनुसार, गुण कर्म विभाग से या स्वभाविक जन्ममात्र से वर्णों का विचार (स्वीकार) किया. तो क्या जन्म से ही तन, मन और वाक् इन तीनों के दमन (वशीकरण) रूपदण्डों का भी अनुसरण (धारण) कर लिया अर्थात् तन, मन, वाक् के दमन से कोई श्रेष्ठवर्ण होता है, रक्षणादि कर्म से क्षत्रियादि होते हैं, सो जन्ममात्र से नहीं हो सकते हैं। अथवा तुम स्वयं कर्मों का कर्ता होकर, जो वर्णों का विचार किया है और जो जन्मत ही तीन दण्डों का अनुसरण (स्वीकार) किया है कि "जायमानो हवै ब्राह्मण

भ्नि भिऋृणैऋृणवाञ्जायते । तैतिरीय सं०६।३।१०–१५" देव, पितृ, ऋषि ऋण वाले ही, ब्राह्मणादि जन्म लेते हैं, इत्यादि सो स्वीकार भ्रम से किया गया है, क्योंकि कामी गृहस्थ के लिये तीन ऋण श्रुति में कहे गये हैं, जात मात्र के नहीं । तीन तापरूप दण्ड भी भ्रम से होते हैं, देहों के धर्म रूप ताप आत्मा में भ्रम से भासते हैं ।

जन्मत शूद्र मुवे पुनि शूद्रा । कृतम जनेउ डारि जग मूद्रा ॥

प्रत्यक्षं जन्मना सर्वे जायन्ते शूद्रवर्णकाः ।
मृतौ भवति शूद्रत्वं सर्वेषां तच्च दृश्यते ॥१६॥
संस्कारेण तु देहस्य यज्ञसूत्रादिना तथा ।
द्विजत्वं ब्राह्मणत्वं च सदेहस्यैव जायते ॥१७॥
कृत्रिमं चिन्हमात्रं हि यज्ञसूत्रेण सिद्धयति ।
वास्तवं ब्राह्मणत्वं तु तेन नैवोपजायते ॥१८॥
जाते च ब्राह्मणत्वे वै तदृणित्वं श्रुतौ श्रुतम् ।
गर्भाच्च जन्मतो मूढ ऋणित्वं प्रतिभाषते ॥१९॥
कायदण्डादिकं चैवं विचारवति संभवेत् ।
न जाते चार्भके तस्माज्जन्मना नहि विप्रता ॥२०॥
ब्राह्मण्यं कृत्रिमं चैतत्पुण्यलेशेन लभ्यते ।
सांकेतिकं भविष्ये च वणिग्जातिसमं स्मृतम् ॥२१॥

और वह देह भी जन्म के समय शूद्र (संस्कार रहित अशुचि) रहती है । फिर मरने पर सब देह शूद्र हो जाती हैं । मध्यकाल में कृतम (कृत्रिम) जनेउ गले में डालकर, कृत्रिम देह का ही संसार में व्यवहार के लिये मूद्रा (आकार विशेष चिन्ह) किया जाता है । आत्मा और सूक्ष्म देह में न कोई जाति रहती है, न कोइ चिन्ह किया जा सकया है ।

जो तुम ब्राह्मण ब्राह्मणि जाया । और द्वारह्वै काह न आया ॥
जो तुम तुरुक तुरुकिनी जाया । पेट हि काह न सुनत कराया ॥

यदि त्वं जन्मना विप्रो ब्राह्मण्याः सम्मतः सुतः ।
कस्मान्न मुखतो जातः किं शूद्रइव जायसे ॥२२॥
जन्मना यवनश्चेत्त्वं यवन्याः सम्मतः सुतः ।
कृतसुन्नतकः कस्मान्न गर्भात्समजायथाः ॥२३॥
न भवान् ब्राह्मणो नापि यवनः स्त्री पुमान्नहि ।
साक्षिमात्रो भवाञ्छुद्धो विवेके स्त्री तथैवहि ॥२४॥

ब्राह्मण्यं[1] कुल गोत्रे च नामसौन्दर्यजातयः।
स्थूलदेहगता एते स्थूलाद्भिन्नस्य ते नहि ॥२५॥
क्षुत्पिपासाऽऽन्धबाधिर्यं कामक्रोधादयोऽखिलाः।
लिङ्गदेहगता एते ह्यलिङ्गस्य न केचन ॥२६॥
जडत्वप्रियमोदत्वधर्माः कारणदेहगाः।
न सन्ति तव नित्यस्य निर्विकारस्वरूपिणः ॥२७॥

यदि तुम जन्म से ब्राह्मण हो और ब्राह्मणी ने तुझे जाया (जन्माया) है, या ब्राह्मणी तेरी जाया (स्त्री) है तो अन्य की अपेक्षा और (अन्य) द्वार से आप क्यों नहीं आये, सृष्टिकाल में ब्रह्मा के मुख से ब्राह्मण की सृष्टि कही जाती है। अतः मुख से वेदाध्ययनाध्यापनादि द्वारा ब्राह्मण हो सकता है, अन्यथा नहीं। और यदि तुम जन्म से तुरुक हो, और तेरी जाया (स्त्री) तुरुकिनी है या तुरुकिनी तुझे जन्मायी है, तो माता के पेट से ही सुन्नत कराकर क्यों नहीं आये। अर्थात् देह के धर्म भी जाति आदि मिथ्यादेह की अपेक्षा भी अत्यन्त मिथ्या हैं, जन्म के बाद कल्पित होते हैं, गर्भ से सिद्ध होकर नहीं आते हैं। अतः इनके अभिमानादि मुमुक्षु के लिये अत्यन्त त्याज्य हैं।

कारी पिअरी दूहहु गाई। ताकर दूध देहु बिलगाई॥
छाडु कपट नल अधिक सयानी। कहहिं कबिर भजु सारंगपानी॥

कपिला पीतवर्णा वा गौस्त्वया दुह्यतां पयः।
पृथक् तत् क्रियते किं वै शक्यं कर्तुं न तत्तथा ॥२८॥
तथैवात्मा पृथक् कर्तुं विविक्तो नैव शक्यते।
तं जानीहि विवेकेन किं वृथा परिमुह्यसे ॥२९॥
"गवामनेक[2] वर्णनामेकरूपं यथा पयः।
नानाविधानां देहानमेक आत्मा तथेरितः" ॥३०॥
धौर्त्यं संत्यज्यतां सर्वमतिचातुर्य लक्षणम्।
सेव्यतां शुद्ध आत्माऽसौ ज्ञातः पापापनोदकः ॥३१॥
तावत्सत्त्वविशुद्ध्यर्थं शार्ङ्गपाणिं भजादरात्।
आत्मबोधे भवेदैक्यं तेन सर्वात्मना तव ॥३२॥
शुद्धपानीयतुल्यं वा देवदेवं सुनिर्मलम्।
आत्मानं भजसद्भक्त्या निर्वाणपददं ध्रुवम् ॥३३॥

---

१ "आत्म पु० १००६" २ आत्मबोधोपनिषद्।

काली पीली गौ को दूहो और उनके दूध को बिलगा दो (बिलगा देना चाहो) तो भी बिलगा (पृथक) नहीं कर सकते हो। वैसे ही अनेक वर्ण (रङ्ग) के देहो में आत्मा के विवेक करने पर उसमें भेद को नहीं सिद्धकर सकते हो, क्योंकि आत्मामें भेदादि की प्रतीति कपट स्वरूप माया अविद्यादि से होती है, स्वरूप से नहीं। अतः हे मनुष्यों! भेद ज्ञान के हेतु कपटरूप माया को छोड़ो, अधिकसयानी (लौकिक चतुराई वञ्चकता) को छोड़ो और सारंगपानी (शुद्ध सात्त्विक विष्णु देव) को भजो या कपटादि को त्याग कर, शुद्ध दूध जलतुल्य भेद-भेदकोपाधि रहित ब्रह्मात्मा को भजो। क्योंकि "गवामनेकवर्णानां क्षीरस्याप्येकवर्णता। क्षीरवत् पश्यते ज्ञानं लिङ्गिनस्तु गवां यथा। ब्रह्मबिन्दूप०" अनेक वर्णवाली गौओं के दूध में एक वर्णता ही रहती है। उस दूध के समान ज्ञान स्वरूप ब्रह्म समझा जाता है, लिङ्ग (सूक्ष्म) देह वाले व्यावहारिक जीव गौओं के समान समझे जाते हैं।

रमैनी ६३

नाना रूप वरण इक कीन्हा। चारि वरण वे काहु न चीन्हा॥
नष्ट गये करता नहिं चीन्हा। नष्ट गये औरहि मन दीन्हा॥

नानारूपविशिष्टानां देहानां मानवेषु हि।
जातिरेकैव सत्कर्त्रा कृताऽस्ति[१] बहुधा नहि॥३४॥
चातुर्वर्ण्यं कृतं तेन मानमत्र न विद्यते।
नैव वा लक्षणं भिन्नं यथा गोमहिषादिषु॥३५॥
अथवैको ह्यवर्णो यः सुवर्णः शक्तियोगतः।
नानारूपो भवत्यात्मा चतुःखन्यादिरूपतः॥३६॥
केऽपि तं नैव पश्यन्ति पश्यन्ति भेदविभ्रमम्।
गोत्रजात्यादिभि र्भ्रान्ताः क्लिश्यन्ते च कुबुद्धयः॥३७॥
ये कर्तारं विवेकेन नापश्यन् मूढमानवाः।
ते नष्टा यैश्च वान्येषु मनो दत्तं विमोहतः॥३८॥

---

१ चत्वार एकस्य पितुः सुताश्च तेषां सुतानां खलु जातिरेका। एवं प्रजानां हि पितैक एव पित्रैकभावान्नच जातिभेदः॥१॥ गोत्राणि नानाविधजातयश्च भ्रातृस्नुषामैथुनपुत्रभावाः। वैवाहिकं कर्म न वर्णभेदाः सर्वाणि शिल्पानि भवन्ति तेषाम्॥२॥ भविष्यपु० १।४१।४५-४८" "आदौ कृतयुगे वर्णो नृणां हंस इति स्मृतः। श्रीमद्भा० स्क० ११।११।१०"।

जिसका भजन कर्तव्य है, उस कर्ता ने देशादि के भेद से नानारूपवाले मानवशरीरों का एक वर्ण (मनुष्यत्व) किया है। गुण कर्म स्वभावादि के भेद से फिर अनेक वर्ण हो गये हैं। उस कर्ता से चार वर्ण हुए हैं, इस अर्थ में गो-महिषादि के समान कोई भेदक चीन्ह (लक्षण) नहीं है तथा एक वर्णवाला एक कर्ता ने निज शक्तियों से नाना स्वरूप अपना ही किया है "य एकोऽवर्णो बहुधाशक्तियोगात्। श्वेता० ४।१" एकं स्वं बहुधा कुर्याद् बहुरूपं यथा नटः। अनुभूतिप्रकाश० ११।६०"। अतः चार खानि के वे चार वरण उसीके स्वरूप हैं। विवेकादि के बिना उस कर्ता को कोई चीन्हता नहीं है और जो लोग उस कर्ता को नहीं चीन्ह सके सो नष्ट हो गये और जो उससे और (अन्य) ही में मन दिया (मन लगाया) सो अनात्मप्रेमी भी नष्ट हुआ। अतः अनाश के लिये उसको चीन्हना और उसमें ही मन लगाना चाहिये।

नष्ट गये जिन वेद बखाना। वेद पढ़ा पै भेद न जाना॥
विमलख करै नयन नहिं सूझा। भया यान तब कछु नहिं बूझा॥

आचक्षाणा हि वेदान् ये रहस्यं नात्मनो विदुः।
वेदानां पाठमात्रेण ते नष्टा ह्यभिमानिनः॥३९॥
चक्षुषो विमलत्वार्थमञ्जनं क्रियते यदि।
दृष्टिशक्तेरभावेन निष्फलं तद्यथा भवेत्॥४०॥
विवेकादेरभावेन तथैवाध्ययनं श्रुतेः।
निष्फलत्वं समायाति सदा मिथ्याभिमानिनाम्॥४१॥
यदाऽभूद्गमनं तेषां परलोके भयावहे।
पश्चात्तापहतास्तत्र तेऽखिद्यन्त तदा मुहुः॥४२॥
अन्धा[1] इव भ्रमन्तश्च व्यथमानाः कुयोनिषु।
नाऽबुधन् तत्र किञ्चित्ते लोभमोहपराहताः॥४३॥

आत्मा से अन्य में मन लगानेवाले, जिन लोगों ने वेदों का व्याख्यान भी किया तो भी वे नष्ट गये (हुए)। क्योंकि अनात्म प्रेमिता के कारण, उन लोगों ने वेदों को पढ़ा तो भी वेद के भेद (रहस्य-तात्पर्य) को नहीं जाना (वेद

---

१ "आचारहीनं न पुनन्ति वेदा यद्यप्यधीताः सहषड्भिरङ्गैः। छन्दांस्येनं मृत्युकाले त्यजन्ति नीडं शकुन्ता इव जातपक्षाः॥ वसिष्ठस्मृ० अ० ६"
२ "विवेकान्धो हि जात्यन्धः शोच्यः सर्वस्य दुर्मतिः। दिव्यचक्षुर्विवेकात्मा जयत्यखिलवस्तुषु॥ योगवा० २।१४।४१"।

प्रतिपाद्य कर्ता को नहीं समझा)। क्योंकि सर्वथा दर्शन शक्ति से रहित अन्धा यदि विमलख (आँख को विमल करनेवाली सुरमा) का आँख में प्रयोग करता है तो भी उसको नहीं सूझता है। वैसे ही अनात्मप्रेमी सर्वथा अविवेकी को भी वेदादि के पढ़ने पर भी आत्मज्ञान नहीं होता है ऐसे मनुष्यों का जब इस मानव देह से यान (गमन) हुआ और होता है, तब वे लोग कुछ भी नहीं बूझ (समझ) सके, न समझ सकते हैं। अर्थात् विवेकी हरि गुरु भक्त यदि इस जन्म में किसी प्रतिबन्धक वश ज्ञान नहीं पा सका तो प्रतिबन्धक के भोगादि से निवृत्त होने पर वह ज्ञान पाता है। परन्तु विचारादि रहित अविवेकी अनात्मप्रेमी पशु आदि योनियों में प्राप्त होने के कारण कुछ समझ नहीं पाता है। अतः विवेकादि सम्पादनीय हैं।

साखी–नाना नाच नचायके, नाचे नट के वेष।
घट घट अविनाशी वसै, सुनहु तकी तुम शेख ॥६३॥

मनोबुद्ध्यादिकान् सर्वान् बहुधा नर्तयन् सदा।
नृत्यतीव च यः शश्वद्बहुवेषैर्नटो यथा ॥४४॥
देवो[1] नासौ सुरो रक्षो यक्षः किं किन्नरो जनः।
आत्मैवाऽऽद्यविलासिन्या जगन्नाट्यं प्रनृत्यति ॥४५॥
स सर्वेषु शरीरेषु ह्यविनाश्येव वर्तते।
नटन् वै बहुधा वेषैस्तैश्च सर्वैरसङ्गतः ॥४६॥
सर्वस्यापि विनाशेऽपि शिष्यमाणे स्थिरां मतिम्।
कृत्वा त्वं श्रवणं तस्य कुरु शेखतकी सदा ॥४७॥
कल्प्यैर्वेषैर्नटो वै प्रकटितनटनो नैव लास्यादिभिः सः,
आत्मानं तत्स्वरूपं स्मरति हृदि यथा वेषनाशान्न नाशम्।
तद्वत्साक्षिस्वरूपो जनिमृतिविकलो मायया सर्वकारी,
देवो देहादिवेषैः सदितरसकलं बुध्यमानोऽप्यसङ्गः ॥४८॥
श्रवणेनास्य सन्मत्या बन्धान्मुक्तो भवेन्नरः।
अन्यथा न भवेज्जन्मसहस्रान्तेऽपि कश्चन ॥४९॥६३॥

इति हनुमदीये रमैनी रसोद्रेके तत्त्वबोधं विनापरवञ्चनास्वनाशादिवर्णनं नामैकोनत्रिंशत्तमः प्रवाहः ॥ २९ ॥

---

१ योगवा. ५।६१।६२। सर्वभूतान्तरात्मैकः स्वतन्त्रो माययाऽऽवृतः। एकं स्वं बहुधा कुर्याद् बहुरूपो यथा नटः। अनुभूति प्र० ११।६०।

विवेकादि के बिना मरने पर भी सत्यात्मा का ज्ञान नहीं हो सकता है। अतः जीवित अवस्था में ही विवेकादिपूर्वकज्ञान के लिये उपदेश है कि शरीर इन्द्रिय सूर्य चन्द्रादि को नाना नाच नचाय कर, जो सर्वात्मा बुद्धि आदि उपाधि वाला होकर (मानो नट तुल्य वेषों को धरकर) औपाधि रूप से नाचता है (नाचता हुआ प्रतीत होता है) और वस्तुतः वह अचल है। अतः एव अविनाशी स्वरूप से घटघट में बसता है। घटों के नाशादि से उसके नाशादि नहीं होते हैं, हे शेखतकी ! (विवेकियों शेष के जिज्ञासुओं) उस अविनाशी के श्रवणादि करो। विनश्वरदेहादि के अभिमानादिको त्यागो ॥६३॥

अथ दुर्बोधफलादिवर्णन प्र० ३०

रमैनी ६४

काया कञ्चन यतन कराया। बहुत भाँति कै मन पलटाया ॥
जौं सौ बार कहौं समुझाई। तैयो धरा छुआ नहिं जाई ॥

मनोऽनात्मसु दत्त्वैते सर्वेऽहङ्कारिणो नराः।
कायाकाञ्चनकाद्यर्थं प्रयत्नं कुर्वते सदा ॥ १ ॥
पीडयन्ते मनश्चैवं बहुधा भ्रमयन्ति च।
शतशो बोधने सम्यङ् न गृह्णन्ति स्पृशन्ति वा ॥ २ ॥
ग्रहाग्रहं[1] त्यजन्त्येते नैव जातु कथञ्चन।
मुच्यन्तां तु कथं ग्राहाज्जन्ममृत्युमुखाज्जनाः ॥ ३ ॥
किम्वाऽतिबोधनेऽप्यज्ञाः कनकं कामिनीं धनम्[2]।
गृह्णन्ति न विमुञ्चन्ति विमुह्यन्ति च सर्वदा ॥ ४ ॥

उक्त अविनाशी के विवेकादि के बिना मनुष्यों ने काया (देह) और कञ्चनादि द्रव्यों का ही यत्न (उपाय) किया कराया और उसी यत्न में बहुत प्रकार से मन को पलटाया (भरमाया)। ऐसे अविवेकियों के प्रति यदि सैकड़ो बार समुझाकर कहा जाय कि कनकादि को देखकर नहीं भूलो, केवल तन-

---

१ ग्रह उपराग इव य आग्रहस्तम्। २ न तादृशं जगत्यस्मिन् दुःखं नरककोटिषु। यादृशं यावदायुष्कमर्थोपार्जनशासनम्। योगवा० अर्थार्थे यानि कर्माणि करोति कृपणो जनः। तान्येव यदि धर्मार्थे कुर्यात्को दुःखभाग् भवेत्। इतिहाससमुच्चये। आदरेण यथा स्तौति धनवन्तं धनेच्छया। तथा चेद्विश्वकर्तारं को न मुच्येत बन्धनात्। वराहोप० अ० ३।१३।

पोषक नहीं होवो, किन्तु परोपकार भक्ति सद्विचारादि करो। तो इस प्रकार से कहने पर भी अत्यन्त कामियों से यह सदुपदेश हृदय में धरा नहीं जाता है। न छुआ (आचरण में लाया) जाता है। अथवा काया में जो कञ्चन तुल्य दीप्त आत्मा है, उसके ज्ञानादि के लिये सद्गुरु ने मनुष्यों से यत्न (गुरु सेवादि) कराया और इनके मन को बहुत प्रकार से संसार विषयादि से पलटाया (लौटाया)। अर्थात् लौटाने के लिये उपदेश दिया कि "कनक कामिनी देखि के, तू मति भूल सुरङ्ग" "चित चञ्चलता छोड़ दे, माया से मन फेर। जाहि ते सब कुछ भया, ताही काह न हेर॥" इत्यादि। तो भी सबसे उपदेश धरा छुआ नहीं जाता है।

जन के कहे जु जन रहि जाई। नव निद्धी सिद्धी तिन पाई॥
सदा धर्म तिहि हृदया बसई। राम कसौटी कसते रहई॥
जो रे कसावट अन्ते जाई। सो बावर अपने बौराई॥

उक्तौ गुरुजनानां ये तिष्ठन्ति सज्जनाः सदा।
निधयः सिद्धयश्चैतै र्लभ्यन्ते नात्र संशयः॥ ५॥
सद्धर्मो हृदये तेषां वसत्येव स्वभावतः।
विचारनिकषे शश्वत् परीक्षन्तेऽथरामकम्॥ ६॥
कस्यापिनिकषश्चैष रामादन्यत्र याति चेत्।
स स्वयं मुग्धतां प्राप्य प्रमत्त इव धावति॥ ७॥

परन्तु उक्त गुरु जन के कहे (उपदेश) में जो भक्त जन सदा स्थिर रह जाते हैं (कनकादि माया से मन को फेर कर, मन की चञ्चलता के त्याग पूर्वक अविनाशी राम को खोजते हैं) तथा अपने को हरिगुरु के जन (दास) कहते हुए सज्जनता युक्त जो रहते हैं सो नवनिधि और सब सिद्धियों को अनायास ही पाते हैं, अर्थात् ज्ञान द्वारा सब इच्छा से रहित नित्य तृप्त हो जाते हैं। क्योंकि उन गुरु भक्तों के हृदय में सदा धर्म ही बसता है और वे लोग बुद्धि रूप कसौटी (परीक्षासाधन) से सदा सर्वात्माराम को कसते (भजते विचारते) रहते हैं, ऋद्धि सिद्धि आदि को तुच्छ समझते हैं और यदि किसी गुरु भक्त का भी कसावट (विचार ध्यान) राम से अन्ते (अन्यत्र)—ऋद्धि सिद्ध आदि में चला जाता है, तो वह बावर (कुविचारी) अपने अपराध से आप बौराता है।

साखी—ताते फाँसी काल की, करहु आपनी शोच।
सन्त सिधाये सन्त जहँ, मिलि रहु पोंचहिं पोंच॥६४॥

कालपाशोपि तस्माद्धि रामदन्यस्य चिन्तनात् ।
संलग्नो लक्ष्यते लोके ततश्चात्मैव चिन्त्यताम् ॥ ८ ॥
आत्मरामस्यचिन्तार्थं सज्जनास्तत्र यान्ति हि ।
बसन्ति सज्जना यत्र साधवो दीनवत्सलाः ॥ ९ ॥
असज्जनास्तु ये नीचा धूर्ता लोक विडम्बकाः[1] ।
ते निहीनै मिलित्वैव तत्र तिष्ठन्ति सादराः ॥१०॥
अहो मोहस्य माहात्म्यं किमन्यदिह कथ्यताम् ।
स्वयं हि नरके यान्ति स्वयं नाके च निर्वृत्तौ ॥११॥६४॥

ताते (आत्मा राम से अन्य की चिन्ता द्वारा बावरा होने से) काल की फाँसी (बन्धन) जीवों को लगती है और लगी है । अतः अन्य की चिन्ता को छोड़कर, अपने सत्य स्वरूप राम के ही शोच (विचार चिन्तन ध्यान) करो, राम को ही भजो । इस विचारादि के लिये पूर्वकाल के जिज्ञासु सन्त तहाँ सिधाये (पधारे गये) किं जहाँ ज्ञानी सन्त रहते थे, अतः तुम्हे भी यदि जिज्ञासा हो तो अवश्य ज्ञानी सन्तों के शरण में पधारो । घर बैठे ज्ञान की आशा नहीं करो, ज्ञान के लिये सत्सङ्गादि करो । क्योंकि सन्त (जिज्ञासु) भी जहाँ सन्त रहते हैं, वहाँ जाकर सिधाये (सब सिद्धि पाये) और पाते हैं । और सत्सङ्गादि के बिना स्वयं पोंच (नीच असज्जन) पोचों से ही मिलकर रहे और रहते हैं । यदि पोच भी सज्जन का सङ्ग करें तो सज्जन हो सकते हैं । अतः कुसङ्ग के त्यागपूर्वक सत्सङ्ग ही कर्तव्य है । कहा जाय कि पोंच पोंच से मिलकर क्यों रहता है तो कहा जा सकता है कि "जस जिव आप गिलै अस कोई बहुत धर्म सुख हृदया होई" और सन्त सन्त के पास में क्यों जाते हैं, तो "सन्त मिले ये सब मिटे, काल जाल यम चोट । शीष नमावत ढहि परै, सब पापन की पोट ॥१॥" सन्त के मिलने से ये जन्मादिरूप सब संसार मिट जाते हैं, क्योंकि काल के जालरूप कर्म वासनादि ज्ञान से नष्ट हो जाते हैं । अतः यमयातना छूट जाती है और सन्तों के प्रति शिर नमाते ही कामादिरूप पापों की ग्रन्थि छूट जाती है, "सन्त बड़े परमारथी, शीतल उनका अङ्ग । तपत बुझावै अन्य के, दै दै अपनो रङ्ग ॥२॥" "बिनु हरि कृपा मिलहि नहिं सन्ता । सत्सङ्गति संसृति कर अन्ता" इत्यादि । "सम्भाषो दर्शनं स्पर्शः कीर्तनं स्मरणं तथा । पावनानि किलैतानि साधूनामिति शुश्रुमः । इतिहास समुच्चये० अ. २४।५४" ॥६४॥

---

१. विडम्बयन्ति-वञ्चयन्तीति विडम्बकाः, लोकानां विडम्बका इति ।

रमैनी ६५

अपने गुण कहँ अवगुण कहहू। यहि अभाग जो तुम न विचारहू॥
तुम जियरा बहुते दुख पाया। जल बिनु मीन कौन सचु पाया॥

इत्थं स्वस्य विचारेण ज्ञानाभ्यासादियोगतः।
सर्वं संप्राप्यते लोके स्वर्गो मोक्षः सुखानि च॥१२॥
अहो तथापि यूयं तु विचारादीन् गुणान् स्वकान्।
अवगुणत्वेन भाषन्ते दोष बुद्ध्या निरीक्ष्य तान्॥१३॥
इदमेव कुभाग्यश्च वर्तते भवतामिह।
यद्विचारं न कुर्वन्ति सर्वत्रैव शुभावहम्॥१४॥
दुःखानि तु बहून्यत्र विचारेण विना पुरा।
अवाप्नुवन् सदा जीवा मत्स्या नीरं विना यथा॥१५॥
यथा वारि बिना किञ्चित् कापि मत्स्यसुखं नहि।
विचारादि विना तद्वत् प्रमोदो नैव कस्यचित्॥१६॥

हे मनुष्यो! तुम अपने गुण (विवेकविचारादि) को जो अवगुण कहते हो और समझते हो, सायद इसीसे आत्म विचारादि नहीं करते हो, अन्य देव विषयादि की आशा करते हो, उनमें मन लगाते हो, इससे भी जो तुम विचारादि नहीं करने पाते हो, यही तुम्हारा अभाग्य (कुभाग्य) है। दुर्भाग्य का यह चीन्ह है और हे जियरा (जीव!) विचारादि के बिना तुम बहुत दुख पाये हो और आगे भी विचारादि के बिना सुख नहीं पासकते हो। क्योंकि जल के बिना मछली कहाँ कौन सुख पाती है, तैसेही विचारादि द्वारा आत्मलाभ के बिना संसार समुद्रके मीन तुल्य किसने कौन कहाँ सुख पाया। क्योंकि "यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति छा० ७।२।२४" जो भूमा (विभु ब्रह्म) है सोई सुख स्वरूप है, अल्प (परिच्छिन्न) किसी वस्तु में सुख नहीं है।

चातक जल हल आसहि पासा। स्वाँग धरे भवसागर आसा॥
चातक जल हल भरल जु पासा। मेघ न बरसै चलै उदासा॥

चातकस्य समीपेऽपि स्वमृतं विद्यते यदि।
मेघादर्थयते तोयं तथा सर्वेऽविचारिणः॥१७॥

---

१ अभ्यासवैरागयुतादाक्रान्तेन्द्रियपन्नगात्। नात्मनः प्राप्यते यत्तत् प्राप्यते न जगत्त्रयात्॥ योगवा. ५।४३।१८" आत्मनो गुरुरात्मैव पुरुषस्य विशेषतः। यत्प्रत्यक्षानुमानाभ्यां श्रेयोऽसावनुविन्दते। "श्रीमद्भा. स्क० ११।७।२०"

समीपस्थं च गम्भीरमात्मानन्दं महोदधिम् ।
उत्सृज्यैव तु देवेभ्यो याचन्ते विषयादिकम् ॥१८॥
बहुवेषान् विधायापि धृत्वा देहमनुत्तमम् ।
विचारेण विना चैते ह्याशां कुर्वन्ति जागतीम् ॥१९॥
चातकस्य समीपे चेज्जलपूर्णं सरोवरम् ।
विद्यते वृष्ट्यभावेन सोदासीनो विकम्पते ॥२०॥
तथा पूर्णेनिजानन्दे विषयाऽलाभतो जनाः ।
खिन्ना धावन्ति संसारे मन्यन्ते न निजं सुखम् ॥२१॥

जैसे चातक के आसपास (अति निकट) में जल हल (था) तो भी वह मेघ से जल चाहता था, और चाहता है, वैसे आनन्दस्वरूप राम के अत्यन्त निकट में रहते, विचारादि के बिना मनुष्य आनन्द की प्राप्ति के लिये भक्त विरक्तादि के वेषों स्वाँगों का धारण करता है और स्वाँगों का धारण करके भी संसार के पदार्थों की ही आशा करता है, देव राजा आदि से सुख सम्पत्ति चाहता है, आनन्द घन राम को नहीं भजता है। और चातक के पास में यदि जल भरल (भरा हुआ) तालावादि में हल (था), तो भी यदि मेघ नहीं बरसता हो, तो वह उदास (अप्रसन्न) होकर चलता फिरता है, वैसे ही आनन्दस्वरूप के हृदयादि में पूर्ण रहते भी अज्ञ प्राणी आनन्द के बिना उदास दुःखी होकर संसार में भटकता है। "यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति। यो वै भूमा तदमृतमथयदल्पं तन्मर्त्यम् ॥ छा० ७।२३।२४" सर्वात्मा जो ब्रह्म है, सोई सुख स्वरूप है, अल्प (परिच्छिन्न) वस्तु में सुख नहीं है, और ब्रह्म ही अविनाशी है, अन्य मरणशील है।

राम नाम इहै निज सारू। औरो झूठ सकल संसारू ॥
हरि उतङ्ग तुम जाति पतङ्गा। यमघर कियहु जीव को सङ्गा ॥

निजानन्दस्वरूपोऽयं रामः सारो जगत्त्रये ।
अन्यः सर्वोऽपि संसारो मिथ्यैवेति विनिश्चयः ॥२२॥
यदिदं[1] मनसा वाचाचक्षुर्भ्यां श्रवणादिभिः ।
नश्वरं गृह्यमाणं तद्विद्धि मायामनोमयम् ॥२३॥
निजात्मैव हरिः साक्षात्सर्वेभ्य उत्तमो महान् ।
अविनाशी च तं त्यक्त्वा जातोऽसि त्वं पतङ्गवत्[2] ॥२४॥

---

१ "श्री मद् भा० स्क ११।७।७" २ योषिद्धिरण्याऽऽभरणाम्बरादिद्रव्येषु

पतङ्गेन समोभूत्वा स्वयमेव यमालये।
संसारे स्वात्मनः सङ्गं सदा त्वं कृतवानसि ॥२५॥
मायाहरणशीला वा सेयमग्निशिखासमा।
वर्तते तत्र मोहेन स्वात्मानं हुतवानसि ॥२६॥

जिस आनन्द स्वरूप को अनात्मा मानकर सब मनुष्य अन्यत्र खोजते हैं, वह राम नाम वाला इहै (यह प्रत्यक्ष) सर्वसाक्षी निज सार (सत्य) स्वरूप है। और उससे औरो (अन्य = भिन्न) सब संसार झूठ (मिथ्या = अनिर्वाच्य = मायामय) है। और वह सर्वात्मारूप हरि अत्यन्त उतंग (महान्) है सो तेरा सत्यस्वरूप आत्मा है। परन्तु इस निज स्वरूप के ज्ञान विचारादि के बिना पतङ्ग जाति तुल्य तुच्छ हुए हो, वहाँ तक पहुँच नहीं पाते हो। अतः यम के घररूप संसार शरीर में अपने जीवात्मा का संग (सम्बन्ध = आसक्ति= अभिमान) किये हो। अथवा हरि (चित्त को हरने वाली) माया, उतङ्ग (उच्च) अग्नि शिखा तुल्य है, और मोहादि से अग्नि में पड़ने वाले पतङ्ग जाति के समान तुम अज्ञ मनुष्य हो। अतः यम घर में अनेको बार अपने जीवात्मा का संग किये हो, और करते हो।

किञ्चित है स्वप्ने निधि पाई। हिय न माय कहँ धरहु छिपाई ॥
हिय न समाय छोड़ु नहिं पारा। झूठ लोभ तैं कछु न विचारा ॥

स्वल्पमर्थादिकं सर्वं प्राप्तं स्वप्ननिधिर्यथा।
हृदये नैव मात्येतत् कुत्राऽऽच्छाद्य धरिष्यसि ॥२७॥
हृदि धार्य्यं हि मोहेन मन्यसे तत्स्वभावतः।
हृदये नैव मात्येवं नाशेन तव दुःख कृत् ॥२८॥
हृदये नैव संमाति त्वया त्यक्तुं न शक्यते।
अनुगामितया तस्य मिथ्यालोभान्न मुच्यसे ॥२९॥
लोभग्रस्तो न कश्चित्त्वं सद्विचारं करोषि चेत्।
मायाग्नेः कालपाशाच्च कथं मुक्तो भविष्यसि ॥३०॥

उक्त रीति से यम घर में संग अभिमानादि करके तुम ने जिस निधि (सम्पत्ति) को पाई है, सो स्वप्न की निधि के समान है, सत्य नहीं है और किञ्चित तुच्छ है और विनश्वर है "यदल्पं तन्मर्त्यम्। छा० ७।२३।२" यो अल्प होता है, सो मरण शील होता है तथापि तुम उस तुच्छ को ही बहुत

-मायारचितेषु मूढः। प्रलोभितात्मा ह्युपभोगबुद्ध्या पतङ्गवन्नश्यति नष्टदृष्टिः ॥१॥-श्रीमद् भा० स्क. ११।८।८"

यत्न से छिपा कर रखना चाहते हो, तुम उसको हृदय में भी रखना चाहते हो, परन्तु वह तेरे हृदय में समाती अटती नहीं है तो अन्यत्र कहाँ छिपा कर धरोगे कि जहाँ तस्करादि की किसी प्रकार से गति नहीं हो सके। तुम उसको हृदय में धरने योग्य मानते हो। परन्तु वह हृदय में समाती नहीं है, न तुम उस के पारा (पाछा=तत्परता) को छोड़ सकते हो, न छोडने में पारपाते = समर्थ होते हो। अतः उस झूठी वस्तु के लोभ के कारण तुमने कुछ भी सत्य का विचार नहीं किया, न करते हो। अब भी असत्य की आशा आदि को त्यागो तो सत्य का विचार कर सकते हो।

सुमृति कीन्ह आपुहि नहि माना। तरुवर तर छागर ह्वै जाना॥
जिव दुर्मति डोलै संसारा। ते नहिं सूझै वार न पारा॥

अन्यांश्च स्मृतवांस्त्वं हि स्वात्मानं मन्यसे स्म न।
लोभेन त्वाशया बद्धः कथं दुःखाद्विमोक्ष्यसे॥३१॥

संसारवनवृक्षाधश्छागो भूत्वा गमिष्यसि।
मृत्युस्ते वर्तते पार्श्वे तं न जातु प्रपश्यसि॥३२॥

न्यस्तं मूर्ध्नि मुदा छागो बलिभूतोऽक्षतं यथा।
अत्त्येवं विषयान् मर्त्यो मृत्युं तद्वन्न पश्यति॥३३॥

दुर्मत्या सकलो जीवो विषयाभोगलालसः।
भवाटव्यां भ्रमत्यातो ह्यस्य पारं न पश्यति॥३४॥

आशां कुबुद्धिं मनुजो विहाय यो, रामं भजेत्तं हृदि यो विराजते।
नासौ पुनर्भ्राम्यति मोदते सदा, लब्ध्वात्र रामं विमलं परात्परम्॥३५॥

सत्यात्मा के विचारादि नहीं करने से तुमने अनात्मपदार्थ सम्पत्ति लोक देवादि की स्मृति (स्मरण ध्यानादि) की। किन्तु आपुहि (अपने आत्माराम) को नहीं माना। (आत्मा के श्रवण मननध्यानादि नहीं किया)। अतः तरुवरतर (वृक्ष के नीचे) में छागर (बलि पशु बकरा) के समान होकर तुम्हे जाना होगा)। अर्थात् पिप्पलादि के वृक्षतर देवी दुर्गा के स्थान के पास में अक्षत, दूब, चावलादि खाता हुआ बकरा जैसे मनुष्य से मारा जाता है, तैसे मानव तन में तुम भोगों को भोगते में कालादि से मारे जावोगे। क्योंकि सब दुर्बुद्धि जीव इसी प्रकार भोग-परायण लोभ-मोहादि के वश में होकर संसार में डोलता है, बार-बार आता-जाता जन्मता-मरता है और ते लोभादि और भोग-परायणता के कारण संसार के वार-पार इसको नहीं सूझता है।

साखी—अन्ध भया सब डोलये, कोइ न करै विचार ।
कहा हमार मानै नहिं, किमि छूटै भ्रमजार ॥६५॥

अज्ञानान्धो नरो भूत्वा सर्वो भ्रमति सर्वदा ।
न करोति विचारं च कोपि सत्यात्मनः शुभम् ॥३६॥
सद्गुरोरूपदेशं यो मन्यते नैव चान्ततः ।
भ्रमजालं कथं मुञ्चेत् कथं वाऽयं सुखी भवेत् ॥३७॥
आत्मैवाऽस्त्यत्मनोवन्धुः सद्विचारादि संयुतः ।
विचारादिं विना स्वस्य स्वयं शत्रुर्भवत्ययम् ॥३८॥
स्वविचाराद्गुरो र्वाक्याज्ज्ञात्वाऽऽत्मानं शिवं सुखम् ।
भ्रमाद्विमुच्यते जीवः सर्वस्माच्चात्र बन्धनात् ॥३९॥
अभ्यासेन विरागेण युतात् स्वमनसो गुरोः ।
दान्तो यन्नेह लभ्येत तन्न लभ्यं हि कुत्र चित् ॥४०॥६५॥

इति हनुमदीयेरमैनीरसोद्रेकेदुर्बोधफलादिवर्णनं नामत्रिंशत्तमः प्रवाहः३०

आशा काम-लोभादिवश अविवेकान्ध कामान्ध होकर सब जीव डोलते (भटकते) हैं। भयभीत होकर काँपते हैं, इस अवस्था में भी भयादि से रहित होने के लिये कोई स्वयं विचार नहीं करते हैं, न हमार (सद्गुरु का) कहा (उपदेश) को मानते हैं तो भ्रमरूप जाल (बन्धन) या भ्रम का जाल (विस्तार) कैसे छूटे। विचार और सदुपदेश ही बन्धनों की निवृत्ति के मुख्य साधन हैं, अन्य नहीं। प्रथम भी कहा है कि 'कहु दुइ भाँति कैसे निस्तरई' इत्यादि ॥६५॥

अथ सद्गुरुसाधुशिष्यप्रदर्शन प्र० ३१

रमैनी ६६

सोइ हित बन्धु मोहि मन भावै। जात कुमारग मारग लावै ॥
सो सयान मारग रहि जाई। करै खोज कबहूँ न भुलाई ॥

हितः सैव च बन्धुश्च भाति मे हृदये सदा ।
कुमार्गे गच्छतो यो वै मार्गे प्रापयति ध्रुवे ॥ १ ॥
"गुरुर्माता पिता वापि गुरुर्देव उदाहृतः ।
गुरुर्बन्धुः सखा तद्वन्न गुरोरपरः सुहृत्" ॥ २ ॥
"अज्ञानां चैव यो ज्ञानं दद्याद्धर्मोपदेशतः ।
कृत्स्नां वा पृथिवीं दद्यात्तेन तुल्यं न तत्फलम्" ॥ ३ ॥

स एव चतुरः शिष्यः सन्मार्गे यः स्थिरो भवेत् ।
गुरुभिः कथिते सम्यक् सत्सङ्गाद्यै विंमार्गयन् ॥ ४ ॥
अन्वेषते हिं सन्मार्गं सत्तत्त्वं यो निरन्तरम् ।
न विस्मरति तल्लब्ध्वा स मार्गान्तं निगच्छति ॥ ५ ॥

अविवेकान्ध होकर जो भटकते हैं, उनके लिये सोई हित और बन्धु मेरे मन में भाते (भासते) प्रतीत होते हैं कि जो परोपकारी सद्गुरु विवेकादि के बिना कुमार्ग में जाते हुए को निजोपदेश द्वारा सुमार्ग में लाते हैं। हिंसादि छोड़ाकर अहिंसकादि बनाते हैं, अनात्मा से विमुख करके आत्मसम्मुख करते हैं। वही सयान (चतुर शिष्य) है कि जो सद्गुरु शतशास्त्र से ज्ञात सतमार्ग में ही रह जाता है। कामादिवश सतमार्ग से कभी विचलित नहीं होता है और कहीं संशयादि होने पर जो सत्सङ्गविचारादि द्वारा सदा सन्मार्ग सद्वस्तु का ही खोज करता है और प्राप्त ज्ञात सतमार्ग सत् वस्तु को जो कभी भूलता नहीं है, चिन्तन अभ्यास से विवेक विज्ञानादि को दृढ़ किये रहता है।

झूठा सुत है ताको तजई। गुरु की दया राम ते भजई ॥

साधूनां यो हिते मार्गे मनोयोगेन गच्छति ।
गुरुभिः कथिते नित्यं मिथ्या त्यक्त्वा सुतादिकम् ॥ ६ ॥
ईश्वराद्याचते यस्तु सद्गुरूणां कृपां न तु ।
अन्यत् किमपि लोकेऽस्मिन् स प्राज्ञो बुधसम्मतः ॥ ७ ॥
"अमान्यमत्सरो[1] दक्षो निर्ममो दृढसौहृदः ।
असत्वरोऽर्थजिज्ञासुरनसूयुरमोघवाक्" ॥ ८ ॥
एवं प्रायोगुणः शिष्यः सत्वरं भवसागरम् ।
तरत्येव न संदेहः सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥ ९ ॥
अथवाऽन्विष्य सन्मार्गमनृतं स्वसुतादिकम् ।
जहाति भजते रामाच्छ्रेष्ठां यो वै गुरोर्दयाम् ॥१०॥
यद्वा यो रमणे हेतो रामान्मायादिलक्षणात् ।
प्रापसर्पति सद्युक्त्या स ज्ञानी कुशलो भवेत् ॥११॥

और जो (पुत्रादि) संसार की वस्तु हैं, उनके मोहममतादि को जो त्यागता है, इनके मोहादि वश सन्मार्ग गुरुपद से जो विचलित नहीं होता है, सो सयान शिष्य होता है और राम (ईश्वर) से भी जो गुरु की दया

---

१ श्रीमद्भा. स्क. ११ । १० । ७ ॥

को भजता है (ईश्वर के भजन द्वारा गुरु की दया ही चाहता है) अन्य वस्तु नहीं, सो स्यान शिष्य है। तथा राम से भी अधिक हितकर मोक्षप्रद गुरु की दयारूप सन्मार्ग का जो भजन (सेवन) करता है और सांसारिक रमण के हेतु रूप मायात्मक राम से जो भजता (भागता) माया से भाग कर आत्मनिष्ठ सन्मार्गगामी गुरु ईश्वर का भक्त ज्ञानी होता है, सो सयान शिष्य है।

किञ्चित है एक ते भुलाना । धन सुत देखि भया अभिमाना ॥

तुच्छा ये मानवास्ते तु तुच्छया माययैकया ।
भ्रान्ता सुतं धनं दृष्ट्वाऽभिमानं तेषु जायते ॥१२॥
आवाच्यः स्वप्रकाशो वा चेतनो विस्मृतो हि यैः ।
तेषां धनं सुतं दृष्ट्वा ह्यभिमानजनि र्भवेत् ॥१३॥
"अपुत्रस्य[१] न लोकोऽस्तीत्यादि कामुककीर्तनम् ।
मातरं वा स्वसारं वा ते यान्तीति यतोऽवदत्" ॥१४॥
संसार कान्तारविरक्तबुद्धेरुद्विग्नचित्तस्य मृषात्मभावात् ।
गर्वस्य लेशोपि भवेन्न जातु सतां सदोपासनतत्परस्य ॥१५॥

जो किञ्चित (तुच्छ अविवेकी) हैं ते (वे लोग) सन्मार्ग और आत्माराम को भुले रहते हैं और उन्हें अनेक धनपुत्रादि को देखकर अभिमान हुआ और होता है। अथवा गुरु दया और आत्मलाभ से अन्य धनपुत्रादि किञ्चित् हैं और उनके ही मोहममतादि से एक सत्यात्मा भूला है। क्योंकि धनपुत्रादि को देखकर जीवों को अभिमान हुआ है और होता है और निरभिमानी श्रद्धाभक्ति तत्परता आदिपूर्वक ज्ञान पाकर सुखशान्ति पाता है, अन्य नहीं।

साखी—[२]दिया खता न किया पयाना, मन्दर भया उजार ।
मरे गये तेइ मरी गये, बाँचे बाँचनिहार ॥६६॥

न तै र्दत्तं न वा भुक्तं यथायोग्यं कुबुद्धिभिः ।
तावत्तेषां शरीराणि व्यनशन्नभिमानिनाम् ॥१६॥
ते च मृत्वा गतास्त्यक्त्वा सर्वमेव धनादिकम् ।
अतस्तज्जीवतां सर्वं परिशिष्टं धनं ह्यभूत् ॥१७॥

---

१ आत्मपु० अ० १० । २२६ । "नापुत्रस्य लोकोऽस्तीति तत्सर्वे पशवो विदुः । तस्मात् पुत्रो मातरं स्वसारं वाऽधिरोहति ॥१॥ ऐतरेय ब्रा० ४।१" ।

२ इस साखी का दोही छन्द है, और "विषमनि पन्द्रा साजो कला, सम शिव दोही मूल" यह दोही का लक्षण है, शिव = ग्यारह कला (मात्रा) ॥

वारुणीपानमत्तै हिं कश्चित्किञ्चित्प्रबुध्यते।
ऐश्वर्यमदमत्तास्तु नाबुधंस्तत्त्वमण्वपि ॥१८॥
दानं यथाशक्ति मनः सुसंयतं वृत्तं यदीयं परशान्तिकारकम्।
व्यपेतभीरामयदोषवर्जितो यस्तस्यमानुष्यमतीव शोभते ॥१९॥

इति हनुमदीयेरमैनोरसोद्रेके सद्गुरुसच्छिष्यवर्णनं त्रिंशतमः प्रवाहः ३१

धनादि के अभिमानी विचारादि रहित मनुष्य किसी सत्पात्र दीन बुभुक्षु आदि के प्रति धन का दान नहीं दिया (दान नहीं किया) न यथा योग्य खता (खाता=भोगता) है (उचित रीति से खाया खिलाया भी नहीं) और इस देह से पयाना (यात्रा) कर दिया (मर गया) फिर नेह (स्नेह) का बना हुआ मन्दर (देह) उजार (शून्य) भया (हो गया) इस प्रकार से दान पुण्यादि रहित रहकर जो मरे, और गये, वे कुछ लिये किये बिना मरकर गये। क्योंकि बाँचे हुए धनादि बाँचनिहार (जीवित रहने वालों) के हो गये। दानादि किये होते तो धर्म साथ जाता, धनादि साथ नहीं जा सके। अतः दान त्याग धर्म अवश्य कर्तव्य है। "दानं भोगो नाशस्तिस्रो गतयो भवन्ति वित्तस्य। यो न ददाति न भुंक्ते तस्य तृतीया गति र्भवति। १" सतपात्र के प्रतिदान, उचित विहित भोग और नाश, धन की ये तीन प्रकार की गति (अवस्था=फल) होती है। तहाँ जो दान और भोग नहीं करता है, उसके वित्त (धन) की तृतीय (नाश) रूप गति (दशा) होती है ॥१॥ और "कलि में दान प्रधान है, धर्म सन्तजन जान। करियदान अभिमान तजि, पाइय भक्ति सुज्ञान ॥ १ ॥" ॥६६॥

अथाभक्तानर्थ भक्त मुक्ति वर्णन प्र० ३२

रमैनी ६७

देह हलाय भक्ति न होई। स्वाँग धरे नर बहुविध जोई ॥
धींगा धींगी भलो न माना। जो काहु मोहि हृदय न जाना ॥
मुख कछु और हृदय कछु आना। स्वप्नेहुँ काहु मोहि नहिं जाना ॥
ते दुख पावै यहि संसारा। जो चेतै तो होय उबारा ॥
जो नर गुरु की निन्दा करई। शूकर श्वान जन्म सो धरई ॥

देहपञ्जरकार्श्येन भक्ति र्जातु न सिद्ध्यति।
यदि कश्चिदनेकान् वा वेषान् धत्ते ततो न हि ॥ १ ॥

नग्नत्वं न शुभं कश्चिन्मन्यते वै विवेकवान् ।
यतो यावन्न मां कश्चिद्गुरुमात्मानमेव वा ॥ २ ॥
हृदये नावगच्छेद्धि तावद्भक्ति र्न विद्यता ।
कुतो मुक्तिः कुतः सौख्यं संसारस्तावदायतः ॥ ३ ॥
यावद् भवेन्मुखे ह्यन्यो हृदिं त्वन्यो विराजते ।
तावत्कश्चिन्न मामत्र स्वप्नेऽपि परिपश्यति ॥ ४ ॥
मत्स्वरूपस्य चाज्ञानात् स संसारे सदा नरः ।
दुःखमाप्नोति सर्वत्र चेज्जानाति विमुच्यते ॥ ५ ॥
यः करोति गुरोर्निन्दां स भवत्यत्र शूकरः ।
प्रेत्य श्वा वा भवत्येव निन्दको नात्र संशयः ॥ ६ ॥

निरभिमानितापूर्वक यज्ञ अध्ययन, दान, तप आदि द्वारा संशोधित हृदय से श्रद्धादिपूर्वक, सद्गुरु ईश्वर सर्वात्माराम के सेवन, श्रवन ध्यान ज्ञानादि भक्ति कही जाती है। सो स्वर्ग सुख मोक्ष का साधन होती है, किन्तु उचित भोग भोजनादि के त्याग द्वारा देह के हलाये (कृश करने) से भक्ति नहीं होती है, भोजनादि रहित अशान्त चित्त से स्मरण भजनादि नहीं हो सकते है, अतः कहा गया है कि "कबीर कुतिया राम की, करै भजन में भङ्ग । ताको ठुकड़ा डारिके, तब करिये सतसङ्ग ॥ १ ॥ देह हलाय पञ्चर करै, धरै रैन दिन ध्यान । तदपि मिटै नहिं वासना, बिना विचारे ज्ञान ॥२॥" इसी प्रकार यदि कोई बहुत प्रकार के वेषरूप स्वाँग का धारण करे, तो उससे भी भक्ति मुक्ति नहीं होती है, क्योंकि नट भी बहुत प्रकार के वेष बना लेता है, परन्तु भक्त नहीं कहा जाता है। और धींगा धींगी (नग्न) रहना भला नहीं माना गया है, इसको तामस वेष माना गया है। और जो काहु (जो कोई) मोहि (सद्गुरु सर्वात्मा को) हृदय में हृदय से (मन से) नहीं जाना, तो उससे भक्ति नहीं हो सकती है, और उसके धींगा धींगी (वस्त्ररहितता) व्यर्थ है, भला नहीं माना जा सकता है। जिसके मुख में कुछ और वचन रहता है। और हृदय (मन) में उससे अन्य ही कुछ निश्चय रहता है, सो असत्यभाषी कपटी मनुष्य मुझे सद्गुरु सत्यात्मा को स्वप्न में भी नहीं जाना (पहचाना) है। न पहचान सकता है। शोधित हृदय वाला सत्यवक्ता ही सद्गुरु सत्यात्मा को जान सकता है, अन्य नहीं। और पहचान रहित ते (वे) ही प्राणी अज्ञानादि से संसार में दुःख पाते हैं। परन्तु वे प्राणी अब भी जो (यदि) चेतैं (कपटादि को त्याग कर, सद्गुरु आदि को पहचानै) तो उनका भी

दुःख से उबार होता है। सब दुःख का मूलकारण अज्ञान है, अज्ञान की निवृत्ति से सबको कल्याण होता है। और जो चेतने (समझने) के बिना सद्गुरु सत्पुरुष की निन्दा करता है, सो शूकर श्वानादि योनियों में जन्म पाता है। शूकरादि जन्म (शरीर) का धारण करता है। क्योंकि–"परिवादात् खरो भवति श्वा वै भवति निन्दकः। परिभोक्ता कृमिर्भवति कीटो भवति मत्सरी ॥ मनुस्मृ० अ. २।२०२" गुरु के परिवाद (दोष कथन) से गदहा होता है, गुरुनिन्दक कुत्ता होता है। अन्याय से गुरुधन का भोक्ता कृमि होता है, और मत्सरी (गुरु के शुभ के द्वेषी) कीट होता है।

साखी–लख चौरासी जीव योनि महँ, भटकि भटकि दुख पाव ॥
कहहिं कबिर जो रामहि जानै, सो मोहि नीके भाव ॥६७॥

वेदाऽष्ट लक्षयोनौ[1] हि भ्रान्त्वा भ्रान्त्वा स पामरः।
निन्दया दुःखमाप्नोति परिवादात्तथैव च ॥ ७ ॥
यस्तु तं सद्गुरुं सत्यं राममेव[2] प्रपश्यति।
सर्वश्रेष्ठः स मे भाति शिष्यो ज्ञानाधिकारवान् ॥ ८ ॥
एवं श्री सद्गुरुः प्राह कबीरो जगतां हितम्।
सेव्यतां स गुरुर्नित्यो रामरूपो निरञ्जनः ॥ ९ ॥
धर्मेऽनुरागो गुरुपादसेवनं दानं विचारः समताऽऽत्मचिन्तनम्।
वैराग्यमच्छं भयशोकवर्जनं सङ्गः सतां यस्य स भक्त सत्तमः ॥१०॥६७॥

गुरुनिन्दक अचेत जीव चौरासी लाख योनियों में भटक भटक कर दुःख पाते हैं। तहाँ श्रीकबीर साहब कहते हैं कि जो विवेकी गुरु भक्त सद्गुरु को

---

१ एक विंशति लक्षाणि ह्यण्डजाः परिकीर्तिताः। स्वेदजाश्च तथा प्रोक्ता उद्भिजाश्चक्रमेण तु। गरुड पु० प्रे० १२।३" स्थावरं विंशतिर्लक्षं जलजं नव लक्षकम्। कृमिश्च रुद्रलक्षं वै दशलक्षं च पक्षिणः ॥ १ ॥ त्रिंशल्लक्षं पशूनां च चतुर्लक्षं च वानराः। ततो मनुष्यतां प्राप्य ततः कर्माणि साधयेत् ॥२॥ यथा मालाशिरोभागोल्लङ्घनात्पुनरुद्भ्रमः। तथैव नरदेहस्य वियोगाद्योनिसंभ्रमः ॥३॥ इति क्वचित्। जलजा नवलक्षाणि स्थावरा लक्षविंशतिः। कृमयो रुद्रलक्षाणि दश लक्षाणि पक्षिणः ॥१॥ पशवो विंशलक्षाणि चतुर्लक्षाणि मानवाः ॥२॥ इति क्वचित्। अत्र मानवेषु वानराणां ग्रहणं प्रतिभाति। २ "अन्यदुःखेन योदुःखी योऽन्यहर्षेण हर्षितः। स एव जगतामीशो नर रूपधरो हरिः ॥१॥ नारदीय पु. अ० ७।६६"

सच्चिदानन्द राम ही जानता है सो मोहि (मुझे) नीके (सुन्दर सत्पात्र) भावता (भासता) है। सत्यात्मा प्रतीत होता है, वह ज्ञान मोक्ष का अधिकारी है ॥६७॥

रमैनी ६८

ताहि वियोगे भयो अनाथा। परेउ कुञ्ज बन पाव न पन्था ॥
वेद नकल है जो कोइ जानै। जो समझै तो भलो जु मानै ॥

तस्य गुरोर्वियोगेन प्राप्त्यभावेन वस्तुनः।
अनाथोऽसि सदा दुःखी सकुञ्जवनसन्निभे ॥११॥
दुःखपूर्णे हि संसारे शोकमोहादिसंकुले।
अविद्यादिलतायुक्ते लोकादितरुसंयुते ॥१२॥
तस्मान्निष्क्रमणार्थश्च मार्गो न लभ्यते त्वया।
उपदेशं विना तेन ह्यत्रैव भ्रमते भवान् ॥१३॥
वनस्यास्यैव वेदोऽपि प्रतिमा विद्यते खलु।
आनन्त्येन च गम्भीर्याद्बहुशाखाप्रभेदतः ॥१४॥
कामाधिकारिभेदाच्च देशकालादिभेदतः।
तं यो वेत्ति विवेकेन शुभमेव स मन्यते ॥१५॥
गुरुं विना न तच्छक्यं वेदस्यापि विवेचनम्।
अतः सर्वप्रयत्नेनाऽऽश्रयितव्यः सदा गुरुः ॥१६॥

ताहि (उस) सद्गुरु के वियोग (अप्राप्ति) से ही यह जीव अनाथ (रक्षक स्वामिरहित) भया (हुआ) है और कुञ्ज (सघन) वन तुल्य संसार में पड़ा है, इससे बाहर निकलने के पन्थ (मार्ग) को नहीं पा रहा है। यद्यपि वेदों में संसार में निकलने के मार्ग का वर्णन है तथापि वेद भी संसार बन का नकल (प्रतिरूपक) है (अनन्तविस्तारयुक्त शुभाशुभ का मिश्रण सहित है) यदि विवेकपूर्वक सद्गुरु से वेद को समझे, तभी मुमुक्षु जिज्ञासु वेद की भली बातों को भले अर्थों को माने, काम्या-कर्मादि को कामी के लिये जानकर इन्हें त्यागे। अतः विविक्तवेदार्थ के ज्ञान के लिये भी गुरु की आवश्यता होती है। गुरु के बिना वेदमात्र से मोक्षमार्ग का ज्ञान नहीं हो सकता है।

नटवत बन्द खेल जो जानै। तिहि का गुण जो ठाकुर मानै ॥
ऊ है खेलै सब घट माहीं। दूसर को लेखै कछु नाहीं ॥
भलो पोंच जो अवसर आवै। कैसहु के जन पूरा पावै ॥

योऽविनाशी जगद्बन्धं केलितुल्यं प्रपश्यति।
नटवद् वर्तमानः सन् क्रीडतीव च तेन यः ॥१७॥
तस्यैव च गुणो विश्वं ईश्वरः कथ्यते च यः।
नान्यस्तेन समस्तस्मादधिको वाऽत्र विद्यते ॥१८॥

स एव सर्वदेहेषु स्थावरेषु चरेषु च।
खेलायति सदा देवो नान्यत्पश्यति किञ्चन ॥१९॥
शुभाशुभौ हि कालौ द्वौ प्राप्नुतश्चावशं क्रमात्।
जनः कश्चित्कथञ्चित्तं ज्ञात्वैवामृतमश्नुते ॥२०॥

कृपया च गुरो र्वेत्ति तं देवमञ्जसा नरः।
नान्यथा बहुजन्मान्ते बहुयत्ने कृतेऽपि हि ॥२१॥
"उद्यन्तु शतमादित्या उद्यन्तु शतमिन्दवः।
न बिना विदुषां वाक्यै र्नश्यत्याभ्यन्तरं तमः ॥२२॥

सद्गुरु से जाननेयोग्य अविनाशी चेतनदेव, नट के समान, संसार बन्द (बन्धन) रूप खेल को मिथ्या रचता है, और मिथ्या जानता (प्रकाशता) है, उसीके आश्रित रहनेवाली त्रिगुण रूप माया है। उस त्रिगुण माया रूप ही संसार है, और जो चेतन देव गुणमय माया शक्ति से ही ठाकुर (ईश्वर) माना जाता है। वह एक ही चेतन देव अनन्त जीवरूप से अन्तर्यामी ईश्वर-रूप से, निर्गुणसाक्षी रूप से सब घटो (देहों) में खेल रहा है, दूसरे को वह कुछ लेखता (देखता गिनता) नहीं है। अर्थात् दृश्य वस्तु की भी उससे भिन्न सत्ता नहीं है। वही माया द्वारा दृश्यरूप से भासता है। जीवों को इस मायामय संसार में जो भलो (शुभ) और पोंच (अशुभ) दोनों अवसर आते हैं। तहाँ कैसे हुं (किसी प्रकार से) कोई विरल जन उक्त पूर्ण पद को पाते (समझते) हैं। बहुत लोग तुच्छ सुअवसर सुख को पाकर, कुअवसर दुःख को भूल जाते हैं। अतः विरागादि के अभाव से पूर्णपद नहीं पाते हैं।

साखी—जाही कहँ सर लागई, सोई जानै पीर।

लागै तो भागै नहीं, सुखसिन्धु निहारु कबीर ॥६८॥

गुरो र्वचः शरो यस्य हृदये लगति ध्रुवम्।
स तं गुरुं विजानाति जगद्दुःखं च पश्यसि ॥२३॥
यस्य विशति सद्वाक्यं हृदये स पुन र्नहि।
संसारे धावते दृष्ट्वा सुखसिन्धुं निरन्तरम् ॥२४॥

वाणवद्विषया यद्वा यद्धृदि संलगन्ति वै ।
गुरुं तेऽत्र प्रपश्यन्ति यान्ति नान्यत्र ते क्वचित् ॥२५॥
किन्तु तच्छरणे स्थित्वा कृत्वा भक्तिमनुत्तमाम् ।
सुखसिन्धुं प्रपश्यन्ति स्वात्मानं केवलं गुरुम् ॥२६॥
यो हृदयेऽतिविकस्वरकोमलकान्त सुखैकरसं विमलं,
चेतनसच्च परं परितः परिकल्पनहीनमजं त्वभयम् ।
भाववता मनसा सरसं परिदृश्य तदाशु भवाब्धितटं,
संभजते स न याति कदाचिदसौख्यपदे भवसिन्धुजले ।२७॥६८॥

इति हनुमदीये रमैनीरसोद्रेके भक्त्यादिविनाऽनर्थप्राप्तिवर्णनं
नाम द्वात्रिंशत्तमः प्रवाहः ॥ ३२ ॥

किसी पुण्य के प्रभाव से जिसके हृदय में विषय कामादि शर (बाण) तुल्य दुःखद लगते (प्रतीत होते) हैं, सोई दुःखों की निवृत्ति के लिये पीर (गुरु) को जानता है, प्राप्त करता है । फिर उसके हृदय में गुरु के वचन बाण तुल्य प्रवेश करते हैं, तब वह सांसारिक सुख सहित सब संसार को पीर (पीड़ा दुःख) स्वरूप समझता है । अतः सद्गुरु के वाक्यरूप वाण के लगने पर यह जीव फिर सुखादि के लोभादि से भागता (धावता) नहीं है । किन्तु अपने हृदय गुफा में बैठकर सुखसिन्धु को प्रत्यक्ष देखता है और उसके दर्शन से ही तृप्त शान्त सुखी हो जाता है । "अर्धप्राप्तविवेकस्य न प्राप्तस्यामलं पदम् । चेतसस्त्यजतो भोगान् परितापो भृशं भवेत् ॥ १ ॥ परिप्राप्तविवेकस्य त्यक्तसंसार-संस्थितेः । चेतसस्त्यजतोरूपमानन्दो हि विवर्द्धते ॥ २ ॥ योगवासिष्ठे प्र० ४। ६६।२३-२७" अमलपद की प्राप्तिरहित अर्द्धविवेकी चित्त को, भोगों को त्यागने पर परिताप अधिक बढ़ता है ॥१॥ पूर्णविवेकी विरक्त चित्त को, चित्त रूपता के त्यागने पर आनन्द ही बढ़ता है ॥२॥ "दोष दरश से होत है, प्रथम अपर वैराग्य । पर वैराग्य विवेक से, हुए होत बड़ भाग्य ॥१॥ ॥६८॥

अथ कुयोगिप्रपञ्च प्रकरण ३३

रमैनी ६९

ऐसा योग न देखा भाई । भूला फिरै लिये गफलाई ॥
महादेव को पन्थ चलावै । ऐसो बड़ो महन्त कहावै ॥
हाट बजारे लाव तारी । कच्चा सिद्धहि माया प्यारी ॥

इत्थं भूतो न योगोस्ति दृष्टो वै लोकवेदयोः[1] ।
यादृशो दृश्यते लोके योगिमन्येषु सम्प्रति ॥ १ ॥
मौढ्यं धृत्वा भ्रमन्त्येते कुयोगेनाल्पयोगिनः ।
विरागाभ्यासयोस्तत्त्वं न पश्यन्त्यल्प बुद्धयः ॥ २ ॥
विरक्तस्य महेशस्य मार्गं सम्वर्तयन्ति ये ।
ते महाधनिनो भूत्वा महान्त इति विश्रुताः ॥ ३ ॥
महाहट्टे नगर्यां वा समाधिं ते च कुर्वते ।
लोकानुरञ्जनार्थाय विमुक्त्यै न कदाचन । ४ ॥
अहो ह्यपक्वसिद्धीनां माय्रैषा भवति प्रिया ।
स्वयं प्रियतमश्चात्मा प्रियो नेति विपर्ययः ॥ ५ ॥

संशोधित हृदय द्वारा भक्ति सहित परमविराग और अभ्यासादि से राजस, तामस वृत्तियों के निरोध करके उक्त सुख सिन्धु का हृदय में प्रत्यक्ष करना ही सत्ययोग है, इस आशय से श्रीकबीर साहब कहते हैं कि हे भाई ! ऐसा (सुख-सिन्धु के दर्शन के समान) अन्य योग वेदादि में वर्णित नहीं देखा गया है, और ऐसा योग को जिसने सद्गुरु के बिना नहीं देखा (समझा) है, वही गफलाई (प्रमाद मूढ़ता) को लिये हुए भूला फिरता है और ऐसे लोग ही महाविरक्त परमज्ञानी महादेवजी के योगमत को चलाते (बात विचार करते) हैं । धनादि के अतिसंग्रह से बड़े महन्त कहलाते हैं । अतः अपरिग्रहादिरूप साधन के अभाव से मिथ्या योगाभिमानी होते हैं और कोई हाट बाजार में तारी (समाधि) लगाते हैं । क्योंकि उन कच्चा सिद्धों को माया ही प्यारी होती है, उसी लिये समाधि का नाटक करते हैं, ऐसा योग वेदशास्त्रादि में निरूपित नहीं देखा गया है कि जिससे भूलादि नहीं मिटे ।

कब देवदत्त मवासी तोरी । कब शुकदेव तोपकी जोरी ॥
नारद कब बन्दूक चलाया । व्यासदेव कब बम्ब बजाया ॥
करहिं लड़ाई मति के मन्दा । ई अतीत की तरकस बन्दा ॥

विपर्ययहताश्चैते युद्धाद्यर्थं सुसंयताः[2] ।
भवन्ति नावलोकन्ते महतां चरितान्यपि ॥ ६ ॥

---

१ "तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम् । कठ० २ । ६ । ११" योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः । योगसूत्रम् । २ "द्वाविमौ न विराजेते विपरीतेन कर्मणा । निरारम्भो गृहस्थश्च कार्यवांश्चैव भिक्षुकः ॥ नारदपरि० ६।३०" ।

देवदत्ताभिधः सिद्धः कदा कस्य गृहादिकम् ।
अतोडच्छुकदेवो वा शतघ्नीं कर्ह्ययोजयत् ॥ ७ ॥
नारदश्च कदा यन्त्रं गुलिकाक्षेपकं किल ।
प्रैरयच्च कदा व्यासः पटहं युद्धकाङ्क्षया ॥ ८ ॥
कुर्वन्ति मतिमन्दा ये महादुर्विग्रहं खलु ।
तेऽतीताः किमु योद्धारः सन्ति तूणीरधारिणः ॥ ९ ॥

सुखसिन्धु के दर्शनार्थी विष्णुदेव का अवताररूप दत्तात्रेय नामक देवदत्तजी ने कब किसी के मवासी (गृह खजाना आदि को तोड़ा) और शुकदेव जी ने कब तोपकी (तोप समूह या तोप चलानेवाले तोपची फौज) को जोड़ा (संग्रह किया) और नारदजी ने कब बन्दूक चलाया तथा व्यासजी ने कब बम्ब (युद्ध बाजा) बजाया । इन महात्माओं के चरित्रादि को नहीं समझने वाले मतिमन्द ही विरक्त के वेषधारी होकर भी परस्पर लड़ाई (युद्ध) करते हैं तो क्या ये अतीत विरक्त संन्यासी हैं, योगी हैं या तरकस बाँधने वाले वन्दा (किसी के दास फौजी सिपाही) हैं । अर्थात् ऐसे लोग न योगी हैं न ज्ञानी हैं न भक्त है, न अतीत है, न सुखसिन्धु के दर्शनार्थी हो सकते हैं ।

भये विरक्त लोभ मन ठाना । सोना पहिरि लजावैं बाना ॥
घोड़ा घोड़ी कीन्ह बटोरा । गाम पाय जस चले करोरा ॥

अभवन् कुविरक्तास्ते चित्तो लोभस्य धारणात् ।
काञ्चनीं मालिकां धृत्वा वेषान् ह्रेपयन्ति ते ॥१०॥
वेषै भूत्वा विरक्तास्ते लोभं कुर्वन्ति कामुकाः ।
निद्यन्ते लोकतश्चात्र व्रजन्ति नरके ततः ॥११॥
अश्वाँश्च वाडवाश्चैव सम्पाद्यैते कुयोगिनः ।
ग्रामान् कतिपयाँल्लब्ध्वा यान्ति कोटिपति र्यथा ॥१२॥

क्योंकि वे लोग वेष तथा नाममात्र से विरक्त हुए सो भी आराम सांसारिक सुख प्रतिष्ठा आदि के लिये हुए, योग, ज्ञान, ध्यानादि के लिये सच्चा विरक्त नहीं हुए । अतः वेष से विरक्त होकर आराम भोग के लिये न्याय से द्रव्यादि नहीं मिलने पर मन में लोभ ठाना (किया) और लोभ से अन्यायार्जित द्रव्य की प्राप्ति होने पर उसके उपभोग सङ्गादि से धर्म, बुद्धि के नष्ट हो जाने के कारण धार्मिक बुद्धि के अभाव से विरक्त के लिये जिस कनककामिनी का त्याग कहा गया है कि "हेयं च किमत्र कनकं च कान्ता" इस संसार में मुमुक्षु से हेय (त्याज्य) क्या है । इस प्रश्न का उत्तर है कि

कनक और कान्ता त्याज्य है, इत्यादि उपदेशों को वे लोग भूल गये और सुवर्ण के भूषण माला टोपी आदि पहिरकर बाना वेष को भी लजाते (लज्जित= अनादर करते) हैं और इन लोगों ने घोड़ा-घोड़ी का भी बटोर (संग्रह) किया और करते हैं, फिर ग्राम की सम्पत्ति आदि को पाकर उस घोड़ा-घोड़ी पर सवार होकर, जैसे कोई करोरा (कोटि पति) गृहस्थ चलता हो तैसे चलते हैं। अधर्माचरण से "कीटवद्विचरेद्भूमिम्" इत्यादि उपदेशों के अनुसार कीट के समान धीरे धीरे पैदल भूमि में विचरना, सर्वथा अहिंसक अभयदानी होना तो भूल ही गये हैं तो भी विरक्त साधु संन्यासी तो कहलाते ही हैं।

साखी—सुन्दरि नाही शोभई, सनकादिक के साथ।
कबहुंक दाग लगावई, कारी हाँड़ी हाथ ॥६९॥

शोभते कापि वामा नो, परिव्राण्नैष्ठिकैः सह।
सा कदाचन दुर्दोषान् जनयिष्यति निश्चित्तम् ॥१३॥
सा हि हस्तधृतां काली स्थालीवद्दोषकारिणी।
हारिणी चित्तलौहस्य चुम्बको ह्ययसो यथा ॥१४॥
तस्यास्तमोमयो भावः सङ्गात्संजायते तथा।
उद्रेकाद्रजसश्चैव सत्त्वं क्वापि विलीयते ॥१५॥
अतो मुमुक्षुभिर्हेया कुयोगानां कुरीतयः।
वामां कामं परित्यज्य ध्येय आत्मा हितः सदा ॥१६॥
"माद्यति प्रमदां दृष्ट्वा सुरां पीत्वा तु माद्यति।
तस्माद्दृष्टिमदां नारीं दूरतः परिवर्जयेत् ॥१७।
द्रव्यस्त्रीमांसम्पर्कान्मधुमाक्षिकलेहनात् ।
विचारस्य परित्यागाद् यतिः पतनमृच्छति" ॥१८॥६९॥

ग्रामको प्राप्त करनेवाले योगी आदि सुन्दरी को भी प्राप्त करते हैं। परन्तु सनकादिक (त्यागाश्रमी) के साथ में सुन्दरी नहीं शोभती है। क्योंकि वह कभी न कभी दाग लगाती है, अपयश पाप कराती है, जैसे कि हाथ में सदा रहनेवाली काली हाँड़ी दाग लगाती है। अतः स्त्री द्रव्यादि का सर्वथा त्याग करके, निर्लोभ कामादि रहित हो सके, तभी त्यागाश्रम में प्रविष्ट होना चाहिये, अन्यथा नहीं, क्योंकि "यदामनसि वैराग्यं जातं सर्वेषु वस्तुषु। तदैव संन्यसेद्विद्वानन्यथा पतितोभवेत् ॥१॥ द्रव्यार्थमन्नवस्त्रार्थं यः प्रतिष्ठार्थमेव वा। संन्यसेदुभयभ्रष्टः समुक्तिं नाप्नुमर्हति ॥२॥ कर्म·त्यागान्न संन्यासो न प्रेषोच्चारणेन तु। सन्धौ जीवात्मनो रैक्यं संन्यासः प्ररिकीर्तितः। मैत्रेय्यु २।१६-

२०-१७" "आरूढो नैष्ठिकं कर्म यस्तु प्रच्यवतेपुनः। प्रायश्चितं न पश्यामि येन शुद्ध्येत स आत्महा ॥१॥ अत्रि स्मृ." "अजिह्वः षण्डकः पङ्गुरन्धो बधिर एव च। मुग्धश्चमुच्यतेभिक्षुःषड्भिरेतै र्न संसयः। नारदप०" सब वस्तु विषयक वैराग्य जब मन में हो गया हो, तभी विद्वान् सन्यास करे, अन्यथा पतित होगा ॥१॥ द्रव्य अन्न वस्त्र वा प्रतिष्ठा हि के लिये जो सन्यास (गृहादि का त्याग) करता है, सो धर्म ब्रह्म उभय से तथा दोनों आश्रम से भ्रष्ट (पतित) होकर मुक्ति पाने के योग्य नहीं रहता है ॥२॥ कर्म के त्याग से संन्यास नहीं होता है, न प्रेष मन्त्र के उच्चारण से होता है, किन्तु सन्धि (सम्यक् ध्यान स्थान हृदय) में जीवात्मा की एकता का निश्चय संन्यास कहा गया है ॥३॥ नैष्ठिक कर्म में प्राप्त होकर जो फिर पतित होता है, उसके लिये प्रायश्चित नहीं दीखता है कि जिससे वह आत्मघाती शुद्ध हो सके ॥४॥ अजिह्वत्वादि षड्विध धर्म से संन्यासी मुक्त होता है, इसमें संशय नहीं है ॥६९॥

रमैनी ७०

बोलना कासो बोलिय भाई। बोलतहि सब तत्त्व नशाई ॥
बोलत बोलत बाढु विकारा। सो बोलिय जो परै विचारा ॥
मिलही सन्त वचन दुइ कहिये। मिलहिं असन्त मौन हो रहिये ॥

अवश्यमपि वक्तव्या वार्ता कैः क्रियतामिति।
आलोच्यैव हि वक्तव्या तत्त्वं नश्यति चान्यथा ॥१४॥
"पूर्वापरसमाधान क्षमबुद्धावनिन्दिते।
पृष्टं प्राज्ञेन वक्तव्यं नाधमे पशुधर्मिणि" ॥२०॥
हीने वावद्यमानं हि सर्वं तत्त्वं विनश्यति।
विकाराः कामकोपाद्याः वर्द्धन्ते चाति वेगतः ॥२१॥
अतोविचार्य वक्तव्यं हितं सत्यं सुनिश्चितम्।
विवादो नैव कर्तव्यो गर्वो द्वेषश्च कैरपि ॥२२॥
सन्तो मिलन्ति चेत्केचित् कथ्यतां वचनद्वयम्।
असतां मिलने सम्यङ् मौनमेव विधीयताम् ॥२३॥
धीमन्तो धृतिमन्तश्च भूतानामनुकम्पकाः।
अकामद्वेषसंयुक्ताः सन्त सत्यव्रताः सदा ॥२४॥

हे भाई! पूर्व वर्णित उपदेश बोलना (कहना-वक्तव्य) है। परन्तु वह किससे बोलना चाहिये। ऐसा विचार करके ही सज्जन जिज्ञासु के प्रति बोलने

योग्य है, किसी वेषधारी दम्भी के प्रति नहीं। क्योंकि विचार के बिना किसी अनधिकारी के प्रति बोलते ही सब तत्त्व नष्ट हो जाता है। कहना व्यर्थ होता है और शान्ति का नाश होता है। क्योंकि विचार के विना अनधिकारी अभिमानी के प्रतिबोलते बोलते में क्रोधद्रोहादिरूप विकार बढ़ते हैं कि जिससे सुखशान्ति नहीं रहने पाते हैं। विवेक नष्ट हो जाता है। अतः विचार कर सोई बात बोलना चाहिये। जो विचार में परै (बोलनेयोग्य निश्चित हो) जो कोई सन्त मिले (निश्चित हों) तो उनसे दो वचन कहना चाहिये और असन्त मिलें तो मौन होकर रहना चाहिये। क्योंकि सन्त थोड़े में समझेगें असन्त नहीं, वे विवाद बढ़ायेगें, और विकार होगा, अतः मौन में कुशल है।

पण्डित सो बोलिय हितकारी। मूरख सो रहिये झँखमारी ॥
कहहिं कबीर अर्ध घट डोलै। पूरा ह्वै विचार लै बोलै ॥७०॥

हितकारी भवेद्यश्च साधु सज्जन[१] सम्मतः।
तस्मै हितकरं वाक्यं वक्तव्यमेव सर्वथा ॥२५॥
निषेवते[२] प्रशस्तानि निन्दितानि न यो नरः।
अनास्तिकाय तस्मै सद्वक्तव्यं विदुषे सदा ॥२६॥
यदि मूर्खो मिलेत्कश्चिन्मनसो बल्गनं तदा।
स्थातव्यं सन्निरुध्यैव वक्तव्यं नैव किञ्चन ॥२७॥
मूर्खोऽपूर्णघटैस्तुल्यो भाषते ह्यप्रियं चलम्।
विज्ञस्तु पूर्णतांप्राप्य सुविचार्यैव भाषते ॥२८॥
"रूक्षं शब्दायते कुम्भोजलहिनोऽर्धजीवनः।
नैव पूर्णो विशेषोऽयं विज्ञस्याविदुषस्तथा" ॥२९॥७०॥

स्व पर के हितकारी पण्डित (विद्वान् सन्त) के प्रति हितकर वचन बोलना चाहिये। और मूर्ख ज्ञानाभिमानी (अल्पज्ञ) से झंक (मनोवेग) मार कर मौन पृथक् रहना चाहिये। बोलने के अवसर आने पर भी मूर्ख से नहीं बोलना चाहिये। क्योंकि अर्धजल युक्त घट के समान अल्पज्ञ ज्ञानाभिमानी डोलता है (चञ्चल रहता है) बहुभाषी होने के कारण, सत्यभाषी सत्यप्रतिज्ञ नहीं होता है। अतः उसका कोई निश्चित सिद्धान्त वचन नहीं रहता

१ "न प्रहिष्यति सम्माने नावमानैः प्रकुप्यति न क्रुद्धः परुषं ब्रूयादेतद्धि साधुलक्षणम्। गरुडपु.आचारखं.११३।४२" २ "निषेवते प्रशस्तानि निन्दितानि न सेवते। अनास्तिकः श्रद्दधानएतत्पण्डितलक्षणम्। महाभा॰ अ॰ ३३"

है और पूर्ण जटतुल्य पूर्णात्म विवेकी विचारपूर्वक सत्य ही बोलता है। अतः उसके साथ बोलने (विचारादि करने) से शान्ति मिलती है। अतः "पक्षं संत्यज्य यत्नेन बालस्यापि सुभाषितम्। गृह्णाति धर्मतत्त्वं च व्यवस्यति स पण्डितः। शुक्रनी. अ. १।३२२" जो पक्षपात को यत्न से त्यागकर, बालक के भी सुन्दर वचनों को ग्रहण करता है और धर्म के यथार्थ स्वरूप का निर्णय करता है, वह पण्डित कहा जाता है, उससे बोलना चाहिये ॥७०॥

रमैनी ७१

शोक बधावा सम करि माना। ताकि बात इन्द्रहुँ नहिं जाना॥
जटा तोरि पहिरावै सेली। योग युक्ति के गर्व दुहेली॥
आसन उड़ये कौन बड़ाई। जैसे काग चील्ह मड़राई॥

हर्षशोकौ हि यो लोके समावित्येव भाषते।
लोकानां वञ्चनायैव हृदि कृत्वाऽन्यथा मतिम् ॥३०॥
तस्य गुप्तं रहस्यं नो वेत्तीन्द्रोपि हि देवराट्।
मायावी तत्कुतोऽन्ये तज्जानीयु र्मानवा भुवि ॥३१॥
यद्वा[1] येषां समौ ह्येतौ हर्षशोकौ विवेकिनाम्।
तेषां मर्म नहीन्द्रोपि ज्ञातुं शक्नोति सर्वथा ॥३२॥
छित्त्वाऽन्येषां जटां वेषी बालनिर्मितसेलिकाम्।
जनै र्धारयते मोहात्स्ववेषे पक्षपाततः ॥३३॥
योगयुक्तेश्चगर्वं स करोति कठिनं कुधीः।
नैव वेत्ति च तत्तत्त्वं महत्त्वं येन लभ्यते ॥३४॥
आकाशोड्डयनेनापि काकोलूकादिपक्षिवत्।
किं महत्त्वं भवेत् सत्यं ह्यविद्यामयवस्तुना[2] ॥३५॥

वस्तुतः पूर्ण ज्ञानी के लिये शोक का अवसर इष्ट पुत्र वियोगादि और बधावा (उत्सव) का अवसर इष्ट की प्राप्ति आदि दोनों सम होते हैं (दुःख-सुख के हेतु नहीं होते हैं)। परन्तु जिन ज्ञानाभिमानियों ने शोक बधावा को कहने के लिये सम करके माना है, उनके कपट की बात को महाकपटी इन्द्र

---

१ "जरामरणमापच्च राज्यं दरिद्रथमेव च। रम्यमित्येव यो भुङ्क्ते स जीवन्मुक्त उच्यते। महोप० २।२५" २ अविद्यामपि ये युक्त्या साधयन्ति सुखात्मिकाम्। ते ह्यविद्यामया एव न स्वात्मज्ञास्तथाक्रमाः॥ योगवा.प्र. ५।८६।१५"

ने भी नहीं जाना, ये इन्द्र से भी अधिक कपटी होते हैं। क्योंकि वे लोग वेषाभिमानी होकर अन्य के स्वबाल से सिद्ध जटा को तोड़कर, भेड़ी के बाल से रचित सेली पहिराते हैं और तुच्छ योगयुक्ति के दुहेली (कठिन अति अधिक) गर्व (अभिमान) रखते हैं और जैसे काग चील आकाश में मड़राता (घूमता) है, तैसे आसन के उड़ाने से भी कौन बड़ाई है। परन्तु अल्पज्ञ लोग इस प्रकार के ही योगयुक्ति का कठिन अभिमान करते हैं।

जैसि भित्ति तैसी है नारी। राज पाट सम गणै उजारी॥
जस नरकहिं तस चन्दन जाना। जस बावर तस रहे सयाना॥
लपसि लवंग गणै एक सारा। खाँड़ परिहरी फाँकै छारा॥

भित्तिवद्धि शुभां नारीं सुराज्यं शून्यसन्निभम्।
ज्ञानी पश्यति चित्ते स्वे वञ्चको भाषते परम्॥३६॥
राज्ञः स्थानादिभिस्तुल्यं शून्यं पश्यति विज्ञराट्।
अविवेकी जनो वेषी भाषते मोहनाय तु॥३७॥
यथैव नरको घोरस्तथैव शुभचन्दनः।
आसक्त्या दुःखदस्तुच्छ इति प्राज्ञोऽन्यथा शठः॥३८॥
ज्ञोऽपि सन्नज्ञवत्प्राज्ञः सङ्गत्यागाय वर्तते।
अल्पज्ञश्चाविवेकेन मूढवद् वर्तते सदा॥३९॥
अविवेकादयं मूढस्तरलां च लवङ्गकम्।
एकं संमन्यते सिद्धं सद्विवेकेन बोधवान्॥४०॥
खण्डं त्यक्त्वा सुखं मोहात्क्षारं भुङ्क्ते च दुःखदम्।
ज्ञस्त्यक्त्वैव जगद्दुखं ब्रह्मानन्दे निमज्जति॥४१॥

उक्त अभिमानी कहते मानते हैं कि जैसी भित्ति मिट्टी की होती है। तैसी ही नारी होती है और ऐसा कहकर नारी का सङ्ग करते हैं। अतः "सङ्गात्संजायते कामः" इत्यादि उपदेशों को नहीं मानते हैं और मोह में फँसते हैं। और राज्यस्थानादि के समान उजार (शून्य एकान्त) को गिनते (मानते) हैं। अतः एकान्त का कभी सेवन नहीं करते हैं, फिर भी अपने को योगी मानते हैं और नरक के हेतु हिंसा, मांस, मद्यादि के तुल्य ही पवित्रचन्दनादि को जानते हैं। अतः मद्यादि पान करके जैसे बावरा (पागल) रहता है, तैसे ही सयान (ज्ञानी योगी) कहानेवाले भी रहते हैं। अतः मद्यपानादि से पागलतुल्य होने के कारण मीठी वस्तु लपसी और तिक्तलवंग सारा (सब) को मानो एक ही

करके गिनते हैं। आत्माऽनात्मा धर्माधर्म को एक ही समझते हैं। आत्मानन्द विषयानन्द के विवेकको नहीं कर पाते हैं। अतः विवेकके बिना खाँड़ (आत्मानन्द) को छोड़कर निषिद्ध विषयरूप छार (धूलि राख) को फाँकते (भोगते) हैं।

साखी—इहे विचार विचारते, गये बुद्धि बल चेत।
दुइ मिलि एकै ह्वै रहा, काहि लगाऊँ हेत ॥७१॥

एतेन कुविचारेण विषयाणां विचिन्तया।
बुद्धे र्बलं विवेकश्च द्वयं नष्टं कुयोगिनाम् ॥४३॥
शुभाशुभैर्मिलित्वैते त्वेकी भूयसदाऽऽसते।
केनात्राहं कथं स्वस्य प्रियतां बोधयाम्यहो ॥४४॥
कुजनैरिह नास्ति वरं गमनं न च मैत्रिविरोधकृपाकलनं,
सहभुक्तिरथासन् सङ्घटनं परलोकविधेरपि सम्वलनम्।
बहुविघ्नविरोधयमादिभयं ह्यभिमानरुजादि जनिः सततं,
कुविचारिजनैः सह सङ्गतितः परलोकगतावि‌ह वा भवति ॥४६॥७१॥

इति हनुमद्दीये रमैनीरसोद्रेके कुयोग्यादिसङ्गनिषेधवर्णनं नाम त्रयस्त्रिंशत्तमः प्रवाहः ॥ ३३ ॥

इस पूर्व वर्णित कुविचार के विचारते (करते) मे जिनके बुद्धि का बल और चेत (होश विवेक) दोनों चले गये (नष्ट हो गये) हैं। वे लोग शुभाशुभदोनों से मिलकर एक (तन्मय) हो रहे हैं (सब द्वन्द्वों से ग्रस्त हैं) तहाँ सुख शान्ति विचारादि के लिये किससे हेत (प्रेम) लगाया (किया) जाय। यहाँ उदासीन मौन ही रहना ठीक है। और अज्ञ भी विज्ञ की बात करते हैं, विज्ञ के वेष का धारण करते हैं। अतः बहुत लोगों की दृष्टि में अज्ञ विज्ञ दोनों मिलकर एक हो रहे हैं। उन्हें चिन्ता होती है कि किससे हेत लगाऊँ, अतः वेषधारियों के चरित्र महाभ्रम जनक हैं, अत्यन्त विचार कर उनसे बोलना या उनका सङ्ग करना चाहिये इत्यादि ॥७१॥

अथ माया के गमनागमनादि प्रकरण ३४

रमैनी ७२

नारि एक संसारहिं आई। माय न वाके बापहिं जाई ॥
गोड़ न मूँड़ न प्राण अधारा। तामहँ भभरि रहा संसारा ॥

दिना सात लै वाकी सही। बुद अदबुद अचरज का कही ॥
वाके वन्दन करु सब कोई। बुद अदबुद अचरज बड़ होई ॥

मायारूपा हि नार्येका संसारेऽत्राऽऽगताऽसती।
इच्छाकार्यादिरूपेण साऽनिर्वाच्या विमोहिनी ॥ १ ॥
न माता विद्यते तस्याः पितुरेव तु जायते।
सर्वेशितुर्न जाता वाऽनादिरेषा हि वर्तते ॥ २ ॥
शिरः पादं न तत्रास्ति प्राणाधारौ स्त एव नो।
तस्यामेवागतायां च भ्रमन्ति सर्वजन्तवः ॥ ३ ॥
तस्याश्च सप्तघस्रेषु सत्यतां कथयन्ति चेत्।
बुधा अद्बुधाश्चैवाऽऽश्चर्यं तत्कथमुच्यताम् ॥ ४ ॥
तस्या एव स्तुतिं सर्वे कुर्वन्ति च बुधाबुधाः।
कार्यकारणरूपाया आश्चर्यं तन्महत् खलु ॥ ५ ॥

उक्त अविवेक चिन्ता आदि का हेतुरूप एक नारी (माया) संसार शरीर रूप गृह बनाकर उसमें स्वयं भी बुद्धि, आशा, तृष्णा, कनक-कामिनी आदि रूप से आई है और वस्तुतः अनादि होने से उसकी माय (माता) नहीं है, न बाप (पिता) से जाई (जन्मी) है या माता के बिना पिता से ही कार्यरूप से जन्मी है और उसके गोड़ (पैर) मूड़ (शिर) प्राण और प्राण के आधार हृदय आदि कुछ नहीं हैं तो भी संसारी उस माया में ही भ्रम रहा है, (भूल-भटक रहा है)। क्योंकि रवि वारादि सातो दिन ले (सातो दिन तक) उसी की सही (सत्यता का निश्चय) सब करते हैं तथा मन, बुद्धि पञ्चतन्मात्रा (शब्दादि विषय) में उसी की सही (सत्ता) प्रतीत होती है। अतः बुद (बुध) के लिये भी अदबुद (अद्भुत) रूप माया की आश्चर्यता को क्या कही जाय या बुद (वर्ण-नाई) अदूदुद (अद्भुत अवाच्य) स्वरूप आश्चर्य को क्या कहा जाय। आश्चर्य रूप होते भी उसकी वन्दना सब कोई करते हैं। अतः बुध (विद्वान्) को भी अद्भुत माया विषयक आश्चर्य होने से यह आश्चर्य स्वरूप है।

साखी—मूस बिलाई एक संग, कहु कैसे रहि जाय।
अजरज एक देखहु हो (सन्तो), हस्ती सिंहहि खाय ॥७२॥

उन्दुरुश्चौतुना सार्द्धं कथं तिष्ठतु निर्भयम्।
ज्ञायतां वै तथा जीवो नार्या जीवेत् कथं सह ॥ ६ ॥
विवेके सत्ययं जीवो भजते सिंहरूपताम्।
हस्तिनोरूपिणीं मायां नाशयत्येव सत्वरम् ॥ ७ ॥

अहो तथापि सिंहं तं हस्तिनी नाशयत्यसौ।
नैव जानाति मन्दोऽयं बोधाय यतते नहि॥ ८॥
"सर्वे[1] जीवाः सुखैर्दुःखै र्मायाजालेन वेष्टिताः।
तेषां मुक्त्यै च सन्मार्गं मायाजालनिकृन्तनम्"॥ ९ ।७२॥

अज्ञ जीवरूप मूष और आश्चर्यस्वरूप मायारूप बिलाई एक संग में (साथ ही एक अस्थान में) अनादिकाल से कैसे रह जाते हैं सो कहो और समझो, यह भी आश्चर्य है। अर्थात् मृतकतुल्य भयभीत ही होकर सदा जीव रहते हैं, कभी निर्भय नहीं होते हैं और हे सन्तो! एक आश्चर्य देखो कि विवेकदृष्टि से सिंहस्वरूप चेतन जीवात्मा को अविवेक दशा में हस्तिनीरूप जड़ माया खाती है (कष्ट देती है) अतः सर्वथा विवेक अवश्य कर्तव्य है। "अव्यक्तनाम्नी परमेशशक्तिरनाद्यविद्या त्रिगुणात्मिका परा। कार्याऽनुमेया सुधियैव माया यया जगत्सर्वमिदं प्रसूयते॥१॥ सन्नाप्यसन्नाप्युभयात्मिकानो, भिन्नाऽप्यभिन्नाऽप्युभयात्मिकानो। सङ्गाऽप्यनङ्गाप्युभयात्मिकानो, महाऽद्भुताऽनिर्वचनीयरूपा॥२॥ विवेकचूड़ामणि" अव्यक्त नामवाली परमात्मा की शक्तिरूप त्रिगुणात्मक अनादि अविद्या कार्यों से पर, कार्य द्वारा विद्वानों से अनुमेय है, वही माया है कि जिससे यह सब जगत् उत्पन्न होता है॥१॥ ज्ञान से अज्ञान का बाध होता है। अतः सत् नहीं और सत् होने पर अद्वैत श्रुति से विरोध होगा। १ प्रपञ्च कारणता के असम्भव से नृशृङ्गतुल्य असत् नहीं, तुच्छ नहीं। २ परस्पर विरोध से सदसत् उभयरूप नहीं। ३ नेह नानास्ति इस श्रुति विरोध से चेतन से भिन्न नहीं। ४ जड़ता चेतनता के विरोध से चेतन से अभिन्न नहीं। ५ परस्पर विरोध से भिन्नाऽभिन्न उभयरूप नहीं। ६ नित्यानित्यादिरूप न्यायादि सम्मत द्रव्यत्व के अभाव से साङ्ग = सावयन नहीं। ७ संसार की उपादानता के असम्भव से निरयव नहीं। आकाश भी श्रुति के अनुसार कार्य सावयव ही है सो शब्द का उपादान होता है। ८ परस्पर विरोध से सावयव-निरवयव उभयरूप नहीं। अतः महा अद्भूत अनिर्वाच्य है। तथापि सांश और तुच्छ से विलक्षण होने से अनादिभावरूप अविद्या माया कही जाती है॥७२॥

रमैनी ७३

चली जाति देखि एक नारी। तर गागरि ऊपर पनिहारी॥
चली जाति वह बाटहिं बाटा। सोवनहार के ऊपर खाटा॥

---

१ योगतत्त्वोपनिषद्। मायाजालनिकृन्तनं सन्मार्गं विद्धि।

जाड़न मरे सपेदो सवँरी। खसम न चिन्हे घरणि भौ बौरी॥

एकां नारीं हि गच्छन्तीं प्रलयं ज्ञानिनो जनाः।
पश्यन्ति सा घटं देहमन्तर्धायैव गच्छति॥१०॥
अन्तर्धाय च कार्यं सा ह्यूर्ध्वे ब्रह्मणि गच्छति।
समुल्लङ्घ्य यथा काचिद् घटं यात्यम्बुहारिणी॥११॥
सा गच्छति स्वमार्गेण येनैवात्रागता पुरा।
क्रमो विपर्ययेणास्याः सम्भवेद्गमने खलु॥१२॥
शयाना ये च मोहेन निद्रया तन्द्रया तथा।
तेषामुपरि देहाख्यां खट्वां दत्त्वैव गच्छति॥१३॥
अनादित्वेपि सा देवी जडत्वेनैव नश्यति।
शुद्धसात्त्विकभागोऽपि तस्यामस्ति स्वभावतः॥१४॥
अहो तथापि निःसङ्गं पुरुषं नैव पश्यति।
तत्सत्तया स्वभावाद्यैर्मत्तेवेदं करोति सा॥१५॥

विवेक इसलिये कर्तव्य है कि जिससे पूर्वकाल के विवेकियों ने चेतनात्मा से विविक्त भिन्न एक माया नारी को ही चली जाती हुई देखी है और आत्मा अचल देखा गया है कि जिससे विवेकी नाशादि के भय से रहित मुक्त हुए हैं। क्योंकि विवेक विज्ञान के होने पर देहरूप गागर (घट) तरे (नीचे = नष्ट) हो जाता है और ज्ञान पनिहारी (ज्ञानी की बुद्धि) सर्वोपरि ब्रह्मात्मा में लीन स्थिर होती है और प्रलयकाल में जानेवाली मायारूप पनिहारी ब्रह्माण्ड देह-रूप गागर (कलश) को अपने तरे (अन्दर) करके स्वयं ऊपर ब्रह्मस्वरूप में जाती है और वह जिस मार्ग से आती है, उसी बाट (मार्ग) से चली जाती है। परन्तु क्रम उल्टा होता है, आकाश, वायु, तेज, जल, भूमि, औषधि, देह, क्रम से आती है और देह, औषधि, भूमि, जलादि क्रम से जाती है। क्योंकि "विपर्ययेण तु क्रमोऽत उपपद्यते च। ब्रह्मसू० २।३।१४" प्रलय का क्रम सृष्टि से विपरीत होता है। क्योंकि ऐसा ही बन सकता है और उसके जाने के समय तक मोह-नीन्द से सोनेवालों के ऊपर देहादि की वासना आदिरूप खाट लादकर जाती है, जागनेवाले को मुक्त कर देती है और अनादि होते भी जाडन (जड़ता) से मरती (परिणत होती) है और सत्त्वगुणरूप सपेदी (उज्ज्वलता) भी उसमें सवँरी (लगी) है तो भी वह मायात्मक बुद्धिरूप घरणी (स्त्री) विवेकादि के बिना खसम (असङ्ग स्वामी) को नहीं चीन्हती है। क्योंकि वह बावरी (पगली) हुई रहती है तथा जिनके ऊपर खाट लादी जाती है, वे

लोग शिर आदि के बालों में सपेदी आने पर भी जड़ता से मरते हैं विवेक नहीं पाते हैं। क्योंकि उनकी बुद्धि बावरी रहती है।

साँझ सकार दीप लै बारै। खसमहिं छाड़ि रहै लगवारै॥
वाही के संग निशिदिन राची। पिय सो बात कहै नहिं साची॥
सोवत छाड़ि चली पिय अपना। अब दहुँ ई दुख कहब किहि सना॥

संसाराख्यगृहस्था सा संध्ययोरुभयोरपि।
चन्द्रसूर्यादिकं दीपं प्रज्वालयति योग्यकम्॥१६॥
त्यक्त्वाऽसङ्गं पतिं स्वस्याः ससङ्गे सातितिष्ठति।
कुर्वती विविधं भावं स्वयमेव विकारिणी[१]॥१७॥
विकारैः कुरुते प्रीतिं सदा सा त्रिगुणा नहि।
संदर्शयति पत्यर्थं वस्तुतत्वं कदाचन॥१८॥
शयानं स्वं पतिं त्यक्त्वा सा गच्छति यदातदा।
जायते यन्महद्दुःखं तद्वाचां गोचरो नहि॥१९॥

वह माया ही सन्ध्या और सकार (सवेरे) के समय चन्द्र तारे सूर्यादिरूप दीप बार लेती है। परन्तु असङ्ग पति को छोड़कर लगवार (ससंग पराश्रित) कार्य में आसक्त तत्पर रहती है और उसीके साथ रात-दिन राची (रुची प्रीति वाली) रहती है और जीव स्वरूप पिय (स्वामी) से सत्य बात नहीं कहती है, उसके प्रति सत्य को प्रगट नहीं करती है उसको मोहित करती है, जगाती नहीं है। अतः मोह-नींद से सोते हुए प्रियपति को छोड़कर जब माया चली, तब फिर सृष्टि होनेपर जो यह जीव को गर्भवासादिकाल में दुःख होता है सो किससे कैसे कहना हो सकता है। वह अवाच्य अतिशय दुःख होता है और कहने-सुनने का साधन अवसरादि नहीं रहते हैं बलाद् अगत्या भोगना ही पड़ता है।

साखी—अपनी जाँघ उघारि के, अपनी कही न जाय।
की चित जानै आपना, की मेरो जन गाय॥७२॥

स्वस्य गुह्यं प्रकाश्यात्र स्वयं वक्तुं न शक्यते।
चित्तं स्वस्य च जानाति गायन्ति मामका यथा॥२०॥

---

१ "यथा सतो जनि नैवमसतोपि जनि र्न च। जन्यत्वमेव जन्यस्य मायिकत्वसमर्पकम्॥१॥ वेदान्तमुक्तावली" "ब्रह्ममाये जगद्योनी नोभयोः परिणामिता। तयोर्विकारिणी माया ब्रह्म तत्र विवर्तते॥२॥ अद्वैतसिद्धिसिद्धान्तसार"

तथा स्वस्यापराधेन दुःखं यदिह जायते।
वक्तुमनर्हमप्येतच्चित्तं वेत्ति च वक्ति सन् ॥२१॥

अनात्मसङ्गेषु यदात्मधी र्भवेत्, ततश्च दुःखं वधवन्धनादिकम्।
रागादिदोषाश्च भवन्ति ये सदा, मूढै र्न शक्या गदितुं च ते किल ॥२२॥७३॥

इति हनुमदीये रमैनीरसोद्रेके मायागमनागमनादिवर्णनं
नाम चतुस्त्रिंशत्तमः प्रवाहः ॥ ३४ ॥

जैसे अपनी जाँघ (गुप्त स्थान) को उघार कर अपनी कोई गुप्त बात कही नहीं जाती है। किन्तु अपना चित्त (मन) जानता है या जिसको मेरे (अपना) जन समझा जाता है उसके प्रति गाया कहा जाता है। वैसे ही अपनी भूल दुर्बुद्धिता की बात कही नहीं जाती है। किन्तु अपना मन जानता है या संसार के रहस्य को जाननेवाले विवेकी मेरो जन (गुरुभक्त) से संसार की दुःख रूपता आदि उपदेश विरागादि के लिये गाया (कहा) जाता है। क्योंकि 'स्वस्यापराधवृक्षस्य जायते स्वादु किं फलम्। अपराधं ततस्त्यक्त्वा भजस्व निर्गुणं हरिम् ॥१॥ अनन्तानीहदुःखानि सुखं तृणलवायते। नातः सुखेषु बध्नीयाद् दृष्टिं दुःखानुबन्धिषु ॥२॥ क्षयित्वात्सर्वभावानां स्वर्गमानुष्ययो र्द्वयोः। सुखं नास्त्येव सलिलं मृगतृष्णास्विवैतयोः ॥३॥ योगवासिष्ठ० प्र० २। १३" अपने अपराधरूप वृक्ष का सुखरूप फल नहीं होता है। अतः अपराधों को त्यागकर निर्गुण हरि (राम) को भजो ॥१॥ यहाँ अनन्त दुःख हैं, सुख तृण लव तुल्य हैं। अतः दुःखानुबन्धी (सम्बन्धी) सुखों में मन को नहीं लगाना चाहिये ॥२॥ स्वर्ग, मर्त्य दोनों लोकों के सब पदार्थ विनश्वर हैं। अतः मृग तृष्णा में जल के समान इनमें सुख नहीं है ॥३॥ ॥७३॥

अथ मुक्तभ्रान्त की स्थिति प्र० ३५

रमैनी ७४

तहिया गुप्त स्थूल नहिं काया। ताके शोक न ताके माया॥
कमलपत्र तरङ्ग इक माहीं। संगहिं रहै लिप्त पै नाहीं॥
आश ओस अण्डमहँ रहई। अगणित अण्ड न कोइ कहई॥
निराधार अधार ले जानी। रामनाम ले उचरी बानी॥

यदाऽद्धा ज्ञायते तत्त्वं सुगोप्यं पावनं परम्।
तदा सूक्ष्मं न तिष्ठेद्धि स्थूलं न जायते पुनः ॥ १ ॥

जीवतो मुक्तिकालेहि ज्ञस्य शोको न विद्यते[१] ।
मायामोहौ न तस्य स्तो ह्यसङ्गस्य विवेकिनः ॥ २ ॥
"पद्मपत्रं[२] यथा तोयैः स्वस्थैरपि न लिप्यते ।
शब्दादिविषयाम्भोभिस्तद्वज्ज्ञानी न लिप्यते ॥ ३ ॥
न कदाचन[३] निर्मुक्तं चेतो भूयो निबध्यते ।
यत्नेनापि पुनर्बद्धं केन वृन्तच्युतं फलम्" ॥ ४ ॥
विषयार्णवाशया ह्यण्डे जायन्ते सर्वजन्तवः ।
अनन्तमपि विध्यण्डं न विज्ञो मन्यते किमु ॥ ५ ॥
आधारं यं निराधारं जानाति स हि तत्त्ववित् ।
रामनाम्नापि तस्यैव वाणी विज्ञस्य जायते ॥ ६ ॥

तहिया (चली जाती हुई माया को देखकर अचल आत्मा को समझने पर गुरुजन ज्ञानी होनेपर) उस ज्ञान की अवस्था में फिर गुप्त (सूक्ष्म) और स्थूल काया (शरीर) नहीं होते हैं । भावी देहरूप संसार से ज्ञानी मुक्त हो जाता है और वर्तमान शरीरादि के भी शोक (वियोगादि जन्यचिन्ता) ज्ञानी को नहीं होते हैं । न शरीरादि की माया (ममता मोह) रहती है । जैसे कमलपत्र और जलतरंग के एक जलाशय में साथ में रहते भी तरङ्ग के पै (पय = जल) से कमलपत्र लिप्त नहीं होता है, तैसे ही जीवन्मुक्त ज्ञानी संसार शरीर में रहते भी शोक, ममता आदि युक्त नहीं होते हैं । ज्ञानी के असङ्ग अलिप्त रहने में यह भी कारण है कि अज्ञ की आशा के विषयरूप ओसतुल्य तुच्छ भोग्य वस्तु ही अण्ड(ब्रह्माण्ड) में रहती है और उसको चाहनेवाला कामी जीव अण्डजादि शरीरों में बद्ध रहता है और ज्ञानी तो अगनित (असंख्य) ब्रह्माण्ड को कोई वस्तु नहीं कहता है, सबको मिथ्या मायामात्र जानता है और सब मिथ्या का आधार (अधिष्ठान) सत्य स्वरूप एक निराधार को जान लेता है और उसी सत्य निराधार का राम नाम लेकर ज्ञानी की वाणी उच्चरती है, सत्य निराधार सर्वाधार को ज्ञानी राम कहता है और जानता जपता है । अतः संसार से असङ्ग रहता है ।

धर्म कहै सब पानी अहई । जाती के मन पानी अहई ॥

---

१ "तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः । ईशोप. ७" "सम्यग् दर्शन सम्पन्नः कर्मभि र्न निबध्यते । दर्शनेन विहिनस्तु संसारं प्रतिपद्यते । मनुस्मृ० ६।७४" । २ "सूतसं० शिवम० २।३४" । ३ "योगवा० नि० उ० १२५।३१" ।

ढोर पतङ्ग सरे घरियारा। तेहि पानी सब करे अचारा॥
फन्द छोड़ि जो बाहर होई। बहुरि पन्थ नहिं जोहै सोई॥

सर्वोऽपि धार्मिको यच्च पानीयमिति मन्यते।
जातिवर्णादि चित्तो च यज्जलत्वेन निश्चितम्॥ ७॥
तस्मिन्नेव जले मत्स्याः पशवश्च पतङ्गकाः।
लीयन्ते मरणं प्राप्य पावनं तद्विदुर्जनाः॥ ८॥
अतस्तेनैव शौचं च निजाचारान् प्रकुर्वते।
शुद्धाशुद्धौ न पश्यन्ति विवेकेन विलक्षणौ॥ ९॥
भवपाशं तु संत्यज्य वहिस्तस्माद् भवन्ति ये।
ते पुनर्भवमार्गं वा जलाच्छुद्धिं न मन्वते॥१०॥
"चित्तमन्तर्गतं[1] दुष्टं तोयस्नानै र्न शुद्धयति।
शतशोऽपि जलैर्धौतं सुराभाण्डमिवाशुचिः"॥११॥
शुद्धिं तत्त्वस्य[2] बोधेन प्राज्ञः पश्यति सर्वदा।
अखण्डस्य स्वरूपस्य निराधारस्य सर्वथा॥१२॥

सब धर्मवाले जिसको पीने योग्य पानी (पानीय-पवित्र) कहते हैं तथा सब धर्मवाले और सब जाति के मन में जो पानी अहई (निश्चित है)। उस नदी आदि के पानी में ढोर (पशु) पतङ्ग घरियारादि यद्यपि मरते-सड़ते हैं तथापि उस पानी को उनसे असङ्ग निर्दोषादि मानकर उसी पानी से सब स्नान, तर्पणादि आचार करते हैं और उससे अपने को पवित्र समझते हैं। परन्तु जो कोई शरीरादि के मोह, ममता अभिमानादिरूप फन्दो (बन्धनों) को छोड़कर इनसे बाहर (निरभिमान = ब्रह्मात्मनिष्ठ) होते हैं सो फिर उस संसार मार्ग को जलमात्र से सत्यशुद्धि को नहीं जोहते (खोजते = समझते) हैं। क्योंकि वे समझते हैं कि "न वारिणा शुद्धयति चान्तरात्मा" जल से अन्तरात्मा (मन) नहीं शुद्ध होता है। अतः ज्ञान, ध्यान, भक्तियोगादि से सत्यशुद्धि समझते हैं, और शुद्धि से पुनरावृत्ति रहित हो जाते हैं।

साखी—भरमक बाँधल ई जगत, कोइ न करै न विचार।
हरि कि भक्ति जाने बिना, बूड़ि मुआ संसार॥७४॥

---

१ "ब्रह्मपु० अ० २३।५"। २ मन्त्रौषधबलै र्यद्वज्जीर्यंते भक्षितं विषम्। तद्वत्सर्वाणि कर्माणि जीर्यन्ते ज्ञानिनः क्षणात्। सूतसं० शिवमा० २.१५"।

भ्रमेणैव हि संनद्धाः सर्वे संसारिणो जनाः ।
विचारं[1] नैव कुर्वन्ति मोहपाशाद्विमुक्तये ॥१३॥
हरे. भक्तिं विना चैते ब्रुडन्ति भवसागरे ।
ज्ञानं विना लभन्ते न शुद्धं स्वात्मानमव्ययम् ॥१४॥
सदा मायया जीवसंघा निवद्धा न यावद्धरिं संभजन्ते विशुद्धम् ।
न यावद्विचारं च तस्याऽऽतनोति न तावद्विमुक्तिः सुखं शान्तिरस्ति ॥१५॥
यथा मायया जीवभावो मृषैव तथा ब्रह्मविष्ण्वादिभावोप्यतथ्यः ।
सुरेशादिभावो नहि क्वापि तथ्यस्तथापीशभक्त्यैवलभ्या विमुक्तिः ॥१६॥७४

इति हनुमदीये रमैनीरसोद्रेके मुक्तभ्रान्तयोः स्थितिवर्णनं
नाम पञ्चत्रिंशत्तमः प्रवाहः ॥ ३५ ॥

विवेकादि के बिना भ्रममूलक काम्य-कर्मादि करके मोहादि से सब संसारी बँधे हैं। अतः भ्रम के कारण यह जगत् बाँधा हुआ है, तहाँ भ्रम ही वश उक्त सत्यशुद्धि ज्ञानादि के लिये कोई विचार नहीं करता है और विचारादि के बिना सर्वात्मा हरि को नहीं जानने के कारण उस हरि की भक्ति को भी जाने के बिना सब संसारी संसार-सागर में बूड़कर मुये और मरते हैं। अतः जन्मादि रूप संसार से उबार के लिये विचारादि से भ्रान्ति को नष्ट करके हरि की भक्ति ज्ञातव्य और कर्तव्य है। क्योंकि "भक्तियोगो निरुपद्रवः। भक्तियोगान्मुक्तिः। भक्त्याऽसाध्यं न किञ्चिदस्ति ॥ त्रिपादविभूति महानारायणोप० ८" इमं गुणसमाहारमात्मभावेनपश्यतः। असम्यग्दर्शनैर्दुःखमनन्तं नोपशाम्यति ॥१॥ त्यक्त्वा यः प्राकृतं कर्मनित्यमात्मरतिर्मुनिः। सर्वभूतात्मभूस्तस्मात्सगच्छेदुत्तमां गतिम्॥२॥ मिथ्या ज्ञानों से गुणों के समूहरूप इस देह को आत्मा समझनेवालों के अनन्त दुःख शान्त नहीं होते हैं ॥१॥ किन्तु जो मुनि स्वाभाविक कर्म को त्यागकर सदा आत्मप्रेमी सर्वात्माश्रय होता है सो उससे उत्तम गति पाता है ॥२॥७४॥

अथ परमप्रभुशरणागति प्र० ३६

रमैनी ७५

तिहि साहब के लागहु साथा। द्वि दुख मेटि के होहु सनाथा ॥

---

१ अज्ञानप्रभवं सर्वं ज्ञानेन प्रविलीयते। संकल्पो विविधः कर्ता विचारः सोऽयमीदृशः ॥ अपरोक्षानुभूतिः" वायौ द्वन्द्वमिवात्रेदं जगदादि च भासते। कोऽहं कथमिदं चेति विचारेणैव शाम्यति ॥ योगवासिष्ठ नि० ।

दशरथ कुल अवतरि नहिं आया। नहिं लंका के राव सताया॥
नहिं देवकि के गर्भहिं आया। नहिं यशोदा गोद खेलाया॥
पृथिवी रमन धमन नहिं करिया। पैठि पताल नहिं बलि छलिया॥

यस्य ज्ञानाद् भवेच्छुद्धिः परमा च सनातनी।
यद्भक्त्या न भवोऽपि स्यात्तद्विभोः शरणं व्रज॥ १॥
तस्यैव शरणे स्थित्या सर्वं द्वन्द्वं विनाशय।
सनाथः कृतकृत्यश्च विहरस्व यथासुखम्॥ २॥
यस्य सङ्गान्न दुःखानि स्युरेवेह कदाचन।
नावतीर्यागतो देवो गृहे दशरथस्य सः॥
न लङ्काया नरेशं वाऽशातयत् स बलेन च॥ ३॥
गर्भे नैव स देवक्या आगतो न यशोदया।
उत्सङ्गे लालितो देवो विभौ तस्मिन् जगत् स्थितम्॥ ४॥
पृथिव्यां रमणं नैव कृतं न धावनं तथा।
पाताले वा प्रविश्याऽयं बलिं वञ्चयते स्म नो॥ ५॥

जिस हरि की भक्ति तथा ज्ञान, ध्यान से अविद्यादि की निवृत्तिरूप परम शुद्धि मुक्ति होती है, देवादि से पर उसी साहब (प्रभु) के साथ में लगो (अनन्यभाव से उससे मिलो) उसके ज्ञाता तत्स्वरूप सद्गुरु के साथ लगो और इस साथ लगने के द्वारा जन्म-मरणरूप दो दुःख को तथा द्वैतभाव राग-द्वेषादि द्वन्द्वरूप दुःखों को मेट (नष्ट) करके सनाथ (रक्षित कृतकृत्य) होवो। जिसके साथ होने से सनाथ होगे, वह विभु असङ्ग होने के कारण अवतार लेकर दशरथजी के कुल में नहीं आया न लंका के राव (राजा) रावण को सताया (नष्ट किया) न लंका का राजा उसको सताया (कष्ट दिया)। विभु होने ही से वह देवकी के गर्भ में नहीं आया न यशोदा ने उसको गोद में खेलाया और वह पृथिवी पर रमन (क्रीड़ा) नहीं किया न वह धवन (धावन) रूप क्रिया किया या पृथिवी रमन (पृथिवी पति) राजाओं का धवन (दमन = नाश) नहीं किया न पाताल में पैठकर बलि नामक राजा को वामनरूप होकर ठगा। क्योंकि–

न बलिराज से माँडिल रारी। नहिं हिरणाकस बधल पछारी॥
बराहरूप धरणि नहिं धरिया। छत्री मारि निछत्री न करिया॥
नहिं गोबरधन कर गहि धरिया। नहिं ग्वाल संग बनबन फिरिया॥

गण्डक शालग्राम नहिं कूला। मच्छ कच्छ होय नहिं जल डूला ॥
द्वारावति शरीर नहिं छाड़ा। लै जगन्नाथ पिण्ड नहि गाड़ा ॥

बलवद्भ्यः स राजभ्यो विग्रहं कृतवान्नहि।
हिरण्यकश्यपं नैव पातयित्वाऽवधीत्तथा ॥ ६ ॥
वराहवपुषा नैव पृथिवीं धृतवान् प्रभुः।
क्षत्रियान् मारयित्वा वा निःक्षत्रं न कृतं जगत् ॥ ७ ॥
नैव गोवर्धनस्तेन करेणैव धृतस्तथा।
गोपैः सह न देवोऽसौ वनेषु विचचार ह ॥ ८ ॥
गण्डक्याश्च तटेनानासौ शालिग्रामशिलाऽभवत्।
न मत्स्यकच्छपौ भूत्वा स्वयं तोये समाचरत् ॥ ६ ॥
द्वारावत्यां शरीरं स त्यक्तवान्न कदाचन।
जगन्नाथनगर्यां न गात्रं तस्य व्यरोपयत् ॥१०॥
कोपि देवो मनुष्यो वा शक्तस्तत्र न विद्यते।
शरीरत्रिययाद्भिन्नो वर्तते स सदा स्वयम् ॥
मायामात्रं जगत्तस्य सावतारं चराचरम् ॥११॥

वह साहब बली राजाओं से रार (झगड़ा) युद्ध नहीं मांड़ा (नहीं ठाना) न हिरण्यकश्यप को पछार कर उसका बध किया। बराह (शूकर) रूप होकर धरणी (पृथिवी) का धारण नहीं किया न क्षत्रियों को मारकर भूमि को निःक्षत्रिय किया न गोवर्धन पर्वत को हाथ से पकड़ कर धारण किया न गोपों के साथ बन-बन में फिरा और गण्डक (गण्डकी नदी) में शालग्रामशिला का कूल (समूह) रूप नहीं हुआ था उस नदी के कूल (तट) में शालग्राम नहीं हुआ और मत्स्य और कच्छप होकर जल में नहीं डोला (नहीं विचरा) न द्वारावती (द्वारिका) में शरीर का त्याग किया। अतएव उसके पिण्ड (शरीर) को कोई भी लेकर जगन्नाथपुरी में नहीं गाड़ा। क्योंकि ग्रहण त्यागादि के योग्य व्यष्टि कोई शरीर हुआ न है, वह सर्वात्मा है, विशेष सब संसार शरीरादि उसके मायामात्र हैं।

साखी—कहहिं कबीर पुकारि के, वा पन्थे मति भूल।
जिहि राखेहु अनुमान कै, स्थूल नहीं अस्थूल ॥७५॥

भ्रमितव्यं न तन्मार्गे सज्जनेन मुमुक्षुणा।
तेभ्यः परतरं तत्त्वं ज्ञातव्यं गुरुसेवया ॥१२॥

यं जानास्यनुमित्या त्वं स्थूलसूक्ष्मपरो हि सः ।
ज्ञेयो भक्त्यादियोगेन सद्गुरोर्वचनैस्तथा ॥१३॥
सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरं नित्यं तं चिदानन्दविग्रहम् ।
शुद्धाच्छुद्धतरं बुद्धं विद्धि विद्वन् निरन्तरम् ॥१४॥

चिदानन्दकन्दं परेशं पुराणं प्रपन्नाखिलानन्ददोहं प्रसन्नम् ।
गभीरं गुणज्ञानगोतीतमाद्यं सदा सर्वबुद्धौ च देदीप्यमानम् ॥
सदा भोगभाजां सुदूरे विभान्तं तथा योगभाजां हृदि प्रस्फुरन्तम् ।
हरन्तं सतां मोहकामान्धकारं कृपागारमद्वैतदेहं भज त्वम् ॥१५॥७५॥

श्रीकबीर साहब पुकार के कहते हैं कि दो दुःख मेटने की यदि इच्छा हो तो उस स्थूल शरीर शरीरी के ज्ञान-ध्यानादि मार्ग में नहीं भूलो (उन मार्गों को सत्य गन्तव्य नहीं समझो) । क्योंकि अद्भुत महान् संसार को देखकर जिस सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान कर्ता का अनुमान कर रखे हो कि इस अद्भुत जगत का कोई अद्भुत कर्ता है । वह ईश्वर भी स्थूलरूप गुणादिवाला नहीं है । किन्तु अस्थूल (स्थूल शरीरादि से रहित सूक्ष्मों से अतिसूक्ष्म) है "अस्थूलमनणवह्रस्वम् । बृ० ३।८।८" "न तस्य कार्यं करणं च विद्यते । श्वेता० ६।८" न देवः पुण्डरीकाक्षो न च देवस्त्रिलोचनः । न देवः कमलोद्भूतो न देवस्त्रिदशेश्वरः॥१॥ अकृत्रिममनाद्यन्तं देवनं देव उच्यते । आकारादि परिच्छिन्ने मिते वस्तुनि तत् कुतः ॥२॥ योगवासिष्ठ" स्थूलता अणुता ह्रस्वता रहित ब्रह्म है । उसके कार्य-करण (शरीर इन्द्रिय) नहीं हैं । विष्णु, शिव, ब्रह्मा, इन्द्रदेव (ईश्वर) नहीं है । अतः इनके अवतार भी ईश्वररूप देव नहीं हो सकते हैं ॥१॥ अकृत्रिम आदि अन्तरहित प्रकाशक देव कहा जाता है, वह देवत्व आकारादिवाले परिमित पदार्थ में कैसे हो सकता है ॥ ७५ ॥

रमैनी ७६

माया मोह कठिन संसारा । इहे विचार न काहु विचारा ॥
माया मोह कठिन जग फंदा । होय विवेकि सोइ जन बन्दा ॥
राम नाम लै बेरा धारा । सो तो ले संसारहिं पारा ॥

मायामोहौ हि संसारे कठिनौ बाधकौ तयोः ।
वशंगतो न कोऽपीमं विचारं कुरुते जनः ॥१६॥
मायामोहौ जगत्यस्मिन् दुर्भेद्यौ पाशकौ मतौ ।
तद्विमुक्तो विवेकी यः स्याद्वन्द्यो भक्तिमानसौ ॥१७॥

तरणाय भवाम्भोधे रामनाम्नीं तरिं शुभाम् ।
आश्रयेत सुधी र्यस्तु स संसारात्परो भवेत् ॥१८॥
भजेद्यः सदा राममाद्यन्तहीनं भवाद्यन्तरूपं जगद्द्वन्द्वपारम् ।
अपारं सदाऽऽनन्दरूपं विशुद्धं भवारण्यदावानलं ज्ञायमानम् ॥१९॥
निराकारमेकं सदाकारदेवं प्रपन्नार्तिहन्तारमीशं शरण्यम् ।
जनानर्थसंघस्य शान्तेर्निदानं महायोगिविज्ञैः प्रपन्नं स मुक्तः ॥२०॥

पूर्व वर्णित विचारजन्य भक्ति और ज्ञान से मुक्ति होती है । परन्तु ममता कपट कनककामिनी आदिरूप माया और मायाजन्य मोह (अविवेक राग) कठिन बन्धनादि स्वरूप हैं । अतः यह स्थूल अस्थूलादि का विचार विवेक किसी ने नहीं किया । उक्त विचाररूप उपदेश शास्त्र को किसी ने नहीं विचारा । अतः माया मोहरूप कठिन फन्द (फाँस बन्धन) संसार में लगा है, तहाँ जो माया और ब्रह्मात्मा के विवेकी ज्ञानी होते हैं, सोई जन इन फन्दों से बचते हैं । अतः सोई जन वन्दनीय भक्त होते और कहलाते हैं और जो विवेकी रामनामरूप बेरा (नौका) का धारा (धारण = आधार) कर लेते हैं सो तो अवश्य संसार सागर के पार को ही लेते (प्राप्त करते) हैं । उनके लिये संसार गोखुरतुल्य हो जाता है सो प्रथम कहा गया है ।

साखी—रामनाम अति दुर्लभ, औरन ते नहिं काम ।
आदि अन्त औ युगयुग, रामहिं ते संग्राम ॥७६॥

दुर्लभो रामनामाऽस्ति नान्यैः कार्यं च सिद्ध्यति ।
आदे र्यावद् भवेदन्तस्तावद्युद्धं चरेदतः ॥२१॥
रामस्यैवानुभूत्यर्थं स्वेन्द्रियैः मनसा तथा ।
अनन्तयुगपर्यन्तं नान्यत् किञ्चिच्च संस्मरेत् ॥२२॥
रामस्यैव च लब्ध्यर्थं स्वात्मनो वै विमुक्तये ।
रामेणापि च संग्रामं कुर्वते सज्जनाः सदा ॥२३॥
कोऽसौ रामः कथं ज्ञेयः प्राप्यते स कथं मया ।
इति चिन्तापरत्वं हि रामाद् युद्धोऽभिधीयते ॥२४॥
नित्यः सर्वगतो ह्यात्मा कूटस्थो दोषवर्जितः ।
एकः सन् भिद्यतेभ्रान्त्या बोधोऽयं रामविग्रहः ॥२५॥
रामे भेदं तिरस्कृत्य ह्यभेदेनैव दर्शनम् ।
रामेण योधनं चेदं परं श्रेयस्करं स्मृतम् ॥२६॥

संग्रामो लभ्यते रामादद्वैतानन्दलक्षणः ।
आदावन्ते च मध्येऽपि नान्यैर्वाऽतः स दुर्लभः ॥२७॥७६॥

इति हनुमदीये रमैनीरसोद्रेके परमप्रभुशरणागत्युपदेशो नाम षट्त्रिंशत्तमः प्रवाहः ॥ ३६ ॥

विवेकी मनुष्य रामनाम से अन्य को इसलिये नहीं प्राप्त करता है कि उसके लिये रामनाम ही अत्यन्त दुर्लभ है। क्योंकि राम की प्राप्ति से उसको पूर्ण तृप्ति होती है, जिससे काम पूर्ण हो जाता है और औरन (अन्य पदार्थ देवादि) से कभी काम (इच्छा) पूर्ण नहीं होता है, तृप्ति मुक्तिरूप कार्य की सिद्धि अन्य से नहीं होती है। क्योंकि राम ही सबका आदि और अन्तस्वरूप है, आधाररूप से युगयुग में रहनेवाला है और राम से ही संग्राम (गुणों का संघर्षपूर्वक प्रलय) होता है। अथवा राम की प्राप्ति के लिये जिज्ञासुजन आदि से अन्त तक और युगयुग में इन्द्रियादि से संग्राम करते आये हैं और करते हैं, तथा राम से भी संग्राम करते हैं, इसी संग्राम के साधन का आगे ५ पञ्चम कहरा में वर्णन है कि "प्रेम बाण एक सतगुरु दीन्हा, गाढ़ो तीर कमाना हो" और "प्रणवो धनुः शरोह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते। अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्। मुण्डक. २।२।४" ओंकार धनुष है, मन बाण है, ब्रह्म उसका लक्ष्य कहा जाता है सो प्रमादरहित समाहित चित्तवाले से वेद्धव्य (ध्येय) है, फिर शर जैसे लक्ष्य में मग्न प्रविष्ट होता है। तैसे ध्याता मन द्वारा तन्मय (ब्रह्ममय = ब्रह्मनिष्ठ) होता है, इत्यादि ॥ ७६ ॥

अथ परम प्रभु माया की एकता प्रकरण ३७

रमैनी ७७

एके काल सकल संसारा। एक नाम है जगत पियारा ॥
तिया पुरुष कछु कहल न जाई। सर्वरूप जग रहा समाई ॥

मायात्मको हि मोहोऽयमन्तकः सर्वदेहिनाम् ।
सर्वत्र वर्तते विश्वे बाधते सर्वदा जनान् ॥ १ ॥
तस्माच्च रक्षको नाम परप्रेमास्पदस्तथा ।
एक एवाद्वितीयोऽस्ति सत्तास्फूर्तिप्रदः प्रभुः ॥ २ ॥
"अमृतं[1] चैव मृत्युश्च द्वयं देहे प्रतिष्ठितम् ।
मृत्युरापद्यते मोहात्सत्येनापद्यतेऽमृतम् ॥ ३ ॥

---

१ महाभा० शा० १७५।३०॥

नात्मा स्त्री न पुमान्नायं वक्तुं शक्यः कथञ्चन ।
तथापि सर्वरूपः सन् प्रविष्टो वर्तते भवे ॥ ४ ॥
नैव[1] स्त्री न पुमानेष न चैवायं नपुंसकः ।
यद्यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स युज्यते" ॥ ५ ॥

एक मायाजन्य मोह सब संसारमें काल (कष्टप्रद मृत्युरूप) है । एक ही नाम (एक स्वरूप) राम सब जगत (प्राणी) का प्यारा आत्मा है । जो सबका आत्मा है सो तिया (स्त्री) या पुरुष या अन्य कुछ नपुंसकादि नहीं कहा जा सकता है तथा सर्वस्वरूप जगत में सबकी आत्मा अन्तर्यामी आदिरूप से समा रहा है ।

रूप निरूप जाय नहिं बोली । हलुका गरुआ जाय न तौली ॥
भूख न तृषा धूप नहिं छाँहीं । दुख सुख रहित रहै तिहि माँहीं ॥

नासौ रूपी निरूपो वा वक्तुं केनापि शक्यते ।
लघु गुरु विमातुं वा सर्वात्मत्वेन सर्वदा ॥ ६ ॥
"तत्तद्गुरु गरिष्ठानां तत्तल्लघु लघीयसाम् ।
तत्तत्स्थूलं स्थविष्ठानामणीयस्तदणीयसाम्" ॥ ७ ॥
तस्मिन्न क्षुत्पिपासेस्तस्तापश्छाया तथा नहि ।
सुखदुःखादिहीनोऽपि तद्वत्स्वेव तु वर्तते ॥ ८ ॥
"क्षुधापिपासा प्राणस्य मनसः शोकमोहकौ ।
जन्ममृत्यू शरीरस्य षडूर्मिरहितः शिवः ॥ ९ ॥
दुःखी यदि भवेदात्मा कःसाक्षी दुःखिनोभवेत् ।
दुःखिनः साक्षिताऽयुक्ता साक्षिणो दुःखिता तथा" ॥१०॥

सर्वरूपता एक रस साक्षिमात्रता से वह रूपवाले (तेज, जल, भूमि) स्वरूप ही नहीं कहा जा सकता है न निरूप आकाश वायु स्वरूप ही बोली (शब्द) से कहा जा सकता है न हलका या गरुआ (भारी) तौला जा सकता है न उसमें भूख, पिपासा, धूप (ताप) और छाया आदि कहे जा सकते हैं । क्योंकि भूख पिपासा प्राण के धर्म हैं, शोक मोह भयादि मन के धर्म हैं, जन्म-मरण तापादि स्थूल देह के धर्म हैं । आत्मा इनका साक्षी है । अतएव धूप छाया आदि सुख दुःखादि सब द्वन्द्वों से रहित आत्मा है तथापि उन रूप-निरूप में और सुख दुःखादि में असङ्ग साक्षी स्वरूप से रहता है ।

---

१ श्वेता० ५।१०॥

साखी—अगम अपार रूप बहू, औ अरूप बहु भाय।
बहुत ध्यान कै जोहिया, नहिं तिहि संख्या आय ॥७७॥

अगम्योपि ह्यपारश्च बहुरूपश्च दृश्यते।
अरूपोऽनन्तरूपश्च भात्यसौ शक्तिसंयुतः ॥११॥
बहुधा ध्यानतोऽन्विष्टा संख्या तस्य न लभ्यते।
असंख्योऽनन्तशक्तिः स तस्माज्ज्ञेयो मुमुक्षुभिः ॥१२॥
"एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्" ॥१३॥
सर्वज्ञः सर्वरूपश्च सर्वभूतगुहाशयः।
असंख्योऽनन्तसंख्यश्च सर्वातीतो हि चेतनः ॥१४॥७७॥

इति हनुमदीये रमैनीरसोद्रेके परमप्रभौ मायायाश्चैकैकत्ववर्णनं नाम सप्तत्रिंशत्तमः प्रवाहः ॥ ३७ ॥

वह सर्वात्मा राम औपाधिक स्वरूप से अगम-अपार बहुत रूपवाला है, और अरूप (रूपरहित) बहुत स्वरूप से भासता (प्रकाशता) है। बहुत ध्यानादि करके खोजने पर भी उसके औपाधिक स्वरूप की संख्या का पता नहीं लगता है। अतः उसकी संख्या नहीं है। पारमार्थिक स्वरूप से एक है, औपाधिक स्वरूप से अनन्त है। "अस्त्यनन्तविलासात्मा सर्वगः सर्वसंश्रयः। चिदाकाशोऽविनाश्यात्मा प्रदीपः सर्वजन्तुषु ॥१॥ योगवा० प्र० २।१०।११" ॥७७॥

अथ निजापराधफलादि वर्णन प्र० ३८

रमैनी ७८

मानुष जन्म चुकेहु अपराधी। यह तन केर बहुत हैं साझी ॥
तात जननि कह पुत्र हमारा। स्वारथ लागि कीन्ह प्रतिपाला ॥
कामिनि कहै मोर पिय अहई। बाघिनि रूप गरासन चहई ॥

दुर्लभं मानुषं जन्म प्राप्यात्रानवधानता।
क्रियते ह्यभिमानाद्यैर्वाऽऽसक्या तन्न शोभनम् ॥ १ ॥
यदर्थं चापराध्यन्ति भवन्तः सर्वदा मुहुः।
तस्य चास्य शरीरस्य दायादा बहुभागिनः ॥ २ ॥

पितरौ वदतः पुत्र आवयोः प्रीतिवर्द्धनः ।
स्वार्थमेव च रक्षाऽस्य पुरावाभ्यां कृता ननु ॥ ३ ॥
कामुकी च वदत्येवं ममायं वल्लभः प्रभुः ।
सा हि व्याघ्रीव धर्मार्थौ वाञ्छति ग्रसितुं सदा ॥ ४ ॥

जो मनुष्य दुर्लभ परम प्रिय राम के भजन नहीं करके तथा उस राम की प्राप्ति के लिये गुरु, माता, पिता, सन्त, धर्मादि की सेवा नहीं करके देह पोषण परायण हैं, उनसे कहा जाता है कि हे मनुष्यों! दुर्लभ मनुष्य जन्म पाकर यदि उक्त आत्माराम की प्राप्ति परोपकार धर्मादि नहीं कियो, तो चुकेहु (चूक भूल कियो) और अपराधी (दोषी पापी) हो गयो, और जिसमें आसक्त होकर चूक अपराध करते हो। इस देह के बहुत साझी (हिस्सेदार) हैं। अतः माता-पिता कहते हैं कि हमारा पुत्र है, हमने स्वार्थ सेवा आदि के लिये इसका प्रतिपालन किया है और कामिनी (कामवश प्रेम करनेवाली) भी कहती है कि यह मेरा प्यारा है। परन्तु वह प्रिय बनाकर व्याघ्री के समान अर्थ धर्म शरीरादि को ग्रसना (नष्ट करना) चाहती है। क्योंकि "नहीदृशमनायुष्यं लोके किञ्चन विद्यते। यादृशं पुरुषस्येह परदारोपसेवनम्। मनुस्मृ० अ० ४।१३४" "पुरुष = मनुष्य के अनायुष्य = आयु = जीवनादि का नाशक। इस पर स्त्री सेवन के समान अन्य कोई कर्म नहीं है।

सुत कलत्र रहै लौ लाई। जम्बुक नित्य रहै मुँह बाई॥
काग गीध द्वौ मरण विचारै। शुकर श्वान द्वौ पन्थ निहारै॥
अग्नि कहै मैं ई तन जारो। सो न करहु जो जरत उबारो॥
धरती कहै मोहि मिलि जाई। पवन कहै मैं लेउँ उड़ाई॥

उभे पुत्र कलत्रे च तस्याशां कुरुतः सदा।
जम्बुकोऽप्यस्य मांसार्थं मुखं व्यादाय तिष्ठति॥ ५॥
काकगृध्रौ सदा मृत्युं ह्यस्य चिन्तयतः खलु।
उभौ तौ शूकरश्वानौ मार्गमस्यैव पश्यतः॥ ६॥
अग्निर्देवो ब्रवीत्येवमहं भस्मीकरोमि तत्।
स्वकीयं तज्जलं मत्वा तस्माद्रक्षितुमिच्छति॥ ७॥
तत्कुरुष्व पुनर्येन दुःखदाहो भवेन्नहि।
सर्वेभ्यो निजतापेभ्यो रक्षा यस्माद् भवेदिह॥ ८॥
पृथिवी वक्ति मय्येव त्विदं संमिलतु द्रुतम्।
वातो वक्ति मयैतद्धि व्युड्डाय नीयते क्वचित्॥ ९॥

पुत्र और कलत्र (घर की स्त्री) ये दोनों लौ (आश प्रेम) लगाये रहते हैं, गीदड़ इस देह के मांस के लिये सदा मुँख वाये रहते हैं, काक और गीध इस देह के मरण को विचारते (सोचते) हैं। शूकर कुक्कुर भी इसके मार्ग को देखते हैं (इसके आने की आशा करते हैं) अग्नि कहती है कि मैं इस देह को जलाऊँ, यह मेरा भक्ष्य है। उपदेश है कि अब तुम सो (वह) कर्म-विचारादि न करो कि जिससे सब ताप-पाप से जरते हुए का अब आगे उवार हो। अर्थात् अग्नि जैसे शरीर को जलाती है, तैसे तुम सदा शरीर के सङ्ग से तापादि से जरते हो, अब वह उपाय अवश्य करो कि जिससे इस शरीर के जलने के बाद फिर तेरे शरीर को जलना नहीं हो और पृथिवी चाहती है कि यह मेरे स्वरूप में मिल जाय और वायु कहता है कि मैं इसको उड़ाकर ले जाऊँ। अर्थात् देहाभिमानि को सब भूत-भौतिक पदार्थ अपने-अपने तरफ खींचते हैं कि जिससे देहाभिमानी राग-द्वेषादि में पड़कर दुःख पाता है और विवेकादि से अभिमान को त्यागने से सुखी मुक्त होता है।

तेहि घर को घर कहै गमारा। सो बेड़ी है गले तुम्हारा ॥
सो तन तुम आपन कै जानी। विषय सरूप भुला अज्ञानी ॥

इत्थं भूतं गृहं गात्रं स्वगृहत्वेन मन्यते।
यः स मूर्खो न विज्ञोऽसौ यतस्तद्बन्धनं दृढम् ॥१०॥
"देहः[1] किमन्नदातुर्वा निषेक्तुर्मातुरेव वा।
मातुः पितुर्वा क्रेतुर्वा बलिनोऽग्नेः शुनोऽपि वा ॥११॥
इत्थं साधारणं देहमव्यक्तप्रभवाप्ययम्।
को विद्वानात्मसात्कृत्वा कुर्यादस्मै प्रसज्जनम्" ॥१२॥
इत्थं साधारणं देहं स्वकीयत्वेन मन्यसे।
तमेव शृङ्खलां विद्धि बुद्धिग्रीवानिबन्धिनीम् ॥१३॥
आत्मीयत्वेन तं देहं जानीते यद्भवानिह।
विषयात्मा ततो भूत्वा बद्धो भ्रमति गोचरे ॥१४॥

अभिमान को त्यागने के लिये उपदेश है कि उक्तरीति से अनेक की ममता के विषयरूप इस देहरूप घर को जो अपना खास घर कहता है सो गमार (अज्ञ) है। क्योंकि अपना माना हुआ सो देहरूप घर तुम्हारे (मानने वालों के) गले की बेड़ी के तुल्य है तो भी तुम अज्ञों ने सो (उस) तन को

१ श्रीमद्भा० स्क० १०।११-१२ ॥

अपना जान करके (अपना स्वरूप समझ करके) देहादि विषयों के प्रकाशक (विषयी) निजस्वरूप को भूला है और विषय (देह) स्वरूप तुम हुए हो। अतः अज्ञानी हो।

साखी—इतना तन के साझिया, जन्मो भर दुख पाव।
चेतत नाही मुग्ध नल, मोर मोर गोहराव ॥७८॥

देहस्य भागिनश्चैते यावद्देहं तु मूढधीः।
क्लिश्नात्येव ममत्वेन ममेति कथयन् सदा ॥१५॥
ममता बद्धजन्तुर्हि लभते न सुखं क्वचित्।
न ज्ञानं नापि सद्भक्तिं संसारं प्रतिपद्यते ॥१६॥

त्यक्त्वा ममत्वकलनां तनुबन्धुवर्गे, ह्यात्मानमेव सततं सुधियो भजन्ति।
मुक्ताभवन्ति भवभोगमहाहिपाशात्, स्वानन्दतृप्तमनसश्च सदात्मबोधात्॥
क्लेशपञ्चवीचिजालपूर्णविश्वसागरं, संशयादिचक्रजालपूर्णसर्वभागकम्।
दारपुत्रबंधुवर्गजन्तुसंघसंयुतं, कामलोभवाडवैर्युतं तरन्ति ते सुखम् ॥१८॥

इतना (ये माता पिता आदि अनन्त) देह के साझिया (हिस्सेदार) हैं। उस देह में ममता अभिमान करके यह मनुष्य जन्मोभर (जन्म से मरण पर्यन्त) दुःख पाता है और वह मुग्ध (मूढ अज्ञ) मनुष्य चेतता (विवेकादि करता) नहीं है। किन्तु मेरा-मेरा पुकारता है ॥७८॥

सम्बन्ध—यहाँ शंका होती है कि अनादि मोह-मायादि मूलक यह जन्म-मरणादि दुःखरूप संसार भी प्रवाहरूप से अनादि ही है, तहाँ जैसे अनादि नित्यात्मा कभी नष्ट नहीं होता है। क्योंकि "अयमात्मा ब्रह्म" यह आत्मा अविनाशी ब्रह्म है। इसी प्रकार अनादि मोहादि का और दुःख का भी नाश नहीं हो सकता है, तो कोई चेतकर भी दुःखों से रहित कैसे हो सकता है तो इस शंका का आगे समाधान है कि—

रमैनी ७९

बढ़वत बढ़ी घटावत छोटी। परखत खर परखावत खोटी॥

बृंहणाद्वर्द्धते मोहो ह्यासक्त्या स्नेहतस्तथा।
धनलाभेन[1] लोभेन वस्तूनां पीनतां व्रजेत् ॥१९॥

---

१ "अनात्मन्यात्मभावेन देहमात्रास्थयाऽनया। पुत्रदारकुटुम्बैश्च चेतो गच्छति पीनताम् ॥ योगवा० प्र० ५।५०।५७ ॥

अवज्ञानाल्लघुत्वं च प्राप्नोत्येव विचारतः।
ह्रस्वतामेत्य कालेन नश्यत्यपि च सर्वथा॥२०॥
मोहस्य विषयः सत्यः स्वयं भाति परीक्षणात्।
न नश्यति ततो मोहः कामो लोभश्च वर्द्धते॥२१॥
यदा सद्गुरुभिः सार्द्धं मिळित्वाऽयं परीक्ष्यते।
तदा मिथ्या भवेदेव जगन्मोहोपि नश्यति॥२२॥
"यथा पर्वतमादीप्तं नाश्रयन्ति मृगद्विजाः।
तद्वद् ब्रह्मविदो दोषा नाश्रयन्ते कदाचन"॥२३॥

अनादि आत्मा एकरस रहनेवाला निर्विकार सत्य है। अतः उसका कभी किसी प्रकार से नाश नहीं होता है और मोह ममता कामादि को बढ़ाने से ये सब बढ़ते हैं। बढ़ाने से इनकी बढ़ी (वृद्धि) होती है सो सर्वानुभव से सिद्ध है और विचार वैराग्य सत्सङ्गादि द्वारा इन मोहादि को घटाने से इनकी संख्या छोटी हो जाती है, ये सब ज्ञान से मिथ्या तुच्छादि भासने लगते हैं। अतः ज्ञान से सर्वथा नष्ट होते हैं। क्योंकि मोहादि और मोहादि के विषय सब अनात्म वस्तु को अपनी विवेक रहित बुद्धि द्वारा परखने (विचारने समझने) से ये सब खर (खरा सत्य) यद्यपि प्रतीत होते हैं तथापि ज्ञानी सद्गुरु द्वारा परखावने (पहिचान परीक्षा कराने) से ये सब खोटी (मिथ्या) स्वप्नतुल्य सिद्ध हो जाते हैं। अतः इनकी सत्यात्म ज्ञान से अनुत्पत्ति और निवृत्ति होती है।

केतिक कहौं कहाँ ले कही। औरो कहौं परै जो सही॥
कहल बिना मोहि रहल न जाई। विढई ले ले कूकुर खाई॥

अस्माभिर्बहुधोक्तं सन्मोहस्यास्य निवृत्तये।
कियत्पुनः प्रवक्ष्यामि सत्यं चैतन्निगद्यते।२४॥
भूयोऽपि शक्यते वक्तुं तत्त्वाऽतत्त्वविवेचनम्।
यदि लभ्येत सच्छिष्य उक्तिश्च सफला भवेत्॥२५॥
प्राप्ते हि सुजने शिष्येऽनुक्त्वा स्थातुं न शक्यते।
श्वेव यो विषयानत्ति तस्मै किन्तु मयोच्यताम्॥२६॥
अत्ति श्वा शष्कुलीं यद्वत्तथा प्रेम्णा त्वयं जनः।
विषयान् विषमानत्ति तेनैवायं विपीड्यते॥२७॥

उन मोहादि दुःख के हेतुओं की निवृत्ति के ही लिये मैंने बहुत बात कही है, अब केतिक (कितना) कहूँ, कहाँ तक (अन्तिम वस्तु तक) की

बातों को मैंने कही है और भी कहूँ, यदि कहना सही पड़े (सफल होय)। क्योंकि योग्य अधिकारी जिज्ञासु के मिलने पर, मुझसे (गुरु से) कहे बिना रहा नहीं जा सकता है। परन्तु अधिकारी प्रायः दुर्लभ है। क्योंकि प्रायः कूकुर तुल्य लोग हैं और कूकुर जैसे अपकारक गर्म मसाले युक्त विढई मिले तो उसको त्यागता नहीं है, स्वादु होने से उसे ले-ले कर खाता है। तैसे विढई तुल्य अपकारक स्वादु विषय कर्जादि ले-ले कर मनुष्य भोगता है, मोहादि को घटाता नहीं है। अतः उक्त उपदेश के अधिकारी दुर्लभ हैं। तो भी कहा जाता है कि—

साखी—खाते खाते युग गया, अजहुं न चेतहु आय।
कहहिं कबीर पुकारि के, ई जिव जरतहिं जाय ॥७६॥

विषयान् खादतश्चैवं ते युगानि गतानि वै।
तृप्ति र्न जायते तेन तस्माज्ज्ञानाय यत्यताम् ॥२८॥
सतां सङ्गं समाश्रित्य त्विदानीं सद्गुरोर्द्रुतम्।
ज्ञायतामात्मदेवोऽयं येन तापो निवर्तते ॥२९॥
आत्मदेवस्य चाज्ञानात्सर्वेमी जीवसञ्ज्ञकाः।
दह्यमानाः प्रजायन्ते दह्यमानाः प्रयान्ति हि ॥३०॥
"नष्टात्मसंस्थितयो नित्यं भोगवह्नौ ज्वलन्त्यलम्।
देवा दिवि दवेनाद्रौ दह्यमाना द्रुमा इव' ॥३१॥

भोगान्नतृप्ति र्मनसो हि जायते, कस्यापि लोके गुरुबोधमन्तरा।
तस्माज्जनः सद्गुरुमेव संश्रयेद् बोधस्य सिद्ध्यै सुविचारमेव च ॥३२॥७९॥

इति हनुमदीयेरमैनीरसोद्रेके देहदायादादिवर्णनं
नामाऽष्टत्रिंशत्तमः प्रवाहः ॥ ३८ ॥

उक्त विषयों के भोगने में जीवों के अनन्त युग बीत गये। परन्तु अजहुँ (अब भी) जिनको चेतहु (विवेकहु) नहीं आया (होश नहीं हुआ)। श्री कबीर साहब पुकार के कहते हैं कि ऐसे जीव जरते ही जाते हैं। अथवा उपदेश है कि भोगते-भोगते युग गया। परन्तु भोग से तृप्ति नहीं हुई। अतः यदि कोई तृप्ति चाहो तो अब भी सत्सङ्ग गुरुशरण में आकर चेतो न (अवश्य चेतो) क्योंकि चेतने के बिना यह संसारी जीव जरत ही जाता है, इत्यादि ॥ ७६ ॥

अथ गुरुशरणागति की आवाश्यकता प्र० ३९

रमैनी ८०

बहुतक साहस करहु जिय अपना। तिहि साहब सो भेट न सपना॥
खरा खोंट जिन नहिं परखाया। चहत लाभ तिन मूल गमाया॥
समुझि न परल पातरी मोटी। ओछी गाठि सबै भौ खोटी॥

गुरुंविना भवानत्र कुरुते बहु साहसम्।
ततो नास्त्यात्मदेवस्य स्वप्नेऽपि दर्शनं प्रभोः॥ १॥
सत्यानृतविवेको यै न लब्धः सद्गुरोः स्वयम्।
ते लाभमभिकाङ्क्षन्तः कुर्वते मूलनाशनम्॥ २॥
स्थूलसूक्ष्मौ न यै र्ज्ञातौ विवेकेन गुरोर्मुखात्।
हीनेन ग्रन्थिना तेषां सर्वं भवति निष्फलम्॥ ३॥
कामाद्या ग्रन्थयस्तुच्छा मानुष्यं नाशयन्ति हि।
नरके पातयन्त्येव मोक्षो दूरतरं व्रजेत्॥ ४॥

सत्संग सद्गुरु आदि के बिना तुम अपना जिय (मन) से यदि बहुत साहस (यत्न) करते हो, तो भी जिस साहब के संग परिचयादि से सब द्वन्द्व दुःख मिटते हैं, उस साहब से तुम्हे स्वप्न में भी भेंट (मेल) न हुआ न होने का है। क्योंकि जिन लोगों ने खरा खोंट (सत्यासत्य) को सद्गुरु से नहीं परखाया (विवेक ज्ञान नहीं करवाया) रत्नपारख तुल्य सत्यमिथ्या के पारख को जो नहीं प्राप्त किया। वे लोग, यदि स्वर्गादि का लाभ चाहते हैं; तो अविवेकवश सबके मूल मनुष्यता स्वधर्म निजस्वरूप को भी गमाते हैं और प्रथम गमाया है। क्योंकि गुरुआदि के बिना जिनको पातरी (सूक्ष्म) और मोटी (स्थूल) देह खोटी (मिथ्या) नहीं समझ पड़ा, उनकी ओछी गाँठी (तुच्छ आशा कामादि ग्रन्थियों) से, उनके जीवन मनुष्यता आदि सब खोंटी (तुच्छ निष्फल वस्तु) हो गई।

कहहिं कबीर किहि देवहु खोरी। जब चलिहहु झिझि आशा तोरी॥

नरकादौ नराः प्राप्यापराधं तत्र कस्य वै।
यूयं वक्ष्यथ गन्तारो हताशा यत्र कुत्र वा॥ ५॥
तदा स्वस्यापराधस्य फलं सर्वैं हिं भुज्यते।
दूयते तत्र शोकेन पश्चात्तापेन पीड्यते॥ ६॥

स्थूलां त्यक्त्वापि सूक्ष्माशां जीवन् यो न जहाति सः ।
मृत्युकाले हि तां छित्त्वा बलाद्यात्येव दुर्मतिः ॥ ७ ॥
कालादिभि बन्धलयं च बन्धनं पश्यन्ति मूढा बहुवासनासिताः ।
ये तौष्टिकाः कर्मबलै र्नियन्त्रिता दोषैर्निजैस्ते परियान्त्यधः सदा ॥ ८ ॥

उक्तरीति से निज अपराधों से ही जीवनादि निष्फल हो जाते हैं। अतः श्रीकबीर साहब कहते हैं कि जब अन्तकाल में झीनी-झीनी आशाओं को तोड़कर (तृप्त हुए बिना हताश होकर) कामादि बन्धनयुक्त चलोगे, तब किसको खोरी (दोष) दोगे। अर्थात् किसीको दोष नहीं दे सकोगे, अपने अपराधों को आप भोगोगे। अतः अभी अपराधों से रहित होने के लिये साहब से परिचय करो और परिचय के लिये अन्य सब आशा कामादि को त्यागकर सत्सङ्ग गुरुभक्ति आदि करो इत्यादि।

साखी—झीं झीं आशा महँ लगे, ज्ञानी पण्डित दास।
पार न पावहिं बापुरे, भरमत फिरहिं उदास ॥८०॥

अहो सर्वेऽपि मोहेन कर्मठा वेदवित्तमाः ।
शास्त्रज्ञा देवभक्ताश्चसूक्ष्माशाः संत्यजन्ति न ॥ ९ ॥
सूक्ष्माशाभिः समासक्ताः सर्वेऽमी बुद्धमानिनः[1] ।
संसाराब्धेः परं पारं प्राप्नुवन्ति न बालिशाः ॥१०॥
भ्रमन्तोऽतश्च संसारे दीनास्तिष्ठन्ति ते सदा ।
बहुयोनिसहस्रेषु विचरन्ति कुचेतसः ॥११॥
कामक्रोधादि[2] संसर्गादशुद्धं जायते मनः ।
अशुद्धे मनसि ब्रह्मज्ञानं तच्च विनश्यति ॥१२॥
दिशामोहो यथा लोके विदुषामपि जायते ।
आनन्दात्मनि सम्मोहो विदुषामेवमस्त्यपि ॥१३॥८०॥

इति हनुमदीये रमैनीरसोद्रेके सद्गुरुं विना दुराशादुर्भेद्यतावर्णनं नामैकोनचत्वारिंशत्तमः प्रवाहः ॥३९॥

स्वर्ग सुख देवभावादि विषयक लोकमान्यता शास्त्रादि विषयक सूक्ष्म-सूक्ष्म अनेक आशा-वासनाओं में ज्ञानी (शास्त्रज्ञ) पण्डित और देवदास (देव-

---

१ अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितं मन्यमानाः। दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ॥ मुण्डक० १।२।८ ॥
२ आत्मपु० अ० ७।१६५-२६१ ॥

भक्त) उपासक भी लगे रहते हैं। अतः आशा, तृष्णा, कामादि के पार नहीं पाते हैं, न संसार के पार पाते हैं। किन्तु आशा आदि से वापुरे (बावरे) होकर, उदास (शोकयुक्त) होकर संसार में सब योनियों में भ्रमते-फिरते है। अतः विवेकादि की प्राप्ति करके सब आशा और कामादि निवारणीय हैं। अन्यथा "आशाया येऽत्र वै दासास्ते दासाः सर्वलोकस्य। आशा दासी कृता येन तस्य दासायते जगत् ॥१॥" आशा के जो यहाँ दास होते हैं सो सब संसार के दास हो जाते हैं। किन्तु आशा को जो दासीवश में किये हैं, उनके दासतुल्य सब जगत आचरण करता है ॥ ८० ॥

अथ देवचरित्र विमोहप्रभाव प्र० ४०

रमैनी ८१

देव चरित्र सुनहु रे भाई। सो ब्रह्मा जो धिया नशाई ॥
ऊजे कहे मदोदरि तारा। तिन घर जेठ सदा लगवारा ॥
सुरपति जाय अहल्यहि छलिया। सुरगुरु घरणि चन्द्रमा हरिया ॥
कहहिं कबिर हरि के गुण गाया। कुन्ती कर्ण कुमारहिं जाया ॥८१॥

देवानामपि मोहेन यश्चरित्र विपर्ययः।
तं शृणोतु भवान् भ्रातस्तदाशाविनिवृत्तये ॥ १ ॥
ब्रह्मा दुहितरं स्वां सोऽनाशयत् काममोहितः।
गृहे मन्दोदरी तारा जारं ज्येष्ठममन्यत ॥ २ ॥
इन्द्रोऽहल्यां च मोहेन कपटेन ह्यवञ्चयत्।
बृहस्पते र्निजां भार्यां चन्द्रमा हृतवान् स्वयम् ॥ ३ ॥
सूर्यस्याऽयं गुणो गीतो येन कुन्ती कुमारिका।
जनयामास कर्णं सा सर्वथा विवशा सती ॥ ४ ॥
कामेन[१] विजितो ब्रह्मा कामेन विजितो हरिः।
कामेन विजितः शम्भुः शक्रः कामेन निर्जितः ॥ ५ ॥
अपरे त्वमराः किन्तु नारी क्रीडामृगा हि ते"।
इत्येवं गुरवः प्राहुराशापाशनिवृत्तये ॥ ६ ॥८१॥

रे (हे) भाई! मुमुक्षुजनों! देव लोकादि की आशा वासनादि की निवृत्ति के लिये देवचरित्रों को सुनो सो (प्रसिद्ध) ब्रह्मा लोकपितामह प्रजापतिरूप

१ आत्मपु० अ० ४।१३७-१३८ ॥

देव कहे जाते हैं कि जो "प्रजापति ई वै स्वां दुहितरमभिदध्यौ। शतपथ० १।७।४" प्रजापति ने अपनी धिया (दुहिता) को काम दृष्टि से चिन्तन करके नशाय गये (निन्दित हुए) ऊजे (वह जो) मन्दोदरी और तारा देवकन्या कहे (कही) जाती है, कही गई हैं, तिन घर (उनके घर) में सदा लगवार (जार) ज्येष्ठ (पूज्यपति) हुए। प्रणाम करनेवाले देवर प्रणम्य स्वामी हो गये और सुरपति (देवराजा) इन्द्र ने गौतम ऋषि की स्त्री अहिल्या को ऋषि का स्वरूप बनाकर छला (ठगा) और सुरगुरु (देवगुरु) बृहस्पति जी की घरणी (स्त्री) को ब्रह्मा जी का अवतार अत्रि ऋषि का पुत्र चन्द्रमा ने हरण किया, बल से उस स्त्री का ग्रहण किया और श्री कबीर साहब कहते हैं कि हरि (सूर्य) देव का गुण महाभारत में गाया (कहा) हुआ है कि जिस मोह कामरूप गुण से कुन्ती ने कुमारावस्था में कर्ण को जाया (जन्माया)। अर्थात् कुन्ती ने बाल्यावस्था में दुर्वासा ऋषि की सेवा की, ऋषि प्रसन्न होकर मन्त्र दिये और कहा कि इस मन्त्र से जिस देव का आवाहन करेगी सो देव तुझे दर्शन देंगे, उसने मन्त्र की परीक्षा के लिये मन्त्र द्वारा प्रत्यक्ष सूर्यदेव के गुण (महिमा) गाया, तब सूर्यदेव कुन्ती के पास आकर उससे संग किया कि जिससे कर्ण का जन्म हुआ। अतः सिद्ध होता है कि देव होने से भी कामादि से विमुक्ति शान्ति नहीं मिलती है, इसलिये आशा, तृषणादि को त्यागकर विवेकादिपूर्वक वह साहब सेवनीय है कि जिसके ज्ञानादि से समूल सब द्वन्द्व नष्ट हो जायँ, अधिकारी देव आदि की भी अपने-अपने प्रारब्धों के अनुसार कल्पान्त तक प्रवृत्ति होती और सुख-दुःख यश-अपयश आदर-अनादरादि सब प्रारब्ध के अनुसार होते हैं, सर्वात्मा साहब के ज्ञानादि बल से ही उनको भी विमुक्ति शान्ति मिलती है। अतः साहब सेवनीय और ज्ञातव्य है ॥८१॥

रमैनी ८२

सुखक वृक्ष इक जगत उपाया। समुझि न परल विषय कछु माया॥
छौ छत्रि निपात युग चारी। फल दुइ पाप पुण्य अधिकारी॥

एक एवाऽस्त्युपायोऽत्र वृक्षः सौख्यफलप्रदः।
निजात्मानुभवो रागाभावोपरतिसंयुतः॥ ७॥
शमाद्याः साधकास्तस्य श्रवणाद्यास्तथैव च।
सत्सङ्गः पोषको नित्यमेकान्तस्य निषेवणम्॥ ८॥
तुच्छगोचर संसर्गान्मायाजालसमाश्रयात्।
ज्ञायते न महावृक्षः कुतस्तत्साधनं भवेत्॥ ९॥

ज्ञात्वा तं मृत्युमत्येति नान्यः पन्था विमुक्तये ।
इत्येवं श्रुतयः प्राहु र्जनास्तन्नैव जानते ॥१०॥
ब्रह्माद्या[1] देवता यद्वा ह्यन्ये भूपतयोऽखिलाः ।
इन्द्रियाण्यथवा क्षत्राः सम्पतन्ति चतुर्युगे ॥११॥
पक्षिवद्वै भ्रमन्तस्ते प्राक्तनैः कर्मदोषकैः ।
भुञ्जते सुखदुःखे द्वे पुण्यपापाधिकारिणः ॥१२॥
"वायुः सूर्यो वह्निरिन्द्रः कृत्वा जन्मान्तरेऽन्तरम् ।
कृत्वा धर्मं विजानन्तो ब्रह्मभीत्या चरन्ति हि ॥१३॥
राजार्थं रचिते यद्वत् प्रासादे सप्तभूमिके ।
उपर्यधो वा दुःखाप्तौ भेदः कोऽपि न विद्यते" ॥१४॥

नित्य निर्मल सुख स्वरूप मोक्षफल के उपायरूप वृक्ष संसार में मोह आशा कामादि रहित एक ब्रह्मात्म ज्ञान ही है, अन्य नहीं, सो आत्मा आत्मज्ञान, विषयरूप कछु (तुच्छ) माया से देवादि को, सदा अपरोक्षरूप से, यत्नों के बिना समझ नहीं पड़ा । कोई देव भी महायत्न ब्रह्मचर्यादि से ही आत्मा को समझ सके और समझते हैं और जब तक नहीं समझ पाये, तब तक ब्रह्मा, विभीषण, सुग्रीव, इन्द्र, चन्द्र और सूर्य इन छौ क्षत्रियों (लोकरक्षकों) का भी चारो युग पर्यन्त संसार में निपात (निपतन) हुआ और वे लोग भी संसारिक सुख-दुःखरूप दो फल के और फल हेतु पाप-पुण्य के अधिकारी हुए ।

स्वाद अमित कछु बरणि न जाई । कै चरित्र सो ताहि समाई ॥
नटवत सारे साज साजिया । जो खेलै सो देखु बाजिया ॥
मोहा बपुरा युक्ति न देखा । शिव शक्ती विरञ्चि नहिं पेखा ॥

विषये मोहकालेऽत्र स्वादोऽनन्तो हि भासते ।
स न वर्णयितुं शक्यः सजन्त्यत्र ततो जनाः ॥१५॥
चरितं विविधं कृत्वा धर्मध्यानादिलक्षणम् ।
विशन्त्यत्रैव संसारे न च मुक्ता भवन्ति ते ॥१६॥
नटवच्चेन्द्रजालश्रीसाधनं साधयन्ति च ।
सर्वे पश्यन्ति तन्नृत्यं नृत्यन्तोऽपि स्वयं तथा ॥१७॥

---

१ हैमी लैह्यथवा यद्वच्छृङ्खला बन्धनप्रदा । दैवो वा मानुषो वाऽयं देहो दुःखप्रदस्तथा ॥ आत्मपु० १६।१०६॥

क्रीडन्तोऽत्राथ पश्यन्तः क्रीडामेव जगत्त्रये।
ब्रह्माद्याः स्वाधिकारान्तं स्वादुकारं हि भुञ्जते ॥१८॥
अज्ञाश्च मोहिताः सर्वे युक्तिं जानन्ति नो यतः।
मुक्तेस्ततो हि नृत्यन्ति भुञ्जते विषयांस्तथा ॥१९॥
अहो शिवश्च शक्तिश्च विधाता न प्रपश्यति।
उपायं येन नैवेदं जगन्नृत्यं प्रदृश्यते ॥२०॥

मोह कामादि से विषय (शब्दादि) रूप माया में अमित (अनन्त) स्वाद प्रतीत होते हैं, कि जिनस्वादों का वाणी से वर्णन नहीं किया जा सकता है, भोक्ता पुरुष मन से ही समझता है कि जिसमे विषय में आसक्त होता है, और अद्भुत स्वाद होने ही से बहुत चरित्र कर्मोपासनादि करके भी सो ब्रह्मा आदि और भोक्ता मनुष्य सब ताही (उस) माया में समाते (लीन) होते हैं। भोगपरायण होते है। कोई बिरल परम विरक्त ज्ञानी, संसार माया बन्धन से मुक्त परम तृप्त सुखी कभी होते हैं, विरक्त ज्ञानी से अन्य सारे (सब) देवादि, नट के समान मिथ्या साज (भोग के साधनों) को साजते (जोडते=संग्रह करते) हैं और जो साजों को साज कर खेलते हैं (सांसारिक भोग क्रीड़ा करते हैं) सो फिर आगे मिथ्या बाजी (नटतुल्य तमासा रूप जन्ममरणादि) को देखते हैं, अर्थात् नटकृत तमासे को अन्य लोग देखते हैं, भोग के साधनों को साजनेवालों को स्वयं तमासा देखना पड़ता है। क्योंकि यह बपुरा (बावरा अज्ञ शरीर परायण) मोहा (मोहको प्राप्त हुआ) है, अतः मोक्ष की युक्ति को नहीं देखा (समझा) है, न शिव (ईश्वर) की शक्ति को पेखा (देखा) है, न विरञ्चि (विधि) को बावरे लोगों ने देखा है। अथवा अन्य की तो कथा ही क्या कही जाय, अपने अपने अधिकार पर्यन्त शिव शक्ति और विरञ्चि ने भी माया जाल से रहित होने के लिये मार्गादि को नहीं देखा, नाचना नहीं हो, तमासा नहीं देखना पड़े, ऐसी युक्ति को उन लोगों ने भी नहीं देखा, प्रबल प्रारब्ध भोगना ही पड़ा।

शाखी—परदे परदे चलि गया, समुझि परि नहिं वानि।
जो जानै सो बाँचि हैं, होत सकल की हानि ॥८२॥

अज्ञानरचिताऽऽवर्णे मोहमेदुरिते तते।
वेशं वेशं गताः सर्वे नोऽविदुश्चानृतं जगत् ॥२१॥
विविदुर्न सतां वाणीं न वाचाऽऽरम्भणं जगत्।
स्वभावं नाप्यविद्यायास्तेन नष्टा इमे जनाः ॥२२॥

ये ज्ञास्यन्ति जगत्तत्त्वं स्वात्मतत्त्वं तथाऽपृथक् ।
ते हि दुःखाद्विमोक्ष्यन्ते नङ्क्ष्यन्त्यन्ये त्वसंशयम् ॥२३॥
"न प्रीतिर्विषयेष्वस्ति प्रेयानात्मेति जानताम् ।
कुतो रागः कुतो द्वेषः प्रतिकूलमपश्यतः" ॥२४॥८२॥

इति हनुमदीयेरमैनीरसोद्रेकेदेवचरित्र विमोहप्रभाववर्णनं नाम चत्वारिंशत्तमः प्रवाहः ॥ ४० ॥

जिस को सतशास्त्र सद्गुरु की वाणी नहीं समझ पड़ी, न माया के विकार रूप विषय वाणीमात्र मिथ्या समझ पड़ी सो सब जीव अविद्यारूप माया जन्य परदे-परदे । (आवरण) मोहादि में रहते चले गये (मर गये) जीवन्मुक्त होकर नहीं गये । अतः विदेह मुक्ति भी नहीं पाये और अब भी जो कोई सद्गुरु की वाणी को और विषयादि के वाणीमात्रत्व मिथ्यात्व को किसी प्रकार से जानेगें तथा एक सत्यात्मा को नित्यमुक्त चिदानन्दस्वरूप समझेगें सो संसार बन्धन से बचेगें और अन्य सबकी ज्ञान के बिना महती हानि होती है, मनुष्यता व्यर्थ जाती है । अथवा जानने से सकल तमरूप मायाजाल की हानि (निवृत्ति) हो जाती है । अतः जाननेवाले माया जाल से बँचते हैं ॥८२॥

अथ मोक्षार्थिक्षत्रियजीवसम्बोधन प्र० ४१

रमैनी ८३

क्षत्री करै छत्रिया धर्मा । वाके बढ़ै सवाई कर्मा ॥
जिन अवधू गुरुज्ञान लखाया । ता कर मन तहई लै धाया ॥

इन्द्रियाण्यवशी[1] कृत्य यः क्षत्रः क्षात्रकर्मणि ।
वर्तते तस्य कर्माणि वर्द्धन्ते पादशः क्रमात् ॥ १ ॥
भवन्ति तानि बन्धाय दुःखाय च निरन्तरम् ।
भ्रमयन्ति हि तान्येव स्वर्गेषु नरकादिषु ॥ २ ॥
"शुभानामशुभानां च द्वौ राशी भवतो ध्रुवम् ।
यः पूर्वं सुकृतं भुंक्ते पश्चान्निरयमेव सः ॥ ३ ॥
नरो[3] वर्द्धत्यधर्मेण ततो भद्राणि पश्यति ।
संजयति सपत्नांश्च समूलस्तु विनश्यति" ॥ ४ ॥

---

१ यस्त्वविज्ञानवान् भवत्ययुक्तेन मनसा सदा । तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः । कठ. १।३।५ । २ म.भा. स्वर्गारोह प्र० ३।१३।३वनप.१४।४।

विरक्ता ये गुरोर्ज्ञानं प्राप्तवन्तः सुचेतसः ।
तेषां मनस्तु तत्रैव लयमेति च धावति ॥ ५ ॥

विकारों को वाणी मात्र मिथ्या समझे बिना तथा सद्गुरु की वाणी को समझे बिना, इन्द्रिय विषय वशवर्ती जो क्षत्रिय (वीरपुरुष) भी क्षत्रिया (क्षात्र) धर्म युद्धादि करता है। उसके बन्धनप्रद कर्म ही प्रतिदिन सवाई बढ़ते हैं, क्योंकि कर्ममात्र से बन्धनप्रद कर्म की निवृत्ति नहीं होती है। अतः कर्मों से भावी जन्मादि संसार की वृद्धि ही होती है। अतः काम्य कर्मादि को त्यागकर जिन अवधू (वधू रहित) विरक्त अवधूतों ने गुरु से ज्ञान लखाया (लख पाया) या जिन अवधूतों को ज्ञान स्वरूप आत्मा को उसके ज्ञान को गुरु ने लखाया (दर्शाया)। ताकर (उनका) मन तहई लै (उस ज्ञान स्वरूप ही तक) धाया (दौड़ा) और दौड़ता है, तथा ज्ञान स्वरूप में लय होने के लिये उनका मन दौड़ गया। अतः वे मनो मायामय बन्धनों से मुक्त होते हैं, अन्य नहीं, इसलिये गुरु से ज्ञान प्राप्तव्य है और उस ज्ञान के लिये मन इन्द्रिय का विजय अवश्य कर्तव्य है। क्योंकि—

क्षत्री सो जो कुटुम से जूझै। पाँचो मेटि एक कै बूझै ॥
जीवहि मारि जीव प्रतिपालै। देखत जन्म आपनो हारै ॥
हालै करै निशानै घाऊ। जूझि परै तब मनमथ राऊ ॥

त एव क्षत्रियाः[1] शूरा युद्धयन्ति स्वेन्द्रियैर्हि ये ।
कुटुम्बैर्बन्धदैः क्रूरैः सदा स्वार्थपरैश्चलैः ॥ ६ ॥
तेभ्यो युध्वा विजित्यैतानाच्छिद्य तत्स्वतन्त्राम् ।
सर्वत्रात्मानमालोच्य पश्यन्त्येकात्मकं जगत् ॥ ७ ॥
मारयित्वामनश्चेदं कुर्वते जीवरक्षणम् ।
पश्यन्तश्च स्वमात्मानं स्वं जन्म हारयन्ति तैः ॥ ८ ॥
अतिशीघ्रं च संधाय कामक्रोधादिशत्रुषु ।
अर्पयित्वा विवेकाख्यं बाणं कुर्वन्ति ते व्रणम् ॥ ९ ॥
मन्मथेन ततो युध्वा स्ववशे स्थापयन्ति तम् ।
भवन्ति ते महापूज्याः क्षत्रियाः सर्वनिर्भयाः ॥१०॥

वास्तविक क्षत्रिय (वीर) वह है कि जो अपने अन्यायी कुटुम्बतुल्य

---

१ यस्मिन् धर्मो विराजेत ते राजानं प्रचक्षते । यस्मिन् विलियते धर्मस्तं देवा वृषलं विदुः म० भा० शा० ८६।१४ । यदेतत्क्षत्रस्य क्षत्रं स धर्मः । श्रुतिः ।

इन्द्रियों से युद्ध करता है, जिससे ससार के रमन क्रीड़ा में नहीं फंसता है, क्योंकि वह पांचो ज्ञानेन्द्रियों की सत्तास्वन्त्रता प्रभुत्व को मिटाकर, पंचभूत पंचविषयों को मिथ्या समझ कर, फिर एकात्म स्वरूप को सर्वात्म स्वरूप से सिद्ध (अनुभूत) करके, एकात्मा को ही सत्य समझता है, इस प्रकार से पाँचो को मेटकर सबको एक करके समझता है और सत्य ज्ञान को सत्य के ज्ञान को वह इन्द्रियजन्य नहीं मानता है। अतः इन्द्रियजन्य ज्ञान के विषयों में वह आसक्त नहीं होता है और दुष्ट प्राणी तुल्य दुष्ट मन को मारकर, जीवात्मा (अपने स्वरूप) की रक्षा (अनुभव) करता है और रक्षित (अनुभूत) अपने स्वरूप को देखते (समझते) ही अपने जन्ममरणादि को हार जाता है (जन्मादि को देह के धर्म समझकर स्वयं जन्मादि संसार से रहितमुक्त हो जाता है) और हालै (अति शीघ्र) निशाना करके इन्द्रियादि कामादि शत्रु को घाव (घायल़) वेधित करता है, इन्द्रियों को विषयों से विमुख करता है। फिर मनमथ राजा (कामदेव) से जूझ पड़ता है (युद्ध करता है) सब प्रकार के मैथुनों इच्छाओं को को त्यागता है, वही वस्तुतः वीर क्षत्रिय है। क्योंकि "बलेन परराष्ट्राणि गृह्ण्-श्छूरस्तु नोच्यते। जितो येनेन्द्रियग्रामः स शूरः कथ्यते बुधैः ॥१॥ दक्षस्मृ० अ० ७" बल से अन्य राज्यों का ग्रहण कर्ता शूर नहीं कहा जाता है। किन्तु जिसने इन्द्रिय समूह को जीता, वही विद्वानों से शूर कहा जाता है।

साखी—शून्य सनेही राम बिनु, चले अपन पौ खोय।
मनमथ मरै न जीवई, जीवहि मरन न होय ॥८३॥

आनन्दसत्यता शून्ये विषयादौ हि ये नराः।
स्नेहपाशेन संनद्धा भयाद्दिक्षु द्रवन्ति ते ॥११॥
रामेण च विना लक्ष्यं स्थानं त्यक्त्वा निजं शुभम्।
मन्मथादि वशे भूत्वा म्रियन्ते ते पुनः पुनः ॥१२॥
म्रियेत मन्मथोऽत्यन्तं पुनर्न जीवितो भवेत्।
यदि तर्हि न जीवस्य मरणं क्वापि सम्भवेत् ॥१३॥
यावन्न म्रियते मारस्तावज्जीवो न जीवति।
जीवन्नपि मृतैस्तुल्यो मारसत्त्वे हि तिष्ठति ॥१४॥
यावन्न मारो म्रियते न लभ्यते रामश्चिदानन्दमयः सनातनः।
यावद्वशे नेन्द्रियमानसान्यपि जीवन्मृतस्तावदयं निगद्यते ॥१५॥
जीवन्मुक्तास्तु निष्कामाः प्रपद्यन्ते मृतिं नहि।
प्राणोत्क्रान्तिर्हि कामेन भवति ज्ञानिनां न सा ॥१६॥८३॥

उक्त विवेकादियुक्त वीरता के अभाव से वस्तुतः आनन्द सत्यता से शून्य विषय लोकादि के स्नेही (प्रेमी) जीव सब सर्वात्म राम की प्राप्ति के बिना अपने पौ (दाव, अवसर, स्वरूप) को खोय (गमा) कर चले और चलते (मरते) हैं और यदि इन मनुष्यों की जीवितावस्था में विवेका विचारादि से विज्ञानादि की प्राप्ति से मनमथ (काम) मर जाय (सर्वेच्छा की निवृत्ति हो जाय) और सङ्ग से भी फिर वह मनमथ जीवित नहीं हो, यद्यपि "सङ्गात्संजायते कामः । भ० गी · २।६२" विषयों के सङ्ग से काम होता है, यह कहा गया है तथापि आत्मनिष्ठ समाहित नहीं होने के कारण जो शरीर से एकान्त में भी बैठा रहता है। परन्तु मन से विषयों का स्मरण, चिन्तन करता है तो वह मन ही विषयों से सङ्ग कराता है, फिर सङ्ग से काम, क्रोधादि होते हैं और जो सर्वात्मा राम परायण समाहित होता है, परमात्म स्मरण, ध्यानादि करता है, विषयादि का ध्यान चिन्तन नहीं करता है, उसको बाहर विषय से कभी सङ्ग होने पर भी मनमथ जीवित नहीं होता है और जिस जीव का मरा हुआ मनमथ सङ्ग होने पर भी जीवित (उत्पन्न) नहीं होता है, उस जीव का फिर जन्म ही नहीं होता है। अतः मरण भी नहीं होता है। अतः उक्त वीरता से काम को मारो। "यदा सर्वेप्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः। अथ मर्त्योऽमृतोभवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥ १ ॥ बृ० ४।४।७" अकामो धीरोऽमृतः स्वयम्भू रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः ॥ श्रुतिः" जब इस मनुष्य (प्राणी) के हृदय में रहनेवाले जो काम (इच्छा वासना) हैं सो सब निवृत्त हो जाते हैं, तब यह मरणधर्मा भी जीव अमृत (मुक्त) हो जाता है। क्योंकि इस शरीर में रहते भी काम के अभाव से ब्रह्मस्वरूपता को प्राप्त करता है। कामों से रहित धीर (ज्ञानी) अमृत स्वयम्भू होता हुआ रस (ब्रह्मानन्द) से तृप्त होने के कारण किसीसे ऊन (न्यून) नहीं रहता है, निरपेक्ष विभु स्वरूपता को प्राप्त करता है ॥८३॥

रमैनी ८४

ये जियरा तैं दुखहि सम्हारू। जे दुख व्यापि रहल संसारू ॥
माया मोह बँधा सब कोई। अलपे लाभ मूल गौ खोई ॥
मोर तोर में सबे विगूंता (विगुरचा)। जननी उदर गर्भ महँ सूता ॥

भो जीवास्त्वमहद्दुःखं जानीतात्यवधानतः।
यद्दुःखमत्र[1] संसारे व्याप्य सर्वत्र वर्तते ॥१७॥

१ न देहिनां सुखं किञ्चिद्विद्यते विदुषामपि। तथा च दुखं मूढानां वृथाऽ

तज्ज्ञात्वा भाविनस्तस्मान्मुक्तये वै विचिन्त्यताम् ।
अत्रैव सा भवेन्मुक्ति र्नान्यत्र सुलभास्ति सा ॥१८॥

एतत्त्वस्ति महद्दुःखं मायया यद्धि जन्तवः ।
बद्धाः सन्तीह मोहेन वर्तन्ते च विपाशिताः ॥१९॥

अल्पेनैव तु लाभेन तेषां मूलं विनाशितम् ।
तन्न पश्यन्ति मोहेन हा हता मूढजन्तवः ॥२०॥

ममेदं च तवेदं चेत्युपलब्धियुता जनाः ।
रागद्वेषादिसंयुक्ता मूलं सर्वं व्यनाशयन् ॥२१॥

मूलं तत्साधनं हित्वा मृत्वा सृत्वा कुबुद्धयः ।
जनन्या उदरे गर्भा भूत्वा तत्र त्वशेरत ॥२२॥

उपदेश है कि ये (हे) जियरा (जीव) उस दुःख से ही तुम अपनेको सम्हारो (सावधानी से बचावो) विचारादि से उस दुःख को समझ कर बचने के लिये सचेत रहो, कि जो दुःख सदा संसार में सर्वत्र व्याप्त हो रहा है, उससे अपने को सम्हारो । वह दुःख यह है कि त्रिगुणरूप ममतारूप माया और अविवेक स्नेह राग रूप मोह से सब कोई बँधे हैं, माया सत्त्वगुण से ज्ञाना सक्ति और सुखासक्ति कराकर बाँधती है, रजोगुण से कर्मासक्ति कराकर, तमो गुण से प्रमाद आलस्यादि करा कर बाँधती है, और स्नेहरागतो प्रत्यक्ष बन्धन रूप होता है और इन बन्धनों से अल्प लाभ (सुख) में जीवों के मूल सुख खो (भूल) गये हैं । क्योंकि मोर तोर (रागद्वेष) में सब अपने मूल सुख को विगोते (गमाते) हैं, मोर तोर में सत्र बिगुरचन (विपत्ति) आती है, क्योंकि मोर तोर से ही जननी के उदर के अन्दर गर्भस्थान में गर्भ (बच्चा) होकर जीव सोया और सोता है, अतः गर्भवासादि सभी कष्टों का हेतु मूल सुखनाश का हेतु रागद्वेषादिक हैं, इनसे बचना चाहिये ।

ई बहु खेल खेलै बहु रूता (रूपा) । जन भवँरा अस गये बहुता ॥
उपजि विनशि योनिहि फिरि आवै । दुख संताप कष्ट बहु पावै ॥
सुखक लेश स्वप्नहुँ नहिं पावै । सो न मिला जो जरत बुझावै ॥

हङ्करणं परम् । श्रीमद् भा. स्क. ११।१०।१८ । इच्छा द्वेषो भयं मोहः क्षुत्तृण्-निद्रा तथैव च । विण्मूत्रबाधा चेत्येतदचिकित्स्यं हि देहिनाम् । १ । ५०२ ॥ आत्मपुराण ।

चेक्रीडन्ति जनित्वैते बहुधा रोरुदन्ति च ।
संसक्ता विषये पुष्पे भ्रमरा इव मोहिताः ॥२३॥
विषयाक्ता गताः केचिदन्ये यास्यन्ति यान्ति च ।
जनित्वा ते विनश्यात्र त्वागच्छन्त्येव योनिषु ॥२४॥
दुःखानि बहुधा तापान् कष्टानि प्राप्नुवन्ति ते ।
स्वप्नेऽपि सुखलेशं तु नाप्नुवन्ति कदाचन ॥२५॥
जाज्वलन्तश्च कामाद्यैर्नश्यन्त्येव कुबुद्धयः ।
तत्तु तेषां न संप्राप्तं ज्वलनं यन्निवारयेत् ॥२६॥
शांतिं कुर्यात्सुखं दद्याद्रागद्वेषौ निमूलयेत् ।
तादृशः पुरुषो बोधस्तत्त्वं तै र्लभ्यते न च ॥२७॥

गर्भ में सोकर जन्मने के बाद ई (यह) जीव कभी बहुत खेल आनन्द से खेलता है, और कभी दुःख से बहुत रुता (रोता) है। बहुत रूप का धारण करता है। निर्द्वन्द्व कभी नहीं होता है। बाल्यावस्था से ही हर्ष शोकादि द्वन्द्वों से ग्रसित हो जाता है और इसी प्रकार से द्वन्द्व में रहते बहुत जन भवँरा (कीट विशेष पुष्परस गन्ध प्रेमी जन्तु) तुल्य विषयरस प्रेमी मनुष्य गये और जाते मरते हैं। कोई विरलहंस (विवेकी ही) जन्मादि से रहित होते हैं। और भवंरा तुल्य मनुष्य तो बहुत बार उपजि (उत्पन्न हो) कर, विनष्ट होते हैं (जन्म ले कर मरते हैं) और मरण के बाद फिर योनि (गर्भ) में आते हैं। इस प्रकार से जन्मादि जन्य दुख, इष्ट वियोगादि जन्य संताप (शोक) और गमनागन नरकादि जन्य यातना कष्ट बहुत पाते हैं और सत्य सुख के लेश को भी ऐसे जीव स्वप्न में भी नहीं पाते हैं, किन्तु दैहिक दैविक और भौतिक, इन तीनों तापों से सदा तपते है, क्योंकि, इनको सो सत्यधर्म, सद्गुरु, सत्यज्ञान, सत्यात्मा नहीं मिला, कि जो इनके तापों को बुझावे (शान्त करे) और इनको समझावे (ज्ञान दे)।

मोर तोर में जरु जग सारा। धृक स्वारथ झूठो संसारा ॥
झूठी मोह रहा जग लागी। इन ते भागि बहुरि पुनि आगी ॥
जिहि हित कै राखै सब कोई। सो सयान बाँचा नहिं होई ॥

ममतातवताबुद्ध्या रागद्वेषादिवह्निभिः ।
चिन्ताशोकचितायां वै दह्यन्ते सर्वजन्तवः ॥२८॥
दह्यन्ते येऽत्रमोहेन कामक्रोधादिसंयुताः ।
धिक् तान् स्वार्थपरान् स्वार्थान् संसारोऽस्ति यतो मृषा ॥२९॥

असत्यस्यास्य विश्वस्य मोहो यद्धृदि वर्तते।
स प्लायित्वाऽप्यतो लोकाद्गर्भाद्यग्नौ प्रपद्यते ॥३०॥

यं यं स्वस्वहितं मत्वा सर्वे रक्षन्ति मानवाः।
स स धनादिकोऽर्थो हि सदा नैवात्र तिष्ठति ॥३१॥

अर्थोऽविनश्वरो नास्ति कायश्च क्षणभङ्गुरः।
अतोऽन्ते देहिनः सर्वे सर्वं त्यक्त्वैव यान्ति हि ॥३२॥

इत्येवं ज्ञायतां साधो! तूर्णं मोहं विमार्जय।
रागद्वेषादिकं त्यक्त्वा सन्तिष्ठस्व गतज्वरः ॥३३॥

उक्त रीति से शान्ति के अभाव के कारण मोर तोर (रागद्वेष) रूप अग्नि में सब संसारी जल रहे हैं। यही संसार में व्यापक दुख है। यद्यपि संसार में स्वार्थ मूलक कुछ भोगादि सुख प्रतीत होता है, तथापि वह संसार के स्वार्थ झूठ (मिथ्या) है, अतः स्वार्थ मूलक सुख भी झूठ ही प्रतीति मात्र ही है, अतएव उस स्वार्थ को धिक्कार है, वह त्याज्य है, क्योंकि उसको धिक्कारे और त्यागे बिना जो संसारी उस झूठी वस्तुरूप स्वार्थ के मोह में लगे (फंसे) रहते हैं, अर्थात् जिनको झूठी वस्तु का मोह लगा (बना) रहता है। वे लोग इनते (इस वर्तमान दुःख स्वार्थ शरीरादि से) कथञ्चित् भाग कर भी, फिर बहुरि (लौट लौट) कर, आगी (गर्भ नरकादि रूप अग्नि) में ही प्राप्त होते हैं, और जिस धनादि रूप स्वार्थ को सब कोई हित मानकर रक्षित रखते हैं। हे सयान! सो कोई पदार्थ बाँचने वाला अविनाशी सत्य नहीं हो सकता है। या जिस सयान=(कुशल) देवादि को मनुष्य सब हित (सुखद) निश्चय करके रखते हैं सो स्वयं प्रलय में बाँचा हुआ शास्त्र से नहीं सिद्ध होते हैं। अतः आत्मज्ञान ही सत्य हित कारक है, अन्य नहीं।

साखी—आपु आपु चेतै नहीं, कहुं तो रुसुआ होय।
कहहिं कबीर जो स्वप्ने, अस्ति निरस्त न होय ॥८४॥

इति श्रीसद्गुरुकबीरकृते विविधबन्धबीजविध्वंसने बीजकनाम्नि ग्रन्थे परमाद्वयबोधसम्पादकं प्रथमं रमैनीप्रकरणं समाप्तं ॥१॥

स्वयं स्वस्य विवेकं नो कुरुते मोहितो जनः।
यदि वच्मि हितं तस्य वैमुख्यं प्रतिपद्यते ॥३४॥
प्रवर्ततेऽत्रसंसारे स च सत्यो न विद्यते।
यथा स्वप्ने जनैर्दृष्टः सत्योऽसत्योऽथवा नहि ॥३५॥

विमतः सदसद्भ्यां चिन्नृश्रृङ्गाभ्यां विलक्षणः ।
दृष्टत्वात्स्वप्नवत्सर्वः शुक्तिरूप्यादिवत्तथा ॥३६॥
'संसृत्तिः स्वप्नसदृशी सदा रोगादि[1] संकुला ।
गन्धर्वनगरप्रख्या मूढस्तामनुवर्तते । ३७॥
स्वप्नजागरितस्थाने ह्येकमाहुर्मनीषिणः ।
भेदानां सुसमत्वेन प्रसिद्धेनैव हेतुना" । ३८॥

अविवेकी मुग्ध लोग आप अपने धर्म स्वरूप को विचारादि द्वारा नहीं चेतते हैं (नहीं सम्भालते हैं न समझते हैं) और चेतने के लिये कहुँ (कहते हैं) तो रुसुआ (रुष्ट = अप्रसन्न) होते हैं और अपने को सम्भालने के बिना उन पदार्थों में आसक्त होते हैं कि जो पदार्थ स्वप्ने में (अज्ञानावस्था में) सत्य सुखद प्रतीत होते हैं। परन्तु श्रीकबीर साहब कहते हैं कि जो पदार्थ स्वप्न में प्रतीत होते हैं सो अस्ति-निरस्ति (सत-असत) ब्रह्म आकाश पुष्परूप नहीं हो सकते। किन्तु सत-असत् से विलक्षण अनिर्वाच्य मिथ्या हो सकते हैं। अतः सब संसार को स्वप्नतुल्य मिथ्या जानकर, सांसारिक रमण के त्यागपूर्वक स्व सत्यात्माराम को समझकर रामरमण कर्तव्य है यह रमैनी प्रकरण का मुख्य तात्पर्य है "तस्य त्रय आवसथास्त्रयः स्वप्नाः । ऐतरेयोप० १।३।१२" इस देह प्रविष्ट आत्मा के नेत्र कण्ठ और हृदय तीन आवास (स्थिति के स्थान) हैं सो तीन स्वप्नतुल्य हैं। "नेत्रस्थं जागरितं विद्यात्कण्ठं स्वप्नं समादिशेत् । सुषुप्तं हृदयस्थानमिति ॥८४॥

यथा मिथ्यापि देहात्मतादात्म्यं भासते सदा ।
सत्यत्वेन तथैवेदं जगत् सत्त्वेन भासते ॥३९॥
नायं सत्यो जनिमृतिमयो बन्धजातो न विश्वं,
नाऽसत्यो वा गगनकमलैस्तुल्यरूपो भ्रमो वा ।
सर्वज्ञेशे विमलवपुषि ब्रह्मणि प्राज्ञरूपे,
भ्रान्तिः सत्तां नहि सुलभते मायिकोऽयं तथापि ॥४०॥
माया चेयमनिर्वाच्या सत्यासत्यादिरूपतः ।
तन्मयत्वादिदं विश्वं तथैव ज्ञायते बुधैः ॥४१॥
अनिर्वाच्यस्वरूपं यत्तन्मिथ्या कथ्यते बुधैः ।
अनृतं भ्रान्तिरूपं च ज्ञानबाध्यं हि तद्भवेत् ॥४२॥

---

१ अध्यात्मरा० २।४।१५ ॥ २ अद्वैतसिद्धिसिद्धान्तसार ।

कल्पितं कथ्यते तच्च कल्पनापि सुकल्पिता।
अहो विचित्रमेतद् यन्मौनमत्र विशिष्यते।४३॥
न सद्भूर्न तोयं न तेजो न वायुर्न खं नेन्द्रियं नैव च प्राणसंघः।
विकारादियोगाद्गुणो न प्रधानं न कालादिकं कल्पनामात्र देहम्॥४४॥
न चैतान्यसत्यानि दृश्यात्मकत्वान्न सत्यान्यसत्यानि युक्तं प्रवक्तुं।
अतोऽचिन्त्यरूपं[1] जगत् सर्वमेव सदैको विशुद्धो निजात्मैव चास्ते॥४५॥
त्यक्त्वैव विश्वरमणं शमनादियुक्तं,
सम्यग् विधाय दमनं मनसः सुबुद्ध्या।
रामेऽत्र साधुरमणं परमं विधातु,
मेतद् ध्युवाच सुगुरुः सुजनाः वृणीध्वम्॥४६॥
रसोद्रेकेण संयुक्तं श्रुत्वा चोक्त्वा जना इदम्।
ज्ञानिनो बन्धनिर्मुक्ता भवन्तु सुखिनः सदा॥४७॥
हनुमतः कृतिं चैतां सज्जना ये विमत्सराः।
कुर्वन्तु सफलां चातस्तुष्यन्तु गुरवो मम॥४८॥
रामः सत्यचिदानन्दः सर्वात्मा प्रभुरव्ययः।
अव्यक्तो व्यक्ततां यातु सर्वस्य हृदये मम॥४९॥
इति हनुमदीये रमैनोरसोद्रेके मोक्षार्थिक्षत्रिय जीवसम्बोधनं
नामैकचत्वारिंशत्तमः प्रवाहः॥ ४१॥

सर्ववेद सतशास्त्र के, सार हिन्दी के माहिं।
जो अवतरेउ हिन्द में, सो सद्गुरु मम आहिं॥ १॥
प्रथम भाग की सुजन हित, भाषा टीका सार।
हनुमान निज मति यथा, करि गुरु वचन विचार॥ २॥
टीका सहित जु भाग यह, पढ़िहिं प्रेम उर धार।
सतगुरु ताको तारिहैं, दय सद्भक्ति विचार॥ ३॥

---

१ न तदस्ति न यत्सत्य न तदस्ति न यन्मृषा। यद्यथा येन निर्णीतं तत्तथा तं प्रति स्थितम्॥ यो० वा० नि० उ० १६।४१॥

* ओम् राम *

अथ शब्दसुधा प्रारभ्यते

सृष्टिं* विधाय जगतो निजमायया यः,
श्वासं यथा श्रुतिचयं प्रकटी चकार।
तस्माद्विमोक्षविधये सुखलब्धये च,
तं नौमि राममजरं जनतात्मरूपम् ॥ १ ॥
वेदादितत्त्वमखिलं निजभाषया यः,
सम्यग्ध्युवाच वचनाविषयं स्वरूपम्।
तं सर्ववन्द्यचरणं शरणं कबीरं,
नित्यं नमामि नमतां भवमुक्तिहेतुम् ॥ २ ॥

ओं कम्[1]। खं स्यात् ॥३॥ सच्चित्। शं[2] स्यात् ॥४॥ नित्यं ध्येयम्। सत्यं ब्रह्म ॥५॥ ज्ञेयं तद्धि। शुद्धं बुद्धम् ॥६॥ एवं[3] लभ्यम्। सौख्यं सत्यम् ॥७॥ साधनैश्चागमैः। सङ्गमैः साधुभिः ॥ ८ ॥ त्यागतः पुण्यजैः। सत्कृतां[4] कौशलैः ॥९॥ निर्मलं स्वप्रभम्। ज्ञायते ह्यद्वयम् ॥१०॥ ध्यायते ह्यद्वयम्। जायते स्वप्रभम् ॥११॥ आनन्दो ह्येकः। सत्यं चिद् ब्रह्माहम् ॥१२॥ जयति मे त्विदमहो। परपदं ह्यतिशयम् ॥१३॥ यस्मिन्नेतत्सर्वं विश्वम्। मायामात्रं तद् ब्रह्माऽहम् ॥१४॥ व्योम्नि पुरीव भाति हि लोकः। यत्र मृषैव ब्रह्म-

---

* दो श्लोक का "वसन्ततिलकं" छन्द है। ज्ञेयं "वसन्ततिलकं तभजा जगौः गः ॥ १ ॥ ग "श्री" गुरु एकाक्षरपादवाला श्री छन्द है ॥ २ ॥ गौ "स्त्री" दो गुरुयुक्त स्त्री छन्द है ॥ ३ ॥ रो "मृगी" मध्य ह्रस्वयुक्त रगण पादवाला मृगी होता है ॥ ४ ॥ मो "नारी" मगनवाला नारी है ॥ ५ ॥ नगि "सती" नगनयुक्त गुरु सती वृत्त 'छन्द होता है ॥ ६ ॥ इत्यादि छन्दो मञ्जरी में द्रष्टव्य है। गमौचेत् "कन्या" ॥७॥ भ्गौ गिति "पङ्क्तिः" भगन दो गुरु से पङ्क्ति छन्द है। पदान्तस्थ पिकल्प से गुरु है ॥८॥ त्यौ चेत् "तनुमध्या" तगन, यगन से तनुमध्यानामक वृत्त होता है ॥९॥

१ ओंकारलक्ष्यं खं (विभु), कं सुखं ब्रह्म सर्वस्य स्यात्। २ सच्चित्स्वरूपं शं (कल्याणमानन्दः) सर्वस्य भूयात्। ३ ध्येये ज्ञेये च सतीत्यर्थः। ४ सदेव कर्मादि ये कुर्वन्ति तेषां कौशलानि विवेकविचारादिपरत्वादीनि तैः।

तदेकम् ॥१५॥ योऽन्यवदस्ति[1] नैव तु यत्र । सत्यमिदास्ति ब्रह्मतदेकम् ॥१६॥ रूपं सुखसिन्धोरत्यद्भुत भूतम् । गोऽतीतमगम्यम्[2] गोष्वेव सुलभ्यम् ॥१७॥ परमदयालुः समजनपाली । भवति कृपालु र्यदि हृदि दृष्टः[3] ॥१८॥ जगति सुसारं विगतविकारम् । भवनिधिपारं भज धिषणेतम्[4] ॥१६॥ गुरोः पादपद्मे मनश्चेत् सुलग्नम् । तनुश्चेत्सुलग्ना सदा मङ्गले स्यात् ॥२०॥ प्रज्ञैषा सञ्चिद् रूपप्रस्थाना चेत् स्यात् । वाणी दोषाऽस्पृष्टा ह्येषा भक्तिः[5] शुद्धा ॥२१॥ शुद्धोऽतिमतिमान्[6] सच्चिच्छुभतनुः । नित्यैकमतिमान् बुद्धो हि सुगुरुः ॥ २२ ॥ द्रोहे दंम्भमुखे वैं हीनं स्याद्धृदयं चेत् । वाक् कायावनृतादे र्हीनौ मङ्गलमेतत् ॥ २३ ॥ जगतां नाशसाक्षी सदसङ्गी निराशीः । परमानन्दराशि र्निजमायाविलासी ॥ २४ ॥ अगजगति[7] सदा गतविकृतिभिदः । रविरविरतिभा इह जगति सुचित् ॥ २५ ॥ प्रधानमतिरेषा ह्यभेदगतिशेषा । प्रभावकसुगीता यतो न पुनरेता ॥ २६ ॥ यो बुद्ध्या निजतत्त्वं ब्रह्मान्यन्नहि विद्यात् । देवानां प्रवरोऽसौ सच्चिच्छुद्धसुपूज्यः ॥ २७ ॥ तस्यैव चेतनसंश्चात्माऽस्ति पातकहा । यो भेदतोऽतिपारं नित्यं विभुं स्वमगात् ॥ २८ ॥ यस्य वचोऽमृतपानान्मर्त्य इहामृत एव । सर्ववचोभिरगम्यः सैव महाजनपूज्यः ॥२६॥ नित्यविवेकपरो यो रागविवर्जितचेताः । शान्तमना दमनिष्ठो भक्तियुतो निपुणः स्यात् ॥३०॥ चञ्चलचित्तं निगमै र्भक्तिबलै र्योगरसैः[8] ।

---

१ आत्मा उपाधिभेदादन्यवदस्ति ब्रह्मण इति । २ सर्वेन्द्रियाविषयोऽपि तत्तदिन्द्रियजन्यवृत्तिष्वेव साक्षित्वेन प्रकाशमानम् । ३ सुखसिन्धु र्यदि हृदि दृष्टो भवति तर्हिपरमदयालुरित्यादि भवति । ४ अतस्तद्दर्शनार्थं हे धिषणे ! तं भजेत्यादि । ५ तस्य शुद्धा भक्तिश्चैषा (एतादृशी) भवति । ६ सदाचारादिभिः शुद्धः, सच्चिदात्मैव शुभा तनु र्यस्य । एका (अनन्या) चासौ गतिरेकगति र्नित्या चासावेकगतिस्तद्वान् गुरुः । ७ न गच्छतीत्यगः, गच्छतीति जगत्, तत्समाहारे विकारादिरहितः । ८ योग वीर्यैः, योगरागै र्वा ॥ २ ॥ सुपूज्यौ नन्दनौ ज्ञानविरागलक्षणौ पुत्रौ यस्याः सा सुपूज्यनन्दना ॥

(शशिवदना न्यौ) नगण यगण से "शशिवदना" वृत्त होता है ॥१०॥ - द्विया "सोमराजी" दो यगणवाली "सोमराजी" होती है ॥११॥ "विद्युल्लेखा" मोमः । दो मगण विद्युल्लेखा है ॥१२॥ (म्सो गः मदलेखा) मगण सगण गुरु से मदलेखा, वृत्त होता है ॥१३॥ ननगि "मधुमती" दो नगण "गुरुयुक्त मधुमती" वृत्त होता है ॥१४॥ "कुमारललिता" ज्स्गाः जगणसगणगुरु से (कुमारललिता) वृत्त होता है ॥१५॥ इत्यादि ।

साधुषु सङ्गं करमागच्छति चेत्त्यान्निपुणः ॥३१॥ वाचः शुद्धं चेतो बुद्धं कायो नम्रः शान्तं यातम् । वाणी वेदो यस्मिंश्चैतन्नायं भेदस्तं वन्देऽहम् ॥३२॥ शुद्धं बुद्धं विद्धं सत्यं ब्रह्मानन्दं ह्यात्मान्तःस्थम् । स्वादं स्वायं नित्यं शान्तं तापोच्छिन्यै तं वन्देऽहम् ॥३३॥ एवमेव यस्य चित्तमस्ति सत्यनक्रमच्च । देशिकेन्द्रपादभक्ति रस्ति तस्य सौख्यमत्र ॥३४॥ विचारपारदर्शना । कृता नुभक्तिरच्युता । पुनाति सा सदा शुभा न चात्र संशयः सताम् ॥३५॥ पराऽनुरागलक्षणा शमादि यत्र मण्डनम् । न कामकोपदीनता सदा तुपूज्यनन्दना ॥३६॥ भवाम्बुराशितारिका सुखावहा सुदारिका । विरागवित्तिपुत्रिका श्रुति स्मृति प्रमाणिका ॥३७॥ भवति भक्तिरिह चेद् विरहिता मदनुखैः । दमदयादि सहिता वितनुते हृद्-मलम् ॥३८॥ देवानामपि स देवः तद्भक्त्या भवविरक्तः । यस्याऽत्राऽस्ति न कश्चिल्लब्धव्यो भवति भावः ॥३९॥ भूतानां देवचरितं दुःखाय च सुखाय च । सुखायैव हि साधूनां सर्वेषां विदितात्मनाम् ॥४०॥ छायेव कर्मता-चिव्यं भक्त्या देवा हि कुर्वते । साधवश्च भवन्त्येव सदैव दीनवत्सलाः ॥४१॥ श्रुतो वाऽनुस्मृतो ध्यात आदृतश्च नमस्कृतः । पुनाति सर्वभूतात्मा देवानां देव उत्तमः ॥४२॥ बहिरन्तर्हरि र्यस्य सर्वात्मा भूतभावनः । निर्गुणो निर्वि-कल्पश्च स हरि र्नात्र संशयः ॥४३॥ आत्मनोऽव्यतिरेकेण यः पश्यति चराचरम् । मायामात्रं हि वा नित्यं स हरि र्नापरो जनः ॥४४॥ हृदि सरसि सुपद्मे यो, विलसति परमो हंसः । तमनुसरति पद्मे यो, भवति स परमो हंसः ॥४५॥ भयजलधिगतः कीटः स्मरति ननुयथा भृङ्गम् । भवजलधिगतो जीवः स्मरति यदि गुरुं ब्रह्म ॥४६॥ याति स तद्भावं त्वभयस्तिष्ठति चानन्दे वितते । किञ्चन न क्षीणं तमसस्त्वस्य लयं स्वच्छे परमे ॥४७॥ तरले तरङ्गवद्भवे विष-येन्द्रियादिसङ्गमे । प्रियता न तस्य सम्भवेद् विलयं यत्तमो व्रजेत् ॥४८॥ काम्य कर्मतदनुशया यत्र न स्युरिह पुरुषे । कर्मबन्धमदविगतः साधुरेष भववियुतः ॥४९॥ यस्य नास्ति भववारिधौ देहगेह वनितादिषु । स्नेहलेशजनिरस्य वै जन्मबीजविगतप्रियः ॥५०॥ इतिविहितमतिमतामखिलभुवनसुहृदाम् । श्रुति-गतविमलगतिर्ह्यतिगतविकृतिमिदा ॥ ५१ ॥ शौचाभ्यां तपसा मौनादजस्रं

"चित्रपदा" यदि भौगौ" दो भगण दो गुरु से, चित्रपदा, वृत्त होता है ॥१६॥ "भात् तलगा, माणवकम्" भगण से पर तगण लघुगुरु युक्त माण-वक होता है ॥१७॥ मोमो गोगो विद्युन्माला ॥१८॥ ग्लौ रजौ, समानिका, तु ॥१९॥ प्रमाणिका, जरौ लगौ ॥२०॥ "न भजगा गजगतिः" नगण भगण लघु गुरु से गजगति वृत्त होता है ॥२१॥ इत्यादि ।

श्रवणादिभिः। अहिंसादिभिराशुद्धैरेषा गतिरवाप्यते ॥५२॥ यदिदमात्मनि प्रदृश्यते ह्यखिलमिन्द्रियैरथोऽन्यतः। तदधिकं[1] विनश्वरं परं ननु मनोमयं विकल्पितम् ॥५३॥ चक्षुर्भ्यां श्रवणादिना च यं गृह्णीयान्मनसापि वा किमु। विद्यात्तं क्षणभंगुरं परं मायामात्रमथोमनोमयम् ॥५४॥ पुंसो नाम भवति यस्येयं सत्यभ्रान्तिरहह सोऽत्रत्ये। सम्भ्रान्तो भ्रमति न यावत्स्वं जानात्यद्वयमग्राह्यम् ॥५५॥

योन ज्ञानयुतो न निपुणो ध्यानैकनिष्ठश्च नो,
नो साधुर्न विरक्तियुक्तधिषणः शुद्धा गतिर्यस्य नो।
नैवास्ते च गुरुर्न मङ्गलयुतो दोषैकनिष्ठः सदा,
मायाद्वन्द्वपराजितः स भुवने भ्रान्तो मुधा भ्राम्यति ॥५६॥

तस्याप्यत्र सुबोधनाय निपुणं ज्ञानादिसम्पत्तये,
सर्वं ह्युक्तरहस्यसारसहितं वक्तुं परं पावनः।
शब्दाख्यं सुमनोहरं हि कृतवान् भागं परं पावनं,
तं शृण्वन्तु जनाः सटीकमधुना दत्तावधाना मुदा ॥५७॥

जीवं वस्तुतया रामं मत्वा सद्गुरुक्तवान्।
रामेति वचनं ह्यादौ किम्वाह जगतां प्रभुम् ॥५८॥
द्वन्द्वहेतुरविद्याऽऽख्या माया जीवस्य नेशितुः।
अतो रामेतिशब्देन जीव एवाभिधीयते ॥५९॥
रमन्ते योगिनो यत्र स रामः सत्सुखात्मकः।
प्रत्यक् चेतनसर्वात्मा परं ब्रह्म न संशयः ॥६०॥

श्लोके षष्ठं गुरुर्ज्ञेयं सर्वत्र लघुपञ्चकम्। द्विचतुष्पादयोर्ह्रस्वं सप्तमं दीर्घमन्ययोः ॥१॥ यह श्लोक विशेष का लक्षण "सप्तमं दीर्घमन्ययोः" इतना क्वचिद् व्यभिचरित है, इत्यादि ॥२२॥ "भुजगशिशुभृता" नौ मः। दो नगण एक मगण "भुजगशिशुभृता" होता है ॥२३॥ स्यात् "मणिमध्यं" चेद् भमसाः, भ, म, स गण से "मणिमध्य" वृत्त होता है ॥२४॥ सजरैः "भुजङ्गसङ्गता" स, ज, र, गण से "भुजङ्गसङ्गता" वृत्त होता है ॥२५॥ इत्यादि।

---

१ अत्यन्तं विनश्वरम्।

❀ ओम् राम ❀

श्रीसद्गुरु

कबीर साहब कृत बीजक

[स्वानुभूतिसंस्कृतस्वल्पाक्षराहिन्दीव्याख्यासहित]

❀ अथ द्वितीय शब्द प्रकरण ❀

राममाया प्रकरण १, शब्द १

राम तेरी माया द्वन्द्व मचावै।
गति मति वाकी समुझि परै नहिं, सुर नर मुनिहि नचावै॥

भो राम तव मामेयं सदा द्वन्द्वविधायिनी।
प्रकृतिः सर्वविश्वस्य तव शक्तिस्वरूपिणी॥ १॥
यावन्न ज्ञायते मत्या क्रूरा तस्या गति जनैः।
तावन्नर्तयते सर्वान् देवान्नृंश्च मुनीनपि॥ २॥
मायाऽविद्या च भवति प्रकृतिस्त्रिगुणात्मिका।
शुद्धसत्त्वा च माया साऽविद्या मलिनसत्त्विका॥ ३॥
तमः प्रधानिका सैव तामसी कथ्यते बुधैः।
खादीनां जननी सैव द्वन्द्वदेहविधायिनी॥ ४॥
"रमन्ते योगिनोऽनन्ते नित्यानन्दे चिदात्मनि।
इति रामपदेनासौ परं ब्रह्माभिधीयते॥ ५॥
चिन्मयस्याद्वितीयस्य निष्कलस्याशरीरिणः।
उपासकानां कार्यार्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना" ॥ ६॥

चिदानन्दघन ब्रह्म का, सद्गुरु का धरि ध्यान।
भाषा भणित कि भणिति लघु, भाषा लखिय सुजान॥ १॥
सतचित आनन्द एक अज, अभय अखण्ड अरूप।
सर्वाधार अनन्त हरि, राम सदा निज रूप॥ २॥
निराधार अद्वैत शिव, विमल विगत सब खेद।
नमत ताहि हनुमान नित, जाहि बखानत वेद॥ ३॥

शब्द शक्ति का विषय नहिं, यद्यपि राम दयालु।
तौ भी शब्द स्वभाव से, जानत तिहि शरधालु ॥ ४ ॥
शब्द शक्ति के ज्ञान बिनु, जागहिं सूते लोग।
शब्द श्रवण से ज्यों तथा, जानहिं जन तजि भोग ॥ ५ ॥
ताते सद्गुरु रमण मुख, करि उपदेशन जाकि।
नामान्तर पररीति से, व्यक्ति करत हैं वाकि ॥ ६ ॥
जीव रूप को राम कहि, माया कहि अज नारि।
उपदेशत हैं जीव को, सुनत सकल अघहारि ॥ ७ ॥

हे राम ! (जीवात्मन्) तेरी माया (तेरे स्वरूपाश्रित अविद्या) मोह काल में सदा जन्म-मरण, राग-द्वेष, हर्ष-शोकादि द्वन्द्वों को मचाती (उत्पन्न सिद्ध करती) है और उसकी गति-मति गुरुआदि के बिना स्वयं समझ नहीं पड़ती है कि जिससे उसका निवारण किया जाय या अपनी मति से उसकी गति (आश्रय चाल) समझ में नहीं आती है। अतः सुर, नर, मुनि आदि सभी को नचाया करती है, जो निज मति या गुरु मति से उसकी गति (आश्रयादि) को समझते हैं सो नाच से मुक्त होते हैं, अन्य नहीं। अतः वह गति ज्ञातव्य है।

का सीमर के शखा बढ़ाये, फूल अनूपम बानी।
केतिक चातक लाग रहे हैं, चाखत रुवा उड़ानी ॥

शाल्मलेरिव शाखाया वृद्धौ किं स्यात् प्रयोजनम्।
पुत्रपौत्रादिरूपाया यावद् द्वन्द्वानि सन्ति ते ॥ ७ ॥
शाल्मलेरेव पुष्पं च यथा स्यान्मनसः प्रियम्।
दर्शनेऽनुपमं तद्धि गन्धसारादिवर्जितम् ॥ ८ ॥
पुत्रपौत्रादितस्तद्वद् या गतिः सौख्यसम्पदः।
ताः सर्वा विरसास्तुच्छा द्वन्द्वसत्त्वे भयप्रदाः ॥ ९ ॥
फलार्थं शाल्मलिं यद्वत् सेवन्ते चातका भुवि।
स्वादार्थं सम्प्रवृत्तौ च तूलमुड्डीय गच्छति ॥१०॥
संसारशाल्मलिं तद्वत् सेवन्ते सर्वजन्तवः।
स्वादार्थं सम्प्रवृत्तौ च तत्फलं नश्यति क्षणात् ॥११॥

यदि उक्त माया की गति नहीं समझी गई, तो सीमर के शाखाओं के समान पुत्र-पौत्रादिरूप शाखाओं के बढ़ाये (बढ़ाने) से का (क्या) फल मिल सकता है, तथा उस सीमर के निःसार निर्गन्ध, बानी (बात) से कहने के लिये

अनुपम (उपमा रहित) बृहद् पुष्पतुल्य सुन्दर गृह, धनादि से क्या फल हो सकता है। क्योंकि सीमर में लगे हुए (सीमरसेवी) चातक के समान केतिक (कितने-अनेकों) अज्ञ मनुष्य इस संसार सीमर पुत्र-पौत्र धनादि के सेवन में लाग रहे हैं (लगे-आसक्त हैं)। परन्तु जैसे सीमर के पक्व फल को चाखते (खाने के लिये प्रवृत्त होते) में ही उसमें से रुवा उड़ता है, तैसे भोगादि के लिये प्रवृत्त होते ही संसार की सम्पत्ति नष्ट हो जाती है। अर्थात् भोगादि से तृप्ति के बिना ही भोग्यपदार्थ या साधन शरीरादि नष्ट हो जाते हैं। क्योंकि ये क्षणभंगुर हैं।

काह खजूर बड़ाई तेरी, फल कोई नहिं पावै।
ग्रीषम ऋतु जब आय तुलानी, छाया काम न आवै ॥

खर्जूरस्येव वृद्ध्या वा कुलगोत्रादि वृद्धितः।
किं महत्त्वं भवेत्सत्यं सत्फलं चेन्न लभ्यते ॥१२॥
खर्जूरस्य बहूच्चैस्त्वाद् यथा न प्राप्यते फलम्।
अभिमानोन्नतेभ्योऽपि तथा न लभ्यते फलम् ॥१३॥
ग्रीष्मे शान्तिप्रदा यद्वत्तस्यच्छाया भवेन्नहि।
तथैव कुलजात्यादिवृद्धि र्मृत्यौ न शान्तिदा ॥१४॥
किं[1] कुलेनोपदिष्टेन विपुलेन दुरात्मनाम्।
कृमयः किं न जायन्ते कुसुमेषु सुगन्धिषु ॥१५॥
हीनजाति प्रसूतोऽपि शौचाऽऽचारसमन्वितः।
सर्वधर्मार्थ कुशलः स कुलीनः सतां वरः ॥१६॥
रागद्वेषतमः[2] क्रोधमदमात्सर्यवर्जनम्।
विना राम ! तपोदानाऽऽद्यपि क्लेशो न वास्तवम् ॥१७॥

धन सम्पत्ति आदि माया द्वारा यदि खजूर की नाईं, तुझे बड़ाई मिली तो उस तेरी बड़ाई से क्या फल हुआ। क्योंकि इस बड़ाई से कोई सच्चा फल नहीं पाता है, जैसे ऊँचे खजूर के फल को कोई नहीं पाता है और ग्रीषम ऋतु में जैसे तुच्छ खजूर की छाया किसी के काम की नहीं होती है, वैसे ही मरणादि रूप ग्रीषम (ताप) काल के आतुलाने (आ पहुँचने) पर इस लौकिक बड़ाई की छाया काम नहीं आती है, जब मृत्यु यमयातना का समय आ जाता है, तब धनादि सब निरर्थक हो जाते हैं। किन्तु धर्म, भक्ति ज्ञान ही सदा सार्थक होते हैं, द्वन्द्वों से रक्षा करते हैं।

---

१ भविष्यपु० ४।२०५।२१-२२ ॥ २ योगवा० ३।६।१० ॥

अपने चतुर और को सिखवै, कनक कामिनी स्यानी।
कहहिं कबीर सुनहु हो सन्तो, राम चरण ऋत मानी ॥१॥

तथापि तन्महत्त्वार्थं स्वर्णकान्तादिलब्धये।
चातुर्यं कुर्वते सर्वे शिक्षयन्ति जनानपि ॥१८॥
कनकादौ प्रवीणा हि स्वयमन्यांश्च मानवान्।
तच्छासति कुचातुर्यं नात्मानं राममव्ययम् ॥१९॥
भोः साधो ! श्रूयतां सत्यं रामे संचरणं हितम्।
तदेव क्रियतां देव ! नान्यसङ्गो विधीयताम् ॥२०॥
रामे संचरणं सत्यं तदेव परमं पदम्।
श्रीकबीरो ब्रवीत्येवं सावधानेन मन्यताम् ॥२१॥
कुलगोत्रादिवृद्ध्या किं विपुलेन धनेन वा।
यावन्न मनसः स्थैर्यं तावत्सर्वं निरर्थकम् ॥२२॥
मैत्र्यादिं भावनेतातो मनः स्थैर्यं विधीयताम्।
द्वन्द्वानि सद्विवेकाद्यैर्मायाश्चापि त्यज ध्रुवम् ॥२३॥
"रागो[1] द्वेषो भयं मोहो हर्षः शोकोऽभिमानिता।
कामः क्रोधो विषादश्च दर्पश्चालस्यमेव च ॥२४॥
इच्छा लोभश्चदम्भाद्याः परवृद्ध्युपतापिता।
अज्ञानं त्यज्यतामेतत्तथा पापजनैः कृतम्" ॥२५॥
सद्गुरोश्चरणं सेव्यं सेवितं सत्फलप्रदम्।
मत्वेति सेवमानस्तच्छ्रवणं सुविधीयताम् ॥२६॥

उक्त रीति से पुत्र-पौत्रादि से या धनादि जन्य बड़ाई से कोई सत्य फल नहीं मिलता है तो भी अज्ञान-मोहादियुक्त मनुष्य, पुत्रादि के लिये और बड़ाई के लिये कनक-कामिनी की प्राप्ति करने-कराने में आप चतुर रहते होते हैं और अन्य को भी वही कनक-कामिनी की स्यानी (चतुराई) सिखवै (सिखाते=पढ़ाते) हैं। माया की गति को समझने-समझाने के लिये यत्नादि नहीं करते-कराते हैं। अतः श्रीकबीर साहब सन्तों से कहते हैं कि आप माया की गति आदि को समझने के लिये सुनो (श्रवणादि करो) सो भी राम (सद्गुरु) की चरण सेवा को ऋत (सत्य) मानकर, गुरु चरण की सेवापूर्वक श्रवणादि करो। क्योंकि— "निराकार वह राम है, पाय सक्रिय नहिं अन्त जो चाहो आकारयुत, तो

---

१ महाभा० शा० अ० १५९।६—७।

प्रत्यक्ष गुरु सन्त ॥१॥ (अङ्ग की साखी) वह निर्गुण सर्वात्मा राम निराकार है। अतः सद्गुरु की सेवा आदिरूप भक्ति के बिना उसके अन्त (मर्म-रहस्यस्वरूप) को पाय (समझ) नहीं सकते हैं। अतः उसे समझने के लिये यदि आकार-सहित राम की प्राप्ति चाहो तो प्रत्यक्ष गुरु और सन्त को साकार राम समझो और उनकी सेवा-विचारादि से निर्गुण राम को माया आदि का आश्रय अधिष्ठान समझो, इत्यादि ॥ १ ॥

शब्द २

माया महा ठगिनी हम जानी ।
त्रिगुणि फाँस लिये कर डोलै, बोलै मधुरी बानी ।

मायैषा मलिना धूर्ता सा ऽस्माभि र्ज्ञायते स्फुटम् ।
गुणत्रयमयान् पाशान् करे धृत्वेव धावति ॥२७॥
जनानां मोहनार्थाय भाषते मधुरां गिरम् ।
अन्तः क्रूरा महातीक्ष्णा क्षिणोति हृदयं क्षुरैः ॥२८॥
सत्त्वं रजस्तमश्चैते मायाजन्या गुणा हि तैः ।
निबध्नाति महामाया देहे देहिनमव्ययम् ॥२९॥
सुखसङ्गात्मना सैव ज्ञानसङ्गात्मनाऽमला ।
निबध्नात्येव सत्त्वात्मा कर्मसङ्गात्मना चला ॥३०॥
रागात्मा सा निबध्नाति प्रमादाद्यात्मना तथा ।
मूढा बध्नाति सर्वत्र देहे देहिनमञ्जसा ॥३१॥
"सत्त्वं[1] ज्ञानं तमोऽज्ञानं रागद्वेषौ रजः स्मृतम् ।
एतद् व्याप्तिमदेतेषां सर्वभूताश्रितं वपुः" ॥३२॥

हम (रामस्वरूप गुरु सन्तो) ने माया को महाठगिनी जाना है ! अतः "गई ठगौरि जब ठग पहिचाना" माया की गति को पहचानने से हमारे लिये उसकी ठगौरी (ठगपन) चली गई है तो भी अज्ञों को बाँधने के लिये तीन गुणमय, ज्ञान सुखरूप सत्त्वमय, राग-द्वेषरूप रजोमय, मोह प्रमाद अज्ञानादि रूप तपोमय, फाँश अपने कर (हाथ) में लेकर सब व्यहार संसार में डोलती (फिरती) रहती है और स्त्री आदिरूप होकर मोहजनक मधुरी बानी बोलती है।

केशव के कमला ह्वै बैठी, शिव के भवन भवानी ।
पण्डा के मूरति ह्वै बैठी, तीरथहूँ में पानी ॥

---

१ मनुस्मृ० १२.२३॥

योगी के योगिनि ह्वै बैठी, राजा के गृह रानी।
काहू के हीरा ह्वै बैठी, काहुक कौड़ी कानी॥

केशवस्य गृहे माया पद्मा भूत्वा विराजते।
शिवस्य भवनेऽचिन्त्या भवानी कथिता बुधैः ॥३३॥
सैव देवलकानां च गृहे मूर्ति प्रतिष्ठिता।
तीर्थेषु जलरूपेण वर्ततेऽद्भुतविग्रहा ॥३४॥
योगिनां भवने सैव योगिनी वर्ततेऽनृता।
राज्ञो गृहे च राज्ञी सा हीरकः कस्यचिद् गृहे ॥३५॥
कस्यापि च गृहे भूत्वा वर्तते कुकपर्दिका।
पूज्या सा भवति क्वापि क्वचित्तुच्छेव वर्तते ॥३६॥

माया ही केशव (विष्णुदेव) के घर में कमला (लक्ष्मी) होकर बैठी है। शिवजी के घर में भवानी (पार्वती) होकर बैठती है, तीर्थ के पण्डाओं के घरों में देवमूर्ति होकर बैठी है, तीर्थों में पानी होकर बैठी है। योगियों के घर में योगिनी और राजाओं के घर में रानी होती है, और किसी धनी के घर में हीरा आदि रत्न होकर बैठी है, और किसी गरीब के घर में कानी (फूटी) कौड़ी आदिरूप से बैठी है। अथवा किसी अविवेकी की दृष्टि में जो बहुमूल्य हीरा होकर बैठी है, सो किसी विवेकी की दृष्टि में कानी कौड़ी तुल्य अति तुच्छ है। अर्थात् उत्तम, मध्यम कनिष्ठतारूप भेद अतिशययुक्त नामरूपात्मक सब पदार्थ मायात्मक हैं भेदादि रहित सर्वात्मा राम साक्षिस्वरूपानन्द चिन्मात्र है माया ही सब द्वन्द्वों का हेतु है। ब्रह्मपुराण के वचन हैं कि "एषा [1]चतुर्विंशति-भेदभिन्ना माया परा प्रकृतिस्तत्समुत्थौ। कामक्रोधौ लोभमोहौ भयं च विषाद-शोकौ च विकल्पजालम्[2] ॥ १ ॥ धर्माधर्मौ सुखदुःखे च सृष्टि विनाशपाकौ नरके गतिश्च। वासः स्वर्गे जातयश्चाश्रमाश्च रागद्वेषौ विविधा व्याधयश्च" ॥२॥

भक्ता के भक्तिनि ह्वै बैठी, ब्रह्मा के ब्रह्मानी।
कहहिं कबीर सुनहु हो सन्तो, ई सब अकथ कहानी ॥२॥

भक्ती भूत्वा हि भक्तानां ब्रह्माणी ब्रह्मणस्तथा।
गृहे तिष्ठति सा माया ह्येवमन्यत्र तिष्ठति[3] ॥३७॥

---

१ त्रिगुण प्रकृति, महतत्त्व, अहंकार, पञ्चतन्मात्रा और षोडश विकार (एकादश इन्द्रिय पाँच महाभूत) इन भेदों से युक्त। २ संशयादि। ३ सर्वेषां गृहे हृदये वाचि व्यवहारे सा तिष्ठतीत्यर्थः।

अमूः सर्वाः कथास्तस्या अकथाया उवाच ह ।
गुरुः शृण्वन्तु ता नित्यं सज्जनाः सावधानतः ॥३८॥
श्रुत्वा तारतत्त्वतो ज्ञात्वा छित्त्वा तद्बन्धनानि च ।
तां विलूयात्मबोधेन नित्यमुक्ता भवन्तु ते ॥३९॥
तत्तमोलक्षणः[1] कामो ह्यर्थस्तद्रजसस्तथा ।
तत्सत्त्वलक्षणं धर्मः श्रैष्ठ्यमेषां यथोत्तरम् ॥४०॥
धर्मेण प्राप्यते स्वर्गः पापेन त्वधमा गतिः ।
द्वयं ज्ञानासिना छित्त्वा शान्तिमृच्छन्तु वै बुधाः ।४१॥२॥

भक्तों के घर में भक्तिनी और ब्रह्मा के घर में ब्रह्मानी होकर माया ही बैठी है । अतः श्रीकबीर साहब कहते हैं कि ई (यह) पूर्व वर्णित सब अकथ (सत्यासत्यादि रूप से अनिर्वाच्य = अद्भुत) माया की ही कहानी कथा कही गई है, तथा यह सब संसार अकथ (माया) की कथा (कार्य = विकार) रूप है, हे सन्तो ! उस माया की कथा को श्रवण करो और माया की वञ्चना से बचो और "ता गुरु पद को सेविये, जिन माया पहिचानि । ठगिनि को ठगि दूरि करि, राम मिलाया आनि ॥ १ ॥" "यत्किञ्चनाङ्ग ! भुवनेषु महामहिम्ना व्याप्तं जरत्तृणलवत्वमुपागतं वा । दृश्यं स्फुरन्ननुहराद्यपि तामविद्यां विद्धि क्षयाय तदतीततयाऽऽत्मलाभः ॥ १ ॥ योगवा० ६।८।३२" हे अङ्ग ! (प्रिय) सब भुवनों में जो दृश्य वस्तु महा महिमा से व्याप्त (युक्त) हैं या हरि-हरादि रूप से जो प्रतीत हो रहे हैं या जीर्ण तृणरूपता को जो प्राप्त हैं । उन सबको अविद्या (माया) जानो, उस अविद्या के नाश के लिये उन सबसे आगे उनसे रहितरूप से आत्मलाभ (आत्मज्ञान) होता है ॥ २ ॥

सम्बन्ध-"लक्षणप्रमाणाभ्यां वस्तुसिद्धिः" लक्षण और प्रमाण से वस्तु की सिद्धि (बुद्धि = ज्ञान) होती है, तहाँ प्रत्यक्ष अनुमानादि प्रमाण कहे जाते हैं और असाधारण विशेष धर्म (गुण आकारादि) लक्षण कहे जाते हैं और तन्त्रवार्तिक (ग्रन्थ) में लिखा है कि "ऋषयोऽपि पदार्थानां नान्तं यान्ति पृथक्त्वशः । लक्षणेन तु सिद्धानामन्तं यान्ति विपश्चितः ॥ १ ॥" सर्वज्ञ ऋषि भी पृथक्-पृथक् व्यक्तिरूप से लक्ष्य (ज्ञेय) पदार्थों के अन्त को नहीं पाते हैं और लक्षण द्वारा सिद्ध (वर्तमान) द्रव्यादि पदार्थों के अन्त को विद्वान् भी पा जाते हैं । अतः माया और राम के लक्षण आगे शब्द से कहे गये हैं और

---

१ तस्या मायाया य आध्यात्मिकस्तमोंऽशस्तस्य स्वरूपः कामो वर्तते, इत्याद्यर्थः ।

जिस माया की चर्चा प्रथम हुई है तथा "नारि एक संसारहि आई। चली जाति देखी एक नारी। रमैनी ७२-७३" यहाँ जो नारी कही गई है, उसको स्पष्ट समझाने के लिये माया का लक्षण कहा गया है, यद्यपि द्वन्द्वकारणत्व माया का लक्षण प्रथम शब्द में कहा गया है तथापि वह लक्षण कार्यरूप माया में नहीं रहता है। अतः कार्यकारण स्वरूप सभी माया का लक्षण कहते हैं कि—

शब्द ३

सन्तो आवै जाय सो माया।
है प्रतिपाल काल नहिं वाके, ना कहुँ गया न आया॥

या ह्यायाति च संयाति करोति विविधास्तनूः।
उत्पत्त्या वा विकाराद्यैः सा मायेतिविनिश्चयः॥४२॥
भोः साधो! लक्षणं ज्ञात्वा मायायास्तद्विलक्षणम्।
रामं विद्धि विवेकेन गत्यागत्यादिवर्जितम्॥४३॥
नास्ति रामस्य कोप्यत्र रक्षको नापि चान्तकः।
रक्षकः स तु सर्वस्य सत्तया स्वप्रकाशतः॥४४॥
गतवान्न स कुत्रापि कुतो नागतवाँस्तथा।
वर्तते सर्वदा सर्वहृदयेष्वात्मरूपतः॥४५॥

हे सन्तो! परिणाम उत्पत्ति क्रिया द्वारा जो वस्तु आने जाने वाली हैं, सो स्थूल सूक्ष्म कारण शरीर और भूत-भौतिक पदार्थ त्रिगुण प्रकृति पर्यन्त सब माया स्वरूप (अनिर्वाच्य) हैं और वाके (उस सर्वात्मा राम के) कोई प्रतिपाल (रक्षक) और काल (नाशक) नहीं है, तथा जनकादिक नहीं हैं, किन्तु वही सबका प्रतिपालकादि है और विभु अखण्ड होने से वह न कभी कहीं गया, न कहीं से आया। अतः जिसमें क्रिया विकारादि हों, उसको माया स्वरूप समझना चाहिये और क्रिया विकारादि रहित सर्वसाक्षी सर्वात्मा राम को समझना चाहिये और "मायिनं तु महेश्वरम् ४।१। श्वे०" इस श्रुति वर्णित ईश्वर भी गमनागमनादि रहित ही ज्ञातव्य है। तथा वह रागद्वेषादि रहित ही है। "निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यंनिरञ्जनम्। श्वे० ६।१९" इत्यादि से वर्णित पारमार्थिक स्वरूप ब्रह्मात्मा भी सब क्रियादि रहित ही बोद्धव्य है, अतः माया ही क्रियादि युक्त ज्ञातव्य है और स्वार्पित ईश शक्तिवाले विष्णुदेवादि में अवतारादि द्वारा ईश्वर के विशेष कार्यकारित्व होते भी स्वयं साक्षात् तत्तत् शरीरविशेषवाला सर्वेश्वर नहीं होता है, क्योंकि वह सम सर्वात्मा वस्तुतः है।

क्या मकसूद मच्छ कछ होना । शंखाऽसुर न संघारा ॥
है दयाल द्रोह नहिं वाको । कहहु कौन को मारा ॥
नहिं वे कर्ता बाराह कहायो । धरणि धरो नहिं भारा ॥
ई सब काम साहब के नाहीं । झूठ कहै संसारा ॥

मत्स्यत्वेन फलं किं स्यात्कच्छपत्वेन वा विभोः ।
नासौ शङ्खाऽसुरं शूरं संजहार महाप्रभुः ॥४६॥
स दयालु[१] न तु द्रोहो वर्तते तस्य कैः सह ।
कथ्यतां स प्रभुः कस्मात्केषां प्राणान् व्ययोजयत् ॥४७॥
स कर्ता[२] न वराहोऽभूदुद्धृतवान्न भरं भुवः ।
कर्म सर्वं प्रभोर्नेदं मिथ्यैव भाषते जगत् ॥४८॥
पूर्णकामं दयालुं तं भाषमाणो भजन्नरः ।
याति तद्भावतामन्ते ह्यन्यथा याति चान्यताम् ॥४९॥

मत्स्य या कच्छप होने से पूर्ण काम राम को क्या मकसूद (मकसद-प्रयोजन-फल) है । प्रयोजन के अभाव से ही उसने शंखाऽसुर का संघार (नाश) नहीं किया । और वह केवल दयालु (निर्हेतुक उपकारक) स्वरूप है । उसको किसी से द्रोह नहीं है तो कहो कि द्रोह के बिना वह किसको मारा, किसीको नहीं मारा । वह कर्ता बाराह नहीं कहाया न धरणी (भूमि) के भार को धारण किया । क्योंकि ये सब विशेष काम (कार्य) साहब (ईश्वर) के नहीं हैं, निर्गुण राम के तो कोई कार्य हो ही नहीं सकते हैं । तथापि संसारी झूठही इन्हें ईश्वर के काम कहता है । ईश्वर संसार का साधारण कर्ता (कारण) है, विशेष नहीं ।

खम्भ फोरि जो बाहर होई, ताहि पतिज सब कोई ।
हिरणाकश नख उदर विदारे, सो नहिं कर्ता होई ॥

---

१ एष आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्यु र्वीत शोकः । छा० ८ । १ । ५ ।

२ अंशांशोंऽशस्तथाऽऽवेशः कलापूर्णः प्रकथ्यते । व्यासाद्यैश्च स्मृतः षष्ठः परिपूर्णतमः स्वयम् ॥१॥ इत्यादि गर्गसंहितादिभि र्बहुविध उक्तोऽवतारो भगवतो विष्णुदेवस्यैव देवादिरक्षणप्रयोजनस्य सत्त्वात् । सर्वेशितु र्मायया विना तस्यापि प्रयोजनस्यासिद्धेस्तत्र मायैव कार्यसाधिका, तत्र व्यक्त स्वरूपमात्रे ईश्वरादिबुद्धि र्भ्रमरूपा तन्मूलकं च मिथ्या भाषणमित्यादि भावः । अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नंमन्यन्ते मामबुद्धयः । इत्यादि गीता ।

बावन होय नहिं बलि को जाँच्यो, जो जाँचे सो माया ।
बिना विवेक सकल जग भरमे, माया जग भरमाया ॥

स्तम्भं विदार्य यो देवो बहिराविर्बभूव ह ।
तं विश्वसन्ति वै सर्वे पतिं मत्वा भजन्ति च ॥५०॥

हिरण्यकशिपो यश्चोदरं दारितवान्नखैः ।
नासौ कर्ता नृसिंहोऽपि दयालु र्द्रोहवर्जितः ॥५१॥

खर्वो भूत्वा बलिं नैवमयाचत महाप्रभुः ।
किन्तु[1] या याचते स्मासौ माया विश्वविमोहिनी ॥५२॥

विवेकेन विनाऽनेन भ्राम्यन्ति सर्वजन्तवः ।
माया च भ्रमयत्येषा सर्वं संसारिणं जनम् ॥५३॥

पत्थर के खम्भे को फोरकर जो नृसिंह उसमें से बाहर होते (निकलते) हैं, उनकी ईश्वरता का विश्वास सब कोई करते हैं, उनको पति मानकर सब जय मनाते हैं, स्वविजय चाहते हैं। परन्तु वह कर्ता राम तो सदा सर्वत्र एकरस वर्तमान रहता है। अतः जो हिरण्यकश्यप के उदर को नखों से विदारा (फाड़ा) सो विभु समदर्शी कर्ता नहीं हो सकता है। वह समदर्शी बावनरूप होकर बलि से पृथिवी की याचना नहीं किया, जो जाँचा (जिसने याँचना की) सो माया का स्वरूप बना था, इस विवेक ज्ञान के बिना सब संसारी भ्रम में पड़े हैं और माया ने सब जगत को भरमाया है।

परशुराम ह्वै क्षत्रि न मारा, ई छल माया कीन्हा ।
सतगुरु भक्ति भेद नहिं जान्यो, जीवन मिथ्या दीन्हा ॥
सिरजनहार न व्याही सीता, जल पाषाण नहिं बन्धा ।
वे रघुनाथ एक को सुमिरे, जो सुमिरै सो अन्धा ॥

---

१ मिथ्या ज्ञानमुत्पाद्यप्रवर्तनशीलाऽविद्यारूपा मायैव, वामनेन च तथा कृतमिति तत्र साक्षान्मायालक्षणं लक्ष्यते। मायारहितं देहेनापि ये सत्पुरुषा यदा विपरीतज्ञानादिकं न जनयन्ति तदा ते न मायात्मका मायाविनो वा कथ्यन्ते, किन्तु ज्ञानजननहेतुत्वाद्विद्यात्मका ब्रह्मात्मका गुरवः कथ्यन्ते। बलिमयाचत्, इत्यस्य बलेः सकाशाद् वसुधामयाचत्, बलिमवञ्चयदिति वा प्रकरणानुसारेणार्थः सम्भवति, धातूनामनेकार्थत्वात्।

भूत्वा[1] परशुरामो वा क्षत्रान् मारितवान्न सः ।
इदं छलं बलं सर्वं माया कृतवती चला ॥५४॥
सद्गुरूणां तु भक्त्येदं रहस्यं नाऽविदुर्हि ये ।
ते स्वजीवनसर्वस्वं संसाराब्धौ समार्पयन् ॥५५॥
सर्वस्रष्टा न तां सीतामूढवान् न च बन्धनम् ।
सेतोर्वा कृतवानब्धौ पाषाणैः परलब्धये ॥५६॥
रामः सीतापतिश्चासौ रघुनाथः पराऽद्वयम् ।
एकमेवाऽस्मरद् राममन्यं स्मरति चान्धधीः ॥५७॥

सर्वात्मा राम ने परशुराम होकर क्षत्रियों को नहीं मारा । किन्तु यह छल भी माया ने ही किया, जिन्होंने सद्गुरु की भक्ति करके इस भेद (मर्म) को नहीं जाना, उन लोगों ने अपने जीवन (आयु) को मिथ्या (माया) में ही बिता दिया, विषय भोगादि में आयु को नष्ट किया । वह अव्यक्त मायी सिरजनिहार (सृष्टि कर्ता) ईश्वर सीता को नहीं व्याहा (विवाह से पत्नी नहीं बनाया) न जल में पाषाण का पुल बाँधा । अर्थात् लंका जाने के लिये सेतु बन्ध नहीं किया । क्योंकि उस सीता को व्याहने पुल बाँधनेवाले वे रघुनाथ स्वयं एक सर्वात्मा राम को सुमिरते (स्मरते = ध्यान करते) रहे । फिर जो कोई भिन्नभाव से उनकी व्यक्तिमात्र का स्मरण करते हैं, उनके सच्चिदानन्दस्वरूप को निजात्म स्वरूप नहीं समझते हैं सो सत्य राम के विवेकादि रहित अज्ञ हैं ।

गोपी ग्वाल न गोकुल आयो, करते कंस न मारा ।
मेहरवान सबन के साहब, नहिं जीता नहिं हारा ॥
नहिं वे कर्ता बुद्ध कहायो, नहीं असुर को मारा ।
ज्ञान हीन करता सब भरमे, माया जग संहारा ॥

गोपीभिर्न च गोपैश्च सार्द्धं स गोकुले प्रभुः ।
आजगाम न हस्तेन कंसं निहतवांस्तथा ॥५८॥

---

१ गुणावतारपुरुषावतारलीलावतारेषु ब्रह्मादिगुणावताराः क्षीरोदशाय्यादि पुरुषावताराः । लीलावतारश्च-आवेशावतारस्वरूपावतारभेदेनद्विविध इति केचिन्मन्यन्ते, तत्र परशुरामे परमेशितुः शक्त्यावेशमात्रमिति तेऽपिमन्यन्त एव, वस्तुतस्तत्रभगवतो विष्णुदेवस्यशक्त्यावेशो विशेषः । परमात्मनस्तु सर्वत्रैव शक्त्यावेश एव, विभोर्निरवयवस्यसाक्षात्क्वचिदपिसाकल्येनावेशाऽसम्भवात् ।

सर्वोपरि दयावान् स नवा जयति जीयते।
जयाऽजयविहीनत्वाद्राजते सर्वसौहृदः ॥५९॥
यस्य शत्रु र्न वा मित्रं विद्यते भुवने क्वचित्।
स सर्वात्मा कुतो गच्छेद्धन्यात्कं हन्यते कथम् ॥६०॥
न कर्ता कथ्यते बुद्धो नासुरान् संजहार सः।
ज्ञानहीना भ्रमात्सर्वे कर्तारं मन्यते तु तम् ॥६१॥
ज्ञानहीनाञ्जनान् सर्वान् मायैषा संजहार तु।
लोकत्रयेऽपि सर्वान् सा हिनस्ति सर्वदा खलु ॥६२॥

वह सत्य कर्ता गोपी ग्वाल के निवास स्थान गोकुल में नहीं आया, न उनके साथ कहीं आया गया। न करते (हाथ से) कंस को मारा। क्योंकि वह साहब सब के ऊपर मेहरबान् (दयावान्) है, अतः वह न किसी से युद्ध किया, न किसी को जीता न किसी से हारा। वह कर्ता बुद्ध नहीं कहलाया, न असुरों को यज्ञ से विमुख करके, बहका कर, उनको मारा। किन्तु जो ज्ञान हीन लोग सब सत्य कर्ता से विमुख हुए, अतः कर्ता के स्वरूप विषयक भ्रम-युक्त हुए। एक कर्ता को समझे बिना अनेक कर्ता में भरमें (भटके) भ्रम संशयादि युक्त हुए, उनका माया ने संहार (नाश) किया "मच्छरूप माया भई। रमैनी ४६" इत्यादि का ही यह विवरण समझना चाहिये। अर्थात्। प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणनि सर्वेशः। यः पश्यति तथाऽऽत्मानंमकर्तारं-सपश्यति। भ. गीता. १३।२९। महत्तत्वादि रूपता को प्राप्त चिदाभासयुक्त प्रकृति (माया) से जन्य सब कार्यों को जो समझता है तथा सर्वात्मा राम को अकर्ता समझता है, सोई सत्य को समझता है। अन्यथा अज्ञानवश भ्रमता है।

नहिं वै कर्ता भये कलंकी, नहीं कलिं गहि मारा।
ई छल बल सब माया कीन्हा, यत्त सत्त सब टारा॥
दश अवतार ईश्वरी माया, कर्ता कै जिन पूजा।
कहहिं कबीर सुनहु हो सन्तो, उपजै खपै सो दूजा॥३॥

नापि कल्किर्बभूवासौ भविता न कथञ्चन।
हतवान्न कलिं चातो माया हतवती तु सा ॥६३॥
बलंछलमिदं सर्वं माया कृतवती प्रभोः।
सत्यं च संयमान् सर्वान् यमान् सैव व्यनाशयत् ॥६४॥
अवतारा दशैते वै मायैव पारमेश्वरी।
पूज्यन्ते कर्तृबुद्ध्या ये न कर्तारः संतां मताः ॥६५॥

सज्जनैः श्रूयतामेतत्सद्गुरु र्वक्ति सादरम् ।
उत्पद्य नश्यति ह्यन्यो न कर्तेति विनिश्चितम् ॥६६॥
जायमानं स्थितं चापि नश्यन्तमखिलं जगत् ।
भासयन्[1] तस्य चात्मैव कर्ता सर्वत्र वर्तते ॥६७॥

एकोऽपि बहुधा सूर्यो जलाधारेषु दृश्यते ।
तथैकः परमात्मापि सर्वोपाधिषु दृश्यते ॥६८॥

न हन्ति हन्यते नासौ सर्वत्र समदृक्स्वयम् ।
वर्तते भासयन् सर्वं मायया कारकोऽपिसन् ॥६९॥

द्वन्द्वै र्नियोज्य निखिलान् खलु जीवसङ्घान् ।
बध्वा दृढं गुणमयैः स्वविकार पाशैः ।
भावै र्विमोहजनकैश्च विमोहयन्ती,
मायैव नृत्यति सदा जगदेति याति ॥७०॥३॥

इति हनुमदीयायां शब्दसुधायां राममायानिरूपणं नाम प्रथमस्तरङ्ग ॥१॥

वह कर्ता कलंकी (कल्कि) नहीं भया न होता है न कलि (कलियुग को) गहि (पकड़कर) मारा न मारता है। किन्तु यह सब छल-बल (छलबल कार्य) माया ने किया और करती है और यतियों के यत्त (यत्न योगादि) को तथा सतियों के सत्त (सत्य नियम व्रत) को माया ने ही टारा (नष्ट किया) और करती है। उक्त दश अवतार भी आने-जाने वाले होने के कारण ईश्वरी (ईश्वर सम्बन्धिनी) माया होती है या ईश्वरी (समर्था) माया दश अवतार स्वरूप होती है कि जिन अवतारों की कर्तारूप से पूजा की जाती है। परन्तु श्रीकबीर साहब कहते हैं कि हे सन्तो ! श्रवणादि करो और समझो कि जो उपजै (उत्पन्न हो) और खपै (नष्ट हो) सो सत्य कर्ता राम से दूजा (दूसरी अन्य) वस्तु है। क्योंकि उत्पत्ति आदि रहित स्वयं प्रकाश निर्विकार राम स्वशक्ति माया द्वारा रचा प्रकाशमात्र से कर्ता होता है। शरीर शरीरी आदि रूप से नहीं, उससे अन्य देव मनुष्यादि सब उसके मायामय विस्तार हैं, इस प्रकार से

---

१ यथा चुम्बक सान्निध्याच्चलन्त्येवाय आदयः । जडा तथा त्वया दृष्टा माया सृजति वै जगत् ॥१॥ देहद्वयमदेहस्य तव विश्वंरिरक्षिषोः विराट्स्थूलं शरीरं ते सूक्ष्मं सूत्रमुदाहृतम् ॥२॥ विराजः सम्भवन्त्येते ह्यवताराः सहस्रशः कार्यान्ते प्रविशन्त्येव विराजं रघुनन्दन ॥३॥ अध्यात्मरा. युद्धका. स. १४।२६ ३१ । अत्रापि स्वरूपदृष्ट्या कुम्भोजोक्तिः ।

एक राम और अनेक माया को समझो "जिहि राखेहु अनुमान के, स्थूल नहीं अस्थूल। र० ७५" "नारी एक संसारहिं आई। चली जाति देखी एक नारी। र० ७२-७३" इत्यादि का यहाँ विवरण किया गया है। अर्थात् "नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टाऽनुपश्यति। गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽभिगच्छति ॥ भ० गीता० १४।१६" जब शुद्धात्मदर्शी द्रष्टा ज्ञानी कार्य-करणादिरूप गुणों से अन्य कर्ता को नहीं देखता है। किन्तु चेतनात्मा से प्रकाशित गुणों को सब कर्मों का कर्ता समझता है तथा गुणों से पर = अत्यन्त भिन्न निर्विकार एक सर्वात्मा क्षेत्रज्ञ को समझता है, तब वह मद्भाव = ब्रह्म-स्वरूपता को प्राप्त होता है ॥ ३ ॥

अथ मायाजन्यमोह वर्णन प्र० २

शब्द ४

माया मोह मोहित कीन्हा, ताते ज्ञान रतन हरि लीन्हा ॥
जीवन ऐसो स्वपन जैसो, जीवन स्वपन समाना।
शब्दे गुरु उपदेश दीन्हा, छाडू परम निधाना ॥

मायाजन्यो हि मोहोऽयं सर्वजन्तूनमोहयत्।
अहरज्ज्ञानरत्नं च सर्वस्य सुखदं हितम् ॥ १ ॥
मायया मोहितो जन्तु र्न पश्यति परं पदम्।
धावते विषयाद्यर्थं दिङ्मोहेष्विव वर्तते ॥ २ ॥
आयुः कल्लोललोलं यत्त्वलीकं स्वप्नवच्चलम्।
तत्रापि स्वप्नतुल्येऽस्मिन् विषयादौ व्यनीनशत् ॥ ३ ॥
सद्गुरुः सारशब्देनोपदेशं दत्तवानिमम्।
त्यज्यतां विषयो मोहो मार्ज्यतां सुविचक्षणैः ॥ ४ ॥
चिकित्सा नरकव्याधेरिहैव क्रियतां द्रुतम्।
निरौषधेऽन्यथा स्थाने सा कर्तुं शक्यते नहि ॥ ५ ॥

श्रवणादि के बिना मायाजन्य मोह ने जीवों को मोहित (विवेक रहित) किया, और मोहित करने द्वारा इनके शुभ ज्ञानस्वरूप तथा आत्मस्वरूप रत्न को हर लिया है (छिपाया है)। अतः जो जीवन ऐसा तुच्छ अल्प है कि जैसा स्वप्न मिथ्या होता है, सो भी जीवन स्वप्न तुल्य मिथ्या विषय भोग व्यवहारादि में ही समाया (नष्ट हो गया)। अतः उस जीवन में ज्ञानस्वरूप रत्न को

मनुष्य नहीं पाया। इस दशा को देखकर, परमतत्त्व के ज्ञान के निधान (आश्रय) गुरु ने सार शब्द का उपदेश दिया कि हे परमनिधान (परमसुख के पात्र मनुष्यों)! तुम इन स्वप्नतुल्य विषय-मोहादि को छोड़ो नष्ट करो।

ज्योतिहि देखि पतङ्ग हुलसे, पशु नहिं पेखै आगी।
काल फाँस नल मुग्ध न चेतै, कनक कामिनी लागी॥
शेख सैयद कितेब निरखै, सुस्मृति शास्त्र विचारै।
सतगुरु के उपदेश बिनु ते, जानि के जिव मारै॥

ज्योति दृष्ट्वा पतङ्गो हि यथाऽऽनन्दं प्रपद्यते।
दाहकं तन्न जानाति तस्मात्तेन प्रदह्यते॥ ६॥
तथैव पशुबुद्धि र्नो ज़ानाति विषयानलान्।
कान्ताकाञ्चनयोः सक्तः कालपाशान्न पश्यति॥ ७॥
शेखाश्च सैयदा ग्रन्थं प्रपश्यन्ति कुराणकम्।
शास्त्रं स्मृत्यादिकं चान्ये चिन्तयन्ति निरन्तरम्॥ ८॥
सद्गुरोरुपदेशेन विना ते तु तथापि हि।
जानन्तो घ्नन्ति वै जीवान् कामलोभादिभि र्वृताः॥ ९॥
"जानद्भिश्च कृतं पापं गुरु सर्वं भवत्युत।
अज्ञानात्स्वल्पको दोषः" प्रायश्चित्तेन नश्यति॥१०॥

जैसे दीपादि की ज्योति को देखकर पतङ्ग हुलसता (आनन्दित होता) है, उसको दाहक आगी (अग्नि) नहीं जानता है, तैसे पशुतुल्य मुग्ध (अविवेकी) मनुष्य भी विषयों को अग्नितुल्य नहीं समझते हैं। अतः कनक-कामिनी में लाग (आसक्त प्रवृत्त हो) कर, कालफाँश से बचने के लिये वे मुग्ध मनुष्य चेतते (सावधान होते) नहीं हैं। न सद्गुरु के उपदेशादि को मानते हैं। अतः जो शेख-सैयदादि किताबों को निरखते (देखते) हैं और जो ब्राह्मणादि सुन्दर स्मृति (धर्मशास्त्र) को विचारते हैं, सो भी सद्गुरु के उपदेश जन्य चेत (होश ज्ञान) के बिना जिह्वा स्वाद के कालफाँश के वश में होकर, जानकर जीव घात रूप पाप करते हैं। "अजानन् माहात्म्यं पततु शलभस्तीव्रदहने, समीनोऽप्यज्ञानाद्बडिशयुतमश्नातु पिसितम्। विजानन्तोऽप्येते वयमिह विपज्जालजटिलान्न मुञ्चामः कामानहह गहनो मोहमहिमा॥ १॥"

करु विचार विकार परिहरु, तरण तारणो सोई।
कहहिं कबिर भगवन्त भजु नल, द्वितीया और न कोई॥४॥

भोः साधो ! मोहनाशार्थं विचारः क्रियतां सदा ।
त्यज्यन्तां ते विकाराश्च कामाद्या विषयास्तथा ॥११॥

अनुष्ठानं विचारस्य विकाराणां च वर्जनम् ।
तरणं तारणं साधो ! संसाराब्धेर्नसंशयः ॥१२॥

"यस्मिंश्च न कृते दोषस्तत्कर्तव्यं मुमुक्षुभिः ।
काम्यं कर्मनिषिद्धं च न कर्तव्यं विशेषतः" ॥१३॥

कबीरः सद्गुरुः प्राह भोः सोम्य ! श्रूयतामिदम् ।
भगवन्तं भजस्वैकं द्वितीयं नैव कञ्चन ॥१४॥

"आराधयात्मनात्मानमात्मनात्मानमचर्य ।
आत्मनात्मानमालोक्य सन्तिष्ठस्वात्मनात्मनि" ॥१५॥४॥

उक्त पापादि की निवृत्ति के लिये उपदेश है कि सद्गुरु के उपदेश से स्वधर्म आत्मा के विचार करो और मोह-कामादि हिंसादिरूप भीतर-बाहर के विकारों को (दोषों पापों को) परिहरो (सर्वथा त्यागो)। सोई (यही त्याग) और विचार, स्वयं तरने और अन्य को तारने के लिये साधनरूप तरन-तारन है। और विचारादि से सब विकारों को त्यागकर, एक सर्वात्माराम भगवान् को हे मनुष्यो ! तुम अवश्य भजो। दुसरी किसी मायिक वस्तु को नहीं भजो, वह एक भगवान् सर्वसुखद, सुखस्वरूप सत्य कर्ता और वस्तुतः अकर्ता है, तथा भजनादि से ज्ञात होने पर मोक्षप्रद है (सर्वात्मा) है। क्योंकि– "अलख चितेरा कर बिना, रच माया के भौन। कार्य कर्म वश ह्वै रहा, नहिं जानै पति कौन ॥ १ ॥ माया तो ठगिनी भई, ठगत फिरै सब देश। जा ठग ने ठगिनी ठगी, ता ठग को आदेश ॥ २ ॥ अङ्ग की साखी ॥४॥"

शब्द ५

सन्तो अचरज एक भौ भारी। कहूँ तो को पतिआई ॥
एके पुरुष एक है नारी, ताकर करहु विचारा।
एके अण्ड सकल चौरासी, भरम भुला संसारा ॥

एकस्माद्यद्धि संजातं विविधं विश्वमण्डलम् ।
श्रीमद्भगवतस्तद्धि महाश्चर्यं किमुच्यताम् ॥१६॥

कथञ्चित्कथनेऽप्यस्य प्रत्ययं च करोति कः ।
अविवेकिजनः साधो ! सावधानेन बुध्यताम् ॥१७॥

विद्यते पुरुषो ह्येक आत्मादेवो निरामयः।
नारी चैकैव मायाख्या विचारः क्रियतां तयोः ॥१८॥

ब्रह्माण्डेष्वपि सर्वेषु वेदाष्टलक्षयोनिषु।
विद्यते पुरुषो ह्येको नारीपुरषयोरपि ॥१९॥

मायामात्रमिदं द्वैतं कल्पितं स्वप्नवन्मृषा।
अद्वैतं परमार्थं च केऽपि पश्यन्ति तं बुधाः ॥२०॥

सर्वे संसारिणस्त्वेते विचारेण विना सदा।
भ्रमसिद्धेऽत्र संसारे पतन्त्यग्नौ पतङ्गवत् ॥२१॥

यश्चैको वर्तते देवः सर्वत्र सर्वदेहिषु।
तं स्मरन्ति न ते मूढा भ्रमेण संभ्रमन्ति च ॥२२॥

हे सन्तो! भजनार्ह उक्त भगवान् से अनन्त संसार एक भारी आश्चर्य स्वरूप हुआ है, विकारों को त्यागकर, विचार करने ही पर इस तत्त्व को कोई समझ सकता है, कहने पर भी विचारादि के बिना कौन पतिआता (विश्वास करता है। अर्थात् कहूँ तो (कहें तो भी) विश्वास नहीं करता है। कहना यह है कि एक भगवान् सत्य पुरुष है, और एक उसकी शक्ति अनिर्वचनीय नारी माया है, उस शक्ति सहित पुरुष से संसार हुआ है, और उसके अज्ञान से ही जन्मादिरूप संसार अज्ञानी व्यावहारिक जीवों के होते हैं। अतः उसके ज्ञान के लिये ताकर (उसका) विचार करो। विचारादि से एक पुरुष और एक नारीरूप सब संसार को समझो। क्योंकि सब अण्ड (ब्रह्माण्ड) और चौरासी लाख योनियों में एक ही सत्यात्मा पुरुष है। परन्तु विचारादि के बिना सब संसारी अनेक स्वरूप भ्रम (मिथ्या) में भूला (आसक्त) है।

एके नारी जाल पसारी, जग में भया अँदेशा।
खोजत खोजंत अन्त न पाया, ब्रह्मा विष्णु महेशा ॥

नाग फाँस लिये घट भीतर, मूसिन सब जग झारी।
ज्ञान खड्ग बिनु सब जग जूझे, पकरि न काहू पारी ॥

नार्यैकैव जगज्जालं देहचित्रं पृथग्विधम्।
विस्तारितवती तेन संशयोऽप्यभवन्महान् ॥२३॥

भयचिन्तामुखाः सर्वे विकारा मानसास्तथा।
तेनैवात्राभवन् साधो! विश्वात्मान्तो न विद्यते ॥२४॥

अतश्चान्विष्यमाणास्ते ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः ।
नास्यान्तं ययुरन्यस्तु कथमन्तं गमिष्यति ॥२५॥
वासनामोह तृष्णादीन् गृहीत्वा नागपाशकान् ।
वर्तमाना मनस्स्वेषा वध्वाऽमुष्णाज्जगद्धनम् ॥२६॥
ज्ञानखड्गं विना सर्वे युध्यन्ते मायया जनाः ।
अतः केऽपि गृहीत्वाऽत्र स्थापयन्ति न तां वशे ॥२७॥

एक ही नारी ने उक्त पुरुष से प्रकाश सत्ता रूप बल पाकर सब संसार रूप जाल (विस्तार) को पसारी (प्रकट की) है। विचारादि के बिना उस जाल में सत्य बुद्धिपूर्वक फंसे रहने से संसार में अनेक प्रकार के अन्देशा (संशय भ्रम) हुआ है, और माया के विस्तार को खोजते खोजते ब्रह्मा विष्णु महेश ने भी इस विस्तार के अन्त को नहीं पाया, अतः इस के अन्त को खोजना व्यर्थ है। अनन्त समझ कर शान्ति प्राप्त करना उचित है। तथा विचारादि द्वारा एक नारी सहित एक सच्चिदानन्द पुरुष ही ज्ञातव्य है। क्योंकि "अयं सदेव इत्येवं संपरिज्ञानमात्रतः। जन्तो र्न जायते दुःखं जीवन्मुक्तत्वमेति च। योगवा. प्र. ३।६।६" यह संसार सद्ब्रह्ममात्र ही है। ऐसे सम्यक् ज्ञानमात्र से प्राणी को दुःख नहीं होता है और जीवन्मुक्तित्व को पाता है और ज्ञान के बिना काम तृष्णा आदि रूप नाग फांश लेकर वह माया सब जीवों के घटों (देहों) के भीतर वर्तमान रहती है और उस नाग फांस से बांध कर सब के विवेक विचार सुख शान्ति आदि रूप धन को झार कर मूस (चोरा) लिया है तो भी सब संसारी ज्ञानादि के लिये विचारादि नहीं करते हैं, किन्तु ज्ञान रूप तरवार के बिना ही माया के साथ मानो युद्ध करते हैं (अनेक यत्नों से कनक कामिनी आदि रूप माया तथा मन को प्राप्त तथा वशी करके सुख शान्ति चाहते हैं)। परन्तु एकात्म ज्ञान विरागादि के बिना उस माया को पकड़कर किसीने वश में नहीं किया, पकड़ने के लिये कोई समर्थ नहीं हुआ। अतः ज्ञान विरागादि सम्पादनीय हैं।

आपुहि मूल फूल फुलवारी, आपुहि चुनि चुनि खाई।
कहहिं कबीर तेइ जन उबरे, जिहि गुरु लियो जगाई ॥५॥

यावन्न जीयते माया तावत्स्वप्नोपमे स्वयम् ।
भूत्वा सर्वस्य मूलं वै संसारोपवनस्य च ॥२८॥
पुष्पस्य कर्मवित्तादेः फलान्यत्ति प्रयत्नतः ।
प्राप्य सर्वेषु लोकेषु योनिषु विविधासु च ॥२९॥

सन्मन्त्रं सद्गुरु र्यं तु श्रावयत्यनुकम्पया ।
प्रजागर्य स दुःस्वप्नाद्विमुक्तो भवति ध्रुवम् ॥३०॥
संसारस्वप्नमुक्तो हि न पुनर्भवसंक्रमे ।
प्राप्नोतीति गुरुः प्राह सच्छास्त्राणि वदन्ति च ॥३१॥
"[1]गुरुप्रसादतोऽज्ञानहरणे प्रभवेत् पुमान् ।
नान्यथा परमेशोऽपि सर्वशक्तियुतो हि यः' ॥३२॥५॥

"गुणा गुणेषु वर्तन्ते । भ. गी. अ. ३।२८। इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्ते । भ.गी०. अ. ५।६। स्वभावस्तु प्रवर्तते । अ. ५।१४" इत्यादि के अनुसार एक मायारूप स्वभाव ही आप जीव ईश्वर भाव को ब्रह्मात्मा में सिद्ध करती है ईश्वरस्वरूपादि द्वारा संसार वृक्ष का मूल होती है और कर्मादिरूप फूल, तथा चराचर शरीररूप फुलवारी बनति बनाती है और अहंकार बुद्धि आदि रूप होकर, विषय सुख दुःखादि रूप फूल फलों को चुन चुनकर (मन इन्द्रिय द्वार प्राप्त करके) खाती (भोगती) है जीव भी माया से ही संसार के मूलादि बनकर कर्मफलों का भोक्ता होता है, साक्षी स्वरूप आत्मा प्रकाशमात्र करता है । श्री कबीर साहब कहते हैं कि इस मायाजाल से वेही मुक्त होते हैं कि जिन्हें सद्गुरु ने मोह निन्द से जगा लिया है ॥५॥

शब्द ६

सन्तो अचरज एक भौ भारी । पुत्र धयल महतारी ॥
पिता के संग भई बावरी, कन्या रहल कुमारी ।
खसमहिं छोड़ि ससुर सँग गवनी, सो किन लेहु विचारी ॥
भाई के संग सासुर गवनी, सासुहिं सावत दीन्हा ।
ननद भौज परपञ्च रच्यो है, मोर नाम कहि लीन्हा ॥

आश्चर्यं तन्महत् साधो! विद्यते विश्वमण्डले ।
मोहत्यागं विना पुत्रो मनो मातरमग्रहीत् ॥३३॥
मायाख्यां ममतारूपां तद्वद्दुर्बुद्धिकन्यका ।
तटस्थेशपितुः सङ्गान्मुग्धाऽस्त्यत्र कुमारिका ॥३४॥
असङ्गात्मपतिं हित्वा सद्गुरुं च विवेकिनम् ।
अज्ञैः कुगुरुभिः सार्द्धं याति तत् किं न चिन्त्यते ॥३५॥

---

[1] आत्मपु० १८।१५८ ॥

अहो सा मनसा भ्रात्रा यात्येव कुगुरो गृहे।
लोकान्तरे ततो माया. सपत्नीत्वं हि गच्छति ॥३६॥

ननन्द्राऽविद्यया सार्द्धं कुबुद्धि भ्रातृवल्लभा।
देवादीनां प्रिया नित्यं प्रपञ्चं कुरुते मुदा ॥३७॥
प्रपञ्चं हि तया कृत्वा ममता क्रियते सदा।
संलाति[1] सकलं विश्वं मृषैवात्मनि कल्प्यते ॥३८॥

हे सन्तो ! जागे बिना एक भारी आश्चर्य हुआ है कि "माया से मन ऊपजे" इत्यादि वचनों के अनुसार माया के पुत्र मन ने माया को धारण कर लिया है, और आत्मा का धारण निश्चय नहीं करता है। अतः संसार में भ्रम, संशयादि हुए हैं। और बुद्धिरूप कन्या सर्वात्मा पिता के साथ रहते भी बावरी हुई है। अतः तटस्थदेव ईश्वरादि को पिता समझती है। अतएव कुमारी रह गई है, जीव साक्षीरूप कूटस्थ पति को प्राप्त नहीं करती है। अतः उस साक्षी और सद्गुरुरूप खसम (स्वामी) को छोड़ (त्याग) कर, वञ्चक गुरु आदिरूप ससुर (सुर = देव सहित = देवभक्त) के साथ तथा बहिर्मुख इन्द्रियों के साथ बुद्धि चली और चलती है सो कि (क्यों) विचार नहीं कर लेते हो। इस अर्थ को नहीं बिचाने से ही यह बुद्धि मनरूप भाई के सङ्ग में होकर, लोकान्तरादि रूप सासुर (असुर कामादि सहित) स्थानों में गमन करती है और किया है। तथा अविद्या कुवाणी आदिरूप सासु को सावत (संग) दिया है और किया है। अर्थात् अविद्या और कुशब्द के श्रवणादि से सासु (असु = प्राण सहित) शरीर का धारण और उसमें आत्मता का अभिमान किया है। और प्राणियों को पीड़ित किया है। इस प्रकार से अविद्या आशा, तृष्णा आदिरूप ननद और दुर्बुद्धिरूप भौज (भवज) मिलकर यह प्रपञ्च रचा है, और प्रपञ्च मेरा है (मोर है) ऐसा नाम (शब्द) कहकर (ममता करके) अविद्या दुर्बुद्धि ने ही इस प्रपञ्च को लिया है (प्राप्त किया है) सद्गुरु सत्यात्मा का भी वही नाम लेती है, उनमें मिथ्या ही प्रपञ्च का आरोप करती है।

समधी के संग नाहीं आई, सहज भई घरबारी।
कहहिं कबीर सुनहु हो सन्तो, पुरुष जन्म भौ नारी ॥६॥

समधीनां न सत्सङ्गे कुबुद्धिः सा समागता।
स्वभावेनाऽभवच्चैषा गृहसक्ता सुदुर्भगा ॥३९॥

---

1 गृह्णाति।

संसारगृहसक्ता हि येषां बुद्धिस्तु वर्त्तते ।
जन्मना पुरुषास्ते हि स्त्रियो जाताः स्वकर्मतः ॥४०॥
पराधीना विकर्मस्थाः कामलोभपरायणाः ।
ये ते न पुरुषा ज्ञेयाः पुरुषा वै विवेकिनः ॥४१॥

मायाविमुग्धमनसः समशं विहाय,
शब्दादिभोग्यनिवहे स्वमनो नियुज्य ।
हिंसाद्यकर्मनिरताः सुपराजिताश्च,
मायाबलैः परवशा नितरां भवन्ति ॥४२॥६॥

इति हनुमदीयायां शब्दसुधायां मायाजन्यविमोहादिवर्णनं
नाम द्वितीयस्तरङ्गः ॥ २ ॥

प्रपञ्चपरायण जिनकी बुद्धि समधी (समात्म बुद्धिवाले) समदर्शी ज्ञानी महात्माओं की सङ्गति में नहीं आई, उनकी वह बुद्धि सहज स्वभाव से प्रारब्धादि के अनुसार सिद्ध संसार गृह देहादि के ही घरवारी (व्यापारवाली) हुई। श्रीकबीर साहब कहते हैं कि हे सन्तो! सुनो बुद्धि की ऐसी प्रवृत्ति से ही पुरुष (जीवात्मा) मनुष्य जन्म लेकर नारी (परवश) हुआ है तथा (मनुष्य) जन्म से पुरुष होते भी नारीरूप कर्मादि से हुआ है, यही गुरु ज्ञान के बिना आचश्र्य स्वरूप संसार है। "चेतस्तु जीवतां यातं चिच्छक्तिपरिभूषितम् । विद्यात्संसारसंरम्भं कपिपोतकचञ्चलम् ॥१॥ जडो देहो न दुःखार्हो दुःखी देहविचारतः । अविचारो घनाज्ञानादज्ञानं दुःखकारणम् ॥२॥ अविवेकामयोन्नद्धं मनो विविधवृत्तिमत् । नानाकारविहारेण परिभ्रमति चक्रवत् ॥३॥ शुभाशुभानां धर्माणां जीवो विषयतां गतः । अविवेकैकदोषेण कोशेनेव हि कीटकः ॥४॥ योगवा० प्र० ३।११५" चित् शक्ति से युक्त संसार के भोग में संरम्भ (आग्रह) वाले कपिशिशुतुल्य चञ्चल चित्त को जीवता को प्राप्त हुआ समझना चाहिये ॥१॥ जड़ देह दुःख के योग्य नहीं है। किन्तु विचाराभाव कुविचार से देही दुःखी होता है, और निविड़ अन्धकारतुल्य अज्ञान से अविचार है। अतः दुर्बुद्धि आदिरूप अज्ञान ही दुःखों का कारण है ॥२॥ क्योंकि अविवेक अज्ञानरूप रोग से अतिबद्ध पीड़ित, विविध वृत्तियुक्त मन स्वसुख के लिये नाना आकाररूप विहार द्वारा चक्रतुल्य परिभ्रमण करता है ॥३॥ और अविवेकरूप एक दोष से ही कोश से कीट के समान शुभाशुभ धर्मों के वशवर्ती जीव देही हो गया है ॥४॥६॥

अथ ज्ञानी की स्थिति प्र० ३

शब्द ७

मायि मैं दूनो कुल उजीयारी ।
सासु ननद पटिया मिलि बँधलों, भँसुरहिं परलों गारी ॥

यदा मायां वशीकृत्य मायित्वं सम्भजाम्यहम् ।
प्रकाशेते तदा मेऽस्य संसाराब्धेस्तटे उभे ॥ १ ॥
महामत्स्यो यथा नद्याः संचरेदुभयं तटम् ।
तथा स्वप्ने प्रबोधे च चरामि तदसङ्गतः ॥ २ ॥
वञ्चकादेर्हि दुर्बुद्धि स्वस्थाविद्यादिकांस्तथा ।
निर्जित्यात्मनि बध्वा च लयं तत्र करोम्यहम् ॥ ३ ॥
तेषां च विलये साधो ! सुराणामप्यनादरम् ।
महतां कृतवानस्मि तेनास्माकं भवेत् किमु ॥ ४ ॥
आत्मता तेषु संजाता तेन तेऽपि न चेशते ।
खल्वस्माकमभूत्यै वै भेदेनैवादरो न मे ॥ ५ ॥

विचारादि से उक्त मोहादि को नष्ट करनेवाले ज्ञानियों की स्थिति का वर्णन है कि मायी (माया को स्ववश में करने रखनेवाले) मैंने (ज्ञानी ने) तो संसार समुद्र के दोनों कुल (तट) को उजियारी (प्रत्यक्ष) कर लिया है, और ज्ञानी दोनों तट को उजियार करता है। लोक-परलोक को समझता है। क्योंकि "न सांपरायः प्रतिभाति बालम्। कठ० १।२।६" बाल (अज्ञ) को साँपराय (परलोक) नहीं भासता (प्रतीत) होता है। ज्ञानी को परलोक प्रतिभासता है। और मातृकुल[१], पितृकुल को भी ज्ञानी उजियार (पावन) किया है। और माया अविद्या शरीरादिरूप सासु, ननद को मिलाकर (एक मायामात्र समझकर) विवेकरूप पटाञ्चल में बाँध लिया है, या उक्त सासु, ननद से मिलकर देहादि द्वारा पटिया (बालतुल्य काले तमोगुण) को बाँधा है (वशीभूत नष्ट किया है) और भँसुर (बड़े-बड़े अज्ञदेवादि) को गाली (पारा) दिया है। अर्थात् उनमें ईश्वरता आदि का निषेध करके मायिकता का प्रतिपादन किया है।

जारों माँग तासु नारी की, सरवर रचल धमारी ।
जना पाँच कुखिया में रखलों, और दुइ औ चारी ॥

---

१ कुलं पवित्रं जननी कृतार्था विश्वंभरा पुण्यवती च तेन। अपारसच्चित्सुखसागरेसदाविलीयते यस्य मनः प्रचारः ॥१॥ सूतसं०ज्ञानयोगखं० अ. २०।४५॥

पार परोसिन करों कलेवा, संगहि बुधि महतारी ।
सहजे बपुरे सेज बिछावल, सुतलों पाँव पसारी ॥

संसारसरसीमध्ये क्रीडा सम्पादिताऽनृता ।
तृष्णाऽविद्यादिभि र्याभिस्तल्ललाटं दहाम्यहम् ॥ ६ ॥
इन्द्रियाणि च पञ्चापि द्वन्द्वानि सकलान्यपि ।
चत्वार्यन्तःकरणानि कुक्षौ संस्थापयाम्यहम् ॥ ७ ॥
ये संसारात् परे विज्ञास्ते हि मे सहवासिनः ।
तै र्मिलित्वा परानन्दं भोज्यं भुञ्जेऽहमाह्निकम् ॥ ८ ॥
सौभाग्यं च ममेदानीं वर्तते सर्वतो ध्रुवम् ।
मातृवद्रक्षिका यस्मात्सुबुद्धिर्वर्तते सह ॥ ९ ॥
सदा निन्द्यमिदं देहं लब्धं स्वाभाविकं किल ।
अनायासेन शय्यावत् प्रसार्यात्र शये सुखम् ॥१०॥
मनोबुद्धिमयौ पादौ प्रसार्यात्र कलेवरे ।
सम्यक् शये परानन्दे जीवन्मुक्तिपदं गतः[1] ॥११॥

उन इच्छा आशा, तृष्णा अविद्यादिरूप नारियों की माँग (कपार = ललाट) को जलाता हूँ (उनकी सत्ता शक्ति को नष्ट करता हूँ) कि जिन्होंने संसार सरोवर में धमार खेल रचा है (द्वन्द्व किया है) । इस प्रकार से पाँच ज्ञानेन्द्रियरूप पाँच जना, राग-द्वेषरूप दो जना, चार अन्तःकरणरूप चार जना, इन सबको मैं (ज्ञानी) ने कोख में रख लिया है (इन सबका निरोध किया है) और संसार से पार पहुँचे हुए जीवन्मुक्त मेरे पड़ोसी हैं, उनके साथ ब्रह्मानन्द का कलेवा (पूर्ण भोजन) मैं करता हूँ । और सङ्ग ही में सुबुद्धि (विद्या) माता सहकारिणी (सहायक) रहती है । और सहज स्वभाव से (प्रारब्धकर्मानुसार) प्राप्त बपुरा (मिथ्या मलिन) इस शरीररूप शय्या को बिछाकर इस पर मानो मैं पाँव पसार कर सोया हूँ । अर्थात् मैं अब सर्वथा इससे भिन्न प्रकाशमान हूँ, इसमें आत्मता ममता रहित हूँ ।

आउँ न जाउँ मरों नहिं जीवों, साहब मेटल गारी ।
एक नाम मैं निजकै गहलों, ते छूटल संसारी ।
एक नाम मैं बदि कै लेखों, कहहिं कबीर पुकारी ॥७॥

---

१ यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा शुचिः । स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते ॥ कठो० अ० १।३।८॥

न गच्छामि क्वचित्तस्मान्नागच्छामि कुतोपि च ।
न म्रिये नैव जीवामि दोषान्नाशितवान् गुरुः ॥१२॥
प्रभुणा नाशिते दोषे स्वपशब्दे निवारिते ।
सारशब्दं गृहीत्वैकं संसारित्वं पराऽणुदम् ॥१३॥
सारनाम्नो निजानन्दस्वरूपेण सुसंग्रहात् ।
संसारित्वमपैत्येव तेनागच्छदिदं स्वयम् ॥१४॥
निश्चयेन च नामैकं जानामि सर्वसिद्धये[1] ।
इत्येवं सद्गुरुः प्राहाऽऽहूय सर्वजनान् मुहुः ॥१५॥७॥

देहाभिमानादि रहित होने से, अब मैं न कहीं से आता हूँ, न कहीं जाता हूँ । न मरता हूँ न जीता (जन्मता) हूँ । क्योंकि सद्गुरु साहब ने मेरे सभी गालियों (दोषों कुशब्दों) को मेट दिया (नष्ट किया) है । कुशब्दादिरूप विषय-वशता से देह की प्राप्तिपूर्वक गमनागमनादि होते हैं, अन्यथा नहीं । अतः मैंने एक नाम (एक सत्य स्वरूप) को निज खास निजस्वरूप करके गहा (समझा) है कि जिससे संसारीपन छूट गया है या एक नाम को निजस्वरूप से गहने ही से प्रथम भी संसारी संसार बन्धन से छूटा है और मैं एक नाम (सार शब्द स्वरूप) को ही बदकर (निश्चय करके) लेखता (देखता-समझता) हूँ, इस प्रकार से पुकारकर श्रीकबीर साहब ज्ञानी की स्थिति को कहते हैं । इस शब्द से सत्य धर्मनिष्ठ पतिव्रता के धर्मों का भी एकोक्ति से वर्णन किया गया है कि वह भी मानो माया को वश में करके माता से कहती है कि मेरे दोनों कुल उज्वल है । अर्थात् वह पितृकुल या पतिकुल किसी की निन्दा नहीं करती है । सासु, ननद से प्रेम का भँसुर (भवपरायण) से असङ्गता का कुलटा के फटकार का वर्णन करती है "दशास्यां पुत्रानाधेहि, एकादशं पतिं कृधि" इस श्रुति के अनुसार सन्तान पति के गर्भ हृदय में धारण, साधु साध्वी स्त्री सासु की सेवा, प्रीति, पति के प्रेम से प्राप्त शय्यादि से सन्तोष को धर्मरूप बताती है । इत्यादि "श्वश्रूश्वशुरयोः पादौ जोषयन्ति गुणान्विता । मातापितृपरा नित्यं नारी धर्मेण युज्यते ॥१॥ महाभा० अनुशा० अ० १४६" ॥७॥

शब्द ८

सन्तो ! कहौं तो को पतिआई । झूठ कहत साँच बनिआई ॥

---

१ आत्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञात इदं सर्वं विदितम् । बृ० ४।५।६॥

लौके रतन अवेध अमोलिक, नहिं गाहक नहिं साँई।
चिमिकि चिमिकि चिमके दृग दहुँदिशि, अर्व रहा छिरिआई॥

वदत्स्वस्मासु भोः साधो! को विश्वसिति वै जनः।
मृषैव कथयत्स्वेवं परं सत्यं प्रसिद्ध्यति॥१६॥
अवाच्यं तत्परं तत्त्वं लक्षणा तत्प्रसाधिका।
तद्भिन्नानां निषेधेन ह्यतद्व्यावृत्तिरूपतः॥१७॥
"असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा निरुपायमुपेयते।
आत्मत्वकारणाद् विज्ञो गुणवृत्त्या विबोधिताः॥१८॥
षष्ठीगुणक्रियाजातिरूढयः शब्दहेतवः।
नात्मन्यन्यतमोऽमीषां तेनात्मा नाभिधीयते"॥१९॥
किम्वा सत्यमिषेणैवासत्यमन्ये वदन्ति हि।
तत्रैव प्रत्ययं सर्वे कुर्वन्ति स्वाविवेकिनः॥२०॥
यदभेद्यममूल्यं च क्रेतृस्वामिविवर्जितम्।
सर्वात्मत्वाद्धि तद्रत्नं दृश्यते तद्विवेकिभिः॥२१॥
स एव सूर्यचन्द्रादिरूपेण दीप्यते तथा।
अनन्त जीवरूपेण विकीर्णो वर्ततेऽत्र च॥२२॥
सुगुरुभिः कृपादृष्टि र्यदा काचित्कृता मयि।
निर्गुणश्चाप्यलक्ष्यश्च तदा लक्ष्योऽभवत्स्वयम्॥२३॥

हे सन्तो! मैं उक्त एक सत्यस्वरूप को कहता हूँ। परन्तु विचारादि के बिना विश्वास कौन करता है। अर्थात् कोई पतिआता (विश्वास करता) नहीं है, विरल कोई पतिआता है, कहना यह है कि सत्य निर्गुण ब्रह्मात्मा शब्द शक्ति का विषय नहीं है, अवाच्य है। अतः झूठ (मिथ्या सगुणवाच्य) को ही कहते-सुनते विचारते में लक्षणा आदि द्वारा निर्गुण सत्यात्मा का बोध जिज्ञासु को बन आता है (सिद्ध होता है) और हुआ है। फिर वह अवेध (अखण्ड-अच्छेद्य) अमूल्य रत्न (परमप्रकाश स्वरूप) आत्मा उस जिज्ञासु को लौकता (प्रत्यक्ष होता) है कि जिस रत्न के सर्वात्मा होने से उसका कोई ग्राहक और स्वामी नहीं है। वह दृक (द्रष्टा चेतन) ही सूर्य-चद्रादिरूप से चमक-चमक कर दशों दिशाओं में एकरस चमक रहा है और अर्व (सौ करोड़) अनन्त जीवादि स्वरूप से छिरियाया (बिखरा फैला) है, जीव शिवादिरूप से वही भासता है। "अगम अपाररूप बहु, औ अरूप बहु माय। बहुत ध्यान कै जोहिया, नहिं तिहि संख्या आय॥ रमैनी साखी ७७" इत्यादि वर्णित का ही यह फिर वर्णन है।

आपेहि गुरु[1] कृपा कछु कीन्हा, निर्गुण अलख लखाई।
सहज समाधि उन्मुनि जागे, सहज मिले रघुराई ॥

राजयोगेन चोन्मुन्या मुद्रया च यदा ह्यहम्।
अजागरं तदा साधो ! रामः प्राप्तः श्रमं विना ॥२४॥
स्थितो यो ह्यति निकटे सदैव हृदि राजते।
तद्रहस्यं न ज़ानन्ति केऽपि सद्गुरुमन्तरा ॥२५॥
वदन्त्युक्तविधं त्वन्ये रामचन्द्रं स लभ्यते।
योगेनेति न तद्युक्तं सविशेषो न तादृशः ॥२६॥

किसी पुण्य के प्रभाव से जब जिसको सद्गुरु मिले, और आप ही दयालुता से जब कृपा किये, तो निर्गुण अलख (अलक्ष्य अज्ञेय अवाच्य) को भी आत्मरूपता से लखाय (समझाय) दिये या आप राम ने जब गुरुरूप से कृपा

---

१ ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते। अनादि मत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥१॥ सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्। सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥२॥ सर्वेन्द्रियगुणाऽऽभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्। असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणोभोक्तृ च॥३॥ बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च। सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥४॥ श्रीमद्भ.गी. अ. १३।१२।१५॥

श्रीभगवान् अर्जुन से कहते हैं कि जो ब्रह्म ज्ञेय = ज्ञातव्य है और जिसको जानकर ज्ञानी अमृत = मोक्ष पाते हैं, उसको कहूँगा, वह अनादि = उत्पत्ति रहित है और मत्परं = मत्तः परं = ममता विषय देहेन्द्रियादि से भिन्न है, सर्वात्मा होते भी ममता तवता का विषय नहीं है और सत् = व्यक्त = कार्य असत् अव्यक्त कारण भी वह नहीं कहा जाता है ॥१॥ ऐसा होते भी सर्वात्मा होने से वह ब्रह्म ही सर्व तरफ हाथ, पैर, आँख, शिर, मुख और कानवाला है, "ईशावास्यम्" इत्यादि श्रुति के अनुसार-सर्व को आवृत्त करके अपने स्वरूप में एकरस रहता है ॥२॥ वह सब इन्द्रियों के गुण = दर्शनादि शक्ति विषयों को प्रकाशता है और सब इन्द्रियादि से रहित है, असक्त = असङ्ग निर्लेप है, तो भी सत्तामात्र से सबका धारण-पोषण कर्ता = सर्वभृत है, निर्गुण होते भी गुणों का भोक्ता = प्रकाशक है ॥३॥ सब प्राणी देहादि के बाहर-भीतर वर्तमान है, चराचर की आत्मा स्वरूप है तो भी अति सूक्ष्म होने से वह सबसे अविज्ञेय है, अज्ञ से दूरस्थ-सा है, ज्ञानी के अति निकट है। इत्यादि वचनों का शब्द में वर्णित ही भाव है।

की, तब अपने निर्गुण अलख स्वरूप को स्वयं लखाया, फिर सहज समाधि और उन्मुनि मुद्रा द्वारा जागने पर (मोहादि को त्यागने पर) या सहज समाधि और उन्मुनि मुद्रा के जागने पर (प्रगट होने) पर निर्गुण रघुराई (राम) सहज (अनायास) ही मिले और मिलते हैं। अर्थात् गुरु उपदेश में विश्वास स्थिरता अभ्यासरूप सहज समाधि और मनोवृत्ति की सदा ऊर्ध्व सूक्ष्मस्वरूप तरफ गति तत्परता प्रेमादिरूप उन्मुनि मुद्रा (आकार उपरति) से सर्वात्मा राम सहज ही (हठ के बिना ही) मिलता है।

जहँ जहँ देखा तहँ तहँ सोई, माणिक बेध्यो हीरा।
परम तत्त्व यह गुरु ते पायो, कहैं उपदेश कबीरा ॥८॥

पश्यामि यत्र यत्राहमिन्द्रियैर्मनसा तथा।
दृश्यते तत्र तत्रासौ संविद्धो हीरकादिषु ॥२७॥
अखण्डश्चिद् घनश्चात्मा प्रतिरुद्धो न कुत्रचित्।
सर्वात्मत्वान्निरंशत्वात्प्रकाशस्वच्छरूपतः ॥२८॥
एतादृशं परं तत्त्वं ह्यस्माभिः सद्गुरोर्बलात्।
संप्राप्तमिति भाषन्ते महाचार्या जानान् प्रति ॥२९॥
रामचन्द्रं वदन्त्येके माणिक्यादिविभूषितम्।
दृश्यमानं च सर्वत्र गुरोः प्राप्यं परं पदम् ॥३०॥
तन्मिथ्या कथ्यते सत्यमिषेणैतैर्न संशयः।
नावयवी हि सर्वत्र वर्तितुं शक्यते प्रभुः ॥३१॥८॥

सर्वात्मा निर्गुण राम के मिलने पर जहाँ-जहाँ देखता हूँ, तहाँ-तहाँ सो राम ही सत्य प्रतीत होता है, नाम रूपात्मक संसार मिथ्या भासता है। और वह राम महा कठिन माणिक हीरा में भी बेधा (व्यापक) है। असङ्ग परम सूक्ष्म सर्वात्मा होने से वह किसीसे प्रतिरुद्ध नहीं होता है। इस अखण्ड परम-तत्त्व को जिस किसी ने पाया (समझा) सो गुरु से ही पाया। अतः कबिराओं (जीवों) के प्रति सन्त गुरु इसके उपदेशों को कहते हैं। ज्ञानी गुरु का उपदेश देना कर्तव्य है ॥ ८ ॥

शब्द ९

यन्त्री यन्त्र अनूपम बाजै। वाके अष्ट गगन मुख गाजै॥
तूँही बाजै तूँही गाजै, तूँहि लिये कर डोलै।
एक शब्द में राग छतीसो, अनहद बानी बोलै॥

आत्मनो यन्त्रिणो यन्त्रं[1] शरीरं वाद्यतेऽद्भुतम् ।
अष्टास्वत्रास्यदिक्ष्वेषो राजते संप्रकाशयन् ॥३२॥
पुरस्ताद् वर्तते पश्चाद्दक्षिणे चोत्तरे तथा ।
अधश्चोर्ध्वं स संव्याप्य सर्वस्माद् बाह्यतः स्थितः ॥३३॥
आनखाग्रं प्रविष्टोऽत्र तवात्मा यन्त्ररूपतः[2] ।
शब्दायते तथा यन्त्रं गृहीत्वा गच्छतीव सः ॥३४॥
मनः प्राणादिकस्तस्य करस्तेन कलेवरम् ।
धृत्वा भ्राम्यति शश्वत् स यावत्स्वं नैव विन्दते ॥३५॥
एकस्मिन्नेव शब्दे स षट्त्रिंशद्रागसत्तमान् ।
अनाहतां च निःसीमां भारतीं भासते सदा ॥३६॥

हे यन्त्री ! (देही) जीव ! मनुष्य ! तेरा यह तन्त्र (देह सितार) अनूपम बाजता है । यह दैवी वीणा अद्भुत शब्द करती है । क्योंकि लोक में यन्त्र को बजानेवाला यन्त्र के किसी एक तरफ रहकर यन्त्र को बजाता है और इस दैवी वीणा को बजानेवाला इसके आठो दिशाओं में और आकाश में सबके मुख में गाजता (विराजता) है या आकाश के आठ दिशारूप मुखों में वर्णोच्चारण के आठो स्थानों में बाहर-भीतर सर्वत्र विराजता है और वस्तुतः तूँही (आत्मा ही) बाजता है, तूँही गाजता है और तूँही प्राणादिरूप हाथ में यन्त्र को लेकर डोलते (चलते) हो और एक शब्द में छत्तीस राग और अनहद वाणी तूँही बोलते हो । अर्थात् तेरे (जीवात्मा) के बिना यन्त्र कुछ नहीं कर सकता है और ऐसा तेरा स्वरूप सर्वात्मा विभु राम से भिन्न नहीं है । अतः अद्भुत तेरा स्वरूप है ।

मुख को नाल श्रवण को तुम्बा, सतगुरु साज बनाया ।
जिह्वा तार नासिका चरई, माया मोम लगाया ॥
गगन मण्डल में भौ उजियारा, उलटा फेर लगाया ।
कहहिं कबिर जन भये विवेकी, जिन यन्त्री मन लाया ॥६॥

यन्त्रेऽत्र नालिकां विद्धि मुखं श्रोत्रं तु तुम्बिकाम् ।
सामग्रीमस्य गुरुभिः सम्यक् सम्पादितां तथा ॥३७॥
जिह्वा तन्त्र्यत्र संलग्ना ककुभो नासिका मतः ।
सिक्थकं चास्ति मायैषा संलग्ना सर्वसन्धिषु ॥३८॥

---

१ अथ खल्विदं दैवी वीणा भवति, तदनुकृतिरसौ मानुषी वीणा भवति । ऐतरेय ब्रा० ३।२।५॥ २ तस्य लोकः स उ लोकएव । बृ० ४।४।१३॥

बाह्यवृत्तिस्तु यन्त्रस्य यैर्निरुध्य कृतान्तरम् ।
विपरीतं कृतं स्रोतस्तेषां गगनमण्डले ॥३९॥

सुप्रकाशोऽभवत्सर्वं विविक्तं तेन भासते ।
काशते परमं तत्त्वं नाश्यते मलिनं मनः ॥४०॥

मानसं सन्निरुध्यैवं यन्त्रिण्यात्मनियै धृतम् ।
विवेकित्वं हि ते प्राप्य स्वं तृप्तत्वं हि भेजिरे ॥४१॥

कबीरः सद्गुरुः प्राह तथा कुरुत सज्जनाः ।
भवतात्मरतास्तुष्टाः कार्यमेतद्धि विद्यते ॥४२॥९॥

इस यन्त्र में मुख को नाल बनाया है । श्रवण (श्रोत्र) को तुम्बा बनाया है और इसके सब साज (साधन) को सर्वज्ञ सद्गुरु (ईश्वर) ने बनाया है । इसमें जिह्वाताररूप है, नासिका चरई (खूंटी) है । माया (ममता) मोमरूप लगाई गई है । उस माया से यह जीव सदा सुलटा (सीधा) बाहर की फेरी लगाता है, यन्त्र द्वारा बाहर का गीत गाता है, और बाहर का व्यवहार करता है । क्योंकि "पराञ्चिखानि व्यतृणत् स्वयं भूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन् । कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मनमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् । कठो० २।१।१" ईश्वर ने ही बाह्य विषयों के ज्ञान के लिये इन्द्रियों को रचा है । अतः प्राणी बाहर देखता है, अन्तरात्मा को नहीं देखता है । किन्तु कोई धीर अमृतत्त्व (मोक्ष) की इच्छा करता हुआ बाह्य इन्द्रियों के निरोधपूर्वक अन्तरात्मा को समझता है। वह समझने की इच्छावाला जो कोई उलटा फेरी लगाया (मन, इन्द्रियको अन्तर्मुख किया) उसके गगनमण्डल में (हृदय में) उजियार (प्रकाश अनुभव) हुआ और होता है । श्रीकबीर साहब कहते हैं कि जिन्होंने उलटा फेर लगा कर, अन्य अनुभवादि को भी त्यागकर, यन्त्री निजात्मा में मन को लगाया (आत्मचिन्तन किया) वे लोग विवेकी हुए । अतः आत्मचिन्तन कर्तव्य है ॥९॥

शब्द १०

रामुरा झीं झीं जन्तर बाजै, कर चरण विहुना नाचै ॥
कर बिनु बाजै सुनै श्रवण बिनु, श्रवण श्रोता सोई ।
पट नहिं सुवस सभा बिनु अवसर, बूझहु मुनि जन लोई ॥

राम एव धनं यस्य रामरा मानवोऽथवा ।
रामरूपः समर्थो वै चेतत्वेवं निरन्तरम् ॥४३॥

य: सर्वेषां प्रभूरामः सूक्ष्मात्सूक्ष्मतराणि सः।
यन्त्राणि बहुधा कृत्वा क्वणयन्नत्र वर्तते ॥४४॥
हस्तपादादिहीनोऽपि बहुधा सोऽत्र नृत्यति।
करं विना गृहीत्वा च यन्त्रं वादयते कलम् ॥४५॥
श्रवणेन विनैवैष शब्दसङ्घं शृणोति च।
श्रवणस्यापि स श्रोता श्रोत्रश्रोत्रं मनोमनः ॥४६॥
पटेनापि विना चायं सुवासा वर्तते सदा।
अविद्यापट युक्तत्वात् क्लेदतापाद्यभावतः ॥४७॥
भवेऽत्र वर्तमानस्य सभाऽस्यावसरं विना।
भो भो मुनिजनास्तं वै जानीत सद्गुरो द्रुतम् ॥४८॥

उक्त यन्त्री में कैसे मन लगाना चाहिये ऐसी जिज्ञासा होने पर कहते हैं कि हे रामुरा (रामराजा, रामधनार्थी) तेरे प्रकाश से ही झीने-झीने यन्त्र बाजते हैं। अतः तुम ही यन्त्री हो, यन्त्र नहीं हो, और तेरी सत्ता ज्योति से कर-चरणादि रहित मन नाचता है, और मन के नाचों के साक्षी होने से तुम भी मानो कर-चरणादि के बिना मन के साथ नाचते हो, कर के बिना यन्त्र तुमसे ही बाजता है। क्योंकि ये प्रत्यक्ष परोक्ष करादि स्थूल सूक्ष्म यन्त्र में हैं, यन्त्री में नहीं, इसी प्रकार श्रोत्र के बिना यन्त्री सुनता है। क्योंकि वह "श्रोत्रस्य श्रोत्रम्। केनो॰ १।२" श्रोत्र का भी श्रोत्र (ज्ञाता प्रकाशक सत्ता स्वरूप) है और पट = वस्त्र के बिना भी सुवस (आवृत्त) है और नियत अवसर के बिना सदा उसकी सभा लगी रहती है, अन्तर्यामीरूप से सदा कर्मादि का निरीक्षण करते रहता है, हे लोगो! मुनि जन से इस तत्त्व को समझो या हे मुनिजन लोगो! इस उपदेश से यन्त्री को मन लगाकर समझो "अपाणिपादः" इत्यादि श्रुतियाँ इस अर्थ को कहती हैं।

इन्द्रिय बिनु भोग स्वाद जिह्वा बिनु, अक्षय पिण्ड बिहूना।
जागत चोर मन्दिर तहँ मूसै, खसम अछत घर सूना॥
बिज बिनु अङ्कुर पेड़ बिनु तरुवर, बिनु फूले फल फरिया।
बाँझक कोख पुत्र अवतरिया, बिनु पग तरुवर चढ़िया॥

इन्द्रियै र्हि विना यस्य भोगो जिह्वां विना तथा।
स्वादोऽपि वर्तते सोऽयमक्षयः पिण्डवर्जितः ॥४९॥

जाग्रत्येव च तस्मिन् वै सदा चैन्तन्यरूपतः ।
चौराः कामादयस्तत्र सुखं मुष्णन्ति देहके ॥५०॥

सुषुप्त्यादौ च सत्त्वेऽपि तस्यैवात्र कलेवरे ।
शून्यतुल्यं तदा भाति सर्वथेदं गृहं विभोः ॥५१॥

वासनादिमयं बीजं विनैव तत्र चाङ्कुरम् ।
संकल्पादिमयं जातं सत्यमूलं विना तरुः ॥५२॥

सत्यपुष्पं विना तस्मिन् कर्मादिलक्षणं खलु ।
जायन्ते सुखदुःखानि फलितानि फलानि वै ॥५३॥

वन्ध्यायाः खलु मायायाः कुक्षौ सर्वेऽपि जन्तवः ।
पुत्रा जाताश्च ते पादै विनाऽऽरूढाश्च वृक्षके ॥५४॥

वह यन्त्री इन्द्रियों के बिना सब भोगों को प्रकाशता है । अतः इन्द्रियों के बिना मानो उसको भोग प्राप्त होता है । अतः जिह्वा के बिना स्वाद लेता है, और शरीरों में रहते भी पिण्ड (शरीर) से बिहून (रहित) अक्षय (अविनाशी) है और उसके सदा जागते रहने पर भी कामादि चोर देह में चोरी करते हैं, मृत्युरूप चोर भी प्राणादि को मूसता (चोराता) है और सुषुप्ति आदि काल में उस खसम (स्वामी) के रहते भी नव द्वारयुक्त घर शून्यतुल्य रहता है । अतः अपनी नियती को कभी अन्यथा नहीं करता है, उसकी नियतीरूप माया से सत्य बीज के बिना वासना से कर्मादि अङ्कुर उसमें भासते हैं, और त्रिगुण पेड़ के बिना संसार वृक्ष भासता है । धर्मादि पुष्प के बिना सुखादि फल लगते हैं । और बन्ध्या माया के कुक्षि (कोख) से मनरूप पुत्र अवतार लिया है, सो पैर के बिना संसार वृक्ष पर चढ़ता है कि जिससे संसारी जीव सिद्ध होता है और हुआ है । इस मन के पूर्ण निरोध से जीव शिव हो जाता है ।

मसि बिनु द्वात कलम बिनु कागज, बिनु अक्षर सुधि होई ।
सुधि बिनु सहज ज्ञान बिनु ज्ञाता, कहहिं कबिर जन सोई ॥१०॥

सत्यमस्या विहीनं तत्पात्रं चित्तादिकं तथा ।
लेखन्या वर्जितं सर्वं कार्गलं भूतपञ्चकम् ॥५५॥
अक्षरैश्च विना तस्य सर्वं तत्र प्रसिद्ध्यति ।
सर्वं स्मरति तत्कर्म चित्रं च कुरुतेऽद्भुतम् ॥५६॥
वस्तुतः स्मरणं नास्ति ज्ञानं नैव ततः पृथक् ।
तथापि तद्विना सर्वमनायासेन सिद्ध्यति ॥५७॥

ज्ञानेनापि विना ज्ञाता सर्वज्ञो दोषवर्जितः।
स यन्त्री तं च वै रामं कबीरो भासते गुरुः॥५८॥
मायां विधूय सकलं च विलूय मोहं,
वाचामगोचरमलं त्ववबुध्य रामम्।
देहाख्ययन्त्रमकरं ह्यववादयन्तं,
जीवन् विमुक्तपदमत्र जनैः सुलभ्यम्॥५६॥१०॥

इति हनुमत्कृतायां शब्दसुधायांविज्ञस्थितिमतिवर्णनं नामतृतीयस्तरङ्गः॥३॥

मसी के बिना चित्तरूप द्वात (दवात) है, कलम के बिना पाँच भूतादि कागज हैं। तहाँ अक्षर के बिना ही सब संसार शरीरादि की रचना और कर्मादि की सुधि (स्मृति ज्ञान) उस यन्त्री को होती है और वस्तुतः वह ज्ञान उसके स्वरूप से भिन्न सत्तावाला नहीं होता है। अतः सुधि के बिना ही उसके लिये सब संसार के कार्य सहज (अनायास साध्य) है। और स्वरूप से भिन्न सत्य ज्ञान के बिना ही वह सबका ज्ञाता (साक्षी प्रकाशक) है, श्रीकबीर साहब कहते हैं कि हे सज्जनों! सोई यन्त्री है कि जिसमें मन के लगाने से मनुष्य विवेकी होता है और विवेकादि से समाधि को प्राप्त करके ज्ञान से मुक्त होता है। लिखा है कि "ध्यातृध्याने परित्यज्य क्रमाद् ध्येयैकगोचरम्। निवात दीपवच्चित्तं समाधिरभिधीयते॥१॥ इत्थं तत्त्वविवेकं विधाय विधिवन्मनः समाधाय। विगलित संसृतिबन्धः प्राप्नोति परं पदं नरो न चिरात्॥२॥ पञ्चदशी प्र० १।५५।६५" श्रवण-मनन के बाद निदिध्यासन अवस्था में क्रम से ध्याता-ध्यान को त्यागकर एक ध्येयमात्र विषयक जो निवातस्थ दीप के समान चित्तवृत्ति होती है उसको समाधि कहते हैं॥ १ ॥ इस प्रकार से वासना कामादि के विलयपूर्वक तत्त्व = सत्याद्वैतार्थ के विवेक करके तथा मन को समाहित विधिपूर्वक करके संसार बन्धन से रहित होकर मनुष्य परमपद (मोक्ष) को ही शीघ्र ही प्राप्त करता है॥२॥१०॥

अथ निर्भेदनिष्प्रपञ्चात्मनिरूपण प्र० ४

शब्द ११

पण्डित देखहु हृदय विचारी। को पुरुषा को नारी॥
सहज समाना घट घट बोलै, वाको चरित अनूपा।
वाको नाम काह कहि लीजै, ना वह वरण न रूपा॥

पण्डिता भो विचारेण पश्यन्तु हृदये सदा ।
पुरुषाः के च का नार्य आत्मैको वर्ततेऽचलः ॥ १ ॥
स्वभावेन समः सर्वशरीरेषु विभुर्विशन् ।
वक्ति वाचेन्द्रियैः सर्वैः करोति चरितं बहु ॥ २ ॥
अतुल्यं चरितं तस्य वक्तुं शक्नोति को जनः ।
तस्य नामापि चोक्त्वा किं कर्तुं धर्तुं च शक्यते ॥ ३ ॥
दृष्टा गुणक्रियाजातिसम्बन्धाः शब्दहेतवः ।
नात्मन्यन्यतमोऽमीषां तेनात्मा नाभिधीयते ॥ ४ ॥
"ऋतमात्मा[1] परं ब्रह्म सत्यमित्यादिका बुधैः ।
कल्पिता व्यवहारार्थं तस्य संज्ञा महात्मनः" ॥ ५ ॥
नैवासौ वर्णनीयो वा ब्राह्मणत्वादिजातयः ।
रूपाण्यत्र न विद्यन्ते कथं वाच्यो भवेदसौ ॥ ६ ॥
"हृत्पुण्डरीकमध्ये[2] तु भावयेत्परमेश्वरम् ।
साक्षिणं बुद्धिवृत्तस्य परमप्रेमगोचरम्" ॥ ७ ॥

हे पण्डितों ! (जिज्ञासु मुमुक्षुओं !) हृदय में विचारकर यन्त्री को देखो (समझो) कि कौन यन्त्री पुरुष है, और कौन स्त्री है । अर्थात् "नैव स्त्री न पुमानेष न चैवायं नपुंसकः । यद्यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स युज्यते ॥ श्वेता० ४।१०" यह आत्मा स्त्री-पुरुष या नपुंसक नहीं है। किन्तु उपाधि द्वारा जिस-जिस शरीर का ग्रहण जहाँ करता है, वहाँ तत्तद् व्यवहार से युक्त होता है और वह एक ही आत्मा सहज स्वभाव से घटों में साक्षी जीवादिरूप से समाया (प्रविष्ट व्यापक) है वह प्राणधारी जीवरूप से बोलता है, 'बोलनहारा सोई'। उसका चरित्र उपमा रहित है । उसके तुल्य सत्य कुछ है नहीं कि जो उसकी उपमा हो "न तस्य प्रतिमा अस्ति । न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते ॥ श्वे. ४।१६॥६।८" और विशेष नाम रहित है । क्योंकि वर्णन करनेयोग्य वरण (वर्ण जाति आकारादि) वाला और रूपवाला वह नहीं है, तो किस गुण क्रिया आदि को कहकर या मानकर उसका नाम लिया जाय । जाति गुणादि से ही नाम लिये (धरे) जाते हैं, (यहाँ तक सात रमैनी का विवरण हुआ है) ।

मैं तैं काह करसि नल बौरे, क्या तेरा क्या मेरा ।
राम खोदाय शक्ति शिव एके, कहुदहुँ काहि निहोरा ॥

---

१ महोपनिषद् ४।४५॥ २ मैत्रेय्युप० १।८॥

वेद पुराण कुराण कितेवा, नाना भाँति बखाना ।
हिन्दू तुरुक योगि औ जैनी, एकल काहु न जाना ॥

ममात्माऽयं[1] तवात्माऽयं संलापः क्रियतेऽनृतः ।
मुधा मूढजनेनाऽत्र किं तवास्ति ममास्ति किम् ॥ ८ ॥
रामः सैकः खुदायोऽपि शक्ति र्देवी शिवस्तथा ।
तद्दृष्टौ कथ्यतां कस्य स्तुतिरप्यत्र संभवेत् ॥ ९ ॥
तमदृष्ट्वा जनास्त्वेते सदा वन्दन्ति कल्पितान् ।
न विचारं विना त्वेनं प्रपश्यन्ति कुबुद्धयः ॥१०॥
वेदाः[2] सर्वे पुराणानि ग्रन्थाः सर्वे कुराणकाः ।
तमेव बहुधा देवं कथयन्ति तथाप्यहो ॥११॥
आर्याश्च यवना जैना योगिनोऽपि बहुश्रुताः ।
एकं तत्त्वं न पश्यन्ति सुविचारार्जवै र्विना ॥१२॥

उक्त विवेक और नामादि रहित के ज्ञान के बिना हे बौरे ! उस आत्मा में मैं तैं आदि भेद का व्यवहार (कथन) क्या करते हो, उसमें क्या तेरा और क्या मेरा है, वह एक ही सर्वात्मा है । अतः वह एक ही राम खोदाय शक्ति और शिव कहा जाता है, फिर कहो तो कि ऐसी स्थिति में निहोरा (विनय स्तुति) किस अन्य का करना है । वेद, पुराण, कुराण, कितावादि भी उसी एक सत्यात्मा का नाना प्रकार से व्याख्यान करते हैं । परन्तु विचारादि से रहित हिन्दू-तुरुक योगी और जैनी किसी ने एकल (अद्वैत) सत्यात्मा को नहीं जाना ।

छौ दर्शन में जो परमाना, तासु नाम मन माना ।
कहहिं कबीर हमहीं पै बौरे, ई सब खलक सयाना ॥११॥

षट्सु दर्शनमुख्येषु सत्त्वेन प्रमिता हि ये ।
तेषां नामानि सर्वैस्तै र्मनोभिर्निश्चितानि वै ॥१३॥
अरूपो[3] यो ह्यनामास्ति तस्य तत्त्वं न ते विदुः ।
तेषां मध्ये वयं विज्ञा व्रजामोऽज्ञैः सुतुल्यताम् ॥१४॥

---

१ तच्छब्दवर्ज्यस्त्वं शब्दहीनो वाक्यार्थवर्जितः । तेजोविन्दूप.५।६॥ २ एकदेवस्य चाज्ञानाद्वेदास्ते बहवः कृताः । सत्त्वस्य चेह विभ्रंशात् सत्त्वे कश्चिदवस्थितः ॥१॥ महाभा. वनप. १४६।३०। इह-द्वापरे, कलौ किं वक्तव्यमस्ति । ३ आत्मेति व्यवहारार्थमभिधा कल्पिता विभोः । नामरूपादि भेदस्तु दूर-

यतस्ते स्वयंमात्मानं मन्यन्ते सर्ववित्तमम् ।
शृण्वन्ति न सतां वाक्यं विवादाँश्चैव कुर्वते ॥१५॥
शासितुं तान्न शक्नोति कोपि बुद्ध इति स्वयम् ।
कबीरः सद्गुरुः प्राह विचारोऽतो विधीयताम् ॥१६॥११॥

एक अद्वैत को ही सत्य सर्वात्मा रामादि नहीं जानने से योगी, जङ्गमादि छौ दर्शनों में जो भिन्न-भिन्न वस्तु देवादि परब्रह्म उत्तम प्रामाणिक माने गये हैं, तासु (उनके) भिन्न-भिन्न नामों को सबका मन सत्य सुखदादि मान लिया है। अतः नामरूपादि रहित सत्यात्मा के खोज विचारादि कोई नहीं करते हैं। तहाँ इनकी सभा में हमही पै (केवल हम आत्मज्ञ ही) बौरे हो जाते हैं, और ये सब खलक (संसारी) अपने मन से सयान (ज्ञानी) बनते हैं या केवल नामरूप के सयान ये संसारी हमारी दृष्टि में बौरे हैं। अतः एकात्मा के विचारादि नहीं करते हैं, न ज्ञानादि के लिये हरि गुरु की भक्ति सद्धर्मानुष्ठान अहिंसा सत्यादि की प्राप्ति प्रतिपालन करते हैं ॥११॥

शब्द १२

पण्डित मिथ्या करहु विचारा। न वहाँ सृष्टि न सिरजनहारा ॥
स्थूल अस्थूल पवन नहिं पावक, रवि शशि धरणि न नीरा।
ज्योति स्वरूप काल नहिं उँहवाँ, वचन न आहिं शरीरा ॥
कर्म धर्म कछुवो नहिं उँहवाँ, न उहाँ मन्त्र न पूजा।
संयम सहित भाव नहिं उँहवाँ, सो दहुँ एक कि दूजा ॥

सृष्ट्यादीनां विचारान् ये बहुधा कुर्वते बुधाः ।
आत्मनो न कदाचिच्च भाषते तानिदं गुरुः ॥१७॥
पण्डिता ! अनृतस्यैव विचारः क्रियते मुहुः ।
आत्मनो नो न यत्रास्ति सृष्टिस्रष्ट्रादिसत्यता[1] ॥१८॥

मस्मादलं गतः ॥ योगवा० प्र० ५।७१।१३॥ यतो वाचो निवर्तन्ते यो मुक्तैरवगम्यते। तस्य चात्मादिकाः संज्ञाः कल्पिता न स्वभावतः ॥ योगवा.प्र.४।५।३।

१ न दृशेरविकारित्वादाभासस्याप्यवस्तुतः। नाप्यचित्त्वादहंकर्तुः कस्य संसारिता मता ॥१॥ अविद्यामात्रमेवातः संसारोऽस्त्यविवेकतः। कूटस्थेनात्मनानित्यमात्मवानात्मनीव सः ॥२॥ उपदेशसाहस्री १८।४४-४५॥

नैव स्थूलो न वाऽस्थूलो देहोऽपि यत्र विद्यते।
पवनः पावकः सूर्यश्चन्द्रमा न धरा जलम् ॥१६॥
ज्योतीरूपो न कालोऽत्र प्रवृत्ति र्वचसो न च।
कारणाख्यं[1] शरीरं नो तत्र त्वन्यत् कुतो भवेत् ॥२०॥
न कर्माणि न तज्जन्यौ धर्माधर्मौ न किञ्चन।
मन्त्रो नैव न पूजा च तत्र सम्भाव्यते खलु ॥२१॥
संयमैः सहितो यत्र भावः सर्वो न विद्यते।
संज्ञायतामसङ्गोऽसावद्वयः सद्वयः किमु ॥२२॥

हे पण्डित ! यदि सृष्टि आदिमात्र का ही विचार करते हो तो मिथ्या का ही विचार करते हो। क्योंकि वहाँ उक्त सत्यात्मा में सृष्टि सिरजनहार (सृष्टि कर्ता) सत्य नहीं हैं। स्थूल अस्थूल (सूक्ष्म) संसार शरीर उसमें नहीं है। वायु, अग्नि, सूर्य, चन्द्र, भूमि जल का भी असङ्ग आत्मा में अभाव है, और उस ज्योति (नित्य ज्ञान) स्वरूप में काल का सम्बन्ध नहीं है। अतः ज्योतिस्वरूप काल उसमें नहीं है, न वचन (वाक्) की उसमें प्रवृत्ति होती है, न कारणरूप शरीर है, न उसमें शुभाशुभ कर्म है, न कर्म जन्य धर्माधर्म (पुण्य पाप) कुछ भी उसमें हैं, न मन्त्र है, न पूजा है, धारणा ध्यान समाधि की एक विषयता रूप संयम और उसके सहित अन्यभाव (भावना पदार्थ) भी उसमें सत्य नहीं हैं, सोई आत्मा एक है अथवा दूजा (अनेक) है। अर्थात् वह एक अपनी आत्मा ही सत्य है या दूजा (दुसरा) भी सत्य है, यह विचार करो, यह सत्य विचार है, अन्य नहीं।

गोरख राम एको नहिं उँहवाँ, न उहाँ वेद विचारा।
हरि हर ब्रह्मा नहिं शिव शक्ती, न उहाँ तीर्थ अचारा॥
माय बाप गुरु जाके नाहीं, सो दूजा कि अकेला।
कहहिं कबिर जो अबकी समुझै, सोई गुरु हम चेला ॥१२॥

गोरक्षो रामचन्द्रो वा तत्रैकोऽपि न विद्यते।
नात्र वेदो न तेषां वा विचाराणां च सम्भवः ॥२३॥
न हरि र्न हरो वाऽसौ ब्रह्मा लोकपितामहः।
नेश्वरो नापि तच्छक्तिः सर्वात्मा सर्वतः परः ॥२४॥

---

१ तत्त्वमस्यादिवाक्योत्थसम्यग्धीजन्ममात्रतः। अविद्या सह कार्येणनासीदस्ति भविष्यति ॥१॥ वृ० सम्बन्धवा० १८२ ॥

नाऽत्र तीर्थानि नाचारा लौकिका वैदिका अपि ।
विद्यतेऽयं सदा शुद्धो नित्यबुद्धकलेवरः ॥२५॥
यस्य माता पिता नास्ति गुरुर्यस्य न सम्भवेत् ।
सद्वयः[१] सोऽद्वयो वा किमेतज्जानीत पण्डिताः ॥२६॥
अस्मिन् देहे च योऽत्रैव तत्त्वमेतदवेक्षते ।
स गुरुस्तस्य शिष्योऽहं गुरुराहैवमादरात् ॥२७॥
नामादिहीनमजरं सममच्छरूपं, भेदैर्विवर्जितमलं गुणकर्मदूरम् ।
कार्यादिसङ्गरहितं भवकर्तृरूपं, कर्तृत्वशून्यमचलं गुरुरेव वेत्ति ॥२८॥१२॥
इतिहनुमत्कृतायां शब्दसुधायां निर्भेदनिष्प्रपञ्चात्मवर्णनंनामचतुर्थस्तरङ्गः ४

उक्त स्वरूप में सिद्ध गोरख और अवतार स्वरूप रामादि एक भी नहीं हैं। न वहाँ वेदों का विचार है (वह वाणी का अविषय है) उसमें हरि हरादि रूपता नहीं है। न शिव शक्ति का भेद है, न तीर्थ आचार का सम्बन्ध है, जिसके माता, पिता और गुरु नहीं हैं सो द्वैत (भेद) युक्त है कि अकेला (अद्वैत) है। यह विचारना और समझना चाहिये। क्योंकि जो कोई (इस मानव देह में) इस अर्थ को समझता है, वह गुरु है और हम (समझने की उत्कट इच्छावाले) चेला (शिष्य) हैं। वे शिष्य भी ज्ञान पाकर मुक्त होते हैं "त्यक्त्वा यः प्राकृतं कर्म नित्यमात्मरति र्मुनिः। सर्वभूतात्मभूस्तस्मात्स गच्छे-दुत्तमां गतिम्। महाभा० शा० १६४। जो मुनि (विचारवान्) स्वाभाविक कर्मों को त्यागकर सदा आत्म प्रीतिवाले होते हैं सो सर्वात्मस्वरूप के अनुभवी होकर उससे उत्तम गति (मोक्ष) पाते हैं ॥१२॥

अथ भ्रान्तसम्बोधन प्रकरण ५

शब्द १३

पण्डित देखहु मन महँ जानी ।
कहु दहुँ छूति कहाँ ते उपजि, तबहिं छूति तुम मानी ॥
नादे विन्द रुधिर मिलि सङ्गे, घटही में घट सपुजै ।
अष्ट कमल ह्वै पुहुमी आई, छूति कहाँ ते उपजै ॥

---

१ एकः सन्भिद्यतेभ्रान्त्या मायया न स्वभावतः। सूतसं.ज्ञानयोगखे.२०।४।

ये विवेकं परित्यज्य कुलगोत्रादिगर्विताः।
हिंसादम्भविकर्मस्थाः सदा देहाभिमानिनः॥ ॥ १ ॥
तानाह सद्गुरुश्चेदं वाक्यं पुस्तकपाठिनः।
आत्मनः सद्विवेकाय गर्वादिविनिवृत्तये ॥ २ ॥
पण्डिता भो मनस्येतत्सुविचार्यावलोक्यताम्।
अस्पृश्यत्वं हि यज्जात्या भवद्भि र्निश्चितं मुधा ॥ ३ ॥
कथ्यतां तत्कुतो जातं भवद्भिः स्वीकृतं ततः।
स्वदेहेष्वपि पश्यन्तु शुचित्वं यदि वर्तते ॥ ४ ॥
मातु र्महोदरे प्राणो रजोवीर्यसमन्वितः।
जायते येन तद्देहे देहः स्वाङ्गैः प्रपूर्यते ॥ ५ ॥
कमलेनाष्टमेनाथ मूत्राद्याशयपार्श्वतः।
अष्टपद्मसमायुक्तः पृथिव्यामवरोहति ॥ ६ ॥
इत्थंभूते शरीरे स्वे ह्यशुचित्वं कुतो भवेत्।
अत्यन्तमलिनात्मायं भवद्भि र्मन्यतेऽन्यथा ॥ ७ ॥

हे पण्डित! जिस छूति को आपने अपने मन में जानी है (मन से समझी है) उसको फिर विचार कर देखो (समझो) और कहो तो भी कि वह छूत कहाँ से उपजी है, तब फिर आपने उसको मांन ली है। माता के पेट में नाद (शब्द) की उत्पत्ति के स्थान नाभि के पास गर्भाशय में रजोवीर्य के साथ प्राण के मिलने से माता के घट (देह) में ही यह घट (देह) कललादिरूप होकर सब अङ्गों से सपुजता (संपूर्ण होता) है, वहाँ पकता है, और बढ़ता है, फिर आठ कमलादियुक्त होकर माता के अष्टम कमल मूलाधार के पास योनि द्वारा यह शरीर भूमि पर आता है, तो ऐसे शरीर में छूति कहाँ से उपजी, यह तो स्वयं छूति स्वरूप है। अतः कहा गया है कि "अत्यन्तमलिनो देहो देही चात्यन्तनिर्मलः। उभयोन्तरं ज्ञात्वा कस्य शौचं विधीयते॥ श्रीजाबालदर्शनोप. १।२१" देह अत्यन्त मलिन है, आत्मा अत्यन्त निर्मल है, दोनों के भेद को जानकर किसका-शौच किया जाय, भेद ही ज्ञातव्य है।

लख चौरासी नाना वासन, सो सब सरि भौ माटी।
एके पाट सकल बैठायो, सींचि लेत दहुँ काकी॥
छूतिहि जेवन छूतिहि अचवन, छूतिहि जगत उपाया।
कहहिं कबीर ते छूति विवर्जित, जाके सङ्ग न माया॥१३॥

किञ्च वेदाष्टलक्षासु देहा भूत्वा हि योनिषु ।
सर्वेऽत्र कुथिता भूत्वा पृथिव्यां सम्मिलन्ति हि ॥ ८ ॥
पट्टके पृथिवीरूपे तस्मिन् सर्वे निवेशिताः ।
वर्णा अवर्णसङ्गाश्च तं छित्त्वा किं निषिञ्चथ ॥ ९ ॥
स्थित्वा पीठे सहैवात्र स्पर्शाद् यदभिषेचनम् ।
शरीरेऽपां न तद्युक्तं विवेकः स्वस्य साध्यताम् ॥१०॥
अन्नं पानं हि यत्किञ्चिदुपायो यश्च भूतले ।
सुखादे जगतो वापि तत्सर्वं मलिनं ध्रुवम् ॥११॥
अतो ये जगतो हेतो र्हीना मायादितः सदा ।
असङ्गाश्चित्स्वरूपस्थास्तान् कबीरोऽब्रवीच्छुचीन् ॥१२॥
"वर्णाश्रमाचाररता विमूढाः कर्मानुसारेण फलं लभन्ते ।
वर्णादिधर्मं हि परित्यजन्तः स्वानन्दतृप्ताः पुरुषा भवन्ति ॥१३॥
अहं ममेति विण्मूत्रलेपगन्धादिमोचनम् ।
शुद्धशौचमितिप्रोक्तं मृज्जलाभ्यां तु लौकिकम्" ॥१४॥१३॥

चौरासी लाख योनियों के जो नाना प्रकार के देहरूप वासन (घट) हो चुके हैं सो सब सर कर मिट्टी हो गये हैं और उस मिट्टीमय एक पाट पर सब प्राणी ईश्वर से बैठाये गये हो तो काकी (किसकी) छूत से जल के सींच लेते हो (देह पर जल छिड़कते हो) विचार कर देखो तो जेवन अचवन (खाने का अन्न और पानादि का जल) सब छूत स्वरूप हैं। और जगत् (शरीरादि) के उपाय (कारण) रजोवीर्यादि और सबका कारण अविद्या माया ये सब छूत स्वरूप हैं। अतः श्रीकबीर साहब कहते हैं कि वे ही सर्वथा छूत से विवर्जित (रहित) हैं कि जिनके सङ्ग में माया नहीं है । अर्थात् असङ्गात्मज्ञानी कनक-कामिनी कपटादि के त्यागी पुरुष सदा शुद्ध हैं। तथा मांस मद्यान्यायार्जित अन्नादि के त्यागी देहाभिमान काम-क्रोधादि रहित मनुष्य लोक में शुद्ध हैं, अन्य नहीं। केवल वर्णादि के अभिमानादि से छूतादि मानना पाखण्ड दम्भ है। "काम क्रोध छूतक महा, छूतक लोभ समाय। शील सरोवर न्हाइये, तब यह छूतक जाय ॥१॥ अङ्ग की साखी" ॥१३॥

शब्द १४

पण्डित सोधि कहहु समुझाई, जाते आवागमन नशाई ।
अर्थ धर्म औ काम मोक्ष कहु, कौन दिशा बस भाई ॥

उतर कि दक्षिन पूरब कि पश्चिम, स्वर्ग पताल की माहीं।
बिना गोपाल ठौर नहिं कतहूँ, नरक जात दहुँ काही॥

पण्डिता भो विचार्यैवं शोधयित्वा हृदि स्वयम्।
सुसम्बोध्य जनेभ्यो हि तदेव कथ्यतां यतः॥१५॥
गतागतं निवर्तेत पूर्णार्थाद्याः सदा नराः।
निर्द्वन्द्वाः सुखिनोऽत्र स्यु र्भवबाधा भवेन्नहि॥१६॥
अर्थो धर्मोऽथ कामश्च मोक्षश्चापि निरुच्यताम्।
वर्तते दिशि कः कुत्र भ्रातरो! लभ्यते कथम्॥१७॥
उत्तरस्यां दिशायां किं दक्षिणस्यां स वर्तते।
पूर्वस्यां पश्चिमायां वा स्वर्गे पतालमध्योः॥१८॥
गोपालेन विना क्वापि स्थितेः स्थानं न विद्यते।
विभुना ब्रह्मणा कस्मान्नरके यान्ति जन्तवः॥१९॥

हे पण्डितों! उक्त माथा अविद्यारूप छूत से रहित होने के लिये स्वयं शोध (विचार = समझ) कर अन्य को भी वह वस्तु समझकर कहो, कि जाते (जिसके ज्ञानादि से) जीवों के आवागमन (जन्म-मरणादि द्वन्द्व) नष्ट हो जायँ और हे भाई! अर्थ, धर्म, काम और मोक्षरूप पुरुषार्थ कौन दिशा में बसते हैं सो समझाकर कहो। उत्तर कि दक्षिण, पूर्व कि पश्चिम बसते हैं अथवा स्वर्ग में कि पाताल में कि इस माही (मध्य) लोक में बसते हैं सो समझाकर कहो। अर्थात् बाहर किसी देश दिशा का नियम नहीं है। किन्तु जहाँ सद्गुरु अमृत घोटी पिलाते हैं, वहाँ ही कामादि पूर्ण हो जाते हैं और "पूरब दिशा हंस गति होई। रमैनी ५" इस उपदेश के अनुसार आन्तरिक पूर्व दिशा और मध्यलोक में गति होती है, सो कहो और गोपाल (पृथिवी इन्द्रियादि का पालक) सर्वात्मा राम के बिना कहीं कोई ठौर (स्थान) नहीं है। राम व्यापक हैं तो भी जीव नरक में काही (क्यों) जा रहे हैं। इनकी रक्षा राम क्यों नहीं करता है सो समझो और समझावो कि "स एनमविदितो न भुनक्ति। बृ.१।४।१५" अनुपासित अज्ञात राम इसको न भुनक्ति (न रक्षति) इत्यादि।

अनजाने को स्वर्ग नरक है, हरि जाने को नाहीं।
जे डर के सब लोग डरत हैं, सो डर हम न डराहीं॥

अज्ञः कदापि स्वर्यातिं कदापि नरके तथा।
गमनागमने तस्य भवतः सर्वयोनिषु॥२०॥

इत्यालोच्य बुधा वित्त मूढस्य स्वर्गसंक्रमः ।
यः सोपि नरकस्तस्य भवबाधादिसम्भवात् ॥२१॥
लब्धार्थाद्यैश्च किं तत्र यदि क्लेशोऽपि विद्यते ।
सर्वं समाप्यते बोधे हरेस्तं तेन साधय ॥२२॥
अज्ञानामेव नाकादौ गमनागमनं भवेत् ।
हरे ज्ञानवतां नैव तेन ते निर्भयाः सदा ॥२३॥
भयाद्यस्य त्विमे लोकाः सर्वे विभ्यति सर्वदा ।
तस्मान्नैव विभेमो वै वयं सर्वे विवेकिनः ॥२४॥

समझो कि अनजान (गोपाल के ज्ञान से रहित) का स्वर्ग नरक में गमनागमन होता है। तथा अज्ञ के लिये स्वर्ग भी नरक के समान दुःखद है। क्योंकि काम क्रोध राग द्वेषादि से स्वर्ग में भी अज्ञ को दुःख होता है। और सर्वात्मा हरि को जानने वालों के लिये गमनागमन स्वर्ग नरक दुःखादि नहीं रहते हैं, अतः जे डर के (जिस भय के) हेतु ईश्वर यमराजादि से सब लोग डरते हैं। उस भय हेतु से हम (ज्ञानी) नहीं डरते हैं। क्योंकि ईश्वर को प्रियतमात्मा समझते हैं। और अनात्मा से भय होता है, आत्मा से नहीं। "तदेतत्प्रेयः पुत्रात्प्रेयो वित्तात्प्रेयोऽन्यस्मात्सर्वस्मात् ॥ बृ० १ । ४।८ ॥ य एवं वेदाहं ब्रह्मास्मीति स इदं सर्वं भवति तस्य न देवाश्च नाभूत्या ईशते, आत्मा ह्येषां स भवति। बृ० १ । ४ । १०" जो यह प्राणादि के अन्दर वर्तमान गमनीय = गन्तव्य=अन्वेषणीय आत्मा है, सो प्रिय पुत्र से अति प्रिय है। वित्त से और अन्य सब से अति प्रिय है॥ जो कोई सर्व धर्मादि रहित शुद्ध निज स्वरूप को ऐसा समझता है कि मैं ब्रह्म हूँ। सो इस सर्व जगत् का आत्मा हो जाता है, अतएव उसकी अभूति=असर्वात्मता के लिये देव भी समर्थ नहीं होते हैं, क्योंकि वह उन देवों का भी आत्मा=अतिप्रिय हो जाता है॥

पाप पुण्य की शंका नाहीं, स्वर्ग नरक नहिं जाहीं।
कहहिं कबीर सुनहु हो सन्तो, जहँ पद तहँई समाहीं ॥१४॥

न पापस्य न पुण्यस्य शंकाऽप्यस्मासु विद्यते ।
न स्वर्गे नरके वाऽपि वयं यामः कदाचन ॥२५॥
"अमनस्कस्य यत्कर्म देहेन्द्रियगणस्य च ।
न तत्पुण्यं न पापं च शास्त्रेषु परिपठ्यते ॥२६॥
यत्र तिष्ठति शुद्धात्मा ज्ञानी सन्देहवर्जितः ।
विदेहमोक्ष काले स तत्राविशति निर्मले ॥२७॥

अद्वये स्वे पदे नित्ये क्वचिद् याति न बुद्धधीः ।
सद्गुरवो वदन्त्येवं सच्छास्त्रैश्च विनिश्चितम् ॥२८॥

देहात्मतत्त्वस्य बोधैर्विहीना देहात्मबुद्ध्या सदाऽत्र भ्रमन्तः ।
शौचं विशुद्धं ह्यपश्यन्त एव मोहेन शुद्धेऽप्यशौचं वदन्ति ॥२९॥

न ते धर्मतत्त्वं विदन्ति प्रमूढा नचार्थस्य कामस्य मोक्षस्य रूपम् ।
मृषा पण्डितं मन्यमानाः पतन्ति सदादुर्गतौ नैव जातु प्रबुद्धाः॥३०।

इति हनुमत्कृतायां शब्दसुधायां देहात्मतत्त्वज्ञानहीनानां मतिभ्रमादि-
वर्णनं नाम पञ्चमस्तरङ्गः ॥ ५ ॥

फिर सर्वात्मदर्शी रागद्वेषादि रहित होने के कारण ज्ञानी को पाप पुण्य और उनके फलों की शंका भी नहीं रह जाती है । इन पापपुण्यादि का ज्ञानाग्नि से नाश हो जाता है । अतः ज्ञानी स्वर्ग नरकादि में कहीं नहीं जाते हैं । किन्तु श्री कबीर साहब कहते हैं कि हे सन्तो ! सुनो, कि जीवन्मुक्त ज्ञानी का जहाँ पद (स्थान) रहता है । वहाँ ही ज्ञानी विभु ब्रह्म में समा जाता है (लीन होता है)। क्योंकि– "न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माऽप्येति । अत्र ब्रह्मसमश्नुते ॥ बृ० । ४ । ४ । ६-७" ज्ञानी के प्राण अन्त काल में उत्क्रमण (ऊर्ध्वगमन) नहीं करते हैं । क्योंकि जीवन काल में ही ब्रह्म होता हुआ अन्त में ज्ञानी ब्रह्म में लीन होता है । यहाँ ही ब्रह्म को प्राप्त करता है, कहीं जाकर नहीं ॥ १४ ॥

अथ सशक्तीश्वरादि प्रकरण ६

शब्द १५

अवधू कुदरत की गति न्यारी ।
रंक निवाज करे वह राजा, भूपति करै भिखारी ॥
याते लोग हरफना लागै, चन्दन फूल न फूला ।
मच्छ शिकारी रमै जंगल में, सिंह समुद्रहि झूला ॥

अवधूर्भोत्वया साधो ! हीशशक्ति[1] र्निरीक्ष्यताम् ।
तस्या गति र्विचित्राऽत्र विद्यतेऽद्भुतरूपिणी ॥ १ ॥

---

१ देवस्यैष महिमा तु लोके येनेदं भ्राम्यते ब्रह्मचक्रम् । श्वेता० ६ । १॥

सा करोति दरिद्रस्य समर्था रक्षणं तथा।
तं करोति महीपालं महीपालं च भिक्षुकम् ॥ २ ॥
एतयैव जनाः सर्वे प्रपञ्चे बहुजालकैः।
बद्धाः सन्ति लवङ्गे वा फलं न जायते खलु ॥ ३ ॥
चन्दने नाऽभवत् पुष्पं यत्तन्मायासुसाधितम्।
नियामिका यतः शक्तिस्तत्रैवास्ते तमः स्वयम् ॥ ४ ॥
मत्स्यानां बधिको यातोऽपराधेन विना तथा।
महान्तो बलिनः सिंहा रमन्ते भयतो वने ॥ ५ ॥
समुद्रे चाऽभवत् सेतू रामचन्द्रेण निर्मितः।
एवं विधं हि सर्वं यत् तद्धि मायाविनिर्मितम् ॥ ६ ॥
मत्स्यो वा रमतेऽटव्यां भूत्वा वधिकरूपतः।
सिंहो विकम्पतेऽब्धौ वा तत्तुल्याः पुरुषास्तथा ॥ ७ ॥

हे अवधू ! (विरक्तों !) ज्ञानी निर्भय मुक्त होता है। परन्तु अज्ञ के लिये कुदरत (ईशशक्ति माया) की गति (चाल) ज्ञानी से न्यारी (विलक्षण) होती है। अज्ञों के भयादि का हेतु माया होती है। अतः अज्ञ रंक को उसके कर्म वासनादि के अनुसार (निवाज) दया रक्षा करके उसको राजा कर देती है और राजा के भोगादि के हेतु कर्मों के क्षीण होने पर उसको भिखारी (भिक्षुक) करती है और इस कुदरत से ही लोग हर (सब) फन (फन्दों) में लागे (लगे फँसे) हैं या लोग में हरफ (अक्षर = अविनाशी) आत्मा का उपदेशादि नहीं लगता है और इसीसे चन्दन में फूल नहीं फूला (अच्छे लोगों में सत्कर्मादि उज्वल ज्ञान विकशित नहीं हुए) और निरपराधी मछलियों का शिकारी हुआ। सिंह भय से जंगल में ही रमता है और समुद्र में भी झूला (पुल) बना सो सब कुदरत की ही गति है। तथा मछली (माया) शिकारी होकर संसार वन में रमती है और ज्ञान रहित सिंह (जीव) चौरासी लाख योनिरूप समुद्र में कुदरत से झुलता (डोलता) है स्वतन्त्र नहीं। "मच्छ रूप माया भई। रमैनी ४६" इत्यादि प्रथम कहा गया।

रेंड रूख भयेउ मलयागिरि, चहुँ दिश फूटी बासा।
तीन लोक ब्रह्माण्ड खण्ड में, देखे अन्ध तमासा ॥
पंगू मेरु सुमेरु उलंघै, त्रिभुवन मुक्ता डोलै।
गुंगा ज्ञान विज्ञान प्रकाशै, अनहद बानी बोलै ॥

एरण्डो मलयो जातो गन्धोऽस्य सर्वतोऽगमत् ।
ज्ञानान्धस्त्रिषु लोकेषु ब्रह्माण्डेषु च पश्यति ॥ ८ ॥
तथैव सर्वखण्डेषु ह्यद्भुतं कौतुकं महत् ।
हीनो ह्युत्तमतां यातो यशोऽस्य सर्वतोऽगमत् ॥ ९ ॥
बाह्यदृष्ट्याऽथ चान्धोऽपि सर्वं पश्यति तत्त्वतः ।
क्रीडातुल्यं जगत् कृत्स्नं न तत्र रमते ततः ॥१०॥
पङ्गुश्च मेरुदण्डस्य सुमेरो र्लङ्घनं तथा ।
कुरुते सिद्धियोगेन मुक्तश्चरति सर्वतः ॥११॥
ज्ञानविज्ञानयो मूकः प्रकाशं कुरुते तथा ।
निःसीमं भाषते शब्दं सर्वथाऽनाहतं खलु ॥१२॥

रेंडरूख (वृक्ष) तुल्य हीन पुरुष साधन से मलयागिरि तुल्य सिद्ध हो गया। उसका सुयशरूप बास चारो दिशाओं में फूटा (फैला) और अन्धा भी अभ्यासादि से तीनों लोक ब्रह्माण्ड और नव खण्डादि के तमासे,को देखता है और पङ्गु (मन की चञ्चलता से रहित), योगी मेरुदण्ड तथा सुमेरु का उलङ्घन करता है। और देह बन्धन से मुक्त होकर तीनों भुवन (लोक) में विचरता है, बाह्य व्यवहार से मूक पुरुष ही ज्ञान-विज्ञान का प्रकाश करता है, और अनहद की सत्य वाणी को बोलता है। वस्तुतः जीवात्मा सब इन्द्रियों से रहित है और सूक्ष्म देह गत इन्द्रियों द्वारा सब व्यवहार कार्य वही करता है, और अन्ध पंगु तुल्य होने ही पर अजब तमासा देखता है, संसार का उलङ्घन करता है, ज्ञान-विज्ञान का प्रकाश करता है ।

अकाशहिं बाँधि पताल पठावै, शेष स्वर्ग पर राजै ।
कहहिं कबिर राम है राजा, जो कछु करै सो छाजै ॥१५॥

यच्छक्त्यैतद् भवेत्सर्वं स ह्याकाशनिवासिनम् ।
पातालं गमयेद् बध्वा शेषं स्वर्गे विराजयेत् ॥१३॥
यच्छक्त्या जायते सर्वं स रामः [1]प्रभुरव्ययः ।
यद्यत्किञ्चित्करोत्येष तत्तत्तस्यैव शोभते ॥१४॥
"पराऽस्य विविधा शक्तिस्तया सर्वं करोति सः ।
सद्गुरुर्भाषते चैवं मायायामद्भुतं किमु ॥१५॥१५॥

---

१ अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः । ईश्वरप्रेरितः गच्छेत्स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा ॥१॥

जिसकी शक्ति से ये सब लीला होती हैं, वह राम भोगप्रद कर्मों के क्षीण होने पर आकाश (स्वर्गवासी) देव को बाँधकर पाताल में पठाता (भेजता) है। और शेष (पातालवासी) को कर्मादि के अनुसार स्वर्ग के ऊपर विराजमान करता है। साहब कहते हैं कि वह राम राजा (स्वतन्त्र प्रभु) है, वह जो कुछ करता है, सो सब उसको छाजता (शोभता) है। वस्तुतः जो राम राजा है, सो सर्वात्मा ब्रह्म है, माया में उसका आभासरूप प्रतिबिम्ब प्रकाश पड़ता है, उससे माया सब प्रपञ्च को रचती है। परन्तु अज्ञ जीव उसको समझे बिना किसी परोक्ष आनात्मा में मन लगाता है कि जिससे आवागमन से रहित नहीं होने पाता है। अतः आवागमन रहित होने के लिये राम राजा में मन को स्थिर कर्तव्य है, इत्यादि ॥ १५ ॥

शब्द १६

अवधू वे तत्त्व रावल राता, नाचै बाजन बाजु बराता ॥

अवधू भो असौ रामो राजा देवः सनातनः।
स्वमायानिरतश्चास्ते प्रतिभासस्वरूपतः ॥१६॥
तेन यन्त्रोऽथ वाद्योऽयं देहो नृत्यति कर्मसु।
प्राणेन्द्रियगणः सर्वो भृशं शब्दायते मुहुः। १७।
अथवा रामरूपोऽयं जीवो राजा भवन् स्वयम्।
कल्पितेऽनात्मतत्त्वे वा परोक्षे निरतोऽभवत् ॥१८॥
तस्याऽविवेकतो वाद्यं नृत्यतीदं कलेवरम्।
शब्दायन्ते च जीवानां सङ्घाः परवशाः खलु ॥१९॥

हे अवधू रावल (राजा राम) वे तत्त्व (उस मायारूप शक्ति) में राता है (आभास द्वारा पैठा अनुरक्त) है। इसीसे मायारूप यह बाजा (देह) कर्मों में नाचता है, और प्राणादिरूप बारात (समूह) बाजते (शब्दादि करते) हैं। चिदाभास के द्वारा ही चिदानन्द राम से सब व्यवहार संसार होता है। स्वयं नहीं तथा कुदरत की वशवर्तिता से ही रावल (रामस्वरूप जीवात्मा) वे तत्त्व (परोक्ष अनात्मा) में राता (प्रेम किया) है कि जिससे मायामय आश्चर्य स्वरूप व्यवहार हो रहा है। आश्चर्य यह है कि देहरूप बाजन (यन्त्र) कर्मों में नाचता (प्रवृत्त होता) है। और प्राणेन्द्रियादि का सङ्घरूप बरात (व्यवहारिक जीव) बाजता है। देवादि की स्तुति आदि करता हुआ उन्हें स्वामी मानकर प्राप्त करना चाहता है, उक्त सर्वात्मा सर्वज्ञ राम को नहीं मानता है। अतः पराधीन शब्द बोलता है, स्वयं विचारादिपूर्वक नहीं बोलता है, न तन, मन, इन्द्रिय

का मेल करता है। सावधानी से समझकर कर्मादि नहीं किये जाते हैं, न सँभार कर शब्द बोला जाता है। अतः "मुख कछु आन हृदय कछु आना। स्वप्नेहु काहु मोहिं नहिं जाना" मन की एकता के बिना सद्गुरु सत्यात्मा का ज्ञान नहीं होता है। अतः नाचना पड़ता है।

मौरिक माथे दुल्लह दीन्हो, अकथ जोरि कहाता।
मड़वक चारन समधी दीन्हो, पुत्र बिआहल माता॥

मुकुटेनात्मनस्तुल्यान्महिम्नश्चापि मस्तकात्।
उपरिष्टाद्धि मायाया विज्ञः स्थापयते पतिम्॥२०॥
द्वन्द्वानि द्वैतवर्गांश्चाकथनीयानि मन्यते।
नात्मवत्तेषु सत्यत्वं कदाचिन्मन्यते बुधः॥२१॥
अज्ञो वाऽस्य किरीटेन तुल्ये स्वर्गमुखेऽनृते।
महिम्न्येव परात्मानं तटस्थत्वेन मन्यते॥२२॥
अकथं यज्जगत्तत्त्वं मेलयित्वाऽनृतं हि तत्।
सत्येन भासते नित्यं नैव जातु विवेकतः॥२३॥
विवेकी मन्यते विज्ञं स्वदृष्ट्या भवमूर्धसु।
स्वयं प्राक् पुत्रवद् भूत्वा मायां च कुरुते वशे॥२४॥
अज्ञो वै मण्डपे विश्वे बुद्धं ज्ञात्वा हि चारणम्।
किञ्चिद्ददाति मायायामासक्तो भवति स्वयम्॥२५॥

सत्यात्मा के ज्ञान विचारादि के अभाव से ही सर्वात्मा राम दुलहा (स्वामी) के मौर (मुकुट) तुल्य विभूति विशेषरूप लोक-विशेष के माथे (उत्तमांग) में या शरीर के विशेषाङ्ग ब्रह्मरंध्रादि में दुलहा को स्थान अज्ञ लोगों ने दिया है, स्वामी को एकदेशी समझा है, विभु नहीं। और अकथ (अनिर्वाच्य) माया की ही कथा को सब सत्यात्मा की कथा के साथ जोर (मिला) कर कहते हैं, शुद्ध निर्गुण आत्मा की कथा भी नहीं करते हैं, समझना तो दूर रहता है। अतः सम निर्गुणात्मदर्शी समधी को संसार मण्डप के अन्दर चारण (देवादि के गुण गायक भिक्षुक) जानकर, उन्हें भिक्षा आदि कुछ अज्ञों ने दिया और देते हैं। परंतु उनके उपदेशों को प्रायः नहीं मानते हैं। अतः माया के पुत्ररूप जीव तथा मन, माया अविद्यारूप माताको ही व्याहा (प्राप्त किया) सद्गुरु सत्यात्मा विद्याको नहीं पाया।

दुलहिनि लीपि चौक बैठायो, निर्भय पद परगाता।
भाते उलटि बरातहिं खायो, भली बनी कुशलाता॥

विज्ञपत्यर्थिनी माया संशोध्य तत्कलेवरम् ।
शुद्धे निजात्मपीठे तं स्थापयित्वा परं पदम् ॥२६॥
प्रगायत्यभयं सा च ततो भीतेव वर्तते ।
पतिंवराऽज्ञबुद्धि र्वा संशोध्य स्वकलेवरम् ॥२७॥
स्थापयित्वा मनःपीठेऽनात्मानं मन्यते पतिम् ।
प्रगायत्यभयं त्वन्यं नात्मानं मन्यते निजम् ॥२८॥
विज्ञो निजेन्द्रियव्रातं निरुध्य भोग्यभक्ततः ।
भुक्तवान् येन कौशल्यं कुशलं चाभवद् बहु ॥२९॥
अज्ञानामथवा व्रातं विषयो भुक्तवानिति ।
तथापि त्वज्ञदृष्ट्या तत् कुशलं परिवर्तते ॥३०॥

आत्मज्ञान के बिना अज्ञों की बुद्धिरूप दुलहिन ने शरीरों को नहा धोकर, चन्दनादि लेपकर शुद्ध किया, और हृदय-कमल को चौका किया तथा वहाँ अन्तःकरण को चौका समझा, फिर वहाँ तटस्थ किसी देवादि को स्वामी मानकर बैठाया (निश्चय किया) तथा पर भिन्न, पति विषयादि से निर्भय, पद (मोक्ष) गाने लगी और गाती है, अनात्म देवादि से तथा विषयादि से ही सत्य सुख की प्राप्ति सब दुःख द्वन्द्व की निवृत्ति समझती है, उसीको निर्भय पद कहकर अन्य के प्रति भो प्रकाश (ज्ञान) कराती है। अतः "भोगा न[१] भुक्ता वयमेव भुक्ताः" इत्यादि उक्ति के अनुसार, जिसको निर्भय पद समझा गया था, वह भात (भोग्य) पदार्थ ही उलटकर अज्ञ विषयो जीवरूप बरात को खाया (संसार दुःख में डाला) तो क्या भली कुशलता बनी। परन्तु अज्ञ उसीको कुशलता समझा, दुःख हेतु में सुख हेतुता का अभिमान मोहवश किया।

पाणि ग्रहण भयो भवमण्डन, सुषमणि सुरति समानी ।
कहहिं कबीर सुनहु हो सन्तो, बूझहु पण्डित ज्ञानी ॥१६॥

जीवन्मुक्तस्य या माया वशीभूताऽभवत्स्वयम् ।
भूषणं तद्भूलोके मनोवृत्तिश्च सुस्थिरा ॥३१॥
अज्ञबुद्धे र्विवाहो वाऽभवद्देवादिभिः सह ।
मण्डनं ह्यभवत्तत्र पुनर्जन्मादिलक्षणम् ॥३२॥

---

१ भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्तास्तपो न तप्तं वयमेव तप्ताः । कालो न यातो वयमेव यातास्तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः ॥१॥ भर्तृहरिः" ।

योग्यादीनां च तद्ध्यानान्मनोवृत्तिं लयं गता ।
सुषुम्णि वा स्थिता नित्यं मरणं वाऽप्युपस्थितम् ॥३३॥

सद्गुरुः प्राह भोः साधो ! श्रूयतां विज्ञतस्तथा ।
विचारः क्रियतां नैव मनो देयं तु मायिके ॥३४॥१६॥

उक्त रीति से बुद्धिरूप दुलहिन का पाणीग्रहण (देवादि से विवाह) हुआ। उसमें वारम्वार जन्म-मरणादिरूप भव (संसार) से ही मण्डन (भूषण शोभा शृङ्गार) किया गया। इस संसार दशा में ही उसकी सुरति (ध्यान वृत्ति) सुषुम्ना नाड़ी में समाई (मरण उपस्थित हुआ या हठ समाधि लगी)। क्योंकि अज्ञ की बुद्धि मरण काल में या समाधिस्थ होने पर भी विषय वासना को नहीं छोड़ती है। इन दोनों काल में सुषुम्ना में सुरति जाती है। अतः ज्ञान के बिना समाधि या मरण से कुशलता मुक्ति नहीं होती है। इससे श्रीकबीर साहब कहते हैं कि हे सन्तो ! ज्ञानी पण्डितों से श्रवणादि करो, और श्रवणादि करके सत्यात्मा राम को बूझो (समझो) तभी सच्ची कुशलता होगी, अन्यथा नहीं। क्योंकि "अपारसंसारसमुद्रपाती लब्ध्वा परां युक्तिमुदारसत्त्वः। न शोकमायाति न दैन्यमेति गतज्वरस्तिष्ठति नित्यतृप्तः ॥ योगवासिष्ठ प्र० २।३" संसाररूप अपार समुद्र में प्राप्त उदार बुद्धिवाला ही उत्तम युक्ति को पाकर, शोक और दीनता को नहीं प्राप्त होता है, और ज्वर = ताप रहित होकर रहता है ॥१६॥

शब्द १७

अवधू सो योगी गुरु मेरा, जो यह पद का करै निवेरा ॥
तरुवर एक मूल बिनु ठाढ़े, बिनु फूले फल लागा ।
शाखा पत्र कछू नहि वाके, अष्ट गगन मुख जागा ॥

अवधूः परमो योगी गुरुः स विद्यते मम ।
योऽपरोक्षपदस्यास्य विवेकं कुरुते सुधीः ॥३५॥

संसारोऽयं महावृक्षो निर्मूल एक एव च ।
असङ्गे विद्यते तत्त्वे मायामात्रकलेवरः ॥३६॥

सत्यपुष्पं विना तत्र फलं सौख्यादिकं सदा ।
आत्मन्येव स्वभावेन भाति यत्रास्ति कर्म न ॥३७॥

यद्वा स्वात्मैव वृक्षोऽयं सैव मूलविवर्जितः ।
पुष्पेणापि विना तत्र फलमर्थादिलक्षणम् ॥३८॥

शाखापत्रादिकं तत्र वास्तवं विद्यते नहि ।
तथापि गगनस्यास्य राजतेऽष्टासु दिक्षु सः ॥३९॥

हे अवधू ! जिस ज्ञानी पण्डित से श्रवणादि करना चाहिये, सोई योगी और गुरु हैं, और मेरा स्वरूप हैं या वह योगी मेरा गुरु (मान्य) है । जो यह (अपरोक्ष) पद (स्वरूप सर्वाधार राम) का निवेरा (विवेक विज्ञान) करता है तथा यह संसार पद का (निवेरा) निवारण = अभाव करता है, सो योगी मेरा गुरु है । क्योंकि विवेकादि के बिना जो एक संसार वृक्ष मूल के बिना खड़ा है । अर्थात् लोक में वृक्ष का नीचे स्थूल मूल रहता है, और यह संसार वृक्ष "ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाखः । कठ० २।६।१" इत्यादि शास्त्र के अनुसार ऊर्ध्व (सूक्ष्म) मूल और नीचे स्थूल शाखावाला वर्णित जो वृक्ष है, सो वस्तुतः सत्यमूल रहित मायामात्र है । वस्तुतः इस रूप से आत्मा ही माया द्वार खड़ा भासता है । इसमें फूल के बिना फल लगा और लगता है । अर्थात् कल्पित कर्मादि से सुख-दुःखादि फल होते हैं । अतः यह मानो वट या पीपल रूप वनस्पति तुल्य है । शाखा पत्रादि कुछ भी इसके सत्य नहीं हैं, तो भी आकाश के आठो दिशारूप मुख में यह वृक्ष जाग्रत (प्रसिद्ध) है । जागा का गाजा पाठभेद है, गाजना (विराजना) अर्थ है ।

पौ बिनु पत्र करह बिनु तुम्बा, बिनु जिह्वा गुण गावै ।
गावनहारक रेख रूप नहिं, सतगुरु होय लखावै ॥

तदाश्रिता तु मायाख्या लता तत्रास्ति लम्बिता ।
वेदादिसर्वकार्याणि पत्राणि तानि सन्ति हि ॥४०॥
अहो तेषां न सम्बन्धाधारः कोऽप्यत्र विद्यते ।
तथापि तानि भान्त्येव वृन्तेन च विना फलम् ॥४१॥
तत्फलेन युतं चैतद्देहयन्त्रं तु यः सदा ।
वादयित्वा गुणं स्वस्यस्तौति जिह्वां विनैव च ॥४२॥
गायकस्य च तस्यास्ति न रूपमाकृतिर्न च ।
तथापि सद्गुरुर्यः स्यात्सुखं स तं प्रदर्शयेत् ॥४३॥

इस वृक्ष में उपादान कारणरूप से मायारूप लता वर्तमान है, जिसमें पौ (आधार डंटी) के बिना ही वेदादि शब्दरूप बुद्धि इन्द्रियादिरूप पत्ते लगे हैं। और करह (वृन्त) के बिना फल (शिर श्रवणादि) तुम्बे लगे हैं । इन पत्र तुम्बे से युक्त यह शरीररूप यन्त्र बना है, इस यन्त्र को बजाता हुआ गुणों को गानेवाला जिह्वा के बिना ही गुणों को गाता है । अर्थात् शरीर में जीह्वा है सो

यन्त्र है, यन्त्री को जिह्वा नहीं है। और जिसको गाता है सो त्रिगुणमय पदार्थ है। गुणों का साक्षी आत्मा ज्ञेय गुणरूप नहीं होता है। उस गानेवाले का कोईरूप या (रेख) आकार चिह्न नहीं है। अर्थात् गानेवाला गुण शरीरादि से भिन्न असङ्ग है। परन्तु वह अपने सत्य स्वरूप को स्वयं नहीं समझता है। अतः शरीरादिरूप अपने को समझता है, शरीरादि के गुणों को गाता है। यदि कोई सद्गुरु प्राप्त होयँ, तो उसके सत्य स्वरूप को लखावें, या वही सद्गुरु स्वरूप होकर शिष्य के प्रति अपने स्वरूप को लखाता (समझाता) है।

पक्षिक खोज मीन को[1] मारग, कहहिं कबीर दुइ भारी।
अपरंपार पार पुरुषोत्तम, मूरति की बलिहारी ॥१७॥

पक्षिमार्गेण सम्प्राप्ति र्मीनमार्गेण वा प्लुतिः।
स्वयं सा दुष्करा साधो! सद्गुरोः सुकरा हि सा ॥४४॥
निरालम्बे यथाऽऽकाशे निश्चिन्हे विहगो व्रजेत्।
तथा व्रजति सच्छिष्यो निरालम्बे निजात्मनि ॥४५॥
सुमत्स्यो वा यथा नित्यमूर्ध्वं धारासु धावति।
सज्जिज्ञासुस्तथा नित्यं ज्ञानभूमिषु धावति ॥४६॥
यश्चैताभ्यां तु मार्गाभ्यां संयाति कुशलो नरः।
भवसिन्धोरपारस्य परं पारं स गच्छति ॥४७॥
नरोत्तमः स विज्ञेयस्तस्य मूर्तिश्च शोभते।
तां धन्यां सद्गुरुः प्राहः कबीरः करुणानिधिः ॥४८॥

अघटितघटनाविधौ यस्यशक्तिः प्रयुक्ता सदा लोकसङ्गांस्तनोत्यञ्जसा,
इह स तनुमनो हृषीकेषु रक्तः सदा वर्तते मायया संलसन् सर्वथा।
मनसि तमवलोक्य विज्ञाननेत्रास्तु ये मुक्तिभाजो भवन्तीह तन्मानसाः,
गुरव इह त एव विज्ञानभूमौ प्रपन्ना न लोकेष्वटन्तो रटन्तोऽहितम् ॥४९॥१७

इतिहनुमत्कृतायां शब्दसुधायां सशक्तीश्वरादिनिरूपणंनाम षष्ठस्तरङ्गः ॥६॥

यद्यपि निश्चिन्ह आकाश में पक्षी की खोज (मार्ग) और तीव्रधारा के

---

१ वराहोपनिषद्, अध्याय ४ में, पक्षी मार्ग मीन मार्ग के स्थान में, शीघ्र प्रापक, शुक मार्ग = विहङ्गम मार्ग कहा गया है, सो ज्ञान मार्ग है, और धीरे से प्रापक, वामदेव मार्ग = पिपीलिका मार्ग कहा गया है, सो उपासना भक्ति मार्ग है। "शुकश्च वामदेवश्च द्वे सृती देवनिर्मिते। शुको विहङ्गमः प्रोक्तो वामदेवः पिपीलिका ॥ व० ४।३६"।

सम्मुख मीन मार्ग के समान, ज्ञान के समाधि मार्ग, और शुभेच्छापूर्वक सुविचारादि मार्ग दोनों भारी (महान् कठिन) हैं तथापि इन मार्गों में चलने-चलाने वाले गुरु शिष्यों की मूर्ति की बलिहारी (धन्यवाद) है। वे लोग अपरंपार (विभु) संसार से पार स्वरूप में पहुँचे हुए पुरुषोत्तम हैं, उनके लिये कोई मार्ग कठिन नहीं है या उड्डीयान बन्ध, मूलबन्ध, यन्त्र बन्धादिरूप पक्षि मार्ग, और शब्द सुरति योगादिरूप मीन मार्ग दोनों भारी (कष्ट साध्य) हैं। अतः विवेकादि पूर्वक सद्गुरु से इस विभु आत्मा के परिचयवाले ही उस अपरंपार सब कष्टों से पार पहुँचे हुए पुरुषोत्तम हैं, उनकी मूर्ति की बलिहारी हैं ॥१७॥

अथ सद्गुरु से ज्ञानादि प्रकरण ७

शब्द १८

बुझि लीजै ब्रह्म ज्ञानी।
घूरि घूरि वर्षा वर्षायो, परिया बुन्द न पानी॥

भो ब्रह्मज्ञं गुरुं पृष्ट्वा स्वात्मतत्त्वं विनिश्चिनु।
भवचक्रे[1] भवेन्नैव पुनश्चंक्रमणं यतः॥ १॥
धिया स्वकीयया त्वं हि भ्रान्त्वा भ्रान्त्वा जगत्त्रये।
तृप्त्यर्थं बहुधा वृष्टिं कृतवान् सुखसम्पदाम्॥ २॥
कर्मादीनामनुष्ठानं सौख्याय बहुधा कृतम्।
न लब्धः सुखलेशोऽपि दुःखराशिं च लब्धवान्॥ ३॥
यद्वा तटस्थभूमज्ञा ये सन्तीह नरा हि तान्।
प्राह सद्गुरुरेवं यद् भवद्भि र्बुध्यतामिदम्॥ ४॥
गत्वा गत्वोपदेशेऽपि भवद्भि र्बहुधा कृते।
सदानन्दस्य लेशोऽपि न जीवहृदयेऽपतत्॥ ५॥

हे मनुष्यों जिज्ञासुओं ब्रह्मज्ञानी गुरु से उक्त रेखरूप रहित सत्यात्मा को, और उसके ज्ञान के मार्गों को बूझ (समझ) लो। क्योंकि बूझने के बिना तुमने घुर-घुर कर (लौट-लौट विचर-विचर कर) बार-बार संसार में आकर, अपने

---

१ सर्वाजीवे सर्वसंस्थे वृहन्ते अस्मिन् हंसो भ्राम्यते ब्रह्मचक्रे। पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति। श्वेता० १। ६" आत्मानमीश्वरं च पृथङ् मत्वा महति जीवाश्रये प्रलयस्थाने ब्रह्मचक्रे भ्रमति, ईश्वरेणैकत्वमापन्नो मुक्तोभवति।

सुख-शान्ति के लिये वर्षा वर्षाया (कर्मोपासना दानादि किया)। परन्तु उससे सुखशान्ति कारक एक बुन्द पानी भी नहीं पड़ा है; ताप पाप, राग-द्वेषादि का नाशक धर्मभक्ति ज्ञान तुम्हे सद्गुरु के बिना कुछ नहीं प्राप्त हुआ है। क्योंकि– "आचार्यवान् पुरुषो वेद। छा० ६।१४।२" आचार्याद्ध्येव विद्या विदिता साधिष्ठं साधयतीति। छा० ४।६।३" प्राप्य वरान्निबोधत। कठ० १।३।१४" तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया। भ०गी० ४।३४" गुरुवाला पुरुष आत्मा को जानता है, और गुरु से प्राप्त विद्या अत्यन्त कुशल मोक्ष को प्राप्त कराती है। अतः वर-श्रेष्ठ गुरु को प्राप्त करके समझो। तहाँ भी दण्डवत् प्रणाम उचित प्रश्न और सेवा श्रद्धा आदिपूर्वक समझो, इत्यादि शास्त्र का उपदेश है।

चिउँटी के पगु हस्ती बाँध्यो, छेरी बीगर खायो।
उदधि माहँ ते निकरि छाँछरी, चौड़े गेह बनायो॥

मनः पिपीलिकापादे वासनादौ कुकल्पिते।
त्रिगुणे ह्यात्मकरिणं बद्धवांस्त्वं गुरुं विना॥ ६॥
रक्षार्थं बुद्ध्यजायाश्च कलत्रादिवृकस्त्वया।
रक्षितो मोहतश्चात्र तेन सापि विनाशिता॥ ७॥
यद्वाऽल्पविषयस्यांशे बद्धे स्वान्तमतङ्गजे।
अजारूपा त्वियं माया खादति स्म जनान् वृकान्॥ ८॥
संसाराम्बुनिधेश्चास्मान्निःसृत्येवामरादयः।
मत्स्या निर्बाधदेशेषु गृहसद्मानकल्पयन्॥ ९॥

गुरुपूर्वक ज्ञान के अभाव से ही सवासन मनरूप चींटी के विकल्प संशय रूप पैर में अपनी आत्मारूप हाथी को तुमने बाँधा है। जिससे बुद्धिरूप छेरी को कामादिरूप बीगर (वृक हुराड़) नष्ट कर दिये हैं, खा गये हैं, या माया कुबुद्धिरूप छेरी (बकरी) ने जीवात्मारूप वृक को खा लिया है (वश में किया है) और ब्रह्मात्मस्वरूप समुद्र से निकलकर दुर्बुद्धिरूप छाँछरी (मछली) चौड़े (मैदान) संसार में घर बनाई है तथा संसार समुद्र के छाँछरीरूप देवादि संसार से दूर मुक्त ईश्वरादि प्रतीत होते हैं। अतः मानो संसार समुद्र से निकलकर चौड़े (विस्तृत) स्वर्गादि में गृह बनाये हैं।

मेढक सर्प रहै एक सङ्गे, बिलिया श्वान वियाहीं।
निति उठि सिंह सियार से डरपे, अदबुद कथो न जाहीं॥

स्वर्गादावपि सर्वत्र जीवैर्मण्डूकसन्निभैः ।
कालोऽहंकाररूपो वा सर्पो वसति वै सह ॥१०॥
अविद्या कुमति श्चैषा मार्जारी मृत्युरूपिणम् ।
शश्वज्जनयति श्वानं स चैतान् बाधते सदा ॥११॥
अहो तथापि सिंहोऽयं मेधावी कुशलो नरः ।
शिवाया भयमेत्यत्र या कुदेवादिलक्षणा ॥१२॥
आश्चर्यं महदेतच्च ह्यनिर्वाच्यं च विद्यते ।
यद्बिभेति न मुक्त्यर्थं कदाचिद् यतते नरः ॥१३॥

ज्ञानादि के अभाव से ही चञ्चल विषयी जीवरूप मेढक और काल (मृत्यु) अहंकारादिरूप सर्प सदा एकत्र साथ रहते हैं कि जिससे जीव कभी निर्भय नहीं होता है, तहाँ निर्भयता के लिये प्रथम उपदेश दिया गया है कि "सुमिरण करहु राम के, काल गहे हैं केश । रमैनी १९" क्योंकि राम के ज्ञान स्मरणादि के बिना अविद्या कुबुद्धि (भ्रान्ति) रूप बिल्ली मृत्यु (काल) रूप कुत्ता को बियाती (उत्पन्न) करती है, भ्रम अज्ञान से बार-बार जन्म-मरणादि होते हैं। और अविद्या से ही सदा उठकर (शयन से जागकर) भी दिन में भी सिंहतुल्य जिज्ञासु आदि मनुष्य भी सियारतुल्य कुदेव भूत-प्रेतादि से डरते हैं, ज्ञान के बिना यह आश्चर्य होता है, सो सब कहा नहीं जा सकता है ।

कौने शशा मृगहिं बन घेरे, बाण पारथिहिं मेलै ।
उदधि भूप ते तरुवर डाहे, मच्छ अहेरा खेलै ॥

इन्द्रियाख्यः शशः कश्चिद् भवाटव्यां मनोमृगम् ।
निरुध्य पार्थजीवस्य हृदि बाणान् प्रयच्छति । १४॥
एवं संशयकामादि मनोऽमार्गे निरुध्य हि ।
शोकादिलक्षणान् बाणान् सर्वदाऽर्पयति क्रुधा ॥१५॥
शरीराख्यभुवः पत्यु र्जीवस्य शुभपादपान् ।
संसाराम्बुनिधि र्भस्मी करोति हरते सुखम् ॥१६॥
मत्स्याश्च देवमायाद्या आखेटं कुर्वते सदा ।
सर्वथा सर्वजीवानां सोऽपि ज्ञेयो महाधिया ॥१७॥

क्योंकि अज्ञानकाल में कौने (कोई एक ही) चञ्चल इन्द्रियरूप शशा (खरगोश) अज्ञानी के मनरूप मृग को संसार बन में घेर कर रखता है । ज्ञान-योगादि मार्गों में जाने नहीं देता है, सब अवशीभूत इन्द्रियों की तो कथा ही क्या कही जा सकती है । और वह मन को बन में घेरनेवाला शशा पारथी

(पारधी) इन्द्रियादि सबके रक्षक जीवों के ऊपर कामादि शोकादिरूप बाण (मेलता) डालता है। हे भूप (देहाभिमानी) जीव ! इन्द्रियों की वशवर्तिता से विषयादिरूप संसार समुद्र ही तेरे शान्तिप्रद सब शुभ विचार ज्ञान-ध्यानादि को डाहता (दाहता = जलाता) है। और इन्द्रिय अन्तःकरण के अधिष्ठाता आदिरूप देवों की माया ममता आदिरूप मछली तेरा अहेर (शिकार) खेलती हैं। अर्थात् विवेक-वैराग्य ज्ञानादि के बिना इन्द्रियों की विषय पराणयता से जीव महादुःखी परवश होते हैं। यदि विवेक-विज्ञानादि हो, तो कौन ऐसा शशा है कि जो मृग को बन में घेर सके। क्योंकि विवेकी जीवरूप पारथी ही उन पर ज्ञानवाण डालता है, और उस बाण से भूपति के संसार को तथा तीन देहरूप तरुवर को जला देता है और माया ममतारूप मछली का भी अहेर खेलता है, अतः वह केवल ज्ञान से मोह-ममता आदि को नष्ट करके मुक्त हो जाता है।

कहहिं कबिर यह अदबुद ज्ञाना, को यहि ज्ञानहिं मानै।
बिनु पँखिये उड़ि जाय अकाशहिं, जीवहिं मरण न जानै ॥१८॥

सद्गुरुराह यत्तत्वं तज्ज्ञानमतिदुर्लभम्।
किन्तु पक्षं विनाऽऽकाशे जीवा उड्डीय यन्ति हि ॥१८॥
अपूर्वं मोक्षदं सत्यं गुरुवाक्यं न मन्यते।
मरणं नैव पश्यन्ति सर्वत्र गुरुमन्तरा ॥१९॥
तत्त्वज्ञादात्मनस्तत्त्वं यावत्सम्यङ् न बुध्यते।
तावत्क्वापि गतस्यास्य मृत्युबाधा न नश्यति ॥२०॥
तथाप्येते जनाः सम्यक् कुर्वते कर्म कामदम्।
गुरुं प्रासाद्य नात्मानं जानन्ति कामनाशकम् ॥२१॥
स्वर्गादिकामसत्त्वे हि कुतः शान्तिः कुतः सुखम्।
कुतो ज्ञानं कुतो ध्यानं तस्मात्कामं त्यजेद् द्रुतम् ॥२२॥१८॥

श्रीकबीर साहब कहते हैं कि कहीं जाने के बिना ही माया, मोह, ममता, आदि की निवृत्ति के द्वारा जीवन्मुक्तिपूर्वक विदेहमुक्ति देनेवाला यह ज्ञान का उपदेश अविवेकियों के लिये अद्भुत स्वरूप आश्चर्यजनक है। अतः कौन अविवेकी इस ज्ञानोपदेश को मानेगा, कोई विवेकी ही मानेगा, और अविवेकी तो बिना पाँख के ही आकाश में उड़ जाता है। अर्थात् मन से स्वर्गादि की इच्छा आदि करता हुआ कर्मादि करता है। परन्तु ऐसे जीवों को काल (मृत्यु) तुच्छ समझता है। अतः बार-बार पीड़ित करता है, और वे जीव भी स्वर्गादि से पतन बार-बार मरण को नहीं समझते हैं। अतः आकाश में कर्म करके उड़ते

(जाते) हैं। क्योंकि–''लोकवासनया जन्तोः शास्त्रवासनयाऽपि च। देहवासनया ज्ञानं यथावन्नैव जायते ॥१॥ लोकवासना आदि से प्राणी को श्रवणादि करने पर भी मोक्षप्रद यथार्थ ज्ञान नहीं होता है। अतः संसार के मिथ्यात्वादि बुद्धि द्वारा वासना निवारणीय है और उक्त मार्गों का ग्रहण कर्तव्य है इत्यादि ॥१८॥

शब्द १९

ए तत्त्व राम जपहु हो प्राणी, तुम बूझहु अकथ कहानी।
जाको भाव होत हरि ऊपर, जागत रैनि बिहानी ॥
डाइनि डारै श्वनहा डोरै, सिंह रहे वन घेरे।
पाँच कुटुम मिलि जूझन लागे, बाजन बाजु घनेरे ॥

परोक्षं विभ्रमं त्यक्त्वा प्रत्यक्षं राममव्ययम्।
जपत प्राणिनो यूयं बुध्यध्वमकथाकथाम् ॥२३॥
येषां भावो हरौ पूर्णो भवेत्ते हि निरन्तम्।
जाग्रत्येव मदाऽभावान्नित्यदृष्टेश्च लाभतः ॥२४॥
कुबुद्धिं डाकिनीं हित्वा श्वानौ वाङ्मनसे उभे।
संयमाभ्यासरज्ज्वाद्यै र्बध्नन्त्येव विरक्तितः ॥२५॥
अहंकाराग्रहादींश्च सिंहान् योगवनादिषु।
आवृण्वते स्वयं सिंहा भूत्वा भववनं तथा ॥२६॥
कृते चावरणे तेषां बलवन्तः सुबुद्धयः।
कुटुम्बैरिन्द्रियैः सार्द्धं युद्धं कुर्वन्ति पञ्चभिः ॥२९॥
मिलितैः सहयुद्धेन लाभतश्च जयश्रियः।
वाद्याऽऽलोकादिशब्दा हि श्रूयन्ते बहुधा भवे ॥२८॥

उपदेश है कि हे प्राणी! ब्रह्मज्ञानी से बूझ-समझकर, ए तत्त्व (इस अपरोक्ष सत्य) सर्वात्म सर्वसाक्षी स्वरूप राम को जपो (भजो स्मरण करो) दूर की इच्छा आशा आदि को त्यागो। और अकथ (अनिर्वाच्य) माया की कहानी (कथा) को ब्रह्मज्ञानी से बूझो (समझो) इस प्रकार से समझकर, माया सहित या निर्गुण सर्वात्मा हरि के ऊपर (हरि में) जिसका भाव (प्रेम) होता है, सो रात-दिन सदा जागता (मोह रहित) रहता है तथा जागते रहने से अज्ञान रात्रि को विहाय (त्याग) देता है। और वह हिंसादि पापों के हेतु कुबुद्धिरूप डाइन (डाकिनी) को डारता (त्यागता) है. कुवासनादियुक्त मन वाक्‌रूप कुत्ते को संयम नियमादि डोरै (डोरी) से बाँधे रहता है, फिर अहंकार कालादिरूप सिंह को

योग ध्यान भक्ति आदिरूप बन में घेरे रहता है। अथवा अहङ्कारादि सिंह स्वयं योग वन के घेरे (यम नियमादि) में रहने लगते हैं। फिर बाह्य अहङ्कार नष्ट हो जाता है, और "अहं ब्रह्मास्मि" इत्यादि चिन्तन उत्पन्न होता है। इस प्रकार से दुर्बुद्धि मन अहङ्कार के हरि भावना से वश निवृत्त होने पर पाँच ज्ञानेन्द्रिय रूप कुटुम्ब स्वयं परस्पर मिलकर युद्ध करने लगते हैं (परस्पर की सहायता से स्वयं विषयों से विमुख होते हैं) मानो यादव के समान स्वयं लड़कर मरते हैं, अतः विवेकी भी उन सब मिले हुए के साथ मिलकर एक बार युद्ध करता है, और अनायास ही उनको वश में करता है। फिर उनके पराजय से उत्सव के घनेरे (अनेक) अनहद बाजे स्वयं बजते हैं, लोक में सुयश के गानादि होते हैं।

रोवै मृगा शशा बन हाँकै, बाण पारथिहिं मेलै।
सायर जरै सकल बन डाहै, मच्छ अहेरा खेलै॥

कामाद्याः संशयाद्याश्च शान्तिसस्यविनाशकाः।
ते रुदन्ति मृगा यस्मात्तान् स्वहृत्कुहराद्धि ते ॥२९॥
द्रावयित्वाऽत्र संसारे दहन्ति ज्ञानबाणतः।
स्वशान्ते रक्षका भूत्वा मेलयन्ति सुसायकान् ॥३०॥
विचारयोगसंयुक्तान् यैश्चायं भववारिधिः।
शुष्यत्येव समूलं वै दह्यते भुवनं वनम् ॥३१॥
प्रमाता च प्रमाणादि किञ्चिन्नैवावशिष्यते।
मायामोहादिमत्स्यस्य मृगयां कुर्वते हि ते ॥३२॥
मनोरथा विलीयन्ते दह्यन्ते कालवागुराः।
ये पूर्वं मत्स्यतुल्यास्ते बाधन्ते ह्यखिलं जगत् ॥३३॥
"शास्त्रसत्सङ्गमाभ्यासात्सविवेको जितेन्द्रियः।
अत्यन्ताऽभावमेतस्य दृश्यस्याप्यवगच्छति" ॥३४॥

उक्त अवस्था की प्राप्ति होने पर मनोमय काम संशयादिरूप मृग रोते हैं, (इनका कुछ वश नहीं चलता है) क्योंकि वह पारथि (स्वशान्ति विज्ञानादि का रक्षक) जीव इन्हें स्वस्वरूप और हृदयादि से भव बन मे हाँकता (भगाता) है, इन्हें संसार का हेतु और संसाररूप समझता है। फिर इनके ऊपर ज्ञान बाण का प्रहार करता है, आत्मसत्ता से सत्त्व, अन्यथा इनमें असत्त्व समझता है, कि जिस ज्ञानाग्नि से सायर (संसार समुद्र) भी जल जाता है। और लोक भुवन कर्मादिरूप सब बन दग्ध (बाधित = मिथ्या निश्चित) हो जाते हैं। फिर शुष्क समुद्र की मछली तुल्य ममता माया का अहेर (शिकार) ज्ञानी खेलता

है (ममता को सर्वथा नष्ट करता है) अथवा जो जीव प्रथम मत्स्यतुल्य कामादि का लक्ष्य (शिकार) रहता है, सो अब इनका स्वयं अहेर खेलता है।

कहहिं कबीर सुनहु हो सन्तो, जो यह पद निरुआरै।
जो यह पद को गाय विचारै, आपु तरै औ तारै ॥१९॥

अपरोक्षात्मतत्त्वस्योपदेशात्मपदस्य च।
विवेकं कुरुते यो हि विचारं तनुते तथा ॥३५॥
प्रगाय चिन्तयन् सो वै ज्ञानी भूत्वा भवार्णवम्।
स्वयं तरति तद्वत्सज्जनान् तारयते सदा ॥३६॥
"स्वयं विचारिणं प्राज्ञं यथाभूतावलोकिनम्।
आसादयन्त्यपि स्फारा नाविद्याविभवा भृशम् ॥३७॥
इति मत्वा त्वया साधो! श्रवणादि विधीयताम्।
क्रियतां च सदा युद्धमिन्द्रियाणां गणेन हि ॥३८॥
"इन्द्रियग्रामसंग्रामसेतुना भवसागरः।
तीर्यते नेतरेणेह केनचिन्नाम कर्मणा" ॥३९॥१९॥

श्रीकबीर साहब कहते हैं कि हे सन्तो! सुनो, जो कोई इस अपरोक्ष आत्मपद (वस्तु) का निरुआर (देहादि कोशों से विवेक) करेगा, इस मेरे पद (शब्द) को गाकर विचारेगा, सो ज्ञान पाकर आप मुक्त होगा, और उपदेशादि द्वारा अन्य को भी मुक्त करेगा ॥१९॥

शब्द २०

सन्तो! घर महँ झगरा भारी।
रात दिवस मिलि उठि उठि लागे, पाँच ढोटा एक नारी ॥
न्यारो न्यारो भोजन चाहै, पाँचो अधिक सवादी।
कोइ काहु को हटा न मानै, आपुहि आपु मुरादी ॥

अस्मिन् देह गृहे साधो! विग्रहो विद्यते महान्।
सर्वदा कलहायन्ते पञ्चेन्द्रियकुदारकाः ॥४०॥
दुर्बुद्धि र्महिला तेषामीश्वरी सहकारिणी।
तेषां कर्मेन्द्रियाण्यत्र वशेतिष्ठन्ति सर्वदा ॥४१॥
दिवा रात्रौ सदा बाला युद्ध्यमानाः परस्परम्।
स्वं स्वं भोग्यं समीहन्ते जीवं सम्पीडयन्ति च ॥४२॥

भिन्नं भिन्नं प्रवाञ्छन्ति स्वं स्वं वै विषयं सदा ।
आधिक्य स्पृहयालूनि न तृप्यन्तीन्द्रियाणि तैः ॥४३॥
श्रेयोऽहमिति सर्वाणि मन्यन्ते चेन्द्रियाणि तु ।
किञ्चित्कस्यापि सद्वाक्यं न शृण्वन्ति कदाचन ॥४४॥
स्वप्रभुत्वस्य ढक्कां तु वादयन्तीन्द्रियाणि हि ।
दुर्मत्या सार्द्धमेतानि शृण्वन्ति न सुभाषितम् ॥४५॥

हे सन्तो ! इस देहरूप घर में भारी झगड़ा उक्त विवेकादि के बिना रहता है । क्योंकि पाँच ढोटा (लड़के) तुल्य ज्ञानेन्द्रिय और कुबुद्धिरूप एक नारी परस्पर मिलकर रात-दिन एक जीव से झगड़ने लगते हैं, झगड़ा इसलिये है कि ये पाँचों कुमति से न्यारा-न्यारा भोजन (विषय) चाहते हैं, और न्याय से प्राप्त भोजन (विषय) से तृप्त नहीं होते हैं । क्योंकि पाँचों अधिक स्वाद-परायण हैं । और कोई किसी का हटा (निवारण) को नहीं मानता है । किन्तु अपनी-अपनी स्वन्त्रता प्रभुत्व के मुरादी (ढोल) सब बजाते हैं, जिससे जीव पीड़ित होते हैं । "जिह्वैकतोऽमुमपकर्षति कर्हि तर्षा, शिश्नोऽन्यतस्त्वगुदरं श्रवणं कुतश्चित् । घ्राणोऽन्यतश्चपलदृक् क्वच कर्मशक्ति र्बह्व्यः सपत्न्य इव गेहपतिं लुनन्ति ॥ श्रीमद्भा० स्क० ११।६।२७" जैसे बहुत सपत्नियाँ एक गृहपति को कष्ट देतीं हैं, तैसे इस जीव को तृष्णायुक्त जिह्वा कभी एक तरफ खींचती है, तो लिङ्ग दूसरे तरफ खींचता है, इसी प्रकार त्वक्, उदर, श्रवण किसी तरफ खींचते हैं । घ्राण अन्यत्र खींचता है, चञ्चल नेत्र अन्यत्र खींचता है । तो कहीं कर्मशक्ति खींचती है, इत्यादि । "अथ ह प्राणा अहं श्रेयसि व्यूदिरेऽहं-श्रेयानस्म्यहं श्रेयानसस्मीति । छा० अ० ५। १ । ६" इत्यादि श्रुतियों में प्राणों (इन्द्रियों) के विवादादि का वर्णन द्रष्टव्य है ।

दुर्मति केर दोहागिनि मेटै, ढोटहिं चाप चपेरे ।
कहहिं कबीर सोइ जन मेरा, घर की रारि निवेरे ॥२०॥

दुर्मत्याः कुप्रभुत्वं यो नाशयेत् स्वप्रयत्नतः ।
इन्द्रियात्मकडिम्भांस्तु गृह्णीयादभिभूय तान् ॥४६॥
इत्थं कृत्वा गृहस्याऽस्य कलहं यो निवारयेत् ।
सद्गुरुः कथयत्येनं स्वजनं स्वप्रियं हितम् ॥४७॥
"सीमान्तं[१] सर्वदुःखानामापदां कोशमुत्तमम् ।
बीजं संसारवृक्षाणां प्रज्ञामान्द्यं दहेत्ततः ॥४८॥

१ योगवा. ५।१२।२७ ॥, मनुस्मृ. २।६३।, भ. गी. २।५८ ।

इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमृच्छत्यसंशयम् ।
सन्नियम्य तु तान्येव सम्यक् सिद्धिं नियच्छति ॥४९॥
यदा संहरते चायं कुर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता" ॥५०॥

बुधादत्र सम्यक् सुमार्गं विदित्वा, गृहीत्वा स्वकं रूपमध्यक्षमाद्यम् ।
भजस्वाशु तं चेन्द्रियादीन्नयस्व, वशं सद्गुरोः पादपद्मं भजस्व ॥५१॥२०॥

इति हनुमत्कृतायां शब्दसुधायां सद्गुरो ज्ञानप्राप्तीन्द्रियजयादिवर्णनं नाम सप्तमस्तरङ्गः ॥ ७ ॥

जो कोई दुर्बुद्धि के दोहागिनि (दोहाई प्रभुत्व-दुष्टता) को मेटे (नष्ट करे) और इन्द्रियों को चाप चपेरे (दमन करे = दण्ड दवाव से वश करे) इस प्रकार से जो घर के रार (झगड़े) को निवृत्त करे, श्रीकबीर साहब कहते हैं, कि सोई मेरा जन है (गुरु भक्त है) क्योंकि "इन्द्रियाण्येव तत्सर्वं यत्स्वर्गनरकावुभौ । निगृहीतविसृष्टानि स्वर्गाय नरकाय च ॥" ॥ २० ॥

अथ अधिकारपरीक्षा प्रकरण ८

शब्द २१

सन्तो ! बोले ते जग मारै ।
अनबोले ते कैसे बनि हैं, शब्दहि कोइ न विचारै ॥

यो न मेस्ति जनः साधो ! तस्मै तत्त्वं न कथ्यताम् ।
सत्तत्ववचने चायं वक्तारं ताडयेत् कुधीः ॥ १ ॥
"गुरुरात्मवतां शास्ता शास्ता राजा दुरात्मनाम् ।
अथ प्रच्छन्नपापानां शास्ता वैवस्वतो यमः ॥ २ ॥
अधर्मेण च यः प्राह यश्चाधर्मेण पृच्छति ।
तयोरन्यतरः प्रैति विद्वेषं वाऽधिगच्छति" ॥ ३ ॥
आदौ शमदमप्रायै नरं विज्ञो विशोधयेत् ।
ततस्तत्वं प्रभाषेत येनोक्तिः फलिता भवेत् ॥ ४ ॥
विद्वदुक्तिं विना नैव सिद्ध्यत्यत्र फलं शुभम् ।
अतोऽवश्यं हि वक्तव्यं यथायोग्यं जनान् प्रति ॥ ५ ॥
विज्ञोक्तिमन्तरा नैव कोपि शब्दविचारणाम् ।
कुरुते तां विना चायं विपरीतं हि मन्यते ॥ ६ ॥

"बोलना कासो बोलिय भाई। रमैनी ७०" इत्यादि के विवरणरूप से उपदेश है कि हे सन्तो! पूर्व वर्णित उपदेश को भी अनधिकारी के प्रति बोलने से, वह जगत् (संसारी) उपदेशक को ही मारता है, और अनबोले ते (बोले विना) जिज्ञासु अधिकारी का कार्य कैसे बनेगा। क्योंकि बोले विना शब्द को कोई विचार नहीं सकता है। अतः अधिकार को समझकर, विचारपूर्वक योग्यता के अनुसार उपदेश देना उचित और सफल होता है। इसलिये विचारपूर्वक अधिकारी के ही प्रति उक्तोपदेश बोलना चाहिये।

पहिले जन्म पुत्र के भयऊ, बाप जनमिया पाछे।
बाप पूत की एकै माया, ई अचरज को काछे॥

आदौ जातो जगत्पूत्र ईश्वरस्तत्र जायते।
पश्चादस्य पिता लोको विरुद्धमिति मन्यते॥ ७।
अजन्मानं न जानाति विचारेण विना ततः।
जनिमन्तं पतिं बुध्वा मुधा मोहेन मोदते॥ ८॥
मायामप्युभयस्याऽयमेकामेव तु पश्यति।
सत्त्वासत्त्वविभेदेन भेदं तत्र न पश्यति॥ ९॥
इत्थमेव हि चाश्चर्यं विचारादि विना जनः।
मन्यते कश्च विज्ञस्तं बोद्धुं स्वीकर्तुमर्हति॥१०॥
यद्वा पूर्वं जगत्पुत्रः पिता पश्चाद् बभूव ह।
अभिव्यक्तो विशेषश्च समर्थः सर्वशोधने॥११।
तयो माया हि नार्येका तयाऽऽश्चर्यमिदं तु सः।
करोति विविधं वेषं धृत्वा कस्तं च बुध्यते॥१२॥

सद्गुरु के उपदेश के बिना अधिकारी भी समझता है कि जीव जगतरूप पुत्र का पहिले (प्रथम) जन्म हुआ और ब्रह्मा विष्णु आदि देवरूप पिता ने पीछे जन्म लिया, (जन्म पाया) अजन्मा ईश्वर नहीं है। और बाप पूत (ईश्वर जीव) की माया एक है। परन्तु ई (यह) आश्चर्य की बात है, ऐसा होना असम्भव है। इस आश्चर्य को सद्गुरु सदुपदेशादि के बिना कौन काछ (समझकर धर) सकता है या काछ (पोछ हटा) सकता है। अर्थात् ईश्वर की माया व्यावहारिक सर्वसाधारण संसार का हेतु होती है। देव माया प्रातिभासिक स्वप्नतुल्य विभूति चमत्कार का हेतु होती है। देव अपने भक्तमात्र को अद्भुत स्वरूपादि देखा देते हैं। साधारण जीव की माया अविद्या अज्ञानादि स्वरूप होती है कि जिससे मोह-ममता आदि होते हैं। जीवेश्वर

का पारमार्थिक स्वरूप एक अजन्मा है, इत्यादि तत्त्व को सद्गुरु के उपदेशादि के बिना कोई नहीं समझता है, न हृदय में धारण करता है। अतः जिज्ञासुओं के प्रति उपदेश कर्तव्य है।

दुन्दुर राजा टीका बैठे, विषहर करै खवासी।
श्वान बापुरा धरनि ढाकनो, बिल्ली घर में दासी॥

विचारादि विना चाज्ञो जिज्ञासादिविवर्जितः।
अहङ्कारेण विज्ञस्य वेषं धृत्वाऽत्र तिष्ठति॥१३॥
दर्दुरेण समस्यास्य तुच्छस्य सर्पसन्निभः।
समर्थो मोहतो दासोऽभवत्सौख्यादिवाञ्छया॥१४॥
अहङ्कारप्लवस्यैष यद्वेन्द्रियगणः खलु।
विषयाऽऽहारिभृत्योऽभूद्यावत्स नहिं जीयते॥१५॥
मनो मनोवशे यश्च विद्यते श्वसमं हि तत्[1]।
अन्त धारयते सर्वान् दोषान् संछाद्य यत्नतः॥१६॥
आशादुर्बुद्धितृष्णाद्या दास्यो मार्जारिका गृहे।
धरन्ति बहुदोषांस्ता अनर्थाय न मुक्तये॥१७॥

वस्तुतः भक्तिरूप माता के ज्ञान-विरागरूप पुत्र प्रथम होते हैं। तब ईश्वर सद्गुरुरूप पिता आत्मा स्वरूप से पीछे जन्मते (प्रकट होते) हैं। परन्तु वैसी भक्ति भी ज्ञानी गुरु से मिलती है और लोक में सदुपदेशादि के बिना जिज्ञासा आदि से भी रहित दुन्दुर (द्वन्द्वयुक्त=दादुर या उन्दर चूहातुल्य तुच्छ मनुष्य) राजा (ज्ञानी) की टीका (तिलकादि वेष) लेकर बैठता है, और सदुपदेश रहित विषहर (विषधर) सर्पतुल्य समर्थ जिज्ञासु उसकी खवासी (सेवा) करता है। फिर इस कुसङ्ग से बावरे कुत्तेतुल्य उस सेवक का मन ढाकन में (हृदयरूप परदे में) विषय-वासनादि को धारण करता है। तब आशा तृष्णादि रूप बिल्ली उसके देहरूप घर में दासी बनकर बैठती है। अर्थात् वासनादियुक्त मन से आशा-तृष्णादिपूर्वक उक्त राजा (गुरु) की सेवा भक्त शिष्य करता है।

काग दुकाग कारकुन आगे, बैल करै पटवारी।
कहहिं कबीर सुनहु हो सन्तो !, भैंसे न्याय निवारी॥२१॥

कामक्रोधादयो हिंसावाममार्गरता जनाः।
लघुकाका महाकाका जाताः कार्यस्य साधकाः॥१८॥

---

१ मन आदि वस्तु।

अविवेक्यथवा मोहो लेखकोऽभूदयं सदा।
क्रोधनो महिषो न्यायकर्ता लोकैरमन्यत ॥१९॥
विचारेण विना नित्यमुपदेशं विना सताम्।
इदं जातं महाश्चर्यं साधो! श्रुत्वाऽवधार्यताम् ॥२०॥
इत्थं हि सद्गुरु वाक्यं कबीरो हितसिद्धये।
उवाच तेन भोः साधो! विचारं कुरु कारय ॥२१॥
"मनागपि विचारेण चेतसः स्वस्य निग्रहः।
मनागपि कृतो येन तेनाप्तं जन्मनः फलम् ॥२२॥
विचारकणिका यैषा हृदि स्फुरति पेलवा।
एषैवाभ्यासयोगेन प्रयाति शतशाखताम्" ॥२३॥२१॥

फिर काग दुगाक (छोटे बड़े कौवे) तुल्य हिंसक वाममार्गी आदि उस राजा के आगे (अग्रगामी) मुख्य कार्यकर्ता कारकुन होते हैं, और हुए। और बैलतुल्य जड़ अविवेकी पटवारी (आय-व्यय आदि के लेखक) हुए, और होते हैं। और भैंसेतुल्य तामसी क्रोधी न्याय (धर्मादि मर्यादा नीति) का निवारण (निरुआर = निर्णय विचारादि) करते-कराते हैं। सदुपदेश विचारादि के बिना यह दुर्दशा होती है। अतः विचारादिपूर्वक धर्म भक्ति ज्ञान के अधिकारियों के प्रति उपदेश देना दिलाना चाहिये या भैंसे न्यायका निवारण (नाश) करते हैं। अतः श्रवणादि द्वारा भैंसे को न्यायसे निवारण करो, इत्यादि ॥२१॥

शब्द २२

सन्तो देखत जग बौराना।

साँच कहौं तो मारन धावै, झूठहि जग पतियाना ॥
नेमी देखा धर्मी देखा, प्रात करहिं असनाना।
आतम मारि पषाणहिं पूजै, इन महँ कछू न ज्ञाना ॥

विचारेण विना साधो! मोहमद्यस्य पानतः।
उन्मत्तं दृश्यते सर्वं जगत् पश्यतु तद् भवान् ॥२४॥
अहिंसादेः सुधर्मस्य सत्यस्योक्तावतो जनाः।
ताडनायैव धावन्ति वितथे विश्वसन्ति च ॥२५॥
दृष्टा नियमवन्तोऽपि ये धर्मध्वजिनो नराः।
प्रातरुत्थाय ते स्नान्ति मन्यन्तेऽतिशुभं ततः ॥२६॥

तथापि मोहतो हत्वा सात्मकं सुकलेवरम् ।
पूजयन्ति शिलामूर्तिं ज्ञानं तेषु न किञ्चन ॥२७॥

बोलने से संसारी मारता है, इस बात को सुनकर जिज्ञासा हुई कि हित सत्य बात को सुनकर क्यों मारता है, तब कहते हैं कि हे सन्तो ! देखो (समझो) कि यह जगत् (संसारी) बौराया है (हिताहित के ज्ञान से रहित है)। अतः सत्य हित की बात कही जाय तो मारने दौड़ता है। और झूठ अहित ही बात में विश्वास (श्रद्धा) करता है। ऐसे विपरीत ज्ञानवाले नेमी (शौचादि के नियम वालों) को देखा, और धर्मी (धर्म के अभिमानी) को देखा तो वे लोग प्रातः-काल में नियम से स्नान करते हैं। परन्तु उसके बाद सचेत आत्मा (जीव) को मारकर, निर्जीव पाषाण की मूर्तियों की पूजा करते हैं। इससे समझा जाता है कि इनमें कुछ भी नियम, धर्माधर्मादि का ज्ञान नहीं है, ये पागल हैं। क्योंकि शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर प्रणिधान (ईश्वर में सर्व स्वकर्मार्पण) आदिरूप नियम, अहिंसा सत्यादि धर्मवाले ऐसा कभी नहीं कर सकते हैं। अतः ये लोग बौराये रहने के कारण ढोंग दम्भमात्र करते हैं, नियम धर्म नहीं।

बहुतक देखा पीर औलिया, पढ़हिं कितेब कुराना।
कै मुरीद तदबीर बतावैं, इन महँ ऊहे ज्ञाना ॥
आसन मारि डिम्भ धरि बैठे, मन महँ बहुत गुमाना।
पीतर पाथर पूजन लागे, तीरथ गर्व भुलाना ॥

गुरवो यवनानां ये दृष्टा ये साधवो मताः ।
अध्येतारः कुराणस्य ग्रन्थानां सम्यगेव च ॥२८॥
शिष्यान् विधाय ते तादृगुपायान् दर्शयन्ति वै ।
यतस्तेषामपि ज्ञानं विरुद्धं प्रतिभाति हि ॥२९॥
विधाय विविधां हिंसां कारयन्ति विगर्हितम् ।
जडासक्ताश्च दृश्यन्ते ह्येतेऽपि कुविचारिणः ॥३०।
विधाय त्वासनं मूढा दम्भं धृत्वा सदासते ।
वर्तते च महागर्वो हृदि तेषां सदैव हि ॥३१॥
रीतिपाषाणयो मूर्तेः पूजायां ये रता नराः ।
तीर्थाटनादिगर्वेण भ्रान्ता भ्राम्यन्ति ते सदा ॥३२॥

बहुत पीर (गुरु) और औलिया (विरक्त साधुओं) को देखा कि वे लोग किताब कुरान को पढ़ते हैं, और मुरीद (शिष्य) कै (करके) तदबीर (मुल्लादि

के उपाय साधन) बताते हैं। परन्तु इन लोगों में भी ऊहे (पूर्वोक्त ही) मिथ्या ज्ञान रहता है। अतः शौचादि नियम को और अहिंसादि धर्म को ये लोग भी नहीं जानते हैं। कोई आसन मारि (लगा) कर, और डिम्भ (दम्भ) का धारण करके (मिथ्या ध्यान धरके) बैठते हैं, और मन में वेष ध्यानादि का बहुत गुमान (अभिमान) रखते हैं। परन्तु सत्य धर्म आत्मादि के ज्ञान के बिना पीतल पत्थरादि को पूजा में लगे रहते हैं, और तीर्थाटन के गर्व में भी अहिंसा सत्य भाषण आत्म-विचार सत्य शौचादि को भूले रहते हैं।

माला पेन्हे टोपी पेन्हे, छाप तिलक अनुमाना।
साखी शब्दे गावत भूले, आतम खबर न जाना॥
हिन्दु कहे मोहि राम पियारा, तुरुक कहे रहिमाना।
आपुस में दोउ लरि लरि मूये, मर्म काहु नहिं जाना॥

केचिन्मालां तथोष्णीषं टोपिकेति सुनामकम्।
अर्पयन्ति गले मूर्ध्नि मुद्रां कुर्वन्ति चित्रकम् ॥३३॥
कृत्वा सर्वं विकल्प्यैवं मनसा बहुधा तथा।
प्रमाणायात्र गायन्ति शब्दांश्च साक्षिणं मुधा ॥३४॥
गायन्तो नैव जानन्ति सर्वात्मानमजं हरिम्।
जातं जातं प्रपश्यन्ति भ्राम्यन्ति तेन तेन च ॥३५॥
भ्रमेणैव पृथङ् मत्वा स्वात्मानमीश्वरं तथा।
वदन्त्यार्याः प्रियं रामं यवना रहिमाणकम्।
मिथो युध्वा म्रियन्ते न रहस्यं केपि मन्वते ॥३६॥

ज्ञान के बिना माला आदि से ही कल्याण मानकर, माला टोपी पेन्हते हैं, तथा धर्मादि के अनुमान (कल्पना) करके शंखादि के छाप लेते हैं, तिलक करते हैं, और उस अर्थ में साखी शब्द (प्रमाणरूप शब्द) को गाते में सत्यात्मा को भूले रहते हैं (उसके विचारादि नहीं कर पाते हैं)। किन्तु शब्द में ही भूले (मग्न) रहते हैं। अतः आत्मा की खबर (उपदेश विचारादि) को नहीं जानते हैं। सत्य एक सर्वात्मा को नहीं समझते हैं। खबर के ज्ञान के बिना राम रहिमान नामवाले को भिन्न मानता हुआ हिन्दू कहता है कि मुझे राम प्यारा है, और तुरुक कहता है कि मुझे रहिमान (दयालु) खुदा प्यारा है, और इस प्रकार के नामवाले को भिन्न-भिन्न मानकर, तथा उनकी मन्दिर मसजीद में स्थिति आदि को मानकर, मन्दिरादि के लिये दोनों आपस में लड़-लड़कर मरते हैं, और राम खुदा एक हैं, इत्यादि मर्म (रहस्य) को इन्होंने नहीं जाना है।

घर घर मन्त्र जो देत फिरत हैं, महिमा के अभिमाना।
गुरु सहित शिष्य सब बूड़े, अन्तकाल पछताना ॥
कहहिं कबीर सुनहु हो सन्तो, ई सब भरम भुलाना।
केतिहु हटो हटा नहिं मानै, सहजे सहज समाना ॥२२॥

रहस्यस्याऽपरिज्ञाने येभ्यो ये हि कुबुद्धयः।
स्वमहत्वाऽभिमानेन मन्त्रान् ददति वेश्मसु ॥३७॥
गत्वा गत्वा न सत्तत्त्वं किञ्चिदुपदिशन्ति चेत्।
गुरुभिस्तैर्हि शिष्यास्ते निमज्जन्ति भवार्णवे ॥३८॥
अन्तकाले च दूयन्ते लभन्ते विश्रमं नहि।
पश्चात्तापहताः क्वापि यान्ति कर्मानुसारतः ॥३९॥
भाषते सद्गुरुः साधो ! सादरं श्रूयतां त्वया।
भ्रान्ताश्चैते न मन्यते सत्यं यद्वचनं हितम् ॥४०॥
भ्रमाद्विस्मृत्य सत्तत्त्वं ते हि यान्ति कुवर्त्मसु।
स्वभावेनैव सिद्धेषु हिंसादम्भादिकर्मसु ॥४१॥
निरोधं वारणं तेभ्यो नैव शृण्वन्ति चेत्तदा।
कियद् वै वारयामोऽत्र गच्छन्तु ते यथासुखम् ॥४२॥
अग्निहोत्राणि वेदाद्या दृश्यन्ते राक्षसेष्वपि।
दया शौचमहिंसा च सत्यं तेभ्यो निवर्तते ॥४३॥
अहिंसासत्यसन्तोषक्षमाऽलोभशमैर्विना।
गच्छन्तोऽपि न संयान्ति संसाराब्धेः परं जनाः ॥४४॥
गुरूणां वचस्त्वं च सम्यक् कुरुष्व, विचारं विना नैव किञ्चिद् भजस्व।
व्रज त्वं न कुत्रापि मूढप्रसङ्गे, नयस्वाऽत्र पूते परे मानसं स्वम् ॥४५॥२२॥

इति हनुमत्कृतायां शब्दसुधायामधिकार्यादिचिन्तावर्णनं नामाष्टमस्तरङ्गः ८

उक्त मर्म को जाने बिना जो घर-घर में मन्त्र देते फिरते हैं, गुरुत्व निमित्तक महिमा (महत्त्व) के जिनको अभिमान रहता है, ऐसे गुरु सहित ज्ञानादि रहित सब शिष्य राग-द्वेषादि करके संसार समुद्र नरकादि में बूड़े (डूबे) और डूबते हैं, और अन्तकाल में पश्चात्ताप करते हैं। श्रीकबीर साहब कहते हैं कि हे सन्तो ! सुनो, ये सब भ्रम (मिथ्या) संसार वन में सत्य सुखदादि बुद्धि से भूले हैं, इसी में भटकते हैं, इन्हें केतिक (कितना) कुमार्ग से हटो (हटाया)

जाय, ये हटा (हटाना) निवारण को नहीं मानते हैं। किन्तु सहज स्वभाव (अविद्या कामादि) से सिद्ध हिंसादि व्यवहार में सहज स्वभाव से समाते (जाते प्रवृत्त होते) हैं, विवेक से नहीं ॥ २२ ॥

अथ ज्ञान के बिना मतभेदहिंसादि प्र० ९

शब्द २३

सन्तो राह दुनों हम दीठा ।
हिन्दू तुरुक हटा नहिं मानै, स्वाद सबन को मीठा ॥
हिन्दू व्रत एकादशि साधै, दूध सिंघाड़ा सेती ।
अन्न को त्यागे मन नहिं हटके, पारन करै सगौती ॥
तुरुक रोजा निमाज गुजारै, बिसमिल बाँग पुकारै ।
इनको भिस्त कैसक होइ हैं, साँझहिं मुरगी मारै ॥

साधो ! मयाऽत्र दृष्टौ हि मार्गौ द्वावपि कल्पितौ ।
आर्याणां यवनानां च तौ भवानपि पश्यतु ॥ १ ॥
कुमार्गेषु गता ह्येते सन्निरोधं न मन्वते ।
उलङ्घ्यैव सुमर्यादां कामाचाराद् व्रजन्ति हि ॥ २ ॥
सर्वेषां विषयाऽऽस्वादः प्रियो धर्मो न सद्गतिः ।
पश्यन्तोऽतो न पश्यन्ति शृण्वन्ति न सुभाषितम् ॥ ३ ॥
एकादशीव्रतं ह्यार्या दुग्धमूलफलैः शुभैः ।
कुर्वन्ति व्रतयन्त्यन्नं मांसेन यन्ति पारणाम् ॥ ४ ॥
रोजाव्रतं निमाजाख्यं पाठं च कुर्वते तथा ।
तुरुष्का विसमिल्लाहं वाचाऽऽकुर्वन्ति सर्वदा ॥ ५ ॥
तथाप्येषां कथं स्वर्गः सद्गति र्वा कथं भवेत् ।
दिवैतावद् व्रतं कृत्वा सायं घ्नन्ति तु कुक्कुटीम् ॥ ६ ॥

हे सन्तो ! भ्रम में भूले हुए हिन्दू और तुरुक दोनों के राहों (मार्गों) को हमने दीठा (देखा) है, तहाँ उन कुमार्गों हिंसादिकों से हटा (निवारण) को हिन्दू, तुरुक दोनों नहीं मानते हैं। क्योंकि इन सबको मांसादि के स्वाद मीठा (मधुर प्रिय) प्रतीत होते हैं। धर्म स्वर्ग मोक्ष इनको प्रिय नहीं हैं। अतः जो कोई अज्ञ हिन्दू दूध सिंघाड़ा आदि फलाहार करके एका-

दशी व्रत को साधते (सिद्ध करते) हैं। सो एकादशी तिथि में अन्न को त्यागते हैं, परन्तु मन आदि इन्द्रियों को सदा कुभक्ष्य अभक्ष्य से नहीं हटकते (हटाते) हैं। अतः द्वादशी के आने पर सगौती (मांसादि) से पारण (पारणा व्रत पूर्ति) करते हैं। इसी प्रकार अज्ञ तुरुक रोजा (उपवास) व्रत दिन भर करके निमाज गुजारते (पढते) हैं और बिसमिल्ला ऐसा बांग (वचन) पुकारते हैं। परन्तु इन को भिस्त (स्वर्ग मोक्ष) कैसे हो सकता है, यद्यपि ये स्वर्गादि के लिये रोजा आदि करते हैं, परन्तु इनको स्वर्गादि किसी प्रकार से नहीं हो सकता है, क्योंकि दिन में उपवास करके पवित्र सन्ध्या काल में मुरगी को मारते हैं, ध्यानादि नहीं करते हैं।

हिन्दु कि दया मेहर तुरुकन की, दूनों घट सो त्यागी।
वै हलाल वै झटका मारै, आग दुनो घर लागी॥
हिन्दू तुरुक को एक राह है, सतगुरु इहे बताई।
कहहिं कबीर सुनहु हो सन्तो, राम न कहहु खुदाई॥२३॥

आर्याणां हि दया धर्मस्तुरुष्काणां स मेहरः।
उभयैः स्वशरीरेभ्यस्त्यक्तो धर्मः स उत्तमः॥ ७॥
यवनाः शनकै घ्नन्ति द्रुतमेतैश्च हन्यते।
तथा च पापतापाग्निरुभयत्र प्रवर्तते॥ ८॥
आर्याणां यवनानां च मार्ग एको हि विद्यते।
स्वर्गमोक्षप्रसिद्ध्यर्थो दयाऽहिंसादिलक्षणः॥ ९॥
सद्गुरुभिस्त्वयं मार्गः सम्यक् साधो! प्रदर्शितः।
श्रूयतां सावधानेन भवांस्तत्रैव गच्छतु॥१०॥
दयाधर्मोऽस्ति चेच्चित्ते त्वहिंसा सर्वजन्तुषु।
सर्वभूतप्रियश्चेत्त्वं सर्वत्र समदर्शनः॥११॥
सर्वत्र रामबुद्धिश्चेन्मा रामं वद मान्यकम्।
वर्तते सर्वथा श्रेयः प्रेयश्च तव सर्वतः॥१२॥
"सर्वभूतदयावन्तो विश्वास्याः सर्वजन्तुषु।
त्यक्तहिंसासमाचारास्ते नराः स्वर्गगामिनः॥१३॥
वीतरागा विमुच्यन्ते पुरुषाः कर्मबन्धनैः।
मनसा कर्मणा वाचा ये न हिंसन्ति किञ्चन"॥१४॥

यद्वा मोहवतामेषां मार्गो ह्येकोऽस्ति कल्पितः।
नाममात्रेण भिन्नोऽपि दया नास्त्येव कुत्रचित् ॥१५॥
इत्थं सद्गुरुभिः साधो! तेषां तत्त्वं प्रदर्शितम्।
तस्मान्नैवात्र तत्पक्षे रामो वाऽन्योऽभिधीयताम् ॥१६॥२३॥

जो हिन्दू के मत में दया कही जाती है, वही तुरुक मत में मेहर कही जाती है। उस दया मेहर को सगौती से पारना करने वाले और सन्ध्या को मुरगी मारने वाले दोनों ने अपने अपने घट (हृदय) से त्याग दिया। अतः वह तुरुक हलाल करता है (धीरे से गला काटता है) और वह हिन्दू झटका से शीघ्रमारता है, परन्तु इन दोनों के घर (घट) में पाप ताप रूप अग्नि लगती है, वस्तुतः हिन्दू तुरुक दोनों के दया रूप एक ही सुन्दर मार्ग हैं और सद्गुरुओं ने इस दया अहिंसा को ही धर्मरूप बताया (समझाया) है। अतः श्रीकबीर साहब कहते हैं कि हे सन्तो! इस दया का श्रवण विचार धारण करो। फिर चाहे राम कहो या खुदा न कहो, अर्थात् जैसे एक दया का मतभेद से भिन्न नाम धरे गये हैं। तैसे ही एक सत्यात्मा राम के भिन्न नाम धरे गये हैं, वस्तु में भेद नहीं है, भेद को मिटा कर राग द्वेषादि को मिटाना सच्ची साधुता है। अतः यदि साधुता हो, तो राम खुदा कुछ नहीं कहो तो भी कल्याण है, अन्यथा नहीं ॥२३॥

शब्द २४

भूला वे अहमक नादाना, तुम हरदम रामहिं ना जाना ॥
बरबस आनि जु गाय पछारिन, गला काटि जिव आप लिया।
जियत जीव मुरदार करत हैं, ताको कहत हलाल किया ॥

अये शठास्तथा मूर्खाः क्रूराः पण्डितमानिनः।
भ्रान्ता यूयं न रामं यत् सर्वभूतेषु पश्यथ ॥१७॥
सर्वात्मानं न रामं यदजस्रं मन्वते खलु।
भवन्तस्तेन कुर्वन्ति पापं परमगर्हितम् ॥१८॥
हठेनानीय शुद्धां गां निपात्य च बलाद् भुवि।
गलं छित्त्वा हि तत्प्राणान् भवन्तो नाशयन्ति हि ॥१९॥
अहो तं जीवतो देहं कृत्वा कुणपकच्चरम्[1]।
मेध्यं कृतं भवन्तस्तं भाषन्ते मतिविभ्रमात् ॥२०॥

---

१ कुणप=शव=मुर्दा, कच्चर मलिन=अपवित्र।

उक्त दया श्रवणादि रहित वे अहमक (रे शठ मूर्ख) और नादान (अज्ञ=बदहोश) तुम सन्मार्ग सद्धर्म को भूले हो, अतः तुम ने हरदम (सदा सब प्राणी के आत्म स्वरूप) राम को नहीं जाना है और सर्वात्मा राम के सदा नहीं जानने से ही अज्ञों ने बरवस (बल से जबरन्) गाय को ले आन कर, उसके जीव (प्राण) को आप लिया (नष्ट किया) इस प्रकार से जियत (जीवित) जीव (प्राणी=देह) को जो स्वयं मुरदार (मुरदा) करता है, सो मूर्खता नादानता से कहता है कि मैंने ताको (उसको) हलाल (पवित्र) किया है, सो भूल (अज्ञान) है।

जाहि मांस को पाक कहत हौ, ताकी उतपति सुन भाई।
रज बीरज से मांस उपानी, मांस नपाकी तुम खाई॥
अपनी देखि कहत नहिं अहमक, कहत हमारे बड़न किया।
उसकी खून तुम्हारी गरदन, जिन तुमको उपदेश दिया॥

कथयन्ति भवन्तो यन्मांसं मेध्यं भ्रमात् खलु।
तस्योत्पत्ति यथा लोके स प्रकारो निशम्यताम्॥२१॥
रजोरेतः समायोगान्मांसं सर्वत्र जायते।
अतो नास्त्येव तत्पूतं यूयमत्थ च कुत्सिताः॥२२॥
आत्मना दृश्यमानं यन्मलिनं तद् वदन्ति न।
शठाः किन्तु वदन्त्येवमस्माकं पूर्वजैः कृतम्॥२३॥
प्राणिघातजदोषाश्च पतिष्यन्ति गलेषु वै।
युष्माकमुपदेशेन येषां च क्रियते तथा॥२४॥
"प्रवर्तको भवेत् पापे जन्तु र्नारी नरोऽपि वा।
तस्य स्यादधिकं दुखमुभयोरागतः समम्"॥२५॥

हे भाई! जिस मांस को पवित्र कहते हो, उसकी उत्पत्ति को सुनो और समझो कि रजो वीर्य से शरीर की उत्पत्ति द्वारा मांस की (उपानी) उत्पत्ति होती है, अतः रजो वीर्य के समान वह मांस पाक नहीं हो सकता है। तो भी रे नपाकी (अपवित्रात्मा) तुम उसको खाते हो, अपवित्रात्मा होने से ही उस को अपवित्र नहीं समझ पाते हो। सत्सङ्ग विचार भक्ति आदि से मन को अब भी पवित्र करो और समझो। क्योंकि समझने के बिना अहमक (नादान मूर्ख) लोग अपनी देखी हुई अपवित्रता हिंसा की बात को नहीं कहते हैं, किन्तु कहते हैं कि हिंसा मांसाहार हमारे बड़े पिता पितामह गुरु आदिकों ने

किया है, अतः यह हमारा भी कर्तव्य है, मांस पवित्र है इत्यादि, तहां श्री कबीर साहब कहते हैं कि उस प्राणी की खून (हिंसा) तेरे गरदन (गले) पर और जिन्होंने तुमको हिंसा के लिये उपदेश दिया है, उनके गले पर सवार होगी, तुम गुरु शिष्य दोनों को बदला देना होगा, अतः हिंसा मांसाहार को त्यागो। यद्यपि मनुस्मृति में, अनुमन्ता आदि आठ को हिंसा के भागी कहा गया है, तथापि यहाँ प्रधानता की दृष्टि से दो को कहा गया है।

गई सियाही आई सफेदी, दिल सफेद अजहूँ न हुआ।
रोजा निवाज बंग का कीजै, हुजरे भीतर पैठि मुआ॥
पण्डित वेद पुराण पढ़त है, मोलना पढ़ै कोराना।
कहहिं कबीर दोउ नरक परे, जिन हरदम राम न जाना॥२४॥

अहो केशस्य कृष्णत्वं गतं पलितमागतम्।
तथापि हृदयं नैव मृष्टं युष्माकमञ्जसा॥२६॥
निर्णीक्तं हृदयं चेन्न निमाजादिकवाङ्मयैः।
रोजातः किं फलं व्यर्थं म्रियन्ते हुजरागृहे॥२७॥
वेदान् पुराणसङ्घांश्च पठन्ति पण्डिता हि ये।
कुराणं च पठन्त्यन्ये ये मुल्लानेतिनामकाः॥२८॥
तेऽपि यावन्न सर्वत्र रामं पश्यन्ति सर्वदा।
हृदिस्थं सर्वभूतानां[1] वीध्रं विग्रहवर्जितम्॥२९॥
पतन्ति नरके तावत्ते सर्वे कुविचारिणः।
सद्गुरुः परमं प्राह वेदसिद्धान्तमुत्तमम्॥३०॥२४॥

सियाही (स्याही = बालों की कालिमा) गई, श्वेतता आई। परन्तु अजहूँ (अब इस बृद्धावस्था में भी) यदि दिल (मन) सफेद (साफ=शुद्ध) हिंसा आदि से रहित नहीं हुआ, तो रोजा व्रत से, निमाज के पढने से और बाँग देने से क्या किया जा सकता है और हुजरा (मसजीद की एकान्त कोठरी) के भीतर पैठ कर भी हिंसक व्यर्थ मुआ और मरता है, दया दिल की शुद्धि के बिना इन सब कर्मों से कोई शुभ फल नहीं होता है। क्योंकि जो पण्डित वेद पुराणादि पढते हैं और जो मोलना कोरान पढते हैं। परन्तु हरदम यदि उन्होंने रामको नहीं जाना है, तो वे दोनों भी हिंसा क्रूरता करके नरके में पड़े और पड़ते हैं फिर अन्य की कथा ही क्या कही जाय॥ २४॥

---

१ वीध्रम्-विमलात्मकम्।

शब्द २५

काजी तुम कौन कितेब बखानी।
झंखत बकत रहु निशिवासर, मति एको नहिं जानी॥

प्रसिद्धा ये तुरुष्केषु काजीनाम्ना हि पण्डिताः।
यूयं पठथ कान् ग्रन्थान् व्याख्या केषां वितायते॥३१॥
पठितव्यं न तच्छास्त्रं येन शान्ति र्भवेन्नहि।
न द्रोहाद्विरति र्नापि दया वा न यतो मतिः॥३२॥
शोचन्तः कथयन्तश्च भवन्तो निशि वासरे।
दृश्यन्ते न कदाचिच्च सन्मतिः कापि दृश्यते॥३३॥
भवन्तो नैव मत्या सत्तत्त्वं किमपि भावुकम्[1]।
प्रपश्यन्ति ततो दीनास्तिष्ठन्ति मोहसंयुताः॥३४॥
मोहयुक्तै र्न दातव्यं कस्मैचिदुपदेशनम्।
अन्यथा ह्युभयोर्हानि र्महती जायते ध्रुवम्॥३५॥

हे काजी (पण्डित)! तुम कौन (किस) किताब का बखान (व्याख्यान = कथन) करते हो, कि जिसके व्याख्यान करने पर भी निशिवासर (रात-दिन) सदा झंखते (शोक चिन्ता करते) रहते हो, और सदा व्यर्थ बकते = कुछ कहते रहते हो। और एको मति (भावी हित की बुद्धि) तुमने नहीं जानी (नहीं पाई) तो उस किताब के व्याख्यान से तुमको क्या मिला। अर्थात् अहिंसा दया यदि पढ़ने-पढ़ाने से दिल में नहीं आई, मांस की अपवित्रता नहीं समझ पड़ी तो ग्रन्थ का व्याख्यान निष्फल है।

शक्ति तु माने सुनत करत हौ, मैं न बदोगा भाई।
जो खुदाय तब सुन्नत कर्ता, आपुहि काटि न आई॥
सुनत कराय तुरुक जो कहिये, औरत को का कहिये।
अर्द्ध शरिरी नारि बखानै, ताते हिन्दू रहिये॥

असामर्थ्यं परिज्ञाय बालेष्वज्ञजनेषु च।
सुन्नतं यद्धि कुर्वन्ति ह्यो नाहं स्वीकरोमि तत्॥३६॥
यदि चास्येश्वरः कर्ता भवद्भिः परिकल्प्यते।
किं न स स्वयमागत्य संछिनत्ति ह्युपस्थकम्॥३७॥

---

१ भावुकम् = भव्यम् = शुभम्।

अथवा किं न गर्भस्थश्छिन्नोपस्थोऽभवज्जनः ।
ईशकार्ये कथं यूयं सहायाः परिकल्पिताः ॥३८॥
किञ्चैतस्मिन् कृते चेत्स्यात्सुन्नताख्ये हि कर्मणि ।
तुरुष्कत्वं तदा नार्यः कथ्यन्ते कै हि नामकैः ॥३९॥
अर्द्धाङ्गो देहिनो नारी कथ्यते शास्त्रवित्तमैः ।
अर्द्धार्यत्वयुता यूयं तिष्ठत ह्यार्यजातयः ॥४०॥

शक्ति का अनुमान (कल्पना) करके अज्ञ बालक की सुन्नति करते हो, हे भाई ! मैं इसको नहीं बदोंगा (नहीं मानूँगा) न मैं तुम्हें कुछ बदता(समझता) हूँ । और यदि तेरा खुदा सुन्नत कर्ता है, तो स्वयं गर्भ से ही लिङ्ग कटा हुआ क्यों नहीं आया, या वह खुदा आपही सतम आसमान से आकर क्यों नहीं काटता है, अपने कार्य में तुम्हें वह क्यों सामिल करता है । और यदि सुन्नत कराने से तुरुक कहा जाता हो, तो औरतों (स्त्रियों) को क्या कहना चाहिये, और गृहस्थ शरीरधारी का नारी (स्त्री) अर्द्धाङ्ग कही जाती है । और सुन्नत के अभाव से वह हिन्दू ही रहती है । अतः तुम भी हिन्दू ही रहो ।

घालि जनेऊ ब्राह्मण होना, मेहरि क्या पहिराया ।
वे जन्म की शूद्री परोसै, तुम पाँड़े क्यों खाया ॥
हिन्दू तुरुक कहाँ ते आया, किन यह राह चलाया ।
दिल में खोजि देखु खोजा दे, भिस्त कहाँ किन पाया ॥

धारणाद्यज्ञसूत्रस्य यद्ययं ब्रह्मणो भवेत् ।
न स्त्रिया धार्यते विद्वंस्ततोऽत्र शूद्रता ध्रुवम् ॥४१॥

जन्मना शूद्ररूपा सा यज्ञसूत्रविवर्जिता ।
परिविष्टं तया चान्नं त्वं भुङ्क्षे पण्डितः कथम् ॥४२॥
आर्या ये यवनाश्चैव कुतो ह्यत्र समागताः ।
एषां मार्गाश्च कैश्चित्राः कल्पितास्तद्विचिन्त्यताम् ॥४३॥
मनस्येतद्विचार्यैवं सतां सङ्गे विमृग्यताम् ।
एभि मार्गैश्च के स्वर्गानाप्नुवन् कुत्र वा कदा ॥४४॥

इसी प्रकार यदि शम, दम, तप, शौचादि के बिना जनेऊ (यज्ञसूत्र) के गले में घालने (देने-पेन्हने) से ब्राह्मण होना हो, तो मेहरी (स्त्री) को क्या पहिराया जाता है कि जिससे वह ब्राह्मणी हो । अतः जनेऊ के बिना वह जन्म की शूद्री (शूद्रा) भोजन परोसती है, तो तुम पाँड़े (पण्डित ब्राह्मण) होकर भी

क्यों खाया और खाते हो। और समझो कि हिन्दू तुरुक कहाँ से आये हैं, (इनमें भेद कैसे हुआ है) और इनके भिन्न-भिन्न राह (मार्गों) को किन लोगों ने चलाया है इन अर्थों को सब अपने-अपने दिल (मन) में खोजो (विचारो) और स्वयं विचार से नहीं समझ पड़े, तो खोजा देकर देखो (सत्सङ्गादि द्वारा खोज ढूँढ़कर समझो) और समझो कि अज्ञान मन माया से मिथ्या कल्पित इन अनेक मार्गों से दया, अहिंसा, शम, दमादि के बिना कहाँ किन लोगों ने सुन्नत और जनेऊ से भिस्त (स्वर्ग) पाया। अर्थात् कहीं किसी ने नहीं पाया। अतः भिस्त के लिये दया, दान, अहिंसा, सत्य, शौचादि के सेवन-पूर्वक एक सत्यात्मा राम के भजन विचार करो।

छाडु पसार राम भजु बौरे, जोर करतु हैं भारी।
कबिरन ओट राम की पकरी, अन्त चले पछहारी ॥२५॥

विचिन्त्यैवं नरा मुग्धा ! विस्तारं त्यजताखिलम्।
कल्पितं तुच्छफलदं रामं भजत शान्तिदम् ॥४१॥
विष्णुभक्त्या ह्यहिंसाद्यै र्यवनानां गति र्भवेत्।
निवृत्त्या पापकर्मभ्यो ब्राह्मणो ज्ञानमाप्नुयात् ॥४२॥
सर्वस्यापि विमुक्त्यर्थं हठेनापि मयोच्यते।
रामस्य शरणे गत्वाऽऽत्मानमुद्धरतात्मना ॥४३॥
यो न गच्छति रामस्य शरणे मलिनो नरः।
स स्वपक्षं विहायान्ते यत्र कुत्रापि गच्छति ॥४४॥
यद्वा येऽपि कविश्रेष्ठा जन्तवो वा बहुश्रुताः।
विस्तारमपरित्यज्य रामस्य शरणं गताः।
ते स्वलक्ष्यात् परिभ्रष्टा ह्यगमन् सर्वयोनिषु ४५॥
विस्तारान् वै ततस्त्यक्त्वा रामस्य शरणं व्रजेत्।
आसक्तो न भवेत् क्वापि लिङ्गग्रामे ह्यनर्थके ॥४६॥
"लिङ्गे सत्यपि सर्वस्मिन् ज्ञानमेव हि कारणम्।
निर्मोक्षायेह भूतानां लिङ्गग्रामो निरर्थकः" ।४७॥२५॥

हे बौरे ! अब भी मन-माया के पसार (विस्तार) को छोड़ दो, और सर्वात्मा राम को सदा भजो (स्मरणादि करो) इसीसे स्वर्ग-मोक्ष, सुख-शान्ति की प्राप्ति हो सकती है, अन्यथा नहीं। अतः इसके लिये मैं भारी जोर करता हूँ कि पसार को त्यागकर राम को भजो। क्योंकि जिन लोगों ने पसार को त्यागकर राम की ओट (शरण) को नहीं पकड़ी, वे लोग अन्त में अपने पक्ष

(सहायक शक्ति बलादि) को हारकर (मनुष्यता को व्यर्थ नष्ट करके) चले और चलते हैं या जिन कबिरन (कवियों जीवों) ने विस्तार को त्यागे बिना तटस्थ राम की ओट पकड़ी वे लोग अन्त में निज पक्ष को गमा कर चले और चलते हैं ॥ २५ ॥

शब्द २६

भाइ रे दुइ जगदीश कहाँ ते आया, कहु कौने भरमाया ।
अल्लह राम करीमा केशव, हरि हजरत नाम धराया ॥
गहना एक कनक ते गहना, इनमें भाव न दूजा ।
कहन सुनन को दो करि थापे, इक निमाज इक पूजा ॥

कार्यं न करणं यस्य विद्यते न समोऽधिकः ।
सर्वभूतेषु गूढः स देव एकः सदीश्वरः ॥४८॥
भो भ्रातर्जगदीशौ द्वौ कुतः सिद्धौ तथागतौ ।
किमर्थौ भ्रामितः केन भवान् भिन्नौ हि मन्यते ॥४९॥
स एकोऽल्लाहनामा च रामनामा निगद्यते ।
करीमा केशवः सैव हरिर्हजरतस्तथा ॥५०॥
एकस्मिन् कनके कामं मण्डनं जायते बहु ।
वस्तुभेदो भवेन्नैव तथैवात्र विचिन्त्यताम् ॥५१॥
व्यवहारप्रसिद्ध्यर्थं हाटकादौ विभिन्नताम् ।
कल्पयन्ति यथा तद्वत्सर्वात्मजगदीश्वरे ॥५२॥
मिथ्याभेदेन कुर्वन्ति निमाजं केऽपि मानवाः ।
केचित् पूजां च कुर्वन्ति तत्त्वं जानन्ति केचन ॥५३॥

मति हीन लोग दो (अनेक) ईश्वर मानते हैं । अतः कहते हैं कि हे भाई ! दो ईश्वर कहाँ से आये (किस प्रमाण से दो जगदीश सिद्ध हुए) सब वेदादि तो "एको देवः सर्वभूतेषु गूढः । न तस्य कार्यं करणं च विद्यते ॥ श्वे० ६। ११।८" एक ईश्वर सब भूतों में छिपा है, उसके कार्य (शरीर) करण(इन्द्रयादि) नहीं हैं, न उसके तुल्य या उससे अधिक (श्रेष्ठ) कोई अन्य है, इस प्रकार कहते हैं । तथापि तुम्हें किसने भरमाया है कि जिससे दो ईश्वर मानते हो । अर्थात् किसी अज्ञ के भ्रमाने से ही दो मानते हो, इसे त्यागो, यदि कहो कि अल्लाह रामादि नामों के अनेक होने से जगदीश अनेक है, तो सो कहना ठीक नहीं, क्योंकि एक ही जगदीश अल्लाह, राम, करीमा, केशव,

हरि और हजरत नाम धराया है (इन नामों से एकही कहा जाता है) । जैसे एक कनक से अनेक गहना (भूषण) बनते हैं । परन्तु इन गहना और कनक में दूजाभाव (भेद) नहीं रहता है, या इन गहनाओं में कनक से दूजा (दुसरा) भाव (पदार्थ) नहीं रहता है, सब भूषण कनक मात्र रहते हैं । परन्तु नाम आकार भिन्न भिन्न कल्पित रहते हैं । सो भी कहने सुनने आदि व्यवहार के लिये दो (भेद) करके स्थापित (निश्चित) किये जाते हैं । इसी प्रकार से एक जगदीश में नानारूप माया से कल्पित होते हैं, सत्य में भेद नहीं होता है और मिथ्या भेद से ही एक निमाज पढता है, तो एक पूजा करता है । ईश्वराऽऽराधनादृष्टि से दोनो एक ही है ।

वही महादेव वही मुहम्मद, ब्रह्मा आदम कहिये ।
कोइ हिन्दू कोइ तुरुक कहावै, एक जिमी पर रहिये ॥
वेद कितेब पढ़े वे कुतवा, वे मोलना वे पाँड़े ।
बेगर बेगर नाम धरायो, एक मटिया के भाँड़े ॥

एक एव ह्यवर्णो यो बहुधा शक्ति योगतः ।
विद्यते तत्र भेदो न सत्यो देवे कथञ्चन ॥५४॥
महादेवो हि यो देवः स मुहम्मदनामकः ।
ब्रह्मैवादमनामापि कथ्यते गुणभेदतः ॥५५॥
हिन्दवः केऽपि कथ्यन्ते तुरुष्काश्च तथाऽपरे ।
कथ्यन्तां ते तथा कामं तिष्ठन्तु त्वेकभूमिषु ॥५६॥
एकत्वे किञ्च देवस्य सर्वस्यात्मस्वरूपिणः ।
हिन्द्वादिः कथ्यतां कोऽत्र सर्वैः स सेव्यतां प्रभुः ॥५७॥
केचित्पठन्ति वेदादीन् कुराणादींस्तथाऽपरे ।
मनीषि मोलना नाम्ना कथ्यन्ते च पृथक् पृथक् ॥५८॥
नामभिर्ये च कथ्यन्ते देहास्तान् खलु तत्त्ववित् ।
मृदो भाण्डानि जानाति तथा नैते कुबुद्धयः ॥५९॥

वही एक जगदीश महादेव, मुहम्मद, ब्रह्मा आदम आदि गुणोपाधि द्वारा भूषण के समान अनेक कहा जाता है । अतः चाहे कोई हिन्दू कहावें, कोई तुरुक कहावें । परन्तु सबको एक जिमी (भूमिका=अवस्था=धर्म) में स्थिर रहना चाहिये, एक ईश्वर भक्त होकर राग द्वेषादि को त्यागना चाहिये । क्योंकि वे हिन्दू वेद पढ़ते हैं और वे मुसलमान किताव को कुतवा (पढ़ते)

हैं और वे मुसलमान पढ़कर मोलना कहलाते हैं, और वे हिन्दु पढ़कर पाँडे (पण्डित) कहलाते हैं। परन्तु जिस शरीर के वेगर वेगर (पृथक् पृथक्) नाम (मोलना पांड़े) धराये और धराते हैं। सो सब शरीर एक मिट्टी के भाँड़े (अनेक घटादि) तुल्य ही रहता है, शरीर के सब नाम धरे जाते हैं। एक आत्मा अन्तर्यामी ईश्वर के नहीं। क्योंकि अन्तर्यामी ईश्वर सर्वात्मा सब शरीरों में एक ही है। मति हीन मनुष्य देह के भेद से उसको भी भेदयुक्त समझते हैं, एक सत्यात्मा राम को नहीं समझते हैं। अतः श्रीकबीर साहब कहते हैं कि—

कहहिं कबीर ई दूनों भूले, रामहिं किनहुं न पाया।
वे खस्सी वे गाय कटावैं, वादहि जन्म गमाया ॥२६॥

देहाभिमानिनस्त्वेते ह्युभये भ्रान्तमानसाः।
आत्मानं जगतामीशं रामं केऽपि न चाविदन् ॥६०॥
अलाभेन च रामस्य बालिशा ह्यार्यमानिनः।
क्रूरा वस्तं विहिंसन्ति घातयन्ति तथा परैः ॥६१॥
यवनाश्च तथा क्रूरा निर्दया भिन्नदर्शिनः।
गवादे हिंसनं नित्यं कुर्वन्ति कारयन्ति च ॥६२॥
उभये मानुषं जन्म स्वर्गनिर्वाणसाधनम्।
मुधैव नाशयन्तीति कबीरो भाषते गुरुः ॥६३॥
हिंसया न भवेत्पूजा न धर्मो न परा गतिः।
नैव जीवनसाफल्यं ध्यानं भक्ति र्नयो नहि ॥६४॥
शृण्वन्ति केऽपि नहि सद्गुरुसारशब्दं, स्वादेन नष्टहृदया यवनास्तथार्याः।
सर्वात्मराममजरं नहि ते भजन्ति, हिंसामदादिकमलं न ततस्त्यजन्ति ६५

इति हनुमत्कृतायां शब्दसुधायां ज्ञानं विना भेदहिंसादिवर्णनं नाम नवमस्तरङ्गः ॥ ९ ॥

देहाभिमानी पण्डित मोलना = हिन्दू तुरुक ई (ये) दोनों एक सर्वात्मा सत्यात्मा राम को भूले हुए हैं। उसके विचार श्रवणादि भी नहीं करते हैं। अतः किसी अभिमानी ने सर्वात्मा राम को नहीं पाया (खस्सी गौ आदि में भी उस राम को नहीं समझा)। अतः बकरा गाय को पण्डित मोलाना भी कटवाया, जिससे बाद ही (व्यर्थ ही) जन्म गमाया मानव जन्म के फल सुख-शान्ति मोक्ष को नहीं पाया। तथा वाद (व्यर्थ कथा) में जन्म गमाया, सदुपदेश का श्रवण धारण नहीं किया ॥ २६ ॥

अथ गृहाद्यासक्तिनिषेध प्रकरण १०

शब्द २७

भूला लोग कहै घर मेरा ।
जा घरवा महँ भूला डोलहु, सो घरवा नहिं तेरा ॥
हाथी घोड़ा बैल बाहनू, संग्रह कियहु घनेरा ।
बस्ती महँ से दियो खदेरा, जंगल कियहु बसेरा ॥

देहादावभिमानाद्यै र्ये भ्रान्ता लौकिका जनाः ।
ते चास्माकं गृहाणीत्थं कथयन्ति स्मरन्ति च ॥ १ ॥
सद्गुरुश्चाह तान् यूयं भ्रान्ता यत्र हि धावथ ।
तानि सन्ति न युष्माकं दूयध्वे तत्र मोहतः ॥ २ ॥
हस्त्यश्ववृषयानानां कृतवन्तोऽतिसंग्रहम् ।
स विद्राव्यात्मनो ग्रामाद् वने वासमकल्पयत् ॥ ३ ॥
तेनैव द्राविता यूयं वसथाऽत्र भयावहे ।
भवारण्ये न यत्रास्ति सन्मार्गः सुलभः सदा ॥ ४ ॥
द्रावयत्यथवा मृत्यु र्यदाऽस्मान्नगरात्तदा ।
भवत्येव वने वासः संग्रहादि न सम्भवेत् ॥ ५ ॥

उक्त रीति से आत्मा राम को भूले हुए लोग कहते हैं कि ईंटे पत्थरादि का मेरा घर है । तहाँ सद्गुरु कहते हैं कि सर्वाधार सर्वात्मा राम को भूलकर जा घरवा (जिस घर के व्यवहार) में डोलते (व्यग्र चञ्चल होते) हो, और डोल रहे हो, सो घर वस्तुतः तेरा नहीं है । स्वप्नतुल्य तुझे तेरा प्रतीत हो रहा है, कुछ दिन पहले अन्य कोई अपना समझता था, फिर अन्य कोई अपना समझेगा । वह घर तेरा हित भी नहीं है । क्योंकि गृहासक्ति से तुमने हाथी, घोड़ा, बैल, और वाहन (रथ पालकी) आदि, घनेरा (बहुत) वस्तु का संग्रह किया । सो संग्रह (संगृहित पदार्थ) तुझे रामस्वरूप सर्वाधार बस्ती (वास-स्थान) से खदेड़ (भगा) दिया, कि जिससे तुम भयावह संसार जंगल में बसेरा वास किये हो या मृत्यु जब देह-गेह से खदेड़ दिया, तब तुम जंगल में (वास) किये हो, यह राम को भूलने का फल है ।

गाँठि बाँधि खरच नहिं पठयो, बहुरि न कीयो फेरा ।
बाबी बाहर हरम महल में, बीच मीयाँ को डेरा ॥

सुखार्थो नात्र सद्धर्मशम्बलोऽपि सुसञ्चितः।
न विज्ञानं न सद्भक्ति र्हृदये धारितं स्थिरम् ॥ ६ ॥
क्रममुक्तिप्रसिद्ध्यर्थं यल्लोकान्तरसाधनम्।
युष्माभि र्न कृतं तच्च दानादि क्रियते न च ॥ ७ ॥
सर्वं संगृह्य बध्नन्ति भवन्तो न ददन्ति चेत्।
कथं सौख्यं कथं शौक्ल्यं हृदयेषु भवेत् सदा ॥ ८ ॥
यमानन्दं च विस्मृत्य वने वसथ दुर्गमे।
परावृत्त्य न तच्चिन्तां कृतवन्तः कदाचन ॥ ९ ॥
यथा वै यवनः कश्चिद् बहिः कृत्वा कुलाङ्गनाः।
कुलटाः स्थापयेद् गेहे तासां मध्ये वसेत्सदा ॥१०॥
बहिः कृत्वा तथा बुद्धिं विचारादिसुसंयुताम्।
अविद्यां कामनां तृष्णां कुर्वते हृदि दारुणाम् ॥११॥
तासां मध्ये च तिष्ठन्ति भवन्तः स्वाविवेकतः।
निमग्नास्तेन मोहाब्धौ स्वं रामं संस्मरन्ति न ॥१२॥

संग्रह में ही लगे रहने से तुमने सद्भक्ति ज्ञान-ध्यानादिरूप खर्च (शम्बल) को हृदयरूप गाँठी में नहीं बाँधा (धारण नहीं किया) न भावी सुख सम्पत्ति के लिये खर्च पठाया (दान उपासना आदि नहीं किया) या जिस वस्तु का तुमने संग्रह किया, उस कनकादि को गाँठी में बाँधी खर्च पठाया नहीं, ईश्वरार्पण दानादि नहीं किया, और सांसारिक कार्य संग्रहादि से बहुर (लौट) कर विस्मृत निजात्म देवादि के तरफ तुमने कभी फेरा (खोज) नहीं किया। किन्तु बीबी (कुलाङ्गना) तुल्य सद्बुद्धि को तुमने बाहर के व्यवहारों में लगाया। मानो सुबुद्धि को हृदय से बाहर निकाल दिया, और आशा तृष्णा दुर्मतिरूप हरम (वेश्या) को हृदयरूप महल (घर) में बसाया, और उसके बीच (मध्य) में जीवरूप तुम मियाँ को डेरा (स्थिति) करना पड़ा है।

नव मन सूत अरुझ नहिं सरुझै, जन्म जन्म अरुझेरा।
कहहिं कबीर सुनहु हो सन्तो, यह पद करहु निबेरा ॥२७॥

तस्माद्वै मानसाद्याश्च प्राणाद्या ज्ञानहेतवः।
नवाऽपि विषये सक्तास्तन्तुवच्च विमिश्रिताः ॥१३॥
यद्वा ज्ञाता तथा ज्ञानं ज्ञेयं भोक्ता च भोग्यकम्।
भोगः कर्ता क्रिया चैव करणं च जगत् खलु ॥१४॥

तन्तवो नन्दमनकाः सन्त्येते मिश्रिता इव ।
आत्मना न विविच्यन्ते ह्यध्यासात्सर्वजन्मसु ॥१५॥
सद्गुरु र्भाषते साधो ! श्रवणादि विधीयताम् ।
विवेकेनात्मनश्चास्य स्वाध्यासापनयं कुरु ॥१६॥
अध्यासापनयात्साधो ! संसारो विनिवर्तते ।
क्व गृहादिसमारम्भः क्व ममत्वविडम्बना ॥१७॥२७॥

उक्त हरमों के बीच में डेरा होने से चार अन्तःकरण, पांच ज्ञानेन्द्रियरूप नौ मन सूत विषयों में अरुझे (फँसे) रहते हैं। और ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय, भोक्ता, भोग, भोग्य, कर्ता, करण, कर्म ये नवविध संसार आत्मा में अरुझे रहते हैं। सो सब जन्मों में अरुझते जाते हैं सर्वात्मा राम के विवेक विज्ञानादि के बिना सरुझते (विविक्त होते) नहीं हैं। अतः कबीर साहब कहते हैं कि हे सन्तो ! श्रवणादि करो, और अपरोक्ष इस आत्मपद (वस्तु) का निबेरा (विवेक) करो, इस अरुझ का निबेरां (निवारन) करो कि जिससे आत्मज्ञानादिरूप सुबुद्धि हृदय में बसे, और अविद्यारूप आशा, तृष्णादि निवृत्त हों। यद्यपि "अष्टौ ग्रहा अष्टावतिग्रहाः । बृ० ३।२।१" यहाँ प्राण (घ्राण) वाक्, जिह्वा, नेत्र, श्रोत्र, मन, हस्त, त्वक् ये आठ ग्रहरूप से और उनके विषय अतिग्रहरूप से बन्धन के हेतु वर्णित हैं। और "एकादश ग्रहास्तद्वत्तावन्तः स्युरतिग्रहाः । यद्यपेते तथाप्यष्टौ प्रधाना इतिकीर्तिताः ॥ १ ॥ आत्मपु० अ० ५।१४२" यहाँ मन सहित एकादशेन्द्रियों के अभिप्राय से एकादश ग्रह तथा अतिग्रह कहे गये हैं। तथापि यहाँ कर्मेन्द्रियों के ज्ञानेन्द्रियान्तःकरण के वशवर्तित्व के अभिप्राय से नव मन सूत (बन्धहेतु) का वर्णन किया गया है। "मुक्तबुद्धीन्द्रियो मुक्तो बद्धकर्मेन्द्रियोपिहि । बद्धबुद्धीन्द्रियो बद्धो मुक्तकर्मेन्द्रियोपिहि ॥ १ ॥ योगवा० स्थिति प्र० १५।४२" का वचन है ॥२७॥

शब्द २८

जोलहा बीनहु हो हरिनामा । जाको सुर नर मुनि धरु ध्याना ॥
ताना तनै के अहुँठा लीन्हो, चरखी चारो वेदा ।
सर खूँटी एक राम नरायण, पूरण प्रगटे भेदा (कामा) ॥

मानवीं सत्तनुं लब्ध्वा जिज्ञासां वाप्यनुत्तमाम् ।
भो जीवा उक्तसत्सूत्रै र्वयन्तां विमलं पटम् ॥१८॥

हरिनाम्ना प्रसिद्धं तं यं ध्यायन्ति सुराऽसुराः ।
मुनयोऽपि महात्मानो लभन्ते यं नराः क्वचित् ॥१९॥
पटस्यामुष्य वानार्थं लब्धं चेदं कलेवरम् ।
मितं सार्द्धत्रिभि र्हस्तैरनाहार्यफलं[1] हि यत् ॥२०॥
सूत्रयन्त्राणि वै वेदाः कीलकस्तु शरस्तथा ।
एको नारायणो रामो बहुरूपेणसिद्धिदः ॥२१॥
ततः सिद्ध्यन्ति वै कामास्तत्त्वमाविर्भवेत्ततः ।
तस्माच्च भेदयुक्तोऽयं संसारो व्यज्यतेऽध्रुवः ॥२२॥

हे जोलहा ! (मानव तनु लब्धा विवेकयुक्त जीव !) सरुके हुए उक्त सूतों से उस हरि नाम वाले पट को बीनो (प्राप्त करो) कि जिस हरि का सुर, नर, मुनि सब ध्यान धरते (करते) हैं । अर्थात् विषयादि से मन, इन्द्रियों को विमुख करके उन्हें सर्वात्मा हरि में लगावो, इनकी सत्ता आदि को हरि स्वरूप ही समझकर, हरि चिन्तनादि करो । क्योंकि इस हरि पट की प्राप्ति के योग्य, तुम अहुँठा (साढ़े तीन हाथ का देहरूप गज) लिये (पाये) हो । चार वेदरूप चरखी पाये हो (पा सकते हो) और सब सूतों का आधाररूप सर खूँटी आदि तुल्य एक नारायण (नरों का आश्रय) राम ही है, उस राम से ही सब भेद (मर्म या संसार) पूर्णरूप से प्रकट होते हैं, और होंगे । सब अर्थ कामादि भी उसीसे प्रकट पूर्ण होते हैं । अतः उक्त पटको बीनो । यद्यपि "नृपायां वैश्यसंसर्गादायोगव इति स्मृतः । तन्तुवाया भन्त्येव वसुकांस्योपजीविनः ॥१॥" इस स्मृति वर्णित आयोगव=तन्तुवाय नामक जुलाहा लोक में कहा जाता है, तथापि यहाँ प्रकरणादि के अनुसार मानव तनुधारी जीव कहा गया है या श्रीकबीर साहब अपने मन को सम्बोधन करते हैं, ऐसी कल्पना भी कोई कर सकता है ।

भव सागर एक कठवत कीन्हा, तामें माँड़ी साना ।
माड़ी के तन माँड़ि रह्यो है, माँड़ी विरले जाना ॥
चान्द सूर्य दुइ गोड़ा कीन्हो, मध द्विप माँझा कीन्हा ।
त्रिभुन नाथ जु मांजन लागे, साम मून्हिया दीन्हा ॥

व्यक्तः स काष्ठपात्रं स्यात्पञ्चभूतप्रमेलनम् ।
कृतं यदात्मना तत्र मण्डं तद्धि समर्पितम् ॥२३॥

---

१ अनाहार्यम्-सत्यं फलं यस्मात् तत् ।

भूत मण्डात्मको देहः संसारं व्याप्यतिष्ठति ।
तं विवेकेन जानन्ति विरला मानवा भुवि ॥२४॥
चन्द्रसूर्यावुभौ नाड्यौ बाह्यौ वा चन्द्रसूर्यकौ ।
गोडेतिनामके पुष्टे ह्यधिष्ठाने कृते शुभे ॥२५॥
मध्वद्वीपोऽथ मध्यैषा नाडी माझेतिनामकम् ।
अधिष्ठानं कृतं येन धृतं सर्वं हि मध्यतः ॥२६॥
अस्यां भूततती जीवरूपेण प्राविशद्धरिः ।
भुवनानां स नाथोऽपि तन्तून्छोधयते सदा ॥
समभावेन सम्बन्धान् ग्रन्थींश्च विदधातिह ॥२७॥

उक्त रामने अपनी माया से भवसागर रूप एक कठवत (कठौत=काष्ठपात्र) किया है। तामें (उसमें) पाँचो भूतों का जीवात्मा के साथ सम्बन्ध रूप माँड़ी साना=(मिलाया) है और उस पाँच भूत रूप माँड़ी का कार्य रूप तन (देह) संसार में माँडि (व्याप्त हो) रहा है। परन्तु इस शरीर को बिरले कोई माँड़ी (भूतमात्र) समझते हैं। बहुत लोग इसीमें आत्मता का अभिमान करते हैं। बाहर भीतर के चन्द्रसूर्य गोड़ा (थान मांजने के साधन) तुल्य योगादि के साधन किये गये हैं और मध्य जम्बू द्वीप तथा सुष्मणा नाड़ी को माँझा (मध्य का आधार) तुल्य किया है। तहाँ त्रिभुवन नाथ (तीन अवस्था आदि के स्वामी) जो जीव, उक्त गोड़ा माँझा के आश्रित उक्त नव मन सूतों को माँजने शोधने में लगा, सो सूतों के टूटने पर साम (समता) रूप मून्हि (गाँठ) दिया और देता है, समभाव से व्यग्रमन इन्द्रियादि को शान्त करके हरिचिन्तन करता है, तब मन इन्द्रिय शुद्ध होते हैं।

पाई कै जब भरना लीन्हो, बै बाँधे को रामा ।
बै भराय तिहुं लोकहिं बांध्यो, कोउ न रहत उबामा ॥

शोधयित्वा यदा जीवो भरणाय प्रवर्तते ।
पूर्णतायै पटस्यास्य तदा रामः स्वयं सदा ॥२८॥
व्यूत्यर्थबन्धनाधारः सर्वत्रैवोपकारकः ।
विवेकाय च सूत्राणां जायते साक्षिणस्तथा ॥२९॥
व्यूत्यर्थे बन्धने जाते सन्मर्यादादि लक्षणे ।
त्रयो लोका नियम्यन्ते तिर्यग् भिन्नो न कश्चन ॥३०॥
संशुद्ध्यति यदा सर्वं बाह्यान्तःकरणं निजम् ।
विवेकाय तदा राम आविर्भवति स स्वयम् ॥३१॥

चित्तं निर्विषयं यस्य हृदयं चातिशीतलम् ।
तस्य मित्रं जगत्सर्वं मुक्तिः शुद्धा करस्थिता ॥३२॥

वह व्यावहारिक जीव जब पाई (मन इन्द्रिय की शुद्धि) के (करके) भरना (भरनी) लिया (पूर्ण हरिपट के लिये प्रवृत्त हुआ) तृप्ति सन्तोष प्रसन्नता को प्राप्त किया। तब सर्वात्मा राम (ईश्वर) बै बाँधने के लिये स्वयं उन्मुख हो गये, ईश्वर की प्रसन्नता हो गई, धारणा ध्यान अनायास ही सिद्ध हो गया। और जब बैभर गया (धारणा विवेक स्थिर हुआ) तब तीनों लोक (जाग्रदादि अवस्था तीन शरीर) नियम सूत्र से बँध गया, देवादि सब प्रसन्न हो गये, अब कोई भी उबाम (उबान=उलटे टेंढे विरोधी) नहीं रहते हैं।

तीन लोक एक करिगह कीन्हा, डगमग कीन्हा ताना ।
आदि पुरुष बेठावन बैठे, कबिरा ज्योति समाना ॥२८॥

लोकत्रयं कृतं चैकं गृहं वयनसिद्धये ।
तत्रत्यं सर्वविस्तारं चलाचलमलोकत ॥३३॥
चालयित्त्वा तु जीवोऽसौ भूत्वा स्वादिस्वरूपवान् ।
बोधस्याप्यस्य संहारे परानन्दे प्रवर्तते ॥३४॥
भूत्वा ज्योतिःस्वरूपोऽसौ विशत्यत्र समप्रभे ।
उन्मज्जति ततो नैव तथा साधो समाचर ॥३५॥
"मा भव ग्राह्यभावात्मा ग्राहकात्मा च मा भव ।
भावनामखिलां त्यक्त्वा यच्छिष्टं तन्मयो भव" ॥३६॥
"त्यजधर्ममधर्मं च सत्यानृते उभे त्यज ।
सत्यानृते उभे त्यक्त्वा येन त्यजसि तत्त्यज" ॥३७॥२८॥

उस राग द्वेषादि रहित जीव के लिये तीनों लोक एक करिगह (हरिपट बीनने का यन्त्र गृह) किया (बनाया) गया है । वह सर्वत्र हरिपट बीन सकता है। वह सब ताना (विश्व विस्तार) को डगमड किया है और करता है (चञ्चल मिथ्या समझा है और समझता है) अतः वह कहीं भी हरि से अन्य को प्राप्त करना नहीं चाहता है, किन्तु सर्वात्मा हरि को ही प्राप्त करना चाहता है। अतः सर्वादि पुरुषरूप हरि पट के ही बेठावने (सम्भालने) के लिये जो जीव ध्यान चिन्तनादि में बैठा, सो कबिरा (जीव) ज्योति समान (तुल्य) हो गया या ज्योतियों की ज्योति में समा गया (लीन हो गया) ॥ २८ ॥

शब्द २९

रामुरा चली बिनावन माहो, घर छोड़े जात जोलाहो ॥
गज नव गज दश गज उन इस की, पुरिया एक तनाई ।
सात सूत नव गाँठ बहत्तर, पाट लागु अधिकाई ॥

जीवात्माऽयं कुविन्दो वै यावद्रामं न विन्दते ।
तावत्तेन विना ह्यस्य सत्सम्पत्तिं विना तथा ॥३८॥
बुद्धिश्चलति संसारे वनेऽनित्ये भयावहे ।
जीवो लब्धं गृहं त्यक्त्वा धावतेऽथ यतस्ततः ॥३९॥
प्राणान्तःकरणैरङ्कै र्दशभिश्च तथेन्द्रियैः ।
मानदण्डै मितं दीर्घं प्रातनोत्स पुनः पटम् ॥४०॥
सप्तधातुमयान्यत्र सूत्राणि ग्रन्थयो नव ।
नवद्वारस्वरूपा वा मुख्यनाडीमयाः खलु ॥४१॥
द्विसप्ततिश्च या कोष्ठ्यो नाड्यो वाऽत्रततोऽधिकाः ।
लग्नास्ताश्च पटे चित्राः सुपाल्यादिस्वरूपतः ॥४२॥

उक्त रामुरा (राम राजा या रामधन=हरि) की प्राप्ति के बिना जीव की बुद्धि संसार रूप बन माहो (बन में) चली और चलती है (सांसारिक कामना वासना को धारण करती है) तथा नवीन पट बिनावने के लिये रामराजा (जीव) चला, तब यह जोलहा (जीव) प्राप्त घर (देह) को छोड़ कर जाता है । फिर पाँच प्राण चार अन्तः करण रूप नौ गज, दशेन्द्रिय रूप दश गज को मिलाकर उनइस १९ गज की एक पुरिया (थान पुर) इस जीव ने तनाई (बनाना शूरू किया) कि जिसमें, त्वक्, रुधिर, मांस, मज्जा, मेद हाड़ और वीर्य रूप सात धातु सात सूत हुए, नव प्रधान नाड़ी, या खुले नव द्वार गाँठ हुए और बहत्तर कोटि से भी अधिक नाडीरूप आकृतिरूप अधिक पाट (किनारी) लगाये गये । बहत्तर कोठे बनाये गये ।

ता पट तूल न गज न अमाई, पैसन सेर अढ़ाई ।
ता महँ घटै बढ़ै रतियो नहिं, करकच कर घरहाई ॥

अस्मित् पटे च तूलो वा मानदण्डक एव वा ।
विद्यतेऽमायिको नैव नैवाऽविशति लौकिकः ॥४३॥
अध्यास्ते सेटको नात्र नाढको वा कथञ्चन ।
पणतुल्यै र्महातुच्छैः कर्मभि र्लभ्यते महान् ॥४४॥

प्राणाद्यैश्च समायुक्ते ह्रासो ह्यल्पो भवेन्नहिं।
न वा वृद्धिस्ततो नित्यं तै र्युक्तो वर्तते चिरम् ॥४५॥
किञ्चात्र कच्चरं कर्म गुरुत्वं कुरुते सदा।
तापो हेत्यादि शब्दश्च जायतेऽतो निरन्तरम् ॥४६॥

इस पट में तूल गज आदि कोई अमाई (अमायिक=सत्य) नहीं रहते हैं। न लौकिक तूल गज इसमें अमाई (अमाता = समाता है। इसी प्रकार इसमें लौकिक सेर अढाई (अढैया) पैस न (पैठता नहीं) है, (सेर अढैया से यह नियत रूप से तौला नहीं जा सकता है) या पैसन (पैसों से) ढाई सेर मिलता है। अर्थात् एक मानव देह के कर्मों से ज्ञानादि के बिना चौरासी लाख योनियों में शरीर भोगादि मिलते हैं भोगे बिना उन कर्मों में रत्तिमात्र भा कभी घटता बढ़ता नहीं है। न पट तूलादि में रत्तिमात्र भी कभी घटते बढते हैं। किन्तु करकच कर्म (पापकर्म) सब घरों में हाई (हाय) शोक कष्टादि उत्पन्न करते हैं। शुभ कर्म नहीं।

निति उठि बैठ खसम से बरबस, तामें लागु तिहाई।
भिंगी पुरिया काम न आवै, जोलहा चला रिसाई ॥

अपि तप्ता इमे लोका नित्यमुत्थाय रक्षकैः।
ईश्वरैः कुर्वते युद्धं स्थितिमुलङ्घ्य यान्ति च ॥४७॥
संस्थां त्यक्त्वा कृते कार्ये कर्मणि क्वाप्यनुष्ठिते।
त्रिधाऽवस्था भवत्येव गुणानां तत्र भेदतः ॥४८॥
तत्फलं च सुखं दुःखं मोहश्चानुभवञ्जनः।
न तृप्यति कदाप्यत्र वृद्धत्वं बाधते बलात् ॥४९॥
वृद्धत्वाद्यैश्च संक्लिन्नं क्लिष्टं चेदं कलेवरम्।
कार्याक्षमं निरीक्ष्येव क्रुद्धो गच्छत्ययं ततः ॥५०॥

कुकर्मों से दुःख होने पर भी यह जीव अन्य योनियों से छुटकारा पाने पर जब मानव तनु में आता है, तब मानो सोने से उठकर बैठता है। परन्तु (निति) सदा शयन से उठकर, और बैठकर ही खसम (स्वामी सद्गुरु ईश्वर) से ही बरवश (जबरन्) काम करता है, (धर्म नीति को स्वामी की आज्ञा वेदादि को नहीं मानता है)। परन्तु उस स्वाभाविक धर्म न्याय रहित प्रवृत्ति में भी गुण सज्ञादि के भेद से तिहाई लगते हैं (तीन प्रकार होते हैं)। अर्थात् सात्त्विक राजस, तामस ये तीन भाग हो जाते हैं। उनके फल सुख-दुःख और मोह प्राप्त होते हैं। फिर कर्माधीन ही रोगादि से शरीररूप पुरिया के भींगने

पर (रोगादि से व्याप्त होने पर) जब यह काम नहीं आता है, भोग में सहायक नहीं होता है, तब जोलहा (जीव) रिसाय (रुष्ट = अप्रसन्न = दुःखी) होकर चला और चलता (मरता) है। ज्ञानभक्ति आदि के बिना कभी प्रसन्न सुखी तृप्त नहीं होता है।

कहहिं कबीर सुनहु हो सन्तो, जिन यह सृष्टि उपाई।
छाडु पसार राम भजु बौरे, भवसागर कठिनाई ॥२६॥

भोः साधो ! श्रूयतामेतद्विचाराद्यैश्चबुध्यताम्।
यैर्विस्तारैः कृतं विश्वं तांस्त्यक्त्वा राममाश्रय ॥५२॥
भो मत्ता अस्य रामस्य सम्यक् संश्रयणं विना।
भवाब्धौ वर्तते क्लेशः पारश्चास्य न लभ्यते ॥५२॥
"यावतः कुरुते जन्तुः सम्बन्धान् मनसः प्रियान्।
तावन्तोऽस्य निखन्यन्ते हृदये शोकशङ्कवः" ॥५३॥
तस्मात्सर्वान् परित्यज्य सम्बन्धान् मनसः प्रियान्।
विस्तारानखिलान् साधो ! भजरामं सुखी भव ॥५४॥२९॥

श्रीकबीर साहब कहते हैं कि सुख-शान्ति तृप्ति आदि के लिये श्रीराम के श्रवणादि करो। और जिन मन माया के पसारों (विस्तार मोह कामादिकों) ने यह शरीरादिरूप सृष्टि (कार्य) को उपाई (उत्पन्न किया) है। उन पसारों को छोड़ो कि जिससे भावी सृष्टि से रहित मुक्त होगे और हे बौरे (अविवेकियों !) राम को भजे बिना तुम्हें भवसागर में कठिनाई (कष्ट) है (मन का विस्तार है)। अतः तुम भी राम के भजन से विस्तार सागर को तरो, सुखी होवो ॥२६॥

शब्द ३०

सन्त उधारण चूनरी, ररा ममा के भाति हो ॥
बालमीक[1] बन बोइया, चूनि लिया शुकदेव।
कर्म बनौरा ह्वै रहा, सुत कातहिं जयदेव ॥

अतिशुद्धं पटं हित्वा रामं प्रावरणोत्तमम्।
साधवोऽपि पटं चित्रं परोक्षं धारयन्ति हि ॥५५॥

---

१ अमोघं दर्शनं राम ! अमोघं तव संस्तवः। अमोघास्ते भविष्यन्ति भक्तिमन्तो नरा भुवि ॥१॥ बाल० युद्धकां० स० ११७।३०" देवोक्तिः ॥ पूर्णं यत् परमं ब्रह्म जानाति यो जनः सुधीः। आस्तिकः सहि शुद्धात्मा शोकमोह-विवर्जितः ॥२॥ इत्यन्यत्र।

यो न शुद्धो न रामो वा रामनाम्ना विभाति च ।
रामं यथा च तं भान्तं लोको रामेति मन्यते ॥५६॥
तच्चित्रपट सिद्ध्यर्थं वाल्मीकोऽसौ महामुनिः ।
बीजं तूलस्य गानेन गुणानामुप्तवानिव ॥५७॥
शुकदेवः कथां श्रुत्वा तत्तूलचयनं तथा ।
बीजानि यानि कर्माणि कृतवाँश्च ततः पृथक् ॥५८॥
शुद्धतूलसमो योऽसौ गुणस्तस्यैव गानतः ।
सूत्राणीव कृतान्यासन् जयदेवेन धीमता ॥५९॥

सात्त्विक पसार को नहीं त्याग सकनेवाले सन्तों ने उ (उस) चूनरी (चित्र त्रिगुणमयपट) का धारण किया कि जो ररा ममा (राम) के सदृश भाति (प्रतीत) होता है या सन्तो ने साधारण जीवों के उधारण (उद्धार) के लिये चूनरी रची, जो ररा ममा के सदृश भासती है। उसकी सिद्धि के लिये बाल्मीक महर्षि ने बन (वाँगा=कपास) बोया। शुकदेवजी ने मानो कपास चून लाया। साधारण कर्म उस कपास में मानो बीज होकर (बनौरा होकर) रहा। फिर जयदेव कवि उसे ओट धूनकर मानो सूत कातते हैं (सूत बनाते हैं), बनाये हैं।

तीन लोक ताना तन्यो, ब्रह्मा विष्णु महेश ।
नाम लेत मुनि हारिया, सुरपति सकल नरेश ॥
बिनु जिह्वे गुण गाइया, बिनु बस्ती का गेह ।
सूने घर का पाहुना, तासो लायो नेह ॥

ब्रह्मविष्णुहराश्चैते गुणदेवा महेश्वराः ।
लोकत्रयेऽपि तन्वन्ति गुणगाथां निरन्तरम् ॥६०॥
विस्तरे गुणगाथानां नामानि मुनयोऽपि हि ।
जपन्तोऽतिपरिश्रान्ता देवेशाश्च नरेश्वराः ॥६१॥
परिश्रान्ता बहि र्गानात्ततो जिह्वां विनैव ते ।
प्रागायँस्तद्गुणाँस्तद्वच्छून्ये गृहमकल्पयन् ॥६२॥
शून्यगृहस्य ते भूत्वा प्राघुणाः स्नेहसंयुताः ।
तत्र यान्ति तथाऽऽयान्ति लभन्ते न स्थितिं सदा ॥६३॥

फिर गुणाभिमानी ब्रह्मा विष्णु और महेश इन तीनों देवों ने उस सूत के तीनों लोकों में ताना तना (किया) इस प्रकार से चित्रपटरूप राम के सिद्ध होने पर, उसके नामों के लेते (जपते) में, मुनि लोग, और देवेन्द्र नरेन्द्र सब हार

गये, उसके शुद्ध स्वरूप को समझे बिना नाम के जपमात्र से कोई शान्ति नहीं पाये। अतः "रामहि राम पुकारते, जिह्वा परिगौ रौस। सूधा जल पीवै नहीं खोदि पिवन की हौस ॥ रमैनी साखी ३४" इस वचन के अनुसार, तटस्थ राम को पुकार कर थक गये। और थकने पर जिह्वा के विना ही मन से गुणों को गाने लगे, और निर्गुण सच्चिदानन्द राममात्र में जो मन को नही लगा सके, सो उस सर्वाधार राम को छोड़कर, (आकाश) में वस्ती (ग्राम-स्थान) के बिना ही नित्य गेह (गृहादि) की कल्पना करके उस शून्य घर का पाहुन (अतिथि) हुए। और उस गृहादि से ही नेह (स्नेह प्रेम) किये, और करते हैं।

चार वेद काँड़ा किया, निराकर किय राछ।
बिनै कबीरा चूनरी, बै नहिं बाँधी बाछ (बार) ॥३०॥

चतुर्वेदाञ्छरान् कृत्वा वेमराक्षादिकं तथा।
निराकारं विधायैते पटाँश्चित्रान् वयन्ति वै ॥६४॥
विवेकेन यतो जीवा व्यूत्यर्थं वन्धनं नहि।
कुर्वन्ति प्राणचित्तादेस्ततः शुद्धो न लभ्यते ॥६५॥
"चिरमाराधितोऽप्येष परमप्रीतिमानपि।
नाविचारवतो ज्ञानं दातुं शक्नोति माधवः ॥६६॥
सर्वस्यैव जनस्यास्य विष्णुरभ्यन्तरे स्थितः।
तं परित्यज्य ये यन्ति बहि विष्णुं भ्रमन्ति ते ॥६७॥
तत्पूजनेन कष्टेन काले चित्तं विशुद्ध्यति।
नित्याभ्यासविवेकाभ्यां चित्तमाशु प्रसीदति" ॥६८॥

गृहादि संसक्तजनो न मुच्यते, विहाय तत्तेन भजस्व तं हरिम्।
यदीयबोधेन विनाऽत्र जन्तवो व्रजन्ति विश्वे दधते त्वसत्पटम् ॥६९॥३०॥

इति हनुमत्कृतायां शब्दसुधायामासशक्तिनिषेधभक्त्यादिवर्णनं
नाम दशमस्तरङ्गः ॥ १० ॥

चार वेद को काँड़ा (शरादि) किया और निराकार (निर्गुण) राम को राछ नामक साधन किया (समझा) अर्थात् चारो वेदों का सगुण साकार में ही तात्पर्य समझकर और निर्गुण ब्रह्म के ज्ञान वर्णनादि को सगुण साकार के भक्ति ज्ञानार्थकादि मान कर, कबीरा (जीव) सदा चूनरी बीनता है (जप ध्यानादि करता है)। परन्तु बाछ कर (विवेक करके) बै (वय) नहीं बाँधता है, न बाँधा है, शुद्धत्मा में मन को नहीं लगता है। अतः शुद्ध साक्षिस्वरू अपरोक्ष विशु

पट नहीं प्राप्त होता है। यदि विवेक करे तो निराकार को सब साकार में अस्ति भाति प्रिय स्वरूप से समझ सकता है इत्यादि ॥३०॥

अथ कुयोगी आदिवर्णन प्र० ११

शब्द ३१

ऐसो योगिया वैद,करमी, जाके गमन अकाश न धरनी ॥
हाथ न वाके पांव न वाके, रूप न वाके रेखा।
विना हाट हटवाई लावै, करै बयाई लेखा ॥
कर्म न वाके धर्म न वाके, योग न वाके युक्ती।
शींगी पात्र कछू नहिं वाके, काहेक माँगे भुक्ती ॥

विचारादि विना कश्चिद् भवतीत्थं कुयोगवान्।
कुवैद्यश्च तथा कश्चिद् गुरुत्वस्याभिमानवान् ॥ १ ॥
कुयोगवांश्च यस्तत्र तस्य वृत्तमिदं शृणु।
आकाशपृथिवीभ्यां हि विना यस्य गतिः सदा ॥ २ ॥
यस्य हस्तौ न पादौ स्तो रूपाकृती तथैव न।
हट्टाद्यैर्हि विनायश्च वाणिज्यं कुरुते सदा ॥ ३ ॥
यस्य कर्म न वा धर्मो योगो युक्ति र्न यस्य च।
शृङ्गवाद्यं न पात्रं च किञ्चिद् यस्य कदाचन ॥ ४ ॥
तत्स्वरूपो ह्ययं योगी भोगं प्रार्थयते किमु।
भोगप्रार्थनया ह्यस्य योगः संसारतो भवेत् ॥ ५ ॥
तेन याति कुयौगित्वं लोकैश्च निन्द्यते मुहुः।
तस्मादुक्तस्वरूपं स्वं ज्ञातव्यं निर्मलं सदा ॥ ६ ॥

विवेक विचारादि के बिना यह जीव (मनुष्य) ऐसा (विचित्र=अद्भुत) योगिया (कुयोगी-कुशिष्य) और वैदकर्मी (भवदुःख वारकाभिमानी=कुवैद्य=कुगुरु) हुआ है, कि जिसको आकाश और भूमि में किसी वस्तु का कुछ भी गम (ज्ञान होश) नहीं है या कहीं गमन (सद्गति=मोक्ष) नहीं हो सकता है। अर्थात् भोग परायण गुरु शिष्य दोनों सत्य अनुभव और सद्गति नहीं पाते हैं। और वस्तुतः विभु सर्वात्मा के होने से, इनकी आत्मा के आकाशादि में गमन नहीं होते हैं। किन्तु कुयोगिता से गमनादि चाहते हैं। वस्तुतः देहरूप यन्त्रमें

हाथ पाँवादि रहते हैं। अतः यन्त्र ही गमनादि करता है और फलों को भोगता है, और आत्मा के हाथ पाँवरूप रेख (आकार) नहीं है तो भी स्वरूप सत्ता प्रकाश से ही हाट के विना हटवाई (व्यवहार नाप जोख हिसाब) लाता (लगाता) है, तथा वय (व्यय = खर्च) आई (आय) का लेखा (निरीक्षण) करता है। कर्मों के भोग, अभोग, उत्पत्ति, प्रलय, विद्या, अविद्या आदि को जानता है। ये सब इसके स्वरूप प्रकाश से सिद्ध होते हैं। और इसके स्वरूप में विहित अविहित कर्म, कर्मजन्य धर्म (अदृष्ट) या गुण जाति आदि लिप्त नहीं होते हैं। न योग और युक्ति (तर्क) या योग साधन की आवश्यकता होती है। क्योंकि इसका स्वरूप स्वयं प्रकाश है, न इसको शींगी पात्रादि से सम्बन्ध होता है। अर्थात् सच्चे गुरु और शिष्य के मेल होने पर ऐसा स्वरूप का अनुभव होता है, और भोग की तृष्णा वासना नहीं रहती है, तो वह गुरु या शिष्य भोग काहे को (क्यों) माँगेगा। ऐसा स्वरूप के होते भी जो भोग मांगता (चाहता) है, सो अविवेक अज्ञान से कुयोगी होने के कारण माँगता है।

तैं मोहि जाना मैं तोहि जाना, मैं तोहि माँह समाना।
उतपति परलय एक नहिं होते, तब कहु कौनक ध्याना॥
योगि एक आन ठाढ़ कियो है, राम रहा भरि पूरी।
औषध मूल कछू नहिं वाके, राम सजीवन मूरी॥

यदात्वया ह्यहं ज्ञातो गुरुणा त्वं मया तथा।
त्वय्याविशं यदा चाहं शुद्धविज्ञानरूपतः॥ ७॥
तदा समस्वरूपे वै नोत्पत्तिप्रलयौ न च।
विद्येते कश्चिदन्यो वा ध्यानं कस्य तदा भवेत्॥ ८॥
प्रकल्प्यैव कुयोगी वैस्वात्मनोऽन्यं तु रामकम्।
तटस्थं स्थापितं लोके रामः पूर्णोऽत्र तिष्ठति॥ ९॥
यद्वा सुयोगवान् योगी ह्येकं रामं सदद्वयम्।
उपदेशेन सच्छिष्ये पूर्णं प्राकटयत् खलु॥१०॥
मूलौषधिश्च यो रामो मृताऽऽजीवनकारकः।
कुयोगिनो न तद्बोधलेशस्याप्यत्र सम्भवः॥११॥
किन्तु कल्पितरामं तं मत्वा संजीवनं परम्।
संददाति कुयोग्यत्र रोगिभ्यो रोगशान्तये॥१२॥

जब तैं (विवेकी शिष्य) ने मोहि (सद्गुरु) को जाना (पहचाना) और

मैं (गुरु) ने तोहिं (तुझ शिष्य) को ज्ञान भक्ति का अधिकारी जाना (समझा) और मैं जब तुममें ज्ञानोपदेश द्वारा 'समाना' समाया (प्रवेश किया) या जानने पर जब मुझ तुझमें समता हो गई। "गुरु समाना शिष्य में, निज कर लागी नेह। विलगाये विलगे नहीं, एक प्राण दुइ देह ॥१॥" इस प्रकार से जब प्राण (आत्मा) एक हो गया, तब गुरु शिष्य के स्वरूप में उत्पत्ति प्रलयादि एक भी विकार प्रतीत नहीं होते हैं। तब कहो कि ध्यान भी किस अन्य का हो सकता है, निज स्वरूपराम का ही ध्यान होता है, केवल स्वरूप स्थिति रहती है। अनात्म ध्यान भोग-भावनादि निवृत्त हो जाते हैं। क्योंकि कुयोगियों ने एक अनात्म ध्येय को ले आनकर (कल्पना करके) ठाढ़ (खड़ा = स्थिर = निश्चय) किया है। सर्वात्मा राम तो सदा सर्वत्र भरपूर (व्यापक) हो रहा है। और उस राम के मूल औषध दूसरा नहीं है। वही सर्वदा सर्वत्र व्याप्त ही रहता है, और वही राम सजीवन मूरी (जन्मादि दुःखों का नाशक मूल औषध) है या उस कुयोगी के पास में मूल औषध कुछ भी नहीं रहता है, अनात्म राम को सजीवन मूरी समझता है।

नटवत बाजा पेखन पेखै, बाजीगर की बाजी।
कहहिं कबीर सुनहु सन्तो, भै सो राज विराजी ॥३१॥

मिथ्याभ्यासादयं योगी नटवत् कल्पितं बहु।
कौतुकं लोकते यद्धि शाम्बरं न तु तत्त्वतः ॥१३॥
प्रतिहारिकशाम्बर्या मोहितोऽयं जनः सदा।
स्वतन्त्रो राजतुल्योऽपि पारतन्त्र्येण मोदते ॥१४॥
"असुखे सुखमारोप्य विषमेऽज्ञानतो नरः।
करोति सकलं कर्म तत्फलं चावशोऽश्नुते ॥१५॥
अहो मायाऽऽवृतो लोकः स्वात्मानन्दमहोदधिम्।
विहाय विवशः क्षुद्रे रमते किं वदामि तम्" ॥१६॥
सद्गुरुश्चाह भोः साधो ! श्रवणं सुविधीयताम्।
स्वान्त्र्येण परानन्दः सदा स्वेनानुभूयताम् ॥१७॥३१॥

वह कुयोगी नट के समान शींगी आदि बाजा को बजाकर, अनहद बाजा को सुनकर, उस पेखन (तमासा) को पेखता (देखता देखाता) है, कि जो तमासा बाजीगर के बाजी (खेल) तुल्य मिथ्या रहता है। श्रीकबीर साहब कहते हैं कि हे सन्तो ! तुम आत्म श्रवणादि करो, नटबाजी में नहीं भूलो। नट बाजी में भूलने (प्रेमादि करने) से, सो (वह) स्वतन्त्र राज (राजा) योगिया

जीव, विराजी (राज्य रहित परतन्त्र) भया है, और होता है या मिथ्या तमासा से विराजी (विशेष राजी = प्रसन्न) हुआ है, हे सन्तो ! तुम ऐसा भूलकर भी कभी नहीं करो ॥ ३१ ॥

शब्द ३२

नल को ढाढ़स देखहु आई । कछु अकथ कथा है भाई ॥
सिंह सहदूल एक हर जोतिन, सीकत बोइन धाना ।
बन के भलुआ चाखुर फेरे, छागर भये किसाना ॥

कुयोगिनः कुवैद्यस्य नरस्यैवात्र साहसम् ।
जना आगत्य पश्यन्त्वकथनीया कथाऽस्य हि ॥१८॥
अहङ्कारं महासिंहं स्वान्तशार्दूलमेव च ।
एकस्मिन् काम्यकर्मादौ हले सम्वाहत्यसौ ॥१९॥
कश्चिज् जिज्ञासु संमूढौ संप्रेरयति तत्र च ।
विज्ञोऽहङ्कारचित्ते च ह्येकस्मिन्नात्मनि ध्रुवे ॥२०॥
कुयोगी सिकतावीजं हृदये वपति स्वके ।
वासनादिस्वरूपं तत् फलं सत्यं यतो नहि ॥२१॥
विज्ञस्तु कुरुते सर्वं वासनादिविवर्जितम् ।
जन्माङ्कुरसमुद्भूतिः पुन र्यस्माद्भवेन्नहि ॥२२॥
वनवासिजना ऋक्षा घूर्णयन्ति च कोटिशम् ।
स्वीकारलक्षणं यद्वा मनांसि विदुषां खलु ॥२३॥
अज्ञश्छागोऽत्र सम्पन्नः क्षेत्राजीवः सुखी सदा ।
अहो एतन्महाश्चर्यं कश्चिज्जानाति पण्डितः ॥२४॥

हे सन्त जन ! अज्ञ गुरु शिष्यादिरूप मनुष्यों के कुछ ढाढ़स (साहस) को यहाँ आकर (संसार में मानव देह पाकर) देखो (समझो सुनो) । हे भाई ! इनकी कुछ कथा अकथ (अद्भुत) है । इन लोगों ने सिंह सहदूल (सिंह शार्दूल = व्याघ्र) तुल्य (असंयत अहंकार मन) को एक काम्य कर्मरूप हर में जोता (लगाया) है । (ये लोग अहंकार और फल के संकल्पपूर्वक कर्म करते हैं) ज्ञानादि के लिये निष्काम कर्मादि सदा नहीं करते हैं । अतः सत्य ज्ञानाङ्कुर फलादि के अहेतु वासना कामादिरूप धाना (बीज) मानो सिकता (बालू) रूप बीज इन्होंने हृदय में बोया है । तहाँ संसार वन के भलुआ (भालू) तुल्य भूले भटके लोग चाखुर (चौकी) फेरते हैं । उसका अनुमोदन

स्वीकार करते हैं। और छागर तुल्य अज्ञ गुरु शिष्यादि कुयोगी कुवैद्य किसान (व्यवहारी कृषि कर्ता) बने हैं।

छेरी बाघहिं व्याह होत है, मङ्गल गावै गाई।
वन के रोझ लै दायज दीन्हो, गोह लोकन्दे जाई॥

अज्ञबुद्धेरजायाश्च व्याघ्रै विषयदैवतैः।
विवाहो जायते ह्यस्य सुबुद्धेरात्मना तथा॥२५॥
अज्ञोऽपि मङ्गलं तेन गायत्येव मनस्तथा।
वानप्रस्थं तु गवयं कन्यादेयं प्रदत्तवान्॥२६॥
अज्ञस्तस्य गतिं स्वर्गे विज्ञश्चात्मन्यमन्यत।
अलसाश्चेन्द्रियाण्यत्र दास्यो गच्छन्ति गोधिकाः॥२७॥

छेरी (बकरी) तुल्य अज्ञ की बुद्धि का कुदेव विषयादिरूप बाघ के साथ व्याह (विवाह) सम्बन्ध हो रहा है। उसी सम्बन्ध से गाय (गौ) तुल्य जड़ बुद्धिवाले प्रथम से वेदादि में गाई (कही गई) मङ्गल (मुक्ति) को गाते हैं (कहते हैं) और उस विवाह में बन के रोझ मृग (मृग-नीलगाय) तुल्य बनवासी लोग दहेज (दायज) दिये गये, और दिये जाते हैं। वनवासमात्र से देवलोक के अधिकारी समझे जाते हैं। और गोहतुल्य आलसी अकर्मण्य लोग इस विवाह में लोकन्दे (लोकनी = लौंड़ी = दासी) बनकर जाते हैं। कर्म-धर्मादि के बिना ही कर्मी के संग सेवा आदि से स्वर्गेच्छुक हैं।

कागा कापर धोवन लागे, बकुला किरपहिं दाँते।
माँछी मूँड़ मुड़ावन लागे, हमहूँ जाब बराते॥

काकवन्मलिनाः क्रूरास्तेऽपि स्वर्गार्थमुद्यताः।
अभवन् स्नानमात्रेण बकवृत्तिः कथादिभिः॥२८॥
कामाद्या लोभतृष्णाद्याः काकाश्च बकपङ्क्तयः।
ज्ञं शुद्धयन्ति स्वयं तद्वत् कृपारूपाभवन्ति हि॥२९॥
वाममार्गिजना हीनास्ते सर्वे वनमक्षिकाः।
मुण्डनं कारयन्त्यस्माद् यास्यामोऽत्र वयं ध्रुवम्॥३०॥
यां गतिं यान्ति वै लोका दानयज्ञ जपादिभिः।
तां वयं वेषमात्रेणं गतिमेवं विमोहिताः॥३१॥
विज्ञस्य ममतारूपा मक्षिका स्वशिरस्तथा।
अविद्यां नाशयित्वैव यात्यात्मवरसन्निधौ॥३२॥

काक तुल्य मलिन क्रूर लोग कपड़ा धोला रहे हैं, स्नानादि से मानो शुद्ध बन रहे हैं और बकवृत्ति लोग दाँत किरपते हैं (हंसते कथा करते हैं) मानो धोवे हुए वस्त्र को दाँत से पसारते हैं माँखी तुल्य वाममार्गी भक्ष्या-भक्ष्यादि के अविवेकी माथ मुड़ाने में लगे हैं (संन्यासी बन रहे हैं) और ये सब निश्चय किये हैं कि किसानादि सद्गृहस्थ जहाँ अनेक कर्मदानादि करके पुत्र-पौत्रादि सहित जायगें। वहाँ हमहुँ सब इस बरात में सामिल होकर, इसके साथ ही स्नान, कथा, वेषादिमात्र से चले जायगें, मोक्षभवन में पहुचेगें ही हमे कर्म ज्ञान ध्यानादि से क्या लेना है, इत्यादि।

कहहिं कबीर सुनहु हो सन्तोः, जो यह पद अर्थावै।
सोई पण्डित सोई ज्ञाता, सोई भक्त कहावै ॥३२॥

सद्गुरुः प्राह भोः साधो ! श्रूयतां पदमुत्तमम्।
अर्थं योऽस्य विजानाति स ज्ञाता पण्डितश्च सः ॥३३॥
स एव कथ्यते भक्तो भवमुक्त्यधिकारवान्।
भवतेदं सुविज्ञेयं ह्याश्चर्यं विद्यते महत् ॥३४॥
कुयोगिनो ये च कुदैशिका नरा निरङ्कमात्मानमखण्डविग्रहम्।
विदन्ति नो ते बहु कुर्वतेऽनृतं सुदुष्करं सत्पुरुषैर्हि सर्वदा ॥३५॥३२॥

इतिहनुमत्कृतायां शब्दसुधायां कुयोगिकुसम्बन्धादिवर्णनं
नामैकादशस्तरङ्गः ॥ ११ ॥

श्री कबीर साहब कहते हैं कि हे सन्तो ! सुनो कि जो कोई इस पद को अर्थाता हैं (इस पद=शब्द में वर्णित व्यवहारों को करता है) सोई इस संसार में प्रायः पण्डित, ज्ञाता और भक्त कहा जाता है, सो अकथ कथा है। अतः "मिलहिं असन्त मौन हो रहिये" इत्यादि तात्पर्य ॥ ३२ ॥

अथ द्रोहासक्ति आदि से भक्तिज्ञान की अप्राप्ति अपूर्णता प्र० १२

शब्द ३३

जो चरखा (हो) जरि जाय, बढ़हिया ना मरै।
(मैं) कातों सूत हजार, चरखुला जनि जरै॥
बाबा मोर व्याह करो, अच्छा बर हित काहु।
जब लगि अच्छा नहिं मलै, तब लगि आपुहिं व्याहु॥

कर्मतन्त्वर्थयन्त्रस्य दाढे देहस्य सत्यपि।
म्रियते नैव तक्षाऽसावीश्वरो मन एव वा॥ १॥
तस्माद्विदेहमोक्षस्य सम्भवो विद्यते नहि।
अतस्तिष्ठत्ययं देहः कर्मनामादितन्तवः॥ २॥
सहस्रं सेधयिष्यन्ते यतः सौख्यं भवेन्मम।
कुयोग्येवं हि निश्चित्य कुवैद्यगुरुसन्निधौ॥ ३॥
याति तं च वदत्येवं विवाहं मे कुरु प्रभो!।
केनचिद्वरदेवेन हितेन क्रियतां पितः!॥ ४॥
यावन्न मिलति श्रेष्ठो वरो मे वरदायकः।
तावत्स्वयं वृणुष्वाथ हितमेव ततः कुरु॥ ५॥

कुयोगी उक्त पण्डित आदि कहलानेवाले समझते हैं कि यदि यह वर्तमान देहरूप चरखा जर भी जाय, तो बढ़ही (ईश्वर = मन) मरता नहीं है। अतः फिर देह होती ही है, विदेह नित्य मोक्ष की सम्भावना नहीं है। अतः यह वर्तमान ही देह किसी प्रकार बनी रहे, यह चरखुला (चरखा = देह) जनि (नहीं) जरे (मृत्यु नहीं) हो, तब तक मैं इस चरखा से कर्म, जप, तप आदि हजारो सूत कातूँ। सहस्र नामादि को जपूँ। ऐसा समझकर वैद्य गुरुरूप पिता के पास में लोग जाते हैं, और विनय प्रार्थना करते हैं कि हे बाबा! किसी अच्छा (श्रेष्ठ) हित वर (देव स्वामी) के साथ मेरा व्याह (सम्बन्ध) करो (मन्त्र दीक्षा दो) और मुझे जब तक अच्छा वर नहीं मिले (नहीं प्राप्त हो) तब लगि (तब तक) आपही मुझे व्याहो (वरो=मेरा स्वीकार करो) शरण में रखो।

प्रथमहिं नगर पहुँचते, परिगौ शोक सन्ताप।
एक अचम्भा देखिया, बिटिया व्याही बाप॥
समधी के घर लम्धधी (आये), आये बहु के भाय।
गोड़े चूल्हा देइ दे, चरखा दियो ढढाय॥

वर्ततेऽत्र महाश्चर्यं संसारनगरे हि यः।
प्राप्नुवन्नेव जीवः प्राङ् न्यमज्जच्छोकतापयोः॥ ६॥
यतते न स मोक्षाय पितरं ह्यूढवाँस्तथा।
बुद्धावात्मत्वसंभ्रान्त्या तद् दुहितेव च स्थितः॥ ७॥
यद्वा स्वयं पिता जीवो ह्यविद्याबुद्धिरूपिणीम्।
कन्यकां वरयामास सद्गुरुं न कदाचन॥ ८॥

कुगुरुश्च कुशिष्यस्य गृहे पण्डितमानिनः ।
भ्रातरोऽप्यागमन् ह्यस्य कुविवाहस्य सिद्धये ॥ ९ ॥
मिलित्वा चास्य सर्वेऽमी मनोबुद्धी सुपादकौ ।
तापयुक्तार्थचुल्ल्यां वाऽदेदीयन्त कुकर्मणि ॥१०॥
तत्र दत्त्वाऽस्य पादौ च शरीरं ह्यत्यपीडयन् ।
बर्द्धयन्ति स्म सन्तानं शरीरस्य कुवर्त्मना ॥११॥

श्रीकबीर साहब कहते हैं कि जिस नगर में पहुँचते ही इस जीव को शोक सन्ताप प्राप्त हो गये हैं, उस देह संसाररूप नगर से यह मोक्ष नहीं चाहता है, यह आश्चर्य है, और एक यह भी अचम्भा (आश्चर्य) देखा गया है कि यह जीव स्वयं बिटिया (पुत्री) तुल्य बुद्धिरूप बनकर, बाप (पिता) तुल्य जन्मदाता से विवाह किया है (जन्म के हेतु कामादि को मोक्ष का हेतु माना है) तथा मोक्ष हेतु सर्वात्मा सद्गुरु से परिचय के बिना, जीवरूप पिता ने दुर्बुद्धिरूप पुत्री के साथ विवाह किया है। और समधी (सम बुद्धिवाले, फिर भी निज बुद्धि के विवाह को चाहनेवाले) शिष्य के घर में गुरुआ (अज्ञ गुरु) रूप लम्बधी (बेटावाले) आये, और बहु के भाय (भ्राता) अन्य कुबुद्धि, बहुत ईश्वरादि के सत्यत्ववादी लोग आये, सो सब इस जीव के गोड़े (पैर तुल्य गति हेतु मन-इन्द्रयादि) को दुःखद कठिन काम्य-कर्मादिरूप तप्त चूल्हे में दे-देकर मानो चरखा (देह) को भी ढढाय (पीट) दिये।

देवलोक मरि जाहिगें, एक न मरे बढ़ाय ।
या मन रञ्जन कारणे, चरखा दियो दढाय ॥
कहहिं कबीर सुनु सन्तो !, चरखहिं लखै जु कोय ।
जो यह चरखा लखि परै, आवागमन न होय ॥३३॥

देवा लोका मरिष्यन्ति तक्षैको न मरिष्यति ।
इत्येवं बोधयित्वा तं तन्मनोरञ्जनाय च ॥१२॥
देहयन्त्रस्य तस्यैवं दृढतां ते ह्यकारयन् ।
नतु तस्मिन्नसारत्वं मिथ्यात्वं वा स्वबोधयन् ॥१३॥
सद्गुरुश्चाह भोः साधो ! श्रूयतां सुविचार्यताम् ।
देहयन्त्रं निदानेन चाधिष्ठानेन संयुतम् ॥१४॥
यो हि कश्चिद्विवेकेन बुध्यते तन्निरन्तरम् ।
प्रत्यक्षं कुरुते सम्यङ् नैव जञ्जन्यते हि सः ॥१५॥

"सम्यग् दर्शनसम्पन्नः कर्मभि र्न निबध्यते ।
दर्शनेन विहीनस्तु संसारं प्रतिपद्यते ॥१६॥
नदीकूलं यथा वृक्षो वृक्षं वा शकुनिर्यथा ।
तथा त्यजन्निमं देहं कृच्छ्राद् ग्राहाद्विमुच्यते" ॥१७॥३३॥

उन लोगों ने निश्चय करा दिया कि अन्यदेव लोकादि सब मर जायगें। परन्तु एक तेरा बढ़ही नहीं मरेगा, न मरता है। किन्तु वह बढ़ही (देव) तुझे बढ़ायेगा, इस प्रकार से उस गुरु ने उस शिष्य के मनोरञ्जन (प्रसन्नता) के लिये चरखा को दृढ़ करा दिया (देह की सत्यता आदि के निश्चयादि करा दिया) श्रीकबीर साहब कहते हैं कि हे सन्तो! सुनो, जो कोई इस चरखा को चरखा ही समझता है, इसमें आत्मता के अभिमानादि नहीं करता है, और यदि यह चरखा मूल कारणादि सहित समझ में आ जाता है, तो उस विविक्तात्मज्ञानी के आवागमन (जन्म-मरणादि) नहीं होते हैं।

शब्द ३४

बूझहु पण्डित करहु विचारा। पुरुषा है कि नारी॥
ब्राह्मण के घर ब्राह्मणि होती, योगी के घर चेली।
कलमा पढ़ि पढ़ि तुरुकिनि होती, कलि में रही अकेली॥

पण्डिता! भो विचारेण बुध्यतामेव सत्वरम्।
यं मन्यन्ते तटस्थं स पुरुषो वनिताऽथवा ॥१८॥
एवमेव त्वयं देहो विवेकेन निभाल्यताम्।
तद्गतश्च निजात्माऽपि तत्त्वरूपेण दृश्यताम् ॥१९॥
देहं विचार्य जानीत मायाख्यवनितामयम्।
या ब्राह्मणगृहे जाता ब्राह्मणी भवति स्वयम् ॥२०॥
चेटी यागिगृहे सा च मन्त्राणां यवनस्य तु।
पाठेन यवनी जाता कलावेकाकिनी च सा ॥२१॥

उक्त विविक्त आत्मज्ञान के लिये उपदेश है कि, हे सन्तो! ज्ञानी पण्डितों से बूझो (पूछो सुनो) और स्वयं विचार करो या हे पण्डितो! विवेकियों शास्त्रज्ञों! आप किसी ज्ञानी से बूझो और विचार करो कि यह देहरूप चरखा, तटस्थ देवादि संसार, पुरुषा (चेतनात्मा) स्वरूप है कि नारी (माया) स्वरूप है। श्रवण-विचारादि से निश्चय करो कि यह उस नारी स्वरूप ही है, कि जो नारी ब्राह्मणों के घर में ब्राह्मणी होती है, योगियों के घर में चेली=(शिष्या)

होती है, कलियुग में कलमा (यवनमन्त्र) पढ़कर तुरुकिनी होती है और अकेली (स्वतन्त्र) रहती है। अर्थात् घर (देश) कालादि के भेद से अनेक स्वरूप होने वाली माया ही है। देश-कालादि के भेद से भी सत्यात्मा में कभी कहीं भेद या विकारादि नहीं होते हैं, माया की कलि में अति प्रधानता हो गई है, तो भी सर्वात्मा निर्विकार समरस ही है। यह श्रवण विचारादि से ज्ञातव्य है।

वर नहिं वरै व्याह नहिं करई, पुत्र जनामनि हारी।
कारो मूँड़ को एक न छाड़ै, अजहूँ आदि कुमारी ॥
मइके रहों न जाउँ सासुरे, साँई संग न सोवों।
कहैं कबिर मैं युगयुग जीवों, जाति पाँति कुल खोवों ॥३४॥

वरं वृणोति नासङ्गं विवाहं कुरुते न सा।
तथापि तत्प्रकाशाद्यैः पुत्रान् जनयते सदा ॥२२॥
कृष्णकेशं न कञ्चित्सा जहाति तामसं नरम्।
अहो साद्यापि चास्तेऽद्धा ह्याद्यैषाऽऽदिकुमारिका ॥२३॥
अस्या मातुः कुले विश्वे वसामः श्वाशुरे न च।
गुरोः कुले गमिष्यामो न च पत्या शयेमहि ॥२४॥
मातुः कुले सुवासेन जीविष्यामो युगेयुगे।
जाति पङ्क्तिकुलादीनि नाशयिष्यामहे तथा ॥२५॥
वर्णयन्त्येवमाचार्याः कवयोऽपि बहुश्रुताः।
असङ्गं सत्पतिं नैव स्वीकुर्वन्ति न विज्ञताम् ॥२६॥३४॥

क्योंकि वह माया असङ्ग ज्ञानी ब्रह्म वर (स्वामी) को नहीं बरती (स्वीकार करती) है। असंग को विकृत नहीं कर सकती है, तो भी उस असङ्ग ब्रह्मात्मा की सत्ता प्रकाशादि से व्यावहारिक जीवादिरूप पुत्रों को जनामनि (जन्माने वाली) होती है। और कारो मूड़ (काले शिर = कृष्ण केश) वाले अज्ञ तामसी युवा किसी एक पुरुष को भी स्वतन्त्र नहीं रहने देती है, स्ववश किये बिना नहीं छोड़ती है। और अनादि होते भी अजहूँ (अभी) आदि कुमारी ही है, किसी की पत्नी वशवर्तिनी नहीं हुई है। ऐसी माया को माता मानकर भजने वाले कबीर (कवि) कहते हैं कि मैं मइके (माता के गृह संसार) में रहूँगा, सासुर (ज्ञानी सद्गुरु) के यहाँ नहीं जाऊँगा। और असङ्ग पति के साथ नहीं सोऊँगा (मुक्त नहीं होऊँगा)। किन्तु मइके में रहकर युग-युग जीऊँगा, इस संसार में रहते ही जाति-पाति (पंक्ति) कुलादि के अभिमानों को खोऊँगा (नष्ट करूँगा)

यही सुखप्रद मुक्ति मात्र भक्ति गम्य है। सर्वथा विदेह मुक्ति तो मर जाना स्वयं नष्ट होना है, इत्यादि ॥ ३४ ॥

शब्द ३५

साईं के संग सासुर आई।

संग न सूती स्वाद न मानी, गौ यौवन स्वप्न की नाई ॥

ज्योतिरात्मा[1] जगत् स्वामी हृदये वर्त्तते सदा।
सहैव तेन जीवात्मवामा विश्वे समागता ॥२७॥
अहो तथापि मोहेन तेनैक्यात्मस्वभावतः।
प्रातिष्ठतास्य बुद्धिर्न नचैवायं कदाचन ॥२८॥
अतो नास्य सदा शुद्धं परानन्दममन्यत।
तत्स्वादेन विहीनस्य तारुण्यं स्वप्नवद् गतम् ॥२९॥
मानुष्यं खलु तारुण्यं सत्पते र्लब्धये क्षमम्।
नष्टेऽस्मिन् स्वप्नतुल्येऽर्थे तत्प्राप्तिरति दुर्लभा ॥३०॥

जो कोई कहते हैं कि असङ्ग स्वामी के सङ्ग में नहीं सोऊंगा, सो अज्ञान ही से कहते हैं। क्योंकि उनकी माता (माया) और उनकी बुद्धि भी स्वामी के साथ ही सासुर (कामादि असुर युक्त संसार) में[2] आई है। तहाँ कामादि असुरों के प्रभाव से संग में नहीं सो सकी (एकात्मता का अनुभव नहीं कर सकी) न स्वामी के विभु सत्य स्वरूप को समझ सकी, अतएव ब्रह्मानन्दरूप स्वाद को भी नहीं मानी (उस स्वाद का मनन विचार अनुभव नहीं कर सकी) अतः इस मानव शरीर में स्थिति रूप यौवन (स्वस्थ समर्थावस्था) स्वप्न के समान मिथ्या गृह विषयादि के सम्भालन चिन्तनादि में ही बीत गया, सत्यानन्द की प्राप्ति सर्वतापादि की निवृत्ति रूप मुक्ति नहीं हुई न हो सकती है।

जना चार मिलि लगन शोचायो, जना पाँच मिलि मण्डप छाई।
सखी सहेलरि मङ्गल गावै, दुख सुख माथे हरदि चढ़ाई ॥

पत्युः सत्यस्य चाऽप्राप्तौ त्वसत्यस्यैव लब्धये।
शोधयन्तिस्म सल्लग्नं सर्वान्तःकरणानि वै ॥३१॥

---

१ "योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः। बृ. ४।३।७" "स वा एष महानज आत्माऽजरोऽमरोऽमृतोऽभयोब्रह्म। बृ.४।४।२५"। २ "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। श्वे. ४।६"।

साधयन्तिस्म भूतानि देहाख्यं मण्डपं दृढम् ।
पञ्चापि दुःखदं स्थूलं महानर्थप्रवर्तकम् ॥३२॥
विषयादौ समासक्ता ह्यवशाश्चातिचञ्चलाः ।
इन्द्रियप्राणसख्यश्चास्त्वगायन् मङ्गलान्यतः ॥३३॥
सुखदुःखहरिद्रास्ता अर्पयन्ति च मस्तके ।
जीवस्यात्मनिसद्रूपेऽन्योन्याध्यासेन सर्वदा ॥३४॥

उक्तरीति से सत्य स्वामी की प्राप्ति मुक्ति इस मानव देह द्वारा नहीं होने पर, मरण के बाद फिर असत् पति भोगादि की प्राप्ति के लिये, चार जना (मन, बुद्धि, चित्त, अहंकाररूप चार अन्तःकरण) लग्न शोचने वाले हुए । फिर पांच जना (पृथिवी, जल तेज, वायु, आकाश) मिलकर नवीन देह रूप मण्डप छाये (बनाये) तहाँ यदि दैव योग से फिर मानव देहमिलो, तो वहाँ भी भोगादि की सम्मति देने वाली, इन्द्रियादि रूप जीव बुद्धि की सखी सहेली (साथी) सब भोगों से ही मंगल गाती हैं, और दुर्बुद्धियुक्त जीव रूप दुलहिन के शिर पर दुःख सुख रूप हरदी चढ़ाती हैं। जीव के शुद्धात्मा में सुख दुःखादि का आरोप करती हैं।

नाना रूप परी मन भाँवरि, गाँठि जोरि भाई पतिआई ।
अर्ध देइ ले चली सुवासिनि, चौकहिं राँड भई संग साई ॥

यन्नाना हि मनोरूपं तद्धि सप्तपदी स्मृता ।
सम्भ्रान्तिलक्षणा तत्र ग्रन्थिबन्ध स्त्वविद्यया ॥३५॥
अन्योन्याध्यासरूपेण कामाशालक्षणेन वा ।
ग्रन्थिबन्धेन जीवोऽयं बुद्धिर्वा विश्वसित्यलम् ॥३६॥
भ्रातरं देवमन्यं वा नचात्मानं प्रियं प्रभुम् ।
हितं सर्वस्य लोकस्य विधातारं च मायया ॥३७॥
सम्पन्ने कुविवाहे च सुवासिन्या समाजनाः ।
पत्ये ह्यर्घ[1] समर्प्यैव गच्छन्ति स्म यतस्ततः ॥३८॥
विवाहेखलु जातेऽपि पत्यौ वेद्यां स्थितेऽपि च ।
विधवेव जनाः सर्वेऽभवँस्तन्नाश निश्चयात् ॥३९॥
सत्पतौ हृदि वेद्यां च स्थित एवाबुधा जनाः ।
विज्ञानेन विनातस्य विश्वस्ता[2] अभवँस्तथा ॥४०॥

१ साक्षतं सुमनोयुक्तमुदकं दधिसंयुतम् । अर्घं, दधिमधुभ्यां च मधुपर्को विधीयते ॥१॥ कात्यायन स्मृतिः ॥ २ विधवाः ॥

उक्त सुख-दुःखादि की प्राप्ति से मन के नाना संकल्प विकल्प हर्ष-शोकादि रूप परिणाम (वृत्ति) हुए, सोई भाँवरी परी (भ्रमण प्राप्त हुआ) फिर अन्योन्याध्यास काम स्नेहादिरूप गाँठी (ग्रन्थिबन्धन) को जोर (सिद्ध) करके अपने भाई (भ्राता) मन देवादिमें स्वामीपनका विश्वास बुद्धि तथा जीवने किया (पतिआया) तब सुवासिनी (देवभक्त) लोग उस मनःकल्पित था देवादि पति के लिए अर्घादि देकर चली । परन्तु असङ्ग सर्वात्मारूप स्वामीके सदा साथमें हृदयरूप चौके में वर्तमान रहते ही, उस असत पति के मरण के निश्चय से तथा प्रत्यक्ष अप्राप्ति से चौके में ही बुद्धि राँड़ (विधवा) हो गई, और होती है । जीवित अवस्था में पति को नहीं पाई । अतः मरने पर पाने की आशा बनी रह गई ।

भया विवाह चली बिनु दुलह, बाट जात समधी समुझाई ।
कहैं कबिर मैं गौने जैहौं, तरब कन्त ले तूरब जाई ॥३५॥

सम्पन्नेऽपि विवाहेऽतः सर्वे पत्युर्विनैव हि ।
गच्छन्ति गच्छतो मार्गे बोधयन्ति हि बञ्चकाः ॥४१॥
वयं सर्वेऽपि गन्तारो गुरवः स्वर्ग उत्तमे ।
तत्र तूर्णं पतिं लब्ध्वा भवतीर्णा भवेम ह ॥४२॥
जीवतो नैव मुक्तिः स्यात्कस्यचिद्धि कथञ्चन ।
इत्यादि दर्शयन्त्यज्ञा अहो मोहविडम्बना ॥४३॥

शरीरयन्त्रस्थितयेऽस्यलब्धये, भजन्ति मूढाः कुगुरुं हरिंतथा ।
विभेददृष्ट्या विमलं हृदिस्थितं, विदन्ति नो तं ननु मायया हताः ॥४४॥३५

इति हनुमत्कृतायांशब्द सुधायां शरीरासक्तस्येशभक्तस्यापि निजात्मनोऽलाभादि वर्णनं नाम द्वादशस्तरङ्गः ॥१२॥

उक्त रीति से विवाह भया (हुआ) । परन्तु दुल्लह (दुलहा स्वामी) की प्रत्यक्ष प्राप्ति के बिना जब शोकादियुक्त जीव की बुद्धि संसार मार्ग कर्मादि में चली, तब उसी बाट (मार्ग) से जाते हुए समधी (उसके गुरु समाधान करने वाले) ने शिष्य की बुद्धि को समुझाई (बात कही) कि जिसका मैंने उपदेश दिया है । वह स्वामी इस लोक में नहीं मिलता है, किन्तु मरने पर परलोक में मिलता है । (कबिर) गुरुओं ने यह भी कहा और कहते हैं कि मैं भी यहाँ से मरने पर गौने (गमन करके) परलोक में जाऊँगा, तो वहाँ कन्त (स्वामी) के पास में जाकर, कन्त को लेकर (प्राप्त करके) तूरब (शीघ्र) तब (मुक्त होऊँगा) इसी प्रकार से तेरी भी मुक्ति होगी ॥ ३५ ॥

अथ मनःकामादिप्रबलता प्र० १३

शब्द ३६

(भाइरे) गइया एक विरञ्चि दियो है, (गइया) भार अभारो भाई।
नौ नारी के पानि पियत है, तृषा तयो न बुझाई॥
कोठा बहत्तर औ लौ लायो, वज्र किवार लगाई।
खूँटा गाड़ि डोरि दृढ बान्ध्यो, तैयो तोरि पराई॥

सृष्ट्वा प्रबलमेकैकं गांजीवेभ्यः प्रदत्तवान्।
विधाता स ह्यभारोऽपि महाभारोऽभवत्तदा॥ १॥
नवद्वारस्थनाडीभि र्विषयापः पिवन् सदा।
तृप्तो न जायते जातु धावते सर्वतस्तथा॥ २॥
योगिनस्तृप्तये त्वस्य स्थित्यै चैव प्रयत्नतः।
द्विसप्ततिप्रकोष्ठेषु वर्तयन्ते स्म धारणाम्॥ ३॥
वज्राऽररसमं रुध्वा सर्वमिन्द्रियसम्पुटम्।
सुनिश्चित्य तथा ध्येयं तत्रैव सति कीलके॥ ४॥
ध्यानात्मवृत्तिदाम्नाच तं बध्नन्ति समाहिताः।
अहो तथापि तच्छित्त्वा गच्छत्येव यतस्ततः॥ ५॥

जीवों मे उक्त अज्ञानादि क रहने से विरञ्चि (समष्टिमनरूप उपाधिवाले हिरण्य गर्भरूप ईश्वर) ने सब जीवों को मानो पोषने के लिये एक एक व्यष्टि मन रूप गाय दिया है, कि जिससे जीवों के सब व्यवहार सिद्ध होते हैं। परन्तु हे भाई पूर्ण विवेकादि के बिना,. वह गइया अभार (बोझ गुरुत्व रहित) होते भी सब के लिये भाररूप हो गई है, क्योंकि खुले नवद्वारों की नाड़ियो द्वारा विषयरूप पानी सदा पीती है, तैयो (तो भी) उसकी तृषा(तृष्णा) बुझाती (शान्त होती) नहीं है। योगियों ने सब द्वारों का निरोधरूप वज्र किवाड़ा लगाकर, फिर भीतर की बहत्तर कोठरियों में लौ (ध्यान) लगाया और ध्येय देव मूर्ति आदि रूप खूँटा गाड़कर (निश्चय करके) प्रेम-ध्यानादिरूप डोरी से उस मनको अच्छी तरह से बाँधा, तो भी वह गइया उस डोरी को तोड़कर पराई (भागती) है।

चारि वृक्ष छौ शाखा वाके, पत्र अठारह भाई।
एतिक लै गम कीहिस गइया, गइया अति हरहाई॥

ई सातो औरो है सातो, नौ औ चौदह भाई।
एतिक गइया खाय बढ़ायो, गइया तौ न अघाई॥

वेदाख्यांश्चतुरो वृक्षाण् षट् शाखांश्च तदङ्गकान्।
अष्टादशपुराणानि तत्पत्राण्यधिगम्य सः॥ ६॥
नैव तृप्तोऽतिचण्डोऽयं चपलो धावते मुहुः।
नवं नवं सदैवेच्छँस्तृणं भोग्यं तथोत्सवम्॥ ७॥
सप्त द्वीपसमुद्रादि धातुस्वर समन्वितम्।
प्रत्यक्षं च परोक्षं च दृष्टं चैव श्रुतादिकम्॥ ८॥
व्याकरणानि खण्डांश्च नव विद्याश्चतुर्दश।
भुवनानि च सर्वाणि भोजयित्वा तृणानिसः॥ ९॥
अत्यन्तं वर्द्धितो व्यर्थं बुभुक्षां न जहाति चेत्।
सौहित्यं जायते नास्य तृषोदन्यैव वर्तते॥१०॥

वेद रूप चार वृक्ष, उनके अङ्ग, व्याकरण, ज्योतिष, निरुक्त, पिङ्गल, शिक्षा, कल्प, रूप छौ शाखा, और पुराण रूप अठारह पत्र, हे भाई वह गाय एतिक (यहाँ तक) गम (गति ज्ञान) को कीहिस (प्राप्त किया) वेदादि के ज्ञान को और वेदादि के अनुसार कर्मादि को प्राप्त अनुष्ठित किया। उनके फलों को भोगा। तो भी अति हरही (चञ्चल) रह गई। प्रत्यक्ष देहगत ई (यह) त्वक, रुधिर, मांसादि सात धातु, सात स्वरादि को. और परोक्ष सातसमुद्रादि को, तथा नव खण्ड नवनिधि, चौदह विद्या भुवनादि को खाय कर, इन सब के साथ सम्बन्ध वाले सब भोगों को भोग कर गइया बढ़ायो (वृद्धि को प्राप्त किया) तो भी अघाई (तृप्त हुई) नहीं। "प्रथमं प्रोच्यते ब्राह्मं द्वितीयं चैन्द्र मुच्यते। याम्यं प्रोक्तं ततो रौद्रं वायव्यं वारुणं तथा॥१॥ सावित्रं च तथा प्रोक्तमष्टमं वैष्णवं तथा॥२॥ भविष्य पु. प. १ अ० १। ६। का वचन है कि ब्राह्म १ ऐन्द्र २ याम्यं ३ रौद्र ४ वायव्य ५ वारुण ६ सावित्र ७ वैष्णव ८ व्याकरण कहे गये हैं, पाणिनीय सहित नव व्याकरण होते हैं। कहीं अन्य प्रकार से भी शाब्दिक वर्णित हैं॥

खुरता में राती है गइया, श्वेत सींग है भाई।
अवरण वरण कछू नहिं वाके, खाद्य अखाद्यहुँ खाई॥
ब्रह्मा विष्णु खोजि नहिं पाये, शिव सनकादिक भाई।
सिद्ध अनन्त वहि खोज परे हैं, गइया किनहुँ न पाई॥

रजसा गमने रक्तः सत्वं शृङ्गं तु शोभते ।
वर्यावर्य प्रभेदोऽस्य विद्यते नहि कुत्रचित् ॥११॥
वर्णावर्ण प्रभेदो वा नास्त्येवाऽस्य ततः सदा ।
खाद्यं खादत्यखाद्यं च योनिकालादि भेदतः ॥१२॥
ब्रह्मा विष्णु महेशश्च सनकाद्या मुनीश्वराः ।
अन्विष्यापि व्रजन्तं तं लब्धवन्तो नचाद्भुतम् ॥१३॥
अस्यैवान्वेषणे सिद्धा अनन्ताः सन्ति तत्पराः ।
लब्धवन्तो न केऽप्यस्य गतिं सत्वरगामिनः ॥१४॥
रक्तःश्वेतस्तथा कृष्णो भूत्वा धावति सर्वतः ।
दुर्गमश्चास्य मार्गो वै केनचिन्नैव लभ्यते ॥१५॥

खुरता में (खुर-खुर= शीघ्र चलने में) गइया राती (रति=प्रीति वाली) है । या ता (उस) गइया में खुर आदि नीचे का भाग, गमन शक्ति, राती (लाल-रजोगुण) रूप है । और उसका सींग (स्थिर प्रधानांश) श्वेत (सात्त्विक) है । अतः केवल सत्त्वगुण के अभाव से इसके लिए अवरण वरण (अग्राह्य ग्राह्य) का कुछ नियम नहीं है, योनि देश कालादि के भेद से यह गइया खाद्य अखाद्य सब कुछ खाती है । इसके बाहर भाग जानेपर ब्रह्मा विष्णु भी इसको खोजकर-ढूंढ़कर नहीं पाये कि यह कहाँ कितने समय में जाती है । श्रीशिव-जी और सब भाई सनकादिक भी इसकी गति आदि को नहीं पाये । अनन्त सिद्ध इस मन की गति प्रपञ्च के खोज में पड़े (लगे) हैं । परन्तु कोई भी मन के प्रपञ्च को खोजकर पार नहीं पाये । अतः इसको खोजना व्यर्थ है, चिदा-नन्द अचल अमल सत्यात्मा का ही अन्वेषण कर्तव्य और सर्वथा सार्थक है ।

कहहिं कबीर सुनहु हो सन्तो !, जो यह पद अर्थावै ।
जो यह पद को गाय विचारै, आगे ह्वै निर्बावै(है) ॥३६॥

य आचक्षीत चास्यार्थं यः प्रगाय विचारयेत् ।
स जनो ह्यग्रणी भूत्वा जनानन्यान् विमोचयेत् ॥१६॥
सद्गुरुश्चाह भोः साधो ! श्रुत्वेदं सुविचार्यताम् ।
अर्थस्यावगमं कृत्वा प्रगायेदं विमुच्यताम ॥१७॥
"कृतस्फारविचारस्य मनोभोगादयोऽरयः ।
मनागपि न भिन्दन्ति शैलं मन्दानिला इव ॥१८॥
विचारवैराग्यवता चेतसा गुणशालिना ।
देवं पश्यत्यथात्मानमेकरूपमनामयम्" ॥१९॥३६॥

अतः श्रीकबीर साहब कहते हैं कि हे सन्तो! सत्यात्मा के श्रवणादि करो। क्योंकि मन के प्रपञ्च को छोड़कर जो यह पद (इस आत्म स्थान वस्तु) रूप अर्थ के तरफ आवै (अर्थ आवै) आता है। इस मेरे उपदेशरूप पद को गाकर आत्म-विचार करता है, मन आदि के प्रपञ्च को आत्माधीन समझता है, सो सत्यात्मदर्शी अग्रगामी गुरु होकर दूसरे को भी निर्वावै (निर्बन्ध = निर्वाण पद को प्राप्त कराता) है "अविचारकृतो बन्धो विचारेण निवर्तते। तस्माज्जीवपरात्मानौ सर्वदैव विचारयेत् ॥ पञ्चदशी" विचाराभाव से उपलक्षित अविद्या कामादि से जन्मादि संसार बन्धन होता है, विचारजन्य ज्ञान से अविद्या की निवृत्तिपूर्वक बन्ध की निवृत्ति होती है। अतः जीव और परमात्मा का विचार सदा कर्तव्य है ॥३६॥

शब्द ३७

कबिरा तेरो घर कन्दला में, या जग फिरत भुलाना।
गुरु की कही करत नहिं कोई, अमहल महल दिवाना ॥
सकल ब्रह्म महँ हंस कबीरा, कागन चोंच पसारा।
मनमथ कर्म धरे सब देही, नाद बिन्द विस्तारा ॥

भो जीव! ते गृहं शुद्धं हृद्गुहायां हि वर्तते।
सर्वाधिष्ठानचिद्रूपं भ्रमाज्जगति घूर्णसे ॥२०॥
एते संसारिणः सर्वे गृहज्ञानं विनैव हि।
विघूर्णन्तेऽत्र मोहेन लभन्ते न सुखं क्वचित् ॥२१॥
गुरोर्वाक्यानुसारेण नानुतिष्ठन्ति केचन।
अगृहे गृहबुद्ध्या तु प्रमत्तं दृश्यते जगत् ॥२२॥
सर्वे विवेकिनो हंसा जीवा ब्रह्मणि सर्वदा।
वर्तन्ते तन्मयाश्चैव काका ये त्वविवेकिनः ॥२३॥
ते भोग्यादि कुमांसार्थं मनोबुद्धिपुटं सदा।
स्फारयन्ति न बोधार्थं दुर्बोधमलिनाशयाः ॥२४॥
अतस्ते मन्मथस्यैव क्रियां व्यावायलक्षणाम्।
कुर्वते येन नादस्य विन्दोश्च विस्तृतिर्भवेत् ॥
वंशद्वयात्मिका यद्वा नामरूपात्मिकाऽनृता ॥२५॥

पूर्वोक्त विचार का ही विशेषरूपसे वर्णन है कि हे कबीरा (जीव!) तेरा घर (व्यक्तरूप से स्थिति का स्थान) हृदयरूप कन्दला (कन्दरा गुफा) में 'हृदयाऽऽ-

काश रूप है। "आत्माऽस्य जन्तो र्निहितो गुहायाम्। कठोप० १।२।२०" इत्यादि शास्त्र के अनुसार हृदय कमल गत बुद्धि में इस जीव का सत्यात्मा व्यक्तरूप से निहित (स्थिर) है। उस स्वरूप को जाने बिना तुम इस मन माया कृत प्रपञ्चरूप संसार में भूला फिरता है। और सब सद्गुरु हृदय में ही ब्रह्मनिष्ठ होने के लिये कहते हैं। किन्तु कोई अविवेकी कामी गुरु की कही बातों को न सुनता है, न उसके अनुसार विचार-ध्यानादि करता है। किन्तु अमहल महल = (मिथ्या संसार घर) लोकादि में ममता आदि करके सब दिवाना (उन्मत्त = आसक्त) हुआ है। हे कबिरा सकल हंस (विवेकी) लोग तो ब्रह्म (विशुचिदानन्द स्वस्वरूप) में स्थिर रहते हैं। क्योंकि "ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्त्वमेति। छा० २।२३।१" इत्यादि उपदेशों के अनुसार ब्रह्म में सम्यक् स्थिति से अमृतत्त्व की प्राप्ति को विवेकी समझते हैं। परन्तु काक तुल्य अविवेकी विषयादि के ही लिये ही मन की इच्छा, तृष्णा, आशा आदिरूप चोंच को पसारते (फैलाते) हैं। और वे ही अविवेकी देही (देहाभिमानी) सब मनमथ (काम) के कर्मों (मैथुनों) का धारण करते हैं कि जिससे नाद बिन्दु (शब्द वीर्य) के कार्यों का विस्तार होता है, कनक-कामिनी आदि द्वारा नामरूप की वृद्धि होती है, जिसका प्रथम शब्द में वर्णन हुआ है। इसीसे अमृततत्त्व नहीं मिलता है।

सकल कबीरा बोलै बानी, पानी में घर छाया।
अनन्त लूट होत घट भीतर, घट का मर्म न पाया॥
कामिनि रूपी सकल कबीरा, मृगा चरन्दे होई।
बड़ बड़ ज्ञानी मुनिवर थाके, पकरि सके नहिं कोई॥

सत्यशब्दं कदाचित्तु ते सर्वेऽपि वदन्ति हि।
तथापि ह्यतिमोहेन संसाराब्धिजले गृहम्॥२६॥
कुर्वन्ति चातिगम्भीरे तद्रहस्यं विदन्ति नो।
अनन्तनिधिनाशो यः क्रियते कामतस्करैः॥२७॥
गुरवोऽपि महात्मानः संदिशन्ति हितं सदा।
तथापि तेऽतिमालिन्याद् वर्तन्ते हि कुवर्त्मसु॥२८॥
कामाद्यैः कलिताश्चौरै र्हृद्रहस्यं विदन्ति न।
कामिन्याख्यमृगाश्चातश्चरन्ति शान्तिशस्यकम्॥२९॥

इन्द्रियाख्यमृगास्तद्वत्कामिन्यादिचराः खलु।
बहिर्मुखा हि धावन्ति भवन्त्यन्तर्मुखा न च ॥३०॥

हृद्रहस्यज्ञभिन्ना ये महान्तो ज्ञानिनो मताः।
मुनयोऽपि महात्मानस्तेऽपि तेषां प्रमार्गणे॥
श्रान्ता एवाऽभवन् सर्वे ग्रहीतुं चात्र नाशकन् ॥३१॥

देहाभिमानी मैथुनासक्त सकल कबिरा (जीव मनुष्य) सत्य ब्रह्मात्मादि की बानी दूसरे के लिये बोलते हैं। परन्तु प्रायः स्वयं विषयरूप पानीयुक्त संसार में उन्होंने घर छाया है (बनाया है)। अतः घट के भीतर जो अनन्त ब्रह्मानन्द शान्ति सुख की लूट होती है, कामादि उसको लूटते छिपाते हैं, उस घट के मर्म को उन लोगों ने नहीं पाया (नहीं समझा)। अतः कामिनी (कामवश प्रेम करनेवाली स्त्री) रूप जो मृग सब, शान्ति ज्ञान-ध्यानादि खेती को चरन्दे (चरनेवाले) होवे हैं तथा जो इन्द्रियरूप मृग सब कामिनी आदि को चरनेवाले होते हैं। भोग-प्रदानादि से उन्हें वश में शान्त करने के लिये यत्न करते-करते बड़े-बड़े ज्ञानी (शास्त्रज्ञ) मुनि लोग थक गये। परन्तु इन मृगों को कोई भोगी पकड़ नहीं सके (भोग से तृप्त शान्त नहीं कर सके)। अतएव शास्त्र कहता है कि "न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति" कामियों का काम कभी उपभोग से शान्त नहीं होता है, इत्यादि।

ब्रह्मा वरुण कुबेर पुरन्दर, पीपा औ प्रहलादा।
हिरणाकश नख उदर विदारे, तिनहुक काल न राखा॥
गोरख ऐसो दत्त दिगम्बर, नामदेव जयदासा।
इनकी खबर कहत नहिं कोई, कहाँ कियो है वासा॥

श्रीब्रह्मा वरुणश्चैव कुबेरश्च पुरन्दरः।
पीपाप्रह्लादभक्तौ यौ हिरण्यकश्यपस्य यः॥
उरसोऽपि नखैर्भेत्ता तान् कालो ह्यत्तवान् बली ॥३२॥

गोरक्षो यो महायोगी दत्तात्रेयो दिगम्बरः।
नामदेवो महाभक्तो जयदेवः कवीश्वरः ॥३३॥
एतेषामपि वृत्तान्तमिदानीं नोच्यते जनैः।
कैश्चित्किञ्चिद् वसन्त्येते कथं कुत्रेति निश्चितम् ॥३४॥
एतेषामीदृशत्वेऽपि वाञ्छन्ति विषयान्नराः।
देवत्वं सिद्धिसम्पत्तीः प्रभुत्वं बलमेव च ॥३५॥

हृद्रहस्यं न जानन्ति समिच्छन्ति न वेदितुम् ।
अहो दौर्भाग्यमेतेषां किं कथं कथयाम्यहम् ॥३६॥

यद्यपि लोग स्थिर नाम नामीयश वंशादि चाहते हैं तथापि नामादि स्थिर रहनेवाले नहीं हैं । क्योंकि ब्रह्मा, बरुण, कुबेर, इन्द्र, पीपा और प्रह्लाद को तथा हिरण्यकश्यप के उदर को जिस नृसिंह ने नख से विदारा (फाड़ा) उन सबको भी काल स्थिर न रखा और गोरख ऐसे योगी, दत्तात्रेय ऐसे दिगम्बर (दिग्वासा विरक्त) नामदेव जयदेव ऐसे दास (भक्त) हुए । परन्तु इनकी खबर भी कोई नहीं कहता है कि ये सब कहाँ वास किये हैं, अर्थात् सब नाम रूप विनश्वर हैं । इनकी इच्छा नहीं करके ब्रह्मनिष्ठ होना चाहिये । क्योंकि–

चौपड़ खेल होत घट भीतर, जन्म कि पासा डारा ।
दमदम की कोई खबर न जानै, करि न सकै निरुआरा ॥

धूर्तेन मनसा तेन कैतवं कुतुकं गृहे ।
देहस्याभ्यन्तरे नित्यमक्षै र्भवति जन्मभिः ॥३७॥
कालः क्रीडति वा जन्मपाशकै र्हृद् गृहान्तरे ।
श्वासोच्छ्वासस्य वृत्तान्तं तस्य वेत्ति न कश्चन ॥३९॥
हृद्रहस्यज्ञभिन्नश्चा गुरो र्वाक्यं विना नरः ।
तस्य सम्यग् विवेकं न कर्तुं शक्तो न निर्वृतिम् ॥३९॥

नामादि की इच्छाओं के रहने पर मन मायाकृत चौपड़ (जूआ) रूप खेल घट (देह) के भीतर (हृदय में) सदा होता है । जिसमें जन्मों का हेतु पासा (संकल्प विकल्पादि) रूप डारा जाता है । अज्ञ जीव जितने बार इस खेल में हारते हैं, (जितने संशय प्रमाद मोह ममता आदि करते हैं) । उतने बार, तथा उससे बहुत अधिक बार जन्म लेना होता है, वह पासा दम दम (श्वास श्वास) में डारा जाता है, अन्य के अनिष्ट का, अन्य के स्त्री धनादि का चिन्तनादि किया जाता है, हरि गुरु धर्मादि का चिन्तन नहीं किया जाता है, जिसकी खबर को (निवारणार्थक उपदेशादि को) कोई अज्ञ अविवेकी नहीं जानता मानता है, अतः उसका निरुआर (निवारण) भी नहीं कर सकता है ।

चार दिशा महिमण्डल रच्यो है, रूम साम बिच दिल्ली ।
ता ऊपर कछु अजब तमासा, मारे हैं यम किल्ली ॥

अन्तर्वच्च बहिः कालः क्रीडनस्य प्रसिद्धये ।
चतुर्दिग्भिः सुसंयुक्तं कृतवान् भूमि मण्डलम् ॥४०॥

रूमदेशोऽस्य पश्चाद्वै पूर्वांशः शाम संज्ञकः।
मध्यस्था साऽतिविख्याता दिल्ली च परिवर्तते ॥४१॥
आश्चर्य कौतुकं किञ्चिद्वर्तते यमकीलकम्।
यल्लभार्श्चात्र भूपाला म्रियन्ते बहुधा भुवि ॥४२॥
एवं कालेन चित्तेन देहाख्यं भूमिमण्डलम्।
चतुर्दिग्भिर्युतं नित्यं क्रियते क्रीडनाय हि ॥४३॥
रूमदेशः शिरस्तत्र पादः शामेति कथ्यते।
दिल्ली च हृदयं तत्र कामाद्या यमकीलकम् ॥४४॥
एवं स्त्रियाः स्तनं पुंसोलिङ्गं च यमकीलकम्।
मेम्रियन्तेऽत्र संसक्ताः संशयोऽत्र न विद्यते ॥४५॥

उक्त चौपड़ के ही लिये मनमाया ने चार दिशायुक्त भुमण्डल और स्थूल मानव देह को रचा है, कि जिसमें रूमदेश पश्चिम है, देह में बालयुक्त शिर और पृष्ठ पश्चिम है, शाम (आसाम) पूर्व है, देह में देह की समाप्ति रूप पैर पूर्व (आसाम) है बीच में दिल्ली राजधानी है, देह में दिल (मन) का स्थान हृदय दिल्ली है या लिङ्ग के नीचे का कन्द देह में दिल्ली है, उनके ऊपर कुछ अजब (अद्भुत) तमासा है कि वहाँ मनमाया ने मानो यमकिल्ली (जीव पशु बन्धनार्थक यम कृत किल्ली=खूंटा (मारा) गाड़ा=ठोका) है। अर्थात् दिल्ली में राजधानी कायम किया है कि जिसकी प्राप्ति के लिये युद्ध से मृत्यु होती है और शरीर में लिङ्ग स्तन दुष्ट भावादि रूप यमकिल्ली दिल्ली के ऊपर मनमाया ने लगाया है, कि जिनके दुरुपयोगादि द्वारा उनमें बंध कर जीव नरकादि दुःखों को बार-बार भोगते हैं।

सकल अवतार जाहि महिमण्डल, अनन्त खड़ा कर जोरे।
अदबुद अगम अगाह रच्यो है, ई सब शोभा तेरे॥

भूमण्डलस्य तस्यैवावतारा अपि लब्धये।
महिपालास्तथा सर्वे नित्यं वन्दन्ति हीश्वरम् ॥४६॥
तिष्ठन्ति ते साञ्जलयो विरमन्ति न केचन।
अहो एते न बुद्ध्यन्ते शाम्बरं विश्वमण्डलम् ॥४७॥
आश्चर्यमत्यगम्यं च गम्भीरं वर्तते तथा।
कार्यं भूमण्डलं तेन सर्वे वाञ्छन्ति सर्वदा ॥४८॥
विचारे च कृते जीव ! विभूतिस्ते प्रसिद्ध्यति।
भूमण्डलादिकं सर्वं शोभैव तव वर्तते ॥४९॥

किम्वा सर्वेऽवताराश्च ह्यनन्ता देवदानवाः।
भूमिस्था यं च वन्दन्ति तस्य ते सुषमा त्विदम् ॥५०॥

इस भूमण्डल तथा देह में अनन्त कष्ट दुःखविपत्ति के होने पर भी सब अवतार और जाहि (जिन्हे) भूमण्डल का राज्य मिला है, वे सब अनन्त लोग, फिर भी जन्मान्तरादि में भूमण्डल देहमण्डल के लिये ही कर जोरे खड़े हैं। कर जोर कर ईश्वर की स्तुति भक्ति तप आदि कर रहे हैं। क्योंकि यह भूमण्डलादि रूप संसार, बहुत अद्भुत (आश्चर्य स्वरूप) और अगम (सत्यस्वरूप से अज्ञेय) अगाह (अगाध=अथाह=अपार) स्वरूप मन माया से रचा गया है। अतः रोचकता के कारण इसी को सब चाहते हैं, निर्गुण परमानन्द को सब नहीं चाहते हैं। अतः ब्रह्मनिष्ठ सब नहीं होते हैं। परन्तु विचार करने से ई=(यह) सब संसार तेरी शोभा (मायामय विभूति) सिद्ध होती है। तेरा ब्रह्म स्वरूप ही इसका आधार है, सत्य सुख स्वरूप है, अतः ब्रह्मनिष्ठ होना चाहिये।

सकल कबीरा बोलै बीरा, अजहुँ होहु हुसियारा।
कहहिं कबिर गुरु सिकली दर्पण, हरदम करहु पुकारा ॥३७॥

वदन्त्येवं हि सर्वेऽपि वीराः स्वेन्द्रियशत्रुषु।
तच्छ्रुत्वा सततं जीव! ह्यद्यापिस्ववधीयताम् ॥५१॥
मनोऽवधाय तच्छुद्धिकारकं दर्पणं यथा।
स्तुवीहित्वं गुरुं भूयः पाहि मां सादरं वद ॥५२॥
एवं कृते त्वया साधो! शोधिते चित्तदर्पणे।
संपश्यसि निजात्मानं कबीरो गुरुरब्रवीत् ॥५३॥

ब्रह्मदत्तो मनोगौरग्यं निर्मितश्चञ्चलश्चातिलुब्धः सदा धावते।
तिष्ठति स्वे गृहे नैव बोधं विना कामवेगेन जीवान् सदा बाधते॥५४॥

आश्रयस्व सद्गुरुं कुरुष्व कामभञ्जनं, पञ्चबाणबाणजालमाशु नाशयात्र च।
मोहमेहि नैव याहि सत्वरं निजालये, मानसे निरुध्य कोपमात्मनेहितंकुरु ५५

इति हनुमत्कृतायां शब्दसुधायां मनः कामादिप्राबल्यवर्णनं नाम
त्रयोदशस्तरङ्गः ॥ १३ ॥

तेरे सत्य स्वरूप की शोभा (चमत्कार माया मात्र) सब संसार है। इस प्रकार सब वीर (जितेन्द्रिय ब्रह्मनिष्ठ ज्ञानी) महात्मा कहते हैं (बोलते हैं) अतः उनके कथनों को सुनकर अजहुँ (अब भी) हुसियार (विवेकी चतुर सावधान) होवो। तुम भी बीर बनो। क्योंकि उस हुसियारी के लिये श्रीकबीर साहब

कहते हैं कि गुरु रूप सिकली (चितदर्पण शोधक) दर्पणकार को चित्तदर्पण की शुद्धि के लिये हरदम (सदा) पुकार (स्तुति) करो। गुरु भजन (सेवा) आदि से चित्त को शुद्ध करो कि जिससे ज्ञान द्वारा ब्रह्मनिष्ठा की प्राप्ति हो और कामादि की निवृत्ति हो। "जरत जरत ते बाँचेहुँ, काहु करहु गोहार। विष विषया कहँ खायेहु, रात दिवस मिलि झार॥ र० सा० १३" ॥ ३७ ॥

अथ आत्मविस्मृतिपरिणाम प्र० १४

शब्द ३८

कबिरा तेरो वन कन्दला में, मानु अहेरा खेलै।
बपु बारी आनन्द मीरगा, रूचि रूचि शर मेलै॥

हे प्राणि ! ते वने विश्वे कन्दरे हृदये तथा।
मनःकामादयो नित्यं मृगयां कुर्वते यथा[1] ॥ १ ॥
शरीरोपवने यश्च मृगः स्वानन्दलक्षणः।
तस्योपरि सुसन्धाय शराञ्छोकादिलक्षणान् ॥ २ ॥
अर्पयन्ति यतो नासौ कदाचित्सूपलभ्यते।
योगिनोऽपि च तल्लब्ध्यै बाणान् सद्वृत्तिलक्षणान् ॥ ॥ ३ ॥
अर्पयन्ति पृथङ् मत्वा खिद्यन्ते बहुधा ततः ॥ ४ ॥
"दृशेश्छाया[2] यदारूढा मुखच्छायेव दर्शने।
पश्यंस्तं प्रत्ययं योगी दृष्ट आत्मेति मन्यते" ॥ ५ ॥

हे कबीरा (जीव !) तेरी सावधानी तथा गुरुगम के बिना तेरे बन (देहादि संसार) में तथा हृदयरूप कन्दरा में (गुफा में) तेरा ही कामादियुक्त मानु (मन) मानो अहेर (शिकार) खेलता है (तेरा नाश करता है) क्योंकि बपु (देह) रूप बारी (बाग) में जो आनन्द स्वरूप मृग (आत्मा) रहता है, उसके ऊपर रूचि रूचि (सम्भाल[2]) कर या रूचि (इच्छा) कर २ के कामादि शोकादि रूप बाणों को मेलता (डारता = प्रहार करता) है। अर्थात् तुच्छ आनन्दादि की इच्छा से सत्यानन्दादि स्वरूप आत्मा को ही नष्ट (तिरोहित) करता है, छिपाता है अथवा तेरे बन कन्दला में ऋद्धि सिद्धि आदि के कामी

१ कुर्वत इवेत्यर्थः। २ उपदेश साहस्त्र्याम्। प्रत्ययम्-अहङ्कारम्।

योगी मानु (मानो) अहेर खेलते हैं, और शरीररूप बाग सम्बन्धी आनन्द मृग के लिये उसकी रूचि (इच्छा) कर-करके ध्यानरूप शर डालते हैं।

चेतत रावल पावन खेड़ा, सहजे मूलहिं बाँधे।
ध्यान धनु औ ज्ञान बाण करि, योगेश्वर शर साधै॥

मानुष्यतनुरूपस्य पूतस्य नगरस्य यः।
राजा चेतति वै योगी मूलबन्धं करोति सः॥ ६॥
स्वभावेन च सद्ध्यानं धनुश्च ज्ञानवाणकम्।
योगेश्वरश्च भूत्वाऽसौ समाध्याख्यमहाशरम्॥ ७॥
साधयते तटस्थेशे सिद्धोनां गद्धया मुहुः॥ ८॥
अपि जिज्ञासवो यूयं पदं जानीत पावनम्।
स्वात्मानं नगरं तत्र मूलबन्धो विधीयताम्॥ ९॥
सर्वस्यादिस्वरुपेऽस्मिञ्जगन्मूलं विलापय।
राजयोगाख्यसद्ध्यानं धनुश्चैव विधीयताम्॥१०॥
परोक्षज्ञानवाणेन ह्यपरोक्षं सुलक्षणम्।
योगेश्वरशरं शीघ्रं साध्यतां तु विमुक्तये॥११॥

हे रावल (देहादि के स्वामी) इस पावन खेड़ा (ग्राम) रूप मानव शरीर में चेतत (चेतो=अब भी सावधान होवो) क्योंकि जो चेतता है, सो सहज समाधि सहजस्वभाव द्वारा अविद्या कामादिरूप संसार (जन्मादि) के मूल को ही बाँधता है। (नष्ट स्ववश करता है) मूल बन्धादि योग के साधनों को प्राप्त करता है। और अविद्यादि को सर्वथा नष्ट करने के लिये, ध्यान के धनुष और परोक्ष ज्ञान के बाण को सिद्ध करके अपरोक्षात्मपरमात्मानुभवरूप योगेश्वर शर को सिद्ध करता है। अतः "प्रणवो धनुःशरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्य-मुच्यते। अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्। मु.२।२।४" प्रणव (ओंकार) नाम द्वारा शब्दानुविद्ध समाधिस्वरूप धनुष है, ज्ञानस्वरूप निजात्माकारवृत्ति शर है। तहाँ सच्चिदानन्द ब्रह्म ही उस शरका लक्ष्य कहा जाता है सो लक्ष्य अप्रमत्त (सावधान) से वेधन (प्राप्ति) के योग्य होता है। तहाँ शर जैसे लक्ष्य में मग्न (प्रविष्ट) होता है तैसे ब्रह्मध्यानी ब्रह्ममय ब्रह्मस्वरूप हो जाता है, सोई कर्तव्य है।

षट्चक्रहि वेधि कमल बेध्यो, जाय उज्यारी कीन्हा।
काम क्रोध औ लोभ मोह हीं, हाँकी सावज दीन्हा॥

गगन मध्ये रोकिन द्वारा, जहाँ दिवस नहिं राती ।
दास कबीरा जाय पहुँचे, बिछुरे संग संघाती ॥३८॥

चक्राणि योगिनो विध्वा षट् पद्मानि तथाऽष्ट च ।
गत्वा स्वगगने तत्र ज्योतिः प्रकटयन्ति ते ॥१२॥
कामाद्याख्यान् मृगान् क्रूराँस्ततो विद्राव्य यत्नतः ।
खेचरी मुद्रिकायुक्त्या कुर्वन्ति द्वाररोधनम् ॥१३॥
अहोरात्रप्रभेदो न कदाचित्तत्र विद्यते ।
यत्र ते दास जीवा हि योगिनः प्राप्नुवन्ति च ॥१४॥
सद्गुरोः सङ्गतिस्तावल्लोकसङ्गोपि नश्यति ।
जिज्ञासुजन सङ्गस्तु बोधात्मैकशरेण हि ॥१५॥
विध्वैव सर्वचक्रादीनखण्डं ज्योतिरव्ययम् ।
आविर्भावयते नूनं कामादीन् द्रावयन् सदा ॥१६॥
आत्माख्यगगने स्थित्वा कामादिद्वाररोधनम् ।
कृतवान् यत्र न द्वन्द्वमहोरात्रादिलक्षणम् ॥१७॥
सद्गुरो र्दासभूतोऽयं जीवो गत्वा परे पदे ।
स्थिरतां लब्धवान् यत्र सर्वसङ्गो न्यवर्तत ॥१८॥
सङ्गिनः प्राणबुद्ध्याद्या वियुक्ताश्चाऽभवन् स्वयम् ।
हठान्नैव तु ते साध्या भवन्ति किल योगिभिः ॥१९॥

यद्यपि हठी आदि योगी षट चक्र और आठ कमलों को भिन्न भिन्न शरों (साधनों) से बेधन करते हैं। तथापि सहज समाधि वालों ने उक्त योगेश्वर शर से ही सबचक्रों और कमलों को बेधकर (आत्मानुभव से सब अनात्मा को मिथ्या समझकर) ज्ञान की ऊर्ध्व भूमिकाओं में जाकर, उन्होंने उजियारी (अखण्ड ज्योति का प्रकाश अनुभव) किया और काम क्रोध लोभ मोहादि रूप सत्यानन्दादि के बाधक सावजो (मृगों) को शरीर और हृदय बन तथा गुफा से हाँक (भगा) दिया। फिर दशम द्वार के निकट में तथा आत्मस्वरूप हृदय गत गगनमें स्थिर होकर, उन कामादिकों के आने के द्वार रूप संकल्प विकल्पादि को रोक दिया। इस प्रकार से जहाँ दिन रात्रि का या किसी भी द्वन्द्वराग द्वेषादि का सम्बन्ध नहीं होता है, वहाँ वे हरि गुरु के दास (भक्त) जीव सब जा पहुँचे और सदा पहुँचते हैं, और सब संग के संघाती मन इन्द्रिय प्राणादि स्वयं बिछुड़े (वियुक्त हुए) और होते हैं ॥३८॥

शब्द ३९

अपन पौ आपुही विसरेवो ।
जैसे श्वान काँच मन्दिर महँ, भरमत भूकि मरेवो ॥

कालेन मनसा चैव निर्मिते कैतवे ग्लहे ।
जीवानां विजयायाऽत्र तत्पराजयसिद्धये ॥२०॥
स्थानमात्मैव निर्बाधं चित्ताक्षनयनेन यत् ।
तत्स्था नं विस्मृतं जीवैस्तस्माज्जन्मादि संसृतिः ॥२१॥
काचैर्विनिर्मिते गेहे प्रविष्टः कुक्कुरो यथा ।
विलोक्य प्रतिमां स्वस्य तत्रामित्रादि बुद्धिभिः ॥२२॥
भषित्वा म्रियते भ्रान्त्या म्रियन्ते जन्तवस्तथा ।
स्वात्मनः प्रतिविम्बेषु भेदबुद्धया विलप्य वै ॥२३॥

मनो माया रचित चौपड़ (जूआ) में सावधानी के बिना यह जीव अपने पौ (विजय स्थान) स्वरूप को आपु (अपने सत्य स्वरूप) को आप ही इस प्रकार से सदा विसरा (भूला) है कि जैसे श्वान (कुत्ता) काँच के मन्दिर में अपने स्वरूप को भूलकर (अपने प्रतिबिम्ब को अपना स्वरूप नहीं समझकर) भिन्न बुद्धि से भ्रान्त होकर भरमता है। और भूक-भूककर मरता है। तैसे ही निजात्म प्रतिबिम्बरूप अनन्त जीवादि में राग-द्वेषादि करके प्राणी जन्मादि पाता है ॥ सदा बक-झककर मरता है। कोई विरल सर्वत्र सत्य एक निजात्मा को समझकर, बकवादों से निवृत्त होकर शान्ति मुक्ति पाता है।

ज्यों केहरि बपु निरखि कूप जल, प्रतिमा देखि परेवो ।
वैसे ही गज स्फटिक शिला में, दशननि आनि अरेवो ॥

केसरी स्वप्रतिच्छायां कूपे सम्यग् विलोक्य ह ।
सपत्नं स्वस्य तां मत्वा भ्रंशते युद्धदुर्मदः ॥२४॥
दन्ती स्फटिकपाषाणे प्रतिबिम्बं विलोक्य च ।
तं च प्रत्यर्थिनं मत्वा दन्ताभ्यां युद्धयते यथा ॥२५॥
तथा संसाररन्ध्रेषु गोचरादिषु दुर्धियः ।
प्रतिबिम्बं विलोक्यैव पतन्ति नरकेष्वपि ॥२६॥
रागद्वेषादिभि र्युक्ताः संग्रस्ता मत्सरादिभिः ।
निष्फलं प्रतियुद्धयन्ते स्वकल्पितकलेवरैः ॥२७॥

जैसे केहरि (केसरी = सिंह) कूप के जल में अपने शरीर की छाया को

निरख (देख) कर और उस प्रतिमा (प्रतिबिम्ब) रूप अपने शरीर को ही विरोधी शत्रु आदि समझ कर युद्ध के लिये कूप में पड़ जाता है और मरता है। वैसे ही हाथी स्फटिक शिला (श्वेत स्वच्छ पत्थर के पर्वत) में अपने प्रतिबिम्ब को देखकर दाँतों से आकर अड़ता (लड़ता) है। इसी प्रकार से संसारी मनुष्य लोकादि कूप में गिरते लड़ते हैं।

मरकट मूठि स्वाद नहिं बिहुरे, घर घर रटत फिरेवो।
कहहिं कबिर ललनी के सुगना, तुहि कवने पकरेवो ॥३९॥

मर्कटोऽत्र यथा स्वादाद्बध्यते स्वयमेव हि।
जहाति मुष्टिबन्धं नो भ्राम्यत्यस्माद् गृहे गृहे ॥२८॥
तथैव जन्तवः सर्वे विस्मृत्यानन्दचिद्घनम्।
स्वादुकामेन बध्यन्ते सर्वयोनौ भ्रमन्ति च ॥२९॥
नालिकासक्तकीरं वा त्वां वाऽऽसक्तं हि देहिनम्।
न कोऽप्यत्रैव बध्नाति स्वयं मोहेन बध्यते ॥३०॥
लम्बते नालिकायां वै यथा कीरस्तथैव च।
गर्भे त्वं लम्बसे जीव ! सद्गुरु र्वक्ति तत्त्वतः ॥३१॥
संसारे कान्तारे चित्तं चौरः कामाद्या व्याधाः।
कुर्वन्तोऽत्र क्रीडाचक्रं कुर्वन्त्याखेटं सर्वे।
छित्त्वानन्दं चिन्ताचक्रे जीवान्नीत्वा भिन्दन्ति,
भ्रान्ता जीवाः श्वाद्यैस्तुल्या भ्रान्त्वा भ्रान्त्वा नश्यन्ति ॥३२॥

इति हनुमत्कृतायां शब्दसुधायां निजस्वरूप विस्मृत्या मनोयोग्यादि कृताखेटवर्णनं नाम चतुर्दशस्तरङ्गः ॥१४॥

बानर जैसे स्वादवश होकर ओछे मुखवाले बर्तन में अन्न की मुट्ठी को नहीं बिहुरता (खोलता) है। अतः कलन्दर के वश में होकर घर घर में रटता भटकता फिरता है। अतः श्री कबीर साहब कहते हैं कि हे ललनी के सुगना, तथा सुगना (सूवा) तुल्य प्राणी, तुहि (तुम) को दूसरा कवने (कौन) पकड़ा है, तुझे कोई पकड़ा नहीं है, तुम स्वयं अज्ञान भ्रम मोहादि से बंधे हो। अर्थात् बानर के समान विषय स्वादवश और शुक के समान मोह अज्ञानादि वश, जीव स्वयं स्वर्ग नरकादि में भटकता है, यमादिकृत बन्धन यातनादि पाता है। अतः विषय स्वाद के त्यागपूर्वक विवेकविज्ञानादि से अज्ञान मोहादि को नष्ट करके जीवन्मुक्त होना चाहिये ॥ ३९ ॥

अथ सम्प्रदायासक्ति और त्यागादि प्रकरण १५

शब्द ४०

सन्तो ! मते माँतु जन रङ्गी ।
पियत प्याला प्रेम सुधारस, मतवाले सतसङ्गी ॥

विजयस्थानमात्मासौ मत्या अविषयत्वतः ।
अमतो वै श्रुतौ प्रोक्तः स्वप्रकाशः सदव्ययः ॥१॥
तथोपलभ्यते सद्भिर्यो वाचां विषयो नच ।
अतद्व्यावृत्तिरूपेण[1] तत्त्व भावप्रसादतः[2] ॥ २ ॥
येषां त्वत्रगुणै रक्तं चित्तं ते रागिणो जनाः ।
मतप्रेम्णा सदा मत्ता स्तिष्ठन्ति त्वमते नहि ॥ ३ ॥
मतसत्सङ्गिनो येऽपि ते तत्प्रेमसुधारसम् ।
पीत्वाश्रोत्रपुटैः कामं मत्तास्तिष्ठन्ति सर्वदा ॥ ४ ॥

यद्यपि अपना पौ (स्वरूप) आत्मा "यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः । केनो० २।३" जिसको आत्मा (ब्रह्म) अमत (अविज्ञात = मन बुद्धि आदि का अविषय) मान्य है, उसीको वह मत (विज्ञात) है और जिसको मत विज्ञात (बुद्धि का विषय) रूप मान्य है, सो आत्मा को नहीं जानता है । तथापि "असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा निरुपायमुपेयते । आत्मत्वकारणाद्विद्मो गुणवृत्त्या विबोधिताः । नैष्कर्म्यसिद्धिः अ० ३।१०४" वाच्यवाचक भावादि असत्य मार्ग में भी स्थिर होकर, बोधोपाय रहित ब्रह्मात्मा को गुणवृत्ति (लक्षणा) द्वारा बोध कराने पर आत्मता के कारण उसे समझते हैं । अतः हे सन्तो ! रङ्गी (गुणो से रञ्जित चित्तवाले) प्रेमी अनुरागी भक्तजन, मत (मति के विषय) सगुण वस्तु सिद्धान्त में मांते (मस्त) रहते हैं और सत्सङ्गी लोग अमत विषयक प्रेम-सुधारस को मनरूप प्याला से पीते हैं उसीसे मतवाले (संसार को भूले) रहते हैं । मत के सत्सङ्गी मत के प्रेम सुधारस के प्याला को पीकर मतवाला बने रहते हैं ।

अरधे उरधे भाठी रोपिन, लीन्ह कषा रस गारी ।
मुन्द्यो मदन काटि कर्म कश्मल, संतत चुवत अगारी ॥

---

१ "नेति नेति । बृ० ४।५" इत्यादि श्रुत्युक्तरीत्येत्यर्थः । २ "अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्त्वभावः प्रसीदति । कठ० २ । ६ । १३" तत्त्वस्वरूपोऽभिमुखः प्रसन्नो भवति ।

गोरखदत्त वसिष्ठ व्यास कपि, नारद शुक मुनि जोरी ।
बैठे सभा शम्भु सनकादिक, तहँ फिरु अधर कटोरी ॥

अधोलोके तथोर्ध्वे च पिण्डे ब्रह्माण्डमूर्धनि ।
स्नेहमद्यस्य ते भाष्ट्रं सङ्गं संस्थाप्य तेन च ॥ ५ ॥
स्रावयित्वा रसं कश्यं मतप्रेमात्मकं खलु ।
आददुर्वा कषायं ते शुद्धं न मधुरं जनाः ॥ ६ ॥
मदनश्छादितो यैश्चच्छिन्नानि कश्मलानि वै ।
कल्मषाणि च कर्माणि तद्धृदि क्षरतीवसः ॥ ७ ॥
गोरक्षश्चैव दत्तश्च वसिष्ठो व्यास एव च ।
हनूमान् नारदो विद्वान् छुकश्च मुनियुग्मकौ ॥ ८ ॥
शम्भुश्च भगवान् यत्र सभायां सनकादयः ।
वर्तन्ते तत्र तत्प्रेमपात्रमोष्ठेषु घूर्णते ॥ ९ ॥
गोरक्षाद्या हि ये मान्यास्तेषामधरवर्त्मसु ।
वर्तते प्रेमपात्रं तन्मान्यांश्च मन्वते तथा ॥१०॥

उस प्रेमरस को चुलाने के लिये नीचे ऊपर चक्र कमलादि को तथा लोक परलोक को भट्ठी रोपिन (स्थापित=निश्चय किये) हैं और कषाय रस गार लिये (प्राप्त किये) हैं और काम के द्वार (संकल्प कुसङ्गादि) को मुन्द्यो (रोका=बन्द नष्ट किया) है । तथा कश्मल (पाप) कर्म को काटा (त्यागा) है । अतः उनके हृदयरूप आगार (घर) में यह प्रेमरस (आनन्द) सदा चुवता (प्रकट होता) है । श्रीगोरख योगी श्रीदत्तात्रेय विरक्त, श्रीवसिष्ठ महाज्ञानी, श्रीव्यास महामुनि, श्रीहनुमानकपि महाभक्त, श्रीनारददेवर्षि, श्रीशुकदेव जन्मसिद्ध, परमपूज्य मुनि जोरी (युगल मुनि नर नारायण) तथा महेश्वर श्रीशिवजी, महात्मा श्रीसनकादिक, जिस सभा में बैठते हैं, मान्य हैं । तहाँ उस भक्तिरस की कटोरी (प्याला) सबके अधर (ओष्ठ) पर फिरती है, इसकी चर्चा होती है ।

अम्बरीष बलि याज्ञ जनक जड़, शेष सहस मुख पाना ।
कहँ लै वरणौ आदि अन्त लो, अमहल महल दिवाना ॥
ध्रुव प्रहलाद बिभीषण माँते, माँती शिव की नारी ।
निर्गुण ब्रह्म माँतु वृन्दावन, अजहुँ लागु खुमारी ॥

अम्बरीषो बलिश्चैव याज्ञवल्क्यो विदेहकः ।
जडोऽपि तद्रसं पीत्वा ह्यगमत्स्वर्गमूर्धनि ॥११॥

मुखानां च सहस्रेण शेषः पिवति तद्रसम् ।
आद्यान्तावधिसंख्याय कियत् तत्कथ्यतां किल ॥१२॥
अगृहे गृहबुद्धया हि मत्ताः सर्वेऽभवञ्जनाः ।
ध्रुवः प्रहलादभक्तश्च मत्तोऽभूच्च विभीषणः । ॥१३॥
गौरी मत्ताऽभवत्सा च शिवस्य वल्लभा स्वयम् ।
वृन्दावने च कृष्णोऽसौ स्वयं वैनिर्गुणोऽपिसन् ॥१४॥
मत्तोऽभवत् खलु ब्रह्म तस्मिंस्तत्रत्य मानवाः ॥१५॥
अहो तन्मत्तताया वै तत्रांशोऽद्यापि विद्यते ।
घूर्णन्ते येन लोकाश्च स्वयं स भगवांस्तथा ॥१६॥

राजा अम्बरीष भक्त, याज्ञवल्क्य मुनि, ज्ञानी जनक, श्रीजड़भरत, इन सबों ने भी मत रस का पान किया, शेषजी ने इस रस का हजार मुख से पान किया। सृष्टि के आदि से अन्त तक जो इस रस को पीने वाले हुए हैं, और होगें। उनको कहाँ तक वर्णन किया जाय, सब के सब अमहल महल (मत सगुण ब्रह्म और सगुण के लोकादि) में दिवाना हुए। वस्तुतः जिसका कोई महल (घर) नियत आश्रय नहीं है, उसी महल (सर्वाधिष्ठान) में ये सब दिवाना हुए। (साम्प्रदायिक दृष्टि के अभ्युपगमवाद से यहाँ का वर्णन ज्ञातव्य है), ध्रुव, प्रहलाद उसी रस से माँते, श्रीशिवजी की नारी (पार्वती) माँती, और स्वयं स्वरूप से निर्गुण ब्रह्म स्वरूप श्रीकृष्णचन्द्रजी भी वृन्दावन रूप मत के प्रेम से माँते कि जिसकी खुमारी अब भी लगी हैं। अर्थात् "वृन्दावनं परित्यज्यपादमेकं न गच्छति" इस पुराण वचन के अनुसार, प्रेमवश होने के कारण, वृन्दावन को छोड़कर अब भी कहीं एक पैर नहीं उठाते हैं।

सुर नर मुनि यति पीर औलिया, जिनहि पिया तिन जाना।
कहहिं कबिर गूँगे का शक्कर, क्यों कर कहैं दिवाना ॥४०॥

देवै र्मुनिमनुष्यैश्च तुरुष्क गुरुसाधुभिः ।
यैः पीतः स रसस्तैश्च ह्यनुभूतो न चान्यकैः ॥१७॥

मूका यथा गुडं तेऽपि कथयन्तु कथं रसान् ।
अतिमत्ता हि वर्तन्ते कबीरो भाषते गुरुः ॥१८॥

जगाद चाऽभ्युपगमवादेनैतत्समं किल ।
वसिष्ठशुकवैदेहप्रभृतीन् हि स्वयं यतः ॥१९॥
ज्ञानित्वेनोक्तवानत्र तच्च सम्यग् विलोक्यताम् ॥२०॥

यद्वा मतरसस्यात्र प्राबल्यं प्रोक्तवान् गुरुः ।
येनामतरसज्ञोऽपि कदाचित्तत्र मज्जति ॥२१॥४०॥

देव, मनुष्य, मुनि, पीर (गुरु) औलिया (विरक्त साधु फकीर) जिन लोगोंने इस रस का पान (अनुभव) किया, वे ही इस प्रेम के स्वाद आनन्द को जान सके, और आनन्द में मग्न मूक हो गये। क्योंकि दिवाना (मस्त) वे लोग गूँगे के शक्कर तुल्य उस रस को क्योंकर (कैसे) कहैं, इस प्रकार श्रीकबीर साहब कहते हैं। भाव है कि निर्गुण निर्विशेष ब्रह्मानन्द ही यद्यपि वचनागोचर है, तथापि मस्ती से सगुण तटस्थ ब्रह्मानन्द भी वचनागोचर प्रतीत होता है। और सगुण भक्त भी अन्त में उस निर्गुण में ही पहुँचकर मूक होता है, कहने मात्र के लिए व्यवहार में वह आनन्द सगुण कहा जाता है, सगुण में आनन्द है नहीं, निर्गुण आनन्द स्वरूप है, सो भक्त को सगुण में भासता है, इत्यादि। निर्गुण ब्रह्मात्मा के ज्ञानी भक्त के प्रति भी कृतघ्नता की निवृत्ति तथा साधारण लोक शिक्षा आदि के लिये प्रारब्ध की समाप्ति पर्यन्त सगुण ईश्वर गुरु शास्त्र की भक्ति का शास्त्र में वर्णन किया गया है, उसका अनुवादपूर्वक उसके फल का यहाँ वर्णन किया गया है ॥४०॥

संबन्ध—जो ज्ञानी से भी संभजनीय ईश्वर है "न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते। परास्य शक्ति विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च। श्वेता. अ. ६।८" उस ईश्वर के कार्यकरण (शरीर-इन्द्रिय = रूप अकार) नहीं हैं, न उसके तुल्य या अधिक कोई है, तथापि उसमें स्वाभाविकी ज्ञानक्रिया (सर्वज्ञत्व) है, बलक्रिया (सर्वाधारत्व=सर्वशक्तिमत्त्व=सर्वनियन्त्रित्व) है, उसी ईश्वर को अन्तर्यामी ब्राह्मण (ग्रन्थ) में कहा गया है कि "यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरं यः सर्वाणि भूतानि यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः। बृ० अ० ३।७।१५॥ जिसका सब भूत शरीर तुल्य है (अनायास धारणार्ह है)। अतः जो सब भूतों का नियमन कर्ता है, यह अन्तर्यामी वस्तुतः तेरा अविनाशी आत्मा है। और गीता में कहा गया है कि "ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन ! तिष्ठति। भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया। अ० १८।६१" हे अर्जुन ! शरीर रूप यन्त्र पर स्थिर सब प्राणी को अपनी माया द्वारा भ्रमाता हुआ ईश्वर सब प्राणी के हृदयों में विशेष रूप से वर्तमान रहता है। उसी सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान मायी ईश्वर रूपता की दृष्टि से श्रीकृष्ण भगवान् ने कहा है कि "अव्यक्तं व्यक्ति मापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः। परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्। अ० ७।२४" मेरे सर्वोत्तम अविनाशी

परम भाव (स्वरूप) को नहीं जानने वाले अज्ञानी अव्यक्त (रूपाकार रहित) मुझ ईश्वर को व्यक्तियुक्त मानते हैं। और निर्गुण ब्रह्म सत्ता स्वरूप से "सर्वं खल्विदं ब्रह्म। छा० अ० ३।१४।१" इस सब जगत स्वरूप कहा जाता है। तथा "सर्वाननशिरोग्रीवः सर्वभूतगुहाशयः। श्वेता० ३।११। सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्। भ० गी० १३।१३" सर्वतरफ मुख शिर ग्रीवा वाला सब प्राणी के हृदयनिवासी। सर्वत्र हाथ पैर आँख शिर मुख वाला कहा जाता है। परन्तु सबको ईश्वर मायी सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् नहीं कहा गया है न न कहा जा सकता है, और सब ब्रह्म(सत्) स्वरूप परमार्थ स्वरूप से हैं। परन्तु सब ईश्वर स्वरूप किसी प्रकार से नहीं है। अतः ईश्वररूप आकार से रहित ही है, तथापि मोहनिन्द से सोया हुआ मनुष्य उसको विशेषरूप आकारादि वाला मानता है, मोहनिन्द को त्यागने ही पर सर्वात्मा सर्वज्ञ ईश्वर को जान सकता तथा भज सकता है, इत्यादि आशय से श्रीकबीर साहब कहते हैं कि—

शब्द ४१

भाइ रे नयन रसिक जो जागै।
पारब्रह्म अविगति अविनाशी, कैसहुँ के मन लागै॥
अमली लोग खुमारी तृष्णा, कतहुँ सन्तोष न पावै।
काम क्रोध दोनों मतवाले, माया भरि भरि आवै॥

मतप्रेमरसज्ञा ये ते नेत्ररसकामुकाः।
इन्द्रियाऽऽनन्दसंसक्ता मोहेनात्र स्वपन्ति हि॥२२॥
विवेकेन यदा ते तु जागृयू रसिकाजनाः।
अदृश्येऽपि तदाऽग्राह्ये चिद्घने चाविनाशिनि॥२३॥
परस्मिन् ब्रह्मणि ह्येषां मनोलग्नं भवेत् सदा।
कथञ्चिन्नात्र सन्देहो मोहसत्त्वे न तद् भवेत्॥२४॥
अहो व्यसनिनो लोका मादकद्रव्यसेवनात्।
मदमत्ता हि वर्तन्ते तृष्णासंघूर्णिसंयुताः॥२५॥
तृष्णाभिः संयुताः क्वापि न तुष्यन्ति नराधमाः।
कामक्रोधयुताश्चातस्ताभ्यां मत्ता भवन्ति हि॥२६॥
कामादिविवशेष्वेषु माया मोहस्वरूपिणी।
आविष्टाऽस्ति महावेशाऽशेषाऽनर्थविधायिनी॥२७॥

हे भाई! नयन रसिक (ऐन्द्रिक सुख के प्रेमी) भी यदि जागे (मोह-

अवेविक को त्यागे) बाह्य विषयरूपाकारादि में आसक्त नहीं हो, तो अविगति (अमत = अग्राह्य) अविनाशी पारब्रह्म (निर्गुण पर ब्रह्म या ईश्वर) में कैसहुँ (किसी प्रकार से) ध्येय या ज्ञेयरूप से उसका मन ब्रह्मात्मा निष्ठ हो जाय, ब्रह्मात्मा में लग जाय। परन्तु प्रायः लोग अमली (नयन रसिक व्यसनी) हैं, अतः उन में खुमारी (नशा की गर्मी मस्ती) लगी रहती है, अतएव वे लोग बाह्य रूप आकर शब्द स्पर्शादि के दर्शन श्रवणस्पर्शनादि से कहीं कभी सन्तोष नहीं पाते हैं और काम क्रोध इन दोनों से मतवाले हुए रहते हैं। अतः माया (ममता कपटादि रूप भूत) इन पर भर भर (बार बार= अत्यन्त) आता है, इनमें आवेश करता है।

ब्रह्म कलाल चढाइन भाठी, लै इन्द्रिय रस चावै।
सङ्ग हि पोंचक ज्ञान पुकारै, चतुरा ह्वै सो पावै॥

आविष्टायां च मायायां गृहे स्वान्तेऽस्य देहिनः।
इन्द्रियानन्दलोभेन जीवो ब्राह्मात्मकोपि सन्॥ २८॥
सङ्ग भ्राष्टे मतं तत्त्वं येनैवात्राऽध्यरोपयत्।
तेन संसारचक्रेऽयं शश्वद् भ्राम्यति चक्रवत्॥ २९॥
अहो यैश्च सहैवास्ते कामतृष्णादिलक्षणः।
विवर्णस्तेऽपि बोधस्य वार्तां तु कथयन्ति हि॥ ३०॥
कथया लभ्यते तैर्नो ज्ञानं न शान्तिरुत्तमा।
नो सद्धर्मः कुतः सौख्यं कुतो वास्यात्परा गतिः॥ ३१॥
विवेकिनस्तु ये धीरा वीराः स्वेन्द्रियशत्रुषु।
जितक्रोधा वितृष्णाश्च सन्तुष्टाः कुशला नराः॥ ३२॥
विमोहा विगत द्रोहा विमदाः सङ्गवर्जिताः।
आप्नुवन्ति हि ते सर्वे सौख्यं शान्तिं परं पदम्॥३३॥

माया के वशवर्ती मोहयुक्त, ब्रह्मस्वरूप, जीवात्मा रूप कलवार ने इन्द्रिय रस (इन्द्रिय द्वारा भोग जन्य सुख) की चाव (इच्छा) को लेकर (धारण करके) भाठी चढाया, रूप आकारादि का ध्यान काम्य कर्मादि करने लगा। अतः काम तृष्णा आदि पोंचक (नीचता मलिनता) सङ्गही में रहता है और केवल मुख से ज्ञान की बातों को पुकार कर कहता है, तो वह परब्रह्म को नहीं पा सकता है। किन्तु कामादि नीचों के संग से रहित जो विवेकी होता है सोई चतुर=कुशल निर्गुण पर ब्रह्म को पाता (प्राप्त करता) है, अतः उपदेश है कि— "भजिये निर्गुण राम को, तजिये विषय विकार" इत्यादि।

संकट शोच पोंच यह कलि महँ, बहुतक व्याधि शरीरा ।
जहाँ धीर गम्भीर अति निश्चल, तहँ उठि मिलहु कबीरा ॥४१॥

कलौ ह्यस्मिन् महाकष्टमापत्ति र्वर्तते सदा ।
शोकश्च बाधते नीचः शरीरे व्याधयस्तथा ॥ ३४ ॥
अतो जीवाऽत्र सङ्गंतं त्यक्त्वैव सर्वथा त्वया ।
मोहनिद्रां परित्यज्य तूत्थाय तत्र गम्यताम् ॥ ३५ ॥
यत्र धीरोऽतिगम्भीरो निश्चलो वर्तते गुरुः ।
मिलित्वा तेन सर्व त्वं संप्राप्य कुशली भव ॥ ३६ ॥
यावद् गुरोर्न संप्राप्तिस्तत्त्वज्ञानं न विद्यते ।
कामोऽस्ति हृदये यावत्तावत्ते कुशलं कुतः ॥ ३७ ॥
यस्तु कामान् परित्यज्य त्यक्तकर्मा जितेन्द्रियः ।
आतिष्ठेत मुनि र्मौनं स लोके सिद्धि माप्नुयात् ॥३८॥४१॥

उपदेस है कि चतुर भी संसार को दुःख रूप जान कर, इससे विरक्त उपरत होकर सत्सङ्गादि द्वाराही, दृढ ब्रह्म ज्ञान को प्राप्त करता है और यह (इस) कलि (कलहमय संसार) में तथा इस कलियुग में बहुत प्रकार के संकट (आपत्ति दुःख) होता है, उन संकष्टों से मन में शोक तथा पोंच (नीच) कामादि होते हैं और स्थूल शरीर में बहुत प्रकार की व्याधियाँ (रोग) होती हैं । अतः इन सब से रहित होने के लिये, जहाँ धीर (सात्त्विक धैर्यवाले ज्ञानी) गम्भीर (उद्वेग रहित विभु ब्रह्मानुभवी ज्ञानी भक्त) अत्यन्तनिश्चल (शान्त कूटस्थनिजात्मानुभवी) सन्त सद्गुरु हों, तहाँ उठकर (उपरत होकर) जावो और हे कबीरा ! जिज्ञासु जीव ! इस प्रकार से उनसे श्रद्धा भक्ति उपरति आदि पूर्वक मिलो, तो तुम कष्टादि रहित पर ब्रह्म को प्राप्त (अनुभूत) करके मुक्त धीर गम्भीर स्वरूप होगे ॥४१॥

शब्द ४२

कोइ राम रसिक रस पीवहु गे, पीवहु गे सुख जीवहुगे ॥
फल अलंकृत बीज न बोकला, सुख पक्षी रस खाई ।
चुवै न बुन्द अङ्ग नहिं भींजै, दास भँवर (सब) संग लाई ॥

ये रामरसिका भूत्वा पिवेयु र्विमलं रसम् ।
ब्रह्मानन्दात्मकं केऽपि जीवेयुस्ते सदा सुखम् ॥ ३९ ॥

रामस्य श्रवणाभ्यासान्मननाच्च निरन्तरम् ।
ध्यानाभ्यासरसेनायं रामं दृष्ट्वैव तत्त्वतः ॥ ४० ॥
जीवन्मुक्तो भवेत्तावद्विदेहः सन् न जायते ।
इदमेव हि कैवल्यं कथ्यते चरमं फलम् ॥ ४१ ॥
अलङ्कृतं फलं चैतद् रम्यं सर्वजन प्रियम् ।
बीजवल्कलहीनं च रसपूर्णं समन्ततः ॥ ४२ ॥
ज्ञानवैराग्यपक्षाभ्यां युक्ता ये पक्षिवज्जनाः ।
ते रामरसिकाश्चैतत्सुखं खादन्ति सत्फलम् ॥ ४३ ॥
निरंशत्वान्न चास्यात्र बिन्दुपातोऽपि सम्भवेत् ।
नापि क्लेदो भवेदङ्गे दुःखसङ्गादि वर्जनात् ॥ ४४ ॥
निर्गुणाक्षयरूपत्वा द्रागह्रासादिवर्जनात् ।
शुद्धत्वाद् गुरवो नित्यं शिष्याख्यभ्रमरैः सह ।
ब्रह्मानन्दं पिबन्त्येतं लब्धं वेदतरोः फलात् ॥ ४५ ॥

फिर भी श्रीकबीर साहब कहते हैं कि जो कोई उक्त धीर गम्भीर महात्माओं से मिल कर, राम रसिक (प्रेमी) होकर, रामरस (ब्रह्मानन्द) को पीवोगे (समझोगे) तो पीने मात्र से तुम सुख स्वरूप से सुखपूर्वक जीवोगे (जीवन्मुक्त होवोगे) अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष रूप इन चार प्रकार के फलों में यह मोक्ष रूप फल ही । अलङ्कृत (पूर्णतृप्तिकारक विभूषित) है । इस में बीज बोकला (छिलका) तुल्य असारनिरस कुछ नहीं रहता है । अविद्या रूप बीज तत्कृत आवरण रूप बोकला का जीवन्मुक्ति से प्रथम ही ज्ञान मात्र से अभाव हो जाता है । फिर ज्ञान विराग रूप पक्ष वाला पक्षी इस मोक्ष फल के सुख स्वरूप रस को खाता (भोगता) है । भोग काल में इस फल में से एक बुन्द भी अन्यत्र नहीं चूता है (सब आनन्द निज स्वरूप में ही भासता है, अन्यत्र नहीं) अतः इससे अपने शरीर का भी कोई अंग (अवयव) नहीं भीजता है, सर्वाङ्ग सङ्ग से रहित यह मोक्ष सुख है और भासता है, अतः असंग अखण्ड होने के कारण क्षयादि के भय से तथा सब दोषों से रहित इसफल को सद्गुरु रूप पक्षी सब दास (भक्त) रूप भँवरों को साथ में लेकर खाते हैं । (अनुभव करते भोगते हैं) ।

निगम रसाल चार फल लागा, ता महँ तीन समाई ।
एक दूर चाहै सब कोई, यतन यतन काहु पाई ॥

गये वसन्त गृषम ऋतु आई, बहुरि न तरुतर आवै ।
कहहिं कबिर स्वामी सुखसागर, राम मगन ह्वै पावै ॥४२॥

निगमात्मरसालेषु चतुर्वर्गोस्माकं शुभम् ।
फलं लग्नं त्रिवर्गोऽत्र मायिकत्वेन संयुतः ॥ ४६ ॥
विनश्वरस्तुरीयश्च तस्माद् दूरतरः शिवः ।
अविनाश्यतिशुद्धश्च ह्यनन्तापारविग्रहः ॥ ४७ ॥
तमिच्छन्ति जनाः सर्वे चेतनैकसुखात्मकम् ।
लब्धवन्तश्च केचित्तं यत्नवन्तो विचक्षणाः ॥ ४८ ॥
कामादे र्वर्जना न्नित्यं शमध्यानपरायणाः ।
विचारिणो महाप्राज्ञाः क्षमाशीला स्तपस्विनः ॥ ४९ ॥
"संसार निर्वेददशामुपेत्य सत्सङ्गमं शास्त्रामुपेत्य तेन ।
शास्त्रार्थभावेन निरस्य भोगान् वैतृष्ण्यदार्ढ्यात्परमार्थमेति" ॥५०॥
विवेकिनोयेऽत्र विरागिणो जनास्तेषां हि दृष्टया भवलोककाननात् ।
गतो वसन्तो हि तपः समागतस्ततो न चाऽऽयान्तिहि देहपादपे ॥५१॥
स्वामी[1] सदानन्दसमुद्रविग्रहे रामाख्यशुद्धात्मनि लीनमानसः ।
जीवंस्तमाप्नोति नचात्र संशयः श्रीमान् कबीरः कमनीयमाह तम् ।५२।४२

इति हनुमत्कृतायां शब्दसुधायां मतविषयासक्तेस्तत्त्यागेन च मुक्तेः वंर्णणं नाम पञ्चदशस्तरङ्ग ॥ १५ ॥

निगम (वेद) रूप रसाल (आमवृक्ष) में अर्थ, धर्म, काम, मोक्षरूप चारो फल लगे (निर्णीत = वर्णित) हैं, उनमें प्रथम के तीन फल समाई (समायी = मायिकतायुक्त = विनश्वर) हैं। और एक मोक्षरूप फल इन तीनों से दूर (पृथक्) है। उसको सब कोई चाहते हैं (सब दुःख रहित नित्य सुख की इच्छा सब करते हैं)। परन्तु सब पाते नहीं हैं, बहुत यत्न करते-करते काहु (कोई) बिरले पाते हैं। जो कोई इस फल को पाते हैं, उनके लिये उनकी दृष्टि से संसार बन से बसन्त (शोभा = उत्सव) चला गया, और चला जाता है। इसमें ग्रीषम ऋतु आ गया, और आ जाता है। अतः ज्ञान दवाग्नि से दग्ध देहरूप भावी वृक्षतर फिर वे लोग कभी नहीं आते हैं। अर्थात् ज्ञानाग्नि से दग्ध संसार की वासना आदि से रहित होने के कारण पुनरावृत्ति रहित विदेह मोक्ष को पाते हैं। श्रीकबीर साहब कहते हैं कि जो पूर्व कही रीति से

---

१ स्वामी=समर्थ ज्ञानी ।

राममगन (रामरसिक) होते हैं। सो स्वामी (समर्थ प्रभुज्ञानी) होकर सुखसागर निज स्वरूप राम को पाते हैं, तथा परोक्ष अदृढ़ ज्ञानी भक्त स्वामी (सर्वेश्वर) राम में मग्न होकर (राम के अनन्य भक्त तल्लीन तत्पर होकर) "तत्त्वमसि" इत्यादि उपदेशों के अनुसार, उस रामस्वरूप सुखसागर स्वामी को निजात्मस्वरूप से पाते हैं (प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं) इत्यादि ॥४२॥

अथ मोह त्याग और त्यागज्ञानाधिकारी प्र० १६

शब्द ४३

सन्तो ! जागत नीन्द न कीजै।
काल न खाय कल्प नहिं व्यापै, देह जरा नहिं छीजै ॥

साधो ! जागृहि मा स्वाप्सीर्मोहनिद्रां परित्यज।
प्रबुद्धो वा न रागाद्यैः प्रमादैरज्ञतां श्रय ॥ १ ॥
एवं कृते न कालस्त्वां खादिष्यति कदाचन।
न व्याप्स्यति च कल्पोऽपि न देहो न जराक्षयौ ॥ २ ॥
विषयाश्चतुराश्चौराः कामाद्या अरयो दृढाः।
विषयादींस्ततस्त्यक्त्वा भवितव्यं सुधीमता ॥ ३ ॥
छेद्या त्वया महातृष्णा मदमात्सर्यवर्जनम्।
सेवनं साधुविदुषां कर्तव्यं सत्यभाषणम् ॥ ४ ॥
दया सर्वेषु भूतेषु रागद्वेषविवर्जनम्।
क्षमासन्तोषसद्धैर्यविवेकादिबलं श्रय ॥ ५ ॥

जिन यत्नों से कोई सुखसागर मोक्ष को पाता है, उन यत्नों का उपदेश है कि हे सन्तो ! (जिज्ञासु मुमुक्षुओं) जागत (जागो) आत्मानात्मादि का विवेक करो। और मोह, ममता, प्रमादरूप नीन्द (शयन) नहीं करो। ऐसा ही करने से तुम्हें काल (मृत्यु) नहीं खायेगा, न कल्प (प्रलय) तुम्हें व्यापेगा (प्राप्त होगा)। क्योंकि देही के देह को काल खाता है, और कल्प व्यापता है, आत्मा तो सभी के अजर-अमर अखण्ड है। विवेकादि से मोहादि रहित होने पर, तुम्हें देह जरा अवस्था आदि नहीं होगें। न तुम कभी छीजोगे (नष्ट होगे = मरोगे)। क्योंकि देह के ही नाश से तेरा नाश कहा जाता है, तुम अविनाशी अचल स्वरूप हो।

उलटी गङ्ग समुद्रहिं शोखै, शशि औ सूरहि ग्रासै।
नव ग्रह मारि रोगिया बैठे, जल मँह बिम्ब प्रकाशै ॥

प्रबुद्धो हि मनोवृत्तिं गङ्गां संसारसिन्धुतः।
परावर्त्य समुद्रं तं संशोषयति मूलतः ॥६॥

अध्यात्ममधिदैवं च सूर्यचन्द्रमसौ हि यौ।
योगयुक्त्या ग्रसत्येतौ बाधेन बाधितावुभौ ॥७॥
तयो र्ग्रासेन संशुद्धः सर्वदा शान्तमानसः।
गमनागमने हित्वा प्रतिष्ठां लभते पराम् ॥८॥
पूर्वं रुग्णोऽपि पश्चात्स जित्वा कामादिरुक्करान्।
अध्यात्मादि ग्रहान् सर्वान राजते विगतज्वरः ॥९॥
मुकुरे च मनोरूपे प्रतिबिम्बसमर्पकम्।
जलवद्विमले तस्मिन् बिम्बं पश्यति निर्मलम् ॥१०॥

जो रोगी (संसारी) जीव भी मोहनिद्रा को त्याग कर, सात्त्विक मनोवृत्ति रूप गङ्गा को सांसारिक विषयादि से उलट कर, संसार समुद्र को सुखाता है (स्नेह प्रेम विषयता रहित संसार को करता है) राग द्वेषादि को नष्ट करता है। तथा सहज धारणा से सुष्मणा को स्थिर करके चन्द्र सूर्य नाडी को ग्रासता (लीन करता) है। तथा चन्द्र सूर्यादि लोकों को मिथ्या समझ कर, उन की वासना कामादि की निवृत्ति द्वारा उत्तर दक्षिण मार्ग को त्यागता है। उन के लिये कर्मादि नहीं करता है। सो रोगी निष्काम विवेकी होकर पांच ज्ञानेद्रिय और चार अन्तःकरण रूप नवग्रह को मार कर (वश करके) तथा सूर्य चन्द्र, मङ्गल, बुध, वृहस्पति, शुक्र, राहु और केतु रूप नव ग्रहों को मार कर (इन्हें मिथ्या समझकर) वासनादि रहित शुद्ध जल तुल्य हृदय में आनन्दादि प्रतिबिम्ब का समर्पक सच्चिदानन्द बिम्ब का प्रकाश (अनुभव) वह करता है। उसी आनन्द स्वरूप सुखसागर में वह बैठता है (ब्रह्मनिष्ठ होता है) "उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत। कठ० १।३।१४" उठो जागो वर=श्रेष्ठ गुरुओं को प्राप्त करके सत्यात्मा को समझो। इत्यादि श्रुति में यह उपदेश है ॥

बिनु चरणन को दहुँ दिशि धावै, बिनु लोचन जग सूझै।
शशा उलटि सिंह को ग्रासै, ई अचरज को बूझै ॥

विभुं बिम्बं समालोक्यभूत्वा तद्गतमानसः।
तदात्मना स पादै र्हि विना सर्वत्र धावति ॥११॥

स्वयं ज्योतिः स्वरूपेण चक्षुरादिं विनैव च ।
जगत् पश्यति शुद्धात्मा बुद्धात्मा केवलोऽपि सन् ॥१२॥
मोहेन शशकः पूर्वं त्वल्पशक्तिश्च यो जनः ।
स मोहादिमहासिंहं परावृत्य ग्रसत्यहो ॥१३॥
मनसो हि निरोधेन बाह्याद्यज्जायते बलम् ।
महानन्दप्रदं चित्रं को जानीयादपण्डितः ॥१४॥
अज्ञानावृतसद्बोधः सत्सङ्गादिपराङ् मुखः ।
न जानाति सदात्मानं नापि योगबलं शुभम् ॥१५॥

उक्त रीति से विभु निजात्मा के अनुभव होने पर; वह "आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः । कठ० १।२।२१" बैठा हुआ दूर जाता है, सोया सर्वत्र प्राप्त होता है । इत्यादि शास्त्र के अनुसार, चरणों के बिना दहुँ, दशो, दिशाओं में धावता (दौड़ता) है (चरण के बिना सर्वत्र प्राप्त निजात्मा को समझता है) और नेत्र के बिना चिद्रूप से सबका प्रकाशक निजात्मा को समझता है, सो मानो उसको नेत्र के बिना सब संसार सूझता है (दीखता है) । अर्थात् सर्वद्रष्टा साक्षीस्वरूप अपने सत्यात्मा को समझता है । उसके मनोवृत्ति रूप शशा संसार से उलटकर, निजात्माकार होकर, अविद्या अहंकार कामादि-रूप सिंह को ग्रसता (निगलता) है । अर्थात् वह प्रथम शशातुल्य चञ्चल अल्प शक्तिवाला अज्ञ रोगी होता हुआ भी विभु निजात्मा के समझने पर महाबली संसार से उपरत होकर समूल मोहादि को नष्ट करके मुक्त होता है । परन्तु इस आश्चर्य को अविवेकी कौन समझ सकता है कोई विवेकी ही समझेगा ।

औंधे घड़ा नहीं जल बूड़े, सूधे सो जल भरिया ।
जिहि कारण नल भिन्न भिन्न करु, गुरु परसादे तरिया ॥

घटश्चाधो मुखो नैव निमज्जति यथा जले ।
किन्त्वजिह्ममुखो भूत्वा पूर्णो भवति सज्जलैः ॥१६॥
तथा न विषयासक्तः कुतर्कादियुतो नरः ।
निमज्जति सदा शुद्धे ब्रह्मानन्दे कदाचन ॥१७॥
किन्तु स्यादार्जवेनैव ज्ञानपूर्णो सदा यतः ।
उपदेशो विशेदत्र सतां सर्वैः सुलक्षणे ॥१८॥
यैश्चाज्ञानादिदुर्दोषै भिन्नं भिन्नं प्रपश्यति ।
तान् वै तरति शुद्धात्मा सद्गुरोः सुप्रसादतः ॥१९॥

दोषाँस्तीर्त्वा सदाऽभिन्नमेकमव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं हृदा ज्ञात्वा शान्तिमत्राधिगच्छति ॥२०॥

क्योंकि जैसे औंधे घड़े में जल नहीं भरता है। किन्तु सीधा होने पर जल भरता है, तब जल में घड़ा बूड़ता (डूबता) है। औंधा रहते नहीं डूबता है। और जल भरने से डूबने पर, उसके बाहर भीतर जलाशय के पानी पूर्ण (व्याप्त) हो जाता है। तैसे ही विषयासक्त कपट कुतर्कादि युक्त अविवेकी के हृदय में ज्ञानामृत सदुपदेश नहीं समाता है किन्तु शुद्ध हृदयवाले विवेकी में ज्ञानामृत समाता है। तब सुखसागर ब्रह्मात्मा में मग्न होने पर बाहर भीतर एक अखण्ड ब्रह्मात्मा ही व्याप्तपूर्ण रहता है, और वही सत्य भासता है, फिर जिन अज्ञान और अहंकारादि भेद के कारणों से मनुष्य भिन्न भिन्न भाव बुद्धि करता है (मानता है) उन अज्ञानादिमय संसार को सद्गुरु के प्रसाद (प्रसन्नता: कृपा = उपदेश) से मनुष्य तरता है। अर्थात् गुरु से शुद्ध सात्त्विक ज्ञान पाकर राजस, तामस ज्ञान, प्रवृत्ति आदि से रहित जीवन्मुक्त होता है। सात्त्विकादि ज्ञान का लक्षण श्रीभगवद्गीता में है कि—"सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते। अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥१॥ पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान् पृथग् विधान्। वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धिराजसम् ॥२॥ यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन् कार्ये सक्तम हैतुकम्। अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ॥३॥ अ० १८ २०।२१।२२" विभक्त = विभाग = भेदयुक्त सब भूतों (देहादि कार्यों) में अविभक्त = विभागरहित एक (अद्वितीय) अव्यय=अविनाशी निर्विकार, परमतत्व रूप भाव (सर्व सत्ता) को जिज्ञासु जिस ज्ञान से अपरोक्ष अनुभव करता है; उस ज्ञान को सात्त्विक समझो ॥१॥ जिस ज्ञान से तो सब प्राणियों में नानाभाव (अनेक आत्मवस्तु) को पृथक् विध (सुख-दुःखादि पृथक् स्वभाववाले = पृथक् प्रकार के भिन्न-भिन्न लक्षणयुक्त) पृथक्त्वरूप से ही ज्ञाता समझता है। उस ज्ञान को राजस जानो ॥२॥ जो ज्ञान तो किसी एक कार्य (शरीर या प्रतिमा आदि) में कृत्स्नवत् (सम्पूर्णतुल्य) आत्म-परमात्मतुल्य परिपूर्ण के समान उस कार्य में आसक्त होता है। अर्थात् जिस ज्ञान से जीव उस कार्य में आसक्त होता है। वह अहैतुक (निर्युक्तिक) तत्त्वार्थ रहित मिथ्या वस्तु विषयक, अल्प (तुच्छ फलप्रद) ज्ञान तामस कहा गया है ॥३॥

पैठि गुफा महँ सब जग देखै, बाहर कछु नहिं सूझै।
उलटा बाण पारथिहि लागै, शूर होय सो बूझै ॥

तीर्णः संसारसिन्धोः स हृद्गुहायांप्रविश्य च ।
तत्र स्थितो जगत्सर्वं मनोमायाविकल्पितम् ॥ २१ ॥
आत्मन्येव प्रपश्यन् वै बाह्यं किञ्चिन्न पश्यति ।
दृश्यमानमसज्ज्ञात्वा बहिर्याति न तत्त्वतः ॥ २२ ॥
यथा परावृतो बाणो धानुष्के रक्षके लगेत् ।
तथा परावृता वृत्ति र्लगति स्वात्मनि ध्रुवम् ॥ २३ ॥
एतज्जानाति विक्रान्तो विचारादिपरोऽथवा ।
निरुद्धा वृत्तिगङ्गेयं संसाराब्धिं यथोषयेत् ॥ २४ ॥
तत्प्रकारं विजानाति शूरः स्वेन्द्रियशत्रुषु ।
मनःकामादिवर्गेषु नान्यः कश्चिदतद्विधः ॥ २५ ॥

अज्ञान मोह कामादि दोषों के तरने पर, वह आत्मज्ञानी अपने हृदय रूप गुफा में बैठकर सब जगत् को देखता है, तो उसके अपने स्वरूप से बाहर (पृथक्) उसको कुछ नहीं सूझता है । सबकी सत्ता आत्मस्वरूप आत्मा ही में प्रतीत होती है । और उस समय ऐसी दशा होती है कि जैसे उलटा हुआ बाण पारथी (पारधी धनुषधारी वीर) को ही लगता है, तैसे संसार से उलटी हुई सब वृत्ति निजात्मा में ही लगती है, और सब जगत को आत्ममय देखती है । परन्तु इस तत्त्व को सोई बूझता (समझता) कि जो मन इन्द्रिय कामादि शत्रुओं को जीतने वाला शूर (वीर) होता है । अन्य नहीं जानता है, क्योंकि—"सर्व भूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मानि । ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः । भ. गी. अ. ६।२६" सब भूत में स्थिर आत्मा को आत्मा में सब भूत को योगयुक्त मनवाला सर्वत्र समदर्शी ही जानता है ।

गायन कहै कबहुं नहिं गावै, अन बोला नित गावै ।
नटवत बाजा पेखनि पेखै, अनहद हेत बढावै ॥

वृत्तिरोधं विना यस्तु स्वात्मानं गायकं गुरुम् ।
ब्रूते नाऽसौ कदाचिद्धि सत्तत्त्वं गातुमर्हति ॥ २६ ॥
वृत्तिरोधयुतो यस्तु ज्ञानवाञ्छुभलक्षणः ।
स चावक्ताऽपि सत्तत्त्वं गायत्येव निरन्तरम् ॥ २७ ॥
नटो हि कल्पितं स्वेन यथाऽतत्त्वेन पश्यति ।
वाद्यभेदांश्च जानाति कौतुकं चैव शाम्बरम् ॥२८॥
तथैव ज्ञानवाञ्छब्दमर्थं पश्यंश्च शाम्बरम् ।
निःसीमे वर्द्धयन् प्रेम तत्रैव रमते सदा ॥ २९ ॥

"अविद्योत्थपुमर्थेभ्यो विमुखीभूतमानसः।
आत्मतत्त्वविजिज्ञासुस्तद्व्यावृत्तो भवेन्नरः" ॥ ३० ॥

उक्त शूरता कामादि के विजय के बिना जो अपने को गायन (गायक उपदेशक गुरु) कहता है सो कभी सत्य को नहीं गाता है। उक्त विजयी अनबोल (मौन) रहते भी अपने शारीरिक व्यवहारों के द्वारा सदा सत्य का ही गान (उपदेश) करता है, नट जैसे अपने बाजा और मिथ्या पेखन (खेल तमासे) के तत्त्व को जानता है। तैसे उक्त शूर ज्ञानी नाम रूपात्मक मायिक खेल को मिथ्या जानता है, इसमें चकित आसक्त नहीं होता है और अनहद (निःसीम विभु) स्वरूप में हेत (प्रेम) को बढ़ाता है। क्योंकि "यदल्पं तन्मर्त्यम्, यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति। छा. ७।२४।२३" एकदेशी सब वस्तु विनश्वर है, जो भूमा (विभुब्रह्म) है, वही सुखस्वरूप है। अल्प (परिच्छिन्न) में सुख नहीं है। यह सत्य वैदिक और ज्ञानी सन्तो का सिद्धान्त है।

कथनी वन्दनि निज कै जो है, ई सब अकथ कहानी।
धरती उलटि आकाशहिं बेधै, ई पुरुषन की बानी॥

सर्वेभ्योऽतिप्रिये स्वस्मिन्नानन्दात्मनि सर्वदा।
रममाणो हि तस्यैव कथनं वन्दनं तथा॥ ३१ ॥
अन्वेषते सदा ज्ञानी दृश्यं जानाति मायिकम्।
अनिर्वाच्यमसत्तुच्छमनिर्वाच्यकथात्मकम् ॥ ३२ ॥
अथवोक्तकथा सर्वा ज्ञेयाऽवाच्यस्य बोधिका।
शोधिका पापपुञ्जस्य परश्रेयः प्रवर्तिका॥ ३३ ॥
आत्मनि प्रेमवाञ्ज्ञानी पृथिव्यादि विलापयन्।
चिदाकाशे लयं कुर्यात्सर्वस्यैव सदद्वये॥ ३४ ॥
स्वभावो विदुषामेष वचनं चात्र विद्यते।
ईश्वराणां च वेदानां प्रमाणं सर्वथैव तत्॥ ३५ ॥

फिर वह आत्म प्रेमी सब सत्य कथनी (कथा) और वन्दनी (बन्दना) स्तुति को निज अदृश्य आत्म विषयक ही जोहता (देखता समझता) है, कि सबसत शास्त्र आत्मज्ञान के ही साधन स्तुति रूप हैं और प्रत्यक्ष ई (इस) दृश्य संसार को अकथ (अनिर्वाच्य) माया की कहानी (कल्पित कथा) रूप वाचारम्भणमात्र जानता है। पृथिवी आदि भूतभौतिक पदार्थों को उत्पत्ति क्रम से उलटे क्रम द्वारा लय चिन्तन करके चिदाकाश में ही ज्ञानी बेधता है (लय करता है)। क्योंकि ई (यही) ज्ञानी पुरुषों का बान स्वभाव है या ऐसी ज्ञानी

पुरुषों की वानी (वचन = उपदेश) है । अर्थात् "सर्वे वेदा यत्पदमामन्ति । कठ. १।२।१५" सब वेद जिसको कहते हैं, और "अन्नेन सोम्य शुङ्गेनापो मूल मन्विच्छ । छा. ६।३।१" अन्न (भूमि) आदि कार्यों द्वारा जलादि मूलों (कारणों) को विचारता हुआ परम मूल सर्वात्मा को समझो, इत्यादि श्रुति के अनुसार सब वेद से निरूपित सबके परममूल स्वरूप सर्वात्मा को ज्ञानी समझता है ।

बिना पियाले अमृत अँचवै, नदी नीर भरि राखै ।
कहहिं कबिर सो युग युग जीवै, राम सुधा रस चाखै ॥४३॥

आधारादिविहीनं यत्त्वमृतं तत् पिबन्ति ते ।
संसाराब्धेश्च यत्तोयं विषयाद्यात्मकं किल ॥३६॥
तल्लोकादि नदीष्वेव पूरयित्वेव बोधिनः ।
स्थापयन्ति न तत्कापि मन्यते तु निजात्मनि ॥३७॥
इत्थं त्यक्त्वा जगन्नीरं यो नरो नित्यचिद्घनम् ।
आत्मरामामृतं पेयात्स जीवेद्धि युगं युगम् ॥३८॥
कबीरः सद्गुरुः प्राह कुर्वन्तु मानवास्तथा ।
विषयादीन् परित्यज्य रमन्तां रामवर्त्मनि ॥३९॥
कामक्रोधादिकं त्यक्त्वा ह्यात्मानं भावयन्तु वै ।
आत्मज्ञानं विना यस्मात् पच्यन्ते नरकादिषु ॥४०॥४३॥

फिर वह ज्ञानी प्याले (आधार) के बिना रहनेवाला निराधार स्वयं सर्वाधार अमृत को अचवता (पिबता) है, (निराधार नित्य ब्रह्मानन्द का अनुभव करता है) । जिज्ञासुओं के लिये हृदय नदी में ज्ञान नीर को भरकर रखता है; और संसारी के लिये संसार नदी में विषयादि नीर को भरकर रख देता है, उसका ग्रहण उपभोग नहीं करता है । श्रीकबीर साहब कहते हैं कि उक्तरीति से जो कोई एक बार भी निराधार रामसुधा (अमृत) रस को चाखता (अनुभव करता) है । सो युग-युग जीता है (जन्म-मरणादि से रहित नित्य चिद् ब्रह्म स्वरूप हो जाता है) ।

राम ज्ञान भौ जाहि, राम ही सो भौ ज्ञानी ।
विभु अज अमर अनूप, अभय अमरित सुख खानी ॥
आवागमन विहीन, द्वन्द्व से रहित अदण्डा ।
साक्षी अकल अनीह, भेद भ्रम रहित अखण्डा ॥
पावन परम उदार, स्वतन्त्र सकल आधारा ।
चिदानन्द सन्दोह, सकल अघ दुख से पारा ॥

हनूमान यों जानि, करिय सो यतन सदाही।
जानिय राम अनन्त, तरिय भवसिन्धु अथाही ॥१॥४३॥

शब्द ४४

(मैं) कासे कहुँ को सुने को पतिआई, फुलवक छुवत भँवर मरि जाई ॥
गगन मण्डल महँ फुल एक फूला, तर भौ डार ऊपर भौ मूला ॥
जोतिय न बोइय सिंचिय न सोई, डार पात बिनु फुल एक होई ॥

कस्मै सत्कथ्यतां तत्त्वं कः शृणोति सुभाषितम्।
श्रुत्वा को विश्वसित्यत्र विषयासक्तमानवः ॥४१॥
लोककायादिपुष्पेषु गोचरास्वादतत्परः।
आसक्तो भ्रमरः कामी म्रियते तन्निषेधतः ॥४२॥
आकाशमण्डले चैकं पुष्पं प्रकृति भूमिषु।
फुल्लं विश्वात्मकं यस्य ह्यूर्ध्वं मूलमधः शिरः ॥४३॥
कृष्यते नैव तत्क्षेत्रं नोप्यते तत्र बीजकम्।
सिच्यते नात्र किञ्चिच्च वृक्षः शाखाभवेन्नहि ॥४४॥
शाखां पत्रं विनैवात्र पुष्पं पुष्यति सर्वदा।
एकं विश्वात्मकं नानागन्धस्वाद समन्वितम् ॥४५॥

उक्त विषय मोहादि के त्याग और रामसुधारस के पान के लिये किससे कहा जाय, और कहने पर भी कौन सुनता है, तथा सुनने पर भी इसको कौन पतिआता है (इस कथा में कौन विश्वास प्रतीति प्रीति करता है)। अर्थात् इसके श्रवणादि के अधिकारी दुर्लभ है। क्योंकि यह अज्ञ विषयी भँवरा (जीव) जिस नाम रूपात्मक प्रेय पुष्पों में आसक्त है, उन विषयादिरूप फूलों के छूने से (निषेध = मिथ्या कथन से) ही यह भँवरा मानो मर जाता है (विकल दुःखी) होता है और जिस स्त्री-पुत्र विषयादि संसाररूप फूल में भँवरा आसक्त हैं सो संसाररूप एक कोमल सरस फूल गगनमण्डल (चिदाकाश) में फूला है (विकसित हुआ है) और "ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाखः। कठ० २।६।१" इत्यादि शास्त्र के अनुसार इस संसार पुष्प के ऊपर (परम सूक्ष्म दूरतुल्य परोक्ष ईश्वर) मूल कारण है, और तर (अधःनीचे) डार (शाखा) हुए हैं, और इसके क्षेत्ररूप प्रकृति (माया) जोती बोई और सींची नहीं जाती है न उस प्रकृति में प्रकृति स्वरूप से अन्य शाखा-पत्रादि होते हैं, तो भी उस प्रकृतिरूप क्षेत्र में ही डार (शाखा) पत्रादि के बिना एक फूलरूप संसार शरीर विषयादि उत्पन्न होते हैं।

फुल भल फुलल मालिन भल गाँथल ।
फूल बिनशि गौ भँवर निराशल ॥
कहहिं कबीर सुनहु सन्तो भाई ।
पण्डित जन फुल रहल लोभाई ॥४४॥

पुष्पं विकसितं पुष्टं कायस्त्रीपुत्रलक्षणम् ।
माया मलिनबुद्धिश्च कामादिसूत्रकै दृढम् ॥४६॥
अध्यासै र्ग्रन्थिबन्धैश्च तज्जीवात्मन्ययोजयत् ।
कालात्तस्य विनाशेन हताशो भ्रमरोऽभवत् ॥४७॥
अहो तथापि शास्त्रज्ञा ये वै पण्डितमानिनः ।
तेऽस्य लोभेन तिष्ठन्ति किमत्र कथ्यतां कथम् ॥४८॥
त्वं साधो ! शृणु लोभं तं त्यक्त्वैवात्मावधार्यताम् ।
मोहं मार्जयतां शीघ्रं सद्गुरुः प्राह मुक्तये ॥४९॥
सदाऽऽत्मा ध्यातव्यः प्रबलरिपुयुक्तेऽत्र विश्वे,
कथं कस्मै सत्योऽप्यमलसुखहेतुः सुशब्दः ।
मया वाच्यो लोका विषयरसिका लब्धवर्णा[1],
स्तिरस्काराात्तेषां त इह मृतकल्पा भवन्ति ॥५०॥४४॥

इति हनुमत्कृतायां शब्दसुधायां मोहनिद्रात्यागतदधिकारिदौर्लभ्य-
वर्णनं नाम षोडशस्तरङ्गः ॥१६॥

उक्त क्षेत्र तथा संसार में देह पुत्र-स्त्री विषयरूप भले (सुन्दर प्रिय) फूल फूले हैं, अविद्या कुबुद्धिरूप मालिन ने उन फूलों की माला को कामादि सूत्रों से भली रीति से गाँथी है, और गाँथकर जीवात्मा को पहिराई है, उनमें आत्मत्व के अध्यास अभिमान तथा ममता आदि को सिद्ध की है, और करती है। परन्तु उन फूलों के विनश्वर होने के कारण जब वे फूल विनष्ट हो गये या विनष्ट होते हैं, तब तृप्ति रहित भँवरा (आसक्त जीव) निराशल (निराश = हताश) हुआ और होता है। श्रीकबीर साहब कहते हैं कि हे सन्तो भाई ! तुम सद्गुरु से आत्म-श्रवणादि करो, इस फूल की आशा आदि को त्यागो। क्योंकि ऐसा किये बिना अमरदेव स्वर्गादि की इच्छा से शास्त्रज्ञ पण्डितजन इस तुच्छ फूल में कर्मादि की साधनता की बुद्धिपूर्वक लुभाये रहते हैं, तो अन्य की कथा ही क्या कही जाय ?

---

१ लब्धस्वर्णगुणावयो लब्धस्तुतयो वा । तेषां विषयादीनाम् ।

परन्तु– अमर कोइ नहिं देव, विश्व नहिं नाश विहीना।
अर्थ धर्म सब काम, विनश्वर त्रिगुण मलीना॥
देह खेह मिलि जाय, तबै धन क्या सुख देवै।
धर्म नशै दे भोग, योग बिनु को सुख सेवै॥१॥
कामी को नहिं शान्ति, भ्रान्ति उपजत दिन राती।
क्रोध लोभ बढ़ नित्य, मोह मद होत अराती॥
ताते करिय विवेक, विमल वैराग्य दिढावो।
हनूमान लहि ज्ञान, परमपद निश्चल पावो॥२॥४४॥

अथ अलौकिकात्मवैराग्य विषयक शंकासमाधान प्र० १७

शब्द ४५

(भाइरे) अद्‌बुद रूप अनूप कथा है, कहुँ तो को पतिआई।
जहँ जहँ देखो तहँ तहँ सोई, सब घट रहल समाई॥

अलौकिकमतुल्यं यत्कथाऽप्येतस्य तादृशी।
मोहादीनां विना त्यागं विश्वस्यात्तत्र को नरः॥१॥
यस्मिन् कस्मिंश्च संयुक्तो भूत ऐश्वर्य एव वा।
तत्त्वं स्मरति नैवाऽयं गुरुवाक्यं न मन्यते॥२॥
"अहं ममेति यावत्स्यादज्ञानमस्य बन्धनम्।
कुतो निःसरणं तावद्देह कारागृहाद् भवेत्॥३॥
देहकारागृहान्मुक्तै विरक्तैः सुविवेकिभिः।
दृश्यते यत्र यत्रैव तत्रैव दृश्यते तु सत्॥४॥
तत्तत्त्वं सर्वदेहेषु प्रविष्टं तत्तते तथा।
देहाद्बहिरधश्चोर्ध्वं सर्वतो व्याप्य तिष्ठति॥५॥
यथाग्निर्भुवनेष्वेकः प्रविष्टो बहुरूपवान्।
भवत्येकस्तथैवात्मा वर्ततेऽन्तर्बहिः सदा॥६॥

श्रुति विहित श्रवणादि जिसके ज्ञान के लिये कर्तव्य है, उस अदबुद (आश्चर्य) स्वरूप आत्मा की कथा भी अनूप (उपमा रहित) है। यदि मैं उस की कथा कहूँ, तो विवेकादि के बिना को (कौन) पतिआता (विश्वास करता) है, या कर सकता है। विवेक होने पर विचार कर देखने से (समझने) से,— जहाँ-जहाँ देखो तहाँ-तहाँ सो आत्मा ही अस्ति (सत्ता) भाति (प्रकाश—ज्ञान)

और प्रिय (आनन्द) रूप से बाहर भीतर प्रतीत होता है। और सब देहों में भी वही साक्षी, अन्तर्यामी तथा जीव रूप से समा रहा है।

लक्षि बिनु सुख दरिद्र बिनु दुख, नीन्द बिना सुख सोवै।
यश बिनु ज्योति रूप बिनु आशिक, रतन विहूना रोवै॥

तत्र लक्षं विना सौख्यं दुःखं दारिद्र्यमन्तरा।
मायया कल्पितं नैव वस्तुतो विद्यतेऽखिलम्॥७॥
तमोनिद्रां विनैवायं सुखं शेते सदा शिवः।
यशो विना सदा ज्योतिरासक्ती रूपमन्तरा॥८॥
विद्यते सर्वदा देवे ह्रीन्द्रियाणां च देहिनाम्।
स्वरूप ज्योतिषो लाभे मुक्ति र्भवति सर्वथा॥९॥
सज्जनै र्लभ्यते रत्नं क्लेशापहमिदं शुभम्।
असन्तस्तद्विना शश्वद् रुदन्ति विलपन्ति च॥१०॥

लक्ष्मी के विना लक्षपति आदि होने के बिना भी वह ज्ञानी को सुख-स्वरूप भासता है, और दरिद्रता के बिना उसमें अज्ञ को दुःख भासता है। और निद्रा के बिना सुख से सोया हुआ भासता है तथा सुषुप्ति काल में नीन्द रहित आत्मा में व्यावहारिक जीव सुख से सोता है। क्योंकि "सता सोम्यः! तदा सम्पन्नो भवति" उस समय सत्यात्मा से जीवात्मा सम्पन्न हो जाता है (मिल जाता है) और यश के बिना आत्मा की ज्योति (ख्याति प्रकाश) स्वरूप है। रूप के बिना ही उसके सब आशिक (प्रेमी) हैं या सब उसमें आसक्त हैं। उसी परमप्रेम का विषय स्वयं प्रकाश रत्न को निज स्वरूप समझने के बिना अज्ञानी जीव सदा रोते हैं। अतः रोदनादि रहित होने के लिये आत्मा ज्ञातव्य है।

भ्रम बिनु गञ्जन मान बिनु निरखन, रूप बिना बहुरूपा।
थिति बिनु सुरति रहस बिनु आनन्द, ऐसो चरित अनूपा॥

अहो भ्रमं विनैवात्र रोदनादिविपद्गणः।
प्रमाणैश्च बिना तद्वत् सर्वेषां दर्शनादिकम्॥ ११॥
एवं रूपै र्विनैवायं बहुरूपः प्रदृश्यते।
मायया नतु तत्त्वेन नन्वेतद्विदुषां मतम्॥ १२॥
स्थितिं विनैव तेनात्र सर्वस्य स्मरणं भवेत्।
विज्ञानमनुबोधश्च स्वरूपेणैव केवलम्॥ १३॥

रहस्येन विना चैवमानन्दं वर्तते च यत्।
एतद्धि चरितं तस्य वर्ततेऽनुपमं खलु ॥ १४ ॥

उस स्वरूप मे भ्रम के बिना अज्ञों को गञ्जन (विपत्ति) की प्रतीति होती है प्रत्यक्षादि प्रमाणों के बिना उसका निरखन (दर्शन) होता (वह स्वरूप) से ही सबको प्रकाशता है, तथा स्वयं भी प्रकाशता है, प्रमाणों से नहीं, अप्रमेय होने से प्रमाणों से उसको कोई नहीं जानता है। किन्तु शब्द जन्यज्ञान रूप वृत्ति से अविद्या मात्र की निवृत्ति होने पर आत्मा स्वयं प्रकाशता है। और रूपादि रहित निर्गुण होते भी, रूप के बिना ही "इन्द्रो मायाभिः पुरु रूप ईयते। वृ. २ ५।१९" वह इन्द्र (आत्मा) माया से पुरुरूप (बहुरूप) होता है। स्थिति (ध्यान चिन्तनादि) के बिना ही ईश्वर रूपता को प्राप्तमायी आत्मा को सब कर्मादि की सुरति (स्मृति) रहती है, कि जिससे जन्म आयु भोगादि की व्यवस्था करता है। रहस्य ज्ञानादि के बिना वह सदा आनन्द स्वरूप नित्य मुक्त ही रहता है। ऐसे उसके उपमा रहित चरित्र हैं।

कहहिं कबीर जगत हरि मानिक, देखहु चित अनुमानी।
परिहरि लाख लोग कुटुम तजि, भजि रहु सारंग पानी ॥४५॥

हरिरात्मा मणिश्चायं संसारे सर्वतः सदा।
वर्तते तं हि चित्तेस्वे विचाराद्यैः प्रपश्य वै ॥ १५ ॥
लक्षं लोकान् कुटुम्बांश्च त्यक्त्वा तं सद्धरिं भज।
विशुद्धः सैव पानीयं तृष्णातापादिनाशकः ॥ १६ ॥
शार्ङ्गपाणिं हरिं यद्वा भजस्व स्वान्तशुद्धये।
निष्कामो गतरागः सन् चित्ते स्थैर्यं ततो भवेत् ॥१७॥
भक्त्या तत्त्वे परिज्ञाते मोहजालं नशिष्यति
तृष्णाशादिविमुक्तस्त्वं पुनर्द्वन्द्वं न चैष्यसि ॥ १८ ॥
"सर्वद्वन्द्व परित्यागः सर्वद्वन्द्वसहिष्णुता।
सर्वद्वन्द्वसमत्वं च मोक्षस्य विधिरुच्यते" ॥ १९ ॥४५॥

श्री कबीर साहब कहते हैं कि सर्वात्मा हरिस्वरूप माणिक (रत्न हीरा) जगत में सर्वत्र अव्यक्त रूप से वर्तमान है। परन्तु प्रथम अपने चित्त (अन्तः-करण) में श्रवणपूर्वक अनुमान (विचार) करके देखो (समझो) फिर लाखो द्रव्य और लोग (लोक) सम्बन्ध कुटुम्बादि को त्यागकर, इनकी ममता मोहादि को त्याग कर, सारंगपानी (हरि) को भजते (स्मिरते) रहो (और सर्वत्र विभु उस हरि को देखो (समझो)। "अजममरमनन्तं ज्ञानरूपं महान्तं

शिवमचलमनादिं भूत देहादि हीनम्। सकल करणहीनं सर्वभूतस्थितं तं हरिमकलममायं सर्वगं वन्द एकम्" ॥ ४५ ॥

शब्द ४६

अब हम भयली बाहर जलमीना। पूर्वजन्म तप का मद कीना॥
तहिया अछलो मैं मन वैरागी। तजलुं लोग कुटुम राम लागी॥

मन्दवैराग्यवान् कश्चित्त्यक्त्वा बाह्यगृहादिकम्।
स्वान्ते रागादिभिस्तप्तः प्राहेदं सद्गुरुं प्रति ॥ २० ॥
अहं पूर्वभवे किञ्चित्तपो भोगविखण्डनम्।
तपसो वा मदं किञ्चित् कृतवानस्म्यसंशयम् ॥ २२ ॥
तदानीं त्वहमासं च मनसा रागवर्जितः।
यतोऽद्य त्यक्तवाँल्लोककुटुम्बान् रामलब्धये ॥ २३ ॥
त्यागवासनया यद्वा कर्माख्यतपसा ह्यहम्।
त्यक्त्वा सर्वं तपाम्यद्य राममपि न लब्धवान् ॥ २४ ॥

उक्त उपदेश के तात्पर्य के अज्ञानी मन्द वैराग्यवाले तटस्थ राम भक्त का मानो कथन है कि आप ज्ञानी विरक्त सन्त लोग, लक्षादि सम्पत्ति और लोक कुटुम्बादि को त्यागकर भजन करने के लिये उपदेश देते हैं और मैं तो अब (कुटुम्बादि को त्यागने पर) मानो जल से बाहर निकाली हुई मछली तुल्य दुःखी हो रहा हूँ। अनुमान से समझता हूँ कि मैंने पूर्वजन्म में तप करके, उसका मद (गर्व) किया था, तहिया (उस समय) मैं मन में वैरागी (वैराग्य की इच्छा वासनावाला) था कि जिससे मैं आज (इस जन्ममें) राम लागी (राम की प्राप्ति के लिये लोग कुटुम्ब को त्याग दिया हूँ)। तहाँ कर्म स्वरूप तप के मद से दुःख हो रहा है, तप के प्रभाव से राम की प्राप्ति की इच्छा हो रही है। वैराग्य की वासना से त्याग हुआ है, और उपदेश भी त्याग में कारण है।

तेजलों काशी मति भइ भोरी। प्राणनाथ कहु का गति मोरी।
हम हिं कुसेवक कि तूँहईं आना। दुइ महँ दोष काहि भगवाना॥
हम चलि ऐलि तोहारे शरणा। कतहुँ न देखों हरि के चरणा।
हम चलि ऐलि तोहारे पासा। दास कबिर भल कैल निराशा॥४६॥

नूनं भ्रान्ता हि मे बुद्धिः काशी त्यक्ता यतो मया।
अन्यथा तावता मुक्तिः सिद्धा त्यागेन किं मम ॥२५॥

प्राणनाथ ! गुरो ! त्वद्य का गति में भविष्यति ।
कथ्यतां सा न जानामि किञ्चिद्रामकृपां विना ॥२६॥
अहं कुसेवको यद्वा भवानेवाबुधोऽगुरुः ।
पृथग् जनो मृषालापी द्वयोरागोऽत्र कस्य वै ॥२७॥
अहं ते शरणे प्राप्तो नो पश्यामि हरेः पदम् ।
कुत्रापि भवतो मन्तुस्ततोऽत्र ज्ञायते मया ॥२८॥
आयातः शरणेऽहं ते त्वं न दर्शयसे हरिम् ।
अतो भक्तं हि जीवं मां हताशं कृतवानलम् ॥२९॥४६॥

तप के अभिमान से पूर्वजन्म में साइत मेरी बुद्धि भ्रान्त हो गई थी, कि जिससे काशी को मैंने त्याग दिया था, उसके सेवन नहीं किया था। यदि काशी को सेवकर वहाँ शरीर को पूर्व जन्म में त्याग किया होता, तो मुक्त ही हो गया होता। त्यागादि की आज जरूरत नहीं होती। हे प्राणनाथ ! (गुरो ! प्रभो !) कहो कि अब मेरी क्या गति (आश्रय) है अब मैं कैसे मुक्ति पा सकता हूँ त्यागादि से तो मैं दुःख ही पा रहा हूँ। हे प्राणनाथ ! भगवन् हम ही कुसेवक हैं कि जिससे मेरी ऐसी दशा हो रही है कि आपही आन (अगुरु) हो, और दोनों में किसका दोष है कि जिससे यह मेरी ऐसी दशा है। विचारने पर मेरा दोष नहीं प्रतीत होता है, क्योंकि हम तो आप के उपदेश के अनुसार सबको त्यागकर तुम्हारे शरण में चले आये हैं। और आप कहते हैं कि "जहं जहं देखो तहं तहं सोई" हम आपके शरण में आकर भी कहीं हरि के चरणों को नहीं देख रहे हैं। हम तो सबको त्यागकर हरिचरणादि के दर्शन के ही लिये आपके पास चले आये हैं। परन्तु हे कबीर ! (गुरो !) आपने तो मुझे भक्तदास को भली भाँति से निराश (हताश) किया है। अतः आपके ही दोष से मुझे हरिचरण का दर्शन नहीं हो रहा है, सो उचित नहीं है ॥ ४६ ॥

शब्द ४७

लोगा तूँही मति के भोरा ।
ज्यों पानी पानी महँ मिलिगौ, त्यों धुरि मिले कबीरा ॥
जो मैं थीको साँचा व्यास, तोहर मरण ह्वै मगहर पास ॥
मगहर मरै सो गदह होवै, भल परतीति राम से खोवै ॥

भो लोका यूयमेवात्र भ्रान्त बुद्धियुताः सदा ।
स्थाऽतो रामं पृथग्वित्थ मोहं त्यजथ नो भिदाम् ॥३०॥

यथा नीरं मिलेन्नीरे तेनैकत्वं समाप्नुयात् ।
तथा देहाभिमानाद्यै र्जीवा धूलिषु संगताः ॥३१॥

एतद्धि वचनं श्रुत्वा भाषन्ते त्वभिमानिनः ।
वयं चेत्सत्यवक्तारस्तदा ते मरणं भवेत् ।
पार्श्वे मगहरस्यैव यत्र मुक्ति र्न लभ्यते ॥३२॥
मृतो मगहरे चायं नरो भवति गर्दभः ।
रामभक्तिं सुकर्मादिं सर्वं स्वं नाशयत्यलम् ॥३३॥

यद्वा सद्गुरुरेवाह सत्यवक्ताऽस्म्यहं यदि ।
तदा ते भवतान्मृत्युः पार्श्वे मगहरस्य वै ॥३४॥

त्व तथापि विमुक्तः स्या मृतो यत्र खरो भवेत् ।
विमूढो यस्य रामे नो विश्वासो वर्तते दृढः ॥३५॥

सद्गुरु का उक्त शिष्य के प्रति मानो सान्त्वना युक्त उपदेश है कि हे लोगा ! तुम ही मति के भोरा (भ्रान्त स्मरण शक्ति रहित बुद्धि वाले) हो । क्योंकि प्रथम कहा गया कि "हाथ न वाके पाँव न वाके रूप न वाके रेखा" इत्यादि उपदेशों को भ्रमादि से भूल करके ही तुम हरि के चरण को देखना चाहते हो, निर्गुण सच्चिदानन्द का अनुभव नहीं करते हो । अतः जैसे पानी पानी में मिल गया हो, तैसे हे कबीरा (जीव) तुम धूलि (देहाभिमानी) होकर, धूलि (मिट्टी) रूप देह में भ्रम से मिले हो । अर्थात् शुद्ध जल में शुद्ध जल के समान, समुद्र में नदी के समान, ज्ञानी पुरुष नामरूप के अभिमानों को त्याग कर निर्गुण राम (ब्रह्म) में मिलते हैं और तुम अज्ञान से जल की मछली तुल्य बनते हो, तो काल के वश में पड़कर दुःखी क्यों न होंगे । "मच्छा भये न बाँचिहो, धीमर तेरो काल । जिहि जिहि डाबर तूँ फिरो, तहँ तहँ मेलिहिं जाल ॥ साखी २३४" वस्तुतः लोग कुटुम्बादि जलतुल्य शान्तिकारक हैं भी नहीं । किन्तु पूर्ववर्णित सुखसागर राम ही पानीतुल्य शान्तिकारक है । और उसीमें तुम वर्तमान हो । परन्तु मतिभ्रम से उसको समझ नहीं रहे हो । अतः "पानी में मीन पियासी । धुबिया जल बिच मरत पियासा" इत्यादि उपहास का विषय हो रहे हो । यदि मैं (सद्गुरु) सच्चा व्यास (वक्ता) थी को (हूँ) या मैं यदि सच्चा हूँ । और वेदादि के वक्ता व्यास मुनि यदि सच्चा हैं । तो तेरा मगहर के पास में मरण हो या मगहर में ही मरण हो, और तुम यदि मेरे बचन तथा व्यास वचन के अनुसार आत्मज्ञ हो, तो फिर मरण नहीं पावोगे (मुक्त ही होगे) । क्योंकि मगहर में भी आत्मज्ञ होकर जो मरता है, सो फिर

मरण नहीं पाता है। क्योंकि मगहर में जो मरता है, सो गदहा तब होता है कि जब वह राम से (रामभक्ति ज्ञान से) भली गति मुक्ति की प्रतीति को खोता (गमाता नष्ट करता) है, अन्य नहीं।

मगहर मरै मरण नहिं पावै। अन्ते मरै तो राम लजावै॥
क्या काशी क्या मगहर ओरा। जो पै हृदय राम बसु मोरा॥
जो काशी तन तजहिं कबीरा। तो कहु रामहिं कौन निहोरा॥४७॥

मृतो मगहरे जन्तु र्भूयोमरणवर्जितम्।
प्राप्नोति मरणं नैव काश्यादौ मरणाद्धि तत्॥३६॥
काश्यादौ हि मृतो रामं कृत्वैवार्तिनिरुत्तरम्।
ह्रेपयित्वा ततो मोक्षं लभते नात्र संशयः॥३७॥
अथवा सद्गुरुः प्राह मृतो मगहरे भवेत्।
ज्ञानी चेन्मरणं भूयः प्राप्नुयान्न कथञ्चन॥३८॥
ज्ञानं लब्ध्वापि यः कश्चित्काश्यादौ मरणं श्रयेत्।
स रामं कुरुते ह्यूनं ज्ञानं च लज्जितं तथा॥३९॥
यदि मे हृदये रामो वसत्येव निरन्तरम्।
काश्या मगहरेणात्र किम्वा मे ह्यधिकं भवेत्॥४०॥
काश्यादौ मरणाज्जन्तो र्यदि मोक्षो भवेद्ध्रुवम्।
तदा किमिति रामस्य विनयं कुरुते जनः॥४१॥४७॥

इति हनुमत्कृतायां शब्दसुधायामलौकिकात्मवैराग्ययोः शंकासमाधान-वर्णनं नाम सप्तदशस्तरङ्गः॥ १७॥

क्योंकि ज्ञानी भक्त मगहर में मरता है, तो भी फिर मरण नहीं पाता है। मुक्त हो जाता है। और ज्ञानी भक्त होते भी यदि अन्ते (मगहरादि साधारण देश से अन्यत्र काशी आदि में) जाकर मोक्षादि के लिये मरता है, तो वह भक्त राम आदि को लजाता है (राम के ज्ञानादि की महिमा को वह नहीं जानता है)। क्योंकि सच्चा ज्ञानी भक्त तो समझता है कि काशी और मगहर ओरा (देश दिशा) क्या कर सकता है, मुक्तिदाता तो राम की भक्ति और ज्ञान है। अतः यदि राम मेरे हृदय में बसते हैं (राम की भक्ति और ज्ञान यदि हृदय में है) तो मगहर और काशी से हानि या लाभ कुछ नहीं हो सकता है। यदि कबीरा (जीव) काशी में शरीर को त्यागे, और उसीसे मुक्ति हो, तो कहो कि मुक्ति के लिये राम की निहोरा (स्तुति वन्दना भक्ति) कौन किस काम के

लिये कर सकता है। अतः राम के तथा भक्ति और ज्ञान के स्वरूप महिमा को समझने के बिना शिष्य के दोष से ही उक्त शंका होती है, उस दोष को नष्ट करने के लिये सत्सङ्गादि शिष्य का कर्तव्य है ॥४७॥

अथ अपार ब्रह्मविचारादि प्रकरण १८

शब्द ४८

अवधू छाड़हु मन विस्तारा।
सो पद गहहु जाहि ते सद्गति, पारब्रह्म ते न्यारा ॥
नाहिं महादेव नाहिं मुहम्मद, हरि हजरत कछु नाहीं।
आदम ब्रह्मा नहिं तब होते, नहिं धूप औ छाँहीं ॥

अवधूक ! त्वया साधो ! विस्तारो मनसोऽनृतः।
त्यज्यतां गृह्यतां तद्धि पदं स्यात्सद्गति र्यतः ॥ १ ॥
ग्रहणाद् यस्य सज्ज्ञानादवश्यं सद्गति र्भवेत्।
पारवद्ब्रह्मभिन्नं तत् सदपारं हि विद्यते ॥ २ ॥
संसाराम्बुनिधेः पारं यद्वा यद्ब्रह्म वर्तते।
तद्भिन्नोमनसः सर्वो विस्तारः परिगीयते ॥ ३ ॥
महादेवो न तद्ब्रह्म मुहम्मदोऽपि नैव च।
हरि र्हजरतो नैव कोपि तत्र हि विद्यते ॥ ४ ॥
ज्ञाने सति स्वरूपे ते नादमो न विधिः स्फुरेत्।
आतपो नैव वा छाया किञ्चित्तत्रोपयुज्यते ॥ ५ ॥

मन्द वैराग्यादि से खिन्न पूर्वोक्त विरक्त शिष्य के ही प्रति पूर्ण विवेक वैराग्यादि के लिये ऊपदेश है कि हे अवधू ! मन के विस्तारों (संकल्प-विकल्पादिकों) को छोड़ो, और सो (उस) पद (स्वरूप वस्तु) को गहो (समझो) कि जो पद पारब्रह्म (कार्य ब्रह्म = एकदेशी देवादि) से न्यारा (भिन्न) अपार विभु ब्रह्म है। और जिसके गहने से सद्गति (मुक्ति) होती है या मन के विस्तारों को छोड़ो और मन के विस्ताररूप संसार से पार=(भिन्न) शुद्ध ब्रह्म से न्यारा जो कुछ है, उन सबको छोड़ो, और उस शुद्ध ब्रह्मपद को गहो कि जिससे सद्गति होती है। वह अपार शुद्ध ब्रह्म महादेव मुहम्मद हरि और हजरत नहीं है, और आदम ब्रह्मा भी सद्गति दायक में नहीं होते (गिने जाते) हैं। न वहाँ धूप छाया का सम्बन्ध रहता है।

असिया सै पैगम्बर नाहीं, सहस अठासी मूनी।
चन्द्र सूर्य तारागण नाहीं, मच्छ कच्छ नहिं दूनी ॥
वेद् कितेव स्मृति नहिं संयम, नहीं यवन पर स्याही।
वंग निमाज कलिमा नहिं होते, रामो नाहिं खुदाहीं ॥

यवनानां न चाचार्यास्तत्राशीतिशतानि हि।
अष्टाशीति सहस्राणि मुनयो न पृथग् जनाः॥ ६॥
चन्द्रसूर्यौ न तत्रास्तस्तारकाणां गणो न च।
मत्स्यो न कच्छपो नैव द्वैतं दृश्यं न दृश्यते॥ ७॥
वेदा ग्रन्थाश्च नैवाऽत्र स्मृतयो नैव संयमाः।
यवना नो ततोऽन्ये वा नैवातिमलिनाः प्रजाः॥ ८॥
वाचाऽऽह्वानं व्रतं नैव मन्त्राश्च विविधा नहि।
रामचन्द्रः खुदाख्यो न तदात्मा तत्र वा भवेत्॥ ९॥

महाप्रलयादि में पूर्वोक्त महादेवादि के नहीं रहने पर भी परब्रह्म सदा रहता है। इसी प्रकार परब्रह्म ईश्वर के रहते भी अस्सी सौ यवनों के पैगम्बर नही रहते हैं न अठासी हजार मुनि रहते हैं, न चन्द्र-सूर्य तारागण रहते हैं। न मत्स्य कच्छप दोनों अवतार रहते हैं, न दूनी (दुनियाँ = संसार) रहती है। और वेद, कुराण, धर्मशास्त्ररूप स्मृति, संयम (धारणा, ध्यान समाधि की एक विषयता) नियमादि भी नहीं रहते हैं, न यवन रहते हैं, न यवनों से भी पर (भिन्न) स्याही (मलिनता) तामस, प्रजा, पशु, पक्षी, उष्मज, स्थावर, प्रजा, प्राणी आदि रहते हैं। न बाँग (अजान) देना, निमाज पढ़ना, कलिमा (कलमा मन्त्र) रहते हैं या कलिमा (कलियुग में) सिद्ध होनेवाले बाँगादि नहीं रहते हैं। न राम खुदा का भेद रहता है। महाप्रलय और मोक्ष काल में इन सबका अभाव रहता है, परन्तु परब्रह्म रहता है। अतः सद्गति के लिये परब्रह्म को ही गहो (समझो) इत्यादि।

आदि अन्त मन मध्य न होते, आतस पवन न पानी।
लख चौरासी जीव जन्तु नहिं, साखी शब्द न बानी॥
कहहिं कबीर सुनहु हो अवधू, आगे करहु विचारा।
पूरण ब्रह्म कहाँ ते प्रगटे, किरतम किन उपचारा॥४८॥

आदिरन्तो मनो मध्यो विद्यतेऽत्र न वा भिदा।
नाग्निर्न पवनो नान्यः कश्चिद् भूतमयोऽपि सः ॥१०॥
सर्वयोनिषु ये जीवा भवन्ति क्षुद्रजन्तवः।
तत्रात्मा नैव देवोऽसौ साक्षिशब्दौ न वाक्ययौ ॥११॥
अवधूक! त्वया साधो! श्रवणं सुविधीयताम्।
एभ्यो हि परतत्त्वस्य विचारः क्रियतां मुहुः ॥१२॥
पूर्णं यद्धि परं ब्रह्म तत् प्रत्यक्षं कुतो भवेत्।
साक्षात्तल्लभ्यते कै र्वा साधनैश्च कुतो गुरोः ॥१३॥
यद्वा हिरण्यगर्भाद्याः पूर्णत्वेनैव सम्मताः।
आविर्भूताः कुतस्तद्वद् ब्रह्माण्डानि सहस्रशः ॥१४॥
कार्याणां सन्त्युपायाः के कैः सेव्यानि च तानि वै।
केन तानिनिवर्तन्ते भोः साधो! चिन्त्यतां मुहुः ॥१५॥
एवं सत्यविचारेण ज्ञानं लब्ध्वा ह्यनुत्तमम्।
भवान् मुक्तो भवेद् बन्धात्सद्गुरु र्भासतेऽमृतम् ॥१६॥
आत्मानमेव विज्ञाय मनो विस्तारलक्षणान्।
नानुध्यायाद्वहूनर्थां स्त्यजेत्सर्वान् विचक्षणः ॥१७॥
सर्वात्मभावाय योगो विरागः कार्यः सदैवेति चौक्तौ तु कश्चित्।
मन्दो विरक्तो वदत्यत्र तज्ञो कृत्वा स्वकर्णे विचारो विधेयः ॥१८॥४८॥

इति हनुमत्कृतायां शब्दसुधायां मनोविस्तारत्यागापारब्रह्मविचार-
वर्णनं नामाष्टादशस्तरङ्गः ॥ १८ ॥

ज्ञातव्य वह परब्रह्म आदि-अन्त और मध्य तथा मनकी विषयता से रहित स्वयं प्रकाश है, कार्य के आदि अन्त मध्य काल देश होते हैं, परब्रह्म स्वशक्ति माया द्वारा सबका कारण होता है, कार्य नहीं है। अतः उसके आदि अन्त और मनरूप मन से कल्पित अन्त भी उस ब्रह्म में नहीं होता है, नैयायिक से कल्पित परमाणुरूप मन आदि में प्रविष्ट रहता है और उस ब्रह्म को जानने वाले भी आदि अन्त मध्य मन की वशवर्तिता से रहित हो जाते हैं। शीतोष्णादि द्वन्द्वों के हेतु आतस (तेज) पवन पानी का असङ्ग ब्रह्म में सम्बन्ध नहीं होता है। चौरासी लाख जीव जन्तु (बड़े छोटे प्राणी) प्रलयादि में नहीं रहते हैं, न साखी (साक्षी प्रमाण) रूप शब्द रहता है, न अन्य बाणी रहती है। श्री कबीर साहब कहते हैं कि हे अवधू! उस ब्रह्म के श्रवणादि करो और महादेवादि सब से आगे (परे) सत्य पर ब्रह्म का विचार करो।

वह पूरण ब्रह्म कहाँ से (किन साधन सद्गुरुओं से) प्रगटेगा (प्रत्यक्ष होगा) सो विचारो। किरतम (कार्य आकाश वायु आदि) को किन कारणों ने उपचारा (उत्पन्न किया) इत्यादि विचारो और धीर गुरुशरण में जाया करो, तो सगुण, निर्गुण ब्रह्म को जानकर चिन्ता रहित मुक्त होगे। "शब्द शिन्धु में लोक है, ऐसो गहर गम्भीर। राम कहो साहिब कहो, सोऽहं सत्य कबीर ॥१॥ ब्रह्म कहो अविगति कहो, कर्ता कहो करीम। कादिर वे परवाह है, रमता राम रहीम ॥ २ ॥ गायत्री कलमा कहो, वैकुण्ठ भिस्त न दोय। जाका दर्पण पाक है, ताका मेला होय ॥३॥ सत्यवादि के चरण की, शिर पर डारो धूर। चौरासी निश्चय मिटै, पहुँचे तकथ हजूर ॥४॥ ऐसा राम अगाध है, अविनाशी गम्भीर। हदि जीवों से दूर है, वेहदियों के तीर॥५॥" इत्यादि धर्म ज्ञान के वक्ता श्रीगरीबदास जी महाराज ने कबीर साहब के इस भक्ति प्रकरण के अर्थ अनुभव को पूर्ण पाया था। अतः पक्षपात रहित ज्ञानी सन्त थे इसमें संशय नहीं है। और "राम नाम लै जगहि दृढ़ायो। काल फन्द कोइ चिन्ह न पायो" इत्यादि लिखनेवाला कैसा कुल-पोषक असन्त था, इसके मन्ता भी वैसे ही हैं ? सो विवेकी सन्त भक्त विचारेगें ॥४८॥

अथ भक्तितत्फलादि प्रकरण १९

शब्द ४९

सन्तो ! भक्ती सतगुरु आनी।
नारी एक पुरुष दुइ जाया, बूझहु पण्डित ज्ञानी ॥
पाहन फोरि गंग एक निकली, चहुँदिशि पानी पानी।
ता पानी दुइ पर्वत बूड़े, दरिया लहर समानी ॥

विचारादियुता सत्या भक्तिः सद्गुरुभिर्जने।
आनीता जगतामेव हिताय कार्यसाधिनी ॥ १ ॥
भक्तिरूपा च नार्येका ह्युभावजनयत्सुतौ।
ज्ञानवैराग्यनामानौ पुरुषौ शर्मदौ शुभौ ॥ २ ॥
ज्ञायते सा बुधात्सम्यग् लभ्येते तौ च मोक्षदौ।
अतश्चोपास्य विद्वांसं तां च तौ सुलभस्व भोः ॥ ३ ॥
गुरुरूपान्मनोरूपान्महतो वै शिलोच्चयात्।
विभिद्य भक्तिगङ्गा तं निर्गता जगतीतले ॥ ४ ॥

ततः शान्तिस्वरूपं च सुखज्ञानादिलक्षणम् ।
पानीयं सर्वतो व्याप्तं चतुर्दिक्षु सुसाधुषु ॥ ५ ॥
द्वन्द्वद्वैतात्मकं तेन निमग्नं पर्वतद्वयम् ।
संसाराख्यनदी दीर्घाऽऽविष्टा बोधतरङ्गके ॥ ६ ॥

"प्रगटत जिमि सद्भक्ति से, सहज निजातम देव । मिटत द्वन्द्व सब सहज ही, सो अब कह गुरुदेव ॥ १ ॥" हे सन्तो ! उक्त परब्रह्म के ज्ञानादि के लिये सद्गुरु ने संसार में प्रेम, श्रद्धा, विचार, श्रवणादिरूप भक्ति आनी (लाई) है । वह भक्तिरूप एक नारी ने ज्ञान विरागरूप दो पुरुष को जिज्ञासुओं के हृदय में जाया (उत्पन्न किया) और करती है, सो तुम ज्ञानी पण्डितों से बूझो (समझो) । क्योंकि "मोक्षकारणसामग्र्यां भक्तिरेव गरीयसी" मोक्ष के कारण सामग्री (समूह) में भक्ति सबसे श्रेष्ठ है । अतः ज्ञानी पण्डित से भक्ति के स्वरूप आदि को समझकर, भक्ति द्वारा शुद्ध हृदय में ज्ञान विरागादि को श्रवणादि से प्राप्त करो, श्रीमद्भागवत माहात्म्य का वचन है कि "अहं भक्तिरिति-ख्याता इमौ मे तनयौ मतौ । ज्ञानवैराग्यनामानौ कालयोगेन जर्जरौ ॥१॥" राजा परीक्षित से भक्ति कहती है कि मैं प्रख्यात भक्ति हूँ । मेरे आगे वर्तमान ये दोनों ज्ञान वैराग्य नामवाले मेरे पुत्र हैं "ज्ञानप्रसादेनविशुद्धसत्त्वस्ततस्तुतं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः । मुण्ड. ३।१।८" विवेक ज्ञान के प्रसाद से विशुद्धान्तःकरणवाला होकर फिर प्रेम भक्तिपूर्वक ध्यान करनेवाला अविनाशी निरवयव पर ब्रह्म का अनुभव करता है "श्रद्धावाँल्लभतेज्ञानम् । भ. गी. ४।३९" श्रद्धावाला ज्ञान पाता है, इत्यादि गीता में प्रसिद्ध है । अतः श्रद्धादि पूर्वक श्रवणादि से ब्रह्मानुभव करो । क्योंकि जैसे पहाड़ को फोड़कर गंगा निकली है, तैसे ही "माटिक कोट पाषाणकताला । रमैनी १२" इसमें वर्णित पाहन को (मन को) फोड़कर, अचल सद्गुरुरूप पहाड़ से एक भक्तिरूप गङ्गा निकली है, और निकलती है । अतः जहाँ भक्ति गङ्गा है (रहती है) तहाँ चारो दिशा में पानी पानी (प्रत्यक्ष शुद्ध ब्रह्म सुख-शान्ति ही शान्ति) रहती है । ता पानी (उसी पानी) में बिन्ध हिमालय दो पर्वततुल्य द्वन्द्वरूप दो पर्वत बूड़ गये, और बूड़ जाते हैं, भक्तिमान् प्राणी ज्ञान पाकर सब द्वन्द्व भेदभाव से रहित हो जाता है । क्योंकि उसकी भक्ति और ज्ञानात्मक लहर (तरङ्ग) में संसाररूप दरिया समा गई (लीन हो गई) और समा जाती है । मन के तरङ्ग सब ब्रह्म में विलीन हो जाते हैं । "सनकादिक सेवन करैं, शुकदेव बोलैं साख । कोटि-ग्रन्थ का अर्थ है, सुरति ठिकाने राख ॥१॥ सत गुरु सङ्गी सन्त हैं, पारब्रह्म की सेव । राम नाम निर्गुण जड़ी, पास रहै दिलदेव ॥२॥ श्रीगरीबदासजी ।"

उड़ि माँखी तरुवर को लागी, बोलै एकै बानी।
वहि माँखी को माँखा नाहीं, गर्भ रहा विनु पानी॥
नारी सकल पुरुषवहिं खायो, ताते रही अकेला।
कहहिं कबिर जो अब की समुझै, सोई गुरु हम चेला॥४६॥

उड्डीय माक्षिका बुद्धिः संसाराद्द्वन्द्वदुःखतः।
ब्रह्मण्येव तरौ लग्ना वाणीमेकां हि भाषते॥ ७॥
तदा तस्याः पति र्नान्यो ह्यनात्मा विद्यते क्वचित्।
अनादिः साक्षिसद्गर्भस्तिष्ठत्यस्यां जलं विना॥ ८॥
अतो भक्त्याख्यनार्येका ह्यनात्माखिलपूरुषान्।
जगध्वा ज्ञानादिपुत्राभ्यां तिष्ठत्येका सुखावहा॥ ९॥
यो जनो मानवे देहे कृत्वा भक्तिमनुत्तमाम्।
जानात्यत्रैव सत्तत्त्वं स गुरुः शिष्यता मयि॥१०॥४६॥

उक्तरीति से संसार और मन के बाधित लीन होनेपर, भक्तज्ञानी की बुद्धि वासना वाक् आदिरूप माँखी अनेक हीन संसार से उड़कर, श्रेष्ठ तरु परब्रह्म ईश्वर में लगी और एक उसी की वाणी को बोलने लगी "तत्कथनं तच्छ्रवणमन्योन्यं तत्प्रबोधनम्। एतदेकपरत्वं च ब्रह्माभ्यासं विदुर्बुधाः" इस प्रकार से ब्रह्माभ्यास करने लगी और बोलती है। फिर उस माँखी के कोई माँखा (अनात्मपति) नहीं रहे, और पानी के बिना (गर्भ के कारण वीर्यादि के बिना) साक्षी स्वरूप सत्यात्मा गर्भ उस में रह गया (सत्य शुद्ध एकात्मा का निश्चय उस बुद्धि से जिज्ञासु को हो गया और होता है) इस प्रकार से एक भक्तिरूप नारी ने सब अनात्म देवादि स्वरूप और काम क्रोधादि स्वरूप पुरुषों को ज्ञानविराग बल से खा गई। अतः वह अकेली मोक्ष देने वाली रही (हुई) और आत्मा रूप पुरुष अकेला निर्भय रहा (रहता है) द्वितीय का भय मिट गया। श्री कबीर साहब कहते हैं, कि जो कोई अब की (इस मानव देह में) इस प्रकार अकेला (असङ्ग) रहकर, एक सत्यात्मा को समझते हैं, सो गुरु हैं, और उनसे भिन्न जो कोई देहादि में अहं बुद्धिवाले हैं। सो चेलें हैं, मैं ऐसे गुरु का चेला हूँ॥ ४६॥

शब्द ५०

आब विआब मुझे हरि (को) नामा। और सकल तजु कौने कामा॥

कहँ तब आदम कहँ तब हौवा । कहँ तव पीर पैगम्बर हूवा ॥
कहँ तब जिमी कहाँ असमाना । कहँ तब वेद कितेब कुराना ॥

भोः साधो ! यदि मुक्तिं त्वमिच्छेः सौख्यं सदातनम् ।
हरिभक्तिं कुरुष्वैवमानीतां गुरुभिस्तदा ॥ ११ ॥

सौख्ये दुःखे प्रतिष्ठायामप्रतिष्ठासमागमे ।
हरेर्नाम हरिश्चैव सर्वात्मा मे परा गतिः ॥१२॥
स सेव्यो मे प्रभुर्देव आत्मा ब्रह्म सनातनः ।
निश्चित्येति जहीह्यन्यत्सर्वं तेन हि किं तव ॥१३॥
उक्ते हि निश्चये जाते त्वादमः कुत्र विद्यते ।
कुत्र हव्यवती देवी तयो भक्तिः कुतोऽथवा ॥१४॥
गुरवो यवनानां च तदाचार्याः क्व सन्ति च ।
तेषां भक्तिर्गता कुत्र तद्वार्ताऽपि न विद्यते ॥१५॥
द्यावाभूमी च कुत्र स्तो वेदा ग्रन्थाः कुराणकाः ।
कुत्र सन्ति न सत्यास्ते दृश्यन्ते सज्जनैस्तदा ॥१६॥

उक्त भक्ति ज्ञान के लिये उपदेश है कि आब (इज्जत प्रतिष्ठा) काल में और विआब (अप्रतिष्ठा अनादर दुःख) काल में सदा मुझे हरिनामा (हरिनाम वाले, या हरि के नाम) से ही काम है (सत्यफल मिलना है) तथा नाम द्वारा हरि का भजन स्मरण ही हमारे लिये सार पदार्थ है, अन्य पदार्थ मिथ्या हैं, उनसे हमें क्या काम है (क्या जरूरत है) ऐसा समझ कर और (अन्य) सब को त्यागो, क्योंकि उनसे तुझे कौन काम है । सभी कामों को पूर्ण करने में एक हरि और हरि का नाम ही समर्थ है । अतः उस हरिभक्ति की प्राप्ति होने पर आदम और हौवा (हव्यवती) आदम की स्त्री कहाँ पृथक् भजन के योग्यादि रह जाते हैं, तथा पीर पैगम्बर भी कहाँ पृथक् उपासनीय रहते हैं, जिमी (भूमि) असमान (आकाश=स्वर्ग) निवासी भी कहाँ पृथक् पूज्यादि हैं तथा अध्येतव्य वेद, कुराणादि कहाँ पृथक् रहते हैं, हरि भक्ति से सबकी भक्ति ज्ञान सिद्ध हो जाते हैं । क्योंकि हरि सर्वात्मा है और ओंकारादि हरि के नाम सब वेदादि के मूल हैं । अतः नाम जप से वेदादि सबका जप सिद्ध हो जाता है, इत्यादि ।

जिन दुनियाँ महँ रचि मसजीद । झूठा रोजा झूठा ईद ॥
साँचा एक अलह को नामा । जाको नय नय करहु सलामा ॥

कहु दहु भिस्त कहाँ ते आया। किसके कहे तुम छूरि चलाया॥
करता किरतम बाजी लाया। हिन्दु तुरुक की राह चलाया॥

येर्ह्यत्र रचितं चित्रं मस्जीदाख्यं सुमन्दिरम्।
तैर्मिथ्यैव च रोजाख्यमीदाख्यं कल्पितं व्रतम् ॥१७॥
अल्लाहाख्यस्य चैकस्य नाम सत्यं तु विद्यते।
विनम्य यस्य युष्माभिरभिवादो विधीयते ॥१८॥
तस्य भक्ति विनाऽहिंसाविचारादि समन्विताम्।
कुतः स्वर्गः समायातः कुत्र कस्य च वा कदा ॥१९॥
असमीक्ष्य रहस्यं च यूयं कस्याऽऽज्ञया किल।
कृपाण्या विनिपातोऽयं क्रियते प्राणवत्स्वपि ॥२०॥
कर्तारो हि स्वयं यूयं कार्यं वै शाम्बरीमयम्।
प्राप्य त्यजथ सद्भक्तिं कल्पयन्तः कुमार्गकौ ॥२१॥
आर्याणां च तुरुष्काणां हिंसाद्वेषादिसंयुतौ।
अहोरात्रादिभेदेन बहूत्पातसमन्वितौ ॥२२॥

इस भक्ति के बिना जिन लोगों ने दुनियाँ (संसार) में मसजीद रची, उनकी मसजीद और रोजा तथा ईद, ये सब झूठे (विनश्वर और पाखण्ड मात्र) हैं। किन्तु जिसको नय नय (झुकझुक) कर सलाम (प्रणाम) करते हो उसी एक अलह (भक्ति ज्ञान के बिना अलभ्य) हरि का नाम (स्वरूप) सत्य है। हिंसादि रहित उस अल्लाह (हरि) की भक्ति के बिना किसको कहाँ से (किस प्रकार से) कहाँ भिस्त (स्वर्ग) आया (प्राप्त हुआ) सो कहु दहुँ (कहो तो सही)। अर्थात् उक्त भक्ति के बिना किसी को स्वर्ग नहीं हुआ, न कह सकते हो। किसके कहने से तुमने निरपराध प्राणि पर छूरी चलाई। अर्थात् भक्ति के अभाव से जिह्वा स्वादवश होकर ईश्वरादि की आज्ञा के बिना छूरी चलाते हो। और तुम स्वयं कर्ता बनकर किरतम (कार्य) स्वरूप बाजी (मिथ्या खेल) को लाये (प्राप्त किये) हो। मिथ्या खेल व्यवहार को लाकर विवेकादि के बिना हिन्दू और तुरुक के हिंसापाखण्डादियुक्त भिन्न-भिन्न मार्ग चलाये हो। अर्थात् सच्ची भक्ति और ज्ञान के बिना ही हिन्दू-तुरुकादि के हिंसादियुक्त भिन्न मार्ग सिद्ध हुए हैं, अहिंसादियुक्त भक्ति-ज्ञानमय मार्ग मनुष्यमात्र का एक है, मनुष्य उसी मार्ग द्वारा स्वर्ग शान्ति-सुख मोक्ष को प्राप्त करे।

कहँ तब दिवस कहाँ तब राती। कहँ तब किरतम की उतपाती।
नहिं वाकि जाति नहिं वाकी पाती। कहहिंकबिर वाकु दिवस न राती॥

यदा सद्भक्तिरायाति तदा घस्ननिशाभिदा।
कुतः स्यात्कुत एवात्र कार्योत्पातोऽपि संस्फुरेत् ॥२३॥
सद्भक्तानां न जाते वा पङ्क्ते वा विद्यते भिदा।
अहोरात्रप्रभेदो नो ह्यखण्डा भक्तिरद्भुता ॥२४॥
विद्यते तत्र तां भक्तिं साधो! शृणु समाहितः।
तथा ज्ञानं परं लब्ध्वा बन्धान्मुक्तो भविष्यसि ॥२५॥
विज्ञानवैराग्ययो र्हेतुभूता, स्वान्ते सदा भाविता पापहन्त्री।
भक्तिं गुरो र्वाक्यजा सर्वलोके, भेदं विधूयातिसौख्यं तु दत्ते ॥२६॥
विद्युद्वच्चञ्चलं तस्मादासाद्येदं कलेवरम्।
भक्तिज्ञानविचाराद्यैरात्मानं रक्ष भद्र हे ॥२७॥५८॥

इति हनुमत्कृतायां शब्दसुधायां सद्भक्तितत्फलवर्णनं नाम
नामैकोनविंशतितमस्तरङ्गः ॥ १९ ॥

सच्ची भक्ति यदि हो तो दिन-रात का भेद कहाँ रहता है कि जिससे दिन में रोजा (उपवास) और रात्रि में गो-बधादि हो सके, या एकादशी के ही दिनभर हरि भजनादि के नियमादि हो सके, और तब (उस सत्य भक्ति के होनेपर) किरतम (कार्य) की उतपाती (उत्पत्ति) कहाँ हो सकती है। अर्थात् परस्पर विरुद्ध व्यवहार राग द्वेषादि मूलक उपद्रव सच्ची भक्ति से मिट जाती है। सच्चा भक्त ज्ञान पाकर मुक्त हो जाता है। अतः उसके पुनः कार्यात्मक शरीर नहीं होते हैं। क्योंकि भक्तिजन्य ज्ञानाग्नि जन्म हेतु कर्मादि को नष्ट कर देती है। जीवनकाल में भी देहाभिमानादि के अभाव से उसकी जाति कोई नहीं रह जाती है न वाकी (उस भक्ति की) कोई पाति (पंक्ति) रह जाती है। श्रीकबीर साहब कहते हैं कि जाति पाति के अभाव से ही उसकी भक्ति में साधारण हिन्दू तुरुकादि की भक्ति के समान दिन-रात्रि का भेद नहीं रहता है, उसकी अखण्ड भक्ति रहती है। अतः

"भक्ति माहि इक नाम दृढ़, गहिये सब सिधि होय।
तजिये मद कपटादि को, भ्रम तम रहै न कोय ॥ १ ॥
पक्षपात तजि असत मल, विमल राम लौ लाय।
राहिय मिलै विज्ञान शुभ, ममता मल जरि जाय ॥ २ ॥

सकल अशुभ को जारिये, समता मन में आनि।
हनुमान सद्भक्ति से, रहत न जन अभिमानि ॥ ३ ॥
अभिमति जाके मन नहीं, दया ज्ञान शम होय।
सो जन जीवत ब्रह्म है, मुक्त विमुक्तहुँ सोय" ॥ ४ ॥
"शील सन्तोष विवेक बुधि, दया धर्म इकतार।
बिनु निश्चय पावै नहीं, साहब का दीदार ॥ १ ॥
मीरा हाथ सुतार था, पद गावै लौ लाय।
पत्थर की थी मूरती, तामे गई समाय ॥ २ ॥
इन्द्रिय के अधिकार ते, बूड़त तीनों लोक।
जिन इन्द्रिय परहेजिया, ते नर पावैं मोख" ॥ ३ ॥
श्रीगरीबदासजी ॥ ५० ॥

अथ भक्तिदयादि के बिना अन्यकर्मनिष्फलता प्र० २०

शब्द ५१

अल्लह राम जीवों तेरि नाईं। जन के मेहर होहु तुम साईं ॥

भो जीव ! यं तटस्थं त्वं भजसे हीशबुद्धितः।
सदेहं सङ्कसंयुक्तः स त्वयाऽस्ति समः प्रभुः ॥ १ ॥
भिन्नोऽल्लाहस्तथा रामः सादृश्यं ते जहाति न।
स्वामी विचारदृष्ट्या त्वं जनस्य स्त्री भवस्यहो ॥ २ ॥
अथवा शास्त्रदृष्ट्या ते ह्यल्लाहो राम इत्यपि।
आख्या वै विद्यते तस्मात् कुरु स्वामी दयां जने ॥ ३ ॥
जनेभ्यश्च दयां कृत्वा स्वामित्वं सफलं कुरु।
वामात्वं नहि कस्यापि कदापि त्वं समाश्रय ॥ ४ ॥
अल्लाहरामनाम्नो वा भवानंशः प्रियो यथा।
तथांशाः सन्ति जीवा हि सर्वे तस्य महाप्रभोः ॥ ५ ॥
एवं मत्वा दयावांस्त्वं सर्वोपरि सदा भव।
सद्भक्तिः कथिता ह्येषा तद्विधौ स्वामितास्ति ते ॥ ६ ॥
साधुत्वं प्राप्यते भक्त्या स्वामित्वं चैव सत्तमम्।
नाऽनया तु विना किञ्चित् प्राप्यते सत्फलं क्वचित् ॥ ७ ॥

हे जीवो ! (मनुष्यो ! तेरि नाईं तेरे समान) सब जीव अल्लाह राम

(ईश्वर) के अंश प्यारे स्वरूप हैं तथा तेरी (तेरा) ही अल्लह राम नाईं (नाम) है ईश्वर के अंश होने से तुम ईश्वर स्वरूप हो। और तटस्थ ईश्वर तेरे समान है। अतः तुम साईं (स्वामी) हो। तो हे साईं! सब जन (प्राणी) के ऊपर तुम ईश्वर के समान मेहर (मेहरवान् = दयावान्) होवो। समदर्शी बनो या हे साईं! (फकीरों) तेरे समान सब अल्लह राम के प्यारे अंश हैं। अतः इन्हें अल्लह राम स्वरूप जानकर मेहरवान् समदर्शी होवो तथा स्वामी होवो, मेहरी (स्त्री = इन्द्रिय जिह्वा आदि के वशवर्ती) नहीं होवो।

क्या मूंड़ी भूमि शिर नाये, क्या जल देह नहाये।
खून करहु मिसकीन कहावहु, अवगुण रहहु छिपाये॥
क्या ऊज्जू जप मज्जन कीये, क्या महजिद शिर नाये।
हृदया कपट निमाज गुजारहु, क्या हज मक्का जाये॥

मुण्डनाच्छिरसो भूमौ नयनात्स्नानतो जलैः।
किं फलं स्यान्न यावद्धि दयौदार्यादिसज्जलैः॥
हृदयं क्षाल्यते सम्यक् तावदन्यन्निरर्थकम्॥ ८॥
अहो दयां विना हिंसा त्वयाऽत्र क्रियतेऽबुध!।
तथापि दीनदासादि मस्करी वाऽभिधीयते॥ ९॥
साधुभक्तादिवेषेण संछाद्यावगुणान् स्वकान्।
पूज्यसे ह्यत्र लोकैस्त्वं तन्न साधुकरं तव॥१०॥
दयां विना हि किं स्यात्त ऊज्जूनाम्नापि कर्मणा।
जपेन स्नानतो वापि नमस्कारेण मशजिदे॥११॥
हृदयं चेन्न संशुद्धं कपटं वर्ततेऽत्र चेत्।
किं निमाजव्रतेन स्यात्पाठेन वा भवेत् किमु॥१२॥
मक्कां गत्वा भवेत् किम्वा तीर्थाटनविधानतः।
यावन्न हृदयं शुद्धं तावत्सर्वं निरर्थकम्॥१३॥

यदि सब प्राणी में समता दया दिल में नहीं आई, तो मुण्डित शिर को भूमि में नाये (नमाने) से क्या, जल से देह को नहाये (धोने) से क्या फल हो सकता है। क्योंकि हृदय की नम्रता शुद्धि के विना बाहर-बाहर की नम्रता शुद्धि निष्फल होती है। और हृदय की अशुद्धि तथा क्रूरता से खून (घाव) करते हो, और पाखण्ड से मिसकीन (दीनभक्त) कहलाते हो, कपट से अपने अवगुणों को छिपाते रहते हो, ऊज्जू (जलादि से बाह्यशुद्धि) और मन्त्र, जप तथा

मज्जन (स्नान) से और मसजिद में जाकर मान्य मसजिद मक्का के तरफ शिर झुकाने से क्या हो सकता है। हृदय में कपट (क्रूरता छल विषमता) के रहते निमाज कर गुजारते हो, मक्का जाकर हज (तीर्थाटन विधि) करते हो, तो इन सब से क्या फल हो सकता है। कपटादि के त्यागे बिना सब विधि व्यवहार निरर्थक या अनिष्ट फल के हेतु होते हैं।

हिन्दु एकादशि करै चौविशो, रोजा मुसलमाना।
ग्यारह मास कहो किन टारे, एके माँह न आना ॥

दयां भक्तिमनादृत्य व्रतान्येकादशीषु ये।
चतुर्विंशतिमार्या वा कुर्वते यवनास्तथा ॥१४॥
रोजाव्रतं न सद्धर्मं दयाऽहिंसातिलक्षणम्।
नित्यं ते कुर्वते येन स्वर्गो मोक्षश्च लभ्यते ॥१५॥
कुर्वन्तो मासमात्रं ते व्रतान्येवं हरिं जनाः।
सेवन्ते तद्दिनान्याहु हरे नान्यदिनानि तु ॥१६॥
अहो बाला न पश्यन्ति कस्यान्ये सन्ति वासराः।
एकादश हि मासाश्च योगक्षेमौ करोति कः ॥१७॥
कथयन्तु भवन्तोऽत्र चिन्तयित्वाऽर्थमुत्तमम्।
एकादशापि मासान् को यापयत्यन्य ईश्वरात् ॥१८॥
सदाऽसौ प्रभुरासेव्यः स एव सर्व कृत्सदा।
व्यापको न क्वचिद्देशे सर्वज्ञो वर्ततेऽन्यवत् ॥१९॥

समता दया रहित भी हिन्दू एकादशी को हरिदिवस जानकर चौविसो एकादशीव्रत करते हैं, और रोजे के दिनों को खुदा के दिन मानकर मुसलमान रोजा व्रत एकमास करते हैं। तहाँ यदि एक ही माँह (महिना=मास) एकादशी दिवश और रोजा दिवस मात्र ईश्वर का है, तो आन (अन्य) मास ईश्वर के नहीं हैं। तो कहो कि ग्यारह मास को किन्होंने टारा (किन के प्रताप से ग्यारह मास योग क्षेम पूर्वक बीते) और बीतते हैं, बिताये जाते हैं, या ग्यारह मास को किन लोगों ने ईश्वर से टारा, ईश्वर की प्रभुता (स्वामिता) से रहित ग्यारह मास को किन लोगों ने किया। और स्वयं स्वामी होकर कौन ईश्वर के स्थान में बैठ गये अर्थात् ऐसा कोई हुआ नहीं सब समय ईश्वर का ही है, अतः एक ईश्वर सदा संभजनीय है।

जो खुदाय मसजीद वसत है, और मुलुक किहि केरा।
तीरथ मूरति राम निवासी, दुइ महँ किनहुँ न हेरा ॥
पूरब दीशा हरि के बासा, पच्छिम अलह मुकामा।
दिल महँ खोज दिलहि में खोजो, यहैं करीमा रामा ॥

मस्जिदेऽस्ति परात्मा चेदन्यदेशोऽस्ति कस्य वै।
तीर्थे मूर्तौ च रामश्चेदन्यत्र रमते हि कः ॥२०॥

हरिमेकत्र मन्वाना आर्या वा यवनाः खलु।
पश्यन्ति नोभये तत्त्वं नान्ये केऽपि पृथग्धियः ॥२१॥

हरेर्वासं हि पूर्वस्यांदिशि मन्यन्त आर्यकाः।
प्रतीच्यां यवनाश्चैवमल्लाहमपि मन्वते ॥२२॥

भोः साधो ! हृदये स्वस्य रामश्च केशवो हरिः।
अन्विष्यतां विचाराद्यैरत्रापि वर्तते प्रभुः ॥२३॥

हरेश्चमन्दिरं विद्धि सर्वस्य हृदयं परम्।
तन्न कम्पय कुत्रापि त्रिधा तं पूजयाऽत्र च ॥२४॥

यदि खुदा मसजीद में वसता है, तो और मुलुक (देश) किसका है। और यदि तीर्थ मूर्ति आदि में ही राम निवास करता है, तो अन्यत्र वसने वाला कौन स्वामी है, अर्थात् सब देश और काल का स्वामी एक है, अन्यः नहीं परन्तु विवेक विचारादि रहित हिन्दू तुरुक इन दोनों में किसी ने भी इस एक सत्यात्मा राम को नहीं हेरा (नहीं देखा नहीं खोजा) अतः हिन्दुओं ने पूर्वदिशा में वर्तमान क्षीर सागर में हरि के वास स्थान को माना और मुसलमानो ने पश्चिम मक्का में अल्लाह के मुकाम (स्थान) को माना। परन्तु हे सज्जनों ! हरि की प्राप्ति का खोज (मार्ग) दिल में दया समता विचारादि स्वरूप होता है। अतः दया भक्ति आदि से दिल को शुद्ध करके ध्यानादि से दिल ही में खोजो (ढूंढ़ो) तो यहाँ करीमा राम मिलेगें अन्यत्र नहीं।

वेद कितेब कहो किम झूठा, झूठा जो न विचारै।
सब घट एक एक करि लेखै, भी दूजा कहि मारै ॥
जहँ लगि जगमहँ रूप उपानो, सो सब रूप तुम्हारा।
कबिर पोगरा अलह राम का, सो गुरु पीर हमारा ॥५१॥

वेदान् ग्रन्थान् कथं केऽपि मिथ्येत्येवं वदन्तु वै ।
स एवासत्यभाषी यो विचारं कुरुते नहि ॥२५॥

सर्वयोनिषु देहेषु ह्येकं ज्ञात्वापि वेदतः ।
विचारेण विना भेदमीक्षन्ते मूढबुद्धयः ॥२६॥

भेदं दृष्ट्वा तु मोहेन लोलुपो मानवः कुधीः ।
मुधा मारयते जन्तून् भ्रंशते नरके ततः ॥२७॥

जायन्ते जन्तवो येऽत्र त्रिषु लोकेषु केचन ।
ते सर्वे त्वत्स्वरूपा वै दृश्यन्तां ज्ञानचक्षुषा ॥२८॥

आत्मौपम्येन सर्वत्र सुखं दुःखं च दृश्यताम् ।
दयामैत्र्यादि भावेन चित्तं स्वं परिशोध्यताम् ॥२९॥

रामरूपो हि यो बुद्धः शुद्धो रागादिवर्जितः ।
सैव मेऽस्ति गुरुः स्वामी पूज्यश्चेति प्रपश्यताम् ॥३०॥५१॥

वेदादि को पढ़कर भी बहुत लोग झूठे अर्थों में भ्रमते हैं, अतः यदि वेद किताब को कोई झूठा (मिथ्या अर्थ के बोधक) कहे तो कहते हैं कि वेद-किताब को किन (किस प्रकार) झूठा कहा जाय, झूठा वह है कि जो विचार नहीं करता है। अर्थात् वेदादि को विचारकर अहिंसा सत्य शौच सन्तोषादि धर्मों को सत्यात्मा समता को नहीं समझने वाला झूठा है। अतः जो सब घटों (देहों) में अपने तुल्य सुख दुःखादि युक्त एक एक प्राणी को समझता है। तथा सब घट में जो एक अन्तर्यामी ईश्वर है, उसको भी वेदादि द्वारा एक ही एक निश्चय करके अभय स्वरूप समझता है। सो भी विचारादि के बिना भी (भय) और दूजा (भेद) दृष्टि करके, अपने से दूजा (विलक्षण) कह कर उसको मारता है। और उस के मांस को विचारादि के बिना भक्ष्य पवित्रादि समझता है। दूसरे को कहता है, अतः वह झूठा है। श्री कबीर साहब कहते हैं कि संसार में जहँ लगि (जितने) रूप (शरीर व्यक्ति) सब योनियों में उपान (उत्पन्न हुए) हैं, सो सब तेरे ही स्वरूप हैं, सबमें तेरी आत्मा है सबमें तुम्हारे समान भोक्ता जीव हैं। ऐसा समझो और दया अहिंसा आदि मानव धर्म का धारण करो। यदि कहा जाय कि सब में एक आत्मा है, तो गुरु शिष्यादि भाव कैसे होता है, तो कहते हैं कि सत्य एक सर्वात्मा में गुरु शिष्यादि भाव नहीं होता है, किन्तु एक सर्वात्मा अल्लह राम का जो पोगरा[1] (प्रगट समर्थ स्वरूप) होता है, सो

१ पोगरा, बालक को भी कहा जाता है, तब भाव है कि अल्लाहराम का

हमारा (हम सबका) गुरु पीर होता है। और अप्रकट स्वरूपवाले अज्ञ व्यावहारिक जीव शिष्यादि होते हैं। अर्थात् साधिष्ठान सोपाधिक चिदाभास में गुरु शिष्यादि भाव होते हैं, शुद्धात्मा में नहीं, अतः शुद्धात्मा के एक होते भी सब व्यवहार व्यवहारिक स्वरूप से स्वप्न तुल्य होते हैं।

समता ही है ज्ञान, ध्यान शुभ याकौ मानो।
योग जाप विज्ञान, सकल समता को जानौ ॥
समता बिनु नहिं भक्ति, मुक्ति नहिं आवै पासा।
समता बिनु नहिं धर्म, किये कोटिन उपवासा ॥
कटै न यम के फन्द, द्वन्द्व नित बढ़ैं अनन्ता।
समता से हनुमान, मिलै हरि शुद्ध अनन्ता ॥१॥
विषमतादि करि दूर, सदा समता दिल राखै।
हिंसा कपट विहाय, सत्य मित हित ही भाखै ॥
करी क्रूरता दूर, शूर इन्द्रिय पर होवै।
मारि काम मद लोभ, क्रोध के मूलहिं खोवै ॥
मोह मारि तजि द्वेष, राग तजि मधुरहि भाखै।
तबहि कहत हनुमान, भक्त आपन को आखै ॥२॥५१॥

शब्द ५२

रामहि गावै औ (रहि) समुझावै, हरि जाने बिनु विकल फिरै ॥
जा मुख वेद गायत्री उचरै, जाके वचन संसार तरै।
जाके पाँव जगत उठि लागै, सो ब्राह्मण जिव वद्ध करै ॥

यो गायति तटस्थं च रामं बोधयते परम्।
हरे र्ज्ञानं विना सोऽपि घूर्णते विकलो भवे ॥३१॥
ज्ञानहीनस्य यस्यात्र मुखाच्च श्रूयते श्रुतिः।
यः श्रावयति गायत्रीमुच्चार्य विधिवज्जनान् ॥३२॥
मुक्तिं यद्वचनाच्चैव मन्यन्ते बहुमानवाः।
सम्पत्तिं चैव संसिद्धिं सर्वत्रैव च सर्वदा ॥३३॥
उत्थाय यस्य पादौच स्पृशन्ति स्वान्तशुद्धये।
अहो स ब्राह्मणो जीवान् हिनस्ति ज्ञानमन्तरा ॥३४॥

वात्सल्याश्रयज्ञानी भक्त हमारा गुरु पीर है, तथा "पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत्" इस श्रुति कथित बाल्य युक्त बालक विवक्षित है।

जीवघातं महत्पापं यः करोति विमूढधीः।
तं मूढो मानवः पूज्यं ब्राह्मणं मन्यते मुधा ॥३५॥

समता आदि के बिना जो तीर्थ मूर्ति आदि मात्र निवासी राम को गाते हैं और अन्य को समझाते भी हैं। सो सर्वात्मा हरिगुरु को जाने के बिना विकल (व्याकुल शोकग्रस्त) हुए फिरते हैं और जिन के मुख से वेद तथा गायत्री मन्त्र का उच्चारण होता है। तथा जिन के वचन से कोई जिज्ञासु श्रद्धालु ज्ञान पाकर संसार को तर जाता है (जिनके मुख से वेदादि के वचनों को सुनकर कोई विचारादि द्वारा ज्ञान पाकर मुक्त होता है) दुःख से रहित होता है तथा संसारी मनुष्य जिनके वचनसे तरने की आशा करता है। अतएव सब संसारी उठकर जिनके पाँव लगते हैं (जिन को प्रणाम करते हैं) सो ब्राह्मण भी हरि के ज्ञान के बिना जीवों का बध करते हैं तथा कराते हैं, यह आश्चर्य है।

अपने ऊँच नीच घर भोजन, घीन कर्म हठि उदर भरै।
ग्रहण अमावस ढुकि ढुकि माँगे, कर दीपक लिय कूप परै॥

स्वयं च श्रेष्ठमानी सन् नीचानां पापिनां गृहे।
भुङ्क्ते मोहात्कदन्नं स मांसादि स्वगृहे तथा ॥३६॥
कर्मणा गर्हितेनाथ साहसेन हठेन च।
उदरं भरते चायमुदरंभर्यपि द्विजः ॥३७॥
राहुस्पर्शेऽप्यमायांच प्रविश्याऽऽविश्य सर्वतः।
प्रतिग्रहंस गृह्णाति सदा सद्भिर्विगर्हितम् ॥३८॥
शास्त्रदीपं करे धृत्वा भवकूपे स दुर्मतिः।
पतत्येव नचात्मानं त्रायते स कुतो जनान् ॥३९॥

अपने में ऊँचपन के अभिमान को रखकर भी लोभादिवश नीचों के घर में भोजन करते हैं, या मांसादि नीच (निन्दित) वस्तु का भोजन अपने घर में करते हैं और हठ से घृणित (निन्दित) कर्म करके उदर भरते हैं। भोजनादि में धार्मिक मर्यादा को नहीं रखते हैं, अतः ग्रहण अमावास्या आदि कालों में गृह तीर्थादि में ढुक ढुक (घुस घुस) कर निषिद्ध दान (देय वस्तु) माँगते हैं। अतः मानो शास्त्ररूप दीप को हाथ में लेकर भी मोह लोभादि वश नरक कूप में पड़ते हैं।

एकादशि ब्रतक मर्म न जानै, भूत ब्रत हठि हृदये धरै।
तजि कपूर गाँठी विष बाँधै, ज्ञान गमाये मुग्ध फिरै॥

एकादशी व्रतस्याऽयं रहस्यं बुध्यते नहि ।
अहिंसादिमयं शुद्धं दयादान्त्यादि संयुतम् ॥४०॥
भूतव्रतं सदाऽशुद्धं धत्तेऽयंहृदयेहठात् ।
अतस्त्यक्त्वेव कर्पूरं बध्नातीव विषं पटे ॥४१॥
अतो विस्मृत्य सत्तत्त्वं हित्वा ज्ञानसुरत्नकम् ।
भ्राम्यत्येव भवे मुग्धः क्षुब्धः क्षुब्धे यथार्णवे ॥४२॥
मोहाद् वडिशमासं हि जग्ध्वा मत्स्यो विनश्यति ।
यथा तथाऽयमज्ञोऽपि मृत्यो मृत्यु पैति ह ॥४३॥

दया अहिंसा हरि भक्ति युक्त सात्त्विक एकादशी व्रत के मर्म (भेद) को ये लोग नहीं जानते हैं, किन्तु अशुद्ध भूत (प्रेत) व्रत को हठ से हृदय में धारण करते हैं । अतः सात्त्विक पुण्य कर्मादिरूप कपूर को त्यागकर राजस तामस पाप कर्मादिरूप विष को हृदयरूप गाँठी में बाँधते हैं और ज्ञानरूप रत्न को गमा (खो) कर, मुग्ध (मोहयुक्त अविवेकी मूर्ख) हुए फिरते हैं ।

छीजै साहु चोर प्रति पालै, सन्त जना से कूट करै ।
कहहिं कबिर जिह्वा के लम्पट, यहि विधि ब्रह्मण नरक परै ॥५२॥

नश्यन्ति श्रेष्ठिनस्तेषां रक्षां मूढः करोति न ।
चौरान् पालयते यत्तः सद्भ्यः कूटं करोति च ॥४४॥
जिह्वाया वशगो विप्रो लम्पटो विधिनाऽमुना ।
भ्रंशते नरकेऽवश्यं त्राता कोऽपि भवेन्नहि ॥४५॥
[1]"हेयोपादेयतत्त्वज्ञा स्त्यक्ताऽन्यायपथागमाः ।
जितेन्द्रियमनोवाचः सदाचारपरायणाः ॥४६॥
नियमस्थाः क्रियाशुद्धाः समाधिस्था हतक्रुधः ।
असङ्गा विमदाः शान्ताः सर्वप्राणि हितैषिणः ॥४७।
निर्ममा निरहङ्कारा दानशूरा दयापराः ।
उत्तरन्ति भवाब्धि ते ब्रह्मनिष्ठा विमत्सराः" ॥४८॥५२॥

इति हनुमत्कृतायां शब्दसुधायां दयादि विनाऽन्यकर्मनैष्फल्य वर्णनं नाम विंशतितमस्तरङ्गः ॥२०॥

मुग्ध होने ही से साहु (सज्जन श्रेष्ठी) यदि छीजता (नष्ट होता) है, तो उसकी रक्षा नहीं करके साहु को नष्ट करने वाले चोरों का प्रतिपालन करते

---

१ भविष्य पु. पर्व. १ अ. ४४ । स्थस्य किञ्चिद्विपर्ययेणोद्धारः ।

हैं और सन्तजनों से कूट (मसखरी माया) करते हैं, ऐसे जिह्वा के लम्पट (कुस्वाद कुवाक्य परायण) ब्राह्मण भी इस विधि (रीति) से नरक में पड़ते हैं, तो अन्य की कथा ही क्या कहनी है, अतः यह विधि सर्वथा त्याज्य है, यह श्रीकबीर साहब का उपदेश है ॥५२॥

अथ विचारादि बिना हिंसादम्भादिवर्णन प्र० २१

शब्द ५३

पाँडे बूझि पियहु तुम पानी ।
जा मटिया के घर महँ बैठे, ता महँ सृष्टि समानी ॥
छपन कोटि जहँ यादव भीजे, मुनि जन सहस अठासी ॥
परग परग पैगम्बर गाड़े, सो सब सरि भौ माँटी ।
ता मटिया के भाँड़े पाड़े, बूझि पियहु तुम पानी ॥

पण्डिताः भोः सुपृच्छ्यैव भवद्भिः पीयते जलम् ।
अशौचाऽऽशङ्कया तस्मादपि हिंसादिवर्जितात् ॥१॥
यत्कार्ये स्थीयते गेहे तत्राविष्टं जगत खलु ।
विनष्टा यादवा यत्र षट्पञ्चाशत्तु कोटयः ॥२॥
अष्टासीतिसहस्राणि मुनयः सङ्गता यतः ।
निखाता यवना यत्र पैगम्बरपदाङ्किताः ॥३॥
मृद्भावं सर्वमापन्नं शरीरं गतजीविनाम् ।
तन्मृदा क्रियते भाण्डं पृष्ट्वा तत्पीयते जलम् ॥४॥

हे पाँड़े (पण्डित मानी ब्राह्मणों !) विवेकादिपूर्वक सद्गुरु से बूझकर (पूछ समझकर) शान्तिप्रद पानी (ब्रह्मानन्द) को पीवो (अनुभव करो) ऐसा न करके, तुम लौकिकपानी अहिंसक वैष्णवादि से भी जाति आदि बूझ (पूछ) कर पीते हो, और जिस मिट्टी के घर में बैठे हो, उसी में सब सृष्टि समाई (लीन) हुई है । क्योंकि छप्पन कोटि यादव (यदुवंशी) जहाँ भीजे (मरकर लीन हुए) अठासी हजार मुनि जन जिसमें लीन हो गये और परग परग (परलोक गामी=मृतक) पैगम्बर जिस माँटी में गाड़े गये, सो सब सरकर उस माँटीरूप हो गये । और हे पाँड़े ! उसी माँटी के भाँड़े (घड़े) बनाये जाते हैं । फिर उस घर में रहते घड़ों से पानी भरकर क्या बूझकर पानी पीते हो ।

मच्छ कच्छ घरियार वियाने, रुधिर नीर जल भरिया।
नदिया नीर नरक बहि आई, पशु मानुष सब सरिया॥
हाड़ झरी झरि गूद गली गलि, दूध कहाँ से आया।
सो ले पाँड़े जेवन बैठे, मटियहिं छूति लगाया॥

मत्स्याद्याः कच्छपा यत्र ह्यण्डं रुधिरसंयुतम्।
सुवते तज्जललं लोकै म्रियते स्वात्मशुद्धये॥५॥
पशवो मानवा यत्र मृत्वासृत्वा मिलन्ति वै।
तस्या नद्या जलं नूनं नरकः स्यन्दते त्वधः॥६॥
अस्थ्नां च सन्धितो गत्वा मांसानां सन्धितः स्रवत्।
दुग्धमायाति तत्कस्माद् भवद्भिश्चिन्त्यते नहि॥७॥
तज्जलं चैव तद् दुग्धं गृहीत्वा पण्डिता अपि।
भोजनाय प्रवर्तन्ते मृत्सु दोषं च मन्वते॥८॥

और नदियों में, मछली, कछुआ, घरियार बिआते हैं। जिससे उनके उदर के रुधिरयुक्त नीर नदी के जल में भर जाते हैं (मिल जाते हैं) अतः उस जल वाली नदी मानो नरक ही बह कह आई है, और आती है। क्योंकि उस में मृतक पशु मनुष्यादि सभी सड़ते हैं। और हाड़ के झरनाओं (द्वारों) से झर झर (बह बह) कर, गुदा (मांस) की गलियों (नालियों) से गल गल (चू चू) कर, दूध कहाँ शुद्ध स्थान से आया, और आता है। परन्तु उस नदी के पानी और दूध को लेकर तो पाँड़े जेमने (भोजन करने) बैठते हैं। और मिट्टी में ही प्रायः छूत लगाया और लगाते (मानते) हैं।

वेद कितेब छाड़ि दहु पाड़े, ई सब मन के भरमा।
कहहिं कबीर सुनहु हो पाड़े, ई सब तोहरे करमा॥९२॥

वेदान् ग्रन्थानधीत्यापि भवन्तो भ्रान्तिसंयुताः।
वर्तन्तेऽतो विसृज्यन्तां वेदा ग्रन्था ह्यनर्थकाः॥९॥
मनोभिः कल्पिताश्चैते भवतां भ्रान्ति संयुताः।
व्यवहारा न ते वेदैः सम्मताः सत्यसम्विदैः॥१०॥
यद्वा वेदैश्च सद्ग्रन्थै धर्ममालोच्य तत्त्वतः।
मनसो भ्रान्तिवर्गोऽयं युष्माभिस्त्यज्यतां ध्रुवम्॥११॥
उक्तवान् सद्गुरुश्चायं श्रूयतां पाण्डितै र्हितम्।
युष्माकं वर्तते कर्म सर्वमत्यद्भुतं कलौ॥१२॥

"दोषलेशमनादृत्य नित्यं सेवेत सज्जनम्" ।
इति नो मन्यते लोके भवद्भिर्नैव नैव च ॥ १३ ॥५३॥

उक्त छूत मानने में जो वेदादि को प्रमाणरूप कहते हैं। उनके प्रति कहा गया है कि हे पाँडे ! वेद किताब को मिथ्या प्रमाण बतलाना छोड़ दो, क्योंकि ई (ये) संसार के सब विपरीत व्यवहार मन के कार्य भ्रम स्वरूप हैं। और श्री कबीर साहब कहते हैं कि हे पाँडे श्रवणादि द्वारा छूतादि के रहस्य को समझो, क्योंकि समझने के बिना ही हिंसादि युक्त कर्म और मिथ्या पाखण्ड दम्भादि के व्यवहार तेरे ही कर्म (करने) से सिद्ध हुए हैं, और होते हैं। अर्थात् ब्राह्मण द्वारा ही अन्य लोग भी पवित्र व्यहारादि वालों से छूत मानते है और अपवित्र वालों से भी जातिमात्र की दृष्टि आदि से छूत आदि नहीं मानते हैं, जल दूध आदि के समान अन्य मिट्टी आदि को भी स्पर्शादि के होने पर छूत रहित नहीं मानते हैं, अतः ब्राह्मणों के प्रति उक्त वचन कहे गये है, अन्यके प्रति नहीं ॥५३॥

शब्द ५४

पण्डित अचरज एक बड़ होई ।
एक मरि मुये अन्न नहिं खाई, एक मरि सिझे रसोई ॥
करि सनना देवन की पूजा, नव गुण कांध जनेऊ ।
हाड़ी हाड हाड़ थारी मुख, भल षट कर्म बनेऊ ॥

पण्डिता भो महाश्चर्यं भवत्येकं भवत्कृतम् ।
यदेकस्य मृतौ नान्नं खाद्यतेऽन्यमृतौ शवम् ॥१४॥
पचन्ते भोजनायैव भवन्तो यवना यथा ।
अविवेको महानेष महानर्थकरस्तथा ॥१५ ॥
स्नानं कृत्वा च देवानां पूजां कृत्वा यथा विधि ।
नवभिश्च गुणैर्युक्तं कण्ठे धृत्वोपवीतकम् ॥ १६ ॥
स्थाल्यां भोजनपात्रेऽथ मुखे चाप्यर्पन्त्यहो ।
भवन्तोऽप्यस्थि मांसं च षट् कर्माणि भवन्ति किम् ॥१७॥
"स्नानं सन्ध्या जपो होमो देवताऽतिथिपूजनम् ।
वैश्वदेवश्च कर्माणि षडेतानि विदु र्बुधाः ॥१८॥

समझने के बिना होने वाले पाँड़े के कर्मों को दर्शाते हुए कहते हैं कि हे पाँड़े ! एक बड़ा (भारी) आश्चर्य होता है कि, एक घर के मनुष्य के मुये

(मरने) पर, वह मरि (मुर्दा) जब तक घर में रहता है, तब तक कोई अन्न नहीं खाता है, तथा प्रायः लोग दिन भर उपवास करते हैं, और एक पशु आदि की मरी (मुर्दा) की रसोई सिझाई (पकाई) जाती है । और स्नान १, सन्ध्या वन्दन २, जप ३, होम ४, देवादि की पूजा ५, वैश्वदेव ६, रूप । या यजन १, याजन २, दान ३, प्रतिग्रह ४, अध्ययन ५, अध्यापन ६, रूप षट् कर्मों के स्थान में यदि स्नान १, देव पूजा २, प्रधान नव गुण युक्त यज्ञोपवीत का कन्धे पर धारण ३, हाँड़ी में हाड़ ४, थाली में हाड़ ५, और मुख में हाड़ का धारण रूप षट् कर्म किये जाते हैं, तो भली रीति से षट् कर्म बन गये, यह व्यङ्ग है । षट् कर्म बन गये (सिद्ध हो गये) क्या सो समझो ।

धर्म कथै जहँ जीव बधै तहँ, अकरम करि मोर भाई ।
जो तुम्हरे को ब्राह्मण कहिये, काको कहिय कसाई ॥
कहहिं कबीर सुनहु हो सन्तो, भरम भूलि दुनियाई ।
अपरम पार पार पुरुषोत्तम, या गति विरले पाई ॥५४॥

धर्मो हि कथ्यते यत्र तत्र जीवोऽपि वध्यते ।
विकर्म क्रियते तात ! नोभयत्र सुखं ततः ॥१९॥
जीवघाती भवानेवं यदि विप्रोऽभिधीयते ।
कर्मणा केन कश्चात्र मांसिकः कथ्यतां जनैः ॥२०॥
अभिधत्ते गुरु र्यत्तच्छृण्वन्तु सज्जना नराः ।
भ्रान्तं सर्वं जगद्धयेवं वर्तते कुत्सिते पथि ॥२१॥
अतोऽपारं सुखाकारं सत्यं चैतन्यलक्षणम् ।
अपरोक्षं परं मोक्षं विन्दन्ते केचिदुत्तमाः ॥२२॥५४॥

हे मेरे भाई ! यज्ञादि धर्मों की जहाँ कथा कहते हो, वहाँ भी प्राणियों का बध करते हो, धर्मविधि की जगह में हिंसा करते हो । सो अकर्म (निषिद्ध कर्म पाप) करते हो । इस अवस्था में भी यदि तुम को ब्राह्मण कहा जाय, तो कसाई किसको कहा जाय । श्री कबीर साहब कहते हैं कि इन ब्राह्मणों के समान सब दुनियाँ ही (संसारी सब अज्ञ मनुष्य) भ्रम (मिथ्या) में भूला हुआ है (अधर्म रूप हिंसादि को धर्म मानकर पाप कर रहा है) और अब्राह्मण को ब्राह्मण मान रहा है, सो संसारी भ्रम में भूला है । तथा असत्य संसार को सत्य माननेवाला भ्रम में भूला है । इस भ्रम से पार (रहित) हुआ, कोई विरला पुरुषोत्तम (उत्तम पुरुष) अपरंपार (अविनाशी विभु) या गति (आत्म-गति=ज्ञान-

स्थिति=समता) को पाता है इस रहस्य को समझता है) अर्थात् निर्गुण शुद्धात्मा को हिंसा, दम्भादि रहित शुद्धात्मा पुरुषोत्तम ही समझ सकता है। अतः आत्मज्ञानादि के लिये यज्ञादि सभी कर्म यथाशक्ति अहिंसादिमय कर्तव्य हैं। और अहिंसादि, शौचादिरूप यम-नियम अवश्य अनुष्ठेय हैं ॥ ५४ ॥

शब्द ५५

जस मांस नर्लाक तस मांस पशुकि, रुधिर रुधिर एक साराजी।
पशु के मांस भखे सब कोई, नलहीं भखै सियाराजी ॥
ब्रह्म कुलाल मेदिनी भइया, उपजि विनशि कित गइयाजी।
मांस मछरिया तो पै खइये, जो खेतन में बोइयाजी ॥

यथा मांसं नराणां वै तथैव पशुपक्षिणाम्।
रुधिराणां समत्त्वं च प्रत्यक्षं परिदृश्यते ॥२३॥

तथापि पशुमांसानि सर्वे खादन्ति मानवाः।
शृगाला मर्त्यमांसानि खादन्ति किम्नु चिन्त्यताम् ॥२४॥
ब्रह्मणः कुम्भकाराद्धि जायन्ते जन्तवो भुवि।
कियन्तस्तत्र नश्यन्ति भूत्वा भूत्वा स्वकर्मभिः ॥२५॥

क्षेत्रे शाल्यादिवच्चैते शक्यन्ते वप्तुमञ्जसा।
तदा पललमत्स्याद्या अत्तुं शक्या न चान्यथा ॥२६॥

शुद्धाशुद्धादि के अविवेक से पशु मांसादि को मनुष्य भक्ष्य समझते हैं, अतः विवेक ज्ञान के लिये कहते हैं कि जैसे मनुष्य का मांस रजोवीर्य का कार्य अपवित्र होता है, वैसाही पशु का मांस भी होता है और एक मनुष्य के रुधिर के समान ही सारा (सब) रुधिर होता है, तो भी पशु के मांस को हिन्दू तुरुकादि सब जाति वाले खाते हैं, और मनुष्य के मांस को सियार खाता है, अतः नर मांस तुल्य पशु का भी मांस सियरादि का ही भक्ष्य है, मनुष्य का नहीं। और ब्रह्मरूप (ईश्वर स्वरूप) कुम्हार से मेदिनी (भूमि) हुई है। उसपर (कित) कितने=अनन्तो मनुष्य पशु आदि प्राणी उस कुलाल (कुम्भकार) से ही उत्पन्न नष्ट हो गये हैं, मनुष्य से नहीं। तहाँ उन पशुओं के मांस को और मछलियों को मनुष्य तोपै (तभी) खा सकता है कि जैसे अन्न को स्वयं खेत में बोकर उपजाता है, तैसे मांस मछली को रजोवीर्यादि के बिना उपजा सके अन्यथा नहीं।

मांटी को करि देवा देवी, जीव काटि के देइयांजी।
जो तेरा है साँचा देवा, खेत चरत कि न लेइयांजी॥
कहहिं कबीर सुनहु हो सन्तो, रामनाम नित लेइयाजी।
जो कछु कियो जिह्वा के स्वारथ, बदल पराया देइयाजी॥५५॥

मृत्पिण्डादौ हि देवादीन् कल्पयित्वात्र येऽबुधाः।
ददन्ति प्राणिनो हत्वा तेभ्यस्तत्प्रीतिसिद्धये॥२७॥
ते देवा यदि सन्त्यद्धा मांसस्वादनतत्पराः।
भक्तक्षेत्रे चरन्तं ते पशुं नादन्ति किं तदा॥२८॥
सद्गुरु र्भाषते साधो! श्रूयतां सुविचार्यताम्।
रामनामा परो देवो ध्यानेनाऽऽश्रीयतां सदा॥२९॥
अन्यथा यत्कृतं किञ्चित्स्वदनं प्राणिहिंसया।
तत्सर्वं प्रतिदातव्यं भवेन्नास्त्यत्र संशयः॥३०॥
"नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि।
अवश्यमेव[1] भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्॥३१॥
मां[2] स भक्षयिताऽमुत्र यस्य मांसमिहाद्म्यहम्।
एतन्मासस्य मांसत्वं महात्मा मनुरब्रवीत्॥३२॥
समुत्पत्तिं च मांसस्य वधबन्धौ च देहिनाम्।
प्रसमीक्ष्य निवर्तेत सर्वमांसस्य भक्षणात्॥३३॥
धर्माधर्मफलं[3] प्रेत्य लभते भूतसाक्षिकम्।
अतिरिच्येत यो यत्र तत्कर्ता लभते फलम्॥३४॥
तस्माद्दानेन तपसा कर्मणा च फलं शुभम्।
वर्द्धयेदशुभं कृत्वा यथा स्यादतिरेकवान्॥३५॥

दयाऽप्यस्ति भक्तेः सदैवोत्तमाङ्गं, त्वहिंसा तदीयं भवेद्धृत्स्वरूपम्।
सतां सङ्गमादीनि चान्यानि सन्ति, लसन्त्यात्महार्दात्मिका सैवमेव॥
प्रतीको विशुद्धोऽथ मांसाद्यसङ्गः, सदा भावशुद्धिः क्रियां कल्कहीना।
विचारादि चास्याः सुपुत्रादिलाभे, सहायी भवेत् सर्वदा कार्यकारि॥३७-५५

इति हनुमत्कृतायां शब्दसुधायां विचारादिविनाविघ्नविपरीताचार-
वर्णनं नामैकविंशतितमस्तरङ्गः॥ २१॥

---

१ ब्रह्मवैवर्त पु. कृ. ८५।२६। २ मनुस्मृ. अ. ५। ५५-४६। ३ महाभा. शा. ३५।४०-४१।

देवोपहार के बहाने जो मांस खाते हैं, उनसे कहा गया है कि माटी आदि के पिण्डी आदि में देव-देवी की कल्पना करके सजीव शरीर को काट कर उन्हें बलिदान देते हो, तहाँ यदि तेरे देव-देवी सत्य हैं, और मांसाहारी है, प्राणी का भक्षक तेरा रक्षक हैं, तो तेरे खेत में चरते हुए पशुओं को पकड़ कर क्यों नहीं खा लेते हैं, जिह्वा के स्वादवश ऐसे देवों की कल्पना करते हो, वे देव सत्य नहीं हैं। अतः श्रीकबीर साहब कहते हैं कि हे सन्तो! (सज्जनो!) सुनो (श्रवणादि करो) और धर्माधर्मादि के विवेक के लिये सर्वात्माराम के ज्ञानादि के लिये राम नाम नित (नित्य सदा) लो। परन्तु रामनाम लेने पर भी जो कुछ जिह्वा के स्वार्थ (स्वाद) वश हिंसा किये हो या करते हो, सो अन्य के बदला कभी देना ही पड़ेगा, प्राण के बदला प्राण और मांस के बदला मांस देना अवश्य होगा, नाम लेनेमात्र से छुटकारा नहीं होगा। किन्तु हिंसादि के त्यागपूर्वक नाम के लेनेपर भक्ति-विरक्ति आदिपूर्वक ज्ञान से ही कल्याण होगा। अतः हिंसादि त्यक्तव्य हैं। "त्यजतैव हि तज्ज्ञेयं त्यक्तुस्तच्च परं पदम्" ॥५५॥

अथ कलिग्रस्त ब्राह्मण प्रकरण २२

शब्द ५६

सन्तो पाँड़े निपुण कसाई।
बकरा मारि भैंसा पर धावैं, दिल महँ दर्द न आई॥
करि सनान तिलक देइ बैठे, विधि से देवि पुजाई।
आतम राम पलक महँ विनशे, रुधिरक नदी बहाई॥
अति पुनीत ऊँचे कुल कहिये, सभा माँह अधिकाई।
इन ते दीक्षा सब कोइ माँगे, हँसि आवै मोहि भाई॥

भोः साधो! स कुविप्रोऽस्ति निपुणः कौटिकः कलौ।
यो हि हत्वा महाजांश्च धावते महिषोपरि॥ १॥
प्राणिनां हनने येषां दया पीडा न वा हृदि।
वैतंसिका हि ते नूनं क्रूराः सत्यं वदामि ते॥ २॥
स्नात्वा विशेषकं कृत्वा तिष्ठन्ति ह्यासनोपरि।
विधिनैव हि पूजां ते देव्याः कुर्वन्ति जन्तुभिः॥ ३॥

जीवात्मानः क्षणेनात्र तेन नश्यन्ति चासृजः ।
स्यन्दयन्ति नदीं विप्रा मूढाः प्राणिविहिंसकाः ॥ ४ ॥
कथ्यन्ते त्वतिपूतास्ते कुलश्रेष्ठा महाजनाः ।
सभायां पूजनीयाश्च सभ्या मान्या धनप्रदाः ॥ ५ ॥
एभ्यो दीक्षां च सर्वेऽमी कांक्षते मोक्षकांक्षिणः ।
दृष्ट्वा तच्चाद्भुतं हासो भ्रातरायाति मेऽनृतम् ॥ ६ ॥

हे सन्तो ! पूर्वोक्त कर्मवाले पाँड़े (पण्डित) मानो निपुण कसाई होते हैं। अतः कसाई के काम करते हुए भी निपुणता से पूज्यादि भी होते हैं। क्योंकि बकरों को मारकर भैंसों पर धावा करते हैं। भैंसों को महिसाऽसुर कहकर मारते हैं। और उन निरपराधी प्राणियों को मारते समय भी उनके दिल (मन) में दर्द (दया पीड़ा) नहीं आई न आती है, यही कसाईपन है, और इस प्रकार के होते भी पूज्यादि होते हैं, सो निपुणता का फल होता है। और स्नान करके अपने शिर में तिलक देकर (लगाकर) आसन पर बैठते हैं, वर्णित विधि से देवी की पूजा करते-कराते हैं, पूजा में ही बकरा आदि जीवात्मा को पल में विनष्ट करके रुधिर की नदी बहा देते हैं। ऐसे लोग भी अत्यन्त पुनीत(पवित्र) ऊँचे कुल के कहे जाते हैं, सभा में इनकी अधिकाई (श्रेष्ठता) मानी जाती है। इनसे सब कोई दीक्षा (गुरु मन्त्रादि) माँगते हैं। परन्तु हे भाई ! यह अविवेक देखकर मुझे हँसी आती है। अर्थात् गुण कर्म-विभाग से वर्ण-विभाग होता है, तहाँ सात्त्विक गुण शम-दम अहिंसा आदि से ब्राह्मणता होती है, उस ब्राह्मण के पूज्य भी सात्त्विक देव-देवी ईश्वर ऋषि आदिक ही हो सकते हैं, अन्य नहीं इत्यादि भाव है।

पाप कटन कहँ कथा सुनावहिं, कर्म करावहिं नीचे ।
हम तो दोउ परस्पर देखा, यम लाये हैं खींचे(धोखे) ॥
गाय बधे तेहि तुरुक कहिये, इनते क्या वे छोटे ।
कहहिं कबीर सुनहु हो सन्तो, कलि महँ ब्राह्मण खोटे ॥५६॥

श्रावयन्ति कथां ये हि पापापगमहेतवे ।
हिंसादिनिन्दितं कर्म कुर्वते कारयन्ति ते ॥ ७ ॥
अहो तांश्चोभयान् दृष्ट्वा कर्तृंश्च कारकान्नरान् ।
उभयेषां च कर्माणि मिथः सञ्चिन्तयामि चेत् ॥ ८ ॥

संपश्यामि तदा चैतद् यमो ह्याकृष्य दुर्बुधान् ।
कृतवान् स्ववशे तेन तथा व्यवहरन्ति ते ॥ ९ ॥
ये गा घ्नन्ति तुरुष्कास्ते कथ्यन्ते यदि मानवैः ।
तेभ्यः किं लघवस्ते ये महिषादिविघातकाः ॥१०॥
सद्गुरुश्चाह भोः साधो ! श्रूयतां तत् सुनिश्चितम् ।
कलौ हि ब्राह्मणा जाताः पाखण्डाः पापनिश्चयाः ॥११॥५६॥

इति हनुमत्कृतायां शब्दसुधायां कलिकालिकब्राह्मणवर्णनं नाम द्वाविंशतितमस्तरङ्गः ॥ २२ ॥

हिंसक ब्राह्मण भी पाप के कटने (निवृत्त होने) के लिये तो अन्य के प्रति पुराणादि की कथा सुनाते हैं। परन्तु साथ ही हिंसा अभक्ष्य-भक्षणादि नीच कर्म करते-कराते हैं। तहाँ हमने तो इनके कथन और व्यवहारों को और करने कराने वाले को हिन्दू, मुसलमान इन दोनों को परस्पर (एक-एक के साथ दूसरे-दूसरे को) मिलाकर देखा (समझा) तो निश्चय हुआ कि इन्हें यम खींच लाया है, और धोखे में डाला है तथा ये लोग यमरूप होकर बकरे आदि को खींच लाये हैं। गौ के बध करने से मनुष्य तुरुक कहा जाता है, तो इन तुरुकों से क्या वे बकरे आदि को मारनेवाले छोटे हैं, दोनों तुल्य हैं। श्रीकबीर साहब कहते हैं कि हे सन्तो! सुनो कलियुग में कलि के प्रभाव से बहुत ब्राह्मणनामधारी भी तुरुक से छोटे नहीं हैं। किन्तु उनके तुल्य खोंटे हो गये हैं। प्रथम के ब्राह्मण शम-दमादियुक्त दयालु ही होते थे।

कलि का यह परभाव, विप्र शम दम नहिं जानै।
नहीं ज्ञान विज्ञान, दया दिल में नहिं आनै॥
करै सदा हठ वाद, नेकु हरि सुमिरै नाहीं।
करै कर्म हिंसादि, सत्य तप सुव्रत न ताही॥
क्षमा धैर्य तजि दूर, क्रूर ह्वै कर पर निन्दा।
सबकी आतम एक, सत्य नहिं भजत गोविन्दा॥
सन्त विप्र के धर्म, सत्य शौचादिक जानो।
अब भी करि हरि भजन, सरलता मन में आनो॥
करि सन्तन का संग, क्रूरता दूर हि त्यागे।
मद्य मांस तजि मत्स्य, दुर्जन से. दूरहि भागे॥
तजि निन्दा अपकार, सदा उपकारहि कीजै।
कहत सन्त गुरुराय, तबहि सुख शान्ति लहीजै ॥ १ ॥५६॥

अथ भ्रमभूत पीड़ामरणादि प्र० २३

शब्द ५७

यह भ्रमभूत सकल जग खाया । जिन-जिन पूजा तिन जहड़ाय ॥
अण्ड न पिण्ड प्राण नहिं देहा । काटि काटि जिव कौतुक येहा ॥
बकरी मुरगी दीन्हो छेवा । आगिल जन्म उन अवसर लेवा ॥

भ्रमसिद्धः पिशाचोऽयं भूतनामा जगज्जनान् ।
सर्वान् खादितवान् मूढान् हिंसादम्भादिसंयुतान् ॥ १ ॥
पूजयन्ति स्म ये ये तं तान् सर्वांश्च निपीड्य सः ।
नरकं नयतेऽवश्यं विषमं मोहसंकुलम् ॥ २ ॥
यस्य नैवाण्डजो देहो विद्यते न जरायुजः ।
अदनार्हो न वा प्राणो लिङ्गदेहसमन्वितः ॥ ३ ॥
तदर्थं प्राणिनां हिंसां विधायैव कुबुद्धयः ।
कुर्वते कौतुकं चित्रं चरित्रं लोमहर्षणम् ॥ ४ ॥
येषां छगलकानां वा कुक्कुटानां विहिंसनम् ।
क्रियते तेऽप्यवश्यं तान् हिंस्येयुर्भाविजन्मसु ॥ ५ ॥

यह (लोक प्रसिद्ध) भ्रमभूत (भावना के अनुसार कल्पना आदि से सिद्ध प्रेत विशेष) सब अज्ञ संसारी को खाया, और खाता (नष्ट करता) है, विशेषरूप से जिन-जिन लोगों ने प्रेतों को पूजा, उन्हें वह भ्रमभूत जहड़ाया (अधिक पीड़ित किया) और करता है । जिस भ्रमभूत के अण्ड (अण्डज) या पिण्ड (पिण्डज) शरीर नहीं रहते हैं तथा खान-पान के योग्य प्राण या कोई देह नहीं रहते हैं, उस भूत के लिये सजीव शरीर को काट-काट कर ये अज्ञ लोग कौतुक (मानो खेल) करते हैं । परन्तु जिन बकरी मुरगी आदि पर इन लोगों ने तरवारादि का छेव दिया (प्रहार किया) वे भी अगले जन्मों में अवसर आने पर बदला लेगें, श्रीकबीर साहब कहते हैं कि हे नर लोगों ! सुनो भूतों को पूजनेवाला मरकर भूत होता है । अतः पूजा के बदले में पूजा लेता है । क्योंकि "तं यथा यथोपासते तथैव भवति । भूतानि यान्ति भूतेज्याः" उस एक सत्य परमात्मा को जिस-जिस कल्पित भाव से मनुष्य उपासना करता है । तत्तद्रूपता को प्राप्त होता है । और भूतों को पूजनेवाले भूतों को प्राप्त होते हैं । यह श्रुति और गीता का उपदेश है ।

कहहिं कबीर सुनहु नर लोई । भुतवक पुजले भुतवे होई ॥५७॥

सद्‌गुरुश्चाह लोका वै शृण्वन्तु शास्त्रसम्मतम् ।
भूतानां पूजका भूता भवन्ति नात्र संशय ॥ ६ ॥
तं यथोपासते लोका भवन्त्येते तथैव हि ।
यान्ति भूतानि भूतेज्याः श्रुतिस्मृत्यो वचः स्फुटम् ॥ ७ ॥
वसिष्ठो भगवानाह यद्रामाय तदीदृशम् ।
श्रोतव्यं श्रूयतां लोकास्ततः किञ्चिन्निगद्यते ॥ ८ ॥
"पिशाचाः केचिदाकाशसदृशाः सूक्ष्मदेहकाः ।
हस्तपादादिसंयुक्ताः पश्यन्ति त्वमिवाकृतिम् ॥ ९ ॥
घ्नन्त्यदन्ति पिवन्त्याशु लघुसत्त्वबलं जनम् ।
बलं सत्त्वमथो जीवान् हिंसन्त्याक्रम्य चित्तकम् ॥१०॥
आकाशसदृशाः केचित्केचिन्नीहारसन्निभाः ।
केचित्स्वप्ननराकाराः साकारा अपि खात्मकाः ॥११॥
केचिदभ्रदलप्रख्याः केचित्पवनदेहकाः ।
केचिद्भ्रमात्मका एव सर्वे बुद्धिमनोमयाः ॥१२॥
शीततापादिविहितं सुखं दुःखं विदन्ति च ।
पातुमत्तुमवष्टब्धुमीहितुं शक्नुवन्ति नो ॥१३॥५७॥

इसका हिन्दी अर्थ स्पष्ट है, सो प्रथम हो चुका है ॥५७॥

शब्द ५८

का कहँ रोवों गै बहुतेरे । बहुतक मुये फिरे नहिं फेरे ॥१॥
जब हम रोया तब न सँभारा । गर्भ वास की बात विचारा ॥२॥

कं कं रोदिमि बहवो गर्भाग्निषु गताः शठाः ।
हठेनैव मृताश्चैते कुमार्गेषु रताः सदा ॥१४॥
निवृत्ता न ततश्चैते शतशोऽपि निवारिताः ।
आवृता मोहजालेन कालेनेव वशीकृताः ॥ १५ ॥
यदा वयं तदर्थं तु प्रारोदिमस्तदा न ते ।
सावधानेन मनसा ह्यकुर्वन् स्वात्मने हितम् ॥१६॥
किन्तु येन भवेद् गर्भे वासो नरक एव वा ।
तदेव कर्म तद्वाक्यं तैः शश्वदवलोकितम् ॥१७॥

किस किस के लिये रोया जाय (चिन्ता किया जाय) इस भ्रम भूत आदि

के फन्दों कुमार्गों में बहुत लोग गये हैं। और मरकर गर्भ नरकादि में प्राप्त हुए हैं। कुमार्ग में जाकर जो बहुत लोग मुये सो मरणपर्यन्त किसी के फेरने से भी नहीं फिरे (सुमार्ग में नहीं आये) और जब हम (गुरुजनों) ने रोया (उनके दुःखों से दुःखी होकर उनका हित उन्हें समझाया) तब उन लोगों ने नहीं सँभारा (अपने हित को नहीं समझा) उल्टा जिससे गर्भवासादि हो, उसी बात को विचारा तथा गर्भवास काल में कष्ट होने पर जिस बात (भक्ति आदि) का विचार किया था, उस गर्भ की बात के विचारों को भी नहीं सँभारा (स्मरण नहीं किया) उनके लिये अब क्या रोया जाय, उन्हें भोक्तव्य भोगना ही होगा। "अहो दुःखोदधौ मग्नो न पश्यापि प्रतिक्रियाम्। यदि योन्याः प्रमुच्येऽहं तत्प्रपद्ये महेश्वरम् ॥१॥ गर्भोपनिषद्" आश्चर्य स्वरूप दुःख समुद्र में मग्न हूँ, इसके प्रतिकार = निवारण साधन को नहीं देखता हूँ, यदि इससे मुक्त होऊँगा तो महेश्वर को भजूँगा, इत्यादि। गर्भवास की बात और विचार वर्णित हैं।

अब तैं रोया क्या तैं पाया। किहि कारण तैं मोहि रुलाया ॥
कहहिं कबीर सुनहु नर लोई। काल के वशी परे मति कोई ॥५८॥

गर्भादौ नरके प्राप्य यूयं रुदथ चाद्य चेत्।
किं फलं प्राप्यते तेन त्वस्मान् रोदयथात्र किम् ॥१८॥
भो लोका नैव रोदित्वा लभध्वे फलमण्वपि।
मा रोदयथ च व्यर्थं रोदनश्रावणादितः ॥१९॥
भाविदुःखनिवृत्त्यर्थमुपायश्चिन्त्यतां मुहुः।
साम्प्रतं सह्यतां चैतत्क्षणात्तन्नश्यति ध्रुवम् ॥२०॥
सद्गुरुश्चाह भो लोकाः श्रवणं सुविधीयताम्।
कालस्य न वशे केऽपि गच्छन्तु स्वाविवेकतः ॥२१॥
कालाधीनमतिप्रायोलोकाः सन्ति कुबुद्धयः।
कोपि सत्पुरुषो लोके कालात्परमति र्भवेत् ॥२२॥

अब गर्भादि कष्ट काल में तुमने यदि रोया तो इस रोने से तुमने क्या फल पाया, और अपने रुदनादि कुकर्मादि से तुमने मोहि (मुझे = अन्य को भी) किहि कारण (क्यों) रुलाया (अब तो स्वयं सहना उचित है, रोना-रुलाना नहीं)। अतः श्रीकबीर साहब कहते हैं कि हे नर लोगों! वर्तमान कष्टादि को विवेक-विचार धैर्यादि से सहते हुए भावी हित के लिये श्रवणादि करो, और पूर्वकाल वर्तमान कालादि के चिन्ता आदि को त्यागकर सो कार्य-विचार-

ध्यानादि करो कि जिससे अब आगे काल के वशी (वश) में कोई तेरे संगी नहीं पड़े, न तुम काल के वश में पड़ो। भाव है कि "न कालो दण्डमुद्धृत्य शिरः कृन्तति कस्यचित्। कालस्य बलमेतावद्विपरीतार्थदर्शनम् ॥१॥" काल-दण्ड उठाकर किसी के शिर को नहीं फोड़ता (काटता) है। किन्तु विपरीत अर्थ का ज्ञान कराना इतना ही काल का बल है। महात्मा कहते हैं कि "काल दण्ड गहि काहु न मारा, हरै धर्म बल बुद्धि विचारा" तहाँ सत्सङ्ग भक्ति योगध्यानादि से संशय भ्रम-भूतादि को नष्ट कर्तव्य है ॥५८॥

शब्द ५९

को न मुवा कहु पण्डित जना। सो समुझाय कहु मोहि स्याना॥
मूये ब्रह्मा विष्णु महेशा। पारवती सुत मुये गणेशा॥
मूये चन्द मुये रवि केता (शेषा)। मुये हनुमत जिन बाँधल सेता॥

अमरान् ये बहून् केऽपि मन्यन्ते पण्डिता अपि।
तानाहाऽत्र विवेकाय सद्गुरुः कामुकान् हितम् ॥२३॥
पण्डिता भो मृतः को न कथ्यतां स सुनिश्चितः।
जनेभ्यश्च मदर्थं च सुसम्बोध्य स उच्यताम् ॥२४॥
अथ च ज्ञायतामेतद् वाक्यं मम सुनिश्चितम्।
कथ्यते वेदसिद्धान्तो निश्चितश्च महात्मभिः ॥२५॥
ब्रह्मा मृतो मृतो विष्णु र्महेशश्च दिगम्बरः।
पार्वत्याः स सुतो देवो गणेशश्च मृतः सुधीः ॥२६॥
मृतः सूर्यश्च चन्द्रश्च कल्पे कल्पे सहस्रशः।
हनूमानऽपि सद्भक्तो मृतो यः सेतुकारकः ॥२७॥
अनन्तोऽपि मृतः शेषो देवाश्च दानवादयः।
सर्वे मृता मरिष्यन्ति देहवानमरो नहि ॥२८॥

बहुत विद्वान् भी "भूतोऽमी देवयोनयः" इस अमरकोशादि के अनुसार भूतादि को भी पूज्यदेव अमरादि समझते हैं। अतः साहब कहते हैं कि अमर होने के लिये ब्रह्मलोकादि देवभावादि चाहनेवाले हे पण्डितजन! कहो कि देहधारी कौन नहीं मुआ, जिसको आपने अमर जाना है, हे सयान! सोई मुझे समझाकर कहो तथा नित्यानित्यादि के विवेकपूर्वक उपदेश दो। और समझो कि अनन्त कल्प के अनन्त ब्रह्मा, विष्णु, महेश, पारवती के पुत्र गणेश

मर गये हैं तथा कितने चन्द्र, सूर्य मर गये हैं या केतु भी मर गया है। शेष मर गये हैं। हनुमान् तथा जिन नल-नीलादिकों ने समुद्र में सेतु बाँधा था, वे सब मर गये हैं। और जो वर्तमान ब्रह्मा आदि ब्रह्मलोकादि में आतिवाहिक दिव्य देहादियुक्त हैं, सो भी मरनेवाले हैं। परन्तु इन सबका नाम अमर है। क्योंकि "यो ब्रह्माणं विदधातिपूर्वम्। सूर्याचन्दमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्" इत्यादि श्रुति के अनुसार ब्रह्मा आदि की उत्पत्ति होती है। और जिसकी उत्पत्ति होती है, उसका अवश्य मरण होता है।

मूये कृष्ण मुये करतारा। एक न मुवा जो सिरजनहारा॥
कहहिं कबिर मुवा नहिं सोई। जाके आवागमन न होई॥५६॥

कृष्णो मृतो मृताः सर्वे कर्तारः कर्मजन्मनाम्।
प्रजानां पतयो दक्षप्रमुखा लोककारकाः॥२९॥

तेषामपि च यः स्रष्टा ह्येको देवो निरञ्जनः।
स एव न मृतो नैव कदाचिच्च मरिष्यति॥३०॥

सद्गुरुश्चाह सैवैको न मृतो यस्य न कश्चित्।
गमनागमने जातु भवतोऽत्र कथञ्चन॥३१॥

भ्रमात्मकैरिह किल भूतनामकै र्ग्रहैर्जना मृतिवशतामुपागताः।
अहञ्च काः कियदनुरोदिमि प्रजाः पितामहो हरिरपि मृत्युभागिह॥३२॥
कुमार्गगत्या मरणं तु भीतिदं मृतांश्च तत्राहमतोऽनुचिन्तये।
विचारवन्तो ननु ये विवेकिनः समाधिवन्तो नहि यान्तिशोच्यताम्॥३३-५९॥

इति हनुमत्कृतायां शब्दसुधायां भ्रमभूतादिजन्य पीडादिवर्णनं
नाम त्रयोविंशतितमस्तरङ्ग॥ २३॥

कितने कृष्ण और कर्तार (अधिकारी प्रजापति मरीचिआदि) मर गये, और नवीन-नवीन रचे गये। परन्तु एक वही कभी नहीं मरा, न मरता है या मरेगा कि जो अपनी मायारूप शक्ति से और स्वसत्ता प्रकाश से अनायास सबको सिरजनेवाला सर्वात्मा विभु सच्चिदानन्द स्वरूप है। अतः श्रीकबीर साहब कहते हैं कि सोई कभी नहीं मरा न मरेगा, कि जिसके आवागमन (उत्पत्ति नाश विकार क्रिया) कभी नहीं होते हैं। अर्थात् विविध भेद रहित असङ्ग अखण्ड विभु ब्रह्म ही अजर-अमर सर्वात्मा सत्य है। अन्य मायामय असत्य विस्तार है॥ ५६॥

अथ देहसरोवर के त्यागग्रंहणादि प्र० २४

शब्द ६०

हंसा प्यारे सरवर तेजे जाय ।
जिहि सरवर विच मोतिया चुँगत होते, बहुविधि केलि कराय ॥
सूखे ताल पुरइन जल छाड़ेगो, कमल गेल कुम्हिलाय ।
कहहिं कबीर जो अब के बिछुड़े, बहुरि मिलहु कब आय ॥६०॥

जीवात्मानः प्रिया हंसा देवदेहगता अपि ।
देहं सरोवरं त्यक्त्वा गच्छन्त्येव यतस्ततः ॥ १ ॥
तान् प्रत्याह गुरु हंसा ! यत्र यूयं सुखात्मकम् ।
ज्ञानं वा मौक्तिकं शश्वत् पदार्थान् वा पृथग्विधान् ॥ २ ॥
चितवन्तः क्रियां क्रीड़ां ह्यकुर्वथ पृथग्विधाम् ।
संत्यक्त्वा तत्सरो याथ यदा यूयं तदैव हि ॥
शुष्यत्यदो न संदेहो भवत्येव भयावहम् ॥ ३ ॥
पद्मपत्रसमं नेत्रं जलं त्यजति मानसम् ।
सर्वं लौकिक भोग्यं च त्वङ् मांसं त्यजति ध्रुवम् ॥ ४ ॥
कमलानि च सर्वाणि कुण्ठितानि हतानि च ।
जायन्ते नैव राजन्ते वृद्धत्वेऽपि समागते ॥ ५ ॥
सरसोऽस्माद्वियुक्ताश्च नेव जाने कदा पुनः ।
मेलिष्यन्ति भवन्तोऽत्र स्वर्गमोक्षप्रदे शुभे ॥ ६ ॥
अतो ह्यद्यैव तत्कार्यं येन भूयो भवेन्नहि ।
नरके विनिपातो वा गमनागमने क्वचित् ॥ ७ ॥
"अद्यैव[1] कुरु यच्छ्रेयो वृद्धः सन् किं करिष्यसि ।
स्वगात्राण्यपि भाराय भवन्ति हि विपर्यये ॥ ८ ॥
नरदेहस्य[2] पातात्प्राक् स्वं बोद्धुं शक्नुयान्न यः ।
जन्मान्तरेषु तद्बोधः प्रायेणात्यन्तदुर्लभः ॥ ९ ॥
दैवं पुरुषकारश्च[3] कालश्च पुरुषोत्तमाः ।
त्रयमेतन्मनुष्यस्य पिण्डितं स्यात्फलावहम् ॥१०॥

---

१ योगवा० निर्वाण प्र० उ० स० १६२ । २० ॥ २ अनुभूतिप्रकाश० अ० ११ । ६८ ॥ ३ मत्स्यपु० अ० २२१ । ८-१० ॥

तस्मात्सदैव कर्तव्यं सधर्मं पौरुषं नरैः।
विपत्तावपि यस्येह परलोके ध्रुवं फलम्' ॥११॥६०॥

हे प्यारे हंसा (मानव देहधारी विवेकी जीव !) इस देह सरोवर को जिससमय त्यागे जाते हो, जब यह देह अत्यन्त जीर्ण होगई हो, उस समयतक भी यदि हो सके, तो सर्वात्मा हरि के श्रवणादि करो, समझो कि जिसदेह की स्वस्थाऽवस्था में विविध भोग्य ज्ञान सुखादिरूप मोती (मौक्तिक) अमृत को चुंगते (भोगते) रहा और बहुत प्रकार की केलि (क्रीड़ा खेल सत्सङ्गादि) करते रहा, वह देहरूप ताल(तालाव=सरोवर) अब सुखने लगा और इसके सुखने से पुरइन (कमलपत्र) तुल्य नेत्र अब जल को छोड़ने लगे, विषय-भोगादि के लिये मन इन्द्रिय असमर्थ हो गये, मुख हृदयादि रूप कमल कुम्हिला गये। तो भी श्रणादि करो। क्योंकि यदि अब की वार इस सरोवर से विछुड़ोगे, तो फिर कब इस मानवलोक में आकर, मानव तनु पाकरसद्‌गुरु आदि से मिलोगे, कब सर्वात्मा हरि को समझोगे, इसका पता नहीं है। अतः अभी सद्‌गुरु से मिलकर सर्वात्मा हरिको समझकर, अज्ञानमूलक आवगमन से रहित पदको प्राप्त करो, कालके वशमें नहीं पड़ो, तो अति उत्तम है। क्योंकि–

यस्यानुवित्तः प्रतिबुद्ध आत्माऽस्मिन् संदेह्ये गहने प्रविष्टः।
स विश्वकृत् सहि सर्वस्य कर्ता तस्य लोकः स उ लोक एव ॥ १ ॥
इहैव सन्तोऽथ विद्मस्तद्वयं न चेदवेदीं महती विनष्टिः।
ये तद्विदुरमृतास्ते भवन्त्यथेतरे दुःखमेवाभियन्ति ॥२॥बृ.४।४।१३-१४

संदेह का विषय अनर्थयुक्त, गहन (विषम) इसदेह में प्रविष्ट आत्मा जिसे अनुवित्त (लब्ध ज्ञात) होता है। वह प्रतिबुद्ध (सर्वात्म ज्ञानी) हो. कर, विश्वकृत्सर्वकर्ता स्वरूप हो जाता है। उसीके सब लोक हो जाते हैं और वही लोक स्वरूप है ॥१॥ इस देह में रहते हम उस आत्मा को जानते हैं। यदि नहीं जाने तो हम (अवेदोः) अज्ञ होवें और हमारा महाविनाश हो, क्योंकि उसको जानने वाले मुक्त होते हैं। और अन्य दुःख ही पाते हैं ॥२॥६०

शब्द ६१

हो दारी कीलै (देउँ तोहि) गारी। तुम समुझुसुपन्थ विचारी।
घरहुं के नाह जो अपना। तिनहूँ से भेंट न स्वपना॥

सक्ता दारेषु भो मूढा गालिं स्वीकुर्वते किमु।
दाराशक्तिस्वरूपां वै सर्वानर्थविधायिनीम् ॥१२॥

कं दोषं च पुरस्कृत्य गालिस्तुभ्यं प्रदीयताम् ।
सर्वदोषतमात्मेयं दारासक्ति र्निगद्यते ॥१३॥
तां त्यक्त्वाऽतो विचारेण सुमार्गो ज्ञायतां त्वया ।
येन सत्यं परं तत्त्वं ह्यात्माऽत्र लभ्यते ध्रुवम् ॥१४॥
विचारादि विना नैव देहगेहस्य सत्पतिः ।
स्वप्नेऽपि लभ्यते साक्षात्स्वस्यातिनिकटेऽपि सन् ॥१५॥
वारयाम्यतिशब्देन नरानेवं स्त्रियं समाम् ।
त्यज लोकरतिं कान्तः स्वप्ने नैवाप्स्यतेह्ययम् ॥१६॥
"दारग्रहोऽतिदुःखाय[1] केवलं न सुखाय च ।
तपः स्वर्ग भक्तिमुक्ति कर्मणां व्यवधायकः ॥१७॥
यद्वन्नारी दुःखकरी कामिनः पुरुषस्य हि ।
नार्या अपि च कामिन्याः पुमान् दुःखकर स्तथा ॥१८॥

हो दारी (माया दारा के प्रेमी या व्यभिचारी) तुम स्वयं गाली की लै (क्यों लेते हो) स्त्री में आसक्त होकर अनादर यमयातना अदि क्यों सहते हो। या तुम्हे क्या लेकर गाली दूँ (गाली देकर भी तुम्हे कैसे समझाऊं) सब अनर्थ नीचता को तुम आपही स्वीकार किये हो कि जो प्रेतादि को देवादि मानकर हिंसा व्यभिचारादि करते हो। मैं प्रेम से कहता हूँ कि अब भी तो विचारकर तुम सतमार्गको समझो। क्योंकि विचारादि रहित दारी(व्यभिचारी) को अपने घर (हृदय) के वासी आवागमन रहित नाह (नाथ स्वामी) से भी स्वप्ने में भी भेंट (मुलाकात) नहीं होती है, घर के स्वामी जो हैं, उनको स्वप्न में भी साक्षात् नहीं करता है तथा स्त्रियों को भी घर के स्वामी से स्वप्न में भी भेंट नहीं होती है, अतः उन्हे भी विचार कर सुपन्थ देखना और उस पन्थ से चलना चाहिये, केवल कामपरायण नहीं होना चिहिये।

ब्राह्मण क्षत्री औ बानी। तिनहूँ कहलो नहिं मानी ॥
योगी औ जङ्गम जेते। सब आपु गहे हैं तेते ॥
कहहिं कबिर एक योगी। भरमि भरमि सब भोगी ॥६१॥

ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्या मन्यन्ते स्म न तद्यदा ।
मन्यते हि तदा कोऽन्यो हितं सत्योपदेशनम् ॥१९॥

---

१ ब्रह्मवैवर्तपु. २३।२०।२ आत्मपु. १।४३६ ।

योगिनो जङ्गमा ये च तेऽपि तं तं स्वकल्पितम् ।
गृह्णन्तिस्म न चात्मानमासक्ता ह्यभिमानिनः ॥२०॥
यो ज्ञानादियुतो योगी विचारादिपरायणः ।
सैवैको योगिवर्योऽन्ये भ्रान्त्वा भ्रान्त्वा कुभोगिनः ॥२१॥
भवन्ति वेषकामादौ सक्ता न सद्गुरोः पदे ।
नात्मान्वेषणसद्भक्तौ सुयुक्तास्ते कदाचन ॥२२॥६१॥

परन्तु आश्चर्य है कि अनादि इस कहल (उपदेश) को ब्राह्मण क्षत्रिय और वानी (वैश्य) जो कहलाते हैं, तिन हूँ (वे भी) नहीं मानते हैं। योगी जङ्गमादि जेते (जितने) वेषधारी हैं। तेते (वे सब भी) मायादारा आदि को आप गहे हैं तो अन्य को माया मोहादि से कैसे मुक्त करेंगें। अतः श्रीकबीर साहब कहते हैं कि एक ब्रह्मात्मा ईश्वर ही वस्तुतः योगी है, कि जो युक्तयोगी सर्वज्ञ कहा जाता है, उसके ज्ञानी तद्रूपता ब्रह्मनिष्ठता से एक (अद्वैत) योगी हैं, और अन्य सब विचारादि के बिना माया प्रेतादि में भ्रम भ्रमकर कुभोग के भोगी हुए हैं। अतः सबको अब भी भ्रमरहित होने के लिये विचार कर सुमार्ग को पकड़ना चाहिये ।

सत्य पन्थ बिनु योगि, यतिहुँ माया वश जाई ।
पूजत प्रेत मशान, विप्र क्षत्रिय विश भाई ॥
चहत अमरपद नित्य, करत नित कर्म हि खोटा ।
भोगत विषय विकार, सहत यम के सब सोटा ॥
मानत नहिं गुरु बैन, वेद के सैन न जानै ।
योगी जंङ्गम होय, भोग में रहै भुलानै ॥
छुटत न तन जन मोह, द्रोह नहिं दिलसे भागै ।
हनूमान यों जानि, सदा सन्तन सङ्ग लागै ॥ १ ॥
तहँ नित करै विचार, तब सब भागैं मोहगण ।
सूझै अपरम्पार, पाये सद्गुरु योग गण ॥२॥६१॥

शब्द ६२

भँवर उड़े बक बैठे आई। रैनि गये दिवसो चलि जाई ॥
हल हल काँपे वाला जीवा। नहिं जानो का करि हैं पीवा ॥

भ्रमरो सुरसग्राही सुजनो भाव उज्ज्वलः ।
उड्डीय ह्यगमत् क्वापि भोगासक्तस्य पार्श्वतः ॥२३॥

बकवृत्तिः समायातो निकटे तस्य वा हृदि ।
मानुष्यं निष्फलं तेन कुलगोत्रादिकं गतम् ॥२४॥
कृष्णत्वं चागमत् केशाच्छ्वेतताऽत्र समागता ।
हृदयं नाभवच्छुद्धमहोभाग्य विपर्ययः ॥२५॥
पश्वादि भावरूपा सा गता रात्रिः कथञ्चन् ।
लब्धं सम्यङ् मनुष्यत्वं दिवसो यात्यहो मुधा ॥२६॥
पुनरस्मिन् गते त्वज्ञः पराधीनो निरन्तरम् ।
मोहेन कम्पते जीवः शिवं क्वापि न पश्यति ॥२७॥
भीतोऽतिकम्पमानश्च मन्यते मानसे स्वके ।
न जाने मे पतिर्देवः किं करिष्यति चात्यये ॥२८॥

भरम कर कुभोग में फंसने के कारण भोगियों के हृदय से शुभ सार रस ग्राही विवेकादि रूप भँवर उड़ गये, विवेकी सज्जन उनके साथ छोड़दिये। और बक वृत्ति (अविवेक कुबुद्धि=कुपुरुष) आ कर हृदयादि में बैठ गये, तथा इसी अवस्था में बालों की कालिमा गई, सफेदी आ गई। तो भी भोगासक्ति नष्ट नहीं हुई। अतः पशुत्वादिरूप अन्धतम रात्रि के बीतने पर, सुप्रकाश युक्त प्राप्त दिवस तुल्य मनुष्यता व्यर्थ चली जाती है, कि जिससे बाला (अज्ञ परवश) जीव बालक स्त्री के समान भयभीत होकर, हल हल (बार बार थर थर) काँपता है। और अन्त में चिन्ता करता है कि, न जानो (न मालूम) कि हमारा पीवा (स्वामी) हमारी का (कौन दशा) करेगा। "विषाद युक्तो विषमामवस्थामुपागतः कायवयोऽवसाने। भावान् स्मरन् स्वानिह धर्मरिक्तान् जन्तु जरावानिह दह्यतेऽन्तः। योगवा० वै. प्र. स. २७" शरीर आयु के अन्त काल में जरावस्था वाला विषम अवस्था को प्राप्त प्राणी अपने धर्म रहित भावों को स्मरण करता हुआ मन में सन्तप्त होता है।

काँचे बासन टिकै न पानी। उड़ि गौ हंस काया कुम्हिलानी ॥
काग उड़ावत भुजा पिरानी। कहहिं कबिर यह कथा सिरानी ६२॥

एवं सञ्चिन्तयानोऽपि जीवो हंसः कलेवरे।
न तिष्ठति चिरं ह्यामे यथा कुम्भे जलं नहि ॥२९॥
उड्डीय च गते हंसे क्षणाद्देहो विशुष्यति।
भक्षणायास्य काकाद्या उन्मुखाश्च भवन्ति हि ॥३०॥
तेषां च वारणाच्छश्वद् यदि बाहु र्विपीड्यते।
तथापि देहवार्ताऽपि कालेन प्रविनश्यति ॥३१॥

भोगी कुबुद्धिकाकं वा नैव वारयितुं क्षमः।
मनोऽस्य पीड्यते तेन मुधा देहोपि नश्यति ॥३२॥
सद्गुरु र्भाषते तस्मात् त्यज्यतां भोगलालसा।
आलस्यं संपरित्यज्य ह्यासक्तिं च मदं त्यज ॥३३॥६२॥

फिर जैसे काँच (अपक्व) वासन (वर्तन घटादि) में पानी नहीं टिकता (ठहरता) है। तैसे ही विनश्वर देह में प्राणादि के नहीं ठहने के कारण, जब इसमें से प्राणादि सहित हंस (व्यावहारिक जीवात्मा) उड गया, तब काया (देह) कुम्हिला गया (सुख गया) फिर इस देह के भक्षक कागादि के उड़ाने में भुजा के पिराने (पीड़ित होने) दुखने पर भी थोड़ी देर में इस देह की कथा भी सिरा (समाप्त हो) जाती है या भोगी लोग-भोग से काक कुबुद्धि को उड़ाने में थक गये, मानो उनके भुजा (मन) पीड़ित हो गया, परन्तु भोग परायणता के रहते कुबुद्धि नहीं उड़ी, (नष्ट नहीं हुई) और यह देह की कथा समाप्त हो गई। अतः सब से प्रथम भोगासक्ति को त्यागना चाहिये, यह सद्गुरु का उपदेश है। क्योंकि—भवतीष्टं सत्क्रिययाऽनिष्टं तद्विपरीतया। शास्त्रतः सदसज्ज्ञात्वा त्यक्त्वाऽसत् सत् समाचरेत् ॥१॥ अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्मफलं नरैः। प्रतिकार विना नैव प्रतिकारे कृते सति ॥२॥ सत्क्रिया (धर्म) से इष्ट फल होता है, तद्विपरीत अधर्म से अनिष्ट—दुःख होता है। असत् कर्मादि को त्यागकर सत्कर्मादि करना चाहिये, और इसके लिये सत्शास्त्र से सत्-असत् को विवेकपूर्वक समझना चाहिये ॥ १ ॥ अज्ञानादि से असत् कर्म करने पर प्रायश्चित्तादि रूप प्रतिकार (निवारणोपाय) के विना मनुष्यों को अवश्य ही कृत कर्म भोगना होता है, प्रतिकार करने पर नहीं। अतः सब कर्म का प्रतिकार रूप भक्ति ज्ञान कर्तव्य है। शुक्रनीतिः।

शब्द ६३

योगिया फिरि गौ नगर मँझारी। जाय समान पाँच जहं नारी ॥
गौ देशान्तर कोइ न बतावै। योगिया गुफा बहुरि नहिं आवै ॥

संसारैः सह संयोगाद् येऽत्र संयोगिनो जनाः।
ते हि भ्रान्त्वा पुनः प्राप्ता लोकादौ नगरेऽभवन् ॥३४॥
ते च यत्रागमंस्तत्र पञ्च नार्यो गताः सह।
प्राणा इन्द्रियरूपा वा त्वविद्याद्या गृहेऽविशन् ॥३५॥

गता देशान्तरे यत्र केऽपि तान्नोपशिक्षितुम् ।
शक्नुवन्ति न तेऽप्यत्राऽऽयान्ति त्यक्तगुहागृहे ॥३६॥
असङ्गो ज्ञानवान् योगी चरित्वा चात्र भूतले ।
प्राप्तोऽभून्नगरे यत्र नारीणां समता भवेत् ॥३७॥
निर्विशेषे गतो देशे निर्देष्टुं शक्यते नहि ।
नागच्छति पुनः सोऽत्र संसारे च गुहागृहे ॥३८॥

मानव देह की कथा के बीत जाने पर भी योगिया (संयोगी-भोगिया) के निरभिमानी एक योगी होने के विना, फिर दूसरे नगर (लोकदेह) में गया, और जाता है। वहाँ गयाकि जहाँ वासनायुक्त मनसहित पाँच ज्ञानेन्द्रियरूप नारी जाकर समाई हुई थी। अर्थात् इन्द्रियों द्वारा विषयाऽनुभवजन्य वासना सहित मन जहाँ जाता है, प्राणादि सहित जीव भी मर कर वहाँ ही जाता है। अतः वह जहाँ गया, वहाँ ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, प्राण और अविद्यादि सब नारियाँ जा कर समाई। और मनुष्य देह से अन्यत्र ऐसे दुर्गम देशान्तर में गया कि जहाँ इस को कोई कुछ बता (समझा) नहीं सकता है, न पता कह सकता है कि कहाँ गया है और वह योगिया त्यक्त गुफा में फिर लौट कर नहीं आता है, न फिर शीघ्र मानव देह में आता है कि जहाँ स्वयं कुछ समझ समझा सके, क्योंकि मानव देह अति दुर्लभ है। "दुर्लभं त्रयमेवैतद्देवानुग्रहहेतुकम् । मनुष्यत्वं मुमुक्षुत्वं महापुरुष संश्रयः ॥१॥ विवेक चूड़ामणिः" ये तीन दुर्लभ ही है, सच्चा मनुष्यत्व, मुमुक्षुत्व और महापुरुष का संश्रय (शरण)।

जरि गौ कन्था ध्वजा गौ टूटी । भजि गयो दण्ड खपर गौ फूटी ॥
कहहिं कबिर ई कलि है खोंटी । जो रहे करवा (सो) निकलै टोंटी ॥

अत्राऽनागमनाच्चैव देहत्वङ्मांसरूपिणी ।
दग्धा कन्था ध्वजंछिन्नं बाहु वालस्वरूपि यत् ॥३६॥
भग्नोऽयं मेरुदण्डोऽभूत्कपालः खर्परस्तथा ।
विदीर्णोऽभून्न किञ्चिद्धि शश्वदस्यावतिष्ठते ॥४०॥
कायः कलिरयं प्रोक्तः कालश्चाज्ञजनस्तथा ।
स हीनो नश्वरः पापस्तापहेतुस्तमस्विषु ॥४१॥
यश्चात्र वर्तते भावो यच्च कर्म शुभाशुभम् ।
तन्निष्क्रामति जीवेन सह द्वारैर्मृतौ किल ॥४२॥
बुद्धौ गुहायां सदसद्विभिन्नं ब्रह्मास्ति सत्यं परमद्वितीयम् ।
तदात्मना योऽत्र वसेद् गुहायां पुन र्न तस्याङ्ग गुहाप्रवेशः ॥४३॥

ग्रन्थीन् स हित्वा च विलूय कश्मलं छित्त्वाऽखिलं कर्मजदोषपुञ्जकम् ।
अत्रैव तिष्ठन्निखिलं कलेवरं कामं च हित्वा नहि याति कुत्रचित् ।४४।६३।

इति हनुमत्कृतायां शब्दसुधायां देहसरोवरत्यागादिवर्णनं
नाम चतुर्विंशतितमस्तरङ्गः ॥ २४ ॥

योगिया के चले जाने पर, त्वचा देह रूप कन्था जर गई। बाल भुजा आदिरूप ध्वजा टूट गये, मेरुदण्ड भग्न (नष्ट) हो गया, शिर की खपर (खोपड़ी) फूट गई। श्री कबीर साहब कहते हैं कि उक्त रीति से योगिया के अन्य सब साधन तो यहाँ ही नष्ट हो गये, परन्तु जो करवा (देहरूप टोंटीदारपात्र) में शुभाशुभ भाव धर्माधर्मादि रहते हैं, सोई इस जीव के साथ अन्त काल में किसी टोंटी द्वार से निकलते हैं और कलि (कलहमय शरीर सङ्गादि) तो खोंटी वस्तु है, कोई साथ जाने वाली वस्तु नहीं है। किन्तु धर्माधर्मादि साथ जाने वाले हैं, तथा फिर जन्म आयु भोगादि को देने वाले हैं, मुक्ति को नहीं, अतः मुक्ति के लिये सङ्गादि को त्यागकर विवेकविचारादि कर्तव्य हैं ॥६३॥

अथ सद्गुरु आदिमें विश्वासादिकेबिना मोहादि प्र० २५

शब्द ६४

नल को नहिं परतीति हमारी ।
झूठन बणिज कियो झूठा सों, पूँजि सबन मिलि हारी ॥
षटदर्शन पाखण्ड चलायो, तिरदेवा अधिकारी ।
राजा देश बड़ो परपञ्ची, रैयत रहत उजारी ॥

मनुष्याणां न विश्वासो वर्तते क्वापि सद्गुरौ ।
मिलन्त्यनृतिनोऽसत्य भाषिभि र्व्यवहारिभिः ॥ १ ॥
अतश्च बृद्धिमूलं ते सुखमूलं च सर्वशः ।
हारयन्ति हि कामाद्यैः कितवैश्चैव तस्करैः ॥ २ ॥
षड्दर्शनिगणाश्चैव योगाद्या मतवादिनः ।
प्रावर्तयन्त पाषण्डाँस्त्रिदेवाश्चाधिकारिणः ॥ ३ ॥
अभवन् गुणरूपास्ते राजानश्च त एव हि ।
तद्देशवासिनस्तेषामुपासनपरा नराः ॥ ४ ॥

प्रपञ्चनिरताः सन्तः परेषां वञ्चने रताः।
जिज्ञासुप्रमुखाः सर्वाः प्रजाश्च पीडयन्ति ते ॥ ५ ॥
तैश्च सम्पीडितास्तद्वद् द्राविताश्चाखिलाः प्रजाः।
द्रवन्ति विविधाँल्लोकान् भयभीता मुहुर्मुहुः ॥ ६ ॥

कुसङ्गी मनुष्यों को हमारी (सद्गुरु की) प्रतीति (ज्ञानविश्वास) नहीं होती है न अपनी सत्यात्मा की प्रतीति होती है। अतः झूठे लोग झूठों से (झूठों के साथ) बणिज (व्यवहार = गुरुशिष्यादि सम्बन्ध) किये, और सब मिलकर, विवेकादि के बिना, पूंजी (मूलधन) तुल्य मनुष्यता परम तत्त्व को मन माया आदि द्वारा हार गये, पूँजी को नष्ट अनादर किये, पाये नहीं। पूंजी के हारने से षट् दर्शनी योगी जङ्गमादि पाखण्ड चलाये (मिथ्या वेषादि का प्रचार किये) जिस में सत्त्वादि गुणात्माक त्रिदेव अधिकारी (नेता) फल दानादि के स्वामी हुए कि जिससे तीन अवस्था लोकादि की प्राप्ति हो सके, मोक्षदाता प्रभु का ज्ञान नहीं मिल सके। क्योंकि राजा का देश (त्रिगुण का स्थान) वड़ो परपञ्ची (बहुत कपट युक्त) है। अतः ये लोग रैयत (प्रजा) को उजाड़ते रहते हैं, त्रिगुणातीत हुए बिना त्रिगुण वशावर्ती जीव कहीं स्थिति नहीं पाते हैं। अतएव गीता में कहा गया है कि "त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन। अ० २।४५" हे अर्जुन! काम्यकर्मादि के बोधक वेद त्रिगुण संसार परक हैं। तुम निस्त्रैगुण्य = निष्काम होवो इत्यादि।

इत ते ऊत ऊत ते इत रहु, यम की साँटि समारी।
ज्यों कपि डोरि बाँधु बाजीगर, अपनी खुशी परारी ॥
इहे पेंड़ उतपति परलय की, विषया सबे विकारी।
जैसे श्वान अपावन राजी, त्यों लागी संसारी ॥

इतो यान्ति जना ह्यूर्ध्वं पुन र्यान्ति ततस्त्वधः।
याताऽऽयाते प्रकुर्वन्तो भवन्ति विह्वलाः सदा ॥ ७ ॥
यत्र यान्ति च तत्रैव यमदण्डोपि विद्यते।
उद्गूर्णस्ताडितास्तेन व्यथन्ते विवशाभृशम् ॥ ८ ॥
यथा कपिर्हि पृथकैश्चणकै र्बध्यते स्वयम्।
मर्कटोल्लासकः क्रूरः पुनर्बध्नाति तं गुणैः ॥ ९ ॥
तथा स्वयं हि कामेन लोभेन विषयै र्हृताः।
पतन्ति नरके सर्वे जन्तवो मोहयन्त्रिताः ॥१०॥

विषया वा इमे सर्वे विकारा मनसोऽखिलाः ।
कामाद्या एव जन्मादे मूलं कारणमुच्यते ॥११॥
श्वा यथा मलिने रक्तः प्रसन्नोऽपावनाद् भवेत् ।
तथा संसारिणो हीने संलग्नाः कामतोऽशुचौ ॥१२॥

उजाड़ने से स्थिति नहीं पाने से ही इतते (इस लोक देह से) भगकर ऊत (परलोक अन्य देह में) जीव जाते हैं, वहाँ थोड़ी देर तक रहने पर फिर उजाड़ने से ऊतते (वहाँ से) भगकर इत रहु (यहाँ रहते हैं) और जहाँ जाते हैं, तहाँ यम की साट (कोड़ा चाबुक) समारी हुई (तैयार) रहती है तो भी गुणों के वशवर्ती जीव इस प्रकार यमयातना सहता है, कि जैसे बानर प्रथम अपनी खुशी (इच्छा) से बन्धन में लोभ, मोह, अज्ञान से पड़ता है, तो फिर बाजीगर उसको डोरी से बाँधता है, तो कष्ट सहना होता है । वैसे ही विषयादि में रागद्वेष, मोह से स्वयं बँधाने पर जीवों को कर्म डोरी से यम बाँधता है । क्योंकि ये विषय और कामादि सब मन के विकार ही उत्पत्ति प्रलयादि (जन्म मरणादि) रूप सब संसार के पेंड़ (जड़ मूल वृक्ष) रूप कारण हैं, तो भी जैसे कुत्ता अपावन मांसादि से राजी (प्रसन्न) रहता है, त्यों (वैसे ही) संसारी अज्ञ मनुष्यों में अपावन विषय कामादिरूप माया लगी है, और संसारी उसमें लगे हैं, उससे प्रसन्न होते हैं, फिर कष्ट सहते हैं ।

कहहिं कबिर यह अद्‌बुद ज्ञाना, (को) मानै बात हमारी ।
अजहूँ लेउं छोड़ाय काल सो, जो करु सुरति सम्हारी ॥६४॥

विवेकजमिदं ज्ञानमद्भुतं मन्यते यदि ।
निरुध्य स्वमनो नित्यं स्वात्मनि स्थाप्यते तथा ॥१३॥
तदा त्वद्याप्यहं कालान्मोचयामि जनं समम् ।
प्राह सद्गुरुरित्थं तत् सत्यं सत्यं न संशयः ॥१४॥
"स पण्डितः स च ज्ञानी सक्षेमी स च पुण्यवान् ।
गुरो र्वचस्करो यो हि क्षेमं तस्य पदे पदे" ॥१५॥६४॥

श्रीकबीर साहब कहते हैं कि यह विवेकात्मक उपदेश अद्भुत ज्ञान स्वरूप है, यदि मनुष्य हमारी बात को मानै (उपदेश के अनुसार विषय विकार कुसङ्गादि को त्यागै) सम्हार कर सुरत (ध्यान चिन्तन विचार) करे । कुभोग को त्यागे, तो मैं इसको अजहूँ (अबही) काल फाँस से छोड़ा लूँ (जन्म-मरणादि के भय से रहित ब्रह्मनिष्ठ जीवन्मुक्त कर दूँ) ।

सब अनर्थ का मूल, मान अज्ञान हि जानो ।
करि विवेक तजि मान, नित्य हरि हृदय पिछानो ॥
करि सद्गुरु को मीत, हित हि सबका नित कीजै ।
तजि माया मद दूर, मधुर सत हित हि भनीजै ॥
संशय भ्रम को त्यागि, भजिय हरि अभय अनन्ता ।
सबकी आतम एक, लखिय निर्मल भगवन्ता ॥
गावत वेद पुराण, भजत जिहि विमल सुसन्ता ।
हनूमान विज्ञानि, लहहिं निज पद गुण अन्ता ॥१॥
जो गुरु वच विश्वास करि, त्यागै विषय विकार ।
सो न परै भव फन्द में, राखै सुरति सँभार । २॥६४॥

शब्द ६५

हरि ठग ठगत सकल जग डोला । गमन करत मोसे मुखहु न बोला ॥
बालापन के मीत हमारे । हमहि तेजि कहँ चलेहु सकारे ॥

हरे हिं वञ्चकास्तेऽत्र वञ्चयन्तोऽखिलं जगत् ।
भ्रामन्ति सर्वसंसारे धावन्ते वञ्चितास्तथा ॥१६॥
गच्छन्तस्ते च कामेन कुमार्गेण कुवस्तुषु ।
मां गुरुं नैव पृच्छन्ति सुमुखै वै कदाचन ॥१७॥
तीव्ररागादिहीनत्वाद् बाल्ये मित्राणि ये मम ।
यूयं ते कुत्र मां त्यक्त्वा स्वीकर्तुं याथ बन्धनम् ॥१८॥
मायामात्रमसत्तुच्छं सेवितुं किं हि सत्वरम् ।
याथ कल्ये त्वपृष्ट्वा मां सद्गुरुं सुखदं हितम् ॥१६॥
आत्मनो व्यतिरिक्तं हि प्राप्यते येन केनचित् ।
विषया कर्मणा वापि दुर्लभं नैव तत्स्मृतम् ॥२०॥

हरिठग (सद्गुरु सत्यात्मा से विमुख करनेवाले) विषयादि और वञ्चक गुरु के ठगत (ठगने से) सब जग (संसारी) डोल गये (चञ्चल हो गये काँप गये) तथा वञ्चक गुरु भी ठगते हुए सब संसार में डोलते (भटकते) हैं । कहीं भी स्थिति नहीं पाते हैं, और ठगा जाने पर कुमार्ग में गमन करते समय मोसे (सद्गुरु से) मुख से बोलते भी नहीं हैं (कुछ पूछते नहीं हैं) । किन्तु पुत्र-मित्रादि में ममता करते हैं । और उनसे वियोग होने पर विलाप करते हैं कि गमन करते समय मुख से बोला भी नहीं, तो भी सद्गुरु कहते हैं कि अरे

तुम उत्कट काम रागादि के अभाव के कारण बालापन के हमारे मित्र हो, फिर भी इस समय हमें त्यागकर तुम सकारे (सवेरे) कहाँ चले हो। परन्तु वह पुत्रादि ही की चिन्ता में रहता है कि हमें त्यागकर कहाँ चले हो। कुछ सतशास्त्र के श्रवण के बाद मनन-विचार से भी बाल्यभाव होता है, उसके बाद ध्यान अभ्यास वैराग्यादि के बिना संसार में जो फँसता है, उससे भी कहा गया है कि तुम सद्गुरु आत्म-चिन्तनादि को त्यागकर कहाँ सकारे (भोर प्रभात) होने पर चले हो इत्यादि।

तुमहि पुरुष वे नारी तुम्हारी। तुम्हरि चाल पाहनहुँ ते भारी॥
माटिक देह पवन के शरीरा। हरि ठग ठग से डरहिं कबीरा॥६५॥

युष्माकं पुरुषो ह्यात्मा सा नारी या हि सेव्यते।
अश्मनोऽपि जडत्वं च युष्मासु वर्तते यतः॥२१॥
तां सेवध्वेऽजडं मत्वा वर्तध्वे तद्वशे ततः।
स्वे स्वरूपे परिज्ञाते नैवं स्याद्वै कदाचन॥२२॥
आत्मा यद्वा तवैवास्ते भार्यायामपि सर्वदा।
जडबुद्धिरवान्न तं मत्वा देहेऽशुद्धे हि सज्जसे॥२३॥
मृण्मयेऽशुभदेहेऽस्मिन् प्राणप्रायशरीरके।
आसक्तत्वात्सदा यूयं विभीथ वञ्चकाद्धरेः॥२४॥
आत्मनोऽज्ञानतो बन्धभयभेदभ्रमादिकम्।
ज्ञाने स्यादक्षया शान्तिरभयो मोदते सुधीः॥२५॥
आत्मानं यो यथा वेद सम्यग् वा यदि वाऽन्यथा।
यथादर्शनमेवासौ फलमाप्नोति पूरुषः॥२६॥६५॥

श्रीसद्गुरु कहते हैं कि तुम ही (तेरी सत्यात्मा ही) सब पुरों देहों लोकों में सर्वत्र विराजने (प्रकाशने) वाला स्वतन्त्र पुरुष है, और जिनसे मिलने चले हो या जिनके वियोग से चिन्ता ग्रस्त होते हो, वे सब परतन्त्र परिच्छिन्न दृश्य वस्तु तेरी नारी (मायामात्र) है। परन्तु इस विवेक ज्ञान के बिना तेरी चाल (गति व्यवहार) पत्थर से भी भारी (अधिक जड़तायुक्त) हो गई है। देहाभिमानादि से तुम पत्थर से भी जड़ हुए हो, वस्तुतः तुम पत्थर (पर्वत) से भी अधिक अचल स्वरूप स्वभाव वाले हो, सो समझते नहीं हो। अतः डोलते हो। क्योंकि जन्मवृद्धि आदियुक्त यह माटी आदि का कार्यरूप स्थूल देह होती है, और प्राण, इन्द्रियादि का समूहरूप सूक्ष्म शरीर होता है, इनमें

ही जन्म जरा-मरणादिरूप संसार होता है, आत्मा में नहीं। परन्तु हे कबीरा! (जीवों) हरि ठग से आत्म-रत्न के ठगा जाने के कारण जन्मादि संसार से डरते हो, अभी हमारी (सद्गुरु की) कहना को मानकर अभय सत्त्व संशुद्धि आदि दैवी-सम्पत्ति ज्ञान-विरागादि की प्राप्ति करके निर्भय मुक्त होवो ॥ ६५ ॥

शब्द ६६

हरिठग जगत ठगौरी लाई। हरिक वियोगे कस जियहु(रे) भाई॥
(को)काको पुरुष कवन(का)की नारी। अकथ कथा यमदृष्टि पसारी॥

हरेर्हि तस्करै धूर्तै वंञ्चकत्वमनर्थदम्।
आनीतमत्र संसारे तस्माद्विरहिणो हरेः ॥२७॥
सर्वेऽभवन्निमे जीवा विह्वला ज्ञानवर्जिताः।
स्त्रीपुत्रादिपराः शोकमोहरोदनपीडिताः ॥२८॥
तानाह सद्गुरु यूयं हरेर्विरहिणः सदा।
जीवथ भ्रातरः केन प्रकारेणात्र संसृतौ ॥२९॥
आत्मैवास्त्यजरो नित्यो विकारादिविवर्जितः।
तज्ज्ञाने वर्तते जन्तुर्नित्यचैतन्यमूर्तितः ॥३०॥
कः कस्याः पुरुषः का च नारी कस्यात्र विद्यते।
कथा ह्यकथनीयेयं यमदृष्टिः प्रसारिता ॥३१॥
"चित्तसम्मोहमात्रेऽत्र लोकोऽयं परिखिद्यते।
दिङ्मोहाकुलविज्ञानो नष्टमार्ग इवाध्वगः" ॥३२॥

उक्त हरि ठगों (वञ्चक गुरु मन मायादिकों) ने संसार में ठगौरी (ममता वञ्चकता) लाई (फैलाई) है कि जिससे सब हरि के वियोगी हुए हैं (अपने को हरि से वियुक्त समझते हैं)। परन्तु हरि के वियोग रहते तुम कैसे जीते हो। क्योंकि सर्वात्मा हरि के बिना कोई जी नहीं सकता है। अतः हरि के वियोग का तुम्हें भ्रम हुआ है, वियोग है नहीं। "न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन। इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ ॥ कठ० २ । ५ । ५" प्राण या अपान से कोई मनुष्य नहीं जीता है। किन्तु जिसमें प्राण-अपान भी उपाश्रित होते हैं, उस इतरात्मा से सब प्राणी जीते हैं। अतः उस हरि के बिना कौन किसका रक्षक पुरुष है। कौन किसकी सुख भोगप्रदा नारी है, रक्षक सुखभोगप्रद सुखस्वरूप एक हरि ही है। और ये लौकिक स्त्री-पुरुष पुत्रादि तो स्वप्नतुल्य अकथ (अनिर्वाच्य अद्भुत) माया की कथा (वाचारम्भण

कार्यरूप यमदृष्टि पसारी (फैली) हुई है, आत्मदृष्टि के विना इस स्त्री:पुरुष विषयक दृष्टिमात्र से यम की दृष्टि (वश) में मनुष्य प्राप्त होता है।

(को) काको पुत्र कवन(का)को बापा। को रे मरे को सहै संतापा ॥

कः कस्य वल्लभः पुत्रः पिता वा विद्यतेऽत्र कः।
म्रियते कश्च सन्तापैरुपवासं करोति कः ॥३३॥
मोहमूलमिदं सर्वमात्माचास्त्यजरोऽमरः।
न पिता नापि पुत्रोऽयं स्त्रीपुंसादिभिदास्ति न ॥३४॥
"न वन्धुरस्ति युस्माकं भवन्तो नैव कस्यचित्।
संगताः पथि चैते हि दारावन्धु सुहृज्जनाः ॥३५॥
एकः प्रसूयते जन्तुरेक एव प्रलीयते।
भुङ्क्ते हि सुकृतं चैक एक एव च दुष्कृतम् ॥३६॥
एवं व्यवस्थिते लोके कः कस्य स्वजनो जनः।
को वा परजनः कस्य मोह एव च केवलम् ॥३७॥
न माता न पिता कश्चित्कस्यचिच्चोपपद्यते।
दानमध्ययनं जन्तुः स्वकर्मफलमश्नुते ॥३८॥

कौन किसका प्यारा पुत्र है, कौन किसका जन्मदाता पिता है, कौन मरता है, कौन संताप करता है, और संताप से कौन उपवास करता है। अर्थात् आत्मा में पुत्र-पिता आदि भाव, शोक सन्तापादि सत्य नहीं है, और सबका अत्यन्त प्यारा जन्म-मरणादि रहित आत्मा राम ही है, मन-माया के द्वारा ठगा जाने से अन्य प्यारे आदि भासते हैं, शोक-संतापादि होते हैं, और शोकादि के हेतु पुत्र तन्मरणादि मिथ्या मोहमात्र यमदृष्टि स्वरूप हैं। क्योंकि "ममभार्यास्तिपुत्रश्च विभवो मे पुमांस्तथा। वन्धवः सुहृदश्चैवं वदन्तं बाधते यमः ॥" मेरी स्त्री है, मेरा पुत्र है, विभव पुरुष बन्धु मित्र मेरे हैं। इस प्रकार कहते हुए को यम पीड़ित करता है, इत्यादि इतिहास समुच्चय में कहा गया है।

ठगि ठगि मूल सबन को लीन्हा। राम ठगौरी काहु न चीन्हा।
कहहिं कबिर ठग सो मन माना। गइ ठगौरि जब ठग पहिचाना॥

ते वनीवञ्चयित्वा हि वञ्चकैरखिलाञ्जनान्।
मूलं चापहृतं तेषां तद् विदन्ति न केचन ॥३९॥
अज्ञानाद्वञ्चनायाश्च स्वात्मरामस्य मानवाः।
दधते वञ्चकै र्योगं मनसो नैव साधुभिः ॥४०॥

यदैव वञ्चकत्वं तु वञ्चकानां विबुध्यते।
तदा गच्छति तद्धौर्त्यं सद्गुरुश्चेति भाषते ॥४१॥

प्रीति र्न येषां गुरोः पापपद्मे, मूढे हठाद्ये वसन्तीह लोके।
ते वञ्चितास्ते भ्रमन्त्येव तावज्, ज्ञानेन सम्यग् विमुक्ता भवन्ति ॥४२॥

ज्ञानं गुरूणां वचोभिः सुलभ्यं तस्माद्विहायैव सङ्गं समस्तम्।
प्रीतिः सदा साधुवाक्ये विधेया, सेव्यं सदा पादपद्मं गुरूणाम् ॥४३॥६६॥

इति हनुमत्कृतायां शब्दसुधायां सद्गुरौ विश्वासं विना वञ्चकादौ विश्वासादिवर्णनं नाम पञ्चविंशतितमस्तरङ्ग ॥ २५ ॥

उक्त ठगों ने सबके मूल धनरत्न को ठग ठग कर ले लिया (नष्ट किया, छिपा दिया) और विवेकादि के अभाव से किसी ने रामठगौरी (रामरत्न के ठग) को चीन्हा (पहचाना) नहीं। उल्टा उन ठगों में ही सबका मन माना (प्रसन्न हुआ प्रेम किया) तहाँ श्री कबीर साहब कहते हैं कि जब कोई ठग को पहचाना (ठग समझा) तब उससे ठगौरी (ठगकी ठगरूपता) दूर हो गई, अतः ठग को पहचानना चाहिये। क्योंकि "विज्ञाय सेवितश्चोरो मैत्रीमेति न चोरताम्। पञ्चदशी" समझकर सेवित चोर ठग भी मित्रता करता है, चोरी नहीं करता है ॥६६॥

अथ हरिजन का व्यवहार और आत्मावलम्बन प्र० २६

शब्द ६७

हरि जन हंस दशा लिय डोलै। निर्मल नाम चूनि चुनि बोलै।
मुक्ताहल लिये चोंच लभावै। मौन रहै कि हरि यश गावै॥

हरिभक्ता हि ये तज्ज्ञा धृत्वा हंसदशां हिते।
विचरन्ति च भाषन्ते विविच्य विमलं पदम् ॥ १ ॥
"त्यक्त्वा पुत्रादिकं सर्वं योगमार्गव्यवस्थितः।
इन्द्रियाणि मनश्चैव कर्षन् हंसोऽभिधीयते" ॥ २ ॥
मोक्षाख्यार्थं सुमुक्तार्थं ते मनो दधते सदा।
मौनास्तिष्ठन्ति यद्वा ते गायन्त्येव हरे र्यशः ॥ ३ ॥
तटस्थस्य हरे र्भक्तास्तेऽपि सत्त्वदशायुताः।
विचरन्तीह संसारे रामनामादिकं जपन् ॥ ४ ॥

मुक्त्यै चतुर्विधायैते दधते स्वं मनस्तथा।
मौनास्तिष्ठन्ति यद्वा ते गायन्ति हरिकीर्तिकाम्॥ ५॥

हरिठग से बचे हुए हरि जन (सर्वात्मा हरि के भक्त जन) हंसदशा (विवेकमय शुद्धधारणा) को लिये हुए संसार में परहित के लिये डोलते (विचरते) हैं। और निर्मल हरि के निर्मल नामादि रूप शब्दों को चुनचुन कर बोलते हैं (पवित्रशब्दों का ही उच्चारण करते हैं) और स्वधर्म भक्तिज्ञान मोक्ष रूप मुक्ताहल (मोती मणि) के ही लिये चोंच (मनोवृत्ति) को लभाते हैं (नमाते हैं) जैसे हस मोती के लिये चोंच नमाता है। और समाधि विचारादि अवस्था में मौन रहते हैं या सत्सङ्गादि काल में हरि के यश को ही गाते हैं, अर्थात् "रागाद्यपेतं हृदयं वागदुष्टाऽनृतादिना। हिंसादिरहितं कर्मयत्तदीश्वरपूजनम्॥१॥ नहीदृशं संवननं त्रिषु लोकेषु विद्यते। दया मैत्री च भूतेषु दानं च मधुरा च वाक्॥२॥" रागद्वेषमोह से रहित मन का होना, मिथ्यात्व क्रूरत्व निन्दा आदि दोषों से रहित वाणी का होना, हिंसा चोरी व्यभिचार से रहित दैहिक कर्म का होना, ऐसा जो मन वचन शरीर का कर्म है। सो ईश्वर की पूजा (भक्ति) रूप है॥१॥ सब प्राणी विषयक दया, मित्रभाव, यथा शक्ति दान, और मधुर हित सत्य वचन, ऐसा संवनन (संभजन) तीनों लोक में अन्य नहीं है॥२॥ (शुक्रनीति) अ० १।७१॥

मानसरोवर तट के वासी। रामचरण चित अन्त उदासी॥
कागा कुबुधि निकट नहिं आवै। प्रतिदिन हंसा दर्शन पावै॥
क्षीर नीर का करै निवेरा। कहहिं कबीर सोइ जन मेरा॥६७॥

सत्सङ्गादौ कथायां च पुण्ये मनःसरस्तटे।
विज्ञा वसन्ति रामात्मदैशिकेन्द्रपदे रताः॥ ६॥
रामे यच्चरणं तत्र चित्तमस्य प्रतिष्ठते।
अतः सदैव ते शुद्धाः सद्रामे विचरन्ति हि॥ ७॥
चित्तं स्वं दधते तत्र विरक्ता वीतमत्सराः।
उदासीनाश्च[1] तिष्ठन्ति स्वान्ते विगतकल्मषाः॥ ८॥
मानस्याश्च कथाया वा वसन्ति निकटे जनाः।
रामचन्द्रस्य चरणे चित्तानि दधते सदा॥ ९॥

---

१ निरपेक्षा रागद्वेषरहिताः

स्वास्ते तिष्ठन्त्युदासीना अन्यस्मात्कर्मणस्तथा ।
राजसात्तामसाच्चैव सात्त्विके निरताः सदा ॥१०॥

कुबुद्धिजनकाकाश्च नायान्ति विज्ञसन्निधौ ।
हंसानां दर्शनं नित्यं प्राप्यते तैः स्वभावतः ॥११॥

क्षीरनीरवदात्मादे विवेकं कुरुते हि यः ।
सैव प्रोक्तो जनोऽस्माकमित्येवं भाषते गुरुः ॥१२॥

हंसाश्च दर्शनं नित्यं प्राप्नुवन्ति स्वभावतः ।
स्वात्मनः परदेवस्य कुबुद्धिस्तत्र याति नो ॥१३॥

कुबुद्धयोऽथवा काका राजसास्तामसा नराः ।
अवैष्णवा न यान्त्येते सन्निधौ वैष्णवस्य हि ॥१४॥

वैष्णवाः शुद्धवेषा ये तेषां तु दर्शनं खलु ।
नित्यं कुर्वन्ति ते भक्ता नान्येषामपि सत्कृतिम् ॥१५॥

गुरुभक्ताश्च ये तज्ज्ञास्ते ह्यात्मानात्मनोः सदा ।
विवेकादि प्रकुर्वन्ति कबीरो भाषतेगुरुः ॥१६॥६७॥

वे हरिजन शुद्ध विचार सत्सङ्ग पुण्य कथारूप मानसरोवर के तट के निवासी होते हैं । सतगुरुरूप राम के चरण सेवा में चित्त को रखते हैं । और अन्तःकरण से उदासीन (विरक्त=रागद्वेष रहित) रहते हैं । तथा "पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि । छा. अ. ३।१२।६" इस श्रुति वर्णित त्रिपादामृत के चिन्तन में चित्त को रखते हैं । अतः संसार रूप एक अन्तयुक्त विनश्वर पाद से उदासीन रहते हैं । तथा "तस्योदिति नाम । छा० १।६।७" उस ब्रह्म का उद् नाम है, उस उद्नाम वाले में आसीन (स्थिर=ब्रह्मनिष्ठ) रहते हैं । अतः "ब्रह्मसंस्थोऽअमृतत्वमेति । छा. २।१३।१" ब्रह्मनिष्ठ होने से अमृतत्व (मोक्ष) पाते हैं । कुबुद्धि हिंसकादि काकतुल्य क्रूर मलिन मनुष्यस्वभाव से ही उनके निकट (पास) में नहीं आते हैं । न उनके हृदय में कुबुद्धि उत्पन्न होती है । अतः वे हंसलोग प्रतिदिन सन्त सद्गुरुरूप सगुणहरि का दर्शन पाते हैं । तथा सर्वात्मा निर्गुण हरि का दर्शन पाते हैं । कुसङ्गादि के अभाव से उनके दर्शन में विघ्न नहीं होता है । श्री कबीर साहब कहते हैं कि उक्तरीति से हंसदशा को पाकर क्षीर नीर तुल्य आत्मा-अनात्मा सत्य मिथ्या का जो निवेरा (विवेक विचारादि) करते रहते हैं । विवेक विज्ञान को प्राप्त करके शुद्ध निर्मल ब्रह्मनिष्ठ रहते हैं । सोई मेरा जन हैं, वे परम शान्तिसुख पाते हैं ।

"एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति। तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषाँ सुखँ शाश्वतं नेतरेषाम्॥ १ ॥ नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनामेको बहूनां यो विदधाति कामान्। तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम् ॥ २ ॥ कठोप. अ. २ । ५।१२-१३" एक = सर्वभेदरहित, सबको वश में रखनेवाला स्वतन्त्र, सब प्राणी का अन्तरात्मा, जो अपने एक सत्य स्वरूप को उपाधियों से बहुधा करता है। उसको धीर (विवेकी) आत्मस्थ (बुद्धिस्थ) गुरु उपदेश से समझते हैं उनको ही शाश्वत (नित्य) सुख होता है, अन्य को नहीं ॥१॥ नित्य कालादि का नित्य स्वरूप चेतन बुद्धि आदि का चेतन (प्रकाशक) बहुत प्राणियों का एक काम विधायक जो है, उसको जो धीर आत्मस्थ गुरु उपदेश से समझते हैं, उनको ही नित्यशान्ति रहती है, अन्य को नहीं ॥२॥६७॥

शब्द ६८

आपन आश कीजै बहुतेरा । काहु न मर्म पावल हरि केरा ॥

महाशां पौरुषस्यैव कुर्वतां हृदि सज्जनाः ।
तत्त्वं न विन्दते कोपि हरेः स्वपौरुषं विना ॥ १ ॥
पौरुषाणामभावेन विचारादिशमात्मनाम् ।
न केऽपि वञ्चकास्तत्त्वं हरे विन्दन्ति केवलम् ॥ २ ॥
पौरुषेण विना नैव वेदिष्यन्ति जना हितम् ।
कर्तव्यं पौरुषं तस्मात्सुविचारादिलक्षणम् । ३ ॥
"चिरमाराधितोऽप्येष[१] परम प्रीतिमानपि ।
नाविचारवतो ज्ञानं दातुं शक्नोति माधवः ॥ ४ ॥
मुख्यः पुरुषयत्नोत्थो विचारः स्वात्मशुद्धये ।
गौणो वरादिको हेतु मुख्यहेतुपरो भव ॥ ५ ॥
वरमाप्नोति यो वाऽपि विष्णोरमिततेजसः ।
तेन स्वस्यैव तत्प्राप्तं फलमभ्यासशाखिनः ॥ ६ ॥

जो तौष्टिक लोग हंस दशा गुरु भक्ति आदि के बिना ही किसी देव नाम प्रारब्धादि मात्र से सुख शान्ति मुक्ति समझते और चाहते हैं। उनके प्रति स्वात्मावलम्बन पुरुषार्थ विधान के लिये श्री कबीर साहब कहते हैं कि ईश्वर सद्गुरु आदि की आशा तो स्वाभाविक होती ही है। किन्तु आपन (अपने

---

१ योगवा. ५ ।४३।१०–११–३४ ।

विवेक विचारादि रूप पुरुषार्थ की) सुख शान्ति आदि फल के लिये बहुतेरा (बहुत) भारी=अधिक आशा करो। क्योंकि इस अपने पुरुषार्थ विचारादि के बिना काहु (किसी) ने सर्वात्मा हरि के मर्म (रहस्य) स्वरूप को नहीं पाया (नहीं समझा) न हरि के ज्ञान बिना सुख शान्ति को पाया।

इन्द्रिय कहाँ करै विश्रामा। सो कहँ गै जो कहते रामा॥
सो कहँ गै जो हते सयाना। होय मृतक वहि पदहि समाना॥

पौरुषेण विना केषामिन्द्रियाणि कदा पुनः।
विश्राम्यन्ति कुतः कुत्र तच्च जानीत सज्जनाः॥ ७॥
पौरुषादि विना राम‌नाममात्रपरा नराः।
गताः कुत्र च किं लब्धं तैरित्थं चिन्त्यतां मुहुः॥ ८॥
कुशला योगिनो येऽत्र तेऽपि मृत्वाऽगमन् कुतः।
आत्मज्ञानं विना तज्ज्ञा इत्यपि प्रविचार्यताम्॥ ९॥
सर्वे मृत्वा गताश्चैते स्वेनैव कल्पिते पदे।
परोक्षे नैव चाऽध्यक्षे स्वात्मरूपे परेश्वरे॥१०॥
स्वपौरुषं विना यद्वा लभ्यते न हरिर्हि यः।
तत्रैवेन्द्रियविश्रान्ति र्लभ्यः स रामजापिभिः॥११॥
ज्ञानयोगेन लभ्यः स ततो यान्त्यत्र ते बुधाः।
जीवन्तो वै मृतिं प्राप्य ह्यभिमानविधूननात्॥१२॥

विचार धारणा ध्यानादि रूप पुरुषार्थ के बिना बाहर भीतर के इन्द्रियाँ भी भोगादि से कहाँ विश्राम करती (शान्ति पाती) हैं, कहीं नहीं विश्राम पाती है। और विवेक विचारादिरूप पुरुषार्थ के बिना जो केवल रामादि नाममात्र कहते रहे, सो शान्ति आदि रहित लोग कहाँ गये (किस लोक या मुक्ति को पाये) और जो सयान (चतुर) हते (थे) तर्कादि में कुशल रहे, सो चतुराई से कहाँ गये, इस प्रकार से विचार कर समझो कि ये सब मृतक हो कर (मर कर) वहि=उसी परोक्ष वस्तु कल्पितलोकादि रूप पद में समाये (लीन हुए=गये) जहाँ की जिसकी आशा करते थे। विवेक विचार विज्ञान के बिना इस अपरोक्ष सर्वात्म हरि पद में नाम तर्कादिमात्र से नहीं समा सके। क्योंकि—"नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्ताऽन्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ। कठोप. १।२।७" यह अपरोक्षात्ममति तर्क से प्राप्ति या निषेध के योग्य नहीं है, किन्तु हे प्रियतम (अन्य) सद्‌गुरु से कथित मति ही विवेकादियुक्त अधिकारी से सुज्ञेय है।

रामानन्द राम रस माँते । कहहिं कबिर हम कहि कहि थाके ॥६८॥

तटस्थरामरसिका भवन्ति बहुसज्जनाः ।
प्रमत्तास्तद्रसेनैव भोगकामा भवन्ति हि ॥ १३ ॥
"कामं[1] कामयमानानां यदि कामः प्रसिद्ध्यति ।
ततोऽपि परमं कामं भूयो विन्दन्ति ते पुनः ॥ १४ ॥
कामानभिलषन् मोहान्नश्वरं सुखमेधते ।
श्येनालयतरुच्छायाँ व्रजन्निव कपिञ्जलः" ॥ १५ ॥
लालपित्वा विमोक्षाय सदा सद्गुरुरश्रमत् ।
न श्रृण्वन्ति जना नैव कुर्वते पौरुषं शुभम् ॥ १६ ॥
ब्रह्मानन्दात्मके शुद्धे रामानन्देऽन्यसज्जनाः ।
निमग्ना ज्ञानिनस्तन्न श्रृण्वन्त्यन्येऽविवेकिनः ॥ १७ ॥
पौनःपुन्येन तच्चोक्त्वा सदा सद्गुरुरश्रमत् ।
न मन्यन्ते नरास्तद्धि परंतत्त्वं सुनिश्चितम् ॥ १८ ॥६८॥

यद्यपि तर्कादि से सत्यात्मा अज्ञेय है, तथापि तर्कादि से ज्ञेय तटस्थ राम (ईश्वर देवादि) में आनन्द मानने वाले रामानन्द, तटस्थराम के रस (प्रेम आनन्द) में ही माँते रहते हैं । अतः उसीमें समाना उन्हे उचित है, वे ब्रह्मानन्द में नहीं समा सकते हैं । परन्तु श्रीकबीर साहब कहते हैं कि "करु विचार विकार परिहरु, तरण तारणो सोई । कहहिं कबिर भगवन्त भजु नल, द्वितिया और न कोई" इत्यादि कह-कह कर हम थक गये । परन्तु लोग स्वात्मावलम्बी नहीं होते हैं ॥ ६८ ॥

शब्द ६९

ऐसे हरि से जगत लरतु है । पन्नग कतहुँ गरुड़ धरतु हैं ॥

तटस्थ हरिणा सार्द्धमित्थं संसारिणः सदाः ।
युद्ध्यन्ते हि यथा सर्पो युद्धयेतात्र गरुत्मता ॥१९॥
कृत्वापि बहुयत्नं च नैव तं स्ववशे किल ।
कर्तुं शक्नोति वै मूढो रूढः संसारवर्त्मसु ॥२०॥
विवेकादि विना कोऽत्र धर्तुं शक्नोति माधवम् ।
स्ववशे पन्नगः कुत्र वैनतेयं धरेत् स्वयम् ॥२१॥

---

१ पद्मपु. सृष्टि खं. १६।५७-५८ ।

"विचारोपशमाभ्यां[1] हि न विना साध्यते हरिः।
विचारोपशमाभ्यां च मुक्तस्याऽब्जकरेण किम् ॥२२॥
नचैतदिष्टं[2] देवानां मर्त्यैरुपरिवर्तनम्।
तस्मान्मुमुक्षुर्देवादीन् सम्यगाराध्य यत्नतः ॥२३॥
उन्मुक्तबन्धनस्तैः सन्नापित्सेज्ज्ञानमात्मनः"।
विवेकबलयुक्तस्य त्वकामस्य मनस्विनः।
हरिः स्वयं वशे भूत्वा वर्तते भूतभावनः ॥२४॥

विवेकादि के बिना जो जगत (संसारी) तटस्थ हरि (सूर्य विष्णु आदि देव) को मन्त्रादि द्वारा लड़कर वश करना चाहते हैं। सो जगत के प्राणी इस प्रकार से लड़ते हैं कि जैसे पन्नग (भूमि में पड़कर चलने वाला सर्प) आकाश में उड़नेवाले सर्पों के भक्षक गरुड़ को कहीं धरता हो (धरने के लिये ये उद्यम करता हो) अर्थात् आत्मज्ञान तथा देव गुरु ईश्वर की निष्काम भक्ति विरागादि के बिना देव वशीकरणादि से सुख सम्पत्ति मुक्ति आदि के लिये यत्न इच्छा करना सर्वथा विपरीत व्यवहार मूढता स्वरूप है। और अन्त में दुःख प्रद, तथा असाध्य है।

मूस बिलाई कैसन हेतू। जम्बुक करै केहरि सो खेतू॥
अचरज एक देखल संसारा। श्वनहा खेदु कुञ्जर असवारा॥
कहहिं कबिर सुनु सन्तो भाई। इहे सन्धि काहु बिरले पाई॥६६॥

मूषिकस्य विडालेन कीदृशी प्रियता तथा।
जम्बुको वा कथं सिंहैः सह युद्धं करिष्यति ॥२५॥
हवि[3] र्भुजां हि देवानामप्रियं मर्त्यवेदनम्।
"मर्त्यास्तत्त्वं न जानन्ति विघ्नै र्देवकृतै र्हताः' ॥२६॥
देवाद्यैः प्रियतां सर्वे वाञ्छन्ति मूढमानसाः।
कालादीनपि जेतुं च विवेकादि विनैव हि ॥२७॥
अत्र चैतन्महाश्चर्यं स्वर्गपृष्ठे स्थितं हरिम्।
मनुष्याः स्ववशे कर्तुं चेष्टन्ते बहुधा तथा॥

---

१ योगवासिष्ठ० प्र० ५।४३। २३। २ बृ० वार्तिकम्। १। ४। १५८१। ३ अनुभूति प्रकाशः। प्र० ११। १३। तस्मादेषां तन्न प्रियं यदेतन्मनुष्या विदुः। इस श्रुति का व्याख्यानरूप यह श्लोक है। देवकृत विघ्न भी कर्मानुसार होता है, अतः देव दोष के भागी नहीं होते हैं। सो वार्तिक में स्पष्टवर्णित है।

यथा श्वा कुञ्जरस्थं वै विद्रावयितुमीहते ॥२८॥
सद्गुरुश्चाह शृण्वन्तु सर्वे ये सज्जना हितम्।
इदं केऽपि रहस्यं वै विन्दन्ते पुरुषोत्तमाः ॥२९॥
सर्वे देवा वशे तस्य यस्य कामो न विद्यते।
काम एव यतः सर्वान् कुरुतेऽवशगान् सदा ॥३०॥६९॥

इति हनुमत्कृतायां शब्द सुधायां हरिजनव्यवहारात्मावलम्बन-
वर्णनं नामषड्विंशतितमस्तरङ्गः ॥२६॥

देव भी अनेक प्रकार के होते हैं, तहाँ मनुष्य यह नहीं समझता हैं कि सर्प गरुड़ के समान ही भक्ष्य भक्षक स्वरूपमूस और बिलाई तुल्य अज्ञ मनुष्य और स्वार्थी अपवित्र देव का हेत (प्रेम) कैसे निबह सकता हैं। तो भी जैसे जम्बुक सिंह से खेत (युद्ध) करता हो, तैसे मनुष्य देव विशेष से युद्ध करते हैं (मन्त्रादि से वश करना चाहते हैं) भाव है कि "तस्मादेषां तन्न प्रियं य देतन्मनुष्या विद्युः। बृ. १।४।१०" अज्ञ मनुष्य बहुत पशुतुल्य देव का उपकारक होता है। अतः उन देवों को यह प्रिय नहीं है, कि उनसे प्रेमादि नहीं रखकर मनुष्य ज्ञानी स्वतन्त्र हो जायँ। अतः प्रेम भक्तिपूर्वक ज्ञान को प्राप्त करना चाहिये, हठ से देव वशीकरणादि अनर्थ का हेतु है। क्योंकि इस प्रकार से सर्प, चूहा, जम्बुक तुल्य मनुष्य, गरुड़, विल्ली, सिंहतुल्य देव से मानो युद्ध और प्रेम दोनों अवस्था में नष्ट होते हैं। और सर्वात्मा हरि भी "नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः। मुण्डक० ३।२।४" विवेक विरागादिरूप बल-हीन (रहित) से आत्मा प्राप्त नहीं किया जा सकता है। अतः पुरुषार्थ अवश्य कर्तव्य है। और विवेक विचारादिरूप पुरुषार्थ के विना यह भी एक आश्चर्य संसार में देखा जाता है कि श्वानतुल्य (अर्थादि के ज्ञान से रहित मन्त्रमय केवल शब्दभाषी) मनुष्य, कुञ्जरस्थ तुल्य स्वर्गादिस्थ देवादि कालादि को मन्त्रादि के जपादि से मानो खेदु (खदेड़ता = भगाता) है, खदेड़ना भगाना चाहता है। श्रीकबीर साहब कहते हैं कि हे सन्तो भाई! तुम आत्म-श्रवणादि रूप पुरुषार्थ करो, श्रवण-मननादि से ही, इहे सन्धि (इस भेद = मर्म) को कोई बिरले समझ पाता है। अतः "श्रद्धाविनयसंयुक्तः शान्ति दान्त्यादिसंयुतः। यावज्ज्ञानोदयं तावद् वेदान्तार्थं निरूपयेत् ॥१॥ यः श्रद्धया युतो नित्यं वेदान्त-ज्ञानमभ्यसेत्। तस्य संसारविच्छित्तिः श्रवणादिति हि श्रुतिः ॥२॥ सूतसंहिता० ज्ञानयोगखं० अ० ७" श्रद्धा विनय से तथा शम-दमादि से युक्त होकर, ज्ञान के उदय पर्यन्त वेदान्त के अर्थ का निरूपण = अभ्यास विचार कर्तव्य है ॥१॥

श्रद्धायुक्त होकर जो सदा वेदान्त ज्ञान का अभ्यास करता है, उसको श्रवण से जन्मादि संसार का विच्छेद होता है, यह श्रुति कहती है ॥६६॥

अथ वर्तमानसंसार की दशा प्रकरण २७

शब्द ७०

को अस करै नगर कोतवलिया। मांस फैलाय गीध रखवरिया ॥
मुस भौ नाव मञ्जार कनहरिया। सोवै दादुर सर्प पहरुआ ॥

ईदृशे नगरे कोऽत्र यामिकत्वं करोतु वै।
यत्र मांसं सुविस्तीर्णं गृध्रोऽस्ति रक्षकः कृतः ॥ १ ॥
मांसानि विषया एव गृध्रास्तद्भोगलोलुपाः।
रक्षकत्वेन सर्वैं हिं सम्मता विषयात्मकाः ॥ २ ॥
मूषको यत्र नाव्योऽस्ति मार्जारो यत्र नाविकः।
तत्रापि यामिकत्वं हि विद्यते चातिदुर्लभम् ॥ ३ ॥
आखु र्ज्ञेयः स शिष्यो यो निरर्थव्यवहारवान्।
गृहासक्तोऽपि संसारसिन्धुं तरितुमिच्छति ॥ ४ ॥
स्वार्थसाधनको यश्च मांसाशी लुब्धकस्तथा।
बैडालव्रतिकः कामी त्वाखुभुक् स गुरुः स्मृतः ॥ ५ ॥
अहो शेते च मण्डूकः सर्पस्तद्रक्षको मतः।
तत्रत्य यामिकत्वं च वर्तते बहुदुष्करम् ॥ ६ ॥
सवासनोऽल्पशक्तिश्च मण्डूक इह कथ्यते।
प्रेताद्याः सन्ति सर्पाश्च रक्षकत्वेन सम्मताः ॥ ७ ॥

विवेकादि रहित अस (ऐसे) नगर (संसार) में कोतवाली (मोह-निवारण द्वारा रक्षा) कौन करे कि जहाँ निषिद्ध विषयरूप मांस फैलाय (पसार) कर उसके लोलुप गीध (मन कुदेवादि) रक्षक कोतवाल किये गये हैं। और मूस (चूहातुल्य विषयासक्त निरर्थक व्यवहारी) जहाँ नाव (नाव्य) नौका से तरने योग्य नदी तुल्य) संसारात्मक उपरति रहित शिष्य बना है। (गृह संसारासक्त रहते भी मोक्षेच्छुक है) और मञ्जारतुल्य स्वार्थी मांसाहारी जहाँ कनहार = उपदेशरूप नौका से पारकरनेवाला गुरु बना है। दादुरतुल्य अनन्त वासनायुक्त अल्पशक्तिवाले जहाँ उक्त गुरु-देवादि के भरोसे मोह-नींद से सोते हैं, सर्पतुल्य कुदेव भूत-प्रेतादि पहरेदार (रक्षक) बने हैं।

तथा अपने नाश के हेतु पाप-कुसङ्गादिक ही जहाँ रक्षक माने गये हैं, तहाँ कौन कोतवाली करे।

बैल वियाय गाय भौ बाझा। बछवहि दूहै तिन तिन साँझा॥
निति उठि सिंह सियार से जूझै। कबिरक पद जन बिरला बूझै॥७०॥

सूते वै वृषभो वत्सं वन्ध्या गावोऽभवँस्तथा।
वत्सास्तिसृषु दुह्यन्ते सन्ध्यासु मानवैः सदा॥ ८॥
अज्ञो वै वृषभो ज्ञेयो वर्द्धते स निरन्तरम्।
सत्यो वाण्यश्च या गावो याश्च विद्यात्मिकास्तथा॥
ताः वा वन्ध्यतां याताः सत्यं न सुवते फलम्॥ ९॥
अतः सर्वे विदन्त्येते माया कार्यानृतं नराः।
फलं तस्माच्च वाञ्छन्ति ते सदैवामृतात्मकम्॥१०॥
अहो सिंहसमोऽप्येष मानवो मोहसङ्कुलः।
जम्बुकै युध्यते सार्द्धं प्रेताद्यै र्विजिगीषया॥११॥
विवेकादिं विना नैव सद्गुरोरुपदेशनम्।
केऽपि जानन्ति तज्ज्ञास्तु जानन्ति ह्यनपायिनम्॥१२॥७-५॥

कुसङ्गादि से बैल तुल्य मनुष्य=विवेक रहित मन, विआता (बढ़ता) है। जड़ मनुष्य राग द्वेषादि द्वन्द्व रूप पुत्र पुत्री को पैदा करता है और ज्ञान विरागादि के हेतु गौ रूप श्रुति स्मृति सत्य वाणी भक्ति विद्या मानो वन्ध्या हो गई है। ऐसी भक्ति की जाति है कि जिससे ज्ञान विरागादि नहीं होते हैं। अतः बछवा (मायिक मानस कल्पित वस्तु) को लोग तीन तीन समय दूहते हैं। अर्थात् सत्यानन्द रहित में आनन्द मानकर त्रिकाल सन्ध्या के समय उसीके ध्यानादि करते हैं। सत्यानन्द स्वरूप को सद्गुरु आदि के बिना नहीं जानते हैं कि जिससे सत्यात्मा के ध्यानादि करें। अतः सिंह तुल्य, माया मोह को नष्ट करने की योग्यता युक्त, विवेकादि युक्त अधिकारी मनुष्य, प्रतिदिन उठकर सियार तुल्य कुदेव कुकामादि से युद्ध करते हैं (इनको वश करना चाहते हैं) आत्मश्रवणादि गुरु ईश्वर भक्ति नहीं करते हैं। अतः इस नगर में इन सबसे भिन्न कोई बिरल विवेकीजन ही श्री कबीर साहब के पद (उपदेश स्वरूप और स्थान) को समझते हैं। तथा उनके उपदेश से अपरोक्ष निज पद अपरोक्ष चित्स्वरूप को समझते हैं॥ ७०॥

शब्द ७१

हंसा संशय छूरी कुहिया । गैया पिवै बछरुअहिं दुहिया ॥
घर घर सावज करै अहेरा, पारथ ओटा लेई ।
पानी माँह तलफ गौ भूभुरि, धूरि हिलोरा देई ॥

भो हंसाः ! संशयोऽज्ञानं कर्तरी घातुका मता ।
विद्यागावं पिवत्येप वत्सं दोग्धि सुखं हितम् ॥१३॥
संशयाक्रान्त बुद्धि र्वा स्वानन्दक्षीरसंयुतः ।
जीवो गौ र्मोहतः कार्ये सुखं मत्वा हि दोग्धि तत् ॥१४॥
दुग्धं पिबति तस्यैव विषयानन्दलक्षणम् ।
आत्मानन्दं न वेत्त्येष संशयेन पराजितः ॥१५॥
इन्द्रियाद्याः शरव्या ये बाधनार्हाः सदैव हि ।
आखेडं कुर्वते शश्वज्जीवानां संशयात्तु ते ॥१६॥
भीतश्च प्राणिनः सर्वे स्वेन्द्रियादेः सुरक्षकाः ।
स्वात्मत्राणस्य सिद्धयर्थं देवादीनाश्रयन्ति हि ॥१७॥
नित्यानन्दजले तीव्रतापपापादि भासते ।
विरसो विषयो दत्ते स्वानन्दस्य परम्पराम् ॥१८॥

हे हंसा ! (विवेकी मनुष्य !) संशय (प्रमाण प्रमेय का सन्देह) भ्रम अज्ञान सहित, कुहिया (घातक) छूरी है । क्योंकि "सशयात्मा विनश्यति" संशय युक्त मनवाला नष्ट होता है और वह संशय ही सद्विद्या वाणीरूप गाय को जल तुल्य पीकर पचा देता है । तथा विद्या जन्य हित सुख रूप बछरू को दूहता है । उसके सारस्वरूप को नष्ट करता है । तथा स्वयं स्वरूपानन्द दूध युक्त जीवात्मा रूप गाय संशय से मायिक वस्तु रूप बछवा को दूहता है (भोगता है) और विषयानन्द दूध को पीता है । निजानन्द को नहीं जानता है । अतः घर घर (घट घट) में इन्द्रिय संशय, कामादि रूप सावज (मृग) अहेर करते (खेलते) हैं । जीवों को पीड़ित करते हैं और पारथ (पारधि उनका रक्षक जीव) देवादि की ओट (शरण) अपनी रक्षा के लिये लेते हैं । इस संशयालु कामी जीव के लिये आनन्द स्वरूप पानी (निजात्मा) में भूभुर (राख में छिपी हुई अग्नि) तुल्य त्रिताप पापादि तलफ गये हैं (प्रतीत होने लगे हैं) और धूल तुल्य विषय आनन्द के हिलोरा (तरङ्ग) देने वाले हुए हैं । विषयों में आनन्द भासने लगे हैं ।

धरती बरषै बादल भींजे, भीठ भया पौंराऊ।
हंस उड़ाने ताल सुखाने, चहले बेधा पाऊँ॥

अहो भूमिष्ठकर्माद्यैस्तृप्यन्ति देवतागणाः।
स्वर्गादौ तत्र मर्त्यानामानन्दो भासतेऽधिकः॥१९॥
वर्षत्येषा ततो भूः स मेघः क्लिद्यति तेन तु।
महोन्नतप्रदेशोऽपि नावा तार्योऽभवत्तथा॥२०॥
संशयस्य विकाशोऽयं बोधानां यो विपर्ययः।
तेन हंसे समुत्क्रान्ते शुष्के देहसरोवरे॥२१॥
गर्भनारक जम्बाले पादोऽस्य सज्जते मनः।
पुनः पुन र्न यावत्स स्वात्मानं लभते ध्रुवम्॥२२॥
"योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः।
स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथा कर्म यथाश्रुतम्"॥२३॥
आशापाशनिबद्धश्च कर्मलोभादि यन्त्रितः।
धूर्ताद्यै र्मोहितश्चैव सज्जते कर्मकर्दमे॥२४॥

धरती (पृथ्वी) बरषती है (पृथ्वी पर मनुष्य कर्मोपासना करते हैं) उससे बादल भींजता है (स्वर्गवासी तृप्त होते हैं)। अतः स्वर्गादि सुख के साधन मनुष्यलोक में होते हैं, तो भी अज्ञान संशयादि से भीठ (उन्नत शुष्क भूमि तुल्य स्वर्गादि) मनुष्यों की दृष्टि में पौंराऊ (अगाध आनन्द जलयुक्त) हो गये हैं (कर्मठ अज्ञ मनुष्यों को स्वर्गादि में बहुत आनन्द का विश्वास है)। अतः स्वर्गसुखादि की कामना, वासना, आशा सहित उक्त जीवरूप हंस प्रारब्ध के अन्त में जब इस मानव तनुरूप सर से उड़ाने (उड़कर चले) तब ताल (सर) सुख गया। परन्तु विवेक, विराग, ज्ञान के बिना, आशा, वासना की वर्तमानता के कारण गर्भ नरकादिरूप चहले (कीचड़ = कर्दम) में पाँव (मन) वेध (फँस) गया, (मन में जन्मादि संसार दुःख के हेतु काम-वासनादि वर्तमान रह गये)।

जब लगि कर डोलै पगु चलये, तब लगि आश न कीजै।
कहहिं कबिर जो चलत नदी से, तासु वचन का लीजै॥७१॥

भो हंस! तव हस्तौ च पादौ यावत् क्रियाक्षमौ।
शरीरे स्वस्थतायाश्च तावदाशां जहीहि वै॥२५॥

आशां त्यक्त्वा विचारादि पौरुषेण च संशयान्।
उन्मूल्यैव समूलं त्वमात्मकामः सुखी भव ॥२६॥
नदीवत्स्यन्दमानस्य चलस्य परिणामिनः।
देवादेर्विश्ववर्गस्य बोधकं वचनं च यत् ॥२७॥
तन्नैव गृह्यतां हंस ! किं तेन स्यात् प्रयोजनम्।
चलचित्तस्य पुंसोपि वचनं नैवगृह्यताम् ॥२८॥
श्रोतव्यं हि सतां वाक्यं येन बोधो भवेद् ध्रुवम्।
अचलस्यात्मनः स्वस्य यस्मान्न भवसंक्रमः ॥२६॥
"यस्यैव खलु सम्पर्कात्प्रबोधानन्दसम्भवः।
गुरुं तमेव वृणुयान्नापरं मतिमान्नरः ॥३०॥
असंशयवतां मुक्ति र्न संशयवतां क्वचित्।
तस्मात्संशयभेत्तारं गुरुं सम्यक् श्रयेन्नरः' ॥३१॥

विपर्ययज्ञानकुसंशयै र्जना विभिन्नचित्ता नहि जातु सत्पदम्।
सुखं च विन्दन्तिपरत्र वा क्वचिन्मुधैव धावन्ति तु सर्वतः सदा ॥३२॥
गुरुन् समाश्रित्य तु ये बुधाः स्वयं विवेकतो हंसदशामुपेत्य च।
समूलमाच्छिद्य हि संशयादिकं तिष्ठन्ति तेऽनन्तसुखस्य भागिनः ॥३३॥७१

इति हनुमत्कृतायां शब्दसुधायां वर्तमानसंसारदशाहंससम्बोधनं नाम सप्तविंशतितमस्तरङ्गः ॥ २७ ॥

उक्त वासना आशा आदि के त्याग के लिये उपदेश है कि जबतक कर डोलता है (हाथ कर्मशक्तियुक्त है) और पगु (पैर) भी चलता है (चलने की शक्तियुक्त है) इसी प्रकार अन्य इन्द्रिय मन शरीर सव शक्तियुक्त स्वस्थ हैं। तब तक किसी की आशा नहीं करो। निष्काम होकर स्वधर्म कर्म विचार आदिरूप पुरुषार्थ करो। क्योंकि परमात्मा ने पुरुषार्थ के लिये कर चरणादि साधन मनुष्य को दिया है। श्रीकबीर साहब कहते हैं, कि जो स्वर्गादि स्त्री-पुत्रादि नदी से (नदी के समान) चलत (चलायमान) चञ्चल हैं, प्रवाह-रूप से बह रहे हैं। तासु (उनके बोधक या उनसे कथित) बचनों को का लीजै (क्या लिया जाय) क्या धारण करते हो। उन वचनों का धारण नहीं करो। अचल वस्तु के बोधक किसी अचल ज्ञानी के वचनों को सुनो। आश न, का, आसन, नदी से का, न दीसै। पाठ भेद है। अर्थ है कि चलते-फिरते के समय = जीवनकाल में ही, आसन (आत्मस्थिति) कर लो। और जिसको चलते-फिरते में कुछ सत्य वस्तु नहीं दिखती हो, मरने पर मोक्ष

मानता हो, और कहता हो, उसके वचन को क्यों लेना है, उसके वचन को नहीं सुनो या जो वस्तु चलते (जीवन) काल में नहीं दीखती (समझ पड़ती= अपरोक्ष होती) हो, उस परोक्ष का उपदेश क्या लेना है, सर्वसाक्षी प्रत्यक्षात्मा का उपदेश लो ॥ ७१ ॥

अथ निराकारके ज्ञानबिना साकारसंसारासक्ति प्र० २८

शब्द ७२

सावज न होय भाई सावज न होई, वाके मांसु भखै सब कोई ॥
सावज एक सकल संसारा, अविगति वाकी बाता ।
पेट फारि जो देखिय भाई, नाहिं कलेज न आँता ॥

युक्तः प्रियशिरस्त्वाद्यैः श्रृङ्गाद्यैः संयुतस्तथा ।
लक्ष्यो न वर्तते भ्रात यद्बोधान्मुक्तिरीप्सिता ॥ १ ॥
कल्पितोऽसावुपायात्मा ह्युपेयो निर्गुणः परः ।
अखण्डो नित्यबोधश्च शुद्धः सत्यः सदाऽव्ययः ॥ २ ॥
अहो तथाप्यबोधेन सर्वे सांशस्य वस्तुनः ।
मांसं विषयजं सौख्यं भुञ्जते न निजात्मनः ॥ ३ ॥
लब्धव्यो लक्ष्य एको यो ह्यखण्डो वर्तते सदा ।
संसारे निखिलेऽप्यत्र तस्य वार्तापि दुर्गमा ॥ ४ ॥
विवेकेन यदि त्वत्र दृश्यते धीमता यदा ।
तदा यकृन्न वाऽन्त्राणिदृश्यन्तेऽत्र कदाचन ॥ ५ ॥
शरीरस्यैव ते भागा आत्मनो नैव केचन ।
निरंशो निर्गुणश्चातः स्वात्मा चैतन्य विग्रहः ॥ ६ ॥

आशा वासनादि की निवृत्ति के लिये ज्ञानाधिकारी के प्रति उपदेश है कि हे भाई ! यद्यपि वेद उपनिषद्में ब्रह्म आत्मा को सावजतुल्य लक्ष्य पक्षी=(सुपर्ण= वृषभ) आदि शब्दों से कहा गया है, तथापि वह अचल अखण्ड ब्रह्मात्मा कभी सावज तुल्य साकार नहीं होता है। क्योंकि साकार होगा तो कहीं एक देश में रहेगा और उस ब्रह्मात्मा के मांसु (सुन्दर ममता का विषय आनन्द) को सब प्राणी सुषुप्ति आदि काल में भखते भोगते हैं अतः वह एक (निरवयव अद्वैत) सावज (लक्ष्य ज्ञेय ब्रह्मात्मा) सकल संसार में व्यापक है। उसकी बात भी अविगति (विशेष रूप से अगम्य अथाह) है। सब के समझने योग्य

नहीं है। यदि पेट फाड़कर देखा जाय (हृदय में विवेक करके समझा जाय) तो उसमें कलेज आँतादि कुछ नहीं प्रतीत होते हैं। क्योंकि ये सब शरीर के अवयव हैं, आत्मा के नहीं, इन में रहते भी आत्मा इन से रहित असङ्ग है। "अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम्। महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति। कठ. अ. १।२।२१"

ऐसी वाकी मांसु रे भाई, पल पल मांसु बिकाई।
हाड़ गोड़ नहिं घूर पवारे, आगि धुआँ नहिं खाई॥
शीर शींग कछुवो नहिं वाको, पूँछ कहाँ वह पावै।
सब पण्डित मिलि धन्धे परिया, कबिर बनौरी गावै॥७२॥

आनन्दात्माऽस्य यन्मांसं तच्च प्रतिपलं मुहुः।
कर्मभिर्गृह्यते जीवैरद्भुतं तद्विभाति च॥ ७॥
निरंशत्वान्न तस्यास्थि पादो वा विद्यते पृथक्।
प्रक्षेपोऽवकरे नातो विद्यते विषये स्वयम्॥ ८॥
असङ्गत्वान्न तद्दाहो वह्निना न च धूमकैः।
सङ्गोपि विद्यते क्वापि निर्विशेषः स विद्यते॥ ९॥
शिरः शृङ्गं न यस्यास्ति नान्यदङ्गं च किञ्चन।
स लभेत कुतः पुच्छमिति वेदविदां मतम्॥१०॥
ये तु वेदानभिज्ञास्ते यद्यपि प्राज्ञमानिनः।
मिलित्वा मोहतः सर्वे व्यवहारपरायणाः॥११॥
कवयोपि त्वतत्त्वज्ञा गायन्ति कल्पितं सदा।
सनातनं न तं देवं महाश्चर्यमिदं खलु॥१२॥७२॥

उस का ऐसा मांसु (सब की ममता का विषय आनन्द) है, कि पलपल में वह बिकता है (सबसे सदा ग्राह्य होता है) कर्म भोगादि द्वारा सदा सब प्राणी उसी आनन्द के अंश को प्राप्त करते हैं। तो भी वह अक्षय एक रस रहता है। अर्थात् सब आनन्द के प्रतिबिम्ब को प्राप्त करते हैं और उस सावज के हाड़ गोड़, घूर (कूड़ा खाने) में पवारे (डाले बीगे) नहीं जाते हैं। अर्थात् उस में हाड़ादि या हाड़ादि तुल्य निरस अग्राह्य कुछ भी है नहीं। अक्षय असङ्ग होने से उस को अग्नि और धूम भी नहीं खा सकते हैं। न अग्नि जला सकती है, न धूम मलिन कर सकता है। न वह अग्नि धूम को खाता है (अग्नि धूम को स्वसम्बन्धी नहीं करता है) अतः सर्वथा असङ्ग

निर्विकार है। यद्यपि श्रुति में आधारता दृष्टि से आनन्दमय कोश रूप पक्षी का पुच्छ रूप ब्रह्म को कहा गया है। ऋग्वेद में महान् देव के चार शृङ्गादि कहे गये हैं। तहाँ "आनन्दमयोऽभ्यासात्" इत्यादि सूत्र महाभाष्यादि के अनुसार, ब्रह्मात्मा या शब्द ब्रह्म को विद्वान् भी शिर शृङ्गवाला तथा ब्रह्मपुच्छ-वाला समझते हैं, तथापि सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्मात्मा सब कोश तथा शब्द ब्रह्म से भिन्न है, इत्यादि आशय से श्रीकबीर साहब कहते हैं कि शीर-शींगादि कुछ भी ध्रुव प्रधान अवयव उस ब्रह्मात्मा के नहीं हैं, तो वह पूँछ कहाँ कैसे पासकता है। इस सत्यात्मा को जाने विना पुस्तक पाठी पण्डित सब भी शीर शृङ्गादि वाले को पुच्छयुक्त कोश को सत्य ब्रह्म मान कर, उसकी भक्ति उपा-नादि रूप धन्धों में पड़े (लगे) रहते हैं। कविलोग भी उसी बनौरी (बनावटी कल्पित) बात को गाते हैं, तथा श्रीकबीर साहब उसको कल्पित कहते हैं। ज्ञेय ध्येय मुख्य रूप से नहीं कहते हैं। "तस्य प्रियमेव शिरः। मोदो दक्षिणः पक्षः। प्रमोद उत्तरः पक्षः। आनन्द आत्मा। ब्रह्म पूच्छं प्रतिष्ठा। तैत्तिरी-योप. २।५।" विषय के दर्शन, प्राप्ति और भोग जन्य आनन्द को क्रम से प्रिय, मोद और प्रमोद शब्द से कहा जाता है। तहाँ उस आनन्दमय कोश रूप पक्षी का प्रिय ही शिर है, मोद दक्षिण पाँख, प्रमोद उत्तर पाँख, आनन्द आत्मा ब्रह्म पुच्छ तुल्य प्रतिष्ठा आश्रय है, 'आनन्द मयोऽभ्यासात्' इस सूत्र में आनन्दमय शब्द लक्षणा द्वारा आनन्द का बोधक है। अतः आनन्द के अभ्यास से आनन्दमय का आत्मा आनन्द ब्रह्म है, यह सूत्र का अर्थ है। परन्तु पण्डित अन्य अर्थ कहते हैं। "चत्वारि शृङ्गा त्रयो-अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य। त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो-देवो मर्त्यानाविवेश। ऋग. अ. ८ वर्ग १. मं. ४ अ. ५।२५" शब्दब्रह्म और यज्ञपुरुष का वर्णन इस मन्त्र द्वारा महाभाष्य, वेदभाष्य में माना गया है। नाम, उपसर्ग, आख्यात, निपात, रूप, वा वेद रूप चार शृङ्ग हैं। तीन काल या तीन सवन तीन पाद हैं। नित्यानित्य शब्द, या ब्रह्मौदन प्रवर्ग दो शिर हैं। विभक्तियाँ वा छन्द सात हाथ हैं। हृदय कण्ठ शिर में बद्ध महान् देव शब्द करता है। मर्त्यों में प्रविष्ट है ॥७२॥

शब्द ७३

देखहु लोगा हरि कि सगाई। माय धार पूत धिया सङ्गजाई ॥१॥
सासु ननद मिली अचल चलाई। मदरिया के घर बिटिया जाई॥२॥

मैं बहनोइ राम मोर सारा । हमहिं बाप हरि पुत्र हमारा ॥

भो लोकाः श्रीहरेः सङ्गो दृश्यतामद्भुतो महान् ।
जगतो जननीं मायां धृत्वा स धावते धिया ॥१३॥
स्वयं पूतोऽपि मायाया धारणात् पुत्रतां व्रजन् ।
असङ्गोपि ससङ्गः सन् बुद्ध्या गच्छति सर्वदा ॥१४॥
सच्छिक्षया समृद्ध्या च चिदानन्देन संगतः ।
मायिनोऽपि गृहे शुद्धे बुद्ध्या विशति निर्भयम् ॥१५॥
असच्छिक्षादिभिः सैव कूटस्थेपि क्रियां मुधा ।
कल्पयित्वा धिया याति देवादीनां गृहे भवे ॥१६॥
अहं स्यन्दन शीलोऽत्र रामः स्वसृपतिः प्रियः ।
बुद्धे जीवात्मना चैवमृष्यश्रृङ्गात्मना तथा ॥१७॥
श्यालो मे रामनामा स सारः संसारतारणः ।
तस्य चाहं पिता जीवः पुत्रो मे जायते हरिः ॥१८॥
एवं बहुविधान् कल्पान् कल्पयन् मायया हरिः ।
भ्रमत्यत्रैव संसारे जीवभूतः सनातनः ॥१९॥

हे लोगों (जिज्ञासुओं) सर्वात्मा अन्तर्यामी हरि के साथ अपने सत्य सगाई (अभेद सम्बन्ध) को देखो। तथा सत्यात्मा में अभेद के ज्ञान के बिना हरिस्वरूप जीवात्मा के कल्पित सगाई (सम्बन्ध) को देखो, कि यह माया रूप जगन्माता (अविद्या) को उपाधि आदि रूप से धारण करके अज्ञ पुत्र होता है। यद्यपि इस का मन माया का पुत्र है, तथापि अविद्या से जीवात्मा को कूटस्थ में पुत्रता प्रतीत होती है। और इसका मन रूप पुत्र ही माय (माया) मायिक वस्तु को ममता से धरता है (आसक्त होता है) तो जीव आसक्त कहा जाता है। और बुद्धि रूप माया की धिया (पुत्री) के सङ्ग होकर मन कहीं जाता है (जन्मता है क्रिया करता है) और मिथ्या पति की जननी माया रूप सासु और अविद्या कामना आशा आदि रूप ननद से मिल कर, यह बुद्धिरूप बिटिया (लड़की) अचल आत्मा को भी चला कर (स्व-स्थित चिदाभास की क्रिया को शुद्धात्मा में मानकर) और आत्मा में जन्म मरणादि की कल्पना करके मदारी (मायावी) देवादि के घर (संसार) में जातो है। फिर दुर्बुद्धिता से जीव समझता है कि मैं (ऋष्य श्रृङ्ग रूप जीव) बहनोई होता हूँ। और राम मोर (जीव का) शाला होते हैं। और दशरथ वसुदेवादि रूप हम (जीव) ही पिता होते हैं। और राम कृष्णादि रूप हरि हमारे (जीव के) पुत्र होते हैं, इत्यादि।

कहहिं कबीर ई हरि के बूता । राम रमैते कुकुरिक पूता ॥ ७३ ॥

कबीरः सद्गुरुः प्राह हरेः शक्तिरियं खलु ।
मायाख्या देहरूपा या जाता चास्ति जनिष्यति ॥२०॥
विश्वं वै तन्तुसङ्घोऽयं तस्य मूलं निरञ्जनः ।
रममाणस्तदात्मैव तत्रास्ते बुद्धिसंयुतः ॥२१॥
शुद्धे रामे तु यो धीमान् रमते सद्विवेकतः ।
स पूतो जगतां मूलब्रह्मभूतो न संशयः ॥२२॥
माया ह्येषा मया सृष्टा यन्मां पश्यसि नारद ! ।
इत्यादि भगवद् वाक्यं विद्यते भारते स्फुटम् ॥२३॥
मायया[1] मोहितो देवः सर्वकृच्चेति संश्रुतः ।
तस्मात्सर्वं विचित्रं तज्जातं विश्वं सुनिश्चितम् ॥२४॥
परमात्मा[2]ऽद्वयानन्दपूर्णः पूर्वं स्वमायया ।
स्वयमेव जगद्भूत्वा प्राविशज्जीवरूपतः ॥२५॥
अनेक जन्म भजनात्स्वविचारं चिकीर्षति ।
विचारेण विनष्टायां मायायां शिष्यते स्वयम् ॥२६॥७३॥

श्रीकबीर साहब कहते हैं कि जिस को तुम जीव के सार पुत्रादि समझते हो, सो श्रीविष्णु देव के अवतार (व्यक्त शरीर) सब तो विष्णु देव रूप हरि के बूत (मायात्मक शक्ति वा स्वाँग) मात्र होते हैं । यह अर्थ "दश अवतार ईश्वरी माया" इत्यादि बचनों से प्रथम भी कहा जा चुका है और वस्तुतः सर्वात्मा राम स्वरूप हरि के "न तस्य कार्यं करणं च विद्यते । श्वेता. ६।८" इत्यादि शास्त्रके अनुसार कार्य (शरीर) करण (इन्द्रिय) नहीं हैं, न उसके तुल्य वा अधिक कोई है, किन्तु उसमें स्वाभाविक सर्वज्ञत्वादि रूप ज्ञानक्रिया है । और सर्वाधारत्व रूप बलक्रिया है, ऐसा समझ कर जो विवेकी सर्वात्मा राम में रमते हैं, विभु सच्चिदानन्द ब्रह्मके चिन्तन ध्यानादि करते हैं, शरीरादि को मिथ्या माया मात्र समझते हैं । सो संसार स्वरूप कुकुरी (तन्तु समूह रूप पूली) कार्यों का पूत (पुत्ति) तुल्य पवित्र सर्वाधार राम स्वरूप हो जाते हैं ।।७३॥

शब्द ७४

हरि मोरपिउ मैं रामकि बहुरिया । राम बड़ा मैं तनकी लहुरिया ॥

---

१ स एष मायापरिमोहितात्मा शरीरमास्थाय करोति सर्वम् । कैवल्योपनिषद् । २ पञ्चदशी. १०।१-३ ।

हरि मोर रहट मैं रतन पिउरिया। हरि के नाम ले कातिन बहुरिया
छौ मास ताग बरष दिन कुकुरी। लोग बोलै भल कातिन बपुरी॥

हरि र्मेऽस्ति धवोऽहं च तस्यैव वनिता सती।
इत्थं वै मन्यते लोकः स्वात्मानं मन्यते नहि॥२७॥
रामोऽस्ति वै महांस्तस्मादहं सूक्ष्मो लघुस्तथा।
शरीरेणापि खर्वोऽहं तस्य वर्ष्म त्विदं जगत्॥२८॥
तन्तुयन्त्रं हरि र्मे स शुद्धा कार्पासिकाऽस्म्यहम्।
तदाश्रितो हि सूक्ष्मात्मा तन्निष्ठश्च भवाम्यहम्॥२९॥
प्रकल्प्यैवमयं जीवो धृत्वा नाम हरेस्तथा।
स्वात्मानं सूत्रभावेन सम्पादयति सर्वदा॥३०॥
षण्मासैश्च भवत्यस्य तन्तुतुल्याऽल्पभावना।
अब्देन तन्तुसङ्कोऽसौ भावनैव विवल्गति॥३१॥
एवंकृते हि लोकाश्च प्रशंसन्ति तमञ्जसा।
अहो जीवेन वृद्धेन कृतं कार्यं सुसङ्गतम्॥३२॥

उक्त सर्वाधार सर्वात्मा हरि के ज्ञान प्राप्ति के बिना, तटस्थ हरि की भक्तिवाले समझते हैं कि तटस्थ हरि मेरा पिय (प्रिय पति) है। मैं उस राम (हरि) की बहुरिया (प्यारी स्त्री) हूँ। वह राम बड़ा (सर्वश्रेष्ठ) है। अति महान् है। और मैं तन की लहुरिया (छोटी) हूँ। अर्थात् हरि का शरीर भी महान् सब संसार स्वरूप है, मेरा शरीर छोटा है, और हरि मेरा रहटा (चरखा) हैं, कर्म भक्ति रूप सूत कातने का साधन हैं और मैं रतनतुल्य (ज्ञान प्रकाश का आश्रय दीप्त) पियुरी (पियुनी) तुल्य हूँ। अर्थात् मेरा मन उज्ज्वल पियुनी है। अतः मैं हरि के आश्रित रह कर सूक्ष्म सूत तुल्य (स्थूल रूपता से रहित) देव सुखी महान् हो सकता हूँ। इस प्रकार समझ कर जीव रूप बहुरिया अपने मन को सूतरूप से कातती (बनाती) है (हरि की भावना में मन को लगाती है) तहाँ छौ मास में ताग (चित्त की एकाग्रता रूप सविकल्पसमाधि) किसी भाग्यवान् को प्राप्त होता है और एक वर्ष के अभ्यास से कुकुरी (ध्येयरूपता की प्राप्तिरूप निर्विकल्प समाधि) होती है। तब लोग बोलते (कहते) हैं कि यह बपुरी (देही) भला सूत काता है सुन्दर काम किया है, इससे वह प्रशंसनीय हो जाता है।

कहहिं कबीर सूत भल काता। हरि रहटा नहिं मुक्तिक दाता॥७४॥

सद्गुरुश्चाह सूत्रं तद्विद्यते भावलक्षणम् ।
वरं यद्यपि लोके न तथापि मोक्षलक्षणम् ॥३३॥
सूत्रयन्त्रसमो यद्वा सोऽरघट्टसमो हरिः ।
तटस्थो भ्रामको लोके सर्वात्मा मुक्तिदः सदा ॥३४॥
यद्भक्त्या भवनिस्तीर्णो भाति भासा भवेशवत् ।
भज तं निर्मलं राममात्मानं सर्वदेहिनाम् ॥३५॥
षड्विकारैर्विहीनं कं विकाराणां प्रवर्तकम् ।
सत्तया स्वप्रकाशेन रामं वन्दस्व कामदम् ॥३६॥
यद्भासा भास्यते सर्वं यद् भक्त्या पूज्यते सदा ।
युज्यते मुक्तयेऽवश्यं तं रामं नित्यमाश्रय ॥३७॥
येन वास्यं जगत् कृत्स्नं यज्ज्ञानान्मुच्यते स्वयम् ।
तं वन्दस्व निजात्मानं राममानन्दचिद्घनम् ॥३८॥
ईश्वराणां महेशं तं देवानां देवमुत्तमम् ।
जीवनां जीवभूतं च प्राणप्राणमहं भजे ॥३९॥
यः सूर्ये पुरुषो यश्च वह्नौ चक्षुषि वर्तते ।
अलिप्तः सर्वभूत्साक्षी पावनं तमहं भजे ॥४०॥
मायामात्रं जगद्यस्माद्रज्जुसर्प इवाऽद्वयात् ।
निर्विकारं निराकारं निरीहं तं सदा श्रये ॥४१॥७४॥

श्रीकबीर साहब कहते हैं कि हरिशरण को पाकर भजन समाधि पर्यन्त सूत जीव ने भला ही काता है और कातता है । तथापि तटस्थ देवादि रूप हरि स्वयं रहटा (संसार कूप में आने जाने वाले रहट) हैं । और अपने आश्रित को भी कर्मानुसार चक्र में भ्रमाने वाले समर्थ पुरुष माने गये हैं । अतः मुक्ति को देने वाले नहीं हैं । अर्थात् अचल सर्वात्मस्वरूपहरि के ज्ञानसे अज्ञान मोहादि की निवृत्ति रूप मुक्ति होती है, ज्ञानादि के विना किसी के देने से मुक्ति नहीं मिलती है, गुरु आदि रूप से ज्ञान भले ही कोई देसकता है । अतः ज्ञान के लिये विवेकादिपूर्वक सर्वात्मा हरि गुरु ज्ञातव्य और संभजनीय हैं । इत्यादि । "षण्मासश्रवणान्नित्यं नश्यत्येवोपपातकम् । महापातकसङ्घाश्च नित्यं वेदान्तसेवनात् । नश्यन्ति वत्सरात्सर्वे सत्यमुक्तं बृहस्पते ॥१॥ सदा छः मास वेदान्त के श्रवण से उपपातक नष्ट होता है, सदा वेदान्त के सेवन से एक वर्ष में सब महापातक के समूह नष्ट होते हैं । इत्यादि, सूतसं० ज्ञानयोग खं. अ० ७ में ईश्वरोक्ति है ॥७४॥

शब्द ७५

नरहरि लागि दव विकार कोइ, मिल न बुझावनहारा।
मैं जानौ तोही सो व्यापे, जरत सकल संसारा॥

भो नर ! त्वयि लग्नोऽयं विकारात्मा हरि महान् ।
दावानलो न तस्यात्र प्राप्यते कोपि वारकः ॥४२॥
त्वयीवायं च संव्याप्य वर्तते भुवने ततः ।
दह्यते सर्वसंसारः सहदेवनरासुरः ॥४३॥
नर ! त्वं वा हरिः साक्षात् त्वय्यग्निस्त्विन्धनं विना ।
संलग्नोऽस्ति विकारात्मा विना ज्ञानं न नश्यति ॥४४॥
जानाम्यहं त्वया विश्वं व्याप्तमस्ति चिदात्मना ।
तज्ज्ञानेन विनैवेते दह्यन्ते देहिनः सदा ॥४५॥

हे नरहरि ! (हे श्रेष्ठ नर !) उक्त अचल सर्वात्मा के ज्ञानादि के बिना तुममें कामादि विकाररूप दव (दवाग्नि) लगी है, और लगती है या हे नर ! (मनुष्यों !) विकार (कार्य) रूप हरि (चित्त हरणशीला माया) रूप दवाग्नि संसार में लगी है, और सद्गुरु सत्यात्मा के ज्ञानादि के बिना उस अग्नि को बुझाने (शान्त करने) वाला कोई नहीं मिलता है। यद्यपि तुम स्वर्ग देवादि में सुखशान्ति समझते हो। अतः स्वर्गादि की इच्छा करते हो, तथापि मैं अच्छी तरह से जानता हूँ कि तोही सो (तेरे ही समान) संसार में सर्वत्र यह अग्नि व्याप्त है और अज्ञान दशा में देवादि सहित सब संसार कामादि अग्नि से जल रहा है या तोही सो (तेरी आत्मा से सब संसार व्याप्त है सो मैं जानता हूँ, और उसीके ज्ञान से विकारादिरूप सब अग्नि नष्ट हो जाती है। परन्तु विवेकादि रहित सब संसारी उस ज्ञान के बिना जलता है।

पानी माँह अग्नि को अङ्कुर, मिल न बुझावै पानी।
एक न जरै जरै नव नारी, युक्ति काहु नहिं जानी॥

अहो आत्ममहानन्दे विकारात्माग्निकारणम् ।
जायते ह्यङ्कुरस्तीव्रो दुःखयोनि र्मनोमुखः ॥४६॥
अद्भुतञ्चेदमन्यद्यदात्मा तस्मिन् वसन्नपि ।
न सम्मिलति तेनाथ न संशमयते च तम् ॥४७॥
किञ्च सैव न चैकोऽत्र दग्धो भवति वह्निना ।
नव नार्यस्तु दह्यन्ते प्राणाद्याश्च मनोमुखाः ॥४८॥

सद्युक्तिं नैव जानन्ति केऽपि मूढतमा नराः।
अतो नात्र विवेकेन रक्षन्ति स्वं सदाऽव्ययम् ॥४९॥
आत्मतोये हि तापानामङ्कुरो वारित भाति च।
स नैव प्राप्यते मूढै र्येन शाम्यति स क्षणात् ॥५०॥
अन्यदाहेप्यदाहोऽयं विना युक्तिं न कैश्चन।
ज्ञायते तत्त्वतस्तेन नव नार्यो ज्वलन्ति हि ॥५१॥

आश्चर्य है कि आनन्द स्वरूप पानी (आत्मा) में ही अज्ञान से कामादि अग्नि के अङ्कुर संकल्पादि भासते हैं तथा तापादि अग्नि के अङ्कुर वासना कामादि जीवात्मा में उत्पन्न होते हैं। परन्तु उस अङ्कुर अग्नि से वह पानी (आत्मा) न मिलता है, न उसको बुझाता (शान्त करता) है। वह असङ्ग भी आत्मा सबको प्रकाशता है, और सत्ता देता है। साक्षी सबका होता है, वह किसी का विरोधी नहीं है, न उसका अन्य कोई विरोधी है। अतः वह एक आत्मस्वरूप पानी किसी अग्नि से नहीं जलता है। किन्तु नव नारी (पाँच प्राण चार अन्तःकरण) भूख, प्यास, शोक, मोह, कामादि अग्नियों से जलती हैं। और आत्मा में अविवेक भ्रम से तापादि भासते हैं। तहाँ उस भ्रम अज्ञान की निवृत्ति के लिये कोई अविवेकी युक्ति (उपाय) को नहीं जानता है, विवेक के बिना सच्ची भक्ति वैराग्यादि को नहीं पाता है, न असङ्ग स्थिति पाता है, न ज्ञान के बिना भ्रान्ति की निवृत्ति होती है।

सहर जरै पहरू सुख सोवै, कहै कुशल घर मेरा।
पुरिया जरै वस्तु निज उबरै, विकल राम रंग तेरा ॥
कुबजा पुरुष गले एक लागा, पूजि न मन की साधा।
करत विचार जन्म गौ खीसइ, या तन रहल असाधा ॥

नगरस्याऽस्य दाहेपि साक्षिरूपोऽस्य रक्षकः।
न नश्यति सुखं शेते वज्ञो ब्रूतेऽत्र मङ्गलम् ॥५२॥
नगरे दह्यमाने वा यथा कश्चिद्धि यामिकः।
स्वप्यात्सुखं वदेच्चैवं कुशलं मे गृहे सदा ॥५३॥
तथा तापैः सदा व्याप्ते विश्वे कुगुरवः खलु।
शेरते च वदन्त्येवं क्षेममस्मद् गृहे दिवि ॥५४॥
तापेऽत्र वर्तमानेऽपि देहात्मपुटकं सदा।
दंदह्यते न सद्वस्तु ह्याधिव्याधिरसायनम् ॥५५॥

अतप्योऽस्ति सदात्मेति निश्चितं विदुषां मतम् ।
तथापि रामरूपस्ते भाति विकलवद्धृदि ॥५६॥
त्रिगुणः पुरुषः कुब्जो गले त्वेकोऽलगत्तव ।
मनोरथो न तस्मात्ते पूर्णोऽभवद्भिनात्मना ॥५७॥
तस्यैव च विचारेण कथाभिश्च बहून्यगुः ।
जन्मानि नैव साध्योऽभूद्देहोऽयं नैव मानसम् ॥५८॥

भ्रम अज्ञानजन्य ताप से सहर (संसारी) जलता है तो भी कुगुरु मनरूप पहरु कहता समझता है कि मोरा (हमारे) घर (स्वर्गादि) में सदा कुशल ही रहता है । अतः संसार में मानो सुख से सोता है, सुयुक्ति ज्ञान के लिये गुरु भी यत्न नहीं करता-कराता है तो शिष्यादि कैसे जान सकते हैं । इस प्रकार से सहर के जरने पर भी देहरूप पुरिया (वेष्टन = काश) ही जरती है, निज वस्तु (असङ्गात्मा) उबरती ही है (नष्ट नहीं होती है) । परन्तु हे नरहरि ! तेरा रामस्वरूप रंग (सच्चिदानन्द स्वरूप) विकल (अप्राप्त शून्य व्याकुल) की नाईं तुझे भासता है । जैसे अग्नि से सुवर्ण के नहीं जलने पर भी वेष्टन के जलने से धूम से मलिन-सा सुवर्ण दीखता है, तैसे देह के तापादि से तेरा स्वरूप तुझे मलिन भासता है । और निजानन्द के अविवेक अज्ञानादि से एक कोई कुबजा (टेंढा कुब्ज त्रिगुण) रूप पुरुष तेरे गले में लिपट गया है, किसी गुण कुदेव मन आदि के वश में तुम हो गये हो, उसको तुम स्वामी मान लिये हो । परन्तु उससे तेरे मन की साध्य (इष्ट) वस्तु पूजी (पूर्ण हुई) नहीं है, उससे मन में तृप्ति नहीं हुई है । और उसी अनात्म पुरुष के विचार और खिसई (खिस्सा कथा) करते में जंन्म (आयु) वीत गया । अतः यह शरीर भी असाध्य (अवश) ही रह गया, योगयुक्ति से इसको वश में नहीं किया गया, असाध्य रोग तुल्य इसके अभिमानादि निवृत्त नहीं हुए, न इसके द्वारा मोक्ष के साधन हो सके, तो यह निष्फल गया ।

जानि बुझि जो कपट करतु हैं, तेहि अस मन्द न कोई ।
कहहिं कबिर सब नारि राम की, मोते और न होई ॥७५॥

इत्थं ज्ञात्वापि ये मूढा वर्तन्ते कपटादिभिः ।
मायिके त्रिगुणे मोहाद्रागद्वेषादि संकुले ॥५९॥
न शुद्धे सच्चिदानन्दे तापपापादिवर्जिते ।
तत्तुल्यो नैव मन्दोऽन्यो यो न जानाति किञ्चन ॥६०॥

अज्ञा विज्ञास्तु सर्वेऽमी स्वात्मज्ञानं विना नराः ।
नार्यो यस्यभवन्त्यत्र स मत्तोऽन्यो न विद्यते ॥६१॥
ममैवात्मा विशुद्धः सन् स्वामी त्रिगुणरक्षकः ।
देवदेवो हरि र्धाता तस्मादन्यो न कश्चन ॥६२॥

निरङ्गं सदा सङ्गहीनं हरिं न विजानन्ति यावज्जनास्तावदत्र ।
ससङ्गे च मायादिभङ्गे रमन्ते रमन्तेऽथ विज्ञा निजानन्दकन्दे ॥६३॥७५

इति हनुमत्कृतायां शब्दसुधायां निराकारहरे र्ज्ञानं विना साकाररमण-
वर्णनं नामाष्टाविंशतितमस्तरङ्गः ॥ २८ ॥

कोई तो सर्वथा अज्ञान से देहादि में आसक्त होकर कपटादि करते हैं। सो अधिक मन्द (नीच) नहीं हैं। किन्तु जो शास्त्रादि द्वारा धर्माधर्म आत्मा-नात्मादि को परोक्षरूप से जानकर तथा किसी गुरु से बूझ (पूछ समझ) कर भी प्रबल कामादि कुसङ्गादि से कपट (असत्य भाषण वञ्चना दम्भादि) करते हैं, उन मायावियों के समान कोई मन्द नहीं है। अतः वे सब सदा राम (ईश्वर) की नारी (वशवर्ती) बने रहते हैं, मुक्त नहीं होते हैं और श्रीकबीरसाहब कहते हैं कि वह राम मोते (मेरी आत्मासे) कभी और (अन्य) नहीं होता है "स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति। मु.३।२।६" ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्। भ.गी.॥७५॥

अथ लोभफल और आशात्याग प्र० २९

शब्द ७६

सुभागे किहि कारण लोभ लागे, रतन जन्म गौ खोये ।
पूर्व जन्म कर्म भूमि कारण, बीज काहेक बोये ॥

भो भोः सौभाग्यवँल्लोभः कस्माल्लगति ते हृदि ।
किं साध्यं तेऽस्ति लोभेन तद्धि शीघ्रं विचिन्त्यताम्॥ १ ॥
अनेनैव तु लोभेन रत्नभूतमिदं शुभम् ।
जन्म ते विफलं यातं नष्टो देहः कुवर्त्मसु ॥ २ ॥
मतिमन्दान् हि लोभोऽयं बाधते न विवेकिनम् ।
सौभाग्यसंश्रिते ह्येष कस्मात्स्याद्रत्ननाशकः ॥ ३ ॥
पूर्वजन्मनि तत्कर्म भूमौ जन्मकरं हि यत् ।
बीजभूतं कुतश्चोप्तं तत्त्वया ज्ञायतां सुधीः ! ॥ ४ ॥

लोभमूलमदः कर्म लोभोऽविद्यानिदानकः ।
कर्ममूलो ह्ययं देहः सर्वानर्थो यतो भवेत् ॥ ५ ॥
तस्माल्लोभं निराकृत्य समूलं स्वात्मबोधतः ।
सर्वानर्थविमुक्तः सन्नात्मनात्मनि तुष्यताम् ॥ ६ ॥

कपटादि के हेतु लोभ को त्यागने के लिये उपदेश है कि हे सुभागे ! (सुन्दर भाग्यवाले जानकार मनुष्यों) तुममें किहि कारण (किस कारण=फल) के लिये लोभ लगता है । किस फल के लिये लोभ करके कपटादि करते हो, लोभ से कोई श्रेष्ठ फल होता नहीं है । किन्तु इस लोभ ने तो तेरे रत्न तुल्य प्रकाशमय जन्म को खोया (नष्ट किया) है । और तुम लोभवश कितने वार व्यर्थ जन्म खोये (गमाये) हो । और इस जन्म से पूर्व जन्म में इस भूमि पर इस जन्म के कारण कर्म-वासनादिरूप बीजों को तुमने काहे को (किस फल के लिये) बोया, किस कारण से बोया, सो समझो विचारो । अर्थात् अज्ञानादि जन्य लोभादि से ही जन्म के हेतु बीजों को तुमने बोया है, उस लोभादि को भावी हित मुक्ति के लिये त्यागना ही उचित है ।

बुन्द से जिन पिण्ड साजेवो, अग्निहुँ कुण्ड रहाया ।
दशहुँ मास माता के गर्भहिं, बहुरि लागली माया ॥
बालहूँ ते वृद्ध हुआ पुनि, होनि रहा सो हूआ ।
जब यम ऐहैं बाँधि चलैहैं, नयनन भरि भरि रोया ॥

लोभमूलं हि तत्कर्म कृत्वेदं ते कलेवरम् ।
गृहं वीर्येण तत्राथावासयद्गर्भवह्निषु ॥ ७ ॥
स्थित्वापि दशमासाँस्त्वं स्वमातुरुदरे बहिः ।
आयातोऽसि पुन र्माया संलग्ना ह्यभवत्त्वयि ॥ ८ ॥
बालाद्यातोऽसि वृद्धत्वं भवितव्यमभूत्तथा ।
आयास्यति यदा कालो बध्वा नेष्यति वै तदा ॥ ९ ॥
तदा त्वं मोहवेगेन दुःखवेगेन पीडितः ।
नेत्रयोरस्रुमापूर्य विह्वलो रोरुदिष्यसे ॥१०॥

लोभादि को नहीं त्यागने के कारण लोभादि जन्य बीजरूप जिन कर्म-वासना आदिकों ने ही पिता के बिन्दु (वीर्य) आदिकों से तेरे पिण्ड (देह) को साजा है, (सिद्ध किया है) और देह सहित अग्निकुण्ड गर्भादि में भी रखा है, और रहना हुआ है । तहाँ दश मास माता के गर्भ ही में रहकर, बाहर

होने पर बालपन में ही पूर्व जन्म के लोभ-कर्मादि कारणों से ही बहुरि (फिर भी) तुममें माया (मोह-ममता कपट) लग गई है। और गर्भादि जन्य दुःखों को भूल गये हो। इसी प्रकार यदि लोभी मनुष्य बालक से वृद्ध हुआ, और जो कुछ उसको होनी (भोगादि अवश्यम्भावी) थी, भोगादि होना था, सो सब हुआ। परन्तु लोभादि यदि नहीं निवृत्त हुए, तो अन्तकाल में जब यम मृत्यु आयेगा, तब बाँधकर चलायेगा, फिर उस समय लोभादियुक्त मनुष्यों को नेत्रों में आँसू भर-भरकर रोना होगा, और अनेकों बार रोया है। अतः "हेयं दुःखमनागतम्" इस योगसूत्र के उपदेश के अनुसार भावी दुःखों की निवृत्ति (अप्राप्ति) के लिये आगे उपदेश है कि—

जीवन की जनि आशा राखहु, काल घेरे हैं श्वांसा।
बाजी है संसार कबीरा, चित चेति ढारहु पासा ॥७६॥

अतश्च जीवितस्याशां हृदि नैव निधीयताम्।
कालः श्वासं निरुध्यैव सदाऽत्रैव वितिष्ठते ॥११॥
अमूल्योऽवसरः प्राप्तः संसारे मानवे क्षितौ।
मायाद्यूते मनोऽक्षो हि सावधानेन नीयताम् ॥१२॥
लोभः प्रतिष्ठा पापस्य प्रसूति र्लोभ एव च।
द्वेषक्रोधादिहेतुश्च स त्वया त्यज्यतां द्रुतम् ॥१३॥
लोभमूलो महामोहो माया लोभात्प्रवर्तते।
मानश्च मत्सरो दम्भस्तस्माल्लोभं परित्यजेत् ॥१४॥
"तेनाधीतं श्रुतं तेन तेन सर्वमनुष्ठितम्।
येनाशां पृष्ठतः कृत्वा निर्लोभत्वं समाश्रितम्" ॥१५॥
परार्थसर्वेहवशेन्द्रियः स्यादसुप्रियैस्तृप्तमनाश्च तस्मात्।
नचेन्द्रियाजुष्टपरो बुधः स्याद्यथा न वित्ते विगमस्तथा स्यात् ॥१६॥
अयत्नलब्धैः परितुष्टचित्तो धनेष्वलुब्धो हतरागरोषः।
विनिद्रबुद्धिः कृतसर्वशुद्धिः स्वालोकमात्राद्विमलं करोति ॥१७॥
स्वतन्त्रचारी न परानुरागी देहादिसङ्गे च सदा विरागी।
असङ्गशुद्धात्मपदे सुरागी भवेत्सदा वायुवदङ्ग! गन्ता ॥१८॥
स्वच्छः प्रकृत्या मदमानहीनः स्निग्धस्वभावोऽपि सदैव शुद्धः।
कामादिदोषै र्नहि धर्षितश्चेन्न लिप्यतेऽप्यात्रपि पावयेच्च ॥१९॥
मुखेऽस्य चानन्दकलाऽऽविरास्ते स्वानन्दमत्युत्कटमुद्गिरन् सः।
आच्छिद्य दुःखाज्जनमानसं वै स्वानन्दमग्नं सहसा करोति ॥२०॥७६॥

यदि कष्ट रोदनादि से रहित मुक्त होना चाहो, तो जीवनादि की आशा नहीं रखो कि अभी जीना है, कभी लोभादि को त्यागेगें। किन्तु आशाओं को त्यागकर लोभ, कपट, दम्भादि को शीघ्र त्यागो। क्योंकि काल (मृत्यु) श्वांसा को घेरे हुए हैं। आयु के श्वांस को मानो मृत्यु गिन रहा है, आयु की पूर्ति होने पर एक श्वांस भी जीवन नहीं रहेगा। अतः काल के अधीन जीवन है, स्वाधीन नहीं है। और हे कबीरा! (जीवों!) मानव का यह संसार (व्यवहार) जूआ के बाजी (दाव = मोका) तुल्य है। अतः चित्त (मन) में चेतकर (शोच-विचार से समझकर) पासा ढारो। अर्थात् सावधानी से लोभ, कपट, दुश्चरित्रादि को त्यागकर, उचित कर्म, ध्यानादिपूर्वक त्रिगुण पर असङ्ग ब्रह्मात्मा में मनरूप पासा को स्थिर करो ॥७६॥

शब्द ७७

(बाबू) ऐसो है संसार तिहारो, ईहे कलि व्यवहारो।
को अब अनुख सहै निशिदिन को, नाहीं रहनि हमारो ॥
स्मृति सोहाय सब कोइ जानै, हृदया तत्त्व न बूझै।
निर्जिव आगे सर्जिव थापे, लोचन कछु न सूझै ॥

भो भ्रातस्तव बन्धोऽयमीदृशो लोभमूलकः।
कलेश्च व्यवहारोऽयं प्रत्यक्षः परिदृश्यते ॥२१॥
ईदानीं सहतां कोऽत्र कलहं काममूलकम्।
दुःखं रात्रिं दिवस्याथ त्वपराधं निरन्तरम् ॥२२॥
रहस्यं मे न चात्रास्ति धारणा मे न विद्यते।
कुतश्चात्र मया स्थेयं विषमे दुःख संकटे ॥२३॥
स्वस्वमनोऽनुकूलान्तु स्मृतिं सर्वे विदन्ति हि।
हृत्तत्त्वं नैव जानन्ति चरन्ति विषमे ततः ॥२४॥
निर्जीवस्याग्रतो मोहात्सजीवं स्थापयन्त्यथ।
हिंसन्ति नैव नेत्रैस्ते किञ्चित्पश्यन्ति मानवाः ॥२५॥

हे बाबू (प्रियसुज्ञ मनुष्यों!) ऐसो (लोभ आशा कामादिमूलक) तिहारो (तेरा) यह जन्मादि रूप संसार है। और ईहे (लोभादि स्वरूप) प्रत्यक्ष अनर्थ रूप ही कलि का व्यवहार है। अब (इस विवेकावस्था में) निशिदिन (रात दिन=प्रतिदिन) के अनुख (असह्य ताप क्रोध विग्रहादि) को कौन विवेकी सह सकता है, विवेकी तो लोभादि को त्याग कर इस अनुख (अनख)

को अवश्य त्यागता है। क्योंकि इस अनख मय व्यवहार में हमारी (विवेकियों की रहनी (धारणा स्थिति) नहीं रहती है, उस में कारण है कि सोहाय (विवेक रहित अपने अपने मनके अनुकूल मन में सुन्दर लगने वाली) स्मृति = (धर्मशास्त्र) को सब कोई जानते हैं। परन्तु हृदय के तत्त्व (सत्यात्मा) को नहीं समझते हैं, अपने सुख दुःख के तुल्य सब के सुख दुःख को नहीं जानते हैं, न अहिंसादि सत्य धर्म को समझते हैं। अतः निर्जीव मूर्ति आदि के आगे सजीव प्राणी को थापते (अर्पण) करते हैं। मानो इन्हे आँखों से सजीव निर्जीवादि प्रत्यक्ष वस्तु भी कुछ नहीं सुझती है। तो हृदय के तत्त्व को तो ये कलि के मनुष्य कैसे समझेगें। अतः ऐसे व्यवहार वालों के संग का त्यागही उचित है।

तजि अमृत विष काहेक अँचवै, गाँठी बाँधे खोटा।
चोरन दीन्हो पाट सिंहासन, साधुन से भौ ओटा॥

अहो त्यक्त्वाऽमृतं चैते ह्यहिंसाज्ञानलक्षणम्।
किं पिबन्ति विषं तीव्रं पापाज्ञानादि लक्षणम्॥२६॥
तत्त्वं त्यक्त्वा त्वसत्तुच्छं गृह्णन्ति हृदये कथम्।
कामलोभावशादेतत्सर्वं जानीत सज्जनाः!॥२७॥
कामलोभपरा नित्यं निद्राऽऽलस्यपरास्तथा।
विषयेच्छापरा मोहाद् भवन्ति श्रेयसश्च्युताः॥२८॥
धर्मध्वंसो ह्ययं लोभः क्रोधः परमदारुणः।
अज्ञानं त्वन्धतामिस्रो नरको नात्र संशयः॥२९॥
अज्ञानादियुताश्चैते तस्करेभ्यः सुपुष्कलम्।
पटं ददति सत्क्षौमं सिंहासनं तु पीठकम्॥३०॥
"ये स्वधर्मादपेतेभ्यः प्रयच्छन्त्यल्पबुद्धयः।
शतं वर्षाणि ते प्रेत्य पुरीषं भुंञ्जते जना"॥३१॥
तथाप्येते जना मूढाः सुसत्कुर्वन्ति दुर्जनान्।
साधुभ्यश्च निलीयन्ते द्वेषं वा कुर्वते हि तैः॥३२॥

यदि ये हृदय के तत्त्व को समझते तथा आँखों से कुछ सूझता, तो अमृत स्वरूप सत्यात्मा को और अहिंसा दया आदि धर्मों को ज्ञान ध्यानादि को त्याग कर, निषिद्ध विषयादि रूप विष को काहे को (क्यों) अँचवते (पिबते=भोगते) और हिंसा क्रूरता कामादि खोटों (असद्व्यवहार= पापों) को क्यों गाँठी (हृदय) में बाँधे रहते, समझने-बूझनेके बिना ही ये अनर्थ

करते हैं, और अज्ञानादि से चोरों (अधर्मी अज्ञों) को पाट सिंहासन दिये हैं। (सुन्दर वस्त्र राजासन दिये हैं) तथा काम लोभादि को हृदय में स्थान दिये हैं, और देते हैं। और साधुन (सद्गुरु सन्त विवेकादि) से ओट (भेद परदा) भया है, साधुओं से छिपे रहते हैं, उनके सन्मुख नहीं जाते हैं, अतः सत्सङ्गादि के अभाव से सद्विवेकादि को नहीं पाते हैं।

कहहिं कबिर झूठहि मिलि झूठा, ठगहि ठग व्यवहारा।
तीनि लोक भरि पूरि रहो है, नाहीं है पतियारा ॥७७॥

मिथ्याप्रलापिनो मिथ्या प्रलापेष्वेव तत्परैः।
सम्मिलन्ति च धूर्ता वै धूर्तै व्यवहरन्ति हि ॥३३॥
सम्मेलो व्यवहारश्च तादृगेव जगत्त्रये।
परिपूर्णो न सत्यस्य कोपि विश्वसिता नरः ॥३४॥
"ईश्वरानुग्रहादिभ्यः पुंसां सत्तत्त्ववासना।
महाभयपरित्राणा द्वित्राणामेव जायते" ॥३५॥
ये च सद्वासनायुक्तास्तेहि लोकत्रयाद्बहिः।
तिष्ठन्ति नात्र गण्यन्ते संसृतौ पुरुषोत्तमाः ॥३६॥
ये हि सर्वाञ्जगद्भावाननन्वविद्यामयान् विदुः।
कथं तेषु त आत्मज्ञा निमज्जेयुः कदाचन ॥३७॥
परिपूर्णः परात्मा वा त्रिषु लोकेषुसर्वदा।
तं न केपि विजानन्ति धूर्ताश्चानृतिनो जनाः ॥३८॥७७॥

इतिहनुमत्कृतायां शब्दसुधायां लोभफलाशात्यागादि
वर्णनं नामैकोनत्रिंशत्तमस्तरङ्गः ॥२९॥

श्री कबीर साहब कहते हैं कि इस उक्तरीति से झूठों से मिलकर झूठे लोग रहते हैं। तथा ठगों के साथ ठग का व्यवहार होता है, और कलि में ऐसा ही मेल व्यवहार, उत्तम, मध्यम, कनिष्ठ, कहाने वाले तीनों प्रकार के लोकों में भरपूर (व्याप्त परिपूर्ण) हो रहे हैं। अतः तीन लोक में परिपूर्ण सत्यात्मा सत्य का पतियार (विश्वास) संसार में नहीं है, तो मेरी रहनी आदि कैसे हो ॥ ७७ ॥

अथ त्रिगुणपरहरि की भक्ति आदि प्र० ३०

शब्द ७८

राम गुण न्यारो न्यारो न्यारो ।
अबुझा लोग कहाँ लगि बूझै, बूझनिहार विचारो ॥
केते रामचन्द्र तपसी से, जिन यह जग भरमाया ।
केते कान्ह भये मुरलीधर, नित भी अन्त न पाया ॥

गुणेभ्यः पर एवासौ रामः सत्यः सनातनः ।
अनन्तो नित्यतृप्तश्च परमानन्दचिद्घनः ॥ १ ॥
तथा सगुणरामस्य गुणाः सर्वे विलक्षणाः ।
संसारिजनसङ्घानां गुणेभ्यस्ते ह्यनन्तकाः ॥ २ ॥
विवेकविकला लोका वेदिष्यन्ति कियद्गुणम् ।
कियन्तं वाऽगुणं विद्युस्तज्ज्ञाः केपि विदन्तु तम् ॥ ३ ॥
अनन्तोऽस्य गुणस्तद्वदनन्तो ह्यगुणः स्वयम् ।
देशकालादिभिश्चास्य नान्तः सर्वात्मता यतः ॥ ४ ॥
अतश्च प्रतिकल्पं ये रामचन्द्राः पृथक् पृथक् ।
अभवँस्तापसैस्तुल्याः परे यद्वा तपस्विनः ॥ ५ ॥
ये चाभ्रमञ्जगत्यां वै तत्त्वज्ञानादिसिद्धये ।
यत्राऽमुह्यँश्चलोका वा रामबुद्ध्या निरन्तरम् ॥ ६ ॥
अभवँश्च कियन्तो ये कृष्णा वंशीविभूषिताः ।
नोऽविदँस्तेपि तन्नूनं रामस्यान्तं गुणस्य वा ॥ ७ ॥

सर्वात्मा देश काल वस्तु कृत अन्त रहित अनन्त निर्गुण राम, मायि तीन गुणों से अत्यन्त न्यारा (भिन्न विलक्षण असङ्ग) है और मायी ईश्वर के गुण (सर्वज्ञत्व, सर्वशक्तिमत्व, सर्वकर्तृत्व) आदि भी सब संसारी जीवों के गुणों से अत्यन्त विलक्षण हैं । परन्तु इस अर्थ को अबुझा (सर्वथा अविवेकी) लोग कहाँ तक समझ सकते हैं । अर्थात् नहीं समझ सकते हैं । किन्तु बूझ-निहार (विवेकी गुरुमुख) लोग इस अर्थ का अवश्य विचार करो तो समझ सकते हो । तपसी से (तपस्वी के समान) कितने रामचन्द्र हो गये हैं कि जिन्हो ने संसार में लोक रक्षा आदि के लिये आप भ्रमण किया, अन्य को भी भ्रमण करवाया, और अपने चरित्रों से संसार को भरमाया (चकित किया) । और कितने मुरलीधारी कान्हा (कन्हैया कृष्ण) हो गये हैं । परन्तु उन लोगोंने

भी राम के देशादिकृत अन्त को नहीं पाया, क्योंकि उसका अन्त है नहीं, वही विभुसर्वात्मा अमृत है। सो विचार से ज्ञातव्य है, उससे अन्य अन्तवालेमर्त्य हैं

केते मछ कछ ब्राह सरूपी, वावन नाम धराया।
केते बौध भये निकलंकी, तिन भी अन्त न पाया॥
केते सिध साधक संन्यासी, जिन बनबास बसाया।
केते मुनि जन गोरख कहिये, तिन भी अन्त न पाया॥

कियन्तो येऽभवन्मत्स्याः कच्छपाश्चाभवँस्तथा।
वराहा वामनाश्चैव ह्यवतारा जगत्त्रये॥ ८॥
कियन्तो बुद्धनामानः कल्किनाम्ना विभूषिताः।
अभवन्नाविदुस्तेऽन्तं गुणानां वा परात्मनः॥ ९॥
कियन्तो येऽभवँल्लोके सिद्धाश्च साधका नराः।
संन्यासिनो वनस्था ये मुनिसङ्घास्तपस्विनः॥१०॥
गोरक्षाद्याश्च ये सिद्धा योगमार्गप्रवर्तकाः।
तस्यान्तं नैव ते जग्मुर्नैव देवा न दानवाः॥११॥

कितने मत्स्य, कच्छप, वराहस्वरूप वाले अवतार हो गये। कितने वामन नाम धराने वाले हुए, वामन नाम धराये। कितने बौध (बुद्ध) भये, और निकलंकी (कल्कि) हुए। परन्तु तिन (उन) लोगों ने भी रामके अन्त को नहीं पाया। कितने सिद्ध और साधक (अभ्यासी) तथा संन्यासी (विरक्त त्यागी) हुए और जिन लोगों ने बन में वास बसाया (किया) सो वानप्रस्थ तपस्वी कितने हो गये। कितने मुनि (मनन शील विचारी) जन हुए, और गोरख (जितेन्द्रिय योगी) होगये। परन्तु तिन भी रामके अन्तको मर्मको नहीं पाया।

जाकी गति ब्रह्मा नहिं जानी, शिव सनकादिक हारे।
ताकी गति नल कैसे पैहैं, कहहिं कबीर पुकारे॥७८॥

यस्यान्तं नाविदद् ब्रह्मा मर्यादां वा गतिं क्वचित्।
शिवोऽपि सनकादिश्चान्विष्य तं व्यथते स्म वै॥१२॥
यद्गतिं नैव ते विद्युस्तद्गतिं च नराः कथम्।
वेदिष्यन्तीति वदति कबीरो गुरुरादरात्॥१३॥
त्रिषु धामसु यद्भोग्यं भोक्ता भोगश्च यद् भवेत्।
तेभ्योविलक्षणः साक्षी स रामोऽनन्तचिद्वपुः॥१४॥

स सर्वात्मा परं ब्रह्म विश्वस्याऽऽयतनं महत् ।
सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरश्चैव ज्ञायते स हरि र्बुधैः ॥१५॥
सर्वद्वन्द्वनिवृत्तिः स्यान्मोहोमारो मदः क्षरेत् ।
यस्यानुभूतिमात्रेण तं राममहमाश्रये ॥१६॥७८॥

श्रीकबीर साहब पुकार के कहते हैं कि जिस की गति (अन्त रहस्य प्राप्ति) को श्री ब्रह्मा जी नहीं जान सके, और श्रीशिवजी सनकादिक भी जिसके अन्त आदि को खोज कर हार गये (थक गये) । परन्तु अन्त नहीं जान पाये । उसकी गति (अन्त) को मनुष्य कैसे पा सकते हैं । अतः अन्त के खोज और लोभादि को त्यागकर, गमनागमनादि रहित अनन्त स्वरूप निजानन्दात्मा राम को गुरु से समझकर भजना चाहिये, क्योंकि गुरु के बिना इस तत्त्व को समझा नहीं जा सकता है । श्रीमद्भावत स्क. २ ।७।४१। में श्रीनारदजी के प्रति श्री ब्रह्माजी की उक्ति का उल्लेख है कि "नान्तं विदाम्य-हममी मुनयोऽग्रजास्ते मायाबलस्य पुरुषस्य कुतोऽपरे ये । गायन् गुणान् दश-शतानन आदिदेवः शेषोऽधुनापि समवस्यति नास्य पारम् ॥१॥" मायारूप-बल वाले पुरुष के अन्त को मैं नही जानता हूँ, और तेरे अग्रज (बड़े भ्राता) सनक सनन्दनादि भी नहीं जानते हैं, अन्य कैसे जान सकते है, दश सौ मुख वाले आदि देव शेष भी गुणों को गाते हुए, इसके पार (अन्त) को अभी सम्यक् निश्चय नहीं कर पाते हैं ॥ २ ॥ ७८ ॥

शब्द ७९

ना हरि भजै न आदत छूटी ।

शब्द हि समुझि सुधारत नाहीं, अँधरे भये हियहुँ की फूटी ॥

गुणेभ्यो हि परं यावद्धरिं न भजते नरः ।
मुच्यते न स्वभावोऽयं वासनारसरञ्जितः ॥१७॥
लोभाशादिमयः पापो ह्यभ्यस्तो जन्मकोटिभिः ।
तावत्कस्यापि लोके हि कथञ्चिदपि देहिनः ॥१८॥
अहो तथापि लोकाश्च सारशब्दं विविच्य वै ।
तेन स्वात्मविवेकेन हरे र्भक्त्या च सर्वदा ॥१९॥
स्वभावं न विमुञ्चन्ते स्वात्मशुद्धिं न कुर्वते ।
हरेरन्तादिसम्मार्गोद्धिरमन्ति तथैव नो ॥२०॥

अन्धास्ते ह्यभवँस्तेषां हृच्चक्षु र्व्यनशत् किल ।
अतो नैवेह पश्यन्ति स्वात्मनोऽपि हिताहिते ॥२१॥

अनन्त विलक्षण गुणवाले ईश्वररूप हरि को या निर्गुण सर्वात्मा हरि को जबतक यह जीव नहीं भजता है तथा भजन विचारादि से जबतक आत्मनिष्ठ ब्रह्मसंस्थ नहीं होता है। तबतक इसके लोभादि की तथा अनन्त के अन्त खोजने की आदत (स्वभाव) नहीं छूटती है। क्योंकि हरिगुरु भजनादि से स्वात्मा का सुधार (मन की शुद्धि विवेकादि) होता है। हरि गुरु की भक्ति रहित मनुष्य शब्द को ही विवेकपूर्वक नहीं समझ पाता है। अतः सार (सत्य) शब्द को ही समझकर और उसके अनुसार विचारादि करके अपने को सुधारता नहीं है (लोभाऽहंकारादि से अविवेकादि से मुक्त विवेकी अपने को नहीं करता है)। किन्तु असार शब्दादिरूप विषयों में फँसा रहता है। अतः यह अन्धा (अविवेकी) हुआ है, बाह्य वस्तु सजीव निर्जीवादि भक्ष्याभक्ष्यादि गम्यागम्य पूज्यापूज्यादि को भी विवेकपूर्वक नहीं समझता है। हृदय की वस्तु को समझने के लिये ज्ञान-विज्ञान की दृष्टि फूट गयी है (प्राप्त नहीं हुई है)। अतः आत्मा-अनात्मा हिताहितादि को प्रायः नहीं समझता है।

पानी माँह पषाणक रेखा, ठोकत उठे भुभूका।
सहस घड़ा नित ही जल ढारैं, फिर सूखे का सूखा॥

जलेऽर्पिता यथा वज्ररेखाऽपि न स्थिरा भवेत् ।
तथैव न ह्यभक्तानां हृदि तिष्ठति वाक् सताम् ॥२२॥
यथैव वा जले तिष्ठेत् पाषाणस्य सदाऽऽकृतिः ।
पङ्क्ति र्वा तस्य शुष्कत्वादभिघाताज्ज्वलत्यलम् ॥२३॥
तथा साधुजने तिष्ठेल्लोभयुक्तो नरो यदि ।
शब्दादीनां स सम्बन्धात् क्रोधाज्ज्वलति वह्निवत् ॥२४॥
सहस्रघटपानीयस्यार्पणेऽपि यथा शिला ।
सदा शुष्का भवत्येवं मूर्खो ज्ञानोपदेशतः ॥२५॥
पूर्वापरसमाधानक्षमबुद्धावनिन्दिते ।
पृष्टं प्राज्ञेन संप्रोक्तं भक्ते फलति नान्यथा ॥२६॥
पानीयस्थशिलास्थो वा यथा वह्नि र्न नश्यति ।
रामभक्तहृदिस्थं हि तथा ज्ञानं न नश्यति ॥२७॥
स तिष्ठतु गृहे यद्वा विपदः सन्तु तस्य वै ।
पृष्ट उच्चरति ज्ञानं मोहं नैव विरक्तधीः ॥२८॥

पानी में पाषाण की रेखा (लकीर) की नाईं अभक्तों के हृदय में सदुपदेश नहीं टिकता है। अतः शब्द को समझकर सुधारा नहीं कर सकते हैं तथा पानी में रहनेवाली पत्थर की रेखा (आकार = स्वरूप) के समान लोभादियुक्त अभक्त यदि सदा सत्सङ्गादि में ही रहते हैं, तो भी जैसे पानी से बाहर करके पत्थर को लोहे से ठोकने से उसमें से अग्नि की भुभूका (ज्योति) उठता है, तैसे ही शब्दादि के चोट से अभक्तों के हृदय से क्रोध-लोभादि अग्निनिकलती है। शब्द से भी सुधारा नहीं होता है। क्योंकि जैसे पत्थर पर हजारों घड़ा के जल प्रतिदिन ढारै जायँ, तो भी वह सूखा ही रहता है, तैसे श्रद्धाभक्ति आदि रहित अत्यन्त लोभादियुक्त को हजारों सदुपदेश दिया जाय, तो उसका हृदय क्रूर और दया-धर्मादि से रहित ही रहता है। अतः वह शब्द को समझकर सुधारा नहीं करता है। सुधारनेवाले की ज्ञानाग्नि पाषाणाग्नितुल्य होती है। अतः सदा व्यवहार में रहनेपर भी नहीं बूझती है, पूछने पर ज्ञानी ज्ञान की ही बात करता है, विपत्तियों में भी शोकादि रहित रहता है, राग-द्वेषादि नहीं करता है।

शीतहिं शीतहिं शीत अङ्ग भौ, सैन बाढि अधिकाई।
जो सन्निपात रोगियन मारे, सो साधुन सिधि पाई॥

पलितं ह्युत्तमाङ्गेऽभूच्छैत्यमङ्गेषु सर्वतः।
इङ्गितं कुर्वते मूढास्तथाप्यत्र त्रिदोषतः॥३०॥
बहुव्यापारसक्तत्वात्सदा तद्वासनायुताः।
वृद्धत्वे मृत्युकालेऽपि तच्चेष्टां कुर्वते जनाः॥३१॥
भवरोगयुता ये च विचारादिसुयुक्तितः।
विरागादि सुसेव्यात्र हन्यू रागादिकं गदम्॥३२॥
त एव साधवो मुक्ता धन्याः सिद्धाः सुलक्षणाः।
कामक्रोधादिभिर्हीना गुणबन्धाद्विनिर्गताः॥३३॥
हित्वा ये त्रिगुणं रामे रमन्ते निर्गुणेऽव्यये।
वृद्धत्वे मृत्युकालेऽपि निर्विकारा भवन्ति ते॥३४॥

अत्यन्त वृद्ध होने पर तथा मरणकाल में बाल सफेद हो गये और सब अङ्ग शीत से अति शीत (गर्मी रहित) हो गये, तो भी अभक्तों के हृदयादि में सन्निपाती रोगी के समान (रागद्वेष मोह) रूप त्रिदोष के कार्यरूप सैन (सेना इसारा व्यर्थ चेष्टा) ही अधिक बढती है। उस समय भी ये लोग कामादि वश व्यर्थ चेष्टा करते हैं। सद्भावना आदि को हृदय में नहीं लाते हैं। परन्तु जो कोई प्रथम से त्रिगुण कृत, राग, द्वेष, मोह, काम लोभादिरूप

सन्निपात रोग युक्त होते भी भक्ति विवेकादि द्वारा इस त्रिगुण कृत त्रिदोषरूप सन्निपात को मारते हैं (ज्ञानाऽभ्यासादि से रागद्वेषादि को नष्ट करते हैं) सोई प्रथम के रोगियोंने भी अबसाधुजन (सज्जन कुशल) हो कर सिद्धि (मुक्ति) पाये हैं और पाते हैं।

अनहद कहत कहत जग विनशे, अनहद सृष्टि समानी।
निकट पयाना यमपुर धावै, बोलै एकै वानी ॥

निःसीमं ब्रह्म गायन्तोऽप्यन्ये संसारिणो जनाः।
विवेकेन विना नष्टा भ्रमन्तोऽन्वेषणे रताः ॥३५॥
सर्वात्मत्वेन सर्वत्र स्वर्गेऽत्र वर्तते विभुः।
बहिरन्तश्च भूतानां प्रविष्टः सङ्गवर्जितः ॥३६॥
तल्लब्धयेऽतिनिकटे हृदये सर्वदेहिभिः।
विधातव्या गतिः पुण्या नान्यत्र यमसद्मनि ॥३७॥
हा तथापि त्विमे लोका धावन्तेऽन्यत्र सर्वदा।
यमस्य नगरेऽभद्रे भाषन्ते च परं विभुम् ॥३८॥
भाषणेन भवेत्किं हि यावज्ज्ञानं न लभ्यते।
तस्माज्ज्ञानं सुसम्पाद्यं सविरागं सुनिर्मलम् ॥३९॥

उक्त सन्निपात को भजन विचारादि से नष्ट किये बिना, जगत के प्राणी सब मुख से अनहद (विभु) परमात्मा को कहते कहते=परमात्मा के नाम लेते लेते भी विनशे (नष्ट हुए) सुखशान्ति मुक्ति नहीं पाये। और जिस अनहद का नाम लेते हैं, सो अनहद वस्तु सृष्टि में (सब संसार सब देहों में) समानी (समाई हुई) है। परन्तु केवल कहनेवाले उसको पाते नहीं हैं, क्योंकि "है समीप सन्धि बूझै कोई।" समीप रहते भी उसके सन्धि (मर्म) को कोई कोई जानते हैं। उसकी प्राप्ति के लिये अत्यन्त निकट अपने हृदय में ही पयाना (यात्रा) की आवश्यकता होती है, सो यात्रा नहीं करके ये संसारी जहाँ तहाँ यमपुर में धावते (दौड़ते) हैं और केवल मुँख से अनहद की एक वाणी मात्र बोलते हैं।

सतगुरु मिले बहुत सुख लहिया, सतगुरु शब्द सुधारैं।
कहहिं कबिर सो सदा सुखारी, जो यह पदहि विचारै ॥७९॥

पुण्यपुञ्जेन चेत्कश्चित्प्राप्नुयाद् गुरुसन्निधौ।
लभ्यते तेन सत्सौख्यमनन्तं नात्र संशयः ॥४०॥

मिलेद् वै सद्गुरु र्यस्य तस्य भाग्यं परं मतम् ।
जीवन्मुक्तो विमुक्तः स मोदते सर्वदैव हि ॥४१॥
गुरवः शोधयन्तीहशब्दाँस्तेषां च शब्दकाः ।
साधयन्तीह कार्याणि चित्तं संशोधयन्ति च ॥४२॥
सद्गुरोः सारशब्दं यो हृदये धरति ध्रुवम् ।
भाजनं स महार्थानां जायते मुक्तिभाजनम् ॥४३॥
सद्गुरुश्चाह स प्राज्ञः सुखी स्यात्सर्वदैव हि ।
चिन्तयेत पदं यो वा इदमात्मानमेव च ॥४४॥
"मुक्तिदा[१]गुरुवागेका विद्याः सर्वा विडम्बकाः ।
काष्ठभारसहस्रेषु ह्येकं संजीवकं परम्" ॥४५॥
गुणेभ्यो विविक्तं हरिं संभजन्तो गुरौ भक्तियुक्तास्तरन्तीह दुःखम् ।
परानन्दमग्ना भवन्तीह लोके विशोका वसन्ति प्रमूढा स्तपन्ति ॥४६।७९॥

इति हनुमत्कृतायां शब्दसुधायां गुणेभ्यः परस्य हरे र्ज्ञानाज्ञाना-
भ्यां शान्तितापयोर्वर्णनं नाम त्रिंशत्तमस्तरङ्गः ॥ ३० ॥

श्री कबीरसाहब कहते हैं कि यदि ऐसे अनहद भाषी जीवों को किसी भाग्य वश सद्गुरु मिल जायें, तो इन्हें बहुत सुख का लाभ हो, तथा जिन्हे सद्गुरु मिल चुके हैं, उन लोगों ने बहुत (अनन्त) सुख का लाभकिया है । क्योंकि जो इस सद्गुरु के पद (शब्द उपदेश सत्यात्मा) को ही सदा विचारता है । अन्य शब्द जाल अनात्मा में नहीं फँसता है, उसको सद्गुरु का शब्द सुधार देता है (काम लोभादि से रहित पवित्र ज्ञानी कर देता है) अतः वह सदा सुखी रहता है ॥७९॥

अथ राममें रमणके बिना दण्ड भ्रमादिवर्णन प्र० ३१

शब्द ८०

राम न रमसि कवन दण्ड लागा । मरि जैवे का करवे अभागा ।
कोइ तपसी कोइ मुण्डित केशा । पाखण्ड भरम मन्त्र उपदेशा ॥

रामनाम्नि परे तत्त्वे हरौ यूयं चिदात्मनि ।
न रमध्वे बुधा यत्तत्कस्य दण्डस्य शङ्कया ॥ १ ॥

---

१ गरुड पु. अ. ४९।८९ ।

अत्रैव रमणान्नैव पुनर्दण्डो भविष्यति ।
तापादि लक्षणो यद्वा यमदण्डो भयङ्करः ॥ २ ॥
नात्र हानि र्भवेत्काचिद्दणं नैव च शिष्यते ।
अतो रमध्वं रामेऽत्रमृतौ किं साध्यतेऽल्पकाः ! ॥ ३ ॥
रमन्ते दुर्भगा विश्वे ह्यल्पभागाश्च दुर्धियः ।
मृतौ मोक्षं समिच्छन्ति प्रतीक्षन्ते कलेवरम् ॥ ४ ॥
"मोक्षः[1] शीतलचित्तत्वं बन्धःसन्तप्तचित्तता ।
एतस्मिन्नपि नार्थित्वमहो लोकस्य मूढता ॥ ५ ॥
केचित्तपस्विनो भूत्वा मुण्डिताश्च तथापरे ।
वर्तयन्तीह पाषण्डान् मन्त्रांश्च भ्रान्तिकल्पितान् ॥ ६ ॥

विभु इस सर्वात्मा राम को विचारने भजने से मनुष्य सदा सुखी होता है, तो भी जो कोई उस राम में नहीं रमते हो, सो कहो कि इस रामरमण (रामभजन) में कौन दण्ड लगा, या लगता है (क्या हानि होती है) कि जिसके भय से राम में नहीं रमते हो। अर्थात् कोई हानी नहीं होती है, किन्तु परम सुख शान्ति का लाभ होता है, तो भी तुम अभागा हो ! अतः राम में नहीं रामते हो । रे अभागा मर जायगा तब देहान्तरमें क्या करेगा अब भी जितना हो सकता हो, उतना रामभजन करो । आश्चर्य है कि परम सुख शान्तिप्रद राम भजन को नही करके कोई नख शिखाधारी तपस्वी बनते हैं, तो कोई केश मुड़ाकर संन्यासी बनते हैं । स्वधर्म रहित पाखण्डरूप वेष और भ्रमरूप मन्त्रों का उपदेश तथा धारण लोक मान्यता सिद्धि आदि के लिये करते हैं ।

बिद्या वेद पढि करै हंकारा । अन्तकाल मुख फाँकै छारा ॥
दुखित सुखित ह्वै कुटुम जेमावै । अन्तकाल एकसर दुख पावै ॥

विद्या वेदान् पठित्वा येऽहङ्कारंकुर्वते जनाः ।
अन्तकाले हि दुःखं ते भुञ्जते दाम्भिका नराः ॥ ७ ॥
स्वस्ववर्णाश्रमाचार[2] निरताः सर्वमानवाः ।
न जानन्ति परं धर्मं वृथा नश्यन्ति दाम्भिकाः ॥ ८ ॥
अहङ्कारफलं तीव्रं भुञ्जाना मानसैः सदा ।
लभन्ते न क्वचिच्छर्म दुर्मुखाश्चातिमत्सराः ॥ ९ ॥

---

१ योगवा. नि. उ. स. ६५।२१। सर्वमात्मानं पश्यति नैनं पाप्मातरति । बृ. ४।४। २३ । २ गरुडपु. अ. ४६।६८ ।

न वेदाऽध्ययनान्मुक्ति र्न शास्त्रपठनादपि ।
ज्ञानादेवहि कैवल्यं गर्वकर्मविनाशकात् ॥१०॥
स्वकुटुम्वेषु सक्तत्वात्सुखदुःखे विषह्य ये ।
वित्तं चोपार्ज्य रक्षन्ति भोजयन्ति कुटुम्वकान् ॥११॥
मृत्युकालेऽसहायास्ते लभन्ते दुःखमुल्वणम् ।
एकाकिनो न सन्देहः श्रीरामे रमणं विना ॥१२॥
"पुत्रदारकुटुम्वेषु[1] सक्ताः सीदन्ति जन्तवः ।
सरः पङ्कार्णवे मग्ना जीर्णा वनगजा इव ॥१३॥
शुभाशुभं समादाय पुमानन्यत्र गच्छति ।
अन्यत्र[2] वाऽस्य गच्छन्ति सुहृत्स्वजन बान्धवाः ॥१४॥

रामरमण विवेकादि के बिना बहुत विद्या और वेदों को पढ़कर भी देह विद्यादि के अहङ्कार करते हैं। अतः अन्तकाल तक मानो मुख से छार (खाक) फाँकते हैं (इन्द्रियों से विषय भोगते हैं) अन्तकाल में छार फाँकते हैं (कष्ट भोगते हैं) आनन्द नहीं पाते हैं। राम में रमने वाले विद्या वेद को पढ़कर ज्ञानी अहंकार रहित मुक्त अन्तकाल में होते हैं। और राम रमण के बिना जो लोग दुखित सुखित होकर, अन्याय से भी द्रव्यों का उपार्जन करके कुटुम्वों को जेमाते (खिलाते) हैं, सो भी अन्तकाल में एकसर (अकेले) दुःख पाते हैं, कोई कुटुम्व सहायक (दुःख वारक) नहीं होता है और रामभजन अन्तकाल में सहायक होता है ।

कहहिं कबिर ई कलि है खोंटी। जो रह करवा स निकलै टोंटी ॥८०॥

रामाद्विमुखतावात्मा पाषण्डगर्वलक्षणः ।
अयं कलि र्महाहीनो दुःखमूलं विडम्बकः ॥१५॥
यच्चात्र वर्तते देहे भाण्डे भावादि कर्म च ।
तद्विगच्छति जीवेन सह द्वारेण केनचित् ॥१६॥
लभते तेन दण्डान् स भोगाँश्चातिदुःखदान् ।
रामभक्ता तु सर्वं तन्नेति सद्गुरुराह तत् ॥१७॥
"नामुत्र[3] च सहायार्थं पिता मातापि तिष्ठतः ।
न पुत्रदारा न ज्ञातिर्धर्मस्त्वर्वाति केवलम् ॥१८॥

---

१ नारदीयपु. अ. ६।६५॥ २ इतिहास समुच्चये अ. १८।२२। ३ मनुस्मृ. ४।२३९। इतिहास स. १८।६॥

यमो[1] वैवस्वतस्तस्य निर्यातयति दुष्कृतम् ।
हृदिस्थः कर्मसाक्षी च क्षेत्रज्ञो यस्य तुष्यति ॥१९॥
न तु तुष्यति यस्यैष पुरुषस्य दुरात्मनः ।
तं यमः पापकर्माणं वियातयति दुष्कृतम् ॥२०॥

श्री कबीर साहब कहते हैं कि ई (यह) कलियुग खोट (हीन) काल है । तथा यह कलह कारक इन्द्रियों का स्थान स्थूल देह तो खोटी वस्तु क्षणभंगुर तुच्छ है । परन्तु इस स्थूल में रहने वाला जीवात्मा उसके धर्माधर्मादि स्थायी वस्तु हैं । अतः जो इस करवा (मृत्पात्रतुल्य शरीर) में रहता है, सोई अन्तकाल में किसी टोंटो (द्वार) से निकलता है । और राम भजनादि से ज्ञान होने पर गमनागमन से रहित मुक्तदण्ड रहित होता है । अतः रामभक्ति कर्तव्य है ॥८०॥

शब्द ८१

हरि बिनु भरम बिगुरचे गन्दा ।
जहँ जहँ गये अपन पौ खोये, तेहि फन्दे बहु फन्दा ॥
योगी कहै योग है नीको, द्वितीया और न भाई ।
लुञ्चित मुण्डित मौन जटाधर, तिनहुँ कहाँ सिधि पाई ॥

हरेर्भक्तिं विना विश्वे हीना भ्रान्ति र्विवल्गति ।
तया सर्वा विपत्तिश्च गत्यागत्यादि सर्वशः ॥२१॥
यत्र यत्रागमच्चायं भ्रान्तः कर्मनियन्त्रितः ।
चित्तस्याक्षस्य तत्रैव स्वानायात्मा[2] विलोपितः ॥२२॥
स्वात्मत्यागात्मपाशेन पाशा जाता ह्यनन्तशः ।
द्वन्द्वादिलक्षणाश्चैव बद्धास्तिष्ठन्ति ते जनाः ॥२३॥
योगिनो द्वन्द्वबद्धाश्च प्रशंसन्ति स्वयोगकम् ।
योगः श्रेष्ठो द्वितीयो न रामभक्त्यादिकोपि हि ॥२४॥
लुञ्चितो मस्तको येषां मुण्डितो वर्ततेऽथवा ।
ते मौना जटिलाश्चैव सिद्धिं विन्दन्ति कुत्र वै ॥२५॥
भक्तिं विना न कुत्रापि सत्या सिद्धि र्हि विद्यते ।
आत्मज्ञानविरागाभ्यां विना नैव च देहिनाम् ॥२६॥

---

१ म. भा. आदि प. अ. ७४ । ३१ । ३२ । निर्यातयति-निवर्तयति । वियातयति-विशेषयातनया दुष्कृतं क्षपयति । २ चित्तरूप अक्ष (पाशा) का सुन्दर आनयन (प्रापण) का स्थानरूप स्वानाय आत्मा ।

सर्वात्मा हरि गुरु की भक्ति अनुभूति के बिना गन्दा (हीन पाप जनक) भ्रम संसार में विगुरचता (फैलता) है, और फैला है। उस भ्रम पाप-कर्मादि के वश में होकर यह जीव जहाँ-जहाँ गया, तहाँ-तहाँ अपने पौ (दाव सुस्थान स्वरूप) को खोया (नष्ट किया, पाया नहीं) फिर उस आत्म त्याग विमोहरूप एक फन्द (बन्धन) से ममता अभिमान राग-द्वेषादिरूप बहुत फन्द हुए, और होते हैं। तहाँ उन फन्दों के वशवर्ती योगी कहलानेवाले कहते हैं कि सिद्धि आदि के हेतु योग ही नीको (श्रेष्ठ) है भक्ति ज्ञानादि दूसरा कोई साधन श्रेष्ठ नहीं है। इसी प्रकार लुञ्चित (वाल के लुञ्चनवाले जैनी) मुण्डित (संन्यासी) मौन (बुद्ध संन्यासी या मौनी) और जटाधारी (वैरागी = वानप्रस्थादि) ये सब अपने-अपने वेषादि को श्रेष्ठ कहते हैं। परन्तु अभिमानादि के नाशक रामरमण हरिभक्ति ज्ञान के विना उन लोगों ने भी सच्ची सिद्धि कहाँ पाई। अर्थात् समसर्वात्मा के ज्ञान हरि गुरु की भक्ति के विना वेषादिमात्र से किसी ने कहीं भी सच्ची सिद्धि मुक्ति नहीं पाई।

ज्ञानी गुनी शूर कवि दाता, ई जो कहहिं बड़ हमही।
जहँ से उपजे तहइँ समाने, छूटि गेल सब तबही॥
बायें दहिने तेजि विकारा, निज के हरि पद गहिया।
कहहिं कबिर गुँगे गुड़ खायो, पूछे सो का कहिया॥८१॥

पण्डिता गुणिनः शूरा दातारः कवयो जनाः।
वदन्ति स्वं स्वमात्मानं श्रेष्ठं रामं विनैव चेत्॥२७॥
यतो जाता हि गर्भादेस्तत्रैव प्रविशन्ति ते।
यदा तदैव नश्यन्ति सर्वे गर्वादि विभ्रमाः॥२८॥
सव्ये च दक्षिणे ये तु हित्वा द्वन्द्वानि युक्तितः।
यतस्ततो विकारांश्च त्यक्त्वा सर्वात्मकं हरिम्॥२९॥
सद्वस्तुत्वेन गृह्णन्ति स्वात्मत्वेन च सर्वदा।
तै मुंकै गुडवज्ज्ञातं प्रश्नेऽपि कथ्यतां किमु॥३०॥
प्रशंसन्ति न ते कञ्चिद्विनिन्दन्ति तथैव न।
स्वात्मत्वेन जानन्ति सर्वं तद्सद्गुरुरब्रवीत्॥३१॥८१॥

ज्ञानी (शास्त्रज्ञ विद्वान्) गुनी (कला कुशल) वीर, कवि, दानी ये सब अपने-अपने को बड़े कहते हैं कि हमही बड़े हैं। इस प्रकार से ज्ञानादि का अभिमान करते हैं। परन्तु रामरमणादि के बिना जिस गर्भादि से उपजे (जन्मे)

तहई (उसीमें) जब समाने (समाये) तबही (उसी समय) सब अभिमान छूट गये, छूट जाते हैं। क्योंकि लोभादि के समान अभिमान भी जन्मादि का हेतु होता है। और गर्भादि में प्राप्त होने पर कष्ट मोहादि से तबतक अभिमान चला जाता है। और भक्ति ज्ञान द्वारा जो कोई जहाँ जिस आनन्दस्वरूप से जगत उत्पन्न होता है, उसमें जब समाये लीन हुए, उनके अभिमानादि सहित सब संसार उसी क्षण में छूट गया। अतः श्रीकबीर साहब कहते हैं कि बायें दहिने (अशुभ शुभ) लोभादि ज्ञानाभिनादि दोनों प्रकार के सब विकारों को त्यागकर धर्माधर्मादि के अभिमान उत्तर, दक्षिण मार्ग की इच्छा इन सबको त्यागकर जिन्होंने निज कै (निज सत्य स्वरूप से) हरिपद (हरि स्वरूप वस्तु) को गहा (जाना) है। वे लोग गुंगे के गुड़ के समान पूछनेपर भी क्या कहेगें। किसकी स्तुति या निन्दा करेंगे, सर्वात्मा को सम ही कहेगें, निजात्मा के वाणी के अविषय होने से मौन ही रहेगें ॥ ८१ ॥

शब्द ८२

ऐसो भरम बिगुरचन भारी।
वेद कितेब दीन औ दोजख, को पुरुषा को नारी ॥

इत्थं भूता महा भ्रान्ति र्जाता विश्वविमोहिनी।
हरे र्ज्ञानं विना प्रौढा लोके शोककरी सदा ॥३२॥
विस्तृता त्रिषु लोकेषु वाधते सर्वदेहिनः।
भक्तिज्ञाने विना नैव जातु क्वापि निवर्तते ॥३३॥
वेदान् ग्रन्थाँश्च धर्मांश्च स्वर्गं नरकमेव च।
सर्वं व्याप्यैव तिष्ठन्ती देहात्मज्ञानकारिणी ॥३४॥
कोऽस्त्यत्र पुरुषो लोके का च नारी निगद्यते।
भ्रान्तिः स्त्रीपुंसयो र्भावस्त्वात्मा रामः सनातनः ॥३५॥
"नैव[1] स्त्री न पुमानेष न चैवायं नपुंसकः।
यद्यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स युज्यते ॥३६॥
मायाभिः[2] प्रत्यगज्ञानै र्यदि वाऽनृतबुद्धिभिः।
गम्यते पुरुरूपोऽज्ञैरेकोऽपि जलसूर्यवत्" ॥३७॥

अभिमान को नहीं त्यागने से सच्ची भक्ति और ज्ञान के बिना भ्रम का ऐसा भारी बिगुरचन (विस्तार = वृद्धि) हुआ है कि वह भ्रम वेद किताब

१ श्वेता० ५।१० ॥ २ बृ० वार्तिक० २।५।१२७ ॥

(ग्रन्थ शास्त्र कुरान) दीन (धर्म) और दोजख (नरक) आदि सभी स्थानों में फैल रहा है। वेदादि सब विषयक भ्रम संशय होता है, द्वेष-मोहादि सर्वत्र होते हैं। और वेदादि विषयक भ्रम से ही एक सत्यात्मा के निश्चय नहीं होने से नरकरूप देह में ही आत्मबुद्धि होने से आत्मा में नारीत्व पुरुषत्व आदि के अभिमानादि होते हैं, भ्रम के बिना कौन पुरुष है, और कौन नारी है। आत्मा में नारी पुरुषपन की प्रतीति भी भ्रम का ही विस्तार है।

माटी को घट साज बनाया, नादे बिन्द समाना।
घट विनशे क्या नाम धरहुगे, अहमक खोज भुलाना॥
एके त्वचा हाड़ मल मूत्रा, एक रुधिर एक गूदा।
एक बुंद ते सृष्टि रच्यो है, को ब्राह्मण को शूद्रा॥

देहरूपो घटः सर्वो जीवभोगस्य साधनम्।
मृदा वै रचितो हीनो रजोवीर्यमयः कृतः॥३८॥
वीर्यकार्यं हि तद्देहं शब्देषु प्राविशत्ततः।
कथ्यते बहुभिः शब्दैर्नैवात्मा कथ्यते तथा॥३९॥
अतो देहघटे नष्टे केन नाम्ना स कथ्यते।
कथं वा क्रियते किञ्च नामास्य ध्रियते जनैः॥४०॥
भो अज्ञा तद्धि जानीत विस्मृतं स्वं परं पदम्।
नामादिरहितं सत्यं किं मुधा परिधावथ॥४१॥
शरीरेषु त्वगेकैव समा चास्थि तथैव च।
मलं मूत्रमसृङ्मांसं सदृशं दृश्यते किल॥४२॥
तुल्यबीजकृते विश्वे ब्रह्म शूद्रो भवेद्धि कः।
मिथ्यैवायं विकल्पोऽस्ति स्वात्मा रामोऽजरोऽमरः।४३॥

माटी आदिरूप पाँच भूतों का कार्यरूप यह घट (देह) रूप साज (भोग का साधन) बनाया गया है, सो साज ही नाद (नामादिरूप शब्द और प्राण) में तथा पिता के बिन्दु (वीर्य) में समाया है : अर्थात् देह रजोवीर्य का कार्य है, प्राणादि के अधीन इसकी स्थिति रहती है, और स्त्री-पुरुषादि शब्दों से स्थूल देह ही कहा जाता है, देह के ही नाम धरे जाते हैं, सो आत्मा में भ्रम से भासते हैं। अतः घट (देह) के विनष्ट होने पर जीवात्मा के क्या (कौन) नाम धर सकोगे। रे अहमक (अज्ञ!) वह नामरूप रहित आत्मा ही तुम्हें भुलाना (भूला) हुआ है, उसको सत्सङ्गादि द्वारा खोजो (समझो) या उस

आत्मा की प्राप्ति के खोज (मार्ग) को तुम भूले हुए हो। अतः नामादि में भटकते हो। मार्ग को समझो। और समझो कि सब मानव शरीर में त्वचा, हाड़, मल, मूत्र, रुधिर, गूदा (मांस) आदि एक से होते हैं, और एक प्रकार के बिन्दु से सृष्टि रची गई है, तहाँ शरीर दृष्टि से भी कौन ब्राह्मणादि और कौन शूद्रादि हो सकते हैं, यह सब भी भ्रम अज्ञान का विस्तार है।

रजगुण ब्रह्मा तमगुण शंकर, सत्त्वगुणी हरि सोई।
कहहिं कबीर राम रमि रहिये, हिन्दू तुरुक न कोई ॥८२॥

रजो ब्रह्मा तमः शम्भुः सात्त्विको हरिरुच्यते।
आत्मा तत्तद्गुणै र्योगात्तत्तच्छब्देन कथ्यते ॥४४॥
विवेकेन गुणान् हित्वा त्यक्त्वा देहान् तथाऽखिलान्।
रमध्वं सततं रामे यो नाऽऽर्यो यवनो नहि ॥४५॥
यो न कश्चिच्च सर्वश्च रमध्वं तत्र वै बुधाः।
कबीरः सद्गुरुः प्राह भ्रान्तिचक्रनिवृत्तये ॥४६॥
चिदानन्दमेकं ह्यखण्डं निरीक्ष्य रमध्वं स्वरामे भजध्वं न गर्वम्।
न दण्डाः पतिष्यन्ति चैवं कदाचिद् भविष्यन्ति ते त्वन्यथा सम्प्रवृत्ताः ॥४७

इति हनुमत्कृतायां शब्दसुधायां श्रीरामे रमणं विना दण्डभ्रमादि वर्णनं नामैकत्रिंशत्तमस्तरङ्गः ॥ ३१ ॥

सर्वात्मा एक राम ही रजोगुण प्रधान उपाधि से ब्रह्मा, तमोगुणप्रधानोपाधि से शङ्कर होता है, और सो राम (ब्रह्म) सत्त्वगुणी होकर हरि (विष्णु) होता है। अतः ये नामादि भेद गुणमात्र में होते हैं, आत्मा राम में नहीं। गुण कर्मादि भेद से ही मनुष्यादि में भी अनन्त भेद होते हैं, सत्यात्मा सबका एक है। अतः श्रीकबीर साहब कहते हैं कि गुणकृत भेद भ्रम अभिमानादि को त्यागकर एक राम में रम रहो, तो हिन्दू तुरुकादि कोई भेद सत्य नहीं भासेगा। और जो एक राम में रम रहे हैं, सो हिन्दू तुरुकादि किसी स्वरूप नहीं हैं। किन्तु सर्वाभिमान रहित राम स्वरूप हैं ॥८२॥

अथ त्रिगुण कृतप्रपञ्चादि प्र० ३२

शब्द ८३

हंसा हो चित चेतु सवेरा। इन प्रपञ्च कयल बहुतेरा ॥

पाखण्ड रूप रचो इन तिरगुण, तेहि पाखण्ड भुला संसारा।
घर के खसम वधिक वै राजा, परजा का दहुं करै विचारा॥

भो विवेकव्रता जीवाः सावधानेन चेतसा।
आत्मैव ज्ञायतां शीघ्रं गुणसङ्गो न चिन्त्यताम्॥ १॥
"न कश्चिदपि जानाति किं कस्य श्वो भविष्यति।
तस्माच्छ्वः करणीयानि कुर्यादद्यैव बुद्धिमान्"॥ २॥
ज्ञानत्यागौ विनैवैते कृतवन्तो गुणा बहून्।
प्रपञ्चान् मोहजालाख्याँस्तैश्च संभ्रमणादिकम्॥ ३॥
मिथ्या पाषण्डरूपाणि रचितानि गुणैरिह।
तेषु संसारिणो भ्रान्ता लभन्ते न स्थितिं क्वचित्॥ ४॥
त्रिगुणोपासकाः सर्वे प्रपञ्चनिरता हि ये।
तै रचितैस्तु पाषण्डै र्भ्राम्यते खल्विदं जगत्॥ ५॥
ब्रह्मण्डाख्यगृहस्याथ देहरूपगृहस्य च।
स्वामिनो रक्षकाश्चैते राजानः सर्वसम्मताः॥ ६॥
ते परस्परवैषम्यात्पाषण्डरचनादितः।
वधिकत्वं यदाऽऽपन्नाः प्रजाः कुर्वन्तु किं तदा॥ ७॥

हे हंसो! (विवेकियों) अपने चित (चित्त = मन) में सवेरा (शीघ्र) चेतो। (सावधान होवो) या सवेरे चित (चेतनात्मा) को समझो। इसके बिना इन (उक्त) तीन गुणों ने तेरे बन्धनादि के लिये तेरा बहुत प्रपञ्च (विस्तार कल्पित स्वरूप) किया है। तीन गुणों ने पाखण्डस्वरूप (भ्रम संशयजनक वेषाकारादि) को रचा है। अतः उस पाखण्डस्वरूप में ही संसारी सब भूला है (सत्यादि बुद्धि से आसक्त है) देह संसाररूप घर के त्रिगुणमय देवादिक ही खसम (स्वामी रक्षक) हैं। परन्तु अविवेकी चेत रहित प्रजा के वे राजा ही वधिक होते हैं (कष्ट देते हैं) तो उनके वश में रहनेवाली प्रजा क्या विचार कर सकती है। अतः सावधान होकर उनकी अधीनता से मुक्त त्रिगुणातीत आत्मनिष्ठ होवो।

भक्ति न जानै भक्त कहावै, तेजि अमृत विष कैलन सारा।
आगे वड़े ऐसही भूले, तिनहुं न मानल कहल हमारा॥
कहल हमार गाँठि बाँधि हो, निशि वासर रहि हो हुसियारा।
ये कलि गुरु बड़े परपञ्ची, डारि ठगौरी सब जगह मारा॥

गुणासक्ता हि न सद्भक्तिं जानन्ति ह्यमृतप्रदाम् ।
कथ्यन्ते तेऽपि भक्ताश्च पूज्यन्ते मनुजै भृशम् ॥ ८ ॥
सर्वैः सत्यामृतं त्यक्त्वा सच्चिदानन्दलक्षणम् ।
सारं मत्वा विषं विश्वं गृहीतंमुल्वणं हि यत् ॥ ९ ॥
प्राक्तना ये महान्तस्तेऽप्येवं विभ्रान्तिसंयुताः ।
अभवन्नैव येऽस्माकं मन्यन्ते स्मोपदेशनम् ॥१०॥
अस्माकमुपदेशं भो हंसाः संगृह्य मानसे ।
विस्मर्तव्यो न कुत्रापि प्रेमबन्धेन रक्ष्यताम् ॥११॥
सावधानैः सदा भाव्यं रात्रौ चदिवसे तथा ।
विचाराद्यै र्गुणोच्छेदो विधातव्यः प्रयत्नतः । १२॥
वञ्चका गुरवो ये हि कलिकालस्य सम्मताः ।
प्रपञ्चनिरतैस्तै र्हि कपटै र्मारितं जगत् ॥१३॥
कपटानां प्रबन्धेन मोहजालं वितत्य ते ।
आत्मसिन्धोः पृथक् कृत्वा जीवान् हिंसन्ति मत्स्यकान् ॥१४॥

त्रिगुण वशवर्ती जीव, अहिंसा दया सत्य सन्तोष प्रेमादिमय स्वस्वरूप चिन्तन रूप भक्ति नहीं जानते हैं, तो भी भक्त कहलाते हैं। अतः सत्यात्मा अहिंसादि रूप अमृत को त्याग कर, त्रिगुण विषयादि हिंसादि रूप विष को ही सार (सत्य धर्म) रूप निश्चय किये हैं। आगे के जो बड़े लोग भी सावधानी के बिना ऐसही (आज के समान ही) गुणकृत प्रपञ्चों में भूले, उन लोगों ने भी हमारा (तात्कालिक सद्गुरु का) कहा नहीं माना। सवेरे नहीं चेता, इसीसे भूले। अतः तुम हमारी बात को गाँठी में बाँधि हो (हृदय में रखना) और रात दिन होसियार (सावधान) रहना क्योंकि इस कलि के गुरु कहलाने वाले भी बड़े प्रपञ्ची (मायावी) होते हैं। अतः ठगौरी (कपट की पासा) को डार कर सब जगत को मारा है (आत्म परमात्म से विमुख करके प्रपञ्चहिंसादि में लगाया है) जहाँगुरु ऐसे हैं, तहाँ अन्य की बात ही क्या कही जाय।

वेद कितेब द्वौ फन्द पसारा, तेहि फन्दे पर आपु विचारा।
कहहिं कबिर तेहि हंस न विसरो, जामे मिले छुड़ावनहार ॥८३॥

---

१ स्वस्वरूपानुसन्धानं भक्तिरित्यभिधीयते। विवेक चूड़ामणौ। स्थायी भावो भगवति यश्चिदानन्द लक्षणे। स्वतः प्रकाशते चित्ते स भक्तिरिति कथ्यते ॥१॥ भक्ति रसायने।

वेदादींश्च कुराणादीन् द्विधा पाशान् वितत्य ते ।
तेष्वेव तु गुरुं हित्वा विचारांश्चक्रिरे सदा ॥१५॥
जीवानां बन्धनार्थं वा स्वकीयभुक्तिसिद्धये ।
वञ्चकाश्चिन्तयन्त्यत्र शान्त्यै मुक्त्यै न कर्हिचित् ॥१६॥
सद्गुरुश्चाह भो हंसा विस्मर्तव्यो न स क्वचित् ।
गुरु र्वा सद्विचारादि र्यत्र मुक्तिप्रदो मिलेत् ॥१७॥
आत्मबोधश्च सद्धर्मो ह्यमानित्वमुखोऽमृतः ।
लभ्येत स सदा ध्येयो मोक्षकामै र्विचक्षणैः ॥१८॥
"सच्छास्त्रेभ्यः सतां सङ्गा त्सद्गुरोश्च स्वतस्तथा ।
ज्ञेयोऽन्तः प्रकृतेरन्य आत्मा सम्यङ् मुमुक्षुभिः ॥१९॥
आत्मायं वै दृढं ज्ञात्वा सङ्गं सर्वं ततस्त्यजेत् ।
अद्वैतसिद्धौ यतातामन्यसङ्गो ह्यरिः स्फुटम्" ॥८३॥

जीवों को विश्वासी बनाने के लिये, कलि के कुगुरुओं ने वेद कितावरूप दो फन्द (पाश=जाल) पसारा है। उसी फन्द पर, उसके अपने मन के अनुकूल अर्थ को आपही विचारा है, अतः सद्गुरु सत्सङ्गादि के बिना सत्यात्मा सद्धर्मादि के ज्ञान के अभाव से, स्वयं ही वे लोग "त्रैगुण्यविषया वेदाः" भ. गीता. २।४५ "यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्ति ।२।४२" इत्यादि वर्णित रीति से कामादि वश त्रिगुण विषयक वेदादि कृत बन्धन में पड़े रहते हैं, तो अन्य को मुक्त कैसे कर सकते हैं। अतः श्रीकबीर साहब कहते हैं कि हे हंसो उस सद्गुरु को कभी नहीं विसरो (भूलो) कि जिन में त्रिगुण० बन्धन को छोड़ाने वाला अनुभव मिले। अर्थात् सावधानी से ऐसे गुरु को खोज कर प्राप्त करो, फिर उस गुरु के ध्यान, सेवा आदि पूर्वक आत्मज्ञान को प्राप्त करो। इत्यादि ।८३॥

शब्द ८४

सन्त महन्तो सुभिरहु सोई। काल फाँसते बाँचा होई ॥
दत्तात्रेय मर्म नहिं जाना, मिथ्या साधि भुलाना।
सलिला मथिकै घृत को काढिन, ताहि समाधि समाना ॥

तं हि सत्पुरुषं तं च महान्तं स्मर सज्जन ! ।
जीवन्मुक्तो भवेद्योऽत्र कालपाशात्परः सदा ॥२१॥

किञ्च सत्पुरुषाः सर्वे महान्तो ये मुमुक्षवः ।
ते स्मरन्तु हि तं रामं यो न कालै र्निबध्यते ॥२२॥
सद्भक्तिसुविचाराद्यैर्विना रामो न लभ्यते ।
हठाद्यैः कर्मणा युक्त्या भक्त्या त्रिगुणयाऽथवा ॥२३॥
अतो मिथ्याविचाराद्यै र्दत्तात्रेयो महामुनिः ।
भ्रान्तोऽभवन्न सत्तत्वरहस्यं लब्धवान् हि तैः ॥२४॥
गुणात्मसलिलं ध्यानै र्मथित्वा स प्रयत्नतः ।
कल्पितानन्दरूपं हि घृतञ्चोद्धृतवाँस्ततः ॥२५॥
तत्रैव च समाध्यर्थं हृद्गुहायां विवेश सः ।
यावन्न स्वात्मरामस्य विज्ञानं लब्धवान् प्रभुः ॥२६॥
ज्ञानं लब्ध्वा हि देवो वा दत्तात्रेयः परे शिवे ।
रामे कृत्वा समाधिं वै तत्रैव प्रविवेश ह ॥२७॥

हे हंस ! सोई (उन ही) सन्त महन्तों को सुमिरो कि जो स्वयं काल फाँस से बचे हों, और जिन में काल फांस से छुड़ाने वाला अनुभव मिल सके। तथा हे सन्तो ! महन्तो ! सोई (उसी) रामको सुमिरो जो अविनाशी हो। क्योंकि सन्त महन्त की भक्ति और अविनाशी के स्मरण विचार ध्यानादि के बिना श्रीदत्तात्रेय जी ने भी अविनाशी सत्यात्माराम के मर्म (भेद रहस्य) स्वरूप को नहीं जाना। अतः सच्ची समाधि के विघ्नरूप मिथ्या वस्तु की समाधि को साध कर भूले रहे। प्रथम मानो पानी को मथ कर कल्पित घृत को काढिन (निकाला) अर्थात् त्रिगुण के ध्यानादि से क्षणिक शान्ति सुख को प्राप्त किया। परन्तु उससे तृप्ति नहीं हुई, तो फिर ताही (उसी) अविनाशी की समाधि में समाये (लीन हुए) और तृप्ति पाये, अतः अविनाशी राम का स्मरण कर्तव्य है।

गोरख पवन राखि नहिं जाना, योग युक्ति अनुमाना।
ऋद्धि सिद्धि संयम बहुतेरी, पार ब्रह्म नहिं जाना ॥
वशिष्ठ श्रेष्ठ विद्या अधिकारी, रामैसे शिप साखा।
जाहि राम को करता कहिये, तिनहुँक काल न राखा ॥

गोरक्षः पवनं रुध्वा रामात्मानं न लब्धवान् ।
प्रत्यक्षं किन्तु योगस्य युक्त्यैवानुमिमाय सः ॥२८॥

संयमै ऋद्धयो जाता सिद्धयश्च पृथग्विधाः।
परं ब्रह्म न तैः सोपि लब्धवान् ज्ञानमन्तरा ॥२९॥
वसिष्ठोऽसौ महा श्रेष्ठो ब्रह्मविद्याऽधिकारवान्।
यस्य रामोऽभवच्छिष्यः सखा चात्यन्तवल्लभः ॥३०॥
यं च रामं जनाः प्राहुः कर्तारमीश्वरं हरिम्।
तं[1] कालोऽस्थापयन्नात्र वसिष्ठं देहिनं तथा ॥३१॥
अतो देहं विसृज्यैव त्रिगुणं तत्परं प्रभुम्।
कालपाशै विनिर्मुक्तं जानीहि च भजस्व तम् ॥३२॥
"कालः[2] पचति भूतानि सर्वाण्येवात्मनात्मनि।
यस्मिंस्तु पच्यते कालस्तं न वेदेह कश्चन" ॥३३॥

श्रीगोरख जी ने भी पवन (प्राण) को राखा (निरोध किया) कि जिससे समाधिस्थ हुए। परन्तु सद्गुरु स्मरण विचारादि के विना पर ब्रह्मस्वरूप निजात्मा को नहीं जाना (प्रत्यक्ष अनुभव नहीं किया)। किन्तु योग (प्राणायाम धारणा ध्यानादि) और युक्ति (तर्कादि) से अनुमानमात्र किया तथा योग की युक्तिरूप धारणा ध्यान समाधि की एक विषयता रूप संयमों से ऋद्धि सिद्धि बहुत प्रकार की प्राप्त हुईं, परन्तु त्रिगुण से पार ब्रह्म को गुरु स्मरणादि के विना नहीं जाना। श्री वसिष्ठ जी अतिश्रेष्ठ और विद्याओं के अधिकारी (आचार्य) हुए। जिन के भगवान् श्रीरामचन्द्र ऐसे महापुरुष शिष्य रूप शाखा (वंश) हुए। और विद्या आदि विभूतियुक्त जिस श्रीरामचन्द्रजी को कर्ता (ईश्वर भगवान्) कहा जाता है। तिनहुँ (उन श्री गोरख श्रीवसिष्ठ श्री रामचन्द्र) को भी इस भूमि पर काल सदा नहीं रहने दिया। अतः गुण मयदेहादि से रहित ही गुरु ईश्वर कर्ता के सत्य स्वरूप को कालफांस से रहित समझो, और संभार कर देहादि रहित के स्मरणादि करो, ऋद्धि सिद्ध आदि में नहीं भूलो।

---

१ रामं दासरथिं चैव मृतं संजय। शुश्रुम। यं प्रजा अन्वमोदन्त पिता पुत्रानिवौरसान् ॥ १ ॥ महाभा. द्रोणप० अ. ५६। १। शा. अ. २९ ॥
२ महाभा. शा.२३९। २५ ॥ एक एव त्रिलोकात्मा रूपादिगुण वर्जितः। रूपं तस्य न जानान्ति ब्रह्मादित्रिदिवौकसः ॥१॥ अहमेको महादेवि किञ्चिज्जानामि तं विभुम्। केदार खं. अ. १। अरुन्धतीं प्रति वसिष्ठोक्तिः। इत्याद्यभ्युपगमवादेनाप्यत्रत्योक्तिः।

हिन्दू कहै हमे लै जारब, तुरुक कहै मोर पीर।
दोनों आय दीन महँ झगड़हिं, देखहिं हंस कबीर ॥८४॥

देहात्मधिषणा ह्यार्या मृतं दृष्ट्वा कलेवरम्।
वदन्ति तद्गृहीत्वा वै दाह्यो मेऽस्य गुरोर्हितः ॥३४॥
तुरुष्काश्च वदन्त्येवं वर्ततेऽयं गुरुर्हि नः।
अतो भूमौ निखातव्यः खनित्वाऽतो गतिर्भवेत् ॥३५॥
युद्ध्यन्तीत्थं हि धर्मार्थमुभये प्राप्य दुर्धियः।
सद्विवेकिजनस्तत्वं कबीरो वाऽत्र पश्यति ॥३६॥
अनेनैव गुरु र्नैजं वृत्तान्तमप्यसूचयत्।
स्वशिष्याणां सुबोधार्थं देहात्मत्वनिवृत्तितः ॥३७॥

निखिलभुवनकोशेष्वात्मरूपेण सन्तं, त्रिगुणपरमनन्तं राममादर्शयन्तम्।
जनिमृतिकरमार्गात्सर्वमावारयन्तं, निजमनसि लसन्तं संभजेऽहं तुरीयम् ३८

इति हनुमत्कृतायांशब्दसुधायांत्रिगुणप्रपञ्चवर्णनं नामद्वात्रिंशत्तमस्तरङ्गः ३२

शरीरों से भिन्न हरि गुरु आदि के सत्य स्वरूप को नहीं समझने के कारण देहाभिमानी हिन्दू मृत पिता गुरुजनादि के शरीर को लेकर कहता है कि इस देह को हम जलायेंगें, तभी इन गुरुजनों की सद्गति होगी, और तुरुक कहता है कि ये मृत देह स्वरूप मेरे पीर (गुरु) हैं। इन्हे गाडूँगा, गाड़ने से इन की सद्गति होगी, इस प्रकार से दोनों आकर (मिलकर) अपने अपने दीन (धर्म) में आत्मविवेकादि के बिना झगड़ते हैं (विवादादि करते हैं) परन्तु हंस (विवेकी) साक्षी तटस्थ उदासीन रूप से देखते हैं, जारने गाड़ने से सुगति कुगति नहीं मानते हैं, किन्तु सत्कर्मादि से सद्गति मानते हैं, अन्यथा कुगति मानते हैं, इत्यादि ॥ ८४ ॥

अथ मन को चीन्हने बिना रागादि वर्णन प्र० ३३

शब्द ८५

ता मन को चिन्हहु रे भाई। तन छूटे मन कहाँ समाई ॥
सनक सनन्दन जय देव नामा। भक्ति हेतु मन उनहुं न जाना ॥
अम्बरीष प्रहलाद सुदामा। भक्त सहित मन उनहुं न जाना ॥
भरतरि गोरख गोपीचन्दा। ता मन मिलि मिलि कियो अनन्दा॥

भ्रातरस्तन्मनो वित्त किं मुधा परिधावथ।
शरीरापगमे चैतत्कुत्राविशति वित्त तत्॥ १॥
यावन्न ज्ञायते चैतत्तावद् भेदं प्रकल्प्य तत्।
प्रपञ्चं कुरुते सर्वं विभ्रमं भुक्तिमेव वा॥ २॥
मतिं कारयते भिन्नां भक्तिं चैव क्रियां तथा।
साधिष्ठानं च तज्ज्ञातं भेदानां कुरुते लयम्॥ ३॥
"चित्तमेव[1] हि संसारो रागादि क्लेश दूषितम्।
तदेव तद्विनिर्मुक्तं भवान्त इति कथ्यते॥ ४॥
मनो हि जगतां कर्तृ मनो हि पुरुषः परः।
मनः कृतं कृतं लोके न शरीर कृतं कृतम्"॥ ५॥
सनकोहि महायोगी तादृशश्च सनन्दनः।
जयदेवश्च नामाख्यो भक्तिहेतुं न वेद तत्॥ ६॥
अम्वरीषो हि राजर्षिः प्रह्लादो ध्यानतत्परः।
सुदामा विप्रवर्यश्च सर्वे भक्तोत्तमाः स्मृताः॥ ७॥
तत्तथापि न ते विद्युः स्वान्तं भक्ते हिं साधनम्।
यावत्तावदमी सर्वे भेदेनैवाचरन् सदा॥ ८॥
भर्तृहरिश्च गोरक्षो गोपीचन्दश्च योगवित्।
मनसा तेन सम्मिल्य परानन्दमवाप्तवान्॥ ९॥

उपदेश है कि रे भाई! शरीर को जलाने गाड़ने आदि के लिये क्यों झगड़ते हो। जो मन जन्म मरणादि का, तथा सद्गति आदि का हेतु है (बन्ध मोक्षादि का मुख्य कारण है) उस मन को चीन्हो (समझो) कि शरीर छूटने पर कौन मन कहाँ समाता है। क्योंकि मनोगत वासना कामादि के अनुसार ही संसार में गति या मुक्ति जीवों की होती है। अतः महात्मा श्री सनक, सनन्दन, कवि जयदेव, भक्त नामा (नामदेव) के मनही भक्ति का हेतु हुआ। परन्तु भक्तिकाल में भक्ति के हेतुरूप मन को उन लोगों ने भी नहीं जाना। किन्तु निजात्मा में भक्ति के हेतुत्व का आरोप उनके मन ने ही करवाया। आत्मा सेव्य सेवकादिभाव से रहित है। परन्तु भक्तिकाल में इस तत्त्व को भुला करके हीं भक्ति की जाती है। इसी प्रकार अम्वरीष, प्रहलाद और सुदामा ने भी अन्य भक्तों सहित भक्ति के हेतुरूप मन को नहीं जाना। अतः आत्मा से विविक्त मन का ज्ञान अत्यन्त दुःसाध्य है। तथापि भर्तृहरि, गोरख

---

१ योगवा. ३।८४।३०॥३।८९।१॥

और गोपीचन्द ने योगवल से मानस विभूतियों को पाकर, मनोमय उन विभूतियों से मिल-मिलकर आनन्द किया (आनन्द का जनुभव किया)। भाव है कि "मन माया दुइ एक है, माया मनहि समाय। बी० साखी १११" "माया के वशि सब परे, ब्रह्मा विष्णु महेश। सनक सनन्दन नारदहुँ, गौरी पूत गणेश॥ बी० साखी १४६" "उनहुँ न भौ उपदेश। हिंडोला ३" इत्यादि वक्ष्यमाण रीति से अनिर्वाच्य मायातुल्य मन भी वास्तवरूप से अज्ञेय है। और पूर्व जन्म में निष्कामतार्थक उपदेशादि के अभाव से सकाम तप आदि के द्वारा जो सिद्धि अधिकारादि मिलते हैं, सो मनोमाया के प्रपञ्चरूप और उनके वास्तविक मिथ्या स्वरूप के अज्ञानमूलक रहते हैं, मुमुक्षु को ऐसा समझना चाहिये।

जा मन के कोई जान न भेवा। ता मन मगन भये शुकदेवा॥
शिव सनकादिक नारद शेखा। तन भीतर मन उनहुँ न पेखा॥
एकल निरञ्जन सकल शरीरा। ता महँ भ्रमि भ्रमि रहल कबीरा॥८५॥

यस्य च मनसस्तत्त्वं वेत्ति कोपि न मानवः।
तस्य वै मनसो मार्गे शुकदेवो न चागमत्॥१०॥
किम्वा ज्ञात्वा मनस्तस्य साक्षिरूपे चिदात्मनि।
मग्नोऽभवन्महायोगी शुकदेवो विवेकवान्॥११॥
शिवोऽथ सनकाद्याश्च नारदः शेष एव च।
स्वशरीरे स्थितं स्वान्तं दृष्टवानञ्जसा नहि॥१२॥
अतस्तत्केवलं स्वान्तं वर्तते वै निरञ्जनम्।
सर्वदेहेषु तिष्ठत् तद् ब्रह्मापि कथ्यते बुधैः॥१३॥
भ्रान्त्वा भ्रान्त्वाऽज्ञजीवाश्च तत्र तिष्ठन्ति सर्वदा।
लभन्ते न गतिं शुद्धामतस्तज्ज्ञायतां मनः॥१४॥
"ज्ञमनो[1] नाशमभ्येति मनोऽज्ञस्यतुश्रृङ्खला।
आत्मानं च मनस्तस्माद् वित्तभोःपुरुषोत्तमाः॥१५॥
तामसै र्वासनाजालै र्व्याप्तं यज्जन्मकारणम्।
विद्यमानं मनो विद्धि तद्दुःखायैव केवलम्॥१६॥
व्याप्तं वासनया यत्स्याद्भूयो जननमुक्तया।
जीवन्मुक्तमनस्तच्च सत्वमित्यभिधीयते॥१७॥

---

१ योगवा० ४।३५।१८॥५।९०।६-१९।५५।

त्यक्तावने[1] विटपिनो भूयः पत्राणि नो यथा।
निर्वासनस्य जीवस्य पुनर्जन्मादि नो तथा" ॥१८॥
गुणैस्तेषां भक्तैरिह बहुविधाः कारिताः स्वीकृताद्याः,
लसन्ति व्यापारा अकृतधिषणे भ्रान्तिवैपुल्यसिद्धौ।
समर्थास्तस्मात्स्वेऽविकृतहृदये सर्वदा चिन्तनीयम्।
मनः स्वात्माशुद्धोऽतिविजनभुवि भ्रान्तिबाधानिवृत्त्यै ॥१९॥८५॥

जिस मन के भेव (भेद=मर्म) को कोई अविवेकी नहीं जानता है, उस मन के मग (मार्ग कामक्रोधादि के वश) में श्रीशुकदेवजी कभी नहीं गये, या विवेकी शुकदेवजी उस मन में मग्न हुए, मन के अन्दर साक्षी रूप से प्रवेश किये, मन के मार्गों में नहीं भटके। और श्री शिवजी, सनकादिक, नारदजी और शेष भगवान् ने भी अपने अपने शरीरों के भीतर बैठा हुआ मन को नहीं देखा, किन्तु अपने अपने अधिकारपर्यन्त अधिकारों (व्यवहारों) में विचरते हुए मन को देखा, क्योंकि व्यवहार काल में एकल (अकेला) मन ही निरञ्जन (समर्थ = ईश्वर) होकर, सब शरीरों में वर्तमान रहता है, उस मन के ही मिथ्या प्रपञ्च में सत्यादि बुद्धि से भ्रान्त होकर जीव संसार में रहा और रहता है। आत्मा साक्षी मात्र रहता है, वह न प्रपञ्च करता है, न प्रपञ्च में भ्रमता है, वही क्षेम ब्रह्म है। परन्तु इस मन के प्रपञ्च से छूटने के लिये प्रथम मन ही को समझना चाहिये कि (मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः। बन्धाय विषयाशक्तं मुक्त्यै निर्विषयं मनः ॥१॥८५॥

शब्द ८६

झगरा एक बढ़ो राजा राम। जो निरुवारे सो निर्वान ॥
ब्रह्म बड़ा कि जहाँ से आया। वेद बड़ा कि जिन उपजाया ॥
ई मन बड़ा कि जेहि मन मान। राम बड़ा कि रामहि जान ॥
भ्रमि भ्रमि कबिरा फिरै उदास। तीरथ बड़ा कि तीर्थक दास ॥८६॥

मनोज्ञानं विना लोके संशयाद्यात्मकं महत्।
युद्धं संवर्तते तच्च वर्द्धतेऽहर्निशं प्रभो! ॥२०॥
यश्चैनद् बाधते विद्वान् विज्ञानबलवान् सुधीः।
भवबन्धाद्विमुक्तः स निर्द्वन्द्वो वर्तते सदा ॥२१॥

---

१ योगवा. ४। ३४। १८॥ ५। ६०। ६।१६॥ ५। ४८। ५५॥

ब्राह्मणत्वमुत ब्रह्मा श्रेष्ठो ज्ञेयोऽथवा यतः ।
आगतं तच्च ब्रह्मा च स श्रेष्ठो जगतां प्रभुः ॥२२॥
वेदाः श्रेष्ठा यतो वा ते जाताः श्रेष्ठः स कथ्यताम् ।
मनो ज्येष्ठं यतो वा तन्मन्यते स परः शिवः ॥२३॥
तटस्थोऽसौ परो रामो यद्वा ज्ञाताऽस्य विद्यते ।
जलाद्यात्मकतीर्थं वा तीर्थभक्ताः सचेतना ॥२४॥
इत्थं संशयसंयुक्ता भ्रान्ताः सर्वे जनाः खलु ।
ग्रामं ग्राममुदासीना विचरन्ति यतस्ततः ॥२५॥
मनो निगृह्य विज्ञानात्संशयान्नाशयेत्तु यः ।
सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तः स लभेत स्थितिं स्थिराम् ॥२६॥
इदं ब्रह्म त्विदं क्षत्रं देवा लोका इदं हि सत् ।
वेदाश्च सर्वभूतानि स्वात्मैवास्ति निरञ्जनः । २७॥
सर्वभावपदातीतं सर्वभावात्मकं च वा ।
यः पश्यति सदात्मानं द्वन्द्वमुक्तो भवत्यसौ ॥२८॥८६॥

इति हनुमत्कृतायां शब्दसुधायां मनोज्ञानं विनारागरोषादि-
वर्णनं नामत्रयस्त्रिंशत्तमस्तरङ्गः ॥३३॥

हे राजाराम (विवेकि जीवात्मन् !) एक प्रकार का झगड़ा (संशयादि जन्य कलह) संसार में बहुत बढ़ गया है, जो कोई विवेक बिचारादि से इसको निरुवारेगा (निवृत्त करेगा) सोई निर्वान (मुक्त) होगा। झगड़ा (संशय) है कि, ब्रह्म (ब्रह्मा तथा ब्राह्मणत्व) बड़ा है कि "इदं ब्रह्मेदं क्षत्र मिमे लोका इमे देवा इमे वेदा इमानि भूतानीदं सर्वं यदयमात्मा । बृ.४।५।७। यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वम् । श्वेता. ६।१८" इत्यादि वचनों के अनुसार ब्राह्मणत्वादि और ब्रह्मा जहाँ से आये (सिद्धहुए) हैं। सो ब्रह्मात्मा बड़ा है। और अनादि माने गये वेद बड़े हैं कि "अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेत-दृग्वेदः बृ. ३।४।१" जिस के निःश्वास तुल्य अनायास ऋग्वेदादि होते हैं। अतः जिसने वेदों को उपजाया (व्यक्त किया) है, सो बड़ा है और यह प्रपञ्च करने वाला मन बड़ा है कि "येनाहु र्मनो मतम् । केन खं. १।५। मन्वानो मनः । बृ. १।४।७" मनको प्रकाशने वाला मननशक्ति वाला बड़ा है। इसी प्रकार तटस्थ देवादिस्वरूप राम (ईश्वर) बड़ा है कि "स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता । श्वेता ३।१९" जो सब वेद्य वस्तु रामादि को जानता है और जिसको विषय रूप से जानने वाला कोई नहीं है, सो बड़ा है।

इत्यादि झगड़ा बढ़ा है कि जिससे कबिरा (जीव) सब भ्रम में पड़ पड़ कर उदास हुआ फिरता है। इसको यह भी संशय होता है कि ऋषि मुनियों से सेवित जलादि स्वरूप तीर्थ बड़ा है, कि तीर्थ का सेवक चेतन बड़ा है, इत्यादि। तहाँ एक सत्य सर्वात्मा को सबसे बड़ा समझकर इन संशयों को नष्ट करने वाला मुक्त होता है। क्योंकि उक्त आत्मा केही सत्त्व प्रकाशादि की अधिक अभिव्यक्ति से अन्य में भी श्रेष्ठत्व होता है, न्यूनाऽभिव्यक्ति से लघुता होती है, तथा माया के कर्तृत्वादि आत्ममूलक ही है "मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्। श्रीमद्भ.गी.अ.९।१०" मुझ अविक्रियस्वरूप चेतनात्मा अध्यक्ष (अधिष्ठाता = स्वामी) से चुम्बक तुल्य सामीप्य मात्र से प्रेरित = प्रवर्तित गुणात्मक माया रूप चेतनतुल्य होकर चराचर को रचती है, चराचर सहित जगत् को उत्पन्न करती है, इत्यादि ॥८६॥

अथ अविकारिभगवत्स्वरूप प्र० ३४

शब्द ८७

चातक कहाँ पुकारै दूरी। सो जल जगत रहा भरि पूरी ॥
जेहि जल नाद बिन्द के भेदा। षट कर्म सहित उपानो वेदा ॥

नराश्चातकवत् कस्माद् दूरस्थं जलवद्धरिम्।
आह्वयध्वेऽन्तिकस्थं न तं जानीथ कदाचन ॥ १ ॥
यस्य लाभाद् भवेत्तृप्तिरक्षया न पुन र्भवः।
तज्जलं हि जगत्यस्मिन् पूर्णं सर्वत्र वर्तते ॥ २ ॥
"य[1] इमं मध्वदं वेद आत्मानं जीवमन्तिकात्।
ईशानं भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते ॥ ३ ॥
अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम चेत्यंशपञ्चकम्।
आद्यं त्रयं ब्रह्मरूपं जगद् रूपं ततो द्वयम्" ॥ ४ ॥
यस्मिञ्जले हि नादानां बीजानां जायते भिदा।
सत् कर्मसहिता वेदा[2] यस्मिन्नेव च जज्ञिरे ॥ ५ ॥

---

१ कठ० अ० २।४।५। मध्वदं = कर्मफलभोक्तारम्। जीवं = प्राणादि धारकम् ॥ २ तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः ऋचः सामानिजज्ञिरे। छन्दांसिजज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायदत ॥१॥

उपदेश है कि जो सबसे बड़ा है, जिसके ज्ञान से मुक्ति होती है, सो जगत में सर्वत्र भरपूर (व्यापक=सर्वात्मा) है, अति सूक्ष्म है। अतः हे चातक तुल्य भक्त जीव! विद्या रूप स्वाति नक्षत्र में प्राप्त करने योग्य तृप्तिप्रद मोक्ष-दाता उस हरि (ब्रह्म) स्वरूप जल को दूर समझ कर अन्यत्र कहाँ क्यों पुकारते हो, उसको हृदय में ही खोजो, विचारो, सर्वत्र सर्वात्मा रूप से उसका अनुभव करो। क्योंकि जिस जल तुल्य साधारण कारण रूप हरि में ही नाद (प्राण शब्द) और विन्दु (वीर्यादि) विशेष कारण कार्यों के भेद (विस्तार) रूप, नाम रूप देहादि रूप सब संसार हुए हैं। और जिस जल में अध्यन, अध्यापन, यजन, याजन, दान और प्रतिग्रह रूप षट् कर्मों के प्रतिपादन सहित वेद सब उत्पन्न हुए हैं। उसको अन्यत्र कहाँ पुकारते खोजते हो, वह आनन्द स्वरूप तेरे हृदय में ही विचारादि से व्यक्त कर्तव्य है, यहाँ ही उस का अनुभव करो। "रसो वै सः। रसँ ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति॥ तैत्तिरीय २।७" वह ब्रह्मात्मा रस (आनन्द) स्वरूप है, उसी आनन्द को पाकरके यह जीव आनन्द वाला सुखी होता है। अन्यथा नहीं।

जेहि जल जीव शीव का वासा। सो जल धरणि अमर परकाशा॥
जेहि जल उपजल सकल शरीरा। सो जल भेद न जानु कबीरा॥८७॥

यस्मिञ्जले च जीवानामीश्वराणां स्थितिः सदा।
तज्जलं पृथिवीलोके देवलोके प्रकाशते॥ ६॥
अमृतं वा जलं यद्धि पृथिव्यामस्ति सज्जनाः।
तज्जानीत यतः सर्वद्वन्द्वानि न भवन्ति हि॥ ७॥
यदज्ञाने[1] जले यस्मिन् देहा जाता हि सर्वशः।
तद्रहस्यं न जानन्ति जीवास्तस्माद् भ्रमन्ति हि॥ ८॥
"आत्मैव देवताः सर्वाः सर्वमात्मन्यवस्थितम्।
आत्मा हि जनयत्येषां कर्मयोगं शरीरिणाम्॥ ९॥
चिद्धातुर्यत्र यत्रास्ते तत्र तत्र निजं वपुः।
पश्यत्येव जगद्रूपं व्योमतामेव चात्यजत्"॥१०॥८७॥

जिस जल (आनन्द स्वरूप निर्गुण सर्वात्मा ब्रह्म) में अविद्यादियुक्त व्यावहारिक जीवों का तथा शिव (सर्वज्ञ ईश्वर ब्रह्मा विष्णु आदि) का वास (स्थिति) है। सो जल (वही सर्वात्मा) धरणी (भूमि) और अमर (देव-

---

१ यदज्ञाने सति=जिसके अज्ञान के रहते॥

लोक स्वर्गादि) में प्रकाश करता है, सूर्य-चन्द्रादि भी उसीसे प्रकाशते हैं। क्योंकि सब धरणी आदि में आत्मा ही अमर (अविनाशी) प्रकाश स्वरूप है, अन्य सब प्रकाशों के अभावकाल में आत्मा प्रकाशता है। और जिस जल में ही माया अविद्या कामादि द्वारा सब शरीर उपजल (उत्पन्न हुआ) है। आश्चर्य है कि अत्यन्त निकटवर्ती सो जल (उस ब्रह्म) के भेद (मर्म) को कबीरा (जीव) नहीं जानता है, और दूर के जल (सुख) के लिये ईश्वर-देवादि को पुकारता है। अतः कहा जाता है कि हे जिज्ञासु जीव ! उसी सत्य जल के भेद (रहस्य) को सद्गुरु विचारादि द्वारा जानो न कि जिससे समूल आशा तृष्णादि नष्ट हो जायें। "आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः। किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत् ॥ बृ० ४।४।१२" यदि आत्मा को पुरुष जान जाय कि यह सर्वसाक्षी स्वरूप मैं हूँ, देहादि स्वरूप नहीं, तो फिर किसकी इच्छा करता हुआ किस काम के लिये शरीर को पीड़ित करेगा। "न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः। तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥ कठ० २।५।१५॥ आत्मैवास्य ज्योति र्भवति। बृ० ४। ३। ६" आत्माप्रकाशकः स्वच्छो देहस्तामस उच्यते। तयोरैक्यं प्रपश्यन्ति किमज्ञानमतः परम् ॥१॥ आत्मनस्तत्प्रकाशत्वं यत्पदार्थावभासनम्। नाग्न्यादि दीप्तिवद्दीप्ति र्भवत्यान्ध्यं यतो निशि ॥२॥ आत्मविषयक सूर्यादि का प्रकाश नहीं होता है, तो यह आत्मविषयक प्रकाश कैसे कर सकता है। उस आत्मा के प्रकाशित रहते ही यह सब जगत् प्रकाशता है, क्योंकि उसीके प्रकाश से सब प्रकाशता है। आत्मा ही इस जगत् की ज्योति होती है। स्वच्छ आत्मा प्रकाशक है, और देह तामस कहा जाता है, उन दोनों की एकता को प्राणी समझते हैं, इससे अन्य अज्ञान क्या है, यही अज्ञान है ॥ १ ॥ आत्मा को वह प्रकाशत्व है कि जो पदार्थों का अवभासन् अनुभव होना है, अग्नि आदि की दीप्ति के समान दीप्ति नहीं है। क्योंकि रात्रि में अन्धता होती है ॥ २ ॥ ८७ ॥

शब्द ८८

जो पै बीजरूप भगवाना। तौ पण्डित का पूछहु आना ॥
कहँ मन कहँ बुधि कहँ हंकारा। सत रज तम गुण तीन प्रकारा ॥

भगवान् बीजवच्चेद्धि परिणामी मते तव।
संसाराश्वत्थरूपेण जायतेचेत्स्वयं हरिः ॥१२॥

तदा पृच्छति किं ह्यन्यत्पण्डितेभ्यो भवान् मुहुः।
प्रत्यक्षं जगदेतद्धि भगवानेव सर्वथा ॥१२॥
निरोद्धव्यं मनः कुत्र शोध्या बुद्धिः क विद्यते।
हेयः कुत्र त्वहङ्कारो रजः सत्त्वं तमस्तथा ॥१३॥
सत्त्वादिगुण भेदेन ज्ञानकर्मादि वस्तुषु।
त्रिधा भेदः कुतः कुत्र कथं सम्भाव्यते त्वया ॥१४॥
यद्वा विश्वविवर्तस्य ह्यधिष्ठानं परेश्वरः।
यदा तदा किमन्यच्च पृच्छन्ति पण्डिताः कुतः ॥१५॥
ज्ञातव्योविद्यते सैकस्तस्मिञ्ज्ञाते कुतो मनः।
कुतो वा विद्यते बुद्धिरहङ्कारकथा कुतः ॥१६॥
सत्त्वं रजस्तमश्चैव गुणाः क विविधास्तदा।
सत्यो ह्यात्मैव सर्वत्र मायामात्रं मृषा जगत् ॥१७॥
"कृपणधीः परिणाममुदीक्षते, क्षपितकल्मषधीस्तु विवर्तताम्।
स्थिरमतिः पुरुषः पुनरीक्षते, व्यपगतद्वितयं परमंपदम्' ॥१८॥

सर्वसाक्षी अविनाशी निर्विकार होते भी जल तुल्य संसार का साधारण कारण मायात्मकशक्ति द्वारा ब्रह्मात्मा है, बीज तुल्य विकारी या विशेष कारण रूप नहीं है, विकारी कारण भाव स्वरूप माया अविद्यादिक हैं और विशेष कारण जीवों के कर्म काम वासना आदिक हैं। गीता में "बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि। अ. ७।१०" मुझे सब भूतों (आकाशादि और भुवनों प्राणियों) के बीजस्वरूप जानो। यह स्वाभिन्नमाया की दृष्टि से कहा गया है। "सर्वं खल्विदं ब्रह्म। छा. ३।१४।१" इत्यादि भी सत्ता की दृष्टि से सब संसार को ब्रह्मस्वरूप कहा गया है। तहाँ इस तत्त्व के ज्ञानादि के बिना ईश्वर को बीज तुल्य विकारी कारण जो कोई मानते हैं। उनके प्रति कहा गया है कि, जो पै (यदि) भगवान् संसार के बीजरूप हैं, तो पण्डितों से भगवान् के विषय में अन्य क्या पूछते हो, जो कुछ देखते सुनते हो, सो सब तो भगवान् ही भगवान् है, विश्व का ज्ञान ही भगवान् का ज्ञान है, विश्व की सत्ता काल में विश्व से भिन्न भगवान् की सत्ता नहीं है, वह सावयव नहीं है कि जिससे किसी अंश से वर्तमान रहे और किसी अंश से परिणत हो। क्योंकिसावयव होने पर भूमि आदि के समान अनित्य होगा "पादोऽस्यसर्वा भूतानि" इत्यादि पादादि कल्पना माया निमित्तक मिथ्या की गई है और सत्य परिणाम वादमें जिनके निरोधादि करना हो, वे मन, बुद्धि, अहंकार और सत्त्व रजो तमोरूप

तीन प्रकारके गुण भी भगवान्से पृथक् कहाँ हैं, अर्थात् भगवान् परिणामी हों तो भगवान् के ज्ञानादि के लिये मन आदिके निरोधादिरूप साधन व्यर्थ हैं।

विष अमृत फल फलै अनेका । बहुधा वेद कहै तरबेका ॥
कहहिं कबिर तैं मैं का जाना । को दहुँ छूटल को अरुझाना ॥८८॥

दुःख सौख्यात्मके यद्वा बन्धमोक्षात्मके फले ।
विषं चैवामृतं सैव बहुधा फलति प्रभुः ॥१९॥
अहो वेदोऽपि किं वक्ति बहुधैव विमुक्तये ।
त्वमहं वेति जानाति किं मुधैव भवानपि ॥२०॥
को वा मुक्तोऽत्रबद्धः कस्तद्विवेको न विद्यते ।
अतो न भगवान् वाच्यः परिणामी कथञ्चन ॥२१॥
अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
मायां स्वां तु समाश्रित्य कारणत्वं प्रपद्यते ॥२२॥
यदस्ति तस्य नाशोऽस्ति न कदाचन साधनैः ।
तस्मात्तन्नष्टमप्यन्त बीजभूतं भवेद्धृदि ॥२३॥
सद्गुरुश्चाह भोः साधो ! सर्वात्मा भगवानयम् ।
विवर्तोऽयं तु संसारो जीवभेदस्त्वभासतः ॥२४॥
यद्वा विषामृतादीनि काऽनेकानि फलानि हि ।
मायामात्रं तु सर्वं तत् तस्मान्मोचयितुं किल ॥२५॥
वदन्ति बहुधा वेदाः कोऽहं त्वञ्चेति चिन्त्यताम् ।
को मुक्तः कश्चबद्धो वा विवेकेनेति बुध्यताम् ॥२६॥
विवेकेन हित्वाऽखिलाऽऽयोधनानि विहायाऽऽशया दूरसंवीक्षणानि ।
मुधाऽऽकारणां चाविकार्यं सदीशं सदा सङ्गहीनं भजस्व स्वमुक्त्यै॥२७॥८८॥

इति हनुमत्कृतायां शब्दसुधायामविकारिविभुभगवत्स्वरूपवर्णनं
नाम चतुस्त्रिंशत्तमस्तरङ्गः ॥३४॥

क्योंकि बिष अमृत (सुख दुःखादि) रूप अनेक फल विश्व वृक्ष रूप भगवान् ही फलता है, विश्ववृक्षरूप तथा सब फल रूप भगवान् होता है, तहाँ यदि वेद बहुत प्रकार से तरने के लिये साधनों को कहता भी है, तो तरबे का (तरोगे क्या) किससे क्या तरोगे, संसार भी तो भगवान् ही है। और यदि वह सर्वथा संसाररूप हो गया है, जैसे कि दूध दधि हो जाता है, तो वह भगवान् पृथक् रह कहां गया है कि जिसको संसार से तर कर प्राप्त करोगे। यदि सुवर्ण तुल्य परिणामी भगवान हो, तो भी तरना (मुक्त होना)

नहीं बन सकता है, क्योंकि उस अवस्था में तुम तरने वाले स्वयं भगवान् हो। अतः श्रीकबीर साहब कहते हैं कि भगवान् से पृथक् तैं मैं यह भेद क्या जानते=समझते हो और को दहुँ (कौन कहो=कौन तो) छूटल (मुक्त) है। और कौन अरुझाना (बद्ध) है। अतः सर्वात्मा भगवान् को जलतुल्य निमित्त कारणमात्र अपरिणामी समझना चाहिये, और माया अविद्यामय सुव्यवस्थित भेद को ईश्वराधीन समझना चाहिये, और मोक्ष के लिये एक ब्रह्मात्मा को समझना चाहिये, श्रुति कहती है कि "मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्। तस्यावयव भूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्। ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः। श्वेता. ४।१०-१६" माया को ही प्रकृति समझना चाहिये, और माया रूप उपाधि वाले मायी को महान् ईश्वर समझना चाहिये। उसी महेश्वर के कल्पित अवयव तुल्यों से व्याप्त (पूर्ण) इस सब जगत को समझना चाहिये। सब संसार के एक नियन्ता देव (महेश्वर) को जाना कर जीव सब पाश (बन्धन) से मुक्त होता है॥ ८८॥

अथ निर्वाणपद प्रकरण ३५

शब्द ८९

बुझु बुझु पण्डित पद निर्वान। साँझ परे कहवाँ बस भान॥
उंच निच पर्वत ढेला न ईंत (ट)। बिनु गायन तहवाँ उठे गीत॥

तटस्थं हीश्वरं हित्वा परिणामयुतं तथा।
बुधा बुध्यध्वमत्रैव नित्यं निर्वाणकं पदम्॥ १॥
तद्बोधाय सदा चायं विचारः क्रियतां बुधाः।
सुप्तिमृत्यादिसंध्यायां जीवो भानुः क्व तिष्ठति॥ २॥
क्व वा ज्ञानानि सर्वाणि वसन्त्यैन्द्रियकाणि च।
तं विचारेण जानीत यत्रोच्चैस्त्वं न विद्यते॥ ३॥
नीचैस्त्वं च कुतो नैव नैव चोच्चावचोपि यः।
न यत्र पर्वताः सन्ति न लोष्ठानीष्टकादयः॥ ४॥
गायकत्वं विना सत्र गीतं तत्रैव जायते।
तत्रैव खलु संन्ध्यायां जीवो भानुश्च तिष्ठति॥ ५॥

"यतश्चोदेति सूर्योऽस्तं यत्र च गच्छति। तं देवाः सर्वेऽर्पितास्तदु नात्येति कश्चन। कठोप० २।१।६" जिससे सूर्य उदित होते हैं, जिसमें अस्त होते हैं,

उसीमें सब देव वाक् प्राणादि स्थापित हैं। उसका अतिक्रमण कोई नहीं करता है, (उस सर्वात्मा के बिना किसी की स्थिति नहीं है)। अतः उस निर्विकार सर्वाधार को समझने के लिये उपदेश है कि हे पण्डित! (विवेकी जिज्ञासु जन!) ज्ञानी पण्डितों से अविनाशी निर्वाणपद (मोक्ष सर्वविलय स्थान) को अवश्य बूझो (समझो) और समझने के लिये विचार करो कि मरण सुषुप्ति रूप संध्याकाल के प्राप्त होने पर जीवात्मारूप उसकी ज्ञानशक्ति रूप भानु (सूर्य) कहाँ बसता है तथा लौकिक सन्ध्या और प्रलयकाल में सूर्यादि लोक देव कहाँ बसते हैं। यद्यपि लोक (मनुष्य) समझते हैं, और पुराण में लिखा भी है कि संध्या के समय ऊंचे पर्वत सुमेरु से सूर्य छिपं जाते हैं, तथापि सूर्यादि को छिपाने के लिये या सूर्यादि के विलयादि के लिये उँच पर्वत या कोई नीच स्थान या ढेला ईंट आदि इतर (अन्य) पदार्थ नहीं है। किन्तु सर्वात्मा चिदाऽऽकाश ही है। और गायन के बिना अनहदादि शब्दरूप गीत उसीमें उठते हैं (प्रकट होते हैं)। अतः सब नाम रूप के आधार स्वरूप निर्विकार चिदात्मा को जानो।

ओस न प्यास मन्दिर नाह जहँवाँ। सहसो धेनु दुहावै तहवाँ॥
नित्य अमावस नित संक्रांती। नित नवग्रह लागे केहि भाँती॥

विषयाम्भःकणो नैव तत्पिपासा न सर्वथा।
देहाख्यं मन्दिरं नैव सर्वं मायाविकल्पितम्॥ ६॥
देहादिमन्दिराणां च तत्राऽसत्त्वेऽपि सत्प्रभौ।
मनोवृत्त्यात्मगावो हि पूर्यन्ते तेषु तेन वै॥ ७॥
अनन्ता वृत्तयः शश्वद्देहे देहे चिदन्वयम्।
आनन्देनापि सम्बन्धं लभन्ते सर्वदा प्रभोः॥ ८॥
यत्प्रकाशाच्च सूर्योऽपि स्वांशून् पूरयते सदा।
लोकान् भासयते नित्यं तद्धि ज्ञेयं मुमुक्षुभिः॥ ९॥
चित्तचन्द्रलयाख्या या ह्यमावास्यापि सात्र च।
सुषुप्तौ जायते नित्यं जीवभानोस्तथेन्द्रियैः॥१०॥
ग्रहैः सम्बन्धरूपा वै संक्रान्तिर्जायते सदा।११॥
बाह्यान्तःकरणान्येव ग्रहा नव लगन्ति च।
जीवभानौ कथं सम्यक् सुविचार्येति बुध्यताम्॥१२॥

उस आत्मस्वरूप निर्वाणपद में विषयरूप जल के अंशरूप ओस का सम्बन्ध नहीं होता है, न उस विषयादि की प्यास (पिपासा = इच्छा) होती

हैं, न उसमें देह लोकादिरूप मन्दिर की आवश्यकता या सम्बन्ध है। तो भी सहस्रो (अनन्तो) मनोवृत्ति, प्राणवृत्तिरूप धेनु देहों के अन्दर उसीसे दुहाती हैं (आनन्द ज्ञान सत्ता प्रकाशादि रूप रसों को उस आत्मा ही में आत्मा से ही पूर्ण प्राप्त करती हैं) तथा सूर्य भी धेनु नामक अनन्त अपने किरणों को उसीमें पूर्ण प्राप्त करते हैं। सुषुप्ति में चित्त चन्द्रमा का विलयरूप तथा सूर्य चन्द्र नाड़ी का सुषमणा में विलयरूप अमावास्या भी उसीके आश्रित सदा होती है, व्यावहारिक जीवरूप सूर्य का इन्द्रियों पर संक्रमण (गमन) रूप तथा श्वास-प्रश्वासरूप संक्रान्ति भी आत्म-प्रकाशादि से ही होती है। पाँच ज्ञानेन्द्रिय, चार अन्तःकरण रूप अध्यात्म नवग्रह तथा सूर्य, चन्द्र मङ्गल, बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनि, राहु और केतुरूप बाह्य नवग्रह उस आत्मसत्ता प्रकाश से ही लगते हैं सो किस प्रकार से लगते हैं तथा अमावास्या संक्रान्ति किस प्रकार से होती है, इन सबको समझना चाहिये।

मैं तोहि पूछौ पण्डित जना। हृदया ग्रहण लागु केहि खना ॥
कहहिं कबिर यतनो नहिं जान। कौन शब्द गुरु लगलौ कान ॥८९॥

पृच्छामि पण्डिता! यत्तद् बुध्यतां कथ्यतां तथा।
हृदये चित्तचन्द्रे वा जीवभानावथापि वा ॥१३॥
मोहाद्यै राहुभिर्ग्रासः सम्बन्धो वा कथं भवेत्।
कदा वा ग्रहणं चैव तेषां भवति दुःखदम् ॥१४॥
इति ज्ञेयमवश्यं तज्ज्ञात्वा मोहो निवार्यताम्।
एतावद् ये न जानन्ति तेषां कर्णेषु कः शुभः ॥१५॥
गुरुशब्दोऽलगत्सत्यं गुरुरित्थं हि भाषते।
तावद् यो नैव जानाति स्रो वेत्ति किं हि पण्डितः ॥१६॥
यतश्चोदेति सूर्यो वा ह्यस्तं यत्र च गच्छति।
स दोग्धि किरणान् यत्र सहस्रं तन्न वेत्ति यः ॥१७॥
स किं वेत्ति च किं तस्य गुरुणापि हितं कृतम्।
देवानां दिवसे चैवममा च संक्रमादयः ॥
सदा भवन्ति ते ज्ञेया अपि शास्त्रविदुत्तमैः ॥१८॥
सुषुप्तौ मृतौ कुत्र चास्ते हिं जीवः क वा चेतना विद्यते वै तदाऽस्य!
विदित्वाऽमुमर्थं त्वया सम्यगत्र सुनिर्वाण बुद्ध्यैवबोध्या हि सर्वे ॥१९॥८९॥

इति हनुमत्कृतायांशब्दसुधायांनिर्वाणपदबोधनं नाम
पञ्चत्रिंशत्तमस्तरङ्गः ॥ ३५ ॥

हे पण्डित जन ! मैं तुम से पूछता हूँ कि हृदय के अन्दर चित्तरूप चन्द्र में और जीव रूप भानु में इन्द्रिय रूप मोह कामादि रूप ग्रहण केहि खना (किस प्रकार से) लगते हैं, सो समझो और जिज्ञासुओं से कहो, यदि इतनी बात भी नहीं जानते हो तो तेरे कान में गुरु का कौन शब्द लगा है । अर्थात् चिदाकाश निजस्वरूप के अज्ञान से ही शोक मोह कामादि ग्रहण लगते हैं, अतः इनकी निवृत्ति के लिये नित्यमुक्त अखण्ड असङ्ग निज ब्रह्मात्मा का अनुभव करो, ब्रह्मनिष्ठ होवो । और "इड़ापिङ्गलयोः सन्धौ प्राणस्य च समागमः । अमावास्या च निःश्वासोच्छ्वासनं संक्रमोऽस्ति वै ॥१॥ इडया कुण्डली स्थाने प्राणस्य च समागमः । सोमग्रहणमित्युक्तमन्यत् पिङ्गलया भवेत् ॥२॥ श्रीजाबालदर्शनो. अ० ४) स यथा सोम्य ! वयांसि वासो वृक्षं सम्प्रतिष्ठन्ते । एवं ह वै तत्सर्वं पर आत्मनि संप्रतिष्ठन्ते । प्रश्नो० ४।७" इडा और पिङ्गला नाड़ी की सन्धि में प्राण के समागम को अमावास्या समझना चाहिये, और निश्वास उश्वास ही संक्रम (संक्रान्ति) है ॥१॥ इडा नाडी द्वारा कुण्डली स्थान में प्राण का समागम चन्द्रग्रहण कहा गया है, और पिङ्गला से प्राण का उक्त स्थान में गमन सूर्यग्रहण कहा जाता है ॥ २ ॥ और जैसे पक्षी सब सायं काल में वासस्थान वृक्ष पर जाकर स्थिर होते हैं । तैसे ही सुषुप्ति आदि काल में सब प्राणी परब्रह्म परमात्मा में जाकर स्थिर होते हैं । और इस शब्द में हृदय शब्द अध्यात्मिकता का द्योतक है । इत्यादि ॥८९॥

अथ विवेक ज्ञानोपदेश प्र० ३६

शब्द ९०

बुझु बुझु पंडित मन चित लाय । कबहुँ भरल बहे कबहुँ सुखाय ॥
खण उबे खण डुबे खण अवगाह । रतन न मिलैं पावे नहिं थाह ॥

पण्डिताः ! सावधानेन चेतसेयं विबुध्यताम् ।
मनोरूपा महातीव्रा नदी वै विश्वरूपिणी ॥ १ ॥
मनोरथाद्यनर्थाद्यैर्जलैः पूर्णा कदाचन ।
स्यन्दते सा कदाचिच्च शुष्का याति हताशताम् ॥ २ ॥
दुःखपूर्णा कदाचित्स्यात्सुखलेशैः कदाचन ।
युक्ता भवति जीवश्च तावन्मात्रेण मोदते ॥ ३ ॥

क्षणात्किञ्चिदुदेत्यूर्ध्वं क्षणाज्जीवो निमज्जति ।
मनोऽपि भवचक्रेऽस्मिन् क्षणादायाति याति च ॥ ४ ॥
तां चावगाहते शीघ्रं रत्नार्थं ध्यानतत्परः ।
यावन्न लभते रत्नं तलं तावन्न विन्दते ॥ ५ ॥
ज्ञानरत्नस्य लाभेन स्वात्ममौक्तिकलाभतः ।
लभ्यते तत्तलं शुद्धं यत्र पङ्को न विद्यते ॥ ६ ॥
किम्वा यावत्तलं नास्य लभते ब्रह्मचिद्घनम् ।
तावद्धि मोक्षरत्नं नो कोपि विन्दति मानवः ॥ ७ ॥

हे पण्डित ! विवेकी जन ! प्रथम अपने मन को ही चित्त लगाकर (सावधान हो कर) खूब समझो "ता मन को चिन्हहु रे भाई" इस उक्त रीति से सुगति कुगति के हेतु रूप मन को समझ कर, सुगति के मार्ग में ही मन को प्रवृत्त करो और चित (चेतनात्मा) में मन को लगा कर चेतनात्मा को समझो। क्योंकि समझने के बिना यह मन ही आशा, तृष्णा, वासना, मनोरथादि जल से भरी हुई नदी हो कर कभी बहता है और उसमें जीव को बहाता है। कभी ज्ञानाग्नि से सुख जाता है। जब आशा आदि से रहित होता है, तब आप शान्त सुखी होता है और जीव को भी सुखी करता है। योग भाष्य में कहा गया है कि कैवल्य (मोक्ष) और संसार दोनों के लिये चित्त नदी बहती है। तहाँ विवेकमय चित्त नदी मोक्ष के लिये होती है, सोई कर्तव्य है, क्योंकि "चित्तमेव हि संसारस्तत्प्रयत्नेन शोधयेत् । यच्चित्तस्तन्मयो भवति गुह्यमेतत्सनातनम् ॥१। चित्तस्य हि प्रसादेन हन्ति कर्म शुभाऽशुभम् । प्रसन्नात्माऽऽत्मनि स्थित्वा सुखमक्षयमश्नुते ॥ २ ॥ मैत्र्युप. ५-६" विवेकादि रहित अशुद्ध चित्त ही संसारस्वरूप है और होता है। अतः उस को प्रयत्न से शुद्ध करना चाहिये। क्योंकि जिस विषयक चित्त वाला प्राणी होता है। तन्मय हो जाता है, यह सनातन रहस्य है ॥१॥ चित्त की स्वच्छता से ज्ञान द्वारा शुभाशुभ कर्मों को नष्ट करके प्रसन्न मन वाला ज्ञानी निजात्मा में स्थिर होकर अक्षय सुख पाता है ॥२॥ संसारात्मक चित्त नदी के सूखने के बिना, तथा चित्त की स्वच्छता के बिना, यह मन (चित्त) स्वरचित संसार से दुःख के आनेपर क्षण में उबता (उपराम होता) है। फिर सुखमिलने पर क्षण मात्र में संसार में डूबता (आसक्त होता) है। क्षण में अवगाह (अवगाहन) करता है (इस संसार के थाह लेने का विचार खोज करता है) संसार में अनन्त सुख खोजता है। परन्तु जब तक ज्ञान स्वरूप आत्मरत्न इसको नहीं मिलता

है, तब तक संसार का थाह (अन्त सीमानित्यानन्द) नहीं पाता है, अतः ज्ञान रत्न को प्राप्त करना चाहिये। क्योंकि—

नदिया नाहिं सँसरि बहे नीर। मच्छ न मरै केवट रहे तीर॥

रत्नस्य लाभमात्रेण नदी चेयं न तिष्ठति।
आनन्दस्य महाधारा शीघ्रं धावति सर्वतः॥ ८॥
म्रियते जीवमत्स्यो नो कालरूपो निषादकः।
दूरे तिष्ठति तस्माच्च भवबाधा न वर्तते॥ ९॥
किम्वा तलस्य लाभेन तामुक्तां हि नदीं विना।
मोक्षामृतमहाधारा स्यन्दते सर्वतः सदा॥१०॥
रत्नाऽलाभे त्वसत्यायां मनोरथमुखं जलम्।
नद्यां धावति वेगेन मोहमत्स्यो न नश्यति॥११॥
नाविकश्चेश्वरो जीवात्तटस्थो वर्तते तथा।
दूरेऽवतिष्ठते देवः सद्गुरुश्चैव सर्वदा॥१२॥

ज्ञानरत्न के मिलने पर मानस संसार रूप नदी नहीं रहती है और निराधार ज्ञानस्वरूप आनन्दामृतरूप नीरसँसर कर (फैल कर) वहता (प्राप्त होता) है, उस अमृत को पीने पर जीवरूप मच्छली फिर नहीं मरती है, क्योंकि काल रूप केवट उससे तीर (दूरतट) पर रहता है, पास में नहीं आता है। ज्ञान रत्न के नहीं मिलने पर भी सत्य नदी के नहीं रहते भी मनोरथादि का प्रवाह चलते रहता है। ममता मोहादि रूप मत्स्य नष्ट नहीं होते हैं। संसार से पार करने वाले केवट (नाविक) ईश्वर सद्गुरु तटस्थ दूर भासते=रहते है। और काल पास में रहता है।

पोखरि नाहिं बाँधल तहँ घाट। पुरइनि नाहिं कमल मौंह बाट॥
कहहिं कबीर ई मन का धोख। बैठा रहे चलन चहे चोख॥६०॥

सरो विनैव सज्ज्ञानी ब्रह्मानन्दस्य लब्धये।
ज्ञानाभ्यासावरोहं वै कृतवान् भूमिसंयुतम्॥१३॥
पद्मपत्रं विनैवात्र हृत्पद्मे सरणिं तथा।
कृतवान् येन चाज्ञोऽपि प्राप्नुयाद्धि परं पदम्॥१४॥
रत्नं विना तु जीवोऽपि मेरोः शृङ्गात्मकं तथा।
खन्यवस्थादिरूपं हि सुघट्टं कृतवान् मृषा॥१५॥
सन्तोषादिसुपत्रैश्च विनैव कमलेषु सः।
मार्गं कर्तुं समिच्छन्न पदमाप्नोति शाश्वतम्॥१६॥

मनसा वञ्चनं चेदं सद्गुरुस्तद्धि भाषते।
वैराग्यादि विनैवैतद्यच्छीघ्रं गन्तुमिच्छति ॥१७॥
तिष्ठन्नेव यथा कश्चिदिच्छेत् क्रोशशतात्परम्।
अधिष्ठातुं तथैवैतद्विचाराद्यन्तरा खलु ॥
वाञ्छनमात्मतत्त्वस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥१८॥९०॥

पोखरी (तालाव) के नहीं रहते भी मन से चार अवस्थारूप चार घाट वहाँ मिथ्या संसार में बाँधे गये हैं, अपने चार स्वरूप, चार मोक्ष, सुमेरु के ऊपर प्रधान चार स्वर्ग सिद्ध किये गये हैं, सोई मानो तालाव के घाट बाँधे गये हैं। और पुरइन (विषय जल से असङ्गता का स्थान) सन्तोषादि के बिना ही शरीर के अन्दर आठ कमलों में आने-जाने का मार्ग (बाट) मन बनाता है। श्रीकबीर साहब कहते हैं कि जन्मादिरूप तथा कमलों में गति आदिरूप यह संसार मन का धोख (भूल अज्ञान) रूप है। धोखा (भूल) युक्त यह मन बैठा रहता है। परन्तु चोख (शीघ्र) चलना (पहुँचना मोक्ष सत्य सुख पाना) चाहता है (साधनों के बिना मुक्ति चाहता है)। अतः मन को समझकर इसके धोखे से बचना चाहिये। "चित्तनदी नाम उभयतो वहति कल्याणाय वहति पापाय च। या तु कैवल्यप्रागभारा विवेकविषयनिम्ना सा कल्याणवहा संसारप्राग भाराऽविवेकविषयनिम्ना सा पापवहा ॥ योगभाष्य" चित्तरूप नदी पाप-पुण्य दोनों के लिये वहती है। तहाँ मोक्षाभिमुख-विवेक विषयक गम्भीरतावाली कल्याणके लिये होती है। संसाराभिमुख-अविवेकरूप गम्भीरतावाली पापके लिये होती है। अतः चित्तको विवेकादियुक्त करना और समझना चाहिये ॥ ९० ॥

शब्द ९१

बुझु बुझु पण्डित बिरवा न होय। अधा बस पुरुष अधा बस जोय॥
बिरवा एक सकल संसारा। स्वर्ग शीश जर गेल पताला॥
बारह पखुरी चौबिस पाता। घन बरोह लागु चहुँ पासा॥

बुधा ! जानीत तत्तत्त्वं यद्बोधान्न भवेत्पुनः।
संसारदेहवृक्षोऽयं दुःखदः फलवर्जितः ॥१९॥
अत्र वृक्षे वसत्यर्द्धे सच्चिदानन्दस्वरूपवान्।
पुरुषोऽर्द्धे च नारी सा नामरूपात्मिका खलु ॥२०॥
विवेकेन तयोर्ज्ञाने संसारोऽयं विलीयते।
सतो भिन्नस्य मिथ्यात्वान्नामरूपे न सिद्ध्यतः ॥२१॥

सर्वविश्वात्मको यद्वा सर्वविश्वेषु चैकलः।
वृक्षो हिरण्यगर्भो वा विराट्स्वर्गोऽस्य मस्तकः ॥२२॥
स्वर्गो वाऽस्य शिरो मूलं पातालेष्ववतिष्ठते।
मासा द्वादश च स्कन्धाः पक्षाः पत्राणि सर्वशः ॥२३॥
सर्वतश्च प्ररोहोऽस्य दिनमासादिलक्षणः।
यैर्मूलानि निबध्नाति वटवृक्षो न जीर्यति ॥२४॥

"अज्ञानादेवसंसारो ज्ञानादेवविमुच्यते" अज्ञानजन्य मोह राग-द्वेषादि से ही जन्ममरणादि रूप बन्धनात्मक संसार होता है। और ज्ञान से जीवमुक्त (जन्मादि रहित) होता है। अतः हे पण्डित! उक्त मन और चिदात्मा को अवश्य विवेकपूर्वक बूझो (समझो) कि जिससे यह देहादिरूप संसाररूप बिरवा (वृक्ष) तुमे फिर नहीं प्राप्त हो। क्योंकि धानादि के बीजों में तुष और चावल जबतक दोनों मिले रहते हैं, तभी तक अनुकूल भूमि जल के सम्बन्ध से अङ्कुर होते हैं, तुष के वियोग होने पर नहीं। वैसे ही संसार में जब तक विवेक रहित आधा पुरुष चेतनात्मा बसता है, आधा बुद्धि प्रकृति रूप जोय (स्त्री) बसती है, तभी तक व्यष्टि-समष्टि यह सब संसार होता है, तहाँ विवेकादि द्वारा जीव अपने व्यष्टि संसार से मुक्त होता है। और मायी ईश्वर से रचित यह सम्पूर्ण संसार एक महान् वृक्षरूप है, जिसका स्वर्ग (ब्रह्मलोक) शिर (सर्वोत्तमाङ्ग) है और पातालतक जड़ (मूल) गया है। काल भी इस महासंसार वृक्ष के अन्तर्गत है। अतः बारह मास इसकी पखुरी (स्कन्धरूप शाखा) हैं। चौबीस पक्ष पत्ते हैं, सात दिन पहरादि इस वटवृक्ष के चारो तरफ मानो सघन बरोह (विस्तार) लगे हैं। अथवा तीन गुण पञ्चतन्मात्रा (सूक्ष्म अपञ्चीकृत भूत) अव्यक्त, महतत्त्व, अहङ्कार और मन ये बारह पखुरी हैं, शब्दादि पाँच विषय सहित पाँच स्थूल (पञ्चीकृत) भूत, पाँच प्राण, दशेन्द्रिय और बाल्यादि चार अवस्था युक्त चार खानि के चार प्रकार के स्थूल शरीर ये सब चौबीस प्रकार के पत्ते हैं, और इनके कार्य कर्म व्यापार घने बरोह लगे हैं।

फुलै न फलै वाकी है वानी। निशि वासर विकार चुव पानी॥
कहहिं कबिर कछु अछलो न तहिया। हरि बिरवहिं प्रतिपालिन जहिया॥

सत्पुष्पं च फलं नायं सूते क्वापि कदाचन।
स्वभावोऽस्य तथा तेन वाङ्मात्रं तु तयो मुधा ॥२५॥
विकारात्मकपानीयं क्षरत्यस्मादहर्निशम्।
अत्रासक्तजनेष्वेवं जन्मदुःखादिलक्षणम् ॥२६॥

इत्थंभूतोऽपि वृक्षोऽयं तदा नासीच्च कश्चन।
हरि र्यदेममुत्पाद्याऽरक्षत्स्वसत्तया किल ॥२७॥
सत्कारणात्मना यद्वा यदाऽरक्षत् स्वयं प्रभुः।
तदा नासीज्जगत् किञ्चिन्मायामात्रमभूत्ततः ॥२८॥
सद्गुरुर्भाषते चेत्थं सत्तत्त्वबोधसिद्धये।
विचार्य तद्बुधा वित्त यस्मान्न भवसंक्रमः ॥२९॥
जगतः सद्विवेके हि मायामात्रं स्फुरेदिदम्।
न सत्त्वेन तदा प्राप्तं पदं निर्वाणकं भवेत् ॥३०॥

इस विश्व वृक्ष का स्वभाव है कि यह कभी सत्य फूल फल युक्त नहीं होता है, क्योंकि यह स्वयं मिथ्या है। अतः इसके आश्रित रहनेवालों के लिये सच्चे फूल फल (ज्ञान मोक्ष) भी इसमें नहीं लगते हैं। किन्तु इस को त्याग ने (मिथ्या समझने) पर ही सत्यज्ञान मोक्ष फल प्राप्त होते हैं। कहा गया है कि "झूठ झूठ के छाड़हू, मिथ्या यह ससार। तिहि कारण मैं कहत हूँ, जाते होय उबार। र. साखी ६" और सत्य फूल फल के नहीं लगने पर भी वाकी (उस फूल फल का) वानी (कथा) संसार में होती है, उस कथा को सुन कर जो इसके आश्रित रहते हैं (इसको सत्य सुखद मानकर इतमें आसक्त होते हैं) उनके ऊपर काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, गर्व, ईर्ष्या, मात्सर्य रूप मन के विकारात्मक तथा जन्ममरणादि रूप शरीर के विकारात्मक पानी सदा चूते रहते हैं कि जिससे हर्ष, शोक, राग द्वेषादिरूप क्लेद (क्लेश कष्ट) बने रहते हैं। अतः इसे मिथ्या समझकर, आसक्ति आदि से रहित, तथा कष्टों से विमुक्त करने के लिये श्री सद्गुरु कबीर साहब कहते हैं कि जहिया (जिस-महा प्रलय में) सर्वात्मा हरि ने निज माया में लीन इस संसार का कारण रूपसे प्रतिपालन किया, तहिया (उस समय) "सदेव सोम्येदमग्र आसीत्। छा० ६।२।१" इत्यादि शास्त्र के अनुसार, एक अद्वैत सत्य से अतिरिक्त कुछ भी नामरूप कर्यात्मक जगत् नहीं अछलो (नहीं था) परमाणु देशकालादि भी भी नहीं थे। एक सत्य ही था, फिर हरि की मायामात्र से स्वप्नतुल्य सब हुआ है। अतः मायिक मिथ्या जानकर सत्यात्मा को पृथक् मुञ्जेषीका न्याय से समझो, ऐसा समझने वालों के लिये संसारवृक्ष तुच्छ हो जाता है, नहीं रहता है। अतः कष्ट प्रद भी नहीं होता हे त्यादि ॥ ९१ ॥

शब्द ९२

यहि बिरवहिं चीन्है जो कोई। जरा मरण रहिते तन होई ॥

बिरवा एक सकल संसारा । पेंड़ एक फूटल तिन डारा ॥
मध्य के डारि चारि फल लागा । साखा पत्र गणै को वाका ॥

उक्तं वृत्तं विवेकेन यः कश्चिद्वेत्ति सज्जनः ।
जरा मरणहीनः स विदेहो जायतेऽञ्जसा ॥३१॥
एकोऽयं सकलं विश्वं वृक्षो वै विद्यते महान् ।
तन्मूलं शवलं ब्रह्म ह्येकं शाखात्रयं ततः ॥३२॥
वेधोविष्णुहराख्यं वा त्रिलोकीमण्डलं महत् ।
सात्त्विक्यां मध्यशाखायां मध्यलोकेऽथवाऽत्र हि ॥३३॥
अर्थ धर्मादिचत्वारि फलानि फलितानि वै ॥३४॥
भूतभौतिक कार्यात्मशाखापत्राणि यानि च ।
तानि कः परिसंख्याय वाचा वक्तुमिहार्हति ॥३५॥

उक्त संसार बिरवहिं (वृक्ष) को पूर्व वर्णित रीति से विवेक पूर्वक जो कोई चीन्हता (जानता) है, सो जरा-मरण-रोग शोकादि से और सब शरीरों से रहित (मुक्त) हो जाता है। क्योंकि ज्ञानभानु के प्रकाश से अविद्यातम रूप कारण शरीर के निवृत्त होने पर ज्ञानी के कोई शरीर नहीं रहते हैं, न होते हैं। जिस को चीन्हना चाहिये, सो यह सम्पूर्ण संसार एक महान् वृक्ष है, उसका मायी एक ईश्वर पेंड़ (जड़ मूल) है। और उस एक मूल से तीन गुणमय ब्रह्मा, विष्णु, महेश नामक त्रिदेवरूप, स्वर्ग, मर्त्य, पाताल तीन लोक रूप तीन डार (स्कन्ध) फूटे (निकले) हैं। तहाँ मध्य के सात्त्विक डार में सात्त्विक कर्म, श्रद्धा धैर्यादि द्वारा, अर्थ, धर्म, काम, और मोक्ष रूप चारो फल सुन्दर लगे और लगते हैं, तथा मध्य के मनुष्य लोक में सब फलों के साधन सिद्ध होते हैं। सब फल मिलते हैं, ज्ञान से जीवन्मुक्ति यहाँ मिलती है। उस वृक्ष के लोक, चन्द्र, सूर्य, तारागण आदि भूत भौतिक विस्तार रूप शाखा पत्र को तो गिन कौन सकता है, क्योंकि ये अनन्त असंख्य हैं।

बेलि एक त्रिभुवन लपटानी । बाँधे ते छूटै नहिं ज्ञानी ॥
कहहिं कबिर हम जात पुकारा । पण्डित होय सो करै विचारा ॥६२॥

मायाऽविद्यात्मिका वल्ली सक्तास्मिन् भुवनत्रये ।
वर्तते च तया बद्धो विद्वानपि न मुच्यते ॥३६॥
वृक्षं ज्ञात्वा तु तत्त्वेन स्वात्मानं प्रविविच्य च ।
ज्ञान खड्गेन तां छित्वा जीवन्मुक्ता भवन्ति हि ॥३७॥

वयमाहूय सम्बोध्य गच्छामो भवसागरात् ।
विवेकिनोऽत्र ये शूराश्चिन्तयन्तु वचस्तुते ॥३८॥
असङ्गदृढशस्त्रेण छित्वेमं मूलसंयुतम् ।
सवल्लिकं च गच्छन्तु परमं धाम निर्मलम् ॥३९॥
एनं छित्वा च भित्त्वा च ज्ञानेन परमासिना ।
गच्छन्त्वात्मगतिं शुद्धां पुनरावृत्ति वर्जिताम् ॥४०॥९२॥

माया अविद्या रूप एक बेलि (लता) आशा, तृष्णा, वासना, आदि रूप से तीनों भुवनों (प्रजा की उत्पति के स्थानों । में अरुझी लिपटी हुई है, उससे बाँधे जाने पर शास्त्रज्ञ ज्ञानी भी नहीं छूटने पाते हैं । किन्तु पूर्व वर्णित रीति से अविद्या आशा तृष्णादि को नष्ट करने वाले ज्ञानी ही जरामरणादि से रहित मुक्त होते हैं, क्योंकि ते (अविद्या माया) छूटे हुए ज्ञानी को फिर कभी नहीं बाँधती है । ज्ञानी में अविद्या माया रहती ही नहीं है, अतः बाँधती नहीं है । श्री कबीर साहब कहते हैं कि हम पुकार कर कहते जाते है कि जो कोई पण्डित (विवेकी विद्वान्) हो, सो अविद्यादिकृत बन्धनादि की निवृत्ति के हेतु ज्ञान की प्राप्ति के लिये, इस संसार वृक्ष और सर्वात्मा हरि का अवश्य विचार करे, कि जिससे विरागादि पूर्वक मानमोह सङ्गादि दोषों से रहित हो कर अविद्या के छेदन पूर्वक मुक्त हो सके ॥९२॥

शब्द ९३

कहु हो निरञ्जन कौने वाणी ।
हाथ पाँव मुख श्रवण जीभ नहिं, का कहि जपहु हो प्राणी ॥
ज्योतिहिं ज्योति ज्योति जो कहिये, ज्योति कवन सहिदानी ।
ज्योतिहिं ज्योति ज्योति दै मारै, तब कहँ ज्योति समानी ॥

कथयन्तु जनाः केऽपि किं स्वभावो निरञ्जनः ।
कथ्यते स कया वाचा ह्यवाच्यो निर्गुणो हरिः ॥४१॥
यस्य हस्तौ न पादौ स्तो मुखं न श्रवणं तथा ।
न जिह्वा नैव चान्या वा गुणजात्यादयोऽखिलाः ॥४२॥
ग्रहीत्रादि किमुक्त्वा तं भवन्तः संजपन्ति हि ।
प्राणीनः ! स विवेकेन सम्यग् बुद्ध्या विविच्यताम् ॥४३॥
ज्योति र्ज्योति र्यदि ब्रूध्वे तं हि ज्योतिः स्वरूपिणम् ।
ज्योतिष्ट्वेऽपि तदा तस्य किं लिङ्गं तन्निरूप्यताम् ॥४४॥

ज्योतिषां ज्योतिरात्मैव यदाऽन्यज्ज्योतिषां च सः।
करोति विलयं देवस्तदा तानि क यान्ति च ॥४५॥

जो कोई सत्सङ्ग विचारादि नहीं करते हैं, और निर्गुण परमात्मा को शरीरादि रहित मानकर भी केवल किसी नाम द्वारा भजन करते हैं, उनके प्रति विचारादि की कर्तव्यता के लिये कहा गया है कि, हे प्राणी! जिसके नाम को जपते हो, वह निरञ्जन (निर्दोष निर्गुण) परमात्मा कौने वानी (कौन स्वभाव वाला, या किस वानी=शब्द का विषय) है, सो कहो और समझो। क्योंकि "यद्वाचाऽनभ्युदितम्। केन. १।४" इत्यादि श्रुति के अनुसार वह वाणी से कहा नहीं जा सकता है, वाक् का अविषय है और "अकायम्" ईश. ८ "अशरीरम्। कठ. १।२।२१" इत्यादि श्रुति के अनुसार जिसके हाथ पाँव मुख श्रोत्रजिह्वा आदि कुछ भी कर्मादिके साधन नहीं हैं, उसको ग्रहीता, गन्ता, वक्ता, श्रोता, रसज्ञादि तो कुछ वस्तुतः कह नहीं सकते हो, फिर भी उसको अन्य क्या कह कर जपते हो, गुण क्रिया जाति आदि नाम के हेतु उसमें नहीं हैं। यदि उस ज्योति (ज्ञान स्वरूप) को "तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्। मुण्ड. २।२।१०" इत्यादि के अनुसार, सूर्यादि ज्योतियो की ज्योति स्वरूप कहो, मन नेत्रादि ज्योतियों की ज्योति कहो, तो उन सब ज्योतियों की ज्योति की सहिदानी (चिन्ह=लक्षण) क्या है, सो विचारदि से ही समझना होगा और समझो। और अन्य सब ज्योतियों को वह ज्योतियों की ज्योति जब दे मारती है, (सुषुप्ति महाप्रलय में लीन करती है) तब सब ये अनात्म ज्योति कहाँ समाती हैं, सावयव विशेष पदार्थ निरवयवनिर्विशेष में कहाँ कैसे घुसते हैं, सो विचारादि से समझो, अर्थात् इनको स्वप्न तुल्य माया मात्र जानो।

चार वेद ब्रह्मा जो कहिया, तिनहुँ न या गति जानी।
कहहिं कबीर सुनहु हो सन्तो, बूझहु पण्डित ज्ञानी ॥९३॥

चतुर्वेदान् हि यो ब्रह्मा प्रोक्तवान् सोपि चिद्घने।
शुद्धे न वचसो वृत्ति गतिं वा ज्ञातवान् प्रभुः ॥४६॥
आहाऽतः सद्गुरुर्धीराः! श्रवणं सुविधीयताम्।
ज्ञायतां पण्डितान् पृष्ट्वा नाममात्रान्न तद् भवेत् ॥४७॥
तपसा यो न संप्राप्यः कर्मणा नेन्द्रियैस्तथा।
विशुद्धसत्त्वो जानाति निष्कलं ध्यानतोपि तम् ॥४८॥
"शान्ताऽशेषविशेषाणामहन्तान्ता विचारणात्।
केवलं मुक्ततोदेति न तु किञ्चिद्विनश्यति" ॥४९॥

सर्वांगमार्थभिन्नं यन्नामचिन्हादि वर्जितम् ।
एकमच्छमनाद्यन्तमाद्यं चिन्मात्रमस्ति तत् ॥५०॥६३॥

जिस श्री ब्रह्माजी ने चार वेद कहा, उन्होंने भी विचार गुरु आदि के विना या (इस) गति (ज्योति आदि की ब्रह्मात्मा में प्राप्ति=विलय) को नहीं जानी कि कैसे गति होती है। किन्तु ईश्वरीय विद्या शक्ति गायत्री रूप निज माता से जानी। जैसे इन्द्र ने हैमवती नामकविद्या शक्ति से पूज्य ब्रह्म को समझा, सो केनोपनिषद् में वर्णित है। अतः श्रीकबीर साहब कहते हैं कि हे सन्तो ! (जिज्ञासुओं) मेरा यह उपदेश सुनो, और ज्ञानी पण्डितों से श्रवणादिपूर्वक इस रहस्य को बूझो (समझो) कि स्वप्न का संसार जैसे चिन्मात्र में लीन होता है, तैसे ही यह बाह्य संसार भी लीन होता है, अतः मिथ्या है। और ऐसा समझकर एक सत्य निर्गुण राम को भजो, इत्यादि ॥६३॥

शब्द ६४

कहु हो अम्बर कासो लागा। चेतनहारा चेत सभागा ॥
अम्बर मध्ये दीसै तारा। एक चेतु दुज चेतवनहारा ॥

हे अम्बर ! चिदाकाश ! जीवासङ्गस्वरूपवन् ! ।
केनाप्यनात्मना लग्नः कस्मान्मोहेन धावसे ॥५१॥
सौभाग्यवाँश्च बोद्धा त्वमात्मानं बोध सद्विभुम् ।
यस्मिन्निजाम्बरे बह्व्यो दृश्यन्ते तारका इमाः ॥५२॥
बुद्ध्यादौ प्रतिविम्बा हि तारकास्तेषु केचन ।
बुद्ध्यन्ते योधयन्तेऽन्ये नैवात्माऽत्रविभिद्यते ॥५३॥
तारकावच्चिदाभासाः सदा सातिशयाः खलु ।
नैवात्माऽस्ति तथा नित्यः क्रियासङ्गादिवर्जितः ॥५४॥

किसी अनात्मा विकारीशरीरादि को भ्रम से सत्यादि मानकर सेवनेवाले योग्य पुरुषके प्रति कहते हैं कि हे अम्बर ! (अविनाशी चिदाकाशस्वरूप जीव !) तुम किस अनात्म जड़ विकारी में लगे हो (किससे प्रेम किये हो) सो समझो और कहो। अर्थात् तुम किसी अनात्मा को सत्यनिरञ्जनादि मान कर जपते हो. उसको अपना आधार समझते हो, परन्तु तेरा सत्य स्वरूप किसी अन्य के आश्रित रहनेवाला नहीं है, वही सर्वाधार निराधार निर्विकार निर्गुण राम है। हे सभागे तेरे स्वरूप से भिन्न सब जड़ है, तुम सबको चेतनहार (प्रकाशक= साक्षिस्वरूप) हो (तेरा स्वरूप ही ज्योतियों की ज्योति है) तुम उस अपने

स्वरूप को चेतो (समझो) और समझो कि तेरे अम्बर स्वरूप में ही माया अविद्या अन्तःकरणादि में अनन्त चिदाभास, चित्प्रतिविम्ब, चिदंशाभिव्यक्ति रूप तारे दीखते हैं, उनमें एक शिष्य होकर चेतता (समझता) है और दूसरे एक गुरु होकर चेताने वाले उपदेशक होते हैं। आत्मा में गुरु शिष्यादिभाव नहीं होता है, किन्तु व्यावहारिक जीव में ही सब व्यवहार तथा गुरुशिष्यादि भाव रहते हैं।

जो खोजो सो उहवाँ नाहीं । सो तो आहिं अमर पद माहीं ॥
कहहिं कबीर पद बूझै सोई । मुख हृदय जाके एकै होई ॥९४॥

यद्धि नित्यं सुखं तत्त्वं विमृग्यसि च सर्वदा ।
तन्नाऽनात्मनि न स्वर्गे नान्यत्र क्वापि लभ्यते ॥५५॥
किन्तु तल्लभ्यते नित्ये विभौ स्वात्मपदे यतः ।
तत्रैव वर्तते सौख्यं स्वमहिम्नि स तिष्ठति ॥५६॥
"विमुक्तविषयासङ्गं सन्निरुध्य मनो हृदि ।
यदा यात्युन्मनीभावं तदा निर्वाणमृच्छति" ॥५७॥
गुरूणां सारशब्दश्च स्थानं च शाश्वतं तथा ।
तेनैव बुध्यते यस्य ह्येकता स्याद्धृदास्ययोः ॥५८॥
मुखे च हृदये तस्माद्विधाय सत्यतां बुध ! ।
स्वात्मानमम्बरं विद्धि सद्गुरु र्भाषते यथा ॥५९॥
"व्यापकं सर्वतो व्योम मूर्तैः सर्वैं र्वियोजितम् ।
यथा तद्वत्त्वमात्मानं विद्धि शुद्धं परं पदम् ॥६०॥
एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः ।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत् ।६१॥
'येनावृतं नित्यमिदं हि सर्वं ज्ञः कालकालो गुणिसर्वविद्यः ।
बुद्धे र्गुणेनात्मगुणेन चैव ह्याराग्रमात्रः पुरुषोऽपि दृष्टः" ॥६२॥९४॥

इति हनुमत्कृतायां शब्दसुधायां विवेक ज्ञानोपदेशवर्णनं नाम
षट्त्रिंशत्तमस्तरङ्गः ॥ ३६ ॥

जिस नित्य सुखादिरूप मोक्ष को तुम खोजते हो, सो भी उहवाँ (परोक्ष स्वर्गादि में) नहीं है, किन्तु वह तो इस अपरोक्ष अमरपद (अविनाशी निज स्वरूप) में ही है। परन्तु विवेकादि के विना उसकी प्रतीति नहीं होती है, अतः विवेकादि कर्तव्य हैं। तहाँ श्री कबीर साहब कहते हैं कि विवेकादि पूर्वक उस अमरपद को सोई बूझता (समझता) है कि जिसके मुख और

हृदय एक होते हैं। सत्य भाषी कपटादि रहित शुद्धहृदय वाला ही गुरु से आत्मज्ञान पाता है। अतः जिज्ञासु को सत्यवक्ता कपटादि रहित होना चाहिये। क्योंकि श्रुति कहती है कि "सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग् ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्। मुण्डक. ३।१।५" सत्य भाषण, तप, सम्यक् ज्ञान और ब्रह्मचर्य से यह आत्मा प्राप्त करने समझने योग्य है, अन्यथा नहीं ॥६४॥

अथ विवेकादिकेविना अभिमानादिवर्णन प्र० ३७

शब्द ९५

बन्दे करि ले आपु निवेरा।
जियत आपु लखु जियत ठौर करु, मुये कहाँ घर तेरा ॥

सुशोध्य हृदयं वाचं भो वद्धा देवपूजकाः।
स्वयं स्वस्यापरोक्षश्च वन्धान्मोक्षो विधीयताम् ॥ १ ॥
"आत्मा नैव यदात्मानमहितेभ्यो निवारयेत्।
कोऽन्योऽधिकतरस्तस्मादात्मानं वारयिष्यति ॥ २ ॥
लोकानुवर्तनं त्यक्त्वा त्यक्त्वा देहानुवर्तनम्।
शास्त्रानुवर्तनं त्यक्त्वा स्वाध्यासापनयं कुरु" ॥ ३ ॥
जीवन्नेव स्वमात्मानं विद्धि विज्ञान चक्षुषा।
अचलं स्वस्य च स्थानं कुरुष्वात्मानमेव हि ॥ ४ ॥
"आत्मन्येव सदा स्थित्या मनोनश्यति योगिनः।
युक्त्या श्रुत्या स्वानुभूत्या ज्ञात्वा सार्वात्म्यमात्मनः ॥ ५ ॥
अस्थिरे गृहकार्यादौ स्वात्मीयत्वं जहीहि च।
मृतौ वै लभ्यते कुत्र वर्तमानं गृहादिकम् ॥ ६ ॥

हे वन्दे! (भक्तों) तुम अपने सत्य स्वरूप का निवेरा (विवेक) आप कर लो। विज्ञानादि द्वारा अपना मोक्ष कर लो। और मोक्ष के लिये जीवित अवस्था में ही अपने स्वरूप को निर्गुण ब्रह्म सर्वाधिष्ठान समझो। और जियते ही में उस ब्रह्म को अपना ठौर (स्थिति का स्थान) कर लो (ब्रह्मनिष्ठ होवो) और जिस घर को स्थिति का स्थान समझते हो। मुये (मरने) पर यह घर तेरा कहाँ रहेगा। यह घर तेरा नहीं रहेगा, किसी अन्य का हो जायगा। और आगे की तेरी दुःखादि रहित अचल स्थिति के लिये अन्य कोई कुछ नहीं कर सकता है, न रह सकता है। अतः आत्मा से अन्य देव

लोकादि की आशाओं को त्याग कर, स्वस्वरूप का अनुभव करो, संसार को मिथ्या समझो, यही अचल स्थिति का साधन है ।

यहि अवसर नहिं चेतहु प्राणी, अन्त कोइ नहिं तेरा ।
कहहिं कबीर सुनहु हो सन्तो, कठिन काल को घेरा ॥९५॥

प्राणिनो ! नैव चेदस्मिन् काले वित्त हिताहिते ।
स्वस्थकायाः सुसम्पन्नास्तदान्ते वो न कश्चन ॥ ७ ॥
भवितेति विजानीत कालकारागृहे तथा ।
निरुद्धा दुःखमेष्यन्ति भवन्तो निरयेषु च ॥ ८ ॥
सद्गुरुश्चाह भो साधो ! श्रूयतां सुविचार्यताम् ।
आत्मज्ञान विहीनानां दृष्ट्वा दुःखपरंपराम् ॥ ६ ॥९५॥

हे प्राणी ! यदि इस स्वस्थ मानव जीवनके अवसर (काल) में नहीं चेतते हो (अपनी निवेरा आप नहीं करते हो) तो अन्त (मरण) कालमें तेरा सहायक रक्षक कोई नहीं होगा । तथा जिस गृहादि को अपना समझते हो सो कोई तेरा नहीं रहेगा । न यह अवसर रहेगा, किन्तु महाकठिन अवसर आयगा । उसको कोई रोक नहीं सकेगा । अतः श्रीकबीर साहब कहते हैं कि हे सन्तो ! अभी उसकालके घेराको सुनो, (उसको रोकनेके उपायको सुनो) और वह यतन करो कि जिससे तेरे लिये काल का कठिन अवसर नहीं आवे ॥६५॥

शब्द ९६

लोग बोलै दुरि गये कबीर । या मति कोइ जानैगा धीर ॥
दशरथ सुत तिहुँ लोकहिं जाना । राम नाम के मर्महिं आना ॥
जिहि जस जानि परी जिव लेखा । रज्जुक करै उरग ज्यों पेखा ॥

आत्मज्ञानविहीना ये कवयो लौकिका जनाः ।
ते ह्यात्मनो गतिं दूरं मन्यन्ते मोक्षसिद्धये ॥१०॥
लोकाः प्राज्ञं कबीरं च दुरवस्थं हि मन्वते ।
अत उक्तां मतिं केचिद्धीरा ज्ञास्यन्ति सज्जनाः ॥११॥
पुत्रं दशरथस्यैव रामं जानन्ति वै जनाः ।
त्रिलोकेषु रहस्यं च रामनाम्नोऽन्यथास्ति हि ॥१२॥
स्वभावेन यथा येन रामो बुद्धस्तथैव सः ।
रामं पश्यति रज्जुं हि यथा सर्पं हि कश्चन ॥१३॥

असर्पे सर्पबुद्ध्या हि यथा कश्चित् पलायते।
भीत्या तथा ह्यरामेऽपि रामबुद्ध्याऽत्र संसृतौ ॥१४॥

श्रीकबीर साहब कहते हैं कि लोग बोलते हैं कि हम बहुत दूर गये (पहुँचे) हुए हैं। अर्थात् परमात्मा बहुत दूर वैकुण्ठ, साकेत, सत्यलोक या गोलोकादि में रहता है, सो हम समझ चुके हैं। क्योंकि जो कबीर (ज्ञानी भक्त) हुए सो सब दूर देश में गये। वहाँ जाकर मुक्त हुए। और वहाँ जो नहीं गये सो-सो दूर हुए (परमात्मा से दूर रहे = नष्ट हुए)। सब लोग ऐसा बोलते और समझते हैं। अतः या मति (इस अपरोक्ष सर्वात्मज्ञान) को कोई विरला धीर (सात्त्विक धैर्ययुक्त विवेकी) ही जानेगा (प्राप्त करेगा) दशरथजी के पुत्रादि-रूप हरि राम को प्रायः तीनों लोकवासी जानते हैं। परन्तु रामनाम का मर्म (सत्यार्थ) को समझना कुछ आन (और ही) है। अर्थात् तीन अवस्था तक को जाननेवाले दशरथ सुतादि को ईश्वरादि मानते हैं, तुर्यावस्था के अनुभवी सर्वात्मा को राम मानते हैं। क्योंकि "सर्वं रमयति, सर्वत्र रमते, रमन्ते योगिनो यस्मिन्" इन व्याख्यानो के अनुसार (अच्, ण, घञ्) प्रत्ययान्त राम शब्द का आनन्दघन, स्वतन्त्र, ज्ञानी से ज्ञेय, विभु ब्रह्म ही अर्थ सिद्ध होता है। इस विचारादि के बिना, जिहि (जिस) जीव को जैसो बात वस्तु जान पड़ी, वह वैसे ही राम को (लेखा) समझा (देखा) जैसे कि कोई मन्द अन्धकार में रज्जु को उरग (सर्प) पेखा (देखा) हो, और देखता है। वैसे ही राम का भ्रम भी होता है, किसी देहमात्र में राम आत्मादि बुद्धि भ्रम स्वरूप होती है, देही प्रत्यगात्मा तो सर्वत्र राम है ही।

यद्यपि फल उत्तम गुण जाना। हरिहि छोड़ि मन मुक्ति न आना॥
हरि अधार जस मीनहि नीरा। और यतन कछु कहहिं कबीरा ॥९६॥

रामचन्द्रस्य सद्भक्त्या फलं मुख्यगुणं हितम्।
सज्जनाः परिपश्यन्ति भवतात्त्तथैव हि ॥१५॥
सर्वात्महरिमज्ञात्वा त्यक्त्वा तस्य विचिन्तनम्।
मनसो न भवेन्मुक्तिः कस्यापीह कथञ्चन ॥१६॥
सर्वस्य हरिराधारो मोक्षस्य च सुखस्य च।
यथा मीनस्यपानीयं सर्वं तेनात्र लभ्यते ॥१७॥
"न जहाति मनः प्राणान् विना ज्ञानेन कर्हिचित्।
तृणान्तरेणैव विना तृणाङ्गमिव तित्तिरिः ॥१८॥

ज्ञानादवासनीभावं स्वनाशं प्राप्नुयान्मनः।
प्राणात्स्पन्दं च नादत्ते ततः शान्ति हि शिष्यते" ॥१९॥
अहो तथापि जीवाश्च भाषन्ते यत्नमन्यथा।
विन्दन्ते नैव चात्मानं हरिं शुद्धेन चेतसा ॥२०॥९६॥

यद्यपि श्रीदशरथ पुत्रादिरूप रामादि की भक्ति ज्ञानादि से उत्तम गुण वाले अन्तःकरण की शुद्धि स्वर्गादिरूप फल को महात्माओं ने जाना (माना) है, सो ठीक (सत्य) ही है (युक्त उचित ही है) तथापि प्रत्यक्ष अनुभवरूप ज्ञानमात्र से सब अज्ञान पाप संसार दुःखादि को हरने (नाशने) वाले सर्वात्मा असङ्ग अखण्ड सर्वसाक्षी स्वरूप निर्गुण हरि को छोड़कर (त्यागकर) उस हरि की ज्ञप्ति प्राप्ति के बिना, आना (अन्य) किसी प्रकार से, यह जीव मन के प्रपञ्चजन्मादि संसार से मुक्ति नहीं पाता है, कारण और सूक्ष्म देह से रहित नित्य मुक्त स्वरूप हरि के ज्ञान के बिना नहीं होता है। किन्तु सर्वात्मा हरि के ज्ञान से ही मन से मुक्ति पाई जाती है क्योंकि हरि सब जगत् के इस प्रकार का आधार है कि जैसे मछली का आधार नीर (जल) होता है। अतः अज्ञान मन आदि का आधार हरि (आत्मा) ही है, तहाँ विशेष प्रकाशरूप ज्ञान से अन्धकाररूप अज्ञान मन पापादि की निवृत्ति से विदेह मुक्ति जीवन्-मुक्तिपूर्वक होती है। और विवेक द्वारा हरि से संसार को पृथक करने (समझने) पर जल रहित मीन के समान सत्ता आदि रहित संसार नष्ट हो जाता है, परन्तु मोह-कामादि वशवर्ती जीव विवेकादि की प्राप्ति नहीं करके कर्मादिरूप कुछ और ही यत्न करता है। अतः संसारी बना रहता है कहा गया है कि "न जहाति मनः प्राणान् विना ज्ञानेन कर्हिचित्। योगवाशिष्ठ प्र. ६ ६६" इत्यादि। ज्ञान के बिना मन प्राणों को नहीं त्यागता है। और ज्ञान से वासना रहित होकर मन स्वयं नष्ट चञ्चलता रहित हो जाता है। इत्यादि ॥९६॥

शब्द ९७

कैसे के तरो नाथ कैसे के तरो। अब बहु कुटिल भरो ॥
कैसी तेरी सेवा पूजा, कैसा तेरा ध्यान।
ऊपर ऊजर देखो, बक अनुमान ॥
भाव तो भुवंग देखो, अति विविचारी।
सुरति सचान तेरी, मति तो मञ्जारी ॥

वदतो ह्यन्यथत्वं तान् भाषते सद्गुरुः किल ।
यूयं पश्वादिनाथा हि कथं मुक्ता भविष्यथ ॥२१॥
इदानीमपि वश्चित्ते रागद्वेषादिसंयुतम् ।
वर्तंते बहुकौटिल्यमविवेकविमोहजम् ॥२२॥
कीदृशी स्यात्कृता सेवा पूजा वापि भवादृशैः ।
ध्यानं कीदृक् च सिद्धयेत कौटिल्यं त्यज्यते न चेत् ॥२३॥
शरीरे दृश्यते तावत्तव स्नानेन शुद्धता ।
बकवच्छ्वेतता किन्तु भावस्तेऽस्ति भुजङ्गवत् ॥२४॥
कुटिलो विषवत्तीव्रो विचारंविमुखः सदा ।
व्यभिचाररतः क्रूरो वञ्चनादिषु तत्परः ॥२५॥
श्येनवत्ते मनोवृत्तिः क्रूरा घातरताऽसती ।
बुद्धि र्मार्जारिकातुल्या मिथ्याध्यानपरायणा ॥२६॥

प्रथम कहा गया है कि सर्वात्मा हरि के ज्ञान से मुक्ति होती है। और उस ज्ञान के साधन और स्वरूप, अमानिता, अदम्भिता, अहिंसा क्षमा, आदि गीता में वर्णित हैं तथा शास्त्रों में प्रसिद्ध हैं, और कहा गया है कि "छाड़हु पति छाड़हु लबराई। मन अभिमान छूटि तब जाई। रमैनी ६०" इत्यादि। अतः कहा जाता है कि इन साधनों के बिना मुक्ति की आशा करना व्यर्थ है। क्योंकि हे नाथ! (गो गृहादि की स्वामिता के अभिमानी हे जीव!) तुम कैसे के (किस प्रकार से) तरोगे। अमानिता आदि के बिना अन्य किसी प्रकार से नहीं तरोगे। क्योंकि अमानिता आदि के बिना अब ही तुममें कुटिल (कुटिलता) तथा कुटिल कामादि वञ्चक शत्रु बहुत भरे (पूर्णरूप से पड़े) हैं। और मोक्षप्रद साधन भक्ति तथा सरलता, निष्कामता, ज्ञानस्वरूप होते हैं। इस कुटिलता (वक्रता) कामादियुक्त अवस्था में तुमसे किसी सद्गुरु देवादि की सेवा और पूजा भी किस प्रकार की और कैसे हो सकती है। अर्थात् उक्त प्रकारवाली सात्त्विक ज्ञानप्रद सेवा पूजा नहीं हो सकती है तथा तेरा ध्यान (तुमसे किया गया गुरु सत्यात्मादि का ध्यान) भी कैसा हो सकता है; शुद्ध ध्यान नहीं हो सकता है। क्योंकि शुद्ध ध्यान मन की उज्ज्वलता से होता है। और तुम ऊपर से ही उज्ज्वल बक अनुमान (बक के समान) दीखते हो। और भीतर तेरे मन का भाव (आशय तात्पर्य) भुजंग (सर्प) तुल्य टेढा मलिन दीखता है तथा अत्यन्त विविचार (कुविचार) दीखता है, और तेरी सुरति

(मनोवृत्ति = प्रीति) सचान (बाज) तुल्य है। और मति (बुद्धि) तो बिल्ली तुल्य घातक है, तो कैसे तरोगे।

अति रे विरोध देखो, अति रे दिवाना।
छवो दरशन देखो, वेष लपटाना॥
कहहिं कबीर सुनहु नल बन्दा, डाइनि एक सकल जग खन्दा॥९७॥

दृश्यतेऽतिविरोधोऽतोऽतिगर्वादिश्च मत्तता।
दर्शनेषु च षट्स्वेवं वेषासक्तिः प्रदृश्यते॥२७॥
सद्गुरुश्चाह भो भक्ताः! शृणुतैतत्सुनिश्चितम्।
अविद्या डाकिनी ह्येका खादतिस्माखिलं जगत्॥२८॥

अविद्यादिदोषोऽस्ति यावद्धृदिस्थो, न यावच्च भावो विशुद्धो न धर्मः।
न तावद्धि वेषै र्न देशैश्च कै र्वा, विमुक्तेर्विरक्तेः सुशक्तेश्च वार्ता॥२९॥९७॥

इति हनुमत्कृतायां शब्दसुधायां विवेकादि विनाऽभिमानबन्धनादि-
वर्णनं नाम सप्तत्रिंशत्तमस्तरङ्गः॥३७॥

रे अज्ञ! उक्त कुटिलता कामादि के कारण परस्पर अत्यन्त विरोध दीखता है, और अत्यन्त दिवाना (अहंकारी गर्वी) लोग दीखते हैं तथा छवो दर्शनों योगी जंगमादि में प्रायः वेषमात्र लिपटा हुआ दीखता है, वेषों का अभिमान दीखता है, और निरभिमानता आदि द्वारा ज्ञान से मुक्ति होती है, तो तुम कैसे तरोगे। श्रीसद्गुरु कबीर साहब कहते हैं कि हे वन्दा! भक्त मनुष्यो! यदि मुक्ति शान्ति सुख चाहो तो अब भी कुटिलता आदि को त्याग कर सद्गुरु से श्रवणादि करके आत्मानुभव करो। क्योंकि इसके विना एक अविद्या रूप डाइन=डाकिनी सब संसारी को खाती है, कष्ट देती है, मोहादि रूप खड्ड में गिराती है। क्योंकि "माया बड़ि ही डाकिनी, करै काल की चोट। कोइ इक हरिजन उबरा, पारब्रह्मकी ओट॥१॥ अंगकी सा०"॥९७॥

अथ संसारशाम्बरीदेहादितुच्छतावर्णन प्र० ३८

शब्द ९८

अब हम जानिया हो, हरि बाजी का खेल।
डंक बजाय देखाय तमासा, बहुरि लेत सकेल॥

सद्विवेके विचारादौ कृतेऽस्माभिस्तु सम्प्रति ।
ज्ञातं सर्वं जगद्ध्येतद्धरे र्मायाविडम्बनम् ॥ १ ॥
सज्जना ! भोस्तथावित्त निखिलं गोगृहादिकम् ।
नादयित्त्वा यथा ढक्कां नटो दर्शयतेऽनृतम् ॥ २ ॥
ढक्कां वै नादयित्वेव शब्दान् कृत्वा सहस्रधा ।
कौतुकं दृश्यवर्गस्य हरिर्दर्शयते जनान् ॥ ३ ॥
प्रत्यक्षं दर्शयित्वा च कौतुकं सर्वशो हरिः ।
स संकोचयते स्वस्मिन्नटः स्वकौतुकं यथा ॥ ४ ॥
तस्माद्यस्मादिदं जातं यस्मिँस्तिष्ठति सम्प्रति ।
तं विद्धि मायिनं देवं सत्यं पश्य च निर्गुणम् ॥ ५ ॥

हे मनुष्यो ! गुरु के उपदेशों को सुनने वाले हम लोगों ने तो अब जान लिया है कि यह संसार सर्वात्मा राम हरि (ईश्वर) की बाजी (माया) का खेल (मिथ्या कौतुक) रूप है । और जैसे नट डंका (ढोल) बजा कर, मिथ्या तमासा दिखाकर, बहुरि (फिर) उस तमासे को सकेल (समेट) लेता है । तैसे ही हरि भी प्रथम वेदादि रूप शब्द की सृष्टि करके मिथ्या संसार को रचते और लीन करते हैं ।

हरि बाजी सुर नर मुनि जहड़े, माया चाटक लाया ।
घर में डारि सबे भरमाया, हृदया ज्ञान न आया ॥

इत्थं ज्ञाने हि को विद्वानत्रासक्तो भवेत्तथा ।
विरोधः केन को कुर्यात्कौटिल्यं च कथं भवेत् ॥ ६ ॥
हरे र्मायाकृते जाले हीन्द्रजाल समेऽनृते ।
देवा मुनिमनुष्याश्च भ्रान्ताः खिन्ना ह्यमोमुहन् ॥ ७ ॥
मोह कामात्मकं तेषु सेन्द्रजालं त्वयोजयत् ।
माया ममत्वजननी वर्ष्मवेश्मस्ववेशयत् ॥ ८ ॥
तत्रावेश्य च सर्वांस्तान् सा भ्रामयति सर्वदा ।
येषां हि हृदये ज्ञानं सत्यं यावन्नचागमत् ॥ ९ ॥
सत्यज्ञानविहीनान् सा देवानपि मुनींस्तथा ।
संभ्रामयति सज्ज्ञाने सर्वांस्त्यजति मुक्तिदा ॥१०॥

उक्त माया को और हरि को विवेक पूर्वक जाने के बिना, हरि की बाजी रूप माया से सुर नर मुनि सब जहड़े (धोखे में पड़े-दुःखी हुए भटके) क्योंकि माया ने उनमें चाटक (दृष्टि बँन्ध काम लोभादि) लाया (लगा दिया)

फिर देह लोकादि रूप घरों में डार कर (देहाभिमानदि करा कर) सब संसार सब खानि आदि में सब को भरमाया, अतः सत्यात्मा का ज्ञान सब के हृदय में नहीं आया (नहीं प्राप्त हुआ) तथा चाटक के लगने (मोह के होने) से जिसके हृदयमें ज्ञानोदय नहीं हुआ, उसको मायाने भरमाया, अन्य को नहीं, अतः अवश्य सर्वान्तरात्मा ज्ञातव्य है।

बाजी झूठ बाजीगर साँचा, साधुन की मति ऐसी।
कहहिं कबिर जिन जैसी समुझी, ताकी गति भौ तैसी ॥९८॥

मायाजालं जगत् कृत्स्नं मिथ्येदमिन्द्रजालवत्।
नटवच्च हरिः सत्यः साधूनामिति सन्मतिः ॥११॥
यथा यैश्च परिज्ञातो हरिः सत्योऽथवा जगत्।
तादृश्येवाऽभवत्तेषां गतिरन्यत्र वा हरौ ॥१२॥
तस्माद्वित्त हरिं धीरास्त्यज्यतामनृतं जगत्।
इत्येवं सद्गुरुः प्राह कबीरो जगतां हितम् ॥१३॥
"स्वप्नमाये यथा दृष्टे गन्धर्वनगरं यथा।
तथा विश्वमिदं दृष्टं वेदान्तेषु विचक्षणैः ॥१४॥
तमः श्वभ्रनिभं दृष्टं वर्षबुद्बुदसन्निभम्।
नाशप्रायं सुखाद्धीनं नाशोत्तरमभावगम्" ॥१५॥

ज्ञातव्य है कि नट कृत बाजी (खेल) के समान, माया और माया द्वारा हरिकृत बाजी झूठ (मिथ्या) है। और बाजीगर तुल्य सर्वात्मा हरि सत्य है। उस हरि परब्रह्म की सत्ता से ही माया मायिक पदार्थ सत्य भासते हैं, उनमें स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, ऐसी साधुओं (विवेकियों) की मति (सिद्धान्त) है। तहाँ श्रीकबीर साहब कहते हैं कि जिन लोगों ने जैसी समझी (मति बुद्धि पाई) उनकी वैसी ही गति हुई, और होती है। अर्थात् हरि को सत्य समझनेवाले हरि को पाये, संसार को सत्य समझनेवाले संसार पाये। अतः संसार को मिथ्या समझकर हरि को ही समझना चाहिये कि जिससे हरि की प्राप्ति मुक्ति हो ॥९८॥

शब्द ९९

चलहु क्या टेढ़ो टेढ़ो टेढ़ो।
दशहुँ द्वार नरक भरि बूड़े, तू गन्धी का बेढ़ो।

देहाभिमानतो मूढा वाव्रज्यन्ते सदा कथम्।
कुमार्गे नैव सन्मार्गे भवन्तो यन्ति सिद्धये ॥१६॥

युष्माकं यत्र गर्वोऽस्ति तस्य द्वाराणि वै दश ।
नारकीयै मलैः सन्ति पूर्णानि तानि पश्यत ॥१७॥
"वसा शुक्रमसृङ् मज्जा मूत्रं विट् कर्णविण्नखाः ।
श्लेष्माऽस्रुदूषिका स्वेदो द्वादशैते नृणां मलाः" ॥१८॥
तत्रैव चाभिमानेन निमग्नत्वाज्जनाः खलु ।
यूयं दुर्गन्ध वस्तूनां कुशूलत्वं गता इव ॥१९॥
प्रकारा पूतिगन्धस्य देहगेहाभिमानतः ।
संजायन्ते भवन्तो वै चिदानन्दमया अपि ॥२०॥

संसार को सत्य मानकर देहादि के अभिमानियों के प्रति उपदेश है, कि झूठी धन सम्पत्ति और सौन्दर्यादि को पाकर अत्यन्त टेंढ़े होकर (ऐंठकर) तथा कपटी होकर तुम क्या चलते व्यवहार करतें हों। जिस देह के दशो द्वार मल, मूत्र, कफ, कर्णविट् (कर्णमल) दूषिका (नेत्रमल) वसा आदि से भरे (पूर्ण) हैं, उस देह के अभिमान करके उस नरक कुण्ड में तुम बूड़े हो, और गन्धी (दुर्गन्ध वस्तु) के मानो वेढ (बखार) बने हो। अथवा सुगन्धी के वेढ (स्थान) होते भी देहाभिमान से तुम भरे हुए नरक कुण्ड में बूड़े हो। अर्थात् सच्चिदानन्दस्वरूप होते भी देहाभिमान से मर्त्य दुःखी जड़ संसारी हुए हो। अतः अभिगान को त्यागो। क्योंकि—

फूटी नयन हृदय नहिं सूझै, मति एको नहिं जानी ।
काम क्रोध तृष्णा के माते, बूड़ि मुये बिनु पानी ॥
जो जारे तन होय भस्म धुरि, गाड़े कृमि विट खाई ।
शूकर श्वान काग का भोजन, तन की इहे बड़ाई ॥

हृदयस्थानि नेत्राणि विवेकादिमयानि वै ।
नष्टान्येव हि युष्माकं दृश्यते न ततो हितम् ॥२१॥
एकामपि मतिं नैव विन्दन्ति च शुभां यतः ।
लभ्यते सद्गतिः पुंभिः शान्तिः सौख्यं विमुक्तता ॥२२॥
तथा विना च कामेन क्षुधाऽतितृष्णयाऽपि च ।
प्रमत्तत्वाद् ब्रुडन्त्येव भावाब्धौ सज्जलं बिना ॥२३॥
ब्रुडित्वा किं म्रियन्तेऽत्र ह्यभिमानेन मानवाः ।
कदर्थनां[1] विलोक्यास्य भवाब्धिस्तीर्यतां द्रुतम् ॥२४॥

[1] कदर्थना = पीड़ा = दीनता ।

देहोऽयं जायते दाहे भस्म धूलि भवेद् ध्रुवम् ।
भूमिखाते निखातौ च कृमयोऽस्मिन् भवन्ति हि ॥२५॥

क्रव्यादै र्भक्षितो विट् च निन्दितो जायते यतः ।
शूकरश्वादिकाकानां भक्ष्यत्वमत्र वर्तते ॥२६॥

त्रिधाऽवस्था शरीरस्य कृमिविड्भस्मरूपतः ।
किं गर्वः क्रियते तस्य ह्येतावत्यस्ति मुख्यता ॥२७॥

देहाभिमानादि से हृदय की विवेक दृष्टि फूटी (नष्ट हुई) है। अतः सत्य वस्तु नहीं सूझती है। और एक भी मति (भावी हित की बुद्धि) तुमने नहीं जानी (पाई) है। अतः काम, क्रोध और तृष्णा (लोभ) करके मौते रहते हो और "त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः। कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत् त्रयं त्यजेत्" काम, क्रोध और लोभ ये तीन प्रकार के नरक के द्वार (हेतु) हैं तथा जीवात्मा के नाश (कष्ट) के हेतु हैं। अतः इन तीनों को त्यागना चाहिये, इत्यादि उपदेशों को मतवालेपन से भूले रहते हो कि जिससे पानी के बिना ही संसार सागर में देहाभिमानादि से कितने बार बूड़कर मुये हो। और मरने पर यदि देह को जलाया जाता है, तो यह जलकर (भस्म होकर) धूलि हो जाती है, गाड़ने पर कृमि होती है, कहीं बाहर छोड़ देने पर कुत्ते, सियार आदि खाकर विट (विष्ठा) कर देते हैं। क्योंकि यह मृतक देह शूकर श्वान काकादि का भोजन (भक्ष्य) स्वरूप हैं। और इसकी यही बड़ाई है। शूकर का शीकर-पाठान्तर हैं, उसका स्यार = गीदड़ अर्थ है।

चेति न देखु मुग्ध नल बौरे, तुम ते काल न दूरी ।
कोटिक यतन करो या तन की, अन्त अवस्था धूरी ॥
बालू के घरवा महँ बैठे, चेतत नाहीं अयाना ।
कहहिं कबिर एक राम भजे बिनु, बूड़े बहुत सयाना ॥६६॥

भोः सुमुग्धजना मत्ताः सावधानै र्हि दृश्यताम् ।
कालो नास्ति क्वचिद्दूरे भवद्भ्य इति बुध्यताम् ॥२८॥

रक्षार्थमस्य देहस्य यत्नाश्चेत् कोटयो जनैः ।
क्रियन्तेऽप्यन्तकालेऽयं धूलित्वमेवगच्छति ॥२९॥

अहो मूढजना यूयं स्थितास्थ बालुकागृहे ।
नो चेतथ निजात्मानं मन्यध्वे च स्थिरं जगत् ॥३०॥

एकस्यैवात्र रामस्य भजनेन विना प्रभोः ।
बहवः कुशलाः सिन्धौ निमग्नास्तन्न बुध्यते ॥३१॥
"सम्पन्मदेप्रमत्तश्च विषयान्धश्च विह्वलः ।
महाकामी साहसिकः सन्मार्गं नैव पश्यति ॥३२॥
सद्यः पतति देहोऽयं विना येन सदात्मना ।
तं निषेव्य कालगतिं तरत्येव हि केवलम् ॥३३॥
जन्ममृत्युजराव्याधिहरं सर्वहरं तथा ।
कालस्य तरणोपायं भजनं परमात्मनः" ॥३४॥
"जाति विद्या महत्त्वं च रूपं यौवनमेव च ।
यत्नेन परितस्त्याज्याः पञ्चैते भक्तिकण्टकाः" ॥३५॥
अतश्चैतान् परित्यज्य कुरुध्वं भजनं प्रभोः ।
भवाब्धेस्तरणायेति कबीरो भाषते गुरुः ॥३६॥

देहादिमानं परित्यज्यदूरे लोभं च मोहं ममतां विहाय ।
भजन्ति ये राममनन्यचित्तास्तरन्ति तेऽपारभवाब्धिमाशु ॥३७॥९९॥

इति हनुमत्कृतायां शब्दसुधायां संसारशाम्बरीदेहतुच्छताप्रदर्शनं नामाष्टात्रिंशत्तमस्तरङ्गः ॥ ३८ ॥

हे मुग्ध (अज्ञ मूढ) बौरे (मतवाले) नर ! शीघ्र चेतकर (सावधान होकर) देखो (समझो) न । अर्थात् देहाभिनानादि को त्यागकर शीघ्र आत्मा राम को अवश्य समझो । क्योंकि तुम से काल (मृत्यु) दूर नहीं है, देहाभिमानी के साथ में सदा मृत्यु वर्तमान रहता है । अतः इस देह के लिये करोड़ों यत्न करते हो या करोगे तो भी यह अन्त अवस्था (मरण के बाद) में धूली हो जायगी । बालू से रचित घर के तुल्य विनश्वर देह में बैठे (आसक्त) अयान (अज्ञ) अभिमानी चेतते नहीं हैं (विवेक विरागादि को नहीं प्राप्त करते हैं) । अतः श्रीकबीर साहब कहते हैं कि ऐसे अभिमानी बहुत सयान (विद्वान् व्यवहार में कुशल) भी एक सर्वात्मा राम को भजने और जानने के बिना संसार सागर में बूड़े और बूड़ते हैं (जन्मादि प्रवाह में प्राप्त होते हैं) । अतः जन्मादिरूप संसार से रहित होने के लिये विवेक विचारादि द्वारा सब अभिमान काम, क्रोधादि को त्यागना और एक सर्वात्मा राम को भजना जानना चाहिये ॥ ६६ ॥

अथ अभिमानजगर्भजन्मादिजदुःखवर्णन प्र० ३६

शब्द १००

फिरहु क्या फूले फूले फूले।
जब दश मास औन्ध मुख होते, सो दिन काहे भूले॥
ज्यों माँखी संचय नहिं विहुरे, शोचि शोचि धन कीन्हा।
मूये पीछे लेहु लेहु करि, भूत रहन कस दीन्हा॥

धनदेहाभिमानेन कुलगोत्रादिना तथा
मत्ता भ्रमथ किं यूयं मिथ्याऽऽनन्देन मोहिताः॥ १॥
अधोमुखा यदा यूयमास्त मासान् दशापि वै।
वासरांस्तांश्च भोः कस्मान्नरा विस्मरथाऽधुना॥ २॥
"आस्ते कृत्वा शिरः कुक्षौ भुग्नपृष्ठशिरोधरः।
अकल्पः स्वाङ्गचेष्टायां शकुन्त इव पञ्जरे"॥ ३॥
मक्षिकामधुवच्चैव संचिन्वन्ति धनं सदा।
वियुज्यन्ते भवन्तो नो तस्मात् कृत्वाऽतियत्नतः॥ ४॥
सावधानेन संचिन्त्य सञ्चितं तद्धनं खलु।
युष्मन्मृतौ ग्रहीष्यन्ति जना अन्ये पुनः पुनः॥ ५॥
गृह्यतां गृह्यतां कृत्वा धनान्यादाय सर्वशः।
भौतिकं क्षेत्रदेहादि रक्षिष्यन्ति कथं जनाः॥ ६॥

तन धनादि के अभिमान से क्या अत्यन्त फूले (गर्वित हुए) फिरते हो (श्रद्धा भक्ति आदि से विमुख हुए हो) इस अभिमान गर्वादि से ही जब दश मास औन्धमुख (अधोमुख) गर्भ में होते हो, और "जहँ से उपजे तहँइ समाने, छूट गेल सब तब ही। शब्द ८१" इस उक्ति के अनुसार गर्भ में गर्वादि से रहित कष्ट दशा में प्राप्त होते हो। सो गर्भावस्था के दिनों को काहे भूल गये हो। उनके स्मरणादि करके गर्वादि को त्यागो। उन दिनों को भूलने आदि से ही ज्यों माँखी (मधुमाँखी के समान, शोच २ कर तुम ने धन किया है, और उससे विहुरते (वियुक्त होते) नहीं हो। जैसे माँखी मधु का संचय करती है, और उससे हटती नहीं है, उसको सेवती है, सोई दशा तुम्हारी है, परन्तु तेरे मरने के पीछे (बादमें) सब लोग लेहु लेहु (लेलो) कह कर ले लेगें। तेरे साथ में कुछ भी नहीं जायगा। उसधन के अभिमान से तुम व्यर्थ ही रामधन धर्मधन को खोते हो। जो कि सदा साथ में रहने वाला

और जाने वाला है। धन तो लेही लेगें, तेरे भूत (भौतिक शरीर) को भी कैसे रहने देगें, या कैसे रहने दिये। तेरे अनन्त शरीर हो चुके हैं, सब नष्ट हुए और नष्ट किये गये हैं।

जारे देह भस्म होय जाई, गाड़े माटी खाई।
काँचे कुम्भ उदक ज्यों भरिया, तन की यही बड़ाई ॥
देहरि लै वरनारि सङ्गि है, आगे सङ्ग सुहेला।
मृतक थान लो सङ्ग खटोला, फिर पुनि हंस अकेला ॥
राम न रमसि मोह के माँते, परेहु काल वश कूँवा।
कहहिं कबिर नल आप बँधायो, ज्यों नलिनी भ्रम सूवा ॥१००॥

दाहे भस्मी भवेद्देहो मृत्स्वाधाने तु मृद् भवेत्।
अन्यथा खाद्यते चायं क्रव्यादैः पशुपक्षिभिः ॥ ७ ॥
आमकुम्भसमे देहे जलवत्प्राणवायवः।
मनोमुखाश्च तिष्ठन्ति देहस्य श्रेष्ठता त्वियम् ॥ ८ ॥
अन्ते प्राणवियोगे तु द्वारं यावद्वराः स्त्रियः।
सार्द्धं तिष्ठन्ति दुःखार्ताः कियदग्रे सुहृज्जनाः ॥ ९ ॥
श्मशानान्तं हि खट्वापि सहैव वर्तते ततः।
एकाक्ययं प्रचलति हंसो मोहादि संयुतः ॥१०॥
अहो तथापि मोहेन मत्ता यूयं न चिद्घने।
रामे रमथ कालस्य तेनैव वशगाः सदा ॥११।
भवकूपे निमग्नाःस्थ वद्धाः स्थ स्वयमेव च।
नालिकायां शुको यद्वत्स्वयमेव निवध्यते ॥
यूयं भ्रमेण वद्धाःस्थ तथेति सद्गुरो र्वचः ॥१२॥१००॥

क्योंकि जलाने से देह भस्म (राख) हो जाती है, गाडने से सड़कर माटी होती है, कहीं बीग देने से कोई प्राणी इसको खालेते हैं। कच्चे घट में जल के समान इसमें प्राण भरे हैं, और कुछ काल तक कर्माधीन टिके हैं, इस देह की यही बड़ाई है। मरने पर देहरी (द्वार) तक अच्छी स्त्री मुर्दे के साथ रहती है, और कुछ आगे तक सुहेला (सुहृद् मित्र) साथ में रहते हैं। और मृतक स्थान (श्मशान) तक खटोला (खाट) रथी साथ में रहता है, फिर तो जीवात्मारूप हंस पुनः पुनः (बार-बार) अकेला ही चलता है। कोई इसका साथी भी नहीं होता है। तो भी तुम जीव इन स्त्री आदि विषयक मोह

आसक्ति राग) के कारण मांते (मत्त=बदहोश) रहने से सदा के सङ्गी सहायक सच्चिदानन्द स्वरूप राम में नहीं रमते हो (राम के स्मरण भक्ति विचारादि नहीं करते हो)। अतः काल (मृत्यु) के वश में होकर गर्भ-नरकादि अन्ध कूप में पड़े हो (पड़ते हो) और संसार में बंधे फँसे हो। तहाँ श्रीकबीर साहब कहते हैं कि यह मनुष्य सांसारिक बन्धन में आप स्वयं इस प्रकार से बँधता है कि जैसे नलिनी में भ्रम से सूवा बँधता है। अभिमानादि को त्याग कर भ्रम देहाध्यासादि की निवृत्ति के लिये विवेक विज्ञान की प्राप्ति कर्तव्य है कि जिससे निर्बन्ध हुआ जाय इत्यादि ॥ १०० ॥

शब्द १०१

अब कहँ चलेहु अकेला मीता। उठियो न करहु घरहु की चींता॥
खीर खाँड़ घृत पिण्ड समारा। सो तन लै बाहर कै डारा॥
जिहि शिर रचिरचि बाँधहु पागा। सो शिर रतन विदारे कागा॥
हाड़ जरै जस लकरिक भूरी। केश जरै जस तृण की कूरी॥
आवत संग न जात सँघाती। काह भये दल बाँधे हाथी॥

यावद्देहं गृहे सक्तस्तस्य चिन्तापरो भवान्।
धनदेहपरश्चैकः केदानीं याति मित्र हे॥१३॥
उत्थाय गृहचिन्तैव पुनः किं क्रियते न हि।
किन्नैतद्विदितं पूर्वं यन्नान्तशम्बलं कृतम्॥१४॥
पायसैर्घृतखण्डाद्यैर्यैः पिण्डः साधितस्त्वया।
स इदानीं बहिर्गेहात् क्षिप्तस्तिष्ठति लोष्ठवत्॥१५॥
यस्मिञ्छिरसि संधायाऽबध्ना उष्णीषमद्भुतम्।
शिरोरत्नं हि तत् काका इदानीं विहणन्ति च॥१६॥
अग्नौ प्रक्षेपणे चास्य ह्यस्थि संशुष्ककाष्ठवत्।
तृणसंघसमः केशो ज्वलत्येव क्षणादिह॥१७॥
सेना हस्ती तथाऽश्वाद्या न त्वया सह चागताः।
न गमिष्यन्ति सार्द्धं ते किं तेषां संग्रहात्फलम्॥१८॥

यद्यपि प्रारब्ध कर्म सबको भोगना होता है, तथापि संचित और आगामिक कर्मों का विवेकज आत्मज्ञान से नाश और अश्लेष (असम्बन्ध) होता है। अतः शास्त्र की आज्ञा उपदेश है कि "हेयं दुःखमनागतम्" भावी दुःख विवेकादि द्वारा निवारणीय है। सो विवेकादि नहीं करके जो जीवनकाल

भर गृहादि में आसक्त रहकर मरने वाले हैं, उनसे कहा जाता है कि हे गृहादि के मित्रो! (प्रेमियों!) अब मरणकाल में अकेला (एकाकी) कहाँ चले हो। हे मीता (मित्र) अब भी उठकर घर की चिन्ता करो न, और खीर खाँड़ घृतादि से जिस पिण्ड (देह) को तुमने सँभारा (पोषा) सो देह भी अब बाहर करके डारी (धरी) गई है। जिस शिर पर रच-रचकर सुन्दर पगड़ी बाँधता था, उस शिररूप रत्न (उत्तमाङ्ग) को अब काक विदारता (फाड़ता) है। और चिता में सूखी (झूरी) लकड़ी के समान हाड़ जलता है, और तृण की कूरी (पूँज) के जस (समान) केश जलते हैं। और जन्म काल में आते समय जो संग में नहीं आया न आता है तथा जाते (मरते) समय जो सँघाती (साथी) नहीं हुआ न होता है, ऐसे दल (फौज जमात) के बटोरने से तथा हाथी के बाँधने से क्या फल हुआ, इनसे ही राम की प्राप्तिरूप फल का अभाव हुआ, और अन्य कोई सत्य फल है नहीं।

माया के रस लेहुँ न पाया। अन्तर यम बिलार होय धाया॥
कहहिं कबिर नल अजहुँ न जागा। यम के मुगदर माँझ शिर लागा॥

बहुचिन्तानिमग्नत्वान्मायाग्राह्यं रसं नहि।
नरो भोक्तुं समर्थोऽभूत्तावदाक्रमते यमः॥१९॥
मूषिकस्य विनाशाय मार्जारो धावते यथा।
तथैव धावते मृत्यु र्मुहुर्मुहुरतर्कितः॥२०॥
सम्मूढो मानवो यस्मादिदानीमपि मोहजाम्।
कुनिद्रां त्यक्तवान्नैव ततो मध्ये शिरस्ययम्॥२१॥
यमदण्डोऽलगत्तेन विह्वलो वर्तते सदा॥२२॥
दृष्ट्वा तस्य विपत्तिं च भाषते सद्गुरुर्हितम्।
भावी दण्डो यथा न स्यादद्यापि मोहमार्जनात्॥२३॥
भोगादिबुद्ध्या प्रसक्तो नरो हि गर्भादिजं दुःखमुग्रं न बुद्ध्वा।
कामादिभि र्वञ्चितः संशयानो रामं विना मोहितः पीड्यतेऽत्र॥२४॥१०१॥

इति हनुमत्कृतायां शब्दसुधायां गर्भजन्ममरणादिज दुःखवर्णनं नामैकोनचत्वारिंशत्तमस्तरङ्गः॥ ३९॥

गृहादि की चिन्ता से व्यग्र अज्ञ माया के मिथ्या रस (आनन्द) को भी लेने नहीं पाया, मायिक वस्तु के भोग से तृप्त नहीं हुआ, और संग्रही चूहा तुल्य इसको पकड़ने के लिये अन्तर (मध्य = बीच) में ही यम बिलार तुल्य होकर दौड़ पड़ा। श्रीकबीर साहब कहते हैं कि जो मनुष्य अजहुँ (अबहुँ)

मरणकाल में भी मोह निद्रा से नहीं जगा, विवेक विज्ञान को नहीं प्राप्त किया, उसके मांझ (मध्य) शिर में यम का मुगदर (गदा = दण्ड) लगा और लगता है। अतः हो सके तो मरण समय में भी यम दण्ड से बचने के लिये राम भजनादि कर्तव्य हैं ॥ १०१ ॥

अथ रामभजनादि के बिना दुःखादिवर्णनप्र० ४०

शब्द १०२

मरिहौ रे तन का लै करि हौ। प्राण छुटे बाहर ले धरि हौ ॥
काय विगुरचन अनवन भाँती। कोइ जारै कोइ गाड़ै माटी ॥
हिन्दु ले जारै तुरुक ले गाड़ै। यहि विधि अन्त दोनों घर छाड़ै ॥
कर्म फाँस यम जाल पसारा। ज्यों धीमर मछरी गहि मारा ॥

रे नरा मरणे प्राप्ते तन्वा किञ्च करिष्यते।
प्राणवायो वियोगे सा बहिस्तूर्णं विकीर्यते ॥ १ ॥
कायस्यास्य विनाशश्च बहुधा जायते ततः।
केचिद्दहन्ति केचिच्च मृत्स्वेव निखनन्ति तम् ॥ २ ॥
आर्या दहन्ति तं कायं तुरुष्का निखनन्ति च।
उभये त्याजयन्तीत्थं गृहमन्ते त्यजन्ति च ॥ ३ ॥
कर्मपाशै र्युतं जालं मोहकामादिलक्षणम्।
यमः प्रस्तार्य तान् सर्वान् गृहीत्वा हन्ति सत्वरम् ॥ ४ ॥
मत्स्यघाती यथा मत्स्यान् हन्यादेवाविचारयन्।
यमस्तथा नरान् हन्ति धर्मरिक्तान् पुनः पुनः ॥ ५ ॥
इज्याऽऽचारदमाहिंसा दानं स्वाध्याय कर्म च।
अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम् ॥ ६ ॥

रे देहाभिमानी! मरोगे तो इस तन को लेकर क्या फिर भी कुछ करोगे? प्राण के छूटते ही तो यह बाहर लेकर धरी जायगी, किसी काम के लायक नहीं रहेगी। अतः बाहर भी इस काया का विगुचन (विनाश) अनवन (अन्य अन्य) प्रकार से होता है। क्योंकि कोई इसको जलाता है, तो कोई माटी में गाड़ता है। तहाँ हिन्दू इसको लेकर जलाता है और तुरुक लेकर गाड़ता है। इस प्रकार से मृतकरूप भी हिन्दू तुरुक दोनों अन्त में अवश्य घर को छोड़ते हैं। परन्तु प्रथम से मोह कामादि के नाशक विवेक विज्ञानादि के अभाव के कारण

कर्मरूप फांस वाले मोहरूप जाल को यम पसारता है, अन्त में भी मोह ममता वासना आदि को व्यक्त करता है। और उस जाल द्वारा जीवों को पकड़कर इस प्रकार से मारता है कि जैसे धीमर मछली को पकड़कर मारता है। अतः जीवन काल में इस देह द्वारा मोहादि निवारणीय हैं।

राम बिना नल होइहो कैसा। बाट माँझ गोबरौरा जैसा॥
कहहिं कबिर पाछे पछतैहो। या घरसे जब वा घर जैहो॥१०२॥

नरा! रामं विना यूयं भविष्यथ तथा सदा।
रोमन्थकारिणः कीटा यथा मार्गे भवन्ति ते॥ ७॥
यथा नश्यन्ति ते कीटास्तथा नष्टा मुधैव च।
पश्चात्तापैर्हता यूयं भविष्यथ तनूक्षये॥ ८॥
यदा चेदं गृहं त्यक्त्वा मानवं देहमुत्तमम्।
अन्यत्र यास्यथाऽप्राज्ञास्तदा शोकैर्वितप्स्यथ॥ ९॥
अतः सद्गुरुराहाऽत्रमोहं त्यजथ भो द्रुतम्।
रामं भजथ येनात्र भवचक्रे न यास्यथ॥१०॥

हे नल! (नर!) मोहादि के निवारण के हेतु रूप राम (सर्वात्मा ब्रह्म) की प्राप्ति के बिना तुम कैसा होगे (तेरी कैसी दशा होगी) कि जैसे बाट माँझ (मार्ग में) गोबरौरा (गोवर कीट) होता है। जैसी उसकी दशा मार्ग में होती है, तैसी दशा तेरी होगी। अर्थात् वह गोबरौरा गोबर की गोली सहित मार्ग में पैरों से पीसा जाता है, नष्ट होता है, तैसे तुम सर्वस्व सहित काल से पीसे जाओगे, नष्ट होगे तो महादुःखी होगे। अतः श्रीकबीर साहब कहते हैं कि उस दुःखद अवस्था के आने पर पीछे पश्चात्ताप करोगे कि जब इस घर (लोक देह) से या घर (परलोक हीन देह नरकादि) में जावोगे। अतः किसी प्रकार भी रामको भजो प्राप्त करो। हरिशरणमें प्राप्त होवो कि जिससे 'कहहिं कबिर हरि शरण गहु, गोखुरवत् विस्तार' गोखुरतुल्य संसारको तर सको॥ १०२॥

शब्द १०३

अपनो कर्म न मेटो जाई।
कर्मक लिखल मिटे दहुं कैसे, जो युग कोटि सिराई॥

रामप्राप्तिं विना स्वस्य सञ्चिता कर्मवासना।
न नश्यति कदाचिद्धि शक्या नाशयितुं न च॥११॥

कर्मणो हि लिपिः केन कथं नश्यतु वै ध्रुवा ।
कोटिकल्पयुगान्तेऽपि कर्मावश्यं हि भुज्यते ॥१२॥
"अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम् ।
नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्प कोटिशतैरपि" ॥१३॥
"महेश्वरो ब्रह्महत्या भयाद् यत्र यतस्ततः ।
सस्नौ तीर्थेषु कस्माच्च इतरो मुच्यते कथम् ॥१४॥
अम्बरीषसुतां हृत्वा पर्वतान्नारदात्तथा ।
सीताहरणमापेदे रामोऽन्यो मुच्यते कथम् ॥१५॥
ब्रह्मापि शिरसश्छेदं कामयित्वा सुतामगात् ।
इन्द्रश्चन्द्रो रवि विष्णुप्रमुखाः प्राप्नुयुः कृतम्" ॥१६॥
अधिकारनिमित्तं यत् प्रारब्धं यच्च वर्तते ।
तन्न नश्यति केनापि सत्यमेतच्छ्रुते वचः ॥१७॥

पूर्व वर्णित सर्वात्मा राम की अनुभूति (तद्रूपता की प्राप्ति) के बिना या भोगे के बिना, अपना किया हुआ कर्म मेटा (नष्ट किया) नहीं जा सकता है । कर्मान्तर के भोगने में किसी कर्म का चाहे करोड़ युग सिराये (वीते) हों, या बीत जायँ (उसका भोग नहीं हो) तो भी शुभाशुभकर्म काल पाकर अवश्य भोगा जाता है, क्योंकि अभुक्त कर्म सैकड़ों, करोड़ों काल से भोगे बिना नष्ट नहीं होता है । तहाँ ज्ञानीके सञ्चित आगामी कर्मों का ज्ञानाग्नि से नाश होने पर भी, जो प्रारब्ध कर्म भोग के लिये लिखित (निश्चित) हैं, सो कर्म के लिखल (निश्चय) दहुँ (तो) कैसे मिटे । वह किसी प्रकार भी भोगे बिना नहीं मिट सकता है । चाहे कोटि युग बीत जाय तो भी प्रारब्ध कर्म भोगसे हो निवृत्त होता है ।

जो सीता रघुनाथ बिवाही, सूर्य मन्त्र लिखि दीन्हा ।
गुरु वसिष्ठ मिलि लगन शोचाई, पल एक सुख न कीन्हा ॥

अतश्च रघुनाथो यः सीतां तामूढवान् प्रभुः ।
विवाहे यत्र सूर्योऽभून्मन्त्रदाता च लेखकः ॥१८॥
विद्वद्भिश्च मिलित्वैव वसिष्ठो गुरुरुत्तमः ।
लग्नं शोधितवांस्तत्र तथापि न च स प्रभुः ॥१९॥
पलैकमपि शान्तिं वा सौख्यं स लब्धवांस्ततः ।
वनवासादितो युद्धात् सीताविरहकारणात् ॥२०॥
"को वा कस्य सुतस्तातः का स्त्री कस्त्र पतिस्तु वा ।
कर्मणा भ्रमणं शश्वत् सर्वेषां भूरि जन्मनि" ॥२१॥

कर्म रेख के नहीं मिटने से ही जब सीता को रघुनाथ (रामचन्द्रजी) ने विवाही (पत्नीरूप से स्वीकार किया) तब उस विवाह में सूर्य भगवान्रूप देवने वैवाहिक मन्त्र लिखकर दिया और कुलगुरु श्रीवसिष्ठजीने अन्य विद्वान् श्रीजनकजी के पुरोहितादि से मिलकर लग्न शोचा (विचारा) तो भी विवाह होनेपर श्रीरघुनाथ और श्रीसीता सतीने पलमात्र भी संच (सुखशान्ति आराम) नहीं प्राप्त किया। गरुड़पुराण का वचन है कि "कर्माण्यत्र प्रधानानि सम्यगृक्षे शुभे ग्रहे। वसिष्ठकृतलग्नापि जानकी दुःख भाजनम् ॥१॥ आचारकाण्ड० अ० ११३।२५" कर्म ही यहाँ प्रधान हैं। अतः श्रेष्ठ नक्षत्र शुभ ग्रह काल में वसिष्ठ जी से कृत लग्नवाली भी सती जानकी दुःखपात्र हुई।

तीन लोक के कर्ता कहिये, बालि बध्यो बरियाई।
एक समय ऐसी बनि आई, उनहूँ अवसर पाई॥
नारद मुनि के बदन छिपायो, कीन्हो कपि के रूपा।
शिशुपाल के भुजा उपारेउ, आपु भये हरि ठूँठा (भूपा)॥

लोकत्रयस्य कर्ता यः कथ्यते विष्णुरात्मवान्।
रामरूपो ह्यसौ बालिं हतवान् यद्बलात्ततः ॥२२॥
आगतोऽसौ पुनः कालः साधनं च तथाविधम्।
येन तस्य फलं लब्धं कृष्णरूपेण तेन हि ॥२३॥
व्याधरूपस्य तस्यापि सोऽमिलत्समयस्तथा।
येन प्रत्यर्पितं तस्य फलं कृष्णे निरङ्कुशम् ॥२४॥
नारदस्य मुने र्यच्च माययाछादितं मुखम्।
कपिवच्च कृतं तेन कपीनां सहगोऽभवत् ॥२५॥
"मायां कृत्वा महेशोऽपि सञ्जातो मानुषस्ततः।
माया कापि न कर्तव्या विद्वद्भि र्दोषदर्शिभिः" ॥२६॥
शिशुपालस्य बाहू च यस्मात्स व्यपरोपयत्।
भूत्वैव कुणिवत्तस्मादतिष्ठत्सस्वयं हरिः ॥२७॥

जिस श्रीरामचन्द्रजीको तीनों लोकोंका कर्ता श्रीविष्णु स्वरूप कहा जाता है, जिन्होंने बालीको बरियाई (बलात्कार) से बध किया, फिर एक ऐसा समय उन के लिये भी बनकर (सिद्ध होकर) आया, ऐसी अवस्था आई कि जिससे कृष्णावतार में उनको उस कर्म के फल को भोगने का अवसर मिला, और बाली को व्याधरूप से बदला लेने का अवसर मिला। और श्रीविष्णु भगवान्

ने नारदजी के मुखको माया से छिपा दिया और बानर का स्वरूप बना दिया तथा कृष्णावतारमें शिशुपालके चार भुजाओं में से दो भुजाको माया से उपार (उखाड़) दिया उससे हरि अन्त में आप भी ठूँठ (विकृत हाथवाले) हुए। और नारदजीके शापों को भूप (रामचन्द्र) रूपसे भोगना पड़ा (यह कथा प्रसिद्ध है)।

पारवती को बाँझ न कहिये, ईश न कहिय भिखारी।
कहहिं कबिर कर्ता के बातें, कर्मक बात नियारी ॥१०३॥

गर्भजेन हि पुत्रेण विहीना पार्वती न च।
बन्ध्या ह्यासीत् स्वभावेन भिक्षुको वा महेश्वरः ॥२८॥
किन्तु सर्वं कृतं ह्येतत् कर्मणैव बलीयसा।
अधिकारिजनेभ्योऽतः कर्तृभ्यः कर्मणां सदा ॥२९॥
ईश्वरेभ्योऽपिशक्ति र्वा गतिश्च बलवत्स्थिरा।
सद्गुरुर्वक्तथतस्तेषां वार्ता व्यवहृतिं तथा ॥३०॥
जानीयुः साधवोयेनह्यधिकारो न मुक्तिदः।
ज्ञानेनैव तु कल्याणं तेषामप्यन्ततोभवेत् ॥३१॥
अतः सर्वं विहायैव श्रीरामे रमणं कुरु।
तत्रैव रममाणस्य सर्वबन्धो निवर्तते ॥३२॥
"तावन्माया भवभयकरी पण्डितत्त्वं न यावत्।
तत्पाण्डित्यं पतसि न पुन र्येन संसारचक्रे।
यत्नं कुर्यादविरतमतः पण्डितत्त्वेऽमलात्म-
ज्ञानोदारे भयमितरथा नैव ते शान्तिमेति" ॥३३॥१०३॥

इसी प्रकार श्रीपार्वतीजी को स्वभाव से ही बाँझ (बन्ध्या) गर्भज पुत्र रहित, नहीं कहना या समझना चाहिये। न ईश (शापानुग्रहादि में समर्थ शिव जी) को स्वभाव से (निर्हेतुक) भिक्षुक कहना चाहिये। अतः श्री कबीर साहब कर्ताओं (अधिकारियों=नेताओं) की बातों को कहते हैं कि कर्म की बात (व्यवहार=शक्ति) कर्ताओं से न्यारी (विलक्षण=अधिक) है। अतः सब अधिकारी प्रजापति भी कर्माधीन कल्प पर्यन्त रहते हैं, पूर्व कर्माधीन श्री पार्वतीजी वन्ध्या रही, श्री शिवजी भिक्षुक रहे। ये लोक स्वकर्मको न ही मेट सके तो अन्य कौन मेट सकता है। अतः गरुड पुराण का वचन है कि "ब्रह्मा येन कुलालवन्नियमितो ब्रह्माण्डभाण्डोदरे, विष्णुर्येनदशावतारगहने क्षिप्तो महा संकटे। रुद्रोयेन कपालपाणिपुटके भिक्षाटनं कारितः, सूर्यो भ्राम्यति नित्यमेव गगने तस्मै नमः कर्मणे ॥१॥ आचारकाण्डः पूर्वख. अ. ११३।१४"

जिस कर्म ने ब्रह्मा को ब्रह्माण्डभाण्डोदर में नियमित किया गया है। महासंकटरूप दशावतारात्मक गहन में विष्णु को फेका है, रुद्र को कपालयुक्त पाणि पुट में भिक्षाटन कराया है, सूर्य जिससे सदा आकाश में भ्रमते हैं, उस कर्म को नमस्कार है ॥ श्लोक भर्तृहरिकृत नीतिशतक में भी ६५। है ॥१०३॥

शब्द १०४

तन धरि सुखिया कोइ न देखा, जो देखा सो दुखिया।
उदय अस्त की बात कहत है, सोऊ तो भौ दुखिया ॥
बाटे बाटे सब जग दुखिया, क्या गिरही वैरागी।
शुकाचार्य दुखही के कारण, गर्भहि माया त्यागी ॥

कर्मणोऽवश्यमेवात्र भोक्तव्यत्वेन केऽपि नो।
दृश्यन्ते देहिनो देहं गृहीत्वा सुखभागिनः ॥३४॥
किन्तु सर्वे प्रदृश्यन्ते महादुःखान्वितास्तथा।
सुखलेशेन युक्ताश्च मोहात्तं मन्वते वहुम् ॥३५॥
सृष्टिप्रलयो र्यश्चोदयास्ताचलयोरपि।
वार्तां करोतिशास्त्राद्यैर्दुःखितः सोपि दृश्यते ॥३६॥
जगतां सर्वमार्गेषु दुःखवन्तोऽभिमानिनः।
संसारिणः प्रदृश्यन्ते गृहस्था वेषिणस्तथा ॥३७॥
गृहस्थाद्याश्रमात् किं स्यात् किं विरागाश्रमात्तथा।
देहवाञ्जायते[१] दुःखी विदेहः सुखभाग्भवेत् ॥३८॥
अस्य दुःखस्य दाहार्थं शुकाऽऽचार्योविरक्तधीः।
गर्भएवाखिलां मायां त्यक्त्वाऽदेहोऽभवत् स्वयम् ॥३९॥

ज्ञानादि के विना अपने कर्मों के नहीं मिटने के कारण, कर्माधीन शरीर के धारण करने पर किसी को सुखी नहीं देखा गया है, किन्तु जो देहधारी देहाभिमानी देखा गया है, सो दुखिया (दुःखी) ही देखा गया है। आत्मज्ञानादि के विना जो उदय अस्त (सृष्टि प्रलय = उदयाचल अस्ताचल) की बातों को कहता है, सो भी दुखिया हुआ और होता है ॥ क्यों कि संसार के

---

१ आत्तो वै सशरीरः प्रियाप्रियाभ्याम्। छा. अ. ८।११।१॥ नाश्रमः कारणं मुक्तेदर्शनानि न कारणम्। तथैव सर्वकर्माणि ज्ञानमेवहि कारणम् ॥१॥ गरुडम. पु. अ. ४९।८८॥

सब बाट (मार्ग) (कर्म व्यवहार वर्ण आश्रम में) सब संसारी दुःखी हैं। क्या गीरही (गृहस्थ) क्या वैरागी (विरक्त वेषधारी) देही अवस्था में सब दुखी हैं। अतः शुकाऽऽचार्य (ज्ञानी शुकदेव जी) ने इस दुःख ही के कारण (दुःखों की निवृत्ति ही के लिये) गर्भ से ही (अतिवाल्यावस्था से ही) माया (ममता देहाभिमानादि) को त्याग दिया। अतः सुखदुःखादि से रहित निर्द्वन्द जीवन्मुक्त हुए।

योगी जङ्गम ते अति दुखिया, तपसी कहँ दुख दूना।
आशा तृष्णा सब घट व्यापे, कोइ महल नहिं सूना ॥
साँच कहों तो सब जग खीझे, झूठ कहल नहिं जाई।
कहहिं कबीर तेइ भौ दुखिया, जिन यह राह चलाई ॥१०४॥

देहाभिमानसत्त्वे हि योगिनो जङ्गमास्तथा।
अतिदुःखभराक्रान्ता दृश्यन्तेऽत्र विमोहतः ॥४०॥
ततोऽपि द्विगुणं दुःखं, दृश्यते कुतपस्विषु।
आशातृष्णादयो यस्माद् व्याप्नुवन्ति हि देहिषु ॥४१॥
केषाञ्चिन्नैव चाज्ञानां हृद्हाख्यगृहाणि वै।
विरिक्तानीहदृश्यन्ते दुःखिनोऽतो भवन्तिते ॥४२॥
इत्थं हि कथिते सत्ये क्रुध्यन्ति सर्वदेहिनः।
असत्यं नैव वक्तुं च शक्यतेऽत्रमया कचित् ॥४३॥
प्रवर्तिता हियै र्लोके काम्यकर्मादिलक्षणाः।
मार्गास्ते ह्यभवन् खिन्ना अपि विश्वप्रवर्तकाः ॥४४॥१०४॥

माया के त्याग और विवेकादि के बिना जो वेषादि मात्र से योगी और जङ्गम कहलाते हैं, सो अत्यन्त दुःखी हैं, और होते हैं। अज्ञराजस तामस तपस्वियों को अन्य की अपेक्षा दूना (द्विगुण) दुःख होता है। क्योंकि विवेक विज्ञानादि के बिना योगी आदि सबके घट में आशा तृष्णा व्यापती है, और तपस्वियों को दैहिक दुःख अधिक होता है। विवेकादि के बिना कोई महल (हृदय) आशातृष्णा दुःखद कामादिसे शून्य (रहित) नहीं होता है। अतः दुःख होता है। परन्तु इस सत्य बात को कहता हूँ तो सब संसारी खीझता है (क्रुद्ध होता है) और मुझसे झूठ कहा नहीं जाता है (शरीरी को संसार में सुखी हम से कहा नहीं जाता है)। अतः श्रीकबीर साहब फिर भी सत्य ही बात कहते हैं कि वे ही लोग संसार में दुःखिया हुए कि जिन लोगों ने आशातृष्णा कामादि

युक्त यह संसार के बहुविधि मार्गों को चलाया, उनमें चले । निष्काम आशा तृष्णादिसे रहित न हो सके, अतः मुमुक्षुओं को कामादि रहित होना चाहिए, क्योंकि इसके बिना संसार के प्रवर्तक भी दुःखी हुए और होते हैं ॥१०४॥

शब्द १०५

खसम बिनु तेलिक बैल भयो ।
बैठत नाहिं साधु के सङ्गति, नाधे जन्म गयो ॥

आत्मरामं गुरुं चैव रक्षकं स्वामिनं विना ।
तैलिकस्य वृषैस्तुल्या यूयं जाताः स्थ जन्तवः ॥४५॥
यथा तद्बलिवर्दानां गृहे क्रोशा ह्यनन्तकाः ।
भ्रमन्ति च सदा तत्र बद्धाक्षाश्च तथा जनाः ॥४६॥
भ्राम्यन्ति लोकयोः शश्वद्देशे परिमिते सदा ।
न कदाचन सत्तत्त्वे यान्ति शुद्धे चिदात्मनि ॥४७॥
आसक्त्या चाभिमानाद्यैः सत्सङ्गे न कदाचन ।
तिष्ठन्ति च ततो नष्टं वर्ष्माऽप्यत्रत्यकर्मसु ॥४८॥
काम्यकर्मादियुक्तानां वर्ष्मेदमगमद् यदि ।
तदा जन्माऽफलं यातं मोक्षसाधनमुत्तमम् ॥४९॥

आशा तृष्णादि के वशवर्ती प्राणी सर्वात्मा सद्गुरु रूप खसम (रक्षक स्वामी ईश्वर) को नहीं पाते हैं । अतः उन खसमों के बिना बद्धनेत्र परिमित देश में घूमने (भ्रमने) वाले तेली के बैल तुल्य हुए और होते हैं । विवेकादि के बिना लोक-परलोकादि में भ्रमते हैं । क्योंकि ऐसे प्राणी कभी साधुओं (ज्ञानी सन्तों) की सङ्गति में नहीं बैठते हैं । अतः काम्य कर्म लोक-व्यवहार-रूप कोल्हू में नाधे (बाँधे = लगे = जुटे) में ही उनका मानव जन्म (देह) गया, और जाता है, जैसे कि तेली के बैल का जन्म नाधे में सदा बहते (बोझ ढोने) में जाता है, तैसी दशा इनकी होती है ।

बहि बहि मरहु पचहु निःस्वारथ, यम के दण्ड सह्यो ।
धनदारा सुत राजकाज हित, माथे भार गह्यो ॥

वाहं वाहं महाभारं भवद्भिर्म्रियते मुहुः ।
सत्यस्वार्थं विना मोहान्मिथ्यास्वार्थस्य सिद्धये ॥५०॥
सत्यस्याप्तिं विना चात्र यमदण्डोऽतिदुःसहः ।
सह्यते स्म भवद्भिश्च प्राणिभिः सह्यते सदा ॥५१॥

अहो तथापि मोहेन धनदारादिसिद्धये।
सुतार्थं राजकार्यार्थं भारो वै गृह्यते महान् ॥५२॥
तं गृहीत्वा च धावन्तो लभन्ते विश्रमं नहि।
अहो तथापि सर्वेऽमी भारायैव समुद्यताः ॥५३॥
वर्तन्ते न तु मोक्षाय न सुखाय हिताय च।
वर्तन्ते मानवा मूढा मोहेन विवशी कृताः ॥५४॥

श्रीकबीर साहब कहते हैं कि रे अविवेकी! निःस्वारथ (सत्य स्वार्थ के बिना) ही मिथ्या स्वार्थ के लिये बह-बहकर (बैल तुल्य भार ढोकर) तुम मरता है, दुःख भोगता है। और पचता है (आसक्त पीड़ित होता है) और कितने बार तुमने यम के दण्डों (यातनाओं) को सहा है। और तो भी धन, स्त्री, पुत्र, और राज्य के कार्यों के हित (लिये) तुम अपने शिर पर अनेकों भार धरकर उसको गहे (पकड़े) हो। और सत्सङ्गादि में नहीं बैठते हो। यह आश्चर्य और भावी दुःखप्रद है।

खसमहि छोड़ि विषय रंग राच्यो, पापक बीज बयो।
झूठ मुक्ति नल आश जीवनकी, प्रेतक जूठ खयो॥
लख चौरासी जीव योनि महँ, सायर जात बह्यो।
कहहिं कबीर सुनहु हो सन्तो, श्वानक पूँछ गह्यो॥१०५॥

स्वामिनं सुगुरुं हित्वा रक्तैस्तै विषयेष्वथ।
तत्प्रेमादि हि पापानां बीजमुप्तं हृदि स्वके ॥५५॥
पापबीजेन मुक्ति र्हि मिथ्या भाति तथा हृदि।
आशा जागर्ति नित्यं सा जीवनस्य धनस्य च ॥५६॥
आशाद्यैश्च पराभूताः कामाद्यै र्मोहितास्तथा।
प्रेतानामपि चोच्छिष्टं भुक्तवन्तोऽर्थसिद्धये ॥५७॥
कर्मणा तेन कामाद्यै र्वेदाष्टलक्षयोनिषु।
पतिताः स्थ समुद्रेषु निरुह्यन्ते च तैः सदा ॥५८॥
सद्गुरुश्चाह भोः साधो! श्रूयतामेतदद्भुतम्।
यदद्यत्वेऽपि नैतेहि गृह्णन्ति सुतरिं दृढाम् ॥५९॥
कुदेवादिश्वनां किन्तु पुच्छं गृह्णन्ति सादरम्।
काम्याऽसत्कर्मभिश्चैव वाञ्छन्ति तरितुं भवम् ॥६०॥१०५॥

क्योंकि जो सर्वात्मा ईश्वर सद्गुरु सन्त स्वरूप खसम (रक्षक असङ्ग

स्वामी) को छोड़कर विषयों के रंग (सौन्दर्य आनन्द राग) में राचा (प्रेम रुचि किया) सो पाप के बीज काम लोभादि को अपने हृदयरूप क्षेत्र में बोया और बोता है, अतः उस मनुष्य के लिये, उसकी दृष्टि में मुक्ति झूठ हो जाती है, अर्थात् परलोक (उत्तम स्वर्गादि) को और मोक्ष को मिथ्या समझता है, क्योंकि "न साम्परायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्। कठ. १।२। ६" प्रमादी धन के मोह से बाल (अज्ञ) को साम्पराय (परलोक) प्रतीत ही नहीं होता है। अतः वह इस शरीर सहित जीवन की और शरीर द्वारा भोगादि की आशा करता है। और जीवनादि के लिये प्रेतों को पूजकर (भोग लगाकर) प्रेतों का जूठ खाया और खाता है, भुक्तोपभुक्त अशुचि विषयों को भोगता है। अतः चौराशी लाख जीवों की योनिरूप सायर (समुद्र) में बहा जाता है, तहाँ श्री कबीर साहब कहते हैं कि हे सन्तो! सुनो इस अवस्था में भी "कहहिं कबीर हरि शरण गहु। रमैनी २०" इत्यादि उपदेशों को नहीं मानता है। किन्तु भूत-प्रेतादि रूप कुत्तों के पूछ (शरण) को गहा है कि जिससे अधिक कष्ट ही पाता है। तुम सत्सङ्गादि करो, हरि शरण को गहो, सर्वात्मा राम को भजो, और समझो ॥ १०५॥

शब्द १०६

पण्डित बाद बदै सो झूठा।
राम कहे जु जगत गति पावै, खाँड़ कहे मुख मीठा ॥
पावक कहे अंग जो दाहे, जल कहे तृषा बुझाई।
भोजन कहे भूख जो भागै, तो दुनिया तरि जाई ॥

अर्थवादान् विवादाँश्च नाम्नोऽपि विवदन्ति ये।
कामात्मानः प्रसक्ताश्च भोगैश्वर्यादिमोहिताः ॥६१॥

असत्यभाषिणस्तेऽतस्तत्रेत्थं वित्त पण्डिताः!।
यदि रामोक्तिमात्रेण सन्मुक्तिं लभ्यते जनैः।
तदा खण्डादिवादेन माधुर्यं हि मुखे भवेत् ॥६२॥

अग्नेश्च नामतो दाहो यदि ह्यङ्गे भवेत्पदे।
जलस्य कथनादेव विनश्येच्च तृषा यदि ॥६३॥

अन्नस्य च कथामात्राद् बुभुक्षाविगमो भवेत्।
तदैते नाममात्रेण मुच्येरन् देहिनः खलु ॥६४॥

ज्ञानादेव हि कैवल्यं नान्यः पन्थाः विमुक्तये।
अतो यत्नेन बोद्धव्यं रामभक्त्या निजं पदम् ॥६५॥
काम्यकर्मपरित्यागं विरागं च शमादिकम्।
अमानितादिकं सर्वमभ्यसेज्ज्ञानसाधनम् ॥६६॥

हे पण्डितों! प्रेत के जूठ को खानेवाला तथा श्वान के शरण को पकड़नेवाला होता हुआ यदि वाद बदता है (रामादि नामों के कथनमात्र से अपनी मुक्ति को मानता हुआ यदि नाम विषयक अर्थवाद = स्तुति वचनों को कहता है) कि अजामिल आदि एक बार नाम के कहने से मुक्त हो गये इत्यादि। सो कहनेवाला झूठा है। अजामिल आदि के पूर्वपुण्यादि को जाने के बिना ऐसा कहता है। और यदि ईश्वर के रामादि नाममात्र के कहनेमात्र से जगत (संसारी) सद्गति मुक्ति पावे तो खाँड़ के कहने से मुख में मिठास होना चाहिये। पावक (अग्नि) के कहने से यदि पाँव (पादादि अंग) डाहै (जलै) जल के कहने से तृषा (पिपासा) मिटे, भोजन के नाम लेनेसे भूख भग जाय (मिट जाय) तो माना जा सकता है कि राम कहनेमात्र से दुनियाँ तर जायगी (संसारी मुक्त हो जायगा)। अतः "तज्जपस्तदर्थभावनम्" इस योगसूत्र और 'यस्यै देवतायै हविर्गृहीतं स्यात्तां मनसा ध्यायन् वषट् कुर्यात्। इस गोपथ ब्राह्मण० ३।४" आदि वचनों के अनुसार सभी नाम जपादि स्थानों में भावना विवेक विश्वास ध्यानादि की आवश्यकता है, यहाँ यह भाव है।

नल के संग सुगा हरि बोलै, हरि प्रताप नहिं जानै।
जो कबहुँ उड़ि जाय जँगल महँ, स्वपनहुँ सुरति न आनै॥
बिनु देखे बिनु अरस परस बिनु, नाम लिये का होई।
धन धन कहै धनिक जो होवै, निरधन रहै न कोई॥

मनुष्याणां हि सङ्गत्या कीरोऽपि भाषते हरिम्।
हरे नैव प्रतापं स किन्तु जानाति कञ्चन ॥६७॥
अतएव कदाचित्स चेदुड्डीय वनं व्रजेत्।
न संस्मरति तत्रासौ स्वप्नेष्वपि हरिं तदा ॥६८॥
तथैव मानवो यो हि सङ्गत्या भाषते हरिम्।
प्रतापं नैव चेद्वेत्ति स हरिं भजते किमु ॥६९॥
प्रत्यक्षेण विना तस्य स्पर्शसाम्मुख्यमन्तरा।
नाममात्राद् भवेत् किं तद्दते ज्ञानाच्च मुक्तता ॥७०॥

धनस्य नाममात्रेण धनिकश्चेद् भवेज्जनः ।
तदा न निर्धनः कोपि भवे भूयाद् भयावहे ॥७१॥

क्योंकि विवेकादि के बिना सुवा हरि रामादि मनुष्य के सङ्गति से बोलता है। किन्तु बोलनेमात्र से हरि के प्रताप को नहीं जान जाता है। और हरि के प्रताप को नहीं जानने के कारण यदि कबहुँ (कभी जङ्गल में उड़ जाता है, तो स्वप्न में भी हरि को सुरति (ध्यान = आकार) को हृदय में नहीं आनता (लाता) है। उसी प्रकार से विवेकपूर्वक देखने बिना और परोक्ष रूप से दर्शन प्रत्यक्षात्म स्वरूप से स्पर्शनरूप अरस-परस (संग स्पर्श) आदि के बिना (ज्ञान के बिना) केवल नाम लेने से क्या सत्य फल हो सकता है, यदि धन-धन कहने से धनिक हुआ जाय तो कोई निर्धन नहीं रह जाय। तैसे ही नाममात्र से मुक्ति हो तो कोई संसारी नहीं रहे। यद्यपि "शब्दे मारा गिर पड़ा, शब्दे छोड़ा राज। जिन यह शब्द विवेकिया, तिनको समरा काज॥ साखी ६" इत्यादि वचनों के अनुसार शब्दों के विवेकपूर्वक आत्मविवेकादि से मुक्ति होती है, तथापि शब्दमात्र के कहने से नहीं।

साँची नेह विषय माया सों, हरि भक्तन की फाँसी।
कहहिं कबिर एक राम भजे बिनु, बाँधे यमपुर जासी॥१०६॥

सत्यमेतद् बुधा वित्त मायां च विषयांस्तथा ।
सत्यत्वेन विनिश्चित्य स्नेहो यः क्रियतेऽनृते ॥७२॥

स एव हरिभक्तानां पाशो भवति बन्धदः ।
तस्य त्यागेन सद्भक्तथा ज्ञानामुक्ता भवन्ति हि ॥७३॥

अतएव तथैकस्य रामस्य भजनं विना ।
जना यमपुरे याथ यूयं तद्भासते गुरुः ॥७४॥
रामभक्ति विना नैव शमादिमन्तरा नहि ।
कामत्यागं विना नैव ज्ञानं कुत्रापि लभ्यते ॥७५॥
"अविद्याया[1] न चोच्छित्तौ ज्ञानादन्यदपेक्षते ।
ज्ञानोत्पत्तौ न चैवान्यच्छमादिभ्यो ह्यपेक्षते ॥७६॥
भूमौ यथाऽऽहितं लौहं भूमित्वमुपगच्छति ।
मनोऽक्षरे धृतं तद्वदक्षरत्वं निगच्छति ॥७७॥

१ बृहदा० वा० १।३।६८॥ बृ० वा० ४।४।७२६॥ यो०वा०नि०उ०८२।२५॥

तावत्तरङ्गत्वमयं करोति जीवः स्वसंसारमहासमुद्रे।
यावन्न जानाति परं स्वभावं निरामयं तन्मयतामुपेतः" ॥७८॥१०६॥
इति हनुमत्कृतायांशब्दसुधायां रामप्राप्तिं विना देहिनां दुःखकर्म-
वश्यतादिवर्णनं नाम चत्वारिंशत्तमस्तरङ्गः ॥ ४० ॥

क्योंकि विषयादि रूप माया में सत्यता आदि की बुद्धि से उनमें नेह (स्नेह) करने पर हरि भक्तों को फाँसी लगती है अर्थात् नाम मात्र से भक्त हरिभक्तादि कहलाने वाले, और हृदय से त्रिगुण विषयक प्रेमीजीव गुणों से बाँधे जाते हैं। अतः श्री कवीर साहव कहते हैं कि सब विषयादि को मिथ्या अपवित्र दुःख रूप समझकर एक सच्चिदानन्द परम पवित्र असङ्ग अखण्ड सर्वात्मा रामको भजने के बिना तुम यमपुर में बाँधे जाते हो, अतः सब में स्नेहों को त्याग कर एक सर्वात्मा राम को भजो और मुक्त होवो। इस शब्द में वर्णित अर्थ के आशय से ही कहे गये हैं कि "अस कछु समुझि परत रघु राया। विनु तब कृपा दयालु ! दासहित ! मोह न छूटत माया॥ वाक्य ज्ञान अत्यन्त निपुण, भवपार न पावै कोई। निशि गृह मध्यदीप की बातन तम निवृत्त नहिं होई। जैसे कोई एक दीन दुखित अति, असन हीन दुखपावै। चित्र कल्पतरु कामधेनु गृह, लिखै न विपत्ति नशावै॥ षट् रस बहु प्रकार भोजन कोउ, दिन अरु रैनि वखानै। विनु बोले सन्तोषजनित सुख, खाय सोई पै जानै॥ जव लगि नहिं निज हृदि प्रकाश अरु विषय आश मन माहीं। तुलसि दास तब लगि जग जोनि भ्रमत कतहुँ सुख नाहीं ॥१॥१०६॥

अथ मायाकृतभ्रमतरणार्थोपदेश प्र० ४१

शब्द १०७

है कोई गुरुज्ञानि जगत में, उलटी वेदो बूझै।
पानी में आग लागी, अन्धहि आँखिन सूझै॥

गुरो लब्धावबोधोऽत्र ज्ञानीकोऽपि स विद्यते।
वेद्यान् वो वैपरीत्येन जानाति विश्ववर्तिनः ॥१॥
मनोवृत्त्यात्मकं ज्ञानं परावृत्य भवाच्च यः।
वेदानुद्घाट्यसद्वेत्तिगुरुज्ञानो स कथ्यते ॥२॥
शान्ते शुद्धे परानन्दे ह्यज्ञानात्तापलक्षणाः।
अग्नयो वै प्रतीयन्ते वेद्ये तद्विपरीतता ॥३॥

निरुद्धाक्षश्च यो बाह्याद् वेद सिद्धान्तविन्मुनिः।
ज्ञानविज्ञाननेत्राभ्यां सत्यं स एव पश्यति ॥४॥
किञ्चेन्द्रियगणैः शून्योयोऽचक्षु वर्तते शिवः।
स एव निखिलं विश्वं नेत्रैः पश्यति सर्वदा ॥५॥

गुरु ज्ञानी (सद्गुरु से ज्ञान पानेवाले) संसार में कोई विरले होते हैं। कि जो "यस्यां जागर्ति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥ गीता. २।६९। जिस व्यवहार में अज्ञ भूत (प्राणी) जागते (सावधान प्रवृत्त होते हैं, उसको वे मुनि अन्ध (रात्रि रूप समझते हैं) अतएव सब वेद (वेद्य पदार्थ) जैसे अविवेकावस्था में भाषते हैं। उससे उलट करके विवेकदशा में उन्हें समझतें हैं। अर्थात् सत्यादि भासते हुए संसार स्वर्गादि को असत्यादि जानते हैं। और "नायमस्तीति चैके। कठो. १।१।२" मरने पर आत्मा नहीं रहता है, इस प्रकार किसी के मत से भासते हुए आत्मा को जो सत्य एक रस सदा वर्तमान जानते हैं। मनको संसार से उलटकर वेदों को उलटकर जो सत्यात्मा राम को जानते हैं, सो गुरु ज्ञानी हैं, और होते हैं। ऐसा समझने के विना पानी (ताप रहित सुख स्वरूप) में मिथ्या तापादि अग्नि भ्रम में लगी है (भासती है) सो अन्धों (अज्ञों) को आँखों से नहीं सुझता है। आत्मा में ताप पापादि को अज्ञप्राणी मिथ्या नहीं समझते हैं क्यों कि जब बाहर से अन्ध (निरुद्धेन्द्रिय वाला) हुआ जाता है तब उन अन्धों को भीतर के ज्ञान विज्ञान नेत्रों से तापादि से रहित आत्मा सूझता है। प्रत्यक्ष भासता है, अन्यथा नहीं॥

गाई तो नाहर को खैलो, हरिणी खैलो चीता।
कागा नगरे फाँदि के, बटेरन बाज जीता॥

मनो मायात्मकौ गावौ पुरुष व्याघ्र सत्तमम्।
खादतः स्वाविकेन विवेके त्वन्यथा भवेत् ॥६॥
ज्ञानिनां हि मनः कालं करालमपि बाधते।
अन्यबाधेकथाकाऽस्ति सर्वानात्मविबाधनात् ॥ ७ ॥
इन्द्रियाण्येव चाज्ञानां हरिणाश्चञ्चला सदा।
तानि खादन्ति चैतन्यं सन्तोषादिविवेकिताम् ॥८॥
ज्ञानिनां हरिनिष्ठात्मा हरिणी तापरूपिणीम्।
तरक्षुं चैव चिन्तां च खादत्येव न संशयः ॥९॥
तित्तिर्यो वृत्तयस्तुच्छाः पुंकाकनगरे गताः।
विचाराद्यात्मकांच्छेनानजयन्नञ्जसा ततः ॥१०॥

तथा सत्सङ्गिनो लोके नरानुल्लङ्घ्य कुत्सितान्।
श्येनान् कालादिकाञ्जित्वा ब्रह्मानन्देऽभवन् स्थिराः ॥११॥

सत्यात्मा राम को समझने के विना मन माया रूप गौ, नाहर (व्याघ्रतुल्य बड़े-बड़े नरव्याघ्र नृपति) को खा गई है। और हरिणी (विषयों के तरफ चित्त को हरने वाली इन्द्रियाँ) चीता (चिन्ता ग्रस्त छोटे प्राणियों) को खाई है। कामी सन्तोषादि रहितों की इन्द्रियाँ उन्हें स्ववश की है। तहाँ भ्रमर, पतंग मीन, मृग, हस्ती को तो एक एक इन्द्रियाँ खाती हैं, किन्तु वाज तुल्य उड़ाकू होकर जो सब विषयों के प्रेमी होते हैं, वैसे काकतुल्य मलिन मन वालों के नगर (समूह) में फाँद कर पैठ कर बटेर तुल्य सब इन्द्रियाँ, तथा मिलित तुच्छ वासनायें उनकी बुद्धि तथा विवेक विचारादि रूप बाजों को जीता है।

मूसा तो मञ्जारे खैलो, स्यारे खैलो श्वाना।
आदि का उद्देश जाने, तासू विश्वे बाना॥

मूषिका वासना तुच्छा शास्त्रजं बोधमद्भुतम्।
मार्जारं खादति स्मैतदनभ्यासफलं विदुः ।१२॥
ज्ञानिनां सुमनो वृत्तिरनादिं च दुरुद्धराम्।
मायां मार्जारिकां तुर्णं खादित्वा सा स्वयंगता ॥१३॥
मनश्चेन्द्रियदेवाश्च जम्बुकास्तेऽविवेकिनम्।
श्वानं विषयिणं नूनं खादंतिस्म स्वपुष्टये ॥१४॥
ज्ञानिनामुपदेशो वा जम्बुको वादतत्परान्।
शुनः खादितवानेव ह्यन्यानपि सुदुश्चरान् ॥१५॥
इत्यादिसुविवेकेन वेद्यान् कृत्वेव चान्यथा।
अबोधकालिकान् धीरो ह्यादितत्त्वोपदेशनम् ॥१६॥
तत्त्वेनैव विजानाति तस्य विश्वेऽपिसर्वशः।
कार्याणि खलु सिद्धयन्ति यशोऽप्यस्य स्थिरायते ॥१७॥

मूसा (मलिन वासना चौर्यवृत्ति) मञ्जार (शास्त्रजन्य बोधादि) को खाया। और स्यार (कुदेव की भावना) श्वान तुल्य मांसाशी मनुष्यों को खाया। परन्तु किसी अवस्था में भी किसी पुण्य प्रभाव से जो सर्वादि स्वरूप सर्वात्मा राम ओंकार के उद्देश्य (उपदेशखोज मार्ग) को जानता है। उस का विश्व (संसार) में सब कार्य बन गया (सिद्ध हो गया) तथा उसमें सब संसार बाना (स्वाँग) के समान अनायास धारणाई तुच्छ हो गया।

एक ही तो दादुर खैलो, पाँचे हूँ भुवङ्गा ।
कहहि कबीर पुकारि के, है दोउ एक सङ्गा ॥१०७॥

एकैव चास्थिरा बुद्धिः प्रमादभ्रमसंयुता ।
मण्डूकी पञ्चसर्पान् सा खादति स्म मुहुर्मुहुः ॥१८॥
विवेकं सुविरागं च शमं ज्ञानं दमं तथा ।
एवं विद्याप्यविद्यादीन् खादत्येव न संशयः ॥१९॥
आश्चर्यं यद्विरुद्धास्ते वर्तन्ते सह जन्तुषु ।
क्वचित्केचिन्निवर्तन्ते प्रौढज्ञानादिना खलु ॥२०॥
अतस्तस्यैव लाभाय दयया प्रेरितो गुरुः ।
पौनः पुन्येन तत्तत्त्वं भासते येन मुच्यते ॥२१॥
ब्रह्मात्मन्यपि सर्वं तद्विरुद्धं वर्तते जगत् ।
आनन्दे दुःखभानं च जडे ज्ञानस्य कल्पना ॥२२॥
सर्वार्था विपरीताश्च द्वन्द्वान्यपि च सर्वशः ।
तानि सर्वाणि नश्यन्ति तद्वाक्यामृतपानतः ॥२३॥१०७॥

आदि के उपदेश के प्रभाव से ही दादुर (दयादान दम को उर में धारण करने वाला) अल्पज्ञ अल्पशक्ति वाला जीव भी अविद्या, अस्मिता (अविवेक) राग, द्वेष, अभिनिवेश (अहंकार = मरण का भय) इन पाँचों को आत्मनिष्ठ होकर खा गया, पांच प्राण, पाँच ज्ञानेन्द्रियों को वश किया, जन्म, जरा, मरण, दारिद्रय, व्याधिरूप पाँचों दुःखों से रहित हुआ। पाँच देवादि की अधीनता (वश्यता) से मुक्त हुआ, और होता है। श्रीकबीर साहव कहते हैं कि इस ज्ञानावस्था में साधारण जीव और देव ईश्वर एकत्र साथ ही रहते हैं। परन्तु कोई किसी के बाधक नहीं होते हैं। आत्मभाव से ही विदेह मोक्ष पर्यन्त जीव के साथ देवादि वर्ताव करते हैं और जीव भी आत्मभाव से वर्ताव करता है, सबको सत्य निजात्म स्वरूप समझता है, इत्यादि ॥१०७॥

शब्द १०८

योगिया के नगर बसै मति कोई। जोरे बसै सो योगिया होई ॥
वहि योगिया के उलटा ज्ञाना। कारा चोला नाहीं म्याना ॥

मुमुक्षवो न केऽप्यत्र संसक्तेषु कुयोगिषु ।
निवसेयु र्यतस्तत्र वसन्तः स्युर्हि तादृशाः ॥२४॥

"कामिनां कामिनीनां च सङ्गात् कामीभवेत्पुमान्।
देहान्तरे ततः क्रोधी लोभी मोही च जायते" ॥२५॥
"सङ्गं न कुर्यादसतां शिश्नोदरतृपां क्वचित्।
तेषां सङ्गात्तमस्यन्धे पतत्यन्धानुगोऽन्धवत्" ॥२६॥
ज्ञानं सर्वं कुयोगानां विपरीतं हि वर्तते।
शरीरमुभयं तेषां क्रूरं तीक्ष्णं च खड्गवत् ॥२७॥
तस्य संयमनार्थं च कोशतुल्यं विवेकजम्।
न वैराग्यादिकं तेषां तेन घ्नन्ति हि सङ्गतः ॥२८॥

ज्ञानी को देवादि के साथ रहते विरोध नहीं रहता है, यह सुनकर कोई मुमुक्षु कुसङ्ग न कर ले, इस आशय से कहा जाता है कि कोई मुमुक्षु योगिया (संयोगी, भोगी, व्यभिचारी, अतिसंग्रही कृपण, कुयोगी) के नगर (ग्राम समूह सङ्ग) में मति (नहीं) बसो। क्योंकि जो कोई योगिया के नगर में वसता है, सो "सङ्गात्संजायते कामः। भ.गी. २।६२" सङ्ग से काम की उत्पत्ति होने के कारण कामी होकर योगिया हो जाता है कि जिससे अन्धतम नरकादि में गिरता है। और उस योगिया के सब ज्ञान उलटा (विपरीत = अविद्या स्वरूप) होते हैं। "अनित्याऽशुचि दुःखाऽनात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिर-विद्या। योगसूत्र" अनित्य, अशुचि, दुःखरूप और अनात्म स्वरूप देहादि में जो नित्यत्व, शुचित्व, सुखरूपत्व और आत्मत्व की बुद्धि (प्रतीति) होती है, उस उलटा ज्ञान को अविद्या कहते हैं। उस अविद्या अविवेकादि से ही उस योगिया के चोला (स्थूल सूक्ष्मदेह) कारा (क्रूर तीक्ष्ण दया रहित अनम्र तलवार तुल्य घातक) रहता है, और उसको संयत (वश में) रखने के लिये विवेक, वैराग्य, अमानिता आदिरूप म्यान (कोश) योगिया के पास में नहीं रहता है। अतः वह सङ्गी को पीड़ित करता ही है।

प्रगट सो कन्था गुप्ता धारी। ता महँ मूल सजीवन भारी॥
वहि योगियाके युक्ति जो बूझै। राम रमै तेहि त्रिभुवन सूझै॥
अमृत बेली क्षण क्षण पीवै। कहैं कबिर योगि युग युग जीवै॥

प्रत्यक्षां स्थूल रूपां च गुप्तां सूक्ष्मस्वरूपिणीम्।
कन्थां ते दधते गर्वात्तयोरभ्यन्तरे स्थिताम् ॥२९॥
अविद्यां मूलभूतां च जीवयन्तीं जगत्त्रयम्।
विशालां दधते यद्वा परं संजीवनौषधम् ॥३०॥

आत्मैव वर्तते तस्य ज्ञानं तेषु न विद्यते ।
अतो देहाभिमानाद्यैः संसरन्ति कुयोगिनः ॥३१॥
कुयोगी भवयोगं यो जानात्यत्रविवेकवान् ।
रमते स्वात्मरामे च त्रिलोकीं स प्रपश्यति ॥३२॥
रसं चामृतवल्ल्याः सः विद्यानन्दाभिधं सदा ।
पिवन् साक्षि स्वरूपेण तिष्ठतीति गुरो र्मतम् ॥३३॥
वदन्त्यन्ये तु तेषां यो यागदानादिलक्षणम् ।
युक्तिं वेत्ति तटस्थे च रामे वै रमते तथा ॥३४॥
तस्य त्रिभुवनज्ञानं जायते योगमन्तरा ।
सङ्गत्यागेन किं तस्य वैराग्येण च किं भवेत् ॥३५॥
वदन्ति कवयश्चान्ये ते प्राप्य स्वर्गमूर्धसु ।
पानं चामृतवल्ल्या वै रसस्य कुर्वते सदा ॥३६॥
भूत्वैव ह्यमरास्तत्र जीवन्त्येव युगं युगम् ।
नावर्तन्ते पुनस्तेऽत्र मुक्ता एव भवन्त्यतः ॥३७॥१०८॥

क्योंकि सो (वह योगिया) प्रगट (प्रत्यक्ष स्थूल) और गुप्त (अप्रगट सूक्ष्म) दोनों देह रूप कन्था (गुदड़ी) को धारण करने वाला (दोनों देह के अभिमानी) होता है । अतः विवेकादि के अभाव से दया धर्मादि को भी नहीं समझता है । अपने सुख दुःख के तुल्य सबके सुखदुःख को नहीं मानता है, अतः अज्ञानादि वश अन्य को पीड़ित करता है । क्योंकि तामहँ (उस योगिया के उन दोनों सूक्ष्म स्थूल देहों के अन्दर) उन दोनों देहों के मूल (कारण) रूप उक्त कार्य (विपरीत ज्ञानरूप) अविद्या से भिन्न भारी (प्रबल कारण रूप) अनादि भाव स्वरूप कारण शरीर उक्त योगिया में सजीवन (आत्मज्ञान के विना अविनाशी) रहता है । और वही उन दोनों देहों के जीवन (स्थिति का) भारी (प्रबल) हेतु होता है । और उस प्रबल अज्ञान ही से वह योगिया बना रहता है, योगी नहीं होता है । परन्तु उक्त रीति से जो कोई उस योगिया के अज्ञानादि मूलक युक्ति को (सांसारिक सम्बन्ध को) गुरु आदि द्वारा बूझे (समझे) और ज्ञान से अज्ञान को नष्ट करके सर्वात्मा राम (सच्चिदानन्द ब्रह्म) में रमे । उसको तीनों भुवन (लोक) सुझता है, तीन शरीर तीन लोक से भिन्न होकर वह साक्षी रूप से सबको मानो देखता है । और विद्या रूप अमृत बेली (लता) के रस आनन्द को वह क्षण-क्षण में पीता (अनुभव करता) है और सब कबीर (ज्ञानी योगी) कहते हैं कि वह साक्षी

ब्रह्मस्वरूप से युग-युग जीता है। जन्म मरणादि से रहित नित्य मुक्त स्वरूप हो जाता है अथवा उपासक कर्मी कबीर (कवि) कहते हैं कि सङ्ग से यद्यपि हानि होती है, तथापि उसके लिये सब शास्त्र में विहित जो यज्ञदान तप आदिरूप युक्ति (सुखसाधन=उपाय) हैं। उनको जो शास्त्रादि द्वारा बूझता है (समझता) है, और तटस्थ राम में रमता है, राम को भजता है, सो सिद्धि के बल से तीनों लोकों को देखता हैं तथा स्वर्ग साकेतादि लोकों में जाकर अमृत बेली के रस को पीता है, और अमर (देव) होकर युगयुग जीता है ॥१०८॥

शब्द १०९

भाइ रे विरले दोस्त हमारे, बहुत बहुत का कहिये।
गढ़न भञ्जन समारन आपे, राम रखै त्यों रहिये॥

भो भ्रात र्बहवो येऽत्र सन्ति संयोगिनो जनाः।
निमग्ना वै जगज्जाले तेभ्यो बहु वदामि किम् ॥३८॥
ये केचिद्विरलाः सन्ति मत्प्रेमनिरता नराः।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो जिज्ञासादिसमन्विताः ॥३९॥
तेभ्यः संकथयामीदमसङ्गत्व सुसिद्धये।
राम एव स्वयं कर्ता शक्तियुक्तो महाप्रभुः ॥४०॥
सत्तया स्वप्रकाशेन सर्वेषां रक्षकस्तथा।
अन्ते नाशयिता सैव ज्ञात्वैवं तं बुधाः सदा ॥४१॥
तत्र संलग्नचित्ताः स्त यथा रक्षति स प्रभुः।
यथा स्थापयते चात्र तथा तिष्ठत सर्वदा ॥४२॥
चिन्तां त्यक्त्वा शरीरादेस्तच्चिन्तास्तत्परास्तथा।
विमोदयध्वे यथा तूर्णं नान्यथामोहयन्त्रिताः ॥४३॥
रामं बहुं न मन्यध्वमेकं स्मरत तं प्रभुम्।
सर्वात्मानं समर्थं च निर्मलं नित्यसाक्षिणम् ॥४४॥

रे भाई! पूर्वोक्त उपदेशों के अनधिकारी जो बहुत लोग हैं, उन बहुत लोगों से तो क्या कहा जाय, जो बिरले हमारे (सद्गुरु) के दोस्त (प्रेमी) हैं, उनके प्रति कहा जाता है कि गढ़न, समारन, भञ्जन (उत्पत्ति, पालन, नाश) करने वाला जो आप (सर्वात्मा स्वयं) राम है (जिसकी शक्ति = माया प्रकाशादि से अनायास सब संसार की उत्पत्ति पालनादि स्वप्न के समान होते हैं) सो राम जैसे रखे तैसे चिन्ता रहित होकर रहना चाहिये। इस प्रकार राम की भक्ति और विश्वासादि से आशा, तृष्णादि के अभावपूर्वक

कुसङ्ग के अभाव से शान्ति मिलेगी, अन्यथा नहीं। अतः साखी में कहा गया है कि "जाय छुठिली आपनी, वात न पूछे कोय। जिन यह भार लदाइया, निर्वाहेगा सोय ॥ साखी २" "चित चञ्चलता छोड़ि दे, माया से मन फेर। जाही ते सव कुछ भया, ताही काह न हेर ॥ साखी ३३३" एक शब्द में सव कहा, सवही अर्थ विचार। भजिये निर्गुण रामको, तजिये विषय विकार॥३७८"

आसन पवन योग श्रुति स्मृती, ज्योतिष पढ़ि वैलाना।
छौ दर्शन पाखण्ड छ्यानवे, एकल काहु न जाना॥
आलम दुनी सकल फिरि आयो, एकल उहे न आना।
ताजी करिगह जगत उपायो, मन महँ मन न समाना॥

असंसर्क्ति विना केचिदासनाभ्यासतत्पराः।
वायुयोगपराश्चैव प्राणायामपरायणाः॥४५॥
श्रुतिं स्मृतिं पठित्वाऽन्ये ज्योतिषं च बहुश्रुताः।
जडा एव प्रदृश्यन्ते स्वात्मज्ञानाद् बहिष्कृताः॥४६॥
ये षड्दर्शनिनः सर्वे पाषण्डनिरता जडाः।
केवलं तेऽगुणं ह्येकं केऽपि जानन्ति नोऽबुधाः॥४७॥
सर्वे सङ्घाश्च संसारे तीर्थादौ सर्वयोनिषु।
लोकेषु च मुहुर्भ्रान्त्वा ह्यागताश्चात्र भुक्तये॥४८॥
तत्त्वं नालभ्यत क्वापि केनापि वा कथञ्चन।
आत्मरामं विना भद्र! यतः स एकलः शिवः॥४९॥
तत्त्वप्राप्तिं विना ते हि गृहं करिगहं पुनः।
नूतनं देहरूपं वै जनयन्ति स्म संसृतौ॥५०॥
यतस्तेषां मनो नैव गृहीतं मनसाऽभवत्।
आशातृष्णादिसंयुक्तं कर्माद्यं वर्तते ततः५१॥

उक्त विश्वास भक्ति ज्ञान के बिना, आसनाभ्यास, पवन योग (हठ योग प्राणायाम) करने वाले, तथा श्रुति (वेद) स्मृति (धर्मशास्त्र) और ज्योतिष को पढ़ने वाले भी बैलाना (बैल तुल्य जड़ देहाभिमानी हुए) रहते हैं। और इस प्रकार के षट् दर्शनी योगी जङ्गमादि और छ्यानवे पाखण्डी (केवल वेषधारी) कोई भी एकल (अद्वैत) राम को नहीं जाना। सकल आलम (जमात) दुनी (दुनियां संसार) में सत्य सुखादि को बाहर की वस्तुओं में तीर्थादि में खोजकर फिर (बारबार) संसार में ही आया।

परन्तु एकल सर्वात्मा वह राम ही सत्य सुख स्वरूप है (आन) अन्य कहीं कोई सुख स्वरूप नहीं है। और सो राम सर्वान्तरात्मा होने के कारण बाहर खोजनेवालों को नहीं मिला। अतः उस राम के नहीं मिलने से जीवों ने पुराने करिगह (कर्मतन्तु के वयन = बुनन स्थान रूप शरीर) को त्यागकर भी बार-बार जगत में ताजी (नूतन) करिगह को उपाया (उत्पन्न किया) फिर उसके लिये उपाय (यत्न) किया, ऊसी को प्राप्त किया, मोक्ष नहीं पाया। क्योंकि इनका मन मन में नहीं समाया (मन अपने अन्दर में साक्षी स्वरूप को नहीं समझा) आत्मनिष्ठ स्ववश मन नहीं हुआ।

कहहिं कबिर योगी औ जङ्गम, फीकी इनकी आशा।
राम नाम रटिये ज्यों चातक, निश्चय भक्ति निवासा ॥१०९॥

मनसोऽग्रहणात्सम्यग् योगिनो जङ्गमस्य च।
हृदि स्फुरति तुच्छाऽऽशा निष्फला सबला मुहुः ॥५२॥
अतो मनो निगृह्यैव कर्तृत्वं परिहृत्य च।
चातकेन समं प्रेम्णा रामनाम रटादरात् ॥५३॥
तेन ते निश्चला भक्तिर्हृदये वत्स्यति ध्रुवम्।
भाषते सद्गुरुश्चैवं सर्वथा मुक्तिसिद्धये ॥५४॥
आशापाशैर्गुणविरचितैः कामलोभादिबन्धैः,
स्वाङ्के नीत्वा तदनु सकलान् वासनादौ निपात्य।
श्वभ्रे मिथ्यावचनकलहैर्मौनसं स्वं च माया,
जीवान् हन्ति प्रबलरिपुवद्रामभक्त्या तरैते ॥५५॥१०९॥

इति हनुमत्कृतायां शब्दसुधायां मनोमायाकृतभ्रमतरणोपदेशवर्णनं नामैकचत्वारिंशत्तमस्तरङ्गः ॥४१॥

श्री कबीर साहब कहते हैं कि सर्वात्मा राम के ज्ञानादि को जो नहीं पाये हैं। ऐसे जो सिद्धि चमत्करादि के कामुक योगी और वेषधारी जङ्गम होते हैं। इनकी आशा फीकी (तुच्छ सत्यानन्द रहित) होती है, व्यर्थ चमत्कार ये लोग चाहते हैं, हे मुमुक्षुओं! सब तुच्छ आशाओं को त्यागकर, चातक के समान अनन्य भाव परम प्रेम से विश्वासपूर्वक अर्थ की भावना सहित राम नाम को जपो रटो, तो हृदय में निश्चय (अवश्य) सच्ची भक्ति का निवास (प्रकाश) होगा। और अन्य अनात्म भक्ति जन्मादि के हेतु स्नेह रूप नहीं रहेंगी, चली जायगी, कि जिससे सर्वात्मा राम का अनुभव और मोक्ष होगा। "आशाया हि तु ये दासास्ते दासाः सर्वलोकस्य। आशा दासी कृता येन

तस्य दासायते जगत् ॥ १ ॥ यावद्विषय भोगाशा जीवाख्याता वदात्मनः । अविवेकेन सम्पन्ना साप्याशा नहि वस्तुतः ॥ २ ॥ विवेकवशतो याता क्षयमाशा यदा तदा । आत्मा जीवत्वमुत्सृज्य ब्रह्मतामेत्यनामयः ॥ ३ ॥" दासी कृता = वशीकृता । दासायते = दासवदाचरित । अनामयः = अरोग = निराऽऽवरण आत्मा ॥ १०६ ॥

अथ संशयजन्यजन्मादिवर्णन प्र० ४२

शब्द ११०

रामुरा संशय गाँठि न छूटै । ताते पकरि पकरि यम लुटै ॥
हे मिस्कीन कुलीन कहावहु, तुम योगी संन्यासी ।
ज्ञानी गुणी शूर कवि दाता, या मति किनहूँ न नाशी ॥

रामनामधना भो भो रामात्मानश्च मानवाः ।
यतः संसयकामाशामोहाद्यात्मकुपाशकाः ॥१॥
अध्यासग्रन्थयश्चैव न नस्यन्ति ततः सदा ।
ग्राहं ग्राहं यमो नित्यं जनान्नाशयतेऽखिलान् ॥२॥
भूत्वा मस्करिणो यूयं भक्ताश्च साधवोऽपि वा ।
योगिनो जङ्गमाश्चैव वेषमात्रेण नान्यथा ॥३॥
कुलीनाश्चापि कथ्यन्ते ह्यभिमानं च कुर्वते ।
शास्त्राणां ज्ञानिनो भूत्वा शिल्पज्ञा गुणिनोऽपि च ॥४॥
दानिनः कवयो वीराः संशयान्नाशयन्ति नो ।
मतिं न विपरीतां चेदभिमानयुतामपि ॥५॥
तदा सर्वं हि तद् व्यर्थं विपरीतफलप्रदम् ।
नैव स्वर्गप्रदं नापि मोक्षदं तत्कदापि हि ॥६॥

योगी और जङ्गम शिव भक्त होते हैं, अतः पूर्व शब्द के अन्तिम अंश का अर्थ किया जाय कि योगी जङ्गम की फीकी यह आशा होती है कि चातक के समान रामनाम रटे कि जिससे राम के निश्चय (विश्वास) रूप भक्ति का हृदय में निवास होगा, तो वह अर्थ उचित नहीं होगा, क्योंकि वे लोग राम नाम जपते नहीं हैं। और पूर्वोक्त अर्थ में शंका होती है कि प्रथम कहा गया है कि "राम कहे जो जगत गति पावै, खाँड़ कहे मुख मीठा" इत्यादि। अतः

पूर्व पर में विरोध प्राप्त होता है, तो इस शंका की निवृत्ति के लिये कहा गया है कि हे रामुरा! (रामधनवाले रामराजा जीव) जबतक संशय अज्ञान भ्रमरूप गाँठि (बन्धन) नहीं छूटते हैं (निवृत्त नहीं होते हैं) और काम आशा तृष्णादि रूप ग्रन्थि (बन्धन) नहीं छूटते हैं, तबतक उस संशय और ग्रन्थि से ही पकड़-पकड़कर यम (मृत्यु) लूटता (कष्ट देता) है। अतः सद्गुरु के उपदेश सत्सङ्गादि द्वारा संशय कामादि रहित होकर विश्वासपूर्वक राम नाम के जपने से अपरोक्ष निश्चयरूप ज्ञानात्मक भक्ति निरभिमानी के हृदय में बसती है। परन्तु राम के संशय और कामादियुक्त होवे भी मिस्कीन (दीन दास भक्त) तुम कहलाते हो, तथा योगी और संन्यासी कहलावे हो, और कुलीन कहलाते हो (कुलीनता के अभिमान करते हो) इसी प्रकार संशयादि के रहते ही ज्ञानी, गुणी, शूर, कवि और उपदेशादि के दाता उदार गुरु कहलाते हो। अतः इस अवस्था में ज्ञानयुक्त भक्ति की प्राप्ति के अभाव से संशयादि की निवृत्ति नहीं होती है, न राम नाम के कहने से ऐसे संसारियों की गति (मुक्ति) होती है। क्योंकि इस अवस्था में ज्ञानयुक्त भक्ति की प्राप्ति स्थिति के विना किनहुँ (किसी) ने या मति (इस संशययुक्त मति) को नष्ट नहीं की।

सुस्मृति वेद पुराण पढ़ै सब, अनुभव भाव न दरशै।
लोह हिरण्य होत दहुँ कैसे, जो नहिं पारस परसै॥

स्मृती वेदपुराणादीन् पठन्ति सर्वमानवाः।
आत्मानुभवभावो न तथापि तेषु दृश्यते॥ ७॥
मनोग्रहं विना तद्वदाशात्यागादिकं विना।
जायतेऽनुभवो नैव यमबाधा न नश्यति॥ ८॥
यावन्न दृश्यते चात्मा तावल्लोहसमोऽप्ययम्।
कथं हिरण्यतुल्यः स्याज्जीवोमुक्तश्चिदव्ययः॥ ९॥
पार्श्वाव्यमणिसम्बन्धं विना लौहं कथं भवेत्।
हिरण्यं तत्समः पन्था जीवब्रह्मत्वसिद्धये॥१०॥

भक्ति निरभिमानिता की प्राप्ति किये बिना भी सुन्दर स्मृति (धर्मशास्त्र) और वेद, पुराण को सब पढ़ते हैं। परन्तु भक्ति विश्वास रहित अभिमानियों में सत्य, अहिंसादि धर्म तथा सर्वात्मा राम के अनुभव का भाव (सत्त्व) नामादिमात्र से नहीं दीखता है। क्योंकि यदि पारस से परस (सम्बन्ध) नहीं हो, तो लोहा हिरण्य (सुवर्ण) नहीं होता है। तैसे ही अभिमानी संशययुक्त जीव को यदि ब्रह्मात्मा से सम्बन्ध (उसका अनुभव) नाममात्र से सत्सङ्गादि

के विना नहीं होता है, तो वह नाममात्र से गति (मुक्ति) नहीं पाता है। किन्तु भक्ति विश्वादिपूर्वक नाम भजन से अनुभव पाकर गति मुक्ति पाता ही है। जीवन्मुक्ति पाकर ही विदेहमुक्त होता है। क्योंकि—

जियत न तरेहु मुये का तरिहो, जियत ही जो न तरे।
गहि परतीति कियो जिन जासो, सोइ तहाँ अमरे॥

आशापाशं विलूयात्र त्वभिमानं विधूय चेत्।
जीवन्तो नैव मुच्यध्वे मुच्यध्वे वै मृताः किमु॥११॥
ये जीवन्तो न मुच्यन्ते ते यत्र प्रीतिसंयुताः।
दृढविश्वासयुक्ताश्च भवन्ति मरणावधि॥१२॥
मृतास्तत्रैव जायन्ते कर्मनद्धाः कदाशयाः।
निवद्धा यमपाशैश्च पीड्यन्ते यमदुर्भटैः॥१३॥
जगद् भ्रमं परिज्ञाय त्यजन्ति वासनां तु ये।
ते विरक्ता विमुच्यन्ते जीवन्तोऽथ मृताः पुनः॥१४॥

आत्मानुभवादि रहित ही मनुष्य नामादिमात्र से काशी आदि में मरणे आदिमात्र से मरने पर ही मुक्ति मानते हैं, सो वेद तथा ज्ञानी के अनुभव से विरुद्ध है। अतः उनसे कहा गया है कि, यदि तुम जियते ही में अज्ञान भ्रम संशय अभिमान कामादिरूप संसार सागर से ज्ञान-विरागादि द्वारा नहीं तरते (मुक्त होते) हो, तो मरने पर क्या (कैसे) तरोगे, उस समय गुरु उपदेशादि रूप साधनों के अभाव से तर नहीं सकोगे। क्योंकि जियते ही नहीं तरने पर, जिन लोगों ने जासो (जिससे) गहि परतीति (दृढ़ प्रीति विश्वास) की या जिस विषयक प्रतीति का ग्रहण (धारण) किया सोइ (वे प्रतीति करने वाले) अमरे (मरण से प्रथम ही) वासना द्वारा तहाँ (वहाँ) स्थिर हुए। अतः वे मरकर भी वहाँ जायगें, मुक्त कैसे होगें। जियते में नित्य मुक्त आत्म स्वरूप में स्थिति रूप जीवन्मुक्त होने ही पर विदेहमुक्त हुआ जाता है, अन्यथा नहीं।

जो कछु कियो ज्ञान अज्ञाना, सोई समुझ सयाना।
कहहिं कबिर तासो का कहिये, देखत दृष्टि भुलाना॥११०॥

ज्ञानाज्ञाने च ये केचित्कर्मोपासन लक्षणे।
कृते स्तो मानवैर्विज्ञ! ते विद्धि फलदे मृतौ॥१५॥
तत्फलं भुज्यते मृत्वा ज्ञानाज्ञानैश्च यत्कृतम्।
नान्यद्धि प्राप्यते किञ्चित्कुतो मोक्षः कुतः सुखम्॥१६॥

रागादियुक्ततां बन्धं तद्विमुक्तिं च मुक्तताम् ।
प्रत्यक्षमपि यो दृष्ट्वा भ्रान्तो भ्रमति मोहतः ॥१७॥
तं किं वच्मि कथं तं च बोधयामि परं पदम् ।
इत्येवं सद्गुरुः प्राह ज्ञात्वा मोहं महत्तमम् ॥१८॥
असंशयवतां मुक्तिः संशयात्मा विनश्यति ।
मानेनैव च नश्यन्ति तमसा ये पराजिताः ॥१९॥
"निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुख दुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥२०॥११०॥

इति हनुमत्कृतायां शब्दसुधायां संशयग्रन्थ्यादितो जीवनमुक्तेरभावादि वर्णनं नाम द्वाचत्वारिंशत्तमस्तरङ्गः ॥४२॥

हे सयाने लोगों ! जीवन मुक्ति के नहीं पानेपर जो कुछ तुम ज्ञान (ज्ञान पूर्वक कर्म या उपासना) किये हो, और जो अज्ञान (अज्ञान पूर्वक कर्म या साधारण कर्म) किये हो (सोई समझो) (उनके ही फल मरने पर प्रारब्धान्त में मिलेगें ऐसा समझो) मरने पर या इस जन्म में निष्काम भक्ति कर्मादि के बिना नाममात्रसे ज्ञान या मोक्ष की मिथ्या आशा आदि नहीं करो । श्रीकबीर साहब कहते हैं कि कर्मोपासना के लौकिक फलों को और ज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति मोह-कामादि के नाशरूप मोक्ष फल को लौकिक शास्त्रीय दृष्टिसे देखा (समझ) कर भी जो मोहादि वश भूले हैं (संसार में आसक्त हैं, और किसी नाम मात्र से मोक्ष मानकर सच्ची भक्ति नहीं करते हैं) उनसे क्या कहा जाय मुमुक्षुओं से कहा गया है कि संशयादि की निवृत्ति, सच्ची भक्ति की प्राप्ति और ज्ञानके लिये चातकके समान तत्परता आदिपूर्वक रामनाम को रटो और भूलो नहीं, मरने ही पर मोक्षकी आशा नहीं करो, जीवन्मुक्त होवो इत्यादि ॥११०॥

अथ ज्ञान विना सर्वनिष्फलता वर्णन प्र० ४३

शब्द १११

देखि देखि जिव अचरज होई । यह पद बूझै विरला कोई ॥
धरती उलटि आकाशहि जाई । चिउँटी के मुख हस्ति समाई ॥
बिनु पवने जो पर्वत ऊड़ै । जीव जन्तु सब वृक्षहिं चूड़ै ॥

ये दृष्ट्वापि भ्रमन्तीह दृष्ट्वा दृष्ट्वा हि तान् सदा ।
आश्चर्यं जायते स्वान्ते जगल्लीलां विलोक्य च ॥१॥

अपरोक्षं पदं ह्येतमात्मानं विरला जनाः।
पश्यन्त्यन्ये च भूमिस्थाः स्वर्गाय सन्ति सोद्यमाः ॥२॥
आत्मनो विमुखा मान्या योगिनोऽपिहि केचन।
पार्थिवीधारणाद्यन्ते व्योम्नि गच्छन्ति मुक्तये ॥३॥
पिपीलिकास्यतुल्यायां हस्तितुल्याः शरीरिणः।
संविशन्ति मनोवृत्तौ वासनायां सुखाशया ॥४॥
अहो वायुं विना यत्र माया वेगेन पर्वताः।
उड्डीयन्ते समाधिस्थास्तत्रान्ये जन्तवः खलु ॥५॥
संसारवृक्षचूडायां स्वर्गे गत्वा प्रपातदे।
सुखं शान्ति विमृग्यन्ति मोहवात्यायुते सदा ॥६॥
योगिनः पवनं रुद्ध्वोड्डीयोड्डीयान बन्धत्तः।
शरीर शिखरे यान्ति स्वेन्द्रियै जन्तुभिः सह ॥७॥

समझ कर भ्रमते हुए जीवों को देख, देखकर मन में आश्चर्य होता है। क्योंकि ये लोग प्रायः परोक्ष लोक मुक्ति आदि चाहते हैं, और यह अपरोक्ष निजात्मपद (सर्वाधार राम) है, उसको कोई विरला ही समझते हैं, सब मनुष्य इस सच्चिदानन्द को क्यों नहीं ममझते हैं। और इसको नहीं समझने से ही धरती (भूमि निवासी) सब आकाश ही (स्वर्गादि) में ही उलट कर (बार-बार) जाते हैं तथा अज्ञयोगी नीचे के प्राण मन को उलट कर आकाश में जाते हैं। कोई शून्य शब्दादि रूप आकाश की उपासना करके आकाश में लीन होते हैं, ऐसे लोग मन रूप चींटी के वासनादि रूप मुख में हस्ती हो कर समाते हैं। अर्थात् अपने महान् सत्यस्वरूप को जाने विना तुच्छमनो-वासनादि के वश में होते हैं। अतएव जहाँ विना पवन (प्रवल विषय) के ही पर्वत तुल्य स्थिर धारणा वाले योगी तपस्वीजन भी तुच्छ विषय वायु मनो माया के वेग से उड़ रहे हैं। या उड़ जाते हैं, उस संसार में सब साधारण जीव जन्तु संसार स्वर्गादि वृक्ष पर चढना और संसार की चूड़ा (स्वर्गादि) में स्थिर होना चाहते हैं, जहाँ प्रवल विषय वायु को भी मानते हैं। सो आश्चर्य का जनक है। तथा योगी लोग प्राण के निरोध से विना पवन के होकर दशम द्वार पर चढ़ते हैं, तो भी यदि आत्मानुभव नहीं करते हैं, सिद्धि लोक मान्यता आदि में लगते हैं, तो यह आश्चर्यजनक है।

सूखे सरवर उठे हिलोर। बिनुजल चकवा करै किलोर ॥
बैठा पण्डित पढ़ै पुरान। बिनु देखे का करै बखान ॥

कहहिं कबिर जो पद जो जान । सोई सन्त सदा परमान ॥१११॥

शुष्के सरोवरे तत्र सत्यानन्दादिवर्जिते ।
तद्दृष्ट्याऽऽनन्दभङ्गोऽपि बहुधा जायते खलु ॥८॥
चक्रवाकसमास्ते च सत्यानन्दजलं विना ।
कल्लोलं कुर्वते तत्र स्वात्मानं मन्वते नहि ॥९॥
पण्डिताश्चोपविश्यात्रपुराणानि पठन्ति ये ।
परोक्षस्य कथां तेऽपि कुर्वते नैव चात्मनः ॥१०॥
सद्गुरुश्चाह ये लोके त्वपरोक्षपदं विदुः ।
त एव साधवस्तेषां प्रमाणं वचनं सदा ॥११॥
त एव सज्जनैः सेव्यास्त्याज्याः सर्वे कुबुद्धयः ।
ज्ञेयः स निर्गुणो रामो हेया वै संशयादयः ॥१२॥१११॥

सुखे हुए सरोवर के तुल्य सत्यानन्द जल से रहित स्वर्गादि में तुच्छ विषयों में अज्ञ कर्मी रसास्वाद में लगे योगी आदि की दृष्टि से आनन्द की हिलोर (तरङ्ग) उठती है (विषय जन्य तुच्छ सुखादिक ही इनको पूर्णानन्द प्रतीत होता है) और सत्य सुखरूप जल के विना ही देवादि रूप चकवा (चक्रवाक पक्षी) किलोर = कल्लोल (क्रीड़ा) करते हुए अज्ञों को प्रतीत होते हैं । अतएव सत्यात्मादि के ज्ञानादि से रहित पुस्तक पाठी पण्डित भी गृह में बैठे (आशक्त रहते) पुराणों को पढ़ते हैं । सो सत्यमिथ्यादि को विवेकपूर्वक देखे (समझे) विना ही परोक्ष स्वर्गादि का व्याख्यान (कथन) करते हैं कि जिसको सुनकर अन्य लोग प्रायः मिथ्या फलादि के इच्छुक हो जाते हैं, परमात्मप्रेमी नहीं होते हैं । तहाँ श्रीकबीर साहब कहते हैं कि जो कोई विवेकी सत्सङ्ग, गुरुसेवा, विचार, हरिभक्ति आदि करके इस अपरोक्ष सर्वाधार आत्मा राम को जानते हैं और मिथ्या संसार में आशक्ति राग-द्वेषादि से रहित रहते हैं । सोई सदा प्रामाणिक सन्त हैं, ज्ञान के लिये उनका वचन प्रमाण होता है । क्योंकि अस्ति भाति प्रियरूप से तथा सर्वसाक्षी स्वरूप से प्रत्यक्ष वर्तमान सत्यानन्द स्वरूप आत्मा को स्वयं जानकर उपदेश देते हैं, इत्यादि ॥१११॥

शब्द ११२

तुम यहि विधि समुझहु लोई हो । गोरी मुख मँदिर बाजै ॥
एक सगुण षट चक्रहि बेध्यो, बिनु वृष कोल्हु माँचै (जै) ।
ब्रह्महि पकरि अग्नि महँ हुन्यो, मच्छ गगन चढि गाजै ।

अये जिज्ञासवो लोका इत्थमुक्तं हि बुध्यताम् ।
परोक्ष वादिनां वाक्यं सम्यगालोच्य यत्नतः ॥१३॥
मुखवाद्येन ते तावद्विशुद्धं कथयन्ति हि ।
कुण्डलिन्या मुखे चैषां विशुद्धं व्यज्यते रवः ॥१४॥
एकस्तु सगुणः कश्चित् तेषां चक्रेषु षट् स्वथ ।
संविद्धो वर्तते तेन तानि विद्धयन्ति ते खलु ॥१५॥
न तु विद्धयन्ति शुद्धेन वाक्येऽन्यद् धृदयेऽन्यथा ।
एषां हि वर्तते तेन गुरु नं लभ्यते हरिः ॥१६॥
वृषं धर्मं विना तद्वद्वृषं ज्ञानं विना च ते ।
शरीरं तैलयन्त्रं हि चालयन्ति मृजन्ति च ॥१७॥
मोक्षं सौख्यं न तैलं ते लभन्ते तेन सत्कचित् ।
निवद्धा विकलाश्चैव भ्रमन्ति भवकानने ॥१८॥
मनो ब्रह्मा हि तान् सर्वान् हुत्वा तापत्रयाग्निषु ।
ज्योतिःष्वेवं जगत्यां च गगने मोदते स्वयम् ॥१९॥
मनो मायात्ममत्स्यो वा जीवान् ब्रह्मात्मकान् खलु ।
अग्नौ हूत्वा स्वयं सैव गगनं प्राप्य राजते ॥२०॥
तं कश्चित्पश्यति ब्रह्म कश्चित्सौख्यं प्रपश्यति ।
तस्य साक्षि स्वरूपं तु विशुद्धं नैव पश्यति ॥२१॥

हे मुमुक्षु जिज्ञासु लोई (लोगों !) इस उक्त रीति से प्रामाणिक सन्तों के समान अपरोक्ष सत्यात्मा को समझो, और समझो कि विनु देखे व्याख्यान को करने वाले परोक्ष मोक्षवादी पण्डितों के मुखरूप माँदर (मृदंगतुल्य बाजा विशेष) ही गोरी बाजता है (शुद्ध निर्गुण ब्रह्म का उपनिषदादि शुद्ध वाणी का उच्चारण करता है) उनके हृदय में गोरी (शुद्ध) वस्तु नहीं बसती है, वे लोग शुद्धात्मा को हृदय से हृदय में नहीं समझते हैं । अतः जीवन्मुक्ति को भी नहीं मानते हैं, न पाते हैं । क्योंकि एक कोई सगुण वस्तु ही उनके छवों चक्रों में बेधी रहती है । अर्थात् सगुण से ही योगी पण्डित छौ चक्रों को वेधते (व्याप्त करते-समझते) हैं । और अहिंसा, सत्य, तप, दानरूप चार पादयुक्त भक्ति ज्ञान धर्मरूप वृष (सुखशान्ति वर्षक बैल) के बिना उनके देहरूप कोल्हू सिद्धि आदि रूप तेल के लिये क्रियाओं में माँचता (चलता) है । ज्ञान भक्ति के लिये नहीं तथा अन्दर में धर्म की धारणा के विना ही देहरूप कोल्हु को तीर्थादि में मचाते (भटकाते = माँजते = धोते हैं । भाव है कि

मूल द्वार में आधार नामक चक्र चार दलवाला चक्र पद्म = (कमल) रूप एक है ॥१॥ लिङ्गमूल में स्वाधिष्ठान नामक षड् दलयुक्त दूसरा चक्र पद्म है ॥२॥ नाभि में मणिपूरक नामक दश दलयुक्त तीसरा चक्र पद्म है ॥३॥ हृदय में बारह दलयुक्त अनाहद नामक चौथा चक्र पद्म है ॥४॥ कण्ठ में विशुद्ध नामक षोडश दलयुक्त चक्र पद्म पञ्चम है ॥५॥ भ्रूमध्य में द्वि दलयुक्त आज्ञानामक षष्ठ चक्र पद्म है ॥६॥ इसको कमल भी कहते हैं और इनमें गणेश १, सावित्रीयुक्त ब्रह्मा २, लक्ष्मीयुक्त विष्णु ३, पार्वतीयुक्त शिव ४, अविद्या ५ और क्षेत्रज्ञ (जीव) ६ के क्रम से वास को (स्थिति को) योगी मानते हैं। और ध्यानादि से इनकी वहाँ प्रत्यक्षता आदि से चक्रों का बेधन (भेदन) मानते हैं। इस प्रकार एक सगुण माया के कार्यों से ही चक्रों के बेधन से सर्वत्र आनन्द की वर्षा करनेवाले शुद्धात्मा के ज्ञानादि के विना ही देह को कर्मों में नचाते और नाचते हैं। अतः मन मायारूप मछली इस जीवरूप रजोगुणी ब्रह्मा को पकड़कर तापादिरूप अग्नि में हवन करती है, और की है, और आप चक्रादि रूप गगन में चढ़कर देव-देवी अविद्या आदि रूप से गाजती (विराजती) है। तहाँ मुमुक्षु को सब चक्रादि में एक सत्यात्मा निर्गुण राम का ही चिन्तन भजन, ध्यान करना चाहिये, अन्य का नहीं। क्योंकि एक आत्मा ही माया आदि उपाधि से सब देव-देवी आदि रूप से भासता है। "आत्मैव देवताः सर्वाः सर्वमात्मन्यवस्थितम्। आत्मा वै जनयत्येषां कर्मयोगं शरीरिणाम् ॥१॥" आत्मा सब देवता स्वरूप है, आत्मा ही में सब स्थिर हैं, और आत्मा ही इन सब शरीरियों के कर्मफल सम्बन्ध को उत्पन्न करता है।

नित्य अमावस नित्य ग्रहण ह्वे, राहु ग्रसन नित दीजे।
सुरही भक्षण करत वेद मुख, घन बरषै तन छीजे॥

ज्ञानेनापि विना नित्यं चित्तचन्द्रलयात्मिका।
योगिस्वान्ते ह्यमावास्या जायते ग्रसनं तथा ॥२२॥
इन्द्रियादिग्रहैरेवं जीवचन्द्रस्य विद्यते।
ग्रहणं ग्रसनं वापि कालभेदेन सर्वदा ॥२३॥
सुष्मणाप्राप्तिरूपापि त्वमावास्या सदा भवेत्।
इडया कुण्डलिन्यां च प्राप्तिः संग्रसनं विधोः ॥२४॥
नाड्या पिङ्गलया प्राप्तिः कुण्डलिन्यां तु या भवेत्।
सा सूर्यग्रहणं नित्यं योगिनां हृदये भवेत् ॥२५॥

इत्थं संग्रसनेऽप्यस्य योगिचित्तस्य सर्वदा।
तस्याभिव्यक्तिरूपा च द्वितीया वर्तते सदा ॥२६॥
हठेनैव निरुद्धं हि प्रादुर्भवति सर्वदा।
अतो ज्ञानं विना तस्य विनाशो नैव विद्यते ॥२७॥
"सर्व एव परीक्षीणाः सन्देहा यस्य वस्तुतः।
सर्वार्थेषु विवेकेन स विश्रान्तः परे पदे" ॥२८॥
"ज्ञानादवसनीभावं स्वनाशं प्राप्नुयान्मनः।
प्राणात्स्पन्दं च नादत्ते ततः शान्तिर्हि शिष्यते" ॥२९॥
वेदमुख्यांश्च वेदै हिं देवाः खादन्ति सर्वदा।
कर्मादिघनवर्षेऽपि तनुस्तेषां तु हीयते ॥३०॥
लम्बिकाविधिना योगाः सुरभीनामिकां निजाम्।
जिह्वामेव हि भ्लक्षन्ति ज्ञात्वा वेदविधिं हि तत् ॥३१॥
चन्द्रनाडीघनस्तत्र वर्षत्यमृतबिन्दुकान्।
पिवतां तांश्च तेषां वै तनो र्नाशो भवत्यलम् ॥३०॥
वाञ्छया तेऽमरत्वस्य तान् पिवन्ति तथापि न।
तत्फलं जायते साधो ! खिद्यन्ते ते तु मोहतः ॥३३॥

उक्त रहस्य ज्ञान में निष्ठा के विना योगियों के देह हृदयों में चित्त चन्द्रमा का लय रूप तथा चन्द्र नाड़ी के श्वास (प्राण) का विलयरूप अमावास्या प्रतिदिन होती है तथा चन्द्र नाड़ी से सुष्मणा में प्राण की प्राप्तिरूप चन्द्रग्रहण और सूर्य नाड़ी से सुष्मणा में प्राण की प्राप्तिरूप सूर्यग्रहण भी प्रतिदिन होता है। और कुम्भक काल में कुण्डलिनी रूप राहु के प्रति प्राणरूप सूर्य-चन्द्र का प्रतिदिन ग्रसन = (ग्रास = भोग) दिया जाता है, तो भी ज्ञान के बिना चित्त प्राण का नाश निरोध नहीं होता है। क्योंकि वैसा करने पर भी वेद मुख (वेद-वक्ताओं) को सुर (देव) ही भक्षण (वश) करते हैं। ज्ञान के बिना कोई स्वतन्त्र भक्त नहीं होने पाते हैं। यद्यपि वेद-मुख (वेदवक्ता) योगी लोग सुरही (सुरभी = गौ) नामक जिह्वा का भक्षण करते हैं (कपाल कुहर में घुसाते हैं)। फिर उस जिह्वा पर चन्द्र स्थान से रस गिरता है, सो मानो (बहुत) मेघ वरसता है, उस रस का पान योगी अमरत्व की इच्छा से करते हैं, उसको अमर तारुणी कहते हैं, तहाँ श्री कबीर साहब कहते हैं कि घन (मानो मेघ अत्यन्त बरसता) है, तो भी योगी का तनु तो छीजती ही है, आत्मा कभी नष्ट होने वाली वस्तु नही है, अमरता की दृष्टि से यह प्रयास निष्फल है, इत्यादि।

त्रिकुटी मध्ये माँदर बाजै, अवघट अम्बर छीजै।
पुहुमिक पनिया अम्बर भरिया, ई अचरज को बूझै (बीजै)॥

त्रिकुट्यां च मृदङ्गो यो वाद्यते प्राणवायुना।
तस्मिन्नपि कुघट्टे हि नश्यत्येव चिदम्बरम्॥३४॥
नादाभ्यासरतो योगीह्यात्मज्ञानं विना व्रजन्।
विनिमज्जत्यविद्यायां नैव जातु चिदात्मनि॥३५॥
तुच्छे पार्थिवदेहे च योगजानन्दलक्षणम्।
पानीयमयमादत्ते सिद्धिजं न तु बोधजम्॥३६॥
इदमत्र महाश्चर्यमानन्दात्मा स्वयं सदा।
सुखमन्वेषते तुच्छं तत्को विद्यादपण्डितः॥३७॥
चिदानन्दस्वरूपोपि विमलाद्विमलं महः।
अनन्तोपि न जानाति दुःखी दोषीव खण्डितः॥३८॥

अनहद शब्दोपासक योगियों के त्रिकुटी के मध्य में मानो माँदर (मृदंग तुल्य अनहद बाजा) बाजता है, तहाँ उस अवघट में अम्बर (चिदाकाश स्वरूप जीवात्मा) छीजता (क्षीण होता) है। अर्थात् "अनहद अनुभव की करि आशा। र. १६" इस रमैनी में वर्णित रीति से विपरीति मार्ग में जाकर निज स्वरूप से च्युत होता है। क्योंकि पुहुमी (भूमि) के पानी को इस चिदम्बर (जीव) ने भरा (प्राप्त किया) अर्थात् भूमि पर के भोग्य, भोग विषयादि को प्राप्त किया, आत्मानन्द ब्रह्मानन्द को नहीं पाया, फिर इस आश्चर्य रूप संसार को मिथ्या कौन कैसे समझे, योगी भी तो इस को सत्य ही समझता है। पुहुमी के पानी को प्राप्त किया, सो भी आश्चर्य स्वरूप है। इसको भी कोई आश्चर्य स्वरूप (मिथ्या) नहीं समझता है।

कहहिं कबीर सुनहु हो सन्तो, योगिन सिद्धि पियारी।
सदा रहत सुख संयम अपने, वसुधा आदि कुमारी॥११२॥

उवाच सद्गुरुः साधो! शृणुत्वं योगिनां गतिम्।
एतेषां सिद्धयो नित्यं विद्यन्तेऽतिप्रिया इह॥३९॥
अतश्च स्वसुखार्थं ते संयमे निरताः सदा।
भवन्त्येव न बोधार्थं तेन चादिकुमारिकाः॥४०॥
विद्यन्ते पत्युरप्राप्त्या पृथिव्यां सच्चिदात्मनः।
यस्य लाभात्सदा सैव पात्यनन्तात्मरूपतः॥४१॥

"ये केचन जगद्भावास्तानविद्यामयान् विदन् ।
कथं तेषु किलात्मज्ञस्त्यक्ताविद्यो निमज्जति" ॥४२॥
अनात्मज्ञास्तु तान् मत्वा सत्य सौख्यमयानिमान् ।
यतमानास्तदर्थं वै निमज्जन्ति भवार्णवे ॥४३॥
आशां कुर्वन्ति चान्येषामात्मानं मन्वते नहि ।
लभन्ते सत्पतिं नैव त्वहो मोहकदर्थना ॥४४॥११२॥

श्री कबीर साहब कहते हैं कि हे सन्तो ! (मुमुक्षुओं !) तुम आत्म-श्रवणादि करो, सुनो, विचारो । उक्त योगियों को तो भोग प्रतिष्ठा आदि के हेतु रूप तुच्छ सिद्धि ही प्यारी है । भक्ति, शान्ति, मुक्ति नहीं । अतः अपने लौकिक सुख यश आदि के हेतुरूप जो संयम (धारणा, ध्यान, समाधि) उसी में सदा लगे रहते हैं या लौकिक सुख के लिये संयम (-युक्ति = उपाय=संग्रह) में सदा प्रवृत्त रहते हैं । अपरिग्रहरूप योग साधन को भी नहीं प्राप्त करते हैं। अतः वसुधा (भूमि) में आदि कुमारी उनकी बुद्धि बनी रहती है । जिस तटस्थ पति को धारणा ध्यानादि से प्राप्त करना चाहते हैं । उसको भी भोग वासना से उनकी बुद्धि नहीं प्राप्त कर पाती है । और भोगादि के लिये जिस वसुधा को प्राप्तवशी करना चाहते हैं सो वसुधा भी आदि कुमारी है, अभीतक किसी के वश में नहीं हुई है । अतः विवेक के बिना व्यर्थ चेष्टा करते हैं, सो विवेक-ही कर्तव्य है कि जिससे पूर्ण विराग शमदमादिपूर्वक निजात्म लाभ से समूल संसार दुःख की निवृत्ति और सत्य परमानन्द की प्राप्ति हो ॥११२॥

शब्द ११३

झूठहिं जनि पतियाहु हो, सुनु सन्त सुजाना ।
घटही में ठग पूर है, मति खोहु अपाना ॥

भोः सुज्ञाः साधवो ! नित्यं शुद्धबुद्धनिजात्मनः ।
सत्यस्य श्रवणादीनामभ्यासोऽत्र विधीयताम् ॥४५॥
मिथ्याभूतं जगत् किञ्चित् सिद्धिसम्पत्ति वान्धवम् ।
प्रतीयतां न सत्त्वेन विश्वासो नात्र धीयताम् ॥४६॥
मनः कामेन्द्रियादीनां वञ्चकानां पुरं गृहम् ।
युष्मत्कलेवरेष्वस्ति तत्सङ्गत्या स्वकं धनम् ॥४७॥
ज्ञानं शमादिकं नैव नाशयध्वं प्रमादतः ।
रक्षणीयः सदैवात्मा ह्यात्मनैव न चान्यतः ॥४८॥

सद्रत्नं च स्वमात्मानं नो विस्मरथ कुत्रचित् ।
नामरूपात्मकेऽसत्ये कल्पिते विश्वमण्डले ॥४९॥
असत्सङ्गो न कर्तव्यो विश्वासो ह्यसतां नहि ।
सतां सङ्गः सदा कार्यस्तेभ्यश्च श्रवणादिकम् ॥५०॥

हे सुजान ! (विवेकी) सन्तो ! झूठ (-मिथ्या) सिद्धिसुख संयमादि को सत्य समझकर, उनमें तुम भूलो नहीं, विश्वास नहीं करो, उनमें (आसक्त-विवेक रहित नहीं होवो) किन्तु किसी ज्ञानी से सुनो (आत्मश्रवणादि करो) मिथ्या में सत्यादि के विश्वास करने पर काम लोभादि ठगों से ठगे जाओगे । क्योंकि सत्यासत्यादि के विवेकरहित, मिथ्या में सत्यता सुख हेतुता आदि के विश्वासियों के घट में ही ठगों का पुर (ग्राम) है । या ठगों का पूर्ण स्वरूप है, तुम मिथ्या विश्वासी होकर, अपने स्वरूप को विवेक विज्ञानादि रत्नों को कामादि वश नहीं खोवो । यही सन्त पन (साधुता) और सुजानता है ।

झूठे का मण्डान है, धरती असमाना ।
दशहुं दिशि वाके फन्द है, जिव घेरे आना ॥
योग जाप तप संयमा, तीरथ व्रत दाना ।
नौधा वेद कितेव है, झूठे का बाना ॥

भूम्यादिगगनान्तं हि विस्तृतं विश्वमण्डलम् ।
मिथ्यामायामनःकार्यं मिथ्यात्ममण्डनं च तत् ॥५१॥
मायाया मनसः पाशो दिक्षु सर्वासु वर्तते ।
तस्यैवावरणे सर्वे ह्यज्ञा जीवाः समागताः ॥५२॥
सकामानां हि योगश्च तपश्च जपसंयमाः ।
तीर्थानि व्रतदानानि भक्तयो नवधामखाः ॥५३॥
नामात्मकास्तथा वेदा ग्रन्थाद्याश्चैव सर्वशः ।
मिथ्या वेषस्वभावा हि शब्दशक्यार्थलक्षणाः ॥५४॥
सत्यो भावो न जन्मप्रमृतिमनुभवेत्सत्त्वतः सर्वदैव,
नैवासत्यः कदाचिज्जनिमृतिवशगः सम्भवेद्वा प्रसङ्गात् ।
एवं बोधान्निवृत्ति जगति सदसतो नैव दृष्टा न बाधः ।
वन्ध्योऽवाच्यस्ततोऽयं जनिमृतिवशगो वित्तिबाध्यः प्रतीतः॥५५॥

झूठे (मिथ्या मन माया) का मण्डान (विस्तार = मण्डन) धरती = भूमि और असमान आकाश (स्वर्गादि) में सर्वत्र वर्तमान है और दशो दिशाओं में

वा०—उस मन मायाके ही कार्यात्मक काम क्रोध लोभादिरूप मोह कर्मादिरूप फन्द (जाल) पैले हैं, और उन फन्दों के घेरे (आवरण) में जीव सब अज्ञान-वश आना (आ गये) हैं। सकाम के योग याग (यज्ञ) जप, तप, संयम, तीर्थ, व्रत, दान, नवधा (निधि = भक्ति) और शब्दात्मक वेद किताबादि सब झूठे का ही बाना (स्वाँग=वेष=स्वभाव) स्वरूप हैं (मन माया से सब सिद्ध होते हैं) और निष्कामता विवेकादिके बिना मिथ्याही फल देते हैं, सत्य नहीं।

काहू के शब्दे फुरे, काहु करमाती।
मान बड़ाई ले रहे, हिन्दु तुरुक दु जाती॥

कस्यचिद् योगिनः शब्दा वाक्यसिद्ध्या स्फुरन्ति हि।
शक्ति र्भवति काव्यस्य लोके कीर्तिप्रदा खलु॥५६॥
निग्रहेऽनुग्रहे शक्ति र्वाचा भवति कस्यचित्।
वर शापादिभिर्लोकान् करोति वशगान् हि सः॥५७॥
आकाशगमनादिश्च सिद्धि र्भवति कस्यचित्।
क्रियात्मिका यया लोकेष्वाश्चर्यं मन्यते बहु॥५८॥
सिद्धा हि सिद्धिभिः सर्वे प्रतिष्ठां श्रेष्ठतां तथा।
प्राप्नुवन्ति सदाऽऽर्येभ्यस्तुरुष्केभ्यश्च मान्यताम्॥५९॥
आर्याश्च यवनाः सर्वे द्विजातीनां गणास्तथा।
मानाद्यर्थं सदा यत्नं कुर्वन्ति नहि मुक्तये॥६०॥
एष माया कृतः पाशो बध्यन्ते ह्यत्र योगिनः।
द्विजातयोऽपि विद्वाँसस्तुरुष्काद्या हि सर्वशः॥६१॥

सकामयोगादि के बल से काहु (किसी) के शब्द फुर (सत्य) होते हैं (वाक्य सिद्धि से शाप आशीर्वाद सफल होते हैं) तथा काव्य करने की शक्ति होती है। काहु में आकाश गमनादि अणिमादि, दूर श्रवण दर्शनादि करमात (कर्म शक्ति) होती है कि जिससे सिद्ध योगी आदि हिन्दु तुरुक दोनों जातियों में मान (सत्कार = प्रतिष्ठा = बड़ाई) लेते (प्राप्त करते) रहते हैं, और निज स्वरूप सत्यात्मा राम को भूले रहते हैं।

बात व्योंत असमान के, मुद्दत नियरानी।
बहुत खुदी दिल राखते, बुड़े बिनु पानी॥

व्याख्यातारः परोक्षस्य वार्तां स्वर्गस्य कुर्वते।
आकाशस्य व्यवस्थां च युगानि प्रगतान्यतः॥६२॥

आयुषश्चापि मर्यादा ह्यागताऽस्ति समीपतः ।
गोचाराणां तथाप्येते धरन्ति हृदये कणान् ॥६३॥
असारं वस्तुमानं च ह्यहङ्कारं मनोऽमताम् ।
दधते च निमज्ज्यातस्ते ब्रुडन्ति जलं विना ॥६४॥

मनो न दद्यादिह भोग मुक्तये दद्यात्सदैतन्निजयोगयुक्तये ।
सर्वं हि दद्याद् भवसिन्धुसेतवे तन्वादिकं सद्गुरवेऽर्हहेतवे ॥६५॥
तन्वा तदीयं बहु सेवनं चरेत् स्वान्तेन तच्चिन्तनभक्तिमाहरेत् ।
वाचा तदीयान् सुगुणानुदाहरेन्न जातु दोषं सुधनैश्च तोषयेत् ॥६६॥

कोई असमान (आकाशगत स्वर्गादि) की बातों को व्योंतते (वाचनिक व्यवस्था करते) हैं। अर्थात् स्वर्गादि के विस्तार महान् सुख सौन्दर्यादि का वर्णन करते हैं और उन बातों के व्योंतने में ही उनकी मुद्दत (अन्तकाल आयु की अवधि) नियरा गई (मृत्यु पास में आ गई) और बात मात्र में लगे रहने से स्वर्ग की कथा हिसाब किताब में ही आयु की समाप्ति से ऐसे लोग स्वर्गादि के लिये भी सत्कर्मादि यदि नहीं कर सके, तो बहुत खुदी (खुदगर्जी = स्वार्थीपन) को राखते में खुद्दीतुल्य विषय तुच्छ वस्तु के चिन्तन करने में ये लोग बिनु पानीके ही संसारमें बूड़ गये और बूड़ते हैं। सत्यसुखादि रहित संसार विषयादि में सुखादि की आशा आदि करके जन्मते मरते हैं।

कहहिं कबीर कासे कहो, सकलो जग अन्धा ।
साँचा से भागा फिरैं, झूठे का बन्दा ॥११३॥

इति श्रीसद्गुरुकबीरकृते विविधबन्धबीजविध्वंसने बीजकनाम्नि ग्रन्थेऽखिलसंशयशमनदमनं द्वितीयं शब्दप्रकरणं समाप्तम् ॥२॥

सद्गुरुराह कस्मै तत्कथयामि चिदव्ययम् ।
विवेकचक्षुषा लभ्यं श्रद्धाश्रयधनै र्जनैः ॥६७॥
सर्वे सन्ति जना ह्यन्धाः संसारेऽत्राविवेकिनः ।
सत्यादेव पलायन्ते वन्दन्त्यनृतमादरात् ॥६८॥
त्यक्त्वा सद्गुरुमप्येते धावन्ते च यतस्ततः ।
भूत्वा चानृतिनां दासास्तान् वन्दन्ति सदा जनाः ॥६९॥
विमुच्यन्तां कथं चैते न शृण्वन्ति परामृतम् ।
कुर्वते न विवेकं चेद्वैराग्यं नाश्रयन्ति च ॥७०॥

अमानित्वमुखैर्हीनाः शमादिगुणवर्जिताः ।
लाभलोभादिनिष्ठाश्च मुच्यन्तां वै जनाः कथम् ॥७१॥
योगैरपि च ये भोगं सिद्धोः सम्पत्तिमेव च ।
वाञ्छन्ति ते कथं मुक्ता भवन्तु वाऽभिमानिनः ॥७२॥

शान्त्यादिगुप्तगुणभूषणभूषिता ये, सद्वाक्यसागरसुधारसलालसाश्च ।
कैवल्यकारणगुरोः पदमाश्रिता वै, मुक्ताभवन्तिभवभावनया वियुक्ताः ॥

निष्कामयोगादथसाधुसेवनात्, कामाद्यरीणां परिवर्जनाद् बलात् ।
स्वात्मानुभूत्या परमात्मभावनात्, मुक्ता भवन्त्याप्तजनाः सुखं भवात् ॥
मिथ्याभिमानं परिहृत्यदूरे, मिथ्यैव बुद्ध्वाऽखिलविश्वमेतत् ।
कृत्वा विभूतौ प्रियतां क्वचिन्न, ह्यात्माभिरामा भवबन्धमुक्ताः ॥७५॥

गुरुभक्त्या मतिं शुद्धां विधाय हरि निष्ठया ।
क्षिप्रं विमुच्यते बन्धाज्ज्ञानादेव न चान्यथा ॥७६॥११३॥

इति हनुमत्कृतायां शब्दसुधायां योगस्वर्गादिसम्पत्तितुच्छता वर्णनं नाम त्रिचत्त्वारिंशत्तमस्तरङ्गः ॥४३॥

श्री कबीर साहब कहते हैं कि पूर्वोक्त आत्मकथा जीवन्मुक्ति और निष्कामता की कथा विशेष रूप से किससे कहें। इस कथा के अधिकारी विवेकी ही होते हैं। सब संसारी कलि में प्रायः अन्धे (अविवेकी) होने ही से सत्यवक्ता सत्योपदेश-सत्यपदार्थ से मानो भागे फिरते हैं, और झूठे पदार्थों की प्राप्ति के लिये झूठों (असत्यभाषियों) का बन्दा (दास) होते हैं, उनकी बन्दना = स्तुति करते हैं। अतः विशेष कथा नहीं कहकर जो कोई विरल विवेकी हैं, उनके लिये सामान्य कथा कही गई है ॥ ११३ ॥

माया आगे जीव सब, ठाढ़ भये कर जोर ।
जिन सिरजा जल बुन्द से, तासे बैठे तोर ॥ १ ॥
माया दीप पतङ्ग नर भ्रमि भ्रमि माँहि परन्त ।
कोई गुरुजन ज्ञान से, उबरे साधु सन्त ॥ २ ॥ (अङ्गकी साखी)

इति श्रीसद्गुरुकबीरसाहबकृत बीजक का स्वामीश्रीहनुमानदासजी साहब षट्शास्त्री विरचित स्वल्पाक्षरा हिन्दी व्याख्या द्वितीय शब्द प्रकरण समाप्त ॥२॥

अथोपसंहारः

शब्दामृतप्रकाशेन मोदन्तां गुरुवो मम।
प्रीतो भवतु सर्वात्मा साक्षिरूपो महेश्वरः॥ १॥
निर्मथ्य सागरं शब्दं सुधेयं प्रकटी कृता।
पिवन्तु सुधियः शश्वन्मोदन्तां मोक्ष लब्धये॥ २॥
शब्दामृतमिदं तावदल्पमेवोद्धृतं मया।
यतन्तामत्र चान्येऽपि यथाशक्त्यमृताय वै॥ ३॥
साकल्येन समुद्धर्तुं क्षमोऽप्यस्माच्च को भवेत्।
येनायं रचितः सिन्धुस्तं विना परमं गुरुम्॥ ४॥
देवासुरै र्मिलित्वापि मथित्वा क्षीरसागरम्।
उद्धृतं घटिकामात्रं तृप्तास्तेनाऽभवन् सुराः॥ ५॥
मयाऽप्येतत्प्रयत्नेन ह्यत्यल्पं विमलामृतम्।
उद्धृतं तेन तृप्यन्तु सज्जना ये विमत्सराः॥ ६॥
तुष्यन्तु साधवो ह्यस्मात्त्यजन्तु दुरितं खलाः।
असाध्यसाधने कश्च शक्तः स्यादीश्वरं विना॥ ७॥
यद्भक्त्या जायते नैव जगत्यां मानवः पुनः।
तं सर्वसुहृदं रामं प्रपद्येऽहं भयापहम्॥ ८॥
जगतां सारभूताय चिद्रूपायाखिलात्मने।
सर्वेषां सुहृदे नित्यं रामाय गुरवे नमः॥ ९॥
यस्य वाक्यसुधायाश्च सकृत्पानाद् बुधो भवेत्।
सुधा भवति विश्वं च तं कबीरं भजाम्यहम्॥१०॥
सुधावसेकवद्यस्य वचनात्तापनाशनम्।
शासनं यमराजस्य तं कबीरं नमाम्यहम्॥११॥
दीक्षाशीक्षाप्रदान् वन्दे विद्यादातॄन् गुरूञ्जनान्।
पूज्यान् सर्वान्नमस्यामः कुर्वन्तु सर्वमङ्गलम्॥१२॥

इति श्रीसद्गुरु कबीर चरणकमलभृङ्ग, श्रीमोहन श्रीरमितागुरुचरणदास श्रीहरिहर कृपालुसुध्यन्तेवासिहनुमद्दासकृतेयं शब्दसुधा समाप्ता॥२॥

अथ शब्द परिशिष्ट प्रकरण

शब्द १

सार शब्द ते बाँचि हो, मानहु इतबारा हो।
आदि पुरुष एक वृक्ष है, निरञ्जन डारा हो॥

ये हि सत्यं न मन्यन्ते तेऽत्र सन्तु यथा तथा।
ये तु मन्तुं समर्था वै तान् प्रत्याह गुरु र्वचः॥ १॥
सारशब्दविचाराद्यै र्ज्ञानाच्च सारवस्तुनः।
जन्मादिजमहादुःखात्कालान्मुक्ता भविष्यथ॥ २॥
कुरुध्वं चात्र विश्वासो यतस्तेन विना नहि।
विचारादौ प्रवृत्तिः स्याज्ज्ञानं नैव च जायते॥ ३॥
श्रद्धाभक्त्यादिभि र्ज्ञेयः सारशब्दादितश्च यः।
स सर्वाद्यखिलाधारो महावृक्षोऽस्ति पूरुषः॥ ४॥
एक एवाद्वितीयः स प्राणिपक्ष्याश्रयः सदा।
अधिष्ठानं हि सर्वेषामसङ्गो निर्गुणोऽव्ययः॥ ५॥
तस्मिन्नेव तु मायाया महिम्नैव निरञ्जनः।
मूलस्तम्भोऽभवद्देवो य ईश इति कथ्यते॥ ६॥

सार (सत्यार्थका बोधक सत्य) शब्द के श्रवण विचारादि वैराग्य ज्ञानादि से ही जन्म-मरणादिरूप संसार से और काल जन्य यातनादि से बाँचिहो (बचोगे = मुक्त होगे)। अतः सद्गुरु के सार शब्द का इतबार (विश्वास) मानो। और सार शब्द से समझो कि सबका आदि स्वरूप सर्वात्मा सबकी सत्ता प्रकाश स्वरूप सबके हृदय में व्यक्तरूप से रहने वाला जो एक पुरुष (ब्रह्मात्मा) है, सोई मायाशक्ति से इस संसार वृक्ष विस्तार स्वरूप हुआ है। और वृक्ष में निरञ्जन (असङ्ग) मायी ईश्वर डार (मुख्य मूल स्तम्भ) है। "सर्वं खल्विदं ब्रह्म। छां० अ० ३।१४।१" पुरुष एवेदं विश्वं कर्म तपो ब्रह्म परामृतम्। मुण्डक० २।१।१०।" इत्यादि श्रुति और गीता अ. १३।१३ इत्यादि से यह अर्थ स्पष्ट ज्ञातव्य है और "सारो बले स्थिरांशे च न्याय्ये क्लिबं वरे त्रिषु" इस कोश के अनुसार बल, वस्तु का स्थिर अंश (भाग) न्याययुक्त और वर (श्रेष्ठ) अर्थ शब्द का वाचक सार शब्द होता है, लोक में तीन

और दो को मिलाकर जो कोई पाँच कहे तो उसे कहा जाता है कि यह सार (सत्य) कहता है, और तीन और दो को मिलाकर यदि सात कहता है तो कहा जाता है कि यह असार कहता है। अतः शब्द में सारत्व असारत्व बलवत्त्व अबलवत्त्वादि उसके अर्थाधीन होता है। जीवात्मा आदि शब्दों का यदि देहादि जड़ अर्थ में अविवेक से प्रयोग करता है, तो वह असार शब्द हो जाता है। क्योंकि चेतन प्राणधारण की शक्तिवाला जीव कहा जाता है, मृतक देह के रहते भी उसमें चेतनाशक्ति प्राणधारण शक्ति नहीं रहती है "अतति व्याप्नोति इति आत्मा" (सब नामरूप को अपनी सत्ता और प्रकाश से व्याप्त करनेवाला आत्मा) कहा जाता है, ऐसा शरीरादि कोई पदार्थ नहीं है। किन्तु सर्वात्मा एक ईश्वर (ब्रह्म) ही है। उसीका "ईशावास्यमिदं सर्वम्" इत्यादि वैदिक शब्दों से बोध कराया जाता है, और उसमें सत्य भेद बुद्धि के निवारण के लिये "अयमात्मा ब्रह्म। तत्त्वमसि" इत्यादि उपदेश दिया गया है, और इसी तात्पर्य से श्रीकबीर साहब ने "जीवरूप एक अन्तर वासा।" "तत्त्वमसी इनके उपदेशा।" "भजिये निर्गुण राम को" इत्यादि उपदेश दिया है। अतः ऐसे सब वेद शास्त्र सद्गुरु सन्त के वचन सार (सत्य बलवद् श्रेष्ठ) शब्द कहे जाते हैं कि जिनके द्वारा अद्वैत सच्चिदानन्द ब्रह्मात्मा के ज्ञान से व्यावहारिक जीव मुक्त होता है। और "सोहं हंसा सकल समाना। काया के गुण आनहिं आना॥" इत्यादि भजन भी प्रसिद्ध है। "अहं ब्रह्मास्मि" और "सोऽहम्" का एक ही अर्थ होता है। सोऽहं (ब्रह्माभिन्न सत्य जीव का स्वरूप) बहुत अस्थान है। अर्थात् वह व्यापक है, परन्तु वही काया (देहों) में साक्षीरूप से व्यक्त होता है (आभासात्मक जीवरूप से प्रविष्ट होता है) इत्यादि। और "स त्वमेव त्वमेव तत्। कैवल्योप. १।१६" इस श्रुति में जो जीवेश्वर के परस्पर अभेद का वर्णन किया गया है तथा विचारसागर में "त्वं तत् तत् त्वं रीति यह, सब वाक्यन में जान। जाते होय परोक्षता, परिच्छिन्नता हान॥१॥" इसी आशय का भजन है कि "सोऽहं हंसा सकल समाना" इत्यादि, "सो अहं अहं सः" इत्यादि।

त्रिदेवा शाखा भये, पत्रहुँ संसारा हो।
ब्रह्मा वेद सही कियो, शिव योग पसारा हो॥
विष्णु माया उतपति कियो, उरलै व्यवहारा हो।
तीन लोक दशहुं दिशा, यम रोकिन द्वारा हो॥

ब्रह्माद्या हि त्रयो देवा शाखा जाताः पृथग्विधाः ।
संसारेऽत्र शरीराणि पत्राणि क्षणिकाणि वै ॥७॥
जीवानां शुभ सिद्ध्यर्थं ब्रह्मा वेदांश्चकार ह ।
शिवश्च योगविस्तारं कृतवांच्छुभवाञ्छया ॥८॥
विष्णुश्च बहुधा ज्ञानं ममतादिप्रपञ्चनम् ।
रचयामास दृष्ट्वैव व्यवहारान् स्वमानसे ॥९॥
व्यवहारपरान्जीवान् दृष्ट्वैव बलवान् यमः ।
त्रिषु लोकेषु मोक्षस्य ह्यरुणद्द्वारकाणि सः ॥१०॥
रुद्ध्वा द्वाराणि सर्वाणि दशदिक्षु यमो बली ।
कृतवान् स्ववशे सर्वान् कुरुते ज्ञानवर्जितान् ॥११॥

विशेष तीन गुण उपाधि वाले ब्रह्मा विष्णु शिव नामक तीन देव उस वृक्ष के शाखा आदि हुए और क्षणभंगुर शरीरादि कार्य रूप सब संसार उस महावृक्ष के पतन शीलपत्र हुआ कि जिसके जन्ममरणादि से जीवात्मा के जन्म-मरणादि की प्रतीति होती है, इस जन्म-मरणादि रूप भ्रम से सिद्ध संसार से रक्षा (मोक्ष) के लिये ब्रह्मा जी ने ज्ञान प्रधान वेदों को रचा। और शिवजी ने समाधि के हेतु रूप योगो (युक्तियों) का (विस्तार) किया और विष्णु भगवान् ने सबके पालनादि व्यवहारों को अपने उर (हृदय मन) में लाकर (अपना कर्तव्य समझकर) माया हिताहित के- ज्ञान ममता मोहादि) को उत्पन्न किया कि जिससे माता आदि के द्वारा पुत्रादि का पालनादि हो सके । परन्तु ममता मोहादिवश जीव सब अत्यन्त मोह जन्य व्यवहार मात्र परायण विवेकादिसे विमुख हो गये, तो यम (संसार का नियमन कर्ता अन्तर्यामी आदि स्वरूप ईश्वर ने काम दि द्वारा वैसे जीवों के लिये तीन लोक और दशों दिशाओं में उनकी सुगति के द्वारों को रोक दिया अत्यन्त कामादि से विवेक विराग सन्तोष शमदमादि निरुद्ध हो गये ।

कीर भये सब जियरा, लिये विष के चारा हो ।
ज्योति स्वरूपी हाकिमा, जिन अमल पसारा हो ॥
कर्म कि बंशी डारिके, पकरयो जग सारा हो ॥
अमल मिटावों तासु के, पठवों भव पारा हो ।
कहहिं कबिर निर्भय करों, परखो टकसारा हो ॥१॥

कीरवदभवन् जीवा विषयविषभक्षकाः ।
सर्वे तेषां प्रभुर्नेताऽभवज्ज्योतिर्मयो यमः ॥१२॥
प्रभुत्वं यस्य संसारे वर्तते सर्वतः सदा।
स कर्मबडिशैः सर्वान् स्ववशे कृतवान् यमः ॥१३॥
तत्प्रभुत्वं विनाश्याहं भवाब्धेः पारमञ्जसा ।
जीवं करोमि योऽऽस्माकं सारशब्दं निरीक्षते ॥१४॥
परीक्ष्य सारशब्दं यो सारं तत्त्वं निरीक्षते ।
तं यमः क्रूरकर्मापि सत्करोति न दण्डनम् ॥१५॥
अतस्तस्माद्विमुक्तोऽसो योगयुक्तो नरः सुधीः ।
मुच्यते सर्वबन्धेभ्यः सद्गुरो र्वचनात्स्वयम् ॥१६॥१॥

सुगति के द्वारों के निरुद्ध होने (रुक जाने) पर, परवश कीर के समान सब जीव हो गये। और पर (कामादि) के वशवर्ती होकर निषिद्ध मरणादिप्रद विषय-विष के चारा (भोग) लेने लगे (निषिद्ध भोग्य वस्तु को भोगने लगे। फिर जिस यमराज ने सबके ऊपर अपना अमल पसारा है (प्रभुत्व स्थापित किया है) उन जीवों के लिये वह ज्योतिः स्वरूप यमराज हाकिम (न्याय कर्ता ईश्वर) हुआ, और होता है। और मत्स्यतुल्य जीवों के कर्म की बंसी (मत्स्यग्राहिणी) लेकर सारा सब मत्स्यतुल्य संसारी को पकड़ लिया और पकड़ता है, तहाँ श्रीकबीर साहब कहते हैं कि हे मुमुक्षुओं! जिज्ञासुओं यदि तुम हमारे टकसार (सत्यमार्ग = सार शब्दों) को परख लो (विवेकपूर्वक समझ लो) तो मैं तासु के उस यमराज के अमल (दखल प्रभुत्व) को तुम्हारे लिये मिटा दूँ, और तुमको संसार सागर से पार कर दूँ और निर्भय जीवन्मुक्त कर दूँ। अतः मेरे टकसार को परखो (समझो) इत्यादि ॥ १ ॥

शब्द २

सन्तो ऐसी भूल जग माँही । जाते जीव मिथ्या में जाहीं ॥
पहिले भूले ब्रह्म अखण्डित, झाईं आपुहि मानी ।
झाईं में भूलत इच्छा कीन्हीं, इच्छा ते अभिमानी ॥
अभिमानी कर्ता हो बैठे, नाना पन्थ चलाया ।
वही भूल में सब जग भूला, भूल का मर्म न पाया ॥

साधो ! यथाद्य संसारे स्वरूपाज्ञानविस्मृती ।
विद्येते हि यथैवात्र तथा सर्वत्र सर्वदा ॥१७॥
स्वस्वरूपस्य चाज्ञाना द्विस्मृतेश्चैव जन्तवः ।
मिथ्याभूतेऽत्र संसारे जायन्ते प्राप्नुवन्ति तम् ॥१८॥
ब्रह्माखण्डनिजात्मानमादौ विस्मृत्य मोहतः ।
शोकादियुक्तमाभासमात्मनं मन्यते जनः ॥१९॥
समष्टि जीवे स्वर्गादौ जातें चेत्थं भ्रमे खलु ।
एकोऽहं बहुधा स्यामित्वेवमिच्छाऽप्यजायत ॥२० ॥
जातयां तु तथेच्छायां ब्रह्म विष्णुहराभिधाः ।
गुणाभिमानिनो देवा जाता ये लोकविश्रुताः ॥२१॥
ते प्रजापतयो भूत्वा त्वतिष्ठन् विश्वमण्डले ।
मार्गान् प्रावर्तयन्नाना लोकवेदानुसारिणः ॥२२॥
अज्ञानाऽस्मृतिभेदं ये नाविदुर्मूढजन्तवः ।
संसारिणो विमुह्यन्ति मूलमोहेन ते समे ॥२३॥

हे सन्तो ! ऐसी (वर्तमान भूल के समान) भूल (अज्ञान = विस्मृति) जग = संसार में अनादिकाल से हैं। जाते (जिससे) जीव मिथ्या संसार में बार-बार आहीं (जाते-जन्मते प्राप्त होते हैं) सबसे पहली अनादि = सृष्टि कालों की यह भूल है कि समष्टि जीव अखण्ड स्वरूप को भूला, और अपने झाँई (शोकादि वाला समष्टि बुद्धिगत आभास प्रतिबिम्ब) को माना (समझा) फिर झाँई में भूलत (भूलते ही) आत्मता के अभिमान करते ही, इच्छा कीन्ही "एकोऽहं बहुस्याम्" एक मैं बहुत होऊं, ऐसी इच्छा की गई, उस इच्छा से त्रिगुण के अभिमानी ब्रह्मा आदि त्रिदेव उत्पन्न हुए, फिर वे अभिमानी देव जगत के कर्ता (प्रजापति) होकर बैठे (स्थिर हुए) और उन लोगों ने नाना पन्थ (धर्म व्यवहार के मार्ग) को चलाया, इस प्रकार से संसार की वृत्ति-प्रवृत्ति हुई। परन्तु सब संसारी उस आदि भूल (अज्ञान) में ही भूले (फँसे) रह गये, गुरु के बिना भूलों की निवृत्ति के मर्म (रहस्य) ज्ञान को किसी ने नहीं पाया।

लख चौरासी भूल से कहिये, भूल से जग बिटमाया ।
है जो सनातन सोई भूला, अब सो भूलहि खाया ॥
भूल मिटै गुरु मिलै पारखी, पारख देहिं लखाई ।
कहहिं कबीर भूल का औषध, पारख सबका भाई ॥२॥

वेदाष्टलक्षयोनीनां सिद्धिरज्ञानतोऽभवत् ।
जगतो विस्तृतिश्चैव स्वज्ञानादेव जायते ॥२४॥
योऽनादिः स स्वमात्मानमादौ विस्मृतवान् स्वयम् ।
तदज्ञानं सदेदानीं खादतीव तमञ्जसा ॥२५॥
सद्गुरुश्चेन्मिलेज्ज्ञानी भाग्याज्जीवस्य तत्त्ववित् ।
कृपयाऽऽत्मपरीक्षां स दर्शयेद्बोधसिद्धये ॥२६॥
तदाऽज्ञानजरोगो वै नश्येदेव समूलतः ।
यतो विवेकजं ज्ञानं भवव्याध्यौषधं महत् ॥२७॥
आधयो व्याधयश्चैव सर्वे नश्यन्ति मूलतः ।
सद्गुरोर्वाक्यलब्धेन ज्ञानेनेति विदां मतम् ॥२८॥२॥

चौरासी लाख योनिरूप संसार की सिद्धि (योनियों में जीवों का भ्रमण) भूल (अज्ञान) से ही कही जाती है और भूल से ही जग (संसार) बिटमाया (विट पाया) है, विस्तृत वृक्ष स्वरूप हुआ है। तहाँ अनादि सनातन (सदा-तन) सदा एक रस वर्तमान रहनेवाला जो सबका एक सत्य स्वरूप है, सोई सबका निज सत्य स्वरूप अनादि से भूला हुआ (अज्ञात) है, अब सृष्टिकाल में भी वह मूल ही (अज्ञान ही) जीवों को खाया है (आवरण शक्ति से जीवों के सत्य स्वरूप को छिपाया है), कष्ट दिया है, मानो नष्ट ही कर दिया है। जिसको पूर्व के पुण्य-पुञ्ज से यदि पारखी (सत्यासत्य के विवेकी = अनुभवी) गुरु मिलते हैं, ठसका भूल मिटता है (नष्ट होता) है। क्योंकि वे गुरु पारख (विवेक - अनुभव) द्वारा सत्य वस्तु को लखा देते हैं कि जिससे अनादि सब भूल नष्ट हो जाता है। अतः श्रीकबीर साहब कहते हैं कि सब भूल स्वरूप रोगों की औषधि पारख (अपरोक्षात्मज्ञान) है। प्रकाशरूप ज्ञान से अन्धकाररूप अज्ञान मिटता है ॥ २ ॥

मोह जन्य संसार है, जन्म मरण दुख रूप ।
मोह विवेकाऽभाव को, कहत विवेकी भूप ॥ १ ॥

निज स्वरूप अज्ञान से, मोह विषय अनुराग ।
स्नेहासक्ति स्वरूप सो, होवत नाहिं विराग ॥ २ ॥

बिनु विवेक वैराग्य के, ज्ञान हीन जड़ प्राणि ।
भ्रमत सदा संसार में, लखत लाभ नहिं हानि ॥ ३ ॥

जहाँ भ्रमत सो विश्व यह, महा दुःख का खान ।
गर्भवास दुख जन्म दुख, जरा मरण भय मान ॥ ४ ॥

सकल भान सो स्वप्न सम, मिथ्या विविध प्रकार ।
रमैनी केहि अन्त में, सतगुरु कहा पुकार ॥ ५ ॥

जागे से स्वप्ना नहीं, रहत जात क्षण माहिं ।
यौंहि विचारज ज्ञान से, मूल सहित दुख जाहिं ॥ ६ ॥

यह रमैनी के अन्त का, निर्णय लिखा यहाँहु ।
भव मिथ्या सत आतमा, लखिय न पुनि पछिताहु ॥ ७ ॥

मिथ्या लखि संसार को, ममता मोह नशाउ ।
काम क्रोध को त्यागि के, गुरु पद चित्त बसाउ ॥ ८ ॥

गुरु पद से लखि आतमा, ताका धरिये ध्यान ।
एक अखण्ड अनादि अज, लखि तजिये अभिमान ॥ ९ ॥

करिय सत्य से नेह नित, झूठ नेह करु दूर ।
विष विषयों को त्यागि के, पाइय पद भरपूर ॥१०॥

त्याग विना नहिं ज्ञान है, ज्ञान विना नहिं मुक्ति ।
याते त्यागहि जानिये, महायोग सद्युक्ति ॥११॥

इति शब्द परिशिष्टप्रकरणं समाप्तम् ॥ १ ॥

❀ ओम् राम ❀

—: श्रीसद्गुरु :—

कबीर साहब कृत बीजक

[स्वानुभूतिसंस्कृतस्वल्पाक्षराहिन्दीव्याख्यासहित]

❀ अथ तृतीय कहरा प्रकरण ❀

देहादिबन्धरहितं[1] सहितं प्रकृत्या,
भक्तेष्टसाधनविधावनुवर्तमानम् ।
सङ्गादिहीनपरपावनदिव्यरूपं,
रामं नमामि नमतां सदभीष्टदोहम् ॥ १ ॥
खर्वाभिमानभयरोषविवर्जितो यो,
मन्युस्पृहादिविगतः करुणैकमूर्तिः ।
शीलादिशुद्धगुणभूषणभूषितो वै,
तं सद्गुरुं तनुमनोवचनै र्नमामि ॥ २ ॥

देहाभिमानादतिवर्द्धते मृषा तृष्णा धनादे र्ममतामदादि च ।
तत्कायतत्त्वस्य सुदर्शनाय हि तन्वा जुगुप्सा गुरुणा निगद्यते ॥३॥
तनुं विनिन्द्याऽत्र हि भक्तिसंयुतं योगं विरागं च विवेकमादरात् ।
ज्ञानं विशुद्धं शममुक्तवान् गुरुः संक्षेपतस्तत् सुजनै र्निशम्यताम् ॥४॥

---

१ देह कामादि बन्धै रहितम् । प्रकृत्या=शुद्धासात्त्विकमायाशक्त्या सहितम् । सङ्गादिभिर्हीनं = रहितं, परं उत्कृष्टं, पावनं = दिव्यं, रूपं = स्वरूप यस्य तम् । सन् योऽभित इष्टस्तस्य दोहं = पूरकं = प्रापकं रामं भजामि ॥१॥ खर्वा = नीचा ये अभिमानदयस्तैर्विवर्जितः । मन्युः = शोको दैन्यो, स्पृहा = इच्छा, आदिभिर्विगतः = रहितः. करुणा = एका = मुख्या मूर्ति र्यस्य । शीलादयो ये शुद्धा गुणास्त एव भूषणानि तै र्भूषितः ॥२॥ कायस्य तत्त्वमतिजुगुप्सितत्त्वं तस्य ज्ञानार्थम् ॥३॥

कहरा १, तनुधनादिजुगुप्सा प्रकरण १

ऐसन देह निरापन बौरे, मुवे छुवै नहिं कोई हो।
डँडवक डोरवा तोरि लड़वलँन, जो कोटिन धन होई हो ॥

हृद्योऽयं[1] मानवो देह आत्मीयो नहि कस्यचित् ।
आत्मत्वे किन्तु वक्तव्यं मलिनस्य स्वभावतः ॥ १ ॥
दुःखात्मनो ह्यनित्यस्य शुद्धस्त्वात्मा सुखः[3] स्वयम् ।
नित्यो विभुः सदाऽङ्गश्छिन्न देहात्मको भवेत् ॥ २ ॥
देहश्चाशुचिरत्यन्तं तस्मान्मृत्योरनन्तरम् ।
स्पृश्यते केनचिन्नैव चेत्स्याद् ब्रह्मसुतस्य यः ॥ ३ ॥
अनात्मीयत्वतश्चायं यदा केन न गच्छति ।
तदा परिकरो ह्यस्य[4] कथं केन गमिष्यति ॥ ४ ॥
कश्चास्य परिवारो वा परिच्छदमुखाश्च[5] के ।
जीवेन सह गन्तारो द्रव्यादीन्यथवा परे ॥ ५ ॥
अतश्च मृतिकालेऽस्य कटिसूत्रं जना निजाः ।
छित्त्वा न्यस्यन्ति वै भूमौ लोके कोटिपतेरपि ॥ ६ ॥

अज्ञान अविवेक मोह रागादि मूलक देहादि के अभिमान ममता आदि से ही मनुष्य साँचे से भागता है, और झूठे का बन्दा होता है। अतः विवेकादि पूर्वक अभिमानादि की निवृत्ति के लिये श्रद्धालु अविवेकियों के प्रति उपदेश है कि हे बौरे! (देहाभिमानी = अविवेकी) लोगों! यह देह ऐसा निरापन (स्वत्व रहित=अपावन है) कि मुये पीछे इसको कोई छूता भी नहीं है। और चाहे करोड़ों धन हो तो ममता रहित देह सम्बन्धी डाँड़ के डोरे को भी लोगों ने तोड़ कर लड़वंन (गिराया वीगा) और गिराते हैं। अतः एक डोरा (धागा = तन्तु) तक भी देह के साथी नहीं रहता है, तो जीव के साथ (संग में कौन तन धनादि रह सकते हैं। इनका मिथ्या ही अभिमान होता है।

ऊर्ध्व श्वासा उपजी त्रासा, हँकराइन परिवारा हो।
जो कोई आवै वेगि चलावै, पल इक रहन न पारा हो ॥

---

१ हृद्यः= प्रियः। २ अत्यन्तमलिनो देहो देही चात्यन्तनिर्मलः। उभयोरन्तरं ज्ञात्वा कस्य शौचं विधीयते ॥१॥ ३ सुखयतीति सुखः। ४ अस्य=देहस्य, परिकरः = परिवारः सम्बन्धीति यावत्। ५ परिच्छाद्यतेऽनेनेति संज्ञायां घः, छादेर्घेऽद्व्युपसर्गस्येति ह्रस्वः, परिच्छदो भृत्यादिः।

चन्दन चरचि चतुर सब लेपिन, गले गजमुक्ता हारा हो।
चहुँदिशि गीध मुये तनु लूटे, जम्बुकन ऊदर फारा हो॥

अत्यन्त दुःखरूपोऽयं मृतिकालेऽतिरिच्यते[1]।
उच्छ्वसन्तमतो दृष्ट्वा जनास्त्रस्यन्ति तत्क्षणात्॥७॥
विह्वलाः स्वजनानाशु भीताश्चैवाऽऽह्वयन्ति यान्।
ते त्वागत्यातितूर्णं तं वहिः क्षेप्तुं जनान् मुहुः॥८॥
प्रेरयन्ति पलं नैव सहन्ते तु विलम्बनम्।
भयादीनां निवृत्त्यर्थमन्यकृत्यसमाप्तये॥९॥
एतज्ज्ञानं विना लोके विषयाणां विचक्षणाः[2]।
चन्दनादि निघृष्याङ्गे पृचते कान्तिसिद्धये॥१०॥
एवं मुक्तामयीं मालां कन्धरास्वपयन्ति ते।
क्षणात्तु मृतिसम्प्राप्तौ क्रव्यदा गृध्रजम्बुकाः॥११॥
स्थित्वा चतुर्षु वै दिक्षु कृत्वा कुद्रवणं मुहुः।
सर्वतो वै विलुण्ठन्ति पिचण्डं च हणन्ति हि॥१२॥

मरणकाल में ऊर्ध्वश्वास होते ही पासवर्ती अन्य को भी त्रास (भय) उपजता (उत्पन्न होता) है। अतः वह अकेला भयभीत होकर अपने परिवार को हँकारता (पुकारता = बुलाता) है। फिर जो कोई आवै (आता है) सो वेगि (शीघ्र) उस ऊर्ध्वश्वासी को घर से चलाता (बाहर करता) है (बाहर ले चलने के लिये आज्ञा देता है, यत्न करता है)। अतः वह एक पल भी घरमें पारा (पड़ा हुआ) रहने नहीं पाता है, फिर लोक व्यवहार के अनुसार गृहसे बाहर करनेपर प्राणान्त होनेके बाद देह अमङ्गलरूप स्पर्शादिके अयोग्य हो जाती है, तो भी जिस शरीर की शोभा के लिये, जीवन काल में, चतुर लोग चन्दन को चरचि (घीस) कर, उस देह में लेपते हैं। और गले में गज मुक्ता आदि के हार को पेन्हते हैं। परन्तु मरने पर इस देह को वन में डार देने पर, उस देह को चारो तरफ से गीध लूटते (खाते) हैं। और सियार पेट फाड़ता है। पवनदाग से यह दशा देह की होती है। भूमि दाग, जल-दाग, अग्निदाग से अन्य अवस्था होती है। आत्मा सब दागों से रहित है।

---

१ अत्यन्त दुःखरूपेण भातीति भावः।

२ विचक्षणाः = पण्डिताः अनुदात्तेतश्च हलादेरिति युच प्रत्ययान्त योगे कर्तृकर्मणोरीति षष्ठी॥३॥ पिचण्डं = उदरं तुन्दम्।

कहहिं कबीर सुनहु हो सन्तो, ज्ञानहीन मति हीना हो।
एक एक दीन यही गति सबकी, क्या राव क्या दीना हो ॥१॥

भोः साधो ! शृणु तत्त्वेन सुविचार्य विनिश्चिनु ।
अज्ञानां मतिहीनानामेकैकस्मिन् दिने सदा ॥१३॥
एतादृशी दशाऽवश्यं जायते भूभृतामपि ।
दरिद्राणां च सर्वेषां ज्ञानिनां नैव कुत्रचित् ॥१४॥
मतिज्ञानविहीना वा सन्तः शृण्वन्तु सर्वशः ।
राजानो दुर्गताः के वा सर्वेषां सा दशैकदा ॥१५॥
विज्ञा देहाद्विविच्य स्वं तिष्ठन्ति सच्चिदात्मना ।
अतस्तेषां मृति नैव विद्यते त्वविवेकिनाम् ॥१६॥
म्रियन्ते ह्यविवेकेन सर्वे देहाभिमानिनः ।
न तु विज्ञा यतः साधो ! जीवन्मुक्ता भवन्ति ते ॥१७॥
"ज्ञान स्वरूपमखिलं[1] जगदेतदबुद्धयः ।
अर्थ स्वरूपं पश्यन्तो भ्राम्यन्ते तमसः प्लवे" ॥१८॥१॥

श्री कबीर साहब कहते हैं कि हे सन्तों ! (विवेकियों !) हे ज्ञानहीन ! हे मति हीनो ! सब इस उपदेश को सुनो । यह उपदेश मनुष्यमात्र के लिये है। अतः सबको समझना चाहिये कि क्या राव (राजा) और क्या दीन (दरिद्र) सबके शरीर की एक एक दिन यही गति होती है । अतः इस शरीर के अभिमान नहीं करके, इससे परोपकार स्वकल्याण ही कर्तव्य है, मनमाया के फन्दों से बचकर रामभजनादि कर्तव्य है, और ज्ञानहीन मति हीनों की एक एक दिन यह दुर्गति होती है, मतिमान् ज्ञानी की नहीं, क्योंकि वह देहाभिमान रहित जीवन्मुक्त रहता है। अतः भजनादि द्वारा जीवन्मुक्ति प्राप्तव्य है, कि जिससे प्राण की उत्क्रान्ति रूप मृति नहीं हो इत्यादि ॥१॥

कहरा २

राम नाम भजु राम नाम भजु, चेति देखु मन माहीं हो।
लख करोड़ जोरी धन गाड़ै, चलत डोलावत बाँहीं हो ॥

त्यक्त्वा देहाभिमानादीन् रामनामानमेव हि ।
सर्वात्मनं भजध्वं तं यूयं नान्यं कदाचन ॥१९॥

---

१ पद्मपु० सृष्टिखं० अ० ३।४७ ।

सावधानाः सदा भूत्वा तं च स्वे मनसि स्थितम् ।
अपरोक्षं विजानीत सर्वयत्नेन सज्जनाः ॥२०॥
"सुप्ता[1] प्रबुद्धाः पश्यन्ति दृश्यं दृश्ये रता यथा ।
तथाऽदृश्ये रता शान्ताः सन्तः पश्यन्ति सत्पदम् ॥२१॥
विना यत्न भरेणेदं न कदाचन सिद्ध्यति ।
महतोऽभ्यासवृक्षस्य फलं वित्त परं पदम् ॥२२॥
अविदित्वा तु रामं ये लक्षं कोटिं धनानि वै ।
भूमौ निखन्य रक्षन्ति मत्ता गच्छन्ति गर्वतः ॥२३॥
बाहू सन्दोलयन्तो वै गणयन्तो न कञ्चन ।
ते नश्यन्ति मुधा मोहात्प्राप्नुवन्ति न किञ्चन ॥२४॥

अज्ञान काम अभिमानादिमूलक उक्त जन्म मरणादि संसार की निवृत्ति के हेतु ज्ञान की प्राप्ति के लिये उपदेश दिया गया है कि तन धनादि के अभिमानादि को त्याग कर राम नाम वाले ही को भजो, राम नाम ही को भजो (सेवो जपो) और अपने मन से चेतकर (सावधान होकर) सर्वसाक्षी, अन्तर्यामी, सच्चिदानन्द स्वरूप राम को मन में देखो (समझो) और जन्मादि के हेतु अभिमानादि को त्यागो। क्योंकि उस राम के भजन ज्ञान के बिना मानव देह को पाकर भी यहाँ जो प्राणी लाख करोड़ादि धन को जोड़ (संचय=संग्रह) करके भूमि में गाड़ता है, और अभिमान से बाँहु डोलाते हुए अकड़कर चलता है, उसको कुछ भी सत्य वस्तु समझ नहीं पड़ती है। अतः ज्ञान के लिये भजन करो।

बाबा दादा औ परपाजा, जिनके ई भुँइ भाँड़े हो।
अँधरे भये हियहुँ की फूटी, तिन काहे सब छाड़े हो ॥
ई संसार असार को धन्धा, अन्तकाल कोइ नाहीं हो ॥
उपजत विनशत बार न लागे, जस बादर की छाँहीं हो ॥

बाहू सन्दोलयन्तस्ते गच्छन्तो न विदन्ति किम् ।
पितॄन् पितामहाँस्तद्वद् गताँश्च प्रपितामहान् ॥२५॥
अन्धाः किमभवँश्चैते हृच्चक्षुर्व्यनशत् किमु ।
किं न पश्यन्ति यद् येषां भूमिभाण्डादिसंचयैः ॥२६॥

---

1 योगवासिष्ठ प्र. ६।२।१६२।४५-४६॥

वयं वै धनिनो जातास्ते त्यक्त्वा किं समव्रजन् ।
किं न सर्वं समादाय तेऽगमन् सर्वपूर्वजाः ॥२७॥
यथा तै र्न गतः कोऽपि संचयो न तथा मया ।
कश्चिद् यास्यति सार्द्धं तज्ज्ञातव्यं मोक्षकाङ्क्षिभिः ॥२८॥
संसारोऽयमतथ्याया व्यवहारस्त्वसन् सदा ।
अत्रत्य व्यवहारोऽपि तुच्छस्तुच्छफलप्रदः ॥२९॥
मृत्युकाले न कोऽप्यत्र कस्यापि सम्भवत्यथ ।
परान्ते ज्ञानकाले च किञ्चित् सन्मात्र शिष्यते ॥३०॥
वर्तमानेऽपि कालेऽस्यसमुत्पत्तिविनाशयोः ।
वासरा नैव गच्छन्ति स्थिरताप्रत्ययो भ्रमात् ॥३१॥
मेघो यथा च तच्छाया क्षणाद् भवति नश्यति ।
तथैव विश्ववर्गोऽयं क्षणाद् भवति लीयते ॥३२॥

भजन विचारादि के बिना अभिमानी लोग यह नहीं समझते हैं कि बाबा (पिता) दादा (पितामह) और परपाजा (परपितामह) हो गये हैं, जिन के ये भूमि और भाँडे (वर्तन कलसादि) अभी तक वर्तमान हैं। ये सब यदि वस्तुतः उनके हैं, तो ये लोग सब भूमि भाँडे को काहे (क्यों) छोड़ गये, ऐसा समझें भी कैसे, वे अभिमानादि से अन्धे हुए हैं। और हृदय की भी विवेकादि रूप दृष्टि फूटी (नष्ट हुई) है और विवेकादि के अभाव से ही इस संसार में असार विषयादि को प्राप्त करने ही के लिये लोग धन्धा (व्यापार) करते हैं। तथा यह संसार असार (मिथ्या माया) का ही धन्धा (व्यापार = कार्य) स्वरूप है। अतः प्रारब्धवशस्वप्न तुल्य भासने पर भी अन्त काल में कोई किसी का नहीं होता है, महाप्रलय में कुछ नहीं रहता है। सृष्टि काल में भी तनुधनादि के उपजते विनशते में वार (दिन देर) नहीं लगता है, बादल की छाया के समान सब उत्पन्न नष्ट होते रहते हैं। संसार के कोई पदार्थ किसी के लिये निश्चित स्थित नहीं है।

नाता गोता कुल कुटुम्ब सब, इनकर कौन बड़ाई हो ।
कहहिं कबीर एक राम भजे बिनु, बूड़ल सब चतुराई हो ॥२॥

सम्बन्धैः कुलगोत्राद्यैः कुटुम्बैः क्रियते किमु ।
किम्वा श्रेष्ठत्वमेतैः स्याच्छ्रीरामभजनं विना ॥३४॥
एकस्याऽद्वयरामस्य भजनेन विना सदा ।
व्यनश्यत् सर्वचातुर्यं न्यमज्जन् कुशला भवे ॥३४॥

रामनाम्नि परे तत्त्वे दृष्टे जन्मादि वर्जिते ।
शुद्धे सर्वाणि मुच्यन्ते बन्धनानि हि सर्वथा ॥३५॥
रामनाम्नि स्थिते चित्ते वैराग्यरसरञ्जिते ।
शमादौ साधिते सर्वास्त्रुट्यन्ति भववागुराः ॥३६॥
सर्वेषां यः शुभकरसुहृत् सर्वोऽऽत्मात्मा सुविदितपरः ।
शान्तो दान्तो जितरिपुगणो नैवासौ कापि वसति गुणे ॥३७।

इति हनुमदीये कहराकल्पे[1] तनुधनादिजुगुप्सावर्णनं नाम प्रथमाशिक्षा ॥१

इस विनश्वर संसार में नाता (सम्बन्ध) गोता (गोत्र) कुल (घर खानदान) और कुटुम्ब (सम्बन्धी) इन सबसे या इन सबकी क्या बड़ाई (श्रेष्ठता) हो सकती है, इन सबसे कोई सच्ची बड़ाई नहीं होती हैं। किन्तु एक रामके भजन ज्ञानादि से ही सच्ची बड़ाई होती है कृपणता मिटती है, मुक्ति होती है। अतः श्री कबीर साहब कहते हैं कि अनेक अनात्मा को त्यागकर, एक सर्वात्मा राम को भजे बिना सब चतुराई भी बूड़ी (नष्ट हुई) क्योंकि जैसे संसार असार है, तैसे संसार की चतुराई भी असार है (स्वफल सहित विनश्वर है)। अतः आगे कहा गया है कि "सकल सयानप ऊनी हो" ॥१॥

अथ कामीजुगुप्सा प्रकरण २

कहरा ३

ननदी गे तैं विषम सोहागिनि, तैं निगले संसारा गे।
आवत देखि एकसंग सूती, तैं औ खसम हमारा गे ॥

भो मूढा वञ्चका देवदासाः कर्मठकामुकाः ।
स्त्रीवत् परवशाः प्रीतिसंयुता विषमेषु च ॥१॥
युष्माभि र्विनिगीर्णा वै सर्वे संसारिणो जनाः ।
मिथ्याभिनन्दनासक्ति स्वार्थ साधनतादितः ॥२॥
यूयं भजथ रामं नो नैवोपदिशथापि च ।
तत्त्वं किन्त्वन्यथा ब्रूध्वे तेन नश्यन्ति मानवाः ॥३॥
अस्माभिर्दृश्यते चैतद् यदत्राऽऽगमनेऽहनि ।
अस्माकं स्वामिना सार्द्धमात्मरामेण सङ्गताः ॥४॥

---

१ कल्पः शास्त्रे विधौ न्याये, इति कोशः ।

सुप्ताश्चैवागताः सर्वे भवन्तो मोहनिद्रया ।
तां त्यजन्ति न चाद्यापि तेनाऽनर्थपरंपरा ॥५॥
शुद्धात्मा चैव जीवश्च द्वावेवास्तां तदा हृदि ।
जीवेन कल्पितो भूयो ह्यनन्तः स्वपतिव्रजः ॥६॥

"अर्थ विहूनी सँमरी नारी। र. ६" यहाँ अज्ञ कर्मठको नारी कहा गया है। और "साईं के संग सासुर आई। शब्द ३५" यहाँ ईश्वर के साथ जीव की बुद्धि के संसार में आगमन का वर्णन हुआ है। तथा लोक में प्रायः 'गे' शब्द से स्त्री का सम्बोधन किया जाता है। और नाता गोत्र कुल कुटुम्बादि के अभिमानियों के हृदयों में वासना आदि रूप माया स्वामिनी रहती है, और अन्तर्यामी ईश्वर उस माया का पति रहता है, और गुरुत्वादि के अभिमानी अज्ञ जीव (उसकी बुद्धि) मानो माया की ननद होती है, सो माया के वश में होकर विषम (क्रूर = कठिन विषय त्रिगुणदेवादि) की सोहागिनी होती है, अतः परवशस्त्री तुल्य उस जीव के प्रति श्री कबीर साहब कहते हैं कि गे (हे) ननदी ! (नाता आदि के प्रेमवती = अनात्म माया आदि के अभिनन्दन करनेवाली कर्मठ बञ्चकों) तैं (तुम सब) समशुद्ध परमात्मा को छोड़कर, विषम (क्रूर विषयादि) के सोहागिनी (प्रेमवती) हुई हो। और विषम सोहागिनी होकर आप तो दुःखी होती ही हो, अन्यसंसारी को भी तुम डाकिनी के समान निगलती हो, निगल (खा) चुकी हो। और संसार में आवते (जन्मते) काल के विषय के प्रेम से रहित ही तैं (तुम) अज्ञान मोह निन्द से सूती (सोई हुई) ज्ञानियों से देखी गई थी। और हमारा एक (स्वामी) सर्वात्मा राम ही उस समय सङ्ग में सहायक रक्षक था। अतः तुम दोही देह वृक्ष के हृदय कोटर में उस समय वर्तमान थे "द्वासुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। मुण्डक. ३।१" जन्म के बाद तुम क्यों उसको छोड़कर अन्य से प्रेम करती हो। अब भी अनात्म प्रेम को त्यागो।

मोर बाप कहँ दुइ मेहररुआ, मैं अरु मोर जेठानी गे।
जब हम अइली रसिक के संग में, तबहि बात जग जानी गे॥
माय मोर मुवलि पिता के सङ्गे, सारा रचि मुवल सँघाता गे।
आपुहि मुई और लै मुवलि, लोग कुटुम्ब सङ्ग साथा गे॥

द्वावेव वल्लभौ मेऽत्र वर्तेते स्वामिनः पितुः ।
एकोऽहं यश्चमत्तोऽपि श्रेष्ठः कोऽपि विचारवान् ॥७॥

विमुक्तो भवपाशेभ्यो जीवन्मुक्तो विदेहकः।
स्ववशोऽसङ्गधीः शान्तः परार्थघटकः सुधीः ॥८॥
यदा चाहं रसज्ञस्य सुसङ्गेऽत्रसमागतः।
तदा ज्ञातं जगत् कृत्स्नं वाचारम्भणमात्रकम् ॥९॥
किञ्च यज्जगतोऽप्यस्य तत्त्वं तद्विदितं मया।
यस्मिन्ज्ञाते न किञ्चिद्धि ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥१०॥
माया माता मृता चाद्य पितुरासाद्य मेऽन्तिकम्।
तटस्थ स्वामिभिः सार्द्ध मविद्यापि मृताऽनृता ॥११॥
ज्ञानाग्नेश्च चितां कृत्वा सङ्घात्माऽतिवल्लभा।
वनितापिमृतासाऽत्र न पुन र्भवनाय वै ॥१२॥
सङ्घातं ज्ञानयुक्तं वा चितां कृत्वाऽतिचञ्चला।
स्वयं तत्र मृताऽन्यांश्च गृहीत्वा लोकसङ्गकान् ॥१३॥
इन्द्रियादि कुटुंबांश्च तृष्णाऽऽशादिगणांस्तथा।
सा सर्वांश्च गृहीत्वैव व्यनश्यद् योगदुर्गमा ॥१४॥

सबका खसम (रक्षक) उस मोर बाप (जगत् पिता) के दो मेहरारु (वशवर्ती=अर्द्धांगिनी स्त्री) तुल्य हैं, तहाँ एक मैं (वर्तमान भक्त ज्ञानीका मन) है, और दूसरा मोर जेठानी (प्रथम के ज्ञानी भक्त की बुद्धि) है। अर्थात् ज्ञानी सबके मन बुद्धि आत्मनिष्ठ रहते हैं, विषमके प्रेमी नहीं होते है। क्योंकि जब हम (जिज्ञासुजन) रसिक (ब्रह्मानन्द के अनुभवी) सद्गुरु सन्त के सङ्ग में अइली (आये) तब ही संसार को बात (बाणी) मात्र मिथ्या जान गये (समझ लिया) "वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्" बाणी से आरम्भवाला नामधेय (नाम मात्र) विकार (कार्य) हैं, ऐसा समझा। अतः मेरे मन बुद्धि विषयादि में प्रेम नहीं करते हैं और आत्म ज्ञानपूर्वक संसार को बात मात्र समझते ही मेरी ममता माया रूप जन्मदात्री माता पिता के सङ्ग में मर गई (ईश्वर में लीन हो गई) और भूतेन्द्रियादि संघात (समूह) रूप स्थूल सूक्ष्म देहादि, ज्ञान की सारा (चिता) को रचकर जर मर गये, और अविद्या रूप माया ज्ञानाग्नि से आप मरी, तथा अन्य अपने प्रपञ्चों को लेकर मरी। अतः ज्ञानी के लोग (लोक) कुटुम्ब सङ्ग (सम्बन्ध) साथ (सहवास) आदि सब नष्ठ हो गये। इन सबके सहित माया मर गई।

जब लगि श्वांस रहे घट भीतर, तब लगि कुशल परी हैं गे।
कहहिं कबिर जब श्वांस निसरि गौ, मन्दर अनल जरी हैं गे ॥३॥

इत्थं नष्टेऽपि सर्वस्मिन्निदग्धपटवत् किल ।
चित्रवद् वर्तते देहो ज्ञानिनामपि सम्प्रति ॥१५॥
प्रारब्धवशतः किञ्च कार्यशक्त्यवशेषतः ।
यावत्सन्तिष्ठते प्राणस्तावद् देहेऽत्रमङ्गलम् ॥१६॥
प्राणस्य विगमेऽस्यापि पुनर्दाहो भविष्यति ।
सवासनं समूलं च सद्गुरुस्तद्धि भाषते ॥१७॥

ज्ञानेनभवेदिह मुक्तता, योगेन न कर्मभिराश्रमैः ।
सर्वात्मसुचात्मनि तुल्यता, चेद्विघ्नगणः कच संसृतिः ॥१८॥
इन्द्रियाणि सन्नियम्य विश्वं यः सदा जगन्मृषैव पश्यन् ।
तिष्ठति स्वरामनामधाम्नि सैव नेह चंक्रमीति चक्रे ॥१९॥
यस्य मनस्तुष्टं स्वबोधतो दोषगुणौ सम्यक् च निर्गतौ ।
यश्च शुभे संस्कारतो वसेन्नैव स दोषैर्लिप्यते स्वतः ॥२०॥३॥

उक्त रीति से माया के मरने पर भी प्रारब्ध कर्मवश, जब तक ज्ञानी के घट (शरीर) के भीतर स्वाँस (प्राण) वर्तमान रहता है, तब तक देह को कुशल परी (प्राप्त) रहता है (देह वर्तमान रहती है) फिर देह नहीं होती है, न रहती है । अतः श्रीकबीर साहब कहते हैं कि जब ज्ञानी का स्वाँस निसर (निर्गत = समाप्त) हो गया, तब देव रहित देहरूप मन्दर जरेगा और जलता है, ज्ञानी जरा मरण जरणादि से रहित मुक्त हो जाता है । "अनारब्ध कार्ये एव पूर्वे तदवधेः । ब्रह्म सू. अ. ४।१।१५" ज्ञान के पूर्व काल के ही कार्यारम्भ से रहित ही (प्रारब्धातिरिक्त ही) पुण्य पाप ज्ञान से नष्ट होते हैं । ज्ञानोत्तर के पुण्यपाप का सम्बन्ध नहीं होता है । परन्तु प्रारब्ध नाश का तो वह भोग के अन्त में शरीर का पात (नाश) अवधि है । अतः भोग से ही ज्ञानी के प्रारब्ध का भी नाश होता है "प्रारब्धं बलवतरं खलु विदां भोगेन तस्य क्षयः" विवेक चूडामणि ॥३॥

कहरा ४

राम नाम बिनु राम नाम बिनु, मिथ्या जन्म गमायहु हो ।
सीमर सेइ शुगा ज्यों जहड़े, ऊन परे पछताई हो ।
जैसे मदुआ गाँठि अर्थ दे, घरहुँक अकिल गमाई हो ॥

रामनाम विना साधो ! रामप्राप्तिं विनैव हि ।
मिथ्याभूते जगत्यस्मिन् सर्वे स्वायूंष्यनाशयन् ॥२१॥

निषेव्य शाल्मलिं कीरो यथा लोकेऽतिवञ्च्यते ।
तूलपाते शरीरे च पश्चात्तापेन पीड्यते ॥२२॥
संसारशाल्मलिं तद्वन्निषेव्य मानवा अपि ।
वञ्चिता रसलोभेन पीड्यन्तेऽसारवस्तुभिः ॥२३॥
मद्यपो वा यथा वित्तं ग्रन्थिस्थं च सुरक्षितम् ।
तद्विक्रेत्रे स्वयं दत्त्वा पीत्वा तन्माद्यति क्षणात् ॥२४॥
बुध्यते न प्रमत्तः सन् गृहदेहादिकान् स्वकान् ।
गोचरादौ तथा क्षिप्त्वा मनोबुद्धी इमे जनाः ॥२५॥
भोगासक्तिप्रमादाद्यैः माद्यन्ति मद्यपा इव ।
बुध्यन्ते न सदा राममानन्दं निकटे स्थितम् ॥२६॥

संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं है कि जिसके बिना मानव जन्म देह निष्फल जाय। किन्तु एक रामनाम के भजन ज्ञान के बिना मिथ्या संसार व्यवहार में कितने बार व्यर्थ मानव जन्म गमाये हो। और जैसे फलस्वाद के लोभ से सीमर को सेव कर शुग्गा जहड़ता (धोखे में पड़ता) है। फिर ऊन (रुआ) के देह पर पड़ने से पश्चात्ताप करता है। और जैसे मदुआ (मद्यप) गाँठ का अर्थ (धन) को देकर मद्य पीता है, और घर शरीर आदि की अकिल (होश = बुद्धि = ज्ञान) गमाता है, तैसे तुम मिथ्या संसार को सेव कर पुत्र वित्तादि के नाश से पछताते हो, और स्त्री आदि के मादक भावों से विवेकादि रहित हो जाते हो। लोभादिवश अपने कर्तव्य धर्मादि को भूले रहते हो तथा राम को नहीं भजते हो।

स्वादे उदर भरे नहि कबहूँ, ओसे प्यास न जाई हो।
द्रव्य हीन कैसन पुरुषारथ, मनहिं माँह पछताई हो॥

यथा स्वादेन मद्यस्य ह्युदरं न प्रपूर्यते ।
विषयस्वादतस्तद्वत्तृप्ति र्जातु न जायते ॥२७॥
तुषारेण तृषा यद्वन्न कदाचन नश्यति ।
सुतुच्छै र्गोचरैस्तद्वत्तृष्णाऽऽशा शान्तिमेति न ॥२८॥
द्रव्यहीनस्य दीनस्य पुरुषार्थः कथं भवेत् ।
दानभोगादिरूपो वा बहुव्यापारलक्षणः ॥२९॥
इच्छया केवलं सोऽपि पश्चात्तापेन तप्यते ।
मनोरथभराक्रान्तः शान्तिं मुक्तिं न विन्दते ॥३०॥

रामप्राप्तिविहीनस्य पुरुषार्थोत्तमः कुतः।
पश्चात्तापेन सततं केवलं तप्यते ह्यसौ ॥३१॥

मद्य या किसी विषय के स्वाद के प्राप्त होने पर भी उससे उदर (पेट) कभी नहीं भरता है (तृप्ति नहीं होती है)। क्योंकि "न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति। हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते। मनु० अ०२।६४" कामियों का काम जातु (कभी) उपभोग से शान्त नहीं होता है। किन्तु घृतादि रूप हविष् से कृष्णवर्त्मा (अग्नि) के समान उपभोग से काम अधिक बढ़ता है। और जैसे ओस (तुषार के जल कण) से पिपासा नहीं जाती है, तैसे विषयों से तृष्णा नहीं मिटती है। परन्तु मद्यादि के सेवनरूप व्यसन से द्रव्य हीन होने पर फिर उस द्रव्य हीन का अन्य पुरुषार्थ कैसा और किस प्रकार से हो सकता है। अतः पुरुषार्थ के नहीं सिद्ध होने पर वह पीछे मन में पश्चात्ताप करता है। इसी प्रकार जो विषय वासनादिवश सर्वात्मा राम स्वरूप द्रव्य की प्राप्ति से रहित रहते हैं, उनको मोक्ष सुख शान्ति रूप सत्य पुरुषार्थ कैसा और किस प्रकार से प्राप्त हो सकता है। अतः पुरुषार्थ के अभाव से मरने पर वे लोग मन में पछताते हैं।

गाँठी रतन मरम नहिं जानै, पारख दीन्हा छोरी हो।
कहहिं कबिर यह अवसर बीते, रतन न मिले बहोरी हो ॥४॥

सद्रत्नं विद्यते बुद्धिग्रन्थिस्थं चातिनिर्मलम्।
यस्य विज्ञानमात्रेण पुनः शोको न बाधते ॥३२॥
अहो तस्य रहस्यं न जना जानन्ति मोहतः।
तद्विवेकविचारादीँस्त्यक्त्वा तिष्ठन्ति दूरतः ॥३३॥
अमूल्योऽवसरोयाति यदि तन्नात्र लभ्यते।
अन्यत्र नैव तल्लब्धुं शक्यमस्ति कथञ्चन ॥३४॥
दुर्लभो मानुषो देहो देहिनां शुभभक्तिदः।
तत्रातिदुर्लभं मन्ये स्वात्मतत्त्वावलोकनम् ॥३५॥
"चतुर्विधशरीराणि[1] धृत्वा भुक्त्वा सहस्रशः।
सुकृतान् मानवो भुत्वा ज्ञानी चेन्मोक्षमाप्नुयात् ॥३६॥
चतुरशीतिलक्षेषु शरीरेषु शरीरिणाम्।
न मानुषं विनाऽन्यत्र तत्त्वज्ञानं तु लभ्यते' ॥३७॥४॥

१ गरुड़पु० अ० ४९।१२-१३।

जैसे व्यसनी मद्यपादि भावी पुरुषार्थ के हेतु गाँठी के रत्न की रक्षा के मर्म को नहीं जानता है, तैसे कामी व्यसनी मनुष्य हृदय में वर्तमान सुख स्वरूप से काम के विषय राम रत्न के मर्म को रहस्य स्वरूप को नहीं जानता है। क्योंकि उसके पारख (परीक्षा विचारादि) को यह छोड़ दिया है। और विचारादि के बिना उसका ज्ञान होता नहीं है। और सो विचारादि भी मानव देह के बिना अन्यत्र दुर्लभ (असम्भव) है। अतः श्रीकबीर साहब कहते हैं कि इस मानव तनु के सुअवसर के बीतने पर बहोरी (फिर) अन्य अवसर में राम रत्न नहीं मिलता है। अतः इस अवसर में विषयादि की परीक्षा को त्यागकर राम रत्न की परीक्षा कर्तव्य है, और राम ही द्रष्टव्य है। क्योंकि "भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥ मुण्डक० २।२।८।" ॥ ४ ॥

कहरा ५

मति सुनु माणिक मति सुनु माणिक, हृदया बन्ध निवारहु हो ॥
अटपट कुम्हरा करे कुम्हरैया, चमरा गाम न बाँचे हो।
निति उठि कोरिया बेठ भरतु हैं, छिपिया आँगन नाचे हो ॥

हे जीव ! रामरत्नात्म ! शृणु त्वं मतिमादरात्।
भावबन्धविनाशाय समर्थामात्मगोचराम् ॥३८॥
श्रुत्वा ज्ञात्वा च तां धीर ! कामादिबन्धनानि वै।
हृत्स्थानि वारयस्वाऽऽशु भवबाधाऽभिभूतये ॥३९॥
बन्धनै र्बन्धितस्त्वं हि कुम्भकारसमः सदा।
शरीरघट सिद्ध्यर्थं कुयत्नं कुरुषे बहु ॥४०॥
कोटिधापि कृतेयत्ने चर्मनद्धं कलेवरम्।
तत्सङ्गोऽत्राभिमानी वा कालपाशान्न मुच्यते ॥४१॥
तथापि त्वं समुत्थाय तन्तुवायसमः स्वयम्।
शरीरपटवानार्थं वर्तसे वेतनं विना ॥४२॥
भरणस्य ह्यलाभेन कार्यैः कञ्चुकितः सदा।
संसारचत्वरे नित्यं नर्तक इव नृत्यसि ॥४३॥

उक्त राम रत्न की प्राप्ति के लिये उपदेश है कि हे माणिक ! (मनरूप पर्वत के साक्षी निर्मल रत्न स्वरूप जीव !) तुम मति (भावि हित की कथा विद्या) को सुनो और अन्य कथा को मति (नहीं) सुनो। और आत्मज्ञानादि

द्वारा हृदय के काम, लोभ, मोहादि बन्धनों (ग्रन्थियों) का निवारण करो। क्योंकि ऐसा किये बिना तुम अटपट कुम्हरैया करते हो (कामादि के वशवर्ती होकर निन्दित मलिन शरीररूप घट को बार-बार मन कर्मादि द्वारा रचते हो) फिर उसको स्थिर रखना चाहते हो। परन्तु यह चमरा गाम (चर्मादिमय देह समूह) बाँचता (बचता) नहीं है, तुम व्यर्थ उसके लिये यत्न करते हो। और श्रवणादि के अभाव से सदा ऊठकर (मनुष्यता पूर्वक उद्यम परायण होकर) कोरिया (कोली जुलाहे) के समान वेठ भरते हो (वेगार करते हो) अर्थात् वर्तमान काल में फल रहित सकाम कर्म स्वर्गादि के लिये करते हो। अतः मति श्रवणादि के बिना जीवन्मुक्ति नहीं पाते हो। अतएव छिपिया (छिपा) के समान नाना रङ्ग से रञ्जित अनेक देह रूप पट को पहिरकर तुम संसाराङ्गण में लोकादि में नाचते हो (आते जाते हो)। अतः स्थिति मुक्ति के लिये श्रवणादि करो।

निति उठि नौवा नाव चढतु है, बेरहि बेरा बारे हो।
राउर के कछु खबर न जानहु, कैसे झगर निवारे हो॥
एक गाम बसे पाँच तरुणियाँ, ता महँ जेठ जेठानी हो।
आपन आपन झगर पसारिन, पिय सो प्रीति नशानी हो॥

महद्भ्यश्चान्धकूपेभ्य उत्थायापि सदैव च।
सुदृढां मानवीं मूर्तिं तरिं लब्ध्वा भवार्णवे॥४४॥
नाविकस्येव चारुह्य मतिमान्द्यात्कुयोगतः।
सर्वास्त्यजसि ता मोहात् पारं यासि द्रुतं नहि॥४५॥
सर्वश्रेष्ठस्य देवस्य किञ्चित्तत्त्वं न वेत्सि चेत्।
इन्द्रियादिगणस्यात्र कलहो वार्यते कथम्॥४६॥
एकस्मिन्नगरे देहे तरुण्यः पञ्च सन्ति वै।
इन्द्रियाणि हि तेष्वङ्ग! ज्येष्ठं तद्विद्यते मनः॥४७॥
ज्येष्ठा तेषां कुबुद्धिश्च ताः सर्वाः सङ्गताः सदा।
स्वार्थाय कलहायन्ते नष्टा प्रीतिस्ततः प्रभौ॥४८॥

श्रवणादि के बिना निति नित्य = सदा अनादि काल से, मोह अज्ञानादि जीन्ह युक्त अन्य योनियों से उठकर, नौवा (नौमान्) केवट के समान मानव देहरूप नौका वाला होकर, मानव देह रूप नौका पर चढ़ते हो (मनुष्यता का अभिमान करते हो) परन्तु सब बेरे (नौकाओं) को संसार

से पार हुए बिना बारते (त्यागते) जाते हो। और "अयं हृदि स्थितः साक्षी सर्वेषामविशेषतः। तेनाऽयं हृदयं प्रोक्तः शिवः संसार मोचकः।" पञ्च ब्रह्मोपनिषद्। जिससे शिव स्वरूप संसार का नाशक सर्वसाक्षी यह आत्मा राम सबके हृदय में समान रूप से स्थिर है। अतः यह (हृदि अयः) हृदयः कहा गया है, उस राउर (उर के राजा) की खबर (ज्ञान उपदेश) को यदि तुम कुछ नहीं जानते हो (नहीं प्राप्त किये हो) तो हृदयादि के झगड़ों (कलहो) का निवारण कैसे कर सकते हो। एक शरीररूप ग्राम में पाँच ज्ञानेन्द्रियरूप तरूणी (युवती) स्त्री वसती हैं। और उनका नेता एक जेठ (बड़ा) मन वसता है तथा एक जेठानी (दुर्बुद्धि) बसती है। राउर की खबर को नहीं जानने से ये सब अपने अपने विषयों के लिये झगड़ा को पसारी (फैलाई) रहती हैं कि जिससे प्रियतमात्मा से प्रीति नष्ट हुई रहती है। विषय लोकादि की इच्छा से आत्मराम की भक्ति नहीं हो पाती है।

भैंसिन माहँ रहे नित बकुला, तकुला ताकि न लीन्हा हो।
गायन माहँ बसेहु नहिं कबहुँ, कैसे के पद चीन्हा हो॥
पन्थिक पन्थ चीन्ह नहिं लीन्हा, मूढहि मूढ गमारा हो।
घाट छोरि कस अवघट रेंगहु, कैसे लगवहु पारा हो॥

कलहस्यातिविस्तारात् प्रभुभक्तेरभावतः।
वकवृत्तिर्भवाञ्छश्वद् वर्तते महिषीसमे॥४९॥
तामसे महिषे तिष्ठन्निन्द्रियाणां गणे तथा।
अवश्यमेव बोद्धव्यं तत्त्वं नैवावबुद्धवान्॥५०॥
गायकेषु गुणज्ञेषु विद्वत्सु सात्त्विकेषु च।
नो तिष्ठसि कदाचिच्चेत् कथं ज्ञास्यसि सत्पदम्॥५१॥
संसारपथिकश्चेत्त्वं महासुपथगामिनः।
पृष्ट्वा वेत्सि न सन्मार्गं मूढान्मूढोऽसि पामरः॥५२॥
मूढैः कुपुरुषैः सार्द्धं सङ्गमेन च सत्पथम्।
सुघट्टमपि संत्यज्य कुघट्टे धावसे कथम्॥५३॥
कुघट्टे धावमानश्च भवाब्धेः पारमव्ययम्।
कथं त्वं लप्स्यसे सौख्यं सम्यगेतद्विचारय॥५४॥

आत्म प्रीति भक्ति के बिना तुम वकुला (बक वृत्ति) होकर, भैंसियों के समान तामसी प्राणी के सङ्ग में सदा रहते (बसते) हो। जैसे कि भैंसियों में

वकुला नित (सदा) बसता है। और सात्त्विक ज्ञानी सज्जनों में नहीं बसते हो। अतः तकुला (उस आत्म कुल) हृदय आत्मदेवादि द्रष्टव्य के तरफ तुमने ताक (देख) नहीं लिया है। और गायन (गायक) उपदेशक सन्त गुरु विद्वानादि के शरण सङ्ग में कभी नहीं बसते हो, तो सत्योपदेश रूप सर्वाधार अचल स्थान रूप पद को कैसे चीन्होगे। और यदि धर्म मार्ग मोक्ष मार्ग के पथिकों से पूछ कर पन्थों को चिन्ह (जान) नहीं लिये हो, तो मूढों से मिलने वाले तुम मूढों से मूढ (अत्यन्त मोहयुक्त) और गमार (अज्ञ) हो। कहो तो कि शमदमादि स्वधर्म भक्ति आदि रूप मोक्ष के घाटो को (मार्गों को) छोड़ कर हिंसा असत्यभाषणादि रूप अवघट (कुमार्ग) में कैसे रेंगते (चलते) हो। समझो तो कि इस कुघाट द्वारा संसार के पार में कैसे लगोगे। (पार में कैसे पहुचोगे)। अतः पार पहुँचने के लिये अब भी कुघाट को त्याग कर सुघाट से चलो।

जत इत के घन हेरिया ललची, कोद इत के मन दौरा हो।
दुइ चकरी लै दरन पसारिन, तब पैहो थिति ठौरा हो॥

उत्तरणं विना चास्य संसाराब्धेरयं जनः।
आनन्दघनसद्वस्तु वस्तुष्वन्वेषते मुहुः ॥५५॥
यतस्ततो विमृग्याऽयं लब्ध्वा किञ्चित्सुखादिकम्।
तृप्तिं न विन्दते क्वापि लोभग्रस्त व्रजत्यतः ॥५६॥
सुखादेश्चात्र को दाता मनसेत्थं विचिन्त्यते।
कदन्नकोद्रवैस्तुल्यान् मनोध्यायति गोचरान् ॥५७॥
कांश्चिच्च विषयान् प्राप्य कोद्रवान् वै जनोऽधमः।
वितुषीकरणायेव तान् सौख्यप्रचुरान् मुहुः ॥५८॥
कर्तुमिच्छन् हि कर्मादि तनुते भोगमेव वा।
लोकयोरुभयोस्तच्च प्रतनोति महत्तमम् ॥५९॥
अनेनैव स्थितेः स्थानं लप्स्येऽहमिति मन्यते।
असुखे सुखबुद्ध्यैवमस्थिरे स्थिरबुद्धितः ॥६०॥

कुघाट को नहीं त्यागने वालों ने जत इत के (जहाँ तहाँ) धन वाले धनियों के धन सम्पत्ति को घनहेरिया (बहुत खोजा और देखा) फिर देखने पर ललची (लालच लोभयुक्त होकर) उनका मन, कोद इत (कोदो तुल्य मादक तुच्छ विषय दाता देवधनी आदि) के तरफ दौड़ा, फिर उनकी सेवा

आदि द्वारा कोदो तुल्य विषयों को प्राप्त करके, और पुण्य पाप रूप लोक-परलोक रूप दो चक्री को लेकर (प्राप्त करके) उन विषयों को विचारना वढाना भोगना आदि रूप दरन (क्रिया) का पसारा (फैलाया) कि तब (इस दरन से ही) मैं स्थित के स्थान को पाऊँगा, ऐसा निश्चय किया।

प्रेम वाण एक सत गुरु दीन्हा, गाढा तीर कमाना हो।
दास कबीर कियो यह कहरा, महरा माँह समाना हो ॥५॥

सद्गुरुस्तु विलोक्यैतत्प्रभौ प्रेम विना महत्।
अनर्थं तस्य नाशाय प्रेमवाणं प्रदत्तवान् ॥६१॥
एकमेवात्मविषयं सर्वद्वन्द्वविवर्जितम्।
सदा सौख्यावहं सर्ववन्धच्छेदविधायकम् ॥६२॥
एकस्य तस्य वाणस्य दृढता धैर्यलक्षणम्।
महद्धनुर्हतस्तेन सर्वोऽनर्थो विनश्यति ॥६३॥
देवदासादि जीवास्तु कुघट्टे धावनादिकम्।
कुकष्टं कृतवन्तो वै महत्स्वप्यविशच्चतत् ॥६४॥
व्यवसायात्मिका बुद्धिरेका भवति निश्चला।
अन्या ह्यनन्तशाखास्याच्चलाऽनन्तस्वरूपिणी ॥६५॥५॥

इति हनुमदीये कहरा कल्पेऽभिजुगुप्सादिवर्णनं नाम द्वितीयाशिक्षा ॥२॥

उस अवस्था को देखकर, शिष्या की स्थिति के स्थान की प्राप्ति के लिये प्रियतमात्मा विषयक सत्य प्रेम का उपदेश रूप एक ही वाण सद्गुरु ने शिष्यों को दिया है और प्रणवादि मन्त्ररूप गाढ़ (दृढ) कमान (धनुष) उस तीर को चलाने के लिये दिया है। और श्री कबीर साहब कहते हैं कि मैंने दासों (भक्तों) के लिये यह कहरा किया है (संसार में दुःख रूपता का उपदेश दिया है) जो उपदेश महरा, महान् जिज्ञासुओं में समाना (समाया) है। और समाने वाला है। पामर विषयी में नहीं या सद्गुरु ने तो प्रेम वाणादि सुख साधन दिया है, किन्तु धनी देवादि के दासों ने यह विषय भोगादि प्रसिद्ध कहरा (कष्ट का साधन) स्वयं किया है, जो कि महराओं (नीचों में) प्रथम से ही सदा समाये रहते हैं इत्यादि ॥५॥

अथ धारणोपदेश प्रकरण ३

कहरा ६

सहज ध्यान रहु सहज ध्यान रहु, गुरु के बचन समाई हो।
मेलि शिस्त चराचित राखहु, रहहु दृष्टि लौ लाई हो।
जस दुख देखि रहहु यह अवसर, अस सुख होइहिं पाई हो॥

महानर्थनिवृत्यर्थं सहजानन्द लब्धये।
राज योगस्य सिद्ध्यर्थं सहजानामकस्य च ॥१॥
सद्गुरो र्वचने स्थित्वा सदा ध्यानं कुरु प्रभोः।
ध्याने नित्यं स्थितः किञ्चित्वन्यत् तत्त्वं न चिन्त्यताम् ॥२॥
चञ्चलं यन्महच्चित्तं शस्ते शिष्टौ गुरोरथ।
ध्रियतां मेलयित्वाऽत्र वृत्तिर्लक्ष्ये निधीयताम् ॥३॥
दुःखं दृष्ट्वा त्विदानीं त्वं यथा स्थास्यसि निश्चलः।
अभ्यासादौ तथैवाङ्ग ! लप्स्यसे निश्चलं सुखम् ॥४॥

फिर उपदेश है कि सहजावस्थारूप सहज समाधि के लिये गुरु के प्रेम-भक्ति आदि के उपदेश रूप और मन्त्र रूप वचनों में समाकर (श्रद्धा द्वारा स्थिर होकर (ध्यान स्मरण में लगे रहो)। और चरा (चञ्चल) चित्त (मन) को शिस्त (शस्त कल्याण स्वरूप) में गुरु की शिष्टि (शिक्षा) में मेली कर (लगा कर) राखो, और ज्ञान रूप दृष्टि में लौ (ध्यान प्रेम) लगाये रहो। (ज्ञान समाधि के लिये प्रेम युक्त सावधान रहो)। यद्यपि इस योगाभ्यास में प्रथम दुःख दीख पड़ता है, तथापि प्रथम अभ्यासादि जन्य दुःखों को देख (जान) कर भी जैसे इस अभ्यासकाल में स्थिर रहोगे, वैसे ही उत्तम स्थिर सुख पाई हो (प्राप्त करोगे) साधनानुष्ठान

---

१ राजयोगः समाधिश्च उन्मनी च मनोन्मनी अमरत्वं लयं तत्त्वं शून्याऽशून्यं परं पदम् ॥१॥ अमनस्कं तथाऽद्वैतं निरालम्बं निरञ्जनम्। जीवन्मुक्तिश्च सहजा तुर्या चेत्येकवाचकाः ॥ २ ॥ हठयोग प्रदीपिका ३०४।३-४॥
२ दुर्लभो विषय त्यागो दुर्लभं तत्त्वदर्शनम्। दुर्लभा सहजावस्था सद्गुरोः करुणां विना ॥ १ ॥ महोप० ४।७७॥ ३ अत्मानं नियमैस्तैस्तैः कर्षयित्वा-प्रयत्नतः। प्राप्यतेनिपुणैः र्धर्मों न सुखाल्लभ्यते सुखम् ॥ १ ॥ बाल्मीकीयरा० युद्धका० स० ९।३१॥

जन्य दुख को सहना रूप तितिक्षा के बिना उत्तम सुखशान्ति नहीं मिलती है। अतः सात्त्विक सुख प्रथम विषतुल्य प्रतीत होता है, और परिणाम (फल-काल) में अमृततुल्य होता है। यह गीतागत उपदेश है।

जो खुटकार वेगि नहिं लागै, हृदय निवारहु कोहू हो।
मुक्ति के डोरि गाढि जनि खैंचहु, तब बाझहिं बड़ रोहू हो॥

सन्देहजनकं चैतद् व्यर्थचेष्टाप्रवर्तकम्।
मनश्चेन्न लगेच्छीघ्रं सत्पदे गुरुभाषिते॥ ५॥
तथापि त्वं प्रयत्नेन स्वान्तान्मन्युं निवारय।
येन केन प्रकारेण स्वं चित्तं संप्रसादय॥ ६॥
लगेद्वाऽपकृतिः क्वापि वेगेन कियतापि चेत्।
तथापि न त्वया कोपः[1] कार्यः कस्मै जनाय वै॥ ७॥
मुक्तिमत्स्यप्रदा शुद्धा शमादि गुणसंयुता।
चित्तवृत्ति वटी क्वापि शीघ्रमाकृष्यतां नहि॥ ८॥
कोपं सर्वान् प्रति त्यक्त्वा धैर्यं मालम्ब्य यत्नतः।
चित्तेन्द्रियनिरोधेन सहजा वृत्तिराप्यते॥ ९॥
इत्थमेव कृते साधो! महत्सौख्यं परं पदम्।
लप्स्यतेऽत्र त्वया शीघ्रं जन्मापि न भविष्यति॥१०॥

जो (यदि) खुटकार (संशयादि रूप खटका करने वाला चञ्चल) मन, ध्यानादि में वेगि (शीघ्र) नहीं लगे, तो भी हृदय से क्रोध का निवारण किये रहो। और किसी अन्य के खुटकार (उपद्रव) से ध्यानादि में मन नहीं लगे, तो उसपर भी हृदय से क्रोध नहीं करो। और मुक्ति की डोरी (ध्यानादि रत चित्त वृत्ति) को गाढ (जोर) से नहीं खींचो (इसमें शीघ्रता उद्वेग) नहीं करो, तभी बड़ी रोहु मछली तुल्य जन्मादि का हेतु रूप मन बझेगा (स्ववश होगा) मुक्ति मिलेगी, इत्यादि।

मनुअहि कहो रहो मन मारे, खिझुआ खीझि न बोलै हो।
मानू मीत मितैयो न छोड़े, कमऊँ गाँठि न खोलै हो॥

---

१ क्रुध्यन्तं प्रति न क्रुध्येदाक्रुष्टः कुशलं वदेत्। सप्त द्वारावकीर्णां च न वाचमनृतं वदेत्। मनु. ६।४८ शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया। आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्॥ भ. गी. ६।२५॥

क्रोधवेगे समुत्पन्ने स्वं मनः परिबोधय।
क्रुद्धः कोपान्न कञ्चिच्च किञ्चिद् वद कदाचन ॥११॥
कामक्रोधोत्थवेगेन लोभेन ह्रियते न यः।
स योगी स च मोक्षस्य भाजनं भक्ति भाजनम् ॥१२॥
कामक्रोधौ व्युदस्यातो मित्राणि विद्धि सज्जनान्।
मित्रता त्यज्यतां नैव तद्ग्रन्थि न विमुच्यताम् ॥१३॥
अथवा सर्वभूतेषु मित्रतां भावय स्विकाम्।
न कदापि च तद्ग्रन्थि मित्रतां वा परित्यज ॥१४॥
सुखितादि जनेष्वेवं मैत्र्यादेर्भावनां कुरु।
प्रसाद्यतां तया चित्तं येन बुद्धिः स्थिरा भवेत् ॥१५॥

कामादि के वेग होने पर अपने मनुअहिं (मन को ही) आप कहो (समुझावो) और मन के वेग को मारे (दबाये) रहो। कामादि के वेगों को मन के वेग समझकर उसे शान्त करो। और खिझुआ (क्रोधी) मनुष्य से भी तुम कभी खीझ (क्रुद्ध) होकर नहीं बोलो। और सुखी सन्त सज्जनादि को अपना मित्र मानो, उनसे ईर्ष्या, द्वेषादि नहीं करो, और कभी मित्रता की गाँठी को न खोलो, मित्र के साथ प्रेम बन्धन को मित्रता को नहीं त्यागो तथा मित्र के आगे काम की गठरी को नहीं खोलो, अपनी तुच्छ इच्छा को प्रगट नहीं करो। सकाम भक्ति प्रेम नहीं करो, किन्तु निष्काम प्रेमभक्ति करो। क्योंकि "शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्। कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः। भ. गी. ५।२३ मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःख पुण्यापुण्यविषयणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्। योगदर्शन, १।३३॥ यहाँ मानव देह में शरीर त्याग से प्रथम मरण पर्यन्त जो प्राणी काम क्रोधजन्य वेग को रोकने में समर्थ होता है, वही योगयुक्त और सुखी होता है। और सुखी से मित्रता, दुःखी पर दया, पुण्य में अनुमोदन, पाप में उपेक्षा करके चित्त को रागद्वेषादि से रहित शुद्ध करे, यह कर्तव्य है।

भोगहु भोग भुक्ति जनि भूलहु, योग युक्ति तन साधहु हो।
जा मत से करहु मतवाली, ता मत के चित बाँधहु हो॥

भोगोऽत्रभुज्यतां युक्त्या भुक्तौ नैव निमज्ज्यताम्।
योगयुक्त्या शरीरं च संशुद्धं स्ववशं कुरु ॥१६॥

आहारलघुता[1] ब्रह्मचर्यशौचवितृष्णताः।
युक्तक्रियाऽऽत्मचिन्ताद्याः सन्ति वै योगयुक्तयः ॥१७॥
यया मत्या च कुरुषे गर्वमुन्मादमेव वा।
तां बधान स्वचैतन्ये धीरधारणया सदा ॥१८॥
या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वपहारिषु।
सा चेदात्मनि देवेस्यान्मुक्तौ कास्ति कदर्थना ॥१९॥
यया मत्या जनो बद्धो निरयेषु निपात्यते।
तां नियुज्य प्रभौ रामे बन्धान्मुक्तः सुखी भवेत् ॥२०॥

स्वस्थ शुद्ध मानव देह चित्तादि के बिना योग भक्ति ज्ञानादि भी मोक्षादि के साधन नहीं हो सकते हैं, अतः शरीरादि के स्वास्थ्यादि के लिये उचित हित मित विहित भोग को भोगो (भोजनादि करो) परन्तु भुक्ति (भोग) में भूलो नहीं, आसक्त नहीं होवो। तथा भोग काल में ध्येय को नहीं भूलो किन्तु गङ्गामग्नार्द्धकार्यवाला जैसे ज्येष्ठ में शीतोष्ण दोनो का अनुभव करता है, तैसे भोग काल में भी भोग और ध्येय सच्चिदानन्द राम दोनों का अनुभव करो, योग की युक्ति (अल्पाहारादि) से तनु (देह) को साधो (वश करो) निद्रा प्रमादादि की वशता से रहित तन मन को करो। और जो मत (ज्ञान बुद्धि) से मतवाली (अभिमान) करते हो, उस बुद्धि को अभिमान के विषय तनु धनादि से हटाकर चिदात्मा में बाँधो (ब्रह्मात्मा का चिन्तन ध्यान करो)।

नहिं तो ठाकुर है अति दारुण, करि हैं चाल कुचाली हो।
मारि बाँधि डाँरि सब ली हैं, छूटि हिं सब मतवाली हो ॥

इत्थं चेत् क्रियते नैव यमराजः प्रभुर्मनः।
गुणाधिकारवन्तश्च सर्वेऽतिदारुणास्तव ॥२१॥
कुक्रियां कुस्थितिं तेऽत्र करिष्यन्ति कृते तव।
सुदण्डं ते विधास्यन्ति निबध्य ताडनादितः ॥२२॥
तदा ते मत्तता गर्वः सर्व एव नशिष्यति।
तत्रालाभेन च त्रातु विह्वलो रोरुदिष्यसे ॥२३॥
स्वस्य[2] कर्मानुसारेण सुखं दुःखं च विन्दते।
भयं यद्वाऽभयं सर्वं मृतौ नान्यत्तु किञ्चन ॥२४॥

---

१ युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु। युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥१॥ भ.गी.अ. ६।१७॥ २ पापी महाभयं पश्येत्कृताज्ञान्तकमुखैर्युतम्।

कामी वै वध्यते मृत्यौ निष्कामोऽतिविमुच्यते ।
योगयुक्तो विशुद्धात्मा तस्माद्योगं समाश्रयेत् ॥२५॥

नहिं तो (पूर्वोक्त रीति से अभ्यास भजनादि नहीं करने पर) ठाकुर (ईश्वररूप यमराज) और तेरा मन तेरे लिये अत्यन्तदारुण (क्रुर शत्रु) है । सो तेरी चाल को कुचाल करेगा (त्रिगुणाधिकारी के वशवर्ती होकर भोगरत तेरा मन पाप करेगा) और भक्तियोगादि के विना अन्तर्यामी ईश्वर उस मन को पाप से नहीं रोकेगा, सोई मानो तेरी कुचाल करेगा और वही प्रारब्धान्त में मृत्यु द्वारा मार कर, बाँधकर, डाँरि (दण्ड दे) कर, सब अपराधों का बदला लेगा, तब तेरी सब मतवाली छूटेगी । भाव है कि योग भक्ति आदि से कुप्रवृत्ति कुभोगादि के हेतु भी साध्य कर्म नष्ट हो जाते हैं कि जिससे ईश्वरीय अनुकूलता रहती है । अन्यथा हीन प्रारब्ध से कुप्रवृत्ति होती है, तहाँ ईश्वरादि सहायक होते हैं, रोकते नहीं हैं । अतः योगभक्ति अवश्य कर्तव्य है ।

जबहीं सावट आनि पहुँचा, पीठि साट भल टूटी हो ।
ठाढे लोग कुटुम सब देखैं, कहे न काहु कि छूटी हो ॥
एक पै नष्ट पाँव परि विनवै, विनति किये नहिं मानै हो ।
अनचिन्ह रहहु कियेहु न चिन्हारे, सो कैसे पहिचानै हो ॥

समायाति कशाघाती यदैव यमकिंकरः ।
तदा पापात्मनः पृष्ठे कशां स त्रोटयत्यलम् ॥२७॥
तत्र स्थित्वा कुटुम्बश्च लोकः पश्यति तां दशाम् ।
कस्यापि[१] वचनान्नैव तदा मोक्षो हि जायते ॥२८॥
एकोऽसौ म्रियमाणश्च प्रणिपातपुरस्सरम् ।
तदा स्तौति न तत्किञ्चिन्मन्यते यमकिंकरः ॥२९॥
पूर्वं परिचयस्तस्य मरणान्तं कृतो न यैः ।
तानिदानीं कथं सोपि जानीयाद्यमकिंकरः ॥३०॥
यमराजोऽपि तान्नैवावबुध्येत नराधमान् ।
यैस्तेन संस्तवः पूर्वं कृतो न मरणावधि ॥३१॥

सौम्यरूपं तु पुण्यात्मा यमराजं मृतोकिल ॥१॥ मनुष्या एव गच्छन्ति यमलोके न चापरे । धार्मिकः पुज्यते तत्र पापः पाशगलोभवेत् ॥२॥

१ आत्मैव यदि नात्मानमहिधतेभ्यो निवारयेत । कोऽन्योहितकरस्तस्मा-दात्मानं तारयिष्यति ॥२॥ गरुड पु. अ. ४६।२२॥

योगादि रहित को दण्ड देने के लिये जब सावट (साट बेंत मारनेवाला) यम किंकर (दूत) आ पहुँचता है। तब अपराधी के पीठ पर भली भाँति से साट (बेंत) टूटती है, और खड़े खड़े लोग कुटुम्बादि सब देखते हैं। परन्तु किसी के कहने से भोगे विना छुट्टी नहीं मिलती है। और वह एक पै (सिर्फ अकेला) नष्ट (मृत्युग्रस्त) जीव उस समय मानो पांव पर के विनय स्तुति आदि करता है। परन्तु वह दण्डदाता विनति करने पर भी नही मानता है। ऐसा उचित भी है। क्योंकि जिससे तुम सदा अनचिन्ह (ज्ञान परिचय रहित) छिपे रहते हो, तो वह तुमको उस समय कैसे पहिचाने (कैसे चिन्हे) और कैसे खातिर करे, इत्यादि। अतः कहा गया है कि "दुख में सुमिरन सब करे, सुख में करे न कोय। जो सुख में सुमिरन करे, दुख काहे को होय ॥१॥ सुख में सुमिरन न किया, दुख में कीया याद। कहैं कविर ता दास की, कौन सुनै फरियाद ॥२॥ विषय वासना उरझि कर, जन्म गवाया वाद। अब पछितावा क्या करे, निज करनी कर याद ॥३॥ अज्ञकी साखी"

ले न बुलाय बात नहिं पूछै, केवट गर्व तन बोलै हो।
जाके गाँठि समर कछु नाहीं, सो निथाह भय डोलै हो ॥

स नैवाऽऽह्वयते शान्तं वार्ता काञ्चिन्न पृच्छति।
दुःखाब्धेस्तारकोऽप्येष गर्वदेहेन भाषते ॥६२॥
जीवकर्ममयो देवस्तदा भाति निरञ्जनः।
गर्वो पश्यति गर्वित्वं शान्तस्तत्र हि शान्तताम् ॥३३॥
यस्य स्वान्ते न सत्कर्म ज्ञानध्यानादि शम्बलम्।
अनन्ते स भयस्थाने कम्पते तत्र विह्वलः ॥३४॥

वह ठाकुर पहचान योगयुक्ति भक्ति मुक्ति आदि रहित जीवों को प्रेम से बुला नहीं लेता है, न कोई बात ही पूछता है। किन्तु वह केवट (भक्त योगी आदि को भवाब्धि से पार करने वाला नाविक) पापियों को बाँध कर मँगवाता है, और अद्भुत गर्वमय तनु (देह) का मानो धारण करके बोलता है, उस समय जिन की गाँठि (हृदय) में श्रद्धा भक्ति सत्कर्मादि रूप कुछ भी सामर (शम्बल) नहीं रहता है, सो निथाह (अथाह अगम अपार) भय के स्थानों में प्राप्त होकर विह्वल होकर डोलते (काँपते भ्रमते हैं)।

जिन समयुक्ति अगुअन कै राखिन, धरिन मच्छ भरि डेहरि हो।
जेकरा हाथ पाँव कछु नाहीं, धरे लागु तेहि सो हरि हो ॥

यस्तु स्वान्तं निजात्मानं नियोज्यात्मन्यधारयत् ।
शम्बलं ज्ञानयोगादि सम्पाद्य धृतवांश्च वा ॥३५॥
स मनोवाञ्छितं पूर्णमानन्दघनमाप्तवान् ।
सुमत्स्यमव्ययं स्वर्गं यद्वा कर्मानुसारतः ॥३६॥
यस्य नो पाणिपादादि चक्षुरादि न किञ्चन ।
देहो लगति यस्मिन्नो लभ्यो मत्स्यो हरि हि सः ॥३७॥
स एव मायया सर्वग्रहणायाऽलगत् स्वयम् ।
यो हि संसार बन्धस्य स्थिते र्मोक्षस्य कारकः ॥३८॥

जिन लोगों ने अगुअन (प्रथम पूर्वकाल) से ही समयुक्ति (सम्यक् युक्ति उपाय संग्रह) करके ज्ञान ध्यानादि शम्बल को हृदय में रखा, उन लोगों ने उस मरणकाल में भी भरि डेहरि (मन भर = मनोवाञ्छित पूर्ण) मच्छ (आनन्द मोक्ष) को धरिन (धारण किया = पाया) क्योंकि "अपाणि पादः" इत्यादि श्रुति के अनुसार जिस हरि (ईश्वर) के हाथ, पाँव आदि कुछ नहीं हैं, न जिस हरि में कभी धड़ (देह) लगते हैं, वह अशरीरी हरि ही मोक्ष सुख स्वरूप है, ज्ञानादि शम्बल वाले को वह मुक्त निजात्म स्वरूप से प्राप्त हो जाता है, उसके लिये यमादि का अभाव हो जाता है, और अज्ञों को वही मानो धरने (पकड़ने) लगता है । क्योंकि वह "संसारमोक्षस्थिति-बन्धहेतुः । श्वे० ६।१६" संसार मोक्ष स्थिति और बन्ध का भी कारण है ।

पेलना अछत पेलि चलु बौरे, तीर तीर का डोलहु हो ।
उथले रहहु परहु जनि गहिरे, मति हाथहु के खोवहु हो ॥

विद्यमाने शरीरे स्वे नावि स्वस्येन्द्रियादिके ।
अरित्रक्षेपणीसत्त्वे संवाह्य भवमुत्तर ॥३९॥
क्षिप्रं तत्तरणे यत्नं कुरुष्व तत्परः शुभम् ।
भवसिन्धोस्तटे किं वै भ्रान्तो भ्रमसि सर्वदा ॥४०॥
यावन्नास्य परं पारं त्वया संप्राप्यते बुध ! ।
तावदप्युन्नते मार्गे पदे तिष्ठ विवेकतः ॥४१॥
गम्भीरे भवचक्रे हि रागद्वेषभयाकुले ।
पत मा मोहतो रत्नं हस्तस्थं त्यज्यतां नहि ॥४२॥
अमूल्योऽवसरो याति मानुष्यं चाति दुर्लभम् ।
सुलभ्यं रामरत्नं तदत्रैवाऽत्यञ्जसा भवेत् ॥४३॥

नाव चलाने के साधन, मछली को पकड़ने के साधन रूप पेलना के समान, मोक्ष के साधन, मन को वश करने के साधन रूप स्वस्थ मानव देहादि रूप पेलना (नौका आदि) के अछते (रहते) ही, हे बौरे ! इसे पेल (खेव = चला) कर (इसके द्वारा योगादि करके) संसार सागर के पार चलो (अगाध संसार से पार होने का साधन करो) इसके तीर तीर (तट तट) में क्या (क्यों) डोलते (विचरते हो) तीर में जैसे वच्चा केवट मछलियों के लिये डोलता (घूमता) है, तैसे विषयों के लिये क्या क्यों घूमते हो। यदि संसार से पार जाने का सामर्थ्य नहीं हो, तो भी उथले (उच्च स्थल) रूप सत्संग सत्कर्मादि में रहो, कुसङ्ग कुकर्मादि रूप गहिर (गम्भीर अथाह) सागर में नहीं पड़ो और हाथ में प्राप्त अमूल्य (बहुमूल्य) रत्न तुल्य इस मनुष्यता आदि को व्यर्थ नहीं खोवो (नष्ट नहीं करो) इसे सार्थक करो।

तर के घाम उपर के भूँभुरि, छाँह कतहुँ नहिं पायहु हो।
ऐसे जानि पसीजहु सीजहु, कस न छतरिया छावहु हो॥

रत्नालाभे हि तापास्त्वां दैहिकाद्या निरन्तरम्।
अन्तः सन्तापयिष्यन्ति बहिश्च तप्तबालुकाः॥४४॥
आधयः शोक मोहाद्या धक्ष्यन्त्येव निरन्तरम्।
तप्तश्चोभयतस्त्वं हि क शान्तिं लप्स्यसे सुखम्॥४५॥
सच्छायां नैव कुत्रापि ज्ञानयोगादिकं विना।
लब्धवान्नैव लब्धाऽसि ततस्तापैर्निपीड्यसे॥४६॥
एवं ज्ञात्वापि किं जीव ! घर्मयुक्तोऽतितप्यसे।
छदिः संछाद्यते किन्न ज्ञानयोगादिलक्षणा॥४७॥
ज्ञानयोगाद्यभावे हि गते युगसहस्रके।
न क्वचिच्छान्ति लाभः स्यान्मुक्ति नैंव च नैव च॥४८॥

मनुष्यता के व्यर्थ नष्ट करने से मानसदुःख शोकादि रूप, गर्भवासादि रूप, तरे (भीतर) के घाम (ताप) पाते हो। और उनसे अन्य उपर के भूँभूरी (तप्त बालू तुल्य ताप) पाते हो, और पाये हो और उनसे पीड़ित होने पर अपने सत्कर्म ज्ञानयोगादि के बिना छाँह (शान्ति सुख का स्थान) न कहीं पाये हो, न पावोगे। ऐसे ही जानो और प्रायः ऐसा जानकर भी पसीजते सीजते (घर्मार्त होते पकते सुनते) हो तो भी छाया शान्तिप्रद ज्ञान-ध्यानादि रूप छतरी (घर) क्यों नहीं छाते हो, शान्ति के लिये अवश्य छतरी छावो।

जो कछु खेल कियो सो कियो, बहुरि खेल कस होई हो।
सासु ननद घर देत उलाटन, रहहु लाज मुख गोई हो ॥

पटलासाधने त्वत्र क्रीडायुक्तं कुतूहलम् ।
कृतं यत्तत्कृतं विद्धि पुन नेत्थं भविष्यति ॥४९॥
तिर्यग्योनिषु संप्राप्तौ नरकेष्वथ संकटे ।
कथं कौतुहलं सिद्ध्येत्तदद्यैव विचिन्त्यताम् ॥५०॥
माया ह्येषा जगच्छ्वश्रूः स्वामिनां जननी मता ।
असतां सा कुबुद्धिश्च ननान्दा लोकघातिनी ॥५१॥
ते उभे वैपरीत्येन प्रदर्श्यार्थान्जनान् प्रति ।
अनन्तदेहगेहेषु क्षिपतो ज्ञानमन्तरा ॥५२॥
उपालम्भमुभे दत्तो जनेभ्यश्च सदा ततः ।
लज्जितैरेव युष्माभि मुखमाच्छाद्य जीव्यते ॥५३॥

ज्ञान ध्यानादि रूप छत्री नहीं छाने पर इस मानव देह में जो कुछ खेल क्रीडा तुमने किया सो किया, बहुरि (फिर) अन्य देहादि में कैसा खेल होगा सो समझो। वहाँ तो मिथ्या पतियों को सिद्ध करने वाली माया रूप सासु, अविद्या तृष्णा आशा आदि रूप ननद दुबु'द्धि जीवरूप दुलहिन को सभी घरों देहों में उलाटन (उलाहना = उपालम्भ = धिक्कार देती) हैं कि जिससे लाज के मारे मानो मुख गो कर, छिपाकर, मूक होकर रहते हो तथा असु (प्राण) सहित अन्य योनि के घर (देह) रूप सासु ही मानो ननद है, सो उलाटन देती है, अतः मूक हो कर रहना होता है।

गुरु भौ ढील गोण भौ लचपच, कहा न मानहु मोरा हो।
ताजी तुरकी कबहुं न साधेहु, चढेहु काठ के घोरा हो ॥

देहनौगुणवृक्षोऽयं मेरुदण्डोऽदृढोऽभवत् ।
नाडाद्यास्तद्गुणाश्चैव शिथिलत्वमुपाव्रजन् ॥५४॥
अहो तथापि सद्वाक्यं गुरूणां मन्वते नहि ।
मन्वते त्वसतां वाक्यं पीडयन्ते तेन जन्तवः ॥५५॥
तौरुष्कीं तरुणी याऽश्वा तद्वद्धि प्रापिकां लघु ।
सत्तत्त्वस्वाऽऽत्मबुद्धिं नो सहजां साधयन्ति चेत् ॥५६॥
कदाचिद् वै भवन्तोऽत्र काष्ठस्याश्वसमं कथम् ।
काम्यकर्मादिकं तुच्छमाश्रयन्ति जडं तु वा ॥५७॥

जडासक्त्या न मोक्षः स्यात्काम्येन कर्मणा नहि ।
न सौख्यं नापि विज्ञानं न ध्यानं धारणा शुभा ॥५८॥

संसार से पार करने में समर्थ मानव देह रूप नौका के गुरु (गुण -रक्खा) रूप मेरु दण्ड ढील हो गया और गोण (नाडीं रूप गुण) तथा देह रूप वोरा लच पच (ढीले कमजोर) हो गये तो भी तुम मोरा (सद्गुरु का) कहा नहीं मानते हो। अतः शीघ्र इष्ट स्थान में पहुँचाने वाली ताजी (नवीन) तुर्की (तुर्क स्थान की घोड़ी) तुल्य शीघ्र शान्ति मोक्षप्रद ज्ञान-ध्यान भक्ति योगादि को कभी सिद्ध प्राप्त नहीं करते हो। न किये हो। किन्तु काष्ठ के घोड़े के तुल्य सकाम कर्मादि में लगे रहते हो, देह में आत्मता का अभिमान करते हो, विषयासक्त होते हो, सोई मानो काठ के घोड़े पर चढ़े हो।

ताल झाँझ भल बाजत आवे, कहरा सब कोइ नाचै हो ।
जेहि रंग दुलहा व्याहन आवै, तेहि रंग दुलहिनि राचै हो ॥

स्थितानां तत्र युष्माकं कल्पितैः स्वामिभिः सह ।
विवाहाय विवाद्यन्ते तालाश्च झर्झरादिकाः ॥५९॥
आयान्ति वादयन्तश्च तान् सर्वेऽप्यविवेकिनः ।
जडाः सर्वेऽत्रनृत्यन्ति मनस्तेषां विकूर्दते ॥६०॥
सात्त्विकै राजसै र्यद्वा तामसै र्यैस्तु रञ्जितः ।
रङ्गै र्वरः समायान्ति रज्यध्वे यूयमत्र तैः ॥६१॥
रञ्जितास्तैर्भवन्तश्च प्राप्नुवन्ति हि तान् सदा ।
नैव सत्यं परात्मानं संसाराब्धेः परं स्थितम् ॥६२॥
वर्जितं सर्वरङ्गैश्च विशुद्धं पावनं परम् ।
असङ्गं निर्गुणं नित्यं विभुमानन्दमव्ययम् ॥६३॥

काठ के घोड़े पर चढ़े हुए देहाभिमानियों की बुद्धि का किसी देवादि के साथ विवाह (मन्त्रोपदेशादि) के लिये, ताल झाँझादि वाजे भले प्रकार से बजते आते है। और कहरा (कहार तुल्य) लोग सब नाचते कूदते हैं, जैसे मानो कहार के विवाह में उत्सव होता हो और जिस सात्त्विक राजस तामस रङ्गवाला दुलहा (वर) व्याहने आता है (कल्पित होता है) उसी रंग में जीव की बुद्धिरूप दुलहिन को राची (साजी बनाई) जाती है। हाथ पाँव आदि रहित सच्चिदानन्द सर्वात्मा हरि के ज्ञान ध्यानादि की प्राप्ति नहीं कराई जाती है।

नौका अछत खेवहुं नहिं जानहु, कैसे लगवहु तीरा हो।
कहहिं कबीर राम रस माँते, जोलहा दास कबीरा हो ॥६॥

स्थितायामेव नाव्यत्र जानन्ति वाहनं न चेत्।
भवाब्धेः सत्परं पारं प्राप्नुवन्तु कथं जनाः ॥६३॥
विजानन्तु कथं चैते वाहनं साधनं तथा।
तटस्थस्यैव रामस्य रसे मत्ता हि सन्ति चेत् ॥६४॥
त्रैगुण्यै हिं रसै मंत्ता विन्दन्ते न परं पदम्।
इत्येवं सद्गुरुः प्राह दासान् जीवान् सुदेहिनः ॥६५॥
ब्रह्मण्येवेदं सर्वं विश्वं मायासिद्धं सत्यार्थैः शून्यम्।
अत्रासक्ता ये मोहैर्मत्तास्तेषां यातायातं स्यान्नित्यम् ॥६६॥
तेषां कृते च भूतात्मा भूतै र्नानाविधास्तनूः !
सृजत्यविरतं सर्वान् भ्रामयन् मायया मुहुः ॥६७॥

मन्त्र मात्र सुनकर अपने को कृतार्थ मानने वाले ज्ञान ध्यानादि से रहित जीव, मानव देह रूप नौका के अछते (रहते) भी यदि इसको खेवने को नहीं जानता है, सहज ध्यान भक्ति आदि नहीं करता है, तो संसार समुद्र के किनारे में कैसे लग (पहुँच) सकता है। श्री कबीर साहब कहते हैं कि दास कबीरा (देव भक्त) रूप जोलहा (मनुष्य) जिस देव के मन्त्र को सुनता है, उसको सर्वस्वामी राम मानकर, उसी राम के रस (प्रेम) में माँतता है। अतः सर्वात्मा राम के ध्यान भक्ति आदि को नहीं जानता है, न करता है कि जिसके दर्शन से सबके दर्शनादि हो जाते हैं। क्योंकि "आत्म सत्तैव द्वैतस्य सत्ता नान्या यतस्ततः। आत्मन्येव जगत् सर्वं दृष्टे दृष्टं श्रुते श्रुतम्। वेदान्त सिद्धान्तम्." आत्मा की ही सत्ता द्वैत की सत्ता है। अतः आत्मदर्शन से ही द्वैत का दर्शन, और आत्म- श्रवणादि से द्वैत के श्रवणादि होते हैं ॥६॥

कहरा ७

ओढन मेरो राम नाम मैं, रामहि के बनिजारा हो।
राम नाम के करौं वणिजिया, हरि मेरे हटवाई हो ॥
सहस नाम का करौं पसारा, दिन दिन होत सवाई हो ॥

उपासिनो हि नामैव प्राह रामेति नाम मे।
उत्तरीयपटैस्तुल्यं शैत्यतापादिवारकम् ॥

अतस्तद्व्यवहर्ताऽहं किं मे ध्यानादितो भवेत् ॥६९॥
राममान्नो हि वाणिज्यं सदैवात्र करोम्यहम् ।
येनास्मदीय वाणिज्ये सदा वृद्धि र्हि पादशः ॥७०॥
ज्ञानिनस्तु वदन्त्यत्र रामनामास्ति सत्पटः ।
तेन वास्यं जगत् सर्वं तस्य व्यापारिणो वयम् ॥७१॥
उपदेशादिकं तस्य वाणिज्यं क्रियते यतः ।
स हरि भृतिरस्माभिः प्राप्यते ह्यक्षयाऽद्वयः ॥७२॥
अनन्तनामकस्यास्य विस्तारो वर्ण्यते यतः ।
सदा लोके सुखादीनां वृद्धि र्भवति पादशः ॥७३॥

उक्त राम रस से माँते हुए भक्त जन कहते हैं कि राम नाम मेरा ओढ़ना है (शीतातपादि द्वन्द्वों के निवारण पूर्वक सब आपत्तियों से रक्षक है) । अतः मैं रामनाम के ही बनिजारा (व्यापारी) हूँ । और रामनाम के बनीजी (व्यापार) करता हूँ । और इस व्यापार में हरि ही मेरे हटवाई (हटवा का कार्यकर्ता) हैं । मैं हरि के सहस्र नामों का पसारा (विस्तार = व्यापार) करता हूँ । जिसमें प्रतिदिन सवाई वृद्धि ही होती है । कभी हानि नहीं होती।

जाकु देव मैं नव पँच सेरवा, ताको होत अढ़ाई हो ।
कान तराजु सेर तिन पौवा, डहकिन ढोल बजाई हो ॥

यस्मै ददामि भक्त्या वै नवधासुनिधेस्तथा ।
पञ्चाक्षरस्य मन्त्रस्य विधिनैवोपदेशनम् ॥७४॥
अर्द्धाधिक द्विमात्रस्य प्राप्तिस्तस्य भवेद् ध्रुवा ।
ओंकारस्येत्युपासीनो भाषते नाममात्रकम् ॥७५॥
सेटकानि हि यस्यैव नव पञ्चेन्द्रियाणि च ।
प्राणा देवमयानि स्युः सोंकारार्थं समाप्नुयात् ॥७६॥
इत्येवं भाषते ज्ञश्च जानन् सर्वमयं हरिम् ।
तुलयाऽसमया लोकरूपया सेटकेन च ।
पादोनेनैव सर्वेऽमी पीड्यन्ते त्रिगुणेन हि ॥७७॥
वञ्चका वञ्चयन्त्येतां स्तया तेन च वै जनान् ।
प्रत्यक्षं वादयित्वेव ढक्कान् कोऽपि न बुध्यते ॥७८॥

मैं जिसको नवसेरवा (नवधाभक्ति का उपदेश) देव (देता) हूँ, और पञ्च सेरवा (पञ्चाक्षरमन्त्र) देता हूँ । चाहे वह कैसा भी हो, उसको ढाई मात्रा वाले ओंकारार्थ ईश्वर की प्राप्ति होती है । विवेकी समझते हैं

कि जिसके चार अन्तःकरण, पाँच प्राणरूप, नव सेरवा और पाँच ज्ञानेन्द्रिय रूप पञ्च सेरवा देवमय (सर्वात्म देव में बुद्धिपूर्वक स्थिर) रहते हैं, उसको ओंकारार्थ की प्राप्ति होती है। श्रीकबीर साहब कहते हैं कि समता रहित लोक-परलोक के उपदेशरूप कान तराजु और त्रिगुणरूप तीन पौवा सेर के उपदेश से आशावादी कामियोंने संसारी को ढोल बजाकर डहकिन (डहका ठगा) है।

सेर पसेरी पूरा करि लेहु, पासङ्ग कतहुँ न जाई हो।
कहहिं कबीर सुनहु हो सन्तो, जोर चले जहड़ाई हो ॥७॥

प्रस्थद्रोणादिकं सर्वं ज्ञानध्यानादिलक्षणम्।
सुपूर्णं क्रियतां साधो ! क्वापि पापे न गम्यताम् ॥७९॥
वासनाऽप्यूनतात्मा या समता बाधिका दृढा।
पूर्णं ज्ञानं विना सा न क्वचिद् याति दुरुद्धरा ॥८०॥
पूर्णं ज्ञानं विना ये तु हठेन वासना क्षयम्।
नामाद्यैः कर्तुमिच्छन्ति वञ्चितास्ते व्रजन्ति हि ॥८१॥
वञ्चयित्वा जनांस्ते च वञ्चका ह्यतिदुर्धियः।
अधोयान्ति न सन्देहो वञ्चना ह्यत्यनर्थदा ॥८२॥
इत्येवं सद्गुरुः प्राह शृण्वन्तु सर्वसज्जनाः।
त्यजन्तु वञ्चकत्वं च वञ्चकानां कुसङ्गतिम् ॥८३॥७॥

इति हनुमदीये कहराकल्पे धारणोपदेशवर्णनं नाम तृतीयः शिक्षा ॥३॥

श्रीकबीर साहब कहते हैं कि हे सन्तो! आशा आदि को त्याग कर, सर्वात्मा राम के श्रवणादि करो और श्रवणादि करके सेर पसेरी (इन्द्रिय मन, को पूरा (पूर्ण) विवेकादि से सन्तुष्ट तृप्त उपरत कर लो। सहज समाधि को प्राप्त कर लो। क्योंकि ऐसा किये बिना पासङ्ग (वासना कामादिरूप हीनता) रागादिरूप पापों का सङ्ग) नहीं जाता है। और पासंग को नहीं मिटानेवाला जोर (बलात्कार अन्याय) करके दूसरे को जहड़ाकर स्वयं जहड़ कर चलता (मरता) है, अतः विवेकादि से मन को अवश्य तृप्त कामादि रहित करना चाहिये। "आशा तजि लोकादि की, मिथ्या लखि संसार। काम क्रोध मद त्यागि के, जन उतरै भव पार ॥१॥७॥

अथ रामविचारभक्ति प्रकरण ४

कहरा ८

रहहु सम्हारे राम विचारे, कहता हौं पुकारे हो ॥
मूँड़ मुँड़ाय फूलि क्या बैठे, मुद्रा पहिरि मजूषा हो ।
ता ऊपर कछु छार लपेटे, भीतर भीतर घर मूसा हो ॥

स्थीयतां सावधानेन रामो हृदि विचार्यताम् ।
आहूयोच्चै र्वदाम्येतद्विचारे मा प्रमाद्यताम् ॥ १ ॥
मुण्डनं कारयित्वैव मुद्रां धृत्वा च सेल्हिकाम् ।
किं कुगर्वेण चोत्फुल्ल्य वर्तसे दम्भवर्द्धितः ॥ २ ॥
अहो मुण्डितकेशस्य बहिर्भस्मप्रलेपनम् ।
क्रियते यच्च कामाद्यैश्चौरैरन्तः प्रलुण्ठनम् ॥ ३ ॥
क्रियते चेन्न तद्वेत्सि वृथैव सकलं भवेत् ।
तस्मात्त्वं सावधानेन चौरान्ज्ञात्वा जहीहि तान् ॥ ४ ॥

प्रथम कहा गया है कि जोर करनेवाला जहड़ता, जहड़ाता है । अतः उपदेश है कि जोर नहीं करो, किन्तु मन और इन्द्रिय को सम्हारे=कुमार्गों से रोके रहो । और उनको राम के विचार, स्मरण, ध्यान, ज्ञान में लगाये रहो । इसके लिये मैं पुकारके कहता हूँ । इसके बिना केवल मूड़ मुड़ाकर और साधुता संन्यासिता आदि के अभिमान करके, उस अभिमान से फूलकर क्या बैठे हो, तथा कान में मुद्रा, गले में मजूषा (सेली = उनकी माला) पहिरते हो तथा मजूषा (पञ्चमकार मद्यादिका सेवन) करते हो । ता ऊपर (उसके बाद में) देह में कुछ छार (भस्म) लपेटते (लगाते) हो । परन्तु कामादि रूप चोर भीतरे भीतर घर (हृदय के विवेकादि को सुख शान्ति को मुसते (चुराते लुटते) हैं । सो सम्हारने आदि के बिना तुम्हें पता नहीं लगता है । अतः सम्हार और राम के विचार भजन अवश्य कर्तव्य हैं ।

गाम वसतु हैं गर्व भारती, काम क्रोध हङ्कारी हो ।
मोहन जहाँ तहाँ लै जैहैं, नहि पति रही तुम्हारी हो ॥

भारत्याद्युपनामाद्यै र्ये युक्तास्तेऽपि वेषिणः ।
गर्विता ग्राम्यधर्मेषु ग्रामेषु च वसन्त्यहो ॥५॥

किम्वा गर्वस्य नगरे तेषां वासो हि विद्यते ।
अहङ्कारवतां वासः कामे क्रोधे च सर्वदा ॥६॥
अहङ्कारयुताँस्तांश्च मोहस्य जनका हि ते ।
प्रापयिष्यन्ति यत्रैव तत्रैवानिश्चिते स्थले ॥७॥
यत्र वा मोहनो देवो यमराड् वर्तते स्वयम् ।
तत्र ते प्रापयिष्यन्ति महाघोरे भयावहे ॥८॥
भो जीव ! न तदानीं ते मर्यादा प्रभुताऽथवा ।
काचिद्वर्तिष्यते तस्माद्द्य साधु विधीयताम् ॥९॥

सम्हार राम भक्ति आदि से रहित भारती (वाग्विद्या के अभिमानी) भारती सरस्वती आदि उपाधि वाले संन्यासी भी ग्राम में बसते हैं तथा काम क्रोध अहङ्कार युक्त रहते हैं। तहाँ श्री कबीर साहब कहते हैं कि मोहन (मोहित करने वाले) कामादि तुम्हे जहाँ तहाँ (नरक गर्भादि) में ले जायगें, तब तुम्हारी पति (प्रतिष्ठा, इज्जत, बड़ाई) कुछ नहीं रह जायगी तथा जहाँ मोहन (यमराज) रहते हैं, तहाँ कामादि ले जायगें, तब पति नहीं रह जायगी, अतः संन्यासादि अवस्था में कामादि का त्याग रूप सम्हार अवश्य कर्तव्य है।

माँझ मँझरिया वसै जो जानै, जन ह्वै हैं सो थीरा हो ।
निर्भय भै तहँ गुरु की नगरिया, (सुख) सोवै दास कबीरा हो ॥८॥

कामादिकं परित्यज्य मध्येऽत्र मध्यसंयुताः ।
वस्तुं ये हि विजानन्ति लभन्ते ते स्थितिं जनाः ॥१०॥
स्थितिं यत्र लभन्ते स्म निर्भयाः प्राक्तना जनाः ।
गुरूणां नगरी तत्र तद्दासास्तत्र शेरते ॥११॥
अन्यदासा भयस्थाने संसारे मोह निद्रया ।
शेरते नैव पश्यन्ति भयं जन्मादिजं सदा ॥१२॥
शेरते योगनिद्राभिर्गुरुभक्ता निजात्मनि ।
पश्यन्ति च विवेकेन सत्यासत्ये च सर्वदा ॥१३॥
यदा कर्मसु काम्येषु दुःखहत्यै सुखाय च ।
क्रियमाणेषु संपश्येद्विपरीतफलं सुधीः ॥१४॥
तदा गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम् ।
ब्रह्मनिष्ठं महाप्रज्ञं संशान्तकरणव्रजम् ॥१५॥
सर्वस्मान्मनसोऽसङ्गं तथा सङ्गं सुसाधुषु ।
मैत्र्यादिकं च भूतेषु सर्वमेतद्यथोचितम् ॥१६॥

विद्ध्याच्च गुरौ भक्तिमेषामध्यदशास्मृता ।
अनयाऽत्र च संसारे सुखं मोक्षं हि विन्दते ॥१७॥८॥

जो कोई जन इस मांझ (मध्य मानव लोक) में हृदय के मध्य में व्यवहार विचारादि काल में मझरिया (मध्य लोक की रीति धार्मिक मर्यादा) से बसना जानता है, कामादि बश मर्यादा रहित उत्कट प्रवृत्ति नहीं करता है, न अकर्मण्य होता है, शौचाचारादि भी मर्यादा युक्त करता है, दम्भ पाखण्ड अभिमान हिंसा आदि नहीं करता है, सो जन स्थिर सुखी शान्त मुक्त होगा और होता है । क्योंकि उसी निरभिमान निर्भय दशा में मानो गुरुजनों की नगरी = (स्थिति का उत्तम स्थान) है, वहाँ हो मध्य दशा वाला दास (भक्त) जीव योग निद्रा से सुखपूर्वक सोता है, परमानन्द का अनुभव करके उसमें लीन हो जाता है ॥८॥

कहरा ९

रामनाम का सेवा बीरा, दुरि नाहिं दूरि आशा हो ।
आन देव का सेवहु बौरे, ई सब झूठी आशा हो ॥
उपरक केश कहाँ भौ ऊजर, भीतर अजहुँ कारो हो ।
तन के वृद्ध कहां भौ बौरे, भीतर अजहुँ वारो हो ॥

रामेति नाम किं भ्रातः सेव्यते केवलं त्वया ।
दूरस्थस्य न चेदाशा नश्यत्यनुभवं विना ॥१८॥
सेवया रामनाम्नो वा दूराशा न यया गता ।
न सा सेवेति विज्ञेया मिथ्या सा वाचिका तथा ॥१९॥
सर्वदेवमयाद्रामाद्देवान् किं सेवसेऽन्यकान् ।
मूढ ! तत्त्वं विजानीहि मिथ्यैषाऽऽशानिगद्यते ॥२०॥
रामादन्यस्य सर्वाशा मिथ्या सविषया यदि ।
हृदयान्न गता बाह्यपलितत्वेन किं भवेत् ॥२१॥
वर्तते यावदाशैषा हृदि तावद्धि कृष्णता ।
तमसो विद्यमानत्वाद् रागद्वेषादिसत्त्वतः ॥२२॥
आशासत्त्वे च वार्द्धक्यान्मूढबुद्धेर्भवेत् किमु ।
आशादिजनकं ह्यन्तस्तरुणं वर्तते मनः ॥२३॥

हे बौरा (भाई) निर्भय गुरु नगरी में प्राप्त हुए बिना यदि राम नाम को तुमने सेवा, तो उससे क्या फल हुआ । क्योंकि गुरु नगरी सत्सङ्ग विचा-

रादि के बिना, यदि दूर देश लोकादि की आशा दूर (निवृत्त) नहीं हुई, तो दुःख रही गया। "आशाहि परमं दुःखं नैराश्यं परमं सुखम्। श्रीमद्भा. स्क. ११।८।४३॥ आशाभङ्गकरी पुंसामजेयारातिसन्निभा। नारदीय पु. ३५।२४" आशा ही परम दुःखरूप है। निराशता परम सुख है। क्योंकि आशा अजेय शत्रु तुल्य पुरुषों को नष्ट करने वाली है। और हे बौरे! यदि सर्वात्मा राम को त्याग कर, आन (अन्य) देव को भजते हो (सेवते हो) तो उससे क्या फल हो सकता है, क्योंकि ई सब (राम ते अन्य की सेवा आदि सब) तो सर्वथा झूठी वस्तु आदि की आशा तुल्य है। "यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति। छा. ६।२३" जो विभु ब्रह्मात्मा राम है, वही सुखस्वरूप है। अल्पपरिच्छिन्न किसी वस्तु में सुख नहीं है। उस सुख स्वरूप के ज्ञानादि के बिना यदि अवही भीतर (मन) मे आशा आदि रूप कालिमा है तो ऊपर के वालों के उजले होने से क्या हुआ और आशा आदि के रहते यदि शरीर वृद्ध हो गया तो हे बौरे! उससे क्या हुआ भीतर मन तो अभी बारो हैं। अज्ञ चञ्चल वालक है या कामी युवा है। आशा आदि की निवृति से भीतर की सच्ची उज्वलता और पूज्य वृद्धता होती है, अन्यथा नहीं।

मुख के दाँत कहाँ गौ बौरे, भीतर दाँत लोहे के हो।
फिरि फिरि चना विषय के चबै हो, काम क्रोध मदलोभक हो॥
तन की सकल संज्ञा घटि गयऊ, मन हि दिलासा दूनी हो।
कहहिं कबिर एक राम भजे बिनु, सकल सयानप ऊनी हो॥९॥

मुखस्थाश्चेद् गाता दन्ता मूढस्य तेन किं गतम्।
अन्तस्तस्याद्य वर्तन्ते दन्ता लोहमया इव ॥२४॥
कामः क्रोधो मदो लोभो मोहश्च मत्सरादयः।
अन्तरस्था इमे दन्ता ये गोचरमयान् सदा॥
चर्विष्यन्ति हि चणकान् देहे देहे पुनः पुनः॥२४॥
देहेन्द्रियादिशक्तिस्तेऽभवन्न्यूना हि वार्द्धके।
आशातृष्णादयः स्वान्ते दृश्यन्ते द्विगुणास्ततः॥२६॥
दयालु गुरुराहातो रामस्यैकस्य सर्वदा।
भजनेन विना सर्वं चातुर्यमूनमेव हि॥२७॥६॥

हे बौरे! आशा आदि के रहते, यदि मुख के दांत चले गये, तो इससे क्या गया, और क्या फल हुआ। भीतर में अभी आशा आदि लोहे के

दाँत की नाईं दाँत वर्तमान हैं, उनसे फिरि फिरि (बार-बार) जन्म ले कर विषय के चना चबाओगे (विषयों को भोगोगे) क्योंकि वृद्धता आदि के कारण शरीर की संज्ञा (ज्ञान शक्ति होश) घट गई है, तो भी तुम काम क्रोध मद और लोभक (लोभसे) युक्त हो और मनमें दिलासा (इच्छा तृष्णा) प्रथम से भी दूनी (द्विगुण) बढ़ गई है। कबीर साहब कहते हैं कि सर्वाशा तृष्णादि के नाशक एक सर्वात्मा राम को भजने के विना सब सयानप (चतुराईं) ऊनी (तुच्छ) है। अतः राम भजनादि द्वारा आशा आदि निवारणीय हैं ॥९॥

कहरा १०

हौं सबन में हौंना हौं मोहि, बिलग बिलग बिलगाई हो।
ओढन मोरा एक पिछौरा, लोग बोलु एकताई हो ॥

यस्य रामस्य भजनाद् भवबन्धो निवर्तते।
आत्मैव स च रामो वै वर्तेऽहं सर्वतस्ततः ॥२८॥
असङ्गत्वान्न वा क्वापि पुरुषो वाऽस्मि चेतनः।
एकानन्दघनश्चैव माया बुद्धि विभेदिका ॥२९॥
बहु भेदेन युक्तं मां ह्यसती सा चकार ह।
सैवावरणशक्त्या स्यादुत्तरीयसमा मम ॥३०॥
स्वरूपे साऽप्रविष्टा मे कल्पिता चैकदेशतः।
अतो मे सर्वथैवैक्यं वदन्ति ज्ञानिनो जनाः ॥३१॥
विदिताऽविदिताभ्यां यो ह्यन्यः सन् स्वप्रभत्वतः।
विदितः प्रतिबोधं च तं स्मरन्ति सदा बुधाः ॥३२॥

उक्त सर्वात्मा रामके ज्ञानी सद्गुरु सर्वात्मा राम स्वरूप ही रहते हैं। अतः श्री कबीर साहब कहते हैं कि सर्वात्मा राम स्वरूप हौं (मैं) सबन में सब वस्तु देहादि में) हौं (हूँ) यद्यपि माया भी सब में हैं, तथापि वह नारी है, और मैं ना हौं (नर पुरुष मैं हूँ) तथा विभु असङ्ग निराधार होने से सबमें रहते भी ना हौं (कहीं नहीं हूँ) तो भी मोहि (मुझको) माया अविद्या अन्तःकरणादि रूप उपाधियों ने बिलग-बिलग बिलगाया है (जीव ईश्वरादि रूप से पृथक्-पृथक् किया है) तथा विवेकियोंने सर्वत्र मेरे स्वरूपको सबसे पृथक् ही बिलगाया (समझा) है। क्योंकि आवरण शक्तिवाली माया ही एक पिछौरा (छादक-चादर) है सो मेरा ओढ़ना है (मेरे स्वरूपमें प्रविष्ट नहीं होकर वस्त्रतुल्य मुझमें उपाधिरूप से वर्तमान है)। अतः मिथ्या माया अविद्यादिके रहते विवेकी लोग सत्यात्म को

एकताई को ही जिज्ञासुओं के प्रति बोलते (कहते) हैं, इत्यादि। "कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः" इत्यादि श्रुतियाँ औपाधिक भेद को दर्शाती हैं।

एक निरन्तर अन्तर नाहीं, ज्यों घट जल शशि झाँई हो।
एक समान कोइ समुझत नाहीं, जरा मरण भ्रम जाई हो॥

साजात्याद्यैर्नचैकत्वं किन्तु तत्सर्वथैव मे।
अतो निरन्तरश्चैको ह्यखण्डः सर्वदास्म्यहम्॥३३॥
सर्वेषां हि विभेदानामभावेन विभौ मयि।
अन्तरं वर्तते नैव व्यवधानादिलक्षणम्॥३४॥
विभेदानामभावेऽपि यो भेदो भासते चिति।
स घटस्थ जलस्थासु प्रतिमासु यथा विधोः॥३५॥
एकं समरसं कोऽपि वेत्ति नैवाऽविवेकवान्।
जरामरणमापन्न भ्रमो येन विनश्यति॥३६॥
ब्रह्मविद् भवति ब्रह्म शोकं तरति चात्मवित्।
नान्यः पन्था विमुक्तेश्च सर्वे वेदा वदन्ति तत्॥३७॥

मैं एक अखण्ड और निरन्तर (सदा सर्वत्र वर्तमान) हूँ, मुझमें कहीं अन्तर (भेद परदा) नहीं है। अतः त्रिविध भेद रहित हूँ। जो कुछ व्यवहार में भेद प्रतीत होता है, सो घटों के जलों में शशि सूर्यादि की झाईं (प्रतिबिम्ब = आभास) गत भेद के समान बुद्धि आदि गत आभासों में रहता है, स्वरूप में नहीं, बुद्धि आदि मायिक रहते हैं। अतः इस एक और समान (सम एक रस) सर्वात्मा को कोई अविवेकी नहीं समझता है, कि जिससे आत्मा में जरा-मरणादि के भ्रम नष्ट हो जायँ, अज्ञान-मूलक संसार नष्ट हो जाय, और परमानन्द की प्राप्ति तृप्ति हो, इत्यादि।

रैनि दिवस मैं तहवां नाहीं, नारि पुरुष समताई हो।
नहिं मैं बालक बूढ़ो नाहीं, नहिं मेरे चिलकाई हो॥
त्रिविध रहौं सबही महँ बरतौं, नाम मोर रमुराई हो।
पठय न जाउँ बोलय नहिं आऊँ, सहज रहौं दुनियाई हो॥

रात्रि दिवविभेदो न यत्राहं तत्र विद्यते।
स्त्रीपुंसादिषु सर्वत्र वर्तते समता मम॥३८॥
बालो नाहं न जीनश्च मे डिम्भत्वं न विद्यते।
त्रिविधेऽपि वसँश्चाहं वर्ते सर्वत्र सर्वदा॥३९॥

अत्र मेऽस्ति हि नामैतद्रामेति विश्वराडिति।
रमन्ते योगिनः सर्वे सत्ये मय्येव चिद्घने ॥४०॥
नाहं विसर्जनाद्यामि प्रेरणात्कस्यचित् क्वचित्।
आहूतो नैव कुत्रापि ह्यागच्छामि स्वभावतः ॥४१॥
जीवरूपेण सर्वत्र वर्ते संसारमण्डले।
स्वरूपेण तथाऽसङ्गस्तिष्ठामि नात्र संशयः ॥४२॥

मैं तहवाँ (मैं जिस स्वरूप में स्थिर हूँ, उस सत्य स्वरूप में) रात दिन का भेद नहीं है, वह सत्यात्मा सदा स्वयं प्रकाश नित्य ज्ञान स्वरूप ही रहता है। और नारी पुरुष में भी आत्मा की समता ही रहती है। क्योंकि "न स्त्री न पुमानेषः" यह आत्मा स्त्री या पुरुष नहीं है, शरीरमात्र में स्त्री-पुरुषादि भिन्न स्वभाव होते हैं। इसी प्रकार मैं बालक या वृद्ध नहीं होता हूँ। न मुझमें चिलकाई (दुग्ध पायी बच्चापन) होती है या चिलकाई (तेज प्रतापयुक्त युवापन) मुझमें नहीं होती है। तो भी उन तीनों प्रकार के शरीरों में मैं रहता हूँ। और सर्वत्र सर्वात्मारूप से रहता हूँ। अतः सर्वत्र रमनेवाला रमुराई (राम राजा) मेरा ही नाम है। और सदा सर्वत्र वर्तमान रहने ही से मैं किसी के पठये (भेजने) से कहीं जाता नहीं हूँ, न किसी के बुलाने से आता हूँ। किन्तु सहज स्वभाव से दुनिआई (संसार के व्यवहार) में रहता हूँ, तथा स्वभाव (शक्ति) रूप मायासे सहज (अनायास) दुनियाई में (उत्पत्ति पालनादि व्यवहार) में रहता हूँ। संसार पट के ताना-बाना आदि करता हूँ "आत्मैवदेवताः सर्वाः सर्वमात्मन्यवस्थितम्। आत्मावै जनयत्येषां कर्मयोगं शरीरिणाम् ॥ १ ॥"

जोलहा तान बान नहिं जानै, फाट बिनै दश ठाईं हो।
गुरु प्रसाद जिन्हे जस भाख्यो, जन बिरले सिधि पाई हो ॥

जीवरूप कुविन्दोऽयं संसारपटसंहतौ।
सर्वाऽऽतानवितानेषु सत्यं यावन्न पश्यति ॥४३॥
तावद्दशप्रदेशेषु दशद्वारै र्युतं पटम्।
सच्छिद्रं खण्डितं शश्वद्वयत्येव विमोहतः ॥४४॥
जरामरणजं दुःखं पौनःपुन्येन सर्वदा।
तेन भुङ्क्ते भ्रमन् विश्वे लभते न स्थितिं क्वचित् ॥४५॥
तेभ्य उक्तं यथा तत्त्वं सच्चिदानन्दलक्षणम्।
तेषु केऽपि तथा तत्त्वं लभन्ते कृपया गुरोः ॥४६॥

सत्त्वादिभिर्गुणैरात्मा देवतिर्यङ्नरादिभिः।
स्वरूपै र्भासमानोऽपि स्वयमेकोऽव्ययस्त्वजः ॥४७॥
मनसा योऽमतो नित्यं मनो येन मतं भवेत्।
मनसो यो मनो देवोऽबुधस्तं हि कथं स्मरेत् ॥४८॥

जो अज्ञ जीवरूप जोलहा (मनुष्य) संसार के ताना बाना (आतान वितान = तानी भरनी) को नहीं जानता है। सर्वभूत भौतिक में आत्मसत्ता को नहीं समझता है, सो फिर भी दशठाईं (दश स्थान) में फाटा हुआ (दश द्वार युक्त) देहरूप पट को बार-बार बिनता; बिनवाता है और इसके लिये बार-बार गर्भवासादि कष्ट सहता है और जिन लोगों को सद्गुरु ने जैसा तत्त्व स्वरूप है, तैसा ही प्रसाद (प्रसन्नता कृपा) करके भाखा (कहा) वैसे तत्त्व की सिद्धि (ज्ञान) को वे विरले जनो ने पाई, और पाते हैं, गुरु कृपा से सत्य तत्त्व को ज्ञान को पानेवाले फिर पट नहीं विनते हैं, मुक्त हो जाते हैं। क्योंकि—

अनन्त कोटि मणि हीरा बेध्यो, फिटिक मोल नहिं पाई हो।
सुर नर मुनि जा खोज परे हैं, कछु कछु कबिरन पाई हो ॥१०॥

बिरला लब्धवन्तो ये तत्तत्त्वं कृपया गुरोः।
तद्दृष्ट्याऽनन्तकोट्यन्तै र्मणिभि र्हीरकादिभिः ॥४९॥
विद्धं मालादिकं सर्वं तुच्छं मूल्यं नचार्हति।
देवा मुनिमनुष्याश्च मार्गयन्ते हि तत् सदा ॥५०॥
केपि केपि जनाः किञ्चित्तत्त्वं प्राप्नुवन् कचित्।
कृपया च गुरोः सम्यक् लब्धवन्तो हि सज्जनाः ॥५१॥
देहप्राणादयो येन सत्प्रकाशस्वरूपिणा।
जीवन्ति प्रचरन्तोऽत्र तं जानन्ति हि सज्जनाः ॥५२॥
वाचाऽनभ्युदितो वाचो वागात्मा योऽभिधीयते।
प्राणः प्राणस्य यः स्वच्छस्तं स्वं जानाति शुद्धधीः ॥५३॥
चक्षुरादिभिरग्राह्यस्तदात्मा यः स्वयं प्रभुः।
विजानाति हि तं प्राज्ञो नान्यं यं वा ह्युपासते ॥५४॥१०॥

इति हनुमदीये कहराकल्पे रामभक्तिविचारादिवर्णनं नाम चतुर्थीशिक्षा ॥४॥

जो लोग उक्त सत्य तत्त्व को पाते हैं, उनकी दृष्टि में अनन्त कोटि मणि हीरा आदि रत्नों से बेधित (व्यास ग्रथित) भी माला आदि सम्पत्ति फिटिक (तुच्छ फटका हुआ तुषादि) के मोल को भी नहीं पा सकती है। अतः वे

ज्ञानी संसार की सब वस्तु की इच्छा वासना आदि से रहित होने के कारण मुक्त होते हैं। परन्तु गुरु की कृपा रहते भी जिनमें विवेक विरागादि ज्ञान के साधन नहीं रहते हैं, वे लोग सत्य निज नित्यानन्द स्वरूप को नहीं समझ पाते हैं। अतः नित्यानन्द स्वरूप को तटस्थादि मानकर जिसके खोज में सुर नर मुनि सब परे (लगे) हैं। उनमें कुछ-कुछ (कोई-कोई) विवेकादिवाले कविरन (कवियों जीवों) ने ही सद्वस्तु को पाया है, अन्य नहीं। क्योंकि "न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः। कठ. १।१।२७" वित्त (धन) से तृप्त करने योग्य मनुष्य नहीं है। इत्यादि वक्ता नचिकेता के समान समझने ही वाले गुरु से भी आत्मानुभव जो प्राप्त करते हैं, अन्य नहीं॥१०॥

अथ मायासे जन्मादिवर्णन प्रकरण ४

कहरा ११

चेम कुशल औ सही सलामत, कहहु कवन कहँ दीन्हा हो।
आवत जात दुनो विधि लूटै, सामर गहिरे लीन्हा हो॥

मायादिविषयान् ये हि क्षेमादिजनकान् विदुः।
सद्गुरुस्तान् प्रति प्राह भवद्भिः कथ्यतामिदम्॥१॥
क्षेमं च कुलं कस्मै सत्यस्वास्थ्यं सुखादिकम्।
विषया दत्तवन्तो वै वराकाः क्षणभङ्गुराः॥२॥
लुण्टाकाः प्रत्युतैते चाऽत्राऽऽगमने गतौ तथा।
जन्मना मरणेनैव लुठन्ति प्राणिनः सदा॥३॥
शम्बलं सद्विवेकादि गम्भीरं सुख साधनम्।
आच्छिद्य विषयैस्तद्धि निगृहीतं कृतं कचित्॥४॥
गुणैर्गुणान् भजन्नज्ञः स्वात्मप्रद्योतिते स्वके।
शरीरे ह्यात्मता भ्रान्त्या सज्जते च विमुह्यति॥५॥
कर्मणा लभते देहं देहात्कर्म करोति च।
एवं वभ्रम्यमाणेन विश्रमः कुत्र लभ्यते॥६॥

प्रथम मणि हीरा आदि को तुच्छ कहा गया है, तहाँ उनसे चेम कुशलादि मानने वालों के प्रति कहते हैं कि उक्त आत्म ज्ञानादि के बिना मायिक विषयादि किसको चेम कुशल (नित्य शुभ कल्याण) और सही सलामत (सच्चा स्वास्थ्य पूर्ण सुख) दिये हैं, सो समझकर कहो और समझो कि संसार

में आते-जाते (जन्मते-मरते) समय जन्म-मरणरूप दोनों विधि (प्रकार) से तथा हर्ष-शोकादिरूप द्वन्द्वात्मक दोनों प्रकार से विषय-वासना आदि सब सच्चे क्षेम कुशलादि को लूटते (नष्ट करते) हैं। और गहिर (गम्भीर) सुख शान्ति विवेकादिरूप सामर (शम्बल) को भी लेते (नष्ट करते) हैं, और किये हैं।

सुर नर मुनि जति पीर औलिया, मीरा पैदा कीन्हा हो।
कहँ लै गणौं अनन्त कोटि लै, सकल पयाना दीन्हा हो॥
पानी पवन आकाश जाहिंगे, चन्द जाहिंगे सूरा हो।
येभि जाहिंगे वोभि जाहिंगे, परत न काहुक पूरा हो॥

सुरान्नरान् मुनींश्चैव यतीन् यवनदेशिकान्।
यवनानां तथा साधून् राजानं स्वामिनं प्रभुम्॥७॥
विषया जनयन्ति स्म ह्यनन्तकोटि संख्यकान्।
कियद् वच्मि तु संख्याय विषयै जनिता हिये॥८॥
मृत्यो मुखे च ते सर्वे तैश्च दत्ता मुहुर्मुहुः।
तै र्हि प्रस्थापिताः केचिज्जले यास्यन्ति केचन॥९॥
पवने केचिदाकाशे चन्द्रे सूर्ये क्षितौदिवि (द्यवि)।
जलाद्याश्च गमिष्यन्ति विषयैः प्रेरितास्तथा॥१०॥
मर्त्याद्याः स्वर्गिणश्चैव पूर्णता तै र्न कस्यचित्।
विषयै र्जायते क्वापि तृप्तिः शान्ति र्न विद्यते॥११॥

सुर (देव) मनुष्य, मुनि, यति (संन्यासी) पीर (गुरु) औलिया (फकीर) और मीरा (अमीर) इन सबको विषय वासनादिकों ने ही पैदा किया (जन्म दिया) है। गिनकर कहाँ तक कहा जाय, अनन्तकोटि ले (तक पर्यन्त) प्राणियों को विषयों ने पैदा किया है, और वे सब प्राणी लोकान्तरादि में पयाना (यात्रा = गमन) किये, तहाँ विषय वासना कामादि को ने ही सबको पयान दिया (गमन करवाया)। क्योंकि वासनादि रहित ज्ञानी तो गमनागमनादि रहित मुक्त होता है। पयाना करनेवाले पानी पवन आकाश (स्वर्गादि) में जायगें। तथा चन्द्र सूर्य लोक के जायगें। तथा महाप्रलय में पानी, पवन, आकाश, चन्द्र सूर्य भी जायेगें (नष्ट होगें) येभि (इस लोक में भी) कोई जायगें वोभी (परलोक में भी) कोई जायगें। तथा लोक परलोकवासी सब जायगें, परन्तु विषयों से विषयवासनादि के रहते किसी को पूरा नहीं पड़ती है (पूर्ण तृप्ति सन्तुष्टि नहीं होती है)।

कुशले कहत कहत जग विनशल, कुशल काल की फाँसी हो।
कहहिं कबिर सारि दुनियाँ विनशल, रहल राम अविनाशी हो ॥११॥

अतृप्ता व्यनशन् सर्वे वदन्तः कुशलं हि तैः।
तज्जन्यं कुशलं चातः कालपाशो भवावनौ ॥१२॥
तेन बद्धाइमे सर्वेऽनश्यन् संसारिणो मुहुः।
अविनाशी सदैवास्ते रामस्तद् भाषते गुरुः ॥१३॥
जाग्रादादिष्ववस्थासु भूतभौतिकवस्तुषु।
कूटस्थः साक्षिरूपोऽसौ स्वयं सिद्धः सनातनः ॥१४॥
आत्मासौ केवलः स्वच्छः सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरः शिवः।
सर्वान्तरः सदानन्दश्चिन्मात्रस्तमसः परः ॥१५॥
सोऽन्तर्यामी स पुरुषः स प्राणः स महेश्वरः।
स कालो दिक् तदव्यक्तं वेदवेद्यः प्रतापवान् ॥१६॥
जनि रहितो मृतिविगतस्तत इह तापविरहितः।
विकृतिविदो नहि विकृतिः कृतिकलिकामचिरहितः ॥१७॥११॥

विषयादि से तृप्त नहीं होने के कारण उनसे ही कुशल कहते कहते में भ्रम अज्ञान बश लोभादि करके संसारी जीव विनष्ट हुआ। अतः वह मिथ्या कुशल ही काल की फाँसी स्वरूप है, श्रीकबीर साहब कहते हैं, कि महाप्रलयादि में सब संसार विनष्ट हुआ, और विनष्ट होता है, परन्तु सबके नष्ट होने पर भी अविनाशी सच्चिदानन्द स्वरूप राम ही रहा और रहता है। अतः राम ही क्षेम कुशल स्वरूप है, अन्य नहीं, उस राम की भक्ति ज्ञप्ति से तद्रूपता की प्राप्ति से ही मनुष्य सत्य क्षेम कुशल को पा सकता है। अतः राम भजनादि कर्तव्य हैं और राम ही द्रष्टव्य है, क्योंकि "भिद्यते हृदय ग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे। मुण्ड. २।२।८॥ पर अवर स्वरूप उस ब्रह्म के दृष्ट = अपरोक्ष होने पर हृदय के ग्रन्थि नष्ट होती है। सब संशय निवृत्त होते हैं और सब कर्म क्षीण हो जाते हैं, अतः क्षेम कुशल की प्राप्ति होती है ॥११॥

कहरा १२

यह माया रघुनाथ की बौरी, खेलन चली अहेरा हो।
चतुर चिकनियाँहि चुनि चुनि मारे, काहु न राख्यो न्यारा हो॥

मौनी वीर दिगम्बर मारे, ध्यान धरन्ते योगी हो।
जङ्गल में के जङ्गम मारे, माया किनहुँ न भोगी हो॥

जगदीशस्य रामस्य चराचरप्रभो विंभोः।
विषयाद्यात्ममायेयमविवेकस्वरूपिणी ॥१८॥
मत्तावद् वर्तते सा चाऽऽगच्छदाखेटकाय वै।
ज्ञाननिर्वेदहीनांश्च कुशलान् राजसांस्तथा ॥१९॥
देहादे मण्डने सक्तान् निहन्त्येव विचित्य सा।
स्वपाशान्न पृथक् कश्चित्स्थातुं साऽत्रानुमन्यते ॥२०॥
वाङ्मौनव्रतिनः शूरान् सर्वानेव दिगम्बरान्।
सा प्रमापयते माया ध्यानस्थान् योगिनस्तथा ॥२१॥
जङ्गमान् विपिनस्थांश्च मायाभोगस्य कामुकान्।
सर्वान् मारयते माया तां केऽपि भुञ्जते नहि ॥२२॥

यह (प्रत्यक्ष) कनक कामिनी विषयादिरूप रघुनाथ (व्यवहारिक जीवों के स्वामी राम ईश्वर) की माया (अद्भुत शक्ति स्वरूप) है। सो मानो बौरी (मदमाती) है, अविवेक अविद्या अभिमानादि स्वरूप माया ही हुई है। यह माया अहेर (शिकार) खेलने चली है, तहाँ चतुर (धूर्त दम्भी आदि) को और चिकनियाँ (राजसी देहाभिमानी) को चुन-चुन कर मारती है (सर्वथा स्ववश करती है) किसी भी चतुर चिकनिया को अपने मोहजाल से न्यारा नहीं राखा (रहने दिया) है। माया को भोगने की इच्छावाले मौनी, वीर, दिगम्बर, ध्यान धरनेवाले योगी को भी माया मारती है, तथा जङ्गल में के जङ्गमों को मारती है। अतः मृत्युवश में प्राप्त किसी ने माया को भोगने नहीं पाया, भोग से तृप्ति के बिना सब मर गये। राम रूपता के बिना सिद्धि आदि से तृप्ति नहीं हुई। अतः रामरूपता के ही लिये यत्न कर्तव्य है।

वेद पढ़न्ते पाँड़े मारे, पूजा करते स्वामी हो।
अर्थ विचारत पण्डित मारे, बांध्यो सकल लगामी हो॥
भृङ्गी ऋषि बन भीतर मारे, ब्रह्मा के शिर फोरी हो।
नाथ मच्छन्दर चले पीठि दै, सिंहल हूँ में बोरी हो॥

वैदिकान् पठतो वेदान् स्वामिनः पूजने रतान्।
पण्डितान् बहुशास्त्रार्थविचिन्तनरतानपि ॥२३॥

भोग्या प्रमापयत् सैव सर्वांश्च भोगलालसान् ।
मनसा प्रग्रहेणैव त्ववध्नात् सर्वकामुकान् ॥२४॥
कानने चर्ष्यशृङ्गं सा ह्यमारय द्विचक्षणा ।
ब्रह्मणश्च शिरः सैवाऽस्फोटयन्मोहलीलया ॥२५॥
मत्स्येन्द्रो हि महायोगी तस्याः प्रावृत्य यत्नतः ।
कृत्वा तां पृष्ठतो द्वीपे सिंहले चागमत्तथा ॥२६॥
चञ्चला तत्र गत्वा सा तं नाथं मोहसागरे ।
न्यमज्जयत्तु गोरक्षः शिष्यवर्यो ह्यरक्षयत् ॥२७॥

रामरूपता के बिना वेद को पढ़न्ते (पढ़ते) हुए, पाण्डेय (वेदपाठी) को और धनादि की रक्षा के लिये देवपूजा करते हुए धनादि के स्वामी को माया मारती है। शास्त्रार्थ, लौकिकार्थ को विचारते हुए पण्डित को मारती है। यद्यपि कठश्रुति में इन्द्रियरूप अश्व के लिये मन को लगाम कहा गया है, तथापि जो जीव इन्द्रियों के वशवर्ती हैं, उन सबको माया मनरूप लगाम से बाँधती है, मन के वश में कर दी है। इस प्रकार माया ने बन के भीतर जाकर शृङ्गी ऋषि को मन और इन्द्रियों के अधीन करके उनको मारा (तपसे गिराया)। ब्रह्माजी के पञ्चम शिर को फोड़ा (क्रुद्ध शिवजी से कटवाया) और मच्छन्दर (मत्स्येद्रनाथ गोरखजी के गुरु) माया से बचने के लिये उसे पीठ देकर चले (भगे) तो भी सिंहल द्वीप में जाकर उन्हें भी बोरी (मोह नदी में डुबाई)। अतः निरन्तर राम रूपता के बिना कहीं भागने आदि से भी कोई मायाजाल से नहीं बच सकता है।

सांकठ के घर कर्ता धर्ता, हरि भक्तन की चेरी हो ।
कहहिं कबीर सुनहु हो सन्तो !, ज्यों आवै त्यों फेरी हो ॥१२॥

इति श्रीसद्गुरुकबीरकृते विविधवन्धबीजविध्वंसने बीजकनाम्नि ग्रन्थेऽखिलमोहनिवारकं नाम तृतीयं कहराप्रकरणं समाप्तम् ॥३॥

गुरुदीक्षादिहीनानां शाक्तादीनां गृहे हि सा ।
स्वतन्त्रा सर्वकर्त्री च स्वामिनीव विराजते ॥२८॥
हरिभक्तगृहे सा च दासी भूत्वा विशत्यलम् ।
उभयान् वञ्चयत्येव भोग्यभूताऽतितामसी ॥२९॥
किम्वाऽभक्तगृहे याऽत्र स्वतन्त्रा राजते सदा ।
सैवभक्तगृहे नित्यं सुदासीव विकम्पते ॥३०॥

सद्गुरुश्चाह भो साधो ! श्रवणं सुविधीयताम् ।
विमोक्षाय ततो मार्ग एक एव सुखंगमः ॥३१॥
भोग्यभूता यदाऽऽगच्छेत्तदैव तां परित्यज ।
परिवर्तय तूर्णं तां दृष्टिस्तत्र न दीयताम् ॥३२॥
"माद्यति प्रमदां दृष्ट्वा सुरां पीत्वा च माद्यति ।
तस्माद् दृष्टमदां नारीं दूरतः परिवर्जयेत्" ॥३३॥
"सङ्गः सर्वात्मना त्याज्यः स चेत्त्यक्तुं न शक्यते ।
स सद्भिः सह कर्तव्यः सतां सङ्गो हि भेषजम्" ॥३४॥
शान्तानां गतकामानां स्वात्मतत्त्वावलोकिनाम् ।
साधूनां समचित्तानां सङ्गोऽपि शेवधि नृणाम्" ॥३५॥
क्षणार्द्धं हि सतां सङ्ग आदरेण सदा कृतः ।
शातयत्येव पापानि तारयेच्च भवार्णवात् ॥३६॥
कायमनोवाक्यैः परिशुद्धैर्यस्यसदा सत्संसदि भक्तिः ।
राज्यपदैर्हर्म्यालिविचित्रैर्नित्यचलैर्वित्तैरलमस्य ॥३७॥
कहराकल्पमाकर्ण्य कलहं च कलेवरम् ।
कान्ताकनककामित्वं कुकीर्तिं कर्मकच्चरम् ॥३८॥
कदर्थं च कदध्वानं कदाचारांश्च कामुकान् ।
कृत्वा दूरे सदा ध्येयो रामनामा निरञ्जनः ॥३९॥
क्लेशान् कर्माशयान् कृन्त्वा कृत्वा कल्याणमुत्तमम् ।
ध्येयो रामः सदा ज्ञेयो ज्ञानान्मोक्षफलप्रदः ॥४०॥
मायां मोहं ममत्वं च मत्सरं काममण्डनम् ।
खण्डित्वा योगतो ज्ञेया रामनामसुगीतिका ॥४१॥
दम्भं दर्पं कुदाक्ष्यं च व्युदस्य दयया युतम् ।
दण्डान् धृत्वा हृदा पेयं रामनामपरामृतम् ॥४२॥
दमयित्वा मनो दत्त्वा जन्तुभ्योऽभयदक्षिणाम् ।
दयया चार्द्रचित्तः सन् पेयो रामरसायनः ॥४३॥
गत्वा नैवातिदूरे च हृत्वा नैव धनादिकम् ।
स्वमनो मन्दिरे गत्वा नमस्कार्यो निरञ्जनः ॥४४॥
कलं कलकलं श्रुत्वा प्रकल्यं कल्पसंयुतम् ।
कहरायां मनोऽद्यापि रागाद्यस्यात्र संस्फुरेत् ॥४५॥
जगतां वल्लभे नैव मनश्चेत्प्रीतिमाहरेत् ।
किन्नरः पल्लवासक्तमनाः कश्चित्स वानरः ॥४६॥

य: क्लेशान् सुविलोक्य सर्वभुवने वैराग्ययुक्तो नरः,
मायामोहमदादिहीनमनसा रामं सदा सेवते ।
पक्षापक्षविभेदहीनधिषणः कैवल्यमार्गे रतः,
ज्ञेयोऽसौ परमेश्वरो भुवि गतस्तस्मै नमः सर्वदा ॥४७॥१२॥

इति हनुमदीये कहराकल्पे मायाजन्यजन्मादिसंसारवर्णनं नाम पञ्चमी शिक्षा ॥५॥ समाप्तश्चायं कहराकल्पः ॥३॥

मायाजाल से नहीं बचने में यह भी कारण है कि यह माया साँकठ (हरि गुरु विमुख राजस तामस शाक्तादि) के घर में तो कर्ता धर्ता स्वतन्त्र होकर मारने ही के लिये रहती है । और हरि भक्तों के घर में दासी बनकर ठगने के लिये रहती है । अतः श्रीकबीर साहब कहते हैं कि हे सन्तो ! यदि इस मायासे बचना चाहो तो सदा राम के श्रवणादि करो, और कनक-कामिनीरूप माया जैसे ही आवै, तैसे ही फेर दिया करो, इनके संग संग्रह चिन्तनादि नहीं करो । अर्थात् "आसुप्तेरामृतेः कालं नयेद् वेदान्तचिन्तया । दद्यान्नावसरं क्वापि कामादीनां मनागपि ॥ १ ॥ शयन और मरणपर्यन्त वेदान्त के चिन्तन द्वारा मुमुक्षु समय को बितावे, कहीं भी कामादि को किञ्चित् भी अवसर नहीं दे । "यस्मिञ्चित्ते घके नित्यं जन्मादिजभयं नहि । जायते क्वापि कस्यापि तं रामं निर्गुणं भजे ॥ १ ॥" ॥ १२ ॥

इति श्रीसद्गुरुकबीरसाहबकृत बीजक का स्वामीश्रीहनुमान
दासजी साहब षट्शास्त्री विरचित स्वल्पाक्षराहिन्दी
व्याख्या तृतीय कहरा प्रकरण समाप्त ॥ ३ ॥

❀ ओम् राम ❀

—: श्रीसद्गुरु :—

कबीर साहब कृत बीजक

[स्वानुभूतिसंस्कृतस्वल्पाक्षराहिन्दीव्याख्यासहित]

❀ अथ चतुर्थ विप्रमतीसी प्रकरण ❀

ब्रह्मज्ञानपरः सुकर्मनिरतो विद्यावदातो हि यः,
कामक्रोधमदादिदुर्गुणगणैः स्पृष्टो न चान्तस्तथा।
द्वन्द्वातीतविमत्सरोऽतिनिपुणो धर्मादिसंदेशने,
सद्विप्रो जपयोगदाननिरतोऽलुब्धोऽस्तु तस्मै नमः ॥१॥
ब्रह्मनिष्ठः परं ब्रह्म स्वयं वेधा विवेकवान्।
तत्सङ्गत्या च तन्नत्या परं ब्रह्माधिगम्यते ॥ २ ॥
ये हिंसकाः पापपरायणा नरा दयाविहीना मदमांससंयुताः।
क्रूरा प्रकृत्या त्वतिलोभसंयुतास्ते राक्षसा ज्ञानविचारवर्जिताः ॥३॥
प्रकृत्या राक्षसा ये हि तेषां सङ्गादिभिर्जनाः।
अधो यान्ति च पीड्यन्ते निरयादौ निरन्तरम् ॥ ४ ॥
प्रकृत्या राक्षसा ये च ये च देवास्तयोर्भिदाम्।
बोधयन् सद्गुरुः किञ्चित्प्रोक्तवांस्तन्निशम्यताम् ॥५॥

बिप्रमतीसी १

सुनहु सबन मिलि विप्र मतीसी। हरि बिनु बूड़ि नाव भरीसी ॥
ब्राह्मण ह्वै के ब्रह्म न जानै। घर महँ जगत प्रतिग्रह आनै ॥

मायया हृतबोधानां विप्राणां यादृशी मतिः।
वर्तते तां मिलित्वाऽत्र सर्वे शृण्वन्तु सज्जनाः ॥ १ ॥
यया मत्या हि विप्राणां पूर्णा नौरिव जीवनम्।
जाति वंशश्च विद्यादि संसाराब्धौ निमज्जति ॥ २ ॥

जन्मना नाममात्रेण भूत्वा ते ब्राह्मणा अपि ।
वेदतत्त्वं न वेदं च जानन्ति सत् सुखात्मकम् ॥३॥
ब्रह्मविद्भ्यि यं आदेयो लोके तं हि प्रतिग्रहम् ।
आनयन्ति गृहे मूढास्तेन नश्यन्ति दुर्बुधाः ॥४॥
सर्वस्माज्जगतः किञ्च प्रतिगृह्णन्ति लोभतः ।
ग्राह्याग्राह्यं न पश्यन्ति लोभेन हतबुद्धयः ॥५॥

सब मिलकर विप्रमतीसी की (विप्रमति तुल्य की) कथा को सुनो । अर्थात् त्यागने योग्य अनुचित विप्रमती को सुनो, और उसको त्यागो । क्योंकि उस कुमतिसे हरिकी प्राप्तिके बिना मानो भरीसी नाव डूब गई है, विप्रों की कुमति से सात्त्विक शुद्ध हरि भक्ति अहिंसा सत्य शौच ज्ञानादि के अभाव द्वारा, उन विप्रों के तथा उनके सङ्गियों के विद्या यश आदियुक्त जीवन मानवता विप्रता आदि व्यर्थ नष्ट हो गये हैं और नष्ट हो रहे हैं । क्योंकि जन्म नामादि मात्र से ब्राह्मण होकर भी ब्रह्म (वेद = परब्रह्म = सर्वात्मा) को नहीं जानते हैं । तो भी ब्रह्मवेदज्ञ से लेने योग्य जो प्रतिग्रह (दान = देयपदार्थ) सो संसारी से लेकर, अपने घर में आनते और भोगते हैं, इससे भरीसी नाव मानो बूडती है । "हिरण्यं भूमिमश्वं गामन्नं वासस्तिलान् घृतम् । प्रति गृह्णन्नविद्वांस्तु भस्मी भवति दारुवत् ॥१॥ अतपास्त्वनधीयानाः प्रतिग्रहरुचि र्द्विजः । अम्भस्यश्मप्लवेनेव सह तेनैव मज्जति ॥२॥ मनु. अ. ४ । १८८-१९०" अविद्वान् होता हुआ यदि सुवर्ण भूमि अश्व गौ अन्न-वस्त्र तिल घृत का दान लेते हैं, तो वे प्रति ग्रह लेनेवाले दारु (काष्ठ) तुल्य भस्म (नष्ट) होते हैं ॥१॥ तप और अध्ययन रहित द्विज प्रतिग्रह में रुचि वाले होने पर, जल में पाषाण की नौका के समान उस प्रतिग्रह सहित संसार में डूबते हैं ॥२॥

जे सिरजा तेहि नहिं पहिचानै । कर्म भरम लै बैठि वखानै ॥
ग्रहण अमावस सायर दूजा । स्वस्तिक पात प्रयोजन पूजा ॥
प्रेत कनक मुख अन्तर वासा । आहुति सत्य होम की आशा ॥

येन सृष्ट मिदं सर्वमीशेन ब्रह्मणा स्वयम् ।
तं विविक्तं न पश्यन्तिह्यन्यं जल्पन्ति ते स्थिताः ॥६॥
काम्यानि बहुकर्माणि भ्रान्ति सिद्धानि सर्वदा ।
भाषन्ते कल्पितान्येव पदार्थोपासनानि च ॥७॥

ग्रहणं ग्रहणे काले दानादीन् दर्शसंविधाम् ।
समुद्रदर्शनस्पर्शं द्वितीयादींस्तिथींस्तथा ॥८॥
स्वस्तिकं पात्रदानं च प्रयोजनविधिं बहुम् ।
देवपूजाविधानं च भाषन्ते ह्याशया मुहुः ॥९॥
मुखे वसति वै प्रेतो हृदये कनकं सदा ।
मुखे च हृदये चैव प्रेतस्य कनकं खलु ॥१०॥
प्रेतानां वदने यद्धि कनकं दीयतेऽल्पकम् ।
तच्चापि हृदये येषां वर्तते किं वदामि तान् ॥११॥
देवाऽऽह्वानाग्निहोत्रादे लौकिकालौकस्य च ।
संकल्पस्य च ते ह्याशां कुर्वते भोगसिद्धये ॥१२॥

जो सत्यकर्ता जगतको सिरजा (रचा) उसको नहीं पहचानते हैं न भजते हैं किन्तु भ्रम से सिद्ध असत् कर्मों को लेकर (उसका स्वीकार करके) बैठकर उसीका व्याख्यान करते हैं और ग्रहण आमवस्या आदि का तथा उस समय के दान फलादि का व्याख्यान करते हैं । सायर (समुद्र) दर्शन स्पर्शनादि का, दूजा (द्वितीयादि तिथियोंका, समुद्र से अन्य तीर्थों) का, स्वस्तिक (ग्रहनिवारणादि द्वारा मङ्गल) के लिये पात (पात्र) दानादि का, लौकिक प्रयोजन (कार्य = फल) का, तथा ग्रहपूजनादि का स्वार्थ के लिये व्याख्यान करते हैं । और प्रेत (मृतक) के मुख में के सुवर्णादि भी इनके अन्तर (हृदय) में बसता है। उसकी भी इच्छा करते हैं । अतः प्रेत और कनक को कथा इनके मुख और हृदय में वसती है, राम का नहीं। कनकादि के लिये ही पूर्णाहुति देवाऽऽह्वान (स्तुति) सहित अग्निहोत्रादि की आशा करते हैं ।

उत्तम कुल कलि माँह कहावै । फिरि फिरि मध्यम कर्म करावै ॥
सुत दारा मिलि जूठो खाहीं । हरि भक्ता के छूति कराहीं ॥
कर्म अशौच उचिष्टा खाहीं । मतिभ्रष्ट यमलोकहिं जाहीं ॥
न्हाय खोरि उत्तम ह्वै आवै । विष्णु भक्त देखे दुख पावै ॥

कलौ ह्युत्तमगोत्रास्ते कथ्यन्ते च कुलीनकाः ।
कारयन्ति च कर्माणि बहुशो मध्यमानि वै ॥१३॥
हिंसादीन्यधमान्येव कर्माणिकारयन्ति ये ।
का च तेषां कथा वाच्या वर्तते लोमहर्षणा ॥२४॥

पुत्रैर्दारै मिलित्वा ये तूच्छिष्टं भक्षयन्ति वै।
हरि भक्तेषु ते मोहादशुचित्वं हि मन्वते ॥१५॥
तैश्च स्पर्शादिना ह्यज्ञाः प्रायश्चित्तं च कुर्वते।
अशौचं कुर्वते लोके वह्वोश्चात्र बिडम्बनाः ॥१६॥
अशौचे कर्मणि प्रेतस्योच्छिष्टं येतु भुञ्जते।
मतिभ्रष्टा हि ते यान्ति यमलोके भयावहे ॥१७॥
स्नात्वा विशेषकं कृत्वा ह्यागच्छन्ति सभादिषु।
विष्णुभक्तं हि दृष्ट्वाऽत्र दुःखिनस्ते भवन्ति हि ॥१८।

कलियुग में उत्तम कुलवाले कहात हैं। परन्तु फिरि फिरि (बार बार या घूम घूम कर) मध्यम कर्म कराते करते हैं। उत्तम नहीं। अतएव पुत्र स्त्री के साथ मिलकर जूठ खाते हैं, और पवित्र हरिभक्त के सम्बन्धादि से छूति (अशौच = प्रायश्चित) करते कराते हैं। अशौच कर्म (श्राद्ध) में प्रेत के प्रति अर्पित उच्छिष्ट को खाते हैं कि जिससे बुद्धि के भ्रष्ट नष्ट होने के कारण मरनेपर यमलोक में ही जाते हैं। न्हाय (स्नानकर) के और खोरि (तिलक कर) के और उत्तम (श्रष्ठ पवित्र) हो करके कहीं सभा आदि में आते हैं, तो वहाँ अहिंसक विष्णु भक्त को देखकर, हिंसक ब्राह्मण दुःख पाते हैं, दुःखो होते हैं।

स्वार्थ लागि जे रहे वेकाजा। नाम लेत पावक ज्यों डाजा ॥
राम कृष्ण की छाड़िन आशा। पढ़ि गुणि भये कृतम के दासा ॥
कर्म पढ़ै कर्महि कहँ धावै। जो पूछै तेहि कर्म दृढावै ॥

तुच्छस्वार्थस्य सिद्ध्यर्थं प्रवर्तन्ते विकर्मसु।
हिंसादिषु निषेधाय तन्नाम्नैव ज्वलन्ति च ॥१९॥
अग्निवद्दग्धुमिच्छन्ति क्रुधैव प्रज्वन्ति चेत्।
शृण्वन्ति न हितं वाक्यमभिमानहता नराः ॥२०॥
सर्वात्मनो हि रामस्य कृष्णस्य ब्रह्मरूपिणः।
आशा ह्येतैः परित्यक्ता पठित्वापि विचार्य च ॥२१॥
कार्यस्य क्वापि मूर्त्यादेः काम्यकर्मादिकस्य च।
दासा एतेऽभवन्मोहाद् वन्धानर्थप्रदस्य वै ॥२२॥
कामं पठन्ति कर्माणि ध्यायन्ति तत्फलानि च।
धावन्ते फललब्ध्यर्थं भाषन्ते तानि पृच्छते ॥२३॥

दृढ़ं कुर्वन्ति लोके च कर्तव्यत्वं हिं कर्मणाम् ।
नैव जातु विवेकादेः सद्भक्त्यादे र्निजात्मनः ॥२४॥

तुच्छ स्वार्थ (मांसादि) के लागि (लिये) जे (जो) ब्राह्मणवेकाज (निन्दित हिंसादि कर्म में) लगे रहते हैं, उन हिंसादि को त्यागने के लिये उनके नाम लेते ही क्रुद्ध होकर मानो अग्नि के समान डाजना (दाहना) ही चाहते हैं और सात्त्विक देव भगवान् विष्णु के अवताररूप तथा सर्वात्मा सत्यानन्द स्वरूप राम कृष्ण की आशा (भक्ति) आदि को इन लोगों ने त्याग दिया है । और पढ़ गुण कर भी अत्यन्त कृतम (कार्य) के दास हो गये हैं । अतः तुच्छ कर्मकाण्ड को पढ़ते हैं, कर्मोंके तुच्छ फलों के लिये दौड़ते हैं और जो कोई इनसे पूछता है, उसके प्रति काम्य तुच्छ कर्मों को ही दृढाते, निष्काम सुकर्म दया दान अहिंसा सत्य सद्भक्ति ज्ञान ध्यानादि को नहीं समझाते हैं ।

निःकर्मी की निन्दा कीजै । कर्म करै ताही चित दीजै ॥
ऐसी भक्ति हृदया महँ लावै । हिरणाकश के पन्थ चलावै ॥
देखहु सुमति करे प्रकाशा । अभ्यन्तर भये कृतमक दासा ॥
जाके पूजे पाप न उड़े । नाम सुमरनी भव महँ बूड़े ॥

त्रैगुण्यबन्धमुक्तानां नैष्कर्म्यफलशालिनाम् ।
निन्दाकार्या दिशिन्त्येवं कुर्वते च स्वयं तथा ॥२५॥
कर्मकारिषु तद्देयं स्वचित्तं सावधानतः ।
इत्येवं च दिशन्त्यज्ञाः कुर्वते चातिदुष्करम् ॥२६॥
भक्तिं चैतादृशीं स्वान्तेष्वाहरन्ति यया किल ।
हिरण्यकस्यपस्यैव सम्प्रदायः प्रवर्तते ॥२७॥
एतेषां सुमतेश्चैष प्रकाशो दृश्यतां जनैः ।
मनसाऽप्यभवन् येन दासा कार्यस्य कर्मणः ॥२८॥
यस्य कार्यस्य पूजाभिः पापं किञ्चिन्न नश्यति ।
तन्नाम्नः प्रत्युत स्मर्ता निमज्जति भवार्णवे ॥२९॥
तस्य येऽत्राभवन् दासास्तेषां च पूजनान्नहि ।
पापं नश्यति तन्नाम्ना भवबाधा च वर्तते ॥३०॥

निःकर्मी (कर्म बन्धनों से मुक्त ज्ञानियों) की निन्दा करने को दृढाते हैं कि निष्काम निष्कर्मी की निन्दा करो । और कहते हैं कि जो कर्म करता है, उसी में चित्त दो (मन लगाओ) तहाँ यदि उचित कर्म कर्ता और कर्म में

चित्त देना कहते, तब तो कल्याण ही होता। परन्तु जिस कर्म में चित्त देना कहते हैं, उस कर्म द्वारा ऐसी भक्ति सबके हृदयों में और अपने हृदय में लाते (प्राप्त करते कराते) हैं कि जिससे मानो हिरण्यकश्यप हिरण्याक्षादि असुरों राक्षसों के ही पन्थों (मार्गों) को चलाते हैं। अतः इनकी सुमति के प्रकाश को देखो कि जिससे ये लोग अभ्यन्तर (अन्तःकरण) से सर्वथा कार्यों के ही दास हुए हैं। सर्वकारण सर्वसाधारण परमात्मा के दास नहीं होते हैं। यहाँ कुमति व्यंग्य है। कार्यों में भी ऐसे कार्यों के भक्त हुए हैं कि जिसके पूजने से पाप नहीं उड़े (नहीं नष्ट हो)। किन्तु जिसके नामों के सुमरनी (स्मरण) से स्मरण करनेवाला भवसागर में ही बूड़े।

पाप पुण्य के हाथे पाशा। मारि जगत को कीन्ह विनाशा॥
ई वह्नि कुल वह्नि कहारे। ई गृह जारे ऊ गृह मारे॥
बैठा ते घर साहु कहावै। भीतर भेद मुस मनुअँ लखावै॥

दृढौ तेषां करे पापपुण्यरूपौ हि पाशकौ।
विद्येते कल्पितौ याभ्यां बद्ध्वा सर्वाञ्जगज्जनान् ॥३१॥
मारयित्वेव विध्वस्य भूयोभूयो व्यनीनशन्।
अद्यापि नाशयन्त्येव ये विवेक विवर्जिताः ॥३२॥
रक्षको भक्षको यत्र जीवनस्यात्र का कथा।
सुखं शान्तिश्च मोक्षश्च दूराद्दूरे हि वर्तते ॥३३॥
कथ्यन्ते वह्नयश्चैते विश्वस्मै स्वकुलाय च।
अत एतं गृहं लोकं परलोकं दहन्ति रे ॥३४॥
लोकयोः प्रापका विप्राः संजातास्तद्विनाशकाः।
अहो माया बलं तीव्रं किं किं सा नहि साधयेत् ॥३५॥
गृहे तेऽपि स्थिता श्रेष्ठाः कथ्यन्ते साधवस्तथा।
अन्तः स्थिताय मनसे चौर्यभेदान् दिशन्ति ये ॥३६॥

इनके हाथ (वश) में पापपुण्य की व्यवस्था करनेकी शक्ति फाँसी है, उससे मनमाना पापपुण्य समझाने के द्वारा जगत को मारकर इन्होंने विनष्ट किया है। रे अज्ञ मनुष्य! इसीसे इनको ई (इस संसार) और उनके अपने कुल इन दोनों के लिये वह्नि अग्नि कहा गया है। अग्नि होने ही से ई गृह (इस लोक) को जलाते हैं और ऊ गृह (परलोक) को मारते (नष्ट करते) हैं। वे लोग घर में बैठे हुए साहु कहलाते हैं (सत्यवक्ता व्यापारी कहलाते हैं)। परन्तु भीतर में मनुआँ (मन) को मुसने (चोरी करने ठगने) के भेदों को लखाते (समझाते) रहते हैं।

ऐसी विधि सुर विप्र भनीजै । नाम लेत पीठासन दीजै ॥
बूड़ि गये नहिं आपु सँभारा । ऊँच नीच कहु काहि जोहारा ॥
ऊँच नीच है मध्यम वानी । एकै पवन एक है पानी ॥
एकै मटिया एक कुम्हारा । एक सबन को सिरजन हारा ॥

ईदृशा अपि विप्रास्ते कथ्यन्ते भूसुरास्तथा ।
दीयते नाममात्रेण तेभ्यः पीठासनं जनैः ॥३७॥
यद्यप्येते प्रपूज्यन्ते तथापि भववारिधौ ।
निमग्ना न स्वमात्मानं स्वयमेवोद्धरन्ति ते ॥३८॥
श्रेष्ठा नामकुलाद्यैश्चेत्कर्मभि र्नीचतां गताः ।
कथ्यतां तु तदा केभ्यो ह्यभिवादो विधीयते ॥३९॥
वस्तुतः कुलगोत्राद्यैरार्योऽवर्णादिसंकथा ।
मध्यैव वर्तते लोके देहदृष्ट्या न तत्त्वतः ॥४०॥
देहेष्वपि च वर्तन्ते प्राणास्तुल्या जलानि च ।
मृत्तिकैकविधा कुम्भकारो जीवो विधिस्तथा ॥४१॥
एकधा वर्तते सर्वस्रष्टा चैको महेश्वरः ।
निर्गुणे सगुणे चास्मिन् भेदगन्धो न विद्यते ॥४२॥

आश्चर्य है कि जिनकी ऐसी विधि (रीति क्रिया) है; सो भी भूसुर (भूदेव) और विप्र भनीजै (भने = कहे) जाते हैं । और नाम लेते ही इनको पीठासन (श्रेष्ठ उच्च आसन) दिया जाता है । परन्तु वे लोग स्वयं भवार्णव में बूढ़ गये हैं; अपने को आप सम्हारा नहीं (अधःपतन से बचाया नहीं) है । अतः नाम मात्र से उच्च होते भी जो उक्त विधि से नीच हो गये (कर्मादि से हिरण्यकश्यपादि तुल्य हो गये) तो कहो कि किसके प्रति जोहार (प्रणाम) किया जाय । वस्तुतः देहादि की दृष्टि मात्र से ऊँच नीच की वानी (कथा) मध्यम (लोक व्यवहार मात्र) होती है, समात्मा की ही वानी उत्तम होती है, क्योंकि सबके देहों में पवन पानी आदि भी एक प्रकार के रहते हैं । मिट्टी एक प्रकार की रहती है । कुम्भकार तुल्य विधाता एक है । सबको सिरजने वाला ईश्वर एक है । अतः आत्मा को समता तो है ही ।

एक चाक मध चित्र बनाया । नाद बिन्द के मध्य समाया ॥
व्यापी एक सकल को गौती । नाम धरेका कहिये भौति ॥

राक्षस करणी देव कहावै। वाद करै गोपाल न भावै॥
हंस देह तजि न्यारा होई। ताकर जाति कहहु दहुँ कोई॥

एकस्मिन् गर्भचक्रे च चित्रं सर्वमजीजनत्।
नादे बीजे प्रविष्टं तत् किं हीनं चोत्तमं च किम्॥४२॥
गोऽतीतो विभुरात्मैकः सर्वगोत्रेषु वर्तते।
व्याप्तः सर्वेन्द्रियातीतो नाम्ना स्याद् भौतिकस्य किम्॥४३॥
भौतीकस्यास्य देहस्य कृतैश्च वहुनामभिः।
नात्मा तैः कथ्यते किन्तु देह एव विकथ्यते॥४५॥
यद्वैसत्कर्मणा श्रैष्ठ्यं तच्च येषु न दृश्यते।
कर्मणा राक्षसा एव कथ्यन्ते भूसुरा हि ते॥४६॥
कुर्वते बहुवादांश्च गोपालो रोचते नहि।
एभ्यो ब्राह्मणमन्येभ्यः सर्वव्यापी निरञ्जनः॥४७॥
जात्या किं क्रियते गर्वो जीवात्माऽप्यवलोक्यताम्।
यदा देहं परित्यज्य हंसो भिन्नोभवत्ययम्।
कथ्यतां तस्य का जातिस्तदा कैरपि कीदृशी॥४८॥

एक प्रकार के गर्भाशय रूप चक्र पर, सब देह रूप चित्र बनाये गये हैं। सो नाद (शब्द = प्राण) से और विन्दु (रजो वीर्य) से रचे गये हैं, और सबके गोतीत (इन्द्रियों का अविषय) एकही आत्मा, सबके इन्द्रिय गात्र गोत्र में व्यापक हैं, फिर भौतिक देहों के अनेक नाम धरने से भी समात्मा में भेदादि क्या कहे जा सकते हैं। लोक में कर्माधीन उत्तम मध्यम कनिष्ट व्यवहार होना समुचित है। तहाँ भी राक्षस की करनी (हिंसादि) करने वाले भी भूदेव कहलाते हैं। हिंसा आदि को स्वधर्मादिरूप सिद्ध करने के लिये विवाद करते हैं, और गोपाल (इन्द्रिय भूमि आदि का एक स्वामी ईश्वर) उनको नहीं भावता है, न इनके वादादि गोपाल को भावता है और ये लोग सर्वात्मा गोपाल में भी जाति आदि मानते हैं। परन्तु जब यह व्यावहारिक जीवात्मारूप हंस भी देह को त्यागकर न्यारा हो जाता है, तब उसकी जाति तो कह दो, वताओ कि उस समय उसकी कौन जाति रहती है। अर्थात् शरीरको त्यागने पर जीवात्मा में जाति नहीं रहती है। अतः शरीर में रहते उसमें जाति नहीं रहती है। कृष्ण गौरादि के समान देह में भी जाति कल्पित होती है।

श्वेत स्याह की राता पियरा। अवरण वरण कि ताता सियरा॥
हिन्दु तुरुक की बूढा बारा। नारि पुरुष मिलि करहु विचारा॥

कहिये काहि कहा नहीं माना । दास कबीर सोइ पै जाना ॥६

श्वेतोऽसौ ब्राह्मणो यद्वा श्यामः शूद्रस्वरूपकः ।
रक्तोऽस्ति क्षत्रियो यद्वा पीतात्मा वैश्यवर्णकः ॥४६॥
अवर्णः सर्ववर्णो वा सोष्णोऽस्ति शीत एव वा ।
आर्यो वा यवनो वाऽसौ वृद्धस्तरुण एव वा ॥५०॥
नारी किं पुरुषो वाऽसौ सर्वैरित्थं विचार्यताम् ।
नारीभिः पुरुषैर्येन मोहो ज्ञानाद्विनश्यतु ॥५१॥
सद्‌गुरुश्चाह कस्यैतद्रहस्यं कथ्यतामिमे ।
मन्यन्ते नैव कार्याणां दासास्तान्येव मन्वते ॥५२॥
गुरुभक्ताश्च ये केचिद् भविष्यन्ति नरोत्तमाः ।
मंस्यन्ते त इदं तत्त्वमन्यस्मै कथ्यतां किमु ॥५३॥

उस आत्मा को समझने के लिये नारी पुरुष सब मिलकर विचार करो कि वह श्वेत (उजला या सात्त्विक ब्राह्मण) है कि स्याह (काला या तामस शूद्र है । कि राता लाल या राजस क्षत्रिय) है, कि पियरा (पीला या गुण मिश्रित वैश्य) है या अवरण (जातिवर्ण रहित) है या सब वर्ण जाति वाला है, हिन्दू है, कि तुरुक है, वृद्ध है कि बालक या युवा है । अर्थात् आत्मा में श्वेतता आदि कोई गुण जाति क्रिया अवस्था आदि नहीं हैं । ये सब देह में कल्पित होते हैं, सो विचार से समझो, और मिथ्या अभिमानों को त्यागो । श्रीकबीर साहब कहते हैं कि यह विचारार्थक उपदेश किससे कहा जाय । प्रायः बहुत लोगों ने इस उपदेश को नही माना है । किन्तु केवल कोई हरि गुरु भक्त जो है । सो भक्त ही इस उपदेश को जाना और माना है । देवादि के भक्त तो उस श्वेतादि को ही सत्य जानते मानते हैं, आत्मा को नहीं ।

साखी—बहिया है बहि जात है, करे गहे चहुँ ओर ।
जो कहा नहिं माने तो, दे धक्का दुइ और ॥१॥

इति श्रीसद्‌गुरुकबीरकृते विविधबन्धबीजविध्वंसने बीजकनाम्नि
ग्रन्थे चतुर्थं विप्रमतीसी प्रकरणं समाप्तम् ॥४॥

नन्ववाह्यन्त सर्वेमीजन्तवोऽनन्तकालतः ।
इदानीमपि वाह्यन्ते भवनद्याऽतिवेगतः ॥५४॥
मनोबुद्धि कराभ्याञ्च चतुर्दिक्षु हि गोचरान् ।
गृहीत्वाऽत्र वहन्त्यज्ञा मन्यन्ते न सतां कथाम् ॥५५॥

तथापि विदुषासेतदुचितं कथ्यतां हि यत् ।
द्विस्तेभ्यो यदि मन्येरन् हितं तेषां भवेत् परम् ॥५६॥
लौहकान्तो यथा लोहं व्यवधाने न चाहरेत् ।
सन्निधावाहरेन्नुनं व्यवधानव्यपायतः ॥५७॥
वासनाकामकर्माद्यै र्व्यवधाने तथा नहि ।
चिदानन्दमयं ब्रह्म स्वात्मनेऽप्याहरेन्मनः ॥५८॥
ईश्वरोऽप्यात्मयोगाय मुक्तये न कदाचन ।
भक्ति हीनं मनो हृत्वा स्वस्मिन् संहर्तुमर्हति ॥६०॥
वासना कामकर्मादीन्यनुरुध्य परेश्वरः ।
प्राणिभ्यः फलमाहर्ता नान्यत्कर्तुं स शक्नुयात् ॥६१॥
वासनादि विशुद्धौ च भक्तियुक्तं मनः सदा ।
आहरेदीश्वरो ब्रह्म लौहकान्तवदेव हि ॥६२॥
न तत्र रागो न च दोषरोषौ न च क्रिया कापि विचित्र रूपा ।
कामादि योगेन हि सर्वजन्म तेषां वियोगेन च मुक्तता स्यात् ॥६३॥
विप्रादि सुमतिं सम्यग् बुद्ध्वा यद्वचनादिह ।
पुन र्न भ्राम्यति क्वापि तस्मै श्री गुरुवे नमः ॥६४॥
विप्रसुधीपुष्पजमकरन्दं माद्यतु पीत्वाहरिजन भृङ्गः ।
पश्यतुशुद्धाऽद्वयमनवद्यं तिष्ठतु शुद्धे पथि परविद्यः ॥६५॥१॥

इति हनुमत्कृता विप्रमतिमकरन्द व्याख्या समाप्ता ॥४॥

अज्ञ अभिमानी जीव संसार नदी में अनादि अनन्त काल से वह चुके हैं। और अब भी बहे जाते हैं, और मन बुद्धि रूप कर में विषय काम वासना आदि को चारो तरफ से सर्वथा पकड़े हुए हैं। सो डुबाने वाले विषयादि भयानक दुःखप्रद हैं, उनके त्याग से इन विवेकी जीवों का कल्याण हो सकता है। तहाँ उस त्याग के लिये एकबार कहने पर भी यदि कहा नहीं मानते हैं, तो दो धक्का और भी देना चाहिये, त्याग विराग शमादि की सिद्धि के लिये दो बार और भी समझाना चाहिये। "सत्य ईश के ज्ञान बिनु, धर्म ज्ञान बिनु जोय। चलत असत पथ ताहिको, समुझाइय मुनि लोय ॥१॥" "शान्ता महान्तो निवसन्ति सन्तो वसन्तवल्लोकहितं चरन्तः। तीर्णाः स्वयं भीमभवार्णवाज्जनानहेतुनान्यानपि तारयन्तः ॥१॥ विवेकचू०"।

इति श्रीसद्गुरुकबीरसाहबकृत बीजक का स्वामी श्रीहनुमानदासजी साहब षट्-शास्त्री विरचित स्वल्पाक्षराहिन्दीव्याख्या चतुर्थ विप्रमतीसी प्रकरण समाप्त।

* ओम् राम *

—: श्रीसद्गुरु :—

कबीर साहब कृत बीजक

[स्वानुभूतिसंस्कृतस्वल्पाक्षराहिन्दीव्याख्यासहित]

अथ पञ्चम हिंडोला प्रकरण

दोलादोलित मानसान् निजजनान् संप्रेक्ष्य यो विह्वलान्,
त्रासाच्चूर्णमतारयत्सुविमलैः पद्यैस्त्रिभिः सन्दिशन् ।
तं सर्वस्य हितं महाकविवरं कल्याणकल्पद्रुमम्,
वन्दे सद्गुरुरूपिणं करुणया युक्तं कबीरं परम् ॥१॥
यस्य विज्ञानमात्रेण दोलाया न भयं भवेत् ।
तं वन्दे परमानन्दं शुद्धं सत्यं चिदव्ययम् ॥२॥

यदाश्रिताः कर्मभवाश्च कर्मकालादयः कर्मफलं प्रदातुम् ।
सामर्थ्यवन्तो नितरां भवन्ति तज्ज्ञानतस्ते विलयं प्रयान्ति ॥३॥
अतो गुरुस्तस्य सुबोधहेतुं विवेकवैराग्यजनौ समर्थम् ।
चकार पद्यत्रितयं सुबोधं विचार सत्सङ्गसुमार्गदीपम् ॥४॥

हनुमन्तं हि यः शीघ्रं दोलादीजमहाभयात् ।
अतारयत्तमचलं भजेऽहं सद्गुरुं हरिम् ॥५॥

हिंडोला १

भरम हिंडोला ना (जामै), सब जग झूलै आय ॥
पाप पुण्य के खम्भ दोऊ, मेरु माया मानि ।
लोभ मरुआ विषय भँवरा, काम कीला ठानि ॥
शुभ अशुभ बनाय डाँडी, गह्यो दोनो पानि ।
यह कर्म पटरी बैठि के, (को) को न झूलै आनि ॥

भ्रमसिद्धा हि दोलेयं मनोदेहात्मकं जगत् ।
यत्राऽऽगत्य हि सर्वेऽमी दोलायन्ते शरीरिणः ॥१॥
पापपुण्यमयौ स्तम्भौ ह्यधः स्थावुच्छ्रितौ दृढौ ।
मेरुस्तम्भोऽत्र मायैव तिर्यक् ताभ्यां परं स्थिता ॥ २ ॥
लोभो गोपानसी चात्र विषया भ्रमणप्रदाः ।
प्रेङ्खास्थानादिका ज्ञेया यत्र भ्राम्यति वेगतः ॥ ३ ॥
लोभो मरुवको यद्वा भ्रमरा विषया मताः ।
कामः कीलोऽत्र विज्ञेयो येन सर्वो निबध्यते ॥ ४ ॥
शुभाशुभौ पदार्थौ द्वौ दण्डौ तत्र कृतौ हि तौ ।
हस्ताभ्यां निगृहीतौ वै सर्वै- र्वा मनसाधिया ॥ ५ ॥
प्रसिद्धं यदिदं कर्म कामक्रोधादि दूषितम् ।
तत्र स्थित्वा न के केऽत्र दोल्यन्ते देवमानवाः ॥ ६ ॥

मायामय संसार में, भरम सिद्ध सब देह ।
तामें सब जिव झूलहीं, जब लो मुक्ति विदेह ॥१॥

ना (पुरुष = नर = जीव) का देहादिरूप हिंडोला (झूला) भ्रमरूप (मिथ्या) है । और अज्ञान, भ्रम, संशयरूप अविद्या से सिद्ध हुआ है, उस देहादि में आकर सब संसारी झूलता है (द्वन्द्वयुक्त होता है, नीचे-ऊपर गमनागमन करता है) इस हिंडोला में पाप-पुण्य (धर्माधर्म) दो खम्भे तुल्य हैं । ममता मोहादिरूप माया मेरु (मध्य की लकड़ी तुल्य) है, ऐसा मानो, इस प्रकार मानी गई है । और लोभ मरुआ (पुष्प या छाया आदि के लिये लगाई लकड़ी तुल्य) है । शब्दादि विषय भंवरा (भ्रमर या भ्रमण के स्थान तुल्य) हैं । काम को कील के तुल्य ठाना (किया) गया है । शुभ-अशुभ पदार्थों को मानो डांडी (दण्ड) बनाकर जीव दोनों हाथों से पकड़ता है, पकड़ा है । और वर्तमान कर्मरूप तथा प्रारब्धरूप पटरी पर बैठकर इस संसार शरीर में आकर कौन नहीं झूलता है । सब देहधारी क्रम से सुख दुःखादियुक्त अनेक अवस्था को प्राप्त करता है ।

झूलै तो ब्रह्मा दत्त शिव, झूलै तो सुरपति इन्द्र ।
झूलै तो नारद सारदा, झूलै व्यास फणीन्द्र ॥
झूलै तो गण गन्धर्व मुनि, झूलै सूरज चन्द ।
आपु निर्गुण सगुण होयके, झूलिया गोविन्द ॥

ब्रह्मा संदोल्यते देही दत्तात्रेयो महामुनिः ।
सर्वज्ञश्च शिवो देवराडिन्द्रश्च प्रतापवान् ॥ ७ ॥
देवर्षि नारदश्चैव भारती पावनी मता ।
व्यासोऽपि सर्वविज्ञानी फणीन्द्रः शेष एव च ॥ ८ ॥
गणगन्धर्वदेवाश्च मुनयः सूर्यचन्द्रकौ ।
स्वयं यन्निर्गुणं ब्रह्म गां लब्ध्वैवेन्द्रियादिकम् ॥ ९ ॥
दोळायां दोल्यते नित्यं भूत्वेव सगुणं गुणैः ।
जीवेशादि स्वरूपेण नानावस्थासु गच्छति ॥१०॥
यद्वा गोविन्दनामा यो विष्णुर्देवः सनातनः ।
दुर्गुणै रहितो भूत्वा दोल्यते सद्गुणैः सह ॥११॥

ब्रह्मा, दत्त (दत्तात्रेय) शिव, देवपतिइन्द्र, नारद, सारदा (सरस्वती) व्यास, फणीन्द्र (शेषनाग) गणदेव (वसु आदि) गन्धर्वदेव, मुनि, सूर्य, चन्द्र, देव ये सब झूलते हैं । और आप (स्वयं) निर्गुण ब्रह्म गोविन्द (इन्द्रियादि उपाधिवाला) सगुण होकर झूलता है या स्वयं गोविन्द (पृथिवी आदि के रक्षक विष्णुदेव, निर्गुण (ब्रह्मस्वरूप = दुर्गुण रहित) और सगुण (सद्गुण सहित) होकर झूलते हैं, और झूल चुके हैं ।

छ चारि चौदह सात इकिस, तीनि लोक बनाय ।
खानि बानि खोजि देखहु, स्थिर न कोइ रहाय ॥
खण्ड ब्रह्मण्ड खोजि देखहु, छूटत कतहूँ नाहिं ।
साधु सन्त विचारि देखहु, जिव निस्तरि कहँ जाहिं ॥

जन्मादीन् स विकारान् षट् कामाद्यरिगणांस्तथा ।
खन्यवस्थायुगादींश्च भुवनं भूतसर्गकान् ॥१२॥
सप्त स्वरान् समुद्रांश्च तन्मात्राणि मनोधियम् ।
नरकान् विंशतिं चैकं लोकांस्त्रीन् साधनान्वितान् ॥१३॥
रमते रचयित्वाऽत्र गोविन्दो जीव एव वा ।
स्थितिं न लभते क्वापि दोळया दोलितः सदा ॥१४॥
किञ्च षड् दर्शनादीनि विचार्यैतेषु मृग्यताम् ।
खनिवाणीषु सर्वासु स्थिरः कोपि न लभ्यते ॥१५॥
अन्विष्याऽऽलोक्य खण्डेषु ब्रह्माण्डेषु विलोकय ।
मुच्यते क्वापि बन्धान्नो कोपि विज्ञानमन्तरा ॥१६॥

साधवः सज्जनाश्चैतत् सुविचार्य प्रपश्यत ।
कुत्र गत्वा ह्ययं जीवो निर्वाणं परमेष्यति ॥१७॥
ज्ञानं विना न कुत्रापि गत्वाऽयं मुच्यते तथा ।
ज्ञानाद् ध्वान्तनिवृत्तौ तु मुक्त एव गताशयः ॥१८॥
साधुभिः सज्जनैर्वैतद्विचार्यैव प्रदृश्यताम् ।
कुत्र याति विमुक्तोऽयं जीवः संसारबन्धनात् ॥१९॥

छः (शास्त्र=वेदाङ्गादि) चार (वेद अवस्थादि) चौदह (सर्ग=भुवन=विद्यादि) सात (द्वीप समुद्रादि) इक्किस (नरक स्वर्गादि) और तीन लोक को बनाय (रच) कर, गोविन्द झूलते हैं । तथा ये सब भी स्थिर नहीं हैं । इन सब को कर्मादि द्वारा रच कर मानो जीवात्मा झूलता है । अतः अण्ड-जादि चारो खानि में, और वेदादि वाणी में खोज (विचार) कर देखो (समझो) कि स्थिर रहने वाला कोई पदार्थ या देही नहीं है । और नव खण्ड सब ब्रह्माण्ड में खोज कर देखो कि देहधारी ज्ञानादि के बिना कहीं भी झूलने से नहीं छुटता (बाँचता) है ज्ञान द्वारा विदेह मुक्ति के बिना कहीं शान्ति नहीं मिलती है । अतः ज्ञान के लिये साधु (कुशल ज्ञानी) सन्तों के साथ विचार कर देखो कि जीव कहाँ जा कर निस्तार (मोक्ष) पाते हैं, या निस्तार पाकर कहाँ जाते हैं । अर्थात् ज्ञान के बिना कहीं जाने से मुक्ति नहीं होती है । न मुक्त ज्ञानी कहीं जाते हैं सो "ते नर कहहु कहाँ गये, जिनहि दीन्ह गुरु घोंटि । र. साखी ३७" "तौं लगि तारा जगमगै, जौं लगि उगै न सूर । तौं लगि जीव कर्म वशी, जौं लगि ज्ञान न पूर ।। साखी-२१३" इत्यादि उपदेशों से समझो ।

जहँ रैनि दिवस न चन्द सूरज, तत्त्व पल्लव नाहिं ।
काल अकाल प्रलय नहिं, तहँ सन्त बिरले जाहिं ॥
तहँ के बिछुरे (बहु) कल्प बीते, भूमि परे भुलाय ।
साधु सङ्गति खोजि देखहु, बहुरि (न) उलटि समाय ॥

नक्तंदिवप्रभेदो नो सूर्यश्चन्द्रो न यत्र वै ।
पञ्चतत्त्वानि नैवैषां विस्तारो यत्र नास्ति च ॥२०॥
सुकालो नैव दुष्कालः प्रलयो न कथञ्चन ।
सन्तो विवेकिनः केचित्तत्र यान्ति विमत्सराः ॥२१॥
वियुक्तानां ततश्चैषां गताः कल्पा ह्यनन्तकाः ।
अनादिकालतश्चैते भूमौ भ्राम्यन्ति सर्वथा ॥२२॥

जीवाः सर्वे हि कल्पान्ते यान्ति तत्रैव साशयाः।
आयान्ति च पुनस्तेन गर्भादिषु विमोहतः ॥२३॥
साधूनां सङ्गतौ चैतदन्विष्यात्र प्रपश्यत।
येन भूयो न कुत्रापि संसारे विशताशया ॥२४॥
यद्वा निराशयैस्तत्र पुनस्तत्त्वे निविश्यताम्।
नैवात्रागमनं येन दोलायां संभविष्यति ॥२५॥

जिसमें रात्रि दिवसादि कालकृत अन्धकार प्रकाश का भेद नहीं है, क्योंकि "ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते" वह ज्योतियों की ज्योति और तमसे पर कहा जाता है। अतएव जिस स्वरूपमें चन्द्र-सूर्यादिके प्रकाशकी आवश्यकता नहीं होती है, न जिसमें पांच तत्त्वों का पल्लव (विस्तार सम्बन्ध) होता है। शीतोष्णादि भूतनीमित्तक विकार जिसमें नहीं होता है। अतएव सुकाल दुष्काल और प्रलय (मरण मोक्ष नाशादि) का सम्बन्ध उस स्वरूप में नहीं होता है। उस स्वरूप में कोई विरले ज्ञानी सन्त जीवित अवस्था में ही समाधिकाल में जाते हैं। तथा द्वन्द्वों से रहित ब्रह्मनिष्ठ कोई विरल सन्त होते हैं। यद्यपि महाप्रलय और सुषुप्ति में सब जीव उस स्वरूप में प्राप्त हो जाते हैं। तथापि अज्ञान वासनादि बश फिर वियुक्त हो जाते हैं। इसप्रकार उस स्वरूप के मिलते बिछुड़ते में अनन्त कल्प अनादिकाल बीत चुके हैं। और यह जीव भूमि (भौतिक देहादि) में प्राप्त होकर उसे सर्वथा भूला रहता है। अतः सदा संसार में झूलता है। तहाँ मुमुक्षु के लिये उपदेश है कि ज्ञानी साधु की सङ्गति में खोजकर (विचार ध्यानादि करके) उस स्वरूप को देखो (अपरोक्ष करो) कि जिससे प्रारब्धान्त में उस स्वरूप में प्राप्त होने पर फिर उस स्वरूप से उलटकर, भूमि शरीर गर्भादि में नहीं समायगा। अर्थात् अज्ञानमूलक अनादि संसार, जिस ज्ञान से निवृत्त होता है। उस ज्ञान को साधु सङ्गति आदि द्वारा प्राप्त करो। अथवा संसार से सर्वथा उलटकर (उपरत विरक्त होकर) साधु संग में खोजकर, उस स्वयं प्रकाश आनन्दघन को देखो कि जिससे उसमें समाय जाओगे (लीन हो जाओगे) आवागमनादि से रहित मुक्त हो जाओगे, क्योंकि "परिचय भया जो एक से, एकहि माहँ समाया। सा. १३०" "ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति। मुण्डक. ३।२" ब्रह्म को जाननेवाला ब्रह्म हो जाता है। अतः अज्ञान भेदादि के अभाव से वह फिर नहीं भूलता है।

यहि झूलवे की भय नहीं, जो होहिं सन्त सुजान।
कहहिं कबिर सतसुकृत मिलै (तो), बहुरि न भूलै आन ॥१॥

ज्ञानवन्तो हि ये सन्तस्तेषां दोलाभयं नहि।
विद्यते हीति निश्चित्य शुद्धं ज्ञानमुपार्जय ॥२६॥
सद्गुरुश्चाह येषां वै संमिलेत्सद्गुरुः कश्चित्।
सत्यवक्ता सहृच्चैव पुण्यं निष्कामकर्मजम् ॥२७॥
ते पुन र्नैव दोलायामायास्यन्ति कदाचन।
जीवन्मुक्ता विमुक्ताश्चते स्थास्यन्ति सदव्यये ॥२८॥

सर्वं विहायाऽत्र मनोनिदध्याद्रामे परे ब्रह्मणि शान्तरूपे।
सर्वं क्षणात्तद्धि विलाप्य दुःखमुत्तिष्ठते सौख्यमयं विशुद्धम् ॥२९॥
न यस्य मोहो न मदो न मत्सरः समस्वभावेन तु वर्तते सदा।
न रागरोषौ न च दोषदुर्विधा स एवसाक्षात्परतः परो भवेत् ॥३०॥

जो सुजान (अपरोक्षात्म ज्ञानी) सन्त होते हैं, उनको जीवन्मुक्त हो जानेके कारण इस झूलवे की (संसार की) पुनरावृत्ति का, भय उनको नहीं रहता है, और श्री कबीर साहब कहते हैं कि सच्चे सुकृत (निष्काम शुभ कर्मादि) के प्रभाव से यदि वैसे सत सुकृतवाले सन्त मुमुक्षु को मिल जायँ, तो वह भी फिर झूलना पर आकर नहीं झूलता है, उनसे ज्ञान पाकर मुक्त हो जाता है। अतएव साधु सङ्गति में खोजकर देखने के लिये उपदेश दिया गया है "सन्त सङ्ग अपवर्ग कर" सत्सङ्गति मुद मङ्गल मूला, इत्यादि सन्त वचन हैं। और "उपासते पुरुषं ये ह्यकामास्ते शुक्रमेतदतिवर्तन्ति धीराः। मुण्डक. ३।२।१" जो निष्काम धीर पुरुष, ज्ञानी की उपासना सेवा करते हैं। सो रजोवीर्यरूप शुक्र को फिर कभी नहीं प्राप्त करते हैं। शरीरधारी नहीं होते हैं, इत्यादि। सुदेवं सदा निर्मलं संस्मरन्तो जगज्जालमालां हृदाविस्मरन्तः। भजन्ते सदा निर्मलं यं महान्तो गुरुं देवदेवं सदा तं भजामः ॥१॥

हिंडोला २

बहु विधि चित्र बनाय के हरि, रची क्रीडा रास।
जेहि झूलवे कि इच्छा नहिं, अस बुद्धि (है) किहि पास ॥
झुलत झुलत बहु कल्प बीते, मन नहिं छोड़त आस।
मचो रहत हिंडोल अहनिशि, चारि युग चौमास ॥

चित्राणि बहुधा कृत्वा स्वाद्यलीलां हरिः स्वयम्।
सत्यामरचयन्नैषा भ्रमरूपेति केचन ॥३१॥

यया नात्र भवेदिच्छा क्रीडितुं सा मतिः कुतः ।
वर्तते हृदये कस्य हरेस्तन्त्रं जगत् समम् ॥३२॥
दोलायां क्रीडतां चातो बहुकल्पा गताः खलु ।
मनस्त्यजति नैवाशां हरिर्यावन्न चेच्छति ॥३३॥
रहस्यरचिता चेयं चला दोला ह्यहर्निशम् ।
चत्वारि च युगान्यत्र चातुर्मासाः प्रवर्षणाः ॥३४॥

कोई कहते हैं कि यह जन्मादि रूप संसार, अज्ञान भ्रमादि से सिद्ध नहीं हुआ है। किन्तु हरि (परमात्मा) ने स्वयं क्रीडा रास (लीला समूह) को, बहुत प्रकार के चित्र (लोकदेहादि) को बना कर रचा है, अर्थात् हरि ने बहुत प्रकार के लोकादि को बनाकर जन्म मरणादि रूप रास क्रीडा रची है। और जिसको इस लोकादिरूप झूले पर झूलने की इच्छा नहीं हो, या जिस बुद्धि (ज्ञान) से झूलने की इच्छा नहीं हो, किन्तु मोक्ष की इच्छा हो, ऐसी इच्छा अनिच्छा के हेतुरूप विवेकादि युक्त बुद्धि भी किस के पास में है, अर्थात् ऐसी बुद्धि स्वयं प्राप्त होने वाली नहीं है, किन्तु यह बुद्धि भी ईश्वराधीन है। अतएव झूलते झूलते बहुत=अनन्त कल्प बीत गये हैं। परन्तु हरिकी इच्छा के बिना झूलने की आशा को मन नहीं छोड़ता है। हिंडोला भी रात दिन मचो (चलती) रहती है, जिस झूलने में चारोयुग चातुर्मासतुल्य होते हैं।

कबहु (क) ऊँचे कबहुं (क) नीचे, स्वर्ग भूतले जाय ।
अतिभ्रमत फिरत हिंडोलवा, (हो) नेकु नहिं ठहराय ॥
डरपत हौं यह झूलवे कि, राखु (हो) यादव राय ।
कहँ कबिर गोपाल विनति, शरण हरि को पाय ॥२॥

कदाचिद्याति चोर्ध्वं सात्वधः स्वर्गेऽथ भूतले ।
भ्रमत्येवं हि वेगेन किञ्चित् क्वापि न तिष्ठति ॥३५॥
यादवानां हि राजा त्वं हे हरे ! भक्तवत्सल ! ।
पाह्यस्मान् वयमद्यास्माद्दोलनात्संविभेमहि ॥३६॥
इत्येवं कवयः प्राहुस्तथाऽऽचार्याः प्रमेनिरे ।
गोपालशरणं प्राप्य चक्रुस्ते विनयं बहु ॥३७॥
यद्वा सद्गुरुरेवाह सर्वात्मा श्रीहरिः स्वयम् ।
जीवकर्मानुसाराद्यैः कृत्वा चित्राण्यनेकधा ॥३८॥

लीलया लोकवत्सैव क्रीडारासं तु मायाया।
चकार जीवरूपेण प्रविश्य चित्रविश्वयोः ॥३९॥
"रमणार्थमिदं सर्वं ब्रह्मैव स्वेच्छयाऽभवत्।
यथा सर्पः स्वेच्छयैव कुण्डलाकारतां व्रजेत्" ॥४०॥
विभेत्यत्र यदा जीवो यादवानां प्रभुं तदा।
स्तौति मां शरणे रक्ष विभेम्यत्र ह्यहं विभो ! ॥४१॥२॥

उक्त हिंडोला पर झूलने वाला जीव कभी ऊँचे स्वर्ग में, कभी नीचे भूतल में जाता है, क्योंकि मन सूक्ष्म देहादिरूप हिंडोला ही अत्यन्त भ्रमती फिरती है, सब लोकादि चञ्चल हैं। अतः नेकु (तनिक) भी हिंडोला ठहरती नहीं हैं, जो जीव इस झूलने से डरता है, सो विनय करता है कि हे यादव राय (कृष्णदेव) मैं इस झूलवे (झूलने) से डरता हूँ। आप अपने शरण लोकादि में राखो। श्री कबीर साहब कहते हैं कि हरि की क्रीडा रूप संसार को मानने वाले भयभीत होने पर भी हरि के शरण को पाय (प्राप्ति योग्य) मान कर, हरि की विनति (स्तुति) आदि का ही कथन करते हैं। शरण की लोक विशेष की प्राप्ति चाहते हैं, जीवन मुक्ति के लिये ज्ञान नहीं चाहते हैं, क्योंकि उनका मन्तव्य है कि--यच्छक्तयो विश्वमलं सृजन्ति रक्षन्ति निघ्नन्ति जनेषु विश्यन्। तन्नामरूपाकृतिभिः स्वयं च विभिद्य चास्ते हि महाविभूतौ ॥ १ ॥ उभयोरात्मभूतोऽयं स्वतन्त्रो धारको हरिः। प्रेरको मारको लिप्तो भोजको भोग वर्जितः ॥२॥ ब्रह्मसंहिता, उभयोश्चिदचितोः. लिप्तः ससङ्गः। जिस ईश्वर की शक्तियाँ संसार को पूर्ण रूप से उत्पन्न करती है, रक्षा करती है, नष्ट करती हैं; सो ईश्वर जनों में प्रवेश करता हुआ, उनके नाम रूप और आकारों के द्वारा भिन्नता को प्राप्त होकर भी स्वयं महाविभूति में रहता है ॥ १ ॥ यह हरि (ईश्वर, चिदचित् (जीव जड़) दोनों के आत्मस्वरूप, स्वतन्त्र, धारण कर्ता प्रेरक, मारनेवाला, भोगदाता और लिप्त (ससङ्ग) होता हुआ भी स्वयं भोग वर्जित रहित है ॥२॥ इत्यादि ॥२॥

हिंडोला ३

लोभ मोह के खम्भ दोऊ, मन से रची हिंडोल।
झुलहिं जीव जहान जहँलो, कतहूं नहीं थित ठौर ॥
चतुर झुलहिं चतुराइया, झूलहि राजा शेष।
चान्द सूर्य दोउ झूलही, उनहुँ न भौ उपदेश ॥

लोभमोहमयैः स्तम्भै युक्तां दोलां भ्रमात्मिकाम् ।
मनसाऽरचयन् जीवा विशेषेण पृथक् पृथक् ॥४२॥
रचयित्वा च दोलां ते दोलायन्ते हिं सर्वशः ।
ये केचिद् देहिनो लोके भुवने क्वापि सन्ति हि ॥४३॥
परिणामक्रियाद्यैश्च दोलनात्सर्ववस्तुनः ।
सर्वत्रैवात्र संसारे स्थितेः स्थानं क्वचिन्नहि ॥४४॥
चतुरश्चात्र चातुर्याद् राजा शेषादिकोपि च ।
भवे दोलायतेऽत्रासौ चन्द्रः सूर्यः प्रतापवान् ॥४५॥
उपदेशो यतो नैतैः पूर्वजन्मस्वलभ्यत ।
खेलायन्ति ततः सर्वे कृत्वा कर्माणि कामतः ॥४६॥

बाह्य संसारमें पाप-पुण्यके खम्भे कहे गये हैं। उनके भी मूलरूप भ्रमजन्य लोभ मोह के दो खम्भे हैं। उनके द्वारा व्यष्टि संसार रूप हिंडोला को मन से जीव रचता है, और रचा है। अर्थात् ईश्वर जगत का साधारण कारण है, विशेष कारण पुण्य पाप लोभ मोहादिक ही हैं। और जहान (संसार) जहाँ लो (जहाँ तक) है, तहाँ तक सब लोकों में स्थूल सूक्ष्म देहों द्वारा जीव झूलते हैं। निजात्म स्वरूप से भिन्न कहीं भी स्थिति का कोई ठौर (स्थान) नहीं है। तहां चतुर (विवेकी धर्मज्ञ) चतुराई (कुशलता) से, चतुरता पूर्वक शुभ कर्मादि द्वारा अच्छे स्थानों में झूलते हैं। जैसे कि राजा धर्मज्ञ होने पर लोक रक्षा आदि राज्यकार्य में झूलते हैं। शेष भूमि के धारणादि रूप कार्य में पुराण के अनुसार झूलते हैं। और चन्द्र सूर्य भी लोकोपकार रूप अच्छे कार्यों में झूलते हैं। परन्तु राजा शेषादि को भी पूर्वजन्म में वह उपदेश नहीं हुआ (नहीं मिला) कि जिससे सर्वथा झूलना ही नहीं हो, क्योंकि सत्यात्मा के उपदेश द्वारा आत्मज्ञान होने पर फिर संसार नहीं होता है, और वह ज्ञान कामादि रहित को होता है। सकाम अधिकार के हेतु तप आदि के द्वारा अधिकार मिलने पर, भी उस तप बलादि से ज्ञान होने पर भी कल्प पर्यन्त गमना-गमनादि नहीं छूटते हैं। अतः श्रुति में अधिकारियों के भय का वर्णन है।

लख चौरासि जिव झूलहिं, रवि सुत धरिया ध्यान।
कोटिन कल्प युग बीतिया, अजहुँ न मानै हान॥

धरति आकाश दुइ झूलहीं, झूलहिं पवना नीर ।
देह धरे हरि झूलहीं, देखहिं हंस कबीर ॥३॥

इति सद्गुरुकबीरकृते विविधबन्धबीजविध्वंसने बीजकनाम्नि
ग्रन्थे पञ्चमं हिंडोलाप्रकरणं समाप्तम् ॥५॥

उपदेशं विनैवास्य ह्यसङ्गस्यात्मनः सदा ।
युगाष्टलक्षयोन्यादौ दोलायन्तेऽत्र जन्तवः ॥४७॥
खेलायन्तो न जानन्ति वैवस्वतयमं जनाः ।
स च दत्तावधानो वै वर्तते सर्वतः सदा ॥४८॥
इत्थमेषां गतान्यत्र कल्पाश्चैव युगानि च ।
कोटयो नैव जानन्ति स्वहानिं दुःखवेदनाम् ॥४९॥
दोलायन्ते पृथिव्यां च तथाऽऽकाशे च वायुषु ।
अप्सु चान्ये तथा चैते देवाः क्षित्यादिसंज्ञकाः ॥५०॥
विष्णुश्चैव स्वयं देवो देहं धृत्वा पृथग्विधम् ।
भवे दोलायते ह्यत्र पश्यन्त्येवं विवेकिनः ॥५१॥
सर्वात्मैव हरिं यद्वा देहं धृत्वा पृथक् पृथक् ।
भवे दोलायते तं च प्रपश्यन्ति ज्ञानिनोऽचलम् ॥५२॥
हिंदोलाललितं ह्येतद्विलोक्य कृतिनो जनाः ।
त्यक्त्वा लोभादिकं सर्वं द्वन्द्वमुक्ता भवन्तु वै ॥५३॥
हिंदोलाललितं विलोक्य विबुधस्त्यक्त्वा भ्रमं दूरतो,
धर्माधर्ममयान् विपाक्य विपुलान् स्तम्भांश्च मायां तथा ।
लोभं गोचरकाम कर्म कलहं हित्वा हरिं संभजन्,
मोहध्वान्तविमुक्तमानसतयाऽसौ निश्चलो मोदताम् ॥५४॥३॥

इति हिन्दोलाललितं समाप्तम् ।

इस असङ्ग एकात्म के उपदेशादि के बिना ही चौरासी लाख योनियों में जीव झूलता है। सर्वत्र इसको मारने के लिये, चूहे पर बिलार के समान यमराजरूप सूर्य का पुत्र ध्यान धरे रहता है, इस प्रकार से कोटि कल्प और युग बीत गये, परन्तु सत्सङ्ग सदुपदेशादि के बिना, यह जीव अजहुँ (अबही भी) अपनी हानि को नहीं मानता (समझता) है। न यमराज को

समझता है । भूमि और आकाश के अभिमानी दोनों देव झूल रहे हैं । तथा भूमि और आकाश (स्वर्ग) के निवासी जीव सब लोकादि में झूलते हैं । वायु जलादि के अभिमानी देव झूलते हैं । और देह धरे हुए हरि (भगवान विष्णु) अपने अधिकार पर्यन्त झूलते हैं । श्री कबीर साहब कहते हैं कि इस रहस्य को हंस (विवेकी) देखते हैं । सो किसी लोक देवादि की इच्छा नहीं करते हैं । अतः सत्सङ्गादि द्वारा आत्मज्ञान को प्राप्त करके झूला से विमुक्त होते हैं । सर्वमस्ति जगद्यत्र चलाचलं प्रतिक्षणम् । अचलं सर्वगं नित्यं सर्वाधारं भजामहे ॥ १ ॥ ३ ॥

इति श्रीसद्गुरुकबीरसाहबकृत बीजक का स्वामी श्रीहनुमान-
दासजी साहब षट्शास्त्री विरचित स्वल्पाक्षरा हिन्दी
व्याख्या चतुर्थ हिंडोला प्रकरण समाप्त ।

* ओम् राम *

—: श्रीसद्गुरु :—

कबीर साहब कृत बीजक

[स्वानुभूतिसंस्कृतस्वल्पाक्षराहिन्दीव्याख्यासहित]

अथ षष्ठ वसन्त प्रकरण

सत्यानन्दघनं प्रदर्श्य विमलं कामादिकं माजयन्,
मोहध्वान्तहरः स्ववाक्यकिरणैः सत्कोमलैः शीतलैः ।
हृद्गेहान्तरवर्तिनां च कलहं यो वारयत्यञ्जसा,
तं देवं हि कबीरमत्र सुखदं भानुं परं संश्रये ॥ १ ॥
यस्य वाक्किरणैर्ध्वस्तास्तमोरागादयोऽरयः ।
नावर्तन्ते पुनः क्वापि तं वीरं मिहिरं भजे ॥ २ ॥
यद्द्वादशात्मान इमे वसन्तकाः, स्वान्ते हरन्ते ननु सर्वदा तमः ।
महार्हरत्नं च हरिं निजान्तिके, प्रकाशयन्ते तमहं भजे सदा ॥ ३ ॥
वर्तते नित्यमानन्दो यद्दयया हनूमतः ।
तस्य सच्चरणद्वन्द्वमद्वन्द्वं नित्यमाश्रये ॥ ४ ॥

अथ जीवसंसृतिप्रकारवर्णन प्रकरण १, वसन्त १

शिव काशी[1] कस भई तोहारि । अजहूँ हो शिव देखु विचारि ॥
चोवा चन्दन अगर पान । घर घर स्मृति होत पुरान ॥
बहुविधि भवनन लागु भोग । (अस) नगर कोलाहल करत लोग ॥

पुण्यपापमयी नित्यं लोभमोहमयी चला ।
नगरीयं भवाख्या ते शिवात्मन्नभवत् कथम् ॥ १ ॥

---

१ काशीक्षेत्रं शरीरं त्रिभुवनजननी व्यापिनी ज्ञानगङ्गा, भक्तिः श्रद्धा गयेयं निजगुरुचरणध्यानयोगः प्रयागः । विश्वेशोऽयं तुरीयः सकलजनमनः साक्षिभूतोऽन्तरात्मा, देहेसर्वं मदीये यदि वसति पुनस्तीर्थमन्यत् किमस्ति ॥ काशीपञ्चके ।

अद्यापि त्वं विचार्येदं पत्तनं पश्य कारणम् ।
तत्र विद्धि च तत्त्यक्त्वा मुक्तसङ्गः सुखीभव ॥ २ ॥
यक्षधूपस्य सारोऽथ गन्धसारोऽथ वंशकम् ।
नागवल्लीदलं चैव निगमे ह्यत्र लभ्यते ॥ ३ ॥
देहगेहेषु सर्वत्र प्राक्तना विषयास्तथा ।
भुक्ताभुक्ताश्च रागेण संस्मर्यन्ते पुनः पुनः ॥४॥
स्मृतानां च हि लब्ध्यर्थं यत्नोऽत्र क्रियते सदा ।
तत्प्राप्त्या भवनेष्वेषु भोगस्तेषां हि जायते ॥५॥
तद्भोगेनैव तुष्टाश्च सर्वे लोका बहिर्मुखाः ।
मत्ताः कलकलं शश्वत् कुर्वते नात्मचिन्तनम् ॥६॥

पुण्य पाप लोभ मोहादि मूलक संसार का प्रथम वर्णन किया गया है। उसकी निवृत्ति के हेतु विचारादि के उपदेशार्थक वसन्त प्रकरण का आरम्भ हुआ है। अतः विचारादिपूर्वक ज्ञान की प्राप्ति के लिये उपदेश देते हैं कि हे शिव ! (कल्याण स्वरूप जीव !) तोहारि (तेरी) काशी (सांसारिक गति संसृति) तुझे कैसे भई है, सो हे शिव ! अजहुँ (अब भी तो) विचार कर देखो (समझो)। विचारादि के बिना अनादि इस संसृति की निवृत्ति नहीं हो सकती है, अब तक तुमने कभी विचारादि नहीं किया, इससे यह वर्तमान है। विचार से समझो कि संसार में चोवा, चन्दन, अगर, पानादि उपभोग के साधन मिलते हैं और पुराणे (प्रथम के भुक्तोपभुक्त) विषयों के संस्कारादि द्वारा उनकी स्मृतियाँ होती हैं (स्मरण होते हैं) सो घर घर (सब योनियों के शरीरों) में होती है और फिर उन स्मरणों के अनुसार सब भवनों (देहों) में बहुत प्रकार के भोग लगते हैं (मिलते हैं)। अतः गर्भ-वासादि जन्य महाकष्टों को भूलकर, इस नगर (संसार) में लोग (मनुष्य) कोलाहल (कलह विवाद) करते हैं। सद्विचार ध्यान आत्मस्मरणादि नहीं करते हैं वही संसृति का कारण है।

बहु विधि परजा लोग तोर। तेहि कारण चित ढीठ मोर ॥
सुनि कै शङ्कर भयउ कोह। अस काहू नहिं कहल मोह ॥

प्रजा बहुविधाश्चात्र पुत्रपौत्रादिलक्षणाः ।
संप्राप्यन्ते त्वया शम्भो ! तस्माच्चित्तेऽस्ति धृष्टता ॥ ७ ॥
धृष्टं जातं त्विदं चित्तं ममतामत्र भावयन् ।
इदं मे स्यादिदं मे स्यान्नैव तज्जातु तृप्यति ॥ ८ ॥

इत्थं ते नगरी प्राप्ता ममतामोहतः शिव ! ।
त्यक्त्वा त्वं ममतां मोहं मुक्तसङ्गः सुखी भव ॥९॥
श्रुत्वेममुपदेशं च शङ्करोपासको नरः ।
तामसोऽत्रसुखं बुद्ध्वा सक्तः क्रुद्धोऽभवत् क्षणात् ॥१०॥
अवदत्स न कोऽप्येवमद्यावध्युक्तवान् मम ।
शिवस्त्वं मोहतश्चायं भवबन्धस्तवेति च ॥११॥
अहमज्ञोऽस्मि जीवश्च शिवो वै भगवान् प्रभुः ।
सर्वज्ञः सर्वविच्चैव कर्ता धर्ता च हारकः ॥१२॥

बहुविधि (बहुत प्रकार) की प्रजा (पुत्र पौत्रादि) तोर (तेरी) इस नगरी में होती मिलती है । तथा बहुत प्रकार के लोग (भाई कुटुम्बादि) मिलते हैं । तिहि कारण (उस हेतु से) उसे रक्षक मित्रादि समझ लेने के कारण, तेरा चित्त ढीठ (निर्भय) रहता है, और उनमें मोर (ममता=अहंकार) करता है, यह संसार का कारण है । इस उपदेश को सुनकर शंकररूप शिव भक्तादि को क्रोध हुआ और वे कहने लगे कि इस प्रकार, मुझे अबतक कोई नहीं कहा था, कि तुम शिव स्वरूप हो और ममता आदि संसार के कारण है इत्यादि । क्योंकि—

सुर नर मुनि सब धरहिं ध्यान । तूँ बालक कछु कहै न जान ॥
हमरा बलकबक इहै ज्ञान । तोहरा को समुझावै आन ॥

यस्य ध्यानं सुराः सर्वे नराश्च मुनयस्तथा ।
कुर्वन्ति तं न वेत्सि त्वं बालो वक्तुं न वेत्सि च ॥१३॥
एतदप्यस्ति काश्याश्च प्राप्तेः कारणमुत्तमम् ।
यन्नाद्यावधि सत्यस्य ह्युपदेशमवाप्तवान् ॥१४॥
श्रुत्वापि च क्रुधामेति मन्यते न हितं वचः ।
यावदेतन्न तावद्धि संसारो विनिवर्तते ॥१५॥
तथाभूते न वक्तव्यमित्यप्यत्रोपदिश्यते ।
दैवादुक्तौ च शान्त्यैव वर्तितव्यं तथाविधे ॥१६॥
बालस्य मम बोधोहि वर्तते तादृशः स्थिरः ।
त्वां च बोधयितुं शक्तः कोऽन्यो लोकेऽपि विद्यते ॥१७
बोधो वा मम शिष्याणामीदृशो वर्तते सदा ।
त्वां को बोधयितुं शक्तो मां चेद् बालेति भाषसे ॥१८॥

सुर नर मुनि सब जिसके ध्यान धरते (करते) हैं। सो शिव जी हैं, मेरा कौन ध्यान धरता है। अतः मुझे (जीव को) शिव कहने वाले तुम बालक (अज्ञ) हो, कुछ भी कहना नहीं जानते हो। इस प्रकार क्रुद्ध शिव भक्त के कहने पर, गुरु का कथन है कि हमारे बालकों (शिष्यों) को भी यही (पूर्वोक्त ही) ज्ञान हो चुका है, और होता है। और तुमको कोई आन (अन्य भेददर्शी) समुझाता है। अतः तुम सद्‌गुरु के सत्य उपदेशों को नहीं मानते हो। तो शिव स्वरूप को कैसे समझोगे। अर्थात् अनात्मा में ममतादि से ही क्रोधादि द्वारा ज्ञानाऽनुत्पत्ति होती है।

जेहि जाहि मनसे रहल आय। जिव को मरण कहु कहाँ समाय।
ताकर जो कछु होय अकाजा। ताहि दोष नहिं साहब लाज॥
हर हर्षित अस कहल भेव। जहँ हम तहँ दूसर न केव।

वोधाऽभाच्च यो यत्र मनसा वर्तते जनः।
मृत्वा पुनः स तत्रैव स्वयमागत्य तिष्ठति॥१९॥
आगत्यात्र च जातानां जीवानां मरणं पुनः।
अवश्यं भविता तच्च कथ्यतां कुत्र यास्यति॥२०॥
विमुखानां हरेश्चैवं सद्‌गुरोस्तत्त्वदर्शिनः।
जायते यन्महत्कष्टं यातनाऽकार्यकर्म वा॥२१॥
हानिस्तत्र हि दोषाणां तेषामेवाऽस्ति हेतुता।
प्रभौ गुरौ हरौ नैव मन्दाक्षमस्य विद्यते॥२२॥
क्रीडा विषमताद्यैः स्यात्ते न सन्ति स्वयं प्रभौ।
स्वस्वकर्मानुसारेण फलं चादन्ति जन्तवः॥२३॥
एतच्छ्रुत्वा हरः कश्चिद्विषयाहरणे रतः।
हर्षितः प्रोक्तवानित्थं स्वरहस्यं सुदर्पितः॥२४॥
यत्राहं तत्रकोऽन्योऽस्ति प्रभु र्वा गुरुरव्ययः।
अहमेव करोमिदं यद्यदिच्छामि तत् खलु॥२५॥
हर्षितो ज्ञानतो यद्वा स्वात्मनिष्ठोहरः स्वयम्।
आत्मनि भेदजातानां निषेधमुक्तवानिति॥२६॥

ज्ञान के अभाव से जेहि (जो जीव) मन से (मनोगत वासनादि द्वारा) जाहि में (जिसमें) आकर रहा, और रहता हैं (ममता अभिमान करता है)। वह फिर भी वहाँ आता है, जन्मता मरता है, ज्ञान वासना त्यागादि के बिना

उसका मरण कोई कहो कि कहाँ कैसे समाय (निवृत्त हो)। क्योंकि जन्म होने पर मरणादि अवश्य होते हैं। और जो कुछ उस जीव को अकाज (मरणादि जन्य कष्ट) होता है। सो ताहि (उसी) के दोषों से होता है। उसमें साहब (ईश्वर) को लाज (दोष चिन्ता) नहीं होती है। क्योंकि जीव अपने रागद्वेषादि से बद्ध हैं। रागद्वेषादि रहित हो जाय तो शिव स्वरूप हैं ही। उक्त उपदेश को सुनकर भी हर (संहर्ता) आसुरी सम्पत्ति वाले, विषयादि की प्राप्ति से हर्षित (मुदित) लोग ऐसा भेव (भेद रहस्य) कहे (कहने लगे) कि जहाँ (जिस आनन्द मौज में) हम हैं, वहाँ दूसरे किसी सद्गुरु आदि की कोई जरूरत नहीं है। न वहाँ यमयातना आदि कोई वस्तु है।

दिना चारि मन धरहु धीर। जस देखहिं तस कहहिं कबीर ॥१॥

तस्मै गुरुरुवाचेत्थं धैर्यं कुरु चतुर्दिनम्।
गर्वस्यापि फलं तूर्णं संगमिष्यति निश्चितम् ॥२७॥
नाहं शापं ददाम्येतन् मिथ्या नैव ददामि च।
प्रपश्यामि यथा किन्तु तथा वच्मि हि तत्त्वतः ॥२८॥
यद्वा प्रोक्तोपदेशेन हर्षितो दोषनाशतः।
रहस्यं प्रोक्तवान् कश्चिद्धरो भेदविवर्जितः ॥२९॥
मत्स्वरूपे भिदा नैव विद्यते वै कदाचन।
जिज्ञासुजनमुख्याय गुरुभिश्चात्र कथ्यते ॥३०॥
चत्वार्येव दिनान्यङ्ग! धैर्यं मनसि धारय।
विचारादिपरो नित्यं जीवन्मुक्तो भविष्यसि ॥३१॥
नाहं परोक्षवाद्यस्मि तत्त्वं पश्यामि यादृशम्।
तादृशं संवदाम्यत्र तत्त्वं जानीहि सुव्रत! ॥३२॥१॥

श्रीसद्गुरु का कथन है कि चार दिन धैर्य का धारण करो, धैर्य से मन इन्द्रियों को वश में रखो, गर्वादि वश प्रमादादि नहीं करो। तो इस प्रारब्ध के भोग के अन्त होने पर, तुझे पता लग जायगा, कि जहाँ तुम हो, वहाँ और कोई है, या नहीं। मैं तो जैसा देखता (समझता) हूँ। तैसा कहता हूँ, कि मोहादि मूलक संसार है, और अज्ञान की ज्ञान से निवृत्ति होनेपर, मुक्ति होती है, अन्यथा नहीं, सात्त्विक धैर्यसे तुम भी गर्वादिको नष्ट करके कदाचित् जन्मान्तर में भी ऐसा समझोगे, अन्यथा नहीं। पूर्वापर प्रकरणके अनुसार यह उक्त अर्थ ही इस वसन्त का मुख्य है। जैसे "राम तेरि माया द्वन्द्व मचावै शब्द १" "कहु हो अम्बर कासो लागा। शब्द ६४" इत्यादि शब्दों में

पारमार्थिक स्वरूप को सम्बोधित करके व्यावहारिक जीव को उपदेश दिया गया है, तैसे यहाँ पारमार्थिक शिव स्वरूप को सम्बोधित करके व्यावहारिक जीव को उपदेश दिया गया है, और बीजक जीवके प्रति उपदेशरूप ही है। काशी वासी शिवजी के प्रति उपदेशादिरूप नहीं तथापि "माथि मैं दूनों कुल उजियारी। शब्द ७" इत्यादिके समान दूसरा गौण अर्थ यहाँ प्रतीत होता है कि मानो मुक्ति का धाम मानी गई काशीकी दशाको देखकर कबीरसाहब शिवजी से कहते हैं कि हे शिव तेरी काशी कैसी हो गई सो अब भी विचारकर देखो, और इस के यश को रक्षित रखो। यद्यपि आप की नगरी में चोवा चन्दनादि उपभोग पूजा आदि के साधन मिलते हैं, तथा घर घर में स्मृति (धर्मशास्त्र) पुराणादि की कथा होती है। नगर के भवनों में बहुत प्रकार के भोग लगते हैं, और नगर में लोग कोलाहल करते हैं (आपके सेवक आपके प्रसाद को पाकर बम बम करते हैं। तथापि आप के नगर में आप के प्रजा लोग बहुत प्रकार के हो गये हैं। यहाँ मरणमात्र से मोक्ष मानकर कोई अन्याय करते हैं। कोई नास्तिक आदि हो गये हैं, पापों से नहीं डरते हैं। इसी कारण से मेरा मन भी ढीठ हो गया है कि जिससे मैं आपको कह रहा हूँ। यह सुनकर शिव जी को क्रोध हुआ, और बोले कि इस प्रकार मुझे कोई नहीं कहा था। क्योंकि सुर नर मुनि सब मेरा ध्यान धरते हैं, तुम बालक होकर मुझे समझाने आये हो, परन्तु तुम कुछ कहना नहीं जानते हो, क्योंकि तुम बालक हो, श्री कबीर साहब बोले कि हम बालकों का यही ज्ञान है, जो मैं आप से कह चुका हूँ। आप स्वयं समझो, आपको दूसरा कौन समझायेगा। जो जैसी मन की भावना से काशी में आकर बसा है, उसको उसकी भावना कर्मादि के अनुसार फल होगें, ज्ञानादि के बिना उस जीव के मरणादि कहो कि कैसे निवृत्त हो सकते हैं। उसका जो कुछ अकाज भी होगा, सो उसी के दोष से होगा। यदि आपके उपदेशादि को नहीं मानेगा तो आप प्रभु का दोष नहीं रहेगा, शिवजी खुसी होकर बोले कि ज्ञानादिके लिये हमारे शरणमें दूसरा कोई आता नहीं है। आप भी चारदिन धैर्य धरो। श्रीकबीर साहब बोले मैं धैर्ययुक्त ही हूँ। परन्तु नगरीकी जैसी दशा देखता हूँ, तैसी आपसे कहता हूँ। यह दूसरा अर्थ पहले अर्थ का अलंकार रूप है। अतः पहले अर्थ के बिना दूसरा अर्थ तुच्छ है, यदि किसीको कान नहीं हों तो कुण्डल और कर्ण फूल कहाँ शोभेगें ॥१॥

वसन्त २

घरहि में बाबू ! बढ़लि रारि। उठि उठि लागै चपली नारि ॥

एक बड़ि जाके पाँच हाथ। पांचहुँ केर पचीस साथ ॥
पचीस बतावै और और। और बतावै कैउ ठौर ॥

भो हंस ! प्रिय ! भेदात्स्वे विग्रहो विद्यते महान्।
अनिशं वर्द्धते चायं गृह एव कलेवरे ॥३३॥
उत्थायोत्थाय युद्ध्यन्ति मायाऽविद्याकुबुद्धयः।
परस्परं च संलग्ना दृश्यन्तेऽत्यन्तदुर्मदाः ॥३४॥
चञ्चलास्ताः स्त्रियो नित्यं कलहायन्ते परस्परम्।
लगन्तीव विमोहेन दृश्यन्ते त्वयि दुर्भगाः ॥३५॥
मायैका विद्यते ज्येष्ठा तस्या हस्तसमानि वै।
पञ्चभूतान्यविद्याद्याः सर्वकार्यप्रसाधने ॥३६॥
तैश्च सार्द्धं सहाया वै भूतप्रकृतयः खलु।
पञ्चविंशतिसंख्याकाः सन्ति तृष्णादयस्तथा ॥३७॥
अन्यमन्यं हितं सौख्यंदर्शयन्ति जनान् हि ताः।
दुर्मनीषादयश्चान्ये स्थानानि कतिधा खलु ॥३८॥
दर्शयन्ति सदा जीवान् कल्पितान्येव सर्वथा।
न तत्त्वमेकमात्मानं सनातनमविक्रियम् ॥३९॥

प्रथम बसन्त में शिव शब्द से जिसका संबोधन किया गया था, उसीको यहाँ बाबू शब्द से सम्बोधित करके उपदेश दिया गया है, बाबू शब्द का प्रयोग पिता स्वामी आदि अर्थ में किया जाता है और गीता अ० १५।८। श्लोक में जीवार्थक ईश्वर शब्द का प्रयोग किया गया है तथा अन्यत्र पिता शब्द का प्रयोग किया गया है। अतः अर्थ है कि हे बाबू (देहादि के स्वामी प्यारे जिज्ञासु जीव !) निज शिव स्वरूप के ज्ञानादि के बिना सब घर (हृदय देह) में ही रारि (कलह) बढ़ी है और उस रारि में चपली (चञ्चल) नारी (स्त्रियाँ) उठ उठकर लगती हैं (प्रवृत्त होती हैं) उनमें जगत्की प्रकृति (उपादान कारण) रूप माया सबसे बड़ी है, और अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश रूप, या स्थूल सूक्ष्म पाँच भूत आकाशादि रूप, जिस माया के हाथ तुल्य कार्यों के हेतु हैं। उन पाँचो के साथ पचीस प्रकृतियाँ (शरीर सम्बन्धी भूत अविद्यादिनिमित्तक स्वभाव) सहायक हैं। वे पचीसो और और (अन्य अन्य) सुख साधनादि को बताती हैं। और अन्य कैक ठौर (स्वर्गादि) को दुर्बुद्धि आशा तृष्णादि रूप अन्य स्त्रियाँ बताती है।

अन्तर मध्ये अन्त लेत । झकझोरि झेला जीवहिं देत ॥
आपन आपन चाहै भोग । कहु कस कुशल परी हैं योग ॥
विचार विवेक न करै कोय । (सब) खलक तमासा देखै लोय ॥

इत्थं यास्ताः स्त्रियो नित्यमन्तस्तिष्ठन्ति सर्वदा ।
तासां मध्ये तु यस्तिष्ठेत्तस्यान्तं ताः प्रकुर्वते ॥४०॥
स्वान्तमध्ये च ताः स्थित्वा संपश्यन्त्यन्तरं सदा ।
संप्राप्य चान्तरं तूर्णं द्वन्द्वान्येताः प्रकुर्वते ॥४१॥
द्वन्द्वानि प्रविधायैवं कृत्वैवात्यन्तचञ्चलम् ।
कष्टं शोकं ददत्यस्मै मोहं द्वैविध्यव्यग्रताम् ॥४२॥
स्वं स्वं भोगं च वाञ्छन्ति नात्मनो वै गतिं शुभाम् ।
विवेकादि विना चात्र क्षेमयोगः कथं वद ॥४३॥
अहो केऽपि विवेकं च विचारं न प्रकुर्वते ।
किन्तु सर्वे प्रपश्यन्ति जगतः कौतुकं महत् ॥४४॥
नारीणां कलहादेश्च विलोक्य कुतुकं जनाः ।
सुखं मत्वाऽत्र तिष्ठन्ति यतन्ते नैव मुक्तये ॥४५॥

इन अन्तर (भीतर) में रहनेवाली स्त्रियोंके मध्ये (मध्य वश) में रहनेवालों के वे स्त्रियाँ अन्तर (भेद) लेती रहती हैं। तथा इनका अन्त (नाश) करती हैं। सुख से बैठने नहीं देती हैं, क्योंकि झकझोर कर (खैंच तान से चञ्चल करके) जीव को झेला (संसार झूलना = जेल = कष्ट) देती हैं। और स्वार्थ पराधणता से सब अपना अपना पृथक् पृथक् भोग चाहती हैं। तो कहो कि इस अवस्था में जीव को कुशल (शुभ) का योग (सम्बन्ध) कैसे प्राप्त हो सकता है। तथा कुशल और योग (समाधि=शान्ति) कैसे प्राप्त होगें, इन सब स्त्रियोंकी एक मतिता से कुशलादि हो सकतें हैं, और सो एक मतिता विचारादिसे हो सकती है। किन्तु कोई विषयी आदि जीव विवेक विचारादि नहीं करते हैं, सब लोग खलक (संसार) के तमासे को सदा देखते हैं। जिससे कष्ट पाते हैं, अतः प्रथम कहा गया है कि "अजहुँ हो शिव देखु विचारी" इत्यादि।

मुख फारि हंसे राव रङ्क । (ताते) धरे न पावै एको अङ्क ॥
नियर न खोज बतावै दूरि । चहुँ दिशि बागुर रहल पूरि ॥

दृष्ट्वापि कलहं द्वन्द्वं सुखं मत्वा नरा इमे ।
मुखं व्यादाय सर्वेऽपि हसन्ति नृपदुर्गता ॥४६॥

तस्मान्नैकं हृदिस्थं सद्वतुं सक्ताभवन्ति ते।
वञ्चिताश्चैव धावन्ति संसारेषु कुवर्त्मसु ॥४७॥
एकामपि स्त्रियं यद्वा किञ्चिदेकं सुलक्षणम्।
वशी कर्तुं न चार्हन्ति नैकं देवं कथञ्चन ॥४८॥
मार्गयन्ति समीपे नो दूरे संदर्शयन्ति च।
स्वामिनं च सुखं तथ्यं वागुरा यत्र वर्तते ॥४९॥
मनो मृगस्य बन्धाव जीवस्यापि च सर्वतः।
चतुर्षुदिक्षु पूर्णा सा मोहमारादिलक्षणा ॥५०॥
स्त्रीवित्तादिस्वरूपा या वागुरा साऽतिविस्तृता।
जीवमृगस्य बन्धाय कुशलः कोपि मुच्यते ॥५१॥

संसार के स्त्रियों के तमासे को देख कर राव (राजा) रंक (दरिद्र) सब मुख फाड़कर हँसते हैं, खुसी होते हैं। और विवेक विचारादि नहीं करते हैं। अतः एक को भी अंक (गोद = वश) में धरने = करने नहीं पाते हैं, किन्तु चञ्चल इन्द्रियादि की वशवर्तिता से, नीयरे (समीप) में स्वहृदयगत सत्यात्मा को नहीं खोजते हैं। अतः पूछने वाले को भी दूर देश लोकादि में बताते हैं। और उन दूर देश लोकादिकों में चारो तरफ मोह कामादि रूप विषयादि रूप वागुरा (मृग बन्धन् जाल) पूर्ण हैं। "एक मोह के कारणे, भरत धरी दो देह। ते नर कैसे छूटि है, जिनके बहुत सनेह ॥१॥"

लक्ष अहेरी एक जीव। ताते पुकारैं पीव पीव ॥
अबकि बार जो करै चुकाव। कहहिं कबिर ताकि पूरि दाव ॥२॥

मनसो वृत्तयो दुष्टाः कामद्याश्चेन्द्रियादयः।
लक्षमाखेटकारा वै जीवश्चैको मृगोऽबलः ॥५२॥
तस्मात्स्वस्य सहायार्थमाह्वयेच्चेत्प्रभो प्रभो।
तावता नास्य मोक्षो वै विद्यते कामशत्रुतः ॥५३॥
तस्मात्स्वस्य विचारादि कर्तव्यं वै मुमुक्षुभिः।
अभ्यासादिपरो भूत्वा ज्ञानं प्राप्य सुदुर्लभम् ॥५४॥
विरक्तः शमनिष्ठश्च वासनामखिलां त्यजेत्।
अत्र जन्मनि यश्चैवं कर्मबन्धं विनाशयेत् ॥५५॥
निःशेषं नाशयेन्मोहमविद्याकामपञ्जरम्।
तस्यैवात्र जयं पूर्णं कबीरो भाषते गुरुः ॥५६॥

उपरत्या तथा भक्त्या विरक्त्याऽहरहस्तथा ।
परां पुष्णाति संशान्ति मुक्तिस्त्वनुभवेन हि ॥५७॥
सर्वभूतेषु संपश्यन् ब्रह्मत्वं वै निजात्मनः ।
भूतान्यात्मनि चापश्यन् विरक्तः पुरुषोत्तमः ॥५८॥
चतुर्थीं भूमिकां प्राप्य जीवन्मुक्तो भवत्यलम् ।
अवस्थायाः समुत्कर्षादानन्दो व्यज्यते किल ॥५९॥२॥

ज्ञानादि के अभाव से अन्य दूर देशादि की आशा आदि करने वालों को बझाने बाँधने के लिये अनेक कामादिरूप लाखों अहेरी (शिकारी) हैं, और उनके वशवर्ती एक जीव है। अतः उनसे पीड़ित होने पर कभी पीव-पीव (प्रभो-प्रभो) पुकारता है। तहाँ श्रीकबीर साहब कहते हैं कि "दुख में सुमिरन सब करे, सुख में करे न कोय। जो सुख में सुमिरन करे, तो दुख काहे को होय ॥१॥ अतः सुख स्वस्थावस्था में ज्ञानाग्नि को प्राप्त करके अबकी बार (इस मानव जन्म में) कर्मवासनादि को चुकाव (समाप्त नाश) जो करता है, उसीकी पूर्ण तृप्ति शान्ति मुक्तिरूप दाव पूर्ण होता है, अन्य की नहीं ॥२॥

वसन्त ३

राम नाम भजु लागु तीर । ऐसो दुर्लभ जात शरीर ॥
गयउ वेणु बलि गयउ कंस । गौ दुर्योधन बूड़ेउ वंश ॥
पृथु गये पृथिवी के राव । गये त्रिविक्रम रहा न काव ॥
छौ चकवे मण्डलि के झारि । अजहूँ हो नल देखु विचारि ॥

भजतां रामनामानं संसाराब्धेः परं तटम् ।
क्षिप्रमाश्रयतामीदृग् देहो याति सुदुर्लभः ॥६०॥
गृहनारीप्रपञ्चे वा बाह्यवित्तादि संहतौ ।
क्वापि नैव मनो देयं सर्वं त्यक्त्वैव यास्यसि ॥६१॥
गतो वेणु बलिः कंसो वंशो दुर्योधनस्य च ।
पृथिव्या ईश्वरः सर्वं त्यक्त्वैव सोऽगमत्पृथुः ॥६२॥
गतस्त्रिविक्रमोदेवो न चिरं कोऽप्यविद्यत ।
सुरा वा ह्यसुरा मर्त्या राजानो दुर्गतास्तथा ॥६३॥
सार्वभौमा गताः षट्ते सर्वे वै मण्डलेश्वराः ।
अद्याप्येतद्विचारेण द्रुतं पश्यन्तु मानवाः ॥६४॥

उक्त ज्ञानाग्नि और पूर्ण तृप्ति के लिये रामनाम वाले को भजो, श्रद्धा प्रेम..

युक्त निष्कामता युक्त राम नाम को जपो, और इसी जन्म में ज्ञान पा कर संसार समुद्र के तीर (किनारे) में लगो। ऐसा किये बिना सुन्दर सुखद ऐसा दुर्लभ शरीर व्यर्थ जा रहा है, जाता (नष्ट होता) है। देखो किसी धनी प्रतापी का भी शरीर संसार में सदा रहने नहीं पाया, अतः शरीर के नाश से ही, वेणु, बलि, कंश गये, दुर्योधन का तो वंश ही गया (नष्ट हुआ) स्वयं तो गया ही, और ये सब राम भजन के अभाव से ज्ञान या शान्ति नहीं पाये। सम्पूर्ण पृथिवी के राजा पृथु गये, त्रिविक्रम गये, कोई यहाँ सदा रहने नहीं पाये। झार (सब) भूमण्डली केये छौ चकवे (चक्रवर्ती) राजा गये। और अन्य भी मण्डलेश्वर (प्रान्तेश्वर) और चक्रवर्ती गये, सो हे नर! अब भी विचार कर देखो (समझो) और ममता मिथ्या जीवनादि की आशा आदि को त्याग कर सत्य राम को भजो।

हनुमत कश्यप जनक बालि। ई सब छेकल यम के द्वारि॥
गोपीचन्द भल कीन्ह योग। (जस) रावण मारे करत भोग॥
ऐसो जात सबन को जान। कहहिं कबीर भजु रामनाम॥३॥

हनूमान् कश्यपश्चैव जनको बालिरेव च।
यमद्वारस्य चैतेऽपि ह्यागन्तुत्वं समाप्नुवन्॥६५॥
यमद्वारेऽगमंश्चैते निरुद्धो मृत्युनाऽभवन्।
तदाऽन्येषां कथा कास्ति देहिनां मृत्युसंभवे॥६६॥
यद्वा रामस्य भक्त्यैते ज्ञानं प्राप्य सुदुर्लभम्।
यमद्वाराण्यरुन्धन् वै लेभिरे राममुत्तमाः॥६७॥
गोपीचन्द्रश्चकारैवं योगं परमपावनम्।
यमद्वार्यगमत्सो वा यमद्वारं ह्यरुन्धत॥६८॥
भोगासक्तं विमूढं तं रावणं व्यवधीत प्रभुः।
रामचन्द्रस्तथैवान्यान् गच्छतो विद्धि वै जनान्॥६९॥
सर्वानेवं विदित्वा च भोगासक्त्यादिकं त्यज।
भजस्व रामनामानं कबीरो भाषते गुरुः॥७०॥३॥

इति वसन्तवल्लरौ जीवसंसृतिप्रकारवर्णनं नाम प्रथमं पुष्पम्॥ १॥

विचारादि से ही, हनुमान्, कश्यप, जनक और बालि ने भजन द्वारा यम के द्वार को छेका (बन्द किया) और गोपीचन्द ने भी भला योग किया कि जिससे यम द्वार को रोका। और रावण जैसे भोग करते मारा गया, इस

प्रकार से राम भजन रहित अन्य सब को जाते हुए जानकर, रावण के मरण सदृश मरण से बचने के लिये रामनाम को भजो, यह मनुष्य मात्र के लिये श्री कबीर साहब का उपदेश है ॥ ३ ॥

अथ गर्वमोहमहत्त्ववर्णन प्रकरण २

वसन्त ४

सबहिं मद माँते कोइ न जाग । संगहिं चोर घर मूसन लाग ॥
पण्डित माँते पढ़ि पुराण । योगी माँते योग ध्यान ॥

अहो सर्वेऽत्र गर्वेण मत्ता सुप्ताश्च मानवाः ।
राम भक्त्या विवेकाद्यैः कोऽपि जागर्ति नो कुधीः ॥१॥
यावज्जाग्रति नैते हि कामाद्यास्तावदत्र तु ।
गृहे मुष्णन्ति सर्वस्वं स्तेनाः सर्वे महासनाः ॥२॥
पुराणानि पठित्वैव मत्तो भवति पण्डितः[1] ।
वेदतत्त्वं न जानाति विद्याविद्ये गुणागुणौ ॥३॥
योगी[2] योगस्य युक्त्या च ध्यानाद्यैश्च प्रमाद्यति ।
सिद्धयो योगविघ्नास्तान् न तथा वेद कर्हिचित् ॥४॥

जबतक सर्वात्मा राम के ज्ञान भक्ति में पूर्ण निष्ठावाले नहीं हुए, तबतक गुण विद्या, जाति, आश्रम, धन, यौवनादि के मद (अहंकार = गर्व) से सब माते और मदमस्ती अवस्था में कोई भी मोह नींद से जागा नहीं । अतः संग (साथ) में ही रहनेवाले काम क्रोध लोभादिरूप चोर, हृदयरूप घर के सुख शान्ति विवेकादि रूप धन को मूसने (चुराने = हरने) लगते हैं । तहाँ पुराणज्ञ पण्डित पुराण को पढ़कर बुद्धिमत्ता कथाकी कुशलता आदि से माँतते हैं । अतः वेद और वेदार्थ को जानने के लिये यत्न नहीं करते हैं । योगी योग ध्यानके ज्ञानादि से मातते हैं, सत्यात्मा राम की भक्ति आदिको भूले रहते हैं ।

---

१ अत्र पण्डितशब्देन बुद्धिमत्त्वाद्यभिमानवन्त एव गृह्यन्ते, न तु पाण्डित्यं निर्विद्यबाल्येन तिष्ठासेदिति श्रुतिप्रोक्ता आत्मविषयबुद्धिमन्तस्तत्राभिमानाऽभावात् । पण्डाऽऽत्मविषया बुद्धिर्याता येषां ते पण्डिताः ।
२ योगिशब्देनाऽनात्मज्ञा एव गृह्यन्ते, न तु ज्ञानयोगसांख्यबुद्धि युक्ताः स्थितप्रज्ञाउक्तहेतोरेव ।

तपसी माँते तप के भेव। संन्यासी माँते करि हमेव॥
मोलना माँते पढ़ि मोसाफ। काजी माँते देइ निसाफ॥

तपस्वी तपसां भेदज्ञानेनैव प्रगर्वितः।
सकामतपसां तुच्छं फलं नैव च वेत्ति सः॥५॥
वर्णाश्रमाऽभिमानेन ह्यहंयुश्चाविवेकवान्।
संन्यास्यप्यभवन्मत्तो वेषं बन्धं न वेत्ति सः॥६॥
मौलवीति प्रसिद्धो यस्तुरुष्कः सोऽप्यधीत्य च।
मुसाफं स्वकुराणादि मत्तो मृत्युं न पश्यति॥७॥
काजीति च प्रसिद्धो यो न्यायं स्वस्य प्रदर्श्य सः।
मत्तः पण्डितमानी सन् नात्मानं स्वं प्रपश्यति॥८॥

तपस्वी तप के भेदों को जानकर माँतते हैं, संन्यासी उच्च आश्रम के हमेव (अहङ्कार) से माँतते हैं, मोलना मोसाफ (कुराणादि) को पढ़कर मातते हैं। और काजी निसाफ (फैसला = न्याय = व्यवस्था) दे कर मांतते हैं। अर्थात् तप आदि के ज्ञानादि से ही पूर्ण पद की प्राप्ति आदि को मान लेने से ये लोग पूर्णपद की प्राप्ति के हेतु रामभक्ति आदि नहीं करने पाते हैं।

संसारी माँते मायक धार। राजा माँते करि हङ्कार॥
माँते शुक्र उद्धव अक्रूर। हनुमत माँते धरि लंगूर॥

सर्वे संसारिणोऽप्यन्ये बधू पुत्रादिलक्षणे।
मायानद्याः प्रवाहेऽत्र खरे मत्ता भयावहे॥९॥
अहङ्कारेण राजानः सर्वे मत्ताः प्रमेनिरे।
वयमेव वरा नान्ये ज्ञानवन्तोऽपि धार्मिकाः॥१०॥
असंसारी शुकश्चैवं ज्ञानमत्तो बभूव ह।
उद्धवोऽक्रूरभक्तश्च ज्ञानभक्तिरसैः सदा॥११॥
हनूमान् पुच्छसामर्थ्यात्तं धृत्वा ग्रामदद्दलात्।
असुराञ्छातयन् लोके रामभक्तिं चकार ह॥१२॥

साधारण संसारी लोग माया के धार (प्रवाह) रूप पुत्र-पौत्रादि में

---

१ संन्याशि शब्देन तामस राजस त्यागवन्तो गीतायां १८।७-८। प्रोक्ता एव गृह्यन्ते। तेषु मोहादयः सम्भवन्ति। न तु गुणातीताः सर्वकर्माभिमानादित्यागवन्तो ज्ञानिनो निरभिमाना विमत्सरा विविदिषवो वेति मन्तव्यम्।

माँतते हैं। राजा लोग राज्य के अहंकार से मांतते हैं। असंसारी शुकदेव, उद्धव, अक्रूर ज्ञान भक्ति विरागादि से मस्त रहते थे या पुराण की रीति से विष्णु भगवान् के विग्रह (देह विशेष) के चिन्तनादि में मस्त रहते थे शुकादि में यहाँ अभ्युपगमवाद् से मद का वर्णन है, सो भी मद के प्राबल्य के प्रदर्शनार्थक है, हनूमानजी लंगूर (पूंछ) को धरकर उसके बल से माँते।

शिव माँते हरि चरण सेव। कलि माँते नामा जयदेव॥

हरेर्हि पाद सेवायां शिवो मत्तो बभूव ह।
नामदेवो कलौ मत्तो जयदेवोऽप्यभूत्तथा॥१३॥
मदमत्तो हि संसारी ज्ञानमत्तो विमुक्तधीः।
भक्तियोगप्रमत्तस्तु परानन्दं समश्नुते॥१४॥
यद्वाऽभ्युपगमेनात्र परं वादेन कथ्यते।
शुकदेवादिमत्तत्वं मायिके वस्तुविग्रहे॥१४॥
"स चोवाच प्रियारूपं लब्धवन्तं शुकं हरिः।
त्वं मे प्रियतमा भद्रे! सदा तिष्ठ ममान्तिकम्"॥१६॥
इत्यादिषु पुराणेषु शुकादीनां हरे किल।
स्त्रीत्वं संवर्णयन्त्येव कत्यन्ये मतवादिनः॥१७॥
अनयैव दिशाज्ञेयाहनुमत्कश्यपादिषु।
यमद्वारेषु बद्धत्वं गोपीचन्द्रे तथैव च॥१८॥
आत्मनोऽन्यत्र ये सक्तास्ते सर्वे यमसद्मनि।
बध्यन्ते नात्र सन्देहः स्वसिद्धान्तस्तथा नहि॥१९॥

हरि के चरणों को सेवकर शिवजी मस्त रहे। कलियुग में नामदेव और जयदेव भक्त हरि के चरणों को सेवा में मस्त हुए (ये सब वर्णन अभ्युपगम मूलक हैं)।

सत्य सत्य कहे स्मृति वेद। (जस) रावण मारे घर के भेद॥
चञ्चल मन के अधम काम। कहहिं कबिर भजु रामनाम॥४॥

वेदा वा स्मृतयश्चैव सत्यमेव वदन्ति तत्।
रावणो गृहभेदेन यथा नष्टस्तथा जनाः॥२०॥
देहगेहस्यभेदेन मनोऽनैकाग्र्यतस्तथा।
नश्यन्ति मोहकामाद्यैः कार्याऽकार्याविवेकतः॥२१॥

मनसश्चञ्चलस्यास्य कार्यं गर्ह्यं हि विद्यते।
तच्छान्त्यै भज रामं त्वं सद्गुरुराह सज्जनम् ॥२२॥
सर्वात्मानं परं रामं भजन् योगी ह्यनन्यधीः।
अहङ्कारादिसंशून्यो जीवन्मुक्तो हि जायते ॥२३॥
आत्मानन्दे स्थितो योगी ह्यर्थाननुभवन्नपि।
न हृष्यति न च द्वेष्टि मायात्वं प्रविचारयन् ॥२४॥
यस्य स्वः पर इत्येवं भेदो न हृदि वर्तते।
देहादौ सति शान्तात्मा स्मृतः स पुरुषोत्तमः ॥२५॥
सर्वस्मैविभवायाऽपि यो नात्मानं क्षणं त्यजेत्।
सर्वभूतसमः शान्तः सर्वमुख्यः स अग्रणीः ॥२६॥४॥

स्मृति और वेद यह सत्य ही सत्य कहते हैं कि जैसे रावण घर के भेद (फूट = विरोध) से मारा गया। तैसे ही घरके भेद से (निजात्मा से अन्य के अभिमान से मन की चञ्चलता से) सब मारे जाते हैं, दुःखी होते हैं। क्योंकि चञ्चल मन के सब काम अधम (हीन कष्टप्रद) होते हैं अतः श्री कबीर साहब कहते हैं, कि सब काम अभिमानादि की निवृत्ति के लिये तथा चञ्चलता रहित शान्त शुद्ध एकाग्र मन को करने के लिये निष्काम होकर राम नाम को भजो (जपो) और विवेक विचारादि करो ॥४॥

वसन्त ५

हमारा कहल के नहिं पतियार। आप बुड़े नल सलिल धार ॥
अन्ध कहे अन्धे पतियाय। जस वेश्या के लगन जाय ॥
सो तो कहिये ऐसो अबूझ। खसम ठाढ़ ढिग नाहिं सूझ ॥

मनसा गेहशत्र्वाद्यैः पुमांसो ये पराजिताः।
अस्माकं भाषिते तेषां विश्वासो नैव जायते ॥२७॥
गुरूणां वचनेऽप्रीत्या ते स्वकीयाऽपराधतः।
निमज्जन्ति स्वयं मूढा मोहादिसलिलार्णवे ॥२८॥
मोहान्धलपितेष्वेव ते विश्वासं च कुर्वते।
तेन वेश्येव जायन्ते संलग्ना वै कुवर्त्मसु ॥२९॥
वेश्यालग्नस्य चिन्तेव तेषां संलग्नचिन्तनम्।
जायतेऽसद्विवाहार्थं तटस्थैः पतिभिः सह ॥३०॥

अहो तेऽतिविमूढाश्च कथ्यन्तेऽन्धसमा नराः ।
स्थितं स्वसविधे सत्यं पतिं पश्यन्ति नो यतः ॥३१॥

चञ्चल मन वाला मनुष्य हमारा (सद्गुरु का) कहल (उपदेश) के पतियार (विश्वास) नहीं करता है । अतः आप अहंकारादि करके मोहमाया मय विषयादि सलिल (जल) के धारा में बूड़ता है । और मोहान्ध के कहे वचनों में मोहान्ध हो कर विश्वास करता है । मोहान्ध के वचन में अविवेकी विश्वास करता है । अतः जैसे वेश्या के लगन (विवाह का मुहूर्त) सोचा जाय, और पुत्र वाले के यहाँ (घर पर) लगन की खुसखबरी भेजी जाय । तैसे इन की लगन धरी जाती है । अर्थात् अनेक पुरुष में आसक्त वेश्या की तरह, जो स्वयं अनेक असत में आसक्त है, फिर भी किसी असत के साथ ही सम्बन्ध के लिये लगन को लोग सोचते हैं । और सो तो (वह मोहान्ध तो) ऐसो (वेश्या अन्धा के समान हीं) अबूझ (अविवेकी अज्ञ) कहिये (कहलाने योग्य) है कि जिससे सदा ही सर्वात्मा रामखसम (स्वामी) इस के ढिग (पास) में ही बाहर भीतर ठाढ (वर्तमान) है । सो इस को नहीं सूझता है । अतः दूर दूसरे पति आदि की आशा आदि करता है ।

आपन आपन चाहै मान । झूठ प्रपञ्च साँच कै जान ॥
झूठा कबहुं न करि हैं काज । मैं बरजौ तैं सुनु निलाज ॥
छाड़हु पाखण्ड मानहु बात । नहिं तो परिहौ यम के हाथ ॥
कहहिं कबिर नलकियो न खोज । भटकि मुये जस बन के रोझ ॥५॥

ज्ञानं विनैव मोहान्धः स्वंस्वं मानं प्रतीक्षते ।
मिथ्याभूतं प्रपञ्चं च मन्यते सत्यमेव सः ॥३२॥
मिथ्याभाषीगुरुर्नैव सत्कार्यं ते कदाचन ।
करिष्यति हि निर्लज्ज ! ततस्त्वां वारयाम्यहम् ॥३३॥
पाषण्डस्त्यज्यतां सद्यो मन्यतां सद्गुरोर्वचः ।
अन्यथा यमहस्ते त्वं विवशः संगमिष्यसि ॥३४॥
गुरूणां शरणे गत्वा यैस्तत्त्वं न विमार्गितम् ।
गुरोश्चान्वेषणं यैर्वा कृतं नैव समादरात् ॥३५॥
स्थितेः स्थानं ह्यलब्ध्वा ते कामकर्मवशानुगाः ।
आरण्यमृगवद् भ्रान्त्वा मुहुर्नष्टाः कुबुद्धयः ॥३६॥५॥

एक सत्यात्मा के अज्ञान से ही सब अपनी अपनी मान बड़ाई चाहते हैं,

समदर्शी निरभिमानी नहीं होते हैं, और झूठ (मिथ्या) प्रपञ्च (संसार) को सत्य करके समझते हैं। तहाँ गुरु कहते हैं कि रे निलाज! (निर्लज्ज!) वह झूठा संसार, झूठा पुरुष तेरा कोई सत्य कार्य नहीं सिद्ध करेगा। अतः मैं बरजता हूँ (उनके संगादि से रहित रहने के लिये कहता हूँ) तुम मेरी बातों को अब भी मानो सुनो। बार बार झूठों से ठगा कर फिर उनके सङ्गादि करते हो, अतः निर्लज्ज हो, अब ऐसा नहीं करो। किन्तु अब पाखण्ड (छल कपट मिथ्या) को छोड़ो, और सद्गुरु की सत्य बात को मानो। नहीं तो फिर यम के हाथ (वश) में पड़ोगे। श्रीकबीर साहब कहते हैं कि जिन लोगों ने सद्गुरु सत्यात्मा की खोज (अन्वेषण विचारादि नहीं की) वे नल (मनुष्य) बन के रोझ (पशु विशेष) के समान भटक कर मुये, और मरते हैं। अतः भूल भटक की निवृत्ति के लिये खोज कर्तव्य है ॥५॥

वसन्त ६

बुढ़ि हँसि बोलै मैं नितहिं बारि। मोहि असतरुणि कहुकौनि नारि॥
दाँत गयल मोर पान खात। केश गयल मोर गङ्ग नहात॥

यस्या वै पुटभेदेषु परिवाहेषु जन्तवः।
त्रुडन्त्यनवधानेन वृद्धैषाऽनादिशाम्बरी ॥३७॥
सा ब्रवीति हसित्वैवं वयस्थाऽस्मि सदा ह्यहम्।
मारणे तारणे शक्ता भोग्यभोगादिसिद्धिषु ॥३८॥
नागवल्लीदलं यद्वत् खादन्त्या राजसान् नरान्।
दन्ता मे विगताः कालाद्यात्मकाः क्षणभङ्गुराः ॥३९॥
तमोगुणात्मकाः केशा नष्टाः प्रलयकालिकाः।
स्नानेन कार्यगङ्गायां रजः सत्त्वप्रवृत्तितः ॥४०॥
यद्वा विज्ञान संस्वादात्कामक्रोधादिलक्षणाः।
दन्ता नष्टाश्च सत्कर्म गङ्गायां स्नानमात्रतः ॥४१।
तमः केशा निवृत्ता मे भवन्ति हि जनाश्रिताः ॥४२॥

खोजादि रहित जीवों के प्रति बुढ़ी (वृद्धा अनादि) माया मानो हंस कर बोलती (कहती) है कि मैं नितहि (सदा) बारी (युवती) रहती हूँ। मोहि अस (मेरे समान) विद्या आदि कौन तरुणी नारी है, सो कहो। अर्थात् खोज रहित माया वशवर्ती जीवों को जीर्ण तुच्छ विषयादि रूप मायिक वस्तु नित्य नवीन सुन्दर प्रतीत होती है। और आत्मविद्या तृप्ति सन्तुष्टि आदि

तुच्छ प्रतीत होती है। अतः सब मायिक वस्तु का ही सेवन करते हैं, आत्मान्वेषणादि नहीं करते हैं। और माया कहती है कि क्षणभंगुर कालादिरूप मेरे दाँत चतुर चिकनियाँ (राजसी प्राणियों) के खाते में गये हैं, क्योंकि वे मेरे लिये पान तुल्य हैं, पान खाते में ही मेरे दाँत जाते हैं। और गङ्गा स्नान करते में केश गये हैं (प्रलय कालिक तमोगुण कार्य प्रवाह में छिप गये हैं) तथा गङ्गा स्नानादि सत्कर्मों से तमोगुण पाप निवृत्त हुए हैं, और होते हैं।

नयन गेल मोर कज्जल देत। वयस गेल पर पुरुष लेत।
जान पुरुषवा मोर अहार। अनजाने का करौं सिंगार॥

तमः कज्जलदानेनाऽकर्माञ्जनसमर्पणात्।
दृक्शक्तिनयनं नष्टं रजोनष्टं शमादितः॥४३॥
वयश्च मे गतं यावदनात्मपतिसेवनात्।
यद्वा नश्यति तारुण्यं मायाया बन्धकारकम्॥४४॥
परस्य पुरुषस्यात्र नामध्यानादियोगतः।
ज्ञानात्तु सर्वथा सैव नष्टा भवति शाम्बरी॥४५॥
अज्ञाः कापुरुषाः सर्वे ममाहारं विदन्ति वै।
न विदन्ति तु ये केचित्तेभ्यस्तद्बोधनाय च॥४६॥
सुश्रृङ्गारं करोम्येतं त्रिगुणै विश्वमण्डले।
यद्वा तैः पुरुषैरज्ञैः स्वश्रृङ्गारं करोम्यहम्॥४७॥
विज्ञा विषयिणः किञ्च ममाहाराः सदैव हि।
पामरार्थस्तु श्रृङ्गारः सर्वोऽपि मम विद्यते॥४८॥

नयन (नेत्र पुरुषाश्रित सात्त्विकांश ज्ञान शक्ति) कज्जल देते में गया है। तामस प्रवृत्ति आदि से विवेकविज्ञानादि रहित प्राणी रहते हैं, सो माया का ही प्रभाव है। अतः पर (भिन्न) अनात्म पुरुष कामादि को लेते (स्वीकार-ग्रहण-करते) में मेरा वयस गया है (अवस्था बीती है) कामादि से रहित मैं नहीं रह सकती हूँ। पुरुषवा (कुपुरुष) लोग तो मेरे अहार को जानते ही हैं। अतः सदा कनक कामिनी आदि रूप माया के पोषणमें पुण्य-पापादि रूप आहार दे कर लगे रहते हैं, अन जाने लोगों को भी अपने आहारों का समझाने के लिये मैं विचित्र रचना दिव्य शब्दादि रूप श्रृङ्गार करती हूँ।

कहहिं कबिर बुढ़ि आनन्द गाय। पूत भतारहि बैठी खाय॥६॥

इयं मायाऽतिवृद्धापि स्वर्गादौ विषयादिषु ।
सत्यानन्दं प्रगायैव पवित्रं स्वपतिं प्रभुम् ॥४६॥
खादित्वेवात्र तिष्ठन्ती लक्ष्यते सा विवेकिभिः ।
अज्ञः प्रलोभितः सम्यक् तया नश्यति मोहतः ॥५०॥
यद्वा कुगुरवो वृद्धाः स्वपतिप्राप्तिहेतवे ।
तारुण्यं दर्शयन्त्येव त्वन्यत्र कारणानि च ॥५१॥
अस्माकं पुरुषो वेत्ति ह्याहारं सर्वमुत्तमम् ।
अज्ञेयपुरुषस्यार्थे शृङ्गारः क्रियतां किमु ॥५२॥
अज्ञातः पुरुषो यश्च निर्विशेषः सदा समः ।
स करिष्यति किं भद्रमित्येवं ते ब्रुवन्ति हि ॥५३॥
स्वर्गे प्रगाय चानन्दं पुत्रं शिष्यं पतिं तथा ।
सत्ताप्रदं परं शुद्धं स्वादित्वेव च तेन ते ॥५४॥
तिष्ठन्तीति गुरुः प्राह कबीरः करुणानिधिः ॥५५॥

इति वसन्तवल्लर्यां गर्वमोहमहत्त्ववर्णनं नाम द्वितीयं पुष्पम् ॥२॥

श्री कबीर साहब कहते हैं कि यह बुढ़ी विचित्र विषय स्वर्गादि की रचना करके और शब्दों के द्वारा उनमें आनन्द को गाकर, उन मिथ्या विषयादि में आसक्त कामी अपने पूत (पवित्र) जीवात्मा रूप भर्तार (पोषक) को बैठी हुई खाती है, (कष्ट देती है) । अतः जो इस कष्ट से बचना चाहता हो, उसको लोक परलोक के मायिक मिथ्या वस्तु सुखादि की इच्छासङ्गादि को त्याग कर, सत्य चिदानन्द स्वरूप सद्गुरु सत्यात्मा के अन्वेषण ध्यान विचारादि करना चाहिये ॥ ६ ॥

अथ अद्भुतनारी वर्णन प्र० ३

वसन्त ७

तुम बूझहु पण्डित कौनि नारि । काहु न ब्याहल है कुमारि ॥
सब देवतन मिलि हरिहिं दीन्ह । चारिहुँ युग हरि संग लीन्ह ॥
प्रथमे पद्मिनी रूप आय । है साँपिनी जग खेदि खाय ॥

बुध्यध्वं पण्डितास्तावत् का सा नार्यत्र विद्यते ।
यां न कोप्यूढवाँल्लोके ह्यद्यावध्यविवेकवान् ॥ १ ॥

कुमारी वर्तते या च चित्पितु र्ह्यन्तिके सदा।
असङ्गश्च पिता नास्या विवाहायापि बुध्यते ॥ २ ॥
देवाः सर्वे मिलित्वा तां हरये वै ददुर्यदा।
एनां चतुर्युगे पार्श्वे तदा हरिरपालयत् ॥ ३ ॥
अमन्यत स्वभार्यां तां सदैव वशवर्तिनीम्।
सन्निधौ वर्तमानापि सा च नैवममन्यत ॥ ४ ॥
आदौ सा पद्मिनी भूत्वा संसारेष्वागता पुनः।
भूत्वैव सर्पिणी सर्वान् धावित्वैवात्ति सर्वदा ॥ ५ ॥

उक्त कष्टों से बचने के लिये उपदेश है कि हे पण्डित! (जिज्ञासु विवेकी जन!) तुम बूझो (विचारादि द्वारा समझो) या हे मनुष्यों ज्ञानी पण्डितों से बूझो कि कौन ऐसी नारी है। कि जिस को किसी ने कभी व्याहा नहीं है, अतः वह सदा कुमारी है। यद्यपि शक्ति रूपमाया निराश्रय नहीं रह सकती है, अतः वह सत्यात्मा के आश्रित ही रहती है, तथापि अज्ञान से स्वतन्त्र सत्य समझने पर कष्ट देती है। अतः कष्ट से रहित होने के लिये उसको समझो। उसको पूर्णरीति से समझे विना सब देवताओं ने मिल कर, उसे हरि (विष्णु भगवान्) को दिया। हरि के प्रति उस का दान किया, अर्थात् विष्णु देव को सब देवताओं ने मायापति (माधव) समझा और हरि ने भी चारो युगों में लक्ष्मीरूप माया को अपने साथ में कर लिया, (माधव कहाने लगे) परन्तु वह माया तो प्रथम पद्मिनी (सुखदा सुगन्धा आदि) रूप से उनके पास में आकर फिर सर्पिणी रूप होकर संसारी को खदेड़ कर खाती है, और हरि को भी कष्ट देती है। अर्थात् प्रथमारम्भ सतयुगादि में संसार में कुछ धर्म सुखादि रहते हैं फिर संसार दुःख रूप हो जाता है। विष्णुदेवादि अधिकारियों को प्रथम विभूति सुखरूप प्रतीत होती है। फिर असुरों से युद्ध नाशादि काल में दुःखरूप हो जाती है, अतः माया रूप सर्पिणी अपने स्वामियों को भी अपने अधीन बच्चे तुल्य बनाकर मानो खाती है, प्रलय करती है।

यह वर युवती वै बर नाह। अति रे तेज तिय रैनि ताह ॥
कहहिं कबिर यह जगत पियारि। अपन बलकवहि रहल मारि ॥७॥

श्रेष्ठेयं युवती भाति विष्णुः श्रेष्ठः पतिः स च।
अज्ञानमोहरात्रौ च तस्यास्तेजोऽतिवर्द्धते ॥ ६ ॥
अहो जगत् प्रिया चैषा सर्वेषां मातृवत्तथा।
विमोह्य विविधै र्जालैः स्वस्या एव तु बालकान् ॥ ७ ॥

मारयन्त्यत्र तिष्ठन्ती खादन्ती सर्पिणीव च।
वर्तते तां बुधा! वित्त यतध्वं च विमुक्तये॥ ८॥
आदौ सा सुखदा भूत्वा पश्चाद्दुःखकरी सदा।
तदा त्यक्तुं समिच्छद्भि स्त्यक्तुंशक्या भवेन्नहि॥ ९॥

अतो यतध्वं हि सदा स्वमुक्तये, बाल्याद्भजध्वं हरिमात्मशुद्धये।
त्यक्त्वैव मायां ममतां सुदूरे, हिंसां च दम्भं कपटं न कुर्वताम्॥१०॥७॥

यह पद्मिनीमाया वर (श्रेष्ठ) युवती है, और वै (वे) विष्णु श्रेष्ठ नाह (स्वामी) हैं परन्तु उस तिय (युवती स्त्री) और ताह (उस) विष्णु देव के रैनि (अज्ञानरात्रि) में ही अत्यन्त तेज (प्रभाव) रहते हैं। श्रीकबीर साहब कहते हैं कि अत्यन्त तेज के कारण यह माया जगत् को प्यारी लगती है, परन्तु सर्पिणी के समान अपने बालक तुल्य वशवर्ती जीवों को मार रही है। अतः ज्ञान की प्राप्ति करके माया की वशवर्तिता से रहित होना चाहिये॥७॥

वसन्त ८

कर पल्लव केवल खेलै नारि। पण्डित होय सो करै विचारि॥
कपरा न पहिरे रहै उघारि। निर्जिव सो धनि अति पियारी।

नार्येव केवला सर्वं कृत्वा विस्तारमद्भुतम्।
खेलायति हि तां कोपि पण्डितश्चिन्तितुं क्षमः॥११॥
योऽस्ति वै पण्डितस्तस्या विचारं स करोतु च।
साक्षिमात्रोऽत्रदेवोऽस्ति माययैव करोति च॥१२॥
तथैव विदुषामेषा करपत्रबलेन च।
पदवाक्यादिरूपेण माया नृत्यति सर्वदा॥१३॥
विद्यापटं न धत्तेसा तां दृष्ट्वैव विलीयते।
तां विनातु सदैवैषा विवृता वर्ततेऽसती॥१४॥
आवृणोति परं देवं स्वयं सैव निरञ्जनम्।
निर्जीवा च जडा सैव भवति प्रेयसी जने॥१५॥
निर्जीवधनधान्येभ्यः सजीवस्त्रीस्वरूपिणी।
अतिप्रियतमा लोके विद्यते साऽविवेकिनाम्॥१६॥

शब्द पाँच ५ में कहा गया है कि "एके पुरुष एक है नारी" "एके नारी जाल पसारी" एक ही सत्यात्मा पुरुष और एका माया रूप नारी इस संसार का मूल स्वरूप है, तहाँ सत्यात्मा पुरुष तो सबको सत्ताप्रद साक्षिमात्र

है । एक नारी ने नाम रूपात्मक जाल (विस्तार व्यवहारिक जीवों के बन्धन) को पसारी है । उसी नारी का यहाँ पूर्व प्रसङ्ग के अनुसार से फिर वर्णन है कि उस नारी का जो वस्तुतः नाह (स्वामी) है, सो सदा उदासीन असङ्ग रहता है । किन्तु केवल (सिर्फ अकेली) नारी ही अपने स्वामी की सत्ता और प्रकाश को पाकर, नामरूप का पल्लव (विस्तार) करके और मन बुद्धि रूप होकर खेलती है । तथा कर (लेखक मनुष्य के हाथ) के पल्लव (अंगुलियों) केवल (सामर्थ्य) से वर्णों की रचना करके माया खेलती है । विवेकी पण्डित हो, सो इस प्रकार विचार करे, और नामरूपात्मक माया को समझे । और वह नाम रूपात्मक माया कपड़ा नहीं पहिरती है, पाँच कोशों से आवृत्त नहीं होती है, यह स्वयं पाँच कोशरूप होती है । अतः इससे आत्मा आवृत्त होता है, और यह नारी उघारी (प्रकट) रहती है । और निर्जीव (कनकादि) रूप वह माया धनी लोभी लोगों की अति प्यारी होती है । अतः अपने जीवात्मा को महा कष्ट देकर भी सुवर्णादि को प्राप्त करना चाहते हैं तथा कामियों की निर्जीव (सुवर्णादि) सो (से) धनि (धन्या) सुन्दर श्रेष्ठ स्त्री अति प्यारी होती है । अतः उसके लिये तन, धन धर्म को भी नष्ट कर देते हैं, इत्यादि ।

उलटी पलटी बाजू तार । काहू मारै काहु उबार ॥
कहैं कबिर दासन के दास । काहु सुख दे काहु उदास ॥८॥

मितवर्णस्वरूपा च पौर्वापर्यविभेदतः ।
भूत्वाऽनन्तात्मिका सैव तारं शब्दायते मुहुः ॥१७॥
प्राणापानादिरूपेण दिनमासादिरूपतः ।
भूत भौतिकरूपेण चित्तत्त्वे च समाश्रिता ॥१८॥
कश्चिन्मारयते मूढमविद्यावपुषा हि सा ।
विज्ञं तायते सैव तत्त्वविद्यास्वरूपिणी ॥१९॥
दासदासा वदन्त्येवं सा निहन्ति न कञ्चन ।
सौख्यं दत्ते हि कस्मै चिदौदासीन्यं तु कस्यचित् ॥२०॥
भुञ्जते हि फलं सर्वे कर्मणो मृत्युभागिनः ।
कर्म मायात्मकं तच्चेद् भवतु तन्न वार्यते ॥२१॥८॥

इति वसन्तवल्लरावद्भुतनारीवर्णनं नाम तृतीयं पुष्पम् ॥३॥

परिमित अकारादि और ककारादि रूप वह माया ही, उलट पलट कर अनन्त पद वाक्य रूप होकर तार (जोर) से बाजती है । तथा जिह्वारूप

तार से शरीर रूप यन्त्र द्वारा बाजती (शब्द करती) है। अर्थात् सब शब्द माया जन्य और मायारूप होते हैं। और यह माया ही अज्ञान भ्रम संसय रूप तथा मिथ्या क्रूर मोहादि जनक शब्दादिरूप से किसी अविवेकी कामी को मारती है। और ज्ञान वैराग्य सदुपदेशादि रूप से किसी विवेकी मुमुक्षु को उबारती (मुक्त करती) है। परन्तु श्रीकबीर साहब कहते हैं कि दासों के दास (देव देवी के भक्त) कहते हैं कि माया किसी को मारती नहीं है। मृत्यु स्वभाविक है। अतः माया किसी सकाम भक्तों को संसार में ही सुख देती है, किसी निष्काम को उदासीन (ब्रह्मनिष्ठ मुक्त) कर देती है। परन्तु "अध्यवसायो बुद्धिर्धर्मो ज्ञानं वैराग्यमैश्वर्यम्। सात्त्विकमेतद्रूपं तामसमस्माद्विपर्यस्तम् ॥ १ ॥ रूपैः सप्तभिरेव तु बध्नात्यात्मानमात्मना प्रकृतिः। सैव तु पुरुषार्थं प्रति विमोचयत्येकरूपेण ॥ २ ॥ अध्यवसाय (निश्चय स्वरूप) बुद्धि कही जाती है। उस बुद्धि रूप से परिणत प्रकृति के धर्म, ज्ञान वैराग्य और ऐश्वर्य ये चार सात्त्विकरूप होते हैं। और अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य, अनैश्वर्य ये चार तामस स्वरूप होते हैं उनमें ज्ञान से अन्य सातो स्वरूप से प्रकृति (माया) अपने आपको बाँधती है, और भ्रम से पुरुष में बन्धन प्रतीत होता है। तहाँ अविवेक से ही पुरुष के मोक्ष के लिये प्रवृत्त होकर एक ज्ञान रूप से अपने को ही आप मुक्त करती है, यह सांख्य का सिद्धान्त है, अवतारादि रूप से माया असुरों को मारती है। भक्तों को उबारती है। अतः सब प्रपञ्च बन्धमोक्ष भी मायामात्र है। वस्तुतः "न निरोधो न चोत्पत्ति र्न बद्धो न च साधकः। न मुमुक्षु र्न वै मुक्तइत्येषा परमार्थता ॥" ॥८॥

अथ अद्भुत मानव चरित्रवर्णन प्रकरण ४

वसन्त ९

मायि मोर मनुषा अति सुजान। धान कूटि कूटि करै विहान ॥
बड़े भोर उठि आँगन बाढ़ि। बड़े खाँच लै गोबर काढ़ि ॥

सद्गुरोः प्रियभक्ता ये मायां कृत्वा वशे स्थिताः।
विवेकेन विरागाद्यै र्विचारेण निरन्तरम् ॥ १ ॥
अतिविज्ञा हि ते धीरा मायाजालनिकर्तने।
कुर्वन्ति दुष्करंसर्वं लभन्ते दुर्लभं पदम् ॥ २ ॥

सत्यानृताऽविवेकात्मव्रीहीन् घ्नन्ति विवेकतः ।
तद् व्यापारेण मोहान्धरात्रिं विगमयन्ति ते ।।३।।
उत्थाय चातिकल्ये ते ह्युपरत्या समन्ततः ।
वैराग्यशोधिनीं नीत्वा शोधयन्ति हृदाजिरम् ।।४।।
रागाद्यवकरं कृत्वा दूरे ते हि विवेकतः ।
विशाल मति पात्रेण कुबुद्धि वासनादिकम् ।
नयन्ति गोविषं दूरे सदाऽभ्यासादितत्पराः ।।५।।

लोभी कामी आदि को तो ममता आदि रूप माया अवश्य कष्ट देती है, परन्तु कहा जाता है कि लोभ कामादि के त्याग द्वारा माया को वश में (नष्ट) करने वाले मायी (माया विजयी) मोर मनुषा (गुरुभक्त = मनुष्य) अत्यन्त सुजान (विवेकी) होते हैं। अतः माया के फन्द रूप रागद्वेषादि में, नहीं, पड़ते हैं। किन्तु धान (अविविक्त सत्यानृत आत्मानात्मा) को कूट कूट कर (विवेक विचारदि करके) विहान (विकारों का हान = नाश, सुप्रकाश) करते हैं। जिस रात्रि में माया का तेज बढ़ता है, उस मोहान्धरात्रि को नष्ट कर देते हैं। बड़े भोर (प्रथम विवेक) काल में उठकर (उपरत तत्पर उद्यत होकर) वैराग्य रूप झाडू से अपने हृदय के रागद्वेषादि रूप मल को बुहार कर (निकाल कर) हृदय को साफ कर देते हैं। श्रद्धा आदि युक्त विवेक-वती बड़े खाँच (टोकरी) को लेकर, आशा, तृष्णादि युक्त मनरूप गोवर को हृदय से काढ़ (निकाल) देते हैं।

बासी भात मनुष ले खाय। बड़े घैल ले पनियक जाय ।।
अपना सयाँ के बाँधो पाट। लै रे बेचो हाटे हाट ।।

भक्तं पर्युषितं यच्च प्रारब्धकर्मलक्षणम् ।
भुञ्जते तद्धि हर्षेण भुक्त्वैव क्षपयन्ति च ।। ६ ।।
शमादि शालि सद्बुद्धिघटमादाय यत्नतः ।
विज्ञानवारिलाभार्थं यान्ति ते गुरुसन्निधौ ।। ७ ।।
विनयं तत्र कुर्वन्ति ज्ञानं मे दीयतां प्रभो ! ।
स्वामिनो मे निजस्यैव नित्यस्यापरिणामिनः ।। ८ ।।
हृत्पटे तद्धि संस्थाप्य बध्वा च प्रेमबन्धनैः ।
रक्षिष्यामि सदा देव ! दीयतां कृपया मतिः ।। ९ ।।
सच्छिष्येभ्यस्तु दत्त्वैव ज्ञानं विज्ञानसंयुतम् ।
गुरवः शिक्षयन्त्येवं रे मद्भक्ता इदं शुभम् ।। १० ।।

जिज्ञासुजनहट्टेषु विक्रेतव्यं सदा खलु ।
भक्त्यादिमूल्यमादाय देयं योग्याय नान्यथा ॥११॥

विवेकी जन वासी भात तुल्य प्रारब्ध कर्म को सुखपूर्वक खाय (भोग) लेते हैं । ममता अज्ञानादिरूप मल को धोने के लिये शम-दम श्रद्धा आदि युक्त बड़े घड़े तुल्य भक्ति बुद्धि ही को लेकर, शान्तिप्रद ज्ञान भक्ति रूप पानी के लिये गुरु शरण सत्सङ्गादि में जाते हैं । वहाँ जाकर जिज्ञासुजन सद्गुरु से विनय करते हैं कि मैं अपने सैंया (सर्वात्मा स्वामी) को स्वामी के ही पाट (सिंहासन हृदय पाट) पर प्रेम से बाँध कर धरूंगा । अतः मुझे बताया = मिलाया जाय (स्वामी की प्राप्ति कराया जाय) । फिर उपदेशादि द्वारा प्राप्ति कराकर सद्गुरु कहते हैं कि रे भक्त भाई ! इस उपदेश ज्ञान को लेकर, हाटे हाटे बेंचो, बाटे-बाटे नहीं । भक्ति सेवा आदि मूल्य लेकर श्रद्धा आदि देखकर इस उपदेश का अधिकारी के प्रति प्रदान करो, अनधिकारी के प्रति नहीं ।

कहहिं कबिर ई हरि के काज । जोइयक ढिग रहि नाहिं लाज॥९॥

इदमेव हरेः कार्यं नान्यल्लोकेषु विद्यते ।
सुप्रसन्नो हरिश्चातः क्षणान्मुक्तं करोति हि ॥१२॥
ज्ञानेन चोपदेशेन विना नास्ति विमुक्तता ।
मायायोषित्समीपे हि लज्जा कस्यात्रतिष्ठति ॥१३॥
निर्लज्जाः पतिता भूत्वा सर्वे धावन्ति सर्वतः ।
तन्निवृत्त्यै गुरुः प्राह कबीरः करुणार्णवः ॥१४॥
ब्रह्मचारी मिताहारी तितिक्षुः संयतेन्द्रियः ।
तुष्टो विविक्तसेवी च निष्पृहोऽप्यार्जवान्वितः ॥१५॥
धीरो दयालुरद्रोही दम्भाऽहङ्कारवर्जितः ।
जन्ममृत्युजरादीनां दोषाणामनुचिन्तकः ॥१६॥
यः पुत्रादिष्वनासक्तो योगयुक्तो ह्यसङ्गधीः ।
आत्मचिन्तापरो भक्तो ज्ञानं लब्ध्वा स मुच्यते ॥१७।९॥

श्री कबीर साहब कहते हैं कि विवेक वैराग्य सद् भक्ति सदुपदेश ज्ञान विज्ञान ही सर्वात्मा हरि के काज (कार्य = सेवा भक्ति) स्वरूप है कि जिससे मायामयबन्धों से मुक्ति मिलती है, और इस हरि के कार्य (सेवा) के बिना माया रूप जोइया (स्त्री) के ढिग (पास) में किसी की लाज (बड़ाई-इज्जत) नहीं रही, न रहती है । अतः इज्जत चाहने वाले मुमुक्षुओं को हरि गुरुभक्ति कर्तव्य है, उपदेश श्रोतव्य और कर्तव्य है, इत्यादि ॥ ९ ॥

बसन्त १०

रसना पढु हो श्रीवसन्त । पुनि जे परिहहु यम के फन्द ॥
मेरु दण्ड पर डङ्क कीन्ह । अष्ट कमल परजारि दीन्ह ॥

उपकण्ठेऽत्र यस्या नो लज्जा संस्था च तिष्ठति ।
तस्या भक्तोऽत्र कश्चिद्धि प्राहैवं योगवित्तथा ॥१८॥
जिह्वया श्रीनिवासं त्वं भजस्व मुच्यसे ततः ।
अन्यथा यमपाशेषु पुन गत्वा पतिष्यसि ॥१९॥
एवं श्रुत्वा जनाः केचिन्मेरुदण्डलतोपरि ।
गोचरैः सहितं चित्तं ह्यर्पयन्तो मुहुर्मुहुः ॥२०॥
अष्टौ वै कमलान्येतैरिन्द्रियार्थविषैः खलु ।
अदहन्नहि चानन्दरससेकै र्व्यवर्द्धयन् ॥२१॥
यद्वा सद्गुरुरेवाह भोः श्रीवासन्तिक प्रधि ! ।
मा पठाऽन्यं रसं त्वं हि त्यक्त्वाऽऽत्मानं हरिं परम् ॥२२॥
अन्यथा यमपाशेषु पुनर्गत्वा पतिष्यसि ॥२३॥
तीक्ष्णतुण्डप्रघातेन मेरौ वै कमलानि ते ।
प्रज्वालयद्यमः पूर्वं तं विस्मरति किं भवान् ॥२४॥

जोइया के ढिग (निकट) में लाज नहीं रहती है । अतः उपदेश है कि हे सज्जनो ! रसना (जिह्वा) से भी श्रीवसन्त (श्रीनिवास = माया आदि के अधिष्ठान = आश्रय) को भजो (गुरु से श्रवण करके पढो) ऐसा नहीं करने पर फिर भी यम के फन्दे (बन्धन) में पड़ोगे, कि जिसके फन्दे में प्रथम (पहले) भी अनेक बार पड़ चुके हो । उस यम ने पूर्व जन्म के मरण काल में तेरे मेरु दण्ड पर विषैले बिच्छु के डंक तुल्य डङ्क किया (मारा) था, कि जिससे आठो कमलों को अत्यन्त जला दिया था ।

ब्रह्म अग्नि कीयो परकाश । अर्द्ध ऊर्ध्व तहँ बहै बतास ॥
नव नारी परिमाला गाव । सखी पाँच तहँ देखन धाव ॥

पद्मेगत्वा सहस्त्रारे तत्रस्वीयमनीषया ।
ब्रह्माग्ने र्हि प्रकाशं ते संचक्रु र्योगिनो भ्रमात् ॥२५॥
यतस्तत्र ह्यधश्चोर्ध्वं वायुश्चलति सर्वदा ।
तत्संघर्षेण जातो नो प्रकाशो ब्रह्म विद्यते ॥२६॥

नव नाड्यः प्रधानानि प्रणान्तःकरणानि वा।
संघर्षजपरानन्दं गायन्ति जनयन्ति च ॥२७॥
सख्यस्तद्दर्शनायैव पञ्चज्ञानेन्द्रियाणि च।
तत्रैव खलु धावन्तित्यक्त्वा स्वां स्वां क्रियां तदा ॥२८॥
यद्वा सद्गुरुराहेदं यमकृत्यं पुराकृतम्।
प्रज्वालयन्महाग्निं स त्वद्दाहाय तदा यमः।
वायु र्वातिस्म तीव्रात्मा ह्यधश्चोर्ध्वं समन्ततः ॥२९॥
अहो तथापि ते प्राणा इन्द्रियाणि मनस्तथा।
नाड्याद्यास्तत्र संयान्ति गायन्ति गीतकानि च ॥३०॥

तुम्हें जलाने के लिये यम ने ब्रह्माग्नि (बृहदग्नि) का प्रकाश किया था, और उस अग्नि को ही मानो प्रज्वलित करने के लिये तेरा प्राण रूप वायु भी ऊर्ध्व श्वास काल में वहाँ नीचे ऊपर बहता (चलता था)। अतः तेरे प्राणादि भी उस समय तेरे रक्षक नहीं थे, किन्तु यम के ही सहायक थे। और कर्मेन्द्रिय चार अन्तःकरण रूप, नव नारी, या प्रधान नाड़ी रूप, नव नारी, परिमाला (यम के खजाना=धन) को गाती थीं। ये सब उनके वशवर्ती थीं। और पाँच ज्ञानेन्द्रिय रूप तेरी सखियाँ भी वहाँ यम की लीला देखने के लिये दौड़ पड़ी थी !

अनहद बाजा रहल पूरि। पुरुष बहत्तर खेलै धूरि ॥
माया देखि कस रहहु भूलि। जस बनासपति रहली फूली ॥
कहैं कबीर हरी के दास। फगुआ माँगै बैकुण्ठ बास ॥

वाद्यं ह्यनाहतं तत्र तदा पूर्णं विराजति।
द्विसप्ततिप्रकोष्ठस्था नाडीस्थास्तत्र वायवः ॥३१॥
वसन्तानन्द धूलिं हि किरन्तीव परस्परम्।
मायात्मिकां न सद्रूपां किमु भ्राम्यत दर्शनात् ॥३२॥
वनस्पतौ यथा पुष्पं कल्पनाभि र्लगेत् क्वचित्।
मूर्धज्योतिषि भूमत्वं तथा स्यात्कल्पनात्मकम् ॥३३॥
तटस्थस्य हरे र्दासा वदन्ति कवयस्तथा।
न ते फाल्गुनिका भ्रान्ता वैकुण्ठे किन्तुसंस्थितिम् ॥३४॥
याचन्ते ते हरेः साक्षान्न मोक्षं निर्विशेषकम्।
सोऽस्ति मिथ्या तु वैकुण्ठे स्थितिः सत्यास्तिमुक्तता ॥३५॥१०॥

इति सन्तवल्लरावद्भुतपुरुषचरित्रवर्णनं नाम चतुर्थं पुष्पम् ॥४॥

क्योंकि वहाँ अनहद बाजा भी पूर्ण हो रहा था (बजता था) और बहत्तर कोठे (कोष्ठों) के बहत्तर वायु रूप पुरुष धूलि प्रक्षेप रूप खेल खेल रहे थे। अतः इन्द्रियरूप सखियाँ यम की लीला से आकर्षित हो गई थीं। तेरा सहायक कोई नहीं था, मायावश होकर तुमने अकेला कष्टों को भोगा था। फिर भी तुम माया को मायामय लीला आदि को देखकर (कैसे) भूले रहते हो, (उन दुःखों को याद = स्मरण नहीं करते हो) जैसे कि बनस्पति फूल रही हो। और उस फूल में तुम लुभाये हो। अर्थात् वनस्पति में मिथ्या फूल की कल्पना के समान मायामय संसार में मिथ्या सुख की कल्पना से तुम इस में फंसे हो। इस बात को सुनकर मायामय हरि के दास कहते हैं कि फगुआ (फाल्गुन के आनन्देच्छुक = कामी भक्त) भूले हुए नहीं हैं। किन्तु ईश्वर से वैकुण्ठ में बास माँगते हैं। सालोक्यादि मुक्ति पाने वाले हैं। अज्ञ योगी रसना को समझाकर, मेरु दण्ड पर, कामयुक्त चित्तवृत्तिरूप डङ्क मार कर, कमलों को जलाकर, ज्योति रूप ब्रह्माग्नि का प्रकाश करते हैं। (दृश्य ज्योति को ब्रह्म समझते हैं) उस ज्योति को भी यहाँ मायामय दर्शाया गया है "दृश्यमान सो विनशये, अदृश्यहि लखै न कोय। नाहीं कोइ गाहक है, जाहि मिले सुख होय। साखी २४७" ॥१०॥

अथ उपदेशोपसंहार प्र० ५

वसन्त ११

(जाके)बारह मासवसन्त होय(ताके) परमारथबूझै विरला कोय ॥
बरषै अग्नि अखण्ड धार। हरियर (भौ) वन अठारहभार ॥

सर्वदा सर्वमासेषु वसन्तो यस्य विद्यते।
सर्वत्र ज्ञानलाभेन नित्यतृप्तस्वभावतः ॥ १ ॥
परमार्थं परानन्दं तस्यात्र विरला जनाः।
श्रेष्ठा एव हि जानन्ति नान्ये विषयिणो नराः ॥ २ ॥
ज्ञानिनां हृदयेऽखण्डो ज्ञानाग्निर्हि प्रवर्षति।
अखण्डं सच्चिदानन्दं जलं दत्ते हि सर्वदा ॥ ३ ॥
तेन हृष्यन्ति लोमानि सत्येन सुजलेन वै।
यान्यष्टादशभि र्भारै र्वानस्पत्यैः समानि हि ॥ ४ ॥

नित्यं ज्वलति तापाग्नौ नैव म्लायन्ति कर्हिचित् ।
आनन्दवारिणा तूर्णं तापा नश्यन्ति ते यतः ॥ ५ ॥
हरे भक्ता वदन्त्येवं बैकुण्ठादौ सदैव च ।
वसन्तो वर्तते तस्य तत्त्वं कोऽपि सुबुध्यते ॥ ६ ॥
संसारे तापसत्त्वेऽपि तत्रत्यवनसन्ततिः ।
सततं हरितैवास्ते संशाद्वलितभूमिगा ॥ ७ ॥

प्रथम कहा गया है कि "फगुआ माँगे बैकुण्ठ बास" समय विशेष लोक विशेष में कामी जीव मायिक सुख विशेष चाहता है, ईश्वर देवादि से माँगता है। कभी प्राप्त भी करता है। परन्तु निष्काम भक्त विरक्त होकर, जो विरल कोई परमारथ (सत्य सर्वात्मा) को बूझता (समझता) है। उस को बारहो मास (सदा) बसन्त (ब्रह्मानन्द) प्राप्त होता है, इस प्रकार से जिस को सदा आनन्द होता है, उसके परमार्थ स्वरूप को विरल कोई जिज्ञासु समझता है, उसके भी सब ताप निवृत्त हो जाते हैं। और जड़ता के नाशक तत्त्व के प्रकाशक, ज्ञान साधन ज्ञानरूप अग्नि जिसके हृदय में अखण्ड धारा रूप से वर्षती है (ब्रह्मज्ञानाभ्यास सदा बना रहता है) उसके अठारह भार बनस्पति के तुल्य लोमसमूह हरियर (हर्षित) हुए और होते हैं।

पनिया आदर धरै न लोय । पवन गहै कस मलिन धोय ॥
बिनु तरुवर फूले आकाश । शिव विरञ्चि तहँ लेहिं बास ॥
सनकादि भूले भँवर होय । लख चौरासी जीव जोय ॥
जो तोहि सत गुरु सत्य लखाव । ताते न छूटे चरण भाव ॥

ज्ञानानन्दजलं नैव लोका गृह्णन्ति चादरात् ।
प्राणवायुं निगृह्णन्ति मलिनं क्षाल्यतां कथम् ॥ ८ ॥
यावन्न मार्ज्यते चित्तं तावत्सत्यतरुं विना ।
आकाशं पुष्पितं भाति तत्र शम्भु र्वसत्यजः ॥ ९ ॥
भूत्वा भ्रमरवत्तत्र सनकादि सुरर्षयः ।
मत्ता भ्रान्ताश्च तिष्ठन्ति जीवाश्च सर्वयोनिगाः ॥१०॥
संमार्जनां विना बुद्धे र्विज्ञानादि विना तथा ।
यत्सत्यत्वेन संभाति तद्विज्ञानान्मृषा भवेत् ॥११॥
अनृतात्तु विवेकेन त्वामेव सद्गुरुस्तु यः ।
संदर्शयति सत्यं तत्पादे भावं न वै त्यज ॥१२॥

गुरुपादे सदा भावाद्धरौ भक्त्या सदा सुखम् ।
लभ्यते मलिनं सर्वं क्षाल्यते नात्र संशयः ॥१३॥

कामी लोग विवेक विज्ञानादिरूप और ज्ञानाग्नि से प्राप्त करनेयोग्य सच्चिदानन्द स्वरूप, पनिया (पानी) को आदरपूर्वक धारण नहीं करते हैं । किन्तु "प्राणायामै र्दहेद् दोषान्" मनु० अ० ६ । ७२ । प्राणायाम से वात पित्तादि जन्य दोषों को नष्ट करे, इत्यादि सुन कर केवल प्राण को सन्ध्या आदि काल में गहते (प्राणायाम करते) हैं, तो उससे अज्ञान भ्रममोह संशयादि रूप मलिन (मल) कैसे धोया जा सकता है, क्योंकि अज्ञानादि का नाशक ज्ञान ही है, अन्य नहीं । उक्त प्रकाश अनुभव रूप ज्ञान के विना, अन्धकार में सर्प भ्रम के समान, विना तरुवर (वृक्ष) के ही अज्ञों को आकाश फूला हुआ प्रतीत होता है, अर्थात् आकाश में अनेक सत्यज्ञाक दिव्य भोगादि अज्ञान से ही भासते हैं । सत्यविवेकादि रहित सिद्धि आदि के इच्छुक योगियों को भी हृदयाकाशादि में प्रथम मिथ्या वस्तु अति सुन्दर प्रतीत होता है । और प्रतीत होता है कि शिव, ब्रह्मा आदि अनन्तदेव उस प्रकाश में बसते हैं, तथा आकाश के वृक्षों के पुष्पों के वास (गन्ध) को लेते हैं । (स्वर्गादि के दिव्य विषय जन्य सुखों को भोगते हैं । तथा सनकादिक भी भँवर तुल्य होकर उस आकाश के पुष्पों में भूले (आसक्त) हैं, स्वर्गादि के भोगों को भोग रहे हैं और चौरासीलाख योनियों के जो जीव खग मृगादि वृक्षादि वहाँ पहुँचे हैं । सो सब आनन्द भोग रहे हैं, वहाँ कोई प्राणी दुःखी नहीं हैं, परन्तु खग मृगादि वहां भी हैं । श्री कबीर साहब कहते हैं कि सत्य सुख सत्य वस्तु कहीं दूर नहीं हैं, क्योंकि सद्गुरु सेवह यहाँ ही समझ पड़ता है, अतः जो सद्गुरु होंगे, सो तुमको सत्य लखायगें (दर्शायगें) और जो तुम्हे सत्य लखावें, उनके चरण से जीवन पर्यन्त भाव (भक्ति प्रेम) नहीं छूटना चाहिये, चरणों में सदा भाव रखना चाहिये ।

अमर लोक फल लावै चाय । कहैं कबिर बूझै सो खाय ॥११॥

कवयस्तु वदन्त्येवं देवलोकं य इच्छति ।
देवाऽऽदीन्त्सत्करोत्येव सैवाप्नोति सुखं फलम् ॥१४॥
अथवाऽमरलोकात्मस्वरूपे सत्फले हि ये ।
जिज्ञासां च मुमुक्षां च समन्तादानयन्ति वै ॥१५॥
गुरोश्च शरणं प्राप्य पृष्ट्वा श्रद्धासमन्विताः ।
तत्स्वरूपं विजानन्ति ते मोक्षं प्राप्नुवन्ति हि ॥१६॥

इत्येवं ज्ञानिनस्तत्त्वं सर्वे सम्यग् वदन्ति हि।
तस्मात्तदेव बोद्धव्यं सर्वैरपिमुमुक्षुभिः ॥१७॥
यद्वा भक्तिजलं नैव लोका गृह्णन्ति सादरम्।
गृह्णन्ति पवनं केन मलिनं माज्यतामिति ॥१८॥
वृक्षं विनापि कैकुण्ठे ह्याकाशं पुष्पितं सदा।
वर्तते तत्र शम्भुश्च वेधास्तिष्ठति सर्वदा ॥१९॥
सनकाद्याश्च ये सिद्धा ज्ञानित्वेनापि सम्मताः।
ते तत्र भ्रमरा भूत्वा तिष्ठन्त्यानन्दकानने ॥२०॥
सर्वयोनिस्थभक्ता ये तेऽपि तिष्ठन्ति तत्र वै।
तत्रैव च मनोयोगादन्योऽपि फलमत्ति हि ॥२१॥११॥

कविजन तथा कबीर साहब कहते हैं कि उक्त भाव (प्रेम) सहित, गुरु भक्तिपूर्वक जो कोई अमरलोक (देवलोक) में चाव (चाह) लाता है। या अमर (अविनाशी) "लोक्यते=दृश्यते इति लोकः" ज्ञान दृष्टि से जो देखा जाता है, उस सत्यात्मा में जो चाव लाता है। और गुरु से पूछकर समझता है। सो उस देवलोक के फल को खाता (भोगता) है। या उस नित्यमुक्त आत्मस्वरूप फलको (मोक्षको) यहाँ खाता है, जीवन्मुक्ति सुखका अनुभव करता है ॥११॥

वसन्त १२

(मैं) आयउँ मेहतर मिलन, तोहि। ऋतु वसन्त पहिराउ मोहि ॥
लम्बी पुरिया पाई क्षीण। सूत पुराना खूँटा तीन ॥

देवभक्ता गुरो भक्ता गत्वैव तस्य सन्निधौ।
कुर्वते च स्तुतिं देव! महत्तर! दयानिधे! ॥२२॥
त्वयैव सङ्गमार्थोऽहमागतस्तव मन्दिरे।
शरणे चैव हे देव! वसन्तानन्दवर्द्धनम् ॥२३॥
योग्यं पटं शरीरं मे ज्ञानं सत्यं च दीयताम्।
अज्ञा वाञ्छन्ति देवत्वं विज्ञा मोक्षं सनातनम् ॥२४॥
प्राप्तस्य च पटस्यास्य विस्तारोऽस्ति महान् प्रभो!।
क्षयिष्णु स्तत्र शुद्धिश्च विरलाऽल्पतरा तथा ॥२५॥
वासनाकर्मभूताद्यास्तन्तवोऽस्य पुरातनाः।
जीर्णाः सन्ति तथा कीला गुणादोषात्मकास्त्रयः ॥२६॥

अमर (देव) लोक को चाहनेवाले भक्त अपने इष्टदेव स्वामी से,

और ज्ञान चाहने वाले शिष्य सद्गुरु से विनय करते हैं कि हे मेहत्तर ! (अत्यन्त महान् दयालो !) हे लोक नायक देव ! गुरो ! मैं तुमसे मिलने के लिये तेरे शरण में आया हूँ। आप मुझे ऋतुवसन्त (वसन्त ऋतुतुल्य आनन्द जनक दिव्य देहरूप पट, मोक्षप्रद ज्ञानरूप वसन्त का पट) पहिराइये, प्राप्त कराइये। यद्यपि सूक्ष्म देहादिरूप पट प्रथम से प्राप्त हैं, स्थूल देह भी बार-बार होती है। तथापि इस प्राप्त देहसंसार रूप पट की पुरिया (थान प्रवाह=ताना=विस्तार) बहुत लम्बी (अनादि) है और इसमें पाई (शुद्धि) क्षीण (अति अल्प विनश्वर है। अनादि संसार में अच्छी देह शुद्ध बुद्धि आदि कम (थोड़े) मिलते हैं और वासना कर्म भूतादिरूप सूत भी पुराने हैं (प्रवाहरूपसे अनादि हैं) और पट के बुनने में आधार रूप खूँटा (खूँटी) तीन गुण तथा वात, पित्त, कफ हैं।

शर लागै तेहि तिनि सै साठि। कसनि बहत्तर लागु गाँठि ॥
खुर खुर खुर खुर चलै नारि। बैठो जोलहदि आसन मारि ॥
ऊपर नचनी करै कलोल। करिगह में दुइ चलै गोर ॥

शतानि त्रीणिशष्टिश्च यान्यस्थीनिं कलेवरे।
दिनानि वत्सरस्याथ शरास्तान्यस्य सम्भवे ॥२७॥
द्विसप्ततिश्च नाडीनां कोटयो वायवस्तथा।
बन्धनान्यत्र विद्यन्ते नाड्यः क्षिप्रं चलन्ति च ॥२८॥
बहि र्नद्यश्चलन्त्येवं चन्द्रसूर्यादयस्तथा।
स्थिराः केऽपि न विद्यन्ते दीयतां सुस्थिरं पदम् ॥२९॥
अस्थिरे चात्र लोकेऽथ देहे च बुद्धिरूपिणी।
तन्तुवायी स्थिताऽऽस्ते मे ह्यासनं परिकल्प्य तु ॥३०॥
ऊर्ध्वंनर्तनशीलेन यन्त्रैण च समानि वै।
इन्द्रियाणि च चन्द्राद्याः कल्लोलं कुर्वते वहु ॥३१॥
वायु र्नृत्यतिसर्वत्र शब्दं कुर्वन् पृथग् विधम्।
ब्रह्माण्डे च गृहे देहे यन्त्रगेहसमे सदा ॥३२॥
चन्द्रसूर्यौ हि पादौ द्वौ बुद्धेः संचलतो मुहुः।
अध्यात्ममधिभूतं वा चलं सर्वं चराचरम् ॥३३॥

इस देह रूप पट में तीन सौ साठ हड्डी रूप सर लगते हैं। बहत्तर कोठे की नाड़ी तथा वायु की कसनी (कस कर बाँधने वाली) गाँठी लगती है। जैसे पट के बुनने में ढरकी द्वारा खुर खुर शब्द करती हुई नाड़ी चलती है,

वैसे ही शरीर में खुर खुर नाड़ी चलती है। और मन तथा जीव रूप जोलहा इसको सदा बीन रहा है। जोलहवी (जीव रूप जोलहा की स्त्री) बुद्धि इसमें आसन लगाकर बैठी है। और ऊपर की तरफ करघा की साजरूप नचनी की तरह, इन्द्रिय, प्राण, वायु, कल्लोल (क्रीड़ा शब्द) करते हैं। करिगह (करघा युक्त घर) रूप देहादि में बाह्याभ्यन्तर चन्द्र, सूर्य दोनों गोड़ (पैर) समय समय पर चलते हैं।

पाँच पचीसो दशहुँ द्वार। सखी पाँच तहँ रची धमार॥
रङ्ग बिरङ्गी पहिरि चीर। हरिक चरण धरि गावै कबीर॥१२॥

इति श्रीसद्गुरुकबीरकृते विविधबन्धबीजविध्वंसने बीजकनाम्नि ग्रन्थे परमानन्दसम्पादकं षष्ठं वसन्त प्रकरणं समाप्तम्॥६॥

दिक्षु द्वारेषु दशसु पञ्चतत्त्वानि सन्ति हि।
तेषां प्रकृतयः पञ्चविंशतिसंख्यकास्तथा॥३४॥
पञ्च प्राणा इमे सख्य इन्द्रियाणि तथैव च।
धैवतं हि स्वरं यद्वा धमाराख्यं कुकौतुकम्॥३५॥
गानं वा कुर्वते येन भक्त्यानन्दादिदुर्लभम्।
भवत्यथ पटो देहो जायते सुलभः सदा॥३६॥
इत्थं सिद्धं पटं चित्रं परिधाय हि सज्जनाः।
भक्ता जिज्ञासवः सर्वे हरेर्धृत्वा पदं मुहुः॥३७॥
गायन्ति सुगुणांस्तस्य हरेश्च सद्गुरोस्तथा।
पटस्यान्यस्य लब्ध्यर्थं सदैव नूतनस्य वै॥३८॥
भक्ता देवस्य मन्यन्ते देवदेहांस्तथाविधान्।
मुमुक्षवः परं ब्रह्म तस्य प्राप्तेः समिच्छया॥३९॥
आत्मभावेन तल्लब्ध्वा मोदन्ते ते सदैव हि।
पुनरावृत्तिहीनं तं मोक्षं यान्ति विदेहिनः॥४०॥
तदीयवाक्यामृतपानमात्राज्जनो विमुक्तो भवतीह बन्धनात्।
यथा श्रुतेः साररसानुभूत्या विमुक्तिभाजः सुजना नुमस्तान्॥४१॥
वसन्तवल्लरिं दृष्ट्वा कलिकाभक्तिसंयुताम्।
मोदन्तां सुजनाः सर्वे ब्रह्मानन्दोऽनुभूयताम्॥४२॥१२॥

इति वसन्तवल्लरावुपदेशोपसंहारवर्णनं नाम पञ्चमं पुष्पं समाप्तम्॥५॥
समाप्तेयं वसन्तवल्लरिः॥

उक्त रीति से सिद्ध हुई देह में, और संसार में, भूमि, जल, तेज, वायु और आकाश रूप पाँच भूत (तत्त्व) रहते हैं, उनकी पचीस प्रकृतियाँ (स्वभावें) वर्तमान रहती हैं। और देह में दश द्वार रहते हैं। तथा पाँच ज्ञानेन्द्रिय रूप विषय प्रापक जीव की सखियाँ हैं। जो जीव के लिये भोग के साधन शब्दादि बिषयों को प्राप्त कराती हैं। सब मिलकर, अज्ञ जीव के देहात्मक गृहके दशो द्वारों पर सदा घमार (खेल क्रीड़ा) रचती रहती हैं। उनके वशवर्ती जीव रङ्ग-विरङ्गी (अनेक प्रकार के) देह रूप चीर (पट) पहिर कर, (देहधारी होकर) और हरि गुरु के चरणों को धरकर (चरणों के ध्यान करता हुआ) दिव्य देह या मोक्ष के लिये स्तुति आदि गाते हैं (विनय करते हैं) सो श्री कबीर गुरु कहते हैं कि यदि सद्गुरु सत्य लखावें, फिर इन्द्रियों के घमारादि निवृत्त हो जायँ, तो सहज ही नित्य वसन्त ब्रह्मानन्द की प्राप्ति हो, कि जिससे दिव्य देहादि की भी इच्छा नहीं रह जाय, मलिन अविद्या आदिरूप देह का भी सर्वथा अभाव हो जाय। अतः सद्गुरु से मिलकर सत्य को ही अवश्य समझना चाहिये। 'सर्वं वसति यत्रैव सर्वं वस्ते चयः स्वयम्। अचलं स्वप्रतिष्ठं तं नित्यानन्दं भजामहे ॥१॥" ॥१२॥

इति श्रीसद्गुरुकबीरसाहबकृत बीजक का स्वामीश्रीहनुमान
दासजी साहब षट्शास्त्री विरचित स्वल्पाक्षराहिन्दी
व्याख्या छठवाँ वसन्त प्रकरण समाप्त ॥ ६ ॥

* ओम् राम *

—: श्रीसद्गुरु :—

कबीर साहब कृत बीजक

[स्वानुभूतिसंस्कृतस्वल्पाक्षराहिन्दीव्याख्यासहित]

अथ सप्तम चाँचर प्रकरण

स्नेहाख्यपाशाद्धि निवारयन्तं रामाख्यरत्नं दरिदर्शयन्तम् ।
मोहाख्यकूपाच्च हि तारयन्तमपारसौख्यैक्यघनं प्रपद्ये ॥ १ ॥

अद्वन्द्वानन्दसन्दोहं पादद्वन्द्वं सदा भजे ।
गुरूणां ज्ञाततत्त्वानां कृपागारं हरिं श्रये ॥ २ ॥

रामनाम्नि स्मृते गीते मधुरे मधुराक्षरे ।
पीते श्रोत्र पुटाभ्यां च कामबाधा न विद्यते ॥ ३ ॥

कामारिसेव्यं वनमालिदेवं स्रष्टुस्तथेशं त्रिजगन्निवासम् ।
सुज्योतिषां ज्योतिषमप्यकामं रामंभजेऽहं गगनाथनाथम् ॥ ४ ॥

श्रीरामाऽभजनाद् या च श्रीरामभजनाच्च या ।
भ्रान्ताऽभ्रान्तोऽत्र हनुमान् कां दशां तानुभूतवान् ॥ ५ ॥

स्नेहमूला दशा दुष्टाः सर्वास्तासां निवृत्तये ।
गुरूणामुपदेशोऽत्र श्रोतव्यः स मुमुक्षुभिः ॥ ६ ॥

चाँचर १

जारहु जग का नेहरा मन बौरा हो ।
जा महँ शोक संताप समुझु मन बौरा हो ॥
बिना नेव का देव घरा मन बौरा हो ।
बिनु कहगिल को ईंट समुझु मन बौरा हो ॥
काल बूत की हस्तिनी मन बौरा हो ।
चित्र रच्यो जगदीश समुझु मन बौरा हो ॥

काम अन्ध गज वशि परे मन बौरा हो ।
अंकुश सहिहो शीश समुझु मन बौरा हो ॥

अप्रबुद्धमना भोस्त्वं प्रमूढस्वान्तवाञ्जनः ।
विवेकवह्निना स्नेहं जगतां परिदाहय ॥ १ ॥
यत्र स्नेहेन शोकश्च सन्तापो जायते हृदि ।
तं जानीहि च तत्रत्यं स्नेहं त्वं परिमार्जय ॥ २ ॥
सन्निवेशं विनैवायं संसारो देवमन्दिरम् ।
सुधाकर्दमहीनाश्च पदार्था इष्टका यथा ॥ ३ ॥
वास्तुरत्र च नास्त्येव ह्यसङ्गः पुरुषो यतः ।
दृश्यमानं च निर्मूलं मिथ्या मायामनो मयम् ॥ ४ ॥
विनश्वरं सदैवेदं पतयालु च गत्वरम् ॥ ५ ॥
हस्तिनीप्रतिमेवैतत् स्त्रियाश्चित्रं जगत्पतिः ।
कालरूपं व्यरचयत्तद्विवेकेन बुध्यताम् ॥ ६ ॥
कामान्धगजवद्भूत्वा ह्यन्यथा विवशः सदा ।
तीव्रमङ्कुशवद् विद्धि यातानादि सहिष्यसे ॥ ७ ॥
"स्नेहेन धन लोभेन लाभेन धनयोषिताम् ।
पुत्रदारकुटुम्बैश्च चेतो गच्छति पीनताम् ॥ ८ ॥
तद्विद्धि गुरुभक्त्याद्यैः स्नेहं लोभादिकं त्यज ।
केवलं निर्गुणं रामं सदैव सुहृदं भज ॥ ९ ॥

सांसारिक स्नेह (प्रेम रागादि) के रहते, सत्यात्मा का ज्ञान, सद्गुरु के उपदेश मात्र से दुर्लभ है । अतः उपदेश दिया गया है कि हे मन बौरा (रागादि से उन्मत्त मनवाले) तुम जगका (संसार का) उस नेहरा (नेह= स्नेह) को जारो (नष्ट करो त्यागो) कि जामहँ (जिस संसार और उस के स्नेह में) रहने से शोक और सम्यक् (अत्यन्त) ताप (दुःख) होते हैं । सो समझो और स्नेह को नष्ट करो। यह संसार बिना नेव के देव घर तुल्य है (देहादि सब क्षणभंगुर हैं) क्योंकि इस संसार देहादि के कारण रूप पदार्थ, बिना कहगिल (गिलावा=गारा) के ईंट तुल्य हैं, उन्हें बिखरते देर· नहीं लगती है और हाथी को बझाने के लिये कालबूत (कलबूत = नकली) हस्तिनी की प्रतिमा के समान, कामियों को वश में करने के लिये मानो जग- दीश ने स्त्री आदि के देहादि रूप चित्रों को रचा है, सो समझो । नहीं तो कामान्ध हाथी जैसे परवश में प्राप्त होता है, और शिर पर अंकुश सहता

है, तैसे ही तुम यमादि के वश में प्राप्त होगे, और यमयातना आदि को सहोगे, सोभी अभी समझो।

तन धन से क्या गर्वसी मन बौरा हो।
भस्म कृमि जाकि साज समुझु मन बौरा हो॥
मरकट मूठी स्वाद की मन बौरा हो।
लीन्हो भुजा पसारि समुझु मन बौरा हो॥
छूटन की संशय परी मन बौरा हो।
घर घर नाचै द्वार समुझु मन बौरा हो॥
ऊँच नीच जानै नहीं मन बौरा हो।
घर घर खायहु डाँग समुझु मन बौरा हो॥

तन्वा धनादिभिः किञ्च गर्वं त्वं कुरुषे मुधा।
विद्धि तत्साधनं सर्वं कृमिर्भस्म भवेद् ध्रुवम्॥१०॥
वनौका इव वध्वा त्वं मुष्टिं प्रसार्य दोस्तथा।
अगृह्णाः स्वादु तेन त्वं वद्धं विद्धि नचान्यथा॥१२॥
मोक्षस्य संशयस्तावद्यावत्स्वादु न हीयते।
स्नेहो वा यावदत्राङ्ग! तावद् द्वारेषु नृत्यसि॥ १३॥
मर्कटो हि यथा द्वार्षु नृत्यत्येव गृहे गृहे।
तथैव त्वं शरीरेषु विद्धि वद्धो हि नृत्यसि॥१४॥
कीशवत्त्वं प्रधानं वा निकृष्टं नैव वेत्स्यसि।
गृहदेहेषु तद्विद्धि दण्डाघातं सहिष्यसे॥१५॥
नर्तितं हि त्वया तद्वत्सोढं च बहु ताडनाम्।
तद्विद्धि त्यज चाद्यापि स्नेहपाशं भयंकरम्॥१६॥

हे मन बौरा! (पागल मनवाले!) तन धन से क्या गर्व (अहंकार) करते हो कि जिस तन धनादि की साज (साधन=कारण=समूह) अन्त में भस्म या कृमि हो जाते हैं, सो समझो और गर्व को त्यागो। और मरकट (बानर) जैसे स्वाद के वश में होकर स्वादु वस्तु को मूठी में भुजा (बाहु हाथ) पसार (फैला) कर लेता है, तैसे ही तुम स्वादु वस्तु को भुजा पसार कर लिये हो, सो समझो। और उस बानर को मूठी को खोले बिना ही स्वयं छूटने का संशय हो जाता है। अतः मूठी को नहीं खोलता है, फिर घर-घर के

द्वारों पर परवश होकर नाचता है, तैसे तेरी बुद्धि संशययुक्त है। अतः सब योनियों में भटकते हो और वह बानर ऊँच-नीच कुछ नहीं समझता है, और घर-घर में कलन्दर की डाँग (लाठी = दण्डा) का मार खाता है, तैसे तुम संशय भ्रम अज्ञान से ऊँच-नीचादि को विवेकपूर्वक नहीं समझते हो। अतः कुसङ्ग कुभोगादि करके सब शरीरों में कष्ट यमदण्डादि सहते हो, सो समझो, और स्वादु वस्तु के स्नेह कुसङ्ग कुभोगादि को त्यागो। और—

ज्यों सुगना नलिनी गह्यो मन बौरा हो।
ऐसो भरम विचार समुझु मन बौरा हो॥
पढ़े गुणे का कीजिये मन बौरा हो।
अन्त बिलैया खाय समुझु मन बौरा हो॥
शूने घर का पाहुना मन बौरा हो।
ज्यों आवै त्यों जाय समुझु मन बौरा हो॥

गृहीत्वा नालिकां यद्वद् गृहीतोऽस्मीति मन्यते।
कीरस्तथा भ्रमं विद्धि विचारं कुरु मुक्तये॥१७॥
भ्रान्तिश्चेन्नहि ते नष्टा पठित्वा वा प्रगुण्य च।
किं त्वयाऽन्तेऽस्ति कर्तव्यं माया मार्जारिकाऽत्स्यति॥१८॥
पठन्तं हि यथा कीरं बद्धमत्ति बिडालिका।
तथा विषयिणं मूढं मायाऽविद्येति विद्धि ताम्॥१९॥
यथा शून्यगृहात्कश्चिदतिथिर्वा कुटुम्बकः।
क्षिप्रं यथागतं याति सत्कारादि विवर्जितः॥२०॥
भ्रान्तो यथागतं याति विद्या तद्वद्दयात्तथा।
तद्विद्धि सत्कुरुष्वैनां स्वयं च सत्कृतो भव॥२१॥

जैसे नलिनी (शूगा को बझानेवाली बाँस की फोंफी) को पकड़कर सुवा भ्रम से बन्धन में पड़ता है, स्वयं पकड़कर समझता है कि मुझे अन्य कोई पकड़ लिया है, ऐसा ही भ्रमजन्य स्नेहादिरूप बन्धनों को विचार से समझो। और उसको त्यागो। यदि विचारादि द्वारा छूट नहीं सके, तो सुग्गे के समान पढने और गुनने (विचारने) से क्या करना है (कौन फल पाना है) अर्थात् पढना गुनना व्यर्थ है। क्योंकि पढ़े हुए सुग्गे को भी बन्धन में रहने के कारण अन्त में कभी बिलाई खा जाती है, निर्बन्ध को नहीं। वैसे ही रागादि से

मोहादि बन्धन युक्त विद्वान् को भी माया नष्ट करती है। स्नेहादि रहित ज्ञानी को नहीं सो समझो कि स्नेहादि से "बुद्धि नाशात्प्रणश्यति। भ.गी.अ.२।६३" क्योंकि शून्य घर के पाहुन के समान विचारादि रहित अविवेकी रागी के हृदय में विद्या ज्योंही आती है। त्योंही सत्कारादि पाने के बिना, कुछ कार्य किये बिना ही चली जाती है संशय शोकादि को नष्ट नहीं करती है, सो समझो।

नहाने को तीर्थ घना मन बौरा हो।
पूजन को बहु देव समुझु मन बौरा हो॥
बिनु पानी नल बूड़िहो मन बौरा हो।
(तुम) टेकहु राम जहाज समुझु मन बौरा हो॥
कहहिं कबीर जग भर्मिया मन बौरा हो।
(तुम) छाड़हु हरि को सेव समुझु मन बौरा हो॥१॥

स्नानार्थंबहुतीर्थानि पूजार्थंदैवतानि च।
भ्रान्तिसत्त्वे हि विद्यन्ते विद्धि तानि विवेकतः॥२२॥
विवेकादि विना त्वङ्ग ! जलेनापि विना भवे।
निमङ्क्ष्यसि ततो रामं विद्धि तत्पोतमाश्रयं॥२३॥
रामं संश्रित्य सर्वं त्वं त्यजान्यत्तीर्थदैवतम्।
भ्रान्तं तत्र जगत् कृत्स्नं तन्निबोध विवेकतः॥२४॥
सद्गुरुश्चाह भोः साधो ! सर्वं त्यक्त्वा हरिं भज।
सच्चिदानन्दरूपं वै नित्यानन्दस्य लब्धये॥२५॥

भ्रते मते वै जगतां निवासे ध्याते च दृष्टे खलु रामनाम्नि।
परात्परे ब्रह्मणि निर्विशेषे कामादि बाधा नहि विद्यतेऽत्र॥२६॥
स्नेहश्च मोहो ममता गृहादिषु कामश्च क्रोधोऽपि मदोऽथ मत्सरः।
यावद्धि चैते ननु विद्यया किमु हन्याद्गुरेर्ज्ञानधनुर्विधाय तान्॥२७॥

यावत्कामश्च लोभश्च दुराशा मत्सरो मदः।
रागद्वेषौ कुतस्तावन्मोक्षवार्ताऽपि सम्भवेत्॥२८॥
ममतां तु निराकृत्य कामक्रोधादिकं तथा।
गच्छन्ति परमं स्थानं वीतरागा विमत्सराः॥२९॥
इन्द्रियाणि वशे कृत्वा ज्ञात्वा देवं निरञ्जनम्।
मायामयं जगज्ज्ञात्वा मोक्षं विदन्ति निःस्पृहाः॥३०॥

विद्या के अभाव से विवेकादि रहित के नहाने के लिये यद्यपि घना (बहुत) तीर्थ हैं। और पूजने के लिये बहुत देव हैं। सो समझो, कि ज्ञानी के लिये एक राम ही तीर्थ और देव हैं, अन्य नहीं "आत्मैव देवताः सर्वाः" इत्यादि शास्त्र के वचन हैं। क्योंकि हे मनुष्यों! स्नेहादि के त्यागपूर्वक एक सर्वात्मा राम को समझने भजने के बिना, उन तीर्थों में नहाकर, और बहुत देवताओं को पूज कर भी तुम पानी के बिना भी संसार सागर में बूड़ोगे। अर्थात् सुख शान्ति रहित संसार में कष्ट भोगोगे। अतः भजन ज्ञान द्वारा एक सर्वात्मा राम स्वरूप जहाज (आधार) को टेको (ग्रहण करो=अवलम्ब लो) अपरोक्ष निजात्मा राम को समझो। श्री कबीर साहब कहते हैं कि एक राम के भजन ज्ञानादि के बिना संसारी जीव अनेक की सत्यता आदि तीर्थता पूज्यता आदि के भ्रमों से युक्त हुए हैं। जो कोई विवेकी हो, सो भ्रम (अनेक मिथ्या) को छोड़ो, भ्रम को नष्ट करो। और एक हरि को सेवो (राम को भजो) और भजने आदि के लिये सद्गुरु आदि से साधनादि को समझो। कि जिससे अज्ञान स्नेह (काम) आदि मूलक बन्ध की निवृत्ति नित्यानन्द बसन्त की प्राप्ति हो॥ १॥

चाँचर २

खेलति माया मोहिनी मन बौरा हो।
(जिन) जेर किया संसार समुझु मन बौरा हो॥
रच्यो रङ्ग तिनि चूनरी मन बौरा हो।
सुन्दरि पहिरे आय समुझु मन बौरा हो॥
शोभा अद्‌बुद रूप की मन बौरा हो।
महिमा बरणि न जाय समुझु मन बौरा हो॥

जनतामोहिनी माया क्रीडतीव जगन्त्रये।
यया संसारिणः सर्वे जीर्णा गीर्णा निपीडिताः॥३२॥
कौतुकं चांचराख्यं सा कुर्वन्तीव विलासिनी।
कुरुते बहुधा लीलां तां विद्धि दुःखदां सदा॥३३॥
त्रिभिर्गुणमयै रागैः पटं चित्रं विधाय च।
विद्धि तां सुन्दरी भूत्वा परिधायात्र चागताम्॥३४॥
तस्या रूपस्य शोभा सा परमाद्भुतरूपिणी।
अनिर्वाच्यं महत्त्वं च ज्ञायतां स्वविवेकतः॥३५॥

जिस माया के वश में होकर अज्ञ जीव भ्रम में पड़ रहे हैं। उसकी लीला का चांचर खेल रूप से वर्णन किया गया है कि मोहिनी माया अनेक रूप से खेल रही है। और आत्मा राम तटस्थ द्रष्टा तुल्य मानो उसके खेल को देख रहा है। परन्तु संसारी भ्रमयुक्त व्यावहारिक जीव को माया ने जेर (तंग, हीन, हैरान, परास्त) किया है, सो समझो, ज्ञातव्य है। खेलने के लिये माया ने सत्त्व, रजः, तमो, गुणमय (श्वेत, रक्त, स्याह रङ्ग युक्त) शरीर विषयादि रूप चूनरी (विचित्र पट साड़ी) रची है, और वही (सुन्दर स्त्री) बनकर, और संसार में आकर उस चूनरी को पहिरती है, सो समझो। अर्थात् संसार और सांसारिक सब सुन्दरता को मायामय मिथ्या समझो। क्योंकि मिथ्या समझे बिना उसकी शोभा और अद्भुत रूप महिमा वरणी (कही) नहीं जा सकती, अति अद्भुतदर्शनीय प्रतीत होती है। अतः उसमें भूलने आदि का भय रहता है, सो समझो, और मिथ्या समझकर भय रहित होवो।

चन्द्रवदनि मृगलोचनी मन बौरा हो।
बुन्दका दियो उघारि समुझु मन बौरा हो॥
यती सती सब मोहिया मन बौरा हो।
गजगति वाकी चाल समुझु मन बौरा हो॥
नारद के मुख माँड़ि के मन बौरा हो।
लीन्हो बसन छिनाय समुझु मन बौरा हो॥
गर्वगहेली गर्ब ते मन बौरा हो।
उलटि चली मुसुकाय समुझु मन बौरा हो॥

चन्द्रवद् वदनं यस्या लोचनं मृगनेत्रवत्।
ललाट बिन्दुमुद्घाट्य स्थितां विद्धि विशेषकम् ॥३६॥
यतीन् सतीः सतः सर्वान् सा मोहितवती तथा।
गजवद्गतिशीला या विद्धि तां त्वं विमोहिनीम् ॥३७॥
नारदस्य मुखे सैव निहत्येव चपेटिकाम्।
विभूष्य मर्कटाकारै र्वस्त्रं तस्य जहार च ॥३८॥
प्रतिष्ठामहरत्तस्य मर्यादां च बहूत्तमाम्।
आच्छादनं च मनसस्तां विद्धि चातिदुर्विधाम् ॥३९॥

गर्वसंग्राहिणी गर्वाभिवृत्य सा ततोऽगमत् ।
संस्मित्य नारदात्तां हि विद्धि गर्वस्वरूपिणीम् ॥४०॥

पूर्ण चन्द्र के समान मुख वाली मृग नेत्र के समान विशाल चञ्चल नेत्रवाली होकर, मोहने के लिये ललाट के बुन्दका (गोल तिलक) को उघार दिया है, सो समझो, इसको भी मिथ्या जानो । क्योंकि सत्य सुन्दरादि समझी गई माया ने यति सती आदि सबको मोहित किया है, और करती है । गज की गति (गमन) के समान उसकी मन्द चाल (गति) होती है, अतः धीरे धीरे पास में आकर मोहित करती है, सो समझो । क्योंकि समझने के बिना ही माया ने प्रथम अभिमान आदि रूप से नारद जी के पास में आकर, नारद जी के मुख को बानराकृति से माँड़ि (भूषित युक्त) करके (उनके मुख का अपहरन करके) उनके वसन (बाह्य परदा = प्रतिष्ठा) को छिनाय लिया (नग्ननिर्लज्ज कर दिया) सो समझो, सौन्दर्य के गर्व को गहेली (ग्रहण करने वाली) माया गर्व से मुसुकाती (मन्दहास करती) हुई, नारद जी के तरफ से उलट (फिर) कर चली, सो समझो कि नारद जी की उस समय कैसी दशा हुई होगी, इत्यादि ।

शिव सन ब्रह्मा दौड़ि के मन बौरा हो ।
दोनों पकरिन जाय समुझु मन बौरा हो ॥
फगुआ लीन्ह छिनाय के मन बौरा हो ।
बहुरि दियो छिटिकाय समुझु मन बौरा हो ॥
अनहद ध्वनि बाजा बजै मन बौरा हो ।
श्रवण सुनत भौ चाव समुझु मन बौरा हो ॥
खेलनिहारा खेलि है मन बौरा हो ।
बहुरि न ऐसो दाव समुझु मन बौरा हो ॥

महायोगीश्वरं शम्भुं विघ्नराजं विधिं तथा ।
अगृह्णाद्विद्धि धावित्वाऽगृह्णीतामथ तौ च ताम् ॥४१॥
नित्यानन्दवसन्तञ्च समाच्छिद्य तयो बलात् ।
प्रायोजयदनित्येन सुखलेशेन तावुभौ ॥४२॥
तस्मादपि कदाचिच्च तौ क्रुधेव व्ययोजयत् ।
दैत्ये युद्धादिकालेषु विद्धि तां चञ्चलागतिम् ॥४३॥

अनाहतो ध्वनिर्यस्तु श्रूयते श्रवणादिषु ।
वाद्यं नदति तच्छ्रुत्वा वाञ्छा भवति विद्धि ताम् ॥४४॥
दक्षाः केलिं करिष्यन्ति केऽपि कौतुकिनस्तथा ।
मोक्षश्रियोऽत्र लाभाय ह्यानन्दघनलब्धये ॥४५॥
भूयो नावसरो हीदृक् प्राप्स्यते सत्वरं जनैः ।
बुध्वेति सावधानेन क्रीडतो विद्धि ताञ्जनान् ॥४६॥

श्रीशिवसन (शिव ऐसे) योगी और ब्रह्मा ऐसे वेदज्ञ विद्वान् के पास में सती पार्वती सरस्वती आदि रूप से माया दौड़कर गई, और जा कर दोनों को पकड़ लिया, सो समझो । फिर समाधि विद्या का आनन्द रूप फगुआ को छिनाय लिया (छिपाय दिया) तुच्छ सुख द्वारा सत्य सुख से विमुख (रहित) किया । फिर उस तुच्छ सुख से भी छिटिकाय (पृथक् = रहित) कर दिया सो समझो । इस माया के चाँचर खेल में ही अनहद की ध्वनि रूप बाजा बजते हैं कि जिसको श्रवण (कान) से सुनते ही साधारण नादाभ्यासी को अधिक अनहद को सुनने की चाव (इच्छा) हुई और होती है । जिसका वर्णन हो चुका है कि "अनहद अनुभव की करि आशा" इत्यादि, रमैनी १६॥ सो समझो । इस माया के खेल में कोई विरल विवेकी खेलनिहार (खेलाड़ी = खेलने वाले) सावधानी से खेलेगें । सो अनहदादि किसी भी शब्दात्मक नाम और रूप (आकार) में नहीं भूलेगें । क्योंकि उन्होंने समझ लिया है कि आत्मज्ञानादि के लिये बहुरि (फिर) ऐसा दाव (मौका अवसर) शीघ्र नहीं मिलता है, सो तुम भी समझो ।

ज्ञान ढाल आगे दियो मन बौरा हो ।
टारे टरत न पाँव समुझु मन बौरा हो ॥
खेलनिहारा खेलहीं मन बौरा हो ।
जैसी वाकी दाव समुझु मन बौरा हो ॥
सुर नर मुनि औ देवता मन बौरा हो ।
गोरख दत्ता व्यास समुझु मन बौरा हो ॥
सनक सनन्दन हारिया मन बौरा हो ।
और कि केतिक बात समुझु मन बौरा हो ॥

ज्ञानचर्म हि तैर्दत्तमग्रतो धारणादितः ।
मनो बुद्धिश्च पादौ नो कदाचिदपगच्छतः ॥४७॥
विचालनान्न मायाया ये चलन्ति कदाचन ।
तान् वै विजयिनो विद्धि मायायाश्च भवस्य च ॥४८॥
ये त्वन्येऽनवधानेन खेलायन्ति कुयोगतः ।
तस्या अवसरो येन तान्नष्टान् विद्धि वै जनान् ॥४९॥
तस्यै यावदढुः केऽपि प्रस्तावं भूसुरा नराः ।
मुनयो देवता दत्तो गोरक्षो व्यास एव वा ॥५०॥
सनन्दनश्च सनकः सर्वे तावत्पराजिताः ।
पराभूतौ तदाऽन्येषां किं वक्तव्यं हि विद्धि तत् ॥५१॥

उक्त रीति से समझने वालों ने माया के घात से बचने के लिये विवेक ज्ञान रूप ढाल को आगे दिया (किया) है और करते हैं । सदा विवेक दृष्टि को सामने रखते हैं । अतः माया यदि उनके पाँव को टारती है । तो उसके टारने (हटाने) से इनका पाँव नहीं टरता है । अर्थात् ज्ञान भूमि से विवेकियों के इन्द्रिय, मन, बुद्धि विचलित नहीं होते हैं, सो समझो । ऐसा समझे बिना जो खेलनेवाले जबतक खेलते हैं, तबतक जैसी वाकी (उस मायाकी) ही दाव हो, वही विजय पावे, इस प्रकार से खेलते (व्यवहार करते) हैं । सो समझो । और ऐसे खेल काल में सुर (देवतुल्य मनुष्य) मुनि, देवगण, गोरख (योगी) दत्तात्रेय, और व्यास तथा सनक, सनन्दन भी माया से हार गये, तो अन्य साधारण मनुष्यादि की बात ही कितनी (क्या) है, सो समझो ।

छिलकत थोंथे प्रेम के मन बौरा हो ।
धरि पिचकारी गात समुझु मन बौरा हो ॥
कै लियो वशि आपने मन बौरा हो ।
फिरि फिरि चितवत जात समुझु मन बौरा हो ॥
ज्ञान गाड़लै रोपिया मन बौरा हो ।
त्रिगुण दियो है साथ समुझु मन बौरा हो ॥
शिव सन ब्रह्मा लेन कह्यो मन बौरा हो ।
और कि केतिक बात समुझु मन बौरा हो ॥

मिथ्याप्रेमात्मिकां धृत्वा रागप्रक्षेपिणीं करे ।
रागं क्षिपति सर्वेषां देहे तच्चिन्त्यतां त्वया ॥५२॥

इत्थं कृतवती सर्वान् स्ववशे सा पुनः पुनः।
पश्यन्त्येव परावृत्य याति तां विद्धि कास्ति सा ॥५३॥
सद्विवेकं हि सर्वेषां मोहश्वभ्रे व्यरोपयत्।
किम्वाऽसत्त्रिगुणज्ञाने रन्ध्रे सर्वान् व्यपातयत् ॥
त्रिगुणं सर्वबन्धाय सर्वैः सह चकार सा ॥५४॥
कृत्वाऽनुकरणं सर्वं चांचरस्यैव चञ्चला।
बध्नाति पुरुषान् सर्वांस्तद्विद्धि त्वं विवेकतः ॥५५॥
विधातारं शिवं स्वस्या वशे कर्तुमुवाच सा।
अन्येषामत्र का वार्ता वक्तव्येति च विद्धि ताम् ॥५६॥

समझे बिना यह माया थोथे (मिथ्या नकली) प्रेम की पिचकारी को मानो हाथ में धरकर, दर्शनादिरूप रागरूप रंग को सबके गात (गात्र=देह मन बुद्धि) पर छिलकती (डारती) है। इस प्रकार से सबको अपने वश में कर लिया है, और फिर फिर कर देखती जाती है (बार बार वश में करती है)। और सबके विवेक ज्ञान को मोह रूप गाड़ (खाईं) में रोपा (गाड़ा) है। तथा त्रिगुण विषयादि के ज्ञानरूप गाड़ में सबको रोपा (खड़ा) किया है। बन्धन के लिये, विषयों के ज्ञान, काम, क्रोध, लोभ, प्रमादादि रूप त्रिगुण को सब के साथ में लगा दिया है, सो समझो। और उस साथवर्ती त्रिगुण के द्वारा ही, शिव ऐसे और ब्रह्मा ऐसे को भी वश में लेने (लाने) के लिये उसने वचन कहा है (प्रतिज्ञा की है) फिर अन्य की तो बात ही क्या है ॥

एक ओर सुर नर मुनि मन बौरा हो।
एक अकेली आप समुझु मन बौरा हो ॥
दृष्टि परे छाड़े नहीं मन बौरा हो।
कै लियो एक धाप समुझु मन बौरा हो ॥
जेते थे तेते लियो मन बौरा हो।
घूंघुट माँहि समोय समुझु मन बौरा हो ॥
कज्जल वाके रेखवा मन बौरा हो।
अदग गया नहिं कोय समुझु मन बौरा हो ॥

एकतो मुनयो देवाः सर्वे तिष्ठन्ति मानवाः।
सन्नद्धाः केवला सैव चान्यतो विद्धि तां सदा ॥५७॥

दृष्टे गोचरतां प्राप्ते जनं कमपि नाऽत्यजत् ।
एकेनाऽऽक्रमणेनेयं पदाक्रान्तं चकार ह ॥५८॥
आक्रान्ता ह्यभवन् ये ये तान् सर्वान् स्वावृतौ किल ।
अवगुण्ठे समावेश्य धारयेत्तच्च बुध्यताम् ॥५९॥
तामस्याः खलु मायाया आकारः कज्जलाकृतिः ।
निष्कलङ्को न कोऽप्यस्या गतस्तत्सङ्गवाञ्जनः ॥६०॥

इस माया कृत चांचर में (व्यवहार में) एक ओर (तरफ) सुर, नर, मुनि आदि सब हैं । (सब मायिक सम्पत्ति आदि चाहते हैं) एक दूसरे तरफ वह माया अपराजित रूप से अकेली आप है, सो समझो । क्योंकि उसे सबको जीतने के लिये दृष्टि रूप बाण से अन्य अस्त्र-शस्त्र की आवश्यकता नहीं होती है, न सहायक की आवश्यकता होती है । अतः उसकी दृष्टि पड़ जाने मात्र से वह वश में किये बिना, स्वतन्त्र किसी को नहीं छोड़ती है । किन्तु सब को एक धाप (फलान) में वश कर लिया है, सो समझो, और उस के सङ्गदृष्टि आदि से बचो क्योंकि उसके सामने पास में सङ्ग में जितने थे (हुए) उन सब को वह घूंघुट (घूघ=आवरण) मोह में समोय (डाल धर) लिया, सो समझो । उसके रेख (आकार) भी कज्जल रूप (काला) है । तामस है, अतः उसके सङ्गी कोई अदग (दाग, कलङ्क, अपयश रहित) नहीं गया सो समझो, और असङ्ग निष्काम होवो ।

इन्द्र कृष्ण द्वारे खड़े मन बौरा हो ।
लोचन ललचि नचाय समुझु मन बौरा हो ॥
कहहिं कबीर ते ऊबरे मन बौरा हो ।
जाहि न मोह समाय समुझु मन बौरा हो ॥२॥

इति श्रीसद्गुरुकबीरकृते विविधवन्धविध्वंसने बीजकनाम्निग्रन्थे
मोहविध्वंसनं चाँचराख्यं सप्तमं प्रकरणं समाप्तम् ॥७॥

तस्या द्वारि स्थितो हीन्द्रः कृष्णश्चैव प्रतापवान् ।
दर्शनायातिलुब्धः सन् दृष्ट्वा नृत्यति विद्धि तत् ॥६१॥
इन्द्रियद्वार्षु यद्वैते हीन्द्रविष्णवादयः सदा ।
तिष्ठन्ति तज्जलोभेन दृष्ट्वा नृत्यन्ति जन्तवः ॥६२॥
विनिर्जित्य हि मायां स मुक्तो भवति सर्वथा ।
यस्य हृदि यदा मोहः सविशेन्न कदाचन ॥६३॥

"विनीतमानमोहश्च बहुसङ्गविवर्जितः।
तदात्मज्योतिषः साधो! निर्वाणमधिगच्छति" ॥६४॥
तस्मात्सद्गुरुराहैवं कबीरः सर्वसज्जनम्।
मोहं मार्जयतां त्यक्त्वा सङ्गं चैव सुखी भव ॥६५॥
मायामयंविश्वमलं विदित्वा त्यक्त्वैव मोहं ममतां च दूरे।
गतस्मया हर्षविषादहीना विजित्य मायां सुखिनो भवन्ति ॥६६॥
स्नेहसूर्योदिजं तापं पापमायादिजं तमः।
हरन्ती चांचराञ्जस्य चन्द्रिकेयं विराजताम् ॥६७॥
दृष्ट्वा चांचरचन्द्रिकां हि सुजनः संसारसिन्धोस्तटम्।
आश्रित्याजरमद्वयं सुविमलं रामं परं पावनम्।
त्यक्त्वा रागरसं च मोहमिहिकां कृत्वा कलिं मायया,
छित्त्वा तां च विवेकखड्गतरसा सत्ये पदे राजताम् ॥६७॥२॥

इति चांचरचन्द्रिका समाप्ता ॥

मोह की अवस्था में तथा मायिक लीला लोक व्यवहारादि की अवस्था में इन्द्रादिकदेव और श्रीकृष्ण चन्द्र भी उस माया के द्वार पर खड़े रहते हैं, क्योंकि वह माया ही सब की शक्ति आदि स्वरूप है, अतः उसकी प्रसन्नता चाहते हैं और लोचन (नेत्र) से उसको देखने के लिये लालच (लोभ) करते हैं, साधारन रूप से देखने (जानने) पर भी विशेष (अधिक) स्वरूप से देखना जानना चाहते हैं। एक बार देखने पर भी बार बार उस का दर्शन चाहते हैं, और विशेष रूप से दर्शन पाकर उसमाया को नचाते हैं, और आप भी उसके साथ नाचते हैं, और उसकी वासना से वार बार का दर्शन और नाच अपने अपने अधिकार पर्यन्त करते हैं। सो समझो, और उसकी वासना तथा मोहादि के निवारण के लिये यत्न अभ्यासादि करो। श्रीकबीर साहब कहते हैं कि वही प्राणी मायागुणकृत बन्धनादि से उबरते (मुक्त होते) हैं कि जिनमें मोह नहीं समाता (प्रविष्ट होता) है। अतः मोह निवारणीय है। "हनूमान हरि भजन बिनु, जग का मोह न जाय। मोह गये बिनु जीव सब, भटकत भव में आय ॥१॥ हरिगुरु भक्ति विचार करि, नेह मोह करि दूर। जो निर्भय विचरहिं सदा, सो पावहिं पद पूर ॥ २ ॥" ॥ २ ॥

इति श्रीसद्गुरुकबीरसाहबकृत बीजक का स्वामी श्रीहनुमान-
दासजी साहब षट्शास्त्री विरचित स्वल्पाक्षरा हिन्दी
व्याख्या सातवां चांचर प्रकरण समाप्त ॥७॥

* ओम् राम *

—: श्रीसद्गुरु :—

कबीर साहब कृत बीजक

[स्वानुभूतिसंस्कृतस्वल्पाक्षराहिन्दीव्याख्यासहित]

अथ अष्टम (ज्ञान) चौंतीसी प्रकरण

य: शुद्धो ज्ञानमूर्तिः स्थिरचरनिकरं व्याप्य चास्ते स्वभासा,
भोगान् भुक्त्वेव लोके तनुमतिमनसां साक्षिभूतोऽद्वितीयः।
हृत्वा सर्वान् विवर्तान् स्वमहिमनि तदा माययासुप्तवच्च,
आनन्तं[1] तं तुरीयं परमममृतमाश्रये शान्तमाद्यम् ॥१॥

अक्षराणां समूहैर्यः प्राप्यते ह्यक्षरोऽपिसन्।
ओंकाराद्यभिधेयं तं सदवाच्यं सदा भजे ॥२॥
अक्षरैरक्षरं नित्यं बोधयन्तं विभुं परम्।
अक्षयं तं गुरुं वन्दे परमानन्दचिद्घनम् ॥३॥

सोपान भूतान् सुविधाय योऽक्षरान् निरक्षरेऽप्यक्षधियां प्रकाशे।
प्रावेशयत्साधुजनस्य मानसं तं दैशिकेन्द्रं प्रणमामि सर्वदा ॥४॥

अलब्ध्वा[2] रक्षणं सम्यग् निजं वैदिककर्मसु।
ययु यंच्छरणं देवास्तमोंकारं गुरुं[3] भजे ॥५॥

---

१ अनन्तमेव = आनन्तम्। २ ओमित्येतदक्षरमुपासीत। छ्. १।४।१। यदेतदक्षरमेतदमृतमभयं तत्प्रविश्य देवा अमृता अभया अभवन्। छ्. १।४।४। ३ ओंकारः प्रथमस्तत्र चतुर्थदशस्वरास्तथा। स्पर्शश्चैव त्रयस्त्रिंशदनुस्वारस्तथैवच ॥१॥ विसर्जनीयश्च परो जिह्वामूलीय एव च। उपध्मानीय एवास्ति द्विपञ्चाशदमी स्मृताः ॥२॥ स्कन्द पु.खं. १।२।५।५१-५२ अ, इ, उ, ऋ, लृ एषां ह्रस्व दीर्घभेदेन द्वैविध्यात्, प्लुतस्य प्रयोग बाहुल्याभावाद्दीर्घेणैवग्रहणाल् लृति लृवेतिविहित लृवर्णस्य दीर्घत्वात् स्वराणां चतुर्दशत्वम्। स्पर्शानां पञ्चविंशतित्वम्। अन्तः स्थानां चतुष्टम्, उष्मणां चेति मेलवित्वा त्रयस्त्रिंशत्वं,

इस प्रकरण में ओंकारार्थ की अति दुर्ज्ञेयता वर्णन पूर्वक, संक्षिप्त आत्म ज्ञान के साधन सहित आत्मज्ञान का वर्णन है, तहाँ श्रुति के अनुसार, ओंकार के अवयव अ, उ, म्, मात्रा=वर्ण के क्रम से, विश्व विराट्, तैजस, हिरण्यगर्भ, प्राज्ञ, ईश्वर अर्थ होते हैं। जो कि स्थूल सूक्ष्म, कारण रूप शरीर वाले जीव और परमात्म के औपाधिक भेद वाले स्वरूप कहे जाते हैं, और सब तीनों, मात्रा (अक्षर) के समूह रूप ओम् पद से बोध्य निर्गुण ब्रह्म सब मात्रा तथा ओं पद का लक्ष्य है। सो अमात्र (मात्राओं का अवाच्य) है। व्याकरण के तथा योगादि के ग्रन्थों में, अ, उ, म् इन तीनों से भिन्न चतुर्थ अर्द्ध मात्रा भी ओंकार में मानी गई है। उसको-"अर्धमात्रा स्थिता नित्या याऽनुचार्या विशेषतः" इस स्मृति के अनुसार नित्य और विशेषरूप से उच्चारणानर्ह कही गई है। वही अर्धमात्रा तीनों वर्णों (मात्राओं) के उच्चारण से पदरूप से व्यक्त होती है, उसको पद स्फोट भी कहते हैं। क्योंकि उसीसे पदार्थ स्फुट (ज्ञात) होता है। यह उनका सिद्धान्त है। ओंकार के उच्चारण की आवाज (ध्वनि) को ओंकार का अङ्गरूप नाद कहते हैं। नाद की समाप्ति को विन्दु (शून्य) कहते हैं। और "अकारः कथितो ब्रह्मा उकारो विष्णु रुच्यते। मकारश्च स्मृतो रुद्रस्त्रयश्चैते गुणाः स्मृताः ॥१॥ स्कन्द पु. खं. १-२, अ. ४" अकारादि ब्रह्मा आदि के वाचक है। यह इस वचन से सिद्ध होता है और वाच्यवाचक में अभेद दृष्टि से ओंकार और उसके मात्रा सब विश्वादि स्वरूप ब्रह्मा आदि स्वरूप और सगुण निर्गुण ब्रह्मसर्वादि स्वरूप हैं, इत्यादि आशय से श्रीकबीर साहब के आगे कथन हैं कि—

अथ ओंकारार्थ वर्णन प्रकरण १

ओ अंकार आदि जो जानै। लिखि के मेटे ताहि सो मानै॥
ओ अंकार कहै सब कोई। जिन यह लखा सो बिरले होई॥१॥

इदं सर्वं पदोङ्कारो ब्रह्माऽस्ति चैतदक्षरम्।
एतदालम्बनं श्रेष्ठमित्यादिशासनाद्धि ये ॥१॥

तथा चोकरीत्याऽक्षराणां द्विपञ्चाशद् भेदभिन्नत्वेऽपि अत्र स्वरादिभिन्नककरादि व्यञ्जनमेवाक्षर शब्देन गृह्यते। ओ अंकार, इत्यादि मङ्गलाऽभिन्नोपक्रम-रूपम्। तस्मादस्य प्रकरणस्य चौंतीसीति नाम संगच्छते ज्ञानोपदेशाज् ज्ञान-चौंतीसीत्यपि कथ्यत इति दिक्।

ओङ्कारं परमं पूज्यं सर्वस्यादिं विदन्ति ते।
यं लिखित्वा विलुम्पन्ति तं मन्यन्ते विमोहतः ॥२॥
लिखित्वेदं जगच्चित्रं यद्धि ब्रह्म निगूहते।
ओङ्कारं तद्धि मन्यन्ते गुरुभक्ता विवेकिनः ॥३॥
ओङ्कारं शब्दमात्रं हि वदन्ति बहवो जनाः।
ये तु तत्त्वेन जानन्ति भवन्ति विरला हि ते ॥४॥
परमात्मप्रतीकत्वं श्रेष्ठता तस्य नामसु।
ओङ्कारस्य यथा तच्च श्रुतिस्मृत्योः स्फुटं परम् ॥५॥
"प्रणवं ह्रीश्वरं विद्यात्सर्वस्य हृदि संस्थितम्।
सर्वव्यापिनमोङ्कारं मत्वा धीरो न शोचति ॥६॥
प्रणवोऽनन्तमात्रश्च द्वैतस्योपशमः शिवः।
ओङ्कारो विदितो येन स मुनि र्नेतरो जनः ॥७॥१॥

ओङ्कार को गुरु शास्त्र से सुनकर सब नामरूप के आदि (कारण) स्वरूप जो जानते हैं। सो भी मोह अविवेक के कारण जिस लिपि को लिख कर मेट देते हैं। उसी को ओङ्कार मानते हैं, अतः सर्वात्मा सर्वेश्वर स्वरूप ओङ्कार को जानना तो दूर रहा, वाचक ओङ्कार शब्द को भी नहीं समझ पाते हैं। अतएव अक्षर के अनुकरण रूप स्याहो आदि जन्य लिपि (लेख) में ओङ्कार बुद्धि करके उसके ध्यानादि करते हैं। अतः सिद्ध होता है कि ओङ्कार को कहते (उच्चारते) सब कोई हैं। परन्तु जिन लोगों ने ओङ्कार को यह निजातम स्वरूप चेतन सर्वात्मा समझा, सो बिरल विवेकी होते हैं, वे विवेकी लोग संसार चित्र को माया द्वारा लिख (रच) कर, अनायास बनाकर मेटनेवाले को ओङ्कार समझते हैं ॥ १ ॥

कका कमल किरण महँ पावै। शशि विकसित सम्पुट महँ आवै ॥
तहाँ कुसुम्भ रङ्ग जो पावै। अगह गही के गगन रहावै ॥२॥

स्वयंप्रकाशसूर्यात्मा क इति कथ्यते बुधै।
लभ्येत किरणस्तस्य यदा हृत्कमले स्वके ॥८॥
फुल्लचन्द्रसमहृदः सम्पुटे चाऽऽव्रजेत् स चेत्।
रूपं तत्रोपलभ्येत कुसुम्भरूपवत्तथा ॥९॥
ध्यायकेन तदा सर्वं त्यक्त्वैव कमलादिकम्।
अग्राह्यं निर्विशेषं तद् गृहीत्वैव चिदम्बरे ॥१०॥

स्थातव्यं हृदये यद्वा स्वोङ्कारार्थममात्रकम् ।
गृहीत्वा तत्र तादात्म्यात्स्थातव्यं सर्वदा बुधैः ॥११
किम्वाऽऽनन्दप्रकाशस्य विन्देत् किरणमात्मनः ।
शशिवद्विकचे सम्यग् हृत्पद्मे सम्पुटेऽथवा ॥१२॥
बुद्धौमनसि वा रागे कुसुम्भवत्सुरञ्जके ।
अग्राह्यमनघं बुद्ध्वा तदा तिष्ठेच्चिदम्बरे ॥१३॥२॥

उक्त सर्वादि ओंकार का ज्ञान सब जिज्ञासु को एक ही साधन से नहीं होता है। किसी उत्तम जिज्ञासु को श्रवण विचार सत्सङ्गमात्र से ज्ञान होता है, किसी को श्रवणादि के बाद ध्यान से ज्ञान होता है, तहाँ ध्यानादि करने के लिये कहा गया है कि प्रथम बाह्य चिन्तादि को त्याग कर, हृदय कमल को प्रसन्न स्वच्छ करे कि जिससे हृदय कमल पूर्णचन्द्र के समान विकसित रहे (मन स्वच्छ रहे)। फिर कक्का (स्वयं प्रकाश सुखात्मा सूर्य) का ध्यान चिन्तन करे। तो कक्का का किरण (प्रकाश) जब शशि तुल्य विकसित कमल के सम्पुट (मध्य) में आवे (व्यक्त प्राप्त हो) तब कमल के सम्पुट में ही उस किरण को प्राप्त करें (समझे) और वहाँ यदि कुसुम्भरङ्गादि पावे (उनकी प्रतीति हो) तो उन सबको त्यागकर, रूपादि रहित इन्द्रियादि से अग्राह्य निर्गुण चिदानन्द ब्रह्मात्मा को शुद्ध बुद्धि से ग्रहण करके गगन (हृदयाकाश) में स्थिर रहे। यह निर्गुण ब्रह्मात्मा ही ओङ्कारार्थ स्वरूप ओङ्कार है। "ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानम्। मुण्डक-२।२।६" ओम् सर्वरक्षक प्रकाशाधार) इस रूपसे आत्माका ध्यान करो, इत्यादि श्रुति स्मृतिमें स्पष्ट है॥२॥

खख्खा चाहै खोरि मनावै। खसमहि छोड़ि दशहुंदिशि धावै।
खसमहि छोड़ि क्षमा ह्वै रहई। ह्वैन छोण अछय पद लहई ॥३॥

चिदाकाशः सुखंस्वर्गः खशब्देन निगद्यते ।
तत्र यः स्थितिमिच्छेत्स ईश्वरप्रार्थनादिभिः ॥१४॥
दोषान्क्षमापयेत्स्वस्य दुष्टं चानुनयेन्मनः ।
धारणाध्यानतः सम्यग्धर्मसत्सङ्गमादिभिः ॥१५॥
कल्पितंस्वं पतिं त्यक्त्वा धावेद्दिक्षु दशस्वपि ।
आत्मदृष्ट्या गुरुश्चापि मार्गयेत्सर्वतः प्रभुम् ॥१६॥
पतिं त्यक्त्वा क्षमाद्यैश्च संयुतो निवसेत्सदा ।
क्षीणो नैव भवेदेवं लभेत चाक्षयं पदम् ॥१७॥

स्वस्मिंस्त्यक्त्वा पतित्वं च क्षमाशीलो जितेन्द्रियः।
निर्ममोनिरहङ्कारो निर्द्वन्द्वः सङ्गवर्जितः ॥१८॥
सर्वत्र समबुद्धिश्च पदं गच्छत्यनामयम्।
जीवन्मुक्तोऽभयः शान्तः सर्वत्र मुदमेति सः ॥१९॥३॥

जो कोई खख्खा (चिदाकाश रूप सुखस्वर्ग) को प्राप्त करना चाहे, सो अपने खोरिओं (दोषों) को मनावे, भक्ति आदि द्वारा दोषों की निवृत्ति के लिये ईश्वर से प्रार्थना करे, अपराधों की ईश्वर से क्षमा करावे, और दुष्ट मन इन्द्रियों को शमदम द्वारा मनावे, शान्त दान्त करे। स्वामित्व के गर्व को, असत् कल्पित खसम (स्वामी) को त्यागकर (अनेक पति वस्तु के चिन्तनादि को छोड़कर) सत्पति को प्राप्ति के लिये दशो दिशाओं में धावा करे। "आसीनो दूरं व्रजति। कठ० १।२।२१" स्थिर रहते दूरगामी स्वात्मा को समझे। और विभु निजात्मा के ज्ञान से अनात्म स्वरूप खसमों को त्यागकर, अपराधियों के प्रति भी जो क्षमा शील होकर रहता है (तितिक्षा क्षान्ति युक्त) रहता है। या क्षमा (भूमि) तुल्य सर्वाधारादि हो कर रहता है। सो कभी क्षीण (नष्ट) नहीं होता है। और अक्षय पद (मोक्ष) को प्राप्त करता है। क्योंकि "कं ब्रह्म खं ब्रह्म" छा. ४।१०।५" क (सुख) स्वरूप, ख (आकाश तुल्य) विभु असङ्ग ब्रह्म है, सो सर्वात्मा है और उसका ज्ञान मोक्ष का साधन है। तथापि "नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नाऽसमाहितः। नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्। कठ. १।२।२३" दुश्चरित्र, अशान्त, असमाहित, कामी उसका अनुभव नहीं कर सकता है। अतः क्षमादियुक्त शान्त समाहित रहना चाहिये। "क्षान्त्या शुद्धयन्ति विद्वांसो दानेनाकार्य कारिणः। मनुस्मृ० अ० ५।१०७" इत्यादि ॥ ३ ॥

गग्गा गुरु के वचने माने। दूसर शब्द करे नहिं काने ॥
तहाँ विहङ्गम कबहुँ न जाई। औगह गहि के गगन रहाई ॥४॥

विघ्नहर्ता गणेशोऽत्र गशब्देन निगद्यते।
तद्रूपं सद्गुरुं पश्येन्मन्येत वचनं तथा ॥२०॥
अन्यं न शृणुयाच्छब्दं गुरुं च हृदि धारयेत्।
एवं दिविषदां केऽपि कदाचित्तत्र यान्ति नो ॥२१॥
विघ्नमाचरितुं किन्तु सहायास्ते भवन्ति हि।
ज्ञाने ध्याने तथा भक्तौ धर्मे मुक्तौ च सर्वथा ॥२२॥

देवानां च सहायत्वे निष्प्रत्यूहो नरः सदा।
अग्राह्यं परमं बुद्ध्वा चिदाकाशे वसत्यलम् ॥२३॥
शौचेन तपसा मौनादजस्रं श्रवणादिभिः।
अहिंसाद्यैश्च संशुद्धैरेषा बुद्धिरवाप्यते ॥२४॥

सद्भक्तिर्या गुरुषु च भक्तिः सर्वस्माच्चेतसि च विरक्तिः।
हिंसात्यागः सममतिशुद्धाविक्तिः प्राज्ञे ह्यतिविमलास्यात् ॥२५॥४॥

इति चौतीसीचर्चायामोङ्कारार्थप्रदर्शनं नाम प्रथमं वाक्यम् ॥१॥

उक्तार्थ के सुनने पर शंका हो कि ब्रह्मात्मा से अन्य खसम (देवादि) को छोड़ने पर (उनकी पूजा आदि नहीं करने पर) देव सब ज्ञान ध्यान मोक्ष में विघ्न करेंगे। अतः वे अवश्य उपास्य हैं। तो इसका समाधान कहा गया है कि गग्गा (गणेश = विघ्नेश) रूप गुरु के वचनों (सदुपदेशों मन्त्रों) को ही जो माने। उपदेश के अनुसार ध्यान विचार आचारादि जो करे। और दूसरः = कामकथा आदि रूप शब्दों को कान में नहीं करे (उनको नहीं सुने, उनके तरफ ध्यान नहीं करे) तो तहाँ (उसके पास में) विहङ्गम (पक्षीतुल्य आकाशगामी विघ्नकर्ता देवादि) कभी नहीं जाते हैं। अतः वह गुरु भक्त औगह (अगाध = अथाह = अग्राह्य) को भी गहकर (ब्रह्मात्मा को समझ कर) तथा औगहों (विरोधियों) को गहकर (पकड़कर) वश में करके, हृदयाकाश में स्थिर रहता है। चिदाकाश में लीन होता है। अर्थात् "एषां तन्न प्रियं यदेतन्मनुष्या विद्युः। बृ. १।४।१०" "इन्द्रिय सुरनन ज्ञान सुहाई। तुलसीरा० उ." इन देवताओं को यह प्रिय नहीं है कि मनुष्य इस ब्रह्म को जाने, इत्यादि वर्णित देव की अप्रियता आदि हरि गुरु भक्ति रहित अज्ञ अविवेकी बिषयक है। क्योंकि "य एवं वेदाहं ब्रह्मास्मीति स इदं सर्वं भवति तस्य न देवाश्च नाभूत्या ईशते। बृ. १।४।१०" अहं ब्रह्मास्मि = मैं ब्रह्म स्वरूप हूँ। देहादि स्वरूप नहीं हूँ। इस प्रकार से सर्वात्मदर्शी की अभूति (विघ्नादि) के लिये देव असमर्थ होते हैं ॥४॥

अथ देहविषयतत्त्वप्रदर्शन प्रकरण २

घग्घा घट फूटे (विनशे) घट होई। घट ही में घट राखु समोई ॥
जो घट घटै घटै फिरि आवै। घटही में फिरि घटहि समावै ॥५॥

घटो घनो ह्यधर्मश्च घशब्देन निगद्यते।
घटवद् घनवच्चैव देहरूपो घटः सदा॥
भज्यते जायतेऽधर्मोऽवोधोयावद्धि विद्यते ॥१॥
अतो गुरो र्वचः श्रुत्वा घटं देहद्वयात्मकम्।
अविद्यात्मघटे क्षिप्त्वा स्थाप्यतां स न चिन्त्यताम्॥२॥
नेत्थं कृत्वा शरीरेऽत्रघटते यः सदा कुधीः।
स आयाति घटे शश्वद्घटे चास्य घटो विशेत्॥३॥
मातु र्निविशते गर्भे देहाभिमितितस्तथा।
स्वयमेव घटो भूत्वा घटादौ वर्तते पुनः॥४॥
किञ्चाधर्मेण नष्टेऽस्मिन्देहेपिं स पुनर्भवेत्।
सूक्ष्मदेहघटश्चैनं स्थूलेष्वावेश्य रक्षति॥५॥
यदाऽधर्मः शरीरं च विवेकान्न्यूनतां व्रजेत्।
तदा घटो घटे यायात् क्रमशो लीनतां व्रजेत्॥६॥
असङ्गे नैव सम्बन्धो देहस्य भासते तदा।
राजते च तदात्मायं कूटस्थो ह्यचलो ध्रुवः॥७॥५॥

घघ्घा (मेघ, मृद्घट) तुल्य मलिन यह देहरूप घट प्रारब्ध के अन्त में फूटता (विनष्ट होता) है। परन्तु गुरु भक्ति आदि के विना ज्ञान की अप्राप्ति से, आज्ञानादि कारणों के विद्यमान रहने के कारण फिर बार-बार मलिन स्थूल देह रूप घट होता ही रहता है। और वह देहरूप घट ही माता की देहरूप घट के भीतर गर्भ में समाय (पैठाय) कर जीव को वहाँ रखता है। इस प्रकार से गर्भवासादि के हेतु घट (देह) में जो घटे (घटता=आसक्त होता) है। देहमात्र के लिये चेष्टा (व्यवहार) करता है। सो अविवेकी फिर घट में ही आता है, फिर घटरूप (घटाभिमानी) होकर घट में समाता है। अतः गुरुभक्ति आदिद्वारा देहाभिमानादि को और स्थूल सूक्ष्म देह को कारण देह में समाना (लय करना) चाहिये, इन सबको अविद्या (अज्ञान) रूप समझना चाहिये। क्योंकि "शरीरपोषणार्थी सन्नात्मानं यो दिदृक्षति। ग्राहं दारुधिया धृत्वा नदीं ततुं स वाञ्छति॥१॥ विवेकचू०।" शरीरासक्त तितिक्षा शमादि रहित होकर भी जो आत्मदर्शन चाहता है। सो मानो ग्राह को काष्ठ बुद्धि से पकड़कर, नदी को तरना चाहता है॥५॥

ङङ्ङा निरखत निशिदिन जाई। निरखत नैन रहा रतनाई॥
निमिष एक जो निरखै पावै। ताहि निमिषमें नयन छिपावै॥६॥

भैरवो विषयश्चैव स्मरणं च स्पृहा तथा।
कथ्यते वै ङकारेण ताडनं चापि कथ्यते ॥८॥
भीषणान् विषयादींस्तान् पश्यतां यात्यहर्निशम्।
घोराणां दर्शने येषां नेत्रं रत्नसमं सदा।
निश्चलं वर्तते रक्तं विद्यते वाऽविवेकिनाम् ॥९॥
मन्दप्रज्ञो हि कश्चिच्चेत्पलमेकमपि क्वचित्।
तान् द्रष्टुं लभते कालं तावता घ्नन्ति ते धियम् ॥१०॥
विवेकनेत्रमाच्छाद्य कुमार्गेषु नयन्ति ते।
अहो तथापि पश्यन्तस्ताञ्जना मन्वते सुखम् ॥११॥
अथवाऽहर्निशं याति विश्वं पश्यति दारुणम्।
स्मरणं च सतां पश्य ताडनं च यमादिभिः ॥१२॥
स्पृहणीयं स्वमात्मानं विद्धि तेभ्यो विवेकतः।
विद्यते मानवे देहे नेत्रं रत्नसमं तव ॥१३॥
एकमेवनिमेषं चेदात्मानं मन्तुमर्हसि।
तावन्मात्रेण सर्वांस्त्वमन्या दृष्टी विलोप्स्यसि ॥१४॥६॥

देहासक्ति से देह के लिये ङङ्ङा (भयानक) विषयादि को निरखते (देखते = विचारते) में ही रात-दिन जाता है। उन्हें देखने में नेत्र, रत्न तुल्य पल निमेष रहित, तथा लाल होकर विषयादि में लगे रहते हैं, विषयों का स्वभाव है कि जो कोई मन्द विवेकी उन्हें एक पलमात्र भी निरखने (देखने) पाता है। तो उतने ही काल में वे विषयादि उसके विवेक रूप नेत्र को छिपा देते (नष्ट करते) हैं आवृत्त करते ढाँपते हैं। अतः मुमुक्षु जिज्ञासु भयानक विषयादि के सङ्ग दर्शनादि को दूर से त्यागे। क्योंकि "विषं विषयवैषम्यं न विषं विषमुच्यते। जन्मान्तरघ्ना विषया एक देहहरं विषम् ॥१॥ (योगवासिष्ठ) विषयजन्य या विषय रूप वैषम्य (अनार्जव = क्रूरता) विष रूप है। लौकिक विष उसके समान विष नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि वासनादि द्वारा विषय जन्मान्तर में भी नष्ट करते हैं, और विष एक देहमात्र को नष्ट करता है। "घटासक्ति से विषय वन, निरखत में दिन रात। जाते हैं ताते सकल, ज्ञान विवेक नशात ॥१॥" ॥६॥

चच्चा चित्र रच्यो बहु भारी। चित्र हिं छाडु चेतु चित्रकारी॥
जिन यह चित्र विचित्र उखेला। चित्र छाड़ि तैं चेतु चितेला ॥७॥

चन्द्रः सूर्यश्च चौरश्च निर्मलं दुर्जनश्च चः ।
देहविश्वात्मकं चित्रं चन्द्रसूर्यादिसंयुतम् ॥
महातस्करवद् घोरं रचितं दुर्जनैः समम् ॥१५॥
हरति स्वात्मसर्वस्वं चित्तं चोरयते तथा ।
रचितं निर्मलेनापि माययेतादृशं कृतम् ॥१६॥
तत्त्यक्त्वा चित्रकारं त्वं तं जानीहीदृशं जगत् ।
विचित्रं रचितं येन चित्रकारः स चेतनः ॥१७॥
त्वमेवासि ततस्त्यक्त्वा चित्रं देहात्मकं त्वया ।
आत्मैव ज्ञायतां देव श्चित्रकारः सदीश्वरः ॥१८॥७॥

इति चौंतीसीचर्चायां देहविषयतत्त्वप्रदर्शनंनाम द्वितीयं वाक्यम् ॥२॥

बहुत भारी चब्बा (चोर मोहजनक) चित्ररूप शरीरादि संसारको चित्रकार ईश्वर ने माया से रचा है, तहाँ चित्रों को मिथ्या माया दृष्टि से छाड़ु (त्यागो) प्रथम भी कहा गया है कि "झूठ झूठ कै छाड़हू , मिथ्या यह संसार । र. साखी ६०" और इस प्रकार से चित्रों को त्यागकर, सत्य अविनाशी चित्रकार को चेतो (समझो = भजो) और जिन (जिस) चित्रकार ने यह विचित्र (अद्भुत) मन से भी अचिन्त्य चित्र को अनायास ही उखेला (उल्लेख किया = खेल तुल्य रचा) है । इस सब चित्र को छोड़कर उस चितेला (चितेरा) को तुम चेतो (समझो) चित्रों को मिथ्यादि बुद्धि से त्यागे विना उसको नहीं समझ सकते हो, चित्र को मिथ्या समझने पर विचारादि द्वारा मिथ्या के आधार को अधिष्ठानादि रूप से सत्य सर्वात्मा अन्तर्यामी आदि स्वरूप से समझ सकते हो, और मुक्त हो सकते हो । क्योंकि "अतत्त्वेतत्त्वभावेन जीवो देहावृतः स्थितः । निर्देहो भवति श्रीमान् सुखीतत्त्वैक भावनात् । योगवा० ६।८२।२१" मिथ्या देहादि में सत्यादि की भावना से जीव देह से आवृत्त होकर स्थिर है । और एक सत्यात्मा की भावना से श्रीमान् (ज्ञानी) सुखी मुक्त होता है ॥ ७ ॥

अथ निर्मलात्मज्ञानोपाय प्रदर्शन प्र० ३

छछ्छा आहिं छत्रपति पासा । छकि क्यों न रहसि मेटि सब आशा ॥
मैं तोहि छिणछिण समुझाया । खसम छोड़ि कस आपु बँधाया ॥८॥

निर्मलं छं समाख्यातं तत्क्षेत्रज्ञोऽतिसन्निधौ।
आत्मत्वाद् वर्तते नित्यं सार्वभौमनृपोपमः ॥१॥
तं ज्ञात्वा नित्यतृप्तस्त्वमाशां निर्मूल्य सर्वथा।
किं तिष्ठसि नचाऽन्यग्रो निर्मलोऽसि सदाऽव्ययः ॥२॥
अहं बोधितवानस्मि ह्येवं प्रतिपलं हितम्।
त्वां तथापि कथं त्यक्त्वा पतिं वद्धः स्वयं भवान् ॥३॥
अद्यापि स्वपतिं बुद्ध्वा गृहीत्वा स्वात्मभावतः।
आशापाशं निराकृत्य बन्धान्मुक्तः सुखीभव ॥४॥
आशापाशान्न निर्मुक्ति निर्मलज्ञानमन्तरा।
तं ज्ञात्वा तामशेषं त्वं जहीहि दृढबोधतः ॥५॥
आशा हि लोहरज्जुभ्यो विषमा विपुला दृढा।
तां संहर्तुं विवेकं च वैराग्यं प्रथमं श्रय ॥६॥८॥

वह चित्रकार रूप छल्छा (निर्मल) छत्रपति (स्वतन्त्र राजा = क्षेत्रज्ञ) अत्यन्त पासमें आहिं (है) उसके ध्यान ज्ञानादि से सब आशाओंको मेट (नष्ट) करके, तुम छकि (तृप्त हो) कर, क्यों नहीं रहते हो। क्योंकि वह तेरा स्वरूप है। अतः तुम पराधीन दरिद्र वस्तुतः नहीं हो, कि जिससे किसी की आशा करनां तेरे लिये उचित हो। इस तृप्ति ही के लिये मैं (सद्‌गुरु) ने तुझे क्षण-क्षण में समुझाया है, तो भी तुम सर्वात्मा खसम को छोड़कर, आप स्वयं कैसे बँधाये हो, सो समझो, अर्थात् अज्ञानजन्य आशा तृष्णादि से बँधे हो, ज्ञान से समूल आशा आदि को नष्ट करके मुक्त होवो। "आशानित्यं महद्‌दुःखं संसाराख्यं च कारणम्। तत्त्यागेन विना सर्वं निष्फलं कर्म पौरुषम् ॥१॥" इत्यादि ॥८॥

जज्ञा ई तन जियत हि जारो। यौवन जारि युक्ति तन पारो ॥
जो कछु जानि जानि पर जरै। घटहिं ज्योति उजियारी करै ॥९॥

जेता च गायनश्चैव वेगितश्च निगद्यते।
जेमनं च जकारेण तस्मादित्थं विबुध्यताम् ॥७॥
जेता स्वमनसो भूत्वाषड्रींश्च विजित्य वै।
प्रारब्धं चैव भुञ्जानोविमोक्षायातिवेगितः ॥८॥
गायनो वचसां भूत्वासतां च शान्तमानसः।
इदं कलेवरं जीवन्भस्मसात् कुरु मूलतः ॥९॥
यौवनं च मदं त्यक्त्वायौवने सति युक्तितः।
देहसिंधोः परे पारे प्राप्तो भवत्त्वमञ्जसा ॥१०॥

ज्ञातं ज्ञातं हि यत् किञ्चिदात्मान्यद्विद्यते जगत् ।
दग्धं ज्ञानाग्निना तच्च स्वान्ते ज्योतिः प्रकाशयेत् ॥११॥
"वैराग्याभ्यासवशतस्तथा तत्त्वावबोधनात् ।
संसारस्तीर्यते तेन तत्रैवाभ्यासमाहर ॥१२॥९॥

जज्जा (शीघ्र मन काम आशा आदि के विजयी) होकर इस शरीर को उक्त निर्मलात्मा ब्रह्म के ज्ञानाग्नि से जीवित अवस्था में ही जलाओ (देह को मिथ्या समझकर इसके अभिमान को त्यागो) और विराग असंसक्ति आदि रूप युक्ति से यौवन मद को जलाकर, विवेक विचारादि रूप युक्ति से पांच कोशात्मक तीनों तन (देह) से पार होवो (शुद्ध साक्षी स्वरूप को समझो) इस प्रकार से जो कछु जानि जानि (पुनः पुनः ज्ञात) इन्द्रियादि के विषय अनेक अनात्म पदार्थ हैं, सो जब ज्ञानाग्नि से परजरते (मिथ्या निश्चित नष्ट होते) हैं। तब सो घट में ही परतत्त्व ज्योति का उजियार (प्रकाश) करते हैं (सब अनात्म के बाध = मिथ्यात्व निश्चय से बाधावधि ज्ञान स्वरूप आत्मा स्वयं हि अवशिष्ट स्वरूप से भासता है) । "अनात्मनि हि देहादौ बाधिते ज्ञानतः स्वयम् । प्रकाशते जगज्ज्योतिः सच्चिदानन्दलक्षणम् ॥१॥" ॥ ९ ॥

झझ्झा अरुझ सरुझ कित जाना । हींढ़त ढूँढ़त जात पराना ॥
कोटि सुमेरु ढूँढ़ि फिरि आवै । जो गढ़गढ़ा गढ़हिं सो पावै ॥१०

रवो नष्टश्च वायुश्च नेपथ्यश्च झ उच्यते ।
तदात्मकेऽत्र संसारे देहे प्राणे च किं भवान् ॥ ७ ॥
संसजत्यविवेकेन कुत्र गत्वा विवेक्ष्यसि ।
आत्मानं वा परं देवं सक्तो वा कुत्र यास्यसि ॥ ८ ॥
यद्यत्र लभते नैव विविक्तं स्वं परं पदम् ।
तदा तेऽन्वेषमाणस्य सुखं सत्यं परं पदम् ।
व्यर्थं प्राणाः प्रयास्यन्ति धावमानस्य सर्वतः ॥ ९ ॥
सुमेरुकोटिदुर्गेषु ह्यन्विष्यापि यदा भवान् ।
आगत्य मानवे देहे विचारादि करिष्यति ॥१०॥
येनेदं रचितं चित्रं गृहं तं तु गृहेऽत्र वै ।
लप्स्यसे त्वं तदा नैव त्वन्यत्र बहुजन्मसु ॥११॥१०॥

मन आदि को नहीं जीतने के कारण यदि यहाँ संसार गृहादि रूप झमझा (नेपथ्य विनश्वर शब्दादि) में अरुझे (फंसे लिपटे आसक्त) हो ।

इस मानव देह में अरुझ का निवारण रूप सरुझ (विवेकादि) नहीं करते हों, तो तुमने सरुझ (संसार झंझट से छुटकारा) कित (कहाँ किस प्रकार) जाना है, यहाँ ही सरुझ हो सकता है, सो जानो (समझो) । और समझो कि यदि इस देह में रहते सरुझ (विवेकादि) नहीं हुआ, तो किसी अनात्म वस्तु सुख साधनादि के ढींढते ढूंढते (शोचते खोजते) में व्यर्थ ही प्राण जाता है या विवेकादि के बिना खोजते-खोजते में जो सत्यवस्तु से दूर पराना (पराया भागा) जाता है । अतः उसको कहीं कुछ मिलता नहीं है । क्योंकि स्वर्ग सुखादि को खोजने के लिये करोड़ो सुमेरु पर्वतो पर जाकर, और वहाँ सत्य सुखादि को ढूंढ (खोज) कर, फिर जब मानव देह में जीव आता है । (किसी शुभ कर्म वश जब मनुष्य लोक में मानव तनु पाता है) । तब जो इस संसार शरीर रूप गढ को अपनी अद्भुत शक्ति से गढ़ा है (रचा है) उस सर्वात्मा को इस मानव देह लोक में ही वह विचारादि द्वारा मन आदि को जीतने ही पर प्रायः पाता है । अन्यत्र अन्यथा नहीं । अतः यहाँ ही मन आदि के विजयपूर्वक आत्मा ज्ञातव्य है । क्योंकि "इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः । केन. २।५" "इहैव सन्तोऽथ विद्मस्तद्वयं न चेदवेदीर्महती विनष्टिः । ये तद्विदुरमृतास्ते भवन्त्यथेतरे दुःखमेवापियन्ति बृ० अ० ४।४।१४" "जीवतो यस्य कैवल्यं विदेहोऽपिस केवलः ।" ज्ञानाधिकार युक्त इस शरीर में यदि सत्यात्मा को अवेदीत् (समझा) तो सत्य फल है । यदि यहाँ नहीं समझा तो महान् विनाश (कष्ट) है । इस देह में रहते ही हम उस पर ब्रह्म को निजात्मा समझते हैं । यदि हम अवेदी (उस के ज्ञान से रहित रहें) उसको यदि नहीं जाने तो महान् विनाश होगा, क्योंकि जो उसको जानते हैं, सो अमृत (मुक्त) होते हैं । और अन्य दुःख ही पाते हैं । जिसको जीवितावस्था मे मोहादि के अभावरूप कैवल्य है, विदेहावस्था में भी वह केवल मुक्त है ॥१०॥

अन्ना निग्रह से करु नेहू । करु निरुआर छाडु सन्देहू ॥
नहिं देखै नहिं भाजै केहू । जानहु परम सयानप येहू ॥
नहिं देखै नहिं आपु भजाऊ । जहाँ नहीं तहँ तन मन लाऊ ॥
जहाँ नहीं तहँ सब कछु जानी । जहाँ नहीं तहँ लै पहिचानीं ॥११॥

गायने शयने चैव अशब्दः प्रोच्यते बुधैः ।
केवलाद् गायनाच्चैव मोहस्वप्नान्निरन्तरम् ॥१२॥

मनसो निग्रहे प्रीतिः साधो ! सम्यग् विधीयताम् ॥१२॥
शयालु र्मोहतः किञ्च गायकोऽपि भवन् पुरा ।
इन्द्रियाणां निरोधेऽत्र स्नेहः सद्यो विधीयताम् ॥१३॥
मोह निद्रां परित्यज्य जागृहि त्वं विविङ्धि च ।
सन्देहस्त्यज्यतां साधो ! मा द्वैविध्येन पीड्यताम् ॥१४॥
विश्वं नैवेन्द्रियं पश्येत्सत्यत्वेन मनस्तथा ।
न चेद्धावेत कुत्रापि विद्धयेतत्परविज्ञताम् ॥१५॥
आत्मभिन्नं न यः किञ्चित् सत्यं लोकेऽत्र पश्यति ।
नात्मनोऽन्यत्र कुत्रापि धावते चाशयाऽनृते ॥१६॥
तत्र तत्परमं ज्ञेयं चातुर्यं मोक्षदं शुभम् ।
वैराग्यमात्मविज्ञानं समता क्षान्तिरक्षया ॥१७॥
अतस्त्वयाऽत्र सत्यं नो किञ्चित् साधो ! निरीक्ष्यताम् ।
आत्मनो न पृथग् याहिं तृष्णाशादिभिरङ्ग ! हे ॥१८॥
किन्तु यत्र न किञ्चिद्धि सर्वं यत्रच दृश्यते ।
तत्रैव स्वतनुः स्वस्य मनश्च नीयतां त्वया ॥१९॥
यत्र किञ्चिन्न तत्रैव विश्वं ज्ञात्वाहि कल्पितम् ।
तत्र सत्यं सुखं मोक्षश्चैतन्यं परिचीयताम् ॥२०॥११॥

इति चौंतीसीचर्चायां निर्मलात्मज्ञानोपायप्रदर्शनं तृतीयं वाक्यम् ॥३॥

हे अञ्ञा ! (मोहनिन्द से सोने वाले शब्दों को गाने वाले) शब्दादि झञ्झा (संसार विषय) से मन इन्द्रिय के निग्रह (निरोध) से गुरु आदि विषयक नेह (प्रेम भक्ति) को सिद्ध करो। और अञ्ञा (शयनादि) के निग्रह में प्रेम करके आत्मानात्मादि का निरुआर (विवेक विचारादि) करो। और विवेक करके संशय को त्यागो। फिर विविक्त आत्मनिष्ठ मन जब किसी अनात्मा को सत्य प्रिय आदि रूप नहीं देखै, न केहू (किसी तरफ किसी वस्तु में किसी प्रकार से) भाजै (भागै) तब यह परम सयानप (ज्ञानित्व चतुराई, पाण्डित्य) जानो। ऐसा ही ज्ञानी किसी अनात्माको सत्य सुखादि रूप नहीं देखता है, न उनमें स्नेह करता है, न अपने स्वरूप से भजाऊ (भाजता = भागता = पृथक् होता) है। भागने वाला नहीं है। अतः जहाँ वस्तुतः संसार सङ्ग द्वन्द्वादि नहीं हैं। तहाँ अपने तन मन को लाऊ (लाता है) तन मनसे उसकी सेवा भक्ति अनुभूति करता है और जहाँ सत्य कोई संसार नहीं है, उसी में भव संसार भोक्ता भोगादि को कल्पित जानकर, तथा सत्य सुख

शान्ति मुक्ति सबको उसमें जानकर। जहाँ नहीं है, उसी को समझकर उस को तत् स्वरूप पहचान लेता हैं कि "सर्वं खल्विदं ब्रह्म। छा०अ० ३।१४।१" "इदं सर्वं यद्यमात्मा। आत्मैवेदं सर्वम्। छ. अ. ७।१५।२" इत्यादि। ऐसा जाननेसे मुक्त होता है। अतः ऐसा ज्ञातव्य है। "दृश्यं नास्तीति बोधेन मनसो दृश्यमार्जनम्। सम्पन्नं चेत्तदुत्पन्ना परा निर्वाणनिर्वृतिः। योगवा.प्र. १।३।५" दृश्य मिथ्या है, इस ज्ञान से यदि मन से दृश्य का मार्जनसिद्ध हुआ, तो उत्तम मोक्ष सुख सिद्ध हो गया ॥११॥

अथ मनःप्रपञ्चप्रदर्शन प्र० ४

टट्टा विकट बाट मन माहीं। खोलि कपाट महल ते जाहीं॥
रहि लटपटी जुटा तन माहीं। होहिं अटल ते कतहुं न जाहीं॥१२॥

टो धरित्र्यां ध्वनौ चैव तत्र गन्तुं स्वमानसे।
विषमो वर्तते मार्गस्तेन गत्वा स्वहृद्गृहात् ॥२१॥
विवृत्यस्वेन्द्रियद्वारं वहिर्गच्छन्ति जन्तवः।
विषयादौ शरीरे च समासक्ता विमोहतः ॥२२॥
अध्यासेन भवन्त्यत्र ह्येकीभूताः सदाऽचलाः।
सत्सङ्गादौ विवेकार्थं नैव कुत्रापि यान्त्यतः ॥२३॥
ध्वनिरेवास्ति मार्गो वा स्वान्तेऽतिविषमः शुभः।
विवृत्यैव कपाटं च बुधा मोहादिलक्षणम् ॥२४॥
तेन मार्गेण संयान्ति हृद्गेहे योगयुक्तितः।
मिलित्वा स्वात्मना तत्र सदातिष्ठन्त्यभेदतः ॥२५॥
अतस्ते ह्यचलाभूत्वा नैव यान्ति पुनः क्वचित्।
भ्रमन्त्यज्ञाश्च सर्वत्र हृद्गेहे नैव यान्ति ते ॥२६॥
विषयाः संविशन्त्येव तेषां च हृदये सदा।
वासनाद्यात्मना तत्र स्थिराश्चैव भवन्ति ते ॥२७॥ १२॥

विषयों से अनिरुद्ध मन में टट्टा (ध्वनि) को पहुँचने के लिये, मन में ही काम स्नेहादि रूप विकट (कठिन) बाट (मार्ग) है कि जिससे मन के शरीर के भीतर रहते भी, ते (वे) ध्वनि शब्दादि विषय, इन्द्रिय द्वार के कपाट को खोल कर, मन के महल (गृह) हृदय में ही काम लोभादि द्वारा पहुँच जाते हैं। और शरीर में ही वासना इच्छा विषय रूप से मन के साथ

लटपट होकर (मिलकर) जुटे (वर्तमान लगे) रहकर, वे विवेकादि के बिना अटल हो जाते हैं, कभी कहीं नहीं जाते हैं, लगे रहकर वे मन को सदा घेरे रहते हैं तथा मन में बाहर के टट्टा (भूमि ध्वनि) आदि में जाने के लिये विकट मार्ग है। अतः सहसा उसका निरोध होना असम्भव है। अतः वह कपाट को खोलकर, उस मार्ग द्वारा महल ते (शरीर से) बाहर वृत्तिरूप से जाता है। तब बाहर के विषयादि में फंस कर, तन पोषणादि में लगा (जुटा) हुआ, वहाँ ही अटल हो जाता है। सत्सङ्गादि में कहीं नहीं जाता है। अतः जीव कष्ट पाता है, सो मार्ग ज्ञातव्य और निरोधव्य है ॥१२॥

ठठ्ठा ठौर दूर ठग नियरे। नित के निठुर कीन्ह मन धीरे ॥
जे ठग ठगु सब लोग सयाना। सो ठग चीन्हि ठौर पहिचाना॥१३॥

जनतायां ध्वनौ शून्ये महेशे चन्द्रमण्डले।
शठे प्रयुज्यते चायं ठशब्दः शब्दकोविदैः ॥२८॥
शठेभ्यो जनसंघेभ्यो ध्वनिकर्मभ्य एव च।
सर्वप्रपञ्चसंशून्यो महेशः स्थानमव्ययम् ॥२९॥
आत्मैव सर्वभूतस्याऽप्यतिदूरे हि वर्तते।
कामाद्या वञ्चकाश्चैव तिष्ठन्ति निकटे सदा ॥३०॥
ते च नित्यं शनैः स्वान्तं कृतवन्तोऽतिनिष्ठुरम्।
दयामैत्र्यादिभिर्हीनं घातुकं वञ्चनापरम् ॥३१॥
वञ्चका वञ्चयन्त्यत्र ये सदा कुशलानपि।
सर्वांस्तान् सुविदित्वैव ज्ञायते शाश्वतं पदम् ॥३२॥
अतो ज्ञात्वा च तांस्त्यक्त्वा धूर्तान् कामादिकान् खलु।
आत्मानं सदधिष्ठानं विद्धि विद्धं चिदव्ययम् ॥३३॥१३॥

मन के विकट पन्थादि के ज्ञान और निरोध के बिना ठठ्ठा (जनता-जनसंघ) से सत्य ठौर (सर्वाधार ईश्वर आत्मा मोक्ष) दूर रहता और भासता है। और काम लोभादि कामी आदि ठग सदा नियरे (हृदय में पास में) रहते हैं। और सो ठग नितके (सदा सङ्ग में रहने के कारण सदा के लिये) मन को और बुद्धि को धीरे-धीरे निठुर (क्रूर दया क्षमा रहित) कर दिये हैं, और करते हैं। और क्रूर बना कर आर्जव, अहिंसा, सत्यादि रूप धर्मों को, विवेकादि को ठगपन से हर लिये हैं, और हरते हैं। इस प्रकार जो ठग सब लौकिक सयाने चतुरों को भी ठगते हैं, उन ठगों को ठग रूप से चीन्ह (पहचान जान) करके ही, उनके त्यागपूर्वक विवेकियों ने सत्यात्मा

स्वरूप सर्वाधार निराधार राम = ब्रह्मस्वरूप ठौर (सर्वाधिष्ठान आधार) को पहिचाना (निजात्म रूप से अनुभव किया) है। अतः कामादि को त्यागकर आत्मानुभव कर्तव्य है ॥ १३ ॥

डड्डा डर उपजे डर होई। डरहीं में डर राखु समोई ॥
जो डर डरे डरै फिरि आवै। डरहीं में फिरि डरहिं समावै ॥१४॥

डकारः शङ्करे त्रासे ध्वनौ भीमे निरुच्यते।
स्थानाऽपरिचयाद् भीष्माच् शङ्कराच्च ध्वनेरपि ॥
भयमुत्पद्यते पुंसां त्रासात्त्रासश्च जायते ॥२४॥
सकारणमतस्त्रासं भीतेरपि भयप्रदे।
ईश्वरे जगतां सारे स्थापयित्वा लयं कुरु ॥२५॥
नैवं कृत्वा तु यः कश्चिद्बिभेति भयकारणात्।
स स्वयं भयदो भूत्वा ह्यायाति साध्वसप्रदे ॥२६॥
आगतौ तत्र चान्यस्माद् भयं तस्य विजायते।
अन्ततो वैयमान्मृत्यो दुःखाच्च जायते भयम् ॥२७॥
शोक स्थान सहस्राणि भयस्थान शतानि च।
दिवसे दिवसे मूढमाविशन्ति न पण्डितम् ॥२८॥१४॥

इति चौंतोसीचर्चायां मनःप्रपञ्चप्रदर्शनं नाम चतुर्थं वाक्यम् ॥४॥

उक्त सत्य ठौर के ज्ञानादि के बिना डड्डा (प्रलयकर्ताशङ्कर भयानक शब्दादि से डर (भय) उत्पन्न होता है (रागद्वेष भेदभावादि भय के कारण उत्पन्न होते हैं) उनसे फिर डर (भय) होता है। अतः यदि तुम अभय चाहो तो, सब भय के हेतुओं को "महद्भयं वज्रमुद्यतम्। भयादस्याग्निस्तपति। कठ. २।६।२-३" वह ब्रह्म = ईश्वर, उद्यत वज्र तुल्य महाभय का हेतु है। अतः उसके भय से अग्नि तपती है। इत्यादि श्रुतियों के अनुसार, भयों के हेतुओं के भय रूप ईश्वर में समोय (समाय कर) लय करके रख दो (सब जगत् को ईश्वराधीन ईश्वरमय जानकर भय को उत्पन्न नहीं होने दो) ऐसा नहीं करके जो डर के हेतु ईश्वर माया आदि से डरता है, सो भेद बुद्धिवाला राग द्वेषादि युक्त होने के कारण फिर भी डर में (भय हेतु संसार में) आता है। और फिर भी डर में ही डर रूप होकर समाता है (बार बार संसारी भय का हेतु होता है) और "अभयं सत्त्व संशुद्धि" आदि से ज्ञानी मुक्त होता है। क्योंकि "य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति। कठ. २।६।२" "न

विमेति परो यस्मान्न विभेति पराच्च यः यश्च नेच्छति न द्वेष्टि ब्रह्म सम्पद्यते स तु ॥१॥ नारदीय पु॰ अ॰ ५६। ब्र॰ पु॰ अ॰ १०" सर्वात्मा स्वरूप ब्रह्म को जो जानते हैं, सो मुक्त होते हैं। तथा जिस समदर्शी से अन्य नहीं डरता है, न आप अन्य से डरता है, सो ब्रह्मरूपता को प्राप्त होता है ॥१४॥

अथ अनात्मान्वेषणगम्यसंसारप्रदर्शन प्रकरण ५

ढढ्ढा ढूंढ़त है कत आना। हींढत ढूंढत जात पराना॥
कोटि सुमेरु ढूंढि फिरि आवै। जो गढ़ गढ़ा गढ़हि सो पावै॥१५॥

ढकारोनिर्गुणं ब्रह्म तत् किमन्यत्र मृग्यसि।
स्वस्मादन्यत्र तन्मृग्यंस्तस्मात्त्वं प्लायसे सदा॥१॥
अन्यं मृगयमाणश्च सुमेरुष्वपि कोटिषु।
तद्प्राप्यैव चागत्य देहगेहेहि लप्स्यसे॥२॥
येनेदं रचिदं हर्म्यं स सदात्रैव तिष्ठति।
असङ्गो लभते तं च ज्ञानेनामलचेतसा॥३॥
असङ्गोभव शीघ्रं त्वमन्यथा मृग्यतस्तव।
प्राणा यास्यन्त्यसन्मार्गे स्थितिः क्वापि भवेन्नहि॥४॥
"नाहं कर्ता न भोक्ता च न बाध्यो न च बाधकः।
इत्यसञ्जनमर्थेषु सामान्यासङ्गनामकम्॥५॥
नाहं कर्तेश्वरः कर्ता कर्म वा प्राक्कृतं मम।
कृत्वा दूरतरे नूनमिति शब्दार्थभावनम्।
यन्मौनमासनं शान्तं तच्छ्रेष्टासङ्ग उच्यते"॥६। १५॥

उक्त भय से रहित होने के लिये ढढ्ढा (निर्गुण ब्रह्म) को तुम, आना (अन्य समझ कर अन्यत्र) कत (क्यों कहाँ) ढूढ़ते (खोजते) हो। इस प्रकार से हींढते ढूढते में तो तेरे प्राण व्यर्थ जाते हैं, आयु जीवन व्यर्थ जा रहे हैं। यथा उस निर्गुण ब्रह्म रूप ठौर से मानो दूर पराने (भागे) जाते हो। और करोड़ों सुमेरु में निर्गुण ब्रह्म को ढूंढ कर, जो फिर इस मानव देह में आता है, मानव लोक में आकर मानव देह पाता है, अपने हृदय में विवेक विचारादि करता है। उस विचारादिशील विवेकी से जिस निर्गुण ब्रह्म ने अपनी माया से इस संसार शरीर रूप गढ को गढा है, सो गढ ही में पाया जा सकता है। अतः वह गढही में ब्रह्म को व्याप्त पाता है, वह ब्रह्म

ही सबका पारमार्थिक स्वरूप है, सो ज्ञानादि से मिलता है। बाहर खोजने से नहीं, और उसी की सत्ता तथा प्रकाश द्वारा माया से संसार उत्पन्न होता है। अतः "मनसैवानुद्रष्टव्यं नेह नानास्ति किञ्चन। बृ. ४।४।१९" यह शुद्ध मन से ही जानने योग्य है, और इसमें सत्य भेद कुछ नहीं है कि जो अन्यत्र खोजने से मिल सके।१५॥

णणूणा दुई बसाये गाऊँ। रे णणूणा टूटे तेरी नाऊँ॥
मूये एक जाय तजि घना। मुये इत्यादि कहौं कत गना॥१६॥

णकारो निश्चये ज्ञाने निर्णयेऽपि च पठ्यते।
निश्चयज्ञानरूपोऽयं जीवात्मा सुख लब्धये॥७॥
स्वर्गमर्त्यावुभौ ग्रामौ वासयामास कर्मतः।
यशोनामप्रसिद्ध्यर्थं पदार्थनिचयं बहु।
अगृह्णच ततः प्राह सद्गुरुर्मोक्षसिद्धये॥८॥
निर्णीतज्ञानरूपात्म रे जीव! तव नाम च।
यशोऽपित्रुट्यते कालैरन्यत्सर्वं च नश्यति॥९॥
मृत्वा यासि स्वयं चैकस्त्यक्त्वा बहुधनादिकम्।
एवं मृतोऽसि जातोसि कियत् संख्याय कथ्यताम्॥१०॥
कालोमहाबली सैकस्ते तोडति तनूः सदा।
त्रुट्यन्ति सर्वसम्बन्धाः स लुण्ठति धनादिकम्॥११॥
तस्मात्सर्वं परित्यज्य स्वयं त्वं मनसा सुधीः।
अनासक्तो गतस्नेहः कालातीतं प्रसाधय॥१२॥१६॥

अन्य को ढूंढने में लगा हुआ णणूणा (निश्चित निर्णीत ज्ञान स्वरूप जीव) ने अपने नाम यश के लिये लोक परलोक रूप दो ग्राम को कर्मादि द्वारा वसाये हैं। अर्थात् देहाभिमान अविवेकादि से देह के नामादि को अपने नामादि समझकर, उस नामादि की लोक में स्थिति के लिये बहुत संग्रहादि जीव करता है। तहाँ कहा गया है कि रे णणूणा (जीव) तेरा नाम टूट जाता है (नष्ट हो जाता है)। अतः नाम के लिये तूं व्यर्थ ही हैरान होता है, क्योंकि मरण काल में एकाकी तुम यहाँ की घना (बहुत) वस्तु को, यहाँ के नामरूप को त्यागकर जाते हो। आगे अन्य अन्य नामरूप युक्त शरीरादि का ग्रहण करते हो तो कौन तेरे नामरूपादि स्थिर रहते हैं, और तेरे मुये इत्यादि (मरण जन्मादि) को कितना गिनकर मैं कहूँ, ये गिनकर कहे नहीं

जा सकते हैं। अतः नामादि की इच्छा को त्यागकर नित्य निर्गुणात्मा को मोक्ष के लिये यहाँ समझो ॥१६॥

तत्ता अति त्रियां नहिं जाई। तन त्रिभुवन में राखु छिपाई॥
जो तन त्रिभुवन माँह छिपावै। तत्वहि मिलै तत्त्व सो पावै॥१७॥

तकारः कथितश्चौरो ब्रह्म जीवश्च कथ्यते।
देहादिषु समासक्तो जीवोऽयं त्रिगुणात् परे।
नित्ये स्वे निर्गुणे नैव शुद्धे ब्रह्मणि गच्छति॥२३॥
अतस्त्रिभुवने स्वस्य तनुं संछाद्य यत्नतः।
चेष्टते रक्षितुं जीवस्तन्न सिद्धयति जातुचित्॥२४॥
किञ्च यो भुवने स्वस्य तनुं गोप्तुमिहेच्छति।
मिलेत्स पञ्चतत्त्वेषु तत्त्वानि लभते सदा॥२५॥
किम्वाऽतिचतुराश्चौराः स्त्रियो वा त्रिगुणादयः।
हरन्ते भावसर्वस्वं ज्ञानध्यानादिकं समम्॥२६॥
नैव गत्वा त्वया तेषु स्वस्य ज्ञानादिलक्षणाम्।
संसाध्य रक्ष्यतां शुद्धां भुवनेषु तनुं त्रिषु॥२७॥
किञ्च स्वस्य शरीरं च मनो रुद्ध्वाकुमार्गतः।
संसारस्यनिदाने तज्जहीहि च लयं कुरु॥२८॥
एवं यो भुवने स्वस्य तनुं छादयते बुधः।
परे तत्त्वे मिलत्येष तच्च प्राप्नोति सर्वथा॥२९॥१७॥

दो ग्राम को नाम के लिये बसाने वाला तत्ता (जीव) अतित्रिय (त्रिगुण से पर) स्वरूप में नहीं जाता है (त्रिगुणमय संसार शरीर का अतिक्रमण करके निर्गुण ब्रह्म में नहीं पहुँचता है)। किन्तु त्रिगुण युक्त देह के अभिमान से तन को ही त्रिभुवन में छिपा कर रखना चाहता है। और जो कोई योगादि द्वारा तनु को मृत्यु आदि से छिपा कर रखना चाहता है सो योगी भी अन्त में शरीर की रक्षा करने नहीं पाता है। और तत्त्वमय शरीर की वासना से मरने के बाद पाँच तत्त्व में ही मिलता है, ब्रह्मात्मा में नहीं। अतः बार बार तत्त्व रचित शरीर ही पाता है मोक्ष नहीं। फिर अन्य की क्या कथा कही जाय। अथवा अतितत्ता (अत्यन्त चोर) त्रिगुण स्त्री आदि के वश में नहीं जाकर अपने तन मन आदि को जाग्रदादि तीनों अवस्था में उन कामादि चोरों से छिपा कर रखो, इस प्रकार जो अपने तन मन को तीनों अवस्था में छिपाता

है, सो चतुर्थ अवस्था में पहुँच कर तत्त्व (सत्यब्रह्म) को ही जीवन काल में ही प्राप्त करता है। फिर शुद्ध जल में शुद्ध जल के समान तत्त्व स्वरूप में मिलता है (लीन होता है) यह वेद का सिद्धान्त है ॥१७॥

थथ्था अथाह थाहि नहिं जाई। ई थिर ऊ थिर नाहिं रहाई ॥
थोरे थोरे थिर हो भाई। बिनु थम्भे जस मन्दिर थम्हाई ॥१८॥

शिलोच्चये थकारः स्यान्नयस्य च सुरक्षणे।
शिलोच्चयो मनश्चेदमगम्यं सर्वजन्तुभिः।
यतोऽत्र तदमुत्रापि न क्वचित् स्थितिमेति हि ॥३०॥
अभ्यासेन विरागेण शनैस्त्वं स्थिरतां व्रज।
यथा स्तम्भं विना लोके वर्तते देवमन्दिरम् ॥३१॥
मनः सुमेरुणा यद्वा नावगाह्यो भवार्णवः।
सद्धर्मो नीतिनागैश्च गुणदेहचयोऽथवा ॥३२॥
विद्यते सहि गम्भीरः पारावारविवर्जितः।
सद्बोधादिविना सर्वैस्तलं तस्मान्न लभ्यते ॥३३॥
तथापि ह्यस्थिरं मत्वा त्विदं लोकममुं तथा।
स्थिरो भव शनैर्भ्रातरन्यथा त्वस्त्यसम्भवः ॥३४॥
स्तम्भाद्यै हिं विना यद्वद् गृहं न स्थिरतां व्रजेत्।
अभ्यासादि विना तद्वन्नस्थिरं लभते पदम् ॥३५॥१८॥

त्रिगुण वशवर्ती अनन्त वासना कामादि युक्त थथ्था (पहाड् तुल्य जड़ मन) कामादि से अथाह (अगम्य असाध्य) हो जाता है। अतः थाहा नहीं जाता है, वशमें नहीं होता है। क्योंकि इस लोक या परलोकमें कहीं यह स्थिर नहीं रहता है कि जहाँ यह पकड़ा जा सके। अतः हे भाई! थोरे थोरे (धीरे धीरे) स्थिर होवो, धीरे-धीरे कामादि को त्यागो। थोरे-थोरे विषयादि से सन्तोष करो। जैसे बीच (मध्य) में थम्भे (स्तम्भे) के बिना खिलान पर देव मन्दिर को थम्हाया जाता है। तैसे विषयादि रहित निर्गुण ब्रह्म में मन को स्थिर करो। अथवा मन इन्द्रियादि रूप थथ्था (सुमेरु जड़ पहाड़) से भव सागर थाहने योग्य नहीं है। अतः यह किसी अज्ञ जीव से थाहा नहीं जाता है। किन्तु ज्ञानी इसके अन्त स्वरूप ब्रह्म को समझता है। अतः थाह लेता है कि यह लोक और परलोक कोई स्थिर नहीं रहता है। केवल ब्रह्म ही स्थिर रहता है। अतः हे भाई! तुम भी संसार को अस्थिर समझकर ब्रह्म में धीरे धीरे देवमन्दिर के समान स्थिर होवो। (निर्गुण ब्रह्मनिष्ठ होवो) ॥१८॥

दद्दा देखहु विनशन हारा । जस देखहु तस करहु विचारा ॥
दशहूँ द्वारे तारी लावै । तब दयाल को दर्शन पावै ॥१६॥

दकारोऽभ्रे कलत्रे च धारणे शोभने मतः ।
शोभनं यत् कलत्रादि व्यवहारस्य धारणम् ॥
अपि दृश्यं जगत् सर्वं नश्वरं विद्धि मेघवत् ॥३६॥
प्रत्यक्षं त्वभ्रवद्दृष्ट्वा परोक्षेष्वपि वस्तुषु ।
नश्वरत्वं विजानीहि विचाराच्च गुरो मुखात् ॥३७॥
इत्थं ज्ञात्वा त्रिलोकस्थं दशद्वारेषु यन्त्रिकाम् ।
निरोधाख्यां यदा दत्ते विरागाभ्यासतो हि यः ॥३८॥
स तदैव दयालोश्च सर्वस्य सुहृदः प्रभोः ।
सर्वसाक्षिस्वरूपस्य दर्शनं लभते ध्रुवम् ॥३९॥
"अनित्यं सर्वमेवेदं तापत्रितयदूषितम् ।
असारं निन्दितं हेयमिति निश्चित्य शाम्यति" ॥४०॥१६॥

इतिचौंतीसीचर्चायामात्मान्वेषणागम्यसंसारपरदर्शनंनामपञ्चमंवाक्यम् ५

मनो निरोध और कामादि की निवृत्ति के लिये, इस प्रत्यक्ष संसार सम्पत्ति आदि को दद्दा (मेघ) तुल्य विनसनहार (विनश्वर) देखो (समझो) क्षणभंगुर जानो । और जैसे प्रत्यक्ष वर्तमान को देखो । तैसाही परोक्ष दूरस्थ भूत भावी संसार को विचारो (विचारादि से जानो) । क्योंकि ऐसा जान कर जब जो कोई दशों द्वारों में तारी (ताली) लाता है (लगाता है) सिद्धासन-पूर्वक मन, इन्द्रियों का निरोध, इन्द्रिय द्वारों के निरोध द्वारा करता है, तभी वह दयालु सर्वात्मा राम का दर्शन पाता है । "अंगुष्ठाभ्यामुभेश्रोत्रे तर्जनीभ्यां विलोचने । नासारन्ध्रे मध्यमाभ्यामन्याभि र्वदनं दृढम् ॥ १ ॥ बद्ध्वाऽऽत्मप्राणमनसामेकत्वं समनुस्मरन् । धारयेन्मरुतंसम्यग्योगोऽयं योगि-दुर्लभः ॥२॥ नारदपञ्चरात्र० ११।४।१५-।१६" अंगुष्ठों से कानों को, तर्जनी से नेत्रों को, मध्यमांगुलियों से नाकों को, अन्य अंगुलियों से मुख को बन्द करके आत्मा प्राण मन की एकता को स्मरण करता हुआ सिद्धासन पूर्वक प्राणायाम करे, यह साधारण योगियों के लिये दुर्लभ योग है, यही दशो द्वारों में तारी लगाना है ॥ १६ ॥

अथ जीव संसारादिप्रदर्शन प्र० ६

धन्धा अर्ध माँह अँधियारी। अर्द्धै उर्ध्वै लेहु विचारी॥
अर्द्ध छाड़ि ऊर्ध्व मन लावै। आपा मेटि के प्रेम बढावै॥
चौथे वे नन्ना महँ जाई। रामके गदह होय खरखाई॥२०॥

धं धने सधने धः स्याद्विधातरि मनावपि।
नो नेता चन्द्रमा सूर्यो बन्धुर्वृक्षः स्तुतिस्तरिः॥ १॥
अधो लोकेऽथमध्ये च धनं च धनितादिकम्।
अन्धकारमयं नित्यं चिन्तागर्वादिवर्द्धनम्॥ २॥
यथैवात्र तथैवोर्ध्वे स्वर्गेऽपि ज्ञायतां त्वया।
रागद्वेषादिहेतुत्वाद् दुःखालयमशाश्वतम्॥ ३॥
विचारेण परिज्ञाय हीत्थं तत्रत्य सम्पदम्।
निरुध्यैव मनस्तस्मात्स्वात्मन्येव वशं नय॥ ४॥
एवमत्र त्वबुद्ध्वा यस्त्यक्त्वाप्यत्रत्य सम्पदम्।
ऊर्ध्वलोके मनोधत्ते तत्रत्यं धनमिच्छति॥ ५॥
ममतामत्र हित्वा च बन्ध्वादिषु सुरादिषु।
स्नेहं वर्द्धयते नित्यं तत्रत्य वस्तुबन्धुषु॥ ६॥
चतुर्थे जनलोके स चन्द्रे सूर्येऽथवा क्वचित्।
तुरीयोऽपि स्वयं गत्वा तत्रत्य स्वामिनो वशे॥ ७॥
तस्य गर्दभवद् भूत्वा फलमत्ति स्वकर्मजम्॥ ७॥
विधातोक्तदयालो र्वा ह्यधस्ताद् वर्तते मनुः।
यतस्तत्रापि मोहान्धरात्रिरद्यापि विद्यते॥ ८॥
अतोऽधःस्थं तथोर्ध्वस्थं विचारेण विलोक्यताम्।
तत्त्यक्त्वा चात्मसंस्थः सञ्जीवन्मुक्तो हि जायताम्॥ ९॥२०॥

उक्तरीति से तारी (समाधि) आदि के द्वारा ज्ञानादि की प्राप्ति के बिना अर्द्ध (अधो मध्य) इस लोक में धन्धा (धन धनिकता का अभिमान) तथा नेतृत्व बन्धु आदि का सङ्ग, ये सब अँधियारी (अन्धकार तमः) स्वरूप होते हैं (इन के अभिमानादि के रहते सन्मार्ग सद्वस्तु आदि नहीं दीख पड़ते हैं। और अधो मध्य लोक में जैसे विषय रूप धनादि अंधकाररूप हैं, तैसे ही ऊर्ध्व स्वर्ग लोक में भी अन्धकाररूप हैं। सो विचार लो (विचार से समझो) और उनकी कामना आदि को त्यागो। क्योंकि जो कोई ऐसे समझ

के अभाव से, अर्द्ध के धनादि को छोड़कर ऊर्ध्व के धनादि में मन को लाता (लगाता) है। उसके लिये कर्मादि करता है, यहाँ की आपा (ममता) को मेटकर, पर लोक की सम्पत्ति में तथा देवादि में प्रेम को बढाता है (वहाँ के भोगों के लिए प्रेम विधिपूर्वक कर्मोंपासनादि करता है) सो चौथे जन लोकादि में जाता है, वहाँ के नन्ना (नेता अधिकारी) के अधिकार में जाता है। उस अधिकारीरूप राम (ईश्वर) के गदहा (भारवाही = आज्ञाकारी) होकर खर (तृण) खाता है। अर्थात् कर्मोंपासना के बल से कामी जीव यदि तीन लोक से परे, जनादि नामक ब्रह्मलोक में भी जाता है। तो स्वोपार्जित कर्मादि के फलों को ही परवश भोगता है। फिर निरन्तर गमनागमनादि के स्थान रूप स्वर्गादि की तो कथा ही क्या कहनी है। अतः गमनागमनादि से रहित होने के लिये दशों द्वारों में तारी लगा कर, आत्मदर्शन ही कर्तव्य है, तारी लगाने से भूतों के ज्ञानपूर्वक आत्मज्ञान होता है। स्कन्दपु० मा. कौ. खं. ११।६-७। के वचन हैं कि "श्रुत्योरङ्गुष्ठकौ मध्याङ्गुल्यौ नासापुटद्वये। सृक्किण्योः प्रान्त कोपान्त्याऽङ्गुलीशेषे दृगन्तयोः ॥१॥ न्यस्यान्तःस्थपृथिव्यादितत्त्वज्ञानंभवेत् क्रमात्। पीतश्वेतारुणश्यामै र्विन्दुभि र्निरूपाधि खम् ॥२॥ कानों में अंगुष्ठों को, नासिका दोनों में मध्यमाङ्गुलियों को, सृकिणी (मुख प्रान्तों) में कनिष्ठिका अनामिका को, शेष दो अंगुलियों को नेत्रान्त में लगाकर स्थित प्राणायामी को भीतर में रहने वाले पृथिवी आदि तत्त्वों का ज्ञान; पीत, श्वेत, रक्त और स्याम विन्दु रूप से क्रमशः होता है, और निरुपाधिरूप से आकाश चिदाकाश दिखता है ॥ २० ॥

नन्ना निरखत निशिदिन जाई। निरखत नयन रहा रतनाई ॥
निमिष एक जो निरखे पावै। ताहि निमिषमें नयनछपावै॥२१॥

पश्यतो बन्धुवर्गांस्ते सदा याति ह्यहर्निशम्।
तेषां च दर्शने नेत्रं रक्तं रत्नंयथाऽस्ति च ॥१०॥
दर्शनात्पलमात्रं हि येषां ज्ञानं विनश्यति।
तान् पश्यसि सदैव त्वं कथं ते कुशलं भवेत् ॥११॥
अथवा ऽहर्निशं याति पश्य विद्यात्मिकां तरिम्।
नेतारं च परं शुद्धं नेत्रं ते वर्ततेऽमलम् ॥१२॥
पलमात्रमपि ज्ञानमस्य चेत्ते भविष्यति।
तावतैवान्यदृष्टिस्ते लुप्ता स्यान्नात्र संशयः ॥१३॥२१॥

धनादि के अभिलाषी के नन्ना (बन्धुओं) को देखते में दिन रात जाते

(बीतते) हैं। इत्यादि ङङ्ङा तुल्य अर्थ है। अथवा परम शुद्ध नन्ना (नेता) सर्वात्मा ईश्वर के निरखते (विचारते) में ध्यानादि करते में, जिसके दिन रात जाते हैं। और निरखने (विचारने) में नयन (मन बुद्धि) मानोरत्न तुल्य हो रहे हैं। वह यदि एक निमिष भी प्रत्यक्ष निजात्मस्वरूप से सर्वात्मा ईश्वर को निरखने=समझने), पाता है तो उस निमिषमात्र में अन्य नयन (भ्रान्ति रूप ज्ञान अनात्मदृष्टि) को छिपा देता है। अतः आत्मज्ञान प्राप्तव्य है ॥२१॥

पप्पा पाप करे सब कोई। पाप करे कछु धर्म न होई॥
पप्पा कहै सुनहु रे भाई। हमरे सेवे कछू न पाई ॥२२॥

पाने पातरि पः प्रोक्तो विषयाणां पिवः समः।
तेषां रसस्य पानात्मकल्मषं कुरुते सदा ॥१४॥
तत्राऽऽसक्त्याऽविवेकेन तृष्णाकामादियन्त्रितः।
हितं पश्यंति न स्वस्य न धर्मं न परां गतिम् ॥१५॥
अतिपापे कृतेचात्र सद्धर्मोनैव कश्चन।
जायते न सुखंनैव विश्रमः शान्तिरेव वा ॥१६॥
अतः पापफलस्यात्ता दर्शयन् स्वदशां ननु।
पातारं हि वदत्येवं भो भ्रातः! श्रूयतामिदम् ॥१७॥
मां सेवित्वा न कुत्रापि किञ्चित् सत् प्राप्यते जनैः।
इदमेव वचः पातुः पानस्यापि च बुध्यताम् ॥१८॥
अर्थकामेष्वसक्तै र्हि धर्मो ज्ञानं च लभ्यते।
तत्राऽसक्तैरधर्मादि नरकस्तदनन्तरम् ॥१९॥
"गतसारेऽत्र संसारे सुखभ्रान्तिः शरीरिणाम्।
लालापानमिवाङ्गुष्ठे बालानां स्तन्यविभ्रमः" ॥२०॥२२॥

आत्मज्ञान विवेकादिरहित बन्धुपोषण परायण, और स्वयं भी पप्पा (विषय रस को पीनेवाले) कामान्धसब कोई लोभादिवश अवश्य पाप करते हैं। और लोभ स्वादादि वश पाप करने लगने पर उन से कुछ भी धर्म नहीं होता है। क्रूरता आदि के दृढ हो जाने पर दया दम अहिंसा क्षमा सन्तोषादि दिल में नहीं रहते हैं, न आते हैं। दैवयोग से कोई धर्म (पुण्य) हो भी जाता है, तो "पापे खाया पून। साखी २०" इस वक्ष्यमाण रीति से उस पुण्य को प्रबल पाप नष्ट कर देता है। नरक के द्वार रूप कामादि पुण्य को रहने नहीं देते हैं। अतः पूर्वजन्म के पप्पा (पाप फल भोक्ता) दीन जीव अपनी दशा दिखा कर, मानो कहते हैं कि रेभाई मेरी सेवा से कुछ नहीं पावोगे। अर्थात्,

लोभादि का सेवन, दीनता दरिद्रता पापकर्ता पापभोक्ता का सेवन रूप होता है, क्योंकि—अक्षर द्वयमभ्यस्तं नास्ति नास्तीति यत्पुरा। तदिह देहि देहीति विपरीतमुपस्थितम् ॥ १ ॥ बोधयन्ति च याचन्तो देहीति कृपणं जनाः। अवस्थेयमदानस्य मा भूदेवं भवानपि ॥ २ ॥ पूर्वजन्म में दातव्य वस्तु के रहते, दान दया के पात्र के प्रति जो नहीं है, इस प्रकार का अभ्यास किया गया था, सो देही (दो) इस विपरीत रूप से प्राप्त हुआ है। दो ऐसा कहकर मांगनेवाले कृपण को समझाते हैं कि अदान की यह अवस्था (फल) है, आप ऐसा नहीं बनो ॥ २२ ॥

फफ्फा फल लागै बड़ि दूरी। चाखै सतगुरु देइ न तूरी ॥
फफ्फा कहै सुनहु रे भाई। फल विहीन कहुं थिर न रहाई ॥२३॥

निष्फले भाषणे फः स्यादाह्वानेऽपिफलेपि च।
मिथ्यानिष्फलभाषिभ्य आह्वायकजनात्तथा ॥
कामिभ्यो ह्यतिदूरे सत्फलं तिष्ठति सर्वदा ॥२१॥
स्वदते सद्गुरुः सत्यं फलं तच्च निरन्तरम्।
तोडित्वा न ददात्येभ्यो जनेभ्यश्च कदाचन ॥२२॥
निष्फलं भाषणं तच्च ह्याह्वानं केवलं तथा।
संजातं फलरूपेण भाषते सज्जनं प्रति ॥२३॥
भो भ्रातः श्रूयतामेतत् सत्यं मे परमं वचः।
सत्फलेन विहीनो हि कोपि कुत्रापि न स्थिरम्।
स्थातुमर्हति कालाद्धि भीतो भ्रमति सर्वतः ॥२४॥
"दिनमेकं शशी पूर्णः क्षीणस्तु बहुवासरान्।
सुखाद् दुःखं सुराणामप्यधिकं का कथा नृणाम्" ॥२५॥२३॥

पाप करके फिर फफ्फा (निष्फलभाषण) से, व्यर्थ झूठ धर्मादि की कथा करने से, अधिक पाप बढता है, कि जिससे सच्चा फल दूर लगता (होते जाता) है। अर्थात् अर्थ, धर्म, कामरूप फल संसार में समीप हैं। और मोक्ष फल अज्ञ को दूर अप्राप्य प्रतीत होता है। कहा गया है कि "एक दूरि चाहै सब कोई। श. ४२" इत्यादि सो निष्फल भाषणादि से अत्यन्त दूर होता जाता है। और उस फल को सद्गुरु सदा चाखते (नित्यानन्द का अनुभव करते) हैं, परन्तु निष्फल भाषी आदि को तोड़कर वह फल नहीं देते हैं (उसके हृदय में उसका अनुभव नहीं करा सकते हैं)। अतः फफफा (उस फल रूपता को प्राप्त ज्ञानी) कहते हैं कि रे भाई! श्रवणादि करके इस फलको

प्राप्त करो, क्योंकि इस फल से रहित कोई कहीं स्थिर नहीं रहता है, सदा संसार में भटकता रहता है ॥२३॥

बब्बा बर बर करे सब कोई। बर बर किये काज नहिं होई ॥
बब्बा बात कहे अर्थाई। फल का मर्म न जानै भाई ॥२४॥

बः फलेऽत्र कथां तस्य कुर्वते सर्वमानवाः।
तावता नैव कार्यस्य सिद्धि र्भवति कस्यचित् ॥२६॥
वार्ता सत्फलस्यापि व्याख्यायुक्तां प्रकुर्वते।
तस्य मर्म न जानन्ति फलस्यापरिणामिनः ॥२७॥
"आशावैवश्यविरसे चित्ते सन्तोषवर्जिते।
म्लाने वक्त्रमिवादर्शे न ज्ञानं प्रतिविम्बति ॥२८॥
यथा देहोपयुक्तं हि करोत्यारोग्यमौषधम्।
तथेन्द्रियजयेऽभ्यस्ते विवेकः फलितो भवेत् ॥२९॥
विवेकोऽस्ति वचस्येव चित्रेऽग्निरिव भास्वरः।
यस्य तेनापरित्यक्ता दुःखायैवाविवेकिता" ॥३०॥२४॥

निष्फल भाषी आदि सब कोई बब्बा (फल) के बर बर (बड़ाई कथा) करते हैं, या बर्बर (स्वीकार्य प्राप्य) फलों को कहते हैं। परन्तु बर्बर करने कहने से कार्य (मोक्ष धर्म) की सिद्धि नहीं होती है। तो भी लोग प्रायः बब्बा (फल) की बातों को अर्थाय कर (व्याख्या करके) कहते हैं, परन्तु हे भाई! फल के मर्म को निष्फल असत्य भाषी आदि नहीं जानते हैं। अर्थात्—"सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग् ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्। मुण्डक. ३।१।५" यह नित्य मुक्तस्वरूप आत्मा सदा सत्य भाषण, तप (स्वधर्म) सम्यक् विवेक ज्ञान, नित्य ब्रह्मचर्य से प्राप्त करने योग्य है। इस मर्म को नहीं जानते हैं, और कथा प्रायः सब करते हैं। अतः कबीर साहब कहते हैं कि—"कहत सुनत जग जात है, विषय न सूझै काल। कबिर कहै रे प्राणियों, बानी ब्रह्म सँभाल ॥ १ ॥ अङ्ग की साखी" ॥ २४ ॥

भभ्भा भरम रहा भरि पूरी। भभरे ते है नियरे दूरी ॥
भभ्भा कहै सुनहु रे भाई। भभरे आवै भभरे जाई ॥२५॥

अकाशे भवने चात्र भ्रमणे भः प्रकीर्तितः।
संसारभवने देहे सर्वत्राकाशमण्डले ॥३१॥
गृहादिविषया भ्रान्तिः पूर्णा नित्यादिगोचरा ॥३२॥

भ्रान्त्यैव च समीपस्थाज्जीवो दूरे हि वर्तते ।
आत्मनोऽपि निजात्सोऽपि तस्माद् दूरतरः शिवः ॥३३॥
भ्रमणं च गृहं चैतद्वदतीव जनं मुहुः ।
भ्रातर्भ्रान्त्यैव सर्वेऽमी यान्त्यायान्ति च सर्वदा ॥३४॥
अन्धं तमो विशन्त्येते पुत्रदारादिमोहतः ।
अनित्ये चाशुचौ दुःखे रमन्ते न निजात्मनि ॥३५॥२५॥

उक्त मर्म के ज्ञान के बिना भम्मा (अकाश और भवन) में सर्वत्र भ्रम भरपूर (व्याप्त) हो रहा है (बाहर भीतर सर्वत्र विपरीत दृष्टि हो रही है) और भभरे (भ्रान्त होने) से, नियरे (पास) के नित्य मुक्त स्वरूप आत्मा दूर हो गया है तथा भम्भा (गृहदेहादि) के सत्यतादि के भ्रम ज्ञान संसार में भरपूर है । और इस भभरने से नियरे की वस्तु से जीव दूर हो गया है । अतः सबके भम्भा (भवन आश्रय ब्रह्म) स्वरूप ज्ञानी कहते हैं, हे भाई ! श्रवणादि करो, इसके विना ही भ्रम में पड़कर जीव आता जाता (जन्मता मरता) है । इत्यादि ॥ २५ ॥

मम्मा सेवे मर्म न पावै । हमरे सेवे मूल गमावै ॥
मम्मा कहै सुनहु रे भाई । मूल छोड़ि कसडारहिं जाई ॥२६॥

शिवे चन्द्रे च मः प्रोक्तो बन्धने च विधातरि ।
बन्धनात्मगृहादीनां शिवादीनां च कामतः ॥
सेवनात्सत् फलस्यात्र मर्म कोपि न विन्दते ॥३६॥
किन्तु तेषां ममत्वेन सेवनान्मूलमात्मनः ।
धनं लुम्पति येनात्र त्वनाथ इव धावति ॥३७॥
किम्वा सद्गुरुसेवातो जन्ममूलं विनश्यति ।
अज्ञानं तेन लभते धनं मूलं निजेप्सितम् ॥३८॥
शिवाद्याश्च वदन्त्येवं मूलं त्यक्त्वाऽत्र किं भवान् ।
यातिशाखासु सम्मोहाद् देवादिषु गृहादिषु ॥३९॥
"आत्माऽज्ञानादहो प्रीति र्विषये भ्रमगोचरे ।
शुक्तेरज्ञानतो लोभो यथा रजतविभ्रमे ॥४०॥
पञ्चाग्निवित्तथान्योऽपि गृहस्थान्यत्रयाश्रमी ।
पुण्यं कर्म विधायापि विशन्ति मोहगह्वरे ॥४१॥
देवभक्ताश्च तैर्लब्ध्वा परमैश्वर्यमत्र वै ।
कर्मिभ्योऽप्यधिकासक्ता जायन्तेऽनात्मविभ्रमे ॥४२॥२६॥

मम्मा (बन्धन) रूप गृहादि के सेवन सेसत्यात्मा मोक्ष के मर्म (ज्ञान) कोई नहीं पाता है, किन्तु हमरे (सद्गुरु) के सेवने से जन्मादि मूल कारण अज्ञान को गमाता (नष्ट करता) है। अथवा गृहादि को ये (हमारे मेरे) हैं, इस प्रकार ममतापूर्वक सेवने से जीव मूलतत्त्व को गमाता है (नहीं पाता है) अतः मम्मा (शिवस्वरूप गुरु) कहते हैं कि रे भाई ! सांसारिक ममता को त्याग कर आत्म श्रवणादि करो। मूल स्वरूप सर्वात्माईश्वर को छोड़ कर डार (कार्य) रूप गृहादि में क्यों जाते (आसक्त होते) हो, यह उचित नहीं है। "मर्म ज्ञान विनु भुवन में, भरम रहा भरपूर। भरमहि से जनमै मरै, निकट वस्तु ह्वै दूर ॥१॥ निकट वस्तु से दूर नर, सेवै बन्धनदानि। बन्धू धन भवनादि को, नहिं सेवै गुरु ज्ञानि ॥२॥ ताते मर्म न पावई, सत्य निजातम केर। अन्त चले सब छोड़ के, मूल तत्त्व नहिं हेर ॥ २ ॥२६॥

यय्या जगत रहा भरि पूरी। जगतहुँ ते हे यय्या दूरी ॥
यय्या कहै सुनहु रे भाई। हमरे सेवे जय जय पाई ॥२७॥

यशो यानं च वायुश्च त्यागो येनाऽत्र कथ्यते।
त्यागः परवशः पूर्णः संसारे विद्यते सदा ॥४३॥
विवेकेन तु यस्त्यागो जगतो दूरतो ह्यसौ ॥४४॥
एवं यशोऽपियानं च वायुश्च विदितं भुवि।
सत्यं यशश्च यानं च प्राणात्मास्ति तथा नहिं ॥३५॥
विवेकाज्जनितस्त्यागोऽभिधत्तेश्शृणु सज्जन ! ।
अस्माकं सेवया सत्यजयस्ते सर्वतो भवेत् ॥४६॥
सेवनात्सत्ययशसो र्यानात्सत्ये निजात्मनि।
प्राणप्राणस्य विज्ञानात्पुन र्जन्म न विद्यते ॥४७॥
सति सक्तोनरो याति सद्भावं ह्येकनिष्ठया।
कीटको भ्रमरं ध्यायन् भ्रमरत्वाय कल्पते ॥४८॥
"बाह्ये निरुद्धे मनसः प्रसन्नता मनः प्रसादे परमात्मदर्शनम्।
तस्मिन् सुदृष्टेभवबन्धनाशो बहिर्निरोधः पदवीविमुक्तेः" ॥४९॥२७॥

इति चौतीसीचर्चायां जीवसंसारादिवर्णनं नाम षष्ठ वाक्यम् ॥६॥

यय्या (त्याग) यद्यपि जगत् में भर पूर है, पर वश त्याग सब करते हैं। मृत्यु वश अन्त में सभी सब बन्धुधनादि को त्याग कर जाते हैं। तथापि विवेक वैराग्य पूर्वक सच्चा त्याग सब जगत् (संसारी) से दूर भी है। क्योंकि

न्यायार्जित अन्नादि का दान (सत् पात्र के प्रति अर्पण) रूप त्याग, विवेक पूर्वक अभयदान, ज्ञान दान, भिक्षाआदि का उचित रीति से दान, संसारी से दूर है। "त्याग तो ऐसा कीजिये, सब कुछ एक ही बार। सब प्रभु का मेरा नहीं, निश्चय किया विचार ॥१॥ तीसायन्त्र" इस प्रकार का त्याग कठिन है। परन्तु सच्चा यय्या (यश त्याग = यशस्वी त्यागी) कहते हैं कि, रे माई! आत्म श्रवणादि करो, और सच्चा त्याग करो, क्योंकि हमरे (सच्चे त्याग और त्यागी के) सेवने से ही सर्वत्र सदा जय जय पाया जाता है (सुगति कीर्ति मुक्ति अनायास मिलती है) "त्यजतैव हि तज्ज्ञेयं त्यक्तुस्तच्च परं पदम्" त्यागने वाले से वह ब्रह्म ज्ञेय है, और त्यागने वाले को वह परमपद (मोक्ष) होता है ॥ २७ ॥

अथ परमात्मविचार प्रदर्शन प्रकरण ७

रर्रा रारि रहा अरुझाई। राम कहत दुखदारिद जाई ॥
रर्रा कहै सुनहु रे भाई। सतगुरु पूछि के सेवहु जाई ॥२८॥

रामे तथाऽनिलेभूमौ धने चेन्द्रियरुक्षु च।
रशब्दः कथ्यते तेषु विग्रहो विद्यते महान् ॥१॥
रामेति कथना त्केचित् केचित्प्राणनिरोधनात्।
मोक्षं वदन्ति वादांश्च कुर्वते बहुधाऽबुधाः ॥२॥
भूमे र्धनस्य लब्ध्यर्थमिन्द्रियाणां च तृप्तये।
युद्धयन्ति बहुधा लोका व्यापरान् कुर्वते बहून् ॥३॥
रामेति कथनादेव दुःखं दारिद्र्यमेव च।
रुङ् नश्यतीति कथयन् प्रमादं कुरुतेजनः ॥४॥
अतो रामो गुरुः प्राह भोभ्रातः शृणुसादरम्!
सद्गुरुं परिपृच्छ्यैव रामं गत्वा सुसेवताम् ॥५॥
अनात्मचिन्तनं त्यक्त्वा कश्मलं दुःखकारणम्।
चिन्तयात्मानमानन्दरूपं यन्मुक्तिकारणम् ॥६॥२८॥

सत्य त्याग से रहित जीव, रर्रा (राम भूमि धन) के रारियों (झगडाओं द्वन्द्वों) में अरुझाय (फंस=बझ) रहे हैं। अतः न बन्धन रूप ममता को छोडते हैं, न सत्य राम के भजन विचारादि करते हैं। क्योंकि सच्चे त्याग के विवेकादि से रहित, और राम के संशय भ्रमादि से युक्त होकर, भूमि

धनादि के लिये परस्पर लड़ रहे हैं। इन्हों ने विश्वास किया है, तथा कहते हैं कि राम नामादि के कहने मात्र से सब दुःख दारिद्रय (दरिद्रता) चले जाते (नष्ट होते) हैं अतः त्याग विवेक विज्ञानादि व्यर्थ हैं, ये क्यों किये जायँ। परन्तु रर्रा (राम स्वरूप त्यागी ज्ञानी) कहते हैं कि रे भाई! राम के स्वरूप-प्रभावादि के श्रवण करो। और श्रवणादि के लिये सद्गुरु के शरण में जावो उनकी सेवा करो, फिर प्रणामादि श्रद्धादि पूर्वक पूछो (प्रश्न करो) तो ज्ञान की प्राप्ति से मोहादि की निवृत्ति दुःखादि की निवृत्ति होगी। बात से नाम-मात्र से नहीं। क्योंकि गीता कहती है कि "तद्विद्धि प्रणीपातेन परिप्रश्नेन सेवया। अ० ४। ३४" ॥ २८ ॥

लल्ला तुतरे बात जनाई। तुतरे तुतरे परिचय पाई॥
अपने तुतर और को कहई। एके खेत दोऊ निर्वहई॥२९॥

लो दीप्तौ द्यवि भूमौ च भये चाह्लादनेऽपि च।
दाने च साधने श्लेशे ह्याशये मानसे तथा॥
इन्द्रेविधातरि प्रोक्तः प्रलये सान्त्वनेऽपि च।
आत्मदीप्तिस्वरादीनां वार्ता सन्देहसंयुताम्।
अस्फुटां खल्वभासन्त लोहला गुरवोऽनृताम्॥८॥
तेनाऽन्येऽपि ततो बोधमव्यक्तं लेभिरे ननु।
प्रत्यक्षं स्वयमात्मानं साक्षिरूपं हि लेभिरे॥९॥
लोहलाल्लोहलः श्रुत्वा ज्ञानिमानी भवत्यथ।
लोहलान् वदतश्चान्यान् क्षेत्रासक्तौ स्वयं तु तौ॥१०॥
यद्वा स्वयं विमूढोऽपि ह्यन्यं किमपि भाषते।
गुरुंमन्यस्ततश्चोभावेकक्षेत्रनिवासिनौ।
क्षेत्रज्ञं नैव जानीतो देवः किं लक्षणो ह्यसौ॥११॥
विधाताऽप्यथवा वेदे ह्यव्यक्तं प्रोक्तवांस्ततः।
मन्दप्रज्ञा न वेदेन सम्यग् बोधादि लेभिरे॥१२॥२९॥

सद्गुरु से पूछने के लिये इस कारण से कहा जाता है कि जिससे सतगुरु-से अन्य लोगों ने, लल्ला (आत्मा राम, ईश्वर, स्वर्ग, सुख, ज्ञान और ज्ञान के साधनों) की बातों को तुतरे (अस्पष्ट) जनाई है। अर्थात् पूर्णात्म ज्ञानी से अन्य उपदेशकों ने अविवेक मय आत्मादिका उपदेश दिया है और देते हैं। अतः तुतरे (अस्पष्ट भाषियों) से उसके शिष्यों ने भी तुतरे (अस्पष्ट) परिचय (ज्ञान) पाया है। इस प्रकार से सद्गुरु के बिना जो अपने (आप) तुतर-

हैं, सो और (अन्य) को तुतर कहते हैं। सद्गुरु के बिना अपने दोषों को भी नहीं समझते हैं। अतः ज्ञान रहित गुरुशिष्य दोनों एक माया मायिक वस्तु शरीरादिरूप क्षेत्र में ही ममता अभिमान करके निर्वाह (स्थिति गुजारा) करते हैं। क्षेत्रज्ञ में स्थिति के बिना सत्यानन्द नहीं पाते हैं। क्योंकि "श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति। गीता. ४।।३९" श्रद्धालु गुरु सेवादि में तत्पर जीतेन्द्रिय मनुष्य ज्ञान पाकर शीघ्र सुख शान्ति पाता है अन्य नहीं। परन्तु "गुरु सेवा जन वन्दगी, हरि सुमीरण वैराग। ये चारो तबही मिले, पुरण होवै भाग ।।१।।२९।।

वव्वा वर वर करे सब कोई। वर वर किये काज नहिं होई ।।
वव्वा कहै सुनहु रे भाई। स्वर्ग पताल कि खबरि न पाई ।।३०।।

परमात्मनि च तद्भक्ते वशब्दः परिपठ्यते।
तयोः श्रैष्ठ्यं च सर्वेऽमी भाषन्ते मानवा भुवि ।।१३।।
तावता कार्यसिद्धि र्न कस्यापि जायते ततः।
भक्तो वदति चेशोपि भवद्भि र्ज्ञायते नहि ।।१४।।
परमात्मास्ति कुत्रेति स्वर्गे पाताल एव वा।
यावन्न ज्ञायते तावत्कथनात् किं भवेन्मुहुः ।।१५।।
विकल्प्य बहुधा वेशं तच्छ्रैष्ठ्यमपि मन्वते।
विवदन्तश्च भाषन्ते मतभेदैरनेकधा ।।१६।।
तेन कस्यापि कार्यस्य सिद्धिः क्वापि न जायते।
ब्रह्ममूर्तिर्गुरुस्तस्माच्छ्रवणायैतदुक्तवान् ।।१७।।
स्वर्गपातालयो र्दुःखं भवद्भिर्ज्ञायते नहि।
तेन तत्र सुखं मत्वा तत्रैवेशं च मन्वते ।।१८।।३०।।

इति चौंतीसीचर्चायां परमात्मविचारप्रदर्शनं नाम सप्तमं वाक्यम् ।।७।।

देहादि रूप क्षेत्र में आसक्त भो सब कोई, वव्वा (परमात्मा और परमात्म भक्त) को वर वर (बड़ा-बड़ा) कहते हैं। परन्तु बड़ा श्रेष्ठ पूज्यादि के कहने मात्र से कोई श्रेष्ठ कार्य (फल) सिद्ध नहीं होता है। अर्थात् अविद्या मोहादि की निवृत्ति वाचनिक ज्ञान से नहीं होती है। अतः वव्वा (परमात्म स्वरूप भक्त ज्ञानी) कहते हैं कि रे भाई! सद्गुरु से श्रवणादिक करो। इस श्रवणादि के बिना स्वर्ग पातालादि की सत्य खबरी (संदेश) तुमने नहीं पाई है कि परमात्मा कहाँ रहता है। अतः स्वर्ग पातालादि में परमात्मा को मान

कर, उसकी प्राप्ति के लिये सर्वत्र भ्रमता है, जिससे कष्ट ही पाता है, अब सद्गुरु से सर्वात्मा विभु परमात्मा को समझो कि जिससे प्राकृतिक स्वर्गादि के भ्रमण निवृत्त हो जाय ॥३०॥

अथ आनन्दप्रदर्शन प्रकरण ८

शश्शा सर देखै नहिं कोई। शर शीतलता एके होई॥
शश्शा कहै सुनहु रे भाई। शून्य समान चला जग जाई॥३१॥

शं श्रेयश्चसुखं शस्तु शान्ते शेषेऽथ सीम्नि च।
शान्तशेषसुखस्यैवं श्रेयसश्च सरः सदा।
प्रत्यक्षं विद्यते तन्न मूढाः पश्यन्ति केचन॥ १॥
आनन्दसिन्धुरानन्दस्त्वेक एवात्र विद्यते।
सुबोधेन तथा भाति दुर्बोधेन विभिद्यते॥ २॥
सीमभूतोऽस्य विश्वस्य वदति ज्ञानवान् ननु।
भ्रातः श्रृणु विना तेन जगद् याति हि शून्यवत्॥ ३ ॥३१॥

सुख सागर सुख रूप है, राम हृदय के माहिं।
तिहि जाने बिनु शून्य में, सुख खोजन जन जाहिं॥१॥

श्री सद्गुरु से समझे के बिना शश्शा (नित्यसुख श्रेयः) के सर (तालाब समुद्र) को कोई नहीं देखता है, कि जहाँ सर और शीतलता एक होते (भासते) हैं। अर्थात् जिस सुख सिन्धु के ज्ञान से, सुख मोक्ष = परमात्मा आत्मा की एकता का अनुभव होता है। अतः सुख मोक्षादि की इच्छा-निवृत्त हो जाती है। और उस ज्ञानादि से समूल कर्मादि मल नष्ट हो जाते हैं। अतः कहा गया है कि "नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते। श्री भ० गी० ४।३८" यहाँ ज्ञान के समान पवित्र अन्य नहीं है। अतः उस ज्ञान के लिये शश्शा (शान्त सुख स्वरूप ज्ञानी) कहते हैं कि रे भाई! सुखसागर के श्रवणादि करो। क्योंकि सुखसागर के श्रवण विचार ज्ञानादि के बिना सब संसारी शून्य (तुच्छ हीन) समान होकर चला जा रहा है तथा शून्य नामक आकाश में (स्वर्गादि में) सुख स्वामी आदि को खोजने के लिये, उसमें समाने (पैठने = घुसने) के लिये चला जा रहा है। अतः शून्य में गति आदि की निवृत्ति शान्ति मुक्ति के लिये श्रवणादि अवश्य करो॥३१॥

षष्षा षर पर करै सब कोई। षर षर किये काज नहिं होई॥
षष्षा कहै सुनहुं रे भाई। रामनाम ले जाहु पराई॥३२॥

षः श्रेष्ठे च परोक्षे च तथा गम्भीरलोचने।
श्रेष्ठत्वं स्वमतेष्वेवं परोक्षेषु च वस्तुषु ॥ ४ ॥
श्रेष्ठत्वं सम्प्रभाषन्ते सर्वे मोक्षो न तावता ॥ ५ ॥
विज्ञाश्च कथयन्त्यस्माद् भ्रातस्त्वं श्रवणं कुरु।
रामनामानमात्मानं गृहीत्वैभ्यो द्रुतं व्रज ॥ ६ ॥३२॥

इति चौंतीसीचर्चायां आनन्दात्मरामप्रदर्शनं नामाष्टमं वाक्यम् ॥८॥

श्रवणादि के अभाव से ही षष्षा (परोक्ष ईश्वर स्वर्गादि) को सब कोई षर षर (खराखरा = सत्य सत्य) कहते हैं। और अपरोक्ष आत्मा को समझने के लिये यत्न नहीं करते हैं। परन्तु आत्म ज्ञान के बिना परोक्ष को सत्य सत्य कहने से सुख की प्राप्ति मोक्षादि रूप कोई कार्य सिद्ध नहीं होता है, शान्ति नहीं मिलती है। अतः शश्‌शा (जीवन्मुक्त श्रेष्ठ ज्ञानी कहते हैं) कि रे भाई ! श्रवणादि करो, और अपरोक्ष नित्य मुक्त राम नाम वाले स्वरूप को हृदय में लेकर (समझ कर) मायाजाल संसार से पराय (भाग) जावो। असङ्ग आत्मनिष्ठ होवो। क्योंकि "यदा पञ्चावतीष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह। बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमां गतिम्। कठ० २।६।१०" जब मन सहित ज्ञानेन्द्रियाँ निर्विषय होकर आत्मनिष्ठ होती हैं। बुद्धि भी स्थिर हो जाती है तब उस अवस्था को परम गति कहते हैं ॥३२॥

अथ ईश्वरकोपादि प्रदर्शनोपसंहार प्रकरण ९

सस्सा सरा रचो बरियाई। शर बेधे सब लोग तबाई ॥
सस्सा के घर सुनगुन होई। इतनी बात न जानै कोई ॥३३॥

सः कोपे वरणे चैव परोक्षे शूलिनीश्वरे।
कोपाद्यात्मचिता तीव्रा कृता मूढविदग्धये।
ईश्वरेण च विश्वात्मा सुदीप्ता रचिता चिता ॥१॥
तत्राऽऽस्थाप्य जनान् कालो मनश्चैवेन्द्रियाणि च।
शोकादिलक्षणै र्बाणै विंद्ध्वैव तापयन्ति तान् ॥२॥
यत्किञ्चित् क्रियते लोकैस्तत्सर्वमीश्वराश्रमे।
श्रूयते तावदन्यो न कश्चिद् वेदितुमर्हति ॥३॥
एवं कोपगृहेस्वान्ते हीन्द्रियार्थस्यसंश्रुतौ।
मनोरथादिबाणैस्तन्मनोद्धियति देहिनम् ॥४॥

परोक्षस्याशयाऽप्येवं विद्धयन्ति केऽपि मानवान्।
अहो एतन्न पश्यन्ति मूढास्तु मन्वते हितम्॥ ५॥३३॥

जो कोई राम नाम लेकर भागने वाले नहीं हैं, उनके दाह के लिये सस्सा (ईश्वर) ने संसार = क्रोधादि रूप, बरियाई (प्रबल) चिता (सारा) रची है। कामादि रूप शत्रु उस सारा (चिता) में उन संसारी जीवों को शोकादि शरों से वेध कर तपाते (जलाते) हैं। सो मानो ईश्वर ही उनको तवाता-तपाता है। क्योंकि कर्म फलदाता ईश्वर ही हैं। जितनी बात व्यवहार कर्मादि का सुनगुन (श्रवण विचार) सस्सा (ईश्वर) के घर (सर्वहृदय) में होता है, उतनी बातों को अल्पज्ञ जीव जानता नहीं है, क्योंकि अन्तर्यामी ईश्वर सर्वज्ञता के कारण कर्मसाक्षी रूप से सबके हृदय में रहता है। अतः सब के धर्माऽधर्मादि को जानता है। और उसके अनुसार फल देता है। अल्पज्ञ भ्रान्त होने के कारण जीव प्रायः अधर्म करता है। अतः चिता से नहीं बचता है, किन्तु ईश्वर कामादि के वशवर्ती होकर कष्ट भोगता है, जन्म मरणादि पाता है। "ईश्वराधीनतो जन्तुः स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा। निजकर्मानुसारेण पुनरायाति याति वा ॥१॥ प्राणी अपने कर्मानुसार ईश्वराधीन स्वर्ग वा श्वभ्र (बिल = मेघ = आकाश) में बार बार आता जाता है ॥३३॥

हह्हा करत जीव सब जाई। हर्ष शोक सब माहिं समाई॥
हँकरि हँकरि सब बड़बड़ गयऊ। हह्हा मर्म न काहु पयऊ॥३४॥

हः कोपे वारणे हश्च तं कृत्वा जन्तवः स्वयम्।
चित्यां यान्त्यथ चिन्तायां वारणेऽपि कृते ननु॥ ६॥
अतो हर्षश्च शोकश्च सर्वेषु संविशत्यलम्।
द्वन्द्वमुक्ता न दृश्यन्ते नैव विज्ञानसंयुताः॥ ७॥
द्वन्द्वमोहाभिभूताश्च महान्तोपि जनाः सदा।
रुदित्वैव मुहु र्नष्टाः क्रुधो मर्म न चाविदुः॥ ८॥
"सापराधं हि हिंस्रं यः शपेत्कोपेन धार्मिकः।
विनाशः सापराधस्य धर्मो नष्टश्च धर्मिणः॥ ९॥
जयन्ति मुनयः केचित्पञ्चबाणं कथञ्चन।
तदीयं तनयं क्रोधं शक्ता जेतुं न तेऽपि हि॥१०॥
अश्ववारं यथा दुष्टो वाजी गर्ते निपातयेत्।
एवं क्रोधोऽपि नरके नरं विज्ञानवर्जितम्" ॥११॥३४॥

अन्तर्यामी सर्व साक्षी आदि के मर्म (भेद रहस्य ज्ञान) को नहीं जानने (नहीं पाने) से हहृहा (क्रोधादि) करते हुए जीव सब उक्त चिता में स्वयं जाते हैं। तथा सन्त गुरु आचार्यादि हहृहा (वारण) कर रहे हैं (पाप कर्म कुमार्ग से रोक रहे हैं) तो भी कामी अविवेकी जीव सब कुमार्गादि में ही जाते हैं। अतः हर्ष शोकादि द्वन्द्व सबमें समाता (प्रविष्ट होता है। फिर द्वन्द्वों से पीडित होने पर हंकर हंकर (रो रो) कर सब बड़े बड़े लोग भी गये, कि जो कोई हहृहा (वारण, निषेध) के मर्म को नहीं पाये (दुश्चरित्र कामादि को जो नहीं त्याग सके) अतः यह मर्म ज्ञातव्य है ॥३४॥

क्षक्षा क्षणमें सब मिटि जाई। क्षेत्र परे कहु को समुझाई॥
क्षेव परे काहु अन्त न पाया। कहहिं कबिर अगुमन गुहराया॥३५॥

इति श्रीसद्गुरुकबीरकृते विविधबन्धबीजविध्वंसने बीजक नाम्निग्रन्थे ज्ञानप्रदमष्टमंचौंतीसीप्रकरणं समाप्तम् ॥ ८ ॥

क्षः शब्दशासने क्षेत्रे क्षेत्रपाले च कथ्यते।
सर्वं नश्यति यत् क्षेत्रं क्षणादेव न संशयः ॥१२॥
कथ्यतां तत् त्वया साधो! सुविचार्य च दृश्यताम्।
मृत्युना छिद्यमानं सत् कुत्राविशति सत्वरम् ॥१३॥
क्वयाति क्षेत्रपालश्च छिन्ने ह्यस्मिन् कलेवरे।
अद्यैव ज्ञायतां चैतन्मृत्योः पश्चान्न कश्चन ॥१४॥
अस्यान्तमविदन्नैव क्षेत्रज्ञं लब्धवान् क्वचित्।
प्राज्ञाः प्रोचुस्तदाहूय प्राक्तना गुरवो हि ये ॥१५॥
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयो र्यावद्विवेको नाऽत्र जायते।
न तावन्मुच्यते कश्चिदपि चेद् वेदविद् भवेत् ॥१६॥
कर्मबीजस्य वापार्थं क्षेत्रं यद्धि कलेवरम्।
मृत्युना छिद्यमानं तत् प्रकृतावेव लीयते ॥१७॥
आत्माक्षेत्रज्ञइत्युक्तः कूटस्थो दोषवर्जितः।
अविनाश्यप्रमेयश्च साक्ष्यसङ्गोपि चिद्वपुः ॥१८॥
तस्याऽऽभासाविवेकाभ्यां प्रकृतिः सर्वकारिणी।
धारिणी हारिणी चैव ह्यध्यासात्सर्वमात्मनि ॥१९॥
यावन्निजात्माऽनुभवो भवेन्नहि तावत्प्रकृत्याखलु जायतेऽखिलम्।
सा क्षेत्ररूपा प्रतनोति संततिं क्षेत्रस्य देवोऽपि तयैव कारकः ॥२०॥

भक्त्या विशुद्धो गतरागरोषो विविक्ततत्त्वे स्थिरमानसश्च।
क्षेत्रं समूलं प्रविलूय धीरो जीवन् विमुक्तः पुनरेव मोक्ता ॥२१॥
द्विधाऽत्र माया परिकथ्यते या भवत्यविद्याऽथ परा च विद्या।
विद्या ह्यविद्यां प्रविलूय तूर्णं वह्निर्यथा नश्यति सा स्वयं च ॥२२॥
तूलेति मूलेति विभेदतोऽपि व्यष्ट्यादिभेदेन पुनर्द्विधा सा।
आद्या प्रनष्टा भवति प्रबोधात् तिष्ठेद् द्वितीया ननु बाधितापि ॥२३॥
आद्यानिवृत्तावपि सैव देहं यावद्विदेहं धरते बुधानाम्।
प्रारब्धकर्मानुमतौ स्थिता वै नान्ते पुनः कर्तुमसौ समर्था ॥२४॥
यावन्न बोधो हि परात्मनः स्यात्तावत्प्रसूते धरते च सङ्गान्।
ज्ञानेन दग्धे तदबोधसङ्गे नैव प्रसूते खलु सा कदाचित् ॥२५॥
प्राणान् मनो नैव जहाति तावद् यावन्न बोधं लभतेऽतिशुद्धम्।
धृत्वैव चैनाननु धावते तत्सर्वासु योनिष्वपि संकटेषु ॥२६॥
लब्ध्वा च बोधं खलु तान् विहाय तूर्णं विलीनं निजबोधरूपे।
नैवाश्रयेत्तान् हि ततश्च ते स्वे स्वयं विशीर्णं विलयं व्रजन्ति ॥२७॥
इत्थं यतः स्वात्मनिबोधतः स्यान्नित्यो विमुक्तो निजसौख्यरूपः।
सर्वं परित्यज्य विवेकमार्गात्तस्माद्गुरुः सर्वमिदं जगाद ॥२८॥

चौंतीस्याः खल्वियं चर्चा चर्या चारुविधायिनी।
चर्विता साधुभिश्चित्ते चैतन्यरसवर्द्धिनी ॥२९॥
चन्द्रकान्तसमा चेयं ज्ञानचन्द्रसमाश्रयात्।
ब्रह्मानन्दरसै र्नित्यं पुनात्वेव हि सज्जनान् ॥३०॥३५॥

इति चौंतीसीचर्चायां कोपक्षेत्रज्ञादिप्रदर्शनं नाम नवमं वाक्यम् ॥ ९ ॥

समाप्तेयं चौंतीसीचर्चा ॥

उक्त मर्म ज्ञानादि के बिना बार बार जीव के भोगाश्रय शरीर होते हैं, सब क्षद्दश्ना क्षण में मिट जाते हैं। अतः यह वर्तमान शरीर भी क्षण भंगुर है। तहाँ यदि मर्म ज्ञानादि को शीघ्र नहीं प्राप्त किया गया, आलस्य प्रमाद किये गये, तो कहो कि च्चेव (मृत्यु के तरवार की धार) के इस शरीर के ऊपर पड़ने पर (मृत्यु काल में तथा मृत्यु के बाद में) किसको कौन क्या समुझावेगा, अर्थात् इस मानव देह के अभाव से पशु आदि देह में कोई किसी को कुछ समझा नहीं सकता है। अतः च्चेव परने पर (मानव देह के नष्ट होने पर) इस संसारके अन्त को किसी ने नहीं पाया। जीवन्मुक्ति के बिना लोकान्तर

में जाने आदि से भी सद्गुरु आदि के अभाव से जीवन्मुक्ति के बिना विदेह मुक्ति किसी ने नहीं पाई । श्रीकबीर साहब कहते हैं कि इस अर्थ को अगुमन, (अगुअन) प्रथम के गुरुमहात्मा अग्रगामी नेता आचार्यों ने गुहराया (पुकार कर कहा) है । जीवन्मुक्तिपूर्वक विदेहमुक्ति कहा है कि "विमुक्तश्च विमुच्यते । कठ० २।६।१। अत्र ब्रह्म समश्नुते ।२।६।११" जीवन्मुक्त फिर विदेह मुक्त होता है । ज्ञानी यहाँ ही ब्रह्म को प्राप्त करता है । अतः कहा गया है कि "जियत आपु लखु जियत ठौर करु । २ । ६५" "जियत न तरेहु मुये का तरिहौ । शब्द ११०" इत्यादि । "छेव परे कहु को समुझाई । इसके स्थान में "छेव परे कहु कहाँ समाई" ऐसा पाठ भेद है, उसके अनुसार संस्कृत व्याख्या है ।

ओङ्कारार्थः परं ब्रह्म सुखं सर्वात्मकं विभु ।
अक्षराणां विचारेण तल्लब्ध्वामोदते सुधी ॥१॥ ॥३५॥

इति श्री सद्गुरु कबीर साहब कृत बीजक का श्रीस्वामी हनुमानदास जी साहब षट्शास्त्रीविरचित स्वल्पक्षराहिन्दीव्याख्या आठवाँ ज्ञानचौंतीसा प्रकरण समाप्त ॥८॥

❀ ओम् राम ❀

-: श्रीसद्गुरु :-

कबीर साहब कृत बीजक

[स्वानुभूतिसंस्कृतस्वल्पाक्षराहिन्दीव्याख्यासहित]

❀ अथ नवम बेलि प्रकरण ❀

मोहान्धकूपात्परिवारयन्तस्त्वं जागृहि प्रापत मा रटन्तः।
मा हिंधि माऽमार्गगतो व्रजत्वं ये वै सदा तान् प्रणमामि शुद्धान्॥ १॥
लब्धव्यो यो हि देवो निगमनिकुरम्बं विमृशता।
प्राप्तव्यं यच्च सौख्यं निगमविहितैः कर्मनिवहैः॥ २॥
यत्सांख्यैर्यच्चयोगैः स्थितिमितिहितं शेषविधिभिः।
तत्सर्वं यस्य भक्त्या हि सुलभतरं तं भज मनः॥ ३॥

बेलि १

हंसा सरवर शरिर में हो रमैयाराम।
जागत चोर घर मूसल हो रमैयाराम॥
जो जागल सो भागल हो रमैयाराम।
सुतल से गेल विगोय हो रमैयाराम॥
आजु बसेड़ा नियरे हो रमैयाराम।
काल्हु बसेड़वा (बड़ि) दूर हो रमैयाराम॥
परेहु विराने देश (वा) हो रमैयाराम।
नयन मरहु गे दूरि हो रमैया राम॥

सरोवरे शरीरे स्वे रममाणोऽत्र कामतः।
संसुप्तो मोहतश्चैव धावमानश्च लोभतः॥ १॥
हंस! जागृहि तूर्णं त्वं मोहनिद्रां परित्यज।
कामादिलक्षणाश्चौरा मुष्णन्ति मन्दिरं तव॥ २॥

संसारिभवनाच्चैते हरन्ति धनमुत्तमम् ।
सुखशान्त्यादि रूपं वै व्यवहारेऽपि जाग्रतः ॥ ३ ॥
अजाग्रन् ये विवेकेन ते गृहीत्वा स्वकं धनम् ।
पलायन्तैव चौरेभ्यः प्राप्ताश्च नित्यमुक्तताम् ॥ ४ ॥
अशेरत तु ये मोहादासक्ताश्चसरोवरे ।
स्वसर्वस्वं विनाश्यैते क गतास्तन्न विद्महे ॥ ५ ॥
मोक्षाख्याद् भवनाद्राज्यादद्यत्वे निकटे स्थितिः ।
वर्तते मानवे देहे पश्चाद् दूरे भविष्यति ॥ ६ ॥
कुत्सिता च स्थितिस्तत्र भविता तिर्यगादिषु ।
देवत्वेऽपि न सुलभो मोक्षो बोधो भवेदतः ॥ ७ ॥
अस्वतन्त्रोऽन्यदेशेषु यथा कश्चिद् वसेत्तथा ।
अवात्सीस्त्वं च भूयोऽपि वस्ताविज्ञानमन्तरा ॥ ८ ॥
तत्र च ज्ञानविज्ञाननेत्राभ्यां दूरतः स्थितः ।
त्वं मृतोऽसि तथा मर्ता शान्ति लब्धा न कुत्रचित् ॥ ९ ॥
स्वदेशादात्मनोऽन्यत्र स्थितोऽसि च यतः सदा ।
ततो नेत्रै र्विहीनः सन् मरिष्यसि विरुद्य च ॥१०॥

पूर्व प्रकरण के अन्त में मानवतन के मिटने पर ज्ञान की कथा के श्रवणादि की दुर्लभता कही गई है, इस मानव देह में भी मोहादि को त्यागने ही पर शरीरासक्ति अभिमानादि रहित को कुशल होता है, अन्य को नहीं। अतः उपदेश है कि इस मानव देहरूप सरोवर में रमैया (रमने वाले) राम स्वरूप हे हंसा (जीव !) तुम जागत (जागो) इस शरीर में रमणरूप मोह नीन्द को त्यागो। मोहादि को त्यागे बिना जाग्रदवस्था में तुम्हे जागते रहने पर भी कामादिरूप चोर तेरे घर (हृदय) के धन विवेक सुख शान्ति आदि को मूस (चोरा) लिये हैं। तहाँ जो कोई जागा (देहासक्ति अभिमानादि को त्यागा) सो भागा (वाह्य वस्तु के कामादि से रहित हुआ) विवेकादियुक्त मनुष्य सुख शान्ति को पाया। जो सोया रह गया, मरणपर्यन्त मोहादि को नहीं त्यागा, सो शमदमादिरूप सम्पत्ति को विगोय (गमाय) कर, चोरों से लुटवा कर गया। अतः अभी जागो, क्योंकि आजु (इस मानवावस्था में) सब सम्पत्ति मोक्ष स्थान के नियरे (पास) में तेरा बसेड़ा (स्थिति निवास) है, और काल्ह (इसके अगले दिन अन्य देहों में) बसेड़ा दूर हो जायगा। और सम्पत्ति आदि से दूर (रहित) होने के कारण मानो तुम प्रथम भी

विराने (अन्य) के देश में पड़ चुके हो, अस्वतन्त्र रह चुके हो, यम लोकादि में यमयातनादि सह चुके हो। जागे बिना नयन से दूर (रहित) होकर फिर मरोगे, तो विवेकादि नेत्र रहित की फिर भी वही दशा होगी। अतः जागो, श्रुति कहती है कि "उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत। कठ.१।३।१४" ज्ञान के लिये उद्यम करो, अज्ञान मोह रूप नीन्द को त्यागो, और ज्ञानी गुरुवर को प्राप्त करके उनके उपदेश से सत्यात्मा को समझो।

त्रास मथन दधि (मथन) कीयो हो रमैयाराम।
भवन मथेउ भरपूर हो रमैयाराम॥
फिरि (के) हंसा पाहुन भयल हो रमैयाराम।
बेधिन्ह पद निर्वाण हो रमैयाराम॥
तुम हंसा मन मानिक हो रमैयाराम।
हटलो न मानहु मोर हो रमैयाराम॥
जस रे कियहु तस पायहु हो रमैयाराम।
हमर दोष जनि देहु हो रमैयाराम॥

त्रासश्च दधिवत्त्वां वै न्यमथ्नाच्च मथिष्यति।
भवनान्यपि ते सैव न्यमथ्नादधिकं सदा॥११॥
शरीरे मथितेऽत्यन्तं हंसो गन्ताऽभवत् पुनः।
भवितातिथिवत्तस्मान्निर्वाणमप्यनाशयत् ॥१२॥
मनसोऽस्यनुगन्ता त्वं विवेकविकलस्य च।
अतो मे वारणं नैवामन्यथा वै कुमार्गतः॥१३॥
यथाकृतं त्वया कर्म फलं प्राप्तं च तादृशम्।
पुनः कर्मानुसारेण प्राप्स्यते हि फलं सदा॥१४॥
ईश्वरेभ्यो गुरुभ्यो वा दोषा देया नहि त्वया।
तेषां दोषस्य चोक्तौ ते दोषो वृद्धिं गमिष्यति॥१५॥

नयन (विवेकादि) रहित तुम को त्रास (भय) ने दधि के समान अनेकों बार मथन किया है। तेरे भवनों (देहों) को भी भरपूर (अत्यन्त खूब) मथा है। फिर हे हंसा ! उस भय और कष्ट की अवस्था में ही मानव शरीर से तुम पाहुन के समान वियुक्त हुए हो और होते हो। अतः उस अन्त अवस्था में भी निर्वाणपद (मोक्ष) के लिये कुछ नहीं कर सकने से, तुम सबने निर्वाणपद

का बेधन (नाश) किया है। अभयादि मोक्षप्रद दैवी सम्पत्तियों को प्राप्त नहीं किया है। हे हंसा जागने आदि के बिना तुम मनमानिक हो। विवेकादि रहित मन के कहने में हो, गुरु सत शास्त्र के कहने में नहीं हो। अतः मोर हटल (सद्गुरु के निवारण) को तुम नहीं मानते हो (निषिद्ध हिंसा चौर्यादि से निवृत्त नहीं होते हो)। अतः जैसा शुभाशुभ कर्मादि किये हो, तैसा ही फल पाये हो, और पावोगे। तहाँ किसी कष्ट दशा के आने पर हमर (ईश्वर गुरु कालादि) को दोष नहीं देना, धैर्य से भोगना, इतना उपदेश भी मानो तो कुछ कल्याण होगा।

अगम काटि गम कियेहु हो रमैयाराम।
सहज कियेहु व्यापार हो रमैयाराम॥
राम नाम धन वणिज किय हो रमैयाराम।
लादेहु वस्तु अमोल हो रमैयाराम॥
पाँच लदनु (आँ) लादि चले हो रमैयाराम।
नव बहियाँ दश गोण हो रमैयाराम॥
पाँच लदनुआँ हारे हो रमैयाराम।
खाँखर डारिन फोरि हो रमैयाराम॥

अगम्यवनवत्कष्टं छित्त्वैव यातनामयम्।
संसारं कृतवान् गम्यं मनुष्यत्वे कथञ्चन॥१६॥
अहो तत्रापि मोहेन व्यापारं कृतवान् भवान्।
तुच्छं स्वभावजं नित्यं नैव जातु विवेकजम्॥१७॥
रामनाम्नो धनस्याथ वाणिज्यं कृतवांस्तथा।
आरोपितममूल्यं च स्वयमेव धनं हृदि॥१८॥
अगोचरं हि यत्तत्त्वं सुखं चैवाव्ययं सदा।
नाममात्रेण तत्प्राप्तिं मुक्तिं चेच्छति वै भवान्॥१९॥
व्यापारे भवतश्चात्र सन्ति भार सहा वृषाः।
पञ्चतत्त्वानि ते कर्मभारमादाय यन्ति हि॥२०॥
अन्तः करणसङ्घाश्च प्राणाश्च सङ्गिनो नव।
दशेन्द्रियाणिपात्राणि गोणाख्यानि भवन्ति च॥२१॥

मोक्षतत्त्वं नचास्तीत्थं यत्स्यादिन्द्रिय गोचरः ।
मन्यते तु भवानेवं तथाप्यत्र विमोहतः ॥२२॥
तत्त्वानि च यदा देहे जरारोगादिपीडनात् ।
शिथिलानि भवन्त्यङ्ग ! तदा ते सम्मतं सुखम् ।
निःसारं नाशयन्त्येव शरीरं च कुपात्रवत् ॥२३॥

अगम्य बन तुल्य यातनादि कष्टमय = नरकादि पशुआदि अवस्था रूप संसार को काट (भोग) कर, तुमने मानवावस्था में गम (प्रकाशमय गमन योग्य मार्ग रूप) किया है । परन्तु यहाँ भी मोह अज्ञान से तुमने सहज (स्वभाव सिद्ध) आहार निद्रा मैथुनादि का ही व्यापार किये हो । अभय जागृति ब्रह्मचर्यादि का व्यापार नहीं करते हो । और जो कोई गुरु के हटा (निवारण) को नहीं मानकर, रामनाम धन का बाणिज (व्यापार) किया है । और अमूल्य वस्तु को लादा है (केवल रामनामादि से स्वर्ग मोक्षादि को प्राप्त ही समझा है) उस अमूल्य धन को पांच लदनु (पाँच भौतिक देह रूप बैल) पर लादकर चला है (नाम जपादि से लोक परलोक में शारीरिक सुख सम्पत्ति स्वास्थ्य सामर्थ्यादि को ही मोक्षादि समझा है) इस व्यापार से चार अन्तःकरण पाँच प्राण, इन नवों को बहिया = व्यापार वाहक साथी बनाया है तथा दशेन्द्रियों को गौण (बौरा) बनाया है। अर्थात् इनसे प्राप्त करने योग्य इनके विषय सुख साधनादि को स्वर्ग मोक्ष समझता है । परन्तु जब पाँच लदनुहारे (वृद्धादि अवस्था युक्त देह हुई) तब उनके खाँखर (तुच्छ सुख सम्पत्ति को देह रूप पात्र को) वे पाँच भूत ही फोर दिये (सब भूत बिखर गये) कि जिससे सुखादि सहित शरीर नष्ट हो गया ।

शिर धुनि हंसा उड़ि चले हो रमैयाराम ।
सरवर मीत जोहार हो रमैयाराम ॥
आगि जो लागि सरवर (में) हो रमैयाराम ।
सरवर जरि भेल धूरि हो रमैयाराम ॥
कहहिं कबीर सुन सन्तो हो रमैयाराम ।
परखि लेहु खरा खोंट हो रमैयाराम ॥१॥

निःसारं हि शरीरादि यदा तानि व्यनाशयन् ।
शिरो विधूय संताड्य हंसोप्युड्डीय चागमत् ॥२४॥

तस्मिन् कालेऽपि मित्रं स नमस्कृत्य सरोऽगमत् ।
आसक्त्या वा पुनश्चान्यत्सरसोऽन्वेषणाय वै ॥२५॥
त्यक्ते सरसि तस्मिंश्चालगदग्निस्ततस्तु तत् ।
दग्धं सदभवद् धूलि जीवोऽन्यत्र समाविशत् ॥२६॥
विना ज्ञानं न मोक्षोऽभूद्नाम्ना व्यापारतोऽथवा ।
सद्गुरुरेवमाहातः साधो ! त्वं श्रवणं कुरु ॥२७॥
मननादि विधायैवं सत्यानृत विवेकतः ।
जानीहि त्वनुभूत्याऽत्रसत्यमेवामृतं परम् ॥२८॥
अज्ञान विषयाद् यस्माज्जन्मादिभयमापतेत् ।
सम्यग् ज्ञानाच्च तस्यैव भयं सर्वं विलीयते ॥२९॥
अग्निं मत्वा मणिं दूरात्तत्संस्पर्शाद्विभेति यः ।
स तं चिन्तामणिंबुद्ध्वास्कन्धेऽर्पित्वा विराजते ॥३०॥
एवमीशं पृथङ्मत्वा यो विभेत्यस्य शासनात् ।
स तं सौख्याकरं बुद्ध्वा स्वात्मानं तेन राजते ॥३१॥
विमलदृशाभवभावगणे विचरति मोहगणैर्विगतः ।
तिमिरमुदस्य विधूय मलं हरिमलमत्रमुदा लभते ॥३२॥१॥

जिसमें सुख शान्ति की आशा से जीव आसक्त था, उसके नष्ट होने पर, वह दुःखी हंस (जीव) शिर धुन कर सूक्ष्म शरीर सहित उड चला, और चलता है। परन्तु अन्त समय तक मोह ममता आदि के नहीं निवृत्त होने से, उस देह को मित्र भाव से जोहार (प्रणाम) करके चलता है तथा अन्य नूतन सरवर मित्र के जोहार (जोह खोज) में चलता है। तथा प्रथम का जो सरवर मित्र रहता है, उसे व्यर्थ ही हार (गमा) कर चलता है। फिर जो सरवर (देह) में अग्नि लगी, उससे देह जर कर धूलि हो गई, और होती है। अतः जागने के बिना मानव तन से भी सत्यफल नहीं मिला न मिलता है। अतएव श्री कबीर साहब कहते हैं कि हे सन्तो ! सद्गुरु से श्रवणादि करो कि जिससे जाग्रति हो और मोहादि का नाश हो, जागकर खरा खोट (सत्य मिथ्या आत्मा अनात्मा) को विवेकपूर्वक परख लो, जान लो) कि जिससे अज्ञान की निवृत्ति से मोक्ष हो, इत्यादि ॥ १ ॥

बेलि २

भल सुमिरण जहडायहु हो रमैयाराम ।
धोख कियहु विश्वास हो रमैयाराम ॥

ई तो है बन सीकत हो रमैयाराम।
सीरा कियो विश्वास हो रमैयाराम॥
ई (तो) है बेद भागवत हो रमैयाराम।
गुरु मोहि दीहल थापि हो रमैयाराम॥
गोबर कोट उठायहु हो रमैयाराम।
परि हरि फेंकहु खेते हो रमैयाराम॥

संसारेस्वशरीरे वा रममाणेन कामतः।
सद्विचारस्त्वया त्यक्तोऽभिभूतश्च विवेकवान्॥३३॥
सुस्मृते विषयश्चात्मा सत्यो न चिन्तितस्त्वया।
किन्तु मिथ्या कुमार्गादौ विश्वासो वञ्चके कृतः॥३४॥
संसारवनमध्ये ये विषया वालुका इमे।
विरसा घातुकाश्चैव प्राणिनां बन्धनप्रदाः॥३५॥
वडिसादिसमास्तीक्ष्णास्तत्रभोग्यत्वबुद्धितः।
महत्त्वं सरसत्वं च मोहतः कल्पितं त्वया॥३६॥
कस्मिंश्चिदर्थवादादौ कुस्मृतौ कल्पितं त्वया।
अयं वै भगवान् वेदो ह्यास्ते भागवतं त्विदम्॥३७॥
गुरुभि र्मे विमोक्षाय स्थापितः सेतुरद्भुतः।
अनेनैव भवाम्बोधेः पारं यास्यामि निर्वृतः॥३८॥
तत्रोक्तं निश्चयं कृत्वा प्राकारो गोमयस्य च।
कृतो वै भूत सङ्घस्य देहलोकमयश्चलः॥३९॥
अनेन न कदाप्यङ्ग! कामाद्यरिपराजयः।
भवितेति सुनिश्चित्य क्षेत्रेषु क्षिप्यतां हि तम्॥४०॥
आत्मतां सत्यतां त्यक्त्वा तत्रासत्यधियं कुरु।
क्षेत्रज्ञं च ततो भिन्नं विद्धि देवं निरञ्जनम्॥४१॥

हे रमैया राम उक्त खरा खोट (सत्य मिथ्या = साधु असाधु) के पारख (ज्ञान विवेक) के बिना तुमने भल सुमिरण को (भले स्मरण = विचार वाले को, तथा भले के स्मरण को, भले स्मरण रूप धर्म शास्त्रों को) जहड़ाया (धोखे में डाल, ठगा, तंग हैरान किया, त्यागा) और धोखे में (मिथ्या वचनादि में तुच्छ विषयों में) सुख प्रदत्वादि का विश्वास किया। परन्तु इतो (संसार विषयादि तो) बन से सीकता (बालू) तुल्य निरस

निरानन्द हैं। "रसो वै सः । तैत्तिरीयोप. अ. २ । ७" रस (आनन्द) रूप तो वह ब्रह्मात्मा है कि जिसके स्मरण को तुमने त्यागा है। और इस सीकता में तुमने सीरा (महान् भोग हलुआ) पन का विश्वास किया है। इसी प्रकार किसी के सीकता तुल्य वचन में विश्वास किया है, यही वेद और भागवत है पूर्व के गुरु जनों ने मेरे लिये इसकी स्थापना की है। अथवा श्री कबीर साहब कहते हैं कि जो मैं यह कह रहा हूँ कि जागो, विवेक करो, आत्मा आनन्दस्वरूप है, विषयादि आनन्द शून्य निरस हैं, यही तो वेद, भागवत का भी उपदेश है, और गुरु ने मेरे लिये ये ही थापि दिया (निश्चय कराया) है मेरे लिये इस अर्थ का प्रतिपादन किया है। इस उपदेश के ज्ञान के बिना, तथा मिथ्या विश्वास से तुमने गोवर का कोट उठाया है (मल मूत्रादिमय देह का अभिमान किया है)। मिथ्या अपवित्र विषयादि को अपना रक्षक मान कर उनका संग्रह किया है, परन्तु इनसे कामादि के विजय को नहीं पा सकते हो। अतः इनके अभिमान संग संग्रहादि को त्यागो, इनके सङ्गादि को परि हरि (सर्वथा न्याग कर) इन्हें प्रकृति (माया) रूप खेत (क्षेत्र) में फेक दो (इनको माया मात्र मिथ्या समझ लो) फिर इनके सङ्गादि से रहित आत्मा को समझो इत्यादि।

बुधि बल जहाँ न पहुँचे हो रमैयाराम।
तहवाँ खोज कस होय हो रमैयाराम॥
सो सुनि मन धीरज भयल हो रमैयाराम।
मन बढि रहल लजाये हो रमैयाराम॥
फिरि पाछे जनि हेरहु हो रमैयाराम।
काल भूत सब आहीं हो रमैयाराम॥
कहहिं कबिर सुनु सन्तो हो रमैयाराम।
मति ढीगहु फैलाये हो रमैयाराम॥२॥

इति श्रीसद्गुरुकबीरकृते विविधबन्धबीजविध्वंसने बीजकनाम्नि ग्रन्थे मायानिवृत्तिसम्पादकं दशमं बेलिप्रकरणं समाप्तम्॥ १०॥

यत्र बुद्धे र्बलं नैव याति देवे निजात्मनि।
तस्याऽप्यन्वेषणं केन प्रकारेण भवेत्प्रभोः॥४२॥

इत्येवं सद्गुरुं पृच्छ श्रद्धाभक्त्यादि संयुतः ।
तस्योपदेशतस्ते स्याच्छान्ति धैर्यं निरन्तरम् ॥४३॥
तस्यैव चोपदेशेन हृदयेष्वभवत् स्थिरम् ।
धैर्यं पूर्वं मुमुक्षूणां गर्वी च लज्जितोऽभवत् ॥४४॥
लज्जितेव मनोवृद्धिः संकोचं चागमत्ततः ।
सुबुद्धेः सुप्रकाशेन जीवन्मुक्तिरवर्तत ॥४५॥
उपदेशं गुरोः श्रुत्वा पश्चाद् भूयो न पश्यतु ।
किन्तु भूमिषु चोर्ध्वासु सावधानेन धावताम् ॥४६॥
आत्मनो ये ह्यधोलोकाः पश्चाच्च वर्तते जगत् ।
कालभूतं हि तत्सर्वं दुःख द्वन्द्वादिकारणम् ॥४७॥
अतः साधो ! कुरुष्व त्वं श्रवणं च मतिं स्वकाम् ।
निकटे स्वात्मतत्त्वेऽत्र विस्तारय न कुत्रचित् ॥४८॥

आविद्यो बन्धकक्षो विरमति सुगुरो र्वाक्यजाद् बोधवह्नेः ।
वैराग्याद्यैः सुदीप्ताच्छमदमनिरतै र्योगभक्त्यादिलब्धात् ॥४९॥
नैवायं कर्मजातै र्विरमति सदनुष्ठानहेत्वादिसिद्धैः ।
एवं निश्चित्य धीमान् गुरुवरचरणं सेवमानो यतेत ॥५०॥

(वेल्या) वल्ल्या विलासममलं मधुरं निरीक्ष्य,
निगृह्यमानसमलं ममतां विहाय ।
आहृत्य लोककलनाच्चलनाच्च चित्तं,
लोका विशन्तु निकटे परमात्मधाम्नि ॥५१॥
दीव्यतं बालवज्जीवं दिव्यभोगादिवाञ्छया ।
अजस्रं वारकं वन्दे कबीरं करुणामयम् ॥५२॥२॥

इति वेलिविलासाख्या व्याख्या समाप्ता ।

उक्त विषयादि को मायामात्र मिथ्या समझने पर भी श्री सद्गुरु आदि के बिना जहाँ (जिस) आनन्द स्वरूप में अपनी बुद्धि का बल नहीं पहुँच सकता है, तहवाँ (उस निर्गुण ब्रह्मात्मा में) भी खोज विचारादि स्मरण (ध्यानादि) कैसे होते हैं (वहाँ भी बुद्धि बल कैसे पहुँचता है) । सो सद्गुरु के शरण में जाकर उनसे पूछो, वहाँ पहुँचने के खोज (मार्ग) को उनसे समझो । क्योंकि सद्गुरु से सो (मार्ग) सुन करके ही प्रथम के जिज्ञासुओं के मन में धैर्य हुआ है, और मन बढ़ि (मनोवृद्धि) श्रवणादि से मानो लज्जित होकर

रह गई (रुक गई) है । अर्थात् आत्मश्रवणादि से मन का विस्तार नष्ट हुआ है, और होता है । परन्तु तुम श्रवण करके ज्ञान की आगे की भूमिकाओं में मननादि में बढ़ो (चलो) फिरि (लौटकर या पुनः) पाछे (पीछे) संसार के तरफ, जनि (नहीं) हेरो (देखो) क्योंकि संसार की सब वस्तु कालभूत (काल स्वरूप = दुःखद) हैं (काल से ग्रसित विनश्वर हैं) फिर भी श्री कबीर साहब कहते हैं कि हे सन्तो ! विवेकादि के लिये श्रवणादि करो, और श्रवण करके अपनी मति (बुद्धि) को ढिगहु (पासहु) में फैलाये रहो । अर्थात् विभु सर्वात्मा को समझने पर भी मन, बुद्धि आदि के साक्षी को भी विचारते-समझते रहो तथा मायाजाल में फैलाये हुए मन इन्द्रि-को मायाजाल में ही मति (नहीं) ढिगहु (त्यागो) । किन्तु मायाजाल से निरुद्ध करके आत्मनिष्ठ अन्तर्मुख अवश्य करो ।

"बिनु विवेक होवत सदा, कुगति कुबुद्धि अनेक ।
ताते गुरु उपदेश सुनि, करि विवेक गहु एक ॥ १ ॥
माया बेलि कुकेलि से, मोह द्रोह से पार ।
जो सद्गुरु तिहि चरण रज, हनूमान शिर धार ॥ २ ॥२॥

इति श्रीसद्गुरुकबीरसाहबकृत बीजक का स्वामीश्रीहनुमान
दासजी साहब षट्शास्त्री विरचित स्वल्पाक्षराहिन्दी
व्याख्या नवम बेलि प्रकरण समाप्त ॥ ९ ॥

* ओम् राम *

—: श्रीसद्गुरु :—

कबीर साहब कृत बीजक

[स्वानुभूतिसंस्कृतस्वल्पाक्षराहिन्दीव्याख्यासहित]

अथ दशम बिरहुली प्रकरण

तत्त्वज्ञानं विना ये स्वजनिमृतिमुखं मन्यमानाश्च दीनाः,
सत्यानन्दाऽद्वितीयस्वपतिविरहजे दुःख सिन्धौ निमग्नाः।
मोहाख्यैश्चातितीव्रै र्विषयविषधरैस्तद्विषै र्व्याप्तचित्ता,
स्तेषां दैन्यादिहत्यै गुरुवरवचनं मन्त्ररूपं प्रवृत्तम् ॥ १ ॥
विरहिणं प्रतिबोधनदक्ष हे विरहसर्प निवारणरक्षक।
विषयसर्पसुदष्टसुदुःखिनं गरुडमन्त्रबलेन सुशिक्षय ॥ २ ॥
कुरु दयां करुणार्णव मां प्रति प्रतिपलं विषमं विषमश्नुते।
नहि विराग सुयोगशमादयो हृदि लसन्ति वसन्ति न धर्मकाः ॥ ३ ॥
तनु धनादि जनादि न मे प्रभो भयनिवारणकारणमस्ति चेत्।
न वनिता न सुतो न सहोदरस्तव कृपालवमात्रमथोऽस्ति तत् ॥ ४ ॥
इति निशम्य सुदीनवचः प्रभुर्भयनिवारणतारणहेतवे।
गुरुवरो वरगारुडिवत्स्वयं विरहुलीं वेरमन्त्रमुवाच ह ॥ ५ ॥

आत्मैव सर्वजनकः सच मूलहीनो,
निःसाक्षिकस्य जननस्य हि मानबाधात्।
किञ्चास्य मूलकलने कलहो न नश्येद्,
आत्माश्रयादि सकलः कलिराश्रयेत्तत् ॥ ६ ॥
निःसङ्गसाक्षिततरूपतयाऽद्वियः,
स्वात्माश्रुतौ स्मृतिचये विमलस्त्वसङ्गः।
ज्ञातः स एव गुरुणा विमलानुभूत्या,
लभ्यस्ततो गुरुवरैरुपदिश्यतेऽसौ ॥ ७ ॥

मायामयो हि सकलः खलु विश्वभेदस्ते-
नास्य सङ्गजलना नहि विद्यतेऽलम् ।
एतत्सु बोधजननाय गुरोः प्रवृत्ति-
स्तेनेह मुक्तिरपि साधुजनस्य सिद्धा ॥ ८ ॥

बिरहुली १

आदि अन्त नहिं होते बिरहुली । नहिं जड़ पल्लव पेंड़ बिरहुली ॥
निशिवासर नहिं होते बिरहुली । पवन पानि नहिं मूल बिरहुली ॥
ब्रह्मादिक सनकादिक बिरहुली । कथि गये योग अपार बिरहुली ॥
मास असाढ़े शीतल बिरहुली । बोइन सातो बीज बिरहुली ॥

अये विरहिणो नैव युष्माकमादिरस्ति नो ।
अन्तो वा विद्यते मध्यो ह्यात्माऽखण्डोस्ति सर्वदा ॥ १ ॥
सर्वत्रात्मास्ति युष्माकं तस्य मूलं न विद्यते ।
पल्लवा नैव सन्त्येव मध्यस्कन्धः कुतो भवेत् ॥ २ ॥
नक्तं दिवप्रभेदो नो स्वप्रकाशेऽत्र विद्यते ।
असङ्गत्वान्न पवनः पानीयं मूलमस्य वा ॥ ३ ॥
अस्यैवात्रोपलब्ध्यर्थं ब्रह्माद्याः सनकादयः ।
कर्मज्ञानादि योगांश्च प्रोचुस्ते बहुधा बुधाः ॥ ४ ॥
आदौ कृतयुगे शुद्धे शुचितुल्ये सुशीतले ।
सप्तभूमिकबोधस्य बीजान्यूपुर्हि ते तदा ॥ ५ ॥
साप्तधातुकदेहस्य सप्तस्वरमयस्य च ।
शब्दस्याऽप्युप्तवन्तस्ते बिजानि विविधानि वै ॥ ६ ॥

पूर्वोक्त उपदेशों को सुनकर भी अपनी उत्पत्ति आदि मानकर तथा परमात्मा से अपने विरह (वियोगादि) समझकर दुःखी जिज्ञासु के प्रति उपदेश है कि हे बिरहुली (विरही) जीव ! तेरे आदि अन्त [१](जन्म-मरण) नहीं होते हैं, तुम अविनाशी हो, शरीर के जन्मादि तुम में अविवेक भ्रम से प्रतीत व्यवहृत होते हैं। अज अविनाशी होने ही से तेरे जड़ (जड़=मूल कारण) कोई नहीं है। न पल्लव (पत्र विस्तार) है, न पेंड़ (शाखा) पुत्र-पौत्रादि तेरे हैं। पल्लवादि माया के हैं। कहा गया है कि "एके नारी जाल पसारी। शब्द ५"

---

१ न जायते म्रियते वा कदाचित् । भ० गी० अ० २।२० इत्यादि ।

इत्यादि। और "योऽयमात्मेदममृतम्। बृ० २।४।१" "स वा एष महानात्माऽजरोऽमरोऽमृतोऽभयः। बृ० ४।२।२५" स वा अयमात्मा ब्रह्म। बृ. ४।४।४" "जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते" "न जीवो म्रियते। छा.६।११।३" और स्वयं प्रकाश होने से तुम में रात्रि दिन का भेद नहीं है। और असङ्गता से पवन पानी आदि का सम्बन्ध तुमसे नहीं होता है। अतः तेरा कोई मूल कारण नहीं है। उस तेरी आत्मा के ज्ञान के लिये ब्रह्मादिक प्रवृत्ति मार्ग के महापुरुषों से और सनकादिक निवृति मार्ग के महापुरुषों से कर्म योग (निष्काम सत्कर्म) भक्ति योग (निष्काम सेवा उपासना) ज्ञान योग (विवेकात्मानुभव) रूप अपार (अनेक भेद युक्त) योग वेदादि द्वारा कहे गये हैं (कहा है) उन लोगों ने "चार युग चौमास हिंडोला २" इस कथन के अनुसार, आदि सतयुगरूप शीतल (सात्त्विक) अषाढ़ में, ऋग्वेद में वर्णित, सात पाक यज्ञ, सात हविर्यज्ञ, और सात सोम यज्ञ के बीजों को उन लोगों ने बोया। शुभेच्छा आदि सात भूमिका युक्त ज्ञान के बीजों को बोया तथा सविकल्प समाधि के यम-नियमादि साधन रूप सात बीजों को बोया, सप्त धातुक शरीर के बीजों को बोया।

निति कोड़हि निति सींचहिं बिरहुली। निति नव पल्लव पेंड़ बिरहुली॥
छिछिल बिरहुली छिछिल बिरहुली। छिछिल रहल तिहुँलोक बिरहुली॥
फुलवा एक भल फुलल बिरहुली। फूलि रहल संसार बिरहुली॥
सो(फल)वन्दहिं भक्तजना बिरहुली। बन्दि के राउर बाँह-बिरहुली॥

तेषां क्षेत्राणि चाद्यापि जना अन्येऽपि यत्नतः।
नित्यं कर्षन्ति सिञ्चन्ति यथायोग्यं पृथक् पृथक्॥७॥
तेन संसारवृक्षेषु स्कन्धाश्च नव पल्लवाः।
नित्यमेव हि जायन्ते विस्तारं यान्ति सर्वतः॥८॥
शब्दज्ञानात्मका वृक्षा देहाद्यात्मान एव च।
विस्तृतास्त्रिषु लोकेषु तच्छाखाद्यास्तथैव च॥९॥
संसारे वृक्षरूपे च देहस्त्रीस्वर्णलक्षणम्।
पुष्पमेकमफुल्लद्यद्विश्वे सर्वत्र वर्तते॥१०॥
आपातरमणीयं तद्दोषयुक्तं सदैव हि।
तस्यैव चात्र लब्ध्यर्थं भक्ता वन्दन्ति देवताः॥११॥

स्तुवन्ति चेश्वरं केचित्कुर्वते बहुकर्म च।
देवादीनां बलं स्तुत्वा तत्पुष्पं चिन्वते सदा ॥१२॥

उक्त बीज के क्षेत्र (हृदयादि) को विवेकी लोग आज भी सदा कोड़ते और सींचते हैं। शरीर मन आदि को कर्म शक्ति युक्त ज्ञानादियोग्य बनाते हैं कि जिससे सदा ज्ञानादि की नव (नवीन) पल्लव (विस्तार) और पेंड़ (शाखा) होती हैं। और सब योग तथा संसार वृक्ष नदी के विस्तार वेग तुल्य छिछिलता (फंसता) है, सो तीनों लोक में फैल रहा है। सकाम कर्म द्वारा खोदने सींचने से संसार वृक्ष में एक फूल = (मनोरम विषय देह कान्ता कनकादि) भली भाँति से फूला है। मानव देह को देवों ने भी उत्तम समझा है। परन्तु इसको इच्छा वासनादि भी संसार का ही हेतु है। अतः संसार रूप यह फूल फूला (विकसा) है। तथा संसार में सर्वत्र फूल रहा है। तहाँ उक्त ज्ञानादि के बिना इस सांसारिक फूल (विषय स्त्री धन पुत्रादि) के लिये प्रायः भक्तजन भी देवादि की वन्दना करते हैं। और राउर (सर्व श्रेष्ठ हृदय के राजा) अन्तर्यामी ईश्वर के बाँह (बाहुबल सामर्थ्य) की वन्दना करके उसी फूल (फल) को चाहते हैं।

सो(फुल)लोढ़हिं सन्तजना बिरहुली। डँसि गेल बैतल साँप बिरहुली ॥
विषहर मन्त्र न मानै बिरहुली। गारुड़ बोले अपार बिरहुली ॥
विषकी क्यारी तुम बोयहु बिरहुली। लोढ़त का पछताहु बिरहुली ॥
जन्म जन्म यम अन्तर बिरहुली। फल एक कनयल डार बिरहुली ॥
कहहिं कबिर सचु पाव बिरहुली। जो फल चाखहु मोर बिरहुली ॥

इति श्रीसद्गुरुकबीरकृते विविधबन्धबीजविध्वंसने बीजक नाम्निग्रन्थे निखिलविषविध्वंसनं नाम दशमं बिरहुली प्रकरणं समाप्तम् ॥१०॥

आश्चर्यं यद्धि सन्तोऽपि ह्युपासनापरा जनाः।
पुष्पं चयन्ति तत्तुच्छं स्वर्गं वाञ्छन्ति तद्यतः ॥१३॥
ततश्च तीव्रकामादिरूपो मत्तो भुजङ्गमः।
तान् सर्वानदशद्वेगान्मोहाद्यं विषमाविशत् ॥१४॥
विषस्य हारकान् मन्त्रान् मन्यन्ते यदि ते नहि।
गुरवो गारुडान् मन्त्रान् वदन्त्येभ्यस्ततः किमु ॥१५॥
अपारस्यात्मनो बोधो यद्येषां नैव जायते।
कुविचारादिदोषेण तत्कथाया भवेत् किमु ॥१६॥

कुविचार फलस्यात्र भोगकाले सदा जनाः ।
पश्चात्तापेन पीड्यन्ते तान्प्रति कथ्यते त्विदम् ॥१७॥
विषयान् विषकेदारेषूप्तवन्तोभवे यदि ।
शोकः किं क्रियतेऽद्यत्वे फलकाले ह्युपस्थिते ॥१८॥
प्रारब्धं भुज्यतां हर्षादुद्वेगो न विधीयताम् ।
भाविदुःखनिवृत्त्यर्थमुपायश्च सुचिन्त्यताम् ॥१९॥
बोधवृक्षस्य शाखास्थंस्वादिष्ठं परमामृतम् ।
फलं चेत्स्वाद्यतेऽस्माकं जीवन्मुक्तकरं शुभम् ॥२०॥
महद्भिरीक्षितं शुद्धं पावनं तत्सनातनम् ।
लप्स्यतेऽत्रतदासौख्यमचलं गुरुराह तत् ॥२१॥
अन्यथा विषवृक्षस्य कुजन्मादि फलं भवेत् ।
यमबाधाभवेदेव सत्सु जन्मसु सर्वदा ॥२२॥१॥

बिरक्तवेषधारी उपासक सन्त भी उसी फल को लोढ़ते हैं (प्राप्त करते हैं) अतः तीव्र कामादि रूप बौरा साँप ने इन्हें डँस लिया है। अतएव ये लोग भी विषहर मन्त्र को नहीं मानते हैं, न कामादि रूप विषधर मन्त्र को मानता है। गुरु रूप गारुड़ी तो अपार बोलते (उपदेश देते) हैं और उपदेश को नहीं मानने के कारण कुप्रवृत्ति से कुफल के भोग काल में पश्चाताप करने वालों से कहते हैं कि तुमने विष को क्यारी बोई है (संसार के हेतु वासना कर्मादि का हृदय में धारण किया है) तो अब उसके फूल फल के लोढ़ते (चुनते भोगते) समय पश्चात्ताप क्या करते हो "दुखेष्वनुद्विग्नमना। भ. गी. अ. २।५६" इत्यादि उपदेशों के अनुसार उद्वेग रहित मनवाला को स्थितप्रज्ञ होकर प्रारब्ध को भोगना चाहिये। समझना चाहिये कि इस संसार रूप कनयल (विष वृक्ष) की डार (शाखा) रूप सब लोकों में ज्ञानादि के बिना जन्म जन्म में यम (मृत्यु) के अन्तर (वश) में होना (जाना) ही रूप एक फल लगता है। और सदा कष्ट भोगना पड़ता है। ऐसा समझ कर, इससे विरक्त साधु भक्त होकर, दया क्षमादिपूर्वक यदि तुम मेरे ज्ञान उपदेश वृक्ष के फल को एक बार चाखो (अनुभव करो) तो जन्मादि के भय से रहित जीवन्मुक्ति विदेह मुक्ति के सचु (आनन्द) को, सत्य सुख को पाओगे ॥१॥

फुलवा एक भल फुलल बिरहुली। फूलि रहल संसार बिरहुली ॥
सो लोढ़हिं सन्त जना बिरहुली। बन्दि के राउर जाहिं बिरहुली ॥

सो बन्दहिंभक्तजना विरहुली । डँसि गेलबैतल साँप विरहुली ॥

इस पाठ भेद पक्ष में और श्वेत कनयल के फल से सर्प का विष निवृत्त होता है, इस लोक प्रसिद्धि को स्वीकार करनेपर कुछ अर्थ का भेद है तथाहि–

विज्ञानादि सुपुष्पं वै फूल्लमेकं च वर्तते ।
संसारद्रुमशाखायां लग्नं तदपि चाद्भुतम् ॥१॥
गुरुभक्त्या विचाराद्यैस्तद्धि चिन्वन्ति साधवः ।
मुमुक्षवो विरक्ताश्च सदाऽध्यात्मपरायणाः ॥२॥
सद्गुरुं परमात्मानं ज्ञानविज्ञानतत्परान् ।
अभिवाद्यैव सर्वास्तेभवमुक्ता भवन्ति हि ॥३॥
पुनरावृत्तिहीनं सत्पदं गच्छन्ति सज्जनाः ।
हृदिस्थं विमलं चैव विभुं च प्रकृतेः परम् ॥४॥
सकामाश्चान्यभक्ता वै काम्यकर्मात्मकं मृषा ।
संचिन्वन्ति सदा पुष्पं बन्धदं न विमोक्षदम् ॥५॥
कालरागादिकास्तेन ह्युन्मत्ताः पवनाशनाः ।
अदशन् तान्न मन्यन्ते मन्त्रांश्च विषहारकान् ॥६॥
सद्गुरु र्भाषते नित्यमनन्तं मन्त्रसत्पदम् ।
किं करोतु त्वसाध्यत्वे विषस्यास्योल्वणस्य वै ॥७॥
पश्चात्तापैः किमद्यत्वे ह्युप्तं चेद्विषये विषम् ।
यमधाम्नोऽन्तरे तेन प्राप्ति र्भवति जन्मसु ॥८॥
मिथ्यास्वाद्यत्वहीनेऽस्मिन् ममवाक्यकरञ्जके ।
मधुरेऽमधुराभासे फलमेकं हि लम्बते ॥९॥
स्वाद्येत यदि तद्युक्त्या गुरुसत्सङ्गलब्धया ।
लभ्येत हि सदा सौख्यमित्येवं गुरुराह तान् ॥१०॥
न रात्रिंदिवभेदोऽस्ति यस्मिन् परमशासने ।
देशकालभिदा नैव दिशन्तं संश्रयामि तम् ॥११॥
यः प्रोवाचाक्षरैरल्पै र्वेदसारं जगद्धितम् ।
हिंसाकल्कादिशुद्धं तमास्तिकः संश्रयेन्न कः ॥१२॥
यस्योपदेशसाम्राज्यात्कामक्रोधादयोऽरयः ।
प्लायन्तेऽपुनरावृत्ति तं कबीरं भजाम्यहम् ॥१३॥
यस्य वाक्यात्सुमन्दोऽपि द्वन्द्वमुक्तो भवत्यलम् ।
स्वच्छन्दं तमहं वन्दे कबीरं भावभास्करम् ॥१४॥

यस्य सत्ताप्रकाशाभ्यां ब्रह्मविष्णु हरादयः ।
अवतारान् प्रतन्वन्ति दिशन्तं तं भजाम्यहम् ॥१५॥
नाऽस्पर्शि यो दोषलवै र्विशुद्धो यास्मिंश्च सर्वे सुगुणाः वसन्ति ।
भिन्नैर्गुणैराकुलिताश्च लोका भेदै र्विहीनं तमहं भजामि ॥१६॥
ज्ञात्वादेवं सर्वपाशापहानि र्नान्यः पन्था मुक्तये चेति वाक्यात् ।
ज्ञप्तौ साक्षान्मुक्तिहेतुत्वमत्र तत्संसिद्ध्यै यो हि वक्ता नुमस्तम् ॥१७॥
विरहि वर्तनमाशुनिरीक्ष्यतां स्वजननादिभयं च विसृज्यताम् ।
अति विशुद्धमनन्तचिदव्ययं परिनिरीक्ष्य जनैः सुखमास्यताम् ॥१८॥

इति विरहुलीवर्तनाख्या व्याख्या समाप्ता ॥१॥

विज्ञान (विद्या) रूप एक भला (उत्तम) फूल संसार में (विवेकादि साधन वालों के हृदय में) फूला है, और फूलता है । उसी के लिये ईश्वर गुरु की वन्दना करके जो जिज्ञासु उस फल को लोढ़ते हैं (सद्गुरु से प्राप्त करते हैं) सो सज्जन संसार से परे स्थान में पहुँच जाते हैं । सकाम भक्त भी उसके लिये वन्दना करते हैं । परन्तु काम रूप बौरा सर्प के दंशने (काटने) से वदहोसी के कारण मुक्ति नहीं पाते हैं, इत्यादि ॥१॥

सद्गुरु चरण सरोज में, भाव सहित शिर नाय ।
हनूमान सहजे तरै, वारिधि विरह बलाय ॥ १ ॥

इति श्री सद्गुरु कबीर साहब कृत बीजक का श्रीस्वामी हनुमान दासजी साहब षट्शास्त्री विरचित स्वल्पाक्षरा हिन्दी व्याख्या दशवाँ विरहुली प्रकरण समाप्त ॥१०॥

* ओम् राम *

–: श्रीसद्गुरु :–

कबीर साहब कृत बीजक

[स्वानुभूतिसंस्कृतस्वल्पाक्षराहिन्दीव्याख्यासहित]

अथ एकादश साखी प्रकरण

मायामात्रमिदं कलेवरगृहं कुर्वंश्च विश्वं तथा,
तत्रास्ते हि य [1]एक निर्गुणसुखः साक्षी स्वयं चाव्ययः।
तं सत्यं निगमागमै र्निगदितं ध्यानैकगम्यं परं,
सद्भक्त्या प्रणमन्नहं सुविमलो भूयासमन्ते[2] सदा ॥ १ ॥

दानं गुरोः[3] सकलविघ्नहरं ह्यजस्रं,
ज्ञानं तदीयमनघं[4] प्रवदन्ति सन्तः।
मानं सदा मदहरं भवतीति सत्यं,
ध्यानं धुनोति हि भवं भुवि भावुकानाम् ॥ २ ॥

शिष्यः कश्चिदुदारमानसयुतो गत्वा गुरोः सन्निधौ,
नत्वा प्रेमपरंपरागतमनाः सौम्यं वचश्चाऽऽददे।

---

१ एकोऽद्वितीयश्चासौ निर्गुणः स एव सुखयतीति सुखः। एष ह्येवानन्द-तीत्यादिश्रुतेः ॥ तैत्तिरीय २।७ ॥ २ अन्ते, जीवन्मुक्तौ विदेहमुक्तौ च सत्याम्। अथवा स्वरूपे निकटे निश्चये काले चेत्यर्थः। अन्तःस्वरूपे निकटे प्रान्ते निश्चयनाशयोरिति, हैमः कोशः ॥ ३ गुरवे दानम्, इत्यर्थे शेषत्वविवक्षया षष्ठी तथा गुरुणा कृतं मन्त्रादीनां दानं शिष्यं प्रति, शिष्यैरेव वा कृतं तन्वादीनामर्पणलक्षणं दानं गुरुं प्रति, तनुधनाभ्यां शुश्रूषणादाज्ञापालनाच्च, तद्दानं निखिलविघ्नहरं भवतीति तेन निर्विघ्नं श्रेयोऽनुष्ठियते, इति भावः ॥ ४ गुरोः सकाशाल्लब्धं ज्ञानं निर्दोषं भवति। आचार्याद्ध्येव विदिता विद्या साधिष्ठं प्रापयति। छा० ४।६।३। गुरो र्मानं = सत्कृतिः। भावुकानाम्-भवनशीलानाम् ॥

देवो देव ! सदाऽस्ति सर्वसुहृदां[1] बन्धुः परः पावनो,
यस्तं दर्शय सारगर्भितगिरा यस्माद्भवेद्भावुकम्[2] ॥ ३ ॥
आदौ सद्गुरुमेव मोदय मुदा सत्यं सदा संश्रय,
शौचाचारपरायणः शमदमै नित्यं मनः शोधय ।
इत्थं [3]स्वात्मविवेकवारिविमलं चित्तं परं बोधय,
[4]कामादीन् खलु रोधयैव सगणान् देवं परं लप्स्यसे ॥ ४ ॥
देवं दूरदिशासु नैव लभते कश्चित्सदाऽन्वेषयन्,
नैवं देशकुलादिषु[5] प्रविचरंश्चेतः स्वकं चालयन् ।
आत्मन्येव स आत्मना तु लभते सङ्गं सदा वर्जयन्,
तस्मादात्मविचारणां कुरु मुदा नान्यं हृदा चिन्तय ॥ ५ ॥
शोधितं चित्तमेवाथ स्वात्मानं सर्वसाक्षिणम् ।
द्रष्टुमर्हति तस्मात्त्वं चित्तं स्वं परिमार्जय ॥ ६ ॥

जीव रूप एक रामहि, शिव स्वरूप ओंकार ।
आदि अन्त भय रहित सो, निर्विकार आधार ॥ १ ॥
साक्षि रूप सब देव हैं, साक्षि ईश कहाय ।
गुण कृत भेद मिटाय के, भजिये राम सदाय ॥ २ ॥
राम साक्षि सर्वज्ञ शिव, ब्रह्म अनन्त अपार ।
मनोऽज्ञान प्रतिबिम्ब जिव, जन्मत करि हङ्कार ॥ ३ ॥
तजि हङ्कार निजात्म लहि, ममता मोह मिटाय ।
मुक्त होत सो भाषते, गुरु तिहि सुनिय सदाय ॥ ४ ॥

पूर्व प्रकरणोंमें बहुधा वर्णित तथा बिरहुली प्रकरणमें जन्मादि रहित स्वरूप

---

१ सर्वेषां प्राणिनां मित्रभूतानां सर्वेभ्यो दत्ताभयानामहिंसकानामिति यावत् ॥ २ भावुकं = कुशलम् = मोक्ष इति भावः ।

३ स्वात्मविवेक एव वारि तेन शुद्धम् ॥ ४ रिरंसादिरूपो कामः, मत्सरेर्ष्येच्छातृष्णाकार्पण्याद्यात्मकस्तद्गणः । क्रोधासूयाद्यात्मको द्वेषगणः । विपर्ययसंशयाद्यात्मको मोहगणः ॥ ५ आत्मविचारादिक त्यक्त्वा तीर्थादिदेशेषु विचरन्, जातिकुलादिव्यवहारेष्वासक्तस्तदभिमानवान् सन् स्वचित्तं बाह्ये क्षोभयन् स्वात्मतत्त्वं नैवापरोक्षं करोति, किन्तु सङ्गत्यागेनाक्षुब्धचेताः सन् स्वकीयान्तःकरणे प्रतिबिम्बितमानन्दस्वरूपमात्मानमविषयभूतमपि सम्यग् जानाति विचारवान् यथा चक्षुष्मानादर्शे प्रतिबिम्बितं सचक्षुर्मुखं चक्षुषा सम्यग् जानाति, तस्माद्विचारवता भाव्यमिति ।

से वर्णित और "साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च । श्वेता० ६।११" इत्यादि श्रुतियों से वर्णित केवल (शुद्ध) स्वरूप चेता (चेतयिता प्रकाशक) साक्षी (साक्षाद् द्रष्टा) का वर्णन करते हुए सर्व प्रकरणों के सारार्थ का इस अन्तिम प्रकरण में वर्णन करते हैं कि जिसके द्वारा आत्मज्ञान से जीव नित्य मुक्त सुखी हो । तहाँ—

अथ साक्षास्वरूपशब्दादिवर्णन प्रकरण १, साखी १

जहिया जन्म मुक्ता हता, तहिया हता न कोय ।
छठी तुम्हारी हौं जगा, तूँ कहँ चला बिगोय ॥१॥

जन्ममुक्तो यदासीस्त्वं तदासीत्ते न कश्चन ।
माता पिता सुहृद् बन्धु धनदारासुतादिकः ॥ १ ॥
गृहक्षेत्रादिकं नासीत्स्वात्मैवासीच्च केवलः ।
षष्ठे चैतन्यरूपेऽत्राहङ्कारो बन्धदोऽभवत् ॥ २ ॥
[1]अहङ्कारविलासेन देहस्ते समपद्यत ।
विस्मृत्यात्र तमात्मानं देहे किमिति सज्यते ॥ ३ ॥
साक्षिभूतं स्वमात्मानं पञ्चकोशविलक्षणम् ।
भूतपञ्चकदृग्रूपं त्यक्त्वा बंभ्रम्यते भवान् ॥ ४ ॥
इदं तु महदाश्चर्यं स्वात्मानन्दमहोदधिम् ।
त्यक्त्वा यद् भ्राम्यते जन्तु र्विषयप्रेक्षया चिरम् ॥ ५ ॥
यद्वा जन्मविमुक्तस्त्वं यदासीस्तमसाऽऽवृत्तः ।
तदाऽऽसन्नैव ते केऽपि ह्यहमासं तदा शिवः ॥ ६ ॥
चेतनश्च तवात्माहं षष्ठोऽस्मि चित्स्वरूपकः ।
त्यक्त्वा मां कुत्रयास्यङ्ग ! शास्त्रदृष्ट्या हि विद्धि माम् ॥ ७ ॥
प्रातर्दनसमः[2] शिष्यो गुरुं ज्ञात्वा विवेकतः ।
लक्षितं स्वात्मरूपं हि मुच्यते [3]वामदेववत् ॥८॥

---

१ अहङ्कारस्य विलासः कार्योन्मुखत्वं तेन, अहङ्कारात्मको वा विलासोऽविद्याकार्यं तेनेत्यर्थः । आत्मैवेदमग्र आसीत् पुरुषविधः सोऽनुवीक्ष्य नान्यदात्मनोऽपश्यत्सोऽहमस्मीत्यग्रे व्याहरत् ततोऽहंनामाऽभवत् । बृ० १।४।१ ॥

२ शारीरक = ब्रह्मसूत्र के अ० १।१।११। में यह विषय द्रष्टव्य है । कौषीतकीब्राह्मणोपनिषद् में प्रतर्दन राजा और इन्द्र की कथा है, कि जहाँ इन्द्र अपने को ब्रह्मस्वरूप से राजा को दर्शाया है । ३ "अहं मनुरभवं सूर्यश्च" इत्यादि, ऋगवेद ६।१५।४।३।२६। में वामदेव्य मन्त्र हैं ।

आत्मदृष्ट्या हि संप्राप्य सद्गुरोः शरणे त्वया ।
अन्यो न चिन्त्यतां विद्वन् हेलयापि कदाचन ॥९॥१॥

जहिया (जब = इस देह से पूर्व या प्रलय काल में) तुम इस वर्तमान जन्म (देह) से मुक्ता (मुक्त रहित) हता (था) तहिया (तब उस समय) तेरी वर्तमान देह की माता या तेरे पिता कुल कुटुम्बादि कोई नहीं हता (नहीं थे) किन्तु पाँच भूत की अपेक्षा छठी (छठवाँ) कोशादि से विलक्षण तेरी आत्मा चिति स्वरूप उस समय भी थी, और उसी असङ्ग अविनाशी स्वरूप में अज्ञान वासनादि युक्त मायामय समष्टि सूक्ष्म देह भी थी कि जिसमें "तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय । छ० ६ । २ । ३" विचारात्मक ज्ञान हुआ कि मैं एक से बहुत रूप से उत्पन्न होऊँ । यहीं हौं (अहङ्कार) महाप्रलय के अन्त में जगा (प्रकट हुआ) कि जिससे यह मायामय संसारदेहादि हो गये, तथा पूर्वजन्म के कर्म वासना अहङ्कारादि के अज्ञान से जागृत (व्यक्त) होने ही से ये देहादि हुए हैं । तहाँ तुम उस छठी आत्मा को विगोय (गमाय = भूल) कर कहाँ लोक व्यवहारादि में चले हो, उस आत्मा के ज्ञान को प्राप्त करके अज्ञानादि जन्य दुःखमय अहंकार जन्मादि से मुक्त होवो । तथा जब कोई नहीं था, तब भी हौं (मैं) छठी चिति स्वरूप जगा (प्रकाश स्वरूप) था । और अब भी मैं (सद्गुरु स्वरूप) जगा हुआ (मोहादि रहित हुआ) हूँ । फिर भी तुम सद्गुरु को भूलकर कहाँ चले हो, मोक्ष सुख शान्ति चाहो, तो सद्गुरु को चीन्हो सेवो इत्यादि ॥ १ ॥

जाय छठीली आपनी, बात न पूछो कोय ।
जिन यह भार लदाइया, निर्वाहैगा सोय ॥२॥

गत्वा षष्ठे स्वरूपे स्वे वार्ता पृच्छ न कामपि ।
येनायं भर उद्गूर्णः स स्वयं संविधास्यति ॥१०॥
ज्ञात्वा सत्यं स्वमात्मानं नान्यन्मनसि धीयताम् ।
यैरिदं रचितं सर्वं तैस्ते वृत्तिर्विधास्यते ॥११॥
किमर्थं खिद्यते सर्वप्रभुर्हृद्येव वर्तते ।
अव्यग्रं स्थीयतां सैव शुभं सर्वं करिष्यति ॥१२॥
"तत्त्वमध्यात्मिकं दृष्ट्वा तत्त्वं दृष्ट्वा तु बाह्यतः ।
तत्त्वीभूतस्तदारामस्तत्त्वादप्रच्युतो भवेत् ॥१३॥
वृत्त्यर्थं नातिचेष्टेत सा हि धात्रैव निर्मिता ।
गर्भादुत्पतिते जन्तौ मातुः प्रस्रवतः स्तनौ" ॥१४॥२॥

अपनी छुठिली (छुठी) आत्मा (स्वरूप) में जाकर (मन लगाकर) फिर किसी से कोई संसार की बात नहीं पूछो, जीविका आदि की भी अत्यन्त चिन्ता की बात नहीं करो, यदि कहो कि संसार के व्यवहारादि के बिना शरीर की स्थिति कैसे रहेगी, तो समझो कि जिन (ईश्वर कर्मादिकों) ने तेरे ऊपर यह देह रूप भार लादा लदवाया है, वे ही इस देह के लिये योगक्षेमादि रूप निर्वाह (व्यवहार) करेगें, शरीरादि का निर्वाह (निर्वहन धारणादि) उनसे होगा। क्योंकि "येन शुक्ली कृता हंसाः शुकाश्च हरितीकृताः। मयुराश्चित्रिता येन स ते वृत्तिं विधास्यति ॥१॥" "अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते। तेषां नित्याऽभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥२॥ भ.गी.अ. ९।२६" इत्यादि प्रसिद्ध उपदेश हैं। जिसने हंसों को शुक्ल सुगों को हरित और मयुरो को चित्रित किया है, वह तेरी वृत्ति=जीविका को सिद्ध करेगा ॥१॥ जो ज्ञानी और भक्त जन मुझ ईश्वर से अनन्य = अभिन्न भाव युक्त होकर, मुझे परितः सर्वत्र सदा भजते सेवते हैं। उननित्याभियुक्त = सदा ध्यानादि परायण के योगक्षेम (प्रापण रक्षण) को मैं धारण करता हूँ ॥२॥

शब्द शब्द बहु अन्तरे, सार शब्द मत लीजै।
कहहिं कबिर (जहँ) सार न दरशै, धृक जीवन सो जीजै ॥३॥

बह्वन्तरं हि शब्देषु सारशब्दमत्तं भज।
जीवनं तत्तु धिक् लोके यत्र सारो न दृश्यते ॥१५॥
विधिमन्त्रादिभेदेन[1] भूताऽभूतार्थभेदतः।
सारासारार्थभेदेन शब्दो बहुविधः स्मृतः ॥१६॥
तत्र सारार्थमेवेमं शब्दं यो विविनक्ति वै।
तदर्थज्ञस्य तस्यैव जीवनं परिशोभते ॥१७॥
अतः सारविवेकेन सैव चित्ते निधीयताम्।
क्रियतां न क्वचित्सङ्गोऽसारेऽत्र विश्वमण्डले ॥१८॥
सारासारविवेकेन स्वात्मानं नैव वेत्ति यः।
जीवनं धिक् कृतं तस्य ह्यायुरायासकारणम् ॥१९॥
आहस्म सद्गुरुश्चैतच्छ्रुत्वा सारः सुगृह्यताम्।
असारस्त्यज्यतामङ्ग ! शब्दश्चार्थश्च सर्वथा ॥२०॥३॥

---

१ विधि, मन्त्र, नामधेय, निषेध, अर्थवाद भेद से पाँच प्रकार के शब्द कर्मकाण्डात्मक वेद के होते हैं। और भूतार्थ=सिद्धार्थक, सारार्थ=सत्यार्थक, असरार्थ=असत्यार्थक=बाधितार्थक, भेद भी होते हैं।

"सारो बले स्थिरांशे च न्याय्ये क्लिवं वरे त्रिषु" इस कोश के अनुसार सार शब्द बल, पदार्थ के स्थिरांश, न्याय्य और वर का वाचक होता है। अतः बलयुक्त सब पदार्थ के स्थिर स्वरूप सत्यात्मा, न्याय्ययुक्त, सर्वश्रेष्ठ ईश्वर आत्मा को कहने वाला सार शब्द और अन्य शब्दों में बहुत अन्तर है (भेद है) तहाँ मुमुक्षु जिज्ञासु जो कोई हो, सो सार (सत्यार्थ बोधक) शब्द का ही मत को लो (धारण करो) श्री कबीर साहब कहते हैं कि जिस जीवन में सार शब्द तथा अर्थ का दर्शन नहीं हो, वह जीवन धिक् (निन्दित) है, तथा उस जीवन से जो जियता है, सो धिक्कार के योग्य है ॥३॥

शब्द हमारा आदि का, पल पल करहू याद ।
अन्त फलैगी माहली, ऊपर के सब बाद ॥४॥

सार एवास्मदादीनां शब्दः सर्वादिबोधकः ।
शोधकः पापपुञ्जस्य तं त्वं प्रतिपलं स्मर ॥२१॥
अजस्रं स्मरणात्तस्य सद्विवेकः स्फुटो भवेत् ।
मोहान्धकारनाशेनसर्वाऽऽयासोनिवर्त्स्यति ॥२२॥
ये त्विहानात्मकोशेषु संसक्ता विषयात्मकाः ।
सारासाराविवेकेन तेषां सर्वं हि निष्फलम् ॥२३॥
धिक् तेषां मानुषं जन्म यौवनं धनसंचयम् ।
कुलं कर्म यशो वीर्यं प्रभुत्वं मानगौरवम् ॥२४॥
यादृशीहि भवेत्पुंसां वासना वा मति दृढा ।
फलं तादृग् भवेदन्ते बाह्यवस्तु ह्यनर्थकम् ॥२५॥
बाह्यवस्तु फलं सूते ह्यन्ते स्ववासनादितः ।
अतोऽन्तस्तद् विषं तीव्रं मुधोपरिमनोहरम् ॥२६॥

हमारा (सद्गुरुका) शब्द आदिका (आदि तत्त्व अन्तरात्माका) बोधक है, उसका पल-पलमें (सदा) याद (स्मरण) करो। क्योंकि ऊपर (बाहर) के अर्थके बोधक शब्द, सब शब्द बाद (व्यर्थ) हैं और अन्तकाल में माहली (माहुरी विष) फलेगी (माहली तुल्य फल लगेगा)। माहली में जैसे ऊपर सुन्दरता रहती है। परन्तु उसकी सुन्दरता व्यर्थ होती है। क्योंकि भीतर काली कटुविष रूप रहती है। तैसे ही काम कथा आदि को समझना चाहिये तथा मेरी कथा को याद करो। क्योंकि यह अन्तरात्मा साक्षी की कथा है। अन्त में यही माहली (मांह=अन्तर की = अन्तरात्मा की) कथा सत्यफल को फलेगी। ऊपर की कथा सब तो व्यर्थ होती है। अतः मुमुक्षुके लिये उपादेय नहीं होती है ॥४॥

शब्द हमारा आदि का, शब्दहि पैठा जीव ।
फूल रहन की टोकरी, घोरे खाया घीव ॥५॥

सार शब्दोऽस्मदादीनां जीवोऽविशच्च शब्दके[1] ।
पुष्पपात्रसमं जातमाज्यं[2] मथितमत्ति तम् ॥२७॥
सार शब्दाविवेकेन शब्दाभासे प्रविष्टवान् ।
पुष्पमात्रसमस्तेन वासनासंयुतोऽभवत् ॥२८॥
पुष्पमात्रं हि पुष्पाणां गन्धैः स्यात् संयुतं यथा ।
भवत्येवमयं जन्तुः शब्दार्थवासनायुतः ॥२९॥
आज्यं च तक्रसङ्गेन यथा शीघ्रं विनश्यति ।
तथाऽयमकृततात्मापि[3] लोभादिभि र्विनश्यति ॥३०॥

हमारा सार शब्द सर्वादि वस्तु सत्यात्मा का बोधक हैं, परन्तु उसके विवेक ज्ञान से रहित जीव असार (असत्य मिथ्यार्थक) शब्दों में पैठा (आसक्त फंसा) है । अतः वे शब्द भी जीवों के अन्तःकरण में पैठ गये हैं कि जिससे जीव सब फूलों के रहने की टोकरी (पात्र) के समान शब्दादि की वासनाओं से युक्त हुए हैं । अतः जैसे घोर (तक्र) घृत को खाता है, तैसे ही घोर (भयंकर) काम वासनादि जीव स्वरूप सार वस्तु (घृत) को खाये (छिपाये) हैं । जीव को मानो नष्ट ही और दुःखी करते हैं । अतः सार शब्द के विवेकादि अवश्य कर्तव्य हैं ॥५॥

शब्द हमारा तुँ शब्द का, सुनि मति जाहु सरक ।
जो चाहहु निज तत्त्व को, शब्दहि लेहु परक ॥६॥

सारशब्दोऽस्मीदीयोऽयं त्वच्चास्यैवाधिकारवान् ।
तं श्रुत्वा न क्वचिद् याहि विवेकं तेन साधय ॥३१॥
तत्त्वनिश्चयकामश्चेत्सारशब्दो विविच्यताम् ।
तमन्तरा न लभ्योऽयमात्मा देवः कथञ्चन ॥३२॥
परीक्ष्याऽऽदत्स्ववैसारशब्दं नैवेतरं क्वचित् ।
अन्यथा भवरोगोऽयं प्रत्यहं तरुणायते ॥३३॥
त्वमिच्छसि निजं तत्त्वं ज्ञातुमत्राप्तुमञ्जसा ।
यदि तर्हि विवेकेन विना किञ्चिन्न गृह्यताम् ॥३४॥६॥

---

१ कुत्सिते शब्दे । २ आज्यतुल्यं तं जीवं मथिततुल्यो विषयोऽत्तीति ।
३ अकृतोऽवश्यं = आत्मा = मनो यस्य सः ।

सार शब्द हमारा (सद्गुरु का) है, जो उपनिषदादि स्वरूप है। तुम विवेकादि को प्राप्त करने के योग्य मनुष्य इस शब्द के श्रवणादि का अधिकारी हो, अतः सार शब्दों का श्रवण करो। परन्तु सार शब्द को सुन कर फिर कभी सरक (गिर) नहीं जाओ, सार शब्द और उसके अर्थ से च्युत नहीं होवो। किन्तु ब्रह्मनिष्ठ होवो, असार शब्दादि में नहीं लगो। यदि निज तत्त्व को (यथार्थ स्वरूप को प्राप्त अनुभूत करना) चाहते हो, तो सार शब्द ही द्वारा उस तत्त्व को परख लो (समझ लो) क्योंकि वह किसी इन्द्रिय का विषय नहीं होता है। अतः श्रवणादि से तत्त्व प्राप्ति की इच्छा प्रबल मोक्षेच्छा के होने पर भी सार शब्द के विचारादि से ही उसको समझो प्राप्त करो ॥६॥

शब्द हमारा आदि का, अतिबल दिखा न कोय।
आगे पीछे जो करे, सो बलहीना होय ॥७॥

विविक्तः सार शब्दो मे बलयुक्तेन लभ्यते।
सैवातिबलयुक्तस्तु दृश्यते नेह कश्चन ॥३५॥
ये संशयितचित्ता वै बलहीना भवन्ति ते।
सारशब्दो न तेष्वङ्ग! स्फुरतीह कदाचन ॥३६॥
यस्मान्नास्ति परं किञ्चिन्नापरं विद्यते तथा।
तेषु स्फुरति तत्तत्त्वमेकं नेह कदाचन ॥३७॥
विचाराद्यैः समायुक्ताः शमादिगुणशालिनः।
सद्भक्ति संयुताः सर्वे बलवन्तो विवेकिनः ॥६८॥७॥

हमारा शब्द आदि का (सर्वादि का बोधक) है। परन्तु इसको प्राप्त करने समझने वाला अति बली श्रद्धादि युक्त योग्य अधिकारी कोई नहीं दीख पड़ता है, क्योंकि जो आगे पीछे (इत उत-संशय) करता है, सो बल हीन हो जाता है। तथा निजात्मा से आगे (परे) कारणादि की जो कल्पना करता है, तथा आत्मा से पीछे होने वाले कार्यात्मक शरीरादि में जो आसक्त होता है, आत्म बुद्धि करता है, सो बलहीन होता है। और "नायमात्म बल-हीनेन लभ्यः। मुण्डक० ३।२।४" यह सत्यात्मा बलहीन से प्राप्त करने योग्य नहीं है। और "यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चित्। श्वेता० ३।६" जिस आत्मा से पर (उत्तम कारण) कुछ नहीं है, न अपर (कार्य) कुछ भिन्न सत्य है। अतः मिथ्या पर अपर की कल्पना करने वाला बलहीन होता है, सो निज तत्त्व को नहीं पाता है, अतः संशयादि को निवृत्त करना चाहिये ॥७॥

संशयादि के त्याग के बिना हानि का वर्णन करते हैं कि—

शब्द बिना श्रुति आँधरी, कहहु कहाँ को जाय।
द्वार न पावै शब्द का, फिरि फिरि भटका खाय ॥८॥

सारशब्द विहीना हि मनोवृत्तिरदृक्समा।
कुत्र यास्यति सन्मार्गे कथ्यतां बम्भ्रमीति चेत् ॥३९॥
संसारकारागृहमध्यसक्ता बम्भ्रम्यमाणा सुतरां सदा सा।
द्वारं न वै विन्दति सारशब्दं तस्माद्विमुग्धा खलु चञ्चुरीति ॥४०॥
श्रोत्रजा वृत्तिरेवं हि सारशब्दं विना कथम्।
कुत्र यास्यति चान्धा सा कथ्यतां तच्च बुध्यताम् ॥४१॥
यावच्छब्दस्य सद्द्वारं प्राप्यते न तया स्वयम्।
तावज्जीवो मुहुर्भ्रान्त्वा कष्टमाप्नोति सर्वदा ॥४२॥८॥

इति साक्षिसाक्षात्कारे साक्षिसारशब्दादिवर्णनं नाम प्रथमा वित्ति ॥१॥

संशयादि से सार शब्द की प्राप्ति के बिना श्रुति (सुरति, ध्यान, मनो वृत्ति, बुद्धि) आँधरी (अन्धा विवेक रहित) रहती है। तो कहो कि वह कहाँ (किस सन्मार्ग सद्वस्तु में) जा सकती है, वह तो जब तक असार शब्द और अर्थ से छुटकारा के द्वारा (साधन) रूप सार शब्द को नहीं पाती है, तब तक आसार शब्द और अर्थ के घेरे (मोह देह गृहादि) में फिर कर भटका खाती = (चक्र लगाती = नाचती) है और कष्ट भोगती है ॥८॥

अथ शब्दमहिमाविवेकादिवर्णन प्रकरण २

शब्दे मारा गिर परा, शब्दे छोड़ा राज।
जिन यह शब्द विवेकिया, तिनको समरा काज ॥९॥

बहुशक्ति ह्ययं शब्दस्तेनाभिचरणादिकम्[1]।
विरागो यागयोगाद्याः सिद्ध्यन्ति नात्र संशयः ॥१॥
अपतच्छब्दघातेन कश्चिद् राज्यं प्रदत्तवान्।
एकोऽन्यस्तु कुशब्देन तिष्ठत्यत्रैव दीनधीः ॥ २ ॥
ईदृशेभ्यस्तु शब्देभ्यः सारशब्दो विवेचितः।
येनैव गुरु भक्तेन तेनाप्तं जन्मनः फलम् ॥ ३ ॥

१ अभिचरणं मारण क्रिया = श्येनयागादि लक्षणा।

सारशब्दविवेकेन स्वात्मानुभववान्नरः।
गच्छत्यपुनरावृत्तिमिहस्थोपि[1] प्रमोदते ॥ ४ ॥ ६ ॥

विवेक पूर्वक सार शब्द के ज्ञान को और ज्ञान के फल को दर्शाते हैं कि मारणमोहनादि रूप शब्द के मार से कोई गिर पड़ा (मर गया मुग्ध हुआ) और काम क्रोधादि के जनक शब्दों से धर्मभ्रष्ट क्रुद्ध बदहोस हो गया। और विवेक वैराग्यादि जनक शब्दों से किसी ने राज्यादि को छोड़ दिया (त्याग दिया) ऐसे महाबली शब्दों का जिन लोगों ने विवेक किया (अन्य शब्दों से सार शब्दों को विवेकपूर्वक फिर समझा) उन इस सार शब्द के विवेक वालों का, कार्य सुधर गया, सार शब्दार्थ के ज्ञानादि से कर्तव्य समाप्त हो गया मोक्ष मिल गया ॥ ६ ॥

जो जिव जानहु आपना, करहु जीव को सार।
जियरा ऐसा पाहुना, मिलै न दूजी बार ॥१०॥

आत्मानं यदि जानासि तर्हि त्वं स्वं करोषि सत्।
अत्रोपकारको देहो मानवो न पुनः पुनः ॥ ५ ॥
अनेनातिथितुल्येन देहेन येन साधितम्।
ज्ञानं निजात्मनश्चैकं तेन किं न कृतं भवेत् ॥ ६ ॥
यदीच्छसि सदा सौख्यं यदीच्छस्यपुनर्भवम्।
तर्ह्यागन्तुकतुल्येनानेन त्वं स्वं विचारय ॥ ७ ॥
अत्रैव मानवे देहे स्वात्मा लभ्यः प्रियोऽतिथिः।
अनुभूत्या विवेकेन तस्य पूजा विधीयताम् ॥ ८ ॥
स्वस्मै यच्च हितं वेत्सि तत्परस्मै विधीयताम्।
ईदृशोनाऽतिथि भूयो लभ्यो जन्मान्तरेषु वा ॥ ९ ॥
आत्मौपम्येन सर्वत्र हितं कुर्वन् हि मानवः।
विन्दते परमं श्रेयो योगं विज्ञानमेव च। १०।१०॥

हे जीव! जो (यदि) तुम अपना भी सुधार जानते (समझते चाहते) हो, तो अपने जीवात्मा को सार (सत्य) करो। (देहादि के अभिमानादि को त्यागकर सत्य स्थिर साक्षिस्वरूप आत्मा को समझो) और इस ज्ञान स्वरूप उस आत्मस्वरूप पाहुन का सत्कार करो। हे जियरा (जीव!) यह पाहुन भी ऐसा विलक्षण है कि दूजी बार (दूसरे बार = अन्य देह में) नहीं मिलता

१ अपुनरावृत्तिं=मुक्तिं प्राप्नोति, जीवन्मुक्तिकालेऽलौकिकानन्दवान् भवति।

है। अतः यहाँ ही उससे सत्कारपूर्वक मिलो। यह देह भी ऐसा पाहुन है कि शीघ्र दूसरी बार नहीं मिलती है। अतः जो अपना हित समझो, सो अन्य जीव के लिये भी सार (हित) करो, यह मनुष्य का कर्तव्य है। इससे अपना भी कार्य सुधरता है, अन्य का भी हित होता है। "आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।। सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥१॥ श्रीभ० गीताः अ० ६।३२" जो अपने दृष्टान्त से सुख या दुःख को सर्वत्रतुल्य अनुकूल और प्रतिकूल देखता है। अनुकूल सुख सबको यथाशक्ति देता है। प्रतिकूल दुःख नहीं, सो हिंसादि रहित सुख दुःख में समता वाला समदर्शी पुरुष उत्तम योगी माना गया है ॥१०॥

जौं जानहु जग जीवना, जौं जानहु तौं जीव।
पानप चाहहु आपना, पनियाँ माँगि न पीव ॥११॥

मा[1] न भूवं हि भूयासमिति चेदस्ति वाञ्छितम्।
महत्त्वमपि चेदिच्छे विषयं न विषं पिब ॥११॥
विषया[2] विषवैषम्या वामा कामविमोहदा।
तांस्त्यक्त्वा सर्वथा विद्वंश्चिरं जीव सुखी भव ॥१२॥
किञ्च त्वं जीवनस्याऽऽशां चेत्करोष्यविवेकतः।
तर्हि जीवत्वमायासि सत्यानन्दमयोऽपि सन् ॥१३॥
अतस्त्वं जीवितस्याशां धनाशां च सुदूरतः।
त्यक्त्वा गुरोः सुधावाक्यं याचयित्वा हृदापिब ॥१४॥११॥

यदि तुम पूर्वरीति से सबका हित करते हुए जगत में जीवना जानते हो (समझते चाहते हो) तो जीवो, ऐसा जीवन ही सफल होता है। परन्तु इतना और भी समझो कि यदि तुम अपना पानप (इज्जत = मर्यादा) चाहते हो। तो पानी भी किसी से माँग कर नहीं पीवो (आत्माऽवलम्बी बनो) आशा तृष्णादि के त्यागी सन्तोषी बनो (पराधीन मुक्ति भी नहीं लो) क्योंकि पराधीन होते जो तुम जगत में जीवन की आशा करते हो, इसीसे तुम जीव कहलाते हो "यावद् विषयभोगाशा जीवाख्या तावदात्मनः। योगवा० प्र० ६।१२१।१" जब तक विषयादि की आशा रहती है, तभी तक आत्मा का जीव नाम रहता है। ज्ञानादि से आशा रहित होने पर, आत्मा जीवत्व को त्यागकर ब्रह्म स्वरूप हो जाता है। फिर जीव नहीं कहलाता है ॥११॥

---

१ अहंमाभूवमिति न, किन्तु भूयासमेवेति चेत्तवेच्छाविषयः। २ विष इव वैषम्यं येषु तथाभूता विषयाः, कामेनविमोहं ददाति सा वामा।

पानी प्यावत क्या फिरो, घर घर सायर वारि ।
तृषावन्त जन होहिंगें, पीवहिंगें झँख मार ॥१२॥

पाययन् किं जलं स्वादु घूर्णते कोपि सज्जनः ।
गृहे गृहेऽत्र चास्त्येव वारिधे र्वारि पूर्वतः ॥१५॥
संसाराम्बुनिधेर्वारि दुष्टं यस्य हृदि स्थितम् ।
तस्मिन्नस्वदते स्वच्छं गुरुवाक्यं सुधोपमम् ॥१६॥
आनन्दाब्धिरसः पूर्णस्तस्य यस्य तृषा भवेत् ।
स स्वयं गुरुपादाब्जे नम्रः सत्यसुधां पिवेत् ॥१७॥
यावन्नास्य मुमुक्षा स्यादुत्कटा न विरक्तता ।
शतकृत्वः श्रुतोऽप्यात्मा तावन्नायं प्रसीदति[1] ॥१८॥
वैराग्ये च विवेके च विमले सति मानसे ।
उपयुक्ते[2] शमादौ च क्षणादात्मा प्रसीदत्ति ॥१९॥१२॥

परोपकारी होने पर भी अनधिकारियों के प्रति सदुपदेशादि रूप जल क्या पिलाते फिरते हो, सबके हृदय रूप घरों में, संसार समुद्र और आत्म समुद्र (सायर) के वारि (विषयवासना और आत्मानन्द) वर्तमान हैं । जो जिसके तृष्णा (इच्छा) वाले होगें, सो आप झँख मारकर (लाचार होकर) अपने योग्य गुरु शरणादि में जाकर पीवेगें (विषयानन्द या आत्मानन्द को प्राप्त करेगें) अर्थात् अनधिकारी को उपदेश नहीं देना चाहिये ॥२१॥ क्योंकि—

हंसा मोति विकानिया, कञ्चन थार भराय ।
जो जस मर्म न जानई, सो तस काह कराय ॥१३॥

हंसार्थं मौक्तिकं पूर्णं विक्रीणाति हि काञ्चने[3] ।
कश्चिज्जानादि नो तस्य रहस्यं स करोतु किम् ॥२०॥
स्थितं सौवर्णपात्रे हि महार्घं[4] मौक्तिकं यथा ।
हंसो भुङ्क्ते न काकादिर्बकादि र्वा कुमतस्यभुक् ॥२१॥
तथा गीतं हि सच्छास्त्रे निहितं गुरुमानसे ।
रहस्यज्ञोऽधिकारी सज्ज्ञानीयान्नाविवेकवान् ॥२२॥

---

१ तावदयं प्रत्यक्षोऽभिमुखो न भवति । २ अनुष्ठिते । ३ काञ्चने भाजने पूर्णं मौक्तिकं कश्चिद् हंसार्थं विक्रीणाति, तस्य मौक्तिकस्य रहस्यं गुप्तं मर्म यो न जानाति, स तत्क्रयणादिकं किं करोतु नैव करोतीत्यर्थः । ४ महान् अर्घो मूल्यं यस्य ।

निःसीमं सुखसिन्धुं ये परिज्ञातुमनीश्वराः ।
ते मन्दा हतभाग्यत्वात् किं कुर्वन्तु निजात्मने ॥२३॥१३॥

हंस (क्षीर नीर विवेका मुक्तिकाहारी) तुल्य विवेकी जिज्ञासु के लिये, सत्सङ्गादिरूप हाट में सत्शास्त्रादिरूप कञ्चन के थार में भरकर ज्ञान योगादि रूप मोती बिकते हैं। तहाँ जो जैसा उसका मर्म (प्राप्त करने का साधन) है। तैसा (साधन सहित) उसको नहीं समझ सकते हैं। सो उसके उपदेश को सुनकर भी, उसका वैसा उपयोग क्या करेगें। हंस (विवेकी) तो उसके लिये बिकानिया (कानि = मर्यादा अभिमान रहित) हुआ है। अतः वह आत्माऽर्पण करके भी इसे प्राप्त करता है। अन्य नहीं ॥१३॥

हंसा तूँ सुवरण वरण, कहा वरण कों तोहि ।
तरुवर पाय पहेलि हो, तबहिं सराहो तोहि ॥१४॥

हंसाऽसि स्वर्णवर्णस्त्वमुक्तवानस्मि तत्तथा ।
अब्धौ वृक्षं समासाद्य तीर्णः श्लाघ्यो भविष्यसि ॥२४॥
योऽसौ सुवर्णवद्दीप्तः कोटिसूर्यसमप्रभः ।
शास्त्रेषु वर्णितः सम्यक् स तवात्मा न संशयः ॥२५॥
देहादिवृक्षमासाद्य सर्वत्रासङ्गधीर्यदि ।
निस्तीर्णः स्या भवाम्बोधे मुक्तः श्लाघ्योभविष्यसि ॥२६॥
सदानन्दस्वरूपोऽपि देहवृक्षकसङ्गतः ।
मनोरथेन वेगेन भवनद्या त्वमुह्यसे ॥२७॥
संसारनद्या खलु चोह्यमानश्चेत्सेवसे सद्गुरुपादनावम् ।
सत्यात्मबुद्ध्या प्रतरन् भवाब्धिं श्लाघ्यः सतां शुद्धतरः सदा स्याः ॥२८॥
हंस ! दीप्तसुवर्णस्त्वं देहवृक्षे वसन्नपि ।
घोरोत्तमैर्हि कामाद्यैर्मुक्तः श्लाघ्यो नचान्यथा ॥२९॥
सत्यः सुखोज्ञप्तिरनादिदेवो गीतः सुशास्त्रेषु तथानुभूतः ।
आत्मैव तेऽस्त्यत्र न संशयोऽस्ति दुर्बोधतस्त्वं परिनिन्द्यसेऽलम् ॥३०॥१४॥

इति साक्षिसाक्षात्कारे शब्दमहिमवर्णनपुरःसरं विवेकादिवर्णनं
नाम द्वितीया वित्तिः ॥ २ ॥

हे हंसा (जीव !) तुम सुवण तुल्य दीप्त वर्णवाले नित्य प्रकाश (ज्ञान) स्वरूप हो, तेरे स्वरूप को ही तुझसे छुठीली जाग्रत स्वरूप मैंने कहा है। परन्तु इस संसार समुद्र = महानदी में तरुवर (श्रेष्ठ मानव देह वृक्ष) को पाकर,

और इस संसार में आसक्त नहीं होकर, यदि तुम इस संसार सागर से पहेली हो (पार होगे) तभी मैं तुमको सराहुँगा। भाव है कि नदी में बहते हुए वृक्ष में फँस कर नौका आदि द्वारा पार जाने वाले भी डूब जाते हैं। दूरदर्शी उस वृक्ष से बँच कर पार होते हैं। तैसे ही देहादि के अभिमानी संसार में डूबते हैं। विवेकी पार होते हैं, सोई प्रशंसनीय हैं, अन्य नहीं। अथवा तरुवर को पाकर, उसको पहेली हो, कहानी मात्र खेल रूप जानोगे (मिथ्या समझोगे) या आनन्द की वृद्धि को उस तरुवर से प्राप्त करोगे, तब तुमको सराहूँगा, अन्यथा नहीं ॥ १४ ॥

——❀——

अथ अविवेककृतसंसारलोभादिवर्णन प्र० ३

हंसा तूँ तो सबल था, हलुकी अपनी चाल।
रङ्ग कुरङ्गे रङ्गिया, किया और लगवार ॥१५॥

हंस ! भोः सबलोऽपि त्वं गत्यैव हीनया स्वया।
कुरागै रञ्जितो देवं पश्यस्यन्यं पतिं यथा ॥१॥
आत्मा ते सर्वतः शक्तो माययाऽबलतां गतः।
शरीरे दुर्गुणे सक्तोऽन्यान्पतींस्त्वं हि नाधसे ॥२॥
"अविद्यासंश्रयादात्मा बलीयानपि दुर्बलः।
अविद्याराजयक्ष्माऽस्य कार्श्यमेति तया यतः ॥३॥
मोहोदयो महान् मृत्युर्मुमुक्षो र्वपुरादिषु।
मोहस्य विनिवृत्तिं तु मोक्षमाहुर्मनीषिणः ॥४॥
"एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम्" ॥५॥१५॥

हे हंसा! जन्म से प्रथम तथा बाल्यावस्थायुक्त मानव देह में तूँ सबल था, (उत्कट कामादि से रहित था) महा प्रलय में सर्वशक्तिमान् ईश्वर ही में लीन था, परन्तु अपनी अविद्या मोहादिवश हलुकी चाल (व्यवहार) से कुरङ्ग रङ्ग (देहाभिमान अधर्म अज्ञान रागद्वेषादि) में तूँ रंग गया। और= और (अनात्मा) को लगवार (या प्रेमी) किया। अतः दुर्बल हुआ है। बल के लिये विवेकादि का सम्पादन करो ॥ १५ ॥

हंसा सरवर तजि चले, देही परिगौ शून।
कहहिं कबीर पुकारि के, तेई दर तेइ थून ॥१६॥

देही हंसः सरस्त्यक्त्वा मोहं मूर्च्छामुपागतः ।
तत्रैव बध्यते कीले बहुधा वासनादिभिः ॥६॥
देहाभिमानवाञ्जीवो देहत्यागान्न मुच्यते ।
तस्मात्तृणजलूकेव[1] गृहीत्वाऽन्यं विमुञ्चति ॥७॥
स्वप्नवन्मरणे काले गृहीत्वाऽन्यं कलेवरम् ।
जीर्णं कलेवरं त्यक्त्वा पुनस्तत्र प्रवर्तते ॥८॥१६॥

आत्म विवेक विज्ञानादि रहित देही (देहाभिमानी) हंसा (जीव) जब मानवदेह रूप सरोवर को त्यागकर चला तब शून्य पड़ गया (मोहादिकों ने उसको घेर लिया)। अतः ज्ञानादि रहित हो गया और देह भी चेतना रहित हो गई। परन्तु श्री कबीर साहब कहते हैं कि अविवेकादि के कारण तेई दर (उस देह त्याग के स्थान) में ही फिर तेई थून (उस तुल्य ही अन्य भौतिक देहरूप स्तम्भ) में वह बँध गया (वासनादि वश अन्य देह का अभिमानी हो गया)। अतः अभ्यास वैराग्यपूर्वक आत्म परिचय द्वारा वासनादि को इसी देह में नष्ट करके मुक्त होना चाहिये ॥ १६ ॥

हंसा के घट भीतरे, बसे सरोवर खोट ।
एको ठौर न लागिया, रहा स ओटे ओट ॥१७॥

अविवेकवतां ह्यन्तर्वासनाकामकोटयः ।
वर्तन्ते तन्मयास्तेऽतो न च मुक्ता भवन्ति हि ॥९॥
ज्ञानस्याभ्यासतस्तावद्वासना संप्रलीयते ।
वासनायाः क्षये मुक्तो सदा भवतियोगवित् ॥१०॥
शरीरे वात्र हंसस्य मनः खातं कुकर्मणाम् ।
विद्यते तेन सुस्थानं ह्यप्राप्यैकं[2] विलीयते ॥११॥१७॥

उक्त अभ्यास वैराग्यादि के बिना, हंसा (मानवदेहधारी जीवों) के भी घट के भीतर (हृदय) में पाप काम कुवासना आदि रूप खोट (असत्य दुःखद रोगप्रद रागद्वेषादि जल) के सरोवर (भारी बड़ा तालाव) बसते (रहते) हैं। अतः ऐसे हृदय वाले एक जीव भी एको (कोई) ठौर (स्थिति

---

१ तद्यथा, तृणजलायुका, तृणस्यान्तं गत्वाऽन्यमाक्रममाक्रम्याऽऽत्मानमुपसंहरत्येवमेवाऽयमात्मेदं शरीरं निहत्याऽविद्यां गमयित्वाऽन्यमाक्रममाक्रम्याऽऽत्मानमुपसंहरति । बृ० अ० ४।४।३॥ २ एकमद्वितीयं सुस्थानमप्राप्यैवसद्गुरुभ्यो विलीनोऽन्तर्हितो भवति तथाऽविद्यायामावरणशक्त्या विलीनस्तिष्ठति ।

स्थान) स्वरूप में नहीं लग सकें। किन्तु अज्ञान कृत ओटे ओट में (आवरण पर आवरण में) पाँच कोसों के आत्मत्वादि के अभिमान से उनके अन्दर रह गये, विविक्त पृथक् मुञ्जेषीका न्याय से नहीं हुए। अतः आवरण की निवृत्ति के लिये सत्सङ्गादि उपाय कर्तव्य है ॥१७॥

हंस बक देखि एक रङ्ग, चरहिं हरियरे ताल।
हंस क्षीर ते जानिये, बकउ धरेगें काल ॥१८॥

वद्धमुक्तौ कथं ज्ञेयावित्येवं हृदये यदि।
विमर्शो विद्यते विद्वन् रहस्यं श्रूयतां तदा ॥१२॥
यथा हंसबकौ श्वेतौ सरस्येकत्र चारिणौ।
क्षीरनीरविवेकेन हंसो विज्ञायते स्फुटम् ॥१३॥
बको मत्स्यादिघातेन तथा ज्ञानेन मुक्तधीः।
कामदम्भाद्यभावेन वैराग्येण च लक्ष्यते ॥१४॥
अज्ञो देहाभिमानेन हिंसादिभिश्च वुध्यते।
स तिष्ठति सदा दीनः कालचक्रमुपागतः ॥१५॥
परस्वादानविरतो ज्ञः स्वार्थानप्युपेक्षते।
समाहर्तुं परार्थांश्च ह्यबुधश्चेष्टते सदा ॥ १६ ॥१८॥

सत्सङ्गादि के लिये सन्त आदि को कैसे पहचाना जाय, ऐसी जिज्ञासा होने पर कहते हैं कि, हंस और वक के समान विवेकी सन्त और अविवेकी मनुष्य, उपर से एक रङ्ग (तुल्य आकारादि वाले) दीख पड़ते हैं। जैसे हंस बक दोनों हरे तालाव में विचरते हैं, तैसे सन्त असन्त दोनों संसार में विचरते हैं, परन्तु हंस जैसे दूध से पहचाना जाता है और बक काल रूप से मछली को धरता है, उससे पहचाना जाता है। तैसे ही ज्ञानी सन्त अमानित्वादि से और असन्त मानित्वादि से पहचाने जाते हैं, इस पहचान से ही काल भी वकवृत्ति को ही पकड़ता है, विवेकी को मुक्त करता है ॥ १८ ॥

काहे हरिणी दूबरी, इहे हरियरे ताल।
लक्ष अहेरी एक मृग, केतिक टारै भाल ॥१९॥

शुभेऽस्मिन् मानवे देहे तृणयुक्तसरोनिभे।
सति जीवमृगोऽयं किमत्यन्तं हि कृशायते ॥१७॥
आलोच्यैवं ततो विद्वन् कारणान्यत्र निश्चिनु।
यदेकैकस्य नाशाय लक्षव्याधा हि वञ्चकाः ॥१८॥

कामलोभादयश्चैव सन्त्येव घातुकास्तथा।
कस्यचिद् वाणवाण्या च सोऽसदर्थिकया क्षतः ॥१९॥
घूर्णतेऽयं मृगो व्यग्रो न शर्म लभते क्वचित्।
मृगीव चास्य बुद्धि वै कृशा दीना च तिष्ठति ॥२०॥
वाग्बाणवारणाशक्ता मनोरथशतै र्हता।
विकल्पजालबद्धा च न तृप्यति गुरुं विना ॥२१॥
"हीयते हि मतिस्तावद्धीनैः सह समागमात्।"
जीवोऽत्यवलतामेत्य वाग्बाणाद्यैर्विनश्यति ॥२२॥१९॥

इस मानव लोक में देहरूप हरे तालाव तुल्य के रहते भी हरिणी तुल्य चञ्चल मनुष्यों की बुद्धि काहे (क्यों) दूबरी (शक्तिहीन) रहती है कि जिससे मनुष्य बकवृत्ति असन्त हो जाते हैं, ऐसी जिज्ञासा होने पर, कहा गया है कि कुगुरु काम लोभादि लाखों अहेरी (शिकारी) हैं। और मन जीव रूप एक मृग है, सो कहाँ तक कितने उनके भाला (बाण बरछी) को टारे निवारण करे, (कितने अस्त्र शस्त्रों से बचे)। अतः उनके वाक्वृत्ति रूप बाणों से बेधित होने के कारण बुद्धि दुबली रहती है। जो बुद्धि में बल चाहें सो विवेक करके कुगुरु कुसङ्ग कुकाम लोभादि को अवश्य त्यागे ॥१६॥

लोभे ज्ञान गमाइया, पापे खाया पून।
आधी सो आधी कहै, तापर मेरा खून ॥२०॥

धूर्तानां वचनै र्मोहै र्लोभात्प्राणमनाशयत्।
पापान्नश्यति सत् पुण्यं लोभात्सर्वं विनश्यति ॥२३॥
"न चास्ति धर्मसम्बन्धो लोभाक्रान्तस्य देहिनः।
स एव धर्मविध्वंसी लोभः परमदारुणः" ॥२४॥
एको लोभो महाग्राहो लोभात्पापं प्रवर्तते।
अतः शोकश्च कोपश्च तथा दुःखमनुत्तमम् ॥२५॥
लोभस्यास्य विनाशार्थमर्द्धमात्रात्परेऽव्यये[1]।
मनोधृत्वा जहिह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥२६॥
देहादौ ममतां त्यक्त्वा ह्यात्मन्येवविधीयताम्।
एवं लोभो महापापः कामश्च नङ्क्ष्यति स्वयम् ॥२७॥
ओङ्कारो[2] ह्यर्द्धसाक्ष्यात्मा तदर्थस्यैव भावने।
लोभादेव प्रवर्तन्ते जना वै विषयात्मकाः ॥२८॥

१ प्रणवस्यार्द्धमात्रावाच्यान्मायाशबलात्परेशुद्धे ब्रह्मणीति। २ ओङ्कार-

लोभस्यैतस्य नाशार्थं प्रणवार्द्धस्य चिन्तनात् ।
यल्लोकात्मकं[1] प्रश्ने श्रुतं तदिह खण्ड्यते ॥२९॥
लोभादिमुक्तो गुरुपादरक्तः सक्तः सदा स्वात्मपदावलोके ।
यो वै विरक्तश्च सतां सुभक्तो मुक्तो भवेन्मोहमदादिरिक्तः ॥३०॥२०॥

इति साक्षिसाक्षात्कारेऽविवेककृत संसारबन्धन लोभादिवर्णनं नाम तृतीया वित्तिः ॥ ३ ॥

कुसङ्गादि के त्याग के बिना मिथ्योपदेश कुसङ्गादि जन्यलोभों से मनुष्यों ने व्यर्थ ही जान (प्राण जीवन) को गमाया (नष्ट किया) क्योंकि लोभ जन्य पाप उनके पुण्य को खा गया (नष्ट किया) इससे कोई सदर्थ (फल) नहीं प्राप्त हुआ । उस सदर्थ की प्राप्ति के लिये प्रथम लोभ पाप दुश्चरित्र से रहित होना चाहिये. फिर आधी साखी (आधा वाक्य = एक पद) रूप ओंकार स भ· आधी जो उसका एक मात्रा, अकार या उकार स्वरूप या अर्द्ध मात्र म् स्वरूप कहे जात हैं, उन सब अ, उ. म्, के अर्थों विश्वनामा जीव, विराट, तैजस, हिरण्यगर्भ प्राज्ञ, ईश्वर से पर अमात्र साक्षी स्वरूप में मेरापन (ममता) का खून (लय) करना चाहिये कि जिससे सब अहेरी (कालादि) के भय से रहित ठौर स्वरूपता की प्राप्ति से मुक्ति हो ॥२०॥

अथ ओंकारतत्त्वादिनिर्णयप्रकरण ४

आधी साखी शिर कटी, जो निरुवारी जाय ।
क्या पण्डित की पोथिया, रातदिवस मिलि गाय ॥२१॥

शिरोबन्धनहीनोय ॐकारोऽस्त्यर्द्धसाक्षिवत् ।
लिप्यां तन्निर्णये नास्ति ग्रन्थैरन्यैः प्रयोजनम् ॥१॥
ओङ्कारार्थस्य[2] विज्ञानात्सर्वं सद्विदितं भवेत् ।
वेदनान्मुक्तिरित्याहुरध्ययनं फलवत् कथम् ॥२॥

वाच्यः शुद्धापेक्षयाऽर्द्धसाक्षिस्वरूपस्तस्मादप्यर्द्धस्वरूप एक मात्रादिवाच्यः । अथवा पदद्वयात्मकत्वाद् वाक्यस्यैकपदात्मक ओङ्कारोऽर्द्धसाक्षिस्वरूपोऽर्द्धवाक्य (प्रमाण) स्वरूपः । तत्त्वमस्यादि पूर्णप्रमाण (वाक्य) स्वरूपमिति । १ स यद्येकमात्रमभिध्यायति । प्र. ५।३।

२ ब्रह्म ह ब्रह्माणं पुष्करे ससृजे । स खलु ब्रह्मा सृष्टश्चिन्तामापेदे । केनाहमेकेनाक्षरेण सर्वांश्चकामान् सर्वांश्चलोकान् सर्वांश्चदेवान् सर्वांश्चवेदान्

"आत्मानं विन्दते येन सर्वभूतगुहाशयम् ।
श्लोकेन वा तदर्द्धेन क्षीणं तस्य प्रयोजनम् ॥४॥
युञ्जीत प्रणवे चेतः प्रणवो ब्रह्मनिर्भयम् ।
प्रणवे नित्ययुक्तस्य न भयं विद्यते क्वचित्" ॥४॥
ओंकारार्थोऽविवेके तु युक्तिमन्तोऽपि पण्डिताः ।
मिथ्यात्मन्यभिमानेन[1] संसरन्ति निरन्तरम् ॥५॥२१॥

लेख में शिर कटा (शिरो बन्धन रहित) तथा सर्व कारण होने से शिरोधार्य कारण रहित ॐकाररूप आधी साखी (अर्द्ध वाक्य) जो (यदि) निरुवारी जाय (विवेकपूर्वक अर्थ सहित समझा जाय) तथा शिर कटी (स्वतः सत्त्व रहित) माया को यदि आधी साखी के लक्ष्य अमात्र से निरुआर (निवारण) कर लिया जाय, तो उन पण्डितों के पोथियों से क्या फल है कि जिनको रात-दिन लोग मिलकर गाते (पढ़ते-पढ़ाते) हैं । अर्थात् ओङ्कारार्थ के निर्णय से स्थूल सूक्ष्म कारण निर्गुण ब्रह्मात्मा सब ज्ञातव्य का ज्ञान हो जाता है । अतः कर्तव्य की समाप्ति सब फल की प्राप्ति हो जाती है । क्योंकि "पोथि पढ़ि पढ़ि जग मुआ, पण्डित भया न कोय । एकै अक्षर प्रेम का, पढ़ै सो पण्डित होय ॥१॥" पोथियों को पढ कर संसारी मरा । परन्तु पण्डित (ज्ञानी) नहीं हुआ । किन्तु पर प्रेम का विषय एक अक्षर (अविनाशी) आत्म के बोधक एक अक्षर ओङ्कार को ही जो विवेकपूर्वक पढ़ता है सो ज्ञानी मुक्त कर्तव्य शून्य होता है "ओङ्कारो विदितो येन स मुनि र्नेतरो जनः"॥२१॥

पाँच तत्त्व का पूतला, युक्ति रची मैं कीव ।
मैं तोहि पूछौ पण्डिता, शब्द बड़ा की जीव ॥२२॥

पञ्चतत्त्वात्मिका ह्येषा पुत्रिका युक्तिभिः[2] कृता ।
तत्र पृच्छामि विद्वंस्त्वां कोमहान् जीवशब्दयोः ॥६॥
भौतिके पुत्रिकादेहे ममतानर्थकारणम् ।
युक्तिं कृत्वाऽपि कुरुते तां तु मूढो न पण्डितः ॥७॥
कृतां पाञ्चालिकां ज्ञात्वा सुखी तत्र विचारवान् ।
विचारः क्रियतां तस्मात्स्वात्मदेहेषु को महान् ॥८॥

सर्वांश्चयज्ञान् सर्वांशब्दान् सर्वांश्च व्यूष्टीः सर्वाणि च भूतानि स्थावरजङ्गमानि अनुभवेयमिति । स ब्रह्मचर्यमचरत् स ओमित्येतदक्षरमपश्यत् । गोपथ ब्रा. १।१६॥ १ शरीरे = आत्मत्वाद्यभिमानेनेति ।
२ पञ्चीकरणादिभियु क्तिभिरीश्वरेण कृता ।

आत्मनः सत्तया सर्वमिदं जातं चराचरम् ।
अत्रात्मानं पृथक् कृत्वा [1]वाचारम्भणकं त्यज ॥९॥
"साकारमनृतं विद्धि निराकारं तु निश्चलम् ।
एतत्तत्त्वोपदेशेन[2] न पुनः भवसंभवः" । १०॥२२॥

ओङ्कारार्थ के विवेकादि से रहित जो पुस्तक पाठी पण्डित युक्ति युक्त वाणी को रचकर भी पाँच तत्त्व के कार्य देह में ही ममता आत्मबुद्धि किये हैं, तथा स्वरचित शब्द को बड़ा प्रमाण मान लिये हैं, उनसे पूछा जाता है कि "वेद बड़ा कि जिन उपजाया । शब्द ८६" इत्यादि रीति से शब्द बड़ा है कि जीवात्मा बड़ा है, सो समझो । और शब्द स्वरूप में नहीं फँसकर ओङ्कार के लक्ष्यार्थ निर्विकार साक्षी को समझो । अथवा आत्मदृष्टि (शास्त्र दृष्टि) से कहा गया है कि पाँच तत्त्व के पूतला (देह) को मैं (जीवात्मा) युक्ति से रचकर सिद्ध किया है । हे पण्डितों ! तहाँ मैं तुमसे पूछता हूँ कि शब्दादियुक्त देह बड़ा है कि ओङ्कारार्थ स्वरूप जीवात्मा बड़ा है अर्थात् शब्द युक्त वाचारम्भण शब्दमात्र देह नहीं बड़ा है । किन्तु जीव का पारमार्थिक स्वरूप बड़ा है । वही अमात्र ओङ्कार का लक्ष्यार्थ है सर्व त्यागपूर्वक उसी को समझना चाहिये ॥ २२ ॥

पाँच तत्त्व लै या तन कीन्हा, सो तन का लै कीन्ह ।
कर्महिं के वश जीव कहत है, कर्महिं कहँ जिव दीन्ह ॥२३॥

आदाय पञ्चतत्त्वानि कृत्वा चेदं कलेवरम् ।
अहो मूढैः कृतं तेन किं तन्मनसि चिन्त्यताम् ॥११॥
आत्मनो ह्यविवेकेन सत्यानन्दमया अपि ।
कर्मवश्या भवन्तोऽज्ञा जीवत्वं समुपागताः ॥१२॥
अहो मोहात्पुनस्तेऽत्र घटन्ते कर्मणे सदा ।
देहेन मानवेनैव नात्मानं प्रोद्धरन्ति च ॥१३॥
अहो मोहस्य माहात्म्यं स्वात्मानन्दमहोदधिम् ।
हित्वा क्षणिकदेहेषु रमन्ते ह्यभिमानतः ॥१४॥
ओङ्कारार्थे विविक्ते तु सत्यानन्दादिलक्षणे ।
त्यक्त्वा कर्माणि कोशांश्च परं ब्रह्माधिगम्यते ॥१५॥२३॥

---

१ वाचारम्भणं विकारो नामधेयमितिश्रुतिबोधितं, वाचैवारम्यमाणं व्यवह्रियमाणं विकारजातम् । यतो नामधेयमात्रमर्थशून्यमस्ति तस्माद्वागालम्बनं तत् । २ अष्टावक्रगीता. अ. १।१७ ।

जीवात्मा के अविवेक अज्ञान से ही जीवात्मा ने पाँच तत्त्व को लेकर इस मानव देह को स्वकर्मादि द्वारा किया है (जीवों के कर्मवासनादि के अधीन ही ईश्वर से इस देह की रचना हुई है) तहाँ उस देह को लेकर (पाकर) विवेकादि रहित जीवों ने क्या किया है कि जिन काम्यादि कर्मों के वश होने से इनको परवश अज्ञ जीव (प्राणधारी) कहा जाता है, उन कर्मों ही के प्रति देह को जीवों ने दिया है। कर्मों के प्रति देह का मानो अर्पण किया है, दान दिया है, ज्ञानादि द्वारा स्वोद्धार न किया है न करते हैं अथवा परमात्मा ने माया द्वारा पाँच तत्त्व को लेकर इस उत्तम मानव देह को बनाया है, फिर उस तन को स्वयं लेकर (उसके अन्तर्यामी होकर) क्या किया है कि कर्म ही के वशवर्ती जिस जीव को कहते हैं, उसको कर्मबन्धन से रहित होने के लिये भी सत्कर्म भक्ति आदि करने ही के लिये यह मानव देह दिया है, अकर्मण्यता के लिये नहीं। अतः वेद कहता है कि "कुर्वन्नेव कर्माणि जिजीविषेच्छत समाः" कर्मों को करते हुए सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करे ॥२३॥

पाँच तत्त्व का पूतला, मानुष धरिया नाम।
एक कला के बीछुरे, विकल होत सब ठाम ॥२४॥

तत्त्वपाञ्चालिका देहो नामधेयेन मानवः।
कलामात्रस्य वैषम्यात्क्षणान्नष्टोभवत्ययम् ॥१६॥
अतो नात्माऽस्ति देहोऽयमेवं प्राणादिकोऽपि च।
नात्मा जडत्वधर्मत्वादात्माऽनंशः सदाऽव्ययः ॥१७॥

प्रायः अज्ञ लोग मनुष्यता आदि के अभिमान करके ही काम्यकर्मादि में प्रवृत्त होते हैं। किन्तु पाँच तत्त्व का पूतलारूप शरीर का ही मनुष्य नाम धरा गया है, जीवात्मा का नहीं, और सो देह भी प्राणादि [1]सोलह १६ कलाओं में से एक कलारूप प्राण के वियोगमात्र से अन्य सब कलाओं के वियोग होने के कारण सब ठाम (स्थान लोक) में विकल (नष्ट) हो जाती है तथा एक नाड़ी आदि रूप कला (अंश) के वियोग से सर्वाङ्ग में पीड़ा होती है। किसी एक कला के वियोग से सर्व स्थान में विकलता होती है तथा चन्द्रमा के स्थायी कलातुल्य आत्मा के बिछुरे (वियुक्त अज्ञात) रहने से जीव सर्वत्र

---

१ स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धां खं वायु ज्योतिरापः पृथिवीन्द्रियं मनोऽन्नमन्नाद्वीर्यं तपो मन्त्राः कर्मलोका लोकेषु च नाम च। प्रश्न० ५।४। ये कलायें कही गयी हैं।

विकल (व्याकुल) होता है। अतः इस देह की फिर प्राप्ति आदि के लिये कर्मादि नहीं करना चाहिये। किन्तु इसके द्वारा आत्म ज्ञानादि के लिये यत्न करना चाहिये ॥ २४ ॥ क्योंकि—

पाँच तत्त्व के भीतरे, गुप्त वस्तु अस्थान।
विरले मर्म पाई हैं, गुरु के शब्द प्रमाण ॥२५॥

पञ्चतत्त्वान्तरे चायमात्मा गूढो हृदन्तरे।
सदा व्यवस्थितश्चास्ते गुरुशब्देन लभ्यते ॥१८॥
अभिमानादिहीनेन नान्यै र्वर्षशतैरपि।
अभिमानमतस्त्यक्त्वा गुरुपादं समाश्रयेत् ॥१९॥
व्यापकोऽपि सदात्माऽयं व्यक्तत्वात्कथ्यते हृदि।
व्यक्तं तं हि परिज्ञायाऽव्यक्तं पश्यति तं बुधः ॥२०॥२५॥

पाँच तत्त्व के कार्यरूप देह के भीतर हृदय में गुप्त वस्तु सर्वात्म देव की प्राप्ति का स्थान है, उसके मर्म (भेद) को विरले मनुष्य गुरु के शब्दरूप प्रमाण से पाते हैं, पायेगें। कर्मादि से नहीं। अतः गुरु से ज्ञानार्थी ओङ्कारादि के श्रवणादि करे, यही कर्तव्य है ॥ २५ ॥

अशून्य तखत अड़ि आसन, पिण्ड झरोखे नूर।
जाके दिल में हौं बसे, सेना लिये हजूर ॥२६॥

स्वे महिम्नि स्थितो ह्यात्मा प्रतिबोधं प्रकाशते।
लभ्यते गुरुभक्तेन वैराग्यादियुतेन वै ॥२१॥
सिंहासने त्वशून्येऽत्रस्वासनं प्रविधाय सः।
गवाक्षपिण्डमार्गेषु ज्योतिः किरति जागृतौ ॥२२॥
शून्यात्परे मनः स्थानं कुर्या हृदि चिदम्बरे।
सर्ववृत्तिषु चात्मस्थं प्रकाशमवलोकय ॥२३॥
अभिमानं परित्यज्य समाधानं विधीयताम्।
क्रियतां न क्वचित्सङ्गस्ततो मुक्तो भवान् स्वयम् ॥२४॥
येऽत्राभिमानिनः क्रूरास्तच्छिक्षायै चमूवृतः।
महाराजो निजात्मैव स एव यमराट् स्वयम् ॥२५॥
"न यमं यममित्याहुरात्मा वै यम उच्यते।
आत्मा संयमितो येन तं यमः किं करिष्यति" ॥२६॥२६॥

अशून्य (आकाश से भिन्न = सत्य स्वरूप = प्रकाशमान) हृदयरूप तखत

(तख़्त = सिंहासन) पर आसन अड़ा (लगा) कर वह गुप्त आत्मादेव बैठा है। और उसी की नूर (ज्योति = प्रकाश) देहरूप पिण्ड के झरोखे (खिड़कियों द्वारों) पर वर्तमान रहते हैं। और जिसके दिल (मन) में हौं (अभिमान) बसता है। उसको दण्ड देने के लिये वह सेना लिये प्रत्यक्ष हजूर (उपस्थित) रहता है तथा जिसके दिल में हौं (हम) सद्गुरु बसते हैं, उसके लिये ज्ञानादि की सेना लेकर वह उपस्थित रहता है ॥ २६ ॥

रङ्गहि ते रंग ऊपजे, सब रंग देखी एक।
कौन रङ्ग है जीव का, ताकर करहु विवेक ॥२७॥

यथा वर्णाद् भवेद् वर्णस्तथा मायादितो जगत्।
भूतरागात्मकं मिथ्या विद्धि मायामनोमयम् ॥२७॥
इत्थमेतत्परिज्ञाय जीवात्मा वै विविच्यताम्।
किं स्वरूपो ह्यसौ शश्वद् यथागर्वो न बाधते ॥२८॥
रूपाद्भवन्ति रूपाणि वर्णाद् वर्णाभवन्ति च।
सर्वाण्येकं विलोक्याच्छेस्वस्वरूपे स्थिरो भव ॥२६॥
यदि भूतविकारांस्त्वं द्रक्ष्यसि भूतमात्रकान्।
तत्क्षणाद्वन्धनिर्मुक्तः स्वरूपस्थो भविष्यसि ॥३०॥
"नाहं देहो न मे देहो बोधोऽहमिति निश्चयी।
कैवल्यमिवसम्प्राप्तो न स्मरत्यकृतं कृतम्" ॥३१॥२७॥

जाल पसारने वाली त्रिगुणात्मक माया रूप रंग से सब रंगों की उत्पत्ति (अनेक आकार प्रकार वाले शरीरों का जन्म) भूतों की उत्पत्तिपूर्वक होती हैं तथा सजातीय देहों से देहों की उत्पत्ति होती है। तहाँ उपादान कारण और कार्य में अभिन्नता की दृष्टि से सब रङ्ग (प्रकार आकार) वाले शरीर और सब भूतों को एक रङ्ग (मात्र) देख (जान) कर शरीरों को जड़ भूत मात्र जानकर इस शरीर यन्त्र को चलाने वाला यन्त्री जीव का कौन रङ्ग है (स्वरूप है) उसका विवेक (ज्ञान) को प्राप्त करो। शरीरों से भिन्न चिदात्मा साक्षी को समझो कि जिससे अज्ञान मूलक अभिमानादि की निवृत्ति से दण्डादि नहीं सहना हो, मोक्ष की प्राप्ति हो। परन्तु उस यन्त्री जीवात्मा के विवेक के लिये, उसमें मन को लगाना होगा, सो कहा गया है कि "कहहिं कबिर जन भये विवेकी, जिन यन्त्री मन लाया। शब्द ६" इत्यादि ॥ २७ ॥

जाग्रत रूपी जीव है, शब्द सोहागा शेत।
जलद बुन्द जल कूकुही, कहहिं कबिर कोइ देख ॥२८॥

नित्य जाग्रत्स्वरूपोऽयं जीवात्मा चित्स्वरूपतः ।
आपातरमणीयाश्च शब्दादिविषया इमे ॥३२॥
क्षारद्रव्यस्य संसर्गाद्यथा लौहं विलीयते ।
अकृतात्मा तथा तेषां सङ्गात्प्रच्यवते स्वतः ॥३३॥
जले जलद बिन्दूनां पाते बुद्बुदसन्ततिः ।
यथा तद्वदिदं विश्वं पश्यन्ति वै विवेकिनः ॥३४॥
मनोमायादियोगेन जाता विश्वपरंपरा ।
क्षणिका सा च मोहेन विपरीता विभाति हि ॥३५॥
जाग्रदादिष्ववस्थावान् योऽयं जीवः प्रतीयते ।
निरवस्थोऽपि मोहेन ह्यशुद्धो जन्ममृत्युमान् ॥३६॥
गुरूणां सारशब्देन शुद्धः सन् प्रतिभानवान् ।
जलबुद्बुदवद्विश्वं स्वाभिन्नं च प्रपश्यति ॥३७॥२८॥

विवेकी को समझना चाहिये कि यह जीवात्मा जाग्रत (नित्य चेतन) स्वरूप है। और शब्दादि विषय सोहागा के समान देखने सुनने आदि में श्वेत (उज्वल सुन्दर) हैं। परन्तु सोहागा जैसे लोहा आदि को अग्नि संयोग होने पर गलाता है। तैसे विषय रूप शब्दादि, अनात्मदेहादि के सङ्ग अभिमानादि के रहते जीव को पीड़ित करते (क्षुब्ध करते) हैं। नित्य चित् स्वरूपता को व्यक्त नहीं होने देते हैं तथा स्वर्णतुल्य विवेकी जीव को सोहागा के समान गुरु के शुद्ध शब्द करनेवाले होते हैं। परन्तु जलद (मेघ) के बुन्द के नीचे के जल में पड़ने से जल की कुकुढ़ी (बुद्बुद) के समान क्षणभंगुर मिथ्या कोई विरले देहादि को देखते (अपरोक्ष समझते) हैं। और इससे भिन्न निर्विकार जीवात्मा को समझते हैं, सो विवेकी होते हैं ॥२८॥

हृदया भीतर आरसी, मुख देखा नहिं जाय।
मुख तो तबही देखिये, दिल की दुविधा जाय ॥२९॥

सर्वस्य हृदये ह्येतन्मुकुरो विद्यते मनः ।
तत्रापि संशयादिभ्यो मुख्यात्मा नोपलभ्यते ॥३८॥
विगमे संशयादीनां लभ्यतेऽयं स्वयंप्रभः ।
तत्त्वज्ञै हिं सुमार्गस्थैरिन्द्रियागोचरोऽपि सन् ॥३९॥२९॥

चिदानन्द स्वरूप मुख (मुख्य) आत्मा को देखने के लिये सबके हृदय कमल के भीतर में मन रूप आरसी (दर्पण) रहता है, तो भी सबसे मुख्य चेतनात्मा देखा (समझा) नहीं जाता है। अतः मिथ्या सब देहादि की ही

आत्मा समझते हैं। क्योंकि वह मुख्य सत्यात्मा तो तभी देखा (समझा) जाता है कि जब सत्कर्मोपासना भक्ति से पापादि के नष्ट होने पर, विवेक विचारादि से मन की दुविधा (संशय चञ्चलता) निवृत्त हो जाती है। अतः आत्मदर्शन के लिये विवेक विचारादि अवश्य कर्तव्य हैं ॥२९॥

कबीर का घर शिखर पर, जहाँ सलहली गैल ।
पाँव न टिके पपील का, खल कों लादै बैल ॥३०॥

तत्त्वज्ञानां स्थितिः स्वस्मिन् संसार शिखरोपरि ।
विद्यते चास्य मार्गोऽति सूक्ष्मोऽतिचिक्कणं तथा ॥४०॥
तर्कस्य विषयो नात्मा ह्युपदेशं विना सताम् ।
सुसन्दिग्धे कथं कोऽत्र स्थातुं वा गन्तुमर्हति ॥४१॥
काम्य कर्मप्रसक्तानां मनः सक्तं सुरालये ।
तस्यापि सरणिः सूक्ष्मा सर्वागम्या च पावदा ॥४२॥
स्वर्गं सर्वेऽभिवाञ्छन्ति जानन्ति नो मनोगतिम् ।
अतः संभ्रम्यमाणास्ते लभन्ते नैव निर्वृतिम् ॥४३॥
यत्रपिपीलिकापादतुल्यं किञ्चिन्न तिष्ठति ।
वृषभाभान् सुसन्धाय कः खलोऽत्र गमिष्यति ॥४४॥
किम्वा पिपीलिकापादा यत्र तिष्ठन्ति नैव हि ।
संसारिणो हि यान्तीमे तत्रादाय मनो वृषम् ॥४६॥
यो वै नित्यं श्रवणमननैर्ध्यानैः सदा संस्कृते ।
स्वात्मा रामः सदयहृदये निःसंशये पावनम् ।
आत्मानन्दं परमविमलं सत्यं मुदा भावयेत् ।
सोत्रैवास्ते सुखनिधिरजोऽव्यक्तो यथा केवलः ॥४६॥३०॥

इति साक्षिसाक्षात्कारोगुरुलब्धोङ्कारादिनिर्णयवर्णनंनामचतुर्थी विन्तिः ॥४

कबीर (ज्ञानी) का घर संसार तथा सुमेरु पर्वत के शिखर (स्वर्ग ब्रह्मलोक) से पर (भिन्न उत्तम) निजात्म स्वरूप ही है। जहाँ के गैल (मार्ग) सलहली (संकीर्ण, अत्यन्त चिक्कन) है, शमदमादि रूप जहाँ के मार्ग कठिन है। अत एव जहाँ पपील (पिपीलिका चींटी) के पाँव नहीं टिकते हैं, विवेकादि रहित सूक्ष्म बुद्धि मन तर्कादि की गति जहाँ नहीं हो सकती है तो भी सब खलक (संसारी) उसी में बैल लादता है (मन के द्वारा सब व्यवहार उसीमें करता है)। अर्थात् ज्ञानी जिसको अनेक साधनों से समझते हैं, जिसको शिखर से पर कहा गया है, सो सर्वाधार सर्वात्मा राम हैं। अत एव

दूर या अलभ्य नहीं है, अज्ञानादि से ही दूर दुर्लभ भासता है। विवेकादि से हृदयमें प्रत्यक्ष होता है या जहाँ सूक्ष्म बुद्धिवाले कुतर्कियोंका मन नहीं टिकता है। तहाँ को (कौन) खल बैल (जड़ मन) लाद सकता है। अनन्त कुवासना कामादियुक्त मनवाले खल (दुष्ट दुश्चरित्र प्रमादी) कौन वहाँ पहुँच सकते हैं। अतः पहुँचने के लिये दुश्चरित्रादि को अवश्य त्यागना चाहिये ॥ ३० ॥

अथ अज्ञानकृत अनधिकारचेष्टादिवर्णन प्र० ५

विन देखे वा देश की, बात कहै सो कूर।
आपुहि खारी खात है, बेचत फिरै कपूर ॥३१॥

विवेकेनापरिज्ञाय स्वर्गादीन् विषयी नरः।
अन्यान् प्रत्युपदेशाय घटते स कुबुद्धिमान् ॥१॥
विरसे विषये मग्नो नानन्दं जातु विन्दते।
परस्य वञ्चनार्थाय केवलं स प्रवर्तते ॥२॥
स्वयं क्षारं सदा खादेत् कुर्यात् कर्पूरविक्रयम्।
यथा कश्चित् तथैवाऽयं कुरुते मन्दधीत्वतः ॥३॥३१॥

विवेक विचारादि द्वारा देखे (जाने) के विना, जो वा देश (जहाँ ज्ञानी पहुँचता है, उस देश की = आत्मा मोक्ष की या स्वर्गादि परोक्ष स्थान) की बातों को कहते हैं, सो कूर (क्रूर अज्ञ) हैं। क्योंकि वे लोग कुमार्ग में प्रवृत्त कराकर श्रोता को पीड़ित करते हैं। और आप स्वयं खारी (निरस विषय) को खाते (भोगते) हैं। अन्य के लिये सुगन्ध कपूर (स्वर्ग मोक्ष) बेचते फिरते हैं, सो उचित नहीं है। प्रथम सदाचारादि पूर्वक समझ कर सत् पात्र जिज्ञासु को उपदेश देना चाहिये। और सदाचारी के उपदेश को सदाचारादि पूर्वक सुनना चाहिये ॥३१॥

जिहि मारग सनकादि गै, ब्रह्मा विष्णु महेश।
सो मारग सब थाकिया, काहि कहौं उपदेश ॥३२॥

सकामकर्मणा येन तपसोपासनेन वा।
सनकादिविधात्राद्या अगमन् स्वर्गमूर्धनि।
श्रान्तास्तत्र जनाः सर्वे कस्मै स्वात्मोपदिश्यताम् ॥४॥
ब्रह्मलोकादि वाच्छन्ति नात्मलोकमिमेजनाः।
सनकादींस्तु मन्यन्ते लोकान्तरगतान् तथा ॥४॥३२॥

जिस गुरु भक्ति विवेक विरागादि मार्ग से सनकादि गये, और ब्रह्मा विष्णु महेश गये, सोई प्रवृत्ति निवृत्ति रूप दो मार्ग हैं, कि जिन्हें बिरहुली में कहा गया है कि "ब्रह्मादिक सनकादिक बिरहुली। कथि गै योग अपार बिरहुली" इत्यादि। परन्तु अज्ञ जीव सब पूर्वोक्त क्रूर से कथित मनः कल्पित मार्गों में ही थक गये है। योग ज्ञानादि में प्रवृत्त नहीं हो सकते हैं, तो ऐसे किन मनुष्यों के प्रति आत्मोपदेश कहा जाय। किसी विवेकी के लिये यह उपदेश है, अन्य के लिये नहीं या जिस सकाम तप आदि मार्ग से पूर्वजन्म में सनकादि ब्रह्मादि सब गये, उस मार्ग में सब थक गये हैं। मैं निष्काम कर्मादि का उपदेश किसको दूँ, सब ब्रह्मलोकादि के भोगों के इच्छुक हैं, मुमुक्षु दुर्लभ है। "सोइ मारग सब थापिया" यह तृतीय चरण का पाठ भेद है। भाव है कि सनकादि ब्रह्मादि के मार्गों का निश्चय सबने किया है। परन्तु उसमें कोई चलता नहीं है, तो मैं किससे क्या कहूँ इत्यादि ॥३२॥

परबत ऊपर हर बहै, घोड़ा चढ़ि बस गाम।
बिनु फुल भवरा रस चहै, कहु बिरवा कै नाम ॥३३॥

सर्वतोपरिदेशेषु हलं वहति कामिनाम्[1]।
कामादि लक्षणं तुच्छं मनोरथशतैर्युतम् ॥५॥
अश्वारूढा इमेग्रामा निवसन्ति निरन्तरम्।
सुपुष्पैश्च विनैवात्र भ्रमरा रसलोलुपाः ॥७॥
मेरोरुपरि[2] वासार्थं संकल्प्य मनसा स्वयम्।
जाग्रतपरिकराः[3] सर्वे स्वान्तमश्वं विधाय च ॥८॥
गन्तुं तत्रोत्सुकाश्चैव विरसे रसलोभिनः।
मत्तभ्रमरवद्भ्रान्ता न पश्यन्ति मृषात्मकम् ॥९॥
विश्ववृक्षः सदा तुच्छ आसक्त्या भवभीतिदः।
शमपुष्पादिहीनश्च शान्तिपत्रविवर्जितः।
नामाऽपि कथ्यतामस्य किं सत्यमिह विद्यते ॥१०॥३३॥

मिथ्या मार्ग में थके हुए लोगों का हर सुमेरु आदि पर्वतों के ऊपर बहता है। अर्थात् वहाँ पहुँचने के लिये और वहाँ सुख सम्पत्ति के लिये सब प्रायः

---

१ नदी वहतीतिवदथान्तरवृत्तेरकमकताऽत्र।

२ एक विंशतिस्वर्गा वै निविष्टा मेरुमूर्धनि। नरसिंह पु. अ० ३०।२७॥

३ जाग्रतः = सुसाधित उत्फुल्लो परिकरः परिवारः साधनसामग्री येषां ते।

कर्मादि करते हैं, दान देते हैं। और मन इन्द्रिय रूप घोड़ों पर चढ़कर ग्राम के ग्राम बसा है (मन इन्द्रिय द्वारा भोगासक्त होते भी सब पर्वत के ऊपर बसने वाले स्वर्ग के लिये उत्सुक हैं। भवँरा (विषयी) मनुष्य साधन रूप फूल के बिना ही ब्रह्मलोकादि के आनन्द रूप रस को चाहता है। तहाँ कहा जाता है कि ब्रह्मलोकादिरूप संसारवृक्ष के नाम ही भले कहो, परन्तु यह सत्य नहीं है कि जहाँ सत्य आनन्द की प्राप्ति हो, आत्मा ही सत्य है, उसके ही आनन्द से अन्यत्र भी आनन्द भासता है। संसार नाम मात्र मिथ्या है, इसे त्यागने से सत्य आनन्द मिलता है। अतः कहा गया है कि—"झूठ झूठ कै छाड़हू, मिथ्या यह संसार। तिहि कारण मैं कहत हूँ, जाते होय उबार ॥१॥ रमैनी साखी ६०" ॥ ३३ ॥

चन्दन वास निवारहु, तुझ कारण बन काटिया।
जियता जीव न मारहू, मुये सबै निपातिया ॥३४॥

गन्धं वर्जय भद्रश्री ! वनं छिन्नं कृते तव।
नैव मारय जीवांश्च मृतास्ते पातयन्त्यधः ॥११॥
अथवेच्छसि चेन्मुक्तिं सुखं वा त्वमखण्डितम्।
श्रीखण्डगोचराणां वै वासनादीन्निराकुरु ॥१२॥
वासनोच्छेदनायैव संसारवनखण्डनम्।
कण्डनं मोहजालस्य सद्भिश्च क्रियते मया ॥१३॥
मृत्योः पूर्वं न चेदेषा वासना स्यान्निराकृता।
मृत्योरनन्तरं शश्वद् विनाशं जनयिष्यति ॥१४॥
त्वया चेत् क्रियते किञ्चित् प्राणिनामिह हिंसनम्।
अज्ञानादिवशात्सर्वे हनिष्यन्ति च ते तदा ॥१५॥
"सुखं वा यदि वा दुःखं यत्किञ्चित् क्रियते परे।
यत् कृतं तु पुनः पश्चात्सर्वमात्मनि तद् भवेत्" ॥१६॥३४॥

हे चन्दन ! सवासन जीव ! तुम वास (वासना कामादि) का स्वर्गादि की भी इच्छा का निवारण करो, वासनादि के निवारण द्वारा तुझ कारण (तेरे हित के लिये) महात्माओं ने संसार बन को काटा है (मिथ्या दर्शाया है). जियता जीव (सचेत प्राणी) को नहीं मारो नहीं तो मरनेपर वे सब भी जन्मान्तर में तेरा निपात (नाश) करेगें (बदला) लेगें अथवा जियता जीवन (वर्तमान जीवन) काल में बासना आदिको मारो (नष्ट करो) नहीं तो मरनेपर सब बासनादि तेरा नाश करेगें "जियत न तरेहु मुये का तरिहो" इत्यादि समझो ॥३४॥

चन्दन सर्प लपेटिया, चन्दन काह कराय ।
रोम रोम विष भीजिया, अमरित कहाँ समाय ॥३५॥

वासनाविषसंयुक्तैः स्वान्तसर्पैरयं यदि ।
आच्छन्नश्चन्दनो जीवः किं कुर्यादात्मने हितम् ॥१७॥
सविषैस्तैः समासङ्गाद् विषव्याप्तौ तु सर्वशः ।
अमृतत्त्वं विशेत्कुत्र कुतो वाऽस्य सुखं भवेत् ॥१८॥
कामाद्यैरपि संछन्नो जीवश्चन्दनपादपः ।
लभते नामृतत्त्वं हि जन्मकोटिशतैरपि ॥१९॥
आत्मा चन्दनवत्स्वच्छ आनन्दाकृतिरव्ययः ।
अविद्याद्यैः परिव्याप्तान् किं करोतु स्वकल्पितान् ॥२०॥
''अविद्याहेतवः कामाः काममूलाः प्रवृत्तयः ।
धर्माधर्मौ च तन्मूलौ देहोऽनर्थाऽऽश्रयस्ततः ॥२१॥
अतोऽविद्यानिरोधे स्यान्निरोधो विदुषां सदा ।
निःशेषकर्महेतूनां कामादीनां न चान्यथा ॥२२॥
आद्यन्तादिविहीनमेकमजरं शान्तं शिवं शाश्वतम्,
ज्ञात्वा स्वर्गपरं गुहाऽऽहिततमं सन्तिष्ठते वक्तिवा ।
त्यक्त्वा मानमुखं सवासनमनो रक्तो न च क्वापियो,
विज्ञोऽऽसौ भवबन्धमुक्तहृदयो युक्तो जनान् मोचयेत् ॥२३॥३५॥

इति साक्षिसक्षात्कारेऽनधिकारचेष्टावासनानिणार्थोपदेशवर्णनं
नाम पञ्चमी वित्तिः ॥ ५ ॥

वासनाओं के रहने पर सवासन जीवरूप चन्दन को विषय, कामादि, मन, कुपुरुषादि सर्प लपेटे (घेरे) रहते हैं। अतः परवश वह चन्दन (जीव) अपने लिये या उन कुपुरुषादि के लिये भी क्या हित कर सकता है। क्योंकि सङ्गादि से जिनके रोम-रोम में विषय वासनादि रूप विष भींज गये (प्रवेश किये) हैं उनको अमृतत्त्व के उपदेशादिरूप अमृत भी कहाँ समाय (प्रवेश कर) सकते हैं। अर्थात् अत्यन्त कामादियुक्त के प्रति परम सत्य उपदेश भी निष्फल होता है। उससे किसीका हित नहीं होता है, जैसे चन्दन सर्पयुक्त हो तो उससे अन्य प्राणी को कुछ लाभ नहीं होता है, सर्प भी निर्विष नहीं होता है ॥३५॥

अथ विषयासक्त मन आदिवर्णन प्र० ६

पानिहुँ ते अति पातला, धूमहुँ ते अति छीन।
पवनहुँ ते उताहुला, दोस्त कबीरा कीन ॥३६॥

अतिसूक्ष्मं जलात्स्वान्तं धूमात् क्षीणतरं चलम्।
वायोरतिरयं जीवै र्मोहान्मित्रं कृतं सदा॥ १॥
वासनादि समावेशान्मनश्चेदं सुसूक्ष्मताम्।
जलादपि समादत्ते निवेष्टुं विषयेऽल्पके॥ २॥
उत्कृष्टां क्षीणतां धूमाद् वृत्तेरनुपलत्वतः।
वायोरप्यधिकं वेगं समादत्ते स्वयं सदा॥ ३॥
अहो वत त्विमे लोका हीत्थंभूते हृदि स्वके।
विश्वस्ता मित्रभावेन नाशयन्ति स्वसम्पदम्॥ ४॥
विश्वासेन मनश्चेदं वर्द्धते न तु शाम्यति।
अनात्मन्यात्मभावेन देहमात्राऽऽस्थया तथा॥ ५॥
स्नेहेन धनलोभेन पुत्रदारादिसङ्गमात्।
ममतामलसङ्गेन दुर्जयं तज्जयेत् कथम्॥ ६॥३६॥

काम वासनादि युक्त जो मन पानी से भी अत्यन्त पातला (तरल सूक्ष्म) है, धूम से भी क्षीण (क्षणभंगुर) है तथा वायु से उताहुला (वेगवाला) है, कामादि वशवर्ती अज्ञ जीव (कबीरा) ने उस मन को अपना दोस्त (मित्र) किया है, ईश्वर सद्गुरु सन्त भक्त को मित्र नहीं बनाया है, न जानता है। अतः सद्गुरु के उपदेशादिरूप अमृत उसमें श्रद्धा आदि के अभाव से नहीं प्रविष्ट होता है। "यावद्देहाभिमानश्च ममतायावदेवहि। यावत्प्रयत्नवेगोऽस्ति यावत् संकल्पकल्पना। यावन्नो मनसः स्थैर्यं न यावच्छास्त्रचिन्तनम्। यावन्न गुरुकारुण्यं तावत्तत्त्वकथा कुतः" ॥ ३६ ॥

पुष्पवास से पातला, सूक्षम जाके अङ्ग।
कबिरा तासो मिलि रहा, कबहुँ न छाड़ै सङ्ग ॥३७॥

सूक्ष्मं यत्पुष्पगन्धेभ्यः सूक्ष्माण्यङ्गानि यस्य च।
तत्रैव सङ्गता जीवाः सङ्गं नास्य त्यजन्ति हि॥ ७॥३७॥

जिस मन के पुष्प के वास (गन्ध) से भी पातला (सूक्ष्म) स्वरूप है। अतएव जिसके संकल्प-विकल्प कामादिरूप सब अङ्ग सूक्ष्म ही हैं। कबीरा (वासनादियुक्त अज्ञ जीव) सदा उससे मिल रहा है। विवेकादि के बिना

मनोयुक्त अपने स्वरूप को मानता-जानता है, शुद्ध स्वरूप को नहीं। अतः उस मन के सङ्ग को कभी नहीं त्यागता है, न असङ्ग अमृत स्वरूप आत्मा को समझता है। मोक्षार्थी जिज्ञासु को किसी प्रकार से मन के सङ्गादि को त्यागना चाहिये ॥ ३७ ॥

ज्यों मुदाद समशील की, सब इक रूप समाहिं।
कहहिं कबीर सावज गती, तबकी देखि झुकाहिं ॥३८॥

यथा मुदादनाम्नि स्यादुपले प्रतिबिम्बनम्।
कैक्याकृत्या हि सर्वेषां तथा ममतया हृदि ॥ ८ ॥
मानसे विषये यच्च स्वानन्दादि प्रतीयते।
भिन्नं तदात्मनो मत्वा तदर्थं यत्यते जनैः ॥ ९ ॥
यथा श्वा प्रतिबिम्बं स्वं भक्ष्यं मत्वा मुदादके।
तदर्थं यतते भूयो भषन् सन् वै पुनः पुनः ॥१०॥
अविवेकिजनाश्चैवं विषयानवलोक्य वै।
वासनामनुकुर्वन्तो यतन्ते वहु चक्षते ॥११॥३८॥

ज्यों (जैसे) मुदाद नामक हरा स्फटिक पत्थर या काँच होता है। उसीके सम (तुल्य) शील की (स्वभाव की) मनोगति (मनोजन्य ममता) होती है। अतः उस मुदाद में जैसे सब वस्तु एक रूप (मोराकृति से) समाती (प्रतिबिम्बित होती) है। तैसे ही मन में भी सब वस्तु ममता वासना रूप से समाती है। तो कुत्ता उस मुदाद में सावज (मोर पक्षी) की गति को देखकर को (क्यों) भूकता है, अर्थात् अज्ञान से भूकता है। तैसे ही मन की गति (विषयादि की ममता) को देखकर मनुष्य भी विवाद करता है। सङ्ग त्यागादि नहीं करता है। "ज्यों मुदाद समसान" यह पाठान्तर है, जैसे मुदाद सम (एक तुल्य) स्वभाव वाला होता है, तैसे उसमें सब पदार्थ के रूप भी एक स्वभाव वाले ही भासते हैं ॥ ३८ ॥

देखहु शील मुदाद की, प्रीति करै बल जोर।
तीनि लोक की सूरति, तामें दीसै मोर ॥३९॥

मुदादस्य स्वभावं त्वं जानीहि निजमानसे।
लोकत्रयं ममत्वेन यद्दर्शयति सर्वदा ॥१२॥
"यथा यथाऽसौ यतते मनो देहोहि देहिनाम्।
तथा तथासौ भवति स्वनिश्चयफलैकभाक् ॥१३॥

निगृहीतं मनः शश्वत् सूते ज्ञानविरागकौ।
सद्बुद्धेर्नित्ययुक्तस्य ह्यसङ्गस्य विवेकिनः ॥१४॥
मलिनं हि मनस्तात! महानर्थप्रवर्तकम्।
कुसङ्गत्या सदा कुर्याद्वासनामलधारणम् ॥१५॥
धर्मं हन्ति ज्ञानहानिं विधत्ते ह्यंहोधत्ते कामकोपौ प्रसूते।
बन्धं दत्ते लोभमोहौ हि सूते पुंसां शश्वच्चागृहीतं मनश्चेत् ॥१६॥३९॥

इति साक्षि साक्षात्कारो मनःकदर्थनावर्णनं नाम षष्ठी वित्तिः ॥६॥

मुदाद के शील (स्वभाव) अपने मन में देखो (जानो) यह मन चलजोर (वलात्कार) से सबसे प्रीति (स्नेह) करता है। और जैसे तीन लोक की वस्तु की सुरति (आकार) उस मुदाद में मोर पक्षी के समान दीखती है। तैसे मन में सब वस्तु ममता के विषय रूप दीखती है। देश कालादि के भेद से मन सर्वत्र ममता करता है। प्रथम कहा गया है कि "खाद्य अखाद्य सुं खाईं। शब्द ३६" ॥ ३९ ॥

अथ मनोदुर्जयत्व प्रकरण ७

गही टेक नहिं छोड़ई, चोंच जीभ जरि जाय।
ऐसा तप्त अँगार है, ताहि चकोर चबाय ॥४०॥
चकोर भरोसे चन्द्र के, निगले तप्त अँगार।
कहहिं कबिर डाहै नहीं, ऐसी वस्तु लगार ॥४१॥

चकोरको यथा पक्षी न जहाति स्वनिश्चयम्।
अतितप्तं यदङ्गारमत्ति दाहेषु सत्स्वपि ॥१॥
चन्द्राभिध्यानतश्चैनं नाग्निर्दहति सर्वथा।
वस्तूनां हि विचित्राऽस्ति सङ्गतिश्चेह दृश्यते ॥२॥
तथा चन्द्राधिदेवेन सङ्गतं खल्विदं मनः।
विषमान् विषयान् भुङ्क्ते ह्यादत्ते वासनां तथा ॥३॥
विवेकाग्निं विना चेदं नश्यति नहि सर्वथा।
अतस्त्वं स्वविवेकेन नाशयैनत्सवासनम् ॥४॥
दृढभक्त्या विवेकेन संशुद्धा ये जना इह।
तेऽपि स्वनिश्चयं नैव त्यजन्ति च विपत्स्वपि ॥५॥

ज्ञानचन्द्रसमालोकान्मोहावरणवारणात् ।
विद्यते विषयै नेतैस्तेषां क्षोभो मनागपि ॥६॥४१॥

चकोर पक्षी अपने गृहीत टेक (नियम) को जैसे नहीं छोड़ता है । अतः जिस अङ्गार रूप अग्नि से अन्य पक्षी के चोंच जीभ जर जायँ, उसके भी चोंच जीभ में ताप प्रतीत हो, ऐसा तप्त प्रसिद्ध अंगार है, तो भी उसको चवाय कर खा लेता है। तैसे ही वासनादि युक्त मन अपने टेक को नहीं छोड़ता है । कष्टप्रद विषयों को भोग लेता है । परन्तु परिणाम में जीव उससे दुःखी होता है ॥४०॥ यदि कहा जाय कि अग्नि तुल्य विषयों के भोग से मन कभी स्वयं नष्ट हो जायगा । अतः उसके नाश के लिये योग विवेकादि की आवश्यकता नहीं है, तो कहा गया है कि जैसे चकोर चन्द्र के भरोसे (चन्द्र के ध्यान के बल से) तप्त अङ्गार को निगलता है । अतः वह अङ्गार चकोर को दग्ध (नष्ट नहीं करता) है । ऐसा ही चकोरको शीतल वस्तु चन्द्रके साथ कोई लगार (सम्बन्ध) है कि जिससे वह नहीं जलता है । उसी प्रकार से मन भी चन्द्रमा अधिदेव के बल से विषम विषयों को भोगता है । और विपत्तियों से नहीं डरता है, न विवेक विज्ञानादि के बिना नष्ट होता है । अधिदेव तथा वस्तुओं के साथ सदा सम्बन्ध बनाये रखता है । अतः उसके नाश शान्ति सुख के लिये योग विवेकादि अवश्य कर्तव्य है ॥४१॥

गाम ऊँचो पहाड़ पर, औ मोटे की बाँह ।
ऐसा ठाकुर सेविये, उबरिय जाकी छाँह ॥४२॥

मनसश्च विनासार्थं परे नाकादुगुहाऽऽहिते ।
स्वात्मनो नगरे तिष्ठ जितारिं च गुरुं भज ॥७॥
स्वराज्यस्य प्रदातारमरिवर्गावशं प्रभुम् ।
भजन्ति ये गुरुं भक्त्या तेषां न भवसंक्रमः ॥८॥
सेवनीयः प्रभुस्तादृग् यद्बाहोरन्तिके सदा ।
तापेभ्यो मुच्यते जन्तु र्लभ्यते च परं सुखम् ॥९॥
ग्रामोस्ति मनसोवाऽस्य सदैव पर्वतोपरि ।
देवस्य वर्तते चेदं बलिनो बाहुसंश्रितम् ॥११॥
इदानीं सेवनीयश्च प्रभुरेतादृशो जनैः ।
गतौ यच्छरणे भूयो दुःखलेशो भवेन्नहि ॥११॥४२॥

विवेकादि करके ऊँचे पहाड़ (सुमेरु आदि) से पर (भिन्न = उत्तम स्थान सर्वात्मा में गाम (ग्राम) बसाना चाहिये (मन बुद्धि को आत्मनिष्ठ

करना चाहिये) और मोटे (बड़े समर्थ) सद्गुरु सर्वेश्वर के बाहु बल के आश्रित रहना चाहिये। ऐसे सर्वात्मा ठाकुर (स्वामी) को सेवना चाहिये कि जिसकी छत्र छाया में उबार हो (मानस प्रपञ्च तापादि से बचा जाय) क्योंकि ऊंचा पहाड़ पर समर्थ के आश्रित को जैसे जल के वेगादि का और शत्रुआदि का भय नहीं रहता है, तैसे आत्मनिष्ठ विवेकी सर्वभयादि से रहित रहता है। अतः मन को मार कर आत्मनिष्ठ होना चाहिये ॥४२॥

झिलि मिलि झगरा झूलते, बाकी छूटि न काहु।
गोरख अँटके काल पुर, कौन कहावै साहु ॥४३॥

चञ्चलायां मनोमय्यां दोलायां वै नरास्तु ये।
आरूढास्ते भ्रमन्तीह भोक्तारोऽखिलसञ्चितान् ॥१२॥
हठाद् ये मनसो रोधं कुर्वन्तीहाविवेकिनः।
तेऽपि मृत्युमयं लोकं नातिक्रामन्ति देहकम् ॥१३॥
"विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥१४॥
इन्द्रियाणां निरोधेन रागद्वेषक्षयेण च।
स्वात्मनश्चावलोकेन सिद्धिं प्राप्नोति पूरुषः ॥१५॥
"न तथैतानि शक्यन्ते सन्नियन्तुमसेवया।
विषयेषु प्रयुष्टानि यथा ज्ञानेननित्यशः ॥१६॥
जीवनस्याऽऽशयायत्र सिद्धीनामपि कामुकाः।
योगिनो ह्यपि बध्यन्ते तत्रान्येषां कथैव का ॥१७॥४३॥

आत्मनिष्ठा विवेकादि के बिना चञ्चल दीप शिखा तुल्य झिलमिलाते (डोलते) हुए मन के झगड़े (प्रपञ्च) में जो झूलते हैं, चञ्चल रहते हैं, आत्मनिष्ठ नहीं होते हैं, उनमें किसी की कोई बाकी (संचित) कर्म वासना नहीं छूटी (नहीं निवृत्त हुई) न कोई दुर्दशा बाकी रही। अतः आत्मज्ञा-नादि रहित, इन्द्रिय मन रूप गौ के रक्षक गोरख (हठ योगी भी) कालपुर संसार शरीर में अँटके = (आसक्त हुए) तो अन्य कौन अविवेकी साहु (सच्चा साधु) कहा जा सकता है। अतः सच्ची, साधुता, ज्ञानिता के लिये विवेकादि कर्तव्य हैं। कहा गया है कि 'पवन गहे कस मज्जिन धोय। वसन्त" "जब लो भ्रम तब लो सबे, दुख भोगै हंसारि। मिथ्या वेषादिक किये, सन्त न होत अनारि ॥ १ ॥" ॥ ४३॥

गोरख रसिया योग के, मुये न जारै देह।
मांस गली माटी मिला, कोरो माँजरि देह ॥४४॥

सिद्धीनां वाञ्छया ये हि वाञ्छन्ति बहुजीवनम्।
रक्षन्ति स्म सदा देहं तेऽपि नश्यन्ति कामुकाः ॥१८॥
मांसादीनां विनाशेन ह्यस्थिव्यूहोऽवशिष्यते।
देहमन्यं समादत्ते कामकर्मवशानुगः ॥१९॥
योगस्य रसिको योऽसौ गोरक्षो न मृतश्चिरम्।
देहं नादाहयच्चैवं कङ्कालोऽस्याप्यशिष्यत ॥२०॥
ज्ञानयोगेन विद्वांसो जीवन्मुक्ता भवन्ति हि।
शुद्धचिन्मात्रदेहास्ते पुन र्नायान्ति संसृतौ ॥२१॥
ये शीलन्ति समाधिञ्च स्वस्वरूपे चिदव्यये।
तेषामत्र कुतश्चाऽऽशा कुतो जन्मजरादिकम् ॥२२॥
दग्धं बीजं यथालोके न प्ररोहक्षमं तथा।
ज्ञानदग्धं हि कर्मादि न जन्मादिप्रदं भवेत् ॥२३॥
ज्ञानेन दग्धा यदि कर्मवासना, चित्तं च नष्टं यदि तत्त्वचिन्तया।
आशाप्रतत्याः खलु मूलसंक्षये, स्वयं मनो मीलति पावने पदे ॥२४॥
न साङ्ख्ययोगै र्न तपोभिरुग्रैः, क्रियाकलापैरपि नैव चेदम्।
मनो निमीलेदपि वर्षपूगै र्युगैरनन्तैरपि बोधतोऽलम् ॥२५॥४४॥

इति साक्षिसाक्षात्कारे गुरुज्ञानमन्तरा मनोदुर्जयत्ववर्णनं नाम
सप्तमी वित्तिः ॥ ७ ॥

विवेकादि रहित सिद्धि चिरजीवनादि के लिये योग के रसिक (प्रेमी) गोरख (हठी योगी) न मुये न देह को जलाये (न देहाभिमान को त्यागे न इसको मिथ्या समझे) स्वाभाविक मृत्यु से भी नहीं मुये। किन्तु काल की वञ्चना करके चिरजीवी हुए तो भी अन्त में मांस गलकर मिट्टी में मिल गया। और देह में कोरो (पसलियों) का माँजरि (कङ्काल) ही कुछ दिन के लिये रह गया और रहता है। अतः परिश्रम व्यर्थ हो जाता है। "कोरो माँजी देह" इस पाठ पक्ष में अर्थ है कि ज्ञानयोग के रसिक जो गोरख (योगी) मुये (मरने) पर देह को नहीं जलाया। किन्तु जीवनकाल में ही लय चिन्तनादि से उसके मांसादि मिट्टी आदि में मिल गये, ज्ञानाग्नि से उसने सब देहों को जलाया कि जिससे कोरा (नित्य नवीन असङ्ग) माँजी (धोई शुद्ध वस्तु)

उसको देह में ही प्राप्त हो गई तथा शुद्ध स्वरूप ही उसकी देह (मन बुद्धि) हो गई, उसमें लीन हो गई ॥ ४४ ॥

——※——

अथ मनोविजयादि बिना वेषधारी को दुर्दशावर्णन प्र० ८

बन ते भागा बिहड़े परा, करहा अपनी बान।
वेदन करहा कासो कहै, को करहा को जान ॥४५॥

सद्गुरूणामलाभेऽपि ये त्यजन्ति गृहादिकम्।
लभन्ते न विवेकेन तेषां दौस्थ्यमिदं शृणु ॥ १ ॥
यथा सिंहभयात्कश्चित्करी वेगाद्वनाद्बहिः।
गच्छन् व्याधकृते गर्ते कामेन पतति स्वयम् ॥ २ ॥
यद् दुःखं जायते तस्य तत्र स्वस्याविवेकतः।
कमयं तद् ब्रवीतु स्वं दुःखं कश्च शृणोति वा ॥ ३ ॥
तथा मृत्युमुखाद् भीतो गृहादेश्च विनिर्गतः।
अविवेकी नरो मोहात्कामाद्वा याति संसृतौ ॥ ४ ॥
गर्भादौ मृत्युकाले वा वेदना याऽस्य जायते।
तां को वाऽत्र विजानाति शृणोत्येवात्र करतथा ॥ ५ ॥
"प्रवृत्तिलक्षणो योगो ज्ञानं संन्यासलक्षणम्।
तस्माज्ज्ञानं पुरस्कृत्य संन्यसेदिह बुद्धिमान्" ॥ ६ ॥४५॥

करहा (करी हाथी) सिंहादि के भय से बन से भागा। परन्तु अपनी कामादिरूप बान (स्वभाव) से बन के किनारे में व्याध से रचित हस्तिनी के चित्र को देखकर व्याधा से रचित गड्ढे में पड़ गया तो उस समय की वेदना को वह किससे कहे और उसको कौन जानता है कि जो मुक्त करे। इसी प्रकार अविवेकी पूर्ण वैराग्य रहित मनुष्य यदि दैहिक दुःखादि के भय से गृहादि से भाग कर योगी आदि बनता है, फिर अपनी आदतवश प्रपञ्च में फँसता है तो वह कष्ट भोगता है, पश्चात्ताप करता है, उसके उद्धार के लिये भी किसी को उपाय नहीं सूझता है, अनधिकारी को वेषधारी योगी आदि नहीं होना चाहिये। प्रथम भी कहा गया है कि "अब हम भयली बाहर जल मीना। शब्द ४६" ॥ ४५ ॥

बहुत दिवस ते हींड़िया, शून्य समाधि लगाय।
करहा पड़िया गाड़ में, दूरि परा पछताय ॥४६॥

यथा गर्तगतो हस्ती स्वयूथं परिहाय वै।
चिरं निष्क्रमणं ध्यात्वा तस्यालाभेन खिद्यते ॥ ७ ॥
तथा गृहादिकं त्यक्त्वा निर्जनेषु वसन्नपि।
आत्मज्ञानं विना मूढः पश्चात्तापेन दूयते ॥ ८ ॥
वेषमात्रान्न वै मुक्ति गुहाया न समाश्रयात्।
न च प्राण निरोधेन ब्रह्माण्डोपरि वासतः ॥ ९ ॥
"अव्यवस्थितचित्तानां न जने न वने सुखम्।
जनो दहति संसर्गाद् वनं सङ्गविवर्जनात्" ॥१०॥
नाटयित्वा समाधिं ते शून्येषु बहुवासरान्।
दूरे गर्ते स्थिता गर्भे तप्यन्ते रागिणः सदा ॥११॥४६॥

जैसे करहा गर्त से निकलने के लिये बहुत दिनों तक मार्ग को खोजता है। परन्तु ढूँढ़ने (खोजने) पर भी मार्ग के नहीं मिलने से दूर गाड़ में पड़ा हुआ पश्चात्ताप करता है। तैसे ही अविवेकी शून्य (एकान्त) में समाधि लगाकर बहुत दिनों तक मोक्ष सुखादि के मार्गों को खोजता है। परन्तु विवेकादि के बिना पास की ही वस्तु से दूर पड़ा हुआ पश्चात्ताप करता है। अतः सत्सङ्ग विचारादि के द्वारा विवेकादि की प्राप्ति करके हां ज्ञानयोग समाधि में लगना चाहिये ॥ ४६ ॥

कबीर भरम न भाजिया, बहुविधि धरिया वेष।
साईं के परिचावना, अन्तर रहिगौ रेख ॥४७॥

वेषेण विविधेनापि धृतेन विधिपूर्वकम्।
भ्रान्ति र्न विगता नापि स्वामित्वेनेशबोधनात् ॥१२॥
स्वामित्वेन स्वविज्ञानाद् भेदाद्भीत्यादिकं भवेत्।
भयादीनां च सत्त्वे हि का मुक्तिः का च विज्ञता ॥१३॥
चित्ते स्वल्पोऽपि चेद्भेदो भासते खलु तत्त्वतः।
सोऽपि रागादिमूलत्वाद् भयस्य जनको भवेत् ॥१४॥
"अपि बालाग्रमात्रेण विदुषः प्रत्यगात्मनः।
भिन्नं ब्रह्मेति सम्मोहादात्मैवास्य भयं भवेत्" ॥१५॥
धारणाद् बहुवेषाणां पलायन्त भ्रमा न च।
बोधनात्स्वामिदृष्ट्यान्तर्भेदरेखा स्थिराऽभवत् ॥१६॥४७॥

श्रीकबीर साहब कहते हैं कि विवेकादि के बिना ही लोगों ने बहुत प्रकार के वेषों का धारण किया। परन्तु इससे भ्रम नहीं भागा (पास की वस्तु में

दूरता आदि का भ्रम नहीं निवृत्त हुआ। तथा भ्रम भागा नहीं, और ज्ञानी योगी आदि के बहुविध वेषों का धारण कर लिया, सर्वात्मा विभु ईश्वर का भी तटस्थ स्वामी रूप से परिचावन (बोधन = ज्ञान) करने-कराने से अन्तर में (अन्तःकरण में) दूरता के भेद भ्रम की रेखा (आकार = लकीर) रह गई। अतः भय भेद भ्रमादि की निवृत्ति के लिये सर्वात्म स्वरूप से ईश्वर का परिचय कराना चाहिये ॥ ४७ ॥

बिनु डाँड़े जग डाँड़िया, सोरठ परिया डाँड़।
बाट निहारे लोभिया, गुड़ ते मीठी खाँड़ ॥४८॥

भेदस्यात्मनि सत्त्वेन भयादीनां च सत्त्वतः।
आशालोभादिभिश्चेशं भजन्तेऽज्ञा न भक्तितः ॥१७॥
केनाप्यदण्डिताश्चाज्ञा अजस्रं दण्डभागिनः।
भवन्ति चात्र लोभेन ध्यायन्ति वै नवं नवम् ॥१८॥
सन्तोषं न लभन्ते ते तृष्णाया विवशीकृताः।
भजन्ते न क्वचित् स्थैर्यं धैर्यं वाऽतोभ्रमन्ति ते ॥१९॥
अविवेकाद्धि ये मूढा प्राणाद्यासु कलासु वा।
सक्ताः स्वात्मादिभावेन ते भेदेन भ्रमन्ति हि ॥२०॥
कर्तृत्वकर्मादिकमीशकर्तृकं नैवास्ति नैवेशकृतं फलं तथा।
अज्ञानलोभादिकृतं स्वभावजं सर्वं ततो मुक्तिकरं गुरोर्वचः ॥२१॥४८॥

इति साक्षिसाक्षात्कारे मनोविजयादिविना वेषमात्रस्याकिञ्चित्कर-
त्ववर्णनं नामष्टमी वित्तिः ॥ ८ ॥

भेद भ्रम अज्ञानके नहीं निवृत्त होने से संसारी जीव स्वप्न समान किसी अन्य दण्डदाता से डाँडे (दण्ड दिये) बिना ही लोभादि से पाप करके डाँडे गये हैं (दण्डभागी हुए हैं) और दैहिकादि ताप रूप उस दण्ड का संसार में सोरठ (हल्ला पुकार) पड़ा है। तथा निरन्तर दण्ड प्राप्त हो रहा है। तो भी लोभी जीव विषयादि के ही बाटों (मार्गों) को निहारता (देखता) है। गुड़ से खाँड़ को मीठा समझता है। अर्थात् सर्वाधार सर्वकारण आत्मा को नहीं समझ कर कार्यरूप विषयादि को प्रिय मानता है। और लोभ करता है, यह सब भ्रम अज्ञान का प्रभाव है। अतः भ्रमादि की निवृत्ति के लिये यत्न कर्तव्य है। अथवा वाग्दण्डादि (वाग्दमनादि) के बिना संसारी दण्ड भोगते हैं, कि जिसका सोरठ हल्ला पड़ा है ॥४८॥

अथ मलिनमतिसे साधुत्वाभाववर्णन प्र० ९

मलयागिरि के बास में, वृक्ष रहा सब गोय।
कहवे को चन्दन भया, मलयागिरि नहिं होय ॥४९॥

यथा मलयगन्धेन गन्धवन्तोऽपि शाखिनः।
भवन्ति मलयानैव परं चन्दननामत्ता ॥१॥
प्राणखाद्यास्तथा सर्वे स्वात्मनः सङ्गतः सदा।
आत्मत्वेन च सत्त्वेन भासन्ते न तु ते तथा ॥२॥
साधुसङ्गेन मूर्खो वा साधुत्वेनावभासते।
अत्यन्त जडबुद्धि र्नो भजते जातु साधुताम् ॥३॥४९॥

मलयाचल के वास (गन्ध) से पास के वृक्ष सब अपने अपने स्वरूप को गोये (छिपाये) रहते हैं। उसके गन्ध से सुगन्ध हो जाने के कारण वृक्षों के नाम रूप मिट जाते हैं। अतः कहने के लिये चन्दन भी हो गये, और होते हैं। परन्तु मलयगिरि स्वरूप ही नहीं होते हैं। क्योंकि उनके गन्ध से अन्य वृक्ष सुगन्धित नहीं होते हैं (यह लोक प्रसिद्ध है)। इसी प्रकार से अविवेकी लोभी भी सच्चे साधु के साधु ज्ञानी के सङ्ग से साधु कहलाते हैं। अपने स्वरूप को छिपाये रहते हैं। परन्तु विवेकादि के अभाव तथा लोभादि के सत्त्व से सच्चे साधु ज्ञानी नहीं होते हैं न उनके सङ्गादि से अन्य में साधुता हो सकती है। इसी प्रकार प्राणान्तःकरणादि सत्य चेतनात्मा के सम्बन्ध से सत्यादि भासते हैं, अपनी जड़ता आदिको छिपाते हैं। विषय आत्मानन्दसे अपनी दुःखरूपता को छिपाते हैं। अतः अविवेकी विषयों का लोभी होता है। तहाँ लोभादि की निवृत्ति के लिये विवेकादि कर्तव्य है ॥ ४९ ॥

मलयागिरि के वास में, बेध्यो ढाक पलास।
बेना कबहुँ न बेधिया, युग युग रहते पास ॥५०॥

अन्तःसार विहीनेषु नोपदेशद्रुमः खलु।
फलवान् स्यात्कदाप्यत्र वेणूनां[1] मलयो यथा ॥ ४ ॥
शुभसंस्कारवत्स्वेवं विवेकादिगुणेषु[2] च।
येषु केषु च जायन्ते ह्युपदेशाः फलप्रदाः ॥ ५ ॥

---

१ वेणूनां मध्ये वर्तमानस्तत्सम्बन्धी वामलयोयथा फलवान् न भवति, तथा विवेकादिसार रहितेषूपदेशोपि। २. विवेकादयो गुणायेषुतेषु।

यथा कुवृक्षकेऽप्यत्र मलयः फलति स्वयम्।
नात्र जात्यादयः क्वापि हेतुतां संभजन्ति हि ॥ ६ ॥
आत्मनो वा विभुत्वेऽपिघटादौ नस्फुरत्ययम्।
अन्तः करणशून्यत्वाच्छरीरे च प्रकाशते ॥ ७ ॥
अस्मिन्निदर्शनं स्पष्टं मलयाचल एव हि।
स सारवस्तु गन्धं स्वमाधत्ते नहि वेणुषु ॥ ८ ॥
मलयाचलगन्धेन पालाशाद्याः कुवृक्षकाः।
गन्धवन्तः समापन्ना वेणवो न कदाचन ॥ ९ ॥५०॥

मलयागिरि के वास में (से) ढाक पलासादि अन्तः सारयुक्त कुवृक्ष भी वेधित (व्याप्त) होते हैं, परन्तु अन्तः सार रहित बेना (बाँस) युग युग में पास रहते भी गन्ध युक्त चन्दन नहीं होता है। इसी प्रकार शुभ संस्कार वाले ही सत्सङ्गादि से ज्ञानी मुक्त होते हैं, उनमें उपदेश प्रविष्ट होता है, बाँस तुल्य अविवेकी में नहीं। तथा चिदानन्दस्वरूपात्मा के विभु रहते भी, अन्तः सार रूप अन्तःकरणादि सहित देहों में चित्स्वरूप की अभिव्यक्ति होती है, घटादि में समान्यरूप से आत्मसत्ता के भासने पर भी उन में चेतना नहीं अभिव्यक्त होती है। तथा शुद्ध शान्त अन्तः करण में ब्रह्मानन्द की अभिव्यक्ति होने पर भी मलिन चञ्चल अन्तःकरण में वह तमो गुण से आच्छन्न होने के कारण कभी अभिव्यक्त नहीं होता है, सो विवेकादि से ज्ञातव्य है ॥५०॥

चलते चलते पगु थका, नगर रहा नौ कोश।
बीचहि में डेरा परा, कहहु कौन का दोष ॥५१॥

गच्छतो हि मुहुः पादौ व्यथितौ धीमनोमयौ।
गन्तव्यं नगरं चास्ते नवक्रोश्याः परं यदि ॥
कथ्यतां कस्य दोषोऽत्र मध्ये येनात्र तिष्ठति ॥१०॥
[1] देहान्तःकरणप्राणकोशेषु, गमिकर्मसु।
कथञ्चित् केपि गच्छन्ति क्रोशमेकं हि कर्मठाः ॥११॥
स्थूले ह्यनात्मतां केचिज्जानन्तीह कथञ्चन।
पिपासाशोकवन्तं च नानात्मानं विदन्ति ते ॥१२॥

---

१. आत्मन आच्छादकत्वेन कोषात्मकत्वेऽपि शरीरादीनां, तानुलङ्घ्यात्मनो गन्तव्यत्वात्तेषु गन्तव्यक्रोशात्मकत्वं परिकल्प्येयमुक्तिः। कर्मठा हि स्थूलात्परमात्मानं ज्ञात्वा कर्मादिकं कुर्वन्ति, किन्तु शोकपिपासादि रहितस्यात्मनोऽज्ञानादात्मनि शोकादिकं मन्यन्ते।

दशसु ह्येषु चोक्तेषु स्थूलकायमुखेषु वै।
क्रोशमात्रात्परं गत्वा तिष्ठन्ति ह्यविवेकिनः ॥१३॥
लभन्ते नाऽत्र पातारं भ्रमन्ति च मुहुर्मुहुः।
निजापराधवृक्षस्य फलं भवति चेदृशम् ॥१४॥५१॥

कर्मादि मार्गों में चलते-चलते अविवेकियों के मनबुद्धि रूप पैर थक गये। तो भी, स्थूल देह, पाँच प्राण, चार अन्तःकरण रूप गन्तव्य दश कोशों में से एक स्थूल देह रूप कोश से परे कर्मठ लोग कथञ्चित् गये (स्थूल देह से भिन्न आत्माको परोक्षरूप से शास्त्रादि द्वारा समझा) वर्णाश्रमादि के अभिमान काल में स्थूल देह में ही प्रत्यक्षात्म बुद्धिवाले रह गये। अन्य नव कोश से आत्म-स्वरूप नगर सर्वथा पर रह गया, उनसे भिन्न आत्मा को परोक्षरूपसे भी नहीं समझ सके। अतः उन नव कोशों के बीच में ही डेरा पड़ा (उनमें ही आत्म बुद्धि बनी रह गई) तहाँ कहो कि दोष किसका है, अपना ही अविवेक रूप अपराध है, (ज्ञानेन्द्रियों का अन्तःकरण में, कर्मेन्द्रियों का प्राण में, अन्तर्भाव से अविद्या की विद्या से साक्षात् निवृत्ति से गन्तव्यमार्गदश कोश यहाँ कहे गये है)। अतः "अकायमव्रणम् ईशा. ८" 'अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः। मुण्ड. २०६।२। क्षुधा पिपासा प्राणस्य मनसः शोकमोहको। जन्ममृत्यू शरीरस्य षडूर्मिरहितः शिवः। १" शरीर प्राण मन से भिन्न, स्वकार्यों से पर, अक्षर प्रकृति से भी पर, भूख, प्यास, शोक, मोह, जन्म, मरण रूप छः ऊर्मि (तरंग) से रहित शिव स्वरूप आत्मा ज्ञातव्य है ॥ ५१ ॥

झालि परे दिन आथये, अन्तर परिगौ साँझ।
बहुत रसिक के लागते, वेश्या रहिगौ बाँझ ॥५२॥

सूर्यो ह्यस्तंगतो ध्वान्तमागतं सन्ध्यया हृदि।
रसिकानां च सङ्गत्या वन्ध्या वेश्येव धीः स्थिता ॥१५॥
प्राणभानौ गतेह्यस्ते वृद्धत्वे वाप्युपस्थिते।
मोहान्धेन मनोव्याप्तौ नरो नवसु दीनधीः ॥१६॥
निष्ठति स्वाविवेकेन कुलटेवास्य धीस्तथा।
वन्ध्यतां वै गता सूते नैव ज्ञानविरागकौ ॥१७॥
मनो ध्यायति वै स्वर्गं कदाचिद् विषयान् बहून्।
स्थितिं न लभते क्वापि व्यग्रं विषयसङ्गतः ॥१८॥
दैन्यदोषमयी दीर्घा वर्द्धते वार्द्धके स्पृहा।
सर्वापदामेकसखी हृदि दाहप्रदायिनी ॥१९॥५२॥

विवेकादि के बिना, आत्मज्ञान की अप्राप्ति काल में ही, जिसको झाली (झोली) पड़ गई (वृद्धता से रोगादि से नेत्रों में बुद्धि में अन्धकार छा गया) और (दिन) दिनकर के (प्राण की शक्ति अन्तःकरण के) ज्ञान की शक्ति अस्त (नष्ट) हो गई। अतः दिनकर मानो अस्त हो गये, अन्तर में सन्ध्या प्राप्त हो गई। अर्थात् अन्तःकरण में उक्त नव कोश में ही आत्म बुद्धि रहते मरण उपस्थित हो गया तमोगुण घेर लिया। परन्तु अन्त में रक्षा करने वाले ज्ञान विराग रूप पुत्र नहीं हुए। क्योंकि उसकी बुद्धि बहुत रसिक (रागी कामी) के लाग=(सम्बन्ध) से वेश्या के समान वन्ध्या रह गई, परमानन्द दायक पुत्रों को नहीं उत्पन्न कर सकी। अतः कामियों के सङ्ग को त्यागकर ज्ञान योग्य बुद्धि कर्तव्य है ॥ ५२ ॥

मन कहै चलये चलये, चित्त कहै कब जाव।
छौ मासे के हींड़ते, आध कोश पर गाम ॥५३॥

चलनार्थं मनो वक्ति चित्तं यास्ये कदेति च।
अर्द्धकोशात्परो ग्रामः षण्मासेषु विमृग्यताम् ॥२०॥
अर्द्धमात्राऽर्द्धकोशो वै तद्वाच्यात्सपरोऽव्ययः।
निजात्मा दृश्यते नैव शुद्धोऽयुक्तैर्हि कर्हिचित् ॥२१॥
आत्मनः खल्वलाभेन मनः स्फुरति सर्वदा।
चिन्ताव्याप्तं सदा चित्तं चञ्चलं शान्तिमेति न ॥२२॥
षण्मासान्नित्ययुक्तस्य रागादि रहितस्य वै।
उपेक्षकस्य धीरस्य यताहारस्य सर्वदा ॥२३॥
एकान्तमनसो ह्यात्मा स्फुटं भाति हृदि स्वयम्।
ओङ्कारेणेति विज्ञेयः शास्त्रसिद्धान्त उत्तमः ॥२४॥
अन्यथा बहुजन्मान्तेऽप्यमात्रो नैव लभ्यते।
शुद्धः सर्वगतो नित्य आत्मा वै सर्वदेहिनाम् ॥२५॥५३॥

बुद्धि के वन्ध्या रह जाने से चञ्चल मन सदा कर्मादि मार्गों में जहाँ तहाँ चलने के लिये कहता है (संकल्प करता है) चित्त कहता है कि कब स्वर्गादि में जा पहुँचेगें, इस प्रकार से छौ मास के हींढते (मार्गादि के खोजते) में छौ मास के बीतने पर भी, अर्द्धमात्रा रूप आधे कोश से परेही ग्राम (गन्तव्य शुद्धात्मा) रह जाता है। अर्थात् ओङ्कार के अर्द्धमात्रा मकार के अर्थ ईश्वर को परोक्षरूप से अनुमानादि द्वारा समझने पर भी, शुद्धात्मा को नहीं समझा जाता है। क्योंकि "षण्मासान्नित्युक्तस्य शब्द ब्रह्मातिवर्तते।

महाभा. शान्तिप. अ. २४. । ३२" उपेक्षक नियताहारएकाग्रमन वाले के छः मास नित्य योग युक्त होने ही पर (शब्द ब्रह्म (ओङ्कार) अपने लक्ष्यार्थ को प्रकट करता है, अतः शुद्धात्म ज्ञान के लिये विवेकादि पूर्वक समाहितादि होना चाहिये ॥ ५३ ॥

गृह तजि भये उदासिया, वनखण्ड तप को जाय।
चोला थाके मारिया, बरइनि चुनि चुनि खाय ॥५४॥

सदात्मनो ह्यलाभे ये गृहंत्यक्त्वाऽविवेकिनः।
उदासीनाः समभवन् वेषमात्रान्न तत्त्वतः ॥२६॥
तपोर्थं च वने यातास्तावता नहि मुक्तता।
शरीरान्ते हि तान् सर्वानत्ति माया विमृग्य वै ॥२७॥
आसक्तिं वासनाः सर्वास्त्यक्त्वैवमुच्यते जनः।
अन्यथा सर्ववित् सिद्धो धर्मस्थोऽपि निबध्यते ॥२८॥
"आसक्तिमाहुः कर्तृत्वमकर्तुरपि तद्भवेत्।
मौर्ख्ये स्थिते हि मनसि तस्मान्मौर्ख्यं परित्यजेत्" ॥२९॥
अन्यथा य उदासीनास्तपोऽर्थं यान्ति कानने।
शरीरे कञ्चुके ग्लानावत्ति माया विमृग्य तान् ॥३०॥
ताम्बूल व्यवहर्त्रीव तेषां प्राणेन्द्रियादिभिः।
प्राणिवर्गस्य देहाद्यैर्नित्यं सा व्यवहारिणी ॥३१॥
गुरोर्न लाभो न विराग लाभो भवेन्न सारो हृदये च यस्य।
मनो न रुद्धं न च योगशुद्धं करीव सो नश्यति नष्ट दृष्टिः ॥३२॥
अनात्मदेहादिषु चात्मभावो भवेन्न भावस्त्वतिभावुकेऽपि।
हरौ गुरौ यावदिहात्मबोधे भवेन्न तावद्धितसौख्यलेशः ॥३३॥
न यावद्विरागो न वा सङ्गहानं भवेन्नैव धैर्यादियुक्तं मनश्च।
भवेत् किं सुवेषैः सुदेशैश्च तावन्न यावत्सुयोगा हृदि स्वे वसन्ति ॥३४॥
न यावत्समत्वं वने प्राङ्गणे वा सुवर्णे च काचे मृतौ चाङ्गनायाम्।
भवेद् वृद्ध भावेन किं त्तावदत्र न यावत्समूलस्य कामस्य नाशः ॥३५॥५४॥

इति साक्षिसाक्षात्कारे मलिनमतीनां साधुत्वाद्यभाववर्णनं
नाम नवमी वित्तिः ॥ ९ ॥

जो कोई विवेकादि के बिना गृहादि को त्याग कर उदासिया (कुविरक्त) वेषधारीमात्र हुए, किसी कामना की सिद्धि के लिये वन खण्ड में तप करने गये, और जाते हैं, उनके चोला (शरीर) के थाकने पर माया रूप बरइन

(तमोलिन) उनको मार दिया और मारती है (सकाम अज्ञ तपस्वियों को अहंकारादि रूप से नष्ट ही करती है) सड़ते गलते पान के समान मानो उन्हें चुन कुन कर खाती है (अपने में लीन करती है) क्योंकि संसार बरेव (पान के खेत) के वह मालिक है। आध कोश से पर तत्त्व को समझे बिना वह किसी को नहीं छोड़ती है, प्रथम भी कहा गया है कि "चतुर चिकनियहिं चुनि चुनि मारै" इत्यादि ॥ ५४ ॥

अथ नामरूपाधीनगतिवर्णन प्रकरण १०

राम नाम जिन चीन्हिया, झीने पिञ्जर तासु।
नयन न आवै निन्दरी, अङ्ग न चढ़िया माँसु ॥५५॥

आत्मानं नैव जानाति नाममात्रं च वेत्ति चेत्।
तपसा स्वशरीरं स मुधा क्लिश्नाति कामतः ॥ १ ॥
शोषणान्न शरीरस्य निद्राया विजयान्नवा।
लभ्यते स परो देवो विवेकादि विना क्वचित् ॥ २ ॥
देहाख्यं पिञ्जरं तस्य कृशतामेति नो मनः।
चिन्तया नैव निद्राऽस्य नेत्रयो र्न तमो व्ययात् ॥ ३ ॥
न प्रतीकेषु मांसानि संलसन्ति न कान्तयः।
भ्रान्तेः सत्त्वेन खेदाद्वा भयादन्नादिवर्जनात् ॥ ४ ॥
आत्मारामो हि यो विद्वान् मोहनिद्राजितो मुनिः।
माया तस्य हि किं कुर्यात्स तद् दृष्टेः सुदूरतः ॥ ५ ॥
तच्छरीरं सदात्मैव सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरं हि तत्।
मांसादि सङ्गहीनंसन्मोहाद्यविषयः सदा ॥६॥५५॥

माया की वश वर्तिता से जिन तपस्वियों ने अर्थमात्रा के अर्थ रूप स्वामी-रूप से परोक्ष परिचित राम के नाम (ईश्वर के नाम) मात्र को चीन्हा, किन्तु आत्मपरिचय नहीं कर सके, उन विरही तपस्वियों के पिञ्जरा (देह) रूप पिंजड़ा या घोड़ा तो झीना (कृश) हो गया, चिन्ता से नेत्रों में निद्रा नहीं आती है। न दुःख से अङ्गों पर मांस चढ़ता है सो प्रथम कहा गया है कि "तपसी कहँ दुख दूना" इत्यादि। परन्तु विवेकादिपूर्वक जिन लोगों ने राम नामवाली वस्तु और नाम को चीन्हा उन्हें देहासक्ति के अभाव से तप आदि के बिना भी उनका पिञ्जर झीना हो जाता है, उनकी देह सूक्ष्म आत्मस्वरूप ही (तन्मय) हो जाती है। देहाभिमान छूट जाता है, बुद्धिरूप नेत्र में मोहरूप

निद्रा नहीं आती है, भोगों के त्याग से अङ्गों में मांस नहीं जमता है, उनका अङ्ग मानो मांसादि के सम्बन्ध से रहित आत्मस्वरूप ही हो जाता है ॥५५॥

जो जन भींगे राम रस, विकसित कबहुँ न रूख।
अनुभव भाव न दरशये, ते नर दुःख न सूख ॥५६॥

तावद्भयकरी माया पाण्डित्यं यावदत्र नो।
तदेव खलुपाण्डित्यं यस्मान्न भवसंक्रमः ॥ ७ ॥
पण्डितत्वमलब्ध्वा ये नामादौ वै रता नराः।
शोकव्याकुलिता रूक्षा न प्रफुल्ला भवन्ति ते ॥ ८ ॥
आत्मनोऽनुभवाभावाद् ये हि देहाभिमानिनः।
न सुखं दृश्यते तेषु दुःखं तत्रैव दृश्यते ॥ ९ ॥
आत्मप्रेमनिमग्नास्तु स्वानन्दात्फुल्लवक्त्रकाः।
जगत् स्वप्नं प्रपश्यन्तो द्वन्द्वमुक्ताश्चरन्त्यहो ॥१०॥
[1]स्वानुभूतिप्रभावेण दृश्यं न दृश्यते यदा।
तदा दुःखस्य का वार्ता ह्यखण्डं वर्तते सुखम् ॥११॥
"दृश्यं नास्तीति बोधेन मनसो दृश्यमार्जनम्।
सम्पन्नं चेत्तदुत्पन्ना परा निर्वाणनिर्वृतिः" ॥१२॥५६॥

जो लोग तटस्थ राम (ईश्वर) के रस (प्रेम) से भींगे (आर्द्र) रहते हैं, सो विरही भक्त कभी विकसित वदन वाले (प्रसन्न) नहीं रहते हैं। किन्तु रूखे (सूखे वदनवाले) अप्रसन्न रहते हैं। क्योंकि जिनमें जबतक सत्यानन्द-स्वरूप निजात्मा सर्वेश्वर के अनुभव (अपरोक्ष ज्ञान) का भाव (सत्त्व) नहीं दर्शता (दीखता प्रकट होता) है। तबतक उन मनुष्यों में तप आदि जन्य दुःख होता है, सुख नहीं होता है। परन्तु विवेकादिपूर्वक जो राम रस (सर्वात्मा ब्रह्मानन्द) में भींज (लीन हो) गये हैं, सो सदा विकसित वदन रहते हैं, कभी रूख (रुक्ष खिन्न अप्रसन्न) नहीं होते हैं। क्योंकि निजात्मानन्द के अनुभव के भाव (सत्त्व = वर्तमानता) से उन ज्ञानी मनुष्य को सत्य सुख रहता है, दुःख नहीं तथा लौकिक सुख दुःख हर्ष-शोकादि कोई द्वन्द्व उनमें नहीं दीखता है कि जिससे अप्रसन्न हों। अतः प्रसन्न रहते हैं ॥५६॥

---

१ गुरुप्रज्ञाप्रसादेन मूर्खो वा यदि पण्डितः। यस्तु सम्बुध्यते तत्त्वं विरक्तो भवसागरात् ॥ १ ॥ रागद्वेषविनिर्मुक्तः सर्वभूतहिते रतः। दृढबोधश्च धीरश्च स गच्छेत् परमं पदम् ॥ २ ॥ अवधूतगीता० अ० १।२३-२४।

जेहि राहे पण्डित गये, वोही गया बहीर।
ऊँची घाटी राम की, तिहि चढ़ि रहा कबीर ॥५७॥

संसृतौ सत्यताज्ञानादात्मापरिचयात्तथा।
शास्त्रज्ञाः श्रुतिहीनाश्च काम्यकर्मरताः समे ॥१३॥
पण्डिता ह्यगमन् येन तेनातो बधिरा अपि।
अगमन् कर्ममार्गेण संसृतौ न निजात्मनि ॥१४॥
देवभक्तास्तटस्थेश चिन्तका भक्तमानिनः।
स्वर्गादूयूचैः प्रदेशानां मार्गे दत्तस्वचित्तकाः ॥१५॥
मुह्यन्ति तेऽत्र संसारे लभन्ते च गतागतम्।
अहो मोहस्य माहात्म्यं स्वात्मानं न ह्यवन्ति ते ॥१६॥
विवेकिनस्तु हित्वेममखिलं विश्वविभ्रमम्।
संसारसरसो वेगाद्रक्षन्त्यात्मानमात्मना ॥१७॥
यत्र सर्गाब्धिवेगस्य नामापिश्रूयते न च।
तत्र स्थिताः सदैवैते तुष्यन्ति विरमन्ति च ॥१८॥५७॥

आत्मानुभव रहित पण्डित (शास्त्रज्ञ) जिस सकाम कर्मादि मार्ग से गये और जाते हैं, उसी मार्ग से बहिर (श्रवणादि की शक्ति से रहित) गतानुगतिक लोग भी गये और जाते हैं। तटस्थ राम को ऊँची घाटी (स्थान) स्वर्गादि को मानकर फिर उसमें मन द्वारा चढ़कर उसमें मन लगाकर पण्डित और बहिर सब रहे और रहते हैं। सो कबीर साहब कहते हैं। अर्थात् विभु होने से जहाँ से कभी पतन नहीं हो, ऐसे स्थान को जाने बिना पतन के स्थानों में जाते हैं, मन लगाते हैं ॥ ५७ ॥

ये कबीर तैं उतरि रहु, सम्मल परो न साथ।
समल घटे औ पगु थके, जीव बिराने हाथ ॥५८॥

त्यक्त्वा सुखमयं मार्गं यान्ति पातप्रदे हि ये।
मार्गे तान् सद्गुरुश्चाह हितं तत्कृपया पुनः ॥१९॥
अवरुह्य मनः स्थैर्यं कुरुत शम्बलं स्थिरम्।
अस्थिरस्य विनाशेऽस्य ह्यशक्ताः किं करिष्यथ ॥२०॥
सुकर्मणोऽस्य नाशे च विशक्तौ पुनरर्जने।
विकर्मपरिपाकेन जीवः परवशो भवेत् ॥२१॥
भवद्भिः श्रूयतामेतद् दुराशा त्यज्यतामतः।
अन्विष्यतामिहैवात्मा सत्सङ्गे हृदये तथा ॥२२॥

स्वर्गस्य यद्धि पाथेयं तन्नाक्षयफलप्रदम् ।
कर्मार्जितस्य सर्वस्य क्षयिष्णुत्वं विनिश्चितम् ॥२३॥
पुण्यक्षयात्पतन्त्येव सर्वे ते स्वर्गगामिनः ।
विवेकादेरसामर्थ्यात्पराधीना भवन्ति च ॥२४॥
"कृतस्य कर्मणः स्वर्गे भुज्यते वै फलं जनैः ।
नैवान्यत् क्रियते कर्ममूलोच्छेदेन भुज्यते ॥२५॥
ब्रह्मलोकेऽथवा स्वर्गे पाताले नरकेष्वऽपि ।
भूमौ च स्वात्मविज्ञानं मुक्तिहेतुरसंशयम्" ॥२६॥५८॥

श्रीकबीर साहब कहते हैं कि ये (हे) पण्डित बहिर लोगों (मुमुक्षुओं) तुम उतर रहो, स्वर्गादि की आशा आदि को त्यागकर निष्काम कर्म विचारादि करो। इसके बिना तेरे साथ में पर शम्बल (उत्तम अक्षय ज्ञान-विरागादिरूप मार्ग खर्च) नहीं है। अतः विनश्वर सकाम कर्मादिरूप शम्बल के भोगादि से घटने पर और कर्मादि की शक्ति साधन देह देश कालादि पशु के थकने पर (अभाव होने पर) अक्षय शम्बल ज्ञानादि के बिना हे जीव! तुम विराने (अन्य) के हाथ में होगे। अतः स्वर्गादि की आशा आदि को त्यागकर राम को भजो ज्ञान की प्राप्ति करो ॥ ५८ ॥

काटे आम न मौलसी, फाटे जुटे न कान।
गोरख पारस परस बिनु, काहे को नुकसान ॥५९॥

छिन्नो यथाऽऽम्रवृक्षो न सुपुष्पफलवान् भवेत् ।
तथा न भेदितः कर्णः स्वात्मानं लभते स्वयम् ॥२७॥
भिन्नो वाऽत्र यथा कर्णः स्वयं न मिलति द्रुतम् ।
भो गोरक्ष ! तथैतस्मिन् देहे नष्टे भवेन्नहि ॥२८॥
सुलभं स्वात्मविज्ञानं मोक्षो वा भक्तिरुत्तमा ।
अत्रैतत्सुलभं सर्वं साधो यत्नो विधीयताम् ॥२९॥
आत्मनश्चाविवेकेन सर्वस्वं नाश्यते त्वया ।
लभ्यते नात्र सत्किञ्चित् केवलं खिद्यते सदा ॥३०॥
असङ्गनिशितास्त्रेण ज्ञानेनाद्भुतकर्मणा ।
छिन्नः संसारवृक्षोऽयं न पुनः दुःखकृद्भवेत् ॥३१॥
मनोऽपीदं सकृच्चेद्धि स्वात्मानन्दं पिबेदलम् ।
तन्न स्मरेदिदं विश्वं नित्यानन्दमयत्वतः ॥३२॥

आत्मनः सुपरोक्षाया अलाभेन महत्यथ।
क्षतिः किं सह्यते साधो ! न विघ्नस्तत्र कारणम् ॥३३॥५९॥

आत्मज्ञान पूर्ण वैराग्य के होने पर "तुझ कारण बन काटिया" "असङ्ग शस्त्रेण दृढेन छित्वा । भ० गी० १५ । ३" इत्यादि वचनों के अनुसार गुरु उपदेश से और असङ्गता वैराग्यरूप दृढ़ अस्त्र-शस्त्र से काटे गये आम्र वन = आम वस्तु (कच्चे मिथ्या सब पदार्थ) फिर सांसारिक दुःख सुखरूप फल के लिये मौर (मोजर = फूल) युक्त भी नहीं होती है, फल लगना तो दूर रहता है। अर्थात् ज्ञानादि से फल सहित कर्म का नाश होता है। और तीव्र विराग द्वारा संसार से फटे हुए कान फिर संसार की कथा में नहीं जुटते (लगते) हैं, इस प्रकार से सब इन्द्रियरूप गो (गौ) को संसार से हटाकर रखनेवाले गोरख (जितेन्द्रिय ज्ञानी योगी) को आत्मस्वरूप पारस से परस (सम्बन्ध = स्पर्श) के बिना नुकसान (हानि) काहे (क्यों) होगा, वह तो आत्माराम के सम्बन्ध से हानि लाभ रहित नित्य मुक्त ही होगा। क्योंकि "निर्मानमोहा-जितसङ्गदोषा अध्यात्मनित्याविनिवृत्तकामाः । द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसञ्ज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् । भ०गी० १५ । ५" "ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति । तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात् ॥" इत्यादि शास्त्र उक्तार्थ को कहते हैं। जैसे कटा हुआ आम नहीं मौरता (फुलता) है। तैसे फाटे हुए कान सन्मार्ग सत्यात्मा में नहीं जुटते हैं तो सत्यात्मारूप पारस के स्पर्श के बिना कान फड़ाकर क्यों नुक-सान सहते हो, कान फड़ाने बिना ही श्रवणादि कर्तव्य हैं, स्पष्ट अर्थ है ॥५६॥

पारस रूपी जीव है, लोह रूप संसार।
पारस ते पारस भया, परस भया टकसार ॥६०॥

अपूर्वोऽश्माऽयमात्माऽऽख्यो यत्सम्बन्धाज्जडं जगत्।
रत्नं सच्चिदिवाभाति ज्ञाने तद्रूपतां व्रजेत् ॥३४॥
शुद्धचैतन्यरूपोऽयं पुरुषः परमार्थतः।
मोहादेव तु संसारी ततो मोक्षं च वाञ्छति ॥३५॥
गुरुज्ञानप्रसादेन सत्सङ्गस्यानुभावतः।
मुद्र्यते चित्स्वरूपेण शिष्यतेऽयं स्वयं प्रभुः ॥३६॥
स्पर्शमणिरयं जीवो लौहं संसारविभ्रमः।
तादात्म्येन च संस्पर्शाज्ज्ञानात्तद्रूपतां व्रजेत् ॥३७॥
"यावद्धेतुफलावेशः संसारस्तावदायतः।
क्षीणे हेतुफलावेशे संसारं न प्रपद्यते" ॥३८॥६०॥

जीव का पामार्थिक स्वरूप पारसरूपी (पार्शमणि के स्वभाव वाला) है, सांसारिक व्यावहारिक स्वरूप लोहे तुल्य हैं। तहाँ लोहा तो पारस के सम्बन्ध से सुवर्ण ही होता है, पारस नहीं। और जीवात्मा तो निजात्मारूप पारस के सम्बन्ध (ज्ञान) से अज्ञानमूलक जीवत्व की निवृत्ति से सच्चिदानन्द स्वरूप पारस ही हो गया, और होता है। क्योंकि उससे परस (अनुभवरूप सम्बन्ध) ही टकसार (टकसाल) हुआ (सत्य साँचा) हुआ ॥ ६० ॥

प्रेम पाट का चोलना, पहिरि कबीरा नाच।
पानप दीन्हो ताहि को, तन मन बोलै साँच ॥६१॥

यो मोहस्नेहजे देहेऽभिमानं नेह मुञ्चति।
स पुनस्तं गृहीत्वैव चंक्रमीति भवाजिरे ॥३९॥
पाषण्डिनं बहिष्प्रज्ञमतथ्यवादिनं शठम्।
देहाभिमानिनं मूढं गुरवस्तारयन्ति नो ॥४०॥
देहाभिमानपाषण्डानृतादिभिश्च वर्जितम्।
सुहृदं सर्वभूतानां गुरवस्तारयन्ति हि ॥४१॥
गुरूणामात्मनो भक्ता निर्भया विचरन्ति ये।
कञ्चुकं परिधायाङ्गे भक्तिजं वातिसुन्दरम् ॥४२॥
मनसा वचसा तन्वा शुद्धाः सत्यं वदन्ति च।
तेभ्य एवात्मनिष्ठेभ्यो महत्त्वं तैर्वितीर्यते ॥४३॥
कामक्रोधविनिर्मुक्तः शोकमोहपरं गतः।
तृष्णालज्जा विषादाद्यै र्विमुक्तो वै महान् भवेत् ॥४४॥
नाम्नीव रूपे च हि यस्य मानसं सक्तं सदा नो विविनक्ति तत्त्वकम्।
वेषैश्च हार्दैश्च स तेन वञ्चितो जानाति नैवेदमखण्डचिद्घनम् ॥४५॥
सर्वं ह्यनादृत्य तु जागतं भ्रमं सौख्येषु दुःखेषु समानमानसाः।
उल्लङ्घ्य गच्छन्ति हि शाश्वतं पदं ज्ञानेन सत्यं गुरुभिः सुसङ्गताः ॥४६॥६१॥

इतिसाक्षिसाक्षात्कारेनामरूपासक्तानांविभिन्नगतिंवर्णनंनामदशमीवित्तिः१०

सत्य पारस के परस से रहित कबीरा (जीव) "मन्दिर तो है नेह का" इस उक्त रीति से सांसारिक प्रेम (स्नेह) रूप पाट (पट) के कार्यरूप चोलना (देह) पहिरकर संसार में नाचता (भ्रमता) है। अचल स्थिति नहीं पाता है। यहाँ अचल स्थिति के लिये सत्यात्मा सद्गुरु विषयक प्रेममय पाट की चोलना चाहिये। क्योंकि सांसारिक नाच में यह जीव तन, मन से झूठ बोलता है। सद्गुरु सत्यात्मा राम तो उसीको पानप (इज्जत बड़ाई स्वतन्त्रता) दिये

हैं और देते हैं कि जो तन मन से सर्वथा साँच बोलता है, सत्यात्म निष्ठ होता है। कहा गया है कि "मुख कछु और हृदय कछु आना। स्वप्नेहुँ काहु मोहि नहिं जाना॥" ॥ ६१ ॥

अथ विषयिगतागत प्रकरण ११

दर्पण केरी गुफा में, श्वनहा पैठा धाय।
देखी प्रतिमा आपनी, भूकि भूकि मरि जाय॥६२॥

दर्पणै रचितायां श्वा दर्यां निविशते यदि।
प्रतिबिम्बंस्वकं दृष्ट्वा भषित्वा म्रियते यथा॥ १ ॥
तथाऽविवेकिनोऽनित्ये विषयादौ स्वकं सदा।
प्रतिबिम्बात्मकानन्दं[1] जीवं देवं निरीक्ष्य हि॥ २ ॥
लोकदर्यां प्रविष्टा वै शत्रुमित्रादिभावतः।
हेयपूज्यादि बुद्ध्या च स्तुतिनिन्दादितत्पराः॥ ३ ॥
भ्रमन्ति वा म्रियन्ते च लभन्ते नैव निर्वृतिम्।
मोहिताः कर्मणा स्वेन पश्यन्तो भिन्नमेव हि॥ ४ ॥
यावत्पश्यत्यनात्मानमात्मान्यं वा महेश्वरम्।
तावद् भ्राम्यति लोकोऽयमविद्यापाशपाशितः॥ ५ ॥
इन्द्रियाणां निरोधेन रागद्वेषक्षयेण च।
आत्मनश्च विवेकेन मुक्तो भवति नान्यथा॥६॥६२॥

जैसे दर्पण की गुफा में यदि कुत्ता दौड़कर पैठता है, तो अपने प्रतिबिम्बों को देख कर, उनमें शत्रु आदि बुद्धि से भूक भूककर मरता है। तैसे ही आत्म प्रेमादि के बिना स्नेह रचित देह मे हृदय में संसार में यदि अभिमानादि द्वारा जीव पैटता है। तो वह अपने सत्यात्मा के प्रतिबिम्बों से युक्त देव मनुष्यादि के शरीरादि को देखकर, और उनको अपने शत्रु मित्रादि समझकर स्तुति निन्दादि द्वारा रागद्वेषादि करके पुण्यपापादि के द्वारा बारबार जन्मादि के भागी होता है। अतः जन्मादि रहित होने के लिये तन मन वचन से सत्यपरायण होकर सत्यात्मा के ज्ञान को प्राप्त करना चाहिये, प्रतिबिम्बोंको भी यथार्थ स्वरूप से समझकर रागद्वेषादि को समूल नष्ट करना चाहिये॥६२॥

---

१ मुखाऽऽभासको दर्पणे दृश्यमानो मुखत्वात्पृथक्त्वेन नैवास्ति वस्तु। चिदाभासको धीषु जीवोऽपि तद्वत् स नित्योपलब्धि स्वरूपोऽहमात्मा॥१॥ हस्तामलक।

ज्यों दर्पण प्रतिबिम्ब देखिये, आप दुनों महँ सोय ।
या तत्त्व ही से वा तत्त्व है, पुनि याही है सोय ॥६३॥

दर्पणाद्यभिसम्बन्धाद् यथैकोऽपिद्विधा भवेत् ।
बिम्बत्व प्रतिबिम्बत्वभेदेनेह तथा स्वयम् ॥ ७ ॥
आत्मैव पर जीवादिभेदेन बहुधाऽस्तिसन् ।
मायामनोऽभिसम्बन्धात्तं विना केवलःस्फुरेत् ॥ ८ ॥
एकोऽपि बहुधा सूर्यो जलाधारेषु दृश्यते ।
तथैव परमात्मापि सर्वोपाधिषु भिद्यते ॥ ९ ॥
समाध्यादौ स्फुरत्यात्मा केवलो भेदवर्जितः ।
व्युत्थितस्य समुत्थेन संस्कार जनितेन तु ॥१०॥
स्मरणेन भवेत्तस्य वित्ति र्वा गुरुवाक्यतः ।
सच्छास्त्रैः सुविचाराद्यैर्नान्यथा जन्मकोटिभिः ॥११॥
पश्यत्यात्मानमन्यच्च यावद्वै परमात्मनः ।
तावत्संभ्राम्यते जन्तु र्ज्ञानाद् याति तदात्मताम् ॥१२॥६३॥

जैसे दर्पण में प्रतिबिम्ब देखा जाता है, तहाँ आप वह देही द्रष्टा दर्पण में और बाहर दोनों स्थान में प्रतीत होता है। अर्थात् एक में ही कल्पित बिम्बत्व और प्रतिबिम्बत्व दो धर्म भासते हैं, या कल्पित प्रतिबिम्ब (आभास) से एक ही दो रूप से दीखता है, और दर्पण के बिना एक ही दीखता है, तैसे ही या तत्त्व (एक प्रत्यक्ष सर्वसाक्षी स्वरूप) से ही माया अविद्या अन्तःकरणादिरूप उपाधि (दर्पणों) से वा तत्त्व (तटस्थ ईश्वर देवादि) होते हैं, और दीखते हैं। उपाधियों की अप्रतीति या अभाव दशा में सब इस साक्षीमात्र ही रह जाते हैं, और भासते हैं। उपाधियों की मिथ्यात्व की प्रतीति काल में भी इन के भिन्न सत्त्व की प्रतीति नहीं होती है, व्यवहार काल में तो व्यावहारिक भेदादि रहते ही हैं। इत्यादि ॥६३॥

जो वन सायर सूझ ते, रसिया लाल कराहिं ।
अब कबीर पाँजी परी, पन्थी आवहिं जाहिं ॥६४॥

मत्तो यद्वनमब्धिश्च रसिकास्तद्धि मन्वते ।
अमूल्यं शोणरत्नं वै तदभ्यासोऽद्य वर्तते ॥१३॥
पथिका इव तेनात्र पुनरायान्ति यान्ति च ।
आशालोभभराक्रान्ताः क्षुब्धा मुग्धा मुहुः पथि ॥१४॥

केवलस्यात्मनो ज्ञानं विना मूढा भवार्णवे ।
अरण्यानीसमे लोके स्वात्ममायाविलासके ॥१५॥
महाभयङ्करेस्थाने पातोत्पातविधायिनि ।
विश्वस्ताः सुखबुद्ध्याद्यैरसत्ये वासनामयैः ॥१६॥
अनादिवासनाभ्यस्ते यान्त्यायान्ति पुनः पुनः ।
लभन्ते निर्वृत्तिं नैव योन्यादौ पथिका इव ॥१७॥
मायाप्रसूता खलु जागती श्रीः सत्ये विलग्नेवसदा विभाति ।
मूढैस्तु तत्त्वेन विभाव्यमाना भवे भवेत्पातविधायिनी सा ॥१८॥

इतिसाक्षिसाक्षात्कारेविषयानन्दमग्नानां गतागतवर्णनंनामैकादशीवित्तिः ११

पूर्व कही रीति से काटने योग्य संसार स्त्री पुत्र धनादिरूप बन, देवेश्वर-भाव कामादिरूप अपार समुद्र जो मुझ (निजात्मस्वरूप) से माया अविद्यादि द्वारा हुए हैं, होते हैं, और निवृत्त होते हैं । अतः जो स्वप्न तुल्य मिथ्या हैं । रसिया (रसिक अनात्मप्रेमी) जीव, उनको ही लालरत्न करते (मानते कहते) हैं । सत्य सुखदादि समझते हैं । अतः उनमें स्नेह करके आसक्त होते हैं । तहाँ श्री कबीरसाहब कहते हैं कि सदा के प्रेम से अब इनको मिथ्याज्ञान व्यवहार की ही पाँजी (आदत) पड़ गई है । अतः ये जीव संसार पथ के पन्थी (पथिक) होकर, सदा संसार में आते जाते रहते हैं (जन्मते मरते हैं) यदि किसी प्रकार संसार स्त्री पुत्रादि में मिथ्यात्व हेयत्वादि बुद्धि हो, तभी जन्मादि रहित मुक्त जीव हो सकते हैं अन्यथा नहीं ॥६४॥

अथ गुरुविमुखकासंसार वर्णन प्र० १२

दुहरा तो नूतन भया, पदहिं न चीन्है कोय ।
जो यह पदहिं विवेकिया, छत्र धनी है सोय ॥६५॥

द्वितीया नूतना तस्य तनु र्जाता न यो पदम् ।
विविनक्ति विवेकी तु सार्वभौमोऽस्त्यधीश्वरः ॥ १ ॥
नूतनां तनुमास्थाय योनौ योनौ चरेज्जनः ।
सारशब्दाविवेकेन स्वरूपस्याविवेकतः ॥ २ ॥
सारशब्दविवेकेन सत्याधिष्ठानवित्तिमान् ।
स्वतन्त्रोऽसौ महाराजश्चेश्वराणामपीश्वरः ॥ ३ ॥
जातं वा नूतनं दोहावृतं सर्वहितप्रदम् ।
पदमस्य न जानाति जनो मोहवशंवदः ॥ ४ ॥

योो जानाति पदं त्वस्य विवेकेन सुबुद्धिमान् ।
सर्वेश्वरो भवेत्पूज्यः स एवात्र न संशयः ॥ ५ ॥ ६५ ॥

कारण शरीर सहित सूक्ष्म शरीर जीव के अनादि और मोक्षपर्यन्त स्थायी हैं। सूक्ष्म शरीर प्रलय में अव्यक्त होकर रहता है, सूक्ष्म भूतों से उसकी अभिव्यक्ति मात्र होती है। आत्मज्ञ के सूक्ष्म कारण शरीर भी सर्वथा नष्ट हो जाते हैं। परन्तु जो कोई निजात्म स्वरूप पद (स्थान वस्तु) को नहीं चीन्हता (जानता) है, उसके कारण सूक्ष्म शरीर तो रहते ही हैं, दुहरा (दूसरा २ देह) नूतन स्थूल भया है, और होता है। जो कोई इस अपरोक्ष साक्षी स्वरूप पद (स्थान वस्तु) को विवेकिया (शरीरादि से पृथक् विवेक पूर्वक समझा) कि जिससे राम रसिक होकर, नयन रसिकता को त्यागा वही छत्रधनी (छत्रधारी स्वतन्त्र सर्वेश्वर ज्ञानी) है ॥ ६५ ॥

कबीर जात पुकारिया, चढ़ि चन्दन की डार।
बाट लगाये ना लगै, पुनि का लेत हमार ॥६६॥

गच्छन्तः स्वयमस्माद्धि संसाराच्चन्दनस्य च।
जीववृक्षस्य शाखायां तुर्याख्यायां स्थिताः सदा ॥ ६ ॥
गुरवः प्राप्तये तत्र मार्गांश्चोपदिशन्ति ते।
हतभाग्या न शृण्वन्ति तत्र नैव प्रयान्तिचेत् ॥ ७ ॥
गुरूणां तेन का हानिः पुनस्तै र्लभ्यते च किम् ।
जन्मान्तरेषु ते मूढाः प्रपीड्यन्ते न योगिनः ॥ ८ ॥
कृपा सिन्धून् गुरून् प्राप्य यैश्चात्रात्मा न रक्षितः।
जन्मान्तरेषु तद्रक्षा प्रायेणात्यन्तदुर्लभा ॥ ९ ॥
संसारात्ते हि गच्छन्त उच्चैराकार्य सर्वथा।
सन्मार्गे गमनार्थाय प्राहु र्जीवा व्रजन्ति नो ॥१०॥
जन्मकर्म स्वभावादीन् सर्वान् सद्गुरु रुक्तवान्।
न पश्यन्ति जना मोहाद् गुरुस्तेषां करोतुकिम् ॥११॥६६॥

"चन्दन वास निवारहू" इस कथित रीति से सवासन जीव चन्दन हैं, उनका साक्षी स्वरूप शुद्ध डार है। अतः श्रीकबीर साहब कहते हैं कि इस संसार से जाते हुए (असङ्ग होते हुए) भी मैं चन्दन की डार पर चढ़कर (तुरीयावस्था साक्षि स्वरूप में स्थिर हो कर) मनुष्यों के हित के लिये सन्मार्ग सत्यात्मादि की बातों को पुकार कर कह दिया है कि विषयरसिकता को त्याग कर राम रसिक बनो। इस प्रकार बाट (सतमार्ग) में लगाने से यदि कोई

नहीं लगेगा, तौ पुनि (फिर) हमारा क्या लेगा (मार्ग में लगने ही पर सद्गुरु के सर्वस्व को प्राप्त करेगा)। अतः ऐसे उपदेशों को सुनकर अभी सन्मार्ग में प्रवृत्त होना चाहिये। श्रवणमात्र से पुण्य मानकर तृप्त नहीं होना चाहिये ॥६६॥

सब ही ते साँचा भला, जो दिल साँचा होय।
साँच बिना सुख नाहिं है, कोटि करै जो कोय ॥६७॥

स्वयं भवार्णवात्तीर्णा गुरवः प्रदिशन्ति यान्।
मार्गांस्तैरेव गन्तारो लभन्ते परमं पदम् ॥१२॥
तेषु मार्गेषु सर्वेषु सत्यं विद्धि परं महत्।
मनसा कर्मणा वाचा यत् सत्यं तत् प्रशस्यते ॥१३॥
"यथोपलब्धं यद्वाक्यं हिंसाकल्कविवर्जितम्।
सर्वधर्मविदः प्राज्ञास्तत् सत्यं प्रतिजानते ॥१४॥
नहि सत्यात्परो धर्मो नानृतात् पातकं परम्।
नहि सत्यात्परं ज्ञानं तस्मात् सत्यं समाचरेत्" ॥१५॥
नहि सत्यं विना सौख्यं विद्यते क्वापि कस्यचित्।
कुर्वतः साधनान्यत्र कोटिधाऽन्यानि सर्वदा ॥१६॥
"सत्यमेव परं ब्रह्म सत्यमेव परं तपः।
सत्यमेव परो यज्ञः सत्यमेव परं श्रुतम्" ॥१७॥६७॥

सबही साधन और साध्य (कार्य) से साँचा (सत्य वचन, व्यवहार, वस्तु) ही भला (पवित्र श्रेष्ठ) है। परन्तु यदि दिल (मन) भी साँचा (निष्कपट सत्यनिष्ठ आत्मनिष्ठ) हो। इस प्रकार के सांच के बिना कहीं भी कोई साँचा सुख नहीं प्राप्त होता है। साँचके बिना यदि अन्य करोड़ो सुखका साधन व्यवहार तप आदि कोई करता हो तो भी सत्य सुख नहीं मिलता है। अतः सुखार्थी को असत्य कपटादि के त्यागपूर्वक सत्यनिष्ठ होना चाहिये ॥६७॥

साँचा सौदा कीजिये, अपने दिल में जानि।
साँचे हीरा पाइये, झूठे मूलो हानि ॥६८॥

सत्यं सम्पाद्यतां शश्वत्तं च स्वान्ते प्रबुध्यताम्।
युद्ध्यतां च तदर्थाय स्वेन्द्रियैः स्वविरोधिभिः ॥१८॥
सत्यं बुद्ध्या समालोच्य विचार्य च पुनः पुनः।
सत्यं ह्यर्जयतां विद्वन्नासत्ये क्रियतां मतिः ॥१९॥

सत्येन लभ्यते ज्ञानरत्नं मोक्षः सुखं परम् ।
नश्यत्यसत्यतः सर्वं मूलं च प्रविनश्यति ॥२०॥
सर्वसाधन मूलं हि मानुष्यमति दुर्लभम् ।
न हि चेच्छक्नुयाद् वृद्धौ मूलं यत्नेन रक्षयेत् ॥२१॥
अत्र चाऽन्यत्रमानुष्यं सति ज्ञानं हि लभ्यते ।
अन्यत्रापि क्वचिच्चेत्स्यान्मानुष्ये कृतसाधनात् ॥२२॥
आप्तेन गुरुणा सार्द्धं व्यवहारो विधीयताम् ।
अनाप्तै र्व्यवहरन् धीमन् मूलनाशं प्रणङ्क्ष्यसि ॥२३॥
सत्येन लभ्यते चात्मा ह्याप्तेन गुरुणा तथा ।
तपसा ब्रह्मचर्येण सम्यग् ज्ञानेन सर्वदा ॥२४॥
जीवनाशं स नष्टः स्याद् यो न सत्यादिमान् भवेत् ।
अतः सर्वप्रयत्नेन सत्यादीन् रक्ष भो बुध ! ॥२५॥
"सत्यं भूतहितं प्रोक्तं नाऽयथार्थाभिभाषणम् ।
भूतानामहितं सत्यमसत्यं फलतो भवेत्" ॥२६॥६८॥

साँचा सब से श्रेष्ठ है, अपने दिल में उसको जान कर (सोच विचार कर) सत्यात्मा सद्व्यवहारादि रूप साँचा सौदा (ग्राह्य वस्तु) को सद्गुरु आदि से प्राप्त करो । क्योंकि सांचे गुरु व्यवहारादि से ज्ञान आत्मा मोक्ष रूप अभेद्य प्रकाश स्वरूप हीरा की प्राप्ति होती है । झूठ वचन व्यवहारदि से सब सुख साधन के मूल मनुष्यता की हानि होती है । आत्मानन्द की प्राप्ति नहीं होती है । इत्यादि ॥ ६८ ॥

सुकृत वचन मानै नहीं, आपु न करै विचार ।
कहहिं कबिर पुकारि के, स्वप्ने गया संसार ॥६९॥

यो न गृह्णाति सद्वाक्यं स्वविचारं करोति न ।
स्वप्नतुल्ये स संसारे गतो यास्यति वै पुनः ॥२७॥
कामक्रोधसमायुक्तो हिंसालोभसमन्वितः ।
मनुष्यत्वात्परिभ्रष्टो नरकादौ प्रपद्यते ॥२८॥
शृणोति यो नैव सतां सुभाषितं करोति नैवात्मविचारणामपि ।
भ्रजन् कुमार्गेण स आत्महा नरश्चलाचलः क्वापि न सत्यमश्नुते ॥२९॥६९॥

इति साक्षिसक्षात्कारेशरीरासक्तगुरुविमुखानां संसारभ्रमादिवर्णनं
नाम द्वादशी वित्तिः ॥ १२ ॥

असत्य परायणता से जो संसारी जीव सुकृत (पुण्यात्मा गुरु के पुण्य) वचन को नहीं मानता है, न आप ही सद्विचार करता है, सो संसारी स्वप्न तुल्य संसार में ही फिर भी गया और जाता है। अतः संसार स्वप्न की निवृत्ति के लिये सुकृत वचनों का विचार कर्तव्य है ॥ ६९ ॥

——❀——

अथ ज्ञानाग्नि आदि वर्णन प्रकरण १३

आगि जो लागि समुद्र में, धुआँ न परगट होय।
सो जानै जो जरि मुआ, जाकी लाई होय ॥७०॥

स्वप्नतुल्येऽत्र संसारे ह्यब्धौ विज्ञानवह्नयः।
लग्ना न लक्ष्यते धूमो जनै र्ज्ञानविवर्जितैः ॥ १ ॥
प्राक्तना गुरवो ये च तथेदानींतनाश्च ये।
ज्ञानाग्निदग्धदेहा वै तैरेवायं तु लक्ष्यते ॥ २ ॥
गुरुभक्तै र्विरक्तै र्हि प्लुष्टाभिमितिपङ्क्कैः।
विचारशुद्धहृदयै र्लक्ष्यते प्राप्यतेऽपि च ॥ ३ ॥
अद्भूतोऽयं महाग्नि र्यद्धूमोऽप्याविर्भवेन्नहि।
ज्ञातारोऽस्य म्रियन्तेऽथयैश्चाऽऽनीतो नरोत्तमैः ॥ ४ ॥

संसार के स्वप्न तुल्य होने से सुकृत वचन को मानने पर संसार समुद्र में शिष्य के हृदय में जो ज्ञानाग्नि लगी है और लगती है। उसका धूम (कार्य चिह्न) अज्ञों को प्रगट (ज्ञात) नहीं होता है, ज्ञान जन्य सुख शान्ति को अज्ञ नहीं समझ सकता है। अतः उस अग्नि को उसके धूम को वही जानता है कि जो उस अग्नि से जर बर कर मरा हुआ रहता है। अर्थात् ज्ञान से सर्वाभिमान कामादि को नष्ट करनेवाले जीवन्मुक्त उस अग्नि को और धूम को समझते हैं तथा उस ज्ञानाग्नि को संसार में (शिष्य के हृदय में) जो सद्गुरु लाते हैं। अतः जिनकी लाई हुई अग्नि रहती है सो सद्गुरु पूर्णरीतिसे इस अग्नि और धूम को जानते हैं ॥ ७० ॥

लाई लावनहार की, जाकी लाई पर जरै।
बलिहारि लावनहार की, छप्पर बाँचै घर जरै ॥७१॥

आनीतस्य य आनेता धन्यवादोऽस्य विद्यते।
यदानीतेन दग्धं स्यात्परं वस्तु समूलतः ॥ ५ ॥

अहो तेन गृहं दग्धं जायते रक्ष्यते छदिः ।
सत्यात्मलक्षणं यद्धि नित्यच्छायाप्रदं विभु ॥ ६ ॥
धन्यः सोऽत्र गुरु र्वन्द्यो यः शिष्यहृदये गृहे ।
समानयति बोधाख्यं वह्निं परम्पराऽऽगतम् ॥ ७ ॥
तस्मादनात्मकोशादिगृहदाहो हि जायते ।
शिष्यते चाऽयमात्मा यः सर्वसत्ताप्रकाशदः ॥ ८ ॥
क्षुण्णे चानादिमार्गे यो ज्ञानात्मनि न तिष्ठति ।
न तं गुरुं विजानीयात्कल्पितस्य प्रवर्तकम् ॥५६ ॥
अनन्तजन्मसम्प्राप्त कर्मबन्धविदाहिने।
आत्मज्ञानप्रदानेन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥१०॥७१॥

उस लावनहार (ज्ञानाग्नि को लानेवाले) गुरु की बलिहारी (धन्यवाद) है कि जो गुरु अनादिकाल से गुरु शिष्य परम्परा द्वारा लाई हुई ज्ञानाग्नि को शिष्य के हृदय में लानेवाले है । अपने मन से मिथ्या कल्पना करनेवाले नहीं हैं, ज्ञान मार्ग सनातन है, और सनातन वैदिक धर्मज ज्ञान होता है, ज्ञानज धर्म होता है । अतः धर्मज जिनकी लाई हुई ज्ञानाग्नि से पर (अनात्म वस्तु और कामादि शत्रु) जल कर नष्ट हो जायं, और सबको छाया (आनन्द= शान्ति) देनेवाला छप्पर तुल्य "ईशावास्यमिदं सर्वम् । ईश० १" इस श्रुति में वर्णित व्यापक सर्वात्मा ईश्वर बच जायं (सत्य अविनाशी निश्चित हो जायँ) और तीन लोक, तीन देह रूप घर जर जाय, (इनमें मिथ्यात्वादि का निश्चय हो जाय) ऐसी ज्ञानाग्नि को लानेवाले गुरु की बलिहारी है ॥ ७१ ॥

आगि जो लागि समुद्र में, जरै सकादो झार ।
पुरब पछिम के पण्डिता, मुये विचारि विचारि ॥७२॥

ज्ञानाग्ने र्यस्य सम्बन्धान्मनोमोहादिकर्दमैः ।
सार्द्धं विश्वोदधिर्नश्येत्तज्ज्ञानं परमं मतम् ॥११॥
एतस्यैव च बोधस्य लब्धये ये विवेकिनः ।
पूर्वापरस्य कालस्य भूषणं सुविचारिणः ॥१२॥
आप्राणान्तं विचार्यैव म्रियन्ते ते मृतास्तथा ।
न जात्ववसरो दत्तः कामादीनां न दीयते ॥१३॥७२॥

जो ज्ञानाग्नि संसार समुद्र में लगी है या लगती है, उससे माया मोहादि कामादि पापादि कादो (कीचड़ मूल) सहित यह झार (सब) समुद्र जलता (नष्ट बाधित होता) है । इसी से उस अग्नि के लिये पूर्व, पछिम (भूत,

वर्तमान काल) के पण्डित (विवेकी विद्वान्) विचार-विचार कर मरे और मरते हैं। मरणपर्यन्त विचारादि करते रहते हैं। और कुकामादि के वश में नहीं होते हैं ॥ ७२ ॥

आगि जो लागि समुद्र में, टुटि टुटि खँसये झोल।
रोवै कबिरा डम्फिया, हीरा जरै अमोल ॥७३॥

विश्वाब्धौ ज्ञानरूपाग्निरलगत्तस्य वेगतः।
मदकाममुखाउल्का नश्यन्ति प्रपतन्ति च ॥१४॥
ज्ञानिदेहगृहे चैषां नाशं दृष्ट्वाऽविवेकिनः।
रुदन्ति हाऽस्य लोका वै नश्यन्तीति शुचार्पिताः ॥१५॥
ज्ञानिनां नात्र शोकः स्यान्न मोहो नैव दीनता।
स्वप्नवत्तेप्रपश्यन्ति जगदेतच्चराचरम् ॥१६॥
स्वप्नपुत्रे विनष्टे वा जाते वाऽत्र क्व दीनता।
हर्षो वा युज्यते लोके जाग्रत्येवं विदन्ति ते ॥१७॥
मूर्खस्तु हीरको नष्ट इति मत्वा रुदंश्चिरम्।
पुत्रवित्तादिशोकेन म्रियते वा विमुह्यति ॥१८॥७३॥

ज्ञानाग्नि जो संसार समुद्र में लगी; उससे मोहाभिमानादि रूप झोल (मल), ज्ञानी के देह रूप घर से टूट-टूट कर खँसने (गिरने) लगे, और गिरते हैं। लोकादि में मिथ्यात्व बुद्धि होती है। अतः उनके लिये कर्मादि में प्रवृत्ति का अभाव होता है, सो देखकर उनके पिता-पुत्रादि रूप डम्फिया (दम्भिया अभिमानी) कबिरा (जीव) सब रोते हैं कि कर्मादि के बिना इसके लोकादि रूप अमूल्य हीरा जरते हैं (नष्ट हो रहे हैं) ये हमारे लाल भी नष्ट हो रहे हैं इत्यादि ॥ ७३ ॥

बुन्द जो परा समुद्र में, सो जानै सब कोय।
समुद्र समाना बुन्द में, बुझै बिरला कोय ॥७४॥

समुद्रे पतितं विन्दुं जानन्ति सर्वजन्तवः।
विन्द्वात्मकारणे चाब्धि कोऽपि वेत्ति विचक्षणः ॥१९॥
जगदब्धावबुद्धा ये पतिता विन्दुजीवकाः।
तान् यथाऽज्ञा विजानन्ति ज्ञातव्यास्ते तथा नहि ॥२०॥
निजात्मनि भवाब्धि वैं कल्पितो बुद्धिमत्तमैः।
ज्ञायते गुरुसच्छास्त्रैरधिष्ठानेऽद्वितीयके ॥२१॥

"अनादिश्चायमात्मास्ति तस्यादिस्तु शरीरकम् ।
आत्मन्येव जगत् सर्वं जगत्यां चायमास्थितः" ॥२२॥
ब्रह्मात्मनि समुद्रे तु वामदेवादिबिन्दवः ।
लीना विदन्ति ताँल्लोकाः स्वात्मनि नैव तद्विदुः ॥२३॥७४॥

व्यावहारिक जीव रूप बिन्दु जो संसार समुद्र में पड़ा है, सो सब कोई जानते हैं। परन्तु वासना आदि रूप से संसार ब्रह्माण्ड बुन्दों (जीवों) में पिण्डों में = मानव देहों में समाना (समाया) है तथा जीवों के पारमार्थिक स्वरूप में माया से कल्पित है, उसके बिना कहीं संसार की स्थिति नहीं है। इस तत्त्व अर्थ को कोई विरले ही समझते हैं तथा वामदेवादि ज्ञानी जीवरूप बिन्दु ब्रह्म समुद्र में पड़े (लीन हुए) सो बहुत लोग समझते हैं। परन्तु परब्रह्म को अपने स्वरूप में विरले कोई समझते हैं कि जिनको भाग्यवश सद्गुरु मिलते हैं ॥ ७४ ॥

जहर जिमि दै रोपया, अमी सींचै सौ बार ।
कबिर खलक नाहीं तजै, जामें जौन विचार ॥७५॥

कामादिसंस्कृते क्षेत्रे स्वान्ते विषयवासनाः ।
बीजान्येव वपन्त्यज्ञाः स्वभावेन वशीकृताः ॥२४॥
शतकृतोऽमृतत्त्वाय यद्यप्यात्मोपदिश्यते ।
तथापि न त्यजन्त्येते कुविचारं कथञ्चन ॥२५॥
सद्भक्त्यभ्यासयोगाद्यै र्वासनानां तु तानवे ।
उपदेशाः फलन्त्येषु नान्यथा जन्मकोटिभिः ॥२६॥
सुक्षेत्रे विषवृक्षश्चेन्निरूप्य सिच्यतेऽमृतैः ।
तथापि स स्वभावं स्वं न जहाति कदाचन ॥२७॥
तथा संसारिणश्चैते वासनावेशशालिनः ।
स्वभावं स्वविचारं नो जहति योऽत्र वर्तते ॥२८॥७५॥

सुन्दर भूमि में सुन्दर खाद देकर भी यदि जहर (विष) के बीज बोये जायँ। और सैकड़ों बार अमि (अमृत = दूध) से सींचे जायँ, तो भी वे बीज अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते हैं। अतः विष को ही उत्पन्न करते हैं। श्री कबीर साहब कहते हैं कि उक्त ज्ञानादि के बिना खलक (संसारी) में भी विष बीज के स्वभाव के समान जिसका जो विचार है सो उस विचार को नहीं त्यागता है, चाहे सैकड़ों सदुपदेश दिया जाय तो भी। क्योंकि अज्ञ जीवों ने कामादि खाद देकर हृदय में वासना कुविचारादि बीजों को बोया है,

सत्सङ्ग सदभ्यासादि द्वारा सद्वासनादि से उस कुवासना कुविचारादि का अभाव हो सकता है। अतः सत्सङ्गादि कर्तव्य है ।। ७५ ।।

दव की डाढ़ी लाकड़ी, ऊभी करै पुकार।
अब जो परे लुहार घर, डाहै दूजी बार ।।७६।।

अलागेनोपदेशस्य कुविचारेण कर्मणा।
संसारतापदग्धा ये दावदग्धेन्धनं यथा ॥२९॥
आह्वयन्ति हि ते देवानीश्वरं च कदाचन।
बिभ्यतः कल्पयन्त्यन्त यमोऽस्मांस्तापयिष्यति ॥३०॥
लौहकार गृहे यद्वद् दह्यते हीन्धनं पुनः।
तद्वदेव यमो जीवान् दग्धान् दहति पापिनः ॥३१॥
नैतावता तु तत्तापो नश्यत्यत्र कदाचन।
न लभन्ते च ते शर्म यावदात्मा न लभ्यते ॥३२॥
यावद्विवेकोऽपि न विद्यते वा यावन्न लिङ्गं खलु बोधवह्नेः।
विलक्ष्यते शुद्धतमं विचित्रं तावन्न तापो विनिवृत्तिमेति ॥३३॥७६॥

इति साक्षिसाक्षात्कारे ज्ञानाग्नितद्दौर्लभ्यवर्णनं नामत्रयोदशी वित्तिः ॥१३॥

अपने-अपने कुविचारों को नहीं त्यागने से दावानल से दग्ध लकड़ी के समान विरह कामादि ताप से तप्त कोयला के समान होकर तथा ऊभी (खड़े) होकर ऊभी लकड़ी के समान मनुष्य पुकार कर कहता है कि अब यदि यम रूप लोहार के घर में प्राप्त हुए तो वह दूसरी बार भी जलायेगा। जैसे लुहार कोयले को जलाता है। अर्थात् सत्सङ्ग ज्ञान के बिना सदा भय होता है, अतः सत्सङ्गादि द्वारा ज्ञान को प्राप्त करके निर्भय मुक्त होना चाहिये ।। ७६ ।।

अथ विरहदशावर्णन प्रकरण १४

विरह की ओदी लाकड़ी, सपुचे औ धुँधुआय।
दुख ते तबही बाँचि हौ, जब सकलो जरि जाय ।।७७।।

सूर्यतापाद्ययोगेन ह्यन्तराद्रेन्धनं यथा।
सशब्दं कुरुते धूमं रुदन्ति कामिनस्तथा ।। १ ।।
वियोगेनात्मनश्चैते कदाचिद् विरुदन्ति च।
हसन्ति बहुधा तद्वद् द्वन्द्वमुक्ता भवन्ति न ।। २ ।।७७।।

जैसे सूर्य तेजादि के विरह (अप्राप्ति) से अ दा लकड़ी जलने के समय जलती हुई सपुचती है, मानो संकोच करती रोती है। अतः पानी चुआती है और अधिक धूआँ करती है, मानो जलने के लिये उत्साह करती है तैसे ही सद्गुरु. आत्मज्ञान. ईश्वर के विरहयुक्त, हृदय पे ओदा (रागो) नर कभी तो प्रेमभक्ति आदि की कथा को सुनकर तथा दुःखादि की प्राप्ति से रोने-गाते हैं और कभी कर्मादि के लिये उत्साह करते हैं। तहाँ जब ओदी लकड़ी सब जल जाती है. तब धूमादि से रहित होती है, अन्यथा नहीं। वे सद्गुरु कहते हैं कि जब सब वासना, काम, ममतादिक जल जाय (ज्ञानाग्नि से नष्ट हो जायँ) तभी दुःखों से सर्वथा बच सकते हो, अन्यथा नहीं। अतः सत्सङ्गादि द्वारा ज्ञान की प्राप्ति अवश्य कर्तव्य है ॥ ७७ ॥

विरह वाण जिहि लागिया, औषध लगै न ताहि।
सुसुकि सुसुकि मरि मरि जिवै, उठै कराहि कराहि ॥७८॥

असद्वागधनुषा ह्यात्मवियोगविशिखो हृदि।
यस्य स्वादर्शितः पूर्वमुपदेशो न तत्र हि ॥ ३ ॥
सफलः सोऽवरोरुद्य म्रियते जायते पुनः।
जातो जातश्च कामाय कर्मणे घटते पुनः ॥ ४ ॥
भ्रमित्वा बहुयोनौ च सुप्त्वाऽत्र मोहनिद्रया।
ततः कथञ्चिदुत्थाय शर्मणे घटते न च ॥ ५ ॥
अतो ज्ञानौषधं तस्मिन् सर्वतापविनाशकम्।
चेन्न लगति किं कुर्युः गुरवोऽपि महाधियः ॥ ६ ॥

टी० जिसके हृदय में परमात्मा के विरह (वियोग) का उपदेश तथा निश्चय रूप वाण लग गया है, उसको सत्यात्मा के उपदेशादिरूप औषध नहीं लगता है (असर नहीं करता है)। अतः वह पीड़ा के मारे सुसुक-सुसुक कर रोता है, और मर-मर कर जीता (जन्मता) है। फिर कराहि-कराहि करके उठता है। (कर्तव्य समझकर सकाम कर्मों में प्रवृत्त होता है) या कहर-कहँर कर उठता है, कभी आत्मविचारादि नहीं करता है कि जिससे शान्ति मिले। तहाँ भी "राम नाम की औषधी सतगुरु दई बताय। औषधि खाय रु पथ रहै, ताकी वेदन जाय ॥ १ ॥" वेदन = वेदना = पीड़ा ॥ ७८ ॥

दुहरा कन कहहिं कबीर, प्रतिदिन समय जु देख।
मूये गये न ऊबरे, बहुरि न ऐहा पेख ॥७९॥

जायन्ते विरहाद्देहाः कस्तान् संख्यातुमर्हति ।
के निरूपयितुं शक्ता वर्तमानाँश्च सम्प्रति ॥ ७ ॥
अनिशं दृश्यते यद्वा लोकवृत्तं शुभाशुभम् ।
दोहावृत्तादिभिः सर्वं गुरुभिस्तन्निगद्यते ॥ ८ ॥
मृत्वा कुत्रापि गत्वा हिं केऽपि मुक्ता नचाऽभवन् ।
पुनः स्वाऽजन्मने तस्मादत्र ज्ञानं विधीयताम् ॥ ९ ॥
किं बहुनोपदेशेन ह्येतावन्तं विनिश्चिनु ।
जीवन्मुक्तो भवेन्मुक्तो मृत्वा गत्वा न मुच्यते ॥१०॥
यस्मान्मोक्षसुखादन्यत्सुखं क्वापि न विद्यते ।
तस्मान्मुमुक्षुणाभाव्यं नैव भोगेच्छुना क्वचित् ॥११॥
यावन्नाश्रयते दुःखं यावन्नायान्ति चापदः ।
यावन्नेन्द्रियवैकल्यं तावच्छ्रेयः समभ्यसेत् ॥१२॥७९॥

श्रीकबीर साहब कहते हैं कि आत्मज्ञानादि के विरह (अभाव) से जो प्रतिदिन सब समय में दुहरा (दूसरी स्थूल देह) होते और देखे जाते हैं, उनको मैं कित (कितना कैसे) कहूँ कि कौन शरीर में कैसे दुःखादि होते हैं । इतना ही कहना है कि जो कोई मरकर कहीं गये, सो कहीं जाने मात्र से नहीं ऊबरे (मुक्त सुखी नहीं हुए) । किन्तु आत्मज्ञान, काम, ममता, वासनादि के त्याग तथा नाश से ही कोई भी मुक्त और सुखी हुए । अतः जिस आत्म-तत्त्व के ज्ञान से गर्भ में संसारकी कष्ट दशामें बहुरि (फिर) कभी नहीं आवोगे उस आत्मतत्त्व को पेखो (देखो) उसके अपरोक्ष ज्ञान की प्राप्ति करो ॥७९॥

साँचा शब्द कबीर का, हृदया देखु विचारि ।
चित्त दै समुझै नहीं, कहत भेल युग चारि ॥८०॥

यथा न भवचक्रे ते पुनरागमनं भवेत् ।
तथा विलोकयाऽऽत्मानं मोहादीन् परिमार्जय ॥१३॥
आत्मनश्चावलोकाय मोहाद्यपगमाय च ।
सद्गुरोः सारशब्दस्य विचारः सुविधीयताम् ॥१४॥
तस्यैवाभ्यासयोगेन स्वात्मानं हृदि पश्य भोः ।
विचाराद्यै विना तेऽत्र कालो बहुरगादयम् ॥१५॥
श्रवणान्मननाच्चैव निदिध्यासनतस्तथा ।
स्वविवेकादिभि र्विद्वद्भिर्हैवात्मा सुदृश्यते ॥१६॥

सद्गुरोरुपदेशेऽपि विचारोऽभ्यस्यते न चेत् ।
अलब्धसंयमैः पूर्वमात्मा नैवेह लभ्यते ॥१७॥
श्रवणेऽपि कृते भूयो मनसाऽऽलोच्यते नहि ।
अतः कथयतोऽगच्छत्सारशब्दं चतुर्युगम् ॥१८॥
ये मृत्वाऽन्यत्र गच्छन्ति मुच्यन्ते ते न जन्मभिः ।
अतस्तथा विधातव्यं यथाऽत्र स्याद् विमुक्तता ॥१९॥८०॥

उक्त आत्म अनुभव के लिये कबीर (ज्ञानी सद्गुरु) का साँचा (सत्य) शब्द प्रमाण रूप है । उस शब्द के द्वारा अपने हृदय में विचार कर सत्यात्मा को देखो (समझो) और दूर देश दूसरी वस्तु की आशा आदि को त्यागो, तुम चित्त देकर (लगाकर) सावधानी से नहीं समझते हो । अतः सन्त सद्गुरु को चार युग कहते हो गये (कहते में चार युग बीत गये) और तुम अज्ञ देहादि के अभिमानी ही रह गये हो, अब भी तो समझो ॥ ८० ॥

जो तैं साँचा बाणियाँ, साची हाट लगाव ।
अन्दर झारू देइके, बाहर कुरा बहाव ॥८१॥

वणिक् चेदसि सत्यस्त्वं हट्टं सत्यं कुरुस्वके ।
हृदये शोधनीं दत्वा वहिश्च सङ्करं कुरु ॥२०॥
सत्यात्मनो हि जिज्ञासा मुमुक्षा यदि वा हृदि ।
वर्तते चातिमन्दापि तदा सत्सङ्गमाचर ॥२१॥
विवेकं च विधायैव वैराग्येण वरेण च ।
हृदयं स्वस्य संशोध्य तां सुतीव्रां तु साधय ॥२२॥
तीव्रायां हि मुमुक्षायां श्रवणादीन् विधाय च ।
स्वात्मानन्दं समालोक्य मुक्तसङ्गः सुखीभव ॥२३॥
सतां सुसङ्गेन विवेकवारिणा, सुतीव्रवैराग्यरसेन धर्मतः ।
विशोध्य चान्तःकरणं सदा बुध, वियोगबुद्धिं प्रजहीहि दूरतः ॥२४॥८१॥

इति साक्षिसाक्षात्कारे विरहविचारादिवर्णनं नाम चतुर्दशीवित्तिः ॥१४॥

अब भी यदि तुम सत्य शब्द सत्यात्मा का बाणियाँ (व्यापारी) हो या होना चाहते हो तो सत्य का ही हाट लगावो (सत्सङ्ग सद्विचार करो) काम कथा आदि को त्यागो । और विवेक वैराग्यरूप झाड़ू अन्दर में देकर (लगा कर) राग-द्वेषादिरूप कूड़े को दूर बहाओ (बीगो) । इस प्रकार से हृदय को निर्विकार शुद्ध करो ॥ ८१ ॥

अथ कुसङ्गादि फलवर्णन प्र० १५

कोठी तो यह काठ की, ढिग ढिग दीन्हो आगि ।
पण्डित जरि झोली भये, साँकट उबरे भागि ॥८२॥

साग्निकाष्ठकुशूलेन तुल्यं हीदं कलेवरम् ।
लालसेन्द्रियतापाद्या अग्नयोऽत्रान्तिकेऽन्तिके ॥ १ ॥
एवं लोककुशूलेऽपि विषया अग्नयो मताः ।
ये दह्यन्ते हि सर्वे ते नरा देवासुरादयः ॥ २ ॥
अत्राऽऽसङ्गेन विद्वांसो दह्यन्ते ये बहुश्रुताः ।
किं वक्तव्यं तु मूढानां नाशे सङ्गे कृते सति ॥ ३ ॥
सङ्गे नश्यन्ति विद्वांसो मूढोऽसङ्गे न नश्यति ।
गुरो र्ज्ञातेन मार्गेण भाग्येन विचरत्ययम् ॥ ४ ॥
सङ्गो हेतुरनर्थानां सङ्गः संसारबन्धनम् ।
सङ्गाद् दुःखमवाप्नोति सङ्गत्यागात्सुखी भवेत्[1] ॥५॥८२॥

यह संसार और शरीर काठ की कोठी (महल = मकान) है । और उसमें विषयादि कामेन्द्रियादि रूप अग्नि ढिग ढिग (पास पास) में मन माया से लगा दी गई है । उक्त कूड़ा के रहते उसमें इस अग्नि के प्रज्वलित होने से इस कोठी में आसक्त शास्त्रज्ञ पण्डित भी जल कर झोली (खाक राख) हो गये । इस अवस्था में यदि साँकट (निरक्षर अज्ञ) उबरे (नहीं जले) तो उसका कोई भाग्य (पूर्वजन्म का प्रबल पुण्य) ही को उस अदाह में कारण है । ऐसा समझना चाहिये । अथवा आसक्ति युक्त पण्डित जल गये । और साँकट गुरु शरण सत्सङ्ग से भाग कर चला गया, अभिमानादि रूप सङ्ग को त्याग दिया तो वह भाग कर उबर गया, और उबरता है । अतः सङ्ग आसक्ति अभिमानादि हेय (त्याज्य) हैं ॥ ८२ ॥

श्रावण केरा सेहरा, बुन्द परा असमान ।
सब दुनियाँ वैष्णव भया, गुरु नहिं लागा कान ॥८३॥

श्रावणे मेघमालायामाकाशाद्बिन्दवो यथा ।
तदात्मकाः पतन्त्येवं विष्णो र्विश्वमजायत ॥ ६ ॥

---

१ भिक्षु र्वा भूपति र्वाऽपि योनिष्कामः स शोभते । भावेषु गलिता यस्य शोभनाऽशोभना मतिः ॥१॥ अष्टावक्रगीता ।

जाता विष्णोरिमे जीवा मोहात्संसारिणोऽभवन्।
कर्णे येषां गुरु नैव ह्यलगत् तत्त्वदृक् सुधीः ॥ ७ ॥
तटस्थेश्वरसंवादो नभो बिन्दूपमो मतः।
येनेह जायते जन्तु म्रियते वासनायुतः ॥ ८ ॥
सद्गुरोपदेशं न यच्छ्रोत्रे पिबतोऽमृतम्।
नाभसेनेव वाक्येन तस्यावस्थेयमीदृशी ॥ ९ ॥
आशया परलोकेन सङ्गेऽवस्थेयमीदृशी।
स्वर्गेण हि तदा विद्वन्निह सङ्गेन कीदृशी ॥१०॥८३॥

जैसे श्रावण के सेहरा (मेघमाला) के होने पर, असमान (आकाश) से बुन्द पड़ा और पड़ता है, तैसे ही चिदाकाश रूप विष्णु से माया रूपमेघ द्वारा सब दुनियाँ (चराचर संसार) हुई है। अतः सब प्राणी वैष्णव ही हुए हैं। और हैं (विष्णु के अंश भक्त सम्बन्धी) सब हैं। परन्तु कूड़ा को दूर बहाये बिना गुरु का मन्त्र इनके कानों में नहीं लगा है, न लगता है। अतः जलते हैं। अथवा असमान से वृष्टि के समान, गुरु की असमानी स्वर्गीय आदि वानी रूप बुन्द जीवों के कानों में लगा है कि जिससे सब संसारी वैष्णव हुआ है, परन्तु साक्षी स्वरूप के विवेकादिपूर्वक आत्मपरिचय कराने वाले गुरु कान में नहीं लगे हैं। अतः कूड़ा युक्त शरीरादि में आसक्ति आदि से पापादिपूर्वक तापादि सहना होता है। मुमुक्षु को कूड़ा अवश्य बहाना (त्यागना) चाहिये ॥ ८३ ॥

ढिग बूड़ा उछिला नहीं, इहे अँदेशा मोहि।
सलिल मोह के धार में, कस निन्द आई तोहि ॥८४॥

निमग्नः सविधेऽप्यब्धौ नोन्मज्जसि कदाचन।
आश्चर्यमहदेतन्मे विद्यते संशयावहम् ॥११॥
मोहवारिप्रवाहे ते निद्राऽऽयाति कथंदृढा।
प्रमादविषयाऽऽस्वाद लक्षणा संसृतिप्रदा ॥१२॥
अहो मोहस्य महात्म्यं लब्ध्वा मानुष्यमुत्तमम्।
संसाराब्धितटे यातः पुनरत्र निमज्जसि ॥१३।
महाभयप्रदे स्थाने जागरितव्य एव च।
अनादिमोहनिद्रेयं भवता स्वाद्यते कथम् ॥१४॥
त्यज शीघ्रमिमां निद्रां जागृहि त्वं निजात्मनि।
इन्द्रियाणि वशे कृत्वा यथा सुखमिहास्यताम् ॥१५॥८४॥

मानव तनु पाकर, वैष्णावादि भी कहा कर जो संसार में आसक्त हुए, आत्म परिचय नहीं किये, न ईश्वर के अनन्य भक्त ही हो सके, सो संसार समुद्र के ढिग में (पास में किनारे=तट पर) आकर डूब गये (संशय मोहादि से ग्रस्त हो गये) और फिर उछिले (उतराये) नहीं। संसार से विरक्त, उपरत, ज्ञानी नहीं हुए। तहाँ श्री कबीर साहब कहते हैं कि मुझे इस बात (अर्थ) का संदेशा (आश्चर्य संशय) है, या यह संदेशा (खबर उपदेश) कहना है कि मोह जल की धारा (प्रवाह) रूप संसार शरीर विषयादि में तुझे नीन्द कैसे आई है, (इसमें आसक्ति कैसे हुई है) इसमें विश्राम सुख शान्ति तुझे कैसे प्रतीत होते हैं, यह मोह का प्रभाव है। उसको समझो और त्यागो। "आत्मानं सततं विद्धि सर्वत्रैकं निरन्तरम्। अहं ध्याता परं ध्येय मखण्डं खण्ड्यते कथम्। अवधूतगीता. १२" सर्वत्र एक निरन्तर = अन्तराय रहित व्यापक आत्मा को सदा अखण्ड समझो। मैं ध्याता हूँ अन्य ध्येय है, इस प्रकार से खण्डित कैसे करते हो, यह मोह है ॥ ८४ ॥

साखी कहै गहै नहीं, चाल चली नहिं जाय।
सलिल मोह नदिया बहै, पाँव कहाँ ठहराय ॥८५॥

यश्चात्मनि न जागर्ति जल्पत्येव तु साक्षिणम्।
नेन्द्रियानि वशे यस्य स्थितिं स लभतां कुतः ॥१६॥
कुशलाश्चात्मवार्तायां वृत्तिहीना हि रागिणः।
ते मृत्योर्वशतां यान्ति कामक्रोधादि संयुताः ॥१७॥
मोहमय्यां महानद्यां न जातु लभते स्थितिम्।
मनो बुद्धिश्च मूढानां मुधा पण्डितमानिनाम् ॥१८॥
प्रमाणं वक्ति नो मार्गं यो गृह्णाति न गच्छति।
मोहवारिनदीवेगे पादः क्वास्यात्र तिष्ठतु ॥१९॥
चरितेन तु यः शुद्धः सुशान्तश्च समाहितः।
स स्थितिं लभते नूनमात्मवश्यो जितेन्द्रियः ॥२०॥
"गुरुप्रज्ञाप्रसादेन मूर्खो वा यदि पण्डितः।
यो हि सम्बुध्यते तत्त्वं विरक्तो भवसागरात् ॥२१॥
राग द्वेष विनिर्मुक्तः सर्वभूतहिते रतः।
अमानित्वादि युक्तश्च स प्राप्नोति परंपदम्" ॥२२॥८५॥

जो लोग साखी (साक्षी स्वरूप और वेदादिरूप प्रमाण) को कहते हैं, उन का कथन करते हैं। परन्तु उनको मन से गहते (धरते जानते) नहीं

हैं, न दुर्वृत्त का त्यागपूर्वक सुचाल उनसे चली जाती है। तो मोह नदी के जो राग-द्वेषादिरूप धारा बह रही है। उसमें उनका पाँव (मन) कहाँ और कैसे ठहर सकता है, कहीं भी ठहरता नहीं है, चञ्चल रहता है। कहा गया है कि "चञ्चल मन के अधम काम। कहहिं कबिर भजु राम नाम"। अतः साखी को गह कर (रामनाम को भज कर) मन को ठहराना चाहिये। नहीं तो मन के अधम काम राग-द्वेषादि से महासमुद्र संसार में ही डूबना होगा, इत्यादि ॥ ८५ ॥

कहता तो बहुते मिला, गहता मिला न कोय।
सो कहता बहि जान दे, जो न गहन्ता होय ॥८६॥

मिलन्तेऽत्र हि वक्तारो ग्रहीता मिलते न च।
वहन्तु तेऽत्र वक्तारो ग्रहीतारो न सन्ति चेत् ॥२३॥
वक्तारो बहवः सन्ति धर्मादेः श्रुतिशास्त्रयोः।
धर्मादे र्निजतत्त्वस्य ग्रहीता कोपि सज्जनः ॥२४॥
साक्ष्यात्मनोपि वक्तारो विद्यन्ते बहवो जनाः।
अवगन्ता न कोप्यस्ति स्वाविवेकाभिमानवान् ॥२५॥
यश्च परं विवक्ता हि नावगन्ता कदाचन।
मोहनद्याः स्यदेनासावुह्यते पात्यते ह्यधः ॥२६॥
"संसारमोहनाशाय शब्दबोधो नहि क्षमः।
तिमिरं न निवर्तेत कदाचित् दीपवार्तया" ॥२७॥
अतो युक्तेन मुक्तेन सङ्गं आशु विधीयताम्।
क्रियतां च हितं स्वस्मै नापरं क्रियतां क्वचित् ॥२८॥८६॥

साखी शब्दादि के कहता (कहने वाले वक्ता) तो बहुत मिलते हैं, और बहुत मिले भी हैं। परन्तु साखी आदि के गहता (ज्ञाता) कोई न मिला है, न मिलता है। अर्थात् अल्प मिलते हैं। तहाँ जो गहन्ता (गहने वाले-ज्ञाता) नहीं होते हैं। सो (उन) कहताओं (केवल वक्ताओं) को संसार में बह जाने दो, उन के सङ्गादि नहीं करो। और जो तुम से भी गहते नहीं बने, उसके मिथ्या कथन को त्याग दो, सर्वथा सत्य की रक्षा करो। ऐसा भी समझो कि केवल कहने वाला बहुत अनात्मा से मिला रहता है। और सत्य को गहने वाला किसी अनात्मा से नहीं मिलता है, न उससे कोई मिलता है, अतः वह असङ्ग मुक्त होता है। सोई कर्तव्य है, अन्य नहीं ॥८६॥

एक एक निरुवारिये, जो निरुवारी जाय।
द्वितीय मुँह का बोलना, घना तमाचा खाय ॥८७॥

यतमानादिना विद्वन् यथाशक्ति यथाक्रमम्।
एकैकं विनिरुन्त्स्व त्वं वैराग्येणेन्द्रियाणि हि ॥२९॥
सत्यसन्धः सदा भूत्वा ह्यसत्यं परिवर्जय।
यतोऽसत्येन लभ्यन्ते चपेटाः शमनान्मुहुः ॥३०॥
एकं ब्रूहि सदा सत्यं न ब्रूहि संशयावहौ।
अर्थौ द्वौ द्वौ प्रवक्ता हि चपेटा लभते मुहुः ॥३१॥
यदि ते विद्यते श्रद्धा शक्नोति यदि वा भवान्।
एकमेव निजात्मानं विविङ्ग्धि निजसङ्गतः ॥३२॥
द्वैतस्यासत्यभूतस्य न दातव्यो मुमुक्षवे।
उपदेशस्त्वया विद्वन् दाने दण्डो विधीयते ॥३३॥८७॥

सत्यनिष्ठ होकर यतमान, व्यतिरेक, एकेन्द्रिय, वशीकार नामक वैराग्य के द्वारा क्रम से एक-एक इन्द्रियों को निरुवारो (निरुद्ध वशीभूत करो) तथा एक-एक वस्तु का विवेक करो, एक-एक कोशों को अनात्मा आत्मा से पृथक् समझो, सब कोशों में एक ही आत्मा को समझो, इत्यादि। तहाँ तुमसे जो निरुआरी जाय (विवेचित हो सके) उसीका निरुआर करो तथा उसीकी चर्चा अपनी शक्ति के अनुसार करो। क्योंकि संशय जनक दो-दो बातों को मुंह से बोलने वाला मनुष्य मौंदर मृदङ्गादि के समान घना (बहुत) तमाचा खाता है, सदा पीटा जाता है ॥ ८७ ॥

प्राणी ते जिह्वा डिगा, क्षण क्षण बोल कुबोल।
मन घाले भरमत फिरे, काल हिं देत हिंडोल ॥८८॥

जिह्वा ते पतिता प्राणिन् कुशब्दं वक्ति सर्वदा।
प्रतिपलं मनश्चेदं शुभं हन्ति भ्रमत्यलम् ॥३४॥
ददाति तेन कालाय दोलां तद्भ्रमणाय वा।
कालो ह्यस्मै ददात्यत्र दोलां सम्भ्रमणाय वै ॥३५॥
असत्यरतया तावज्जिह्वयैव तमस्विनः।
नरके विनिपात्यन्ते विच्छिद्य स्वात्मतः खलु ॥३६॥
असत्यभाषिणी क्रूरा त्वसम्बन्धप्रलापिनी।
जिह्वा कालप्रिया ज्ञेया सुमनोघातिनी चला ॥३७॥

"कल्पनावद्धजन्तुस्तु सदा जल्पति दोषवत् ।
वपु· नृत्यति रथ्यायां यावत्पतति भूतले" ॥३८॥८८॥

हे प्राणी ! विवेक उक्त निरुआर के बिना ते (तेरी) जिह्वा सत्य मित भाषणादिरूप नियम धर्म से डिगा (डिगी गिरी पतित) है तथा तुम अपनी जिह्वा से आप डिगा (गिरा) उसके ऊपर नहीं स्थिर हो, उससे हारे हो । अतः उस जिह्वा से क्षण-क्षण में कुबोल बोलते हो (असत्य क्रूरादि भाषण करते हो) और असत्यादि बोलने पर पाप से चञ्चल मन तुमको घालता (घातता) है, नष्ट करता है और स्वतन्त्र होकर भ्रमते फिरता है । जिह्वा के वश में नहीं रहने पर मन भी वश में नहीं रहता है, वह मन काल को हिंडोला देता है बार-बार तेरे पास में काल के आने के लिये तेरा शरीर मन रचता है । फिर काल भी तुमको पुण्य-पापादि से रचित हिंडोला देता है । और इन्द्रियों द्वारा[1] अपराध होनेपर चपेटा मारता है । अतः उक्त रीति से इन्द्रियों को वश करना चाहिये । तहाँ भी सबसे प्रथम जिह्वा को वश में करना चाहिये कि जिससे कुभक्ष्यादि के त्याग द्वारा मन के वश में होने से सब वश में हो सकें ॥८८॥

जाके जिह्वा बन्ध नहीं, हृदया नाहीं साँच ।
ताके सङ्ग न लागिये, घालै बटिया माँझ ॥८९॥

यज्जिह्वायां न बन्धोऽस्ति सत्यं च हृदये नहि ।
तेन सङ्गो न कर्तव्यो मध्यमार्गे स नाशयेत् ॥३९॥
तेन सार्द्धं गतो लोको मध्यमार्गे विनश्यति ।
पदं न लभते पूर्णं स पातयति सर्वथा ॥४०॥

सतां न सङ्गो न विवेकरङ्गो न चास्ति सत्यं हृदये तु यस्य ।
परिभ्रमन् मोहमये स लोके विनाशमेत्येव कुसङ्गमाच्च ॥४१॥८९॥

इति साक्षिसाक्षात्कारे कुसङ्गादिफलवर्णनं नाम पञ्चदशी विप्तिः ॥१५॥

जिसके जिह्वा में सत्य मित हित मधुर बोलने का नियमरूप बन्धन नहीं है, न हृदय में सत्य का अनुभव सत्य विषयक प्रेम विश्वास है, उस झूठे अविवेकी नास्तिक के सङ्ग में नहीं लगना चाहिये । क्योंकि उसके साथ में लगने से वह डाकू के समान मध्य मार्ग में घालता (घात करता) है । अर्थात्

---

१ इन्द्रियाण्येव तत्सर्वं यत्स्वर्गनरकावुभौ । निगृहीतविसृष्टानि स्वर्गाय नरकाय च ॥ १ ॥ इन्द्रियाणि वशीकृत्य यत्र यत्र वसेन्नरः । तत्र तत्र कुरुक्षेत्रं प्रयागं पुष्करं तथा ॥ २ ॥

सत्कर्म मार्ग से पतित करता है, ज्ञान मार्ग में जाने नहीं देता है। किन्तु मिथ्या भक्ति प्रेम मार्ग में लाकर मिथ्या प्रेमादि की बातों को सुनाकर सद्भक्ति आदि से पतित करता है। अतः स्वयं असत्य भाषण हिंसा, चोरी आदि को त्याग कर, असत्य भाषी हिंसक, चोर, व्यभिचारी के सङ्ग को त्यागो, तभी कुशल होगा, अन्यथा नहीं ॥ ८९ ॥

अथ विचारार्थोपदेश प्रकरण १६

जिह्वा तो बन्धन देइ, बहु बोलन निरुवार।
सारथी[1] सो सङ्ग करी, गुरुमुख शब्द विचार ॥९०॥

स्वस्यां सदैव जिह्वायां बन्धं नियति लक्षणम्।
दत्त्वैव खलु वाग्मित्वं वाचालत्वं परित्यज ॥ १ ॥
सत्यं मितं प्रवक्ता सन् वागीशत्वं समाश्रय।
प्रियंवदत्वमाश्रित्य हितवक्ता सदा भव ॥ २ ॥
आत्मानं रथिनं ज्ञात्वा शरीरं रथमेव च।
इन्द्रियाख्यहयस्यात्र प्रग्रहं च मनस्तथा ॥ ३ ॥
एतत्संयमनार्थां च सद्बुद्धिं सारथिं कुरु।
सत्सङ्गत्या गुरोर्वक्त्राल्लब्धं शब्दं विचारय ॥ ४ ॥
"नारुंतुदः स्यादार्तोऽपि न परद्रोहकर्मधीः।
ययाऽस्योद्विजते वाचा नालोक्यां तामुदीरयेत् ॥ ५ ॥
यस्य वाङ्मनसे शुद्धे सम्यग् गुप्ते च सर्वदा।
स तत्सर्वमवाप्नोति वेदान्तोपगतं फलम्" ॥ ६ ॥९०॥

सत्यवक्ता बनने के लिये प्रथम सत्य मित-हित बोलने के नियमरूप बन्धन जिह्वा में देकर बहुत बोलना को निरुआरो (त्यागो)। और इन्द्रियरूप घोड़ों के मन रूप लगाम को पकड़ने वाली सुबुद्धि से सङ्ग करके (सुबुद्धि को प्राप्त करके) गुरुमुख से प्राप्त शब्दों का विचार करो तथा सद्गुरु सन्तरूप सारथी के सङ्ग करके गुरु से उच्चारित शब्दों का विचार करो इत्यादि ॥९०॥

---

१ "आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु। बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥ १ ॥ कठोप० अ० १।३।१" इत्यादि उपदेशों की यहाँ सूचना की गई है। पारखी यह अन्यत्र पाठान्तर है।

हिलगी भाल शरीर में, तीर रहो है टूटी।
चुम्बक बिना न नीकलै, कोटि पाहन गौ छूटि ॥९१॥

शरीरे प्रविशद् बाणस्तच्छल्यं त्रुटितं यदि।
तिष्ठति देहिदेहे नोन्मज्जति चुम्बकं बिना ॥ ७ ॥
चुम्बकेन विना चेत्स्युः कोटयोऽन्येऽश्मजातयः।
नोत्क्रामति तथाप्येतच्छल्यं यद्धि शरीरगम् ॥ ८ ॥
यच्चासतामसद्वाक्यं वाणभूतं शरीरके।
प्रविष्टं तस्य शल्यं च वासना वर्तते हृदि ॥ ९ ॥
भवकान्तारदुर्मार्गे सहाया गुरवश्च ये।
तत्सङ्गत्या सदा तेषां वक्त्रादुच्चरितं वचः ॥१०॥
समालोच्य विचारेण हृदयाच्छल्यमुद्धर।
उपायकोटिभिश्चान्यै र्नेदमुद्ध्रियते यतः ॥११॥
कामक्रोधादयश्चान्या वासना वा विषोपमाः।
वर्तन्ते हृदये नित्यं शूलभूतास्तु दुःखदाः ॥१२॥
तेषामुद्धरणे शक्ता गुरो र्वाक् परमौषधम्।
यथा वै चुम्बकः शक्तः शल्योद्धारे न चेतरः ॥१३॥९१॥

कुसङ्गादि से विषय असदुपदेशादि रूप तीर (वाण) के भाला (नोक) तेरे शरीर में हिलगी (हेल गये = पैठ गये) हैं। और तीर रूप विषयादि तो बाहर ही रह गये हैं। परन्तु उनकी वासनारूप भाला मानो टूट कर भीतर रह गये हैं, सो सद्गुरु के वचनरूप चुम्बक के बिना नहीं निकलते हैं। चुम्बक से भिन्न अन्य करोड़ों पाषाण तुल्य अन्य करोड़ों वचनादिरूप उपायों से वे वासना आदि रूप भाला भीतरी ही छूट गये हैं, और छूट जाते (रह जाते) हैं, निकलते नहीं हैं। अतः वासनाओं को निकालने (नष्ट करने के लिये) गुरुमुख शब्द का विचार अवश्य कर्तव्य है ॥ ९१ ॥

लोहहिं चुम्बक प्रीति है, लोहहिं लेत उठाय।
ऐसो शब्द कबीर के, पल महँ लेत छुड़ाय ॥९२॥

लौहानां चुम्बकैः सार्द्धं प्रियता वर्तते सदा।
अतस्तांश्चुम्बका लोके प्रोद्धरन्ति सदैव हि ॥१४॥
एवं येषां गुरो र्वाक्ये गुरौ च भक्तिरुत्तमा।
वर्तते तान् गुरो र्वाचो विमुक्तान् हि प्रकुर्वते ॥१५॥

छुसङ्गमाद्वा श्रवणात्कुवाचो न लभ्यते यत्परमं पवित्रम्।
विधाय सङ्गं गुरुभिर्हि तस्माद्वचोऽमृतस्य श्रवणे यतस्व ॥१६॥९२॥

लोहे की चुम्बक में मानो प्रीति (प्रेमभक्ति) है। अतः वह चुम्बक शरीर के अन्दर से भी लोहे को उठा लेता है, और जीव को सुखी करता है। ऐसे श्रीकबीर (सद्गुरु) के शब्द चुम्बक तुल्य होते हैं और हैं। अतः जिसको सद्गुरु के शब्द में प्रीति होती है कि जिससे प्रेमपूर्वक पढ़ता-सुनता विचारता है, तो उस भक्त अधिकारी के हृदय से वासना कामादि को मानो वह शब्द उठा लेता है, निकाल देता है। और पलमात्र में जीव को संसार बन्धन से यमयातना आदिसे छुड़ा लेता है (निर्भय मुक्त कर देता है)। अतः सब साधनों से गुरुमुख शब्द का विचार श्रेष्ठ है, सो मुमुक्षु के लिये कर्तव्य है ॥ ९२ ॥

आगे सीढ़ी साँकरी, पीछे सकना चूर।
परदा तर की सुन्दरी, रही धका दै दूर ॥९३॥

अग्रमार्गस्य सोपानमस्ति संकीर्णतायुतम्।
पाश्चात्ये वर्तमानस्तु कणशः पिष्यते जनः ॥१७॥
इदमत्र महाश्चर्यं सुन्दरी या सदाऽऽवृता।
विबाध्योद्धृत्य सर्वान् सा दूरे गच्छति तिष्ठति ॥१८॥
स्वर्गस्य खलु सन्मार्गो गहनं वर्तते सदा।
विघ्नादिसंकुलत्वाच्च पातादिशङ्कया तथा ॥१९॥
तिर्यग् योनौ महापीडा नरके कणशः छिदा।
वर्ततेऽयं जनस्तस्माच्छर्म न लभते क्वचित् ॥२०॥
मनुष्यत्वे कथञ्चिच्चेन्मोक्षार्थं घटते जनः।
हृदये वर्तमानैषा माया तत्रापि बाधते ॥२१॥
अनया स्फोटितो न्यायः श्रेयसां बहुविघ्नता।
इति तेन त्वियं सर्वैरहो माया दुरुत्तरा ॥२२॥
आवृत्यात्मकसामर्थ्ये स्थिता वा मनसा सह।
जीवान्मार्गात्परिच्याव्य तटस्था वर्तते पुनः ॥२३॥
तथापि सर्वमार्गेभ्यो बोधस्य सुगमः स्मृतः।
सुखदश्च सदा मार्गो मायामूलनिवर्हणात् ॥२४॥९३॥

पूर्वोक्त सत्य वचन यज्ञदानादि युक्त शुभेच्छा और गुरुमुख शब्दों के विचाररूप सुविचारणा नामक ज्ञान की भूमिका के विशाल क्षेत्र मार्ग हैं, ये दोनों साधन अकेले और अनेक के साथ मिलकर भी किये जा सकते हैं।

किन्तु इनके आगे के तनुमानसा, सत्त्वापत्ति, असंसक्ति, पदार्थाभाविनी और तुर्या (समाधि) नामवाली जो ज्ञान (मोक्ष) मार्ग की सीढ़ियाँ (पंक्तियाँ) हैं सो आरोहण (सीढ़ी) सब साँकरी हैं, एकाकी से गन्तव्य है। "अल्पान्नाऽभ्यवहारेण रहः स्थानासनेन च। ह्रियमाणानि विषयैरिन्द्रियाणि निवर्तयेत्। मनुस्मृ० ६।५७" अल्पान्न का भोजन, एकान्त में आसन के द्वारा विषयों से आकृष्ट मन इन्द्रियों को निवृत्त करे. इत्यादि शास्त्र के अनुसार एकान्त में ही तनुमानसा आदि साधन हो सकते हैं। परन्तु ये सीढ़ियाँ अत्यन्त दुर्गम और ऊँची हैं, जो इनसे किसी प्रकार पीछे गिरते हैं तो सकनाचूर हो जाते हैं तथा आलस्यादि वश ज्ञान मार्ग से पीछे रहनेवाले सकनाचूर होते हैं तथा मनुष्यता से आगे देवभावादि की सीढ़ी साँकरी है। (यज्ञदानादि बहुत विघ्न युक्त हैं) और पीछे तीर्यग् योनि नरकादि में जीव सकनाचूर होते हैं। मनुष्यता में कुछ सुविधा रहती है, तहाँ भी आवरण शक्ति हृदयादि रूप परदा तर की सुन्दरी माया अविद्या धक्का देकर सुमार्ग से दूर लेकर रही और रहती है। जो कोई किसी प्रकार सत्त्वापत्ति आदि को प्राप्त करते हैं तो उनके प्रकाशमय ज्ञानादि की धक्का से तमोमय अविद्यादि दूर रहती है। अतः गुरु वचन विचारादि द्वारा ज्ञान की प्राप्ति अवश्य कर्तव्य है ॥ ९३ ॥

संसारी सबे विचारी, क्या विरही क्या योग।
अवसर मारे जात हैं, चेत विराने लोग ॥९४॥

सुविचारैः समुत्पन्ने ज्ञाने माया न बाधते।
सुविचारः सदा कार्यः सर्वैः संसारिभिस्ततः ॥२५॥
योगिभिश्च वियुक्तैश्च कार्यो ह्यन्यैश्च सर्वथा।
विचार इति भो ! प्राज्ञा विशेषोऽत्र क उच्यताम् ॥२६॥
प्रस्तावो नश्यति व्यर्थं भवन्तश्चान्यमानसाः।
वर्तन्ते तन्न युक्तं हि प्रस्तावः सफलोऽस्तु सः ॥२७॥
नोत्पद्यते विना ज्ञानं विचारेणान्यसाधनैः।
अन्यप्रेमरसं त्यक्त्वा स्वात्मैवातो विचार्यताम् ॥२८॥
पदार्थस्य न भानं स्यात्प्रकाशेन विना यथा।
विचारेण विना तद्वत्स्वात्मा नैवोपलभ्यते ॥२९॥
स्वात्मपरात्मनोरेवं जगतश्च विचारतः।
एकं तत्त्वं परिज्ञाय भेदं मायामयं त्यजेत् ॥३०॥९४॥

हे संसारी विराने (परवश) लोगों क्या (चाहे) विरही भक्त होवो।

या कर्मयोगी, ध्यान योगी होवो। परन्तु सब परम प्रकाशरूप ज्ञान के लिये गुरुमुख शब्दों के सुविचारी बनो। क्योंकि विचार के बिना मानव के अमूल्य अवसर कुविचारादि से मारे (नष्ट किये) जा रहे हैं, तुम चेतो (विचारपरायण सावधान होवो) इस अवसर को व्यर्थ नहीं नष्ट होने दो। "संसारी समय विचारी क्या गिरही क्या योग" यह पाठान्तर है। गृहस्थ या त्यागी सबको समय के विचारशील होना चाहिये। क्योंकि विचार के बिना समय ही तुमको मारते जा रहे हैं। हे विराने लोग! अब भी चेतो कालसे अपनी रक्षा करो ॥९४॥

संशय सब जग खन्धिया, संशय खँधे कोय।
संशय खन्धै सो जना, शब्द विवेकी होय ॥९५॥

विचारेण विना स्वात्म संशयो न निवर्तते।
स एव सर्वविध्वंसी तं निहन्ति न कश्चन ॥३१॥
सद्गुरोः सारशब्दस्य विवेकेनात्र यो नरः।
स्वात्मनो वै विवेकी स्यात्स हन्यात्संशयं परम् ॥३२॥
विना विचारेण न जातु जायते विरागविज्ञानजशान्तिर व्यया।
निवर्तते नैव चसंशयो महान् भवाम्बुधौ ग्राहसमो भयावहः ॥३३॥९५॥

इति साक्षिसाक्षात्कारे विचारकर्तव्यतावर्णनं नाम षोडशी वित्तिः ॥१६॥

विचारादि के बिना संशय (दुविधा भ्रम) सब संसारी को खन्धिया (खाया = नष्ट किया) और संशय को कोई विचारादि रहित मनुष्य नहीं खाता है। इस संशय को सोई जन खन्धे गें (खायेगें) खण्डन करेगें कि जो सारशब्द के विवेक पूर्वक आत्मविवेकी होगें। क्योंकि—"नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्ताऽन्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ" हे प्रियतम, नचिकेतः! यह आत्ममति तर्क से प्राप्त या निषेध करने योग्य नहीं है, किन्तु नास्तिकादि से अन्य सद्गुरु से ही उपदिष्ट यहमति आत्मसाक्षात्कार के हेतु होती है। अन्यथा "संशयात्मा विनश्यति" संशययुक्त मन वाला बार-बार जन्मता मरता है ॥९५॥

अथ ज्ञानमें विचारसाध्यता प्र० १७

बोलना है बहु भाँति के, नयन नहिं कछु सूझ।
कहहिं कबीर पुकारिके, घट घट वाणी बूझ ॥९६॥

शब्दो बहुविधो वाच्यः सत्यं नेत्रै र्न दृश्यते।
विचारेण विना तस्मात्सत्यमार्गो न लभ्यते ॥ १ ॥

अतः सर्वेषु देहेषु वर्तमानस्य चात्मनः।
उपदेशं गुरोः श्रुत्वा स्वात्मानं त्वं विचारय ॥ २ ॥
चक्षुः सत्यं श्रुतौ प्रोक्तं लोके विश्वासकृद् यतः।
अस्तीदं तु महच्चित्रं चक्षुर्दृष्टं जगन्मृषा ॥ ३ ॥
नेत्रैः सारे ह्यदृश्ये तु वहुशब्दश्रतौ तथा।
सर्वंश्रुत्वा विवेकेन ततः सारं पृथक् कुरु ॥४॥९६॥

सार शब्द का विवेक अवश्य करना चाहिये, क्योंकि बोलना (शब्द वाणी) बहुत प्रकार के हैं। नेत्रों से कुछ भी सत्य वस्तु, आत्मा, धर्म, मोक्ष स्वर्गादि दीख नहीं पड़ते हैं, कि जिससे देख कर निश्चय कर लिया जाय, और संशय भ्रम को नष्ट किया जाय। और नेत्रादि का विषय संसार सावयव परिच्छिन्न, जन्यादि होने से स्वप्नादि तुल्य मिथ्या ही है। अतः श्री कबीर साहब पुकार कर कहते हैं कि तुम घट घट की बाणी को बूझो (सब घट में वर्तमान सत्यात्मा के अन्तर्यामी आदि के बोधक सत्य शब्द को विवेक पूर्वक समझो) और उस शब्द द्वारा विचारादि करके सत्यात्मा का अनुभव करो। अन्यथा शब्द जाल से संशयादि की निवृत्ति नहीं होगी। अतः कहा गया है कि–"शब्दजालं महारण्यं चित्तभ्रमणकारणम्।
अतः प्रयत्नाज्ज्ञातव्यंतत्त्वज्ञात्तत्त्वमात्मनः॥ विवेक चू॰" ॥९६॥

मूल गहन ते काम है, तैं मति भरम भुलासि।
मन सायर मनसा लहर, बही कतहुं मति जासि ॥९७॥

मूलात्म ग्रहणेनैव कार्यसिद्धिर्भविष्यति।
शब्दजालेऽन्यदृश्ये वा भ्रम्यतां न कदाचन ॥ ५ ॥
भ्रान्तानामिह जीवानां मन एव सरित्पतिः।
मनोरथो रयस्तस्य न ताभ्यामुह्यतां क्वचित् ॥ ६ ॥
विचारमुत्सृज्य हि यश्च धावति, मनोविकल्पे न तु जातु चिद्धने।
परिव्रजन् संसृतिमेव शाश्वतीं. भवाम्बुवेगेन सदा स उह्यते ॥ ७ ॥
इति साक्षिसाक्षात्कारेऽदृश्यात्मानुभवस्य विचारैकसाध्यतावर्णनं
नाम सप्तदशी वित्तिः ॥ १७ ॥

हे सज्जनो! मूल वस्तु (सार शब्द सत्यात्मा) के गहने (विवेक निश्चय ज्ञान) से ही काम (कार्य, मोक्ष सुख शान्ति) तुमको होना है। अतः विवेक के बिना तुम भरम रूप (मिथ्या) शब्द जाल संसार में मति (नहीं) भूलो। उनमें सत्यादि बुद्धि से आसक्त नहीं होवो। और मन रूप सायर (समुद्र) के

मनसा (मनोरथ-इच्छा) रूप लहर (तरंग) के वश में होकर कहीं वह नहीं जावो। मन को विवेक से वश करके तनुमानसापूर्वक सत्यात्मनिष्ठ होवो, भगवान् मनुने कहा है कि "वेदाभ्यासस्तपोज्ञानमिन्द्रियाणां च संयमः। अहिंसा गुरुसेवा च निःश्रेयसकरं परम् ॥१॥ सर्वेषामपि चैतेषामात्मज्ञानं परं स्मृतम्। तद्ध्यग्र्यं सर्वविद्यानां प्राप्यते ह्यमृतं ततः ॥२॥" वेदों का अभ्यास, तप, ज्ञान, इन्द्रियों का संयम (निरोध) अहिंसा और गुरु की सेवा ये उत्तम निःश्रेयस (शुभ) को करने वाले हैं। परन्तु इन सब में भी आत्मज्ञान उत्तम कहा गया है, क्योंकि अमृत (मोक्ष) उसीसे प्राप्त किया जाता है ॥ ६७ ॥

अथ मनोमनोरथवशवर्ती की दशा प्र० १८

भवँर विलम्बा बाग में, बहु फूलन की बास।
जीव विलम्बा विषय में, अन्तहुँ चला निराश ॥९८॥

भ्रमरा गन्धलोभेन सज्जन्त्युपवने यथा।
तथा वासनया जीवा आसक्ता विषये भ्रमात् ॥ १ ॥
मनोमनोरथाभ्यां च बद्धाः सर्वेऽविवेकिनः।
अन्तेऽतृप्ता हि गच्छन्ति कामेन यमसद्मनि ॥ २ ॥
राज्येन लभते भोगो भोगस्यान्तेन किञ्चन।
एत द्विमृश्य धीरास्तु मोक्षार्थं चिन्तयन्ति हि ॥ ३ ॥
तपो भोगाय कुर्वन्ति भोगान्नश्यति तत्तपः।
मैत्र्यादिशुद्धचित्तानां तपोभोगमतिः कुतः ॥ ४ ॥
यस्य मित्रं न शत्रुश्च नोपादेयादिविभ्रमः।
आत्मनिष्ठो मुनिः कामाद्घटेत तपसे कुतः ॥ ५ ॥९८॥

जैसे बहुत फूलों के वास (गन्ध) रस के लोभादि से भ्रमर बाग में विलम्ब जाता है, ठहर जाता है कि जिससे अपने स्थान में नहीं जाता है, वैसे ही मन के वशवर्ती भ्रान्त जीव विषयों में वासना लोभादि से विलमते आसक्त होते हैं, उसीसे सुखशान्ति तृप्ति चाहते हैं। अतः निजस्वरूप को भूले रहते हैं, उस के विचारादि नहीं करते हैं। अतः अन्तमें वह जीव निराश (अतृप्त हताश) होकर चला और चलता है, आत्मज्ञानादि के विना तृप्ति नहीं होती है। अतः तृप्ति आदि के लिये विचारादि द्वारा आत्मा ज्ञातव्य है ॥ ९८ ॥

भवँर जाल बक जाल है, बूड़े बहुत अचेत।
कहहिं कबिर ते बाँचि हैं, जाके हृदय विवेक ॥९९॥

संसार सागरे रूढा आवर्ता विषया मताः।
वक्रीभूता नरास्तत्र पतन्ति स्वाविवेकतः ॥ ६ ॥
विवेकिनस्तु ये धीरा निमज्जन्ति न तेषु ते।
अन्ये तत्र निमज्जन्ति ह्यहो मोहकदर्थना ॥ ७ ॥९९॥

तृप्ति सन्तोषादि के बिना जीवों को फँसाने के लिये संसार के वर्तमान विषय भँवर जाल हैं (भँवर तुल्य गन्धादि के लोभी जीवों मनुष्यों को फँसाने वाले हैं) और भावी विषय बकजाल है (बक ध्यानी बकवृत्ति को फँसाने वाले हैं) तथा सब विषय संसार समुद्र के वक्र (वक्र) भंवर (आवर्त) के जाल (समूह) रूप हैं। अतः इसके द्वारा बहुत अचेत (अविवेकी) बूड़े हैं, और बूड़ते हैं। तहाँ श्रीकबीर साहब कहते हैं कि वे ही बूड़ने से बाँचेगें, कि जिनके हृदय में आत्मा अनात्मादि का विवेक होगा, क्योंकि स्वरूप आत्मा को जानकर बन्धनप्रद विषयादि में नहीं फँसेगें। अतः विवेक प्राप्तव्य है ॥ ९९ ॥

तीनि लोक टीड़ी भया, ऊड़ा मन के साथ।
जाने बिनु भटकत फिरै, परे काल के हाथ ॥१००॥

त्रिलोकीवासिनोऽभूवन् वृहद् वनपङ्गवत्।
मनसा सह चोड्डीना भ्रमन्ति च पतन्ति ते ॥ ८ ॥
सदात्मनोऽपरिज्ञाना त्स्वयमेवाविवेकिनः।
कालस्य वशतां यान्ति सहन्ते च कदर्थनाम् ॥ ९ ॥१००॥

विवेकादि के बिना तीनों लोक के प्राणी टीड़ी तुल्य हो रहे हैं, और मन के साथ (मनोरथादि के अनुसार) ऊड़रहे हैं (चल रहे हैं) और जाने के विना (सत्यात्मस्वरूप ठौर के ज्ञान के विना) संसार में सदा भटकते फिरते हैं, बार-बार काल के हाथ (वश) में पड़ते हैं। "हरिजन हरि जाने बिना" यह पाठान्तर है, हरिजन को हरिस्वरूप जाने बिना, हरिजन होकर हरि को जाने बिना, तथा हरिजन और हरि को जाने विना काल के हाथ में पड़ते हैं, इत्यादि अर्थ है ॥ १०० ॥

नाना रङ्ग तरङ्ग है, मन मकरन्द असूझ।
कहहिं कबीर पुकारि के, अकल कला लै बूझ ॥१०१॥

मनसो बहुरूपाणि तरङ्गा भववारिधेः।
विह्वलाः खलु तैरेते विनिमज्जन्त्यबुद्धयः ॥१०॥
विषयानन्दरूपस्य मकरन्दस्य पानतः।
माद्यति भ्रमरश्चायं मनोरूपो दुराशया ॥११॥
मनसस्तस्य सङ्गेन जीवाश्चापीह दुर्धियः।
मकरन्दं सदानन्दं पश्यन्ति न कदाचन ॥१२॥
अतस्तत्सङ्गतिं त्यक्त्वा बुद्ध्या सत्कौशलेन च।
अकलं सकलं चैव विवेकेन सुबुध्यताम् ॥१३॥१०१॥

मन के कामादि भयादि रूप नाना रङ्ग (आकार = परिणाम) संसार समुद्र के विषम तरङ्ग हैं, और विषयानन्द रूप विषय रस मकरन्द (पुष्परस) के पान से मन रूप भवँरा असूझ (अन्ध विवेक रहित) रहता है। अतः वह भटकता है, तहाँ श्रीकबीर साहब पुकार के कहते हैं कि उस मन के सङ्ग को छोड़कर, अकल (बुद्धि) की कला (प्रभाव = कुशलता) से सत्यात्मा को बूझ (समझ) लो। तथा अकल (निरंश निरवयव) और षोडश कला रूप प्राणादि को सद्गुरु द्वारा विवेक पूर्वक समझना। क्योंकि मन के नाना रूप तरङ्ग के कारण मन में वर्तमान भो ब्रह्मानन्द रूप मकरन्द नहीं सूझता है। और गुरुद्वारा अकल की कला से समझा जाता है ॥१०१॥

बाजीगर का बान्दरा, अस जिव मन के साथ।
नाना नाच नचाय के, राखै अपने हाथ ॥१०२॥

मनीषया विना मूढाः स्वार्थशालिमनोवशे।
भूत्वा भ्रमन्ति संसारे नटस्य मर्कटा यथा ॥१४॥
भ्रामयित्वा तु सर्वांस्तद् रक्षति स्वकरे जनान्।
स्ववशे स्थापयत्येतान् नटो हि मर्कटान् यथा ॥१५॥१०२॥

सत्यासत्यादि के विवेकादि के बिना बाजीगर (नट) के बानर के समान जीव (मनुष्य) मन के साथ में रहता है। और वह स्वार्थी मन नट के समान इन जीवों का नाना नाच नचायकर अपने हाथ (वश) में रखता है, स्वतन्त्र सुखी नहीं होने देता है, तहाँ बुद्धि की कला से स्वतन्त्र होना चाहिये।१०२।

मन रङ्गे सब रङ्गिया, रङ्गिया रङ्ग कुरङ्ग।
कहहिं कबिर कस बाँचि हो, बसेहु शब्द के सङ्ग ॥१०३॥

मनसो वशवर्तित्वात् कामाद्यै र्हि मनोगुणैः ।
ह्रीभीभ्यां च सदाऽभद्रै रञ्जिताः सर्व जन्तवः ॥१६॥
अहो दौर्भाग्यमेतेषां मनसः सात्त्विकै र्गुणैः ।
वैराग्यधर्मविज्ञानैः सजन्ति न कदाचन ॥१७॥
समासक्तं यथा चित्तं जन्तो र्विषयवर्त्मनि ।
यद्येवमात्मनि स्यात्तत् को न मुच्येत बन्धनात् ॥१८॥
मनोरूपं जगत्सर्वं न विना तेन किञ्चन ।
असार शब्दसङ्गत्या नैतस्मान्मुच्यते जनः ॥१९॥
कुशब्दैः सह वासोऽस्ति कथं मुक्तो भविष्यसि ।
अद्यापि कुत्सितं सङ्गं त्यज मुक्तो भविष्यति ॥२०॥१०३॥

विवेकज बुद्धि आदि के बिना सब मन के रङ्ग (स्वभाव धर्म) में रङ्ग गये हैं (मन के धर्म काम, संकल्प, संशय, श्रद्धा, धैर्य, अधैर्य, भयादि को आत्मा के धर्म मान लिये हैं) तहाँ भी धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, क्षमा सन्तोषादि सात्त्विक मन के सुरङ्ग रङ्ग में नहीं रङ्ग कर (इन का उपार्जन नहीं करके) अधर्म, अज्ञान, मोहादि रूप मन के कुरङ्ग रङ्ग में रङ्ग गये हैं । और इसीसे शब्दादि विषय के सङ्ग में (विषयियों के साथ में) बसते हैं । तहाँ श्रीकबीर साहब कहते हैं कि यदि तुम शब्दादि के सङ्ग में बसते हो तो मन के फन्दे (राग द्वेषादि) से कैसे बचोगे । बुद्धि की कुशलता से विषयी और विषय के सङ्ग को त्यागो, तो बचोगे ॥१०३॥

इ मन चञ्चल इ मन चोर, इ मन शुद्ध ठगहार ।
मन मन कहत सुरनर मुनि, मन के लक्ष दुआर ॥१०४॥

असारशब्दसङ्गत्या मनो भवति चञ्चलम् ।
चौर्य च वञ्चकत्वादि स्वीकरोति कुयोगतः ॥२१॥
एतदेव मनः सारशब्दसङ्गात्सुहृद्भवेत् ।
शुद्धतां समुपादत्ते रक्षणाय निरन्तरम् ॥२२॥
मन एव स्वयं ब्रह्मा मन एव जगत्पतिः ।
सुरा नराः प्रभाषन्ते द्वाराणि लक्षमस्य च ॥२३॥
मनसो बहुरूपत्वमात्मा त्वेकरसः शिवः ।
असङ्गः साक्षिसद्रूपः सदेति मुनि भाषितम् ॥२४॥
"मन एव हि संसारो मनश्चागाढबन्धनम् ।
यन्मनस्तन्मयो मर्त्यः सत्यमेतन्न संशयः" ॥२५॥

मनोविकल्पैः खलु जीवसङ्घा बद्धाः सदा वासनया भ्रमन्ति।
विवेकवैराग्य वता च तेन विज्ञाय तत्त्वं मुदमेति मुक्तिम् ॥२६॥१०४॥

इति साक्षिसाक्षात्कारे मनोविलासवर्णनं नामाष्टादशी वित्तिः ॥ १८ ॥

असार शब्दादि विषय और विषयी के सङ्ग से बुद्धि रहित प्राणी का इ (यह) मन ही चञ्चल, चोर, ठगहार (वञ्चक) आदि होता है। और विवेकादि पूर्वक सार शब्द सत्सङ्ग विचारादि से मन ही शुद्ध धर्मादि युक्त ज्ञान ध्यानादि का हेतु होता है। अतः विवेकी देव, नर, मुनि आदि कामादि प्रपञ्च को मन ही मन (मनोमात्र) कहते हैं और उस मन की गति के लाखो द्वार कहते हैं, तहाँ विचारादि द्वारा आत्म ज्ञान से मन के कामादि स्वरूप प्रपञ्च की निवृत्ति पूर्वक सब द्वारों का निरोध होता है। अतः बुद्धि की कुशलता से आत्मा ज्ञातव्य है ॥१०४॥

अथ विरहकदर्थनावर्णन प्रकरण १९

विरह भुवंगम पैठि के, कीन्ह कलेजे घाव।
साधु अंग नहिं मोरहीं, ज्यों भावै त्यों खाव ॥१०५॥

पत्यु र्वियोगबुद्धया ये वेपवन्तोऽपि सज्जनाः।
विरहाय मनो दत्तं विचाराय न तैस्तथा ॥ १ ॥
विरहात्मा भुजङ्गश्च चित्ते दशति सर्वदा।
सर्वस्वं भक्षते चैषां हृद्युषित्वा वियोगिनाम् ॥ २ ॥
भक्षतां स यथेष्टं च मतिस्त्वित्थं वियोगिनाम्।
अतो नैते च तत्सर्पादङ्गं प्रावर्तयन्ति हि ॥३॥१०५॥

उक्त चञ्चल मन अज्ञानादि से सिद्ध परमात्मपति के विरह (वियोग) रूप सर्प ने विरही भक्त के हृदय में पैठकर (निश्चित होकर) उनके कलेजे (मन) में घाव (पीड़ा) किया है। तो भी साधु (सज्जन विरही भक्त) उस सर्प से अपने अङ्ग (मन) को मोड़ते (हटाते) नहीं हैं। अतः उस सर्प को जैसे भावे (अनुकूल हो) तैसे वह खावे (खाता है) उचित है कि "सर्वमात्मनि सम्पश्येत्सच्चासच्च समाहितः" इत्यादि शास्त्रके अनुसार सत्-असत् (कार्य कारण) रूप व्यक्त अव्यक्त रूप सब संसार को परमात्मा और आत्मा में ही समाधानतापूर्वक समझ कर विरह बुद्धि को त्यागा जाय कि जिससे शान्ति मिले ॥१०५॥

करक करेजे गड़ि रहा, बचन वर्छि के फांस ।
निकसाये निकसे नहीं, रहा सो काहु गांस ॥१०६॥

असद्वाक् तीक्ष्णशल्यं हि मर्म्मं यद्धृदि वर्तते ।
दुनोत्येवानिशं तन्तन्नैवोद्ध्रियेत यत्नतः ॥ ४ ॥
श्रद्धया जड़या लोको विरहेणाति पीड्यते ।
गुरवः किं हि कुर्वन्तु ह्यसाध्याऽयोगवेदना ॥ ५ ॥
स्वरूपे ह्यात्मनः स्थानमाहु र्निःश्रेयसं परम् ।
ततोऽन्येनाभिसम्बन्धस्त्वज्ञानाद् दुःखकारकः ॥ ६ ॥१०६॥

विरह बुद्धि को त्यागे बिना, विरह के उपदेशादिरूप वचनात्मक वर्छि के जो फांस (नोक कर्णिका) कलेजे (मन) में गड़ि रहा है (वासना संस्कार, स्मरणरूप से स्थिर हो रहा है) सो कलेजे में करकता (चूभता) है, कष्ट देता है । किसी सद्गुरु द्वारा निकसाये (निकालने) पर भी वह नहीं निकलता है । किसी गांस (सन्धि) में कुछ न कुछ वह विरह निश्चय रह जाता है । अतः स्वयं विचारादि द्वारा बुद्धि की कुशलता से विरह बुद्धि निवारणीय है ॥१०६॥

विरह भुवंगम तन डँस्यो, मन्त्र न मानै कोय ।
राम वियोगी ना जिवै, जिवै तो बौरा होय ॥१०७॥

विरहेण भुजङ्गेन दष्टमस्ति हि यन्मनः ।
स कश्चिदपि सन्मन्त्रं न शृणोति न मन्यते ॥ ७ ॥
मन्त्रस्याश्रवणात्सोऽत्र रामस्य विरहीव सन् ।
अजरात्मस्वरूपेण नोजीवत्युन्मनायते ॥ ८ ॥
"यो हि प्रकुरुतेभेदं स्वात्मनश्च परस्य च ।
भिन्नदृष्टे भयं तस्य मृत्युः कुर्यान्न संशयः" ॥ ९ ॥
भयाद्विरहदुःखाच्च जीवंश्च विरही नरः ।
मृतवन्मत्तवन्नित्यं वेत्ति नैवहिताहितम् ॥१०॥१०७॥

विरह बुद्धि निवारण नहीं करने पर, विरह का निश्चय रूप भुवंगम (सर्प) जिन के तन (मन) में डँसा (काटा) है । वे यदि सद्गुरु के किसी मन्त्र को नहीं मानते हैं । और स्वयं भी विचारादि से वियोग बुद्धि को यदि नहीं त्यागते हैं । तो वे राम के वियोगी (विरही) अजर अमर स्वरूप से जीवित नहीं रहते हैं, अपनी आत्मा को जन्म मरणादि रहित नहीं समझ पाते हैं, न मुक्त हो सकते हैं । शरीर रूप से जब तक जीते हैं । तब तक भी बावरा

होकर (अविवेकीरूप से) जीते हैं । अतः गुरु मन्त्र या स्वविचार सत्सङ्गादि द्वारा विरह बुद्धि को अवश्य त्यागना चाहिये ॥१०७॥

राम वियोगी विकल तन, इन दुखवै मति कोय ।
छूवत ही मरि जाहिगें, ताला बेली होय ॥१०८॥

रामाद्वियोगिनश्चित्तं विह्वलं वर्तते सदा ।
शरीरं तापयुक्तं च दयनीया भवन्ति ते ॥११॥
बुद्धिभेदो न कर्तव्यो वियुक्तानां त्वया क्वचित् ।
ज्ञानेष्वनधिकारित्वा न्माते भ्रष्टा भवन्त्विवति ॥१२॥
निष्कामे भक्तिमार्गे ते योजनीयाः सुकर्मणि ।
कालेन शुद्धचित्तास्ते शान्तात्मानो विमत्सराः ॥१३॥
विमदा वीतरागाश्च मुमुक्षादिसमन्विताः ।
विचार्य गुरुमन्विष्य लप्स्यन्ते हि परांगत्तिम् ॥१४॥
रामाद्वियोगात्मक जिह्मगेन दष्टः प्रमत्तो हि नरो विमुह्यन् ।
शृणोति मन्त्रं न बुधैः प्रयुक्तं न तं स्पृश त्वं म्रियतेऽन्यथा सः ॥१५॥

इति साक्षिसक्षात्कारे विरहकदर्थनावर्णनं नामैकोनविंशी वित्तिः ॥१६॥

"न बुद्धि भेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्" इत्यादि गीतावचनादि के अनुसार ज्ञानी के लिये चेतावनी है कि रामवियोगी (विरही भक्त) तथा कामी कर्मी का तन (देह) कर्म भारादि से स्वयं विकल (व्याकुल दुःखी) रहता है, कोई ज्ञानी सज्जन उनकी बुद्धि में भेद डाल कर, उन्हे दुखावे नहीं (कर्मादि की निष्फलता = सत्यफल-रहीतता) आदि नहीं सुनावे । क्योंकि ज्ञान के अनधिकारी होने से उन्हे ज्ञान तो होगा नहीं, अतः छूवते ही (संसार कर्मादि को मिथ्या कहते ही) वे मर जायगे (कर्म ब्रह्म उभय भ्रष्ट हो जायगें)। क्योंकि वे लोग तालाबेली (लज्जावन्ती की तरह या ताप से तपते हुए की तरह) होते (रहते) हैं, रामवियोग बुद्धिसे मुरझाये दुःखी रहते हैं, अतः प्रसन्न विवेकी आत्म-जिज्ञासुको ही आत्मज्ञानादि की कथा सुनाना उचित है, अन्यको नहीं ॥१०८॥

——❀——

अथ कालादि कदर्थना प्रकरण २०

काला सर्प शरीर में, खाइन सब जग झारि ।
बिरला ते जन बाँचि हैं, रामहि भजे विचारि ॥१०९॥

तमोऽहङ्कारपापात्मा भुजङ्गो वर्तते हृदि।
महाविषधरः कृष्णः क्षिणोतिस्म जगन्मुहुः ॥ १ ॥
यो विचार्य परात्मानं रामं भजति कोविदः।
स सर्वसुहृदं नित्यं रामं लब्ध्वा विमुच्यते ॥ २ ॥
आत्मना परभेदस्य भेदकं तु यदैव हि।
विभाति हृदि विज्ञानं तदा माया विलीयते ॥ ३ ॥
मायाया विलये विद्वन् कालसर्पो जगद्रिपुः।
न जाने कुत्र यात्येष पुन र्नायाति चान्तिके ॥ ४ ॥१०६॥

आत्म ज्ञान के अनधिकारी सब मनुष्यों (प्राणियों) के शरीर (हृदय) में अज्ञान अहङ्कार, पाप, कामादि रूप काले सर्प रहते हैं (तामस स्वभाव रहता है) सो सब जगत के प्राणियों को भारकर खाये हैं, और खाते हैं, उन सर्पों से वे ही बिरलेजन बांचेगें, कि जो सारशब्दादि द्वारा विचार कर राम को भजेगें। क्योंकि राम के भजन से पापादि की निवृत्ति द्वारा अहङ्कारादि के अभाव से गुरु द्वारा ज्ञान पाकर मुक्त होगें। अतः उनके प्रति प्रथम विचार भजनादि के लिये उपदेश कर्तव्य होता है। ज्ञान का नहीं। विचार भजनादि से स्वयं ज्ञानाधिकारी होगें ॥१०६॥

काल खड़ा शिर ऊपरे, जागु विराने मीत।
जाका घर है गैल में, सो क्यों सोव निचीत ॥१०१॥

शीर्षे तिष्ठति कालोऽत्र जागर्तु परमित्रक !।
जनशून्ये गृहं यस्य सुप्यात्स निःस्मृतिः कथम् ॥ ५ ॥
बुध्यतां त्यज्यतां कामो मोहनिद्रां परित्यज।
प्रमादो नात्र कर्तव्यः कालः शिरसि वर्तते ॥ ६ ॥
शत्रवो बहवस्तेऽत्र स्वेन्द्रियाणि मनस्तथा।
कामादयस्तथा चौराः कथं स्वपिसि निर्भयम् ॥ ७ ॥
गृहं ते हृदि चैकान्ते सहायोऽन्यो न विद्यते।
अत्र स्वापो न युक्तस्ते निरुद्योगो न शोभसे ॥ ८ ॥
"प्रारब्धव्ये निरुद्योगो जागर्तव्ये प्रसुप्तकः।
विश्वासेन भयस्थाने हा नरः को न हन्यते" ॥ ९ ॥११०॥

सर्वसाधारण के लिये उपदेश है कि हे विराने मीत ! (अनात्म प्रेमियों) तेरे शिर के ऊपर काल (मृत्यु) खड़ा है। अतः भजनादि के लिये जागो (मोह नीन्द को त्याग कर अकाल मृत्यु, भावी मृत्यु से रहित होवो) और

समझो कि जिसका घर गैल (एकान्त मार्ग) में है। सो निश्चिन्त कैसे सो सकता है, तेरा भी घर हृदय रूप एकान्त स्थान में है, जन्म-मरणादि रूप सांसारिक मार्ग में है, जहाँ कामादि चोर का, काल का भय रहता है। अतः जागो (मोहादि को त्यागो) ॥ ११० ॥

कलि काठी कालो घुना, यतन यतन घुन खाय।
काया मध्ये काल वश, मरम कोइ नहिं पाय ॥१११॥

कलिं काष्ठं घुणः कालो बहुयत्नै र्हि खादति।
देहमध्ये वसन्नित्यं रहस्यं कोपि वेत्ति न ॥१०॥
अज्ञानमोहयुक्तो हि नरः कलिरिति स्मृतः।
काष्ठभूतं च तं नित्यं कालकीटो ग्रसत्यलम् ॥११॥
संशयाद्यात्मकः कालः सर्वेषां हृदि वर्तते।
विचारादि विना चैनं विन्दन्ति नाऽविवेकिनः ॥१२॥
शरीरं कलिरूपं च कालो भक्षति सर्वदा।
मूढश्च नाभिजानाति शरीरं मन्यते स्थिरम् ॥१३॥१११॥

"कलिः शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः। उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति कृतं सम्पद्यते चरन् ॥१॥" इस शास्त्र के अनुसार मोह-निद्रा से सोया हुआ अपने कर्तव्य कर्म भजनादि से विमुख मनुष्य अपने लिये कलियुग है, और ऐसा राजा अपने देश राज्य के लिये अधर्ममय कलियुग होता है तथा कलह काम संशयादि के आश्रय उसके मन शरीरादि सङ्घात कलि हैं, सो सब काष्ठ तुल्य हैं और यम संशयादि रूप काल घून (काष्ठ कीट) हैं। सो उक्त काठ को धीरे-धीरे बहुत यत्न से खाते हैं (नष्ट करते हैं) तथा मोहादि को त्यागे के बिना अन्य बहुत यत्न करने पर भी खाते हैं। और वे काल शरीर के मध्य-देश हृदय में ही बसते हैं। परन्तु जागने के बिना उसके मर्म (भेदों) को कोई नहीं पाते (समझते) हैं। अतः भक्ति आदि द्वारा जागना चाहिये कि जिससे कलि की निवृत्तिपूर्वक काल की भीति की निवृत्ति हो ॥१११॥

मन माया की कोठरी, तन संशय का कोट।
विषहर मन्त्र न मानये, काल सर्प की चोट ॥११२॥

मनो माया गृहं यावत्तनुः संशयसालकः।
मन्त्रं विषहरं नैव मन्यते यावदेव च ॥१४॥
तावत्कालाख्यसर्पस्य वेगो नैव निवर्तते ॥१५॥

शरीरे स्थैर्यविभ्रान्तौ छलभ्रान्त्यादिरूपिणी।
माया मनोगृहे गत्वा विद्यते तत्र निर्भया ॥१६॥
मायायाश्चात्र संवासे देहः संशय सालताम्।
गच्छत्यत्र च कालाख्यः सर्पो वसति सर्वदा ॥१७॥
कालस्य वशतां यातो जीवः सद्गुरुदेशनाम्।
न शृणोत्येव चेन्मन्त्रं गुरुस्तस्य करोतु किम् ॥१८॥
"यस्मै देवाः प्रयच्छन्ति पुरुषाय पराभवम्।
बुद्धिं तस्यापकर्षन्ति विपरीतं स पश्यति ॥१९॥
न कालो दण्डमुद्यम्य शिरः कृन्तति कस्यचित्।
कालस्य बलमेतावद् विपरीतार्थदर्शनम्" ॥२०॥११२॥

उक्त भेद (मर्म) ज्ञान के बिना तथा मोह के त्याग के बिना यह मन कपट-भ्रमादि रूप माया की कोठरी (आश्रय) बना रहता है। स्थूल देह संशयों का कोट (किला रक्षक) बना रहता है। और माया तथा संशय के रहने पर काल रूप सर्प का चोट (आक्रमण) बार-बार होता है, अहंकारादि के आक्रमणपूर्वक बार-बार जन्म के बाद मरण होते रहता है! वह सर्प विषहर मन्त्र को नहीं मानता है। अहंकारादि सदुपदेशों से माया-ममता के रहते निवृत्त नहीं होते है, न उनके वशवर्ती जीव उपदेशरूप मन्त्र को मानते हैं। अतः जागकर तन मनको कपट-ममता संशयादि से रहित ही कर्तव्य है।११२।

मन माया दुइ एक है, माया मनहि समाय।
तीन लोक संशय परी, काहि कहो समुझाय ॥११३॥

मनोमाये न भिन्ने स्तो यतो मनसि साविशत्।
संशयं जनयन्ती च त्रिषु लोकेषु वर्तते ॥२१॥
विश्वरूपतयैवेदं तनोति मलिनं मनः।
इन्द्रोऽपि मायया चेदं बहुरूपं तनोति हि ॥२२॥
ताभ्यां जगति संव्याप्ते कस्मै स्वात्मोपदिश्यताम्।
अनात्मनि शरीरादौ कस्तावन्न विसज्जति ॥२३॥११३॥

कार्यकारण में अभेद दृष्टि से तथा स्वभाव की एकता से मन-माया दोनों एक है और कपट मोह ममता आदि रूप से माया मन में समाती (पैठती) है। अतः संशय-भ्रमादिरूप से माया (अविद्या) ही तीनों लोक में परी (प्राप्त व्याप्त) है। तहाँ मैं किससे क्या समझाकर कहूँ। अर्थात् तन-मन की शुद्धि के

बिना कोई भी ज्ञानार्थक उपदेश का अधिकारी नहीं होता है। अतः सद्भक्ति सत्सङ्ग सदाचार अहिंसादि द्वारा प्रथम तन मन की शुद्धि कर्तव्य होती है, सोई कर्तव्य सबके लिये है ॥ ११३ ॥

बेढ़ा दीन्हो खेत को, बेढ़ा खेतहि खाय।
तीन लोक संशय परी, काहि कहौं समुझाय ॥११४॥

क्षेत्राणामत्र रक्षार्थे मनोऽज्ञैर्वरणः कृतः।
मायामयं जनैर्मोहात्तच्च तान्यत्ति सर्वदा ॥२४॥
दुष्कर्मादौ प्रवृत्त्यैतान् संशयांश्च प्रसूयते।
संशयाक्रान्तलोकेभ्यः कथमात्मोपदिश्यताम् ॥२५॥
श्रद्धां भक्तिं विना तावदुपदेशाः फलन्ति न।
ताभ्यां विना गुरुः कस्मै किं बोधयतु तत्त्वतः ॥२६॥११४॥

मन की शुद्धि के अभाव से मनुष्य क्षेत्रज्ञ आत्मा को समझते नहीं है कि जिससे मन को आत्मा में लगावें, और आत्मानन्द का अनुभव करें। अतः शरीररूप क्षेत्र (खेत) की रक्षा के लिये मन को खेत का बेढ़ा (बाड़ा) मनुष्यों ने दिया (किया) है। सो बेढ़ा ही शरीर को कष्टप्रद कुमार्ग में अहित अविहित भोजनादि में प्रवृत्त कराकर खेत को खाता है (नष्ट करता है)। भजन सद्विचारादि सुखद व्यवहार में प्रवृत्त नहीं होने देता है। अतः तीनों लोक तीनों अवस्था में माया मन द्वारा संशय भ्रम रूप से परी (प्राप्त व्याप्त) है, तहाँ किसको क्या समझाकर कहा जाय। संशय देहासक्ति युक्त से तितिक्षा भजन विचारादि हो नहीं सकते हैं। अतः संशय देहासक्ति को त्यागने के लिये प्रथम यत्न कर्तव्य है ॥ ११४ ॥

मन सायर मनसा लहर, बूड़े बहुत अचेत।
कहहिं कबिर ते बाँचि हैं, जिनके हृदय विवेक ॥११५॥

मनोरूपसमुद्रस्य मनोरथतरङ्गके।
समासक्ता निमज्जन्ति परं नैव विवेकिनः ॥२७॥
मनसैवेन्द्रजालश्री र्जगत्यां प्रवितन्यते।
यावल्लसति चैतद्धि तावत्तत्त्वकथा कुतः ॥२८॥
रामाद्वियोगेन हि वर्ततेऽयं कालः सदा मूर्द्धनि मानसज्ञ।
विकल्पजालैः सततं निविष्टं सुखं कथं विन्दतु मन्दबुद्धिः ॥२९॥

विवेकिनस्तु प्रतिपद्य रामं मनोरथं चैव मनो विजित्य।
कामादिकं संपरिवर्ज्य धीराः कालादिमुक्ताः सुखिनो भवन्ति॥३०॥११५

इति साक्षिसाक्षात्कारे कालादिकदर्थनावर्णनं नाम विंशी वित्तिः ॥ २० ॥

"विश्वरूपतयैवेदं तनोति मलिनं मनः" माया की कोठरीरूप यह मलिन मन ही इस संसार को विश्व (सर्व पूर्ण) रूप से बढ़ाता है, इत्यादि वचनों के अनुसार मन सायर (प्रवृद्ध संसार समुद्र) रूप है, और मनसा (मनोरथ = काम) उसका लहर (तरङ्ग) है, तहाँ मन की शुद्धि और विवेकादि रहित बहुत अचेत जीव इस तरङ्ग से उस समुद्र में बूड़े और बहुत अचेत बूड़ते हैं। सर्वथा अशुद्ध मन रचित संसार में बूड़ते हैं, मन के वश में होते हैं। तहाँ श्रीकबीर साहब कहते हैं कि वे ही बूड़ने से अब बचेंगे कि जिनके हृदय में सत्यासत्य आत्मानात्मादि के विवेक विज्ञानादि होगें। अतः धर्माधर्म आत्मानात्मादि के विवेक अवश्य कर्तव्य है, और यह ज्ञातव्य है कि "अयन्तु परमो धर्मोयद्योगेनात्मदर्शनम्" इत्यादि ॥ ११५ ॥

—❀—

अथ कुटिलमन कृत कुगतिवर्णन प्रकरण २१

सायर बुद्धि बनाय के, वाम विचक्षण चोर।
सब दुनियाँ जहड़े गया, कोइ न लागा ठौर ॥११६॥

वामभूतो मनश्चौरः समुद्रीकृतदुर्मतिः।
वञ्चयित्वा जगत् सर्वं संपातयति सागरे ॥ १ ॥
एतेन वञ्चिताः सर्वे संजाता वाममार्गिणः।
विचक्षणाश्च ते चौराः सर्वस्वं यद्धरन्ति हि ॥ २ ॥
अशुद्धे शुद्धता बुद्ध्या त्वनात्मन्यात्मतधिया।
आत्मानं च परं चैवं पीडयन्तः कुबुद्धयः ॥ ३ ॥
भ्रामयन्तो जनान् सर्वांस्त्रासयन्तो जगत्तथा।
पतन्ति नरके घोरे गच्छन्ति नो परं पदम् ॥ ४ ॥
वामभूतमनोदेशै र्वाममार्गिजनैस्तथा।
वञ्चितं वै जगत् सर्वं नालगत्कोपि सत्पदे ॥ ५ ॥११६॥

धर्मादि के विवेक रहित लौकिक विचक्षण (चतुर=धूर्त) चोररूप, वाम= (कुटिल कुमार्गी मन, और मनोवशवर्ती वाममार्गी) बुद्धि को भी सायर (भयावह संसारपरायण) बना कर, सब दुनियाँ में स्वयं जहड़ने के लिये गया

(दुःख भोगने गया) और दुनियाँ को भी जहड़ाया, अतः इसके वशवर्ती कोई जीव सत्य ठौर में नही लगा। "अन्तः शाक्ता बहिः शैवाः सभामध्ये च वैष्णवाः। नानारूपधराः कौला विचरन्ति महीतले ॥१॥ अन्तःकरण से शाक्त बाहरतिलक माला से शैव, और सभा में वैष्णव कहाने वाले नाना रूप धारी कौल (वाममार्गी) भूमि में विचरते हैं। इस पुराण वचन से स्पष्ट चोरत्व की प्रतीति होती है ॥ ११६ ॥

मानुष ह्वै के नहिं मुवा, मूवा डाँगर ढोर।
एको जीव हिं ठौर नहिं, भै सो हाथी घोर ॥११७॥

इत्थं भूताऽसदाऽऽचारा मानुष्यं नात्र लेभिरे।
असंख्याता मनुष्येषु मृत्वापि पशवोऽभवन् ॥ ६ ॥
सत्येवात्रहि मानुष्ये स्वर्गो मोक्षश्च लभ्यते।
मोक्षो दूरतरस्तेभ्यो ये मानुष्यं न लेभिरे ॥ ७ ॥
निद्रा मैथुनमाहारः सर्वेषां प्राणिनां समम्।
ज्ञानवान् मानवः प्रोक्तो ज्ञानहीनः पशुः स्मृतः ॥ ८ ॥
कोपिभूत्वा मनुष्यो न मृतः किन्तु वृषादिकः।
भूत्वा मृतो न कोप्यातो लब्धवान् स्थानमुत्तमम् ॥ ९ ॥
स्थानालाभाच्च हस्त्यश्वमुखासु बहुयोनषु।
भ्रमति स हिं मूढात्मा क्लेशं च सहते मुहुः ॥१०॥११७॥

उक्त चोर के वशवर्ती या चोर रूप कोई मनुष्य वस्तुतः विवेकी धर्मज्ञ मनुष्य होकर नहीं मरा। किन्तु वह डाँगर ढोर (निन्दित पशु = कृश बैल) होकर मरा। अतः ऐसा एको जीव एको ठिकाने नहीं लगा (मुक्त सुखी स्वर्गी नहीं हुआ)। किन्तु मर कर हाथी घोड़ा हुआ और होता है। अतः चोरत्व चोरवश वर्तिता से बचना चाहिये ॥ ११७ ॥

मनुष बिचारा क्या करै, जाके शून्य शरीर।
जो जिय झाँकि न ऊपजै, काह पुकार कबीर ॥११८॥

शून्यं हि हृदयं यस्य सद्विचारेण वर्तते।
स दीनो मानुषो लोके किं करोत्यात्मने हितम् ॥११॥
यस्यात्मदर्शनं नैव कथञ्चिचेह जायते।
गुरवोऽपि महात्मानः कथञ्चोपदिशन्तु तम् ॥१२॥

सद्विवेकादिभिः शून्यं यस्य चास्ति कलेवरम् ।
तस्मिन् मनुष्यता नास्ति सत्सुबोधादि लक्षणा ॥१३॥
अतो मनुष्यताबुद्धया कर्तव्यं नात्र किञ्चन ।
आत्मदृष्टेरसम्भूतौ वक्तव्यं शोभतेऽत्र किम् ॥१४॥
किमन्येन विचारेण यस्य शून्यं कलेवरम् ।
तद्दर्शनं न चेज्जातमन्यस्तुल्या भवेत् किम् ॥११॥११८॥

चोर से नहीं बचा जाय तो चोर के वशवर्ती रहते मनुष्य क्या विचार कर सकता है । या विचारा (वेचारा पराधीन दीन) मनुष्य क्या कर सकता है कि पराधीनता आदि से जिसके शरीर मन, बुद्धि भी विवेकादि से शून्य (रहित) हैं और यदि परवशता शून्यता से जिय (मन) में झाँकि (आत्म-दर्शनादि) नहीं उत्पन्न होते हैं तो कबीर गुरु भी कहाँ तक क्या पुकार कर कहें । अथवा हे मनुष्यों ! अन्य-अन्य विचार क्या करते हो, जिस परब्रह्म का शून्य (अकाश) भी शरीर है, यदि उसका दर्शन नहीं हुआ तो अन्य के पुकारने से क्या हो सकता है । शून्य शरीर वाले को समझो, इसीसे सब फल हो सकता है, सो कबीर गुरु कहते हैं ॥११८॥

मानुष ते बड़ पापिया, अक्षर गुरुहि न मान ।
बार बार बक कूतिया, गर्भ धरे अवधान ॥११९॥

सावधानेन चित्तेन सद्गुरोरुपदेशनम् ।
श्रुत्वा ये नाभिमन्यन्ते तेऽतिपापात्मका नराः ॥१६॥
"सोपानभूतं मोक्षस्य मानुष्यं प्राप्य दुर्लभम् ।
ये तारयन्ति नात्मानं तेभ्यः पापतरोऽत्र कः" ॥१७॥
ते हि पापेन तीव्रेण बकश्वादिषु योनिषु ।
पौनः पुन्येन जायन्ते तद्गर्भध्यानतत्पराः ॥१८॥
सद्गुरौ ह्यक्षरत्वं वा परब्रह्मत्वलक्षणम् ।
ये न जानन्ति ते मूढा भवन्ति मलिनाशयाः ॥१९॥
निरर्थकं वचश्चोक्त्वा श्वभिस्तुल्याः पुनः पुनः ।
आत्मनोऽत्रापरिज्ञानात्सर्वयोनौ भ्रमन्ति हि ॥२०॥
मनुष्योऽसौ महापापी मन्यते नाक्षरं गुरुम् ।
पुनः पुनर्वकीशुन्यो गर्भे धरति कुस्मृतिम् ॥२१॥११९॥

उक्त चोरों के वशवर्ती वे मनुष्य बड़े पापो हैं कि जो सद्गुरु के अक्षर (उपदेश) को नहीं मानकर वाममार्गादि में मन लगाते हैं तथा ज्ञानी सद्गुरु

को जो अक्षर (अविनाशी ब्रह्म) स्वरूप नहीं समझते हैं, सो अपने अज्ञानादि से बार-बार जन्म लेकर मरकर बक कुतिया आदि नीच योनियों के गर्भों में अवधान धरते हैं (मन लगाते जाते हैं) या गुरु के अक्षर को नहीं मानने वाले बार-बार कुतिया के समान बकते (भूकते) हैं, गर्भ के ही ध्यान धरते हैं। "कबीर ते नर अन्ध हैं, गुरु को कहते और। हरि रूठे गुरु ठौर हैं, गुरु रूठे नहिं ठौर ॥ ११६ ॥

मनुष विचारा क्या करै, कहे न खुले कपाट।
श्वनहा चौक बिठाइये, फिरि फिरि ऐपन चाट ॥१२०॥
मनुष विचारा क्या करै, जाके हृदया शून।
श्वनहा चौक बिठाइये, फिरि फिरि चाटे चून ॥१२१॥

येषां सदुपदेशेन मोक्षद्वारकपाटकम्।
अज्ञानं भिद्यते नैव मोहार्गलशमो नहि ॥२२॥
श्ववातो विरसे भोगे सक्ताः सदवमानिनः।
स्वापवर्गेऽक्षमा मूढाः स्मृताः कापुरुषा हि ते ॥२३॥
वेदिकास्थापितः श्वा वै चूर्णमत्ति मुहुर्मुहुः।
उपदेशं न चादत्ते तथैवैतेऽविवेकिनः ॥२४॥
"गुरुरात्मवतां शास्ता राजा शास्ता दुरात्मनाम्।
इह प्रच्छन्नपापानां शास्ता भवति वै यमः" ॥२५॥
यथा न तव शास्ता स्यात्प्रधीः क्रूरः परे यमः।
तथाऽत्रैवास्ति कर्तव्यं न स्थातव्यं प्रमादिना ॥२६॥१२१॥

वह बेचारा मनुष्य क्या करे जिसके हृदय का कपाट (आवरण मोह) कहने उपदेश से नहीं खुलता (नष्ट होता) है। उसकी तो ऐसी दशा है कि जैसे चावलादि के चूर्णरूप ऐपन से चौके को पूर्ण करके यदि उसमें श्वनहा (कुत्ते) को बैठाया जाय, तो वह बार-बार ऐपन को ही चाटेगा। तैसे ही कुपुरुष मोक्षार्थक उपदेश को भी भोग का साधन बनाता है। तथा उपदेशक और उपदेश का अनादर करता है ॥१२०॥ अतः वह तुच्छ मनोवशवर्ती विवेकशून्य हृदय वाला मनुष्य कुछ कर नहीं सकता है। किन्तु वह अविवेकी कुत्ते की तरह भटक कर तुच्छ भाग को भोगता है, सत्योपदेशादि मार्गों में स्थिर नहीं हो सकता है अतः सत्कर्म परलोक के भयादि से सन्मार्ग में लाने योग्य है ॥ १२१ ॥

मानुष जन्म दुर्लभ है, बहुरि न बारम्बार।
पका फल ज्यों गिरि परा, बहुरि न लागै डार ॥१२२॥

मानुष्यं दुर्लभं पूर्णं सुकृतेनैव लभ्यते।
अतोऽत्र त्वं सदा साधो श्रेयः स्वस्य समाचर ॥२७॥
यथा पक्वं फलं वृक्षात् पतित्वा नात्र वृक्षके।
सज्जते किन्तु कालेन वृक्षभेदे फलान्तरम् ॥२८॥
जायते रससन्तत्या मनुष्यत्वं तथा भवेत्।
कालेन कर्मसन्तत्या देशान्तरकुलान्तरे ॥२९॥
को जानीते कदा कुत्र किं कर्मोल्लासमेष्यति।
अतोऽत्रैव च सद्यश्च विमोक्षार्थं यतस्व भोः ॥३०॥
यावत्परात्मात्मविवेकसंस्कृतं स्याद्वै मनो नैव न भक्तिसंयुतम्।
बोधैर्विहीनं खलु हीनसंश्रयं यस्यास्य तावन्नरता न शोभते ॥३१॥१२२॥

इति साक्षिसाक्षात्कारे वामभूतमनश्चौरादिकृतदुर्गत्यादिवर्णनं नामैकविंशि विप्तिः ॥ २१ ॥

चेतावनी है कि योग्य मनुष्य जन्म अत्यन्त दुर्लभ है, श्रेष्ठ पुण्य का फल रूप है सो फिर भी बार-बार नहीं होगा, न होता है। जैसे पक्का फल गिरता है तो फिर वह उसी डाल में नहीं लगता है, तैसे त्यागे हुए शरीर में तो जीवात्मा फिर कभी आती ही नहीं है। कर्मादि के अनुसार आगे की गति होती है, तहाँ जैसे पक्के फल के बीज से दूसरे वृक्ष के होने पर उसमें फिर फल लगता है, तैसे ही मानव तनु के कर्मानुसार या सञ्चित कर्मानुसार चौरासी भ्रमण के बाद किसी को कभी मनुष्य तन मिलता है, किसी पुण्यात्मा को भले ही शीघ्र मिल सकता है, सबको नहीं। अतः यहाँ अवश्य सद्गति के लिये यत्न करना चाहिये ॥ १२२ ॥

—०—

अथ स्वापराधदण्डादिवर्णन प्रकरण २२

मानुष जन्महि पायके, चूके अबकी घात।
जाय परे भव चक्र में, सहे घनेरी लात ॥१२३॥
रतन का तो यतन करू, माटी का सिंगार।
आया कबिरा फिरि गया, फीका है संसार ॥१२४॥

मानुष्यं दुर्लभं लब्ध्वा यः प्रमाद्यति मूढधीः ।
भवचक्रे पतत्येष सहते पादताडनाः ॥ १ ॥
अतश्चेममनमूल्यं त्वं समयं नैव यापय ।
आत्मज्ञानाख्यरत्नाय महायत्नं समाचर ॥ २ ॥
ज्ञानं ज्ञानार्थयत्नश्च शरीरस्य महोज्ज्वलम् ।
मृण्मयस्य भवेद् धीमन् भूषणं हि महार्हणम् ॥ ३ ॥
एतेनापि विना योऽत्र जनित्वा म्रियते मुहुः ।
मानुष्यं निष्फलं तस्य नानन्दं लभते च सः ॥ ४ ॥
शरीरं मृण्मयं यस्य विनाश्याभूषणोपमम् ।
तथैवास्ति च संसारः स सत्यो ह्यवबुध्यताम् ॥ ५ ॥
मिथ्यात्वान्निरसश्चायमिमं न स्वदते बुधः ।
मूढा एवात्र धावन्ति न लभन्ते च निर्वृतिम् ॥ ६ ॥
भवचक्रे प्रयातो हि सहते बहु वेदनाम् ।
स्वप्रस्तावं हि तस्मात्त्वं विद्धि रत्नं गृहाण च ॥ ७ ॥१२४॥

जो जीव मनुष्य देह पाकर, अवकी घात (दाव, मोका, वार) को चूके (अपनी सद्गति के लिये यत्न नहीं किये) सो भवचक्र (जन्मादि के प्रवाह) में जाकर पड़े और पड़ते हैं। घनेरी लात (यमयातनादि) सहे, और सहते हैं। या अवकी चूके, उनका घात (नाश) हुआ और होता है। क्योंकि भवचक्र में जाकर पड़ते हैं। अतः अवश्य सद्गति के लिये यत्न कर्तव्य है ॥१२३॥ इसलिये तुम सत्धर्म ज्ञान रत्न के लिये यत्न करो, और यत्न से प्राप्त होने पर भी उसका यत्न सँभाल रक्षा करो, क्योंकि यह ज्ञान रत्न ही इस माटी के मानुषतन का श्रृङ्गार (भूषण शोभा) है। जो कबिरा (जीव) मानव देह में आया, और ज्ञान रत्न के बिना यहाँ से फिर गया। उसके लिये मानव तनु रूप संसार फीका (निरस निष्फल) है। स्वधर्म ज्ञान मोक्ष रत्न को प्राप्त करना ही इस की सरसता आनन्दरूपता है ॥ १२४॥

बाँह मरोरे जात हो, सोवत लिया जगाय ।
कहहिं कबीर पुकारि के, यहि पिण्ड ह्वै कि जाय ॥१२५॥

बाहू संपीड्य यासि त्वं सुप्तं त्वाऽबोधयं त्वहम् ।
ईशो बोधितवान् यच्च तन्नस्मरसि मूढ किम् ॥ ८ ॥
धावन्तमल्पबुद्धं हि श्रुत्वापि गुरुभाषितम् ।
दृष्ट्वा दयापरः प्राह किं त्वं यासि प्रमत्तवत् ॥ ९ ॥

अनेन बपुषैव त्वं नित्यमुक्तो भविष्यसि ।
प्रमादेनाथ गर्वाद्यै र्नरकेऽपि पतिष्यसि ॥१०॥
अतो गुरूननादृत्य कुमार्गेण न गम्यताम् ।
भक्तिज्ञानमयीं नावं धृत्वा संसारमुत्तर ॥११॥१२५॥

देवा बड़ा न देवता, सूरज बड़ा न चन्द ।
आदि अन्त दोऊ बड़े, कै गुरु कै गोबिन्द ॥ १ ॥
ईश कृपा तब जानिये, दे मानव अवतार ।
गुरु कृपा तब जानिये, बन्ध छोड़ावनहार ॥ २ ॥

इन उक्त दो साखियों के अनुसार, अन्धकारमय अन्य योनियों से मानव देह में पहुँचाने में प्रथम ईश्वर की कृपा होती है । अतः आदि में ईश्वर बड़े हैं । अन्त में बन्ध छोड़ाने वाले सद्गुरु बड़े हैं । और दोनों ने मानो सोये हुए जीव को जगाय लिया है, मानवता देकर तथा विवेकार्थक उपदेश देकर, मोहनिद्रा मे माना कुछ रहित सचेत किया है, अतः ईश्वर गुरु दोनों सत्कार के योग्य हैं पूज्य हैं परन्तु तुम अज्ञ कृतघ्न मनुष्य उन दोनों की पूजा तो क्या करोगे उनके बाँहु को मरोरे जाते हो (आज्ञा आदि का उलङ्घन अनादर करके जाते हो) तो भी श्रीकबीर साहब पुकार के कहते हैं कि इस मानव पिण्ड (देह) में हो यदि ज्ञानरत्न रामरत्न को प्राप्त करोगे, तो अजर अमर नित्य मुक्त होगे या पुण्य पापादि करोगे, तो स्वर्ग नरकादि में जावोगे, जो तुमको अच्छा प्रतीत हो सो करो ॥१२५॥

बेग बाँधिन सर्प का, भव सागर के माहिं ।
जो छाड़े तो बूड़ई, गहे तो डँशय बाँहिं ॥१२६॥

उक्तां नावमसम्पाद्य विषयादिमयीं तु ये ।
कर्ममयीं च कुर्वन्ति पीड्यन्ते ते द्विधा खलु ॥१२॥
त्यागे तस्या निमज्जन्ति बहुले दुःखसागरे ।
ग्रहणे रागद्वेषाद्यैः पीड्यन्ते च नराः सदा ॥१३॥
यथा सर्पमयीं नावं कृत्वा नद्यां व्रजेत् कुधीः ।
निमज्जति हि तत्त्यागे दशति ग्रहणे च सा ॥१४॥

इति साक्षिसाक्षात्कारे स्वापराधदण्डवर्णनं नाम द्वाविंशो वित्तिः ॥२२॥

जिन लोगों ने विवेक विज्ञानादि रूप जहाज का शरण नहीं लेकर काम्य कर्मादि रूप सर्प का बेड़ा भवसागर में बाँधा है । वे लोग विराग

ज्ञानादि की प्राप्ति के बिना यदि उसको त्यागते हैं। तो भी भवसागर में डूबते हैं। और यदि पकड़ते हैं, तो भी वे विषय काम्यकर्मादि बाहु में डँसते हैं (मन बुद्धि को पीड़ित करते हैं)। क्योंकि वे विषय काम्यकर्मादि स्वर्ग नरकादि में भ्रमण के हेतु हैं। अतः उनकी सर्प छुछुन्दर की दशा होती है, तो भी सत्सङ्ग मिले तो शुभ होता है। "गहे छुछुन्दर अहि मरै, तजे दृगन की हान। जल पाये सुख होत है, नर सत्सङ्ग प्रमान ॥१॥ विचारमाला।" छुछुन्दर के खाने से सर्प मर जाता है, पकड़ कर छोड़ने पर छुछुन्दर उसके नेत्र को फोड़ता है, नेत्र को नोच लेता है, जल में डूब कर छुछुन्दर को छोड़ने से सर्प सुखी होता है। ऐसे ही सत्सङ्ग में स्थिर होकर विषयादि के त्याग से सुख होता है ॥ १२६ ॥

——*——

अथ समात्मतत्त्ववर्णन प्रकरण २३

हाथ कटोरा खुवा भरा, मगु जोहत दिन जाय।
कबिरा उतरा चित्त सो, छाछ दिया नहिं जाय ॥१२७॥

सद्गुरो बुद्धिसत्पात्रं सुधासारेण पूरितम्।
वर्तते निर्मलश्चास्तेगुरुः शिष्यदयापरः ॥ १ ॥
अन्वेषयति सच्छिष्यांस्तेभ्यो मोक्षं ददाति च।
ये तु तद्विमुखा मूढास्तेभ्यःकिञ्चिद् ददाति न ॥ २ ॥
दुर्बुद्ध्याऽनधिकारेण ह्युपयोगे विपर्ययात्।
करिष्यन्त्यहितं मूढा इति शास्ति न सद्गुरुः ॥ ३ ॥
सुजनाय यथा कश्चिद् दुग्धसारं प्रयच्छति।
दुर्जनाय न दत्ते च स तक्रमपि चाल्पकम् ॥ ४ ॥
सर्वेषां हृदि सत्यात्मा पीयूषमिह विद्यते।
जनाश्चित्तात्परिभ्रष्टा विषयासक्ता विदन्ति नो ॥ ५ ॥
अतश्चानन्दशून्येऽपि निजानन्दस्य लोभतः।
न ददाति हि कस्मै चित् किञ्चिच्चित्तस्य शुद्धये ॥ ६ ॥१२७॥

जैसे किसी के हाथ में खोवे (मलाई) से भरा कटोरा हो, और सत्पात्र के प्रति देने के लिये रास्ता देखने में दिन जाता (बीतता) हो, तो भी जो कबीरा (जीव) दान का अपात्र होने से उस दाता के चित्त से उतरा हो, उसके प्रति उस दाता से छाछ भी नहीं दिया जाता है। तैसे ही सर्प के बेड़ा

बांधने वाले, उपकार को नहीं मानने वालों के प्रति सद्गुरु से सदुपदेशादि नहीं दिया जाता है, दयालु हरि गुरु भी सत्सङ्गादि रहित अभक्त को मुक्त नहीं कर सकते हैं, अतः वह जन्मता मरता है ॥१२७॥

एक कहौं तो है नहीं, दोय कहौं तो गारि।
हहु जैसे रहहु तैसे, कहहिं कबिर पुकारि ॥१२८॥

शुद्धबुद्धयैव लभ्यो यः शुद्ध आत्मा न तत्र हि।
एकत्वमस्ति नैर्गुण्याद् द्वित्वादि भयकृन्न च ॥ ७ ॥
द्वित्वस्योक्तिः परे तत्त्वे भेदस्वीकृतिरेव च।
अपशब्दसमा मिथ्या दोषस्योद्भावनैः समा ॥ ८ ॥
श्रुतौ श्रुतं यदेकत्वं तत्तु कैवल्पलक्षणम्।
स्वरूपभूतमस्माच्च भयं नैव क्वचिद् भवेत् ॥ ९ ॥
द्वित्वादि न तथाप्यस्ति ह्यत एकोऽभिधीयते।
द्वित्वादि निन्द्यते शश्वद् वस्तुतोऽत्र द्वयं नहि ॥१०॥
द्वित्वैकत्वादि हीनो य आत्मास्ति निर्विशेषकः।
यथाऽसि त्वं तथा तिष्ठ निर्विशेषात्मरूपतः ॥११॥
"सम्यग् ज्ञानवतो ज्ञस्य यथाभूतार्थदर्शिनः।
बुद्धि भवति चिन्मात्र रूपा द्वैतैक्य वर्जिता ॥१२॥
अद्वैतं[1] केचिदिच्छन्ति द्वैतं पश्यन्ति चापरे।
समं तत्त्वं न जानन्ति त्वं समत्वेन तिष्ठ भोः" ॥१३॥१२८॥

जो सार तत्त्व खोवा तुल्य है, जिसके ज्ञान से जीव मुक्त होता है। उस को यदि एक कहौं, तो एकत्व संख्या रूप गुण वाला वह नहीं है, तथा द्वैत संसार के मिथ्या होने से, सत्य द्वित्व सापेक्ष एकत्व वाला नहीं है। अतः यदि एक कहें, तो एकत्व उसमें नहीं है, यदि दो कहें, तो वह कहना गाली तुल्य है। अर्थात् "द्वितीयाद् वै भयं भवति। बृ. १।४।२। अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुरेव स देवानाम्। बृ. १।४।१०" इत्यादि श्रुति के

---

१ अद्वैतं केचिदिच्छन्ति द्वैतमिच्छन्ति चापरे। समं तत्वं न विन्दन्ति द्वैताद्वैतविवर्जितम्। अवधूतगीता. अ० १। ३५। कोई अद्वैत की इच्छा करते हुए उसको परिणामी समझते हैं, कोई अन्य द्वैत को अद्वैत का सत्य परिणामरुप समझते हैं, द्वैत अद्वैत अवस्था=सृष्टि प्रलय काल में सम एक रस रहनेवाले स्वरुप को नहीं समझते है, अर्थात् द्वैतको चिद्विवर्त नहीं समझते हैं।

अनुसार, भयजनक ईश्वर जीव में भेद बुद्धि निन्दित है। क्योंकि ईश्वर और अपने को जो भिन्न भिन्न सत्य समझता है, सो देवों के पशु ही है। अतः एक द्वित्वादि से रहित जैसे स्वयं प्रकाश शब्दावाच्य हो तैसे रहो ॥१२८॥

अमरित केरी पोटरी, बहुविधि दीन्हो छोरि।
आप सरीखे जो मिले, ताहि पियावों घोरी ॥१२९॥

ग्रन्थीनमृततत्त्वस्य बहुधाऽभिनदं ह्यहम्।
मत्समा ये मिलेयुस्तान् पाययेयं विलोड्य तत् ॥१४॥
शुद्धात्मैवामृतं तत्त्वं मोक्ष इत्यभिधीयते।
तस्य चात्रोपदेशो हि गुरुभि र्बहुधा कृतः ॥१५॥
संशयादिनिराशाय बहुधा सद्भिरुच्यते।
अधिकारिजनै श्चैतदतनायासेन लभ्यते ॥१६॥
सद्गुरुश्चामृतं तत्त्वं पापयत्येत्र तान्‌जनान्।
निर्भिद्य ग्रन्थिकामादींस्तस्य वाक्येषु ये स्थिताः ॥१७॥
विरक्ताः शमनिष्ठाश्च सत्यस्था न च मायिनः।
ये नरास्तेषु सद्वाक्यं फलं सूते न संशयः ॥१८॥
मानुष्यं यदि दुर्लभं नरवरा लब्ध्वा न संशेरते।
मोहान्धे वितते भयावहतमे लोके मुधा मोहतः।
एकत्वादि गुणैरतीतमनघं तत्त्वंहि लब्ध्वा गुरोः।
मोदन्ते तु भृशं विरक्तमनसो नायान्ति ते संसृतौ ॥१९॥१२९॥

इति साक्षिसाक्षत्कारे समतत्त्वोपदेशवर्णनं नाम त्रयोविंशी वित्तिः ॥२३॥

श्रीसद्गुरु कहते हैं कि मैंने अमृत की पोटरी (अविनाशी मोक्ष की वार्ता) को बहुत प्रकार से खोल दी है। अपरोक्षात्मानुभव के लिये निःसंशय अभ्रान्त उपदेश किया है, जो कोई आप सरीखे (मेरे अनुकूल योग्य शुद्ध) शिष्य मिले तो मैं उसको यह अमृत घोर कर पिला दूँ। अर्थात् योग्य को अनायास ही गुरु के उपदेश से अनुभूति तृप्ति होती है। अन्य को कठिनाई से भी नहीं होती है। अतः प्रथम योग्यता का सम्पादन करना चाहिये ॥१२९॥

अथ समतत्त्वज्ञानविना भेदादिवर्णन प्रकरण २४

अमरित केरी पोटरी, शिर सों धरी उतारि।
जाको मैं एके कहौं, सो कहै मोहि चारी ॥१३०॥

अमृतस्योपदेशं यमाविर्भाव्योत्तमाङ्गतः ।
ग्रन्थे स्थापितवानत्र लोके लोकहितेच्छया ॥ १ ॥
तं जना नैव मन्यन्ते मोक्षं चैकं न मन्वते ।
चतुर्विधं वदन्त्येतं श्रावयन्ति च मां तथा ॥ २ ॥
यो यो यान् यान् यजेद्देवांस्तच्चतुर्मोक्षगो हि सः ।
आत्मज्ञानं विना मोक्षो न भवेत्सच्चिदात्मनि ॥ ३ ॥
चतुर्व्यूहं वदन्त्येके वासुदेवादि रूपतः ।
मोक्षं सातिशयं चैव सत्यमेकं न मन्वते ॥ ४ ॥
मोक्षः सातिशयश्चेत्स्या ज्जगत् किम्वपराध्यति ।
यदस्मान्मोक्षमिच्छन्ति भवन्तो मोक्षवादिनः ॥ ५ ॥
मोक्षः सातिशयो यस्तु कथ्यते भवता मुहुः ।
स स्वर्गो न तु मोक्षोऽसौ भवतैवं विचार्यताम् ॥ ६ ॥
ईश्वरे चेद्भवेद्भेदो नूनं सातिशयश्च सः ।
जीवात्तत्रास्ति को भेदो भवद्भिश्चेति चिन्त्यताम् ॥ ७ ॥
ईश्वरो मायया सर्वं कुर्वन्नपि न भेदवान् ।
प्रतिबिम्बात्मजीवेषु भेदोऽयं कल्प्यते मृषा ॥ ८ ॥१३०॥

सद्गुरु का कथन है कि मैंने संसार के हित के लिये मानो उपदेश रूप अमृत की पोटरी (गठरी) को शिर से उतार कर (मस्तक से प्रकट करके) सब के आगे धर दी है (निर्वैरता सुख शान्ति के लिये एक सत्यात्मा का उपदेश दिया है) । परन्तु आश्चर्य है कि जिसको मैं एक सत्यात्मा एक मोक्ष की बात कहता हूँ । वह मुझे चार व्यूह चार मोक्षादि को सत्य मोक्षादि सत्य कहता है, अतः एकात्म एक मोक्ष के श्रवण के अधिकारी दुर्लभ हैं ॥१३०॥

जाको मुनि वर तप करे, वेद थके गुण गाय ।
सोइ देऊँ सिखापना, कहि न कोइ पतिआय ॥१३१॥

यदर्थं मुनयः श्रेष्ठास्तपः कुर्वन्ति संयताः ।
को अद्धा वेद, नेत्यादि वेदाः श्रान्तवदासते ॥ ९ ॥
बचसोऽविषयत्वेन सर्वात्मत्वेन यं मुहुः ।
सुश्रान्ता इव भाषन्ते तदन्यं वारयन् खलु ॥१०॥
साक्षि रूपस्य तस्यैव निर्विशेषस्य वस्तुतः ।
दीयते ह्युपदेशोऽत्र साधनैः सहितः स्फुटम् ॥११॥

ऋजुनैव प्रकारेण न कोपि विश्वसित्यहो ।
जिह्ममार्गे पतत्यन्धस्तद्दुःखानैव मुच्यते ॥१२॥१३१॥

"एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा । कठ.२।५।१२" सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति । कठ. १।२।१५" एक स्वतन्त्र देव सब प्राणी का अन्तरात्मा स्वरूप है। जिस प्राप्य पद मोक्ष स्थान को सब वेद कहते हैं, तथा निष्काम कर्म इन्द्रिय निग्रहरूप तप करके तपस्वी श्रेष्ठ मुनि सब जिसका कथन करते हैं। और "स एष नेति नेत्यात्मा । बृ० ४।२।४" "को अद्धा वेद क इह प्रवोचत् कुत आ जाता कुत इयं विसृष्टिः । ऋग्वेद म. १०।११।१२९" इत्यादि बचनों के अनुसार, जिसकी प्राप्ति ज्ञान के लिये श्रेष्ठ मुनि तप करते हैं। वेद उपनिषद् जिस एक सर्वात्मा के गुणों को गाकर, और गाते गाते मानो थककर, जिसको ज्ञानाऽविषय बचनागोचर कहा है। श्री कबीर साहब कहते हैं कि उसी वेद उपनिषद् गम्य आत्मा की सिखापना (शिक्षा उपदेश) को मैं सुगम रीति से हिन्दी भाषा द्वारा देता हूँ। परन्तु कोई अविवेकी कही बात (शिक्षा) को पतिआता नहीं है। इसमें विश्वास प्रेम नहीं करता है। अतः इसके अधिकारी कोई विवेकी ही है ॥१३१॥

एकहि ते अनन्त अनन्त, अनन्त एक हो आया ।
परिचय भया जु एक ते, एकहि माँह समाया ॥१३२॥

तपन्ति मुनयो यस्मै यं वेदाः प्रवदन्ति च ।
स केवलोऽपि सत्यामा स्वानन्तानन्तभेदवान् ॥१३॥
भूत्वा मायामनोभिश्च पुनरेकत्वमश्नुते ।
अतो मायामयं विश्वं सत्यमेकमवस्थितम् ॥१४॥
ज्ञानेन जगतो बाधे स्याज्जनस्य विमुक्तता ।
नान्यथा युगकल्पान्तेऽप्येतत्सत्यं श्रुतीरितम् ॥१५॥
व्यष्टि जीवस्य बोधेन व्यष्टि विश्वं विलीयते ।
समष्टे र्बोधतस्तद्वत्समष्टिविलयो भवेत् ॥१६॥
एकस्मादात्मनोऽनन्ता भवन्ति जन्तुजातयः ।
तद्भेदै र्भिन्नवद्भाति सत्यात्मा तत्प्रवेशतः ॥१७॥
ज्ञानेन च विलीयन्ते भेदाः सत्योऽवशिष्यते ।
प्रविशन्तीव सर्वेऽस्मिन्नस्यैकस्य सुबोधतः ॥१८॥
एकानन्तयो र्यस्तु प्रवाहो वर्तते सदा ।
निवर्तते न स श्रीमन् स्वात्मनोऽवगमादृते ॥१९॥१३२॥

"य एकोऽवर्णो बहुधा शक्ति योगात्। श्वेता. ४।१" "एकं रूपं बहुधा यः करोति। कठ. ५।५।१२" एक ही सत्यात्मा से अनन्तानन्त देव मनुष्यादि सब भेद, माया मन आदि उपाधि और प्रतिबिम्बादि द्वारा होते हैं। सब भेद महाप्रलय काल में एक होकर भी फिर आया है, माया से उत्पन्न प्रकट हुआ है। तथा अनन्तानन्त रूप से एक ही वस्तु प्रकट हुई है। परन्तु जब जिस जीव को एक सत्य स्वरूप का परिचय (अपरोक्षानुभव) हुआ, तब उसकी दृष्टि से अनन्त कल्पित भेद एक सत्यस्वरूप में समा गये। एकानेक से रहित चित्स्वरूप में लीन मुक्त हो गया, और होता है ॥१३२॥

एक शब्द गुरु देव का, तामें अनन्त विचार।
थाके ज्ञानी मुनिवरहुँ, वेद न पावे पार ॥१३३॥

यस्य परिचयान्नेह भवबाधा प्रवर्तते।
तदर्थः सद्गुरोः शब्दः एकोऽपि वर्तते ह्यलम् ॥२०॥
एकस्मिन् हि गुरोः शब्दे सारे त्वोङ्कारनामके।
विचारो वर्ततेऽनन्तः स्वात्मनोऽथ परस्य च ॥२१॥
अतस्तस्मिन् हि शब्दे त्वमनन्तस्य परात्मनः।
विचारं कुरु येनाङ्ग! मुच्यसे भवबन्धनात् ॥२२॥
तत्रानन्तविचारे तु वेदाद्या मुनयस्तथा।
पारं न लेभिरे श्रान्ता निवृत्तास्ते ततोऽभवन् ॥२३॥
सत्यात्मनो विचारे तु कृते ज्ञानेन ते खलु।
सर्वं ज्ञात्वा विमुक्ताश्च लेभिरे निर्वृतिं पराम् ॥२४॥
यन्मूलाः सर्ववेदाश्च यन्मूलाः सर्वसृष्टयः।
तस्यानन्तविचारत्वे का कथा का चमत्कृतिः ॥२५॥१३३॥

उक्त परिचय के लिये गुरु (सबके पितामह) रूप देव (ईश्वर) श्रीब्रह्माजी का तथा सद्गुरु देव का एक ओङ्कार रूप शब्द सब शब्दों से श्रेष्ठ है कि जिसमें विश्व विराट्, तैजस, हिरण्यगर्भ, प्राज्ञ, ईश्वर और सर्वसाक्षी शुद्धात्मा रूप अनन्त वस्तु के अनन्त विचार वर्तमान हैं। अतः उसी द्वारा देश काल वस्तु कृत अन्त रहित अनन्तात्मा का विचार कर्तव्य है, उस अनन्त को विचारो। क्योंकि उसीमें अनन्तात्मा को विचारते में मुनिवर (श्रेष्ठ मुनिजन) थके हैं (अन्य विचार व्यवहार से उपरत हुए हैं) और वेद भी उसके विचार के पार (अन्त) नहीं पाते हैं, तब "को अद्धा वेद, नेति नेति" इत्यादि कहते हैं। अर्थात् गुरुदेव के एक ही शब्द में आत्म-अनात्मा एक अनेकादि

सबके विचार सूक्ष्म रूप से वर्तमान है। तहाँ अनेक अनात्मा के विचार से सब थकते हैं, पार नहीं पाते हैं। तब उपरत होकर एकात्मा के विचार से ज्ञानी होकर निर्द्वन्द्व मुक्त होते हैं ॥ १३३ ॥

राउर के पिछुआरे, गावहिं चारो सैन।
जीव परा बहु लूट में, नहिं कछु लेन न दैन ॥१३४॥

यज्ज्ञानात्सर्वविज्ञत्वं यस्य ज्ञानाद्विमुक्तता।
सर्वश्रेष्ठस्य राज्ञोऽस्य पुरी याऽस्ति ह्युरः स्थलम् ॥२६॥
पृष्ठभागे स्थितास्तस्या वेदाः सर्वेऽपि तं प्रभुम्।
परोक्षत्वेन गायन्ति कर्मणां प्रतिपादकाः ॥२७॥
इङ्गितं कुर्वते वेदा जानन्ति जन्तवो न तत्।
कामादिभिर्विमथ्यन्ते लभन्तेऽतो न किञ्चन ॥२८॥
परोक्षरूपेण हि यं वदन्ति, वेदास्तपांस्येव यमुद्गिरन्ति।
एकं ह्यलब्ध्वा तमनन्तरूपं, विमथ्यतेऽयं खलु जीवसङ्घः ॥२९॥
इच्छन्त्यनेकं न सदेकमव्ययं, नास्ति त्वनेके खलु सत्यता क्वचित्।
लब्धोऽप्यनेको भवति ह्यलब्धवत्, दत्तस्त्वदत्तेन समो विनाशतः॥३०॥१३४॥

इति साक्षिसाक्षात्कारे समतत्त्वोपलब्धि विनासंसृतिवर्णनं
नाम चतुर्विंशी वित्तिः ॥ २४ ॥

गुरुदेव का एक शब्द और "तत्त्वमसि, अहं ब्रह्मास्मि, अयमात्मा ब्रह्म" इत्यादि महावाक्यादि जिसको अपरोक्ष आत्मस्वरूप बताते = कहते हैं। उसी राउर (उरवासी राजा, सर्वश्रेष्ठ स्वामी) को कर्मकाण्डादि रूप चारो वेद भी पिछुआरे से (देव अग्नि सूर्यादि रूप से, परोक्ष रूप से) सैन गाते हैं (इशारा करते हैं) संकेत से समझाते हैं। अतः कहा गया है कि "सर्वे वेदायत्पदमामनन्ति"। परन्तु उन सैनों को समझने के बिना जीव बहुत लूट में पड़ा है, कामादि से लूटा जा रहा है तथा स्वयं मिथ्या बहुत पदार्थों के लूट में (प्राप्त करने में) स्वप्न के समान पड़ा (लगा) है। परन्तु संसार के स्वप्न तुल्य होने से सच्चा कुछ लेन-देन नहीं है ॥ १३४ ॥

अथ आत्मानुभवसे भयनिवृत्ति प्रकरण २५

चौगोड़ा के देखते, व्याधा भागा जाय।
एक अचम्भा देखिया, मुवा काल को खाय ॥१३५॥

विश्व तैजसयोस्तद्वत्प्राज्ञस्य च साक्षिणः।
विवेकेन परिज्ञाने सायन्ते सर्वशत्रवः॥ १ ॥
चतुष्पादोऽयमात्मा चेत्साक्षादेवानुभूयते।
तदा सर्वाभिमानादेः कामादेश्च लयो भवेत्॥ २ ॥
अभिमित्याद्यभावाच्च मृतवद्यो भवेन्मुनिः।
तेनैव नाश्यते कालो महाश्चर्यमिदं खलु॥ ३ ॥
यस्य नाहङ्कृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
स महाविजयी लोके नान्योऽस्ति बलवांस्ततः॥ ४ ॥१३५॥

वेदके सैन को समझे बिना तो जीव काल-कामादिसे लूटे जाते हैं। परन्तु चौगोड़ा (विश्वादि चार पादयुक्त) आत्मा को, चार अन्तःकरणोपहित रूप से देखते (जानते) ही तथा "पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि। ऋग्वेद मं० १०।७।६०" इन चार पादों सहित परमात्मदेव को देखते ही काल-कामादिरूप सब व्याधा (हिंसक लुटेरे) भाग जाते हैं। और एक आश्चर्य देखा जाता है कि जो महापुरुष अभिमानादि को त्यागने से मृतक तुल्य हो जाते हैं, सोई मुवा पुरुष काल को भी खाते (नष्ट करते) हैं, काल के भयादि से रहित होते हैं। अतः काल-भयादि से रहित होने के लिये चतुष्पाद आत्मा के अनुभव करके अभिमानादि त्यक्तव्य हैं॥ १३५॥

तीनि लोक चोरी भई, सर्वस सबका लीन्ह।
बिना मूड़ का चोरवा, परा न काहू चीन्ह॥१३६॥

ज्ञानं विना त्रिलोक्यां वै चौर्यं जातं सुवस्तुनः।
सर्वेषां शुभसर्वस्वं मोषित्वाऽऽदत्तवान् खलः॥ ५ ॥
मनोमायाख्यचौरो हि निःशिरस्कस्त्वचेतनः।
कुरुते सततं चौर्यं परिज्ञातो न केनचित्॥ ६ ॥
स्वयं स सत्तया हीन आत्मनः सत्तया च सन्।
चिदिवाभाति तेनासौ स्वरूपेण न लक्ष्यते॥ ७ ॥

सैन के ज्ञान बिना तीनों लोक में चोरी हुई। मनमाया कामादिरूप चोरों ने सबके ज्ञान-ध्यान सुखशान्ति आदि सर्वस्व को हर लिया और वे चोर शिर रहित धड़ (देह) के समान स्वतन्त्र सत्ता रहित हैं। अतः किसी को चीन्ह नहीं पड़े (असत्यादिरूप से किसी के समझ में नहीं आये)। अतः उन्हें सत्य-सुखादि मानकर स्वयं सब उनसे ठगा गये॥ १३६॥

चलती चक्की देखि के, नयनन आया रोय।
दोय पट्ट के अन्तरे, सालिम गया न कोय ॥१३७॥

चोरैः प्रवर्तिता चात्र लोकद्वन्द्वादिरूपिणी।
पेषिणी चञ्चला नित्यं धावते भयकारिणी ॥ ८ ॥
घूर्णमानां विलोक्यैतां नेत्रेष्वस्तु प्रवर्तते।
दलयोरन्तरे ह्यस्या आगतो न सुखी गतः ॥ ९ ॥
चूर्णिता जन्तवः सर्वे रुदन्ते विह्वलास्तथा।
अखण्डं सत्सुखं नैव लभन्ते मोहिता मुहुः ॥१०॥
ये तु मोहै र्विनिर्मुक्ता अभिमानादिवर्जिताः।
त एव चेह मोदन्ते जीवन्तोऽपि महाधियः ॥११॥१३७॥

पुण्य, पाप, सुख, दुःख, जन्म, मरण, लोक, परलोकादिरूप द्वन्द्वात्मकः कालचक्ररूप चलती हुई चक्की को देखकर नेत्रों में अश्रु रुलाई आती है। क्योंकि द्वन्द्वरूप दो पट्टों (दलों) के अन्तर (मध्य) में आकर कोई भी सालिम (साबित = सकुशल) नहीं गये। किन्तु सब अज्ञ अभिमानी पिसाते रोते आये और गये। अतः देखनेवाले को भी रुलाई आती है, तहाँ पूर्ण साबित पद की प्राप्ति के लिये अद्वैतात्म ज्ञान द्वारा द्वन्द्व रहित होना चाहिये। क्योंकि—"पुण्य पाप दो चक्की कहिये, खूँटा द्वैत लगाया है। तेहि चक्की तर सबे पिसाने, सुर नर मुनि न बचाया है ॥१॥ चक्की चली जो राम की, पीसा सब जग झार। कहहिं कबीर ते ऊबरे, खूँटा दिया उखार ॥२॥" ॥१३७॥

चार चोर चोरी चले, पगु पनही उतारि।
चारो दर थूनी हरी, पण्डित करहु विचारि ॥१३८॥

येहि द्वन्द्वैः पराभूतास्तदन्तःकरणानि वै।
भवन्ति चतुराश्चौराश्चत्वारो भयदायकाः ॥१२॥
ते विवेकादिकां पादूं त्यक्त्वा यन्ति कुवर्त्मनि।
शनकै र्विषये येन सर्वस्वं प्रविलीयते ॥१३॥
अतस्तत्र निजात्मानं हरिं स्थापय कीलकम्।
सद्गुरुं शरणं प्राप्य तद्विचारं कुरुष्व च ॥१४॥
अविचारे हि ते चौरा अण्डजादिषु योनिषु।
चतुर्षु पातयित्वा त्वां नाशयिष्यन्ति सर्वदा ॥१५॥

वेदाद्या अपि वै चौरा भवन्ति कामिनं प्रति ।
असुखे सुखबुद्धयाद्यै हरन्ति सुखमव्ययम् ॥१६॥
तेषां सारं हरिं ज्ञात्वा विश्वस्य चैकमाश्रयम् ।
विचारेण बुधो ह्यस्य मुच्यते भवबन्धनात् ॥१७॥१३८॥

द्वन्द्व द्वैत मोह काल में चार अन्तःकरण रूप चोर कामादियुक्त होकर जीव के ज्ञानादि की चोरी के लिये चले हैं। सो इन्द्रिय रूप पैर के रक्षक विवेक सत्कर्मादि रूप पनही (जूते) को उतार (त्याग) कर चोरी ही करने चले हैं कि जहाँ अद्वैत अपरोक्ष आत्मा (ब्रह्म) को गौणादि करके परोक्ष द्वैत स्वर्गादि को मुख्य ठहराते हैं। अतः हे पण्डितों ! (विवेकियों !) उन चारो दर (स्थानों) में से द्वैत रूप थूनी (खूँटा) को उखाड़ कर, तहाँ एक अद्वैत सर्वात्मारूप हरि को चारो खानि, चारो वेद, चारो अन्तःकरण में थूनी (कील स्तम्भ सर्वाधार) रूप समझकर, उसी अद्वैत हरि का विचार स्मरण ध्यानादि करो कि जिससे द्वन्द्वों के अभावपूर्वक शान्ति मुक्ति प्राप्त हो ॥१३८॥

बलिहारी वा दूध की, जामें निकरत घीव ।
आधी साखी कबिर की, चार वेद का जीव ॥१३९॥

विचारेण विशुद्धश्च दुग्धतुल्यं स्वभावतः ।
तदन्तःकरणं धन्यं यत्रात्मा लभ्यते घृतम् ॥१८॥
ओङ्कारस्यापि वाच्यश्च लक्ष्यश्च क्रमशः खलु ।
य एव वेदसारः स प्राणतुल्यः कलेवरे ॥१९॥
सद्गुरोः सम्मतश्चायमर्द्धवाक्यस्वरूपवान् ।
ओङ्कारः साक्षिरूपश्च साक्षाद्बोधस्य हेतुतः ॥२०॥
तदेव चान्तःकरणं हि धन्यं यत्रात्मदेवं लभते सुधन्यः ।
यस्यात्मनो ज्ञानबलेन सद्यो द्रवन्ति वै कालमुखाः किराताः ॥२१॥१३९॥

इति साक्षिसाक्षात्कारे स्वान्तःकरणसारानुभूत्या कालादिभयनिवृत्तिवर्णनं नाम पञ्चविंशी वित्तिः ॥ २५ ॥

जैसे उस दूध की बलिहारी है कि जिसमें से घीव निकलता है, वैसे उस शुद्ध अन्तःकरण और वेद की बलिहारी है कि जिसमें शुद्ध ओङ्कार ओङ्कारार्थ निकलता (प्रकट होता) है। क्योंकि श्रीकबीर गुरु की आधी साखी (अर्धवाक्य रूप ओङ्कार) ही चारो वेदों का जीव (प्राण, सार, मूल) है। यद्यपि "निगम रसाल चार फल लागा" इत्यादि पूर्ववर्णनके अनुसार सब वेदमें चारो पुरुषार्थों

का प्रतिपादन है, तथापि ओंकार वेदों में प्रधान है, ओंकारमात्र से भी शुद्धान्तःकरण में शुद्ध सर्वात्मा का अनुभव होता है। अतः वह प्रधान है ॥१३९॥

अथ सद्गुरु बिना कुवासनाविकारवर्णन प्रकरण २६

बलिहारी तिहि पुरुष की, परचित परखनहार।
साई दीन्हो खाँड़ के, खारी बोझु गमार ॥१४०॥

स सद्गुरु महाधन्यः शिष्यस्य हृदयं हि यः।
वेत्ति तस्यानुसारेण ददाति चोपदेशनम् ॥ १ ॥
परं चैतन्यमात्मानं वेत्ति यश्च हृदि स्थितम्।
स गुरुः परमो धन्यः शिष्यसंतापहारकः ॥ २ ॥
शिष्यस्य हृदयं यो न वेत्ति नैव विवेकवान्।
मिथ्योपदेशकत्वेन स मूढ इति कथ्यते ॥ ३ ॥
यथा खण्डप्रदानाय पुरा मूल्यं प्रगृह्य यः।
पश्चाद्ददाति पिण्याकं तादृशोऽयं गुरुः स्मृतः ॥ ४ ॥
मोक्षायाथ च बोधाय स्वोपहारं प्रगृह्य यः।
दत्ते मिथ्योपदेशं चेत् स मूर्खो न गुरु र्हितः ॥ ५ ॥
एवं गुरोः परिज्ञाता शिष्यो धन्यो न पामरः।
मोक्षाय प्राभृतं दत्त्वा हृदि क्षारं बिभर्ति यः ॥ ६ ॥१४०॥

उस सद्गुरुरूप पुरुष की बलिहारी (धन्यवाद) है कि जो पर (उत्तम) शिष्य के चित्त को परखने (जानने) वाले हैं, तथा अन्य के चित्त को समझने वाले हैं, चित्त के अनुसार अधिकार समझ कर उपदेशादि देने वाले हैं। या कार्य कारणादि से पर (भिन्न) चित (चेतनात्मा) को जो जानने वाले हैं, और ज्ञानाधिकारी को उस सत्यात्मा के उपदेश को देनेवाले हैं। उनकी बलिहारी है। परन्तु जिस पुरुष के प्रति शुद्ध शिष्य ने खाड़ (मोक्ष) के लिये साई (बयाना) तुल्य पूजा भेट दी, और वह गुरु उसके लिये यदि खारी बोझता है (अनात्मोपदेश देता है) तो वह गुरु गमार है। (खारी की सिद्धि के लिये खार मिट्टी को कोष्ठ में रख कर पानी दिया जाता है। उसको खारी बोझना कहते हैं) इसी प्रकार सद्गुरु सत्यात्मा को समझने वाला शिष्य धन्य है, और मोक्ष के साई देकर, खारी विषयादि के बोझ को मन पर लादने वाला गमार है ॥ १४० ॥

विष के बिरवे घर किया, रहा सर्प लपटाय ।
ताते जियरहिं डर भया, जागत रैनि बिहाय ॥१४१॥

अप्राप्त्या सद्गुरोश्चैव वञ्चकेन समागमात् ।
स्वतश्चैवाविवेकेन जीवोऽयं विषवृक्षकम् ॥ १ ॥
संसारं स्वशरीरं च गृहं सम्परिकल्प्य वै ।
नित्यमात्मगृहं शुद्धमधिष्ठानं न विन्दते ॥ ८ ॥
यं च वेत्तिगृहं तत्र कालो मनस्तथेन्द्रियम् ।
सर्पाः क्रूरा हि तिष्ठन्ति भयं तेभ्यो नृणांसदा ॥ ६ ॥
कालादिभ्योभयं चात्र बाधते सर्वदेहिनः ।
अतश्चविकलाः सर्वे जाग्रतो नन्वहर्निशम् ॥१०॥
लभन्ते शान्तिनिद्रां नो धावन्त्येव यतस्ततः ।
मोहनिद्रां परित्यज्याऽबोधरात्रिं विनाशय ॥११॥
ततो भयं न बाधेत शान्तिस्वप्नस्तदा भवेत् ।
एवं वै सद्गुरुः प्राह शिष्याणां हितकाङ्क्षया ॥१२॥१४१॥

उक्त गमार जीवों ने संसार और शरीररूप, विषय विषफलप्रद, विषवृक्ष को ही घर किया है (अपना आधार समझ कर इनमें आसक्त हुआ है) । अतः सर्वाधार आत्मारामको नहीं समझता है । उस घरमें विषय विषयुक्त मन इन्द्रिय और काल (मृत्यु) रूप सर्प लिपटाय रहे हैं (सर्वदा वर्तमान रहते हैं) इस कारण से उन जीवों को भय हुआ है, अविद्यादि से सदा मरने से डरते हैं । और भय के मारे चैन नहीं पाते हैं । गुरु का उपदेश है कि अज्ञान रूप रात्रि में मोहनिन्द से सोये रहने के कारण स्वप्नतुल्य मरणादि का भय होता है । अतः विवेक द्वारा जागते में अज्ञानरूप रात्रि को विहाय (त्याग) दो, नष्ट कर दो । और मोह भय रहित ज्ञानी सुखी होकर योगनिन्द से प्रकाशमय स्वरूप में सोवो (मन को निज स्वरूप में स्थिर करो) । ॥१४१॥

जो घर हैगा सर्प का, सो घर साधु न होय ।
सकल सम्पदा ले गया, विषहर लागा सोय ॥१४२॥

सद्गुरोरुपदेशेन स्वत एव च साधवः ।
उक्ते सर्पयुते गेहे न तिष्ठन्ति कदाचन ॥१३॥
आसक्तेरभिमानस्य त्यागेन च पृथक् स्थिताः ।
तटस्था इव वर्तन्ते शरीरादिषु सत्स्वपि ॥१४॥

आत्मज्ञानशमादीनां सम्पत्तीनां गणान् हिते ।
समादाय पृथग् भूतास्तिष्ठन्ति विगतज्वराः ॥१५॥
अतस्तेषां कृते मन्त्रा गुरुभिर्ये समीरिताः ।
विषापहारकास्तेषां तिष्ठन्ति ते हृदि श्रिताः ॥१६॥
यदन्तः करणं मानाऽहङ्कारवासनाकुधाम् ।
सर्पाणां निलयंः शश्वत् तत्र साधु भवेन्नवा ॥१७॥
यतस्त एव सर्पा हि सर्वसम्पद्विनाशकाः ।
लग्ना यत्र कुतः सौख्यं कुतो मोक्षोऽत्र वा भवेत् ॥१८॥१४२॥

जो संसार शरीर रूप घर दुष्ट मन अहंकार कालादि रूप सर्प का वास स्थान तथा भक्ष्य है, उस घर में साधु (विवेकी) स्थिर आसक्त नहीं होते हैं। अतः वह साधु शम दमादि ज्ञान के साधन रूप सब सम्पत्ति को लेकर सर्प युक्त घर से बाहर गया, और आत्मनिष्ठ हुआ, और होता है, क्योंकि सोय= (उसको) विषहर (विषाकर्षक) वासना कामादि का नाशक गुरुमन्त्र लग गया। और जो कोई काल के घर से भगे नहीं, उनको उस घर में साधु (कुशल) नहीं होता है। क्योंकि उनको वह विषधर सर्प ही लग गया, उनकी सब सम्पत्ति को ले गया, अतः इस काल घर में बसना उचित नहीं है ॥१४२॥

घूँघुचो भर के बांये, उपिजु पसेरी आठ ।
डेरा परिया काल का, साँझ सकारे जात ॥१४३॥
मन भर के जो बोइये, घूँघुचो भर नहिं होय ।
कहा हमार मानै नहिं, अन्त हुं चला विगोय ॥१४४॥

वासनाबीजवापेन यदल्पं कर्म जायते ।
पुष्यत्येव मनस्तेन जन्मनस्ततिकारणम् ॥१९॥
गुञ्जामात्रस्य वापेन ह्यन्नं द्रोणचतुष्टयम् ।
भवेद्यथा तथा तेन प्राप्ता कालस्य संस्थितिः ॥२०॥१४३॥
वासनाबीजवैधूर्ये बहु कर्म कृतं यदि ।
न पुष्यति मनस्तेन न च जन्मतति र्भवेत् ॥२१॥
भृष्ट बीजस्य वापेन मनकस्यापि नान्नकम् ।
जायते कृष्णलामात्रं तथैवात्र विनिश्चिनु ॥२२॥
वासना मृत्युरुद्दिष्टा सा नश्यति विवेकतः ।
ज्ञानाभ्यासेन वैराग्यादित्यादिगुरुदेशना ॥२३॥

इत्थं सत्योपदेशो हि श्रूयते नैव कैरपि।
तस्मात्सर्वं विलोप्यात्र ह्यन्ते गच्छन्ति मानवाः ॥२४॥१४४॥

जिसकी सम्पत्ति को कामादि सर्प नष्ट कर देते हैं, वह कामी यदि घुँघुची (गुञ्जा = करजनी) भर बीज बोता है (वासना कामादियुक्त स्वल्प भी कर्मादि करता है) तो आठ पसेरी उपजता है (सदा मन बढ़ता पुष्ट होता है) तथा पाँच तत्त्व त्रिगुणमय शरीर, पुर्यष्टक, प्रकृत्यष्टकमय संसार बार-बार प्राप्त होता है कि जिससे काल का डेरा पड़ा रहता है और वह जीव साँझ-सबेरे सदा काल के वश में जाता है। अतः काल वशता से रहित होने के लिये कामादि सर्वथा त्याज्य है ॥१४३॥ क्योंकि कामादि से रहित होकर, वासनादि रहित मन के द्वारा (भूना हुआ बीज तुल्य) यदि सब विहित कर्मादिरूप बीज विधि गुरु वचन के अनुसार मन भर (यथेष्ट) बोये (किये) जायँ, तो भी उनसे बन्धनप्रद अदृष्ट वासना घुँघुची भर (कुछ) भी नहीं होते हैं। परन्तु अविवेकी गमार हमारा (गुरु सतशास्त्र का) कहा (उपदेश) को नहीं मानते हैं (कर्मफलाशा हिंसादि को नहीं त्यागते हैं)। अतः जीवनकाल में कष्ट सहते हैं। अन्त में सब सम्पत्ति ज्ञानादि को गमाकर चौरासीलक्ष योनियों में चलते हैं, स्थिति नहीं पाते हैं। क्योंकि ज्ञानयुक्त निष्कामता से ही स्थिति होती है, अतः सो कर्तव्य है ॥ १४४ ॥

गुरु की भेली जिव डरै, काया सींचनहार।
कुमति कमाई मन बसै, लागि जुआ की लार ॥१४५॥

शरीरपोषणे सक्तो गुरो मधुरवाक्यतः।
तदीयशरणप्राप्ते विभेतिस्वाविवेकतः ॥२५॥
श्रवणादेरभावेन धर्मबुद्ध्याद्यभावतः।
अन्यायेन धनार्थं च मनोऽप्यस्य प्रवर्तते ॥२६॥
ततः कितवतां प्राप्य द्यूतार्थं यततेऽनिशम्।
कुकर्मसु प्रवृत्तौ च वर्द्धते हृदये तमः ॥२७॥
कुसङ्गमाद्यो गुरुवाक्यभीतो निषेवते संसृतिवृक्षमूलम्।
स वासनासन्ततिजे विरूढे तमोव्रजे नश्यति वै विमूढः ॥२८॥१४५॥

इति साक्षिसाक्षात्कारे सद्गुरुं विना कुवासनाविकारवर्णनं
नाम षड्विंशी वित्तिः ॥ २६ ॥

गुड़ की भेली (लड्डू) तुल्य गुरु की भेली (मीठी मधुर बात) से तथा गुरु की शरणागति सङ्ग सेवा से भी जीव (मूढ मनुष्य) डरता है। और काया

(देह) रूप क्षेत्र को विषयवारि से सीचनहार हुआ है। और देह के लिये कुबुद्धि से = अन्याय से भी कमाई (द्रव्योपार्जन) में इस अज्ञ का मन बसता है। अतः महा व्यसन पापरूप जूआ की भी इसको लार (लाग आदत) लगी है। तो वह गुरु के कहा को कब मान सकता है। परन्तु ऋग्वेद का वचन है कि "अक्षैर्मादीव्यः कृषिमित् कृषस्व वित्तेरमस्व बहुमन्य मानः" हे कितव! मेरी बात को बहुत मानता हुआ पाशा से जूआ नहीं खेलो, खेती ही करो न्याय से प्राप्तधन से सन्तुष्ट रहो, इत्यादि, इसको भी नहीं मानता है ॥१४५॥

अथ तामस मनोमायात्याग प्र० २७

तामस केरे तीन गुण, भँवर लेहि तहँ वास।
एकहि डारी तीन फल, भाँटा ऊँख कपास ॥१४६॥

तमसोऽतिविवृद्धौ हि त्यक्तसर्वविचारणाः।
जीव भृङ्गा महा मूढाः शब्दादि रसलोभिनः ॥१॥
तामसे प्राकृते कार्ये निवसन्ति फलेच्छया।
तस्मिंस्तमः प्रधाने तु त्रिगुणे त्रिविधं फलम् ॥२॥
लभन्ते हीक्षुवृन्ताककार्पाससदृशं सदा।
न तु निर्गुणमत्यच्छं स्वानन्दं तत्र वासतः ॥३॥
तामसादिप्रभेदेन भिन्नं तत्सकलं फलम्।
वर्तते ह्येकशाखायां त्रिलोक्यां जायतेऽनृतम् ॥४॥
श्रवणे गुरुवाक्यस्य विचारादौ कृते सति।
फलं हि निर्गुणं नित्यं लभ्यते नान्यथा क्वचित् ॥५॥१४६॥

शुद्ध सत्त्व प्रधान माया ईश्वर की उपाधि होती है, उसमें प्रतिबिम्बित ब्रह्म ईश्वर कहा जाता है, मलिन सत्त्ववाली अविद्या जीव की उपाधि है, उसमें प्रतिविम्बित (अभिव्यक्त= आभासरूप) ब्रह्म जीव कहा जाता है। और तमः प्रधान तामस (तामसी) माया से भूत भौतिक जड़ संसार उत्पन्न होता है, तहाँ तमोगुण के प्रधान रहते भी उसमें तीनों गुण वर्तमान रहते हैं। अतः श्री कबीर साहब कहते हैं कि तामस (तमः प्रधान) तामसी प्रकृति=उपादान कारण रूप माया के कार्य तीन गुण (त्रिगुणमय) शब्दादि विषय और भूत

१ द्यूतो धनव्ययकरः पापभूतो महाखलः। व्यभिचारस्तथा चौर्यं निर्दयत्वमतो भवेत्। भविष्य पु० प० ३ अ० २१।६॥ खल = दुष्ट अधम।

भौतिक संसार कारणानुरूप होता है। तहाँ अज्ञ जीवरूप भँवरा वास लेता है, बसता है, और उसके स्वाद लेता है, उसको भोगता है और कामान्ध रहता है, तहाँ प्रकृतिरूप (मायात्मक) वृक्ष के एक तामस डार (शाखा) में ही, भाँटा, ऊँख, कपास, तुल्य तामस, राजस, सात्त्विक तीनों फल, तथा अर्थ धर्म, काम रूप तीनों फल लगते हैं। (प्राप्त होते हैं) त्रिगुण से परमोक्ष फल वासना कामादि रहित गुणातीत ज्ञानी को मिलता है, अन्य को नहीं ॥१४६॥

मन मसलन्द गयन्द है, मनसा भयो सचान ।
यन्त्र मन्त्र मानै नहीं, उड़ि उड़ि लागै खान ॥१४७॥

अश्रुतौ गुरुवाक्यस्य विचारे चाकृते सति ।
विषयादौ समासक्तं मनो मत्तमतङ्गजः ॥६॥
कामै र्मनोरथैः पक्षैः पक्षित्वं श्येननामकम् ।
अनुगम्य फलं भुङ्क्ते त्रिगुणं न ततः परम् ॥७॥
उड्डीयोड्डीय भुञ्जानः सदा भोगैर्वशीकृतः ।
वृत्त्या चलति शश्वत्स गुरुमन्त्रं शृणोति न ॥८॥१४७॥

विषयासक्त मन मसलन्द (उन्मत्त) गयन्द (गजेन्द्र हाथी) है। सो मनसा (मनोरथ=काम) से सचान (बाजपक्षी) हुआ है। अतः मतवाला और उड़ाकू होने के कारण सदुपदेशादि रूपयन्त्र मन्त्र को वह नहीं मानता है। आत्मनिष्ठ स्थिर नहीं होता है, किन्तु उड़-उड़ कर उन तीन फलों को खाने भोगने में ही लगता है (प्रवृत्त) होता है ॥१४७॥

मन गयन्द मानै नहीं, चलै सुरति के साथ ।
महावत बिचारा क्या करे, जो अङ्कुश नहिं हाथ ॥१४८॥

यदा मनो गजेन्द्रो न गुरुमन्त्रं प्रमन्यते ।
विवेकाद्यङ्कुशो नास्ति तदा जीवः करोतु किम् ॥ ९ ॥
मनसा सपराभूतस्तामस्या मायया हृतः ।
कृतकार्योऽनुवेलं स धावते भोगलालसः ॥१०॥१४८॥

मन रूप गयन्द (हाथी) जब उपदेशादि रूप यन्त्र मन्त्र को नहीं मानता है, तब मस्त होकर सुरति (कामादि रूप वृत्ति=विषय प्रीति) के साथ (सहित) उक्त तीनों लफों को भोगने के लिये चलता है (आत्म प्रीति आदि को त्याग— देता है) तो उस अवस्था में यदि विवेक विराग विज्ञानादि रूप अंकुश बुद्धि जीव रूप महावत के हाथ (वश) में नहीं हो, तो वह क्या विचार कर

सकता है। या वह बेचारा (दीन) महावत क्या कर सकता है। अतः मन इन्द्रिय को वश में रखने के लिये विवेकादि का सम्पादन कर्तव्य है ॥१४८॥

ई माया है चूहड़ी, औ चुहड़े की जोय।
बाप पूत अरुझावई, सङ्ग न काहुक होय ॥१४९॥

माया चेयं महाचण्डी चाण्डाली तामसी मता।
कामिनः क्रूरचित्तस्य चाण्डालस्य प्रिया हि सा ॥११॥
योधयित्वा पितापुत्रावप्येषा काम चारिणी।
सर्वांस्तान् वञ्चयित्वाऽन्ते न केन सहगामिनी ॥१२॥
तमो विवृद्धौ खलु बाधते भृशं मनोगजेन्द्रस्तमसा वशीकृतः।
स मायया चैव सदा तिरस्कृतश्चिरायदुःखस्य भवेद्धि भाजनम् ॥१३॥१४९॥

ई (यह) तामसी माया चूहड़ी (डोमिन भंगिन तुल्य चाण्डाली) अपवित्र है। चुहड़े की जोय (जाया भोग्या स्त्री) है। और पिता पुत्र को भी परस्पर अरुझाती (लड़ाती) है। ईश्वर जीव को भी अरुझाती है, ईश्वर को जीव के साथ सङ्ग कराती है। अन्त में किसी के सङ्ग में नहीं होती है। तथा अन्तिम ज्ञानावस्था में ईश्वर के समान किसी जीव के साथ भी इसका सम्बन्ध नहीं रहता है। अतः "कहहिं कबिर तेइ छूत विवर्जित, जाके संग न माया" मायाके सङ्गसे रहित यह जीव छूत रहित पवित्र मुक्त हो जाता है।१४९।

कनक कामिनी देखि के, तूँ मति भूल सुरंग।
मिलन बिछुरन दुहेलरा, केंचुलि तजै भुवंग ॥१५०॥

उक्तं बुद्ध्वा महासत्त्व ! तत्त्वमालोक्य युक्तितः।
हिरण्यप्रभृतिं दृष्ट्वा तथा च कामुकीं स्त्रियम् ॥१४॥
सर्वं मायामयं ज्ञात्वाऽपवित्रं चातिदुःखदम्।
भ्रमितव्यंत्वया नैव सुख बुद्ध्या कदाचन ॥१५॥
सर्पः स्वकञ्चुकं त्यक्त्वा यथोदास्ते सदा ततः।
तथैव भवताऽप्यत्र वर्तितव्यं न चान्यथा ॥१६॥
सम्बन्धे हि महद्दुःखं भ्रमोन्मादादिलक्षणम्।
चौराद्यैरपहारेण वियोगे तु ततोऽधिकम् ॥१७॥
कान्ताकटाक्षदृक्पातैः क्षिणोति हृदयं क्षुरैः।
क्षमाशमादयो जातु न जाने क्व क्षयन्ति हि ॥१८॥

मध्वाक्षीमधुरालापैरुन्मत्तमतिचेतसाम् ।
तस्या वियोगजं दुःखं योगी कोवेत्तुमर्हति ॥१९॥
उष्णो दहति वै वह्निः शीतः कृष्णायते करम् ।
तथैव विषयाः सर्वे पीडयन्ति सदा नरम् ॥२०॥
उदासीना विवेकेन सदा स्वस्था गतव्यथाः ।
न मिलन्ति त्यजन्तीत्थं जीवन्मुक्ता भवन्ति ते ॥२१॥
नैतस्मादेव लोकात्तु ब्रह्मलोकसुखादपि ।
वैराग्यमधिगम्यैव परं ब्रह्माधिगम्यते ॥२२॥१५०॥

उपदेश है कि हे सुरङ्ग (सुन्दर विवेक वाले !) कनक कामिनी आदि मायिक वस्तु को देख कर नहीं भूलो (इनमें सत्यादि बुद्धि से काम लोभादि युक्त होकर विवेकादि रहित नहीं होवो) समझो कि मायिक अपवित्र वस्तु मिलन बिछुरन दोनों काल में, दुहेलरा (कठिन दुःखप्रद) हैं, जैसे केंचुली के रहते और तजते समय भुवंग (सर्प) को कष्ट होता है। केंचुली से आँख के ढंपे रहने से साफ सर्प को सूझता नहीं है, त्यागने पर प्रथम कोमल शरीर में कष्ट होता है, तैसे कनकादि के सङ्ग से अज्ञ अविवेकी मनुष्य मदान्ध कामान्ध होता है। विरागादि के बिना प्राप्त कनकादि के नाश अपहरणादि से महा दुःखी होता है। अतः जैसे सर्प केंचुली को त्याग कर उससे उदासीन हो जाता है, तैसे हे सुरंग ! शरीरादि कनकादि के अभिमान सङ्गादि को त्याग कर; मिलन बिछुरन दु (दोनों) को लरा (त्यागो) उदासीन आत्मनिष्ठ ज्ञानी होवो, तभी सुखी मुक्त पवित्र होगे। तथा मिलन बिछुरन दोनों हेलरा (हेय दुःखद) हैं इस बुद्धि से उदासीन होने पर सुखी होगे, अन्यथा नहीं ॥१५०॥

माया के वशी सब परे, ब्रह्मा विष्णु महेश ।
सनक सनन्दन नारदहुँ, गौरी पुत गणेश ॥१५१॥

ब्रह्मविष्णुहरास्तद्वत्सनकश्च सनन्दनः ।
गणेशो नारदाद्याश्च सर्वे देवगणास्तथा ॥२३॥
यावत्स्वस्वाधिकारं तेऽतिवर्तन्ते न शाम्बरीम् ।
अतो मायावशे सर्वे नैव ध्येया मुमुक्षुभिः ॥२४॥
पूर्वजन्मनि काम्येन कृतेन निजकर्मणा ।
भवन्ति देवता मर्त्याः पूज्या मान्या भवन्ति हि ॥२५॥
तत्र केचिद् विवेकेन ज्ञानान्मुक्ता भवन्त्यपि ।
अन्ये संसारिणः सर्वे देवा अपि न संशयः ॥२६॥

अतोऽत्र देवभावाय कर्तव्यं न मुमुक्षुभिः ।
देवानपि स्त्रियो ज्ञात्वा क्रीडामृगवशंवदान् ॥२७॥
"देवा देववधूवक्त्रमद्यपानविमोहिताः ।
जानन्तोऽपि न जानन्ति मद्यपा इव भूमिगाः ॥२८॥
मायाया वा वशे भूत्वा ब्रह्माद्याः सनकादयः ।
सर्वे पश्चात्परं तत्त्वं तत्त्यागेनैव लेभिरे ॥२९॥
तस्मात्त्वयापि तत् त्यागः कर्तव्यः सुखमिच्छता ।
अथवाऽभ्युपगमेनेदं गुरुभिः सर्वमुच्यते ॥३०॥१५१॥

यदि कहो कि मैं माया के वश हूँ उदासीन कैसे हो सकता हूँ, तो सुनो, प्रथम माया के वश में सब ज्ञानी पड़े हैं। तभी तो पीछे मुक्त हुए हैं, क्योंकि बन्धन के बिना मुक्ति ही असिद्ध है, कैमुतिक न्याय से कहते हैं कि ब्रह्मा विष्णु, महेश, सनक, सनन्दन, नारद, पार्वती के पुत्र गणेश आदि भी प्रथम माया के वश में पड़कर (मोहादि युक्त होकर) फिर तप आदि से ज्ञान पाये हैं। तो तुम्हारी कथा ही क्या है। परन्तु वे सब भूल को त्यागकर सुखी हुए हैं। तैसे तुम भी होवो। ब्रह्मा आदि की विभूति सिद्धि आदि को मायामय मिथ्या जान कर उनकी इच्छा आदि नहीं करो, वे सब भी प्रारब्ध कर्म के वश में पड़े है। ऐसा समझो, इत्यादि ॥१५२॥

तन संशय मन स्वनहा, काल अहेरी नीत ।
एकहि डाँग बसेड़वा, कुशल पुछहु का मीत ॥१५२॥

सर्वेषां हि शरीराणि संशयैः पूरतानि च ।
अविवेकदशासत्त्वे नश्वराणिस्वतस्तथा ॥३१॥
स्वरूपेणापवित्राणि मनः श्वा तत्र तिष्ठति ।
कालश्च लुब्धको नित्यं छिद्राऽन्वेषणतत्परः ॥३२॥
एवं सति च देवेषु कं विशेषं विलोक्य वै ।
तत्र त्वं कुशलं वुद्ध्वा साधनं परिपृच्छसि ॥३३॥
संसारविपिने वासो देवानामपि वा तव ।
यावद्वै विद्यते विद्धंस्तावद् भव्यं भवेत् कुतः ॥३४॥१५२।

यदि तुम ब्रह्मा आदि के कुशल पूछो, और उसको प्राप्त करना चाहो तो सुनो "मन माया की कोठरी, तन संशय का कोट" इस उक्त रीति से अज्ञान काल में सबका तन (देह) संशय का खजाना है। तथा संशयग्रस्त विनश्वर

है। अशुद्ध मन सर्वत्र कुत्ता तुल्य अशुद्ध भोग परायण होता है, और सर्वत्र सदा काल अहेरी रहता है। और एक ही डाँग में (संसार बन में या पर्वत पर) सबका बसेड़ा (बास) है। तो हे मित्र! इस दशा में कहाँ का कौन कुशल पूछते हो। अज्ञान मोह देहाभिमानादि दशा में सर्वत्र अकुशल दुःख ही है। अतः ज्ञानादि का सम्पादन करके असङ्ग होवो ॥१५२॥

साहु चोर चीन्है नहीं, अन्धा मति के हीन।
पारख बिना विनाश है, करु विचार ह्वै भीन ॥१५३॥

सद्गुरुं च निजात्मानं सत्पदं सत्यरूपिणम्।
विषयं वञ्चकं चैव सर्वस्वस्य विनाशकम् ॥३५॥
यः कामान्धोऽकृतप्रज्ञो विवेकेन न पश्यति।
स नश्यति सदा मूढो नैव रूढो निजात्मनि ॥३६॥
विज्ञानमन्तरा यस्मादन्तरायैर्विहन्यते।
तस्मात्सङ्गं परित्यज्य स्वात्मानं प्रविचारय ॥३७॥
विवेकाद् वञ्चकं त्यक्त्वा चित्तस्य रञ्जकं जनम्।
सद्गुरुं परमानन्दं सद्भक्तिं च समाश्रय ॥३८॥
सुवर्णकान्तादिमयीं हि केचिद् दृष्ट्वैव मायां परिमुग्धचित्ताः।
धूर्तान् गुरूँश्चापि हि मन्यमाना जना भ्रमन्तीति च पश्यतात्तान् ॥३९॥
अहिमिव जनयोगं सर्वदा वर्जयेद्यः,
कुणपमिव सुनारीं जातविद्यो विरागी।
उपरतियुत चेता मानदम्भादि हीनः,
स हि भवति विमुक्तो जातु नेवेह रागी ॥४०॥१५३॥

इति साक्षिसाक्षात्कारे तामसमनोमायातत्त्यागवर्णनं नाम सप्तविंशी वित्तिः ॥ २७ ॥

अन्धा (अविवेकी) मति के हीन (भावी हित की बुद्धि रहित) वर्तमान विषय में आसक्त मनुष्य, सद्गुरु सन्त सत्यात्मा रूप साहु और वञ्चक कामादि रूप चोरों को विवेकपूर्वक नहीं चीन्हता है। अतः सार, असार, सन्त, असन्त, धर्म, अधर्मादि की पारख (विवेक ज्ञान) के बिना उनका विनाश होता है। तथा अपरोक्षात्मानुभव के बिना जन्म-मरणादि होते हैं। तुम विवेक ज्ञान द्वारा चोरों से भिन्न (पृथक्) होकर सत्सङ्गादिपूर्वक सत्यात्मा का विचार करो, असङ्ग आत्मनिष्ठ होवो तब काल विनाश से रहित होगे, माया मन के फन्दों से बचोगे ॥ १५३ ॥

अथ चित्तदर्पणकुशिष्य वर्णन प्र० २८

गुरु सिकलीगर करि लेहु, मनहि मसकला देइ।
शब्द छोलना छोलिके, चित्त दर्पण करि लेइ ॥१५४॥
चित दर्पण मन मसकला, कलमा कुलुफ लगाय।
ये अजीज माँजत रहू, मूर्चा लागि न जाय ॥१५५॥

चित्तदर्पणकारं त्वं गुरुं मत्वा मनः स्वयम्।
संविश्राणय तस्मै तत् सहायकरणाय हि ॥ १ ॥
सद्गुरोः शब्दशाणेन चित्तमति निकष्य वै।
अपविध्य मलं सर्वं दर्पणं तत् कुरुष्व च ॥ २ ॥१५४॥
मनसा गुरुशब्देन चित्तादर्शे सुसंस्कृते।
निभालयस्व चात्मानं तत्र स्वस्थः सदा प्रिय ! ॥ ३ ॥
उपनेत्रं गुरो मन्त्रं बुद्धि नेत्रे सदाऽर्पय।
यावन्न दृश्यते चात्मा मुकुरं तावदात्मनः॥
परिमार्जय येनायं मोहान्न मलिनायते ॥ ४ ॥१५५॥

उक्त पारखके लिये सद्गुरुको सिकलीगर कर लो (चित्त दर्पण के शोधन कर्तारूपसे गुरु को मानो) और अपने मन को गुरुकी आज्ञा में लगाओ, (गुरु के प्रति मन को प्रदान करो) कि जिससे गुरु उस मनपर मसकला (मल साफ करने के साधन) को दे सकें। अपने शब्दरूप छोलना (सान) से मलको छोल कर तेरे चित्त को दर्पण (शुद्ध) बना लें। "गुरु सिकलीगर कीजिये, शब्द मसकला देई। मनका मैल छोड़ाइके, चित्त दर्पण करि लेइ ॥१॥ सिख साँड़ा गुरु मसकला, चढ़े शब्द खरसान। शब्द सहै सनमुख रहै, निपजै शिष्य सुजान॥२॥ अंग की साखी॥" साँड़ा (खड्ग) खर (तीक्ष्ण) सुजान (ज्ञानी) निपजै। सिद्ध होता है ॥१५४॥ ये अजीज (हे प्यारे !) चित्त दर्पण में मनन रूप मन का मसकला लगाकर, और कलमा (गुरुमन्त्र) रूप कुलुफ (तालापेटी) लगाकर भी सदा उसको सत्सङ्गादि द्वारा माँजते रहो कि जिससे मोहरूप मूर्चा (काई) नहीं लग जाय। क्योंकि "नित की गुष्टी माया मोह टूटै" और माया मोह के टूटने से सदा सच्चिदानन्दस्वरूप का मान हो सो करो ॥१४४॥

गुरु वेचारा क्या करै, शिष्य ही में है चूक।
शब्द बाण वेधे नहीं, बास बजाये फूँक ॥१५६॥

दर्पत्यागेन शिष्यश्चेद्दर्पणं न विशोधयेत् ।
प्रमादाद् यदि वाऽऽलस्याद् गुरुस्तस्य करोतु किम् ॥४॥
वंशवाद्यं यथा वातै र्मुहुः शब्दायते स्वयम् ।
तथापि तत्र कश्चिन्न शब्दं स्थापयितुंक्षमः ॥६॥
तथैव स्वप्रमादादि युक्ते शून्ये बहिर्मुखे ।
शब्दं स्थापयितुं शक्तो गुरुर्यत्नशतै र्नहि ॥७॥
ये तु फल्गूपदेशेन जनान् वञ्चयितुं क्षमाः ।
ते कामं तादृशान् मूढान् वञ्चयन्तामहर्निशम् ॥८॥
योऽसमर्थो गुरुः शिष्यं योग्यं बोधयितुं तथा ।
स किं करिष्यति श्रेयः शब्दस्य श्रावणादृते ॥९॥१५६॥

यदि शिष्य में अनवधानता आदि रूप चूक (भूल) हो, उक्त उपदेश के अनुसार चित्त दर्पण को माँजता नहीं रहे, तो बेचारे दयालु गुरु ही क्या कर सकते हैं। क्योंकि मंजनादि रहित मलिन क्रूर हृदय वाले शिष्य में शब्द रूप बाण नहीं बेधता है तो जैसे बाँस की बाँसुरी फूंक से बजाई जाती है। परन्तु उसमें शब्द नहीं वेधता है, वैसा ही वह शिष्य है। यदि असमर्थ गुरु के अपराध से योग्य शिष्य में भी चूक है, तो बेचारा गुरु कर ही क्या सकता है, उसमें स्वयं सार शब्दरूप बाण नहीं बेधा है। अतः वह बाँसुरी बजाने के समान कान में फूंकता है। अतः कहा है कि "कनफुका गुरु हद्द का, वेहद का गुरु और। बेहदका गुरु जब मिलै, लहै ठिकाना ठौर ॥१॥ अंगकीसाखी"।१५६।

सब तरुवर तर जायके, सब फल लीन्हा चीख ।
कबीर फिरि फिरि माँगई, शब्दों ही का भीख ॥१५७॥
शब्द स्वरूपी ते भये, किया शब्द सो मेल ।
शब्द न चीन्है बावरा, फिरि फिरि खेलु अहेर ॥१५८॥

सर्वेषु तरुलोकेषु गामं गामं जनो मुहुः ।
योनिष्वपि च सर्वासु जनित्वाऽयं पुनः पुनः ॥१०॥
पुनरुक्तेन मुक्तानि विषयाँश्च फलानि वै ।
मूढो वाञ्छति फल्गूनि नैव हन्त महत् फलम् ॥११॥
विवेकिनो विचिन्त्यैवं विरक्ता भवसागरात् ।
सद्गुरोः शरणं प्राप्य सारब्दस्य भिक्षुकाः ॥
भवन्ति न च तेऽसारे संसारे संसरन्ति हि ॥१२॥१५७॥

यतोऽसारेण संसर्गादसारत्वं प्रपद्यते ।
सारेण खलु शब्देन सारत्वं सच्चिदात्मकम् ॥१३॥
सारशब्दाविवेकेन मूढा जन्मनि जन्मनि ।
असारे सार बुद्धयैव म्रियन्ते जननाय वै ॥१४॥१५८॥

जिसमें सार शब्द रूप बाण नहीं वेधा है, सो अज्ञ जीव सब लोक योनि देहादि रूप तरुवर (वृक्ष) तर जा-जा कर अनादि काल से अनन्तो वार सब फलों (भोगों) को चीख (भोग) लिया है। उन भोगों से कभी शान्ति तृप्ति नहीं हुई है, न होने का है, तो भी फिरि फिरि = बार बार, उन शब्दादि भोग्य वस्तु की ही देवादि से मोहादिवश यह जीव भिक्षा माँगता है, तृप्ति के उपाय नहीं करता है। और विवेकी लोग उनसे अतृप्ति जान कर सत्सङ्ग गुरुशरणादि में सार शब्द की भिक्षा सद्गुरु से माँगते हैं ॥१५७॥ जो लोग जैसे शब्द से मेल (प्रेम) किये, सो उस शब्द स्वरूपी तन्मय हो गये। अतः सार शब्द से मेलवाले सार (सत्य) स्वरूप मुक्त हो गये। किन्तु जो बावरा (अविवेकी) सार शब्द को नहीं चीन्हता है, वह बार बार असार शब्दादि के लिये अहेर खेलता है (व्यवहार करता है) और उसका काल अहेर करता है। अतः वह सुख शान्ति नहीं पाता है ॥१५८॥

मूरख को समुझावते, ज्ञान गाँठि का जाय ।
कोयला होय न ऊजरो, सौ मन साबुन लाय ॥१५९॥

मूर्खशिष्योपदेशेन ज्ञानं हृद्ग्रन्थिसञ्चितम् ।
अपयाति स शुद्धत्वं नैति यत्न शतैरपि ॥
यथा नेङ्गालकः क्वापिक्षारद्रव्यै र्विशुद्धयते ॥१५॥
ये हि मूढतमा लोका निकृष्टैराग्रहग्रहैः ।
गृहीता मानिनस्तेषु नोपदेशाः फलन्ति हि ॥१६॥
नो व्यापारशतेनापिह्यलातं श्वेततां व्रजेत् ।
नापि यत्न शतैः काकः शुकवत् पाठ्यते क्वचित् ।
यथाङ्गारः पुनर्दाहाद्विकाराच्छ्वेत्यते स्वयम् ।
जन्मान्तरं गतस्तद्वन्मूढोपि भोगतः क्वचित् ॥१८॥
शिष्यो भवेन्नैव समाहितश्चेद् विभिन्नचेता विषयेषु सक्तः ।
शश्वद्गृहीतो हि दुराग्रहैश्च नैवाऽत्र साध्यः स भवेत् कदाचित् ।१९।१५९

मूर्ख उक्त बावरे दुराग्रही ज्ञानाभिमानी के समझाने में गाँठी (हृदय) के तत्त्व ज्ञान का उपदेश व्यर्थ जाता है। क्योंकि वह अभिमानी बावरा

सदुपदेश से शुद्ध ज्ञानी नहीं हो सकता है। जैसे सौ मन साबुन लाय (लगाने) से भी कोयला उजला नहीं होता है। किन्तु जलकर राख होने पर उजला होता है, वैसे ही वह जीव पाप ताप को भोग कर कभी उजला हो सकता है। अन्यथा नहीं ॥ १५९ ॥

मूढ कर्मि मानै नहीं, नख शिख पाखण्ड आहिं।
बाह निहारा क्या करे, बाह न लागै ताहिं ॥१६०॥

पाषण्डै हृतबोधो यो नारोहेदिह कर्मठः।
शीघ्रगामिनि बोधाश्वे संसारवनवारके ॥२०॥
बुधाः किं तस्य कुर्वन्तु दयया प्रेरिता अपि।
तिष्ठतीह न यो मार्गे विपरीतगतिस्तु यः ॥२१॥
न स वर्षसहस्रान्ते गन्तव्यमधिगच्छति।
यस्तु प्राच्यां भवेद्यस्य प्रतीच्यां चेत्स गच्छति ॥२२॥
गमनाद् दूरता भूयो वर्द्धतेऽकर्मतस्तथा।
मोक्षो दूरतरं याति न पश्यन्ति विकर्मिणः ॥२३॥
मोहकवच संनद्धः कर्मकञ्चुकितोह्ययः।
वर्तते हृच्छिरो यस्य दर्पशीर्षकसंयुतम् ॥२४॥
तत्र वै सद्गुरो र्बाणाः सारशब्दमया अपि।
विशन्ति ज्ञान वैराग्यमहाशस्त्रधरस्य न ॥२५॥१६०॥

जिस मूढ कर्मी के नख से शिखा तक पाखण्ड (दम्भ वेषाभिमानादि) से भरा है सो यदि ज्ञानोपदेश को नहीं मानता है तो बाहनहार (बाहनेवाले) ज्ञानवाण चलानेवाले सत्य स्थानमें पहुँचानेवाले गुरु उसको कर ही क्या सकते हैं, कर्मों को भोगे बिना उसको किसी प्रकार से भी बाह (पता) नहीं लगता है कि मैं कौन हूँ, कहाँ क्यों जा रहा हूँ इत्यादि और उसके प्रति अन्य किसी की शक्ति भी कुछ काम नहीं कर सकती है ॥१६०॥

सीमर केरा सूगना, छिहुले बैठा जाय।
चोंच समारै शिर धुनै, ई उसही का भाय ॥१६१॥

शाल्मलिस्थः शुकः कश्चिद् गत्वा तस्य फलान्ति के।
शिरः कृत्वा तिरश्चीनं चञ्चुकं सन्दधाति च ॥२६॥
आनन्दोल्लसितश्चास्ते तस्य तत्त्वं न वेत्ति सः।
अतत्त्वज्ञास्तथैवैते मूढा सर्वेऽत्र कर्मिणः ॥२७॥

संसारशाल्मलेस्तुच्छफलायैवोल्लसन्ति चेत्।
कीराणांभ्रातरस्तेऽस्माद् गणनार्हा न मानुषे ॥२८॥
शाल्मलिस्थो यथा कीरो ह्यतृप्तस्तत्फलेन वा।
किंशुकं रसलोभेनपुनर्मूढो निषेवते ॥२९॥
तथैव कर्मठोऽप्यत्राऽतृप्तो विषयभोगतः।
लोकान्तरं पुन र्गत्वा विषयानेव सेवते ॥३०॥
तृप्तेरजनकत्वं तु नैव जानाति मूढधीः।
संसारशाल्मलिं चातः कीरवत्सेवते सदा ॥३१॥
धुनोति स्वशिरः कामान्मनोऽत्र संदधाति सः।
अतृप्त एव तेनापि याति कुत्रापि कीरवत् ॥३२॥१६१॥

जैसे सीमर के वृक्ष पर वसने वाला सूवा, उस सीमर के छिहुला (छीमी=फल) के पास में जा कर बैठता है, और उत्तम बड़ा फल समझ कर, खाने के लिये चोंच सम्हारता है, आनन्द से शिर धुनता (कपाता) है। वैसे ही मूढ कर्मी संसार सीमर पर बसता है, इसके फल स्वरूप कनक कामिनी आदि के पास में जा कर बैठता है, और आनन्द मानता है, क्योंकि ई (यह) भी उस अविवेकी सूवा का भाय (भाई) है। तथा सीमर पर वसने वाला सूवा को सीमर के फल से तृप्ति नहीं होने पर, यदि वह छिहुला (पलास) पर जाकर बैठा हो, तैसे मूढ लोग इस लोक में तृप्त नहीं होकर परलोक में जाकर बैठते हैं। परन्तु यह नहीं समझते हैं कि यह परलोक भी उस त्यक्त लोक का ही भाई है, उसके ही समान मिथ्या ही सुखद भासता है, ब्रह्मात्मा ही सत्य सुख स्वरूप है। अतः वही सेवनीय है, लोक परलोक विषयादि नहीं ॥१६१॥

सुगना सीमर सेइया, दो ढेंढ़ी की आश।
ढेंढ़ फुटी चनाकदे, सुगना चला निराश ॥१६२॥

फलद्वयाशया यद्वच्छाल्मलिंसेवते शुकः।
चणकृत्य हि तद्भङ्गे हताशो गच्छति क्वचित् ॥३३॥
कान्ताकनकयोस्तद्वदुभयो र्लोकयोस्तथा।
प्राप्त्यर्थं सेवते मूढोऽसुहितो हि जगत्तरुम् ॥३४॥
व्रजन् स जन्मनो जन्म निर्वृतिं लभते न च।
शोकाद्यैश्च परीताङ्गो नूनं याति हताशताम् ॥३५॥

मूढो नरो यस्तु शुकेन तुल्यः संसेवते शाल्मलितुल्यवल्गुम् ।
स वञ्चितः कर्मवशो विपन्नः शोच्यः सदा तं पुनराश्रयन्स्यात् ॥३६॥१६२

इति सक्षिसाक्षात्कारेचित्तदर्पणकुशिष्यादिवर्णनं नामाष्टाविंशी वित्तिः२८॥

जो अविवेकी सुगना तुल्य प्राणी लोक परलोक के भोग तथा कनक कामिनी (अर्थ काम) रूप दो ढेंढ़ी (फल) की आशा से संसार सीमर को सेवा सो उन फलों के अन्त में नष्ट होनेपर हताश हो कर चला और चलता है, जैसे सीमर की ढेंढी के पकनेपर, वह चन ऐसा शब्द करके फूटती है, तब सुगना निराश होकर चलता है, तैसे अविवेकी को अन्त में चलना होता है । अतः प्रथम ही विवेक से आशा तृष्णादि को त्यागना चाहिये । क्योंकि "आशाया हि ये दाशास्ते दाशाः सर्वलोकस्य । आशा दासी कृता येन तस्य दाशायते जगत् ॥१॥ महाभारत । आशा के जो दाश (वश) हुए, सो सब लोक के दास हो गये, और जिन्होंने आशा को दाशी किया (बस में किया= त्यागा) उनके दास तुल्य सब संसार आचरण करता है ॥१६२॥

अथ शद्धारणोपदेश प्र० २९

सुगना सीमर वेगि तजु, धनी विगूर्चन पाँख ।
ऐसा सीमर स सेवे, जाके हृदय न आँख ॥१६३॥

कृपाऽकूपारसंसारपरो वै सद्गुरुः सदा ।
संतापैः संपरीतान् हि दृष्ट्वा जीवान् सुविह्वलान् ॥ १ ॥
संसारदुःखशान्त्यर्थमनुत्तमसुखाप्तये ।
दयाज्ञानघनःशश्वत्सत्तत्त्वं प्राह सज्जनम् ॥ २ ॥
सुशीघ्रं त्यज कीरत्वं शाल्मलिं वर्तते घनः ।
सुस्निग्धः सुन्दरः पक्षः विवेकोऽक्षिबलं तथा ॥ ३ ॥
संसारशाल्मलिं सद्यस्त्यजातिनिरसं बुध ।
अत्रासक्ति र्न कर्तव्या कदापि जगति त्वया ॥ ४ ॥
एनं त्यक्त्वाऽभिगन्तुं ते बुद्धि र्वै वर्तते दृढा ।
कर्तुं शक्यो विवेकोऽपि प्रमादो न विधीयताम् ॥ ५ ॥
बुद्धिहीना विमूढा हि सेवनेऽस्याधिकारिणः ।
त्वं भव्यो न तथा धीमन् भाविनाशो विचिन्त्यताम् ॥६॥१६३॥

विवेकी के प्रति उपदेश है कि हे सुगना (विवेकी मनुष्य !) भावी शोक राहित्य के अधिकारी। तुम इस असार संसार सीमर को वेगि (शीघ्र) त्यागो (इसके फलादि की आशा आसक्ति से रहित होवो) नहीं तो तेरे मन बुद्धि पर घनी (भारी) विगुरचन (विपत्ति=कष्ट) प्राप्त होगा। जैसे कि सूवा के पाँख में सीमर की रूई के लिपट जाने से उसको घना बिगुरचन होता है। और ऐसे असार संसार सीमर को सोई सेवता है कि जिसके हृदय में विवेक रूप आँख नहीं रहती है, तुम विवेकी होकर इसको सेवनेयोग्य नहीं हो ॥ १६३ ॥

जानि बूझि जड़ ह्वै रहै, बल तजि निर्बल होय।
कहहिं कबिर ता सन्त के, पला न पकरे कोय ॥१६४॥

सङ्गं त्यक्त्वा ह्यमूढानां लोके मूढ इवाचरन्।
क्षमया च बलं त्यक्त्वा निर्द्वन्द्वं रमते बुधः ॥ ७ ॥
जानन्नपि च मेधावी जडवच्चरतीह यः।
बली निर्बलवच्चैव स नैवासज्जते क्वचित् ॥ ८ ॥
बुधोऽतो बालवत् क्रीडेत् कुशलो जडवच्चरेत्।
वदेदुन्मत्तविद्वान् गोचर्यां नैगमश्चरेत् ॥ ९ ॥
यो वा विश्वमसज्ज्ञात्वा पुनस्तत्रैव मज्जति।
विवेकादिस्वसामर्थ्यं त्यक्त्वा यश्चाऽबलायते ॥१०॥
सहतेन न गन्तव्यं श्रोतव्यं भाषितं नच।
कदापि तस्य भोः साधो ! नासौ तारयितुंक्षमः ॥११॥
ज्ञात्वापि विश्वंक्षणभंगुरं ये, बध्नन्ति चास्थां पुनरत्र मोहात्।
तत्सङ्गमान्नैव तरन्ति केऽपि, भवं ततस्ते न भवन्ति सेव्याः ॥१२॥१६४॥

जो विवेकी स्वयं जान बूझकर (पूछ समझ कर) अनधिकारी के आगे जड़ (अज्ञ) तुल्य होकर रहता है, आत्मचर्चा आदि नहीं करता है। और बल के रहते उसके अभिमान दुरुपयोग को त्याग कर निर्बल तुल्य निरभिमानी क्षमाशील रहता है। श्रीकबीर साहब कहते हैं कि उस सन्त के पला कोई नहीं पकड़ सकता है (संसार में पला = खूट पकर के बाहर भीतर के कोई शत्रु भी नहीं विलमा सकता है)। अतः वह आत्मसेवी मुक्त होता है, शास्त्र में भी उपदेश है कि "नापृष्टः कस्यचिद् ब्रूयान्न चान्यायेन पृच्छतः। जानन्नपि हि मेधावी जडवल्लोकमाचेत् ॥१॥" पूछने के बिना किसी से कुछ नहीं कहे, अन्याय से पूछने वाले से भी नहीं कहे, जानता हुआ बुद्धिमान् भी जड़तुल्य लोक में विचरे। परन्तु जो कोई कामी संसार को निरसादि जान कर, तथा

कर्तव्य साधनों को जानकर भी जड़तुल्य बने रहते हैं, बल रहते भी आलस्यादि से कर्तव्य को त्यागते हैं, उनके देवादि भी पक्ष नहीं पकड़ते हैं, कि जिन के भरोसे वे आलस्यादि करते हैं, पुरुषार्थी के ही सब सहायक होते है। अतः यथा शक्ति उचित पुरुषार्थ कर्तव्य है ॥ १६४ ॥

लोग भरोसे कौन के, बैठ रहे अरगाय।
जियरहि लूटत यम फिरै, मेढहि लुटै कसाय ॥१६५॥

अहो कस्याऽऽशया लोकास्तुष्णींभूय सदाऽऽसते।
स्वविचारं विना चैनान् को जनस्तारयिष्यति ॥१३॥
यो विचारं न कुरुते सङ्गंत्यक्त्वाऽतिदुर्मतिः।
विवेकं लभते नासौ सद्भक्तिं वा विरक्तताम् ॥१४॥
तं यमः कर्मठं मूढं निहन्यात्पुक्कसो यथा।
मेषं हन्त्यविचारेण क्रूरश्चाहोदयां विना ॥१५॥
त्राणे देवा न वै शक्ता नेश्वराः सचराऽचराः।
मूढस्तथापि लोकोऽयं ह्याशया कस्यतिष्ठति ॥१६॥
"उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मन" ॥१७॥
एवं न बालिशो वेत्ति ततो नश्यति चाशया।
आशानिर्मूलनं कृत्वा बुधस्तु मोदते सदा ॥१८॥१६५॥

उक्त रीति से अपने पुरुषार्थ के विना कोई फल नहीं मिलता है, तो भी न मालूम लोग किसके भरोसे अरगाय कर (चुप लगाकर) वैठे हैं। किसी से कोई गन्तव्य मार्गादि पूछते नहीं हैं, न स्वयं विचारादि पुरुषार्थ करते हैं, और अपने पुरुषार्थ के बिना अज्ञ जीवों को यम इस प्रकार से लूटते (नष्ट करते कष्ट देते) फिरता है कि जैसे मेष (भेंड़ों) को कसाई लूटते हैं। अतः इस अवस्था में चुप लगाकर बैठना उचित नहीं है, भावी यम यातनादि से बँचने के लिये यत्न करना उचित है शास्त्र कहता है कि "हेयं दुःखमनागतम्"॥१६५॥

हीरा सोइ सराहिये, सहै घनहुं की चोट।
कपट कुरङ्गी मानवा, परखत निकला खोंट ॥१६६॥

विनश्वरा हि सर्वेऽमी देवाद्याः सचराचराः।
हीरका न भवन्त्येते स्वात्मैव हीरकोऽमलः ॥१९॥

हतो घनेन हीरो यो भिद्यते न कदाचन।
लोके सैव भवेच्छ्लाघ्यो भिदायां न भवेद्यथा ॥२०॥
तथाऽभेद्यश्च निर्बाधस्तर्ककर्कशयुक्तिभिः।
कालस्यापि हि कालत्वादात्मत्वादपि च स्वयम् ॥२१॥
अनर्घरत्नमेवासौ श्लाघ्यो नान्यो हि सज्जनैः।
त्रिगुणो बाधितो भावो मायया रचितो मृषा ॥२२॥
अज्ञाने सति सन् भाति ज्ञाने सति विलीयते।
मूढानां शरणं स स्यान्नतु जातु विपश्चिताम् ॥२३॥
कामद्यभेद्यसच्छिष्यो योऽवेद्यात्माभिलाषुकः।
जनालङ्कारहीरश्च कपटो यत्र नास्ति च ॥२४॥
अञ्जसा लभ्यते तेन ह्यात्मरत्नं महाप्रभम्।
लोकालङ्कारभूतेन नान्यैस्तु जनपेलवैः ॥२५॥१६६॥

हे मानवा! घन से भी अभेद्य हीराके समान सोई अखण्डात्मस्वरूप स्वयं प्रकाश हीरा को और उसके ज्ञानी सन्त भक्त अभेद्य निश्चय वाले को सराहिये (प्रशंसनीय जानिये) जो कि तर्कादिरूप घनों की चोट को सहता है, सर्वात्मा होने से जिसका बाध नाश किसी से नहीं होता है, किसी प्रकार कोई विकार जिसमें नहीं होता है। क्योंकि वह सर्वसाक्षी है, सर्वसाक्षी स्वरूप विकारी वस्तु नहीं हो सकती है। और कपटरूप माया से सिद्ध कुरङ्गी (त्रिगुणरूप हीरा) को परखने पर वह खोट (निकला) निकलता है, मिथ्या सिद्ध होता है ॥१६६॥

हरि हीरा जन जौहरी, सबन पसारी हाट।
जब आये जन पारखी, तब हीरो की साट ॥१६७॥

सर्वात्मा हि हरिर्हीरः सोऽखण्डो ज्योतिरव्ययः।
तस्य लाभाय योग्यास्तु सज्जनाः सद्विवेकिनः ॥२६॥
वञ्चकाः कल्पितान् हीरान् संसारिजनहट्टके।
प्रसारयन्ति सर्वेषां जननां वञ्चनाय हि ॥२७॥
तत्र चेल्लभ्यते भाग्यात्सद्गुरुः करुणार्णवः।
तदैव प्राप्यते ज्ञानं सत्तत्त्वस्य मुमुक्षुभिः ॥२८॥
मूढा अपि भवन्तीह तावत्खलु परीक्षकाः।
मिलन्ति स्वस्य यावन्नो गुरवः सत्परीक्षकाः ॥२९॥
परीक्षकै मिलित्वा च सत्यासत्यात्मरत्नयोः।
याथात्म्यं संपरिज्ञाय सल्लब्ध्वा त्वं सुखी भव ॥३०॥

साधवः समचित्ता ये ज्ञातज्ञेया मनीषिणः ।
वृजिनैरहृताः कामै र्भवन्ति ते परीक्षकाः ॥३१॥१६७॥

वस्तुतः सर्वात्मा हरि ही अच्छेद्य अभेद्यादि स्वरूप हीरा (स्वयं प्रकाश रत्न हैं । और सज्जन ज्ञानी जौहरी (पारखी) हैं । और अन्य सब लोग भी अपनी-अपनी समझ के अनुसार सर्वात्मा हरि से अन्य अनेक हीरा को हाट में (संसार = सम्प्रदायादि में) पसार रखे हैं । तहाँ जब पारखी ज्ञानी जन आये, आते हैं, तभी हीरों की योग्य साट (मूल्य) हुई, और होती है । ज्ञानी से सब का मूल्य यथायोग्य समझा जाता है, अन्य से नहीं । या नकली अनेक हीरों की साट (सट्टा, जूआ, मिथ्या व्यवहार) पारखी के आने पर समझी गई । "झूठ जवाहिर के बनिज, तब लगि परिहैं पूर । जब लगि मिलै न पारखी, धन पर चढ़ै न कूर ॥१॥ अङ्ग की साखी" ॥ १६७ ॥

हीरा तहाँ न खोलिये, जहवाँ खोटी हाट ।
सहजहि गाँठि बाँधिये, लगिये अपनी बाट ॥१६८॥
हीरा परा बजार में, रहा छार लपटाय ।
मूरख था सो चलि गया, पारखि लिया उठाय ॥१६९॥

लब्ध्वा त्वं सद्गुरो रत्नमात्मानं हीरमव्ययम् ।
हट्टे साधुजनानां हि तत्प्रकाशं प्रवर्तय ॥३२॥
यत्रानृतस्य रत्नस्य मूढैः संकल्पितस्य च ।
हट्टः स्यात्तत्र सद्रत्नं न वै विक्रियतां त्वया ॥३३॥
सद्वृत्त्याहृदि संरुध्य मार्गोऽनुस्रियतां स्वयम् ॥३४॥
हरि र्हीरोऽत्र संसारे नगरे स्वात्मरूपतः ।
साक्षाद् वै वर्तते किन्तु नामरूपेण भस्मना ॥३५॥
कोशैश्च लिप्तवत्तेन मूढैरेष न लभ्यते ॥३६॥
अतस्तत्सद्मनं त्यक्त्वा ते गच्छन्ति भवार्णवे ।
रत्नार्थं खलु सन्तस्तु गृह्णन्ति हरिमादरात् ॥३७॥१६९॥

जहाँ अज्ञ लोग खोट (मिथ्या) हीरा की खोटी हाट लगाये हों (मायिक वस्तु की जहाँ चर्चा होती हो) वहाँ सर्वात्मा हरि हीरा को उनके आगे खोलना (बोलना) नहीं चाहिये । अतः वहाँ उस हीरा की बात नहीं बोलो । किन्तु सहज स्वभाव से हृदय गाँठी में बाँध कर अपने स्मरण ध्यानादि मार्ग में लगो, जानबूझ कर जड़ बनो ॥१६८॥ सर्वात्मा हरिरूप हीरा संसार शरीर

रूप बजार में अस्ति भाति प्रियादि रूप से प्रत्यक्ष पड़ा (व्याप्त) है । परन्तु उसमें नामरूप कोशात्मक छार (धूल राख) लिपटाय रहे हैं । अतः जो मूर्ख (अभिमानी) अविवेकी था, सो बाजार में आकर भी हीरा को समझे और पाये विना चला गया । मनुष्य होकर भी रत्न की प्राप्ति किये बिना मर गया, किन्तु जो पुरुषार्थ (विचार) से हरि गुरु कृपा से पारखी हुए, सो उस हीरा को उठाय लिये (शुद्धनिजात्म रूप से उसका धारण किये) और करते हैं । अतः पारखी होना चाहिये ॥ १६९ ॥

अपने अपने शीर की, सबहिन लीन्हो मानि ।
हरि की बात दुरन्तरे, परी न काहू जानि ॥१७०॥
हाड़ जरै जस लाकड़ी, केश जरै जस घास ।
कबीरा जरै राम रस, कोठी जरै कपास ॥१७१॥

सर्वे स्वस्वशिरोधार्यं किञ्चिन्मत्वा हरिं नहि ।
मन्यन्ते ह्यस्य वार्ताऽतोदूरस्था ज्ञायते नहि ॥३७॥
मूढाश्च कर्मठाश्चैव देवादिषु सुहीरताम् ।
मनोमुकुटशोभार्थं कल्पयन्त्यविवेकतः ॥३८॥
विधाय तत्र बोध्यत्वं ध्येयत्वं भवकानने ।
विचरन्ति भयस्थाने तेभ्यो दूरतरो हरिः ॥३९॥१७०॥
हरे दूरतरत्वे च षाट्कौशिक कलेवरे ।
विकुर्वते स्वबुद्ध्यापि ह्यग्निदाह्ये तृणादिवत् ॥४०॥
अस्थ्यादौ काष्ठवद्दग्धे घासवच्चिकुरादिषु ।
हरेर्वियोगिनो मूढाः कुशूलस्थित तूलवत् ॥४१॥
शनैः शनै र्हि दह्यन्ते पुनर्गर्भादिषु स्थिताः ।
अनात्मप्रेमशोकाभ्यां विरहाग्निजवेन च ॥४२॥१७१॥

पारख (सत्य हरि के ज्ञान) के बिना, सब लोगों ने अपने अपने शिरोधार्य पूज्य ईश्वर देवादि को जुदा जुदा इष्ट मान लिया है । अतः सर्वात्मा एक हरि की बात (विचारादि) उनसे दूर के अन्तराय (दूरन्तर) में पड़ गई है । अतः वह बात किसी को जान नहीं पड़ी, न हरि की प्राप्ति हुई ॥१७०॥ हरि की बात के दुरन्तर में पड़ने से हरि की प्राप्ति के बिना मरने पर, हाड़ लकड़ी के समान और केश घास के समान जलते हैं । वह बिरही कबीरा जीव, शिरोधार्य माने हुए तटस्थ राम के रस (प्रेमाग्नि),

से कोठी के अन्दर के कपास के समान कोशों के अभिमानादि से जलता है। ज्ञान के बिना देहों में आत्मता के अध्यास से अधिक दुखी होता है। अतः मुञ्जेषिका न्याय से आत्म विवेक करके तापादि से मुक्त होना चाहिये, और हरि को दूर अनात्मा नहीं समझना चाहिये ॥ १७१ ॥

घाट भुलाना बाट बिनु, वेष भुलाना कानि।
जाकी माँड़ी जगत में, सो न परा पहिचानि ॥१७२॥

मूढै र्दन्दह्यमानै र्हि शमादीनामभावतः।
जगदम्बुनिधेरेतैः सुघट्टो नोपलभ्यते ॥४३॥
मार्गैः शमादिभि र्लभ्या ज्ञानाद्याः संतरा इह।
भवन्ति तै र्विना मूढा दीनास्तिष्ठन्ति दुःखिताः ॥४४॥
वेषिणां नियमैस्तैस्तै र्बद्धाः सर्वे हि वेषिणः।
संस्मरन्ति नचात्मानं यन्मायाकल्पितं जगत् ॥४५॥
यावन्न तद्विचारोऽत्र स्वस्वाचाररतैरपि।
क्रियते स्वाश्रमाविष्टैस्तावदात्मा न लभ्यते ॥४६॥
शमादि मार्गैः सुलभः सुघट्टो, हट्टस्तथा सन्निजबोधरत्नः।
भवाम्बुधेः संतरणाय मुक्त्यै, तं निर्मलं हन्त नरो न वेत्ति ॥४७॥

इति साक्षीसाक्षात्कारेसद्धारणादिउपदेशवर्णनं नामैकोनत्रिंशोवित्तिः ।२९।

निष्काम सत्कर्म, शमदमादि अहिंसा दया क्षमा सन्तोषादि रूप बाट (सन्मार्ग) के बिना, विमल विराग, योग, ज्ञानादि रूप, संसार से पार जाने के घाट को सब भूले हुए हैं, और वे मार्ग भुलाये हुए हैं (मिलते नहीं हैं) और घाट के भूलने से वेषधारी सब अपने अपने कानि (मर्यादा, प्रतिष्ठा, इज्जत, बड़ाई) में भूले (फँसे) हैं। उसीसे सद्गति मान लिये हैं। अतः जिस हरि की माया की जगत में माँड़ी (विस्तार पसार शोभा) है, सो सर्वत्र वर्तमान हरि इनको पहिचान नहीं पड़ा (समझ में नहीं आया) अतः ये तटस्थ हरि के प्रेमी होते हैं विरही बने रहते हैं, इस बिरहादि की निवृत्ति के लिये उक्त घाट द्वारा बाट को समझना चाहिये ॥१७२॥

—*—

अथ असाध्यशिष्य वर्णन प्रकरण ३०

मूरख सो का कहिये, शठ सो कथा बौसाय।
पाहन में का मारना, चोखो तीर नशाय ॥१७३॥

जैसे गोली गुम्मुज की, नीच परे ढहराय।
तैसे हृदया मूर्ख[1] का, शब्द नहीं ठहराय ॥१७४॥

आत्मनोऽनवबोधेऽपि ये मूर्खा बुद्धमानिनः।
तेभ्यः किमुच्यतां धीरै र्बालिशै नैव बुध्यते ॥ १ ॥
शठा वक्राशयाः शश्वत्तेषां शक्नोति नो बुधः।
किञ्चित्कर्तुं यथा तीक्ष्णे र्वाणै र्वै प्रस्तरस्य हि ॥ २ ॥
पाषाणे सघने यद्वत्प्रयुक्तो ह्याशुगः स्वयम्।
प्रणश्यति फलं नात्र कुरुतेऽत्र तथैव हि ॥३॥१७३॥
यथा चैवोन्नते दत्ता कन्दुकाद्या न वर्तुलाः।
तिष्ठन्त्यवनते चैते प्रतिष्ठन्ते स्वयं यथा ॥ ४ ॥
शठे मूर्खे न शब्दोऽपि सद्गुरोरवतिष्ठते।
वितिष्ठते मृदौ भक्ते प्रगुणे स्वयमेव तु ॥५॥१७४॥

मूर्खों (ज्ञानाभिमानियों) से क्या कहा जाय, और शठ (दूराग्रही दुरात्मा) से बौसाय (बल) क्या किया जाय (उसके प्रति बल क्या काम कर सकता है) जैसे पत्थर में मारने से चोखा (तीक्ष्ण) तीर (बाण) व्यर्थ नष्ट होता है। तैसे मूर्ख और शठ के लिये किया गया सुन्दर उपदेश बुद्धि बलादि व्यर्थ होते हैं ॥१७३॥ जैसे मन्दिर आदि के गुम्मज (शिखर) की गोली वस्तु ढहराय (लुढ़क) कर नीचे में पड़ती और ठहरती है, गुम्मज पर नहीं। और उस गुम्मज के तुल्य ही अनम्र मूर्ख का हृदय होता है। अतः उसमें सदुपदेश रूप शब्द नहीं ठहरता है किन्तु नम्र के हृदय में ठहरता है। अतः सदुपदेश की प्राप्ति के लिये नम्रता चाहिये ॥१७४॥

ऊपर की दोऊ गई, हिय की फूटि आँखि।
कबिर बिचारा क्या करे, जो जीवहिं नहिं झाँखि ॥१७५॥

यो न स्याल्लौकिको नापि स्वयं यः स्यात्परीक्षकः।
तस्यात्मदर्शनं जातु जायते न कथञ्चन ॥ ६ ॥
तावद् बुद्ध्या हि लौकिक्या शरीरादावनात्मता।
अशुद्धजडताद्याश्च प्रत्यक्षेणावगम्यते ॥ ७ ॥
शास्त्रै र्जनितया बुद्ध्या सद्गुरुं प्रति लब्धया।
आत्मा सच्चित्सुखाकारः प्रत्यक्षेणोपलभ्यते ॥ ८ ॥

---

१ मुह वैचित्ये = वैचित्यमविवेकः, मुह्यतीति मूर्खः।

बाह्यदृष्ट्याविहीनो यो नान्तर्दृष्टौ प्रयत्नवान् ।
नैव बोधो भवेद्यस्य गुरुस्तस्य करोतु किम् ॥ ९ ॥१७५॥

जिन शठों के ऊपर (बाहर) की दोनों आँखें मानो नष्ट हो गई है कि जिससे शरीरादि में प्रत्यक्ष अशुद्धता, अनस्थिरता, जड़ता आदि को देखकर भी नहीं समझते हैं, तथा श्रुति स्मृति रूप दोनों नेत्रों के अभाव से धर्मा-धर्मादि को भी नहीं समझते हैं। हृदय के भी विवेक विज्ञानादि रूप आँखें फूटी हैं कि जिससे विचार धारणा ध्यानादि नहीं कर पाते हैं, न साराऽ-सारादि शब्दादि को विवेक पूर्वक समझते हैं। अतः उन जीवों को यदि झाँखि (आत्मपरमात्म दर्शन) नहीं उत्पन्न (सिद्ध) होते हैं। तो श्रीकबीर साहब कहते हैं कि उनके दर्शन के लिये अन्य कोई क्या विचार कर सकता है। तथा वे वेचारे जीव भी क्या कर सकते हैं, कर्मज असाध्य रोग भोग से ही निवृत्त होता है, अन्यथा नहीं ॥ १७५ ॥

केते दिन एहूं गया, अनरूचे का नेह ।
ऊषर बोय न ऊपजे, जो घन वर्षे मेह ॥१७६॥

बहवो वासरा व्यर्थं गताः प्रीतिविवर्जितान् ।
जनान् बोधयतः प्रेम्णा सत्तत्त्वं वै महात्मनः ॥१०॥
यः कश्चिद्दययाऽऽक्रान्तो देशिको बहुभाषते ।
अभक्ताय कुरक्ताय स्नेहेनात्मोपदेशनम् ॥११॥
तद् गच्छति हि नैष्फल्यमूषरेषूप्तबीजवत् ।
करोति ज्ञानशस्यं न मृत्स्नायामुप्तबीजवत् ॥१२॥
अतो यत्र न धर्मः स्याच्छुश्रूषा वा न सत्तमा ।
तत्र विद्या न वक्तव्या शुभबीजमिवोषरे ॥१३॥१७६॥

कर्मज रोग के समान दुर्बुद्धि आदि की निवृत्ति नहीं होने के कारण जिनको सदुपदेश धर्मोपदेश नहीं रुचता है (प्रिय नहीं लगता है) उन अन-रुचों (रुचि रहितों) के साथ किया गया कितने दिनों का नेह (स्नेह = प्रेम) एहूँ =(व्यर्थ ही) गया, और जाता है (बहुत दिनों तक प्रेम करके दिया गया भी उपदेश सफल नहीं होता है)। क्योंकि यदि घना (बहुत = निरन्तर) मेघ वर्षे तो भी ऊषर में बोया हुआ बीज नहीं उपजता (जन्मता) है। इसी प्रकार से अनरुचे (प्रेमादि रहित) में उपदेश सफल नहीं होता है ॥ १७६ ॥

मैं रोवों यह जगत को, मोको रोवै न कोय ।
मोको रोवै सो जना, शब्द विवेकी होय ॥१७७॥

अहं रोदिमि सर्वार्थं मदर्थं नैव कश्चन ।
रोदिष्यति मदर्थं यः स विवेकी भविष्यति ॥१४॥
यस्य स्थैर्यमिहेच्छामः कैवल्यं वोत्तमं सुखम् ।
स चेन्नेच्छति कैवल्यं शब्दं न विविनक्ति वा ॥१५॥
ऊषरोऽसौ सदा ज्ञेयो मृत्स्नातुल्यो विवेकवान् ।
मत्प्राप्त्यर्थं स यतते नोषरस्तु कदाचन ॥१६॥१७७॥

मैं इस जगत को रोता हूँ (इसके दुःख से दुःखी होकर इसके हित के लिये चिन्ता करता हूँ, उपदेश देता हूँ) । अर्थात् जगत् के हित के लिये प्रेम करके सद्गुरु उपदेश देते हैं। परन्तु अनरुचि के कारण मुझको कोई नहीं रोता है (मेरे प्रेमपरिश्रम को नहीं समझता है) मुझको वही भक्तजन रोवेगा कि जो सार शब्द का विवेकी होगा (शब्द के विवेको मेरे उपदेशों को प्रेम से ग्रहण करेगें) । अतः प्रथम शब्द का विवेक कर्तव्य है ॥ १७७ ॥

साहब साहब सब कहै, मोहि अँदेशा और ।
साहब सो परिचय नहीं, बैठहु गे किहि ठौर ॥१७८॥

ईशेशेत्यादि सर्वेऽमी वदन्त्यज्ञानिनो जनाः ।
साधयन्त्यनुभूतिं नो निषत्स्यन्ति हि कुत्र ते ॥१७॥
इत्येवं संशयो मेऽस्ति पश्यन्तु सज्जना परम् ।
कुर्वन्तु चानुभूतिं साऽवश्यं वै स्थितये भवेत् ॥१८॥
नैवज्ञानादृते मर्त्यः कैवल्यं लभते ध्रुवम् ।
वर्तते महदाश्चर्यं जनैरेतन्न बुध्यते ॥१९॥
न नाममात्राल्लभते विमुक्तिं ज्ञानादृते तच्छ्रुतयो वदन्ति ।
न कर्मणा नैव धनादिभिश्च त्यागं विना क्वापि भवेत् स्थितिर्नै॥२०॥१३८॥

इति साक्षिसक्षात्कारेऽसाध्यशिष्यादिवर्णनंनामत्रिंशोवित्तिः ॥ ३० ॥

शब्द के विवेकादि के बिना भी साहब साहब (प्रभो प्रभो !) सब पुकारते हैं, तहाँ पुकारने में तो न कुछ कहना है, न संशय है। किन्तु मुझे और (अन्य) बात का अन्देशा (संशय) है, या सन्देशा कहना है कि आप सब सदा साहब साहब कहते हो, और सदा साहब के साथ रहते भी हो। परन्तु साहब से परिचय नहीं है, तो अन्त में किस ठिकाने बैठोगे (स्थिर रहोगे)। अर्थात्

जीवनकाल में विवेक पूर्वक ब्रह्मनिष्ठ होगे, तभी अन्त में भी ब्रह्म में स्थिति पावोगे। अतः ब्रह्मनिष्ठ होवो ॥ १७८ ॥

अथ पुरुषार्थावलम्बनादि प्रकरण ३१

जीव बिना जिव जिवै नहिं, जीव का जीव अधार ।
जीव दया करि पालिये, पण्डित करहु विचार ॥१७९॥

पौरुषेण विना जीवो नाममात्रान्न जीवति ।
सच्चिदानन्दरूपेण न तिष्ठति कदाचन ॥ १ ॥
आत्मोपरि दयां कृत्वा स्वात्मानं परिपालय ।
विचारं च कुरुष्वातो मा प्रमादं कुरुष्व च ॥ २ ॥
अन्तःकरणशुद्ध्यर्थं सर्वोपरि दयां कुरु ।
जानीह्येतच्च जीवेन जीवो हि ध्रियते सदा ।
मात्रा राज्ञा च लोकेषु ध्रियन्ते वै यथा प्रजाः ॥ ३ ॥
एवं गुरुं विना नैव स्वात्मना कोऽपि जीवति ।
देहाभिमानतः शश्वज्जायते म्रियतेऽपि च ॥ ४ ॥
अतो गुरोः कृपातस्त्वं गुरुत्वं प्राप्य सज्जनान् ।
दयया परिरक्षस्व विचारं कुरु सर्वदा ॥ ५ ॥
मोहेन रक्षका लोके सन्त्येव तु सहस्रशः ।
पुत्रादीनां महाधीमन् विचाराद्विरला जनाः ॥ ६ ॥
विचारेण दयावान् यः सत्यभाषी सदा शुचिः ।
स एव मानवो लोके निर्दयस्तु पशुः स्मृतः ॥ ७ ॥
दयाधर्मो हि सर्वेषां सामान्योऽत्राभिधीयते ।
तथैव सुविचारश्च ययो धर्मः समाप्यते ॥ ८ ॥
अहिंसा परमो धर्मो दया च तत्स्वरूपिणी ।
अहिंसापरिरक्षायै धर्मः सर्वो विधीयते ॥ ९ ॥
विद्यते न दया यत्र विचारो वा सुनिर्मलः ।
न स धर्मः कुवर्त्माऽसौ तत्र यन् हन्यते जनः ॥१०॥
"न जीवेन विना तृप्ति र्जीवस्यापि हि सर्वदा ।
अतः ससर्ज भगवान् जीवो जीवेन हिंस्यते ॥११॥
कारुण्यं प्राणिषु प्रायः कर्तव्यं पुण्यहेतवे ।
अहिंसा परमो धर्मस्तस्मादात्मवदाचरेत् ॥१२॥

हे पण्डितों ! जीवों का जीवन दूसरे जीवों के बिना नहीं हो सकता है। क्योंकि परस्पर की सहायता से सब प्राणियों का जीवन होता है। तहाँ अविवेक मोह स्वभावादि से तो सब प्राणी किसी अन्य अपने सम्बन्धी पुत्रादि के सहायक आधार रक्षक होते हैं। किन्तु विचार दया विवेक विज्ञान से अन्य की सहायता रक्षा करना पण्डितों ! सन्तों विवेकियों का काम है। अतः विचार करो, और दया करके जीवों की रक्षा पालन उपदेशादि द्वारा करो। क्योंकि अन्यत्र भी लिखा है कि (एक जीव के बिना दूसरे जीव की तृप्ति नहीं होती है)। अतः ईश्वर ने ऐसी सृष्टि की है कि जहाँ एक जीव दूसरे से मारे जाते हैं। तथापि पुण्य के लिये तो प्राणियों के ऊपर प्रायः करुणा (दया) ही कर्तव्य है। क्योंकि अहिंसा परम धर्म है। अतः अपने तुल्य सबका हित करना चाहिये, अहित किसीका नहीं करना चाहिये, यह शास्त्रका सिद्धान्त है ॥१७९॥

हौं तो सबही की कही, मो को काहु न जान।
तबभि अछा अब भी अछा, युग युग होउँ न आन॥१८०॥

मया सर्वहितं प्रोक्तं मां जानन्ति न केचन।
तदेदानीमहं स्वच्छो युगेष्वन्यो भवामि नो ॥१३॥
इत्थं सद्गुरुणा ह्यत्र सर्वस्मै भाषितं शुभम्।
गुरुं तं न विजानन्ति लोकाः सर्वे विमोहिताः ॥१४॥
जानन्तु वा न जानन्तु ते गच्छन्तु सुवर्त्मनि।
इच्छन्ति गुरवश्चेत्थं चित्ते कुर्वन्ति नान्यथा ॥१५॥
ये जानन्ति गुरुं भक्ताः स्वस्वरूपान् करोति तान्।
कीटान् भृङ्गो यथा लोके रहस्यञ्चैतदद्भुतम् ॥१६॥
बोधनायैतदर्थस्य स्वस्वच्छत्वादिवर्णनम्।
क्रियते ह्यात्मदृष्ट्यैव देहदृष्ट्या न बुध्यताम् ॥१७॥१८०॥

उपकार अहिंसा कर्तव्य है। अतः मैंने सबकी हित की बात कही है। परन्तु मुझे (गुरु को) कोई अविवेकी नहीं जानता (पहचानता) है। अर्थात् सत्यवक्ता सद्गुरु को सर्वात्मा ईश्वर ब्रह्म स्वरूप सब नहीं समझ पाते हैं, कोई विवेकी ही सद्गुरु ज्ञानीको ब्रह्म स्वरूप समझते हैं। परन्तु मैं (सद्गुरु) तो तब (भूल अपहचान काल में) और अब (वर्तमान काल में) अच्छा (निर्मल एकरस) ही रहता हूँ। मैं अनन्त युगों में भी आन (अन्य भिन्न विकृत) नहीं होता हूँ। अर्थात् आत्माभेदादि रहित है। उसको मैं समझता हूँ, अतः तद्रूप हूँ। परन्तु अविवेकी ऐसा नहीं समझते हैं ॥१८०॥

प्रगट कहौं तो मारिया, परदहिं लखै न कोय।
सहना छपा पुआर तर, को कहि बैरी होय ॥१८१॥

प्रत्यक्षं वच्मि चेद्धन्ति वेत्ति कोपि न निह्नुतम्।
पलाले यामिकं मग्नमुक्त्वा शत्रुश्च को भवेत् ॥१८॥
ये गुरुं नैव जानन्ति वाञ्छन्ति विषयाँस्तु ये।
साक्षाद्दोषाभिधाने ते वक्तारं घ्नन्ति शत्रुवत् ॥१९॥
प्रत्यक्षात्मोपदेशे वा विचारस्योपदेशने।
साक्षादभिहिते सर्वे कुप्यन्ति गुरवे भृशम् ॥२०॥
अतश्च गुरुभिस्तत्त्वं राहस्येनोपदिश्यते।
कदाचित्तेऽपि वेत्स्यन्ति को विद्वेषं करोतु तैः ॥२१॥१८१॥

यदि मैं प्रगट (साक्षी) का उपदेश देता हूँ। लोगों के गुण दोषों को साफ शब्दों से कहता हूँ। तो लोग मारते हैं। और परदे (संकेत सैन) से तो कोई समझते नहीं हैं। न कहे विना कोशादि रूप परदा में वर्तमान आत्मा को कोई समझता है, आत्मा को समझे विना सबका सहना (मनरूप कोतवाल) विषयरूप पोआल तर छिपा है, ईश्वर माया में छिपकर सब देख रहा है, इत्यादि जीवों की अरुचि की बातों को प्रकट कहकर कौन इनका वैरी बने, संकेत से कहने ही पर अधिकारी होगा सो समझेगा ॥१८१॥

कलि खोटा जग आँधरा, शब्द न चीन्है कोय।
जाहि कहो हित आपना, सो उठि बैरी होय ॥१८२॥
देश विदेशे हौं फिरा, मन ही भरा सुकाल।
जाको खोजत हौं फिरो, ताका परा दुकाल ॥१८३॥

कालः कष्टः कलि र्लोका मोहापि हितदृष्टयः।
सारशब्दं न जानन्ति विवेकेन कुबुद्धयः ॥२२॥
अतो यस्मै हितं वच्मि यं वा स्वात्महितं तथा।
सोऽपि वैरायते नित्यं भावस्यानवबोधतः ॥ २३॥१८२॥
भ्रमं भ्रमं हि देशेषु मयाऽत्रयो विमृग्यते।
अधिकारिजनस्तस्य दौर्लभ्यं लक्ष्यते सदा ॥२४॥
मनोऽनुगामिनश्चात्र लक्ष्यन्ते बहवो जनाः।
शमाद्यैश्च विवेकाद्यै युक्तो हिं विरलो भवेत् ॥२५॥

देशे विदेशे परितश्चरन्नहं चेतः सुकालः परितो विलोकितः ।
अन्वेषयँश्चाचरमत्र यं जनं दुष्काल एवात्र समागतोऽस्य तु ॥२६॥
दया गुरौ भक्ति रथोऽविहिंसाशमादयो योगबलो विचारः ।
विवेक वैराग्यमुमुक्षुताद्या ह्यपक्षपातश्च विमुक्तिदाः स्युः ॥२७॥
एतै विना ये मनसाभिभूता रागादिदोषैः कलितान्तराश्च ।
गुरो नरास्ते हि पराङ्मुखाश्च जङ्घन्यमानाः परितो भ्रमन्ति ॥२८॥

इति साक्षिसाक्षात्कारेस्वपौरुषावलम्बनादिवर्णननामैकत्रिंशीवित्तिः ॥३१॥

यह कलियुग खोटा (हीन) काल है, संसारी अविवेकान्ध हैं । अतः कोई सत्य शब्द को नहीं चीन्हता (समझता) है । अतएव जिससे उसके अपने हित की बात को प्रकट कहता हूँ । तथा अपना हितमान कर मानो सोये से जगाता हूँ, सो भी उठकर वैरी होता है । वैरी होकर उठता है । अतः संकेत से कहना ही ठीक है ॥ १८२ ॥ हौं (मैं) ने देश-विदेश में फिरा, तो सर्वत्र मन काही सुकाल (सुन्दर समय) भरा (पूर्ण) देखा (विवेकादि रहित मन वाले सर्वत्र बहुत मिले) और जिन सज्जन विवेकियों को खोजता हुआ मैं फिरता (विचरता) हूँ, उनका सब देशों में दुष्काल पड़ा है । विवेकी ज्ञानी धर्मात्मा सर्वथा अहिंसक सत्यवक्ता श्रोता सर्वत्र दुर्लभ हैं । अतः किससे प्रकटात्म कथा कही जाय, यह विचाणीय विषय है ॥१८३॥

अथ संक्षिप्तसारोपदेश प्र० ३२

मसि कागज छूवों नहीं, कलम धरो नहिं हात ।
चारिहुं युग के महातम, मुखहि जनाई बात ॥१८४॥

तत्त्वमुक्त्वा गुरुः प्राह समासेन पुन र्हि तत् ।
यतो व्याससमासाभ्यां बोधो दृढतरो भवेत् ॥ १ ॥
गुरोश्चात्र प्रतिज्ञास्ति मया नैवात्र किञ्चन ।
असत्तत्त्वं समाख्यातं नातत्त्वं कथयिष्यते ॥ २ ॥
किन्तु मुख्यं हि यत्तत्त्वं तदेवात्रोपदिष्टवान् ।
स साधनं यतो जन्तुः कैवल्यं लभते ध्रुवम् ॥ ३ ॥
एतदुक्त्वा पुन र्नाहं ग्रहीष्ये लेखनीं मसीम् ।
चतुर्युगेऽपि यन्मुख्यं हितं तत्प्रोक्तवान् यतः ॥ ४ ॥

किं तन्मुख्यमिति स्याच्चेत्तवाकाङ्क्षा महामते ! ।
तदा त्वं सावधानेन पुनस्तत्त्वं निशामय ॥ ५ ॥१८४॥

जिससे विवेकी कम (थोड़े) हैं, अविवेकी अधिक हैं और अविवेकियों को अर्थादि के लिये बहुत बात की आवश्यकता होती है । विवेकियों को नहीं । अतः अब मैं बहुत लिखने के लिये मसि कागज नहीं छूऊँगा, न हात (हाथ) में कलम धरूँगा । अर्थात् इस ग्रन्थ को लिखने के बाद कुछ नहीं लिखूंगा । क्योंकि जो चारो युग के लिये हित होने से चारो युग के महात्मरूप महत्त्वयुक्त मुख (मुख्य प्रधान) बात विवेकियों के लिये है, उस बात को मैंने इस ग्रन्थ में जना दी है (लिख दिया है) तथा चारो युग के महात्माओं ने भी मुख्य ही बात जनाई है । अतः मैंने भी ऐसा ही किया है (यह प्रतिज्ञा है) ॥१४८॥

फहमे आगे फहमे पीछे, फहमे बायें डेरी ।
फहमें पर जो फहम निबेरे, सोइ फहम है मेरी ॥१८९॥

अग्रे पश्चाच्च यज्ज्ञानं वामदक्षिणपार्श्वयोः ।
वृत्तिज्ञानात्परं यच्च विवेकोऽस्य मतो मम ॥ ६ ॥
ज्ञानमेव पुरस्तात्ते तत्पश्चात्तच्च दक्षिणे ।
उत्तरे च तदेवास्ति तदेवोर्ध्वमधः स्थितम् ॥ ७ ॥
एतन्मात्रं हि सत्तत्त्वमितिज्ञानं तु यद् भवेत् ।
तच्च मे सम्मतं बोध्यं तस्माद्धि लभते परम् ॥ ८ ॥
भवद्भूतभविष्यद्भ्यो ज्ञानेभ्यो हि परश्च यः ।
हीनोत्तममतिभ्यश्च साक्ष्यात्मा बोधविग्रहः ॥ ९ ॥
तस्य नित्यस्य विज्ञानं संशयादिविवर्जितम् ।
सम्मतं मे सदा मुक्त्यै युक्त्या सम्यग्विनिश्चितम् ॥१०॥१८५॥

वह तत्त्वयुक्त कौन बात है, ऐसी जिज्ञासा होने पर "ब्रह्मै वेदममृतं पुरस्तात् । मुण्ड. २।२।११" इत्यादि श्रुति आदि के अनुसार उक्तार्थ को संक्षेप से समझाने के लिये कहते हैं कि (फहम) ज्ञान, स्फुरण प्रकाशस्वरूप सत्यात्मा ही सत्ता प्रकाशरूप से आगे-पीछे, बायें, डेरे (दहिने) सर्वत्र व्यापक है, कि जिसका "यन्त्रीयन्त्र अनूपम बाजे, वाके अष्ट गगन मुख गाजै । शब्द ६" इत्यादि वचनों से वर्णन हो चुका है, बुद्धि की वृत्ति (परिणाम) रूप सब फहमों (ज्ञानों) से पर (भिन्न उत्तम) जो उस व्यापक फहम का निवेरा (विवेक) विज्ञान किया जाय, सोई मेरी सत्य फहम मुख्य अनुभव की बात है । तथा आगे-पीछे (भूतभावी) बायें डेरी (वर्तमान शुभ अशुभ) सबका

फहम (विचार अनुभव) करे, और सब फहमों (तर्कों) से परे साक्षीस्वरूप फहम का निवेरा करे, सोई मेरी फहम (अनुभूति शिक्षा) है ॥१८५॥

हद चलै सो मानवा, वेहद चलु सो साधु।
हद वेहद दोनों तजै, ताकी मता अगाधु ॥१८६॥

वर्णाश्रमादि संस्थायां ससीमवस्तुसंस्मृतौ।
वर्ततेऽभिनिवेशेन सामान्यो मानवो हि सः ॥११॥
सर्वत्राऽभिनिवेशं यः परित्यज्य विवेकतः।
लोकबन्धननिर्मुक्तो विभावात्मनि वर्तते ॥१२॥
स साधुः प्रोच्यते सद्भिरुत्तमः पुरुषस्तथा।
तुरीयस्थो ह्ययं प्रोक्तस्तदतीतस्ततः परः ॥१३॥
अनुभूत्यात्मनो यो ह्येकत्वद्वित्वादिवर्जितः।
न ससीमो न निःसीमः स वाचां विषयो नहि ॥१४॥
अगाधमतिमानेष सुखसिन्धु महाऽद्भुतः।
लक्ष्यते साधुभि श्चैष नान्येन केनचित् क्वचित् ॥१५॥१८६॥

वर्णाश्रमादि के हद (मर्यादा) में चलने विवेक से उचित व्यवहार कर्म स्वधर्म करने वाले विधि निषेध के ज्ञाता कामी मनुष्य हैं। तथा एक देशी पूज्य उपास्य को समझ कर, उचित पूजा भक्ति उपासना करने वाले मनुष्य हैं। वर्णाश्रमादि के अभिमान से रहित निष्काम विवेकी विभु परमात्मतत्त्व के चिन्तक साधु (वेहदगामी कुशल) हैं, और होते हैं, कहे जाते हैं। और हद वेहद दोनों को त्यागने वाले, संग्रह त्याग से रहित, विधि निषेध के अविषय विभुस्वस्वरूप ब्रह्मनिष्ठ समाधिस्थ महात्माओं की गति-मति अगाध है, वे त्रिगुणातीत जीवन्मुक्त कहे जाते हैं। साधु असाधु आदि नहीं ॥१८६॥

समुझे की मति एक है, जिन देखा सब ठौर।
कहहिं कबिर वे बीच के, बलकहिं औरक और ॥१८७॥

यैः सर्वत्र निजात्मैव दृष्टस्तेषां मतिः सदा।
एकैव वर्ततेऽन्ये तं वदन्ति चान्यथाऽन्यथा ॥१६॥
भूमिकासु प्रभेदेऽपि सर्वेषां ज्ञानिनां मतिः।
भवति ह्येकरूपैव न कदापि विभिद्यते ॥१७॥
भूतेषु स्वात्मदर्शित्वात्सर्वात्मत्वाच्चसर्वथा।
भेदं वदन्ति ते नैव त्वभेदो वर्तते स्वयम् ॥१८॥

संसारिणो वदन्त्यत्र सत्यता बहुवस्तुषु।
आत्मनो बहुधा भेदं शक्तिकार्यादिकं तथा ॥१९॥
यश्चमूढतमो लोके यश्च बुद्धेः परं गतः।
तावुभौ सुखिनौ स्यातां मध्यमाः क्लेशभागिनः ॥२०॥
यो न मूढतमो नैव बुद्धेः पारं गतोऽचलः।
स्थितिमुल्लङ्घ्य गच्छन् स पशु र्नरकभाग्भवेत् ॥२१॥१८७॥

वेहदगामी साधु हों या हद वेहद दोनों के त्यागी हों। परन्तु निज सत्यात्मा को सब ठौर में व्यापक जिन्होंने देखा (समझा) है तथा आत्मा को ही सबका ठौर (आधार अधिष्ठान) जिन्होंने देखा है, उन समके (समझने वाले) सब ज्ञानियों की मति (बुद्धि = सिद्धान्त, ज्ञान) एक ही है, और एक ही रहती है। अभ्यासादि के भेद से ज्ञान की अवस्था धारणा में भेद होते भी ज्ञान में भेद नहीं रहता है। अतः विदेह मुक्ति में भी भेद नहीं होता है, वे लोग बीच के (अल्पज्ञ संसारी) हैं, कि जो और के और बलकते हैं (भ्रम से अन्य को अन्य बहुधा कहते हैं)। अर्थात् मध्य दशावाले लोगों में ज्ञान की बात व्यवहार सब भिन्न-भिन्न होते हैं। ज्ञानी में प्रारब्धवश व्यवहार के भेद होते भी ज्ञान और बात में भेद नहीं होता है। "समुके घटका एक मत, शब्द विचारै खेल। अङ्ग की साखी" अन्यत्र है कि "कृष्णो भोगी शुकस्त्यागी नृपौ जनकराघवौ। वसिष्ठः कर्मकर्ता च पञ्चैते ज्ञानिनः समाः ॥१॥ योगरतो वा भोगरतो वा सङ्गरतो वा सङ्गविहीनः। यस्य ब्रह्मणि रमते चित्तं नन्दति नन्दति नन्दयते वा ॥२॥" ॥ १८७ ॥

राह विचारी क्या करै, पन्थि न चलै सुधारि।
अपने मारग छोड़ि के, चले उजारि उजारि ॥१८८॥

किं करोतु हि सन्मार्गः पान्थश्चेन्न सुगच्छति।
स्वमध्वानं परित्यज्य शून्ये शून्ये व्रजत्यसौ ॥२२॥
गुरुभि र्वर्णिता मार्गाः सर्वेसन्ति सुखावहाः।
तत्र चेन्नैव गच्छन्ति पान्थाः स्युः सुखिनः कथम् ॥२३॥
विचारेण शमादौ ये मार्गे तिष्ठन्ति निर्भयाः।
अमार्गांश्च कुमार्गांश्च त्यजन्ति यत्नतः सदा ॥२४॥
सद्भक्तौ श्रवणादौ च गच्छन्तस्ते शनैरपि।
अवश्यं हि लभन्ते तद् यन्मुक्तैरवगम्यते ॥२५॥

जनाः सन्त्यतिविभ्रान्ता मार्गे तिष्ठन्ति न स्वके ।
कुमार्गे परिधावन्ति यत्र किञ्चिन्न लभ्यते ॥२६॥
अत्र मार्गस्य दोषः कः कथ्यतां स करोतु किम् ।
दोषस्तेषां हि ये त्यक्त्वा मार्गं शून्येषु यान्ति हि ॥२७॥१८८॥

हद में चलना मनुष्यों का काम है, सो हदरूप मार्ग महात्माओं के उपदेशों में वेद शास्त्रादि में वर्णित हैं। परन्तु पथिक मनुष्य सम्हार कर अपने धर्म कर्मादिरूप मार्गों को समझने के लिये यत्न श्रवणादि विचारादि नहीं करता है, न समझता है। अतएव अपने मार्ग (स्वधर्म) में सम्हार कर नहीं चलता है, तो बेचारा मार्ग या मार्ग को विचारने वाले क्या कर सकते हैं। और प्रायः देखा जाता है कि मनुष्य धर्मादि के ज्ञान के विना तथा लोभ अभिमानादि के वश में होकर, अपने मार्ग (धर्म हद मर्यादा) को छोड़कर उजार-उजार (सुख छाया रहित उजाड़ शून्य) मार्ग (अन्य के धर्म अधर्म) में फिरते हैं। निष्काम सत्कर्म परोपकार भक्ति आदि नहीं करते हैं। कुकर्मादि करते हैं, तो मार्ग क्या करे ॥ १८८ ॥

ऊजर जाय बसाइया, छाड़ि बसन्ता गाम ।
नहिं वह बसा न ऊजरा, भया बसे का नाम ॥१८९॥

त्यक्त्वा ग्रामं वसन्तं स्वं वासयामास शून्यके ।
न सोवासोद्वासोऽपि नामाऽभूद्वसनस्य तु ॥२८॥
शून्ये लोकान् हि संकल्प्य स्थितिं तत्र निरूप्य च ।
आत्मलोकं न पश्यन्ति यत्र लोका वसन्ति हि ॥२९॥
ग्रामो वसति नो यश्च नो यश्च प्रविनश्यति ।
नाममात्रं तु तस्याभूद् वासस्यापि विकल्पनात् ॥३०॥
कल्पिते नाम मात्रेण सक्ताः सर्वे हि मानवाः ।
देव दुर्लभमानुष्यं कुमार्गे नाशयन्त्यहो ॥३१॥
ज्ञान स्वरूपं हि यदात्मतत्त्वमाधार भूतं ह्यखिलस्य सत्यम् ।
गन्ता कुमार्गस्य न वेत्ति तद्धि शून्येऽल्पकेऽतः परिखिद्यतेऽसौ ॥३२॥१८९॥

उजाड़ में फिरने वालों ने वसन्ता गाम (सर्वनिवासी सर्वाधार सर्वात्मा) को त्याग कर तथा सब साधनों के धाम मानव लोकादि को त्याग कर, ऊजाड़ = (शून्य) में जाकर गाम बसाया (शून्याकाश में विचित्र लोकादि की कल्पना किया और उसमें मन लगाया) तथा सत्यानन्दादि रहित विषयादि में मन इन्द्रिय को लगाया। परन्तु कल्पित वे लोकादि मिथ्या होने से

न बसा न ऊजड़ा। किन्तु बसने का नाममात्र भया (हुआ)। क्योंकि सब विकार (कार्य) नाम मात्र ही हैं, और उस नाममात्र में भूलने (सत्य बुद्धि आदि) से मनुष्य स्वधर्म सन्मार्ग में नहीं चलने पाता है, ज्ञानादि तो दूर से दूर रह जाते हैं। अतः भूल त्याज्य है ॥ १८६ ॥

बोलि हमारी पूरबी, बूझै बिरला कोय।
मेरी बोली सो बुझै, धूर्व पूर्व का होय ॥१६०॥

प्राची भाषाऽस्मदीयेयं जानाति कोऽपि तां जनः।
ध्रुवप्राच्यो हि यो लोके ध्रवाद् ध्रुवतरं विदन् ॥३३॥
सद्गुरो र्वचनं होदं पुराणस्य स्वयंभुवः।
अनादेर्नित्यसत्त्वस्य सर्वभूतान्तरात्मनः ॥३४॥
चेतनस्य विशुद्धस्य बोधकं पापशोधकम्।
शाश्वतस्य सुखस्यास्मिन्नञ्जसा प्रापकं तथा ॥३५॥
तं जना नैव जानन्ति मिथ्याकल्पनमोहिताः।
जानन्ति कल्पनामुक्ताः सत्यस्यान्वेषिणः सदा ॥३६॥
ध्रुवाद् ध्रुवतरं यद्धि परात्परतरं तथा।
पूर्वात्पूर्वतरं यच्च तद्बोधायेदमुच्यते ॥३७॥
प्राच्या यथा विदन्त्येव प्राचीं भाषां सुखं तथा।
ध्रुवप्राच्या विदन्त्येतत्सद्गुरो र्भाषयाऽमृतम् ॥३८॥१९०॥

श्री कबीर साहब कहते हैं कि उजाड़ में ग्राम बसाने वाले सब पीछे होने वाले कार्यों के प्रेमी हैं, और हमारी बोली सब कार्यों से पूर्वकाल महाप्रलय में भी रहने वाली वस्तु के बोधक होने से पूर्वी "सदेवसोम्येदमग्रआसीत्" इत्यादि के समान पूर्ववर्तमान सत् कारण मात्र सम्बन्धी है। अतः इस बोली को कार्य कारण के विवेकी कोई बिरला ही बूझता (समझता है) सो बिरल विवेकी भी वही मेरी बोली को समझता है कि जो धूर्व (ध्रुव अविनाशी अचल) पूर्व वर्तमान वस्तु के जिज्ञासु खोजी अधिकारी होता है, विकारी विकार रूप प्रकृति विकृति (कार्य कारण) के ज्ञान से जो सन्तुष्ट नहीं होता है, सो मेरी बोली को बूझता है, और उससे निर्विकार अधिष्ठान रूप से सर्व कारण ब्रह्मात्मा को समझता है ॥ १६० ॥

मूआ है मरि जाहुगे, बिनु शर थोंथे भाल।
परेहु कराहल वृक्ष तर, आज मरहु की काल ॥१६१॥

मृतोऽसि कुण्ठितै र्भल्लैः शरेणापि विना तथा ।
स्थितः करीरवृक्षाधो ह्यद्य श्वो वा मरिष्यसि ॥३९॥
भो धत्त माऽध्रुवे चित्तं कुमार्गेण न गम्यताम् ।
एताभ्यां वै मृता भूयो मरिष्यथ पुनस्तथा ॥४०॥
करीरकर्मवृक्षस्य विलपन्तोऽन्तिके सदा ।
कुण्ठित भल्लकल्पैश्च कामशोकाशुगै र्हताः ॥४१॥
पीडिता वै म्रियन्ते च भवन्तो दिष्टसंशये ।
अद्य श्वो वा मृतौ चात्र निश्चयो नैव विद्यते ॥४२॥
द्रुतं तस्माद् विधेयं तद् येन स्यान्नकदर्थना ।
जन्ममृत्युस्वरूपा वा काम शोकादिलक्षणा ॥४३॥१९१॥

हे मनुष्यों ! उस ध्रुवपूर्व वस्तु के ज्ञान भक्ति आदि के बिना ऊजाड़ में ग्राम बसाकर प्रथम तुम अनन्तो बार मुए हो, और फिर भी मरकर उजाड़ में जावोगे । सो मरण भी कैसे हुआ है, और होता है । जैसे कोई तीक्ष्ण शर के बिना थोंथे (कुण्ठित) भाला से अत्यन्त पीड़ित करके मारा जाय । तैसे मुए हो । और अभी कराइल (किये हुए प्रारब्ध कर्म) वृक्ष तर पड़े हो । भोग से उस कर्म के समाप्त होने पर आज या कल्ह कुछ दिन में अवश्य मरोगे । अतः शीघ्र विवेकादि की प्राप्ति करो कि जिससे ऐसी दशा नहीं हो ॥ १९१ ॥

जा चलते बन्दे पड़ा, धरती भई बिहाल ।
स सामन्त घामे जरै, पण्डित करहु विचार ॥१९२॥
पावन पुहुमी नाँपते, दरिया करते फाल ।
हाथन पर्वत तौलते, तिहि धरि खायो काल ॥१९३॥

अधीश्वराश्च सामन्ताये स्वभृत्यै र्नमस्कृताः ।
आहता यत्प्रतापेन पृथिवी कम्पतेस्म च ॥४४॥
तेऽपि तापै र्हि दह्यन्ते गार्भनारकवह्निषु ।
नैव शान्तिमवाप्नोति कोऽपि देहीति निश्चयः ॥४५॥
सज्ज्ञानादि विना तस्मात्तापानां विनिवृत्तये ।
शान्तये च विचारं स्वं कुर्वन्तु पण्डिताः सदा ॥४६॥
यैरियं निमिता पृथ्वी पद्भिः कतिपयैरिह ।
लङ्घितश्चोदधि यैस्तु हस्तेन विधृतो गिरिः ॥४७॥

कालैः कवलितास्तेपि दिनैः कतिपयै र्यदि ।
तदाऽन्येषां मृतौ धीमन् किं वक्तव्यं विशेषतः ॥४८॥
देवाश्च सिद्धयः सर्वा लीयन्ते कालवारिधौ ।
निधयोऽपि विनश्यन्ति कालोहि बलवत्तमः ॥४९॥१९३॥

जिस सामन्त (मण्डलेश्वर वीर) राजा के चलते (यात्रा) में वन्दे (दास सिपाही) हुकुम में पड़ा (खड़ा) रहता है। तथा जिसकी आज्ञा से अपराधी बन्दे (बन्धनागार) में पड़े रहते हैं। भूमि निवासी जिसके प्रताप से बेहाल (व्याकुल) हो गये, और बेहाल होते हैं। सो सामन्त भी ज्ञान भक्ति आदि के बिना गर्भ नरकादि के ताप रूप अग्नि में जलते हैं। अतः हे पण्डित जन ! उस ताप से रहित होने के लिये सर्वादि स्वरूप के विचार करो, ताप से रहित होने का यही साधन है, और सो पण्डितों का अवश्य कर्तव्य है ॥ १९२ ॥ जो त्रिविक्रम बावन भगवान् अपने पैरों से भूमि आदि को मानो नाँपते थे, जिस हनुमान जी ने समुद्र को एक फाल (डेग-धाप) किया, और करते थे। एक फलान में समुद्र के पार चले गये थे। तथा जो श्रीकृष्ण जी हाथों से मानो पर्वत को तौलते थे, उन सबको काल ने धर कर खाया। उनको भी एक रस देही रूप से नहीं रहने दिया। अतः सर्वादि सर्वाधार अविनाशी निर्विकार ध्रुवपूर्व को विचारादि से जानो कि जिससे तद्रूपता की प्राप्ति से कालादि से मुक्त होगे ॥१९३॥

नव मन दूध बटोरि कै, टिपके किया विनाश ।
दूध फाटि काँजी भया, भया घीव का नाश ॥१९४॥
सबही ते लघुता भला, लघुता ते सब होय ।
ज्यों द्वितीया के चन्द्रमा, शिर नावै सब कोय ॥१९५॥

दुग्धानां नवमनकं नाशयत्यम्लबिन्दुकः ।
निध्यादिनवकं तद्वत्कालो नाशयति द्रुतम् ॥५०॥
यथा दुग्धसमूहोऽपि स घृतोऽम्लेन नश्यति ।
कालेन स सुखं सर्वे नश्यन्ति निधयस्तथा ॥५१॥
अभिमानेन भक्तिश्च सर्वा नश्यति सर्वथा ।
अतस्त्यक्त्वाऽभिमानं त्वं नम्रत्वेनैव वर्तताम् ॥५२॥१९४॥
सद्गुरौ लघुता या च शुश्रूषा या च दीनता ।
साधनेषु हि सर्वेषु साति श्रेष्ठतमा मता ॥५३॥

अनया सिद्ध्यते सर्वं स्वर्गः सौख्यं परं पदम् ।
द्वितीयाचन्द्र वन्नम्रः सर्वैं र्लोकैः प्रणम्यते ॥५४॥
नम्रता भक्तिराख्यता लघुतारूपिणी च सा ।
अन्तरात्मा हरिर्भक्त्या तुष्यतीतिविनिश्चयः ॥५५॥१९॥

जैसे सिद्धियाँ काल से नष्ट की जाती हैं, तैसे नवनिधि नवधाभक्ति आदि भी काल अभिमानादि से नष्ट होते हैं। कुसङ्ग कुर्मांगादि से भी तप भक्ति विरागादि नष्ट होते हैं। जैसे कि नव मन दूध बटोर कर, यदि उसमें एक टिपका (तीक्ष्ण खटाई का एक बुन्द) दिया जाय, तो वह दूध फाट कर काँजी (वाजी) हो जाता है। और वाजी (वेकार) हो जाने से घृत का भी नाश हो जाता है। तैसे निधियों को मृत्यु रूप टिपका नष्ट करता है। अभिमान काम कुसङ्गादि से भक्ति नष्ट होती है। तप विरागादि में अभिमान विघ्न रूप होता है कि जिससे आनन्द मोक्षादि रूप घृत का अभाव होता है। अतः निधि, सिद्धि भक्ति आदि के अभिमान कुसङ्गादि को त्यागकर ध्रुव-पूर्व स्वरूप का विचार कर्तव्य है ॥१६४॥ अभिमानादि विघ्नों के निवारण के लिये सुख मोक्षादि सभी श्रेयः के लिये सब साधनों से और ऋद्धि-सिद्धि आदि सब से लघुता (नम्रता निरभिमानिता) ही भला (श्रेष्ठ) साधन है। क्योंकि लघुता से सब श्रेयः प्राप्त होते हैं। सब पुरुषार्थ सब साधन लघुता से मिलते हैं। जो प्रथम नम्र होता है सो फिर ज्ञान गुणादि द्वारा सब से पूज्य हो जाता है। जैसे कि वृद्धि के लिये उन्मुख द्वितीया के चन्द्रमा को सब शिर नमाते हैं, तैसे नम्र को सब प्रणाम करते हैं ॥ १६५ ॥

आपा तजै हरि भजै, नख शिख तजै विकार ।
जीवन ते निर्बैरता, सन्त मता है सार ॥१६६॥

ममत्वस्य परित्यागो भजनं च हरेः सदा ।
आशिखान्तविकाराणां नखादारभ्य वर्जनम् ॥
निर्वैरत्वं हि जीवैश्च सारः साधुमतो ह्ययम् ॥५६॥
ममत्वं च विकारांश्च मनोवाग्देह सम्भवान् ।
देहादावभिमानं च त्यक्त्वात्मानं हरिं भजेत् ॥५७॥
निर्वैरत्वं च भूतेभ्यः सदा कुर्यात्समाहितः ।
विश्वात्मस्थितसाधूनां मतमेतत्सनातनम् ॥५८॥

गुरो हिं बुद्ध्वैव निजात्मतत्त्वं ध्रुवे च दत्ते स्वमनः सदा यः ।
गर्वादिमुक्तो हरिभक्तियुक्तः सुहृत् स सर्वस्य विमुक्तिमेति ॥५९॥१९६॥

जो मनुष्य वेहदगामी साधु होना चाहे, सो आपा (पक्षपात = ममता) को त्यागे, और सर्वात्मा हरि को भजे (सेवे चिन्तन ध्यान विचारादि करे) नख से शिखा तक के विकारों को त्यागे। अर्थात् देह को विकार रूप मलिन जानकर इसका अभिमान नहीं करे। इस देह से होने वाले नख से शिखा-पर्यन्त के बुरे कर्मों को त्यागे। और सब जीवों से निर्वैरता का धारण करे। यही सन्तों का सार (सत्य मुख्य) मत (सिद्धान्त) है। इसीसे वेहदगामी साधु हुआ जाता है, अतः यह कर्तव्य है ॥ १९६ ॥

पच्छा पच्छिक कारणे, जगतो जात भुलान।
निर्पच्छी ह्वै हरि भजै, सोई सन्त सुजान ॥१९७॥

पक्षैश्च प्रतिपक्षैश्च भ्रान्तं भ्रमति वै जगत्।
हरिं भजति निष्पक्षो यः सुज्ञः साधुरेव सः ॥६०॥
ममताया हि जायेते रागद्वेषौ दुरुद्धरौ।
तौ पक्षप्रतिपक्षौ च तूर्णमत्युल्वणौ ततः ॥६१॥
अनौचित्येन जातौ तौ महानर्थ प्रवर्त्तिनौ।
भवतस्तेन लोकोऽयं भ्रमत्यज्ञो विमोहितः ॥६२॥
असाधुरिति स प्रोक्तः साधवस्तद्विलक्षणाः।
महाभयकृतत्राणाःसमचित्ता विमत्सराः ॥६३॥
निष्पक्षा निर्ममाः सन्तो भजन्तो हरिमादरात्।
ये सुज्ञास्ते हि विज्ञेयाः साधवो दीनवत्सलाः ॥६४॥१९७॥

पक्ष और अपक्षी (अपनी और पराई = अन्य की ऐसी बुद्धि मत) आदि के कारण जगत् के प्राणी सब, निर्वैरता आदि स्वरूप सन्त मत=सतमार्ग को भूल कर, राग द्वेषादि रूप कुमार्ग में जाते हैं। इस अवस्था में भी जो कोई निष्पक्षपात हो कर सर्वात्मा हरि को भजते हैं, सो सुजन सुजान (ज्ञानी) सन्त होते हैं, और वर्तमान हैं। "एक वस्तु के नाम बहु, लीजै वस्तु पिछान। नाम पच्छ नहिं कीजिये, सार तत्त ले जान ॥१॥ सब काहू का लीजिये, साचा शब्द निहार। पच्छपात ना कीजिये, कहैं कबीर विचार ॥२॥ अ.कीसा." ।१९७।

बूड़े वड़े बड़ा पने, रोम रोम हंकार।
सत गुरु के परिचय बिना, चारो वरण चमार ॥१९८॥

महत्त्वस्याभिमानाब्धौ सर्वलोमाभिमानिनः।
महान्तोऽपि निमज्जन्ति ये सज्जन्ति शरीरके ॥६५॥

विवेकेन विना ये हि कुलजात्यादि गर्विताः।
ते महान्तोऽपि संसारेऽहङ्कारेण ब्रुडन्ति हि ॥६६॥
अहङ्कारविलासेन सद्गुरो र्विमुखीकृताः।
तस्यापरिचयाद्देहे चर्मादिभिर्विनिर्मिते ॥६७॥
सर्वथा स्वात्म भावेन सर्वे वर्णाभिमानिनः।
अन्त्यजत्वं समापन्नाश्चर्मकारत्वनामकम् ॥६८॥
ये हि मांसाशिनो मूढाः स्वधर्मस्यावधोरकाः।
ते वृथैवेह जल्पन्ति स्वात्मनां वर्णगौरवम् ॥६९॥
"मद्यपी मांसभोजी च मत्स्यभोजी तथैव च।
तेन पापप्रभावेण चर्मकारो हि जायते"[1] ॥७०॥१९८॥

उक्त नम्रता साधुता की प्राप्ति के बिना, रोम रोम में अहंकार का धारण करके बड़े-बड़े लोग पड़ापनरूप संसार समुद्र में डूब गये। क्योंकि अहङ्करादि के कारण सद्गुरु के परिचय के बिना चार वर्ण कहलानेवाले भी व्यवहार से चमार हो गये। चमार के काम मांस भक्षणादि करनेलगे चर्मादिमय देहमात्र के अभिमानी हो गये। अतः मांसादिको तथा अभिमानों को त्यागकर नम्र ता आदि से साधुता को प्राप्त करके चर्मकारता को त्यागना चाहिये ॥ १९८ ॥

माया तेजे क्या भया, मान तजा नहिं जाय।
जिहि माने मुनिवर ढहे, मान सबन को खाय ॥१९९॥
माया के झँक जग जरै, कनक कामिनी लागि।
कहहिं कबिर कस बाँचि हो, रूइ लपेटी आगि ॥२००॥

मायात्यागेन किं तस्य योऽभिमानं त्यजेन्नहि।
मानेन मुनयो भ्रष्टा मानः सर्वान् हि खादति ॥७१॥
गोगृहादिकमायां ये त्यजन्ति प्राज्ञमानिनः।
त्यजन्ति नाभिमानं चेत्तेषां त्यागो हि निष्फलः ॥७२॥
अभिमानो महाशत्रुरेष सर्वविनाशकः।
मुनिश्रेष्ठोऽभिमानेन बहुमान्यः क्षयंगतः ॥७३॥१९९॥
अभिमानो न चेत्त्यक्तो मायापि त्यज्यते नहि।
मायाग्निज्वालया तेन दह्यते सकलं जगत् ॥७४॥

---

१ कर्मविपाकसं. अ. २। ३८॥

कनकेन च कामिन्या सम्बन्धो ज्वलनोपमः ।
तूल तुल्योऽभि मित्या यः स कथं शान्तिमेष्यति ॥७५॥
कनकार्थं च कान्तार्थं मायाग्निज्वालया जगत् ।
दह्यते शिष्यते तच्च कथं व्याप्ताग्नितूलवत् ॥७६॥२००॥

साधुताके लिये यदि गुण विद्या शरीरादि का अभिमान नहीं त्यागा जा सके, तो स्त्री पुत्र धनादिरूप बाह्यमाया को त्यागने से भी क्या फल हुआ, या हो सकता है, क्योंकि जिस अभिमान से मुनिवर (नारद) भी ढहे (निजपद से गिरे) सो मान सबको खाता है (नष्ट करता है)। अतः साधुता सद्गति के लिये अभिमान अवश्य त्यक्तव्य है ॥१९९॥ अभिमानादि को त्यागने के विना सब जग (संसारी) कनक कामिनी के लागि (लिये) तथा कनक कामिनी के लाग (सम्बन्ध) से माया (ममता) के झँक (वेग ज्वाला) से जरते हैं। श्रीकबीर साहब कहते हैं कि अग्नि से लपेटी (घेरी) गई रूई की तरह, माया कामादि के घेरे में तुम कैसे बच सकते हो यदि वचना (मुक्त होना) चाहो तो अभिमान के त्यागद्वारा मन माया के घेरे से कामादि से रहित होवो ॥ २००॥

माया जग साँपिनि भई, विष लै बैठी बाटि ।
सब जग फन्दे फन्दिया, चले कबीरू काटि ॥२०१॥
साँप बिछी का मन्त्र है, महुरो झारा जाय ।
विकट नारि पाले परे, काढि कलेजा खाय ॥२०२॥

मायैषा भुजगी जाता कामादि विषसंयुता ।
या मार्गानवरुध्यैव कर्मयोगादिलक्षणान् ॥७७॥
तिष्ठत्यत्र निरातङ्का भीषयन्ती च मानिनः ।
ब्रह्माण्डे कुण्डले कृत्वा मोहदंष्ट्राऽभिदश्य च ॥७८॥
नाशयित्वा जगत् सर्वं सा गच्छति निजेच्छया ।
शातिता मोहतः सर्वे सीदन्तीह भवार्णवे ॥७९॥
ज्ञानखङ्गे र्विभिद्यैनां सुखं गच्छन्ति साधवः ।
जीवन्मुक्ताः स्वमार्गेण ते यान्त्येव निजेप्सितम् ॥८०॥२०१॥
कारुक्या वैस्त्रिया केऽपि भुजंग्या भ्राक्षिता जनाः ।
ते शृण्वन्ति न सन्मान्त्राँल्लभन्ते न निजेप्सितम् ॥८१॥

सर्पादीनां विषं तद्वद्धालाहलविषं परम् ।
मन्त्राद्यै र्हि चिकित्सन्ति स्त्रिया नैव विषं क्वचित् ॥८२॥
अतः सा हृदयं जन्तोरुन्माद्याकृष्य सर्वथा ।
करोति कवलं नून जानन्त्वपि कथं जनाः ॥८३॥२०२॥

अभिमानी और अविवेकी अज्ञ के लिये संसार में माया साँपिनी हुई है, सो कर्मादि सभी शुभ मार्गों में विषय काम लोभादिरूप विष को लेकर बैठी है। और सब कबीरू (जीवों) को मिथ्या व्यवहार मोह ममता आदिरूप फन्दों (जालों) में फन्दिया (फंसाई) है। काट कर (मोहमत्त करके) चल देती है तथा माया जगत को फंसाती है। परन्तु (कबीरू) ज्ञान बीर विवेकी उसके फन्दों को काट कर चलते हैं (मुक्त होते हैं) ॥२०१॥ सर्प और बिच्छू के विष के मन्त्र हैं कि जिनसे झारनेपर विष निवृत्त हो जाता है। और माहुर (तीव्र विष) भी झारे जाते हैं। माहुररूप विष भी झारने से (मन्त्रादि द्वारा निवारण करने से) निवृत्त होता है। परन्तु साक्षात् माया (मोहजनक) रूप विकट (कठिन) कपटादि स्वरूप नारी के वश में पड़ने पर उसका विष किसी से झारा नहीं जाता है। अतः वह कलेजा काढ़कर खाती है (ज्ञान, ध्यान, बल, विचार सबको नष्ट करती है)। सज्जन को सदा उसके सङ्गादि से बचना चाहिये ॥ २०२ ॥

पीपरि एक जु महा गभानी। ताको मरम कोइ नहिं जानी।
डारि लभाय कोई नहिं खाये। खसम अछत बहु पीपरि जाये।२०३।

साहू से भौ चोरवा, चोरन ते भौ सूझ।
तब जानेगा जीयरा, मार परेगा तूझ ॥२०४॥

संसाराश्वत्थ वृक्षेऽत्राऽद्वितीयं विद्यते फलम् ।
अखण्डं तद्गम्भीरं च महत्तन्मर्म नो विदुः ॥८४॥
केऽप्यतो विश्ववृक्षस्येन्द्रियशाखानिरुध्य वै ।
नास्वादन्ते रसं मूढास्तस्याद्भुतफलस्य च ॥८५॥
सद्गुरौ विद्यमानेऽपि प्रभौ चैव निजात्मनि ।
मायया च स्त्रिया साधो ! हृतज्ञानाः कुबुद्धयः ॥
वहुतुच्छफलार्थं हि धावन्त्येव यतस्ततः ॥८६॥२०३॥
साधुभ्यः सद्गुरुभ्यश्च प्लायन्ते तस्करा इव ।
चौराणां सम्मुखे यान्ति वञ्चकानामिमे जनाः ॥८७॥

वेदिष्यन्ति फलं चास्याऽवधारणस्य ते सताम् ।
यदा नरकगर्भादौ प्राप्स्यन्ति बहुयातनाः ॥८८॥
मायाममत्वादिहृतात्मबोधा दुर्बुद्ध्यहङ्कारमुखैश्च युक्ताः ।
निजेन्द्रियाख्ये चरिपौ न शक्ता जनाः सहन्ते हि कुयातना वै ॥८९॥
इति साक्षिसाक्षात्कारेसंक्षिप्तसारोपदेशोनामद्वात्रिंशीवित्तिः ॥३२॥

संसार रूप पीपर के वृक्ष में एक (अद्विय) महागम्भानी (महागम्भीर विभु) पीपरी (पीपर का फल रूप मोक्ष) लगा है, वर्तमान है । नित्यमुक्त स्वरूप ब्रह्मात्मा संसार में सर्वत्र वर्तमान हैं, उस आत्म स्वरूप ही मोक्ष है । परन्तु उक्त विकट नारी आदि रूप माया की वशवर्तिता से उस फल के मर्म (भेद) को कोई अविवेकी नहीं जानते हैं कि किस साधन से किस प्रकार से उस फल को प्राप्त करना चाहिये । अतः मन इन्द्रिय रूप संसार वृक्ष की डाली (शाखा) को नमाकर, उस शाखा में वर्तमान उस फल को कोई नहीं खाते हैं, मन इन्द्रियों को रोक कर रोकने से उसमें अभिव्यक्त निजात्मानन्द ब्रह्मानन्द का साक्षीस्वरूप का कोई अज्ञ अनुभव नहीं करते हैं । किन्तु सर्वात्मा सद्गुरु रूप खसम (स्वामी) के पास में अछते (रहते) भी तुच्छ बहुत पीपरी (अर्थादि फल) के लिये माया के वश में जाते हैं ॥२०३॥ हे जियरा ! (जीव !) तुम अभी तुच्छ बहुत फलों के लिये सद्गुरु सन्तादि रूप साहु से चोर हुए हो (चोरों की तरह उनसे छिपते हो) उनके सम्मुख नहीं जाते हो । और विषयी वञ्चकादि चोरों से सूझ (प्रकट) होते हो । उनके सम्मुख जाते हो । इस अन्याय के फल को तुम तब जानोगे (समझोगे) कि जब तुम्हे मार पड़ेगी (यमयातना होगी) अतः अभी चेतो ॥ २०४ ॥

अथ गुरुगम बिना अनर्थवर्णन प्रकरण ३३

ताकी पूरी क्यों परै, गुरु न लखाई बाट ।
ताके बेड़ा बूड़ही, फिरि फिरि औघट घाट ॥२०५॥
जाका गुरु है आँधरा, चेला काह कराय ।
अन्धे अन्धा ठेलिया, दोनों कूप पराय ॥२०६॥

सद्गुरुभ्यो न बुद्धो यैः सन्मार्गो भववारिधौ ।
तेषां वै मानवो देहो नौः कुघट्टे निमज्जति ॥ १ ॥

तृप्तिस्तै र्लभ्यतां कस्मात्पदं पूर्णं ददातु कः ।
कथं पश्यन्तु सत् तत्त्वं विवेकेन विना च ते ॥ २ ॥
वञ्चकस्यच संसर्गात्कुमार्गे हीयते सदा ।
जनस्याऽऽयुस्तरिस्तेन परं पारं न याति सः ॥३॥२०५॥
विवेकविकलो येन गुरुत्वेनाभिसम्मतः ।
किं करिष्यति सात्मार्थं परार्थं हितमन्धधीः ॥ ४ ॥
अन्धलग्नो यथा चान्धः कूपादौ पतति स्वयम् ।
तथैवायं जनो मोहान्नरकादौ पतिष्यति ॥ ५ ॥२०६॥

सद्गुरु सत्पुरुष से छिपे रहने के कारण जिनको सद्गुरु ने सच्ची, बाट (मार्ग) नहीं लखाई (नहीं बताई) उनकी पूरी (पूर्णता तृप्ति) कैसे परे, (किस रीति से प्राप्त हो) मोक्ष शान्ति कैसे मिले । क्योंकि उनके बेड़ा (मानवता युक्त जीवन रूप नौका) बार बार औघट घाट (अज्ञान मोह कुकर्मादि) में ही बूड़ती (नष्ट होती) है । अतः ऐसे लोग संसार से पार पूर्ण पद को नहीं पाते हैं । पूर्ण पद की प्राप्ति के लिये जीवन को कुघाट से बचाना, और सद्गुरु से सन्मार्ग को समझना चाहिये ॥ २०५ ॥ स्वयं विवेकादि को प्राप्त करके ज्ञानी गुरु से मार्ग पूछना चहिये । क्योंकि जिसका गुरु ही आँधरा (अज्ञ) है । तो वह गुरु उस चेला (शिष्य) का क्या उपकार हित करेगा । तथा अन्धगुरुवाला चेला कौन पुरुषार्थ करेगा । उन दोनों की तो ऐसी दशा होगी और होती है कि जैसे एक अन्धा दूसरे अन्धे को ठेले (आगे चलने के लिये प्रेरणा करे) और दोनों कूप में पड़ जाय । अतः ज्ञानी गुरु से पूछना श्रवणादि करना चाहिये ॥ २०६ ॥

चारि मास घन बर्षिया, अति रे परबल नीर ।
पेन्हे जड़ तन बखतरी, चुभी न एको तीर ॥२०७॥

चतुर्षु मासतुल्येषु युगेषु ज्ञानवर्षणम् ।
कृतं ह्यविरलं सद्भिस्तीव्रधारं सुनिर्मलम् ॥ ६ ॥
कश्मलस्य विनाशार्थं बोधचक्षुः प्रवृत्तये ।
सुखार्थं सर्वभूतानां कैवल्यस्य च लब्धये । ७ ॥
देहात्मबुद्धिसन्नाहसन्नद्धेष्वविवेकिषु ।
जडताऽऽच्छन्नगात्रेषु वाक्यवाणा विशन्ति न ॥ ८ ॥
नैकं विशति सद्वाक्यं यदि त्वेषु जनेषु वै ।
मानुष्यं निष्फलं तेषां पशुत्वं हि ततो वरम् ॥ ९ ॥२०७॥

ज्ञानी गुरु से श्रवणादि भी देहाभिमान आसक्ति के त्याग तितिक्षापूर्वक करना चाहिये। क्योंकि सद्गुरु स्वरूप घन (मेघ) ने चारि मास (चारोयुग) में अति प्रबल (अत्यन्त समर्थ) भक्ति ज्ञानोपदेशादि नीर की वर्षा की है। और सो नीर (उपदेश) तीर (बाण) की तरह हृदय में पैठनेवाला है। परन्तु रे जड़ (अविवेकी) मनुष्य ! तुमने तो तन रूप बखतर (कवच) पहिरा है, (देहाभिमान किया है) मन बुद्धि आदि रूप सूक्ष्म देह में जड़ता (अविवेक) का धारण किया है कि जिससे एको तीर तेरे हृदय में नहीं चुभा (एक भी सदुपदेश नहीं लगा)। अतः जिज्ञासु को देहादि के मिथ्या अभिमानों को त्याग करके ही श्रवणादि करना चाहिये ॥ २०७ ॥

मानुष का गुण ही बड़ा, मांस न आवै काज।
हाड़ होते आभरन, त्वचा न बाजन बाज ॥२०८॥

गुणा दयादयो ज्ञानं सद्विवेकः शमादयः।
पूज्या भवन्ति मानुष्ये विचारश्च क्षमादयः ॥१०॥
नैवास्याऽस्थ्नो भवेद्भूषा नास्य वाद्यं च चर्मणः।
मांसं नास्ति मनुष्योऽस्य नार्थोऽस्यास्ति गुणै विना ॥११॥
गुणाः शमादयो यस्य विवेकश्च सुनिर्मलः।
स धन्यो मानवोऽमानी लभ्यते विरलो भुवि ॥१२॥
सार्थकं यस्य नो मांसमस्थि स्यान्न विभूषणम्।
त्वग् वाद्यं न स देहोऽयं विमोक्षाय विवेकिनाम् ॥१३॥

जाता यस्य गुणाः शमादिसहिता नम्रत्व बोधादिका-,
स्ते धन्याः खलु मानवाः क्षितितले पुण्या गुरो वल्लभाः।
ये चान्ये मदमानमोहसहिताः क्रूरास्त्वबोधै र्हता-
स्ते निन्द्याः कुलपांसना गुरुजनै नैंव कचित् सत्कृताः ॥१४॥२०८॥

शरीर का अभिमान इससे भी नहीं करना चाहिये कि जिससे पशु शरीर से मनुष्य का शरीर बड़ा (श्रेष्ठ) नहीं है। किन्तु मनुष्य के अहिंसा सत्यादि शौच सन्तोषादि भक्ति ज्ञान, ध्यानादि रूप गुण (धर्म) ही बड़े हैं। (श्रेष्ठ सुखप्रद हैं) अन्य कुछ भी श्रेष्ठ नहीं है। क्योंकि इसके मांस किसी कार्य के साधक नहीं होते हैं। हाड़ के आभरण (भूषण) नहीं बनते हैं, न त्वचा (चाम) के बाजन (ढोल) बाजते हैं। अतः सद्गुण के बिना देह का अभिमान सर्वथा अनुचित है॥ २०८ ॥

सबन की उतपति धरती, सब जीवन प्रतिपाल ।
धरति न जानैं आप गुण, ऐसा गुरु विचार ॥२०९॥

सर्वस्य जनिका पृथ्वी सर्वस्य प्रतिपालिका ।
स्वगुणाज्ञानतस्साऽपि भीता इव विकम्पते ॥१५॥
तथैव मानवो देहो सर्वहेतु गुणैः स्वयम् ।
कर्माभिधै र्न जानाति विभेत्येव सदा ततः ॥१६॥
संजानाति यदा चायं स्वस्याज्ञानकर्मणः ।
विलासं स्वात्म तत्त्वं च तदाऽयं मुच्यते भयात् ॥१७॥
सर्वस्योत्पादिकां यद्वा धारिकां देहरूपिणीम् ।
पृथ्वीं नात्मगुणत्वेन विद्धीति गुरुदेशना ॥ ८॥२०९॥

मानव देह तथा देही रूप धरती (भूमि) कर्मादि द्वारा सबकी उत्पत्ति तथा प्रतिपाल (रक्षा स्थिति) का हेतु भूमि के समान है । परन्तु यह धरती (सबका धारण कर्ता मनुष्य) अपने गुण को आप नहीं जानती है कि कर्मादि के अनुसार कर्माधीन ही ईश्वर से सृष्टि पालनादि होते हैं, और कर्मादि का अधिकार, कर्मादि की योग्यता साधनादि मनुष्य को ही प्रायः सुलभ हैं, इत्यादि । अतः सद्गुणों का धारण नहीं करके मिथ्या देहादि का अभिमान करती है, ऐसा सद्गुरु का विचार (उपदेश) है, कि अपने गुण और स्वरूप को जानना चाहिये । या सबकी जननी रूप, और पालक मानव देह को भी आप गुण (आत्मगुण) न जानै (नहीं समझै) किन्तु आत्मा को असङ्ग निर्गुण समझै, ऐसा सद्गुरु का विचार (उपदेश) है । तथा धरती सबकी उत्पत्ति आदि का हेतु होते भी वह आप अपने गुण को नहीं जानती है (गुणों का अभिमान नहीं करती है) इसीसे मानो क्षमाशील रहती है, ऐसा ही ईश्वर सद्गुरु क्षमाशील ज्ञानो को विचारो, विचार से समझो, और प्राप्त करो, स्वयं अभिमानको त्यागो, यह मुमुक्षुके लिये उपदेश है॥२०९॥

धरती जो जानति आप गुण, कबहिं न होती डोल ।
तीले तील गरुई होती, होति ठिको की मोल ॥२१०॥

पृथिवी चेद्गुणान् स्वस्या जानीयात्सा कदापि न ।
कम्पेत तिलशश्चास्या गुरुत्वेन युता भवेत् ॥१९॥
मूल्यं नास्या भवेन्नैषा कस्यापि वशगा भवेत् ।
अज्ञानात्कम्पमूल्यादि ज्ञानात्सर्वं विनश्यति ॥२०॥

कर्वंकार्येषु शक्तोऽपि जडत्वान्नात्मनो गुणः ।
देहो न चास्य सङ्ग्यात्मा सूर्यः सन्तमसो यथा ॥२१॥
इत्थं हि स्वात्मविज्ञाने स्वतन्त्रो मानवो भवेत् ।
अन्यथा पशुवच्चैष पराधीनो हि कम्पते ॥२२॥
ज्ञानाद् गुरूणां परिचिन्तनाच्च तेषां यथाशक्ति समाश्रयाच्च ।
विज्ञाततत्त्वो हि न कम्पते ज्ञो न सज्जते नैव तु जायते च ॥२३॥२१०॥

इति साक्षीसाक्षात्कारे गुरुज्ञानादिमन्तराऽनर्थादिवर्णनं
नाम त्रयस्त्रिंशी वित्तिः ॥ ३३ ॥

भूमि यदि अपने गुण सर्वाधारता आदि को जानती तो डोल (भूकम्प) युक्त कभी नहीं होती, और तिले तिल में (सर्वत्र) ई (यह) गरु (गुरुता युक्त) गम्भीर होती, फिर इसकी ठीको (सत्य सर्वाधार) आत्मा की मोल (इज्जत प्रतिष्ठा) होती । अर्थात् पार्थिव देह युक्त मनुष्य अपने गुणों को समझने पर, क्षोभ चञ्चता भयादि से रहित होकर मुक्त हो गया होता । गुणों को जाने विना ही भय भीत गमनागमनादि युक्त तुच्छ बना रहता है ॥२१०॥

अथ ज्ञानाज्ञानदशावर्णन प्रकरण ३४

तहिया किरतम न होता, धरति न होते नीर ।
उतपति परलय न होते, तबकी कहैं कबीर ॥२११॥

आत्मनो ज्ञान मात्रेण विवेकेन स्थितौ तथा ।
शरीरादीनि कार्याणिपुनर्नैव भवन्ति हि ॥ १ ॥
उपदेशफलं नैव विशिष्टं विद्यते तदा ।
अयमेव मनुष्यै हिं ज्ञातव्यः कार्य एव सः ॥ २ ॥
नातः परं हि कर्तव्यं ज्ञातव्यं वाऽवशिष्यते ।
किमर्थं किं ब्रुवन्त्वेभ्यो गुरवोऽपि महाधियः ॥ ३ ॥
यैश्चैतत्साधितं ज्ञानं विवेकेन स्थिताश्च ये ।
तैरेव पृथिवी धन्या तीर्थीभूता विधीयते ॥ ४ ॥
कार्यवर्गो यदा नासीदुत्पत्तिः प्रलयस्तथा ।
तदातनं स्वरूपं च गुरुणैवोपदिश्यते ॥ ५ ॥२११॥

तहिया (अपने गुण स्वरूप के ज्ञान प्राप्ति होने काल में) किरतम (कार्य) शरीरादि फिर उस ज्ञानी के नहीं होते हैं । न उस मुक्त के भोगादि के लिये

भूमि जलादि समर्थ होते हैं। अतः उस जीव के भूमि आदि जन्य शरीर के सम्बन्ध और वियोग रूप जन्म मरण रूप उत्पत्ति और प्रलय भी नहीं होते है, न उसके लिये अन्य पदार्थ के उत्पत्ति प्रलयादि होते हैं। श्रीकबीर साहब कहते हैं कि तबकी (उसी दशा की) बात को मैंने प्रायः इस ग्रन्थ में कही है, और ज्ञानी कबीर उसी दशा की बात कहते हैं। उस मोक्ष के ही लिये विचारादि का कथन ज्ञानी करते हैं, और किया गया है। तथा जिस महा-प्रलय काल में कुछ नहीं था, न कोई व्यवहार था, उस समय में वर्तमान सत्यात्मा का उपदेश दिया गया है। और जिस अवस्था में जन्मादि कुछ नहीं होते हैं। उस अवस्था वालों के प्रति कबीर (गुरु आचार्य) भी क्या कहैं (क्या कहैं) उस अवस्था में गुरु उपदेशादि की आवश्यकता नहीं रहती है (यह उपदेश सप्तमी रमैनी में भी है) ॥२११॥

जहाँ बोल तहँ अक्षर आया। जहँ अक्षर तहँ मनहि दृढाया।
बोल अबोल एक है सोई। जिन यह लखा सो विरला होई॥२१२॥

यत्र ब्रूते जनः किञ्चित्तत्र वर्णो हि जायते।
यत्रवर्णो मनस्तत्र स्थाप्यते न निरक्षरे॥ ६॥
शुद्धे नास्ति वचः शक्तिः शक्ये सा वर्तते यतः।
यत्रैव वचसः शक्तिर्मनस्तत्रावलम्बते॥ ७॥
अतश्च मनसा वाचा न गम्यो लक्षणां विना।
लक्षणायाः कथञ्चित्स स्वप्रभोऽप्यनुभूयते॥ ८॥
चराचरेशजीवेषु वाच्यावाच्येषु सर्वथा।
नात्माऽयं भिद्यते क्वापि केऽपि पश्यन्ति सत्तमाः॥ ९॥
यत् किञ्चिच्चोच्यते तत्र सर्वत्रात्मोपलक्ष्यते।
कूटस्थेन स्वरूपेण ह्यक्षरत्वेन सर्वथा॥१०॥
मनस्तत्र धृतं येन ज्ञातश्च सर्ववस्तुषु।
स जनो विरलो लोके कर्मबन्धाद्विनिर्गतः॥११॥२१२॥

मुक्त के विषय में कुछ कथन के अभाव में कारण का कथन करते हैं कि जहाँ (व्यवहार) में बोल (बोली शब्द) होता है (शब्द बोला जाता है) तहाँ, अक्षर (वर्णः विकार मात्र जीव) समक्ष में आया, और आता है, कि यह बोलने वाला जीवात्मा है। और जहाँ (जिसका वाचक या बोधक) अक्षर (वर्णात्मक शब्द) होता हैं। तहाँ लोगों ने मन को दृढ (स्थिर) किया है, और करते हैं कि यहाँ जीवात्मा है। परन्तु जिसको बोल युक्त

में समझते हैं, सोई आत्मा बोल अबोल (चर अचर = आदि) सब में एक है। अतः वह ज्ञानी भी बोल-अबोल में एकात्मस्वरूप से रहता है। अतः वह मन वचन का अविषय रहता है। परन्तु जिन्होंने इस स्वयं प्रकाश सर्वात्मा को समझा सो विरले ज्ञानी होते हैं। भाव है कि जहाँ बोल है, तहाँ अक्षर (अविनाशी) जीव की सत्ताभासती है। और क्षर (विनश्वर कार्य) को कहा जाता है। उसके साथ अभेद दृष्टि से प्रकृति रूप माया को भी "क्षरं प्रधानम्। श्वे.१।१०" इस श्रुति में क्षर कहा गया है। और निरक्षर (अवाच्य) आत्मा ही माया शक्ति से ईश्वर कहा जाता है। माया बिना वही ब्रह्माक्षर कहा जाता है। अज्ञान काल में जीव अपने स्वरूप से भिन्न परोक्ष ईश्वर को समझता है, ज्ञान काल में बोल अक्षर जीव, और अबोल में भी वर्तमान विभु अबोल (निरक्षर ईश्वर) इन दोनों में सब संसार में वह सच्चिदानन्द ब्रह्मात्मा ज्ञानी को एक ही भासता है, जीवत्वादि मिथ्या भासता है, सो ज्ञानी विरल होता है, सो मुक्त होता है ॥२१२॥

तौं लागि तारा जग मगे, जौं लगि उगै न सूर।
तौं लगि जीव कर्म वशी, जौं लगि ज्ञान न पूर ॥२१३॥
नाम न जाने ग्राम का, भूला मारग जाय।
काल्ह गड़ेहिगा काँटा, अगमन कस न खराय ॥२१४॥

यावन्नोदेति सूर्योऽत्र तारकास्तावदेव हि।
दीप्यन्ते परिदृश्यन्ते यथा लोके तथैव हि ॥१२॥
यावदात्मापरोक्षो नो जायते तावदन्धधीः।
जीवः कर्मवशो भूत्वा संसारित्वेन दृश्यते ॥१३॥२१५॥
ग्रामस्य वेत्ति नो नाम भ्रान्तोऽमार्गेण याति यः।
कण्टकाः श्वोऽत्र वेक्ष्यन्ति साध्वग्रे क्रियते न किम् ॥१४॥
प्राप्तव्यस्यात्मतत्त्वस्य संज्ञामात्रं न वेत्ति यः।
गच्छत्यनवधानेनदुःखै र्वेभिद्यते हि सः ॥१५॥
भाविदुःखं कुमार्गेण गच्छतो भवति ध्रुवम्।
अतश्चात्महितं शश्वत्पुरैव क्रियते न किम् ॥१६॥
यावन्न बोधं लभते निजात्मनः शब्दं न सारं विमलं गुरो मुखात्।
तावज्जनाः कर्मवशा भवन्त्यलं भ्राम्यन्ति किं नात्महितं हि कुर्वते ॥१७॥२१४॥

इति साक्षिसाक्षात्कारे ज्ञानाज्ञानदशावर्णनं नाम चतुस्त्रिंशी वित्तिः ॥३४॥

सूर्योदय जब तक नहीं होता है, तभी तक जैसे तारे जगमगाते (प्रकाशते दीखते) हैं। वैसे ही तभी तक जीव कर्मों के वश में संसारी रहते हैं, कि जब तक पूर्णात्मा का पूर्ण अपरोक्ष दृढ़ ज्ञान नहीं होता है। अतः ज्ञान से कर्मो को दग्ध करके ज्ञानी मुक्त होते हैं ॥११३॥

जो मनुष्य गन्तव्य ग्राम तुल्य प्राप्तव्य ज्ञेय वस्तु के नाम को भी नहीं जानता है, न विवेकादि साधनों को समझता है। और समझे विना दिग् भ्रम के समान, भूला हुआ असत् मार्ग में जाता है, अकर्तव्य कर्मादि करता है, तो आज किसी प्रारब्धवश कष्ट नहीं होने पर भी काल्ह (जन्मान्तर कालान्तर में) अवश्य कांटे गड़ेगें ही (कष्ट होगा ही)। अतः "हेयं दुःख-मनागतम्" इत्यादि उपदेशों के अनुसार अनागत (भावी) हेय (त्याज्य) दुःखों की निवृत्ति के लिये, अगमन (आगे = प्रथम) से ही खरा (सत्य. विचारादि) कस क्योंकि नहीं करता है, यह अवश्य कर्तव्य है ॥२१४॥

——❀——

अथ सत्सङ्ग-कुसङ्ग हिसाफलवर्णन प्र० ३५

सङ्गत करिये साधु की, हरैं ओर की व्याधि।
ओछी सङ्गति कूर की, आठो पहर उपाधि ॥२१५॥
सङ्गति ते सुख ऊपजै, कुसङ्गति ते दुख होय।
कहहिं कबिर तहँ जाइये, अपनी सङ्गति होय ॥२१६॥

सत्सङ्गः क्रियतां सर्वैरनादिव्याधिबाधनः।
क्रूरसङ्गो न कर्तव्यो ह्यनिशं बाधते खलः ॥ १ ॥
सत्सङ्गाज्जायते सौख्यं कुसङ्गाद् दुःखमेव हि।
विचार्य तत्र गन्तव्यं यत्र स्यादात्मसङ्गतिः ॥ २ ॥
"यादृशैः सन्निविशते यादृशांश्चोपसेवते।
यादृगिच्छेच्च भवितुं तादृग्भवति पूरुषः ॥ ३ ॥
महानुभावसम्पर्कः कस्य नोन्नतिकारकः।
अशुच्यपि पयः प्राप्य गङ्गां यान्ति पवित्रताम्" ॥ ४ ॥

सुसाधुसङ्गान्न परोऽस्ति कुत्रचित्, सुखस्यहेतुश्च विमुक्तिसाधनम्।
कुसङ्गतश्चापि न दुःखहेतवो न वाऽपरे दुर्गति हेतवः क्वचित् ॥ ५ ॥
तस्माज्जनः साधुजनान् विविच्य वै कर्मस्वभावैश्च वचोभिरद्भुतैः।
तेषां हि सङ्गेन विचारतस्तथा तत्प्राप्नुयान्नैव यतो निवर्तते ॥६॥२१६॥

उक्त सम आत्मा और नामादि साधनों को जानने के लिये ज्ञानी साधु की सङ्गति करना चाहिये, क्योंकि वह सङ्गति, और की (मूल की = अनादि) अज्ञान मोह कामादि व्याधि (रोग) को ज्ञानादि द्वारा हरती है और कुसङ्ग को त्यागना चाहिये, क्योंकि कूर (क्रूर शठ) की ओछी (थोरी) सङ्गति से भी आठो पहर उपाधि होती है। सदा मन में राग द्वेषादि उत्पन्न होते हैं। क्रूरों के पूर्ण सङ्गत होने पर तो कहना ही क्या है ॥२१४॥ सत्सङ्ग से अनादि रोग की निवृत्ति के द्वारा भावी दुःख की निवृत्ति तो होती ही है, वर्तमान-काल में भी सुख जीवन्मुक्ति का आनन्द ही होता है। इसी प्रकार कुसङ्ग से वर्तमान काल में भी दुःख होता है। अतः श्रीकबीर साहब कहते हैं कि तहाँ जाना चाहिए कि जहाँ अपनी सङ्गति (सद्‌गति अपने स्वरूप की प्राप्ति अनुभूति) हो, यह सबसे पहला खरा (सत्य) कर्तव्य कार्य है, सत्सङ्गग से सब शुभ की प्राप्ति होती है ॥ २१६ ॥

आजु काल्हु दिन कैक में, अस्थिर नाहिं शरीर।
कहहिं कबिर कस राखिहो, काँचे बासन नीर ॥२१७॥
बहु बन्धन ते बांधिया, एक विचारा जीव।
की बल छूटै आपनो, की छोड़ावै पीव ॥२१८॥

अद्य श्वो वा दिनै र्द्वित्रैः कतिभिर्वा कलेवरम्।
नैव स्थास्यति यत्नेऽपि ह्यामकुम्भे जलं यथा ॥ ७ ॥
अपि प्राणाश्च नंक्ष्यन्ति क्षणादेव न संशयः।
न जाने कुत्र यास्यन्ति किं भविष्यन्ति ते खलु ॥ ८ ॥
तस्मिंश्चैत्र तदर्थं च निःसहायोऽतिबन्धनैः।
वद्धो जीवः स्वसामर्थ्याद्धर्मज्ञानादिलक्षणात् ॥ ९ ॥
विमुच्यतेऽथवा स्वामी गुरुरीशो विमोचयेत्।
उपदेशेन साम्मुख्यात्सर्वस्यात्मस्वरूपतः ॥१०॥

आत्मानुभूति आदि के लिये कुसङ्ग का त्याग और सत्सङ्गादि अति शीघ्र करना चाहिये, क्योंकि आज या काल्ह (अगले दिन) या कैद दिनों में यह शरीर स्थिर रहने वाला नहीं है, क्योंकि काँचे बासन तुल्य देह में नीर तुल्य प्राण को कबतक कैसे रखोगे, यह तो स्वयं अस्थिर (क्षणभङ्गुर) है। अतः रहने वाला नहीं है, यह श्रीकबीर गुरु का उपदेश है ॥२१७॥ उक्त देह प्राणादि की रक्षा आदि के लिये, मोह काम कर्म भ्रमादि रूप बहुत बन्धनों से एक

(निःसहाय) वेचारा (असमर्थ) जीव बँधा है (कर्म वासनादि द्वारा ईश्वर से बाँधा गया है) तहाँ सत्सङ्गादि द्वारा कुछ बल को प्राप्त करने पर क्या तो अपने विवेक विराग विज्ञानादि बल से छुटता (मुक्त होता) है या भजन सेवा आदि से प्रसन्न अनुकूल सद्‌गुरु सन्त ईश्वर रूप पीव (प्रिय स्वामी) सब बन्धनों से उपदेशादि द्वारा छुड़ाते (मुक्त कराते) हैं। अन्य उपाय नहीं है। अतः कहा गया है कि "यतः कुतश्चिदन्विष्य सविरागममत्सरम्। जनं सज्जनमात्मज्ञं यत्नेनाराधयेद् बुधः ११॥ अर्द्धं सज्जनसम्पर्काद्‌विद्याया विनश्यति। चतुर्भागस्तु शास्त्रार्थैश्चतुर्भागः स्वयत्नेतः॥२॥" विरागी विमत्सर आत्मज्ञ सज्जनको जिस किसी उपाय से खोजकर विवेकी उसकी सेवा करे ॥१॥ क्योंकि ऐसे ज्ञानी के सम्बन्ध से अविद्या का अर्द्धांश निवृत्त होता है, चतुर्थांश शास्त्रार्थों के द्वारा और शेष चतुर्थांश स्वयत्न से निवृत्त होता है "आत्मबुद्धिः सुखायैव गुरु बुद्धिर्विशिष्यते" इत्यादि (योगवासिष्ठ) ॥२१८॥

जिव जनि मारहु बापुरा, सब का एकै प्राण।
तीरथ गये न बांचि हो, कोटि हिरा दे दान ॥२१९॥
जिव जनि मारहु बापुरा, बहुरि लेत वै कान।
हत्या कबहुँ न छूटि हैं, कोटिन सुनहु पुरान ॥२२०॥

सर्वत्रात्मबलं मुख्यमहिंसाधर्मलक्षणम्।
अतो जीवो न हन्तव्यो जीवितैषी स्वभावतः ॥११॥
सर्वेषां प्रणिनां प्राणानात्मप्राणासमानिह।
ज्ञात्वा घातान्निवर्तेत नरके ह्यन्यथा पतेत् ॥१२॥
"प्राणा यथाऽऽत्मनोऽभीष्टा भूतानामपि ते तथा।
आत्मौपम्येन भूतेषु दयां कुर्वन्ति साधवः" ॥१३॥
प्राणघातं विधायाऽत्र तीर्थे त्वं चेद्गमिष्यसि।
कोटींश्च हीरकान् दत्त्वा नहि पापद्विमोक्ष्यसे ॥१४॥
"दानमिज्या तपः शौचं तीर्थं सेवा तथा श्रुतम्।
प्रदुष्टमनसः पुंसः सर्वमेतदनर्थकम्" ॥१५॥२१९॥
अतो मारय नो मुग्ध ! कमपिप्राणिनं खलु।
सोऽपि त्वामन्यथा भूयो निश्चितं मारयिष्यति ॥१६॥
"सुखं वा यदि दुःखं यत्किंचित् क्रियते परे।
तत्कृतं तु पुनः पश्चात्सर्वमात्मनि संभवेत्" ॥१७॥

कोटिकृत्वः पुराणानां श्रवणेऽपि न ते तदा ।
हत्यादोषाद्विमुक्तिः स्यात्तस्माद्धिंसां विवर्जय ॥१८॥
"प्रायश्चित्तैरपैत्येनो यदज्ञानकृतं भवेत् ।
कामतो व्यवहार्यस्तु वचनादिह जायते" ॥१९॥
अहिंसया धर्मबलेन साधोः सङ्गेन हानेन कुसङ्गतेश्च ।
संप्राप्यते तत्परमं स्वबोधाद् वचोह्यतीतं सुखमक्षयं यत् ॥२०॥
यावन्न सत्यस्य भवेद्धि लाभस्तावत्स्वकर्मादिवशाद्धि जीवाः ।
परिभ्रमन्तीह सदा जगत्यां तल्लब्धयेतस्तु सदा यतस्व ॥२१॥
विहाय हिंसामदमोहदम्भान्, चौर्यानृतामर्षकुमैथुनानि ।
पारुष्यपैशुन्यमनोरथादीन्, दयालवो मोक्षपराभवन्ति ॥२२॥२२०॥

इति साक्षिसक्षात्कारेसत्सङ्गमहिमदयादिवर्णनंनामपञ्चत्रिंशीवित्तिः ॥३५॥

अहिंसारूप स्वबल के लिये उपदेश है कि हे बापुरे (बावरे) जीवों को जनि (नहिं) मारो । सबका प्राण एक-सा प्यारा है तथा सबका प्राण (आत्मा प्रभु) एक है । अतः हिंसा को अब भी त्यागो, नहीं तो तीर्थों में जाकर करोड़ों हीरों का दान करके भी भोगे बिना हिंसा जन्य पापों से मुक्त नहीं होगे ॥२१९॥ हे बावरे ! जीवों को नहीं मारो, नहीं तो वे प्राणी बहुरि (फिर) जन्मान्तर में कान (बदला = इज्जत = मर्यादा) को लेते हैं । अवश्य मारते हैं, तथा ईश्वर इसका अवश्य कान (खबर) लेता है, विचार करता है । हिंसा करके यदि करोड़ों बार पुराण की कथाओं को सुनोगे, तो भी हत्याजन्य पाप नहीं छूटेगा । क्योंकि अज्ञान भूलजन्य ही पापों की प्रायश्चित दानादि कर्मों से निवृत्ति होती है । इच्छापूर्वक ज्ञात पाप की निवृत्ति प्रायश्चित से नहीं होती है । किन्तु प्रायश्चित्त विधायक वचन के बल से सकाम पाप करके प्रायश्चित्त करने से लोक व्यवहारमात्र के लिये मनुष्य शुद्ध समझा जाता है । यह याज्ञवल्क्य मुनि का कथन है ॥ २२० ॥

———*———

अथ दुष्टकी तीर्थयात्रावर्णन प्र० ३६

तीर्थ गये ते बहि मुये, जूड़े पानि नहाय ।
कहहिं कबीर पुकारि के, राक्षस ह्वै पछताय ॥२२१॥
तीर्थ भई विष बेलरी, रही युगहुँ युग छाय ।
कबिरन मूल निकन्दिया, क्यों न हलाहल खाय ॥२२२॥

यो हिंसादीनमुक्त्वैव तीर्थेष्वपि गतो नरः।
स स्नात्वाऽपि जले शीते न किञ्चिल्लब्धवान् फलम् ॥ १ ॥
तीर्थानामाशया पापं कृत्वा चासौ विमुग्धधीः।
राक्षसत्वं प्रपद्याऽऽशु पश्चात्तापेन दूयते ॥ २ ॥
तीर्थाशया नरश्चायं भवनद्या सदोह्यते।
तीर्थं च तत्कृते जाता विषवल्ली महाविषा ॥ ३ ॥
युगसङ्घेषु सा व्याप्ता मारयन्ती जनान् मुहुः।
किल्विषं च विषं पीत्वा म्रियन्ते च स्वयं जनाः ॥ ४ ॥
तीर्थे गमनमात्रेण यात्रादर्शनतस्तथा।
स्नानपानादितो मुक्तिं वर्णयन्तः कवीश्वराः ॥ ५ ॥
मोक्षमूलमहिंसादीन् समूलं चक्रुरत्र ये।
तेषां वाक्येषु विश्वासात्कथं खादन्तु नो विषम् ॥ ६ ॥

हिंसा आदि दुष्कर्मों को त्यागे बिना तीर्थों के भरोसे पाप, आत्मघात करने करानेवाले यदि तीर्थ में गये, तो वे लोग जूड़े (ठण्ढे) पानी में नहाय कर भी बह मुये (पाप नदी में दह गये) और पापों को निवृत्ति नहीं होनेसे मानो राक्षस (मानव भक्षी) होकर फिर पश्चात्ताप करते हैं (पाप के फल को भोगते हैं) ॥२२१॥ तीर्थ में आत्मघातादि करनेवालों के लिये तीर्थ भी विष बेलरी (विष लता) हुई। सो युग-युग में छा रही है। और तीर्थ में जाने आदिमात्र से सब पापों की निवृत्ति मुक्ति को वर्णन करनेवाले कवियों ने मुक्ति के मूलरूप अहिंसादि योग-ज्ञानादि को मूल सहित निकन्दन (नाश) कर दिया तो अज्ञ प्राणी तीर्थ में हलाहल विष को क्यों न खाय आत्मघातादि क्यों न करें। क्योंकि वे लोग तो कवियों के वचनों से तीर्थ में आत्मघात करके भी मुक्ति समझते हैं। परन्तु आत्मज्ञानादि के बिना मुक्ति नहीं होती है ॥२२२॥

तीरथ गये तीन जना, चित खोटा मन चोर।
एको पाप न काटिया, लादिन मन दश और ॥२२३॥

येषां चित्तं वशे नास्ति मनः पापाशयं चलम्।
बुद्धौ वैगुण्यचौर्याशा ते तीर्थेष्वगमन् यदि ॥ ७ ॥
एकमपि न पाप्मानं खण्डयन्ति हि ते तदा।
कुर्वन्ति दशधा पापं तीर्थं तेन विषायते ॥ ८ ॥
चित्तादेरवशित्वे हि हिंसा चौर्यं कुमैथुनम्।
पारुष्यानृतपैशुन्य निःसम्बन्धप्रभाषणम् ॥ ९ ॥

द्रोहलोभभ्रमाश्चैते पाप्मानो वै भवन्ति हि ॥१०॥
"चित्तमन्तर्गतं दुष्टं तीर्थस्नानैर्न शुद्ध्यति ।
शतशोऽपि जलैर्धौतं सुराभाण्डमिवाशुचिः" ॥११॥
विशुद्धं यन्मनस्तीर्थमिन्द्रियाणां च निग्रहः ।
शरीरस्थं हि तत्तीर्थं शोधयत्येव सज्जनान् ॥१२॥
अक्रोधनः सुसन्तुष्टः सत्यशीलो दृढव्रतः ।
आत्मोपमश्च भूतेषु स तीर्थफलमश्नुते ॥१३॥
उत्तमा तत्त्वचिन्तैव मध्यमं शास्त्रचिन्तनम् ।
अधमा मन्त्रचिन्ता च तीर्थभ्रान्त्यधमाऽधमा ॥१४॥
लब्ध्वा न चात्मानमखण्डबोधं न वाऽऽत्मशोधं न सदानुरोधम् ।
तीर्थे भ्रमंश्चैषदुराशयाऽऽशु चाञ्चल्यमोहप्रमुखैर्विनश्येत् ॥१५॥२२३॥

इति साक्षीसाक्षात्कारे भावदुष्टानां तीर्थभ्रान्त्याविश्रान्त्य भाववर्णनं नाम षट्त्रिंशी विवृत्तिः ॥ ३६ ॥

जिनका स्मरण ध्यान रूप चित्त और संकल्प विकल्प (संशय) रूप मन ये दोनों खोटे (अशुभ और चञ्चल) हैं, और जो स्वयं चोर हैं, ऐसे तीन जना (मनुष्य) यदि तीर्थ में गये तो पूर्व के एक पाप को भी काट (नष्ट) नहीं कर सके, और नवीन दश मन पाप वहाँ से मन पर लाद लाये (दश इन्द्रिय जन्य दश प्रकार के पाप कर आये) हिंसा, चोरी, व्यभिचार रूप तीन प्रकार के पाप शरीर से होते हैं। असत्य, परुष, निन्दा, चुगली, असङ्गत प्रलाप वचन से होते हैं। पर के अनिष्ट चिन्तन, निन्दित ध्यानादि मन से होते हैं, सो अशुद्ध चञ्चल चित वाले प्रायः तीर्थ में भी करते हैं कि जिससे तीर्थ की महिमा नष्ट हो जाती है, मनुष्य देह के उत्तमाङ्ग तुल्य भूमि आदि के उत्माङ्गों को ऋषि मुनि आदि सत् पुरुषों से सेवित स्थानों भूमि जल को बाह्य तीर्थ कहते हैं, [1]तहाँ श्रद्धा सदाचारादि वाला ही तीर्थ फल का भागी होता है, पुण्य के श्रद्धा आदि भी हेतु होते हैं, पाप के नहीं, वस्तुतः "तीर्थं परं किं स्वमनो विशुद्धम्" इत्यादि ॥ २२३ ॥

---

१ नियतो नियताऽऽहारः स्नानजाप्यपरायणः । व्रतोपवासनिरतः स तीर्थफलमश्नुते ॥१॥ तीर्थानुगमनं पद्भ्यां तपः परमिहोच्यते । तदेव कृत्वा यानेन स्नानमात्रं फलं भवेत् ॥२॥ येनैकादशसंख्यानि यन्त्रितानीन्द्रियाणि वै । स तीर्थफलमाप्नोति नरोऽन्यः क्लेशभाग्भवेत् ॥३॥ स्कन्दपु० खं० अ० २८ ।

अथ मायाबेलि आदि में अनासक्त सन्त प्र० ३७

ए गुणवन्ती बेलरी, तव गुण वरणि न जाय।
जहँ काटे तहँ हरियरी, सींचे ते कुम्हिलाय ॥२२४॥

अये गुणाश्रये ! माये ! ब्रह्मवल्ल्यति विस्तृते।
वर्णयितुं न शक्यन्ते विचित्रास्ते गुणा जनैः ॥ १ ॥
यत्र त्वं खण्ड्यते बुद्धे तत्रोल्लासः प्रवर्तते।
सेचने म्लायसे नित्यं ह्यबुधे पापकर्मणि ॥ २ ॥
गुणानां तव वा यत्र खण्डनं विद्यतेऽखिलम्।
तत्रानन्दः सदा भाति सेचने ग्लानिरद्भुता ॥ ३ ॥
हे गुणवति ! माये ! त्वं विचित्रालक्ष्यसे बुधैः।
सुखी छिनत्ति यस्त्वां स दुःखी सिञ्चति यो सदा ॥ ४ ॥२२४॥

हे गुणवतीमाया बेलरी ! तेरागुण स्वभाव कुछ कहा नहीं जा सकता है। गुण सहित तूँ अद्भुत अनिर्वचनीय है। अतः ज्ञानी जहाँ तुझे काटते (मिथ्या समझते) हैं तहां उनके हृदय में हरियरी (आनन्द की अभिव्यक्ति) होती है। और जो कोई तुझे सींचते (सत्य समझते) हैं। सो तुझे सींचने से कुम्हिलाते हैं (दुःखी होते हैं) अर्थात् चञ्चल चोरादि मायिक प्रपञ्च को सत्य समझ कर, तीर्थों में जा कर भी अपने तन मन आदि जन्य दुष्कर्मों से कपटादि स्वरूप बन्धप्रद माया को ही सींचते हैं। अतः अन्त में दुःखी होते हैं, सुखेच्छु को ऐसा कभी नहीं करना चाहिये। किन्तु माया बेलि को काट कर सुखी होना चाहिये ॥२२४॥

बेलि कुढङ्गी फल बुरा, फुलवा कुबुधि गँधाय।
ओर विनष्टी तूमरी, सरो पात करुआय ॥२२५॥

अविद्या रूपिणी माया दुर्बुद्धिपुष्पसंयुता।
जनुरादिफला शश्वन्महानर्थ प्रवर्तिनी ॥ ५ ॥
शश्वत्परिणतौ दक्षा स्वात्मज्ञानविनश्वरी।
आनन्द जननी चाद्या मूढानां हि भयंकरी ॥ ६ ॥
मायाबल्ल्यास्तु पत्राणि कार्याणि खलु सर्वशः।
कटूनि विरसान्येव मूढानां भान्ति चान्यथा ॥ ७ ॥
कुफला कुत्सिताकारा कुधीपूति सुमैर्युता।
आदिनष्टा हि तुम्बोयं कटुपत्रा कुतुम्बिका ॥ ८ ॥२२५॥

यह अविद्या रूप माया कटु बेली कुढङ्गी (कुत्सिताकार वाजी) है। इसके भ्रम संशय, काम राग, द्वेषादि रूप जन्ममरणादिरूप बुरे फल होते हैं। और इसके कुबुद्धिरूप फूल अत्यन्त दुर्गंध होने से गंघाते हैं। (पाप अपयश दुःखादि को उत्पन्न करते हैं) और यह तुमरी ओर (अनादिकाल) से ही विनष्टि (विनश्वर = परिणामशील है। और इसके सरो (सब) पात (पते) कार्य करुआ (कटु दुःखप्रद) ही होवे हैं। या इसके सड़े गले जीर्णपत्ते करुआ हो जाते हैं। नवीन कुछ मधुर प्रतीत होते हैं। अतः वैराग्यादि अस्त्र से कपट कुबुद्धि आदि रूप अविद्या छेतव्य है ॥२२६॥

परदे पानी ढाढिया, सन्तो करहु विचार।
शरमा शरमी पचि मुआ, काल घसीटनिहार ॥२२६॥

विद्यया बाधयस्वैनां स्थालीस्थं हि जलं यथा।
वह्निर्दहति संरुद्धमविद्यास्थं तथैव च ॥ ९ ॥
समारुद्धं हि कामाद्यैस्त्वां वियोगमुखाग्नयः।
संदहन्ति महाबुद्धे ! तस्मान्नाशे त्वरस्व त्वम् ॥१०॥
लोकलज्जाऽम्भसि प्राप्ता निमग्ना ये प्रमादिनः।
ते कालस्य वशे भूत्वा लुठ्यन्ते भवकानने ॥११॥
अतः साधो ! विचारं त्वं विवेकं कुरु सर्वदा।
बोधेनावरणं भित्वा भिन्धि लज्जादिजं भयम् ॥१२॥
अन्यथाऽऽकर्षति क्रूरः कालः सर्वासुयोनिषु।
यान् मुहुस्तेऽत्र जायन्ते म्रियन्ते पीडिता मुहुः ॥१३॥२२६॥

हे सन्तो ! अग्नि का नाशक भी पानी परदे में अग्नि से जलाया जाता है। इसी प्रकार अविद्या मोह ममता आदि जन्य परदे (आवरण) के रहते जीवाऽऽत्मा कामादि विरहादि अग्नि से जलता है। अतः परदा आदि को दूर नष्ट करने के लिये विचारादि करो, और ज्ञान से आवरण को नष्ट करो। क्योंकि जो लोग सत्सङ्ग विचारादि नहीं करके लोक लाज दुविधा आदि रूप शरमा शरमी में पचकर मुये या मरते हैं, उन्हें नरक योनि आदि रूप भव काननमें काल घसीटनेवाला है। अतः विचारादि करके कालसे बचो ॥२२६॥

आस्ति कहौं तो कोई न पतिजै, बिना आस्ति का सिद्धा।
कहहिं कबीर सुनहु हो सन्तो !, हीरी हीरहिं विद्धा ॥२२७॥

सोना सज्जन साधु जन, टूटि जुटहिं सौ बार।
दुर्जन भाँड़ कुम्हार का, एकही चोट दरार ॥२२८॥

विचारेण विना सत्यमुक्तं प्रत्येति कोपि न।
प्रत्येति च सदाऽसत्यं ततः सिद्धिं च मन्यते ॥१४॥
अहो मूढै र्हि काचेन विध्यते हीरको मुहुः।
विचारेण त्वया साधो! काचो हीरेण विध्यताम् ॥१५॥
विघ्नशतनिपाते च शते क्षोभेषु सज्जनाः।
साधवो हि मिलन्त्येव विचारेण च सज्जनैः ॥१६॥
सुवर्ण इव दुर्भेद्या भवन्त्येव सुसज्जनाः।
संधेयास्तूर्णमेवेति दुर्जनाः कुम्भवन्मृदः॥
आशु भेद्या न सन्धेया भवन्ति जातुयत्नतः ॥१७॥२२८॥

विचारादि रहितता के कारण अस्ति (अत्यन्त सत्यात्मा) की बात को कहने पर उसको कोई पतिजता (प्रतीत = विश्वास पूर्वक मानता) नहीं है। और बिना आस्ति का (सर्वथा सत्ता रहित) इन लोगों को स्वयं सिद्ध अनादि सत्यादि भासता है। अतः श्रीकबीर साहब कहते हैं कि हे सन्तो ! सत्यात्मा के श्रवण विचारादि करो। क्योंकि इस श्रवणादि के बिना तो मानो हीरी (कांच) ही हीरा को वेधा (फाड़ा काटा) मिथ्या माया अविद्या सच्चिदानन्द स्वरूप को मानो अज्ञ के लिये आवृत्त किया है, यह अविचारादि का प्रभाव है। अतः श्रवण विचारादि से अविद्या को नष्ट करो ॥२२७॥ सज्जन साधुजन (सत्य के प्रेमी चतुर लोग) सोना के समान दुर्भेद्य शीघ्र संधेय उज्वल होते हैं। अतः श्रवण विचारादि से सैकड़ों बार छूटने टूटने पर भी फिर उसीमें जूट (मिल लग) जाते हैं। कभी कुमार्ग कुविचारमें नहीं लगते हैं। न जाते हैं। और दुर्जन कुम्हार के पक्का भाँड़ा (घटादि) के समान होता है। अतः दैवयोग से कभी कभी सुमार्ग में लगने पर भी एक ही विघ्नरूप चोट से घट के समान दरारवाला (छेद भेदवाला) हो जाता है, फट जाता है। यही दशा सज्जन दुर्जन की भक्ति, प्रीति, मित्रता आदि की भी होती है ॥ २२८ ॥

काजर की है कोठरी, बुड़ता ई संसार।
बलिहारी तिहि सन्त की, पैठि जु निकलनिहार ॥२२९॥
काजर की है कोठरी, काजरही का कोट।
तोन्दी कारी ना भई, रहा सु ओटहि ओट ॥२३०॥

संसाराऽऽडम्बरश्चैष कज्जलै र्निर्मितं गृहम् ।
आसक्तामलिनायन्ते ह्यनासक्तास्तुनिर्मलाः ॥१८॥
संसारोऽयं महाम्भोधिर्निमज्जन्त्यत्र दुर्जनाः ।
विचारविकलाः स्तेना निर्विवेका कुबुद्धयः ॥१६॥
काम द्वेषादिभिश्चाक्ता मलिना हृतदृष्टयः ।
नो निमज्जन्ति कुत्रापि तदन्ये ये सुदृष्टयः ॥२०॥२२९॥
माया कज्जलकार्येपि देहे विश्वे गृहे तथा ।
प्राकारे महति प्राप्याऽप्युन्मज्जन्ति हि सज्जनाः । २१॥
धन्यास्ते सर्वपूज्याश्च कज्जलै र्ये न सङ्गताः ।
विवेकेन च संप्राप्ताः पावनं परमं पदम् ॥२२॥
सद्गुरोः शरणे भक्तौ मार्गे ये चाऽभये सदा ।
वर्तन्ते ते न कुत्रापि संसजन्ति महाशयाः ॥२३॥
बोधेन मायां खलु बाधयित्वा ह्यसङ्गबुद्धया रमते सदा यः ।
गुणात्परं स्वं प्रतिलभ्य शुद्धं तदात्मना तिष्ठति वै विशुद्धः : ॥२४॥
नाल्पं तमस्तं नहि किल्विषं वा रागो न च द्वेषमुखा विकल्पाः ।
केनापि मार्गेण कदापि किञ्चित् कथञ्चिदप्यत्र हि संश्रयन्ति ॥२५॥

इति साक्षिसाक्षात्कारे माया वल्ल्यादिवर्णनं नामसप्तत्रिंशी वित्तिः ॥३७॥

मनः तामसी माया अविद्यामय यह संसार शरीर गृहादि काजर से रचित कोठरी तुल्य है, रागद्वेषादि रूप कालिमा से व्याप्त है । और अपार समुद्र तुल्य है । इसमें विचारादि रहित सब संसारी डूब रहे हैं, और डूबते हैं । उस विचारवान् सन्त की बलिहारी है, कि जो इस संसार के व्यवहारादि में पैठ कर भी रागद्वेष पापादि रूप कलिमा से रहित होते हुए ज्ञानादि रत्न को लेकर इस संसार से निकलने वाले हैं ॥२२६॥ शरीर लोकादि काजर की कोठरी है (तामसी माया के कार्य है) और ब्रह्माण्डादि काजर के कोट हैं, अविवेकी इनकी कामना वासना से रंग जाते हैं । परन्तु जो सन्त विवेकादि युक्त होकर, सद्गुरु सद्विचारादि के सुन्दर ओट (छाया = शरण) में ही रहे, और रहते हैं । सबसे असङ्ग रहते हैं । उनको तोन्दीमात्र (तर्जनी अंगुली के अग्र मात्र) भी कारी (कालिमा युक्त) नहीं हुई । (उनमें किसी पापादि का कुछ भी सम्बन्ध नहीं हुआ, न होता है । सर्वथा मुक्त हो गये । अतः विचारादि द्वारा ज्ञान की प्राप्ति पूर्वक असङ्गता को प्राप्त करना चाहिये ॥२३०॥

अथ भक्तिमहात्म्यादि प्रकरण ३८

अर्ब खर्ब लै द्रव्य है, उदय अस्त लै राज।
भक्ति महातम ना तुलै, ई सब कौने काज ॥२३१॥

खर्वाद्यन्तानि वित्तानि स्यूराज्यञ्चोदयाचलम्।
यद्यस्ताचलपर्यन्तं यान्ति भक्त्या न तुल्यताम् ॥ १ ॥
भक्ति मुक्ते विंधात्री स्याद् राज्यं बन्धप्रवर्द्धनम्।
भयं ददति सर्वत्र वित्तानि सर्वसंचयाः ॥ २ ॥
साधुरेभिस्तु किं कुर्याज्जनानां स्याद्विमण्डनम्।
तेषामपि न सत्कार्यं किञ्चिदेतैस्तु साध्यते ॥ ३ ॥
परस्वादानविरतिः साधोः पूर्वं प्रवर्तते।
विवेकिनो निजार्थेषु सन्तोषश्चाभिजायते ॥ ४ ॥
परस्वादानविरतः सन्तोषाऽमृतनिर्भरः।
विवेकी क्रमशः स्वार्थानुपेक्ष्य वर्तते सुखम् ॥ ५ ॥२३१॥

सद्गुरु सत्यात्मा की भक्ति से ज्ञान द्वारा मुक्ति होती है, द्रव्य राज्यादि में आसक्ति मोहादि से राग-द्वेष पापादि द्वारा जन्मादिरूप संसार बन्धन होता है। अतः अर्ब खर्ब संख्या पर्यन्त द्रव्य हो, और उदयाचल से अस्ताचल पर्यन्त राज्य हो तो भी उस द्रव्य और राज्य की महिमा, भक्ति की महिमा के तुल्य नहीं हो सकती है, तो वे द्रव्य और राज्य मुमुक्षु मुक्त साधु के कौन कार्य के साधक हो सकते हैं। विवेकी सन्त भक्त की दृष्टि में भक्ति के आगे ये द्रव्यादि किसी काम के नहीं हैं। अतः इनके कामादि से रहित सन्त भक्त कामादिरूप कालिमा से लिप्त नहीं होते हैं ॥ २३१ ॥

मच्छ बिकाने सब गये, धीमर के दरबार।
अँखिया तेरी रतनारी, क्यों कर पेन्ही जार ॥२३२॥

वित्ताद्यै र्हि भवाब्धेस्ते मत्स्यतां प्राप्य निन्दिताम्।
यमादे वंशमायान्ति विक्रीयन्ते जनाः पुनः ॥ ६ ॥
कर्मजालसमाकृष्टा मोहपाशै र्वशीकृताः।
भक्तिहीना नरा भूयो यान्त्येव यममन्दिरम् ॥ ७ ॥
निषादा हि यथा क्रूरा घ्नन्ति मत्स्यांस्तथायमः।
हन्त्येवात्राकृतप्रज्ञान् संशयो नात्र विद्यते ॥ ८ ॥

भो भद्र ! भवता भूयो विचारोऽयं विधीयताम् ।
रत्नतुल्येऽक्ष्णि सत्त्वेऽत्र मनोबुद्ध्यादिलक्षणे ॥ ९ ॥
भवान् किं बध्यते जालैः कर्ममोहादिलक्षणैः ।
यथा मत्स्यो हि बध्येत रत्नतुल्येऽक्ष्णि सत्यपि ॥१०॥२३२॥

द्रव्यादि जल से पूर्ण संसारसागर के मीन तुल्य भक्ति विचारादि रहित मनुष्य कर्मजाल माया फाँस में फँसकर, लोभ-वासनादि के वश में होकर ब्रह्म निजात्मा स्वरूप समुद्र को स्वयं त्यागकर यमादिरूप धीमर (निषाद) के दरबार (सभा) में स्वयं मानो बिकाने गया है । जो कि विषयों में आसक्त है, और विचारादि नहीं करता है, उसकी ऐसी दशा हैं, तहाँ दयालु सद्गुरु कहते हैं कि तेरी आँख तो रत्नारी (रत्नतुल्य चमकदार) है (बुद्धि व्यवहार मनुष्य के हैं) फिर भी तुम माया मोहादिमय जाल मत्स्यतुल्य कैसे पहिर लिये हो, विषयादिमें क्यों फँसे हो, इन्हें त्यागना ही विवेकीके लिये उचित है ।२३२।

पानी भीतर घर किया, शय्या किया पताल ।
पासा परा करीम का, मैं तैं पेन्हो जाल ॥२३३॥

संसाराब्धि जले यच्च गृहं वै भवता कृतम् ।
शरीरं विषये धीमन् ! पाताले च त्वयाऽऽसनम् ॥११॥
पितु वीर्ये त्वया यच्च वासनाभिर्गृहं कृतम् ।
आसनं मातुरुदरे पाताले ह्यतिसंकटे ॥१२॥
पापे कर्मण्यविद्यायां तेन मोहै र्नियन्त्रितः ।
तव ममादिबुद्धौ त्वं जाले चाविशसि स्वयम् ॥१३॥
त्वया चैवं न मन्तव्यं बध्नात्येवेश्वरो बलात् ।
आप्तकामस्य शुद्धस्य त्वद्बन्धे किं प्रयोजनम् ॥१४॥
गर्भादौ विषये वापि त्वमेवं वासनादिभिः ।
बद्धोयास्यविवेकेन कर्मपाशेन पाशितः ॥१५॥२३३॥

मछली तुल्य मनुष्य समझते और कहते हैं कि हमने सुखद विषयरूप पानी में घर किया है (स्थिति के लिये विषयों को शरण मानकर उनका संग्रहादि किया है) और अमर लोक स्वर्गादि को शय्या (सुख से शयन का स्थान) पाताल तुल्य किया है (समझा है) और उसके लिये कर्मादि भी किया है, तो भी प्रारब्ध कर्म दैवरूप करीमा (ईश्वर) के हाथ में मेरे कर्मों का ही पासा (जाल) पड़ा (प्राप्त हुआ) तब मैंने ब्रह्मात्मा महासमुद्र को त्याग कर

सृष्टि के आदिकाल में ही देह में आकर तैं मैं (राग-द्वेष) तेरा मेरा आदि स्वरूप जाल पहिर लिया है। अतः मैं ईश्वराधीन हूँ, न कुछ किया है, न कर सकता हूँ, इत्यादि ॥ २३३ ॥

मच्छा भये न बाँचि हो, धीमर तेरो काल।
जिहि जिहि डावर तू फिरो, तहँ तहँ मेलिहिं जाल ॥२३४॥

भवाब्धौ मत्स्यतां प्राप्य न कदापि विमुच्यसे।
कालरूपो निषादो हि सर्वलोकेषु धावति ॥१६॥
गृह्णाति ममताऽऽविष्टान् जीवमत्स्यान्न संसयः।
कर्मजाले निबध्नाति कालः सर्वासु योनिषु ॥१७॥
संसारसिन्धौ खलु मत्स्यवद्धि ये, पातालवल्लोकदरिषु सक्तकाः।
सद्भक्तिहीनाश्च धनादिलुब्धकाः, सर्वत्रकालस्यवशाभवन्ति ते ॥१८॥२३४

सद्गुरु कहते हैं कि मछली तुल्य विषय पानी को घर बनाने से तथा स्वर्ग पातालादि को शय्या बनानेसे अविवेकी रहते कालरूप धीमर से नहीं बचोगे। क्योंकि मत्स्य तुल्य होकर जिस-जिस लोकादिरूप डावर (तुच्छ जलाश्रय तुल्य तुच्छ विषय सुखाश्रय) में तुम फिरोगे, तहाँ तहाँ वह काल रूप धीमर कर्म जाल मेलेगा (डालेगा) क्योंकि विषयादि पानी को सेवनेवाले तेरे लिये काल धीमर है, सो सर्वत्र वर्तमान रहता है। किन्तु ज्ञानाग्नि से कर्म जाल को जला देने पर वह कुछ नहीं कर सकाता है। अतः मत्स्य रूपता को त्याग कर भक्ति ज्ञान के लिये यत्न करो ॥२३४॥

बिनु रसरी खलको बँधा, तासो बँधा अलेख।
दीन्हा दर्पण हस्त मधे, चसम बिना क्यों देख ॥२३५॥

रज्जुं विना भ्रमेणैव वद्धा वै प्रणिनः समे।
कलने सति कालोऽपि न कश्चिच्चोपलभ्यते ॥१९॥
भ्रमैर्जीवेषु बद्धेषु ह्यदृश्यात्मापि बद्धवत्।
भाति सर्वेषु लोकेषु जनै र्न लक्ष्यते स्वतः ॥२०॥
यथा मुखमदृश्यं हि स्वेनैव चक्षुषा स्वयम्।
ज्ञायते दर्पणै र्लोके चक्षुर्मद्भिर्विचक्षणैः ॥२१॥
अदृश्योऽपि तथैवात्मा मनसा चेद्रियादिभिः।
सतां वाग्दर्पणैः स्वान्ते दर्पणे सविवेकिभिः ॥२२॥
लक्ष्यते स्वविचारेण शुद्धे स्थिततरे ननु ॥२३॥

यस्मै सद्गुरुभि र्दत्तः स्वादर्शो विमलः करे ।
सत्योपदेश रूपो वै कर्णे च कलुषापहः ॥२४॥
विवेकचक्षुषोऽभावे विचारे चाकृते तथा ।
कथञ्चित्स स्वमात्मानं नैव पश्यति दुर्मतिः ॥२५॥
अतः स्वस्य विवेकाय विचारः क्रियतांत्वया ।
विचाराय सतां सङ्गः सुशीघ्रं च विधीयताम् ॥२६॥२३५॥

वस्तुतः इस खलक (संसारी) को काल (यम) कर्म रस्सी से नहीं बाँधा है, किन्तु यह संसारी रस्सी के बिना ही अज्ञान जन्य भ्रम मोह कामादि से बन्दरादि के समान बँधा है, कर्म भी अज्ञानादि मूलक होकर के बन्धन के हेतु होते हैं अज्ञानादि के बिना नहीं, और संसारी प्रमाता रूप जीव के भ्रमादि से देह गेहादि में बँधने पर, उसमें स्थिर (भदृश्य) अलेख साक्षी स्वरूप आत्मा भी इस को भ्रम से बँधा प्रतीत होता है, उस भ्रम की निवृत्ति और शुद्धात्मदर्शन के लिए उपदेशादि रूप दर्पण इस के हाथ में देने पर भी, विवेकादि रूप चसम (नेत्र) के बिना कोई कैसे देख (जान) सकता है । अतः विवेकादि कर्तव्य है ॥२३५॥

समुझाये समुझे नहीं, परहथ हाथ बिकाय ।
मैं खैंचत हौं आप को, वह चल यमपुर जाय ॥२३६॥
नित खरसान लोह घुन छूटै । नित कि गुष्टि माया मोह टूटै ।२३७।

विचारायोपदेशेन नावगच्छति यो नरः ।
वञ्चकादि वशे भूत्वा कालस्य वशमेति सः ॥२७॥
अहो मोहबलं तीव्रमाकर्षामि स्वयं हि यम् ।
मोचयितुं स मोहेन याति वै यमपत्तने ॥२८॥२३६॥
नित्यं संमार्जनाल्लौहं निर्मलं जायते यथा ।
सत्सङ्गत्या तथा नित्यं मोहमुक्तो भवेज्जनः ॥२९॥
मोहस्य विगमे चायं संसाराब्धि सुखं तरेत् ।
एवं हि सद्गुरुः प्राह नरस्तु मन्यतेऽन्यथा ॥३०॥२३७॥

विवेकादि के सर्वथा अभावसे जो समझाने से भी निजस्वरूप धर्मादि को नहीं समझते हैं, सो परहथ (परवश) कामकर्मादि के अधीन होकर, यमादि के हाथे बिकते हैं, (यमादि के वश में होते हैं) । अतः मैं जिसको अपने मोक्ष मार्ग की तरफ़ खींचता हूँ, सो स्वयं कामादि वश होकर यमपुर में जाता है,

देह गेहादि में आशक्त प्रवृत्त होकर यम लोकादि में जाता है, भक्ति ज्ञानादि की कथा को भी नहीं सुनना चाहता है ॥२३६॥

जैसे सदा निस दिन (सब दिन) खरसान करने (माँजने से तीक्ष्ण सान से घीसने से) लोहे का घुन (जंग काई) छूटा हुआ रहता है। वैसे ही नित के (प्रतिदिन) गुष्टि (सत्सङ्ग विचारादि) से माया (ममता) मोहादिरूप बन्धन टूटते (नष्ट होते) हैं। अतः सत्सङ्गदि रूप गुष्टि सदा कर्तव्य है।२३७।

लोहा केरी नावरी, पाहन गरुआ भार।
शिर पर बिष की मोटरी, उतरन चाहै पार ॥२३८॥

अहो मोहस्य माहात्म्यं सद्गुरुं नाविकं निजम्।
सुहृदं सर्वभूतानां त्यक्त्वा नावं विवेकजाम् ॥३१॥
विज्ञानं विरतिं चैव भक्त्यादीन् हरिमव्ययम्।
काम्यकर्ममयीं नावं स्वमनोरथदुर्वहाम् ॥३२॥
कुवासनाभराक्रान्तां कृत्वा संगृह्यगोचरान्।
संसाराब्धेः परं पारं प्राप्तुमिच्छन्ति मोहतः ॥३३॥
महाभयं न पश्यन्ति क्रुडन्ति च भवार्णवे।
सत्सङ्गादि विना मर्त्या विपरीतैः स्वकर्मभिः ॥३४॥
लौहीं ह्यसंस्कृतां नावं कृत्वाऽऽरोप्य महाशिलाम्।
मस्तके विषपात्रं च धृत्वैव तरितुं नदीम् ॥३५॥
समिच्छति यथा कोऽपि मन्दप्रज्ञो विमूढधीः।
निमज्जति तथा तेऽपि निमज्जन्ति न संशयः ॥३६॥२३८॥

सत्सङ्ग, भक्ति, विषय त्यागादि के बिना मोक्षादि को चाहनेवाले मानो सकाम निन्दित कर्मादिरूप अनगढ़ लोहे की नौका बनाये हैं। उस परमनोरथादिरूप पत्थर का गरुआ (गुरु-भारी) भार लादे हैं। और मनरूप शिर पर वर्तमान विषयरूप विष की चिन्तारूप मोटरी (गठरी) लादे हुए हैं, तो भी संसार सागर से सब दुःख महोदधि से पार उतरना चाहते हैं, सो आश्चर्य असम्भव है। अतः संसार से पार होने के लिये कुकर्म निषिद्ध विषयादि के त्यागपूर्वक सत्सङ्गादि कर्तव्य हैं। कहा गया है कि "मुक्तिमिच्छसि चेत्तात! विषयान् विषवत्त्यज। क्षमाऽऽर्जव दयातोषसत्यं पीयूषवद् भज॥ अष्टावक्र गीता० १।१" हे तात! यदि मुक्ति चाहते हो तो विषयों को विषतुल्य त्यागो, क्षमा, आर्जव=नम्रता, दया, सन्तोष, सत्य को अमृततुल्य भजो (सेवो) ।२३८।

कृष्ण समीपी पाण्डवा, गले हिमालय जाय।
लोहा को पारस मिले, काहे काई खाय ॥२३९॥

श्रीकृष्णस्य प्रिया दासाः समीपस्था हि पाण्डवाः।
इन्द्रियार्थैं हृतज्ञानाः शोकेन विवशीकृताः ॥३७॥
हिमालये गताश्चार्ता जातास्ते वै गतासवः।
वैराग्यदृढबोधाभ्यां विना शर्म न लेभिरे ॥३८॥
यथापार्श्वमणेर्लाभे लौहो न लिप्यते मलैः।
तथा ज्ञानस्य लाभे हि मोहादैन्यं भवेत्कुनः ॥३९॥

कृष्णस्य दासाः खलु ये हि पाण्डवास्तेऽपीह शब्दादिषु सक्तमानसाः।
इष्टाद्वियोगादिज शोकसंप्लुता नष्टा हिमैश्चेदितरस्य का कथा ॥४०॥२३९॥

इति साक्षिसात्कारे भक्तिमहात्म्यादि वर्णनं नामाष्टात्रिंशी विवृत्तिः ॥३८॥

समझाने पर भी नहीं समझने से तथा उक्त लोहे की नावरी से तथा शिर पर विष की मोटरी के धारण से ही श्रीकृष्णजी के समीपी (सम्बन्धी) भी पाण्डव (युधिष्ठिरादि) श्रीकृष्णजी आदि इष्ट के वियोग से शोकातुर हुए। और महाप्रस्थान (महायात्रा) करके हिमालय में जाकर गल गये (मर गये) यदि लोहा को पारस मिल जाय, तो उसको सुवर्ण होने पर काई कैसे खा सकती है (कैसे नष्ट कर सकती है)। अर्थात् आत्मानुभव होने पर शोकादि नहीं हो सकते हैं, न नष्ट कर सकते हैं। क्योंकि "तरति शोकमात्मावित्। छा० ७।१।३" आत्मज्ञानी शोकादि तर जाता है (शोकादि से रहित हो जाता है) और पाण्डव शोकादि को नहीं तर सके, इससे सिद्ध होता है कि विषय सङ्गादि से उन्हें श्रीकृष्ण के समीपी होते भी दृढ़ ज्ञान नहीं हो सका। अतः मुमुक्षुजिज्ञासु के लिये विषय सङ्गादि त्याज्य है ॥२३९॥

अथ गर्वप्रमादादिनिषेध प्रकरण ३९

पूर्व उगै पश्चिम विशवै, भखे पवन का फूल।
ताहु को राहु गरासिया, मानुष काहे भूल ॥२४०॥
नयनक आगे मन वशे, पलक पलक कर दौर।
तीनि लोक मन भूप है, मन पूजा सब ठौर ॥२४१॥

पूर्वामुदेत्य यः सूर्यः प्रतीच्यामस्तमेति च।
भक्षते वातपुष्पं च राहुणा ग्रस्यते हि सः॥ १॥
ईदृशानां यदा ग्रासो निम्लोचश्चैव वर्तते।
तुच्छेन मानवः कस्मात्सामर्थ्येन प्रमाद्यति॥२॥२४०॥
प्रमादीनां मनश्चैतन्नेत्रमारुह्यतिष्ठति।
धावते गोचरे शश्वद्विस्तारयति कल्पनाम्॥ ३॥
विकल्प जालयुक्तश्च मनः सर्वत्र पूज्यते।
भूपवद्वर्तते चैतदहो मोहविडम्बना॥ ४॥
शुद्धवायोः प्रभोक्तारं राहु वैं बाधते यथा।
तथैतद्विषयासक्तान् मनः. सर्वान् प्रबाधते॥ ५॥२४१॥

जो सूर्य पूर्व उगते (प्रकट होते) हैं। सब संसार को प्रकाश देकर पश्चिम दिशा में प्रवेश करते (अस्त होते) हैं, और वायु के फूल (सार) को खाते हैं। शुद्ध वायु से जो स्वरूप का धारण करते हैं। उनको भी मानो राहु ग्रसता है, तो तुच्छ बल प्रताप विषयादि में मनुष्य क्यों भूलता है कि जिससे दृढ़ सत्य ज्ञान नहीं होने पाता है। और शोकादि के वश में होना पड़ता है। यहाँ पौराणिक दृष्टि से राहुग्रास का वर्णन है। इस रीति से पवन का पुत्र हनुमान ने फूल समझ कर सूर्य को खा गया, यह भी कहा जा सकता है॥२४०॥ भूले हुए मनुष्यों का मन जाग्रत कालमें सदा विशेषरूप से नेत्र के आगे बसता है, और पल पल में बाहर की वस्तुओं की तरफ स्वतन्त्र दौड़ (धावा) करता है, तथा क्षण क्षण में दौर (विकल्प जाल का विस्तार) करता है। गुरु गम ज्ञान रहितों का ऐसा मन ही तीनों लोक में भूप (राजा) है। और उसी की पूजा सब स्थान में होती है। प्रायः कही विवेकवती बुद्धि बुद्धिमान की पूजा नहीं होती है, इत्यादि॥२४१॥

मन स्वारथी आप रस, विषय लहर फहराय।
मनक चलाये तन चले, ताते सर्वस जाय॥२४२॥
मन गया तो जाने दे, गहिके राखु शरीर।
उतरा रोद कमान का, क्यों कर लागै तीर॥२४३॥

स्वार्थसक्तं मनश्चैतच्छब्दादे लोभलालसम्।
विषयाख्यविषै मग्नं मुहुः स्फुरति सर्वदा॥ ६॥

तेन संप्रेरितोदेही संचलेद्विषये यदि।
तस्य नश्येद्धि सर्वस्वं कुवर्त्मसु कुसङ्गमात् ॥ ७ ॥
मनो गच्छति चेद्यातु शरीरं त्वं निरोधय।
एवमभ्यासतो धीमन्मनोऽपि न गमिष्यति ॥ ८ ॥
गुणहीनो धनुर्वंशो यथा किञ्चित्करोति न।
शरीरेण विना तद्वन्मनः किं कर्तुमर्हति ॥ ९ ॥
"मनसा चिन्तितं पापं कर्मणा नैव रोचयेत्।
न प्राप्नोति फलं तस्येत्येवं धर्मविदो विदुः" ॥१०॥
गुणहिनाद्यथा वंशाल्लक्ष्ये याति न मार्गणः।
देहहीनात्तथा स्वान्तात् क्रियानिष्पद्यते नहि ॥११॥२४३॥

भूल युक्त कुसङ्गी अज्ञ का मन स्वार्थी होकर अपने रस (आनन्द विषय) में लगा रहता है। विषय विष की लहर (तरंग ज्वाला) से वायु प्रेरित पताका की तरह फहराया = (चला) करता है। ऐसे मन के चलाये (चलाने) से मनुष्यों का तन चलता है। ताते (इसीसे) इनका सर्वस्व (विवेकादि) जाता (नष्ट होता) है। क्योंकि स्वार्थी मन अपने रस के लिये तन को चलाता है, जीव के सर्वस्व ज्ञान भक्ति मुक्ति धर्मादि की रक्षा के लिये नहीं। अतः ऐसे मन से सावधान रहना चाहिये ॥२४२॥ सर्वस्व की रक्षा के लिये सावधानी यह कर्तव्य है कि यदि मन कहीं कुमार्ग कुवस्तु में वासनादि वश गया, रुक नहीं सका, तो उस मन को जाने दो, परन्तु विवेकवती बुद्धि से शरीर को गहि करके (रोककर) रखो, मन के मार्ग में नहीं जाने दो। तो यदि कमान (धनुष) का रोदा उतर गया, तो तीर (बाण) कैसे लगेगा, अर्थात् शरीर के रूकने पर सर्वस्व नष्ट नहीं होगा, पापादि अनर्थ नहीं होगें, इसके अभ्यास से मन भी स्वतन्त्र दौड़ना छोड़ देगा। अतः यह अभ्यास कर्तव्य है ॥ २४३ ॥

काशी गति संसार की, ज्यों गाड़र की गाड़।
एक परा जिहि गाड़ में, सबे परे वहि गाड़ ॥२४४॥
मारग तो अति कठिन है, तहाँ कोइ मति जाय।
गया सोइ बहुरा नहीं, कुशल कहै को आय ॥२४५॥

मनसोऽसंयमे तद्वच्छरीरस्याविनिग्रहे।
काश्यां गच्छति मुक्त्यर्थमहो मोहमहोदयः ॥१२॥

गतिः काश्यां तथा नृणां मेषाणां हि यथाऽवटे ।
एकः पतति यस्मिन् स तस्मिन् सर्वे पतन्ति हि ॥१३॥२४४॥
मरणान्मुक्तिवादस्य मार्गोऽतिविषमो मतः ।
तत्र केन न गन्तव्यमन्धकूपसमोहि सः ॥१४॥
गतास्तेन हि मार्गेण नागत्य कथयन्ति हि ।
तत्रत्यं कुशलं येन प्रत्ययोऽपि दृढो भवेत् ॥१५॥
जीवन्मुक्तास्तुविद्वांसोऽनुभूयेहैव सर्वथा ।
वदन्ति शिष्य वर्गेभ्यः प्रत्ययो जायते दृढः ॥१६॥
नातः काश्यां न वा क्वापि मर्तव्यं मोक्षवाञ्छया ।
जीवन्नेव स्वबोधेन भव्यो मुक्तो न चान्यथा ॥१७॥२४४॥

तन मन के निरोध के बिना काशी करवटादि में संसारियों की इस प्रकार की गति (प्राप्ति मुक्ति) होती है कि ज्यों (जैसे) गाडरो (भेड़ियों) की गाड़ (गड्हे) में गति होती है । क्योंकि आगे की एक गाड़र जिस गाड़ में पड़ती है, पीछे वाली सब उसीमें पड़ जाती है, तैसे काशी आदि तीर्थों में देखा देखी आत्मघातादि करके मनुष्य मोक्ष समझते हैं। विचारादि नहीं करते हैं ॥२४४॥ सद्गुरु का उपदेश है कि यह भेड़ियाधसान तुल्य मरण से मोक्षमार्ग तो अति कठिन है, कि जिससे मोक्ष के लिये तीर्थादि में आत्मघात पर घात किया जाता है । पशुबली की सद्गति मानी जाती है । अतः तहाँ उस हिंसामय मार्ग में कोई मुमुक्षु नहीं जावो । हिंसादिमय होने से यह मार्ग कठिन होने से त्याज्य है । और जीवन्मुक्ति के बिना मरकर जो मोक्ष के लिये गया, सोई कोई बहुरा (लौटकर आया) नहीं, तो फिर उससे कुशल (मोक्ष) की बात को दूसरा कौन आकर कह सकता है । अतः यह कल्पना मात्र है, और जीवन्मुक्त तो अपने मोक्ष की बात को आप कह सकता है । अतः जीवन्मुक्ति के लिये यत्न कर्तव्य है, इत्यादि ॥२४५॥

मारे मरे कुसङ्ग के, ज्यों केला सङ्ग बेर ।
वे हालै वे चीरवै, विधिना सङ्ग निवेर ॥२४६॥
केला तबहि न चेतिया, जब ढिग लागा बेर ।
अब के चेते क्या भया, काँटन लीन्हो घेर ॥२४७॥

कुसङ्गेन जना मोहान् म्रियन्ते मोक्षवाञ्छया ।
कदली कुबदर्या हि यथा नश्यति सङ्गतः ॥१८॥

वायुना चालितां तां हि दृणाति वदरी यथा ।
आशया चलितं जीवं दृणन्ति कुजनास्तथा ॥१९॥
अतस्त्वं विधिना सोम्य ! कुसङ्गं ह्याशु संत्यज ।
जीवन्मुक्तास्तु ये प्राज्ञास्तेषां सङ्गं कुरुष्व च ॥२०॥२४६॥
ये तु स्वस्थे शरीरेऽस्मिन् कुसङ्गं न त्यजन्ति हि ।
वृद्धत्वे मरणे प्राप्ते किं करिष्यन्ति ते तदा ॥२१॥
कर्कन्धु कण्टकाऽऽरुद्धरम्भातुल्यास्तु ते तदा ।
अपि तं दुःखदं बुद्ध्वा संत्यक्तुं शक्नुवन्ति नो ॥२२॥२४७॥

जैसे कोमल केला क्रूर बेर के कुसङ्ग के मारे से मरता (नष्ट होता) है। क्योंकि यह केला वायु से हालै (हिलता) है। और वह बेर काँटों से इसको चीरता (फाड़ता) है। तैसे ही विवेकादि रहित मोक्षेच्छुक मनुष्य कुसङ्ग से मारे जाते हैं। उनकी कोमल बुद्धि कुसङ्ग से नष्ट होती है, बुद्धि में क्रूरता आ जाती है। अतः कुपुरुष के सङ्ग से आत्मघात परघात कर लेते हैं। अतः इस अनर्थ से बचने के लिये उपदेश है कि किसी प्रकार कुसङ्ग होने पर किसी विधि (उपाय) से उसका शीघ्र निवेरा (निवारण) करो ॥२४६॥ केला तुल्य कोमल चित्त वाला, यदि उस समय नहीं चेता, कि जब उसके सङ्ग में बेर तुल्य कुपुरुष लगे, तो अब वृद्धावस्था आदि काल में चेतने = समझने सोचने आदि से भी क्या हुआ और होगा, कि जब कुवासना कामादि काँटे घेर लिये हों, अब तो भोगे विना निस्तार नहीं होगा "सङ्गात्-संजायते कामः । भ. गी० २।६२" इत्यादि ॥२४७॥

जीव मरण जानै नहीं, अन्ध भया सब जाय ।
बादी द्वारे दाद नहिं, जन्म जन्म पछताय ॥२४८॥

कुसङ्गाच्चेज्जना लुब्धा बुध्यन्ते मरणं नहि ।
कामान्धाः स्वाविवेकेन गच्छन्ति च कुवर्त्मसु ॥२३॥
सत्पथं न लभन्ते ते मरणे मोक्षवादिनः ।
पश्चात्तापेन तप्यन्ते जनित्वाऽतो मुहुर्मुहुः ॥२४॥

कुसङ्गमात्स्वार्थपरै र्विमोहिता विदन्ति मृत्युं हि जना न तत्त्वतः ।
वदावदानां हि सदैव सङ्गतस्तत्त्वं न कश्चिल्लभते विपद्यते ॥२५॥२४८॥

इति साक्षिसाक्षात्कारेगर्वप्रमादादिवर्जनार्थोपदेशवर्णनं
नामैकोनचत्वारिंशी विप्तिः ॥ ३९ ॥

कुसङ्गी जीव मरण को नहीं जानते हैं। मरण को भूले रहते हैं। अतः "हेयं दुःखमनागतम्" इत्यादि शास्त्र बोधित अनागत (भावी) दुःखों की निवृत्ति के लिये कुसङ्गादि को नहीं त्यागते हैं। सब अज्ञ अविवेकान्ध होकर ही जाते हैं। और कुसङ्ग से मरने पर परोक्षमोक्षवादियों के द्वारा दाद (सत्य न्याय पथ) को नहीं पाते हैं। अतः बार बार जन्मते मरते हैं, और सब जन्मों में पश्चात्तापशोकादि करते हैं। अतः कुसङ्ग को त्याग कर मत-वादादि में नहीं पड़ कर, भावी दुःख की निवृत्ति के लिये शीघ्र यत्न करना चाहिये। पुनर्मरण रहित मरण मार्ग को समझना चाहिये। क्योंकि मरण भी जीव को नहीं जानता है (इसके कर्तव्यों की प्रतिक्षा नहीं करता है) अचानक में आ पहुँचता है ॥२४८॥

अथ सद्गुरुबिना भ्रमसंशयादि प्रकरण ४०

जाको सतगुरु नहिं मिला, व्याकुल दहुँदिशि धाव।
आँखि न सूझै बावरा, घर जरु घूर बुताव ॥२४९॥
वस्तु अनत खोजै अनत, कैसे आवै हाथ।
ज्ञानी सोइ सराहिये, पारख राखै साथ ॥२५०॥

सद्गुरुर्नहि लब्धोयैर्दिक्षु धावन्ति विह्वलाः।
विवेकदृष्ट्यभावात्ते हृत्तापानां निवृत्तये ॥ १ ॥
नाधितिष्ठन्ति सद्यत्नं स्वास्थ्यमिच्छन्ति सन्ततेः।
कदाचिद्धनपश्चादे लब्धि स्वास्थ्यादिकं तथा ॥ २ ॥
गृहे जाज्वल्यमानेऽन्धः संकराग्ने निवृत्तये।
यत्नं कुर्यान्न गेहाग्नेरतथा कुर्वन्ति ते जडाः ॥३॥२४९॥
आनन्दात्मा महिम्नि स्वे हृन्मध्ये चैव तिष्ठति।
वाह्ये मृगयमाणस्य कथं मिलतु स स्वयम् ॥ ४ ॥
त एव ज्ञानिनो धन्या बाह्ये मृग्यन्ति नैव ये।
स्वे महिम्नि स्थितं स्वान्ते पश्यन्ति च निरन्तरम् ॥५॥
वस्तु चेद्विद्यतेऽन्यत्र ततोऽन्यत्र च मृग्यति।
कश्चित्तस्य कथं हस्ते तदायातु सुसञ्चितम् ॥६॥२५०॥

कुसङ्गादि वश जिनको सन्मार्गादि के प्रदर्शक सद्गुरु नहीं मिले हैं। वे लोग दुःखों से व्याकुल होकर दशों दिशाओं में (तीर्थादि में) दौड़ते हैं,

और विवेक रूप प्रकाश के बिना उन बावरे को आँख से कुछ कर्तव्य नहीं सूझता है, न सद्वस्तु सूझती है। अतः काम शोकादि से जलते हुए घर को छोड़कर (हृदय को शान्त तृप्त नहीं करके) घूर (तापने की अग्नि स्थानतुल्य) शरीरादि को बुताते (शान्तादि करना चाहते) हैं। शरीर स्त्री-पुत्रादि को पोषते हैं, सुखी रखना चाहते हैं। हृदय मन बुद्धि को ज्ञान-ध्यानादि से शान्त नहीं करते हैं। अतः व्याकुल दुःखी होते हैं, सो हृदय शान्त कर्तव्य है ॥ २४९ ॥ क्योंकि हृदय की शान्ति शुद्धि के बिना, सत्य वस्तु सत्य सुख तो कहीं अन्यत्र (हृदय में) प्रकट साक्षी स्वरूप है। परन्तु मनुष्य उसको अनत (अन्यत्र) तीर्थ लोक विषयादि में खोजता है (प्राप्त करना चाहता है) तो वह वस्तु कैसे हाथ में आवे (कैसे प्राप्त हो) वही ज्ञानी (विवेकी) सराहने योग्य (प्रशंशनीय) है कि जो निज परमानन्द स्वरूप के पारख (शरीरादि से विवेक युक्त अनुभव) को सदा साथ (मन) में रखता है। देहादि के अभिमानी नहीं होता है। अतः वह खोज में भटकता नहीं है, न व्याकुल या दुःखी होता है ॥२५०॥

सुनिये सब को बारता, निबेरिये अपना।
सिन्धोरे का सिन्धोरा, झपने का झपना ॥२५१॥
बाजन दे बाजन्तरी, कलि कुकुरी मति छेर।
तुझे बिरानी क्या परी, तुं अपनी आप निबेर ॥२५२॥

सर्वेषां वचनं श्रुत्वा विवेकोऽतो विधीयताम्
आत्ममोहं निराकृत्य तत्रैव स्थियतां सदा ॥ ७ ॥
भवाब्धेरप्ययं ह्यब्धिः सर्वाधारस्त्वतो मतः।
अच्छादकस्य सर्वस्य विभुः प्रावारको हि सः ॥ ८ ॥
सद्विवेको हि बुद्ध्याख्यकान्तासौभाग्य सूचकम्।
रङ्गपात्रं सरङ्गं वै ढक्कनं सैव च स्मृतम् ॥ ९ ॥
आत्मनिष्ठश्च भूयस्त्वं संसारे न पतिष्यसि।
न पुनस्त्वं च दुःखस्य नामापि श्रोष्यसि ध्रुवम् ॥१०॥२५१॥
शरीरयन्त्र सक्ता ये जल्पन्ति वाग्मिनो बहु।
वदन्तु तेऽस्ति किं तेन फलं तव महामते ॥११॥
वाचाला दुर्मुखा ये च तान्न किञ्चिद्वदस्व भोः।
अन्यैस्ते विद्यते किं वा स्वात्मनाऽऽत्मनि शाम्यतु ॥१२॥

ये नैवलब्धः सुगुरुर्जनैरिह ते यान्तु कुत्रापि कुमार्गतो जनाः।
त्वं नैव तद्वत्कुरु चात्मगौरवं रक्षस्व यत्नेन परं विवेकवान् ॥१३॥२५२॥

उपदेश है कि सब वादियों के बातों को सुन लो। परन्तु बाह्य अनेक अनात्म वस्तु के खोज में नहीं लगो, किन्तु अपनी आत्मा का अपनी बुद्धि में आपनिवेरा (विवेक) करो। अपने भावी दुःखों को कारण के निवारण द्वारा निवारण करो। यही विवेक ज्ञान विद्या भक्ति महारानी पूज्य परमदेवी के सौभाग्य का सूचक सिन्धोरो (रङ्गाधार सेन्दुर का पात्र) का सिन्धोरा (पात्र) भी है। और झपने का झपना भी उस पात्र का है। तथा विविक्त आत्मा समुद्रों का समुद्र आवरकों का आवरक विभु है, और जैसे कोई दर्पण का झपना सिन्धोरा और झपना दोनों स्वरूप रहता है, वैसा ही मतवाद रहित विवेक ज्ञान दुःखादि का निवारक और परमानन्दका व्यञ्जक होता है, अतः विवेक कर्तव्य हैं ॥ २५१ ॥ बाजन्तरी (बाजावाले = देहयन्त्राभिमानी व्यर्थ वक्ता) को बाजने (बोलने) दो, कलियुग के कुकुरी (बकवादो) को मत छेड़ो (विवाद में नहीं पड़ो)। क्योंकि बिरानी (अनात्म सम्बन्धी अन्य की) बातों से तुझे क्या पड़ी (कौन मतलब) है। तुम अपनी आत्माकी निवेरा (मुक्ति) आप करो। क्योंकि "वाद विवादे विष घना, बोले बहुत उपाधि। मौन गही गहि हरि भजै, जो कोई जानै साधि ॥१॥" निर्वाण की साधि साधना जो कोइ जानै = चाहै = समझै, सो सदा मौन गहकर हरि भजै, क्योंकि वाद विवाद में घना = बहुत विष = दुःख है ॥१॥ "वाद विवादे विष घना, बोले बहुत उपाध। मौन गहै सब की सहै, सुमिरै नाम अगाध ॥२॥" जहाँ दया तहँ धर्म है, जहाँ लोभ तहँ पाप। जहाँ क्रोध तहँ काल है, क्षमा जहाँ तहँ आप ॥३॥ अङ्गकी साखी। आप = सर्वात्मा हरि=आत्मस्थिति है ॥२५२॥

गावै पढ़ै बिचारै नाहीं, अनजाने का दोहा।
कहहिं कबिर पारस परसे बिनु, पाहन भीतर लोहा ॥२५३॥
मरने मरने सब कहै, मरण न जानै कोय।
ऐसा होय के न मुआ, बहुरि न मरना होय ॥२५४॥

गायकाः पाठकाश्चैव शब्दानां ये वदावदाः।
विचारं कुर्वते नैव नार्थतत्वं च मन्वते ॥१४॥
पाषाणस्थं यथा लौहं पार्श्वाख्यमणिना सह।
असंस्पर्शाद्भवेल्लौहं सुवर्णत्वं न गच्छति ॥१५॥

तथा ते स्वात्मनः स्पर्शं विना देहाभिमानतः
व्याकुला विचरन्तीह भवन्ति द्वन्द्वभागिनः ॥१६॥२५३॥
व्याकुला मृत्युमिच्छन्ति भवन्ति विह्वलामुहुः ।
वर्णयन्त्यनिशं मृत्युं मरणं न विदन्ति ते ॥१७॥
मरणं तन्महापुण्यं यतो न मरणं पुनः ।
कदापि स्याद्धि संसारे स्वात्मना च स्थिति र्भवेत् ॥१८॥
इत्थं भूत्वा जना नैव म्रियन्ते वै पुन र्यतः ।
मरणं न भवेन्नापि शोकमोहविडम्बना ॥१९॥२५४॥

अपनी निवृत्ति के बिना जो कोई शास्त्रों को गाते पढ़ते हैं । परन्तु विवेक पूर्वक अपने स्वरूप को विचारते नहीं है । उन अनजाने (अज्ञों का दोहा = दोहरा (स्थूल सूक्ष्म का संघात) होता रहता है । तथा विचारे बिना गाना पढ़ना दो (दोनों) हा (हत= नष्ट = व्यर्थ = दुःखद) होता है । अतः श्री कबीर साहब कहते हैं कि जैसे पत्थर के भीतर के लोहा, पत्थर के साथ बाहर पारस के सम्बन्ध होने पर भी भीतर वह लोहाही रह जाता है । सुवर्ण नहीं होता है, तैसे विचार विवेक के बिना भीतर अनुभव के अभाव से मनुष्य अज्ञ और बद्ध ही रहता है । अतः गाने पढ़ने पर भी एकान्त स्थानादि में विचार ध्यान स्मरणादि अवश्य कर्तव्य हैं ॥२५३॥ मरणे मरणे सब कहते हैं, कठिन दुःख के आने पर मरना चाहते हैं। परन्तु विचारादि से होने वाला, पुनः मरण रहित मरण के भेद (मर्म) को कोई विचारादि रहित मनुष्य नहीं जानते हैं । अतः कोई अविवेकी अविचारी कुविचारी, ऐसा निर्मोह अज्ञान कामादि रहित जीवन्मुक्त होकर नहीं मुआ न मरता है, कि जिससे बहुरि (फिर) बार-बार मरना नहीं हो । कोई सुविचारवान् ही ऐसा होकर मुआ और मरता है । अतः सुविचारादि अवश्य कर्तव्य हैं ॥२५४॥

मरते मरते जग मुआ, बहुरि न किया विचार ।
एक सयानप आपनी, परवश मुआ संसार ॥२५५॥
कबिरन भक्ति बिगारिया, कंकर पत्थर धोय ।
अन्दर में विष डारि के, अमरित डारिन खोय ॥२५६॥

विह्वली भूय सर्वे ते मृत्वा मृत्वा गता नराः ।
कुसङ्गादीन् परित्यज्य विचारो न कृतो हि यैः ॥२०॥

विचारजं सुविज्ञानं प्राविण्यं परमं मतम् ।
विना तेन तु सर्वेऽमी म्रियन्ते विवशा नराः ॥२१॥२५५॥
विचाराऽभावतश्चामी कवयो मानवास्तथा ।
जडपूजापरा जाताः सुभक्तिस्तैर्विनाशिता ॥२२॥
यथा विषस्यसंसर्गादमृतं वै विषायते ।
तथा विषयसंसर्गाद्भक्ति विषफलाऽभवत् ॥२३॥
सुभक्तिश्चात्मदेवस्य विचारादिस्वरूपिणी ।
स्मरण ध्यानरूपा च सद्गुरोः सेवनं हरेः ॥२४॥
परावृत्य हि संसारात्परित्यज्य विषं समम् ।
भावयञ्चाऽमृतं ह्येकममृतत्त्वाय कल्पते ॥२५॥२५६॥

मरते मरते सब संसारी विचारादि के बिना ही मुआ और मरता है। परन्तु पुनः मरण के मार्ग रूप कामादि मय कुमार्गों से बहुरि (लौट) कर, सत्य धर्म भक्ति निज स्वरूपादि का विचार नहीं किया न करता है। और कुमार्ग विषयादि से बहुर कर (विमुख होकर) सद्विचारादि करना ही एक अपनी सयानप (विद्वत्ता) है। विमुक्ति स्वतन्त्रता का साधन है। अतः इस विचारादि के बिना संसारी परवश होकर मुआ (कामादि विषयादि के वश रहते मरा, और मरता है)। अतः पुनरावृत्ति रहित नहीं होता है ॥२५५॥ केवल गाने पढ़ने पढ़ाने वाले कबिरन (कवियों और जीवों) ने विचार स्मरण ध्यानादि रूप भक्ति को कंकड़ पत्थर को धोय (नहवा) कर विगाड़ दिया है। मूर्तियों के स्नानादि कराने मात्र में लगकर लोग आतमविचार स्मरणादि को भूल से गये हैं। अतः अपने अन्दर (अन्तः करण) में विषय को डार कर (विषयादि के चिन्तादि करके) निर्विषय स्वरूप अमृत (मोक्ष) को लोगों ने खोय डाला है (भुला दिया है)। अतः मोक्षार्थी को सद्गुरु से लाई हुई ज्ञानविरागका हेतुरूप सच्ची भक्ति विचारादि स्वरूप कर्तव्य है।२५६।

रही एक की भइ अनेक की, वेश्या बहुत भतारी ।
कहहिं कबिर काके संग जरि हैं, बहुत पुरुष की नारी ॥२५७॥

एकात्मभक्तियोग्या च सद्गुरोः सत्कृतौ तथा ।
समर्था या पुरा बुद्धिरासीत्सैव कुसङ्गतः ॥२६॥
पांशुला एव संजाता बहुदेवादि सङ्गमात् ।
तस्या जीवोऽपि सम्बन्धाद् व्यभिचारीवलक्ष्यते ॥२७॥

सम्बन्धिनीयमेकस्य धावते चेद्यतस्ततः।
कस्माच्च लभतां शर्म कुतो भूयात्पतिव्रता ॥२८॥
इतस्ततश्च धावन्ती क्वचिन्न लभते सुखम्।
प्रसक्ता कामभोगेषु जनयन्ती भ्रमं च सा ॥२९॥
प्रागेकस्य यथा कान्ता संजाता बहुभर्तृका।
अनेकस्य प्रिया केन ज्वलिष्यति तथैव सा ॥३०॥
सर्वं तु परितस्त्यक्त्वा सच्चिदानन्दमद्वयम्।
भावयन् सा हि तेनैक्यं याति नास्त्यत्र संशयः ॥३१॥२५७॥

जो जीवात्मा की बुद्धि एक सर्वात्मदेव ईश्वर की स्त्री (भक्तियोग्या) रही (थी) सो बुद्धि भक्ति के बिगड़ने से अनेक की भई (हो गई) अनेक देव देवी विषयादि में सत्यता के निश्चयपूर्वक लग गई। अतः मानो प्रथम एक की स्त्री होकर अनेक की वेश्या स्त्री के तुल्य बहुत भर्तारी (भर्तावाली) हो गई। तहाँ श्री कबीर साहब कहते हैं कि बहुत पुरुष की नारी वेश्या तुल्य वह बुद्धि अन्त में किसके साथ जलेगी। अर्थात् उस बुद्धिवाला जीव कहाँ लीन होगा, किससे कहाँ परमानन्द पायेगा, और कैसे मुक्त होगा, अनेक का भक्त अनेक में भटकेहीगा ॥ २५७ ॥

तन बोहित मन काग है, लख योजन उड़ि जाय।
कबहुँ अगम दरिया भ्रमे, कबहुँक गगन समाय ॥२५८॥
ज्ञान रतन की कोठरी, चुपक दियो है ताल।
पारखि आगे खोलिये, कुञ्जी वचन रसाल ॥२५९॥

विभ्रमे विविधे जाते मनः काक इवाऽऽचरन्।
तनुं तरणिमास्थाय भ्रमतीह भवार्णवे ॥३२॥
क्षणाद्याति च चाञ्चल्याद् दूराद्दूरतरं मनः।
कदाचिद्गगने चेदं हृदये विशति स्वयम् ॥३३॥२५८॥
एवं भ्रमति तावत्तद्यावज्ज्ञानं न लभ्यते।
गृहं च ज्ञानरत्नस्य सद्गुरु ब्रह्मवित्तमः ॥३४॥
मूढेभ्यो रत्नरक्षार्थं मौनवृत्त्यादिना गुरुः।
सन्तिष्ठते गतोद्वेगो विचाराद्यैः सुरक्षयन् ॥३५॥
विवेकिने सुशिष्याय ददते स उदारधीः।
न दत्ते जातु मूढेभ्यो दुःसम्बन्धविशङ्कया ॥३६॥२५९॥

अनेक में चित्त के लगाने से विभ्रान्त चञ्चल जीवों की तन (देह) संसार समुद्र की नौका है, अभिमानी मन उस पर काग है। सो कभी कामवासनादि के वश लाखों योजन उड़ जाता है और अगम अपार संसार समुद्र में कामादि वश भ्रमता है, कभी सुषुप्ति आदिकाल में देह नौका पर बैठकर हृदयादिरूप गगन में समाता है। परन्तु विचार ज्ञानादि के विना शान्त सुखी नहीं होता है ॥२५८॥ उक्त स्वभावयुक्त मनवाले लोगों को देखकर सद्गुरु ने ज्ञानरत्न की कोठरीरूप अपने तन में चुपक (मौन) रूप ताला दिया (लगाया) है। और प्रतीक्षा कर रहे हैं कि पारखी (विवेकी) के आगे उसके प्रश्नादिरूप रसाल=(प्रेमभक्ति विश्वासादियुक्त) वचनरूप कुञ्जी को पाकर इस कोठरी के ताला को खोलें। ये चञ्चल तन मनवाले तो इस रत्न का दुरुपयोग करेगें, ऐसा समझकर उनके आगे नहीं खोलते हैं ॥ २५९ ॥

स्वर्ग पताल के बीच में, दुई तुमरिया विद्ध।
षट दर्शन संशय परी, लख चौरासी सिद्ध ॥२६०॥

कुबुद्धिः कुमनश्चैते मायाऽविद्ये उभे तु वा।
स्वर्गपातालयो र्मध्ये कटुतुम्ब्यौ हि तिष्ठतः ॥३७॥
व्याप्ते सर्वेषु भावेषु जनयेते च संशयान्।
योगिजङ्गमुख्येषु षट्सु दर्शनमानिषु ॥३८॥
सिद्धेष्वपि च सर्वेषु यावदात्मा न लभ्यते।
भ्रामयन्त्यौ स्थिते चैते योनिषु द्वापरात्मतः ॥३९॥
एताभ्यां किल जायन्ते सिद्धा दार्शनिका अपि।
व्याकुला विह्वलाश्चैव तदन्येषां कथैव का ॥४०॥
यावदेते हि वर्तेते तावत्सर्वासु योनिषु।
सर्वेषां भ्रमणं नित्यं भवत्येवानिवारितम् ॥४१॥२६०॥

उक्त ज्ञानरत्नकी प्राप्तिके बिना स्वर्ग और पातालके बीचमें सर्वत्र तन मन रूप (माया अविद्यारूप) दो तुमरी (तुम्बी) विद्ध (व्याप्त) है सो तुमरी षट्दर्शन में भी संशयादिरूप से परी (प्राप्त) हुई है कि जिससे चौरासीलाख योनियों में भ्रमना सिद्ध होता है। तिक्त तुमरी के सम्बन्ध से कोई मधुरानन्द नहीं पाते हैं, विवेकादि के द्वारा तुमरी को निवृत्त करके मधुरानन्द प्राप्तव्य है ॥२६०॥

कबीर दुमति दूरि करु, अच्छा जन्म बनाव।
काग गमन बुधि छोड़ि दे, हंस गमन चलि आव॥२६१॥

यतः सर्वस्य दुर्बुद्ध्या मनसा कुत्सितेन च ।
भवति भ्रमणं तस्मात्सावधानमना भव ॥४२॥
हित्वा बोधेन दुर्बुद्धिं त्यक्त्वा काकमनस्तथा ।
विवेकात्कुगतिं त्यक्त्वा कुरुष्व सफलं जनुः ॥४३॥
हंसानां गतिराख्याता सुविवेको महामते ! ।
तामाश्रित्य मनोवेगं द्रुतं जहि मुदाऽरिहन् ! ॥४४॥
यावन्न हंसस्य गतिं श्रयेत त्यजेन्न वै काकगतिं जनोऽयम् ।
तावत्तरेन्नैव भवाब्धिदुखं तस्मात्तदर्थं सुगुणे यतस्व ॥४५॥२६१॥

इति साक्षिसाक्षात्कारे सद्गुरुं विना भ्रमसंशयादिवर्णनं नाम-
चत्वारिंशी वित्तिः ॥ ४० ॥

श्रीकबीर साहब कहते हैं कि यदि तन मन से अविद्यादि से रहित सत्य-ज्ञानरत्न की प्राप्ति चाहो तो तनुपोषण परायणता, क्रूरता, हिंसा, व्यभिचारादि के हेतु रूप दुर्मति (दुष्ट बुद्धि) को दूर (नष्ट) करो । और अहिंसा, दान, दयालुता आदि से इस जन्म के मन देहादि को अच्छा (स्वच्छ पवित्र) बनाओ । और मन की काक तुल्य विवेक रहित सांसारिक गति के हेतुरूप बुद्धि को छोड़ दो (संसार में सत्यता पवित्रता आदि बुद्धि को त्याग दो) और हंस गमन (विवेकमय शुभ मार्ग में तथा शुभ मार्गगामियों में चले आओ (कुसङ्ग को त्यागकर सत्सङ्ग करो) ॥ २६१ ॥

——❀——

अथ मनोवैभवसन्तमहत्त्वादि प्रकरण ४१

मन का दौर अनेक है, तीन लोक पगु एक ।
बलिहारी तिहि सन्त के, मन को राखै टेक ॥२६२॥
जैसी कहै करै जो तैसी, राग द्वेष निरुआरै ।
तामहँ घटै बढ़ रतियो नहिं, यहि विधि आपु समारै ॥२६३

मनसोऽनेकशक्ति र्हि विद्यते गमनादिषु ।
क्रमणेन तदेकेन मिमीते भुवनत्रयम् ॥ १ ॥
धन्यास्ते सुजना यैस्तु तादृगेतन्मनो जितम् ।
जित्वा तच्च समाक्षिप्तं सुखसिन्धौ सदाऽव्यये ॥ २ ॥
मनसो विजये जाते जेतव्यं नावशिस्यते ।
अतस्ते कृतकृत्याश्च विचरन्ति यथासुखम् ॥ ३ ॥ २६२॥

रागद्वेषौ व्युदस्यात्र वचसा कर्मणा सदा।
समं व्यवहरन् धीरो विजेता मनसो भवेत् ॥ ४ ॥
अन्यदुक्त्वा करोत्यन्यन्मनसा स विजीयते।
वचसा कर्मणा चैकं बुधः कुर्यादतोऽनिशम् ॥ ५ ॥
सद्गुरुप्रोक्तमार्गेण गच्छन्नेह व्यतिक्रमेत्।
रेखामात्रं ततो गच्छेद्विवेकेन परं पदम् ॥ ६ ॥
वक्ति यो यादृशं वाक्यं कुरुते तादृशं शुभम्।
न्यूनाधिक्यं न चाल्पं तु रागद्वेषौ जहाति च ॥
सोऽनेन विधिनाऽवश्यमात्मानं शोधयत्यलम् ॥ ७ ॥२६३॥

दुर्मति को त्यागे बिना मन का दौर (विस्तार = दौड़ान = निमित्त विषयादि) अनेक हैं, और होते हैं। अतः यह मन तीनों लोकों को एक पग (एक धाप) करता है। हंस गतिवाले उन सन्तों की बलिहारी है कि जो ऐसे मन को भी टेक (पकड़) रखते हैं ॥ २६२ ॥ जो मन को टेकना चाहे जन्म को अच्छा बनाना चाहे सो सत्य प्रतिज्ञा वाला होकर मुख से जैसी बात कहे शरीर से क्रिया (आचरण) भी वैसी ही करे। और राग-द्वेष को निरुआरे (त्यागे) और तामहँ (उस कथन और क्रिया में) रत्तिमात्र भी घटे बढ़े नहीं (अल्प भी न्यूनाधिक नहीं करे) सर्वथा राग-द्वेष के बिना कथनानुसार ही स्वकर्तव्य दानादानादि लौकिक कर्म पारलौकिक व्यवहार करे, इसी प्रकार अपने को आप समारे (संभारे = सुधारे) तो मन को पकड़ता है, और पवित्र अच्छा हो जाता है। अतः यह सुधार कर्तव्य है ॥ २६३ ॥

भरम भरा तिहुँलोक में, भरम भरा सब ठाम।
कहहिं कबीर पुकारि के, बसहु भरम के गाम ॥२६४॥
रतन लड़ाइन रेत में, कंकड़ चुनि चुनि खाय।
कहहिं कबीर पुकारि के, बहुरि चले पछताय ॥२६५॥

विवेकेन विना भ्रान्तिस्त्रिलोकीं व्याप्य वर्तते।
भ्रान्त्यैव कल्पिते ग्रामे त्वं ममत्वेन वर्तसे ॥ ८ ॥२६४॥
सर्वत्र भ्रान्तिसंव्याप्तौ ममतामोहविह्वलाः।
सर्वाण्युज्वलरत्नानि क्षिपन्त्येव कुरेणुषु ॥ ९ ॥
आत्मज्ञानादिरत्नानि यैः क्षिप्तानि कुकर्मसु।
भ्रमे रजसि मौढ्येन गृहीत्वा विषयानहो ॥१०॥

शर्करान् विषयाँल्लब्ध्वा भुक्त्वापि ते मुहुर्मुहुः ।
न तृप्यन्ति तु गच्छन्ति योन्यादावेव सर्वदा ॥११॥
पश्चात्तापैः सुतप्ताश्च लभन्ते न सुखं क्वचित् ।
तस्मात्तथा विधेयोऽत्र तृप्तिर्येन भवेद् ध्रुवा ॥१२॥
आत्मनः शोधनात्सत्याद् रागद्वेषविवर्जनात् ।
अमानित्वादि भिर्नित्यं पुनस्तापो न जायते ॥१३॥२६५॥

अपने सुधार पवित्रता आदि के बिना तीनों लोक में और सब ठाम (स्थान) में भ्रम (अनित्य-अशुचि, दुःख, अनात्म, शरीरादि में नित्य, शुचि, सुख, आत्म, बुद्धि आदिरूप भ्रान्ति) भरा (व्याप्त) है । अतः तुम भ्रम के ग्राम (समूह नगर) में बसते हो । शरीरादि में ममता आत्मता से आसक्त हो, इसकी निवृत्ति के लिये सुधार करो, आत्मनिष्ठ होओ. यह तात्पर्य है ॥२६४॥

क्योंकि सुधार आत्मप्रीति ज्ञप्ति के बिना भ्रम के ग्राम में बसने से जिन अज्ञों ने आत्म-परमात्म उसके ज्ञानादि रत्नों को मानो विषयादि रेत (धूलि) में लड़ाया (विग दिया) विषयादिजन्य सुख को ही मानो परमात्म सुख समझा और उनके ज्ञान को ही ज्ञान माना । अतः कुकर्म कुसङ्गादि से सत्य ज्ञानशक्ति से रहित होकर वे लोग कुभोग्य निषिद्ध भोग्यरूप कङ्कड़ चुन-चुन कर खाते हैं, (भोगते हैं) । परन्तु कठिनता के कारण न वह पचता है न उससे तृप्ति होती है । अतः श्रीकबीर साहब पुकार के कहते हैं कि ऐसे लोग अन्त में बहुरि (बार-बार) पश्चात्ताप करके चले और चलते हैं । तुम ऐसा करो कि जिससे पश्चात्ताप नहीं करना हो, तृप्ति हो इत्यादि ॥ २६५ ॥

जेते पत्र बनास्पति, औ गंगा के रेणु ।
पण्डित विचारा क्या करे, कबिर कहे मुख बैनु ॥२६६॥
सद्गुरु वचन सुनहु हो सन्तो, मति लेहू शिर भार ।
हौं हजूर ठाढ कहते हौं, तैं सम्भार सँभार ॥२६७॥

वनस्पते र्हि यावन्ति पत्राणि खलु रेणवः ।
यावन्तः सन्ति गङ्गायास्तावद् वाग्विभवा इह ॥१४॥
कृतानि कविवाक्यानि नानाभावजुषाणि चेत् ।
स्वेष्टं कुर्वन्तु किं तावत्पाठकाः पण्डिता अपि ॥१५॥
विस्तराः क्लेशसंयुक्ताः संक्षेपस्तु सुखावहः ।
अतस्त्यक्त्वा तु विस्तान् बुधैराद्रियते हि सः ॥१६॥२६६॥

भोः साधो ! सद्गुरो र्वाक्यं श्रुत्वा शिरसि नार्पय ।
शब्दं भारं यतो भुग्नो भवे भ्रमति वैभवान् ॥१७॥
शब्दजालं महारण्यं चित्तभ्रमणकारणम् ।
अतः सर्वप्रयत्नेन तत्त्वमेव बुभुत्स्यताम् ॥१८॥
प्रत्यक्षोऽहं स्थितो वच्मि प्रत्यक्षं च हितं परम् ।
स्मर तत्त्वं स्मरात्मानं जहि काममदादिकम् ॥१९॥२६७॥

इतिसाक्षिसक्षात्कारेमनोवैभवसन्महत्ववर्णनंनामैकचत्वारिंशोवित्तिः॥४१॥

वनस्पतियों में जेते (जितने) पत्र होते हैं। गङ्गा की जितनी रेणु (बालू) हैं। उतनी (अनन्त) वानी प्रथम से रचित हैं। तहाँ पण्डित भी क्या विचार करेंगे। अनन्त का विचार करना असम्भव है। या प्रथम से अनन्त शब्दजाल पण्डितो से रचित हैं। वेचारे पण्डित अब क्या करें। श्री कबीर साहब कहते हैं कि मैंने शब्द जाल नहीं रचा है। किन्तु मुख (मुख्य) वैनु (वानी) कही है कि जिससे भ्रम अज्ञानादि की निवृत्ति हो सके ॥२६६॥ उपदेश है कि हे सन्तो ! सद्गुरुओं के मुख्य वचनों को सुनो। और अन्य शब्द भार को शिर पर नहीं लो, अनात्म कथा काम कथा आदि को मन पर नहीं लादो। हौं (मैं) सद्गुरु सन्तरूप से सदा हजूर ठाढ़ (प्रत्यक्ष उपस्थित) होकर कहता हूँ। खड़े होकर उपदेश देता हूँ कि तुम अपने को आप सम्भारो सम्भारो (शब्द जालादि से वचकर [1]आत्मनिष्ठ होवो) ॥२६७॥

——❀——

अथ ज्ञानाज्ञानकी परिपाकावस्था प्र० ४२

आगे आगे दौ वरै, पीछे हरियर होय ।
बलिहारी वहि वृत्त्व की, जर काटे फल होय ॥२६८॥

बुभुत्सायां प्रवृत्तायां ज्ञानाग्नौ ज्वलिते पुरा ।
कर्मावकरसंदाहे छिन्ने कामादि बन्धने ॥ १ ॥

---

१ कबीर लोहा एक है, गढ़ने में है फेर। ताही का बखतर बना, ताही की समसेर ॥१॥ त्यों ही एके ब्रह्म ते, जीव ईश जग जान। ब्रह्म विचारे पाइया, नाम रूप को हान ॥२॥ राम कबीरा एक है, कहन सुनन को दोय। दो करि सोई जानई, सतगुरु मिला न होय ॥३॥ नाम अनन्त ब्रह्म का, तिनका वार न पार। मन मानै सो लीजिये, कहै कबीर विचार ॥४॥ एकता अङ्ग की साखी। बखतर = कवच, समसेर = तरवार, कबीरा = जीव।

मनोमोहादिसिंहादौ संप्लुष्टे तु भयावहे।
संसारविपिनं ह्येतत्सुप्रकाशं भवत्यलम् ॥ २ ॥
यथा पूर्वं दवैर्दग्धं विपिनं हरितं पुनः।
भवत्येवं महानन्दं भात्यत्र ज्ञानिनां पुनः ॥ ३ ॥
संसारवन संजातो धन्योऽसौ देहपादपः।
छिन्नेऽविद्याऽऽख्यमूले यो दत्ते फलमनुत्तमम् ॥ ४ ॥२६८॥

सद्गुरु के वचनों के श्रवणादि से संसार वन में आगे आगे (प्रथम) ज्ञानाग्नि (ब्रह्ममयता बुद्धि) रूप तथा मायामयता = मिथ्यात्म बुद्धि रूप, दौ = दावाग्नि) लगती = वरती (प्रज्वलित होती) है, कि जिससे अज्ञान कर्म कामादि रूप शुष्क पुराने कुवृक्ष जल जाते हैं, फिर पीछे (उसके बाद) यह संसार बन हरियर (हरा आनन्द स्वरूप) ज्ञानी की दृष्टि में हो जाता है, ज्ञानी को इसमें सर्वत्र एक आनन्द स्वरूप सत्यात्मा की प्रतीति होने लगती है। अतः उस ज्ञानी के देहादि रूप संसार वृक्ष की बलिहारी (धन्यवाद) है कि जिसके अज्ञान काम कर्मादि रूप जड़ (मूल) के काटने पर मोक्ष रूप सत्य फल प्राप्त होता है ॥ २६८ ॥

गुनिया तो गुण ही कहै, निर्गुण गुणहि घिनाय।
जायफर दीजै बैल ही, क्या बूझै क्या खाय ॥२६९॥
मुख की मीठी जो कहै, हृदया है मति आन।
कहहिं कबिर ता लोग से, तैसे राम सयान ॥२७०॥

लब्धात्मानुभवो योगी भाषते तद् ध्रुवं सुखम्।
विस्तारे न मनो दत्ते मूढस्तु तज्जुगुप्सते ॥ ५ ॥
यथा जातीफलं नैव वृषभाय प्ररोचते।
मूढेभ्योऽपि तथा सत्यं विज्ञानं रोचते नहि ॥ ६ ॥२६९॥
यश्चानभिलषन् ज्ञानं हृदि कृत्वाऽन्यथा मतिम्।
बहिर्वै मधुरं वक्ति तस्मै रामोऽपि तादृशः ॥ ७ ॥
बहिरस्यान्यथा भाति वर्तते हृदि चान्यथा।
अन्तर्यामि स्वरूपेण दृश्यते न कदाचन ॥ ८ ॥
तत्कर्मसचिवो भूत्वा बहिः सौख्यं प्रदर्श्य सः।
अन्तस्तीव्रेण तापेन चित्तं दहति सर्वदा ॥ ९ ॥२७०॥

उक्त कुवृक्ष को काटने के लिये शमादि ज्ञानानन्दादि गुणवाले गुनिया

(ज्ञानी सन्त भक्त) तो गुण की ही कथा कहते हैं। परन्तु निर्गुण (अविवेकी) सद्गुण ज्ञानादि से घिनाता (घृणा करता) है। क्योंकि बैल को जायफल दिया जाय तो वह उसके गुण को क्या बूझे (समझेगा)। और क्या खायगा (न समझेगा न खायगा) वैसे अविवेकी सदुपदेशादि को न सुनेगा न आदर करेगा, इत्यादि ॥ २६९ ॥ सद्गुण की प्राप्ति के बिना जो वञ्चक लोग मुख की मीठी (मधुर) बात कहते हैं, और हृदय में जिनकी और (अन्य) क्रूर मति है या रहती है। श्रीकबीर साहब कहते हैं कि उन लोगों से राम (ईश्वर) भी वैसे ही सयान है (कुशल चतुर सावधान) हैं। वे लोग क्रूरता से अन्य को ठगते हैं। परन्तु कर्मसाक्षीको नहीं ठग सकते हैं तथा जैसे वे लोग बाहर-भीतर भिन्न भाव रखते हैं। तैसे उनको ईश्वर भी बाहर-भीतर भिन्न भासता है, एक-रस एक नहीं भासता है। अतः उसके ज्ञान के लिये कपटादि त्याज्य हैं।२७०।

इतते तो सबही गये, भार लदाय लदाय।
उतते कोइ न आइया, जासो पूछौं धाय ॥२७१॥

तापयुक्ता जनाः सर्वे कृत्वा कर्मादि संचयम्।
तापहत्यै प्रयान्त्यस्माल्लोकाल्लोकान्तरं सदा ॥१०॥
लोकान्तरान्नचाऽऽयान्ति वक्तुं पृच्छन्तु यानिह।
निश्चयं चाधिगच्छन्तु तापाऽपायस्य वै जनाः ॥११॥
अतोऽत्रैव विधातव्य उपायस्तापशान्तये।
लोकान्तरस्य कामस्तु कर्तव्यो न कदाचन ॥१२॥
सत्येन बोधेन मनो विजेता भवेद्विवेकी न तु जातु कामी।
अतो विजित्यैव मनः प्रपञ्चं द्वन्द्वैर्विमुक्तः सततं रमस्व ॥१३॥२७१॥

इति साक्षिसाक्षात्कारे ज्ञानाज्ञानयोः परिपाकदशावर्णनं
नाम द्विचत्वारिंशी वित्तिः ॥ ४२ ॥

उक्त ज्ञान गुणादि के बिना स्वर्गादि की कामना से कर्मादि के भार लाद-लदाय कर इतते (इस लोक देह) से सब (बहुत लोग) गये और जाते हैं। परन्तु उतते (वहाँ से) खबर देने कोई नहीं आया, न आता है, कि जिससे धायकर (दौड़कर) पूछा जाय। और निश्चय किया जाय। अतः यहाँ प्रत्यक्ष निश्चित जीवन्मुक्ति के लिये यत्न कर्तव्य है। और सब साधन के धाम मानव देहादि के होने से यहाँ के कर्मादि से देवादि होते हैं। अतः यहाँ से कमाकर भार लदाकर तो सब गये। परन्तु वहाँ के कर्मादि कमाई से

देवादि बनकर ज्ञानी मुक्त होकर कोई नहीं आया कि जिससे दौड़कर पूछा जाय। अतः यहाँ के देवों के देव ज्ञानी सद्गुरु से ही पूछना चाहिये। और ज्ञान गुण का धारण करना चाहिये ॥ २७१ ॥

अथ भक्तिभेदादि प्रकरण ४३

भक्ति पियारी राम की, जैसी प्यारी आगि।
सारा पट्टन जरि गया, फिरि फिरि लावै माँगि ॥२७२॥

देवस्यैवात्मरामस्य भक्ति र्वह्निरिव प्रिया।
विज्ञानं जनयत्येषा जगत्तेनैव दह्यते ॥ १ ॥
ज्ञानाज्ज्ञपुरदाहेऽपि धन्या जिज्ञासवस्तु ये।
ते ह्यभ्यर्थ्य च विज्ञेभ्यः स्वगृहे धारयन्ति तत् ॥ २ ॥
आत्मभिन्नस्य देवस्य भक्तिरज्ञजनप्रिया।
अतो विरहतापेऽपि गृह्णन्ति तां पुन र्जनाः ॥ ३ ॥
"अप्रियाण्यपि कुर्वाणो यः प्रियः प्रिय एव सः।
दग्धमन्दिरसारेऽपि कस्य वह्नावनादरः" ॥ ४ ॥२७२॥

कष्ट साध्य होती हुई भी सर्वात्मा राम की सद्गुरु की भक्ति ही मुमुक्षु-जिज्ञासु के लिये इस प्रकार से प्रिय (इष्ट साधक) है कि जैसे अग्नि प्यारी होती है। अतएव जिस अग्नि से सारा पट्टन (पत्तन-नगर) जल गया हो, उस अग्नि के बुत जाने पर भोजन बनाने आदि के लिये मनुष्य फिर बार-बार माँग लाता है। क्योंकि अग्नि के बिना कभी कार्य की सिद्धि नहीं होती है। तैसे ही भक्ति के बिना भी कोई सत्कार्य नहीं सिद्ध होता है, लिखा है कि—"भक्ति र्जनित्री ज्ञानस्य भक्तिर्मोक्षप्रदायिनी। भक्ति हीनेन यत्किञ्चित् कृतं सर्वमसत्फलम् ॥ अध्यात्मरा० युद्धकां० ७।६७" भक्ति ज्ञान की माता और मोक्षदेनेवाली है। भक्ति (प्रेमश्रद्धा) रहित से जो कुछ किया जाता है, सो सब असत्फल वाला (निष्फल) होता है ॥ २७२ ॥

प्रथम एक जो हौं किया, भैसो बारह बान।
कसत कसौटी ना टिका, पीतर भया निदान ॥२७३॥

अस्माभिरादिसर्गे हि भक्तिरेका प्रसाधिता।
विज्ञानजननी शुद्धा पूज्या सर्वमलापहा ॥५॥

सा जाता वादिसंगाद्बहुभेदविकल्पिता।
विचारनिकषेऽनन्ता दुर्वर्णा तु प्रसिद्ध्यति ॥ ६ ॥
सुवर्णा भक्तिरेकैव गुरुभिः प्रकटी कृता।
अहङ्कारेण कैश्चित्त बहुवाटाः प्रवर्तिताः ॥ ७ ॥
"मोहो दैन्यं भयं ह्रासं हानि ग्लानिः क्षुधा तृषा।
मृत्युः क्षोभस्तथाऽकीर्तिं वाटाश्चहंकृतिप्रजाः" ॥८॥२७३॥

"सन्तो ! भक्ति सतगुरु आनी" इस शब्द के अनुसार, प्रथम जो एक भक्ति मार्ग हौं (सद्गुरु मैं) ने किया, सो अनधिकारियों द्वारा कुछ काल में बाहर बान (आस्तिक नास्तिक के छह छह दर्शनादि के अनुसार बारह स्वभाव वाला) भया (हो गया) अनन्त भेदयुक्त भक्ति मार्ग हो गया, और वह वीच के कल्पित अनन्त मार्ग, कल्पित सुवर्ण की तरह विचारादि कसौटी से कसने (परखने) पर नहीं टिका (नहीं ठहरा) किन्तु निदान (निपट = केवल) पीतल की तरह तुच्छ हो गया। और होता है। यह पूर्व प्रसङ्ग के अनुमार अर्थ है। दूसरा अर्थ है कि प्रथम सृष्टि के आदि में) एक सर्वात्मा पुरुष ने जो हौं किया "एकोहं बहुस्याम्" एक मैं बहुत हो जाऊँ ऐसा संकल्प किया, उससे चार खानि और सो बारह बान भै (भया) अर्थात्, मोह, दैन्य, भय, ह्रास, हानि, ग्लानि, क्षुधा, तृषा, मृत्यु, क्षोभ, अपयश और व्यर्थ व्यवहार बारह बाट अहंकार से हुए। परन्तु ये सब अज्ञानादि से मिथ्या ही हुए, विचारने पर सत्य नहीं ठहरे, अतः ज्ञानादि से निवारणीय हैं। प्रथम एक अहंकार करने वाले नष्ट हुए। अतः सो त्याज्य है ॥२७३॥

सज्जन हता दुर्जन भया, सुनि काहू की बोल।
तामाँ काँसा ह्वे रहा, हता हिरण्य का मोल ॥२७४॥
अपनि कहै मेरी सुनै, सुनि मिलि एके होय।
हमरहि देखत जग गया, ऐसा मिला न कोय ॥२७५॥

कस्यचिद्दुर्वचः श्रुत्वा सज्जनाः सुतपस्विनः।
कुसङ्गकामलोभाद्यै दुर्जनत्वं प्रपेदिरे ॥ ६ ॥
अहङ्काराभिभूतास्तु सुवर्णत्वं विहाय वै।
गता दुर्वर्णतां लोके सुवर्णस्ताम्रतादिवत् ॥ १० ॥
प्रवृद्धेषु च वाटेषु मूल्यं यस्थ हिरण्यवत्।
आसीत्तस्यापि जिज्ञासा नास्ति किं शृणुयाद्धिसः ॥११॥२७४॥

लभ्यते न जनस्तादृग् यो गत्वा गुरुसन्निधौ ।
वदेच्च शृणुयाच्चैव गुरुभिश्चैकतां व्रजेत् ॥ १२ ॥
मृत्वा मृत्वा प्रजायन्ते जनित्वा यन्ति मे तथा ।
पश्यतोऽग्रे न पश्यन्ति मोक्षद्वारमपावृतम् ॥१३॥२७५॥

बारह बान, तथा बाट के होने से, जो प्रथम सजन (सत्यवक्ता अहिंसक राग द्वेषादि रहित भक्त) हता (था) सो भी किसी नास्तिक दुर्जन के सङ्ग से उसकी बोली को सुनकर दुर्जन हो गया (अभक्त नास्तिक हो गया) । अतः जिसका प्रथम हिरण्य (सुवर्ण भक्तादि) का मोल (आदर) था । सो भी तामा काँसा तुल्य तुच्छ आदर यश आदि से रहित होकर रहा और रहता है । अतः कुसङ्ग त्याज्य है ॥२७४॥ दुर्जनता आदि के बढ़ने फैलने से ऐसा कोई नहीं मिला कि जो अपनी बात कहे और मेरी बात सुने और सुनकर अनन्य भक्ति प्रेमपूर्वक मिलकर एके (भेदभाव रहित) हो जाय । किन्तु अपनी महिमा सुनाने वाले अन्य की बात को नहीं सुनने वाले तथा भेद भाव वाले मिले और मिलते हैं । अतः हमरे देखते में जगत गया और जा रहा है । आवागमन से रहित मुक्त नहीं हो रहा है । ऐसा तो कोई दृढ़ सजन ही होते हैं, अन्य नहीं ॥ २७५ ॥

बैठा रहै सो बाणिया, खड़ा रहै सो ग्वाल ।
जागत रहै सो पाहरू, तिहि धरि खायो काल ॥२७६॥
विरहिनि साजी आरती, दरशन दीजै राम ।
मूये दरशन देहुगे, आवत कौने काम ॥२७७॥

श्रवणाद्यं विना ये हि जपध्यानेष्ववस्थिताः ।
बणिकतुल्या हि ते तुच्छलाभार्थं गोपवत्तु ये ॥१४॥
तपसे सूद्यता यद्वा जाग्रत्येव कुयोगिनः ।
यामिका इवतान् सर्वानत्ति कालो विमृग्य वै ॥१५॥
श्रवणादेरभावेन विरहादिविपीडिताः ।
पूजाविधिं प्रकल्प्याथ कुर्वन्ति स्तुतिमादरात् ॥१६॥
आर्तनादेन भो राम ! दर्शनं दीयतां प्रभो ! ।
मृतौ दास्यसि किं तेन कार्यं सेत्स्यसि मे विभो ॥१७॥
अद्यम्रियामहे नाथ ! त्वां विना दुःखदाहतः ।
नीराजनं प्रकुर्वाणा वदन्त्येवं स्तुवन्ति च ॥१८॥२७७॥

एकता की भावना सत्यात्मा में निष्ठा के विना तुच्छ लाभ के लिये जप ध्यानादि में बैठे रहने वाले बणियाँ के समान व्यापारी हैं। सकाम तप में खड़े रहने वाले, इन्द्रिय रूप गो के रक्षक ग्वाल (गोप) हैं। सिद्धि आदि की इच्छा से जागते रहने वाले विषय रक्षक पाहरु (कोतवाल) हैं, आत्म-ज्ञानादि रहित इन सबको घरकर काल खाया और खाता है। अतः निष्काम जपध्यानादि से अभेद भावना आत्मज्ञान ही प्राप्तव्य है ॥२७६॥ सद्गुरु से मिलने आदि के विना आत्मज्ञान रहित विरहिनी (वियोगिनी) बुद्धि (विज्ञानात्मा जीव) ने तटस्थ राम (ईश्वर) से अपनी उत्पत्ति आदि को समुझती हुई, उस राम से मिलने के लिये आरती साजी और साजती है, और विनय करती है कि हे राम! अभी दर्शन दो, मरनेपर यदि दर्शन दोगे भी तो अभी कौन काम आता है। तथा कालादि रूप से आप का दर्शन कभी किसी काम का नहीं होता है। "कालःकलयतामहम्" कलन (गणन) करने वालों में काल आप हो। अतः अभी दर्शन दो। नहीं तो "विरहिनि उठि उठि भुँइ परे, दर्शन कारन राम। मूये पीछे देहुगे, सो दर्शन किहि काम ॥१॥ मूये पीछे मति मिलो, कहै कबीरा राम। लोहा माँटी मिल गया, तब पारस किहि काम ॥२॥" अङ्ग की साखी ॥२७७॥

पल महँ परलय बीतिया, लोगन लागु दवारि।
आगिल शोच निवारिके, पाछे करहु गोहारि ॥२७८॥

स्तुवन्तोऽपि जना रामं साक्षात्कारं विना नहि।
कालात्कामादि शत्रुभ्य मुच्यन्ते वै कदाचन ॥१९॥
क्षणाद्धि प्रलये जाते लोके दावाग्निरुज्ज्वलेत्।
तापादिलक्षणो यद्वा कामादिलक्षणो मुहुः ॥२०॥
अतो भो भावुकाऽतीतं वर्तमानं व्युदस्य च।
अनागतस्य तापस्य शान्त्यर्थं क्रियतां विधिः ॥२१॥
दृश्यवर्गं परित्यज्य ह्यदृश्ये ध्रियतां मतिः।
या निशा सर्वभूतानां तत्र जागर्यतां तथा ॥२२॥
सद्भक्तिरेका गुरुभिः प्रवर्तिता भक्त्या यया ज्ञानजनिर्भवेदिह।
दृश्ये रता तां लभते न वै यतो दृश्यं परित्यज्य रमस्व दृश्यतः ॥२३॥७८॥

इति साक्षीसाक्षात्कारे भक्तिभेदादिवर्णनं नाम त्रिचत्वारिंशीवित्तिः ॥४३॥

निज सत्य स्वरूप के ज्ञान के बिना विनयादि करने पर भी पल मात्र में प्रलय (मरण) से मनुष्यता होशादि बीत गये (नष्ट हो गये) कि जिससे

लोगों में संसार बन में कामादि अरि (शत्रु) रूपदव (वनाग्नि) लगो, और लगती है, क्योंकि शरीर के नाश से कामादि का नाश नहीं होता है। कामादि शरीरान्तर गत सूक्ष्म शरीर के अङ्ग मन के धर्म हैं। अतः श्रीकबीर साहब कहते हैं कि आगिल (भूत वर्तमान = आगे उपस्थित) के शोच-विचारादि को निवार (त्याग) कर, पाछे के (भावी दुःखादि के) अभाव के लिये किसी सद्गुरु का गोहार (पुकार) करो। और काम वासनादि को निवृत्त करो। क्योंकि भूत तो गया ही है, वर्तमान प्रारब्धाधीन है, थोड़ी देरमें स्वयं जानेवाला है। अतः अनागत दुःख ही त्याज्य है। कहा जा चुका है कि "जरत जरत ते बाँचेहु, काहु करहु गोहार। विष विषया कहं खायहु, रात दिवस मिलि झार। रमैनी साखी १३" ॥ २७८ ॥

---o---

अथ अद्वैतनिश्चयतदभावकालिकस्थिति प्रकरण ४४

एक समाना सकल में, सकल समाना ताहि।
कबिर समाना बूझ में, तहाँ दूसरो नाहिं ॥२७९॥

एक एव समश्चात्मा सर्वभूतेषु वर्तते।
तत्र सर्वाणि भूतानि वर्तन्ते सच्चिदात्मनि ॥ १ ॥
तं जानाति विवेकेन स्वात्मनिष्ठो मुनि र्हि यः।
तस्य द्वन्द्वानि नश्यन्ति सूर्येणेह तमो यथा ॥ २ ॥
सर्वत्रैव प्रविष्टोऽयमात्माऽऽत्मन्यखिलं जगत्।
प्रविष्टस्तस्य बोधे यस्तत्र द्वैतं न विद्यते ॥ ३ ॥
इहैव तै र्जितः सर्गः समात्मन्येव ये स्थिताः।
समस्य नैव सर्गोऽस्ति तस्मात्तेषां न विद्यते ॥ ४ ॥२७९॥

एक ही सच्चिदानन्द ब्रह्मात्मा सब संसार शरीरादि में समरस अधिष्ठान आधारादिरूप से समाया हुआ (व्यापक) है। और सब संसार उस एक आत्मा में समाया हुआ (माया से कल्पित) है, श्रीकबीर साहब कहते हैं कि जो उस ब्रह्मात्मा के बूझ में (अनुभव में) समाये हैं, अनुभव को प्राप्त करके तन्मय हुए हैं, तहाँ (उनमें) कोई दूसरा भाव द्वन्द्व नहीं रहता है। अतः भावी द्वन्द्वों की निवृत्ति के लिये आत्मानुभव ही कर्तव्य है ॥ २७९ ॥

एक साधे सब साधिया, एक बिना सब जाय।
उलटि जु सींचै मूल को, फूलै फलै अघाय ॥२८०॥

एकस्मिन् साधिते स्वात्मानुभवे यत्नतः किल ।
सर्वकार्याणि सिद्ध्यन्ति ज्ञानानि च स्वयं तथा ॥ ५ ॥
सिद्धयश्चोपतिष्ठन्ति देवा दीव्यन्ति तेन च ।
उल्लसन्ति तथाऽऽनन्दाश्छिद्यन्ते भववागुराः ॥ ६ ॥
आप्तकामो गतध्वान्तो जनो भवति निर्वृतः ।
किं साध्यं विद्यते तस्य ह्यर्थैर्धर्मैस्तदा विभोः ॥ ७ ॥
असाधिते तु बोधेऽस्मिन् यत्किञ्चित्साध्यते जनैः ।
नश्यत्येव हि तत्सर्वं व्यर्थी भवति चान्ततः ॥ ८ ॥
यथा मूलावसेकेन पत्रपुष्पफलादयः ।
पुष्यन्ति चाभिपूषन्ति न तु पत्रादिसेचनैः ॥ ९ ॥
तथैवात्मावलोकेन रक्षिते स्वात्मनि प्रभौ ।
रक्ष्यन्ते देवताः सर्वाः सर्वे भूतगणास्तथा ॥१०॥२८०॥

एक बूझ (ब्रह्मात्म ज्ञान) के साधने (साधनों द्वारा प्राप्त करने) से सब पुरुषार्थ (फल) देवादि साधे जाते हैं (प्राप्त प्रसन्न सिद्ध किये जाते हैं) और एक के साधे बिना जो अनेक अर्थ कामादि साधे जाते हैं, सो सब जाते (चले जाते = नष्ट होते) हैं । और उनसे तृप्ति नहीं होती है । अतः वे सब व्यर्थ हैं, और उनसे निवृत्त होकर यदि एक ब्रह्मात्मानुभव कर लिया जाय, तो अर्थादि स्वयं इस प्रकार से सिद्ध होते हैं कि जैसे शाखा-पत्रादि के सेचन से उलट कर (निवृत्त होकर) वृक्ष के मूल को ही सींचा जाय, तो फूल फल भी लगते हैं, और शाखा-पत्रादि सब अघाते (पुष्ट होते) हैं । "सर्वं कर्माखिलं पार्थ ! ज्ञाने परिसमाप्यते । भ० ग० ४।३३" हे अर्जुन ! निरवशेष सब कर्म ज्ञान में अन्तर्गत हो जाते हैं ॥ २८० ॥

जेहि बन सिंह न सञ्चरै, पक्षी नहिं उड़िजाय ।
सो बन कबिरन हींड़िया, शून्य समाधि लगाय ॥२८१॥
बोली एक अमोल है, जो कोइ बोलै जान ।
हिये तराजू तौल के, तब मुख बाहर आन ॥२८२॥

सिंह संचार संशून्ये खगादि गति वर्जिते ।
बने केचिद्विमृग्यन्ति भक्ति ध्यान समाधिभिः ॥११॥
अनात्मानं हि यं मत्वा स्वानन्दात्मानमव्ययम् ।
लभन्ते न विना ज्ञानमुपदेशं विना च तम् ॥१२॥२८१॥

सत्यानृतविवेकेन गदितुं ये हि जानते ।
हृत्तुलायां विमायैव हितञ्च मधुराक्षरम् ॥१३॥
तत्संसर्गोपदेशाभ्यां विचाराद्यैः शमादिभिः ।
लभ्यतेऽनुभवो येन सिद्ध्यन्ति सर्वसिद्धयः ॥१४॥
अमूल्यं तद्वचः केचिद्वदन्ति ज्ञानिनो हृदि ।
विमायैव बहिश्चास्यादानयन्ति न चान्यथा ॥१५॥२८२॥

उक्त बूझ (ज्ञान) को साधे बिना, जिस भयानक बन में सिंह भी संचार (गमन) नहीं कर सके, पक्षी भी जहाँ उड़कर नहीं जाता हो, ऐसे शून्य बन में जाकर, समाधि लगाकर कविरन ने (योगियों ने जीवों ने) ढूँढ़िया (खोजा) और खोजते है । परन्तु ज्ञान को साधने के बिना जिसको खोजते हैं, सो नहीं मिलता है ॥२८१॥ क्योंकि विवेकादि साधन युक्त ज्ञानाधिकारी के ज्ञान के लिये एक सद्गुरु की बोली ही अमूल्य (सर्वोत्तम) साधन है कि जो बोली कोई सद्गुरु ही सत्यात्मा को जानकर बोलते हैं । और हृदयरूप तराजू पर तौलकर तब मुख से बाहर उस बोली (शब्द) को आनते (लाते) हैं, ऐसे सत्यमित हितभाषी गुरु के उपदेश से ही ज्ञान होता है, सो ज्ञानाधिकारी को होता है । अतः अधिकारको प्राप्त करके ऐसे गुरु की सेवा आदि कर्तव्य है, बन में जाने की आवश्यकता नहीं है । कहा हुआ है कि "काहे रे बन खोजत जाई । सर्वनिवासी सदा अलेपा, सो तोहि सङ्ग समाई ॥ पुष्प माँह जिमि वास वसत है, मुकुर माँह जिमि छाई । तैसे हि हरि बसत निरन्तर, घट ही खोजहु भाई ॥ बाहर भीतर एकहि जानहु, यही गुरु ज्ञान लखाई । जन नानक बिनु आपा चीन्हे, मिटत न भ्रम की काई ॥१॥" ।२८२।

करु बहियाँ बल आपनी, छाड़ु बिरानी आश ।
जिहि अँगना नदिया बहै, सो कस मरै पियास ॥२८३॥
ऊ तो वैसे ही हुआ, तू मति होवहु आन ।
तैं गुणवत वे निर्गुणी, मति एके कै सान ॥२८४॥

अनात्माशां परित्यज्य कुरुष्व सत् स्वपौरुषम् ।
विचार्य स्वहृदिस्थं च लभस्वानन्दवारिधिम् ॥१६॥
हृदङ्गने महानन्दवाहिनी वै सरिद् वरा ।
म्रियते तदबोधेन तप्यते तृष्णया भवान् ॥१७॥२८३॥

शमादि रहितं कश्चिद् दृष्ट्वा चाशासमन्वितम् ।
त्वं न तत्समतामिच्छ गुणिनस्तव तेन किम् ॥१८॥
शमादि गुणहीनानां सद्विवेकं विना सदा ।
आशा भवति शोभायै भवेन्नासौ तथा तव ॥१९॥२८४॥

"नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः । मुण्डक. ३।२।४" यह आत्मा बलहीन से प्राप्त नहीं किया जा सकता है । गुरु के उपदेश से भी अनधिकारी उसको नहीं समझ सकता है । अतः अधिकार की प्राप्ति के लिये उपदेश है कि अपनी बुद्धिरूप बाहु में विवेकादि बल की प्राप्ति विचारादि से करो । और बिरानी (अन्य की) आशा को छोड़ो । क्योंकि जिसके हृदय रूप आँगने में ही आनन्द नदी की धारा बह रही है, वह पियासे कैसे मरता है, सो समझो । अर्थात् अन्य विषय देवादि की आशा से और अपने विवेकादि रूप बल पुरुषार्थ के बिना अज्ञानी जीव तृष्णादि से जन्मता मरता है । अतः विवेक विज्ञान को प्राप्त करके समूल तृष्णादि को नष्ट करके तृप्त मुक्त होवो ।।२८३॥ ऊतो (वह बन में खोजनेवाला तो) वैसे ही (अन्य की आशावाला पियासे मरनेवाला) हुआ, क्योंकि अँगनेमें बहनेवाली नदी को वह नहीं समझ सका, वह आनन्द स्वरूप ब्रह्मात्मा से अन्य हो गया । क्योंकि वह निर्गुणिया (ज्ञान साधन रहित) था और तुम यदि शमादि विवेकादि गुणवत (गुणवाले) हो, तो तुम अपने को उनके साथ एक करके नहीं मानो (तुल्य ही नहीं समझो) असङ्ग रहकर आत्मानुभव करो । यह ज्ञानाधिकारीके प्रति उपदेश है ॥२८४॥

साधु भया जो चाहहु, पक्का होके खेल ।
कच्चा सरसो पेरिके, खरी भया नहिं तेल ॥२८५॥

इष्टं चेत्तव साधुत्वं तदा धैर्यं समाश्रय ।
विवेकेन फलं तुच्छम नित्यं त्यज्यतां तथा ॥२०॥
अनासक्तमनाः पक्वमलः सत्सङ्गतिं कुरु ।
मायामात्रं जगत्पश्य क्रीडामात्रं परेशितुः ॥२१॥
अपक्वानां तिलादीनां पीडनेन यथा नहि ।
तैलादि लभते कश्चिदशुद्धमनसा तथा ॥२२॥
ज्ञानं न लभते नापि सौख्यं न परमंपदम् ।
अतः शमादिभिर्नित्यं चित्तं स्वस्य विशोधय ॥२३॥
परिपक्वमलः सत्यसङ्गरो बोधनिर्मलः ।
निर्मूल्य निखिलानर्थमर्थं प्राप्य प्रमोदते ॥२४॥२८५।

यदि तुम अभी पूर्ण विवेकी विरक्त साधु (कुशल) ज्ञानाधिकारी नहीं हुए हो। अब परोपकारी गुणी कुशल ज्ञानी साधु होना चाहते हो, तो पक्का (धैर्ययुक्तनिष्काम - दृढ़निश्चय वाला -सत्यवक्ता) होकर खेलो (सत्सङ्गादि करो) संसार शरीर के सब व्यवहारों को आसक्ति रहित खेल तुल्य करो। क्योंकि जैसे कच्चा सरसो या तिल को पेरने के बाद खली तेल कुछ भी कभी न हुआ न होता है। तैसे धैर्य दृढ़ निश्चयादि रहित के प्रति उपदेशादि से भी कुछ फल नहीं होता है, न उससे स्वयं ज्ञान-ध्यानादि किये जा सकते हैं ॥२८५॥

ज्ञानी सोइ सराहिये, कच्चा फल नहिं खाय।
किञ्चित् फल पक्का मिलै, युग युग छुधा बुताय ॥२८६॥

यो नाऽपक्वफलं ह्यत्ति कदर्थकामलक्षणम्।
स धन्यो ज्ञानिनां मुख्यो नित्यमस्य मिलेत् फलम् ॥२५॥
ये हि पक्वमलाः सन्तो ज्ञानिनो विगतैषणाः।
ते किञ्चिदिह नेच्छन्ति भुञ्जतेविषयान्न च ॥२६॥
धन्याः संस्तुति योग्यास्तेऽवाच्यमेषां मिलेत्फलम्।
यस्य सुस्वादमात्रेण वीततृष्णा भवन्ति ते ॥२७॥
ते कर्म योगिनो धन्याः काम्यं कर्म त्यजयन्ति ये।
विकर्माकर्मणी त्यक्त्वा सुकर्मानुसरन्ति च ॥२८॥
"नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्" ॥२९॥
असत् फलं ये परिहाय सर्वं ज्ञानेन सत्यं परिमार्गयन्ति।
आशापिशाचीं च सुदूरतो ये त्यजन्ति धन्याः खलु ते भवन्ति ॥३०॥२८६॥

इति साक्षिसाक्षात्कारेऽद्वयात्मनिश्चयतद्भावकालिक स्थितिवर्णनं
नाम चतुश्चत्वारिंशी वित्तिः ॥ ४४ ॥

सोई ज्ञानी (विवेकी विद्वान्) सराहने योग्य प्रशंसनीय हैं, कि जो (विनश्वर) फल अर्थादि को नहीं खाते (नहीं चाहते न भोगते) हैं। उनको किञ्चित् (कोई अवाच्य अपूर्व) पक्का (सत्य) अविनाशी मोक्षफल मिलता है कि जिससे युग युग के अनादि अविद्या राग आशा आदि रूप छुधा (भूख) रूप अग्नि बुझ जाती है, और आगे की होने वाली युग युग तक की अनन्तकाल की अग्नि सदा के लिये बुझ जाती है। अतः फिर आशा तृष्णादि रूप अग्नि प्रकट नहीं होती है ॥ २८६ ॥

अथ मनुष्याकारपशुतत्संगनिषेधवर्णन प्रकरण ४५

सिंहों केरी खोलरी, मेंढ़ा ओढ़े जाय।
बाणी ते पहिचानिये, शब्दै देत लखाय ॥२८७॥
जो मतवाले राम के, मगन रहे मन माहिं।
ज्यों दर्पण की सुन्दरी, गहै न आवै बाहिं ॥२८८॥

उभाभ्यामुक्तयोगाभ्यां हीनाः सद्भक्तिवर्जिताः।
मनुष्याकारदृष्टास्ते मनुष्या न भवन्ति हि ॥ १ ॥
किं पुनः साधवो मान्या ब्राह्मणा ऋषयोऽथवा।
वेषैश्चापि न पूज्याः स्यु र्न च मुक्ता भवन्ति च ॥ २ ॥
शब्दैरेत्र च बुध्यन्ते ते सुयोगबहिष्कृताः।
सिंहचर्मावृतो मेषो यथा शब्देन बुध्यते ॥ ३ ॥२८७॥
अनात्मनि हि देवादौ राममत्या तु ये नराः।
मोदं मनसि मन्यन्ते न रामं प्राप्नुवन्ति ते ॥ ४ ॥
प्रतिबिम्बितमादर्शे स्त्रिया रूपं यथा करे।
ग्रहीतु र्न समायाति तथैवात्रापि निश्चिनु ॥ ५ ॥
स्वात्मरामेऽथवा मग्नाः सत्ये परमधामनि।
ये ते न वशमायान्ति कस्यापीह कदाचन ॥ ६ ॥२८८॥

जैसे सिंह की खोलरी (खाल चर्म) को मेढ़ा (भेड़ा) ओढ़े (पहने) जाता हो। तो उसकी बानी (बोली) से वह पहचाना जाता है। क्योंकि उसका शब्द ही उसको लखा (ज्ञात करा) देता है, तैसे मनुष्यता रहित भी मनुष्य दीखता है। असाधु आदि भी वेषादि से साधु आदि जान पड़ता है। परन्तु बोली से पहचाना जाता है। क्योंकि "जो करनी अन्दर बसै, निकलै मुख की बाट।" इस प्रकार समझ कर सङ्ग का त्याग कर्तव्य है ॥ २८७ ॥ सद्गुरु आदि के बिना जो बन में खोजने वाले अपने मन में मगन रहते हैं। और राम के मतवाले (प्रेमी) भी रहते हैं सो उस मन में ही आनन्दादिरूप से प्रतिबिम्बित राम को नहीं पकड़ पाते हैं; जैसे दर्पण में प्रतिबिम्बित सुन्दरी के बाँह के पकड़ने से वह वश में नहीं आती है। किन्तु जिसका प्रतिबिम्ब हो, उसको पकड़ने से प्रतिबिम्ब की सुन्दरी भी वश में आती है, इसी प्रकार मनोगत आनन्दके प्रतिबिम्ब द्वारा बिम्बको समझनेपर प्रतिबिम्ब भी स्वस्वरूप सिद्ध हो जाता है ॥ २८८ ॥

जिहि खोजत कल्पो गया, घटहिं हति सो मूरि।
बाढ़े गर्व गुमान के, अन्तर परिगौ दूरि ॥२८९॥

अनात्मत्वेन यं सम्यग् गवेषयन्नयं पुमान्।
नाप्नोद्बहुषु कल्पेषु सैव संजीवनः परः ॥ ७ ॥
अनादिभवरोगस्य विद्यते परमौषधम्।
आत्मा ह्यद्येव सर्वस्य लभ्यते नाविवेकिभिः ॥ ८ ॥
सर्वस्य मूलभूतं यन् सर्वाधिव्याधिनाशनम्।
ज्ञातमात्रं तदेवात्मा परं ब्रह्म सनातनम् ॥ ९ ॥
मायया कारणं मूलं जगतो ब्रह्म यद् भवेत्।
आत्मत्वेन परिज्ञातमाधिव्याधिनिवर्तनम् ॥१०॥
मानदम्भादि बृद्धौ च दूराद् दूरतरं यथा।
भवति स्वान्तिकस्थं तद् दिग्भ्रमादिविमोहवत् ॥११॥२८९॥

आत्म भिन्न दूरादि मानकर जंगलादि में जाकर जिस सच्चिदानन्द राम को खोजनेमें कल्पो बीत गया और मिला नहीं। सो रामस्वरूप मूरि (सब ताप पाप के नाशक मूलौषधि) सबके घट (देह) में ही हती (थी) और है। परन्तु शरीर बलादि के गर्व और धन-जनादि के गुमान (अभिमान) के बढ़ जाने से वह मूरि दूर के अन्तर (परदा) में पड़ गई है। अर्थात् अमानित्व अदम्भित्व अहिंसा आदि गीता में वर्णित साधनों के बिना सत्यात्मा राम अत्यन्त दूर है। अमानित्वादि वालों के लिये अति निकट निज स्वरूप है ॥ २८९ ॥

रामहिं सुमिरै रण मरै, फिरै और के गैल।
मानुष केरी खोलरी, ओढ़े फिरै बैल ॥२९०॥
लोगन केर अथाइया, मति कोइ बैठु जाय।
एकहिं खेत चरत हैं, बाघ गदहरा गाय ॥२९१॥

रामं स्मरन् रणे यश्च म्रियते विचरन् पथि।
पश्चादन्यस्य मानुष्यचर्मच्छन्नो वृषो हि सः ॥१२॥
गर्वादेरभिवृद्धौ च रामे दूरतरे स्थिते।
अनात्मत्वेन रामं हि स्मरन्तो नाममात्रतः ॥१३॥
क्रोधादेर्विवशीभूता युद्धाय समुपस्थिताः।
देवाद्यनुचरा लोका मनुष्याकार संवृताः ॥१४॥

ते देवपशवो नूनं भ्रमन्त्येवात्र सर्वदा।
राजसादिप्रभेदेन गृहीत्वा विविधास्तनूः ॥१५॥
चरन्तः प्रकृतौ क्षेत्रे ह्यदन्तः कर्मजान् गुणान्।
तेषां संसदि कश्चिन्नो गत्वा तिष्ठतु सज्जनः ॥१६॥
व्याघ्रगर्दभगोभिस्ते तुल्या एकत्र चारिणः।
वैरायन्ते च खिद्यन्ते खेदयन्ति स्वसङ्गिनः ॥१७॥२९१॥

गर्वादि से सत्यात्मा राम के दूर अन्तराय (व्यवधान) में पड़ जाने के कारण जो दूर के ही राम का स्मरण करते हैं, सर्वात्मा राम को नहीं समझते हैं सो राग-द्वेषादि करके रण (युद्ध) में मरते-मारते हैं तथा और (अनात्मा राम से भी अन्य देवादि) के गैल (मार्ग पीछे) में आशादि वश फिरते हैं। एकेश्वर के शरण में नहीं रहते हैं। ऐसे लोग देवादि के बैल (पशु) हैं। परन्तु मनुष्य के खाल को ओढ़े फिरते हैं। मुमुक्षु इनका सङ्ग नहीं करे॥ २९० ॥

कोई सज्जन मुमुक्षु उक्त रीति वाले लोगों की अथाइया (सभा = बैठक = स्थान) में जाकर नहीं बैठो। क्योंकि वहाँ किसी एक मायिक वस्तु रूप खेत (क्षेत्र) में बाघ, गदहा, गाय तुल्य, राजस, तामस, सात्त्विक तीनों प्रकार के पुरुष चरते (रमते विचरते) हैं, शरीर स्त्री पुत्र धनादि की कथा और उपभोग करते हैं, समता के हेतु क्षेत्रज्ञ आत्मा या राम की चर्चा विचारादि नहीं करते हैं, न जानते हैं। अतः परस्पर विरुद्ध स्वभाव व्यवहारादि के होने से, वे लोग अवश्य झगड़ते हैं वाक् कलह करते है, और उपदेश है कि "झगड़ा नितहिं बराइये, झगड़ा बुरी बलाय। दुःख उपजै चिन्ता बढ़ै, झगड़ा में घर जाय, ॥१॥ अतः प्रतिकूल जनसभा में नहीं बैठना चाहिये ॥२९१॥

खेत भला औ बिज भला, बोइन मुठि के फेर।
काहे बिरवा रूखरा, ई गुण खेतहिं केर ॥२९२॥

नरदेहात्मके क्षेत्रे बीजे च वासनामये।
शुभेऽसौ देहवृक्षोऽपि कुसङ्गाद्याति हीनताम् ॥ १८ ॥
जनानां सङ्गमे चैते शब्दजालै र्वृहत्तमैः।
वपन्ति वासनाबीजानशुभानेव दुःखदान् ॥ १९ ॥
कुसङ्गे क्षेत्रसामर्थ्यं बीजसामर्थ्यमेव च।
नश्यत्येवेति वा ह्रासं कुरुतां किं च ते उभे ॥ २० ॥
सद्भिरुप्तं च सद्बीजं तत्त्वाऽऽख्यानैकलक्षणम्।
बहुयत्नं पुरस्कृत्य सत्क्षेत्रेऽपि सुसंस्कृते ॥ २१ ॥

क्षेत्रासक्तिकुसङ्गाभ्यां नासावुल्लासमेति च ।
ज्ञानरूपस्तरुस्तेन त्यक्तव्यौ तौ प्रयत्नतः ॥२२॥२६२॥

मानव देह अन्तःकरणादि रूप खेत भला (सात्त्विक) हो, और वासना-कर्मादिरूप बीज भी भला ही है । तो भी ज्ञानध्यानादिरूप बिरवा या मानव देही रूप बिरवा रूखरा (सूखा खिन्न) क्यों है, यह खेत ही का गुण है, क्योंकि कुसङ्ग से राजस तामस लोगों ने मानो मुठी के फेर से बीज बो दिया है, इससे खेत की शक्ति नष्ट हो गई है । अतः वस्तुतः खेत या बीज का यह रूखा पन का हेतु रूप गुण नहीं है । किन्तु कुसङ्ग का गुण है । अतः कुसङ्ग में नहीं बैठो यह उपदेश है ॥२६२॥

गुरु सीढ़ी से ऊतरे, शब्द विमूखा होय ।
ताको काल घसीटि हैं, राखि सकै नहिं कोय ॥२६३॥

ये कुसङ्गेन चासक्त्या गुरो र्मार्गात् पतन्ति हि ।
विमुखा वा भवन्तीह सारशब्दात्प्रमादतः ॥२३॥
निपात्य नरके तांस्तु कालो वै बलमत्तमः ।
आकर्षति भृशं येन ते तपन्ति निरन्तरम् ॥२४॥
भ्रष्टानां तु गुरो र्मार्गात्कुमार्गेणैव गच्छताम् ।
रक्षको न भवेत् कश्चिदपि ब्रह्मा हरि र्हरः ॥२५॥
सोपानभूता गुरुभिश्च दर्शिता ये वैशमाद्याः खलु मोक्षलब्धये ।
अमानिताद्याश्च दयाक्षमादयस्तेभ्यश्च्युता कालवशा भवन्ति हि ॥२६॥२६३॥

इति साक्षीसाक्षात्कारे मनुष्याकारपश्वादिवर्णनं नाम
पञ्चचत्त्वारिंशी विच्तिः ॥ ४५ ॥

कुसङ्गादि के त्याग के लिये कहते हैं कि जो मनुष्य अहिंसादि रूप यम नियमात्मक तथा शुभेच्छा सुविचारादि रूप गुरु सीढ़ी (गुरुमार्ग) पर चढ़कर (प्राप्त होकर) भी कुसङ्गादि वश उस निसेनी से उतरते हैं, उस मार्ग को त्यागते, और आगे के मार्ग में नहीं चलते हैं । और सद्गुरुसत शास्त्र के शब्दों से भी विमुख हो जाते हैं । श्रद्धाश्रवणादि से रहित हो जाते हैं, उनको सब योनि और नरकादि में अवश्य काल घसीटेगा (भ्रमायेगा) और उनको उस समय कोई रक्षा नहीं कर सकेगा । अतः इस अनर्थ के हेतु कुसङ्गादि को अवश्य त्यागना चाहिये ॥२६३॥

अथ सद्गुरुकी भक्तिसत्य शम्बलादिवर्णन प्र० ४६

दादा भाई बाप कै लेखो, चरणन होइ हो बन्दा।
अबकी पुरिये जो नर समुझे, सो नर सदा अनन्दा ॥२९४॥

गुरुरेव पिता भ्राता पूज्यश्चायं पितामहः।
हितकारी सहायश्च तं विना नेह कश्चन ॥ १ ॥
तत्पादपद्मयोः सेवां कुरुष्वैव त्वमादरात्।
चरणालम्बनं कृत्वा दुस्तरस्तीर्यतां भवः ॥ २ ॥
मानवेन हि देहेन योऽनेन भवसगरम्।
प्राप्य वै तरति ज्ञानं सद्गुरोः करुणानिधेः ॥ ३ ॥
स तिष्ठति सदाऽऽनन्दमयो नित्य गतव्यथः।
नावर्तते च भूयोऽसौ कृतकृत्यो यतोऽभवत् ॥ ४ ॥

जिससे सद्गुरु और गुरु के शब्द से विमुखता अनर्थ का हेतु है। अतः सद्गुरु को दादा (पितामह) बड़े भाई और बाप (पिता) स्वरूप कै (करके) लेखो (देखो = मानो) अर्थात् दादा आदि के समान पूज्य सहायक सफल सुन्दर जन्म दाता सद्गुरु को समझो। और उनके चरणों के बन्दा (दास बन्दनशील सेवक) होंइ हो (होना) क्योंकि जो मनुष्य इस प्रकार गुरु सेवा आदि करके, अब की पुरिये (इस मानव देह रूप पुर में) सर्वात्मा राम को समझता है, सो सदा आनन्दस्वरूप मुक्त हो जाता है। अतः शब्द विमुखता के त्याग पूर्वक गुरु सेवा पूजा ध्यानादि कर्तव्य हैं ॥२९४॥

जहँ गाहक तहँ हौं नहीं, हौं तहँ गाहक नाहिं।
बिनु विवेक भरत फिरे, पकरि शब्द की छाहिं ॥२९५॥

क्रेता यत्र न तत्राऽहं यत्राऽहं तत्र नास्त्यसौ।
विवेकेन विना शब्दच्छायामाश्रित्य घूर्णते ॥ ५ ॥
कामिनो यत्र तिष्ठन्ति भोगैश्वर्यादिवर्त्मसु।
गुरवो नात्र गच्छन्ति नैव सक्ता भवन्ति वा ॥ ६ ॥
गुरवो यत्र तिष्ठन्ति कामिनस्तत्र यान्ति नो।
सद्विवेकमतोऽप्राप्याऽसारशब्दाद् भ्रमन्ति ते ॥ ७ ॥
जिज्ञासा वर्तते यत्र तत्र गर्वो न सम्भवेत्।
अहङ्कारस्य सत्त्वे तु सज्जिज्ञासा कथा कुतः ॥ ८ ॥

सज्जिज्ञासाद्यसंप्राप्तौ शब्दाभासंप्रगृह्य वै।
भ्रमन्ति मानिनो मूढा अहङ्कारेण पाप्मना ॥ ९ ॥
ग्राहकत्वं ह्यतो यत्र तत्राहंभावना नहि।
यत्राहं भावना तत्र ग्राहकत्वं सतः कुतः ॥१०॥२९५॥

गुरु सेवा आदि से विमुख गाहक (विषयादि ग्राहक कामी) मनुष्य जहाँ (जनसंघ भोगादि में) रहते हैं, तहाँ हौं (सद्गुरु) नहीं जाते हैं। न मिलते हैं। और जहाँ (एकान्त सत्सङ्गादि में) हौं (मैं = सदगुरु) रहता हूँ, तहाँ गाहक नहीं आते हैं। अतः सत्यासत्य शब्दों के विवेक के अभाव से शब्द की छाह (छाया = शब्दभास असत्य शब्द) को पकड़ कर भ्रमते फिरते हैं। तथा जहाँ ग्राहकता है (जिज्ञासा है) तहाँ हौं (अहङ्कार) नहीं रहता है। जहाँ अहङ्कार रहता है, वहाँ सच्ची जिज्ञासा नहीं रहती है। अतः वह शब्द की छाया (अर्थवादादि) को पकड़ कर कर्माधीनभ्रमता फिरता है ॥२९५॥

स्वप्ने सोवै मानवा, खोलि न देखै नैन।
जीव परा बहु लूट में, ना कुछ लेन न दैन ॥२९६॥

स्वप्नोपमे प्रसुप्तोऽयं नेत्रे नोन्मील्य पश्यति।
मानवस्तेन जीवोऽयं प्राप्तो बहुविलुण्ठने ॥११॥
अहङ्कारयुताः सर्वे मोहनिद्राशयालवः।
विवेकनेत्रमुन्मील्य पश्यन्ति न कदाचन ॥१२॥
अतस्तेषां हि सर्वस्वं कामाद्यास्तस्कराः सदा।
हरन्ति पीडयन्तस्तान् सिद्ध्यन्ति न मनोरथाः ॥१३॥
स्वप्ने सुप्तश्च जीवोऽपि बह्वर्थलुण्ठनेऽलगत्।
तत्र किञ्चिन्नचादानं दानं वा विद्यते तु सत् ॥१४॥
स्वप्नोपमस्यैव विनश्वरस्य ये कामुकास्ते न गुरुं लभन्ते।
कामादिचौरैश्च विपीड्यमाना भवाटवीस्थाश्च मुधा भ्रमन्ति ॥१५॥२९६॥

सद्गुरु आदि की प्राप्ति के बिना अहङ्कारी कामी मनुष्य मोह निद्रा से संसार बन में सोया है। और सोता हुआ मिथ्या प्रपञ्चरूप स्वप्न को सत्य रूप से देख रहा है। तहाँ विवेक विज्ञान रूप नैन (नेत्र) को खोल कर (प्रकट करके) सत्यात्मा को नहीं देखता है। अतः यह जीव स्वप्न में दृष्ट मिथ्या बहुत वस्तु के लूट (संग्रह भोगादि) में पड़ा (लगा) है। परन्तु संसार की वस्तुओं के मिथ्या होने से सच्चा कुछ लेना देना नहीं है। या नेत्र खोल कर

देखने के बिना कामादि कृत बहुत लूट में (लुटेरे के वश में) जीव पड़ा है, परन्तु यहाँ कुछ लेन देन नहीं है ॥ २६६ ॥

नष्टा का यह राज्य है, नफरक वर्तें टेक (तेज) ।
सार शब्द टकसार है, हृदया माँह विवेक ॥२६७॥

प्रनष्टाया इदं राज्यं दासस्य वर्तते बलम् ।
सारशब्दोऽत्र सत्योऽस्ति विवेको हृदये तथा ॥१६॥
सततं परिणामिन्या मायायाः खल्विदं जगत् ।
अखिलं वर्तते राज्यं मनस्तस्या वशंवदम् ॥१७॥
तेजोऽस्य नियमो यावत्प्रभुत्वं वर्तते जने ।
तावत्संपीड्यते जन्तुस्तेन कामादिहेतुना ॥१८॥
सारशब्दविवेकाभ्यां स्वानुभावे प्रसाधिते ।
साहंकारं मनश्चैतन्न जाने क्व विलीयते ॥१९॥
उल्लासोऽस्ति विवेकस्य यत्रैव जनमानसे ।
सारशब्दोऽपि तत्रैव बोधस्य कारणं भवेत् ॥२०॥
अतो विचारतः शब्दाद्विवेकं समुपार्जय ।
तर्जयस्व च कामादीनहंकारं विसर्जय ॥२१॥२६७॥

स्वप्न तुल्य यह संसार नष्टा (सदा परिणामशीला मिथ्या) माया का राज्य (देश) है । और उसीका नफर (दास = सेवक) मन का या देवादि का यहाँ टेक (नियम=प्रभुत्व) या तेज (प्रताप) वर्तता (वर्तमान रहता) है केवल सार शब्द टकसार (सत्य ज्ञान का हेतु) है, सो भी उसीके लिये ज्ञान का जनक है कि जिसके हृदय में आत्मानात्मादि का प्रथम से कुछ विवेक रहता है । और विवेकजन्य विरागादि रहते हैं । अतः सार शब्द और विवेक दोनों टकसार (टकसाल) हैं । अनुभव के स्थान और साँचे हैं । विवेक और शब्दोपदेश के अनुसार ही विचारादि से अपरोक्षानुभव होता है ॥ २६७ ॥

छप्पर छाये कौन गुण, सबे बाँध चुचुआय ।
जिहि निति छप्पर छाइया, सो परदेशहि जाय ॥२६८॥

विवेकेन विना स्वस्य देहस्य परिपालने ।
फलं न वर्तते किञ्चिद्विपच्छिरसि वर्तते ॥२२॥
सर्वथा पोषणेऽप्यस्य मलं स्रवति सर्वतः ।
द्वारैस्तु रोमकूपैश्च रुजा च बाधते भृशम् ॥२३॥

इमं रक्षति यो नित्यं त्यक्त्वेनं सोपि सेन्द्रियः ।
अवश्यं याति चान्यत्र किमस्य रक्षणाद् भवेत् ॥ २४॥
छदिषश्छादने को वै गुणोऽत्र विद्यते शुभः ।
सर्वत्र बन्धनस्थाने जलं स्रवति तस्य चेत् ॥२५॥
यश्चतच्छादने सक्तः प्रवासोऽप्यस्य चेद् भवेत् ।
किमर्थं छादने सोऽपि वर्तेताज्ञानमन्तरा ॥२६॥२६८॥

उक्त सार शब्द और विवेक के बिना उक्त माया और मन के वश में रहकर इस देहरूप छप्पर के छाने (पोषणे) में कौन गुण (फल) है कि जिसको किसी प्रकार से भी छाया जाय तो भी इसके सबे बाँध (सन्धि=द्वार) नस नाड़ी के बन्धन स्थान चुचुआते हैं (चूते स्रवते हैं) जिस जीव ने सदा इसको छाया (पोषा) है और पोषता है सो इसको त्यागकर इन्द्रियादि परिवार सहित थोड़े दिनों में परलोक में ही चला जाता है । अतः स्वार्थ-परमार्थ रहित छप्परतुल्य इस देह छप्पर के केवल छाने में कोई गुण नहीं है । किन्तु विवेकादि द्वारा इससे स्वार्थ-परमार्थ को प्राप्त करने कराने में सब गुण है ॥२६८॥

इहईं सम्बल करि लेहु, आगे विषमी बाट ।
स्वर्ग विसाहन सब चले, जहँ बणियाँ नहिं हाट ॥२९९॥

पाथेयं क्रियतामत्र विपथोऽग्रे हि वर्तते ।
स्वर्गं क्रेतुं जना यान्ति यत्र हट्टो वणिग् न च ॥२७॥
अहङ्कारं परित्यज्य परलोकस्य शम्बलम् ।
अत्रैव कुरु धीर ! त्वं नान्यत्र लभते हि तत् ॥२८॥
पश्चादौ तम उद्रेको देवादौ च प्रमादिता ।
गुर्वादि दुर्लभस्तेन बोधमत्र समाप्नुहि ॥२६॥
अहो अत्र महाहट्टं सत्सङ्गं सद्गुरुं तथा ।
हित्वाऽन्यत्र जना यान्ति स्वर्गं क्रेतुमबोधतः ॥३०॥
यत्र न लभ्यते ज्ञानं न च सौख्यं सनातनम् ।
प्राप्यते न गुरुर्यत्र तत्र याति विमूढधीः ॥३१॥२६६॥

परमार्थार्थक पुरुषार्थ के लिये उपदेश है कि देह पोषणमात्र परायणता को त्याग कर इहईं (इस देहलोक में ही) मोक्ष मार्ग सुख शान्ति मार्ग के शम्बल (साधन= बाट खर्च) कर लो । क्योंकि आगे (इस देहलोक से अन्यत्र) का मार्ग विषमतायुक्त कठिन है, मानव देह सम पुण्य पाप से होता है । अतः इससे साधन हो सकता है । देव शरीर में अधिक भोग से प्रमाद होता है,

अधिक पाप रचित पशु आदि शरीरों में तमोगुण अज्ञानादि की प्रधानता रहती है। यहाँ पुण्य पाप की समता से प्रायः ये दोष नहीं रहने पर शम्बल करना बनता है। परन्तु इस विवेक के बिना सब वहाँ स्वर्ग (मोक्ष सुख) वेसाहने (खरीदने) चले, और चलते हैं कि जहाँ सद्गुरु सन्त भक्तरूप बनियाँ नहीं हैं, न सत्सङ्गरूप हाट है। अर्थात् परलोक में जाकर लोग मुक्त सुखी होना चाहते हैं। परन्तु जीवन्मुक्ति के बिना सत्य मुक्ति नहीं मिलती है ॥२९९॥

जिन जिन सम्बल नहिं किया, असपुर पट्टन पाय।
झालि परे दिन अस्त भै, सम्बल किया न जाय ॥३००॥
सम्बल सम्बल सब कहै, सम्बल परो न हाथ।
सम्बल घटये पगु थके, जीव बिराणे हाथ ॥३०१॥

लब्ध्वेदं पत्तनं ग्राममीदृशं ये न शम्बलम्।
कृतवन्तो दिनस्यान्ते न कर्तुं शक्नुवन्ति ते ॥३२॥
स्वस्थेऽत्र मानवे देहे शम्बलं क्रियते न चेत्।
वृद्धत्वे मृतिकाले वा तत्कर्तुं शक्यते कथम् ॥३३॥
मोहान्धेन समाच्छन्नाः प्राणभानौ लयं गते।
शक्नुवन्ति न केऽप्यत्र त्रातुमात्मानमञ्जसा ॥३४॥३००॥
यद्येते काम्यकर्मादिलक्षणं शम्बलं जनाः।
प्रभाषन्ते च कुर्वन्ति जानन्ति नाक्षयं तदा ॥३५॥
अज्ञानान्न च तल्लब्धं क्षीणे च नश्वरेक्षणात्।
सामर्थ्यविगमे जीवा भवन्ति विवशा मुहुः ॥३६॥३०१॥

जिन जिन लोगों ने मानव देह रूप ऐसा (सुन्दर साधन योग्य) पुर को पाकर और इस लोक रूप पट्टन (पत्तन = नगर) को पाकर, स्वस्थ युवा अवस्था में मोक्षमार्ग के शम्बल का सम्पादन नहीं किया (सुकर्मादि से तन मन को शुद्ध शान्त नहीं किया) तो उनसे झालि (झोली) पड़ने पर (जरा अवस्था से अन्धकार के छा लेने पर) दर्शन श्रवणादि शक्ति के घटने पर तथा प्राण जीवनरूप दिन (दिनकर) के अस्त (मरण) होने पर फिर सम्बल नहीं किया जा सकता है। अतः स्वस्थ युवा अवस्था में ही सम्बल कर्तव्य है ॥३००॥ यद्यपि सब मनुष्य शम्बल २ कहते हैं (परलोक सुखसाधन की बात सब करते हैं) और कर्मादि रूप सम्बल बहुत लोग करते भी हैं। तथापि सद्गुरु आदि के बिना पर (उत्तम अक्षय) शम्बल किसी के हाथ (हृदय मन) में नहीं

प्राप्त होता है। (आत्मज्ञान नहीं मिलता है)। अतः उस कर्मादिरूप शम्बलके भोग से घटने (नष्ट होने) पर, वह जीव बिराने (कालादि) के हाथ (वश) में होता है। क्योंकि कर्मादि की शक्तिरूप पैर के भी थकने (नष्ट होने) पर कहीं स्वतः जाने भी नहीं पाता है। अतः यहाँ अक्षय शम्बल कर्तव्य है॥३०१॥

तीनि लोक भौ पीजड़ा, पाप पुण्य भौ जाल।
सकल जीव सावज भये, एक अहेरी काल ॥३०२॥
ई जग तो जहड़े गया, भया योग नहिं भोग।
तील झारि कबीर लिया, तिलठी झारै लोग ॥३०३॥

सत्य शम्बल हीनानां पततां प्राणिनां कृते।
त्रिलोकी पिञ्जरं जातं जाले तु पुण्यपापके ॥३७॥
लक्ष्याः सर्वेऽभवन् जीवाः काल एकस्तु लुब्धकः।
क्षुभितास्तेन धावन्ति लोकेषु ते निरन्तरम् ॥३८॥३०२॥
कालस्य तु शरव्यत्वादिमे संसारिणो जनाः।
नरकादौ गता नैषां भवतो योगभोगकौ ॥३९॥
व्याकुला मोहजालेन बद्धाः सर्वेऽपि जन्तवः।
अतो न साधितो योगो न भोगस्तैः कथञ्चन ॥४०॥
धीरो विवेकतः सार मुद्धृत्योन्मोदते भृशम्।
मृगयन्ते जडाः सारमसारे भोगगर्द्धया ॥४१॥
यथा कश्चित्तिलानेव गृह्णीयात् कुशलो नरः।
मूढस्तु तिलकाष्ठानि धुनुयात्तिलवाञ्छया ॥४२॥३०३॥

अक्षय शम्बल (ज्ञान) रहित जीवों के लिये तीनों लोक मानो पीजड़ारूप हुआ है, उन जीवों के पाप पुण्य (धर्म अधर्म) जाल रूप हुए हैं। अज्ञ कामी सब जीव सावज (पक्षी) हुए हैं। एक काल (मृत्यु) सबका अहेरी (शिकारी) हुआ है, ज्ञान के बिना जन्ममरणादि से रहित कोई होता नहीं है ॥३०२॥ ज्ञान के बिना ई जग (यह संसारी कामी जीव) जहड़े (जहन्नम= नरक धोखे) में गया (पड़ा) और इससे योग या भोग नहीं हो सका। क्योंकि कबीर (ज्ञानीजन) तो तील (सत्यात्मा) को संसार में से झारकर (विवेक करके) लिया (निश्चय किया) और असार नाम रूपात्मक संसार को छोड़ दिया। और अज्ञ लोग तिलाठी (तिलकाष्ठ) तुल्य असार नामरूप को झारते (भोगते) हैं। अतः सत्य योग और सत्यानन्द का भोग (अनुभव) नहीं होता है ।३०३।

शब्द सँभारे बोलिये, शब्द को हाथ न पाँव।
एक शब्द कर औषधी, एक शब्द करु घाव ॥३०४॥

सावधानेन वक्तव्यः पाणिपादं न यस्य वै।
स एकः शमयेद् रोगमेकश्च कुरुते छिदाम् ॥४३॥
असारे हि समासक्तास्तृप्तेः शान्तेरभावतः।
वाग्बाणान् विसृजन्तीत्थं भिद्यन्ते हृदयानि यैः ॥४४॥
विदीर्यन्ते च मर्माणि दह्यन्ते ह्यसवस्तथा।
धीरास्तु सारशब्देन भिषज्यन्ति हि तानपि ॥४५॥
अतो नित्यं विचारेण शब्दै र्व्यवहरेन्नरः।
हस्तपादादिहीनास्ते कुर्वन्ति साध्वसाध्वपि ॥४६॥
आसारजालेष्विह सारबुद्ध्या परिभ्रमन्त्र्छम्बलसङ्गहीनः।
लभेत न क्वापि नरोहि शर्म तस्माद्विचारादिरतः सदा स्यात् ॥४७॥

इति साक्षिसात्कारेगुरुभक्तिशम्बलादिवर्णनं नामषट्चत्वारिंशीविक्तिः ४६

उक्त काम अज्ञानादि के त्यागादि करने कराने के लिये उपदेशात्मक शब्द ही मुख्य साधन है। अतः शब्द को संभार कर बोलना (अध्ययन अध्यापन करना कराना) चाहिये। तथा विधि के अनुसार स्वहित की बात गुरु से पूछना चाहिये, और शिष्य के प्रति उपदेश देना चाहिये। क्योंकि जिस शब्द के हाथ पाँव आदि कोई साधन उपकार अपकार के हेतु नहीं हैं। सो भी संभारकर बोले गये एक प्रकार के शब्द औषधि के काम करते हैं। अज्ञान कामादि रोगों को नष्ट करते हैं, और संभार रहित एक प्रकार के शब्द सुख शान्ति को नष्ट करके घाव (पीड़ा) करते हैं। अतः अज्ञान काम मोहादि की निवृत्ति के लिये विवेकपूर्वक शब्दात्मक औषधि कर्तव्य है ॥ ३०४ ॥

अथ यन्त्रयन्त्रिविवेक प्रकरण ४७

यन्त्र बजावत हौं सुना, टूटि गये सब तार।
यन्त्र बेचारा क्या करै, चले बजावनिहार ॥३०५॥

रणयन् हि यथा यन्त्रं यन्त्री कश्चिन्मया श्रुतः।
छिन्ने तन्त्रिणि संयाते यन्त्रिणि क्वचिदेव तु ॥ १ ॥
किं करिष्यति तद्यन्त्रं तथैवात्र विनिश्चनु।
वागस्वादौ परिच्छिन्ने मनसि क्वापि गच्छति ॥ २ ॥

यन्त्ररूपशरीरस्थो यन्त्री यन्त्रे रणन् मुहुः।
श्रूयते तस्य बोधाय सारशब्दं विचारय॥ ३॥
प्राणादीनां वियोगे हि यन्त्रैः किञ्चिन्न साध्यते।
अतः प्राणादिसत्त्वेऽत्र स्वस्थः सर्वं समाचर॥ ४॥
वाक्कण्टकै र्न कञ्चित्त्वं तुद मर्माणि भिन्धि नो।
रूक्षवाचां समालोक्य ह्यत्राप्याशु विपर्ययम्॥ ५॥३०५॥

"येन रूपं रसं गन्धं शब्दान् स्पर्शांश्च मैथुनान्। एतेनैव विजनाति॥ कठ० २।१।३" जिस प्रत्यक्षात्मा की सत्ता प्रकाश से ही जीव रूप रस-गन्धादि को जानता है। इत्यादि शास्त्रों से मैंने सुना है कि एक सत्यात्मा ही सब शरीररूप यन्त्र को औपाधिक अनन्तरूप होकर बजाता है, तथा बजाता हुआ सुन पड़ता है (प्रत्यक्ष समझा जाता है)। परन्तु जब स्वांस = नाड़ी आदिरूप सब तार टूट गये और बजानेवाला भी चल दिया, तब यह बेचारा (असमर्थ) यन्त्र क्या कर सकता है। अर्थात् मरने के बाद यह शरीर किसी काम का नहीं रहता है तैसे ही संभार के बिना भी किसी काम का नहीं रहता है। अतः संभार से कुभोग कुवचनादि को त्यागकर इस शरीर से परोपकारादिपूर्वक मोक्षसाधन कर्तव्य है, पर अपकार नहीं कर्तव्य है, इत्यादि॥ ३०५॥

जौं लगि ढोला तौं लगी, बोला धन व्यवहार।
ढोला फूटा धन गया, कोइ न झाकै द्वार॥३०६॥
जैसी लागी ओर की, तैसि निबाहै छोर।
कौड़ी कौड़ी जोरि के, जूटे लक्ष करोर॥३०७॥

यावद्देहाख्यवाद्यं ये स्त्रीपुत्रधनधामदम्।
कुर्वते व्यवहारं नो मृतौ तेषां हि कश्चन॥ ६॥
त्राता तच्च धनं नष्टं नास्य द्वारं निरुध्यते।
केनापि न तदा कश्चिन्मोक्षद्वारं च पश्यति॥ ७॥
धने नष्टे न कश्चिद्द्वारमस्य प्रपश्यति।
लोकास्तथापि संगृह्य प्राप्य प्राप्य वराटकान्॥ ८॥३०६॥
लक्षं कुर्वन्ति कोटिं वा विवेकं साधयन्ति नो।
यस्मिन् सुसाधिते भूयो भयं कालान्न विद्यते॥ ९॥
"न तादृशं जगत्यस्मिन् दुखं नरक कोटिषु।
यादृशं यावदायुष्कमर्थोपार्जनशासनम्"॥१०॥३०७॥

उक्त संभाल और विवेकादि के बिना जब तक ढोला (संभाल रहित शब्दवाला) ढोल तुल्य शरीर रहता है, तब तक धनादि के व्यवहार को ही जिन लोगों ने बोला कभी भक्ति धर्म ज्ञानादि की बातों को नहीं बोला। उनका जब ढोला फूटा (मरण हुआ) तभी सब धन चला गया। क्योंकि उन धनों के जाने के द्वारों को अब कोई झाँक (बन्द) नहीं कर सकता है, धर्मादि धन होते तो नहीं जाते, साथ रहते। और संभाल रहित मरने पर धन तो जाते ही हैं। उस धनी के द्वार को भी कोई झाँकता (देखता) नहीं है, न ऐसा कोई मनुष्य मरनेपर भी मोक्ष द्वार को झाँकता (देखता) है। अतः जीवित अवस्था में संभाल पूर्वक मोक्ष द्वार द्रष्टव्य है ॥ ३०६ ॥

यद्यपि शरीर छूटते ही सब धन चला जाता है तथापि सदा धन के व्यवहार को बोलने वालों की जैसी प्रीति वृत्ति ओर की (व्यवहाराऽऽरम्भकाल की) लगी रहती है, वैसी ही प्रीति को यदि छोर (अन्त) तक निबाहते हैं तो कौड़ी कौड़ी जोड़कर लाख करोड़ जूट जाता (प्राप्त होता) है, इस प्रकार विवेकी धीरे-धीरे अक्षय धन को प्राप्त करते हैं। उसको असाध्य नहीं समझते हैं ॥३०७॥

पारस परसि तामाँ भौ कंचन, बहुरि न तामाँ होय।
परिमल बास परासहिं बेधे, काष्ठ कहै नहिं कोय ॥३०८॥

यथा पार्श्वमणेः सङ्गा ल्लौहं हाटकतां व्रजेत्।
पुन र्नोयाति लौहत्वं मलतापै र्न नश्यति ॥११॥
एवं मलयसंसर्गात् पालाशश्चन्दनायते।
काष्ठं स नोच्यते कैश्चिच्छैत्यं भजति सर्वदा ॥१२॥
तथा सत्तत्त्वसंसर्गात्संसारित्वं निवर्तते।
पुन र्नैव भवेत् क्वापि मलतापादिसङ्गतिः ॥१३॥
गुरुणां सङ्गमाच्चैवं गुरुत्वं चैव मुक्तता।
आनन्दरूपता नित्यं शान्तता च सदा भवेत् ॥१४॥
तादृशा गुरवश्चात्र विद्यन्ते विरला भुवि।
येषां सङ्गाद्विवेकित्वं गुरुत्वं चैव जायते ॥१५॥३०८॥

अक्षय शम्बल अक्षय मोक्ष साधन को पाकर अक्षय मुक्त स्वरूप जीवात्मा इस प्रकार से होता है कि जैसे पारस के परस (सम्बन्ध) से जो तामा काञ्चन हो गया हो सो फिर कभी तामा नहीं होता है। और जिस परास (पलास) में परिमल (मलय चन्दन) का वास (गन्ध) बेध गया हो, उसको कोई साधारण काष्ठ (लकड़ी) नहीं कहता है। किन्तु चन्दन कहता है, इसी प्रकार सद्गुरु

सर्वात्मा ब्रह्म के अनुभव से जो जीव मुक्त होता है, सो फिर कभी संसारी नहीं होता है, और ब्रह्मानन्द के प्रवेश से दुःखी नहीं कहा जाता है, ज्ञानी आचार्य गुरु के सम्बन्ध से आचार्यरूपता को प्राप्त करके नित्य मुक्त स्वरूप होता है, "आचिनोति च शास्त्रार्थानाचारेस्थापयत्यपि। स्वयमाचरते यस्मादाचार्यस्तेन कथ्यते ॥१॥" जो सत्शास्त्रार्थों का संग्रह धारण करते हैं, शिष्यको सदाचारमें स्थिर करते हैं, जिससे स्वयं सदाऽऽचरते हैं, इससे आचार्य कहे जाते हैं।३०८।

सारा पट्टन जरि गया, अपनी अपनी आगि।
ऐसा कोइ न देखिये, जासो रहिये लागि ॥३०९॥
ताहि न कहिये पारखी, पाहन लखै जु कोय।
ई दिल नग जु कोइ लखै, रतन पारखी सोय ॥३१०॥

सकलं पत्तनं दग्धं स्वस्वज्वलनकीलया।
ईदृशो दृश्यते नात्र येन लग्नः सुखी भवेत् ॥१६॥
सर्वे संसारिणस्तीव्र कामक्रोधादिपावकैः।
स्वकीयैरेव दह्यन्ते दग्धाः सन्ति च सर्वशः ॥१७॥
दुर्लभास्तु जनास्तेऽत्र येषां वाक्याच्च सङ्गमात्।
शान्तिः सौख्यं भवेल्लोके कामबाधा भवेन्नहि ॥१८॥
ये तु कामैः पराभूता लोभग्रस्ताः क्रुधा हताः।
दह्यन्ते सङ्गतस्तेषां स्याद्विवेककथा कुतः ॥१९॥३०९॥
हीरकादि विवेकेऽपि विवेकित्वं भवेन्नहि।
चित्तस्थाचलतत्त्वस्य विवेकेन भवेत्तु तत् ॥२०॥
शिलापारीक्षको यस्मात् परीक्षको न भण्यते।
यो जानाति स्वचित्तस्थं रत्नं सैव परीक्षकः॥१२॥३१०॥

उक्त सद्गुरु सत्यात्मा की प्राप्ति के बिना सारा पट्टन (सब संसारी) अपनी अपनी काम कर्मादि अग्नियों से जल गया (तापयुक्त हुआ) और जलता है। और ऐसा (सद्गुरु सत्यात्मा तुल्य) ताप रहित कोई नहीं देखा गया है या संसार में ऐसा कोई नहीं देखा गया है कि जिससे लगकर रहा जाय और शान्ति मिले। अतः असंग ही रहना ठीक है ॥ ३०९ ॥ जो कोई व्यवहारी हीरा आदि पाहन (पत्थर) को लखै (परखै) जड़ पदार्थों के ज्ञानी हो, उसको भी सज्ञादि के योग्य पारखी (ज्ञानी गुरु) नहीं कहना चाहिये, न समझना चाहिये। किन्तु इस शिष्य के दिलरूप नग को तथा दिल (मन) के अन्दर

वर्तमान साक्षीस्वरूप नग (अचल कूटस्थ=सत्यात्मा) को जो कोई लखे (पहचाने) वही सत्य रत्न का पारखी है, उस महापुरुष का सङ्ग कर्तव्य है ॥३१०॥

तीनि लोक में लागि आगि। कहहिं कबिर कहँ जैहहु भागि ।३११।

नग पषाण जग सकल है, लखवैया सब कोय ।
या नग उत्तम पारखी, जग में विरला होय ॥३१२॥

त्रिषु लोकेषु लग्नोऽग्निर्धावित्वा कुत्र यास्यसि ।
स्वविवेकं विना ह्यत्र बहुज्ञानेषु सत्स्वपि ॥२२॥
कामादयो ज्वलन्त्येवत्रिषु लोकेषु सर्वदा ॥२३॥
अतो गत्वा न कुत्रापि कामादे र्मुक्तिमेष्यसि ।
ऋते ज्ञानाद्यतस्वाऽऽतो ज्ञानस्यैवात्र लब्धये ॥२४॥३११॥
विद्येते नगपाषाणौ विश्वेविश्वं तदात्मकम् ।
परीक्षकोऽनयोः सर्वेस्वात्मनो विरलोत्तमः ॥२५॥
कूटस्थात्माऽत्रसंसारे विद्यते हृदयेऽपि तम् ।
अहन्त्वादिस्वरूपेण ज्ञातारो मानवाः समे ॥२६॥
साक्षात्साक्षिस्वरूपेण ज्ञातारो मानवाः सदा ।
भवन्ति विरला एवाऽनुत्तमा विमलाशयाः ॥२७॥
ज्ञातारो जडमण्यादेः सन्त्येवात्र जडाशयाः ।
बोद्धारः सद्गुरो र्वित्ते र्विरलाः सज्जना सदा ॥२८॥

विना विवेकं न विरागसम्भवो विना न ताभ्यांश्चशमादिसंकथा ।
अमानिताद्या न भवन्ति तै र्विना कुतो जनः शान्तिमुपैतु चाव्ययाम् ।२९।३१२

इति साक्षिसाक्षात्कारेयन्त्रयन्त्रिविवेकवर्णनंनामसप्तचत्वारिंशीवित्तिः४७

उक्त रत्न के पारखादि के विना कोई सुखी नहीं होता है। क्योंकि उसके बिना तीनों लोक में कामादिरूप अग्नि लगी है। श्रीकबीर साहब कहते हैं कि सुख शान्ति के लिये भाग कर भी इस अवस्था में कहाँ जावोगे। विवेकादि के विना कहीं सुख शान्ति नहीं है। अतः यहाँ ही विवेकादि की प्राप्ति करो ॥३११॥ नग (अचल) पाषाण (पापनाशक हीरा) सब संसार में व्यापक सर्वात्मा है। अहमादि बुद्धि द्वारा अहंकारादियुक्त रूप से उसके (लखवैया) ज्ञाता भी सब कोई है। परन्तु या नग (अचल इस आत्मा) के उत्तम पारखी (शरीर अहंकारादि से रहित शुद्ध सच्चिदानन्द रूप से ज्ञाता) संसार में बिरले होते हैं। सोई कामादि अग्नि से रहित रहते हैं। अतः वे ही सेवनीय हैं ॥ ३१२ ॥

अथ विवेकि दुर्लभतावर्णन प्र० ४८

एक न भूला दोय न भूला, भूला सब संसार।
जानि बूझि के जो नर भूला, ताको वार न पार ॥३१३॥
जरा युवा कुमार बालापन, चारि अवस्था आय।
जस मुसवा को तकै विलइया, अस यम घात लगाय ॥३१४॥

एकः कश्चिन्न विभ्रान्तो द्वयोर्वाऽस्ति भ्रमो नहि।
सर्वे संसारिणो भ्रान्त्या कदध्वन्येव सङ्गताः ॥ १ ॥
ये न जानन्ति किञ्चित्ते भ्रमन्तु सन्तु वै तथा।
ज्ञात्वा नैवाऽऽचरन्तो ये वाच्यास्तेऽत्र प्रमादिनः ॥२॥
प्रमादकारिभिश्चायं संसारस्तीर्यते नहि।
अपि वर्षसहस्रान्ते काललक्ष्या भवन्ति ते ॥ ३ ॥
बाल्याद्यासु ह्यवस्थासु चतसृष्वपि ये नराः।
आत्मानं नैव बुद्ध्यन्ते दशां तेषामिमां शृणु ॥ ४ ॥
सर्वाऽवस्थासु कालोहि तन्नाशायावधानवान्।
मूषिकस्यात्र नाशाय विडालइव वर्तते ॥ ५ ॥३१४॥

एक या दो ही नहीं भूले हैं (कामादि के वशवर्ती एक दो ही नहीं हैं) किन्तु उत्तम पारखी से भिन्न सब संसारी भूले हुए हैं। कामादि वश स्वधर्म स्वस्वरूपादि को नहीं पहचानते हैं) उनमें भी जो मनुष्य जानबूझ कर भूले हैं (कामादिवश ज्ञात सत मार्ग को त्यागते हैं) उनको तो कभी संसार सागर के वार पार सूझता ही नहीं है। अतः संसारी बने रहते हैं संसार के पार में नहीं पहुँचते हैं। क्योंकि "जानि बूझि अजगुत करै, ताहि कहाँ कुशलात्" "जानता तु कृतं पापं गुरु सर्वं भवत्युत। अज्ञानात्स्वल्पको दोषः प्रायश्चित्तेन नश्यति" जानने वाले से किये गये सब पाप गुरु (गम्भीर) होते हैं, प्रायश्चित से अनिवार्य होते हैं। अज्ञान कृत पाप स्वल्प दोषरूप होता है, सो प्रायश्चित्त कर्म से नष्ट हो जाता है ॥३१३॥ जरा, युवा, कुमार, बाल्य, ये चार अवस्था देह की होती है। तहाँ जैसे मूसे (चूहे) को विल्ली ताकती (देखती = खोजती) रहती है, तैसे देही को यम (मृत्यु) घात (धाई ध्यान) लगाया रहता है, कर्मसाक्षी बैठा रहता है। और जान बूझकर भूलने वाले अभिमानी कामी उस मृत्यु को भी भूले रहते हैं। अतः यमयातना सहते हैं, कुशल नहीं पाते हैं ॥३१४॥

श्रोता तो घर में नहीं, वक्ता बकै सो बादि।
श्रोता वक्ता एक ह्वै, कथा सुनावहु आदि ॥३१५॥

ये हि कामैः पराभूता लोभग्रस्ताः कुबुद्धयः।
सावधानेन वर्तन्ते तस्मान्न हृदये स्वके ॥ ६ ॥
उपदेशो न युक्तोऽत्र श्रद्धादिमतियुज्यते।
अन्यथा कथितं वाक्यं निष्फलं जायते ध्रुवम् ॥ ७ ॥
"वक्ता श्रोता च वाक्यं च यदा त्वविकलं भवेत्।
सममेति विवक्षायां तदोक्तार्थः प्रकाशते" ॥ ८ ॥
अतो यदैव हि श्रोता वक्त्रैकत्वं समाव्रजेत्।
कथा तदैव वक्तव्या सर्वादेरखिलात्मनः ॥ ९ ॥३१५॥

कामादि के वशवर्ती जो श्रोता अपने घर (हृदय) में स्थिर नहीं हो सकता है, उसके प्रति जो कोई वक्ता बकता (कहता) है, तो उसका वह कहना बादि (व्यर्थ) होता है। अतः जब श्रोता, वक्ता के साथ एकचित्त वाला हो, तभी सर्वादि वस्तु की कथा सुनावो। अर्थात् जान बूझ कर भूलने वाला अपने घर में नहीं रहता है, अतः वह उपदेश का अधिकारी नहीं है, किन्तु अज्ञान से कुमार्ग गामी उपदेश का अधिकारी होता है। "गुरुरात्मवतां शास्ता शास्ता राजा दुरात्मनाम्। अथ प्रच्छन्नपापानां शास्ता वैवस्वतो यमः" आत्मवान् संयत मन वालों के शिक्षक गुरु होते हैं, दुरात्माओं का शिक्षक राजा होता है, और छिप कर पाप कर्ताओं का शिक्षक वैवस्वत (सूर्य का पुत्र) यमराज होता है ॥३१५॥

औरन को उपदेश ते, मुहड़े परिहैं रेत।
राशि बिराने राखते, खाइन घर का खेत ॥३१६॥

अन्येभ्य उपदेशेन ह्यात्मरत्नेरजः स्फुरेत्।
वाक्पीडादि भवेद् व्यर्थ विक्षेपादि विचारणे ॥१०॥
रक्षन् राशिं यथान्यस्य स्वक्षेत्रमपिनाशयेत्।
मूढः कश्चित्तथैवायमन्येषामुपदेशकः ॥११॥
न जानन्ति न चेहन्ते रहस्यं वेदितुं हि ये।
चक्तारः किं करिष्यन्ति त्वहो तेषां कदर्थना ॥१२॥३१६॥

उक्त अधिकारी से औरन (अन्य लोगों) के प्रति उपदेश देने से मुहडे में (मुख में) रेत (धूल) पड़ेगी (बोलते बोलते मुख सुखेगा) परन्तु उसका

कोई फल नहीं होगा तथा मोहर (सुवर्ण) स्वरूप आत्मा में विक्षेपादि प्राप्त होगें, चित्त के विक्षेपादि आत्मा में भासेगें। अतः अनधिकारियों के प्रति उपदेशकों ने तो मानो विराने (अन्य) की अन्नराशि की रक्षा करने में घर का खेत खाया (अपनी सुख शान्ति गमाई) और अन्य की रक्षा भी नहीं कर सके। अतः ऐसा उपदेशक नहीं होना चाहिये ॥२१६॥

कबिरा कुत्ता राम का, मोतिया वाका नाँय।
गले प्रेम की जेवरी, जित खींचे तित जाय ॥२१७॥

ईशदेवादि भक्ता ये भोगमात्रैकलालसाः।
श्वभिस्तुल्या गले बद्धाः स्नेहरज्ज्वा च सर्वदा ॥१३॥
मानवा नाम मात्रेण मुक्ता वा नहि तत्त्वतः।
भवन्ति परवश्यास्ते गच्छन्ति प्रेरिताश्च तैः ॥१४॥
देवाद्या यत्र कर्षन्ति तत्र लोभेन यान्ति च ॥१५॥
ये तु सत्यात्मदेवस्य गुरोर्दासा विवेकिनः।
अभिमानादि हीनाश्च प्रेमभक्तियुतास्तथा ॥१७॥
गुरुभिः प्रेरितास्ते हि कृत्वा पुष्कलसाधनम्।
रागद्वेषादिहीनत्वाच्छुद्धा मुक्ता भवन्ति हि ॥१८॥२१७॥

कबीरा (ज्ञानाधिकारी अज्ञ जीव) तटस्थ रामदेवादि के कुत्ता हुआ है, तुच्छ भोगों के लिये शिरपटकता फिरता है। केवल इसका नाम मोतिया (भक्तादि) है। कामी लोभी वस्तुतः भक्तादि नहीं हो सकते हैं। इसके मन रूप गले में देव विषयादि विषयक प्रेमरूप रस्सी लगी रहती है। अतः देवादि जिस तरफ खीचते हैं उस तरफ जाता है। और सद्गुरु सत्यवक्ता के साथ एक चित्त होने वाला कबिरा (जीव) तो सद्गुरु सत्यात्मराम का कुत्ता तुल्य निरभिमानी भक्त होता है। और उसके अन्तः करण रूप गले में प्रेम की रस्सी लगी रहती है। अतः सद्गुरु उपदेशक जिस तरफ खीचते हैं, उसी तरफ वह प्रेम से जाता है। अपना हठ अभिमान नहीं करता है, सद्गुरु जैसे चलाते हैं, तैसे ही चलता है। प्रारब्धानुसार ईश्वर से प्राप्त भोग से सन्तुष्ट रहता है। अतः उसका मोतिया (मुक्त) नाम होता है, आब (तेज) युक्त मोती तुल्य वह प्रकाशता है। फिर मोहादि अन्धकार युक्त नहीं होता है ॥ २१७ ॥

चाखा चाहै प्रेम रस, राखा चाहै मान।
दो खाँड़ एक म्यान में, अब तक सुना न कान ॥२१८॥

परप्रेमरसं योहि पिपासुरथवा भवेत् ।
परप्रेमपदानन्दं जिज्ञासितुमिहेच्छति ॥१९॥
जहाति चेदहङ्कारं तदा तल्लभते ध्रुवम् ।
यदि रक्षत्यहङ्कारं कुतस्तल्लभतामयम् ॥२०॥
अद्यावधि न चैकस्मिन् कोशे खड्गद्वयं श्रुतम् ।
तथैकास्मिन्न तिष्ठेद्धि मनस्येतद् द्वयं खलु ॥२१॥
यावन्न मानं त्यजति ह्यनर्थदं लोभं विमोहं त्वनृतं तथा क्रुधाम् ।
ईर्ष्याहतो मन्युपरोतमानसस्तावत्परप्रेमपदं लभेत नो ॥२२॥३१८॥

जो कोई सच्ची प्रेमभक्ति के रस (आनन्द) को, और परप्रेमास्पद-ब्रह्मात्मानन्द को चाखना (प्राप्त ज्ञात करना) चाहे । और मान (अभिमान) भी रखना, राखना, चाहे । तो ये दोनों एक समय एक व्यक्ति में रह नहीं सकते हैं । क्योंकि जैसे एक म्यान (कोश) में दो खाँड (खड्ग) रहते हुए अब तक कान से नहीं सुने गये हैं । तैसे ही प्रेम रस और अभिमान एक समय एक हृदय में नहीं सुने गये है, न सम्भव है । अतः प्रेमरसेच्छुक भक्त कुत्ता तुल्यनिराभिमानी रहता है । पतिव्रता अङ्ग की साखी है कि "कबीर कुत्ता राम का, मोतिया मेरा नाम । गले प्रेम की जेवरी, जीत खींचे तित जाय ॥१॥ तो तो करै तो बहुरूं, दुर दुर करै त जाउँ । ज्यों हरि राखै त्यों रहूँ, जो देवै सो खाउँ ॥२॥" सेवक भक्त समझता है कि मैं प्रभु का कुत्ता हूँ, मेरा नाम मात्र ही मोतिया (मनुष्य) है, और मेरे गले (मन) में प्रेम की रस्सी लगी है, उससे राम जहाँ खींचता है, तहाँ जाता हूँ ॥१॥ तो तो (आ आ) कहता है, तो संसार से बहुर = लौटकर राम के स्वरूप के पास में जाता हूँ, और दुर दुर करता है तो पास से दूर चला जाता हूँ । अर्थात् "स एव साधु कर्म कारयति" इत्यादि शास्त्र के अनुसार जैसे हरि रखता है, तैसे रहता हूँ, जो भोग्य देता है, सो खाता (भोगता) हूँ ॥२॥ अपनेवश की कोई बात नहीं है ॥३१८॥

अहिरहुँ तजि खसमहुँ तजि, बिना दाँत का ढोर ।
मुक्ति बिना बिललात है, वृन्दावन की खोर ॥३१९॥
धरती फाटे मेघ जल, कपड़ा फाटे डोर ।
तन फाटे की औषधी, मन फाटे नहिं ठौर ॥३२०॥

गुरुभिश्चात्मदेवैश्च संत्यक्तो ह्यभिमानवान् ।
विना ज्ञानं भ्रमन्मोहात्तीर्थादौ न सुखं वसेत् ॥२३॥

यथा दन्तै विंहीनो वै पशुस्त्यक्तः स्वरक्षकैः ।
भ्रमन्न लभते शर्म तथा मुक्ति विना नरः ॥२४॥
जीवन्मुक्तिमनादृत्य चरन् वृन्दावनेष्वपि ।
अनुभूतिं विना मूढः खिद्यते सर्वयोनिषु ॥२५॥३१९॥
जलैः सन्धीयते भिन्ना भूमिस्तु दोरकैः पटः ।
औषधैश्च शरीरं हि मनोभेदे न सद्गतिः ॥२६॥३२०॥

जैसे दाँत रहित वृद्ध ढोर (बैल) को निकम्मा जानकर चराने खिलाने वाले अहीर और उसके खसम (स्वामी) दोनों त्याग देते हैं, तो वह शरीर से मुक्ति के बिना मरण पर्यन्त बृन्दा (तुलसी) के पवित्र वन में भी भक्ष्य घास और भक्षण की शक्ति के बिना विललाता (भटकता व्याकुल हुआ) फिरता है । तैसे ही सत्य प्रेम रहित अभिमानी को सद्गुरु और ईश्वर दोनों त्याग देते हैं कि जिससे वह पवित्र तीर्थादि के खोरियों (गलियों मार्गों) में भी व्याकुल ही फिरता है । अतः शान्ति के लिये निरभिमान होकर भक्ति कर्तव्य है ॥ ३१९ ॥ फटी हुई भूमि मेघ के जल से जुटती है, फटा हुआ कपड़ा डोरा से सीने पर जुटता है, फटी हुई देह के जुटने के लिये औषधि की जाती है । परन्तु सद्गुरु सत्यात्मा से मन के फटने पर (प्रेमभक्ति रहित होने पर) कहीं भी जीव को ठौर (स्थिति शान्ति का स्थान) नहीं मिलता है । अतः प्रेमभक्ति कर्तव्य है ॥ ३२० ॥

दिल का महरमि कोइ न मिलिया, जो मिलिया सो गरजी ।
कहहिं कबिर असमानहि फाटा, केतिक सीवै दरजी ॥३२१॥

सर्वे स्वार्थपरा लोका मनः सन्दधते नहि ।
गुरौ वा स्वात्मदेवे वा जायन्ते विह्वलास्ततः ॥२७॥
हृदयस्य रहस्यज्ञाः सम्मिलन्ति न केचन ।
स्वार्थिनश्चेन्मिलन्त्यज्ञास्तेषां सङ्गाद् भवेच्च किम् ॥२८॥
सन्त्येव गुरवः केपि स्वार्थशून्या मनीषिणः ।
परार्थघटका नित्यं मेलयन्तु च ते कियत् ॥२९॥
आकाशेऽत्र विभिन्ने हि सन्धातुं कस्तमर्हति ।
तुन्नवायोऽथवाऽन्योपि तथाऽसाध्या जगन्मतिः ॥३०। ३२१॥

अन्य फटे हुए को मिलाने-जुटाने वाले महरमि (मर्मज्ञ संधाता) बहुत मिलते हैं । परन्तु दिल (मन) का महरमि (फटे हुए मन को जुटाने वाले) कोई नहीं मिले, न मिलते हैं । न अपने पुरुषार्थ के विना कोई मिलाने वाला

मिल सकता है। और जो कोई मिला सो भी अपने लौकिक स्वार्थ का ही गर्जी (इच्छुक) मिला। जो कोई स्वार्थ रहित परोपकारी महात्मा मिलते भी हैं, सो भी सबके मन का सन्धान कहाँ तक करें। श्रीकबीर साहब कहते हैं कि यदि असमान (विभु आकाश) ही फटा है, तो दरजी कहाँ तक सी सकता है। अर्थात् अनादि से सब मन का चञ्चलादि स्वभाव है, घुनाक्षर न्याय से किसी पुण्यात्मा का मन प्रेमभक्ति ज्ञानयुक्त होता है। अतः सबमें पुंण्यादि के अभाव से सन्त गुरु भी सबके मन को सन्मार्गादि में लगा नहीं सकते हैं, इसीसे संसार अनन्त है ॥ ३२१ ॥

एक विराजु महल में बैठा, दोसर कहहु कौन दे पैठा।
जाके घर में लागै भूता, सो कस बकै हरामी पूता ॥३२२॥

किञ्च यद्धृदये नित्यमनात्म प्रेम वर्तते।
हृदयं स्ववरुद्धथैव सत्प्रेमा वर्ततां कुतः ॥३२॥
सत्यप्रेम्णोऽप्रवेशेन भूतावेशीव सर्वदा।
जल्पन्ति श्वेव वा नित्यं न शृण्वन्ति सुभाषितम् ॥३२॥
सत्यात्मा हृदये नित्यं निष्क्रियः सन्विराजते।
द्वितीयस्य प्रवेशे तु द्वारं नैवात्र विद्यते ॥३३॥
अतोऽसत्यमिदं द्वैतमद्वैतं सदखण्डितम्।
भौतिकेष्वात्मभावेन भषतीव नरः क्रुधा ॥३४. ३२२॥

एक सत्यात्मा सब के हृदय रूप महल में बैठा हुआ विराजता है (मन इन्द्रियादि सबको प्रकाशता है) आप स्वयं स्वरूप से प्रकाशता है। माया में उसका प्रकाश (अभिव्यक्त स्वरूप) ईश्वर होता है। अन्तःकरणादि में अभिव्यक्त स्वरूप जीव होता है। तो कहो कि दूसरा सत्यात्मा उन महलों में किस मार्ग से (कौन दे) पैठा। दूसरे को पैठने के लिये कोई मार्ग भी उस आत्मा के प्रकाश से रहित नहीं है, सो प्रथम कहा गया है कि "पिण्ड झरोखे नूर" इत्यादि। अतः वही आत्मा सब इन्द्रियों का अधिदेव रूप भी होता है। परन्तु उससे दिल के फटने से जिसके घर (हृदय) में भौतिक देहादि का अभिमान रूप भूत लगा है। सो हरामी का पूत (पुत्र कुत्ते) के समान मिथ्या बकता है। अतः एक सत्यात्मा के ज्ञान के लिये भौतिक देहादि के अभिमानों को त्यागना चाहिये। नहीं तो एक देहादि अनात्मा के प्रेम के हृदय में विराजते रहने पर, दूसरा आत्मप्रेमादि भी किस द्वारा से कैसे पैठेगें, इत्यादि। और "देहाभिमाने गलिते विज्ञाते परमात्मनि। यत्र यत्र मनो याति

तत्र तत्र समाधयः" परमात्मा के ज्ञात होने पर देहाभिमान के नाश के बाद जहाँ २ मन जाता है। तहाँ २ आत्मप्रेमादि रूप समाधियाँ लगती हैं ॥३२२।

कबहुक मन खल खल हँसे, कबहुक ऊठे रोय।
कबहुक मनुआँ पर जरे, कबहुक चला विगोय ॥३२३॥
जासु गोइ भीतर रहै, सो जानै सब बात।
जानि बूझि अजगुत करै, ताहि कहाँ कुशलात ॥३२४॥

उक्ताद्धि मनसो भेदादभिमानवशात्तथा।
नरोद्वन्द्वैः समाक्रान्तो हसति क्वापिरोदिति ॥३५॥
कदाचिन्मानसंह्यस्य मुहुरुच्चै हसत्यलम्।
कदाचित्तुरुदित्वाऽलमुतिष्ठति च धावति ॥३६॥
कदाचित्सम्पदं दृष्ट्वा परस्य तपति स्वयम्।
ईर्ष्ययाऽभिध्यया वापि न शान्तिमभिविन्दते ॥३७॥
सर्वं त्यक्त्वा कदाचित्तु गच्छत्यपि यतस्ततः।
भूतावेशीव सर्वं हि कुरुते नान्यथा क्वचित् ॥३८॥३२३
यो ज्ञात्वा कुरुते पापं सद्गुरो र्विमुखो नरः।
संगोपयति चान्यस्मात्सोऽतिमूढतमः शठः ॥३९॥
सर्वसाक्षिस्वरूपाद्धि न किञ्चिद्गोपितुं क्षमम्।
स्वमनः सहितः साक्षी योग्यं दण्डं विधास्यति ॥४०॥३२४॥

अभिमान रूप भूत के पैठने से ही, अभिमानी का मन कभी कुछ इष्ट के मिलने पर खल खल शब्द करता हुआ हंसता है, कभी किसी इष्ट के वियोग से रो उठता है। (रोता हुआ उठता है) और कभी पर की सम्पत्ति आदि को देख कर जरता है (ईर्ष्या करता है) और कभी अपनी सम्पत्ति को भी वियोग (त्याग) कर चलता है। इस प्रकार से देहादि के अभिमानी सदा द्वन्द्वयुक्त भूतावेशी के समान रहता है। अतः अभिमान को त्याग कर एक समसत्यात्मा को समझना चाहिये ॥३२३॥ सर्वसाक्षी एक सत्यात्मा के ज्ञान बिना स्वार्थी लोग जिस दूसरे दण्ड दाता आदि से गोइ (गोय छिपाय) कर, ईर्ष्या, पाप कर्मादि को अपने भीतर (मन) में रखते हैं। सो दूसरा दण्डदाता अन्तर्यामी भीतर बैठा हुआ सब मन की बातों को भी जानता है। कहीं भूलादि जन्य पाप को माँफ भी करता है। परन्तु जो जान बूझकर अजगुत (आश्चर्य अनर्थ) करता है। उसको कुशलता कहाँ है। प्रथम कहा गया कि "जाके दिल में हौं बसे, सेना लिये हजूर" ॥३२४॥

सांकठ कोइ न देखिये, सबै वैष्णवा भारि ।
संशय ते सांकठ भया, कहहिं कबीर पुकारि ॥३२५॥

गुरुहीना न केऽप्यत्र दृश्यन्ते मानवा भुवि ।
वैष्णावा एव दृश्यन्ते सर्वे च बुधमानिनः ॥४१॥
संशयादुगुरुहीनास्ते जाता एव कुबुद्धयः ।
उच्चैस्तत्सद्गुरुः प्राह कबीरो बोधसिद्धये ॥४२॥
यं कञ्चापि गुरुंमत्वा जायन्ते वैष्णवा जनाः ।
देवभक्ताश्च नो पापं संशयं नाशयन्ति च ॥४३॥
यावन्न संशयो नष्टस्तावत् किं गुरुभिः कृतम् ।
शिष्या अपि न ते जाता ये संशयित मानसाः ॥४४॥
इदं तत्त्वमिदं तत्त्वमिदं सेव्यमिदं नहि ।
इत्येवं भ्रमतां तेषां सुखं नेह परत्र च ॥४५॥
नात्रासौ लभ्यते देवः परत्र लभ्यते न वा ।
इत्यादिसंशयाक्रान्ता विन्दन्त्वत्र हरिं कथम् ॥४६॥३२५॥

श्री कबीर साहब पुकार के कहते हैं कि कोई साँकठ (शाक्त गुरु मन्त्र रहित) नहीं दीखता है, किन्तु सब के सब वैष्णव (विष्णु भक्त गुरुमन्त्र सेवी) दीखते हैं । और केवल शक्ति (माया) से सृष्टि नहीं होती है । अतः कोई शाक्त नहीं है । किन्तु शक्तियुक्त व्यापक विष्णु (ईश्वर) से सृष्टि होती है । अतः सब प्रजा वैष्णव है । परन्तु पापादि जन्य संशय से सब संसारी साँकठ (शाक्त गुरुविमुख) हो गया है । व्यापक विष्णु आत्मा परमात्मा के ज्ञान के विना कोई सच्चा वैष्णव नहीं होता है । अतः यह निश्चय कर्तव्य है । और उसके लिये ईर्ष्या राग-द्वेषादि त्यक्तव्य हैं ॥३२५॥

छौ दर्शन का एक बिचारा, तासु नाम बनवारी ।
कहहिं कबिर सब खलक सयाना, इसमें हमहि अनारी ॥३२६॥
सुर नर मुनि औ देवता, सात द्वीप नव खण्ड ।
कहहिं कबिर सबको लगे, देह धरे का दण्ड ॥३२७॥

आत्मादिसंशयैर्युक्ता योग्याद्या दर्शनानुगाः ।
परोक्षं देहिनं त्वीशंमत्वाऽतो मन्वते गतिम् ॥४७॥
एक एव विचारोऽपिषण्णां दर्शनिनामिति ।
स देवो वनवारी वै नामतो वनवारकः ॥४८॥

अतस्तेऽत्र प्रदृश्यन्ते वेषाद्यैः सुबुधा इव ।
तेषां मध्ये वयं विज्ञा अज्ञतुल्याः सदाऽऽस्महे ॥४९॥
दर्शने लब्धदीक्षा हि सर्वे संसारिणो यतः ।
ज्ञानित्वं मन्वते स्वेषां विज्ञेष्वेवाज्ञतां तथा ॥५०॥३२६॥
शरीरिणां तु सर्वेषां तापान्मोक्षो न विद्यते ।
देशे क्वापीति वेदाहि भाषन्त दृश्यते तथा ॥५१॥
सुरासुरा नराश्चैवमुनयोऽपि बहुश्रुताः ।
दैहिकान्न कचिन्मुक्ता दुःखात् खण्डादिषु प्रजाः ॥५२॥३२७॥

संशय ग्रस्त योगी जङ्गमादि छवो दर्शनों (दर्शनियों) का प्रायः एक सा विचार है कि तासु (उस परोक्ष तटस्थ) ईश्वर का नाम ही बनवारी है, वह अपने भक्तों के संसार रूप बन (जंगल समुद्र) का वारण (निवारण) करनेवाला है। अतः उसकी भक्ति से अन्य विराग ज्ञानादि की आवश्यकता नहीं है। श्री कबीर साहब कहते हैं कि इस प्रकार के यह सब खलक (संसारी) सयान (चतुर) है। इसमें हमही अनारी (अकुशल) हैं। अर्थात् ऐसे लोग अज्ञ होते ज्ञानिता के अभिमानी होते हैं। अतः वहाँ ज्ञानी कुछ कर नहीं सकता है ॥३२६॥ सत्यात्मा के ज्ञानादि के बिना किसी परोक्षदेही को भी बनवारी मानने वाले लोग हैं, परन्तु श्री कबीर साहब कहते हैं कि सात द्वीप नवखण्ड में जो सुर नर मुनि और देवता (देवी) आदि देही हैं, उन सबको देह धरने का दण्ड स्वयं लगता (प्राप्त होता) है। ज्ञान द्वारा विदेहमुक्ति के बिना दैहिक दुःखों से रहित कोई नहीं हो सकता है। सो श्रुति कहती है कि "आत्तो वै स शरीरः प्रियाऽप्रियाभ्याम् । छा० ८।१२।१" शरीरी सुख दुःख से व्याप्त ही रहता है ॥३२७॥

पूछत बात करै हङ्कारा । ज्यों आरण वन बड़ हड़न्नारा ॥
साँची बात कही मैं अपनी । भया रोष तब लागो कपनी ॥३२८॥

अभिमानान्नरा जाताः क्रूरा वन्यमृगा इव ।
प्रमत्ता ज्ञानिता भ्रान्त्या न पृच्छन्ति गुरूनपि ॥४३॥
यदि पृच्छन्त्यहङ्काराद् ऋजुप्रश्नं न मन्वते ।
सत्यं चेत्सद्गुरुर्ब्रूते तस्मै क्रुध्यन्ति ते भृशम् ॥५४॥
अवोचं सत्यमेवाहं स्वकीयं नानृतं वचः ।
अभूत्तेन च रुट् तेषां यया कम्पोऽप्यजायत ॥५५॥

कम्पे क्रोधे च संजाते को वक्ति प्रविवेकतः।
अतः क्रूरा वदन्त्येव ह्यवक्तव्यं गुरावपि ॥५६॥३२८॥

जैसे आरण बन (महा जंगल) अरण्य, का बड़हड़वार (वहुत क्रूर पशु) हो। तैसे ही अभिमानी लोग बात पूछने में भी अहङ्कार करते हैं। और मैंने अपनी सच्ची वात कही है कि, संशय से साँकठ हुआ है, और कोई देही सुखी नहीं है, तो इस बात को सुन कर, जिन सुखाभिमानियों को जब क्रोध हुआ, तब उनको कपनी लाग गई, यह देहाभिमान देह में सुखाभिमान अज्ञान का प्रभाव है, अतः ये त्याज्य हैं। अतएव कहा गया है कि "अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्। विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥१॥श्रीमद्भ० गी० १८।५३" अहङ्कार, बल (दुराग्रह = हठ) दर्प (गर्व) काम, क्रोध और परिग्रह (संग्रह = लोभ) को त्याग कर, ममता से रहित, सर्वथा शान्त (विक्षेप द्वन्द्व रहित) पुरुष ब्रह्मभाव के लिये समर्थ ज्ञानी होता है ॥३२८॥

वाणी ते पहिचानिये, चोर साधु की घाट।
जो करनी अन्दर बसै, निकलै मुख की बाट ॥३२९॥

अतश्च वचनैः प्रष्टुर्ज्ञात्वैव हृदये गतम्।
साधुत्वं विपरीतं वा प्रवक्तव्यं सदा बुधैः ॥५७॥
हृदि यद्वर्तते यस्य निर्गच्छति तदेवहि।
मुखमार्गादतो विद्वन् विद्धि तेनैव तद्गतम् ॥५८॥
"अन्यथैव हि सौहार्दं भवेत्स्वच्छान्तरात्मनः।
प्रवर्ततेऽन्यथा वाणी शाठ्योपहतचेतसः"॥५९॥

सम्यक् परिज्ञाय च सध्वसाधुवाग्ज्ञागतं स्वान्तगतं च भाषया।
स्वान्ते विविच्यैव च मेधया पुनर्योग्यं हि वाच्यं न तु वाच्यमन्यथा ६०॥

इति साक्षिसाक्षात्कारेविवेकस्यादिदुर्लभतावर्णनं नामष्टाचत्वारिंशी वित्तिः४८

चोर साधु (अभिमानी = निरभिमानी) की बाट (गुप्त भेद मार्ग) को उनकी वाणी से ही पहिचानना चाहिये, और पहचान कर ही कुछ कहना चाहिये। क्योंकि जो करनी (गुण वृत्ति स्वभाव) अन्दर में बसती है, सो मुख द्वारा निकलती है ॥ ३२९ ॥

——❀——

अथ अवश्यज्ञेयानुष्ठेयवर्णन प्र० ४९

कहँ उतपति का पेंड़ है, कहँ परलय का ठाम।
तनछूटे कहँ जाहुगे, कहाँ बसायहु गाम ॥३३०॥

साधुत्वे संपरिज्ञाते तेभ्यश्चेत्युपदिश्यताम्।
उत्पत्ति प्रळयस्थानमात्मनोऽन्यत्र विद्यते ॥ १ ॥
विदेहोमुक्तिकाले च न क्वचित्त्वं गमिष्यसि।
ग्रामो नास्ति च मुक्तानामिति तत्त्वं विनिश्चिनु ॥ २ ॥
अत्यसाधुजनेभ्यस्तु तादृशो नैव दीयताम्।
उपदेशस्त्वया विद्वन् न साध्या गुरुभिर्हि ते ॥ ३ ॥
जगद् वृक्षस्य वोत्पत्ते मूलं क विद्यते तथा।
ळय स्थानं च कुत्रास्ते मृतो यास्यसि कुत्र च ॥ ४ ॥
इदानीं कुत्र ते ग्रामो यद्वासो भवता कृतः।
इति प्रश्ने नरं ज्ञात्वा वक्तव्यन्यथा नहि ॥ ५ ॥३३०॥

जगत की उत्पत्ति का पेड़ (मूल) कारण, तथा अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष की उत्पत्ति का हेतु रूप पेंड़ (वृक्ष) अन्यत्र कहाँ है, और प्रलय का स्थान भी अन्यत्र कहा है। सर्वाधार आत्मा राम ही सब के उत्पत्ति आदि के पेड़ स्थानादि स्वरूप है। और अभी कहाँ इन्द्रियादि के ग्राम (समूह) को वसाये (धारण किये) हो, इन्द्रियादि का आधार आत्मा ही है। और जैसे मन प्राण इन्द्रिय का आधार आत्मा है, तैसे ही सब संसार का आत्मा ही सदा आधार है, मुक्तात्मा भी तद्रूपता को प्राप्त होता है, औपाधिक रूपता को त्याग देता है, कहीं जाता नहीं है ॥३३०॥

कहहिं कबिर मैं हारिया, कोटि यतन समुझाय।
बाँड़ी पूँछ उठाय के, चली बेढ को जाय ॥३३१॥
शुअरहिं दूध पियाय के, राखे पलंग सुताय।
गुरु के शब्द चिन्हे नहि, फिर चहले को जाय ॥३३२॥

पराजितोऽस्म्यहं मूढान् कोटियत्नैः प्रबोध्य वै।
सोत्कण्ठमनसो यस्मान्नरकादौ प्रयान्ति ते ॥ ६ ॥
यथाऽत्र शूकरः खर्वं स्वकमुच्छ्रित्य पुच्छकम्।
गच्छति स्वयमेवासौ बन्धाय वरणं गृहम् ॥ ७ ॥

तथोच्छ्रित्य मनो मूढा नरकादौ प्रयान्ति चेत्।
तत्र गत्वाऽनुबध्यन्ते गर्भे च शेरते पुनः ॥ ८ ॥३३१॥
शूकरं हि यथा दुग्धं पाययित्वा सुशाययेत्।
पर्यङ्के स न तत्रास्ते तथैते मूढमानवाः ॥ ९ ॥
शुद्धे धर्मे स्वरूपे वा तिष्ठन्ति न कदाचन।
धावन्तोऽपि कुमार्गे च लज्जन्ते नहि कर्हिचित् ॥१०॥
गुरोः शब्दं न जानन्ति पङ्के यान्ति पुनः पुनः।
शूकरा इव ते मूढा अहो संसार विभ्रमः ॥११॥३३२॥

श्रीकबीर साहब कहते हैं कि ब्रह्मात्मा राम ही सत सुख सर्वाधारादि सब स्वरूप है, इस अर्थ को करोड़ों यतन से समझाकर, गुरु स्वरूप मैं हार गया। परन्तु अभिमानी लोग नहीं समझते हैं। अतः जैसे बाँड़ी पूँछ उठाकर स्वयं बेढ (घेरे) में शूकरी जाती है, तैसे अभिमानी की बुद्धि उत्कण्ठा प्रेमपूर्वक गर्भादि में जाती है ॥ ३३१ ॥ शूकर को दूध पिलाकर पलंग पर सोला कर रखे, तो वह वहाँ नहीं रह सकता है, न कहा मान सकता है। किन्तु बार-बार चहले (कीचड़) में जाता है। तैसे शूकर तुल्य मनुष्य सुभक्ष्य सुन्दर स्थान के मिलने पर भी वहाँ स्थिर नहीं होते हैं, न गुरु के शब्द को चीन्हते (समझते) हैं। अतः ब्रह्मानन्दामृत को पीकर हृदय कमलरूप पलंग पर नहीं सोते हैं। किन्तु बार-बार गर्भादिरूप कीचड़ में जाते हैं ॥ ३३२ ॥

चित चञ्चलता छोड़ि दे, माया ते मन फेर।
जाहि ते सब कछु भया, ताही काह न हेर ॥३३३॥

ते वै यथा तथा सन्तु त्वमात्मानं प्रसाधय।
सज्जनैः सह संसर्गात्साधूंश्चोपदिशंस्तथा ॥१२॥
मनसो ह्यतिचाञ्चल्यं विरागाभ्यासयोगतः।
सदा जहि च मायायास्तन्निरोधं समाचर ॥१३॥
यस्य सत्ताप्रकाशाभ्यां जगत् सर्वं चराचरम्।
जायते वर्द्धते नित्यं स एवान्विष्यतां त्वया ॥१४॥
अन्यत् सर्वं करोषि त्वं तं न मृगयसे कथम्।
अस्यैवात्र हि लाभेन कृतकृत्यो भविष्यसि ॥१५॥
अहो महादुःखमिदं जगन्यामसङ्गमात्मानमजं विभुं च।
ज्ञानाद्विमुक्तिप्रदमव्ययं यन्नान्वेषते वै हरिमत्र लोकः ॥१६॥३३३॥

जिज्ञासु के प्रति उपदेश है कि अभिमानी लोग चाहे जैसे रहें, तैसे उन-

को रहने दो। परन्तु तुम अभ्यास वैराग्यादि द्वारा चित (चित्त = मन) की चञ्चलता को छोड़ दो (त्यागो) और दोष-दर्शन विचारादि द्वारा माया (मायिक वस्तु विषयादि) से मन को फेरो (अनात्मचिन्तनादि से मन का निरोध करो) फिर जिसकी सत्ता शक्ति और प्रकाश से सब कुछ (सब मिथ्या संसार) हुआ है, और जिसके अज्ञान से ही स्वप्न तुल्य जन्मादिरूप संसार हुआ है, और होता है। उसीको क्यों नहीं हेरते (ढूंढ़ते = समझते) हो कि जिससे सब अनर्थ नष्ट हो जायँ, उसको अवश्य समझो ॥ ३३३ ॥

मन माया के चोट ते, मारे सकल जहान।
सुर नर मुनि घायल भये, ऐसो जोर कमान ॥३३४॥

मनसश्चञ्चलस्यास्य मायाया रोधनं विना।
तया सङ्घटनाघातान्मृताः संसारिणो जनाः ॥१७॥
मनश्च मायया सर्वान् संपिष्य भोगलालसान्।
द्वन्द्वाघातमहातीव्रशस्त्रैर्मारयति ध्रुवम् ॥१८॥
मनोमायानिपिष्टाश्च सर्वे संसारिणो जनाः।
म्रियन्ते सौख्यमिच्छन्तो लभन्ते न च किञ्चन ॥१९॥
देवाश्च मुनयोऽप्याभ्यां विद्धाः क्लिश्यन्ति चेत्तदा।
अन्येषां का कथैवात्र हतानां स्वमनोरथैः ॥२०॥
मनो मायां धनुः कृत्वा तया हन्ति जगत्त्रयम्।
विद्धास्तेन सुराद्या वा सामर्थ्यं धनुषस्तथा ॥२१॥
अतोऽवश्यं मनोरुध्वा ह्यन्विष्यात्मानमत्र च।
जन्ममृत्युभयं विश्वसिन्धुं तर स्वबोधतः ॥२२॥३३४॥

माया से इसलिये मन को अवश्य फेरना चाहिये कि जिससे माया से मन को फेरने के विना मन और माया के चोट (परस्पर के धक्का मार) से मध्य गत सब संसारी मारा गया है, या माया के चोट (चाह इच्छा) से मन सब जहान (संसार) को मारा है, और मारता है। जो देव, नर, मुनि, मारे नहीं गये हैं, सो भी घायल हो गये हैं। क्योंकि मनोरथादिरूप ऐसा ही मन माया का जोरदार (सबल) कमान (धनुष) है कि जिससे घायल (दुःखी) हुए बिना कोई नहीं रहने पाता है ॥ ३३४ ॥

एक बात की बात है, बहुविधि कहा बनाय।
भारी परदा बीच का, ताते लखा न जाय ॥३३५॥

एतावदेव पर्याप्तं मुक्तये सर्वदेहिनाम् ।
यद्धि मनो निरोधेन स्वात्मतत्त्वस्य वेदनम् ॥२३॥
एतदर्थं सदा सद्भि बंहुधा वर्ण्यते विधिः ।
अविद्याघनरुद्धाक्षः स्वात्मसूर्यं न पश्यति ॥२४॥
मध्ये जाते शरीरादावात्माद्यध्यासतो जनाः ।
परं तत्त्वं न जानन्ति स्वान्तः स्थं सर्वदा विभुम् ॥२५॥३३५॥

माया से मन को फेर कर सर्वादि स्वरूप ब्रह्मात्मा को समझनारूप इसी एक बात (कार्य उपदेश) के लिये अन्य सब सत्य बात (उपदेश) है, और इसी एक कार्य के लिये महात्माओं ने बहुत विधि (प्रकार) के ग्रन्थ, पुराण, इतिहासादि बना कर कहा है। परन्तु एक बीच का (कार्य रूप मध्य काल का) कनक-कामिनी आदि स्वरूप माया ही भारी परदा (अन्तराय) है, तथा बीच का (जीवेश्वर के अन्तर्गत का) स्वरूप वाली माया भारी परदा है, देहादि का अभिमान परदा है कि जिससे सत्य स्वरूप लखा नहीं जाता है, बहुत प्रकार के ग्रन्थादि को पढ़ने पर भी परदा के रहते ज्ञान नहीं होता है। किन्तु माया से मन को फेरने पर वह परदा मानो फट जाती है, फिर आत्मदर्शन होता है। अतः माया से मन को अवश्य फेरना चाहिये ॥३३५॥

जो मुहि जानै तिहि मैं जानौ, लोक वेद के कहा न मानौ ॥३३६॥

सर्वसाक्षीस्वरूपं स्वं पश्यन्ति विमलाशयाः !
वेदादियन्त्रणा मुक्ता विचरन्ति यथासुखम् ॥२६॥
उपासते तु भक्त्या ये तेभ्यस्ते वितरन्ति हि ।
ज्ञानं तु लोकवेदाभ्यामुक्तं शृण्वन्ति नो तदा ॥२७॥
अतो मां योहि जानाति तं जानामि परं त्वहम् ।
नैवोक्तं लोकवेदाभ्यां मन्ये चात्र कथञ्चन ॥२८॥३३६॥

जो जिज्ञासु भक्त माया अविद्यादि रूप परदे को फाड़कर, अभिमानों को त्याग कर (मोह ममता को हटाकर) मुझे (सर्वात्म स्वरूप गुरु ईश्वर) को जानता (सेवता भजता) है। तथा पहचानता है। उसको मैं भी योग्य अधिकारी समझता हूँ। और उसके उद्धार में, लोक और त्रिगुण विषयक वेद के कथन को नहीं मानता हूँ। अर्थात् उसको लोक वेदोक्त सकाम कर्मजाल रूप माया में नहीं फँसने देता हूँ। किन्तु "कर्मणा बध्यते जन्तु र्विद्यया तु विमुच्यते" कर्म से प्राणी बँधता है, विद्या से विमुक्त होता है, इत्यादि उपदेशों से उक्त कर्म से विमुक्त करता हूँ। क्योंकि "यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं

च मयि पश्यति । तस्माहं न प्रणस्यामि स च मे न प्रणश्यति । श्रीमद् भ. गी० ६।३०" जो मुझ सर्वात्मा सर्वगुरु को सर्वत्र देखता है, और सबको मेरे स्वरूप में देखता है, उससे अदृश्य परोक्ष में नहीं होता हूँ न वह मुझसे अदृश्य परोक्ष होता है। इस अवस्था में समदर्शी के लिये स्वभाव से ही लोक वेद से विरोध का अभाव हो जाता है। अतः लोक वेद की आज्ञा की आवश्यकता नहीं है ॥ ३३६ ॥

पैठा है घट भीतरे, बैठा है सह चेत।
जब जैसी गति चाहये, तब तैसी मति देत ॥३३७॥
पाँव पलक के गम नहीं, करै काल्हु का साज।
काल अचानक मारि हैं, ज्यों तीतर को बाज ॥३३८॥

सर्वात्मा साक्षिरूपोऽपिचित्तेनसहितः सदा।
वर्तते हृदि सर्वस्य फलं संददिच्छया ॥२९॥
जीवकर्मानुसारेण वासनाज्ञानयोः समाम्।
यदा यादृग्गतिं वाञ्छेद् दद्यात्तादृङ्मतिं तदा ॥३०॥
तस्य ज्ञानं विना लोको भौतिकेक्षणभंगुरे।
अभिमानेन वद्धोऽस्ति सन्धत्ते विषयांस्तथा ॥३१॥
क्षणादूर्ध्वं हि किं भावीत्येवं वेत्ति न यो नरः।
स मासवत्सराद्यर्थं संचयं कुरुते मुधा ॥३२॥
सञ्चये च प्रमग्नं तं कालो ग्रसति वै तथा।
यथा तित्तिरिकाञ्छ्येनोऽतर्कितं खलु बाधते ॥३३॥३३८॥

यह सर्वसाक्षी सर्वात्मा सब घट के भीतर पैठा (व्यापक) है। सहचेत (सावधान) तथा चित्तोपाधि सहित हो कर बैठा है। कर्मवासनादि के अनुसार, जब जिसको जैसी गति देना चाहता है। तब उसको वैसी मति (बुद्धि) देता है। अर्थात् "एष ह्येव साधु कर्म कारयति। कौषितकी० ३।८" "सदेवो विश्वकर्मा महात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः। श्वे० ४।१७" इत्यादि श्रुति के अनुसार अन्तर्यामीरूप सर्वात्मा की अध्यक्षता में व्यावहारिक जीव के सब व्यवहार होते हैं ॥३३७॥ जिसको एक पाँव उठाने चलने तक का, और पल भर काल का भी गम (होश ज्ञान) नहीं है कि पलमात्र में क्या होगा, सो भी इस अन्तर्यामी कर्मादि की अधीनता से ही काल्हु (कालान्तर) के भोगों

के साज (साधन) को साजता (साधता) है। और काल तो ऐसे अचानक में मारेगा, और मारता है कि जैसे तित्तिर को बाज मारता है ॥ ३३८ ॥

भूला सो भूला, बहुरि के चेतना।
ज्ञान की छूरि से, संशय को रेतना ॥३३९॥

भो नरा ये गतास्ते ते समयास्ते गता भ्रमात्।
मोहेनानवधानेन चिन्तया तत्र किं भवेत् ॥३४॥
इदानीमपि मायायाश्चेतो रोधं विधाय वै।
ज्ञानेन निशितास्त्रेण भिन्द्तां संशयं सता ॥३५॥
पुरुषे पुरुषत्वं तद् यद् गतं नैव चिन्तयेत्।
भाविदुःखं प्रयत्नेन नाशयेन्मूलनाशतः ॥३६॥
शरीरेण यथा सन्तु तथा ते नात्र किं भवेत्।
इत्थंभूतसमाचारा भवन्ति पुरुषोत्तमाः ॥३७॥

यदा परात्मात्मविभेदभेदकं ज्ञानं भवेच्छास्त्रसतां विलोकनात्।
तदा हि माया प्रविलीयतेऽञ्जसा भवेन्न सा कारणमात्मसंसृतेः ॥३८॥३३९॥

इति साक्षिसाक्षात्कारेऽवश्यानुष्ठेयज्ञेयादिवर्णनंनामैकोनपञ्चाशीवित्तिः ।४९

माया के साथ मन के सम्बन्ध से काल कर्मादि की अधीनता को कह कर, उपदेश है कि अब तक जो तुम अज्ञानादि से माया मोह में भूला सो भूला (माया मायिक वस्तु को सत्यादि समझ कर उनमें मन को लगाया सो लगाया) अब भी माया से बहुरि कर (मन को लौटा कर = रोक कर) साक्षी स्वरूप को चेतना (समझना = अपरोक्ष करना) चाहिये, और सबसे प्रथम विवेक विज्ञान की छूरी से संशय को रेतना (काटना नष्ट करना ।) चाहिये (भ्रम अज्ञान से रहित होना चाहिये) इत्यादि ॥३३९॥

अथ गुरुज्ञान से द्वन्द्वनिवृत्तिवर्णन प्र० ५०

जो मिला सो गुरु मिला, शिष्य मिला नहिं कोय।
चौ लाख छ्यानबे सहस, रमैनि जिव पर होय ॥३४०॥

वेषादि मात्रतः सर्वे गुरुत्वस्याभिमानिनः।
प्राप्यन्ते नैव शिष्याश्चेज्ज्ञानं कस्य तु जायताम् ॥ १ ॥
ज्ञानाऽभावात्त मिथ्यैव षड्लक्ष्यादिप्रभेदतः।
पदार्थाः शब्दसञ्ज्ञाश्च कल्प्यन्ते बहुधा जनैः ॥ २ ॥

योग्यादौ दर्शने ज्ञेयं षड्विधं कल्पयन्ति हि ।
षण्णवति सहस्राणि नामानि मत भेदतः ॥ ३ ॥
अज्ञानां रमणार्थाय भवन्त्येतानि सर्वथा ।
बहुलक्षाण्यनन्तानि किमत्रान्विष्यते त्वया ॥४॥३४०॥

उस आत्म ज्ञान के बिना भी जो मिला सो प्रायः गुरुत्व का अभिमानी मिला, और मिलता है। योग्य शिष्य कोई नहीं मिला, न मिलता है। अर्थात् पूर्ण ज्ञानी गुरु और योग्य शिष्य प्रायः दुर्लभ होते हैं, बहुत कम होते हैं। अतः छौ लाख और छ्यानबे सहस्र रमैनी एक एक जीव पर होते हैं। अर्थात् छौ दर्शनों में छौ लक्ष्य, ज्ञेय, ध्येय एक एक जीव के रमण (चिन्तनादि) के लिये बतलाये (समझाये) जाते हैं, जिनके लाखों लाख भेद कल्पित होते हैं। और पूर्व वर्णित छ्यानबे पाखंडों में छ्यानबे सहस्रनामादि के वर्णन किये जाते हैं, तहाँ मिथ्या ज्ञानित्वादि के अभिमानादि से ही ये विस्तार हुए हैं। सत्य वस्तु एक है, और सत्य ज्ञान मार्ग भी एक है। अनेक नहीं कर्मोपासनादि के मार्ग अनेक हैं, उनसे प्राप्तव्य भी अनेक हैं ॥३४०॥

कर बन्दगी विवेक की, वेष धरे सब कोय ।
सो बन्दगि बहि जान दे, शब्द विवेक न होय ॥३४१॥

शब्दादौ रमणं त्यक्त्वा स्वात्मैवान्विष्यतां त्वया ।
सत्तत्त्वे रममाणं च सद्गुरुं शरणं व्रज ॥ ५ ॥
स्वात्मज्ञानस्य लाभाय कुरुष्वास्याऽभिवादनम् ।
वेषस्तु ध्रियते सर्वैं र्नाभिवादय तावता ॥ ६ ॥
अन्यस्य शरणं त्यक्त्वा गुरवे सर्वमर्पय ।
सार शब्दाविवेकी यो जहीहि तस्य वन्दनाम् ॥ ७ ॥
विद्धि तत्प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
ज्ञानी दास्यति ते ज्ञानं परभव्यपरायणः ॥ ८ ॥
यस्तु स्वयं न जानाति वेषमात्रेण गर्वितः ।
जात्यादिनाऽथवा मत्तः स तु ते किं विधास्यति ॥९॥३४१॥

उक्त मिथ्या में रमण और संशयादि की निवृत्ति के लिये विवेकी ज्ञानी के प्रति विवेक की प्राप्ति के लिये बन्दगी (वन्दना सेवा पूजा) करो। वेष तो सब कोई धर लेते हैं। अतः वेष देखकर केवल वेष की बन्दना नहीं करो, किन्तु सो वन्दगी (वेष की वन्दगी) बहि जाने दो (त्याग दो) अर्थात् केवल वेष की वन्दना तथा अभिमानादि से संसार में बहता है, ऐसा समझो

अतः जिसमें सार शब्दादि का विवेक नहीं हो, न जिसकी वन्दना से तुझे सारशब्द मिले उसकी वन्दना नहीं करो, किन्तु सार शब्द की प्राप्ति के लिये विवेकी के विवेक की वन्दना करो ॥३४१॥

यह मन तो शीतल भया, जब उपजा ब्रह्मज्ञान ।
जिहि बैसन्दर जग जरै, सो पुनि उदक समान ॥३४२॥

तदेदं शीतलं जातं मनस्तप्तं भृशं पुरा ।
ब्रह्मज्ञानं यदोत्पन्नं निर्मलं शोकबाधनम् ॥१०॥
यस्माज्ज्वलति संसारो दकवच्चाभवद्धि सः ।
महाग्निः कामकोपाख्यो ज्ञानाग्ने वैं प्रभावतः ॥११॥
सद्गुरो वन्दनाभ्यासाच्छ्रवणोन्मननादिभिः ।
ज्ञानास्योत्पत्तिकालेहि मनस्तापो निवर्तते ॥१२॥
ब्रह्मज्ञानेन संशान्तं गततापमिदं मनः ।
तापहेतुं जगज्जालं शान्तमेव प्रपश्यति ॥१३॥
संसारतापतप्तानां कृते तप्तमिदं जगत् ।
शान्तस्वमनसां चैव शान्तमेवावशिष्यते ॥१४॥३४२॥

सद्गुरु की भक्ति वन्दना आदि से जब जिसको ब्रह्म का ज्ञान (बृहद् अपरोक्ष प्रत्यगात्मा से अभिन्न विभुसर्वभेद रहित ब्रह्म का ज्ञान उत्पन्न) हुआ कि "अहं ब्रह्मास्मि" तब ताप के हेतु भेद मूलक रागद्वेषादि के अभाव से उसका प्रथम से अत्यन्त तप्त भी मन परम शीतल (रागद्वेष काम क्रोधादि रहित) हुआ और होता है। क्योंकि[1] जिस बैसन्दर (विदारण शील अज्ञान मूलक कामादि अग्नि) से जगत् (संसारी) अज्ञ जीव जलता है। सो पुनः (फिर) ब्रह्मज्ञान की पूर्ण प्राप्ति होते ही उदकतुल्य शीतल (शान्त) हो जाती है। दुःखद कामादि ब्रह्मात्म ज्ञान से अज्ञान सहित निवृत्त हो जाते हैं। तथा अज्ञान की निवृत्ति से तन्मूलक कर्म वासनादि के नाश से भावी संसार की चिन्ता आदि के अभाव से सर्वथा शान्ति रहती है इत्यादि ॥३४२॥

साँचहिं शाप न लागये, साँचहिं काल न खाय ।
साँचहिं साँचे जो रहै, ताको काह नशाय ॥३४३॥

---

१ य एवं वेद = अहं ब्रह्मास्मीति स इदं सर्वं भवति । बृ० १।४।१०॥ तदेतद् ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्ममयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः २।५।१९॥

मनसः शीतलत्वेहि सत्यनिष्ठो भवेन्नरः ।
निर्द्वन्द्वो नित्यमुक्तश्च निर्वैरः सर्वसौहृदः ॥१५॥
ये हि सत्यरताः शान्ता ब्रह्मनिष्ठा मनस्विनः ।
शापस्यागोचरास्ते तु प्रपीड्यन्ते न कालतः ॥१६॥
यतश्चासत्यसन्धस्य देहादावभिमानिनः ।
देहादिनाशतस्तावत्सर्वस्वमेव नश्यति ॥१७॥
सत्यसन्धस्य विज्ञस्य ब्रह्मनिष्ठस्य सर्वदा ।
देहनाशेऽपि किं नश्येत्स सदैवाजरोऽमरः ॥१८॥३४३॥

सत्य ब्रह्मनिष्ठ ज्ञान से सत्य ब्रह्म स्वरूपता को प्राप्त सत्य के ज्ञानी को सत्य पुरुष को न किसी का शाप लगता है, न साँच (सत्य) को काल ही खा सकता (नष्ट कर सकता) है। क्योंकि देहादि के अभिमानादि को त्यागकर सत्य प्रत्यगात्म स्वरूप होकर विभु सत्य ब्रह्ममें अभिन्न स्वरूप से जो रहता है। उसके शाप या कालादि से काह नशाय (क्या नष्ट होगे) देहादि के अभिमानियों के देहादि के नाश से उनका नाश कहा जाता है, आत्मा तो सबकी अविनाशी ही है, सो ज्ञातव्य है। क्योंकि उसके ज्ञान से जन्म मरणादिरूप संसार की और शोकादि की निवृत्ति होती है, श्रुति है कि "अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम्। महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो नशोचति। कठ.३४" ३४३

केते योगी योग करु, केते भस्म शरीर।
एक शब्द के कारणे, आलम भया फकीर ॥३४४॥

कियन्तो योगिनो योगं कुर्वते चित्तशुद्धये ।
भस्मनो धारणं देहे कियन्तः कुर्वते तथा ॥१९॥
कियन्तः सिद्धि भोगार्थं योगादि कुर्वतेऽथवा ।
एकशब्दार्थमन्ये च सह्वा वै साधवोऽभवन् ॥२०॥
आत्मनः स्वस्यबोधाय सारशब्दस्य लब्धये ।
केचिज्जिज्ञासवो योगं कुर्वते भस्मधारणम् ॥२१॥
केचिद्वैराग्यमाश्रित्य ह्यवगुण्ठ्य कलेवरम् ।
भस्मना चिन्तयन्ते च स्वात्मतत्त्वं निरन्तरम् ॥२२॥३४४॥

विवेकयुक्त एक सारशब्द के और उसके अर्थ के ज्ञान के कारण (लिये) कितने कर्मयोगी, राजयोगी, ध्यानयोगी आदि अपने-अपने योगों को करते हैं, और कितने शरीर पर भस्म लगाकर तप करते हैं तथा ज्ञानाग्नि से शरीर को भस्म करते हैं, मिथ्या अनात्मा तुच्छ समझते हैं। आलम (जमात के जमात)

उसीके लिये फकीर (विरक्त साधु) प्रथम हुए हैं, और होते हैं। अतः वह सब प्रयत्न से जाननेयोग्य है। उसके ज्ञान के बिना योगी आदि किसी को शान्ति नहीं मिलती है। सारशब्द की प्राप्ति नहीं होने पर किसी एक मिथ्या शब्द (वाच्य वस्तु) के लिये कितने योगी आदि हुए हैं, सो शान्ति नहीं पाये हैं, न पाते हैं। अतः सारशब्द ज्ञातव्य है, इत्यादि ॥ ३४४ ॥

एक फेर का फेर है, फेरहिं लखै न कोय।
कहहिं कबिर फेरहिं लखै, छत्र धनी है सोय ॥३४५॥

आत्मज्ञानस्य चैकस्य विपर्यासस्वरूपिणः[१]।
मिथ्याज्ञानस्य कार्योऽयं सर्वः संसारविभ्रमः ॥२३॥
इमं भ्रमं न जानन्ति केऽपि श्रीसद्गुरुं बिना।
ये वै जानन्ति सत्तत्त्वं तेऽत्र सन्ति महेश्वराः ॥२४॥
निजात्मनोऽबोधविलाससम्भवं द्वन्द्वं समस्तं बहुमोहमत्तता।
अनित्यवर्गादिषु नित्यतामुखा भ्रमास्ततो बोधमुपार्जयेद् बुधात् ॥२५॥३४५॥

इति साक्षिसाक्षात्कारे गुरुवचनाद् ब्रह्मज्ञानाप्तौ द्वन्द्वाविषयत्वादि वर्णनं नाम पञ्चाशी वित्तिः ॥ ५० ॥

एक सार शब्दार्थ ब्रह्मात्मा के फेर (विपरीत ज्ञान, भ्रम, अज्ञान) का ही कार्यरूप सब फेर (परिभ्रमण संसारचक्र) है, और इस कार्य-कारणरूप फेर को योग, ध्यान, तप सद्गुरु आदि के बिना कोई नहीं समझते हैं। न इसकी निवृत्ति करने पाते हैं, और जो योगादि द्वारा इसको समझते हैं, सो इसको निवृत्त करते हैं, और सत्यात्मा को प्राप्त करते हैं। अतः श्रीकबीर साहब कहते हैं कि जो इस प्रथम फेर को ही समझते हैं, सो छत्रधारी धनी (स्वतन्त्र राजा=ज्ञानी) जीवन्मुक्त हैं ॥ ३४५ ॥

---

१ अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या। (योगसूत्र) देहादिष्वनात्मस्वहमस्मीत्यात्मबुद्धिरविद्या, मिथ्याज्ञाननिमित्तः सत्याऽनृते मिथुनीकृत्याऽहमिदं ममेदमिति नैसर्गिको लोकव्यवहारः, इत्यादि शांकरभाष्याद्यनुसारेण कार्यभूताऽविद्यापि प्रतीयते, तदभ्युपगम्यात्रत्योक्तिः ॥ नाऽसदासीन्नो सदासीदित्याद्याः श्रुतयोऽखिलाः। प्रमाणं स्युरनिर्वाच्यभाव एव विचारतः ॥१॥ अव्यक्तनाम्नी परमेशशक्तिरनाद्यविद्या त्रिगुणात्मिका परा। कार्यानुमेया सुधियैव माया यया जगत् सर्वमिदं प्रसूयते ॥२॥ इत्यादि विवेकचूडामण्यादौ

अथ सत्यादृश्यात्मविवेक प्र० ५१

सांँचा शब्द कबीर का, प्रगट कहैं जग माँहिं ।
जैसा को तैसा कहैं, सो तो निन्दा नाहिं ॥३४६॥

सत्यः शब्दः कबीरस्य व्यक्तं तं भाषतेऽत्र सः ।
यो याहक् ताहशं वक्ति तं सा निन्दा न निन्दकः ॥ १ ॥
परकर्मस्वभावानां स्तवनं निन्दनं तथा ।
सज्जनै नैव कर्तव्यमाशु भ्रंशप्रदत्त्वतः ॥ २ ॥
गुरुभि गुणदोषाणां कथनं क्रियते तु यत् ।
सत्त्वस्य कथनं चैतन्न निन्दा न प्रशंसनम् ॥ ३ ॥
अतश्च गुरुभिः पूर्वं संसारस्य कदर्थना ।
बहुधा वर्णिता साक्षान्माहात्म्यं ज्ञानिनां तथा ॥ ४ ॥
तत्त्वस्य कथनं तच्च शिष्यबोधार्थमेवहि ।
क्रियते सुखसिद्धयर्थं रागद्वेषादिकं विना ॥५॥३४६॥

"परस्वभावकर्माणि न प्रशंसेन्न निन्दयेत् । श्रीमद्भा० स्क० ११।२८।१" इत्यादि बचनों से अन्य के स्वभाव और कर्म की निन्दा और स्तुति के निषेध रहते भी ज्ञानी भक्तादि की स्तुति और अज्ञ हिंसकादि की निन्दा क्यों की गई है, ऐसी जिज्ञासा होने पर कहते हैं कि कबीर का शब्द साँचा है, और कबीर जगत में सत्य शब्द को सबके सामने प्रगट कहते हैं । और जो जैसा है, उसको वैसा ही कहा जाय तो वह कहना निन्दा नहीं कही जाती है, निन्दक झूठी बातोंके द्वारा परोक्षमें शत्रु आदि की निन्दा करता है, मित्रादिकी स्तुति करता है, ऐसी बात यहाँ नहीं है, न किसी महापुरुष के लेख या कथन में ऐसी बात रहती है । किन्तु संग्रह, त्यागके लिये गुण दोष कहे जाते हैं ॥३४६॥

दृश्यमान सो विनशये, अदृश्यहि लखै न कोय ।
नाही कोइ गाहक है, जाहि मिले सुख होय ॥३४७॥

निन्दादिबुद्धिमत्र त्वं त्यक्त्वा वाक्यं विचारय ।
विचारेण च जानीहि दृश्यं सर्वं विनश्वरम् ॥ ६ ॥

बाऽनादि स्वरूपा श्रुत्यनुसारेण वर्णिताऽस्ति । अनादित्वेऽपि कूटस्थानादित्वाऽभावाज्ज्ञानाद् बाध्यत एवेति, अनादित्वादनिवृत्तिशंका प्रमादजन्यैव, सद्गुरुणा चोक्तम् "बाढ़त बढ़ी घटावत छोटी । परखत खर परखावत खोटी ॥"

अदृश्यं च स्वमात्मानं साक्षिरूपं निभालय।
यस्य ज्ञानं विना जन्तु र्जायते म्रियतेऽपि च ॥ ७ ॥
नश्यति दृश्यमानं हि नादृश्यं कोऽपि वेत्ति च।
नाप्यस्य ग्राहकः कश्चिन् मिलेद्यस्य सुखं भवेत् ॥ ८ ॥
अदृश्यस्य न विज्ञानी जिज्ञासु र्वेह दृश्यते।
यत्सङ्गाद्वै मनुष्याणां सुखमेव भवेत्सदा ॥ ९ ॥
दृश्यते न स जिज्ञासु र्मिलेद् यस्य हरिर्गुरुः।
अखण्डं च भवेत्सौख्यमेकं वै सच्चिदात्मकम् ॥१०॥३४७॥

नेत्रादि के विषय दृश्यमान प्रत्यक्ष सब पदार्थ विनष्ट होते हैं। अतः मिथ्या स्वप्न पदार्थ के समान हैं, अदृश्य सर्व द्रष्टा आत्मा ही अविनाशी सत्य है। परन्तु उस अदृश्य को हो कोई गुरु विमुख विचारादि रहित मनुष्य नहीं लखता है, निज सत्यस्वरूप नहीं समझता है जो सर्वथा समझने लायक है, उस को नहीं समझता है, और अन्य को समझता है। समझना दूर रहा, उसका कोई ग्राहक (जिज्ञासु) भी नहीं है कि जिसको अदृश्यात्मा मिले (ज्ञात हो) और मिलने से उसको सुख शान्ति हो, तथा जिसके मिलने से सत्सङ्ग विचारादि जन्य सुख अन्य को भी मिले, ऐसा ग्राहक भी बहुत नहीं मिलते हैं, जो मिलते हैं, उनके प्रति उपदेशरूप शब्द कहा जाता है सो स्तुति निन्दा रूप नहीं रहता है, उपदेश ही रूप रहता है ॥३४७॥

जो तैं चाहै मूझको, छाड़ सकल की आस।
मूझहिं ऐसा होय रहु, सब कछु तेरे पास ॥३४८॥
साँच बरोबर तप नहीं, झूठ बरोबर पाप।
जाके हृदया साँच है, ताके हृदया आप ॥३४९॥

चेत्त्वमिच्छसि मामाप्तुमात्मानं वा हरिं गुरुम्।
भूत्वा मया समस्तिष्ठ त्यक्त्वाऽऽशां तेऽन्तिकेऽखिलम् ॥११॥
मत्समः सर्वदा भूत्वा सर्वाशां त्यज भद्र हे।
त्वत्समीपेऽखिलं ह्येवं वर्तते यत्तु वाञ्छितम् ॥१२॥
यदि च त्वं गुरोः प्राप्तिं गुरुत्वं वेह वाञ्छसि।
तन्न दूरं नचाप्राप्यमाशया दूरतां गतम् ॥१३॥
आशां त्यक्त्वा प्रयत्नेन गुरोराज्ञापरः सदा।
आत्मन्येव हि सर्वं त्वं लप्स्यसे यद्धि वाञ्छितम् ॥१४॥३४८॥

सत्येन न तपस्तुल्यं नानृतेन च दुष्कृतम् ।
यच्चित्ते सत्यमेवास्ते तत्रास्ते हि स्वयं हरिः ॥१५॥
अतः सर्वप्रयत्नेन सत्यं सर्वात्मना भज ।
गुरुं तेनैव चात्मानं लप्स्यसे हरिमेव च ॥१६॥३४६॥

उपदेश है कि यदि तुम मुझ (अदृश्यात्म स्वरूप) गुरु को प्राप्त करना चाहते हो तो सब बाह्य दृश्य वस्तु की आशा को छोड़ दो, और मुझहि ऐसा (मुझसा) असङ्ग सत्यात्मनिष्ठ हो रहो, जो कुछ मोक्ष सुख तुम चाहते हो, सो सब तेरे पास में तेरा स्वरूप ही है, आशा अज्ञानादि से दूर हुआ है ॥३४८॥ अदृश्यात्मा की प्राप्ति आदि के हेतु तपों में साँच के बरोबर (तुल्य) अन्य कोई तप नहीं है, न झूठ के तुल्य ज्ञानादि का प्रतिबन्धक कोई पाप है। अतः जिसके हृदय में सत्य ही बसता है, उसके हृदय में अदृश्यात्मा आप स्वयं प्रकट होता है। "सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येषआत्मा सम्यग् ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्। मुण्डक ३।१।५" ॥ ३४६ ॥

बना बनाया मानवा, बिना बुद्धि वे तूल ।
कहाँ लाल लै कीजिये, बिना बास का फूल ॥३५०॥
जासो दिल नाहीं मिला, शब्द न बेधा अङ्ग ।
कहहिं कबिर कैसे बने, हंस बकेका सङ्ग ॥३५१॥

सिद्धश्च साधितो यस्तु मया नैव समोऽभवत् ।
बुद्धिं विना किमेतेन रक्तपुष्पसमेन वै ॥१७॥
वस्त्रालङ्कारजात्यादिशोभितोपि पुमानयम् ।
सत्यबुद्धिविहीनश्चेन्मतो निर्गन्धपुष्पवत् ॥१८॥
यथा किंशुकपुष्पाणि घ्राणतृप्ति कराणि नो ।
आद्रियन्ते न रक्तानि तथा बुद्धिं विना नराः ॥१९॥३५०॥
सत्यबुद्धेरभावेन यस्य नो गुरुणा सह ।
मनो मिलति नो यत्र सार शब्दो विशत्यलम् ॥२०॥
तस्य सद्गुरुभिः सार्द्धं कथं सङ्गोऽपि सम्भवेत् ।
हंसेन हि बकस्येव तस्मात्सत्यं समाश्रय ॥२१॥१५१॥

कुल जातिं वेष वस्त्रालङ्कारादि से सुन्दर बना और बनाया गया (शोभित किया गया) मनुष्य भी; सत्य के ज्ञानादि रूप बुद्धि के विना बेतूल (अयोग्य तुच्छ) हुआ रहता है। बुद्धि के बिना वेषादि के तुल्य व्यवहारादि नहीं कर

सकता है, अतः सुगन्धरहित लाल पुष्प तुल्य उस मनुष्य को लेकर क्या किया जा सकता है। अर्थात् ज्ञानस्वधर्मादि के बिना सब सुन्दरता आदि व्यर्थ हैं। अतः उसको सद्गुरु भी नहीं अपनाते हैं। गुरु शरणागति के लिये सत्यादि निष्ठ होना चाहिये, और सत्यनिष्ठ होकर ज्ञान को प्राप्त करना चाहिये ॥३५०॥ जिस सद्बुद्धि रहित मनुष्य से सत्पुरुषों का सद्गुरु का दिल नहीं मिला न जिसके अङ्ग (अन्तःकरण) में गुरु का सार शब्द बेधा (पैठा) तो श्रीकबीर साहब कहते हैं कि सद्गुरुसन्तरूप हंस के साथ उस बकवृत्ति का सङ्ग कैसे बन सकता है। अतः हंस के सङ्ग के लिये हंस होना चाहिये ॥३५१॥

हौं बिगराने ओर के, बिगरो नाहिं बिगारौं।
सब घट मेरो प्राण हैं, चोट काहि पर डारौं ॥३५२॥

वयं ये ज्ञानिनो लोके सुधियोऽनन्तकालतः।
वर्तामहे स्वरूपे स्वे विविक्ते निर्जने पृथक् ॥२२॥
असङ्गस्वात्मनिष्ठत्वान्न विकारं भजामहे।
नैवकस्यापि हानेर्वाभवामो हेतवो वयम् ॥२३॥
व्यवहारेऽपि सर्वत्र तुल्य प्राणस्य दर्शनात्।
पीडयामो न कञ्चित्तु सुधां विश्राणयामहि ॥२४॥
अतस्त्वमपि सर्वत्र सुहृद् भूत्वैव देहिनः।
केनाप्यपकृते साधो! जानीहि कर्मजं फलम् ॥२५॥
असङ्गश्च स्वरूपं ते किं भूतैस्ते विहन्यते।
इति निश्चित्य निर्द्वन्द्वः सुखं तिष्ठ निरामयः ॥२६॥
अनाद्यविद्यया यद्वा कर्मणा मनसा तथा।
स्वयं त्वं पीड्यसे नान्यैः क्रोधस्यावसरः कुतः ॥२७॥
इत्थं समालोच्य बुधै र्मिलित्वा ह्याशापिशाचीमपवाह्य दूरम्।
त्वं सत्यसन्धो वृजिनान्निवृत्तो दृश्यात्परोऽदृश्यतयाऽत्र तिष्ठ ॥२८॥३५२॥

इति साक्षिसाक्षात्कारे सत्यादृश्यादिविवेकवर्णनं नामैकपञ्चाशीविन्तिः॥५१॥

संग नहीं बन सकने पर भी सद्गुरु सन्त किसी का बिगाड़ (अपकार हानि) नहीं करते हैं, क्योंकि उनका निश्चय रहता है कि हौं (सर्वात्मा स्वरूप में) ओर के (अनादि काल के) बिगराने (विविक्त पृथक् असङ्ग) स्वरूप हूँ। अतः मैं न कभी बिगड़ता हूँ। न कभी किसी को बिगाड़ता (नष्ट करता) हूँ। और सब घट में मेरा ही प्राण (आत्मा) है, फिर मैं चोट किस पर कैसे डारूं (कोई कष्ट दे भी तो मैं किसी को कैसे दूं)। "शुद्धसन्मात्र सवित्तेः

स्वरूपान्न चलन्ति ये । रागद्वेषोदयाऽभवात्तेषां नाऽज्ञत्व सम्भवः ॥ यो० वा० प्र० ४।११८।६" शुद्ध सन्मात्र के सम्यग् ज्ञान से जो स्वरूप से विचलित नहीं होते हैं, उनमें रागद्वेष की उत्पत्ति के अभाव से उनको अज्ञत्व का सम्भव नहीं रहता है, वे अज्ञ के व्यवहार नहीं करते हैं। हौ बिगारने, इत्यादि पाठ पक्ष में अविद्यादि के वशवर्ती तुम अनादि से बिगड़े या पृथक् हौ यदि कोई बिगाड़ (अपकार) करे, तो अपकृत होने पर भी किसी का बिगाड़ नहीं करो, सब घट में अपना ही प्राण समझो इत्यादि अर्थ है ॥३५२॥

—•—

अथ संसार वर्णन प्रकरण ५२

ये करुवन्ती बेलरी, करुआहीं फल होय ।
सिद्ध नाम तब पाइये, बेलि विछोहा होय ॥३५३॥
सिद्ध भया तो क्या भया, चहुँदिशि फूटी बास ।
अङ्कुर बीज अन्तर में, फिर जामन की आश ॥३५४॥

मायाख्या कटुवल्लीयं विश्वरूपेण दृश्यते ।
फलं कटुतरं चास्या वियोगिनिधनात्मकम् ॥ १ ॥
अविद्या विषवल्ल्येषा ह्याशा व्रतति संयुता ।
महादुःखफला चास्याः प्रोच्छेदायैव यत्यताम् ॥ २ ॥
यदा चास्या वियुक्तस्त्वं स्वरूपे स्थास्यसि स्वके ।
तदा त्वं सिद्धनामा सन् द्वन्द्वमुक्तो भविष्यसि ॥३॥३६३॥
यावत्संसारवृक्षोऽयमविद्यासंयुतो नहि ।
संछिन्नो बोधशस्त्रेण किं तावत् सिद्धितो भवेत् ॥ ४॥
वासनाबीजमच्छिन्नं वर्तते सर्वतो यदि ।
कर्माङ्कुरो न नष्टश्चेदणिमाद्यैर्भवेद्धि किम् ॥ ५ ॥
हृदये वासनाबीजे सति कर्माङ्कुरे तथा ।
जायते जन्मवृक्षस्य पुनराशा भयावहा ॥ ६ ॥
तस्मादविद्यया सर्द्धं वासनाकर्मपञ्जरम् ।
दग्ध्वा ज्ञानाग्निना त्वं हि जन्ममुक्तत्वमाप्नुहि ॥ ७ ॥ ३५४॥

ये (माया अविद्यारूप पर अपकारादि) करुवन्ती (करुई) बेलरी (लता) हैं। और जन्ममरणादि रूप करुआ ही फल इनके होते हैं। जब इन बेलियों से विछोह (वियोग) होय। या जब छोभ रहित (विक्षोभ)

विद्या बेली को प्राप्ति हो, तभी सच्ची सिद्धि जीवन्मुक्ति ज्ञानी नाम पाया जाता है ॥३५३॥ यदि अविद्या की निवृत्ति के बिना, अणिमादि, दूरदर्शनादि सिद्धि वाला सिद्ध भया (हुआ) तो उससे क्या कौन, फल भया। क्योंकि ज्ञानादि रहित सिद्धियों से चारो तरफ वास (वासना) कामना फूटी (फैली) और फैलती है। और अन्तर (अन्तःकरण) में कर्म वासनादि रूप अङ्कुर बीज के बसने (रहने) से (ज्ञान के बिना उनके नाश के अभाव से) फिर जन्म की आशा भी होती है ॥ ३५४ ॥

सबे हमारे देश के, वञ्चक भूले आय।
देखि शरद की चान्दनी, परे भुलाय भुलाय ॥३५५॥

सर्वेऽपि मानवाः सन्ति मद्देसगामिनो मृतौ।
मद्देशादागताश्चात्र मायया भ्रामितास्तथा ॥ ८ ॥
अनिर्वाच्या तु मायैषा कामाविद्यादिरूपिणी।
यदा नश्यति बोधेन तदा नायान्ति संसृतौ ॥ ९ ॥
अयं वञ्चकसंसर्गाद् भ्रामितो मनसा सह।
लोक सिद्ध्यादिकामेन रतः काम्येषु कर्मसु ॥१०॥
विविधान् विषयान् दृष्ट्वा श्रुत्वाऽनुश्रविकांस्तथा।
शारदीं कौमुदीं दृष्ट्वा कामीवमुह्यति ध्रुवम् ॥११॥
ब्रह्मणश्चागता ब्रह्मनिष्ठाश्च ब्रह्मगामिनः।
मोहेन जन्तवः सर्वे पुनर्जन्मादिभागिनः ॥१२॥३५५॥

यद्यपि सिद्ध साधकादि सब मनुष्य हमारे (ज्ञानी गुरु के) देश (उपदेश मार्ग स्थान) के अधिकारी हैं। तथापि वञ्चक (ठग) विषय कामादि के सङ्ग वश में आकर, सदुपदेश सन्मार्ग और स्थान को भूले हुए हैं। शरद की चान्दनी रात्रि तुल्य सिद्धि सम्पत्ति आदि को देखकर बार बार भूल भटक में सब पड़े हैं। अर्थात् शरद की चान्दनी (चन्द्र प्रभायुक्त रात्रि) को ही प्रभात मान कर मनुष्य कहीं चले, और आगे चलकर मार्ग को भूल जाय, भटके, तैसे ही सिद्धि सम्पत्ति आदि को ही मोक्ष सुखदादि मान कर, उनके साधन रूप मार्ग से कामी भूलते भटकते हैं, इत्यादि ॥ ३५५ ॥

जासो नाता आदि का, विसरि गया सो ठौर।
चौरासी के वशि परे, कहत और की और ॥३५६॥

येन शाश्वतिकः सङ्गः सदा तादात्म्यलक्षणः ।
तं विस्मृत्य पदं चायं मोहेनान्यत्र धावति ॥१३॥
वेदाष्टलक्षयोनीनां मूढधी वंशगो भवन् ।
स्वात्मज्ञानं विनैवायं मिथ्यैव बहु भाषते ॥१४॥
अनादिमात्मानमखण्डविग्रहं विहाय मूढो हरिमायया चिरम् ।
परिभ्रमन् वासनया हतस्तथा भगेन योनौ लभते न निर्वृतिम् ॥१५॥३५६॥

इति साक्षीसाक्षात्कारे सवासनसिद्धानामपिसंसारवर्णनं
नाम द्विपञ्चशी विप्तिः ॥ ५२ ॥

उक्त वञ्चकों के सङ्ग से भूलने ही के कारण, जिस सर्वात्मा ईश्वर अन्तर्यामी से आदि (सबसे प्रथम का) नाता (सम्बन्ध) है, और जो सर्वाधार, सर्वाधिष्ठान है, सो ठौर (स्थान) जीवों को विसर (भूल) गया है, उसका कभी ज्ञान ही नहीं हुआ है । और उसके मूल (अज्ञान) से ही जीव सब चौरासी लाख योनियों के वश में पड़े हुए हैं । तथा और की और बातों को कहते हैं । अनित्यानात्मादि को नित्यादि, और नित्यादि को अनित्यादि कहते हैं, मिथ्या भाषण करते हैं, और समझते हैं ॥३५६॥

अथ श्रीब्रह्मादिके प्रतिमाता का उपदेश प्रकरण ५३

ब्रह्मा पूछल जननि से, कर जोरि शीश नवाय ।
कौन रूप वह पुरुष है, कहु माता समुझाय ॥३५७॥
रेखरूप जिहि है नहीं, अधर धरो नहिं देह ।
गगन मण्डल के मध्य में, देखहु पुरुष विदेह ॥३५८॥

आत्मज्ञानं हि कुत्रापि लभ्यते न गुरुं विना ।
अतो ब्रह्मापि बोधार्थं मातरं पृष्टवानिमम् ॥ १ ॥
पादयोः शिर आधाय प्राञ्जलिं प्रविधाय च ।
सर्वस्यादिस्वरूपोऽसौ किं रूपः पुरुषो मतः ॥ २ ॥
भो मातः ! कृपया मह्यं त्वयाऽयमुपदिश्यताम् ।
कथ्यतां मे विविक्तोऽसौ सम्यग् येन प्रबुध्यते ॥ ३ ॥३५७॥
यस्य नास्त्याकृतिः काचिद् रूपं किञ्चिन्न विद्यते ।
अकायः पुरुषोऽसौ वै न देहं धृतवान् क्वचित् ॥ ४ ॥

अदेहमपि तं बुद्ध्या हृदाकाशस्य मण्डले।
निरीक्षस्व विवेकेन ध्यानाभ्यासेन तत्परः ॥ ५ ॥
सच्चिद्रूपा हि माताऽसौ विद्याकायस्वरूपिणी।
इच्छया रूपिणी जाता शिष्यानुपदिदेश सा ॥ ६ ॥३५८॥

अन्य की कथा ही क्या कही जाय, श्रीब्रह्माजी आदि भी उस सर्वादि ठौर को नहीं जानते थे, फिर उसको जानने के लिए भ्राताओं के सहित श्रीब्रह्माजी ने कर जोड़कर और शिर नवाकर (प्रणाम करके) अपनी माता गायत्री से पूछा कि हे माताजी! वह सर्वादि सर्वाधार पुरुष कौन रूप वाला है, सो हमें समझाकर कहो (उसका उपदेश हमें दो) ॥३५७॥ माता बोली कि जिस पुरुष का कोई रेख (आकार चिन्ह) नहीं है। न शुक्लादि कोई रूप है। अतः जो अधर (शरीर रहित) है। कभी देह नहीं धरो (धरा) है। उस विदेह पुरुष को हृदयान्तर्गत गगनमण्डल के मध्य में ध्यानादि से देखो। अर्थात् "हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः। अशब्दमस्पर्शमरूपम्" इत्यादि वचनों के अनुसार रूपादि गुण रहित ज्ञानस्वरूप आत्मा द्रष्टव्य है, माता उसी का उपदेश दिया ॥ ३५८ ॥

धरिन ध्यान गगन को, लाइन बज्र किवार।
देखी प्रतिमा आपनी, तीनों भये निहाल ॥३५९॥

द्वारवज्रकपाटांस्ते पिधाय ध्यानतत्पराः।
गगने गगनस्येवाऽसङ्गस्य सर्वसाक्षिणः ॥ ७ ॥
इन्द्रियाणि निरुध्याऽऽसन् समाधिस्थास्तु ते तदा।
गगने गगनाकारमसङ्गं च विदुस्तथा ॥ ८ ॥
प्रतिमासदृशं स्पष्टं ज्ञात्वा ब्रह्मादयस्तदा।
जीवन्मुक्ता बभूवुश्च नियत्या कर्मतत्पराः ॥ ९ ॥
स्वस्वाधिकारपर्यन्तं भुक्त्वाऽऽरब्धगुणानिमे।
विदेहमुक्तिमापन्नाः प्राप्यन्ते चापरे तथा ॥१०॥
अनादि मायामवधूय बोधतो विकारशीलामनृतां हि चाञ्जसा।
भवन्ति मुक्ता हि समाधितत्परास्ततो बुधोध्यान समाधिमान् भवेत् ॥११॥

इति साक्षिसाक्षात्कारे ब्रह्मादीन् प्रतिमातुरुपदेशवर्णनं
नाम त्रिपञ्चाशी वित्तिः ॥ ५३ ॥

उपदेश को सुनकर श्रीब्रह्माजी आदि तीनों भाइयों ने इन्द्रियों के द्वारों पर, वज्र तुल्य किवार लगाया (मन इन्द्रियों का दृढ़ता पूर्वक निरोध

किया) और हृदयाकाश में गगन तुल्य अखण्ड असङ्ग सच्चिदानन्द चिदाकाश को ध्यान में धारण किया, तो अपनी प्रतिमा की तरह स्पष्ट स्वात्म स्वरूप पुरुष को जानकर (अपरोक्ष देख समझकर) तीनों भाई निहाल (कृत कृत्य जीवन्मुक्त) हो गये । भाव है कि ये ब्रह्मा आदि पृथिवी लोक के निवासी देव विशेष थे और ऐसे ब्रह्म विष्णु अनेक होते जाते रहते हैं । यहाँ यह देवी भागवत में वर्णित ब्रह्मा आदि की कथा है । श्रुति है कि "यथाऽऽदर्शेतथाऽऽत्मनि यथा स्वप्ने तथा पितृलोके । यथाऽप्सु परीव ददृशे तथा गन्धर्वलोके छायाऽऽतपयोरिव ब्रह्मलोके ॥ कठ० २।६।५" दर्पण में स्पष्ट ज्ञान के समान मनुष्य लोक में शुद्धान्तःकरण में आत्मानुभव होता है । स्वप्न के समान अस्पष्ट ज्ञान पितृलोक में होता है । जल में विपरीत स्वरूप के समान गन्धर्व लोक में ज्ञान होता है और ब्रह्मलोक में छाया आतप के समान अत्यन्त विविक्तरूप से आत्मज्ञान होता है । इस श्रुति के अनुसार यहाँ ब्रह्म लोकवासी ब्रह्मा का वर्णन नहीं है । "रजगुण ब्रह्मा तमगुण शङ्कर सत्त्वगुणी हरि सोई" इत्यादि स्थानों में गुणकृत भेदाभासयुक्त विभु ईश्वर स्वरूप ब्रह्मा आदि का वर्णन नहीं है । ईश्वरस्वरूप ब्रह्मा आदि स्वभाव से ही सर्वज्ञ होते हैं । सो वैदिक ब्रह्मादिक हैं "हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रेभूतस्य जातः पतिरेक आसीत्" इत्यादि श्रुतियों से उनका वर्णन है । वैदिक ब्रह्मादि ज्ञानी ही होते हैं । अधिकारान्त में सब स्वयं मुक्त हो जाते है । पौराणिक ब्रह्मा आदि उनके प्रतिरूपक अंशादि होते हैं, उनका वैदिक से अभिन्नरूप से भी वर्णनादि किया जाता है, और कबीर साहब प्रायः पौराणिक का वर्णन करते हैं ॥ ३५९ ॥

अथ मन आदि की एकताअसङ्गतावर्णन प्रकरण ५४

अङ्कुरते बीज बीज ते अङ्कुर, अङ्कुर बिजहि सुधारै ।
काया ते कर्म कर्म ते काया, बिरला जन निरुआरै ॥ ३६० ॥

अङ्कुराज्जायते बीजं बीजाच्च पुनरङ्कुरः ।
देहात्तथैव कर्माणि कर्मभ्यश्च कलेवरम् ॥ १ ॥
एवं संतायमानोऽसावनादि र्भवसंक्रमः ।
एतं छिन्दन्ति ये ज्ञानाद् विरलाः पुरुषा हिते ॥ २ ॥
अनादेरपि विश्वस्य परिणामहतत्वतः ।
अविद्यामूलकत्वेन विद्यया विनिवर्तते ॥ ३ ॥

कूटस्थं न निवर्तेत ह्यनादि वस्तु यद्भवेत् ।
अनादि परिणामिस्याद् यत्तद्नश्यति वैसमम् ॥ ४ ॥
यथा ब्रह्मादयो जातास्तथाऽद्यापि भवन्ति हि ।
ज्ञानिनो जनमान्याश्च ते पूज्या वै विवेकिभिः ॥ ५ ॥३६०॥

जैसे अङ्कुर (उत्पन्न होने वाले स्थावर वृक्षादि) से बीज होता है, और बीज से अङ्कुर (अङ्कुरज) होता है। और फिर वह अङ्कुरज बीज को सुधारता (बनाता धारता) है। वैसे काया (देह) से कर्म और कर्म से काया होती है। इस अनादि बीजाङ्कुर तुल्य प्रवाह के विच्छेद रूप निरुआर को बिरले-जन सिद्ध करते हैं॥ ३६० ॥

कहहिं कबिर कैसे बनै, बिनु करते की दाव ।
ई तीनों मीलै नहीं, सुरित बोल सुभाव ॥३६१॥

मनसा कर्मणा वाचा ह्येकतानो भवेन्न य ।
नैवासौ लभते मुक्तिमिह जन्मशतैरपि ॥ ६ ॥
मनसा कल्पयन्त्येके वाचा केपि वदन्ति च ।
केचित् कुर्वन्ति वै देहैरेकताना भवन्ति न ॥ ७ ॥
कथं सिद्ध्यतु वै मोक्षोऽकुर्वतां साधनं सदा ।
कृते तु साधने मोक्षो जीवतामेव जायते ॥ ८ ॥
मनोवचः शरीराणामैक्येन मेळनं हि यत् ।
तत्कर्तव्यं जनैर्नित्यं मिळन्त्येतानि नोऽविदाम् ॥ ९ ॥
अकुर्वतां भवेन्मोक्षो न स्वर्गो न सुखंत्विह ।
कुर्वतां सर्वमेवैतन्नात्र कार्या विचारणा ॥१०॥३६१॥

श्रीकबीर साहब कहते हैं कि अनादि जन्मादि प्रवाह की निवृत्ति के लिये बिनु करते (कुछ साधन नहीं करने वालों) की दाव (मुक्ति विजय) कैसे बने। क्योंकि साधन के अभ्यास करने के विना सुरति (प्रीतिध्यान मनोवृत्ति) बोल (वचन) और सुभाव (स्वभाव दैहिक चेष्टा) ये तीनों नहीं मिलते हैं। एक नहीं होते हैं, और इनके मिलने बिना न ज्ञान होता है न दाव बनता है। कहा गया है कि "मुख कछु आन हृदय कछु आना। स्वप्नेहुँ काहु मोहि नहिं जाना" इत्यादि। अतः अभ्यासादि से तीनों को एक-निष्ठ कर्तव्य है "तत्कथनं तच्छ्रवणमन्योन्यं तत्प्रबोधनम्। एतदेकपरत्वञ्च ब्रह्माभ्यासं विदुर्बुधाः ॥ १ ॥" ॥ ३६१ ॥

ज्यों गिरि सायर मुकुर में, भींज भार कछु नाहिं।
ऐसे सुख दुख रहित है, ज्ञानी के घट माहिं ॥३६२॥
अनुभव कूप अखण्ड जल, निगम कलस है चारि।
कहहिं कबिर ता नीर के, पण्डित सब पनिहारि ॥३६३॥

यथाऽऽदर्शे गिरिश्चाब्धि र्भाति तेन भवेन्नहि।
गुरुत्वं क्लेदनं वापि ह्येवं विद्धि चिदात्मनि ॥ ११ ॥
सुखदुःखादिहीनोऽयमात्मा ज्ञहृदि वर्तते।
न द्वन्द्वैः कल्पितैश्चायं स्पृश्यतेऽबोधमन्तरा ॥१२॥३६२॥
विज्ञस्यानुभवः कूपो ह्यखण्डानन्दनीरवान्।
चत्वारः कलसा वेदा जलवोढा बुधोऽखिलः ॥१३॥
सर्वस्यानुभवोयद्वा कूपो विषयगोचरः।
अखण्डं सच्चिदानन्दं जलं तत्राभिव्यज्यते ॥१४॥
चत्वारो निगमा श्चात्र घटास्तैर्हि विवेकिनः।
वोढारः सज्जलस्यास्य कबीरो भाषते गुरुः ॥१५॥३६३॥

अभ्यासादि से दाव के बनने पर जैसे दर्पण (मुकुर) में पर्वत समुद्रादि के प्रतिबिम्ब होने पर भी दर्पण में भींजना या भार (गुरुत्व) कुछ नहीं होता है। वैसे ही मिथ्या संसार की मिथ्या प्रतीति आत्मा में होने पर भी ज्ञानी के घट में सुख दुःख से रहित ही आत्मा है, ज्ञानी को सब द्वन्द्वों से रहित ही आत्मा भासता है, सोई ज्ञानी का यथार्थ स्वरूप है ॥३६२॥ ज्ञानी तथा सब का अनुभव कूप है, उसमें व्यक्त चित्स्वरूप अखण्ड जल है (ज्ञात होने पर शान्ति तृप्तिप्रद ब्रह्म है) चार वेद उसकी प्राप्ति के लिये कलस हैं, और विवेकी पण्डित सब पनिहारी हैं, उसजल को प्राप्त करने वाले हैं। "प्रतिबोधं विदितं मतममृतत्त्वं हि विन्दते। के.न० २।४" प्रति बोध (सब ज्ञानरूप मनोवृत्ति) में जिसको चित् स्वरूपआत्मा ही विदित (ज्ञात) होता है, वह अमृतत्व को प्राप्त करता है। अतः पण्डित उसके पनिहारी होते है ॥ ३६३ ॥

द्वारे तेरे राम जी, मिलहु कबीरा मोहि।
तैं तो सब में मिलि रहा, मैं न मिलूँगा तोहि ॥३६४॥
इन्द्रलोक अचरज भया, ब्रह्मा बड़ा विचार।
कबीरा चला राम पै, कौतुक कहर अपार ॥३६५॥

तव द्वारेषु रामोऽस्ति मया त्वं मिल जीव हे।
सर्वैस्त्वं मिलितो यावत्तावन्नाहं मिलामि तु ॥१६॥
ब्रह्मानन्दो हि सर्वस्य हृदि द्वारेषु वर्तते।
विदितः प्रतिबोधं च लक्ष्यते न गुरुं विना ॥१७॥
आसक्तिसङ्गयोस्त्यागमन्तरा गुरवोऽपि न।
प्राप्यन्ते न भवेत्क्षेमस्तस्मात्सङ्गादिकं त्यज ॥१८॥३६४॥
यदा सङ्गादिकं त्यक्त्वा मिलित्वा गुरुभिः सह।
आप्तकामेन रामेण स्वात्मरामेण वै बुधः ॥१९॥
यतते सङ्गमायात्र तदा देवेषु कौतुकम्।
जायते मघवाप्यत्र साश्चर्यं मन्यते बहु ॥२०॥
निष्प्रपञ्चं मुनिं दृष्ट्वा ब्रह्मभूतमकल्मषम्।
व्यवहारपरो ब्रह्मा साश्चर्यं मन्यते पुरु ॥२१॥३६५॥

हे कबीरा (जीव=मनुष्य !) तेरे द्वारे पर (नेत्रादि जन्यवृत्तियों में) सर्वात्मा साक्षीस्वरूप रामजी प्रगट वर्तमान हैं, यदि तुम उनसे मिलना चाहो, तो प्रथम मोहि (मुझसे सद्गुरु से) मिलो, परन्तु तुम यह समझ लो कि, जब तक तुम सब संसार से मिल रहे हो, तब तक मैं तुझे नहीं मिलूंगा। अतः सद्गुरु से मिलने के लिये प्रथम संग आसक्ति को त्याग कर सद्गुरु से मिलो तो द्वारे पर रामजी मिलेगें ॥ ३६४ ॥ जब सब सङ्गादि को त्यागकर, सद्गुरु से मिलकर, यह कबीरा (मनुष्य) द्वारस्थ राम पै (राम की प्राप्ति के लिये राम से मिलने) चला। और चलकर राम के पास में पहुँच गया, तब इन्द्र-लोक (स्वर्ग) में आश्चर्य हुआ (भोग में आसक्त देवको आश्चर्य हुआ) और ब्रह्मा जी बहुत विचार करने लगे, और सर्वत्र कहर (गम्भीर) अपार कौतुक हो गया, और होता है। अर्थात् यह अद्भुत अपूर्व कार्य है, मुमुक्षु के लिये यही कर्तव्य है ॥ ३६५ ॥

त्यागी त्यागी सब कहै, और त्याग सब थोर।
त्यागी तबही जानिये, त्यागै घट का चोर ॥३६६॥

त्यागवार्ताऽत्र लोकेषु सर्वत्र वर्तते ह्यलम्।
त्यागेन धनपुत्रादेस्त्यागित्वं मन्यते तथा ॥२२॥
त्यागवन्तं च सर्वेऽन्यं वदन्त्यात्मानमेव वा।
अन्यत्यागोऽल्प एवात्र दुराशात्यागमन्तरा ॥२३॥

कामतृष्णादिचौराणां तिष्ठतामन्तरे तु यः।
कुरुते सर्वथा त्यागं स त्यागी परमो मतः ॥२४॥
सैव सद्गुरुभिः सार्द्धं मिलति त्यागवान्नरः।
आशाद्यभिहताश्चान्ये[1] सङ्गन्तु शक्नुवन्ति नो ॥२५॥
अन्तःस्थपाटच्चरहानवान्नरः सद्यो मिलित्वा गुरुभिर्विचारतः।
ध्यानैश्च लब्ध्वा निधिराममव्ययं द्वन्द्वैर्विमुक्तोहृदि मोदते भृशम् ॥२६।३६६

इति साक्षीसाक्षात्कारे मनःकर्मवचसामैक्यतानेऽसङ्गात्मप्राप्त्यादि वर्णनं नाम चतुष्पञ्चाशी वित्तिः ॥५४॥

बाहर की वस्तुओं के त्याग से ही सब लोग अपने को तथा अन्य को त्यागी कहते हैं, परन्तु और (अन्य = बाहर के) सब त्याग थोर (अल्प) हैं, कार्य साधक पूर्ण साधन नहीं हैं, सद्गुरु से मिलने योग्य पूर्ण त्याग तब ही समझना चाहिये कि जब आशाकामादि रूप घट के सब चोर त्यागे जायँ, और सो सब चोर विषय इन्द्रियादि से पर निजस्वरूप के विवेकादि के बिना त्यागे नहीं जा सकते हैं। अतः त्याग के लिये आत्मविवेकादि कर्तव्य हैं और विवेकादि पूर्वक गुरुशरणागति से आत्मानुभव कर्तव्य है ॥३६६॥

अथ दुराशानिवृत्ति का उपदेश प्र० ५५

बाट चढन्ती बेलरी, अरुझी आशा फन्द।
टूटे पर छूटे नहीं, भया जो वाचा बन्द ॥३६७॥

गच्छन्ती व्रतति बुद्धि र्लोकादौ कर्मवर्त्मभिः।
आशाप्रतानबद्धत्वात्तं मुञ्चति न कर्हिचित् ॥ १ ॥
असद्रागादिबद्धत्वान्नितरां साऽवशा सती।
निष्फलस्वाशया व्याप्ता तां नाशयितुमक्षमा ॥ २ ॥
आशया बद्धबुद्धिश्च वञ्चकै र्मिलिति स्वयम्।
न जातु गुरुभिश्चैष नैति चातो निराशताम् ॥ ३ ॥
आशा त्रुट्यति नित्यं सा मुच्यते न कदाचन।
सारशब्दं[2] परं ज्ञानं गुरोः पादाश्रयं विना ॥४॥३६७॥

---

१ आशापाशनिबन्धनमुक्ताः शौचाऽऽचारविवर्जितयुक्ताः। एवं सर्वविवर्जितसन्तस्तत्त्वं शुद्धनिरञ्जनवन्तः ॥१॥ अवधूतगीता।

२ ज्ञानामृतरसौघेन सकृदास्वादितो भवेत्। स सर्वं जगदुत्सृज्य तत्र

जैसे अपने बाट (मार्ग) से वृक्षादि पर चढ़ती हुई बेली (लता) के प्रतानतन्तु डाली आदि में अरुझते (लिपटते) जाते हैं, सो टूटते हैं, परन्तु छोड़ाने से छूटते नहीं हैं, तैसे ही सद्गुरु राम की प्राप्ति के बिना कर्मादि मार्ग से चलती हुई बुद्धि वेलरी (बेली) के काम आशा आदि रूप फन्द (फाँस = प्रतान) लोक विषयादि में अरुझते (फंसते) जाते हैं, सो टूटते (निष्फल होकर कभी नष्ट होते) हैं। परन्तु उपदेशादि द्वारा छोड़ाने से सर्वथा छूटते (नष्ट नहीं होते) हैं किसी रूप से बने ही रहते हैं (ज्ञानादि के बिना कामादि का सर्वथा अभाव नहीं होता है) और उनके अभाव नहीं होने में यह भी कारण है कि जो किसी लौकिक गुरुआदि के साथ वाचा वन्द हुआ है (आशा रखने के लिये कबूल कराया गया है)। अर्थात् अज्ञ गुरु माता पिता आदि लोक विशेषादि विषयक आशा कामादि को रखने ही के लिये प्रतीज्ञा कराते हैं कि जिससे कामादि को त्यागना कठिन हो जाता है ॥२६७॥

गुरु गुरुअन में भेद है, गुरु गुरुअन में भाव।
गुरु सदा सोइ बन्दिये, शब्द चिन्हावै दाव ॥२६८॥

सद्गुरौ कुगुरौ चैव वर्तते महदन्तरम्।
भावश्च वर्तते भिन्नो बन्धदो मोक्षदस्तथा ॥ ५ ॥
अतो विवेकतो बुद्ध्वा सद्गुरो वन्दनं कुरु।
सदा यद्वन्दनादत्र सारशब्दो हि लभ्यते ॥ ६ ॥
सारशब्दश्च स ज्ञेयः सर्गवारिधिलङ्घने।
उपायो लभ्यते येन यस्माच्च न पुनर्भवः ॥ ७ ॥
स विरक्तो गुरुर्ज्ञेयः सारशब्दप्रदर्शकः।
धारणा ज्ञान संयुक्तोऽहेतुः सर्वप्रियो हि यः ॥८॥२६८॥

उपदेश है कि सद्गुरु और अन्य गुरुअन (गुरुओं) में बहुत (भेद) अन्तर है। अतः इनमें भाव (तात्पर्य) का स्वभावादि का भी भेद रहता है। अतः उस गुरु की विवेक पूर्वक बन्दना सेवा आदि करना चाहिये कि जो गुरु इन्द्रियादि से पर पांच कोश के अन्दर वर्तमान सर्वसाक्षी के ज्ञान के दाव (उपाय साधन) को अपने शब्दों से चिन्हावे। और कामादि शत्रु को जीतने के लिये दाव (युक्ति) को शब्द से समझावे। तथा सार शब्द रूप दाव (उपाय) को दर्शावें (उपदेश दे) इत्यादि ॥२६८॥

तुष्टो न शोचति ॥१॥ सन्तोषान्न परो लाभो यस्मातृष्णा निवर्तते। तृष्णाऽभावे च नश्यन्ति पापानि लभतेऽमृतम् ॥२॥

सारो जो जन बेधिया, निर्गुण सो गुण नाहिं।
लागेउ चोट शब्द का, करक करेजे माहिं ॥३६९॥

सारशब्दोऽविशद्यस्मिञ्जने सो निर्गुणोऽभवत्।
नासौ गुणमयो भूयो भवति क्वापि मोहतः ॥ ९ ॥
निर्गुणं हि परं ब्रह्म सर्वं व्याप्याभिवर्तते।
तस्य ज्ञानाद् गुणांस्त्यक्त्वा निर्भरानन्द भाग् भवेत् ॥१०॥
स्वान्ते यस्य हि संलग्न आघातः सारशब्दतः।
सहि दुःखमयं सर्वं संसारं वेति मूर्तितः ॥११॥
नित्यं स्फुरति शब्दोऽसौ हृदि तस्य मनस्विनः।
स्फोरयन् निजतत्त्वं तत् तत्रासौ रमते बुधः ॥१२॥
यच्चित्ते सारशब्दो हि प्राप्यते गुरुणेरितः।
तस्य मर्मसु शब्दोऽसौ बाणवद्विध्यति ध्रुवम् ॥१३॥
तस्माद्विस्मृत्य विश्वं स परं ब्रह्म स्मरत्यलम्।
कीटो भृङ्गत्ववच्चाऽयं निर्गुणत्वं प्रपद्यते ॥१४॥
हृदयं यस्य संविद्धमज्ञादितवचोमयैः।
अस्त्रैः स पीड्यते तैश्च हृद्येव दारितस्ततः ॥१५॥ ३६९॥

जो जन (जिन सद्गुरु के भक्त जन में सद्गुरु का सारो (सारशब्द) बेध गया (प्रविष्ट हुआ) सो निर्गुण[1] (ब्रह्म) स्वरूप नित्यमुक्त हो गये, त्रिगुण स्वरूप नहीं रहे (गुणमय देहादि के अभिमानी नहीं रहे) क्योंकि जिनको सार शब्द की चोट हृदय में लगी, उनके करेजे (हृदय) में वह सार शब्द ही प्रतिदिन करकता (चुभता) रहता है। देहादि रूप गुणों के

---

१ अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसंनित्यमगन्धवच्च यत्। अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय तं मृत्युमुखात्प्रमुच्यते। कठोप० अ० १।३।१५॥ यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः। तस्मादेतद् ब्रह्म नाम रूपमन्नञ्च जायते। मुण्डक० १।९॥ जो ब्रह्म शब्दादि से रहित = अव्यय = निर्विकार आदि अन्त से रहित होने से नित्य = अविनाशी है। उस महत्तत्व से पर ध्रुव = अक्रिय को अनुभूत प्राप्त करके मृत्युमुख = जन्मादि संसार से मुक्त होता है जो अक्षर = अविनाशी ब्रह्म सर्वत्र सामान्यरूप से सर्वज्ञाता, विशेषरूप से सर्ववेत्ता है, जिसके ज्ञानमय = सर्वज्ञत्वरूप तप हैं। उसीसे यह कार्य ब्रह्म नाम रूप और अन्न होते हैं।

होश अभिमानादि को वह रहने नहीं देता है। "सारो योजन बेधिया" इस पाठ पक्ष में "योजनं परमात्मनि चतुष्कोश्यां च योगे च" इस कोश के अनुसार अर्थ है कि, योजन (परमात्मा) सारो (सार सत्य) है, और सबमें वेधा हुआ (व्यापक) है। और सो निर्गुण है किसी गुण वाला या गुण स्वरूप नहीं है, उसके उपदेश रूप शब्द का चोट जिसको लगा, उसके करेजे में वह करकता है। अन्य शब्दके चोटसे अन्य दुःखी होता है ॥३६९॥

सारा बहुत पुकारिया, पीव पुकारै और।
लागेउ चोट शब्द का, रहा कबीरा ठौर ॥३७०॥
शब्द कहै सो कीजिये, गुरुआ बड़े लबार।
अपने अपने लोभ के, ठाम ठाम बटवार॥ ३७१॥

गुरुभिः सारशब्दस्योपदेशो बहुधा कृतः।
आत्मतत्त्वस्य बोधाय तथापि स्वाविवेकतः ॥१६॥
अनात्मानं पतिं मत्वा ह्याह्वयन्ति तमादरात्।
आत्मानं नैव मन्यते सच्चिदानन्दमद्वयम् ॥१७॥
अज्ञैर्वा बहवः साराः कथ्यन्ते च पतिः परः।
गुरु शब्देन विद्धस्तु शिष्यः स्वात्मनि तिष्ठति ॥१८॥३७०॥
गुरूणां सारशब्दो हि यथा वक्ति विशुद्धये।
तथैव क्रियतां धीर! धूर्तभाषा न कर्ण्यताम् ॥१९॥
स्वंस्वमर्थमपेक्षन्ते लोभैरभिहता हि ते।
कुर्वते सर्वमार्गेषु वञ्चकत्वं च वस्तुषु।
मिथ्याप्रभाषिणस्ते हि कृत्वा बहु विकल्पनाम्।
सर्वस्थानेषु कुर्वन्ति जीवानां हि कदर्थनाम् ॥२१॥३७१॥

श्री कबीर साहब कहते हैं कि मैंने तथा अन्य ज्ञानी गुरुजनों ने सार वस्तु का ही बहुत पुकार कर उपदेश दिया है (सार शब्द अर्थ को ही बहुत प्रकार से पुकारा है = पुकार कर कहा है) कि जिस निर्गुण सर्वसार को और लोग पीव (स्वामी ईश्वर) कहकर पुकारते हैं, उसीको मैंने साक्षी आत्मा निर्गुण ब्रह्म कहा है। और इस सार शब्द की चोट जिसको लगी, सो कबीरा (जीव) सत्य ठौर में स्थिर रहा और रहता है। फिर असार संसार में नहीं जाता है ॥३७०॥ अतः सार शब्द रूप वेदादि जो कहे, सो कर्तव्य कर्म विचारादि करो, सर्वसाक्षी स्वरूप आत्मा को जानकर कुकामादि को त्यागो।

और काम आशा आदि में फंसाने वाले गुरुआ लोग (अज्ञगुरु) बड़े लबार (झूठे) होते हैं, सो अपने अपने लोभ के कारण ठाम ठाम में (सर्वत्र) बटवारी (वञ्चकता) करते हैं, सर्वत्र बटवार (ठग) बनते हैं। अतः उनके माया जाल से बचो ॥ ३७१ ॥

बरिया बीते बल घटे, केश पलटि भौ और।
बिगरा काज समार ले, कर छूटे नहिं ठौर ॥३७२॥

सामर्थ्यं विगतं सर्वं देहशक्तिश्च हीयते।
केशेषु पलितत्वं ते वैपरीत्यं च दृश्यते ॥२२॥
इदानीमपि नष्टं स्वं कार्यं साधो ! सुसाधय।
करावलम्बविश्लेषे स्थानं क्वापि न लभ्यते ॥२३॥
मध्ये वयस्यतो नष्टे वृद्धत्वे समुपस्थिते।
यथा शक्ति विचारेण विगुणार्थं सुसेधय ॥२४॥
अत्र चेन्मानवे देहे कार्यं न सेधयिष्यसि।
तर्हि ते नहि कुत्रापि स्थिते र्लाभो भविष्यति ॥२५॥
यो मानवं देहमवाप्य दुर्लभमाशानिवद्धो नहि वेत्ति चिद्घनम्।
वृद्धे शरीरेऽपि स चात्महा नरो लोभाद् व्रजन् संसृतिमेवदीयते ॥२६।३७२।

इति साक्षिसाक्षात्कारे दुराशानिवृत्त्यर्थोपदेशवर्णनं नाम
पञ्चपञ्चाशी वृत्तिः ॥ ५५ ॥

बल के घटने पर बरिया (बलिपन) बीत गया, या बरिया (बीरिया = समय) बीते और बल घट गये और केश कालेपन से पलटकर और (श्वेत) हो गये हों, तो इस वृद्धावस्थातक भी हो सके तो विगड़े हुए कार्यों को श्रवणादि द्वारा समार (सम्भार) लो (काम क्रोध लोभादि को त्यागकर मन को शुद्ध कर लो) और वह कार्य करो कि जिससे निज ठौर नहीं छूटे ([१]आत्म स्थिति हो) तथा इस अवसर के हाथ से छूटने पर कहीं ठौर नहीं मिलेगा। अतः अभी सम्भाल सुधार स्थिति करो ॥३७२॥

—— ❀ ——

१ संप्राप्यैनमृषयो ज्ञानतृप्ताः कृतात्मानो वीतरागाः प्रशान्ताः। तेसर्वगं सर्वतः प्राप्य धीरा युक्तात्मानः सर्वमेवाविशन्ति। मु० ३।२।५॥ ज्ञान से तृप्त कृतात्मा आत्मनिष्ठ, विरक्त प्रशान्त धीर ऋषि सब, योग युक्त होकर, व्यापक आत्मा को सर्वत्र समझकर अन्त में सर्व में आविष्ट ब्रह्म स्वरूप होते हैं।

अथ कर्तव्यशीघ्रताविधानादि प्रकरण ५६

काल्हु करन ते आजु कर, आजु करन ते अब्ब ।
पल में परलय होयगा, बहुरि करेगा कब्ब ॥३७३॥

अमूल्योऽवसरो याति कालक्षेपो न युज्यते ।
अतः श्वः करणीयानि ह्यद्यैव कुरु मा चिरम् ॥ १ ॥
अद्यकार्यमिदानीं च कुरुष्व विधिपूर्वकम् ।
क्षणाद्धि प्रलये जाते पुनस्त्वं किं करिष्यसि ॥ २ ॥
"श्वः कार्यमद्य कुर्वीत पूर्वाह्णे चापराह्णिकम् ।
नहि प्रतीक्षते मृत्युः कृतमस्य न वाकृतम्" ॥ ३ ॥३७३॥

जो कर्तव्य कर्मदान भजनादि काल्ह (अगले दिन) करना आवश्यक है, सो कर्तव्य कर्मादि आज (वर्तमान दिन) में हो सकता हो तो आज ही कर लो । जो आज किसी समय करना हो, ते (वे) कार्य अब्ब (अभी) कर लो, क्योंकि कदाचित् पल मात्र में प्रलय (मरण) हो जायगा, तो बहुरि (फिर) तुम उस कार्य को कब (किस समय) करेगा ! अर्थात् इस मानवावस्था के कर्तव्यों को मरने पर कभी नहीं कर सकेगा । अतः कर्तव्यों को शीघ्र करो और बिगरे हुए कार्यों को शीघ्र सुधारो । प्रायश्चित तप आदि से किए हुए पापों को निवृत्ति करो ॥३७३॥

टाला टोली दिन गया, ब्याज बढ़न्ता जाय ।
न हरि भजै न खत फटै, काल पहूँचा आय ॥३७४॥

श्वः परश्वः करिष्येऽहं भक्तिं चेति प्रजल्पतः ।
अत्यगाद्बहुकालोऽयं नष्टा कर्मलिपि नहि ॥ ४ ॥
श्वः परश्वः प्रदास्येऽहमृणमेवं प्रजल्पतः ।
कालंयापयतः कालो यातो वृद्धिश्च वर्द्धते ॥ ५ ॥
कुरुते न नरो यावद्धरेः सर्वात्मनो हृदि ।
भक्तिं वै वर्द्धते तावदृणं कर्म सुसंचितम् ।
कुसीदकर्मवृद्धौ च कर्मलिप्यां स्थितौ तथा ।
महाकालोऽयमागत्य न जाने कुत्र नेष्यति ॥ ७ ॥
अनादिरोगशान्त्यर्थं गत्वा सद्गुरुसन्निधौ ।
अनामयाय नायं तु पृच्छति स्वादरं जनः ॥ ८ ॥

टाला टोली (कर्तव्य को कल्ह परले दिन) करते में बहुत दिन गया, और सब पापों का प्रायश्चित रूप सब कुरोगों का औषध रूप हरि भजनादि किया नहीं गया, तो ब्याज (कर्ज दिए बिना सूद) की तरह कर्म वासना आदि बढ़ते ही जाते हैं, और सर्वात्मा हरि को समझकर जबतक मनुष्य हरि का भजन नहीं करता है। तब तक कर्म लेखरूप पत्र नहीं फटता है। अज्ञानादि निवृत्त नहीं होते हैं और इस अवस्था में यदि काल आ पहुँचा, तो फिर कुछ किया नहीं जा सकता है। अतः शीघ्र ही भजन कर्तव्य है ॥३७४॥

कबिर वैद्य बोलाइया, पकरि दिखाई बाहिं।
वेदन बैद्य न जानई, कफ्फ कलेजे माहिं ॥३७५॥
राम नाम जान्यो नहीं, लागि मोटी खोरि।
काया हाँड़ी काठ की, ना वह चढ़ै बहोरि ॥३७६॥

योऽन्तराधिं न जानाति श्लेष्माणं न हृदि स्थितम्।
भिषजं तं समाहूय ग्राहयित्वा करं तथा ॥ ९ ॥
मूढो गुरुं न पृष्ट्वैव यदि पृच्छति तं हितम्।
चिन्तयति स्वयं चेत्स किं करोतु तथाप्यसौ ॥१०॥
मोहाद्गुरुं न पृष्ट्वैव वञ्चकं यदि पृच्छति।
संसारे सारबुद्ध्या स खिद्यते हृद्रुजा मुहुः ॥११॥
यो हृद्रोगं न जानाति तमोग्रस्तं हितं नरम्।
पृच्छत्याहूय मन्दश्चेत् किं करोतु स मन्दधीः ॥१२॥
आत्मरामं न चेद् वेत्ति रामनामामृताक्षरम्।
महादोषस्ततो मोहोऽलगत्कामादिकस्तथा ॥१३॥
आत्मरामं न चेद् वेत्ति सद्गुरोः सङ्गमन्तरा।
महादोषस्य मोहस्य भागीभवति स स्वयम् ॥१४॥
काष्ठस्थालीसमो देहस्तापाच्छीघ्रं विनश्यति।
जीवः कर्मवशे प्राप्तस्तप्यते सर्वयोनिषु ॥१५॥३७६॥

काल की वशिता में यह भी कारण है कि जो वैद्य (गुरु) शिष्य के कलेजे (हृदय) में वर्तमान कफ (काम अविद्या आदि) को नहीं जानता है। न कामादि जन्य वेदन (वेदना) को जानता है। या जो वेदन (वेदों) को ज्ञानप्रद शास्त्र उपदेशों को जो नहीं जानता है। उस वैद्य (गुरु) को शिष्यों (रोगियों) ने बोलाया और अपने बाँह (हाथ) पकड़वा कर देखाया इससे

कालजन्य रोग कष्ट से रहित नहीं हो सका ।। ३७५ ।। क्योंकि सद्गुरु के बिना सब रोगों की औषधिरूप राम नाम को वे लोग नहीं जान सके और विपरीत औषधि से मोटी (भारी बड़ी) राग-द्वेषादि रूप खोरी (दोष रोग) वेदना लग गई । जिससे कोई कार्य करने नहीं पाया और यह काया (देह) तो काठ की हाँड़ी तुल्य है । अतः बहोरि (फिर) दूसरी बार अग्नितुल्य ताप पर नहीं चढ़ती है, एक ही किसी ताप से नष्ट हो जाती है । अतः सद्गुरु से मिलकर राम नाम औषधि को भी शीघ्र ही प्राप्त कर्तव्य है, कहा गया है कि— "राम नाम की औषधी, सतगुरु दई बताय । औषधि खाय रु पथ रहै, ताकी वेदन जाय ।। अङ्ग की साखी" ।। ३७६ ।।

जानै सो पूछै नहीं, पूछि करै नहिं गौन ।
अन्धे को अन्धा मिला, पन्थ बतावै कौन ।।३७७।।
एक शब्द में सब कहा, सबहीं अर्थ विचार ।
भजिये निर्गुण राम को, तजिये विषय विकार ।।३७८।।

तापेऽप्युपस्थिते लोको ज्ञं पृष्ट्वा नैति सत्पथे ।
अन्धो मिलति चेदन्धैः मार्गं को दर्शयिष्यति ।।१६।।
प्राज्ञं पृच्छति नो मूढः पृष्ट्वा गच्छति नो पथि ।
व्यध्वे गच्छति चेदन्धैः कथं नात्र पतिष्यति ।।१७।।३७७।।
विकारान् विषयाँस्त्यक्त्वा भजस्व निर्गुणं हरिम् ।
रामनामानमित्येवं गुरुराहैकवाक्यतः ।।१८।।
सवार्थो वर्तते चात्र विचारः परमस्तथा ।
अनेनैवोपदेशेन नरः कुर्वंस्तरेद्भवम् ।।१९।।
भजनं चिन्तनं तस्य ध्यानं श्रवणमादरात् ।
सत्सङ्गश्च सदाचारः साधुसेवा यथोचिता ।।२०।।
कामक्रोधादिकं हिंसां त्यक्त्वा दम्भादिकं तथा ।
दीने दयादिकं सर्वं मोक्षसाधनमुत्तमम् ।।२१।।३७८।।

कुमार्ग में तापों से तप्त होता हुआ भी यह जीव मोहादिवश जाने सो (ब्रह्मज्ञानी गुरु) से जानने वालों से ज्ञान मार्गादि को नहीं पूछता है, दैवयोग से पूछने पर भी (पूछकर भी) उपदिष्ट मार्ग से गौन गमन नहीं करता है । किन्तु एक अन्धे (अज्ञ) को दूसरा अन्धा (अज्ञ) यदि मिला भी तो स्वर्ग अपवर्गादि के पन्थों (मार्गों) को कौन किसको बतावे इस अवस्था में दोनों

भटकते हैं ॥३७७॥ अन्य लोगों ने बहुत शब्दों का विस्तार किया है। परन्तु सद्गुरु ने तो एक शब्द (आधी साखी = वाक्य) ओंकार में ही सब ज्ञातव्य निर्गुण-सगुण अर्थों को जड़-चेतनादिरूप अर्थों को कहा है और सभी अर्थों के विचारों को कहा है। अतः श्रीकबीर साहब कहते हैं कि ओंकारादि द्वारा सद्गुरु से निर्गुण राम को समझकर निर्गुण राम को भजो, और माया के विकार (कार्य) विषयादि को त्यागो, मन के विकार कामादि को त्यागो। एक शब्द (वचन) में सब अर्थ को सब विचार करके कहा गया है कि निर्गुण राम को भजो और विकार = निषिद्ध बुरे विषयों को त्यागो। यहाँ निर्गुण शब्द से शब्दादि विशेष गुणयुक्त शरीरादि का निवारण किया गया है। सर्व-ज्ञत्वादियुक्त को नहीं। अतः ईश्वर संभजनीय है, ब्रह्म ज्ञेय है ॥ ३७८ ॥

कबीर माया मोहिनी, भई अँधेरी लोय।
जे सूता तिहि मूसिया, रहे वस्तु को रोय ॥३७९॥

मायैषा[1] मोहनी शश्वदकुर्वन् मोहमाप्नुवन्।
तयाऽपहृतसर्वस्वो मोहान्धोरोदिति ध्रुवम् ॥२२॥
अविद्यारजनीसुप्तो मोहस्वप्नयुतो नरः।
तमः कामसमाच्छन्नो न सत्यं वेत्ति वै स्थितम् ॥२३॥
ततस्तदर्थमप्येष नष्टं मत्वा प्ररोदिति।
स्वप्नवच्चैव सर्वत्र विपरीतं स पश्यति ॥२४॥
विपरीतकरी माया नश्यत्येषा विवेकिषु।
मोहान्धकारसम्बन्धः पुनस्तत्र न जायते ॥२५॥३७९॥

राम भजन और विकारों विषयों को त्यागे बिना जीवों को माया मोहिनी (मोहने वाली) है कि जिससे लोय (लोगों) में अँधेरो भई हैं (अविद्या तम छा रही है) और इस अविद्या रूप रात्रि में जो मोहनिन्द से सूता (सोया) उसके निर्गुण सुख स्वरूप को वह माया ने अविद्या कामादि रूप से मूस लिया (आवरणादि शक्ति से छिपा दिया)। अतः रहे (वर्तमान ही) सुख स्व-रूप वस्तु के लिये जीव रोते हैं। तथा सत्यात्मा के छिपने से अन्य वस्तु के लिये रो रहे हैं। अतः भजनादि अवश्य कर्तव्य हैं ॥३७९॥

---

१ आब्रह्म स्तम्बपर्यन्तं दृश्यते श्रूयते च यत्। सैषा प्रकृतिरित्युक्ता सैव मायेति कीर्तिता ॥१॥ अध्यात्मरा० २।६।५०॥ योषिद्रूपा च मायैषा सर्वेषां मोहकारिणी। लीलया कुरुते मोहं स्वात्मारामस्यसन्ततम् ॥१२ दुःखबीजं सुखं

पहिले दही जमाइया, पीछे दुहिया गाय।
बछवा वाके पेट में, गोरस हाट बिकाय ॥३८०॥

सर्वस्य हृदये माया विकारमदधाद्दधि।
ततो रागादिकं दुग्धं तया प्रकटितं तथा ॥२६॥
समुद्भवे च रागादे र्निमित्तः सर्व सम्भवः।
सर्वात्मा हरिरव्यक्ते ह्यन्तरेवाविशत्स्वयम् ॥२७॥
मायायां गवि चावृत्त्या शक्त्या संछादिते हरौ।
तस्या विकाररूपोऽयं रसो वै क्रीयते जनैः ॥२८॥

यावन्न चात्मा परिदृश्यते स्वयं बुद्धः सदानन्दनिरञ्जनो हृदि।
तावद्धि मायाऽतिविमोह कारिणी देवं च संवार्यविकारहारिणी ॥२९॥३८०॥

इति साक्षिसाक्षात्कारे कर्तव्यशीघ्रतादिवर्णनं नाम षटपञ्चाशीविंत्तिः ॥५६॥

उक्त मोहने वाली माया ने सबके हृदयों में प्रथम भूत भौतिक स्थूल कार्य रूप दधि को जमाया (इनमें आसक्ति सत्य सुखदादि बुद्धि कराई) फिर सुख दुःख मोह रूप, रागद्वेष मोहरूप, कामक्रोध लोभ रूप दूध को अविद्या बुद्धि रूप गाय से दूहा (प्रकट किया) तब सबके निमित्त कारण रूप वछवा तुल्य सर्वात्मा ईश्वर, उस माया अविद्या बुद्धि कोश रूप उस गाय के पेट में= (अन्दर में) छिप गया (गर्भगत वत्स के समान अदृश्य अलक्ष्य हो गया) अतः संसार रूप हाट में इन्द्रिय रूप गौ के लिये विषय जन्य मिथ्या आनन्द रूप रस हो विकता है (कर्मादि द्वारा मिलता है) ब्रह्मानन्द नहीं मिलता है, न नित्य तृप्ति मुक्ति होती है ॥ ३८० ॥

——*——

अथादृश्यसर्वाधारसाक्षिवर्णन प्र० ५७

देखी तो सब कहत हैं, अनदेखी नहिं कोय।
अनदेखी तो सो कहै, भीतर पैठा होय ॥३८१॥
चिड़िया तो तिल भर नहीं, डैना है नव हाथ।
भरि भरि मांस परोसई, खलरी अठारह हाथ ॥३८२॥

मत्वा मूढाश्च दैव दोषतः। परस्त्रीसेवनं प्रोत्या कुर्वन्ति सततं मुदा ॥२॥
विपत्तिः सततं तस्य परवस्तु यन्मनः। विशेषतः परस्त्रीषु सुवर्णेषु च भूमिषु ॥३॥
ब्रह्म वैवर्तपु० कृष्णजन्म खं० अ० ॥३५॥

हरौ हि मायायाऽऽच्छन्ने दृश्यं सर्वे वदन्ति च ।
नादृश्यं साक्षिणां नित्यं विवेकादि विना नराः ॥ १ ॥
विवेकेन तु मायायां प्रविष्टो वै हरिं वदेत् ।
एकं सत्यं चिदानन्दं पश्येदन्यं मृषात्मकम् ॥२॥३८१॥
माया पक्षिमहासूक्ष्मा तिलमात्रा न मानतः ।
प्राणान्तःकरणैः पक्षै भूतेन्द्रियगुणत्वचा ॥ ३ ॥
युक्ता सैव च कामिभ्य एतै विषयमांसकम् ।
ददाति नैव सत्तत्त्वं दातुमर्हति सा स्वयम् ॥ ४ ॥३८२॥

उक्त गौ के अन्दर सर्वात्मा हरि के छिप जाने से देखी (दृश्य) अनात्म मिथ्या वस्तु को तो सब कहते हैं, उसकी चर्चा करते हैं । परन्तु अनदेखी (अदृश्य) सर्वात्मा की बात को कोई नहीं कहता है । क्योंकि उस अदृश्य की बात को तो सोई कहेगा कि जो विवेक विज्ञान द्वारा उन गौवों के भीतर पैठा होगा । अतः वही सद्गुरु भी होगा अन्य नहीं ॥३८१॥ "वालाग्रशत-भागस्य शतधा कल्पितस्य च । भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्ताय कल्पते । श्वेता० ५ । ६" बालाग्र के कल्पित सौ भाग के कल्पित सौ भाग तुल्य भाग (चिदंश) जीव है, सो सूक्ष्म शरीर रूप उपाधि से ऐसा हुआ है, और सत्य स्वरूप से अनन्तता के लिये समर्थ है । अतः सूक्ष्ममायिक शरीर वाला उड़ाकू जीव रूप चिड़िया तो तिल भर भी नहीं है, तो भी उसकी गति के साधन रूप डैना (पंखा) चार अन्तःकरण और पांच प्राण रूप नव हाथ के हैं (नव = नौ हैं) और पाँच भूत दश इन्द्रिय तीन गुण, ये अठारह हाथ की खाल हैं, सो मानो, माया के ही हैं । अतः इनमें ही भर भर कर माया जीवों के लिये विषय रूप मांस परोसती है । फिर उसके भोग में भूला हुआ जीव भीतर नहीं पैठने पाता है, न आत्मा-राम को देखता है ॥ ३८२ ॥

चींटी निकलि बजार में, नव मन कज्जल लाय ।
हाथी लिहिस गोद में, ऊँट लिहिस लटकाय ॥३८३॥
तीन लोक लीटी भया, गीध लिये मड़राय ।
मैं तोहि पूछौं पण्डिता, कौन वृक्ष चढ़ि खाय ॥३८४॥

पिपीलिका मनो माया सूक्ष्मा कुश्रवणादिजम् ।
कज्जलं नवधा पापं नवधैव जगत्तथा ॥ ५ ॥

लोकादिद्वीपमादाय देवाद्यं च क्रमेलकम् ।
अङ्के कृत्वाऽत्र हट्टे सा व्यवहारं करोति वै ॥ ६ ॥
व्यवहारवती सैव सत्यात्मा निर्गुणोऽक्रियः ।
इति योऽत्राभिजानाति स भूयो नेह जायते ॥७॥३८३॥
लोकत्रयमिदं जातं लघुमार्जीषसन्निभम् ।
मनोमायामयो गृध्रो गृहीत्वा भ्राम्यतीव तत् ॥ ८ ॥
तस्मिन् विचार्यतां विद्वन् कुत्र स्थित्वा तदत्ति सः ।
तदधिष्ठानविज्ञानाज्जीवन्मुक्तो भविष्यसि ॥ ९ ॥
स्यात्करपट्टिकासूक्ष्मा यथैवं हि जगत्त्रयम् ।
मायामयं चलं शश्वदसत्यं क्षणभंगुरम् ॥१०॥
विभुरात्माऽचलं ब्रह्म सर्वाधिष्ठानमद्वयम् ।
स वृक्षो न ततोऽन्यत्सब्ज्ञात्वैवैवं विमुच्यते ॥११॥३८४॥

जीव के भीतर नहीं पैठने से बुद्धि रूप चींटी बाहर संसार रूप बाजार में निकली है, और तन मन वचन से होने वाले नवधा पाप तथा नवधा संसार रूप काजर लाई (प्राप्त की) है या काजर को लाय (लाद) कर निकली है । मस्त हाथी रूप मन को अपने गोद में लिया है, और बली अहङ्कारादि रूप ऊंट को भी लटका लिया है । अर्थात् दुर्बुद्धि से सर्वथा बाह्य प्रवृत्ति होती है । तथा माया मन रूप चींटी होकर संसार में निकली है, ब्रह्माण्ड लोक रूप हाथी को गोद में ली है । विराट देवादि को लटका लिया है । मनो माया ही चित् सत्ता से अनायास सब कार्य करती है, ब्रह्मात्मा असङ्ग रहता है ॥ ३८३ ॥

उपदेश देकर अन्त में शिष्य की परीक्षा कर्तव्य होती है, इस आशय से प्रश्न है कि तीनों लोक एक लीटी (छोटी रोटी) भया (हुआ) है, और उसको लिये हुए अशुद्ध मन रूप गीध मड़राता है । (तीनों लोकों के भोगों की वासना कामना से मन घूमता भटकता है) और मन के अधीन जीव चक्कर लगा रहा है । तहाँ हे पण्डितो ! विवेकी शिष्यो ! मैं तुमसे पूछता हूँ कि वह कौन वृक्ष पर चढ़कर अपनी वासनाओं के अनुसार उस लीटी को खाता है । (तीनों लोकों के भोगों को किसके आश्रित रहकर भोगता है, भोक्ता भोग्य और भोग का आधार कौन है, या ये निराधार हैं ॥३८४॥

आँगन बेलि अकाश फल, अनब्यानी के दूध ।
शशा सींग के धनुष करि, खेले बाँझक पूत ॥३८५॥

इति श्रीसद्गुरुकबीरकृतेविविध बन्धबीजविध्वंसने बीजक नाम्निग्रन्थे साक्षिस्वरूपप्रदर्शकं नामैकादशमं साखी प्रकरणं समाप्तम् ॥११॥

❀ समाप्तश्चायं बीजकग्रन्थः ❀

हृदये सर्गाजिरे चैषा माया बेल्ल्यवलम्बिता ।
फलत्येषा चिदाकाशे तस्य सत्ता प्रकाशतः ॥ १२ ॥
सत्तया भासमानं च चित्सत्त्वेन जगत् खलु ।
वस्तुतोऽधेनुदुग्धेन तुल्यं चेदमसत्सदा ॥१३॥
अहो तथापि बन्ध्याया मायास्तनुजा इमे ।
शशशृङ्गसमं शास्त्रं कर्मादिकमऽसन्मयम् ॥१४॥
धनुर्विधाय तेनैव क्रीडन्ति भुवने वने ।
त्रिवर्गं प्राप्नुवन्त्यत्र नापवर्गं गुरुं विना ॥१५॥
सर्वाधारमधिष्ठानं सत्यमानन्दविग्रहम् ।
निर्द्वन्द्वं हि हरिं ज्ञात्वा साक्षिवद्विज्वरोस्म्यहम् ॥१६॥
सर्वाधारं परं शुद्धं निर्द्वन्द्वमव्ययं हरिम् ।
साक्षिरूपं तमात्मानं ज्ञात्वैव विज्वरो भवेत् ॥१७॥
गुरोः करुणायाऽऽत्मत्वं ब्रह्मत्वं साक्षिता स्वयम् ।
जीवस्य हि यतस्तस्माद्वन्द्वे तं करुणानिधिम् ॥१८॥

गुरुवरं हृदयङ्गमरूपिणं हृदयभावजुषं सुमनोहरम् ।
भवहरं विजरं नयशालिनं परतरं जगतः प्रणमाम्यहम् ॥१९॥
गुरुवचोऽमृतपानपरं मनो भजति सान्द्ररसं हि यतस्ततः ।
प्रचुरबोधकरं तमसः परं परतरं जगतो गुरुमाश्रये ॥२०॥
कबिरनामयुतं सुकलेवरं निखिलनामपरं स्वमनोगतम् ।
कबिवरं करुणाकरमादरात् परतरं जगतः प्रणमाम्यहम् ॥२१॥
कलिमलापहरं हरिरूपिणं हरसखं विमलं गुणवर्जितम् ।
विधिविधानपरं विधिरूपिणं विरजसं रजसः खलु साक्षिणम् ॥२२॥
श्रुतिशिरःप्रतिपादितमव्ययं हरिमिमं सदमायिनमक्षयम् ।
जयकरं विमलं जयशालिनं विजयिनं जगतः प्रणमाम्यहम् ॥२३॥

हनुमतो हृदि तापहरं विधुं सकलविघ्नहरं तु विनायकम्।
तिमिरराशिहरं हरिरूपिणं परतरं जगतः प्रणमाम्यहम् ॥२४।३८५॥

इति साक्षिसाक्षात्कारेऽदृश्यसर्वाधारसाक्षिस्वरूपवर्णनं नाम सप्तपञ्चाशी
विंत्तिः ॥५७॥ ❀ समाप्तोऽयंससाक्षिसाक्षात्कारः ❀

"मन माया दुइ एक है, माया मनहिं समाय" इस पूर्वोक्त उपदेश के अनुसार शिष्य कहता है कि हृदय या संसार रूप आँगन (अजिर) में मनबुद्धि या माया देह रूप बेली लगती है, उसके अर्थ धर्म काम रूप या सुख दुःख रूप फल चिदाकाश में लगते हैं (प्रतीत होते हैं) सो फल अनव्यानी (बन्ध्या = बाँझ) गौ के दूध के समान मिथ्या कल्पित होते हैं। तो भी बन्ध्या माया के पुत्र रूप मन युक्त जीव सब शशा श्रृङ्गतुल्य शास्त्रादि के धनुष बनाकर उन फलों के ही लिये शिकार खेल रहे हैं (कर्मादि कर रहे हैं) अर्थात् चिदाकाश में रहकर उक्तजीव लीटी खाता है, चिदाकश में ही भोक्ता भोग्य भोगादि सब माया से सिद्ध होते हैं। अतः सब त्रिपुटी का चिदाकाश ही आधार और अधिष्ठान है। अन्य नहीं वही सर्वात्मा निर्विकार साक्षी है। कल्पित वस्तु के साथ जो सत्य वस्तु का सामान्य स्वरूप भाषता है, उसको यहाँ आधार कहा गया है। जिस स्वरूप के ज्ञान से कल्पित की निवृत्ति होती है, उस विशेष स्वरूप को अधिष्ठान कहते हैं—

सुजन जनों के हित लिये, हिन्दी टीका सार।
लिखिया यह हनुमान ने, हरि गुरु पद उर धार॥ १॥
न्यूनाधिक सुविचार के, पढ़िये सुजन सुधार।
पाइय परम स्वरूप को, जाइय भवदुख पार॥ २॥
साहब हैं सर्वातमा, सबके हृदया माहिं।
मिलना तो अति सहज है, जन खोजी हैं नाहिं॥ ३॥
खोजी को सहजे मिलैं, जो जन होय निराश।
हरि गुरु हैं आगे सदा, सकल सिद्धि ले पास॥ ४॥
वन्दो सद्गुरु सर्वहित, सर्वातम जगदीश।
विमल देव व्यापक परम, सबहि नमावो शीश॥ ५॥ ३८५॥

इति श्रीसद्गुरुकबीरसाहबकृत बीजक का स्वामीश्रीहनुमान दासजी
साहब षट्शास्त्री बिरचित स्वल्पाक्षराहिन्दी व्याख्या
एकादश साखी प्रकरण समाप्त॥ ११॥

❀ ॐ ❀

* ओम् राम *

–: श्रीसद्गुरु :–

कबीर साहब कृत बीजक

[स्वानुभूतिसंस्कृतस्वल्पाक्षराहिन्दीव्याख्यासहित]

अथ द्वादश परिशिष्ट साखी प्रकरण

वन्दे भवाम्भोधिपरं विशुद्धं देवं सदानन्दघनं हृदिस्थम् ।
चिदम्बरं साम्बरविश्ववासं त्रासो यतो नैव भवेन्न नाशः ॥ १ ॥

प्रथमा वित्तिः

साखि पुरन्दर ढहि परे, विवि· अक्षर युग चार ।
रसना रम्भण होत है, करि न सकै निरुआर ॥१॥
केते मनवौं पाँव परि, केते मनवौं रोय ।
हिन्दू पूजै देवता, तुरुक न काहुक होय ॥२॥

साक्षिरूपाद्धि विभ्रष्टो जीव इन्द्रोऽक्षरद्वयम् ।
वेत्ति तस्य रसज्ञायास्तदेवारभ्यते मुहुः ॥ १ ॥
साक्षीन्द्रात्पतितो जीवो नामधेयं जपन् तु वा ।
भवाब्धौ वर्तते नैव विवेकोऽस्त्यस्य तावता ॥ २ ॥
यावन्नायं विचारादि कुरुते सावधानतः ।
नाममात्राद् भवेदस्य कथं सन्निर्णयोऽमलः ॥ ३ ॥१॥
विवेकादि विना चार्या देवानेव हि मन्वते ।
म्लेच्छास्तु नैव किञ्चिद्धि नास्तिकाभिन्नवृत्तयः ॥ ४ ॥
पतित्वा पादयो र्वाऽस्य रोदित्वा वा मुहुस्तथा ।
बोधितो नैति सन्मार्गे बिभेति सर्वतस्ततः ॥ ५ ॥२॥

साक्षीस्वरूप (पुरन्दर) इन्द्र = परमात्मा से ढह (गिर) कर जीव सब संसार में पड़े हैं, और इनकी रसनाओं से विवि (द्वैतमय या राम शिव हरि हो दो) अक्षरो का ही आरम्भण (ऊच्चारण) चारो युगो में प्रायः होते हैं ।

अतः विवेकादि के बिना संसार का निरुआर (अभाव) नहीं कर सकते हैं और संसार दुःख की निवृत्ति के लिये विवेकादिक ही कर्तव्य हैं ॥१॥ सद्विवेक परमात्म भजनादिके लिये पाँव पकड़कर रोकर कितनाहूँ मनाने (समझाने) पर भी जन्मान्तरवादी हिन्दू देवताओं को पूजते हैं। नास्तिक तुरुक किसी के भक्त पूजक नहीं होते हैं, साक्षीस्वरूप को समझना तो उनसे अत्यन्त दूर रहता है। क्योंकि किसी के सदुपदेश को नहीं मानते हैं ॥ २ ॥

धीमर जाल पसारि के, आपु गया अरुझाय।
ताके पाछे मच्छ सब, जाले जाल समाय ॥३॥
साधू राम न मिलिया, पहुँचे जाय अनन्त।
कहहिं कबीर पुकारि के, गावहु जाय बसन्त ॥४॥

वञ्चका मत्स्यघातीव शब्दजालं विधाय वै।
स्वयं तत्रैव ते बद्धास्ततस्त्वन्येऽनुयायिनः ॥ ६ ॥
भक्ति सद्धर्मयोगादीन्नास्तिका मन्वते नहि।
तानाहु र्जालरूपांस्ते तत्कर्तृंश्च विडम्बकान् ॥ ७ ॥
तन्न युक्तं यतो लोके नेत्थं भूतोऽस्ति वञ्चकः।
यः सर्वस्वं परित्यज्य जनान् प्रवञ्चयेत वै ॥ ८ ॥
तपो योगादिभि र्नैव वञ्चना कापि सम्भवेत्।
शब्दजालै र्भवेत्सा तु पश्यन्तु कुसुमाञ्जलौ ॥ ९ ॥३॥
रामेण साधुना सार्द्धं मिलत्येव न मन्दधीः।
सोऽनन्ते जगतां जाले निबद्धो भ्रमति भ्रमात् ॥१०॥
अतः साधून् समाश्रित्य मिलित्वा रामरूपतः।
सर्वत्रावासिनं ज्ञात्वा रामं भजत सज्जनाः ॥११॥४॥

वञ्चक गुरु देवादि रूप धीमर शब्दजाल, मायाजाल पसार कर उसमें अरुझाय (फँस) गये, उनके पीछे मछली की तरह जीव सब शब्दजाल मायाजालों में समाने लगे। क्योंकि माता-पिता आदि जिस मोहादि जाल में रहते हैं, पुत्र-पौत्रादि स्वभाव से ही उसमें प्रवृत्त होते हैं। विवेकी भक्त ज्ञानी योगी कोई विरल होता है। नास्तिक कहते हैं कि आचार्य लोग योग-ध्यानादि रूप पाखण्ड रचकर परवञ्चनार्थ उसमें आप फंस गये, परन्तु सो कहना ठीक नहीं। क्योंकि सर्वस्व त्यागादि से वञ्चना नहीं होती है, आचार्यों ने सर्वस्व त्यागादि किया है। किन्तु नास्तिकोंके शब्दजाल, मायाजालसे तो वञ्चना होती है ॥३॥

नास्तिक आदि के शब्द जाल माया जाल में फंसने से जीव सब साधु (सच्चे) राम से नहीं मिल सके तथा साधु कहलानेवाले भी राम से नहीं मिल सके, किन्तु अनन्त लोकादि माया जाल में जाय पहुँचे। अतः श्रीकबीर साहब कहते हैं कि अब भी सत्सङ्गादि में जाकर वसन्त (सर्वनिवासी पर्वाश्रय) राम को गावो, ध्यावो भजो ॥ नास्तिकों की बातों में नहीं भूलो ॥४॥

नारि कहावै पीव की, रहै और संग सोय।
जार मीत हृदया बसे, खसम खुशी क्यो होय ॥५॥
साँच कहों तो मारिया, झूठही लागु पियारि।
मो शिर ढारे ढेकुरी, सींचे और कियारि ॥६॥

पत्यु र्या कथ्यते नारी साऽन्यैः स्वपिति चेदिह।
जारो वसति चेतस्वान्ते पतिः केन प्रसीदतु ॥१२॥
भक्तिः पतिव्रताधर्मः साधुभिः परिपूजितः।
एतेनैव विना बुद्धिः कुलटेव न शाम्यतिः।
बुद्धिश्चेन च रामेण सज्जते दारुणाऽसती।
सर्वात्मा हरिरव्यग्रः कथमस्मैः प्रसीदतु ॥१४॥५॥
बुद्धेश्चानात्मसङ्गेन सत्यात् क्रुद्ध्वाहि ताडयन्।
असत्यं च प्रियं मत्वा तत्रैवाऽयं निमज्जति ॥१५॥
गुरोर्नाम गृहीत्वा चासत्य सन्धो नरः सदा।
धावते जन्म जन्माते निवृत्तिं लभते नहि ॥१६॥
भारं शिरसि मे कृत्वा सिञ्चत्यन्यस्य चेन्नरः।
चेदारं सर्वदा मूढःसत्यं स लभतां कथम् ॥१७॥६॥

अविवेकी लोग, सद्गुरु परमात्मा की नारी (भक्त) कहलाते हैं। परन्तु प्रायः और (अनात्मा देव विषयादि अन्य) के सङ्ग में सोये (लगे आसक्त) रहते हैं। इस प्रकार से यदि जार (जीर्णता युक्त) निरीश्वर असत पति ही हृदय में बसता है तो खसम (आकाश तुल्य असङ्ग सर्वसाक्षी स्वरूप स्वामी) खुसी (प्रसन्न) प्रत्यक्ष कैसे हो, उसकी प्रत्यक्षता के लिये अन्य का संग त्याज्य है ॥५॥ साँच (सत्य) सर्वसाक्षी स्वरूप की बातों को कहने पर अविवेकी लोग मारते हैं, क्योंकि उनको झूठ (मिथ्या) ही प्रिय लगता है, और वे लोग मोशिर (गुरु के शिर पर) ढेकुरी ढार (धर) कर = डार कर, अन्य कियारी को सींचते हैं गुरु ईश्वर के नामों को लेकर अनात्मरत रहते हैं ॥६॥

दृष्टिहि माहिं विचार है, बूझै विरला कोय।
चरम दृष्टि छूटै नहीं, नाते शब्दी होय ॥७॥

दृष्टिष्वेव विचारोऽऽत्र कर्तव्योऽस्ति हि साक्षिणः।
विरलाः केऽपि जानन्ति तज्ज्ञानेन विना ततः ॥१८॥
नश्यति चर्मदृष्टि र्न शब्दी भवति मानवः।
विचारेण तु तज्ज्ञाने चरमां दृष्टिमाप्नुयात् ॥१९॥
सत्यसन्धो नरो यस्तु तस्यातिनिकटे हरिः।
ज्ञान वृत्तिषु सर्वासु विचारेणाऽऽशु लक्ष्यते ॥२०॥
मनोवृत्तौ विचारेण साक्षिणं ह्यव्ययं हरिम्।
नरा नैवेह जानन्ति नाभिमानं त्यजन्त्यतः ॥२१॥
शरीरेऽभिमितिं कृत्वा नामजल्पनतत्पराः
दृश्यन्ते न विचारेण चरमज्ञानभागिनः ॥२२॥
न मानहानि विषये न यस्य ग्लानि र्न भक्ति र्गुरुपादपद्मे।
बोधो विरागो न विचारयोगस्तस्माद्धरि र्दूरतरो हृदिस्थः ॥२३॥
विचारतोयश्चरमां सुदृष्टिं सम्पादयेच्चैव गुरौ सुभक्तिम्।
न तस्य सा क्वापि वियुज्यतेऽच्छा तस्मादसौ शब्दमयो न शब्दी ॥२४॥७॥

इतिसाक्षीसाक्षात्कारपरिशिष्टे प्रथमा वित्तिः ॥१॥

सत्य शब्द को मानने वालों के लिये दृष्टि (ज्ञान रूप मनोवृत्ति) में ही आत्म विचार सुलभ है। परन्तु इस विचार की रीति को विरला कोई बूझता (समझता) है कि जो देहाभिमानरूप चर्म दृष्टि को त्यागता है। सो चर्मदृष्टि लोगों की छूटती नहीं है। अतः केवल शब्दी (शब्द को कहने वाले) लोग होते हैं, दृष्टिगत साक्षी सत्यात्मा को नहीं समझते हैं। तथा दृष्टि गत के विचार को जानने पर चरम (अन्तिम) दृष्टि नहीं छूटती हैं। अतः वह ज्ञानी शब्दी (शब्दोंका अधिष्ठान) होता है, विकाररूप नामधेयमात्र देहाभिमानी नहीं होता है। "प्रज्ञानेत्रो लोकः प्रज्ञा प्रतिष्ठा प्रज्ञानं ब्रह्म। एतरेयोप०" ॥७॥

अथ द्वितीया वित्तिः

साधु भया तो क्या भया, बोलै नाहिं विचार।
हते पराई आतमा, जीभ लिये तरवार ॥८॥
मधुर वचन है औषधी, कटुक वचन है तीर।
श्रवण द्वार ह्वै संचरै, शालै शकल शरीर ॥९॥

योो न वक्ति विचार्येह न वा वेत्ति विचारणाम् ।
तस्य साधुसुवेषेण न किञ्चिद्भवत् फलम् ॥ १ ॥
साधुवेषं विधायाऽसावसत्यक्रूरभाषया ।
निहन्त्येव परात्मानं जिह्वानिस्त्रिंशकेन हि ॥ २ ॥८॥
मधुरं सत्यसंयुक्तं हितं च यद् भवेद् वचः ।
तत्परं ह्यौषधं लोके लोकद्वयकरं भवेत् ॥ ३ ॥
असत्यं चाप्रियं वाक्यं बाण तुल्यं भवेत् खलु ।
श्रोत्रेण हृदयं गत्वा हणात्येव कलेवरम् ॥ ४ ॥
"वाक् सायका वदनान्निष्पतन्ति यैराहतः शोचति रात्र्यहानि ।
परस्य नाममर्मसु ते पतन्ति तान् पाण्डितो नावसृजेत् परेषु" ॥५॥९॥

साधु भया (साधु का वेष किया) तो क्या भया (कौन फल मिला) यदि विचार कर बोलना नहीं जानता है । तो वह जीभ रूप तरवार लेकर पराई (अन्य की) आत्मा (देह मन) को हतता (घात पीड़ित करता) है । अतः साधु को विचार कर मधुर हित ही बोलना चाहिये ॥८॥ सत्य हित मधुर वचन औषधि का काम करता है, क्रुद्ध तप्त को शान्त करता है, और कटुक, क्रूर, परुष वचन तीर (बाण) का काम करता है । क्योंकि वह कटुक वचन श्रवण (कान) द्वारा होकर शरीर के अन्दर संचार (प्रवेश) करता है, और सम्पूर्ण शरीर में शालता (शूल पीडा उत्पन्न करता है ॥९॥

हीरों की बोरी नहीं, मलयागिरि नहिं पाँति ।
सिंहन के लेहँड़ा नहीं, साधु न चलै जमाँति ॥१०॥

हीरकाणां न वै भारो राशिर्वा दृश्यते क्वचित् ।
न पङ्क्ति र्मलयस्याथ सिंहानां यूथ एव वा ॥ ६ ॥
साधूनां निवहस्तद्वद् विचारिणां न दृश्यते ।
विज्ञानां समचित्तानां हितसत्य सुभाषिणाम् ॥७॥१०॥

हीरों की बोरी (भरी हुई बोरी) नहीं होती है । मलयागिरी की पाँति (पंक्ति) नहीं होती है । सिंहों के लेहड़ा (जूथ = झुण्ड) नहीं होता है, वैसे ही विचार शील साधुओं की जमात नहीं चलती है ॥१०॥

ढाढस देखु मर जिव के, धसि के पैठि पताल ।
जीव अँटक मानै नहीं, ले गहि निकला लाल ॥११॥

विरलत्वाद्धि साधूनां सर्वे साहसिका जनाः ।
वर्तन्ते साहसं तेषां निरीक्ष्यतां तु सज्जनैः ॥ ८ ॥

अविवेकेन ते मूढाः सुखरत्नस्य लब्धये।
समुद्रोपमगर्भादौ विशन्त्यायान्ति सादराः ॥९॥
मोक्षस्य दुर्लभत्वं तु ततो भवति सर्वथा।
तन्नैष गणयन्तस्ते जायन्ते सह वासनाः ॥१०॥
शोणरत्नं गृहीत्वेव गृहीत्वा गोगृहादिकम्।
जायन्ते च म्रियन्तेऽज्ञा ज्ञानिनो न कथञ्चन ॥ ११॥११॥

"जो बन सायर मूझते, रखिया लाल कराहिं" इस साखी के अनुसार, संसार समुद्र में अमूल्य लाल (रत्न) को जान कर इसमें गोता लगाने (डुबकी लगाने वाला) मर जीवा के ढाढस (साहस = हिम्मत) को देखो (समझो) कि यह सुख सम्पत्ति आदि के लोभ से पापादि करके, स्वयं गर्भ नरकादि कठिन पाताल में घस (गिर) कर पैठ जाता है। और वहाँ समुद्र में गोता लगाने वाले के समान जो अँटक लगता है (कठिनाई होती है) उसको नहीं मानता (समझता गिनता) है, किन्तु पुनः देह विषय कामादि लाल (रत्न) को ले कर (इनकी वासनादि सहित ही) गर्भादि से निकला है, और निकलता है, देहादि को ही आत्मरत्न सुखादि स्वरूप समझता है ॥११॥

रे मरजीवा अमरित पीवा, का धसि मरै पताल।
गुरु की दया साधु की सङ्गति, निकसि आव यह द्वार॥१२॥
दश द्वारे का पींजड़ा, तामें पक्षी पौन।
रहवे को आश्चर्य है, जात अचम्भा कौन ॥१३॥

अये जले मृतात्मानः पिबतात्मामृतं सदा।
पातालोपमगर्भादौ म्रियन्ते त्रुडिताः कथम् ॥१२॥
गुरूणां दयया शीघ्रं साधूनां सङ्गमात्तथा।
नरकाद् गर्भपाताला त्स्वात्मैवोद्ध्रियतां त्वया ॥१३॥
रत्नान्वेषीव सिन्धौ वै त्रुडित्वा म्रियतां नहि।
सुखेन तुच्छरत्नेन शान्ति र्जातु न जायते ॥१४॥१२॥
उद्घाटित नवद्वारं शरीरं पञ्जरोपमम्।
प्राणपक्षी यदत्रास्ते तदाश्चर्यं गतौ किमु ॥१५॥
उद्घाटितनवद्वारे दशद्वारयुते गृहे।
स्थिति र्न शाश्वती तस्मादाशु यत्नो विधीयताम् ॥१६॥१३॥

उपदेश है कि रे मर जीवा ! मर मर कर जीने (जन्मने) वाले अमृत (ब्रह्मानन्द) को जीते ही पीवो, पाताल में धस कर (डूब कर) क्या मरता है। गुरु की दया का पात्र बन कर गुरु की दया और साधु की सङ्गति रूप इस श्रेष्ठ द्वार से पाताल से निकल आवो ॥१२॥ दश द्वार वाला पींजड़ा के समान दश द्वार वाला शरीर है। और प्राण पक्षी के समान है, वह प्राण इसमें रहता (बिलमता) है, सोई आश्चर्य है, जाते (जाने) में कोई आश्चर्य नहीं है। अतः सत्सङ्गादि करके शीघ्र पाताल से निकलो ॥१३॥

जब लगि दिन पर दिल नहीं, तब लगि सब सुख नाहिं।
चारिउ युगन पुकारिया, सो संशय दिल माहिं ॥१४॥
बूझो करता आपना, मानो वचन हमार।
पाँच तत्त्व के भीतरे, जिस का यह विस्तार ॥१५॥

अपूर्वः समयो याति तं यावद् बुध्यते नहि।
तावन्न लभ्यते सर्वं सौख्यं ह्यत्रामृतात्मकम् ॥१४॥
दीने दयां विना तद्वद्धर्मे सद्ध्यानमन्तरा।
सौख्यं न लभते सर्वं सत्यमेतन्नसंशयः ॥१५॥
अतो युगेषु सर्वेषु ह्युपदेशेषु सत्स्वपि।
दृश्यन्ते संशयाक्रान्ता मनोद्वापरसंयुताः ॥१६॥१४॥
तस्माच्चात्रावधानेन कर्तारमात्मरूपिणम्।
शरीरे मन्यतां विद्वन् विस्तारोऽस्य चराचरम् ॥१७॥
विश्वासो वचनेऽस्माकं क्रियतां च सदा त्वया।
तस्यैव मननाद् ध्यानात् कर्तारं विद्धि च स्फुटम् ॥१८॥१५॥

यह जीव (मनुष्य) जब लगि (जब तक) दिन (समय) या दीन (धर्म दीन जन) पर दिल (मन) ध्यान नहीं देता है। तब लगि (तब तक) सब सुख = पूर्णानन्द = मोक्ष नहीं मिलता है। अतः महात्माओं ने चारो युगों में मोक्ष के साधनों को पुकार कर कहा है। परन्तु दिन पर दिल के देने के बिना सो मोक्ष का संशय ही दिल में रहता है। अर्थात् मानव तनु सम्बन्धी समय को स्वधर्मानुष्ठान दीन पर दया युक्त बीताने से निष्काम को मोक्ष का संशय नहीं होता है। अन्य को संशय होता है ॥१४॥

दिन पर दिल को लगा कर अपने स्वरूप भूत कर्ता को बूझो (समझो) और समझने के लिये हमारे (सद्गुरुओं के) वचनों को मानो (मनन करो= विचारो) यह कर्ता पाँचतत्त्व के कार्य रूप देह के भीतर में भी वर्तमान है।

और जिसका कार्य रूप यह बाहर भूत भौतिक सब विस्तार है। अतः बाहर सर्वत्र वर्तमान है, उसको विचारादि से समयादि के ज्ञान पूर्वक समझो। नीतिका वचन है कि "कः कालः कानि मित्राणि को देशः कौ व्ययाऽऽगमौ। कश्चाहं का च मे शक्तिरिति चिन्त्यं मुहुर्मुहुः ॥१॥" ॥१५॥

हम कर्ता तिहुं लोक का, हम पर दूसर नाहिं।
कहहिं कबिर हम नहिं चिन्हे, सकल समाना ताहिं ॥१६॥
सिंह अकेला बन रमै, पलक पलक करु दौर।
जैसा बन है आपना, तैसा बन है और ॥१७॥

अहं वै जगतः कर्ता परो मत्तो न विद्यते।
आत्मानं बुध्यते नैवं सर्वं तस्मिंश्च वर्तते ॥१९॥
अहं कर्ता त्रिलोक्या वै तुरीयः सत्प्रकाशकः।
प्रकृत्या कर्तृरूपोऽहं स्वरूपेण तु केवलः ॥२०॥
इति ज्ञात्वा सुधीर्नित्यं रागादिमलवर्जितः।
जीवन्मुक्तो विमुक्तश्च कृतकृत्यो हि जायते ॥२१॥१६॥
धन्यः पुरुषसिंहो यो विद्यते सद्विवेकवान्।
स इमं मानवं लोकमिव सर्वं प्रपश्यति ॥२२॥
मायामात्रं जगत् पश्यन्नद्वैते रमते सदा।
एकान्ते च स्थितः शश्वन्न स्वर्गमपि वाञ्छति ॥२३॥
स्वर्गादिकामं परिहाय धीरो वीरः सदा स्वेन्द्रियमानसेषु।
स्वप्नोपमं सर्वमिदं प्रपश्यन्नेकान्तवासी रमते स्वरूपे ॥२४॥१७॥

इति साक्षिसाक्षात्कारपरिशिष्टे द्वितीया विवृत्तिः ॥ २ ॥

समझो कि हम (हमारी आत्मा) ही माया अविद्या कर्म वासना आदि के द्वारा तीनों लोक (सब संसार) का कर्ता है, वह माया से ईश्वर है, वस्तुतः सच्चिदानन्द ब्रह्म है। और हम (आत्मा) से पर (उत्तम = भिन्न) कोई दूसरी वस्तु सत्य नहीं है श्रीकबीरसाहब कहते हैं कि जबतक हम (आत्मा) को व्यवहारिक जीव नहीं चीन्हता (जानता) है, प्रत्यक्ष अनुभव नहीं करता है, तबतक राग-द्वेषादि सब द्वन्द्व और जन्मादि कामादि सब संसार विकार उस जीव में समाये रहते हैं, आत्मज्ञान के विना द्वन्द्वादि नहीं निवृत्त होते हैं। अतः आत्मा ज्ञातव्य है ॥१६॥ जैसे सिंह वन में अकेला निर्भय विचरता रमता है, और समझता है कि जैसा मेरा बन है, वैसा ही अन्य भी है। तैसे

ही ज्ञानी भी संसार में असंग एकाकी रमता है, और पल पल में गौर (गौर= विचार) करता है कि जैसा यह अपना संसार मिथ्या मायामय है, ऐसा ही सब लोकादि है। अतः किसी लोक विभूति आदि की इच्छा ज्ञानी नहीं करता है, जीवन्मुक्त कहाता है ॥ १७ ॥

तृतीया वित्ति:

जो जियरा अकसर बसै, आश न राखै कोय।
कहहिं कबीर तिहि दुचित का, मिला मिलाया सोय ॥१८॥
घर महँ बैठा आपु बिराजै, बाहर दीसै सोय।
खोजि खोजि सब थकित भये हैं, पार न पावै कोय ॥१९॥

एकात्मन्यास्थितो यो हि निराशो निष्परिग्रहः।
तस्य संशयवार्ता का मिलितः स परात्मना ॥ १ ॥
गते देहाभिमाने च विज्ञाते परमात्मनि।
एकान्तवासिनो नित्यं वर्तन्ते वै समाधयः ॥ २ ॥
प्रवृत्तौ कारणं रागो निवृत्तौ द्वेष उच्यते।
निर्द्वन्द्वो बालवद्धीमान् निर्मले वर्तते पथि ॥ ३ ॥१८॥
शरीरेषु स्थितः कर्ता राजते सैव दृश्यते।
बाह्ये सत्त्वादिरूपेण श्रान्तं सर्वं विमृग्य तु ॥ ४ ॥
बाह्ये विमृग्यते यावदनात्मत्वेन वा ह्यसौ।
तावदस्य न पारं तु केनापारस्य लभ्यते ॥ ५ ॥
यदा विमृग्यते चायमात्मत्वेन सनातनः।
अपरोक्षं तदा लब्ध्वा सर्वाशारहितो भवेत् ॥ ६ ॥१९॥

जो जियरा (जीव) अकसर (एकात्मनिष्ठ होकर अकेला एकान्त) में बसे और कोय (कोई) आशा नहीं रखे, न किसी की आशा रखे। श्रीकबीर साहब कहते हैं कि उसको दुचित (दुविधा = संशय) क्या है, वह तो परब्रह्म से मिला हुआ और सद्गुरु द्वारा मिलाया हुआ है ॥ १८ ॥ एकान्तवासी ज्ञानी की दृष्टि में जो ब्रह्मात्मा घरों (देहों) में बैठा (स्थिर) हुआ आप साक्षीरूप से विराज (प्रकाश) रहा है, और सोई बाहर अनन्तरूप से दीखता है, अस्ति भाति प्रिय रूप से वही बाहर भासता है तथापि अज्ञ जीव उसको दूर दूसरा समझकर खोज खोज कर थक गये हैं। परन्तु कोई उसके पार को (सत्य स्वरूप को) नहीं पाते हैं दूर दूसरा समझकर खोजने से खोजकी निवृत्ति नहीं होती है, जिज्ञासा बनी रहती है ॥ १९ ॥

भक्ति भक्ति सब कोइ कहै, भक्ति न आई काज।
जहँ के किया भरोसवा, तहँ ते आई गाज ॥२०॥
समुझो भाई ज्ञानियों, काहु न कहा सँदेश।
जेइ गये बहुरे नहीं, है वह कैसा देश ॥२१॥

भक्तिभक्तीति कुर्वन्ति व्यवहारं समे जनाः।
यामुद्दिश्य न सा भक्तिरभवत्कार्यसाधिका ॥ ७ ॥
अनन्तापारदेवस्य भक्तिं कुर्वन्ति नो जनाः।
कुर्वन्ति कल्पितामन्यां लोकपुत्रादितृष्णया ॥ ८ ॥
आशां कुर्वन्ति येषां ते तेभ्यः सत्यं न लभ्यते।
फेनवद् विषयांल्लब्ध्वा जना मोदं तु मन्वते ॥९॥२०॥
यस्य देशादिभेदं च कोऽपि नैवोक्तवान् सुधीः।
तदेव ज्ञायतां धीर! यद्गत्वा न निवर्तते ॥१०॥
यस्मात्स्वर्गादिलोकाच्च नागत्य कश्चिदुक्तवान्।
तत्रत्यं निश्चितं तत्त्वं तद्बुधादवबुध्यताम् ॥११॥२१॥

सत्य परब्रह्म ईश्वर को सर्वथा भिन्न दूरादि मानकर खोजनेवाले भी उस खोजादिको ही भक्ति सब कोई कहते हैं और प्रेमपूजा पाठादिरूप कुछ सकाम भक्ति करते भी हैं। परन्तु भेद भाव कामादि की निवृत्ति के बिना वह भक्ति वस्तुतः काम नही आई। किसी सत्य फल का हेतु नहीं हुई। क्योंकि लौकिक फलाशायुक्त भक्ति से सत्य फल नहीं मिलता है। जहाँ (जिस देव लोकादि) के भरोसा (आशा) किया, वहाँ से भी गाज (गर्जना फटकार या उच्छिष्ट फेन) भुक्तोपभुक्त विषयाँश ही आये (प्राप्त हुए) शुद्धानन्द नहीं मिला। अतः निष्काम सर्वात्म भक्ति कर्तव्य है। बछड़े दूध पीते समय मुख से फेन गिराते हैं, उस फेन को गाज कहते हैं ॥२०॥ हे भाई! ज्ञानियों से उसी सन्देश (उपदेश) को समझो कि जिस सन्देश को अब तक तुमको कोई नहीं कहा है, और जोई उस ज्ञानी से वर्णित देश (स्वरूप) में गये सो बहुरे नहीं, उस देश को समझो कि वह देश कैसा है, और अन्य की आशा नहीं करो, इत्यादि ॥२१॥

धोखे सब जग बीतिया, धोखे गई सिराय।
थिति नहिं पकरै आपनी, यह दुख कहा न जाय ॥२२॥
राम कहत जग बीतिया, कोई भया न राम।
कहहिं कबिर जिन राम ही, तिन के भै सब काम ॥२३॥

बुधाद्बोधं विना सर्वे भ्रमे नश्यन्ति सर्वदा ।
तत्रैव च विलीयन्ते तिष्ठन्ति न निजात्मनि ॥१२॥
सद्यात्मन्यस्थिति भ्रान्तिरेतदेव महद्भयम् ।
बाचामगोचरं दुःखं तन्न वेत्तीह कश्चन ॥१३॥२२॥
आत्मस्थितिं विना लोको रामेत्यादि ब्रुवन्नपि ।
अनश्यन्नैव कोऽप्यत्र राम एवाऽभवत्स्वयम् ॥१४॥
ये वै विवेकिनो लब्ध्वा सद्गुरोरुपदेशनम् ।
अतिष्ठन् रामरूपेण प्राप्तकामा भवन्ति ते ॥१५॥२३॥

अन्य की आशा कामादि के त्याग पूर्वक जो अपनी आत्मा में स्थिति को नहीं पकड़ता (धारण करता) है, सो सब जग (संसारी) धोखे धोखे (भूल भूल) में बीता। (मरा नष्ट हुआ)। और धोखे में उसके सब आयु कर्म, धर्म सिराय (समाप्त हो) गये, व्यर्थ जीवन गया, फिर जो उसको दुःख होता है, गर्भ वासादि जन्य कठिन दुःख सहना पड़ता है सो कहा नहीं जा सकता है ॥२२॥ रामको भिन्न दूर मानकर राम कहते-कहते सब संसारी बीता (मरा)। परन्तु कहनेमात्र से कोई सत्य राम स्वरूप नहीं हुआ। किन्तु सब आशा को त्यागकर अपनी राम स्वरूप आत्मा में स्थिति को पकड़ने (धारण करने) से जो राम स्वरूप ही होगये, श्रीकबीरसाहब कहते हैं कि उनके सब काम (कार्य= इच्छा) भी पूर्ण (समाप्त) हो गये। वे लोग कृत कृत्य तृप्त मुक्त हो गये ॥२३॥

माया ते मन उपजे, मन ते दश अवतार ।
ब्रह्म विष्णु धोखे गया, भरम परा संसार ॥२४॥
देवन देखा सेवक हि, सेवक देवन दीख ।
कहहिं कबिर मरते दिखो, यह गुरु देई सीख ॥२५॥

मायाया मनसः सृष्टि र्हिरण्यगर्भरूपिणः ।
अवताराः प्रतायन्ते ततो दश मनोमयाः ॥१६॥
ब्रह्मेशविष्णु बुद्ध्याऽत्र ह्यसत्यैः सङ्गता नराः ।
भ्रमन्ति कल्पिते व्यक्ते ब्रह्माद्या नियतौ तथा ॥१७॥२४॥
देवा त्रसन्ति मर्त्येभ्यो मर्त्यो देवान्निरीक्षते ।
आशया चोभये बद्धा भवन्ति देहपञ्जरे ॥१८॥
देवादीन् म्रियमाणान्तु मुहुः पश्यत भो ! नराः ।
गुरवः शिक्षयन्त्येवमाशापाशनिवृत्तये ॥१९॥

मनोमायामयं विश्वं सदेवासुरमानुषम् ।
विनश्वरमिति ज्ञात्वा भज देवं परात्परम् ॥२०॥२५॥

माया (मायी ईश्वर) से समष्टि मन (समष्टि बुद्धि उपाधिवाला हिरण्यगर्भ) उत्पन्न होता है, उससे विराट् की उत्पत्तिपूर्वक दश अवतार होते हैं, उन व्यक्त अवतारों में तथा मन में, ब्रह्म और विष्णु (ईश्वरत्व) के धोखे में सब संसारी गया (पड़ा) और अनेकों भ्रम में पड़ा । तथा ममता रूप माया से संकल्प विकल्प रूप मन उत्पन्न होता है, मन से दशेन्द्रियों का अवतार होता है, इन्द्रियों की वशवर्तिता से सत्य ब्रह्मविष्णु को नहीं समझकर संसारी धोखे में गया, भ्रम में पड़ा । आत्मस्थिति के बिना देव लोग सेवकों को ही देखते हैं, सेवकों की आशा करते हैं । उनसे भेंट पूजा चाहते हैं । देवभक्त देवों को देख हैं । उनसे सुख सम्पत्ति चाहते हैं । यहाँ श्रीकबीर साहब कहते हैं कि सम्पत्ति आदि सहित इन देवादिकों को मरते (विनश्वर) देखो (समझो) और किसीकी आशा नहीं करो यह सद्गुरुने शिक्षा दी है, इसको मानो ॥२५॥

तेरी गति तैं जानै देवा, हम में समरथ नाहिं ।
कहहिं कबिर यह भूल सबन को, सब परु संशय माहिं ॥२६॥

आत्ममोक्षप्रदान् देवान् स्वस्मिन्नप्यसमर्थताम् ।
मत्वा यदास्यते तुष्ट्या संशये भ्रस्यते ततः ॥२१॥
निमग्नाः संशये सर्वे भ्रमसिद्धे स्थितास्तथा ।
लभन्ते न गतिं कापि भ्रमन्ति दीनमानसाः ॥२२॥२६॥

तुम अपनी गति (मुक्ति) का हेतु देवताओं को जानते हो । और समझते हो कि हम सब में मोक्ष के लिये सामर्थ्य नहीं है । श्री कबीर साहब कहते हैं कि यह तुम सब में भूल की बात है । अतः अपने सामर्थ्य को जाने बिना सब संशय में पड़ते हो, संशय की निवृत्ति के लिये विचारादि नहीं करते हो, विचारादि करके निःसंशय होवो ॥२६॥

खालि देखि के भरमिया, ढुंढ़त फिरै चहुं देश ।
ढूंढत ढूंढत मर गये, मिला न निर्गुण वेष ॥२७॥

विवेकेन विनाऽऽत्मानं रामाद्धीनं विलोक्य च ।
अमृतं मार्गयन् देशे निर्गुणं नैव चाप्तवान् ॥२३॥
विवेकेन विनासवस्य विश्वं शून्यं विलोक्य वा ।
चतुर्षु मार्गयन्दिक्षु मृतो नाऽऽलभताऽव्ययम् ॥२४॥२७॥

अपनेको तथा इस संसारको राम ब्रह्म विष्णुसे खाली (रहित) देख (जान) कर लोग भ्रम में पड़ गये (अन्यत्र राम को समझने लगे)। अतः चारो तरफ, देशों में निर्गुण राम आदि को ढूंढ़ते फिरते हैं, इस प्रकार से बाहर ढूंढ़ते में कितने मर गये। परन्तु भीतर विचारादि के बिना निर्गुण वेष (उत्तम स्वरूप) नहीं मिला, न मिल सकता है। अतः अन्दर विचारादि कर्तव्य है ॥ २७ ॥

बूझ आपनी थिर रहै, योगी अमरसु होय।
अब बूझै भरमहि तजै, आपै और न कोय ॥२८॥
देखा देखी सब जग भरमा, मिला न सतगुरु कोय।
कहहिं कबीर करत नित संशय, जियरा डारा खोय ॥२९॥

स्वस्वरूपं गतिं मत्वा यः सदात्मनि तिष्ठति।
योगिवर्यः स मुक्तः सन् भवत्येवाजरामरः ॥२५॥
अतश्चात्मैव बोद्धव्यस्त्यक्तव्या भ्रान्तिरेव च।
य एवं कुरुते जन्तुः स्वयमेव स शिष्यते ॥२६॥२८॥
अन्यं दृष्ट्वा भ्रमन्तश्च गतानुगतिका जनाः।
नाश्रयन्ति गुरुं मोहान्नश्यन्तः संशयात्स्वयम् ॥२७॥२९॥

अपनी गति (आश्रय मुक्ति) स्वरूप अपनी आत्मा को जानकर जो योगी स्थिर रहता है, सो अमर (जन्ममरणादि रहित मुक्त) होता है। अतः आगे की आशा को छोड़कर, अबही अपने सत्य स्वरूप को ज्ञानी गुरु से बूझे (समझे) और देहादि में आत्मबुद्धि आदि रूप भ्रम को त्यागे, तो आप (आत्मा) ही सत्य रहता है, और कोई पदार्थ सत्य नहीं भासता है ॥२८॥ दूसरे के देखा देखी से (पिता माता भाई बन्धु आदि अज्ञ की मिथ्या भ्रमपरायणता के दर्शनादि से) स्वयं विचारादि नहीं करने के कारण सब संसारी मनुष्य भ्रम में (मिथ्या वस्तु व्यवहार में) पड़ा है, भ्रान्त हुआ है। देहादि के अभिमानी हुआ है। अतः कोई सद्गुरु से न मिला, न मिलता है। श्री कबीर साहब कहते हैं कि सद्गुरु से नहीं मिलने ही के कारण नित (सदा) संशय करता है। और संशय से जियरा (जीवन) को खोय डारा है (व्यर्थ नष्ट किया है)। अतः सद्गुरु से मिलकर संशय निवारणीय है ॥२९॥

काकी आश लगाइया, झूठी ह्वाँ की आश।
गृह तजि बन खण्ड मानिया, युग युग फिरै निराश ॥३०॥

कस्याशा क्रियते धीर ! परोक्षाशाऽऽनृताऽफला ।
आशात्यागं विना गेहं त्यक्त्वा याति हताशताम् ॥२८॥
गृहं त्यक्त्वा वनैकान्ते चरंश्चिन्तापरो नरः ।
स्थितिं न लभते तावद्यावदाशेह वर्तते ॥२९॥
आशया संयतो जीवो निर्वृतिं विन्दते नहि ।
आशापाश विनिर्मुक्तः प्राप्नोति परमं पदम् ॥३०॥३०॥

उपदेश है कि प्रत्यक्ष साक्षी स्वरूप हृदय वासी आत्मा को तथा सद्गुरु को छोड़ कर, तथा अपने विचारादि पुरुषार्थ को त्याग कर, किस की आशा लगाये (किये) हो ह्वाँ (वहाँ) की उस दूर देश लोकादि की आशा झूठी (निष्फल) होती है । क्योंकि आशा को त्यागे बिना जिन लोगों ने गृह (घर) को त्याग कर बनखण्ड (बन भाग) को तप जप आदि के लिये मानिया (माना स्वीकार किया) वे लोग भी युगयुग में निराश (हताश) हो कर फिरते (भटकते) हैं, क्योंकि काम आशा तृष्णा की पूर्त्ति विचार विराग ज्ञान के बिना कभी होती ही नहीं है । अतः विरक्त ज्ञानी गृहादि को त्यागकर बन खण्ड को माना है, और सदा निराश हो कर विचरते हैं ॥३०॥

नेवक विचले सब घर विचला, अब कछु नाहिं बसाय ।
कहहिं कबिर जो अबकी समुझे, ताको काल न खाय ॥३१॥
राम रहे बन भीतरे, गुरुकी पूजि न आश ।
कहहिं कबिर पाखण्ड सब, झूठे सदा निराश ॥३२॥

अत्र चेन्मानवे देहे दुराशा न विजीयते ।
अशक्या सा विजेतुं स्याज्जन्मान्तगतै र्जनैः ॥३१॥
यथाऽऽधारस्य नाशेन नश्यन्त्येव गृहादिकाः ।
कम्पन्ते कम्पनाच्चैव स्थितौ तिष्ठन्ति सुस्थिराः ॥३२॥
तथैवात्र विनाशेन नाशः सर्वासु योनिषु ।
कम्पने कम्पनं चैव स्थितिस्तु जायते स्थितौ ॥३३॥
गुरोर्यैस्तु कृपापात्रैस्तत्त्वमत्रैव बुध्यते ।
तेषां कुत्रापि नैव स्यान्नाशः कालादितः सदा ॥३४॥३१॥
तत्त्वज्ञानं विना चात्मा रामः संसार कानने ।
वर्ततेऽथ हताशश्च जीवो भ्रमति सर्वदा ॥३५॥
पाषण्डहतबुधित्वाद् यो गुरुं नाऽभिमन्यते ।
तदर्थश्च गुरोर्यत्नः कृतो भवति निष्फलः ॥३६॥

रामचन्द्रो बने वाऽऽसीद् गुरुर्दशरथो यथा।
हताशोऽभूत्तथा सर्वेऽसत्यसन्धा विकर्मिणः ॥३७॥३२॥

जैसे घर के नेव (नीव जड़) के विचलित होने पर, सम्पूर्ण घर विचलित होता है। (विचलता है गिर जाता है) तैसे सब सुख साधन के मूल मानव देह के विचलने (आशादि वश व्यर्थ नष्ट होने) पर, सब घर विचलता है। सब देह लोकों में स्थिरता का अभाव और कष्ट होता है। कहीं सुख शान्ति नहीं मिलती है। और अब (इस शरीर के बीतने पर) किसी का कोई बसाय (बौसाय) जोर शक्ति कुछ नहीं रहता है, वश को कोई बात नहीं रहती है। अतः श्री कबीर साहब कहते हैं कि जो कोई अबकी (इस देह में) सन्मार्ग सत्यात्मा को समझता है, उसको काल नहीं खाता है (वह काल के वश में नहीं पड़ता है) स्थिर पद को पाता है, अन्य नहीं ॥३१॥ जैसे श्री रामचन्द्र जी बन के भीतर रहे, और उनके गुरु (पिता) श्री दशरथ जी की आशापूर्ति नहीं हुई, श्री दशरथ जी ने आशा की थी कि राजगद्दी पर आसीन (बैठे) हुए श्री रामचन्द्र जी को देख लें, सो आशा पूर्ण नहीं हुई। तैसे अज्ञानी की आत्मा संसार बन के भीतर रहती है, तहाँ गुरु की आशापूर्ण नहीं होती है, और वे अज्ञानी पाखण्डी झूठे सब जीव सदा निराश (हताश) होते हैं। अतः पाखण्डादि को त्याग कर गुरु की आशा को पूर्ण करना चाहिये, सद्गुरु जीव के कल्याण चाहते हैं ॥३२॥

बिना रूप बिनु रेख को, जगत नचावै सोय।
मारै पाँचो जो नहीं, ताहि डरै सब कोय ॥३३॥
डर उपजा जिय है डरा, डर ते परा न चैन।
देखा रामहिं है नहीं, यही कहै दिन रैन ॥३४॥
सुख का सागर मैं रचा, दुख दुख मेला पाँव।
थिति नहिं पकड़े आपनो, चले रंक औ राव ॥३५॥

रूपाकृति विहीनोऽसावात्मरामः स्वमायया।
भ्रामयत्यखिलं विश्वमज्ञस्तस्माद्बिभेति च ॥३८॥
यश्चाजितेन्द्रियो मूढस्तस्माल्लोकाश्च बिभ्यति।
हिंसकत्वाद्धि दुर्बुद्धेस्तत्फलं सोऽवशोऽश्नुते ॥३९॥३३॥
भीतोविह्वलचित्तश्च भयाच्छर्म न चाच्छेति।
हा न दृष्टा हरिं जीवस्तदभावं तु भाषते ॥४०॥३४॥

अस्माभिश्च कृतोयोऽयमुपदेशो विजात्मनः ।
सुख सिन्धुस्वरूपोऽयं सुमार्गोऽयं सुखावहः ॥४१॥
आत्मस्थितिं न गृह्णन्ति ये चेहोच्चावचा जनाः ।
दुःखमार्गे मनो दत्त्वा गच्छन्ति ते भवार्णवम् ॥४२॥३५॥

रूप रेख (आकार) के बिना जो राम है, सोई राम मन माया द्वारा जगत् को नचाता है । और जो जीव पाँच ज्ञानेन्द्रियों को नहीं मारते (वश करते) हैं, तथा अविद्या (भ्रम) अस्मिता (अविवेक) राग, द्वेष, अभिनिवेश (अभिमान) इन पाँचों को नहीं मारते हैं, सो सब जीव, उस निजात्म स्वरूप रामसे ही डरते हैं। "भयादस्याग्निस्तपति । कठ०२।६।३" इत्यादि ।३३। जितेन्द्रिय विवेकी होने के बिना, जीवों के मन में डर (भय) उत्पन्न हुआ, और अब भी जिय (मन) डरा है (भयभीत है) जिस डर से कभी चैन (आराम शान्ति) नहीं पड़ा (प्राप्त हुआ) है । और राम को ही अब तक देखा (समझा) नहीं है तो चैन कैसे पड़े । राम का दर्शन सब चैन (आनन्द) का मूल है, यही सब शास्त्र दिन रात सदा कहते हैं, तथा अज्ञ रात दिन यही कहता है कि मैंने देखा (समझा) कि राम कोई वस्तु नहीं है ॥३४॥ श्रीकबीर साहब कहते हैं कि आत्मस्थिति पकड़नेवालों के लिये मैंने यह उपदेश सुख का समुद्ररूप ही किया है । परन्तु रंक और राजा सब लोग अपनी स्थिति नहीं पकड़ते हैं । अतः दुःख से दुःखरूप मार्ग में पाँव (मन) मेलते (देते) हैं, और उसी में चलते हैं । अतः सुख समुद्र को नहीं पाते हैं ॥३५॥

दुख न हता संसार में, हता न शोग वियोग ।
सुख ही में दुख लादिया, बोलै बोली लोग ॥३६॥

आत्मदृष्ट्याऽत्र संसारे दुःखशोकादयो नहि ।
पुरा ह्यासन् न चैवासीद् वियोगादिमयो भ्रमः ॥४३॥
जनात्मदृष्टिमाश्रित्य जनाः सौख्येऽपि दुःखताम् ।
कल्पयित्वा भवाम्भोधौ निमज्जन्ति स्वमोहतः ॥४४॥
दुःखं न शोको न वियोगरोगावास्तां पुरा ब्रह्मणि वाऽऽत्मतत्त्वे ।
तथापि लोकाः खलु कल्पयित्वा मोहेन दुःखानि वदन्ति तत्र ॥४५॥
न तत्र भेदोऽस्ति न चास्तिखेदो यस्यैव वेदोऽस्ति सुवेदवेदः ।
स एव पायान्निखिलादपायाज्ज्ञातो नरोऽज्ञाततमं न वेद ॥४६॥३६॥

इति साक्षिसाक्षात्कारपरिशिष्टे तृतीया वित्तिः ॥३॥

संसार में प्रथम आज के समान दुःख नहीं था, न शोक वियोगादिक हो

थे, सृष्टिकाल में सतयुग में प्रायः पुण्य, सुख, ज्ञानमय संसार था, प्रजा के कृत कृत्य रहने से सतयुग को कृतयुग कहा गया है। परन्तु अनादि अविद्यादिवश जीवों ने सुखस्वरूप में ही दुःख लाद दिया है। इस प्रकार ज्ञानी लोग बोली बोलते हैं। अर्थात् दुःखादि अज्ञान मोहादिसे ही होते हैं। अतः कल्पित मिथ्या हैं, यदि सत्य हों, तो इनकी ज्ञान से निवृत्ति नहीं हो सकती है। और ज्ञान से इनकी निवृत्ति मुक्ति होती है, ऐसा ज्ञानी बोलते हैं, श्रुति कहती है ॥३६॥

अथ चतुर्थी वित्तिः

लिखा पढ़ी में पड़े सब, यह गुण तजै न कोय।
सबे पड़े भ्रम जाल में, डारा यह जिय खोय ॥३७॥
बूझो शब्द कहाँ से आया, कहां शब्द ठहराय।
कहहिंकबिर हम शब्द सनेही, दीन्हा अलख लखाय ॥३८॥

लेखितुं पठितुं चैव प्रवर्तन्ते सदा जनाः।
अनात्मदृष्टिमाशां च त्यजन्ति न गुणांस्तथा ॥ १ ॥
भ्रमजालैः समावद्धास्ततः सर्वेऽप्यबुद्धयः।
अमूल्यं जीवनं शश्वन्नाशयन्ति कुवर्त्मसु ॥ २ ॥३७॥
लेखनादौ प्रवर्तन्ते यस्य सर्वे जना सदा।
तं विजानीहि शब्दं त्वं कुत आगच्छतीति सः ॥ ३ ॥
कुत्र तिष्ठति कस्मिंश्च लीयते प्रळयादिषु।
किं रूपः किं फलश्चासौ कतिधा वर्तते तथा ॥ ४ ॥
सारशब्दमनस्काश्च वयं वर्तामहे सदा।
तमवश्यं विजानीहि तेनादृश्यं प्रदृश्यते ॥ ५ ॥
वयं नित्यं सुशिष्येभ्यो निर्मलं निर्गुणं हरिम्।
तेनैव सारशब्देन ह्यदृश्यं दर्शयामहे ॥६॥३८॥

लिखने पढ़ने में सब पड़े हैं, परन्तु यह त्रिगुण शरीरादि के अभिमानादि को कोई नहीं त्यागते हैं, सुख में दुःख को लादना गुण को नहीं छोड़ते हैं, अतः विवेकादि के बिना सब भ्रम जाल में पड़े हैं। और यह (इस) मानव जिय (जीवन) को व्यर्थ खोय डारा है ॥३७॥ भ्रमजाल की निवृत्ति के लिये विवेक पूर्वक सत्यासत्यादि शब्दों को बूझो (समझो) और वह शब्द कहाँ से आया, उस कारण को समझो। शब्द कहाँ ठहरता है (शब्द का आधार अधिकारी कौन है) क्योंकि अदृश्यात्मा का ज्ञान शब्द से ही होता है। अतः

श्रीकबीर साहब कहते हैं कि सारशब्द के सनेही प्रेमी श्रोता को हमने शब्द से ही अलख (अदृश्य) को लखाय दिया है, हम भी शब्द के स्नेही हैं ॥३८॥

शब्द शब्द सब कोइ कहै, वो तो शब्द विदेह ।
जिह्वा पर आवै नहीं, निरख परखकर लेह ॥३९॥
सुत नहिं मानै बात पिता की, सेवै पुरुष विदेह ।
कहहिं कबीर अबहुं किन चेतो, छाड़ो झूठ सनेह ॥४०॥

शब्द शब्देति सर्वेऽत्र भाषन्तेऽज्ञजना अपि ।
विदेहस्य सुशब्दो न तज्जिह्वामधिरोहति ॥ ७ ॥
विदेहस्य च शब्दोऽसावनाहतसुनामकः ।
सारशब्दोऽथवा ज्ञेयो येनालक्ष्योपि लक्ष्यते ॥ ८ ॥३९॥
सारशब्दं न मन्यन्ते सर्वात्मपितृबोधकम् ।
ते प्रेतं वा विदेहाख्यं सेवन्ते देवमत्र वै ॥ ९ ॥
मिथ्या स्नेहं त्वमद्यापि त्यक्त्वा सत्यं समाश्रय ।
रक्षकस्य गुरो वाक्यं शृणु प्रेमावधानतः ॥१०॥४०॥

शब्द शब्द सब कोई कहते हैं, परन्तु जिह्वा पर आने वाली बैखरी वाणी को ही सब कोई शब्द कहते हैं । परा, पश्यन्ति, मध्यमावाक्, स्वरूप शब्द को तथा अनहद शब्द को सब कोई न कहते हैं, न जानते हैं । क्योंकि वह परा शब्द तो विदेह (देह रहित) आत्मस्वरूप ही है, और अनहद शब्द आत्मा का सूचक है, यह शब्द जिह्वा पर नहीं आता है । निरख परख कर (बूझ विचार कर) इस शब्द द्वारा आत्मा का धारण (निश्चय) कर लो "तस्यैषा श्रुतिः । छा० ३।१३।७" ॥३९॥ सारासारादि शब्दोंके विवेकके बिना सुत (शिष्य) जीव, सर्वात्मा पिता के बोधक सद्गुरु की बात को नहीं मानता है । किन्तु विदेह (देव विशेष या प्रेतादि) रूप कल्पित पुरुष को सेवता है, तहाँ श्रीकबीर साहब कहते हैं कि अब भी क्यों नहीं चेतते हो, अब भी झूठे की स्नेह (प्रीति) को छोड़ो । सत्य को खोजो, सत्य में प्रेमादि करो ॥४०॥

सबे आस करु शून्य नगर की, जहाँ न करता कोय ।
कहहिं कबीर बुझो जिय अपने, जाते भरम न होय ॥४१॥
दाग जु लागा नील का, सौमन साबुन धोय ।
कोटि यतन परबोधिये, कागा हंस न होय ॥४२॥

शून्ये कल्पित कल्पस्य ह्याशां कुर्वन्ति मानवाः ।
नगरस्य न यत्रास्ति कर्ता सत्योऽद्य कश्चन ॥११॥
त्वं मनो मन्दिरस्थं च सत्यकर्तारमेव हि ।
प्रतीहि न यतो भूयो भ्रमस्य प्रसरो भवेत् ॥१२॥४१॥
कामाद्यैः कज्जलै र्व्याप्ता मलिनाः काकवृत्तयः ।
न श्वेतन्ते न मुच्यन्ते हंसायन्ते न बोधनैः ॥१३॥
यथा नील्याऽङ्कितं वस्त्रं मनकानां शतै र्नहि ।
क्षारैः शुद्धयन्ति काको न हंसः कोटिप्रबोधनैः ॥१४॥४२॥

झूठ सनेह से ही जहाँ कोई एकदेशी सत्यकर्ता नहीं है, वहाँ नगर कर्ता आदि की कल्पना पूर्वक उस शून्य नगर (आकाश नगर) की आशा कर्ता की प्राप्ति के लिये ये सब कहते हैं। तहाँ श्रीकबीर साहब कहते हैं कि तुम अपने जिय (अतःकरण) में सर्वसाक्षी अन्तर्यामी सत्यसर्वात्मा कर्ता को बूझो (समझो) कि जिसके प्रत्यक्ष अनुभव हो जाने से फिर कभो भ्रम नहीं हो ॥४१॥ जैसे पक्का नील का दाग यदि लगा हो तो सौ मन साबुन से धोने से भी वह दाग नहीं छूटता है और करोड़ों यतन द्वारा प्रबोध (ज्ञान) कराने (समझाने) से भी काक हंस नहीं होता है, हंस की वृत्ति गति का धारण नहीं करता है। तैसे ही शून्य नगर की आशा काम, लोभादि के रहते किसी प्रकार भी मनुष्य शुद्ध पाप कर्मादि रहित नहीं होता है; न मलिन मन काक वृत्तिवाला विवेकी भक्त योगी मुक्त होता है। अतः उसका संग त्याज्य है ॥ ४२ ॥

यह दुनियाँ भौ बावरी, अदृष्ट सु बाँधी नेह ।
दृश्यमान को छोड़ि के, सेवै पुरुष विदेह ॥४३॥
राजा रैयत ह्वै रहा, रैयत लीन्ही राज ।
रैयत चाहै सब लिया, ताते भयो अकाज ॥४४॥

मालिन्याद्‌विवेकेन जनो मुग्धवदाचरन् ।
बध्नात्यनुमितेष्वास्थां प्रेतादीन् सेवते तथा ॥१५॥
प्रत्यक्षं साक्षिणं त्यक्त्वा स्वात्मानमुत्तमोत्तमम् ।
साक्ष्येष्वास्थां तु बध्नाति बध्यते च निजेच्छया ॥१६॥
आश्चर्यं महदेतद्धि यदात्मानन्दमक्षयम् ।
त्यक्त्वाऽतिनिकटे मूढः सदैवाऽन्यान्निषेवते ॥१७॥४३॥
अहो सर्वेश्वरो जातः प्रजा स्वस्यैव मोहतः ।
प्रजा चैवेश्वरो जाता सर्वं साऽदातुमिच्छति ॥१८॥

तस्मान्न लभते तत्त्वं कैवल्यं यत्सनातनम्।
स्वत्कार्याणि न सिद्ध्यन्ति ह्यकार्याणिभवन्ति च ॥१९॥
ईश्वरेऽनीशबुद्धिश्चानीशे त्वीश्वरबुद्धिता।
सर्वानर्थस्य हेतुः स्यात्तथानात्मसु चात्मता ॥२०॥४४॥

यह संसारी बावरा हुआ है, अदृष्ट (परोक्ष=दृष्टि रहित जड़ अंश) से स्नेह नेह (प्रेम) प्रीति इसने बाँधी (की) है, और वेदादि मानो (प्रमाणों) से दृष्ट (ज्ञात) प्रत्यक्ष आत्मा सद्गुरु को छोड़कर विदेह (प्रेतादि) स्वरूप पुरुष को सेवता है ॥४३॥ राजा (सचेत मनुष्य) रैयत (पराधीन) हो रहा है और पराधीन विदेह प्रेतादि राज्य लिये हैं, पूज्यादि हुए हैं। वे ही सब लेना चाहते हैं, मनुष्यों को वे ही साक्षात् ईश्वर प्रतीत होते हैं। अतः अकार्य भया है, उनकी तृप्ति आदि के लिये मनुष्य हिंसा आदि करते हैं कि जिससे उनकी बुद्धि भ्रष्ट नष्ट हुई है, कोई योग भक्ति ज्ञानरूप कार्य नहीं सिद्ध होते हैं ॥४४॥

जिसका मन्त्र जपै सब सिखि के, तिसको हाथ न पाँव।
कहहिं कबीर मातु सुत काही, दिया निरञ्जन नाँव ॥४५॥

श्रुत्वा जपन्ति यन्मन्त्रं तद्पाण्यादिलक्षणम्।
पितरौ वै कुतस्तस्य सुतनामादिकं कुतः ॥२१॥
अपाणिपादस्य हि यस्य नामजपन्ति लोकाः खलु कल्पयित्वा।
तदेव तत्त्वं ननु तस्य बोधान्निरञ्जनस्यैव भवेद्विमुक्तिः ॥२२॥
विमुक्तिभाजां नहि काम कल्पना भवेन्नचास्था खलु दृश्यसंहृतौ।
परात्परं वै सततं सुपश्यतां कुतो भवेन्मोहद्रुहादिसंकथा ॥२३॥४५॥

इति साक्षीसाक्षात्कारपरिशिष्टे चतुर्थीवित्तिः ॥ ४ ॥

जिस परमात्मा के नामात्मक मन्त्र को गुरु से सिख (सुन) कर सब जपते हैं, उसको हाथ पाँव आदि कुछ नहीं है, सो श्रुति कहती है। अतः श्री कबीर साहब कहते हैं कि उस हाथादि रहित का ही मातु (माता) कौन हो सकती है, अर्थात् जैसे उसके हाथादि नहीं है, तैसे माता पिता आदि भी नहीं हैं। न वह किसी का सुत (पुत्र) है। क्योंकि वह किस का पुत्र हो सकता है। अतः उसका निरञ्जनादि नाम भी किसने दिया है, (किया है) उसका नाम नहीं दिया गया है। किन्तु माता-पिता नामरूपादि रहित के नाम बोध जपादि के लिये कल्पित होते हैं। उसी के सेवन भजनादि से सब कार्य की सिद्धि होती है। अन्यथा अन्य से नहीं ॥४५॥

पञ्चमी वित्तिः

जनि भूलो रे ब्रह्मज्ञानी, लोक वेद के साथ।
कहहिं कबिर यह बूझ हमारा, सो दीपक लिय हाथ ॥४६॥
धोखे धोखे सब जग बीता, द्वे अगुआ के साथ।
कहहिं कबीर पेंड़ जो बिगड़े, अब का आवै हाथ ॥४७॥

परोक्षब्रह्मबोधेन युक्ता यूयं विवेकिनः।
कुरुध्वं नो प्रमादं हि लोकवेदप्रसङ्गतः ॥ १ ॥
अस्माकं सन्नयं बोधो दीपकः सर्ववस्तुनः।
तं कुरुध्वं करस्थं च सन्निरीक्ष्यैव गच्छत ॥ २ ॥४६॥
सद्बोधेन विना सर्वं जगन्नष्टं कुसङ्गतः।
अग्रगद्वय सङ्गत्या द्वैतवाचां निरीक्षणात् ॥ ३ ॥
वञ्चकानां कुसङ्गत्या मानुष्ये निष्फले गते।
मूले नष्टे पुनः पश्चात् किं फलं स्यात्सुखं कुतः ॥ ४ ॥
मूलं सर्वस्य मानुष्यं मोक्षस्य सत्सुखस्य च।
ज्ञानस्याथ सुधर्मस्य तत्प्रयत्नेन रक्ष्यताम् ॥ ५ ॥४७॥

हे ब्रह्मज्ञानी (हे विवेकी ब्रह्मजिज्ञासु !) लोक वेदवादी आदि के सङ्ग में स्वस्वरूप को नहीं भूलो (ब्रह्मात्मा के माता-पिता नामादि को सत्य नहीं समझो) और श्रीकबीर साहब कहते हैं कि यह हमारा बूझ (ज्ञानोपदेश) है सो दीपक= सत्यार्थ का प्रकाशक है, इसको हाथ में लिये रहो (हृदय में धरे रहो) ॥४६॥ धोखे धोखे (मिथ्या नाम रूप) में सब संसारी बीता, सो दो अगुआ (द्वैतवादी गुरु तथा हिन्दू-तुरुक के अग्रणी) के साथ बीता। तहाँ श्रीकबीर साहब कहते हैं कि यदि पेंड़ (मूल मानव देह) बिगड़ा तो अब फिर क्या फल फूल हाथ में आयेगा। अतः यहाँ नामरूपमें नहीं भूलकर सत्यात्माको समझना चाहिये ॥४७॥

मैं जाना कुल हंस हौ, ताते कीन्हा संग।
जो जानत बक बावरा, छुवन न देता अंग ॥४८॥
ढूँढ़त ढूँढ़त ढूँढ़िया, भया सु गूनाऽगून।
ढूँढ़त ढूँढ़त नहीं मिला, हारि कहा बेचून ॥४९॥

सदा विवेकिनं विज्ञं ज्ञात्वा कुर्याद्धि सङ्गतिम्।
नैव मूढैः कदाचिच्च ह्यस्माभिश्चरितं त्विदम् ॥ ६ ॥

कुलहंसं विदित्वैवं कृता वै तव सङ्गतिः।
वकवृत्तिं प्रमत्तं चेद्विदं नाङ्ग! सा भवेत् ॥ ७ ॥४८॥
विमृग्यन् ह्यज्ञसङ्गेन स्वात्मानं लभते न च।
गुणे निर्गुणता बुद्ध्या जनो मोमुह्यते सदा ॥ ८ ॥
मोहान्निर्गुणमप्राप्य तमप्राप्यं हि मन्यते।
दूरस्थमिव सुश्रान्तः कुल्यापारशतैर्यथा ॥ ९ ॥४९॥

मैंने तुझे कुल हंस (श्रेष्ठ विवेकी) हो, ऐसा जाना है। अतः तेरा संग किया है, आत्मोपदेश दिया है, यदि बकवृत्ति, बक ध्यानि जानता, बावरा = उन्मत्त जानता, तो हे अङ्ग! (प्यारे!) छूने भी नहीं देता या अङ्ग भी नहीं छूने देता तुम भी ऐसा ही करना ॥४८॥ विवेकी हुए बिना परमात्मा को दूर भिन्न मानकर लोगों ने ढूंढ़ते ढूंढ़ते ढूंढ़ा (किसी अनात्म पदार्थ को खोज कर प्राप्त किया) फिर वह गुण ही रूप पदार्थ (व्यक्ति विशेष) उस अविवेकी ढूंढ़ने वाले की दृष्टि में अगुण (निर्गुण ब्रह्म सिद्ध हुआ) और किसी को ढूंढ़ते ढूढ़ते भी कुछ नहीं मिला तो वह हार कर बेचून (अलभ्य अनूपमादि) कहा पाया नहीं। अतः जिज्ञासु को प्रथम विवेकी होना चाहिये ॥४९॥

बेचूने जग चूनिया, साईं नूर निनार।
आखिर ताके वखत में, किसका करो दिदार ॥५०॥
सोई नूर दिल पाक है, सोई नूर पहिचान।
जाके किये जग हुआ, सो बिचून क्यों जान ॥५१॥

आत्माऽसङ्गोऽपि सर्वत्र व्याप्यैव वर्ततेऽनिशम्।
प्रकाशात्मा जगज्ज्योतिः कर्त्ता धर्त्ता निरामयः ॥१०॥
प्रभुः सर्वस्य लोकस्य विचित्रदीप्ति पावनः।
यस्य संदर्शनादेव द्रष्टव्यं नावशिष्यते ॥११॥
पूयन्ते सर्वभूतानि येऽपि स्यु र्मलिनाशयाः।
तस्य संदर्शने जाते कं पश्यामि करोमि किम् ॥१२॥५०॥
वर्तते पावनं ज्योतिः सर्वस्य हृदि पश्यतत्।
यस्य कार्यं जगत् सर्वं तदप्राप्यं कथं भवेत् ॥१३॥
अप्राप्यत्वे निमित्तं यदज्ञानं विद्धि तद् बुध!।
तद्धानं ज्ञानतः कृत्वा कृतकृत्यः सुखीभव ॥१४॥५१॥

श्रीकबीर साहब कहते हैं कि जिसको कोई बेचून कहते हैं, सो बेचून ने

ही जगत को चूना (रचा) है, और वह जगत में सर्वत्र चूना (व्याप्त) है, और वही सबका साईं (स्वामी) ईश्वर है, उसका नूर (तेज प्रकाश) सब प्रकाश से निनार = न्यारा विलक्षण है, और उसका दर्शन सब संसार के आखीर (अन्त) में होता है। फिर उसके आखीर के दर्शन के बखत (काल) में किसका दिदार (दर्शन) कोई करो या करावो। अर्थात् उसके दर्शन के बाद कोई दर्शन कर्तव्य बाकी नहीं रह जाता है ॥५०॥ सोई साईं का नूर (प्रकाश) स्वरूप सब प्राणी के दिल (मन) में पाक (पवित्र) आत्मा है। अतः सोई (उसी) नूर को पहचानो (आत्मा समझो) और जिसके करने से (जिसकी माया के व्यापार से) संसार उत्पन्न हुआ है, सो भी बेचून (अलभ्य) कैसे है सो भी समझो। अर्थात् सर्वात्मा में कर्मकर्तृभाव विरुद्ध होने से और अज्ञान से अलभ्य है, दूरता भिन्नता आदि से नहीं ॥ ५१ ॥

आपु भुलावै आप में, आपु न चीन्है आपु।
और होय तो पाइये, यह तो आपुहिं आपु ॥५२॥
आपु शब्द सन्धिक लखो, कहे बिना नहिं ठौर।
ताते सार असारहीं, गुरु पारख शिरमौर ॥५३॥

आत्माऽज्ञाने स्वयं स्वं हि स्वस्मिन् विस्मृत्य मूढवत्।
स्वयं स्वं नैव जानाति मृग्यन् स्वं वर्तते मुहुः ॥१५॥
ज्ञानकाले निजात्मानं प्रतिपाद्याद्वयं विभुम्।
अन्यश्चेत्स्याल्लभेतात्मा स्वयमस्मीति मन्यते ॥१६॥५२॥
गुरूणां सारशब्दस्य तात्पर्येण निजाऽद्वयम्।
स्वरूपं पश्य नान्यस्माल्लभ्यतेऽयं परो यतः ॥१७॥
सारासारविवेकाय ज्ञानाय जनुषां तथा।
गुरुलब्धो विचारो हि पर्याप्तः सर्वसाधनात् ॥१८॥
कुसङ्गहानेन समाहितस्य विवेकनिष्ठस्य विरक्तबुद्धेः।
शमादियुक्तस्य सुभक्तिकस्य गुरावगम्यं नहि किञ्चिदस्ति ॥१९॥५३॥

इति साक्षिसाक्षात्कारे परिशिष्टे पञ्चमी वित्तिः ॥ ५ ॥

अज्ञानावस्था में यह नूर अपनी माया में अपने को भुलाता (छिपाता) है, और अपने को आप नहीं चीन्हता है। ज्ञान दशा में कहता और समझता है कि अन्य कोई सत्य हो तो उसको प्राप्त किया जाय, यह नूर तो आपे आप एक सर्वात्मा है ॥५२॥ शब्दों के सन्धि (तात्पर्य) द्वारा तुम अपने सत्य स्वरूप

को आप लखो (समझो) तथा आप शब्दों के सन्धि (भेद तात्पर्य) को लखो। क्योंकि सद्गुरु से कहे गये शब्दों के बिना कहीं कोई ठौर (स्थिति का स्थान) नहीं मिलता है, तातें (इस कारण से) सार और असार हूँ वस्तु को विवेक पूर्वक जानने के लिये गुरु का पारख (परीक्षा रूप) विचारात्मक उपदेश रूप शब्द ही ज्ञान के सब साधनों में शिरमौर (प्रधान) है। उसीसे सब सत्य ठौर की प्राप्ति होती है, अन्यथा नहीं ॥ ५३ ॥

षष्ठो वित्तिः

जागे से स्वपना नहीं, स्वपना सार असार।
सार शब्द निशिदिन रखे, जाते मिटे विकार ॥५४॥
अलख लखो अलखे लखो, लखो निरञ्जन तोहि।
हौं कबीर सबको लखो, मोको लखै न कोहि ॥५५॥

सद्गुरोः सारशब्देन मोहस्वप्ने गते स्मृते।
आत्मदेवे पुन नैव जगत्स्वप्नः प्रवर्तते ॥ १ ॥
दृश्यमानो जगत्स्वप्नो मिथ्यात्वेनैव भाषते।
काशते ज्ञानसूर्योऽयमनिम्लोचन् स्वयं प्रभः ॥ २ ॥
ज्ञानसूर्यप्रकाशे तु कामादितमसः कुतः।
सम्भवोऽपिभवेदङ्ग ! तच्छब्दो दृश्यतामतः ॥ ३ ।
अनिशं दर्शनीयोऽयं सारशब्दो हि यत्नतः।
यस्मात्सर्वविकाराणां निवृत्ति र्जायते स्वतः ॥ ४ ॥५४॥
आत्मानमप्रमेयं तं स्वयं चाविषयः स्थितः।
निरञ्जनमदृश्यं च जानीहि स्वयमात्मना ॥ ५ ॥
अहं सर्वं प्रपश्यामि साक्षिरूपेण सर्वदा।
मां तु कश्चिन्न जानाति जडत्वात्सर्ववस्तुनः ॥ ६ ॥५५॥

सारशब्द द्वारा जागने से (विवेक विज्ञान पूर्वक मोह ममता को त्यागने से) फिर जन्मादि रूप संसार स्वप्न नहीं होता है। वर्तमान संसार का सार (पदार्थ) असार (मिथ्या) भासने लगता है। अतः निशिदिन (सदा) सद्गुरु के सारशब्द को हृदय में रखना चाहिये कि जिससे ज्ञान द्वारा कामादि और जन्मादि सब विकार समूल मिट जाते हैं ॥५४॥ अलख (अदृश्य) आत्मा को स्वयं अलखे होते तुम जानो कि अदृश्यात्मा मैं हूँ, देहादि दृश्य स्वरूप नहीं हूँ। इस प्रकार तोहि (तुम अपने) को निरञ्जन (निर्गुण निर्लेप) समझो

(तमोगुण अविद्यादि से रहित जानो) मैं कबीर कहलानेवाला भी सत्य साक्षी स्वरूप से सबको जानता हूँ और मुझे जाननेवाला अन्य कोई नहीं है, मैं स्वयं प्रकाश हूँ तथा मैं अपने निर्गुण स्वरूप को आप जानता हूँ, तहाँ व्यावहारिक प्रमाताकी सत्यात्मासे भिन्न सत्ता नहीं है। अतः वह अपनेको आप जानता है।५५

हमहिं लखा तिहुँ लोक में, तूँ क्यों कहे अलेख।
सार शब्द जाना नहीं, धोखे पहिरा भेख ॥५६॥

आत्मनोऽविषयत्वेऽपि साक्षित्वेन स भासते।
सारशब्देन सैवेह लक्ष्यते नात्र संशयः ॥ ७ ॥
अलक्ष्यं सर्वथा मत्वा तं जानाति न यो नरः।
सारशब्दं विना वेषं मुधागृह्णाति सोऽधमः ॥ ८ ॥
साक्ष्यत्र सर्वलोकेषु लक्ष्यमाणः सदाऽस्म्यहम्।
अलक्ष्यं भाषते कस्माद् वेषं धृत्वा भ्रमात्मकम् ॥९॥५६॥

साक्षी स्वरूप हमही (आत्मा ही) अहम् (मैं) इस बुद्धि वृत्ति के विषय रूप से तीनों लोक, तीनो जाग्रदादि अवस्था में लखा जाता हूँ (प्रत्यक्ष होता हूँ) तुम कोई उस आत्मा को सर्वथा अलेख (अज्ञेय अलक्ष्य = अप्राप्य) क्यों कहते हो, और समझते हो। सारशब्द को जाने बिना तुमने धोखे में वेष पहिरा है। अतः वेष पहिर कर भी ऐसा कहते हो। भाव है कि "नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो न च प्रमादात्तपसो वाप्यलिङ्गात्। मुण्डक० ३।२।४" यह परमात्मा विरागादि बल रहित से प्राप्यज्ञेय नहीं है, न विषयासक्तिरूप प्रमाद से लभ्य है, अलिंग (सन्यासरहित) तप (ज्ञान) से भो लभ्य नहीं है, इस श्रुति के श्रवणादि से जो संन्यास को परमात्म प्राप्ति के साधनरूप समझकर संन्यासादि के वेष मात्र गैरिकवस्त्रादि पहिर लेते हैं सो धोखे में वेष पहिरते हैं। वेषमात्र ज्ञान का साधन नहीं हैं, श्रुति में अलिङ्ग शब्द तप का विशेषण है। और तप शब्द, अहिंसादिरूप यम और शौचादिरूप नियम का वाचक है, और [1]अहिंसादिरूप तपके लिङ्ग (चिह्न) वैरादिके त्यागादिरूप योगदर्शन में वर्णित हैं, उस वर्णित लिङ्गरहित तामस तप से भी परमात्मा नहीं प्राप्त होता है. और "न तावदयमेकान्तेनाऽविषयः अस्मत्प्रत्ययविषयत्वात् अपरोक्षत्वाच्च। शरीरकशाङ्करभा. १।१।१" इस भाष्यसे अस्मत् (अहं) ज्ञानके विषयता और अपरोक्ष ज्ञानरूपता से आत्मा के अत्यन्त अविषयता का निषेध किया गया है ॥५६॥

---

१ अहिंसा सत्यास्तेयब्रह्मचर्याऽपरिग्रहा यमाः। जातिदेशकाल समयानवच्छिन्नाः सर्वभौमा महाव्रतम्। शौच सन्तोष तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि

साखी आँखी ज्ञान की, समुझि देखु मन माहिं ।
बिनु साखी संसार की, झगड़ा छूटत नाहिं ॥५७॥

ज्ञानाक्ष्णा साक्षिणां चित्ते सम्यक् पश्यतु वै भवान् ।
तज्ज्ञानेन विना यस्माद् द्वन्द्वं नैव निवर्तते ॥१०॥
ज्ञान दृष्ट्या स्वयं दृष्ट्वा साक्षिणं निर्मलं हरिम् ।
विचारादियुतो विद्वान् निर्द्वन्द्वो राजते सदा ॥११॥५७॥

साक्षीस्वरूप आत्मा को शुद्ध बुद्धिजन्य ज्ञान नेत्र से अपने मन में समझ कर (सावधान होकर = विचार कर) देखो (अपरोक्षकरो) क्योंकि लोक में

नियमाः । यद्यपि यहाँ योग सूत्र में तप विशेष व्रतादिरूप पृथक् पढ़ा हुआ है, तथापि सामान्य तप स्वरूप अहिंसा आदि सब हैं, और सब में अहिंसा प्रधान है, अहिंसा के पोषक ही सत्यादि योग ज्ञानादि के साधन होते हैं, अन्य नहीं। और "तथाऽहिंसा परं तपः' "नास्ति सत्यसमं तपः" और "देव द्विज गुरु प्राज्ञ पूजनं शौचमार्जवम् । ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते" इत्यादि वचनों से गीता में त्रिविध तप कहे गये हैं । और मनसश्चेन्द्रिययाणां चैकाग्र्यं परमं तपः । तच्छ्रेष्टं सर्वधर्मेभ्यः स धर्मः पर उच्यते ॥ १ ॥ इत्यादि । "अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः । सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम् । अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम् । ब्रह्मचर्य प्रतिष्ठायां वीर्यलाभः । अपरिग्रह स्थैर्ये जन्मकथान्ताबोधः । ये अहिंसादि की प्रस्थिति में फल कहे गये हैं, सोई उनकी पूर्णता के लिङ्ग हैं, सर्वथा लिङ्ग रहित राजस तामस तप से भी आत्मदेव की प्राप्ति नहीं होती है । शौच से स्वाङ्ग जुगुप्सा पर से असंसर्ग तो होता ही है, सत्त्वशुद्धि सुमनस्ता एकाग्रता, इन्द्रिय जय, आत्मदर्शन योग्यता फल होते हैं कि जिनके विना आत्मलाभ हो ही नहीं सकता है । सन्तोष से श्रेष्ठ सुख शान्ति का लाभ होता है । व्रतविशेषादि रूप तप से पापों की निवृत्ति पूर्वक आणिमादि और दूर दर्शनादिरूप सिद्धियाँ होती हैं, मन्त्र जप आदि रूप स्वाध्याय से इष्टदेव के दर्शनादि होते हैं । सर्व भाव सर्व कर्म का ईश्वर में अर्पण रूप ईश्वर प्रणिधान से समाधि की सिद्धि होती है कि जिससे भूत भावी आदि वस्तुओं का भी यथार्थ ज्ञान होता है । इस ईश्वर प्राणिधान के ही अङ्ग होकर आसन प्राणायामादि समाधि के साधन होते हैं । प्रजापति का ज्ञान ही तप होता है, अन्य का नहीं । अतः अन्य जीव बाह्याभ्यांन्तर संन्यास रूप तथा अन्य यथायोग्य तप से आत्मलाभ करते हैं, वेषमात्र से नहीं । समय = संकेत विशेष को कहते हैं ।

जैसे साक्षी (गवाही) के बिना झगड़ा नहीं छूटता है। तैसे जन्ममरणादि रूप रागद्वेषादि द्वन्द्व रूप झगड़ा साक्षी स्वरूप के ज्ञान के बिना नहीं छूटता है। और साक्षीस्वरूपका ज्ञान प्रमाणरूप सार (सत्य) शब्दके बिना नहीं होता है। क्योंकि वह रूपादि से रहित होने से नेत्रादि से जाना ही नहीं जा सकता है। और लक्षण तथा प्रमाण से वस्तु की सिद्धि (अनुभूति) होती है। तहाँ लक्षण से सम्भावितं वस्तु का प्रमाण से निश्चयरूप ज्ञान होता है। और "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। तैत्तिरीय. ३।१" इस श्रुति में सत्य ज्ञान अनन्त ये तीन ब्रह्म के विशेषण हैं सो ब्रह्मके लक्षण हैं। क्योंकि विशेषण सजातीयमात्रसे पदार्थका भेदक होता है। जैसे "नीलो घटः" यहाँ नील विशेषण श्वेतादि घटसे नील घट का भेदक होता है। और लक्षण अन्य सबसे लक्ष्य का भेदक होता है। जैसे गन्धवत्त्व पृथिवी का लक्षण है, सो सब पदार्थ से पृथिवी का भेदक होता है। तैसे ही श्रुति गत, सत्य, ज्ञान, अनन्त, पद, मिथ्या, जड़, नश्वर, भेद युक्त सब अनात्मपदार्थ से भिन्न ब्रह्म के बोधक हैं, सो ब्रह्म ही सर्वसाक्षी सर्वात्मा है कि जिसके ज्ञान से संसार दुःख की निवृत्ति ोती है। तटस्थ और स्वरूप दो प्रकार के लक्षण होते हैं, तहाँ सत्यं ज्ञानं, अनन्तं ये आत्मा के स्वरूप लक्षण हैं। और "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। तैत्ति० ३।१" इत्यादि तटस्थ लक्षण कहे गये हैं। अन्य के धर्म से जहाँ लक्ष्य को समझाया जाय, तहाँ तटस्थ लक्षण कहा जाता है, भूतों की उत्पत्ति ब्रह्म का लक्षण है, सो तटस्थ लक्षण है, बीजक के आदि में तथा ब्रह्मसूत्र के आदि में तटस्थ लक्षण दर्शाया गया है ॥५७॥

पूरा साहब सेइये, सब विधि पूरा होय।
ओछे नेह लगाय के, मूलहुं आवै खाय ॥५८॥
जाहु वैद्य घर आपना, बात न पूछै कोय।
जिन यह भार लदाइया, निर्वाहैगा सोय ॥५९॥

ज्ञानार्थं पुरुषं पूर्णं सद्गुरुं सेवतां तथा।
सर्वथा लप्स्यसे पूर्णं पदं यस्मादखण्डितम् ॥१२॥
हीनेन सह सङ्गत्या नाशयित्वा धनं स्वकम्।
मूलमायाति तस्मात्त्वं न सेवस्व न पृच्छ वा ॥१३॥
साधुभिः सह सत्प्रीतिः स्वर्गमोक्षप्रदा सदा।
असद्भिः सा कृता प्रीतिः सर्वनाशकरी भवेत् ॥१४॥५८॥

वैद्यवद् यः शरीरार्थं वक्ति नात्मनिबन्धनम् ।
तं ब्रूहि त्वं गृहं गच्छ वार्तां काञ्चिन्न पृच्छ तम् ॥१५॥
शरीरधारणायापि तमपृष्ट्वा निवर्तय ।
पैरयं भरउद्गूर्णो निर्वक्ष्यन्ति हि ते त्वयि ॥१६॥५९॥

उक्त साक्षी स्वरूप का जानने के लिये पूरा (पूर्ण ज्ञानी विभु) साहब (सद्गुरु ईश्वर) को सेवो भजो कि जिससे सब प्रकार से पूरा (पूर्ण ज्ञानी तृप्त सुखी) तुम भी होगे । और ओछे (अज्ञ अपूर्ण) से नेह (प्रेम) लगा कर तो मूल को भी खोय कर, फिर संसार में यह प्राणी बार बार आता है । मनुष्यता को खो कर भटकता है ॥५८॥ अतः अज्ञ गुरु रूप वैद्य से कह देना चाहिये कि हे महाराज ! आप अपने घर पधारिये आपसे कोई बात नहीं पूछता है । जिन परमेश्वर प्रारब्धादिकों ने यह देहादि भार मेरे ऊपर लादा है, वे ही इसका निर्वाह करेगें । आप देहादि की ही चर्चा करते हैं, इस चर्चा की अब जरूरत नहीं है । "योग क्षेमं वहाम्यहम्" ईश्वर स्वरूप मैं भक्त के योग क्षेम को सिद्ध करता हूँ । यह भगवान् श्रीकृष्ण जी का वचन है ॥५९॥

मैं चितवत हौं तोहि को, तूँ चितवत है वोहि ।
कहहिं कबिर कैसे बनै, मोहि तोहि औ ओहि ॥६०॥
तकत तकावत तकि रहा, सका न बेझा मार ।
सबे तीर खाली परा, चला कमानहि डार ॥६१॥

अहं त्वामत्र पश्यामि त्वं चेदन्यान्निरीक्षसे ।
कथं ममतवान्येषां सङ्गादि सम्भवेद्धितम् ॥१७॥
गुरुर्यस्य हितं वष्टि स यं हीनं निरीक्षते ।
तयोः सद्गुरुणा सङ्गो जायते न कदाचन ॥१८॥६०॥
अन्यान् संदर्शयन् पश्यन्नात्मभिन्ने स्थितो नरः ।
लक्ष्यं न लब्धवान्नैव कालं नाशितवांस्तथा ॥१९॥
श्वासवृत्त्यात्मबाणानां नाशेत्यक्त्वा धनुर्गतः ।
गच्छति च शरीराख्यं जीवो दिष्टस्य संक्षये ॥२०॥
लब्धवान्न सुखं शान्तिं न ज्ञानं ध्यानमुत्तमम् ।
स्वात्मभिन्ने स्थितो जीवस्तस्मात्तं परिवर्जयेत् ॥२१॥६१॥

मैं (सद्गुरु) तेरे हित के लिये तोहि (तुझ जिज्ञासु को) चितवता (देखता) हूँ । तू यदि किसी वोहि (उस) हीन वस्तु पुरुषादि के तरफ

चितवत (चिन्तावाला) है, तो श्री कबीर साहब कहते हैं कि मेरा तेरा और उसका सङ्ग कैसे बनेगा। अर्थात् "अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते। तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्। भ० गी० ६।२२" जो अनन्य शरण भक्तजन सर्वात्मा एक ईश्वर सद्गुरु को ही सर्वथा सेवते हैं, उन नित्याभियुक्त (ध्यानादि परायण) के ही योगक्षेम स्वयं ईश्वर करता है। अतः अनन्य शरण होना चाहिये ॥६०॥ अनन्य शरण हुए बिना जो कोई अनेक अनात्म वस्तु को ही स्वयं ताकता हुआ (देखता हुआ) और अन्य को तकाता हुआ (देखाता हुआ), उस अनेक को ही सदा ताकते रहा, सो किसी सत्य बेझा (वेध्य लक्ष्य) को मार नहीं सका, न ईश्वर को प्राप्त कर सका, न कामादि को नष्टकर सका और ध्यानादिरूप सब तीर व्यर्थ गया, जीवन व्यर्थ गया, अन्तमें देह धनुष को त्यागकर गया, कामादि को नहीं त्यागा, न कुछ पाया ॥६१॥

जस कथनी तरनी तसी, जस चुम्बक तस ज्ञान।
कहहिं कबिर चुम्बक बिना, क्यों जीतै संग्राम ॥६२॥
देश विदेश हौं फिरा, गाम गाम की खोरि।
ऐसा जियरा ना मिला, लेवै फटक पछोरि ॥६३॥

यथैवोक्तिस्तथा कर्म ज्ञानं च लौहकान्तवत्।
वासनाकर्षणेशक्तं यस्य सैव जगज्जयेत् ॥२२॥
वासनाविगमायाऽलं विज्ञानमन्तरा कथम्।
संसारो जीयतेऽप्रज्ञैः कर्मकोटिशतैरपि ॥२३॥६२॥
अस्माभिः सर्वदेशेषु ग्रामादिषु च सर्वतः।
मृग्यद्भिर्नैव लब्धोऽसौ विवेककुशलो नरः ॥२४॥
स्वदेशे चान्यदेशेऽहं ग्रामे नगर वीथिषु।
व्यचरं न च लब्धोऽत्र जीवश्चैतादृशोऽधिकः ॥२५॥
यो विवेकादसत् त्यक्त्वा ह्युन्मूल्यवासनादिकम्।
सत्यमेव विजानीयात्तादृग्देशेषु दुर्लभः ॥२६॥६३॥

जैसी कथनी (भक्तादि की कथा) करे, तैसी करनी (अनन्य भक्ति आदि) करो। भीतर से लोहे को निकालनेवाला जैसा चुम्बक होता है, तैसा भीतर के कामवासनादि को निकालने वाला ज्ञान को सद्गुरु से प्राप्त करे। अतः श्रीकबीर साहब कहते हैं कि चुम्बक तुल्य ज्ञान के बिना मद-मोहादि शत्रुओं के साथ संग्राम में कोई कैसे जीतेगा। अतः करनीपूर्वक वह ज्ञान अवश्य

प्राप्तव्य है ॥६२॥ हौं (मैं) देश-विदेशों में ग्राम-ग्राम की खोरियों गलियों विथियों में फिरा। परन्तु ऐसा जियरा (जीव = मनुष्य) बहुत नहीं मिला कि जो विवेक विचार विरागादिरूप सुप से फटक पछोर कर (पाप अनात्म मिथ्या को त्याग कर) पुण्य शुद्ध सत्यात्मा को ही लेवे, धारण करे, समझे ॥६३॥

मैं चितवत हौं तोहि को, तूँ चितवत किछु और।
लानत ऐसे चित्त पर, एक चित्त दुइ ठौर ॥६४॥
वेद कहे सो नहिं करै, समुझै और कि और।
चौरासी के धार में, कबहुँ न पावै ठौर ॥६५॥
फेर परा नहिं अङ्ग में, नहिं इन्द्रिन के माहिं।
फेर परा है बूझ में, सो निरुआरै नाहिं ॥६६॥

अहं त्वां चिन्तयाम्यङ्ग ! त्वं चेदन्यं निरीक्षसे।
धिक् त्वच्चित्तं यतो द्वैधे सन्दिग्धे संप्रवर्तते ॥२७॥
कुरुते यो न वेदोक्तं सत्यात्मानं न पश्यति।
जानाति विपरीतं चेत्संसाराब्धौ स घूर्णते ॥२८॥
सर्वयोनिषु स भ्रान्तो भ्रमन्न लभते स्थितिम्।
कदाचिदपि कुत्रापि तस्माद् वेदोक्तमाचरेत् ॥२९॥६५॥
वैपरीत्यं नचाङ्गेषु नेन्द्रियेषु च वर्तते।
बुद्धौ तद् वर्तते येन विपरीतं प्रपश्यति ॥३०॥
नरः सैवात्र निर्धो यो गत्वा सद्गुरुसन्निधौ।
तं नाशयति नो मोहं लोभेन च विनश्यति ॥३१॥६६॥

मैं तेरा हित चितवता (सोचता) हूँ तथा तोहि को (तुमको) चितवत (ज्ञानवान) करना चाहता हूँ। परन्तु तूँ यदि और कुछ सोचते हो अन्य को ज्ञानवान समझते हो, स्वयं ज्ञानवान् नहीं होना चाहते हो, एक ज्ञान मार्ग में मनको नहीं लगाते हो, तो ऐसे चित्तपर लानत (धिक्कार) है कि जो एक चित्त दो ठौरमें रहता है, या रहना चाहता है कि जिससे एकाग्र निरुद्ध नहीं होता है, न समाधि अनुभूति पाता है ।।६४।। "सत्यं वद, धर्मं चर" तैत्तिरीय १।११।१" "ओङ्कारएवेदं सर्वम्। छा० ७।२३।३" "आत्मैवेदं सर्वम्" ७।२५।२ इत्यादि वेद उपनिषद् जिस सत्य, अहिंसादि धर्म, ओंकार ब्रह्मात्मा को आचरणादि के लिये कहते हैं। उस आचरण अनुभव विचारादि को जो नहीं करते हैं, तथा और (अन्य = अनात्मा अपवित्र दुःख अनित्य) को ही जो और कुछ =

आत्मा पवित्र सुख नित्य समझते हैं, सो पाप को भी पुण्य माननेवाले चौरासी लाख योनियों के प्रवाह में पड़कर कहीं कभी ठौर (स्थिति) नहीं पाते हैं, सदा बहते रहते हैं। अतः ठौर के लिये वेदोक्त सत्य धर्मादि वक्तव्य और कर्तव्य है ॥६५॥ वेदादि की आज्ञा को नहीं मानने वाले भ्रान्तियुक्त प्राणियों के अङ्ग या इन्द्रियों में फेर (विपर्यय) नहीं पड़ा है, अङ्ग और इन्द्रिय अपने अपने स्थान और व्यापार में ही स्थिर और लगे हैं। किन्तु बूझ (ज्ञान) में फेर पड़ा है, उसका वेदादि के बिना निवारण नहीं हो सकता है। अतः वेदादि द्वारा वह निवारणीय है ॥६६॥

तिमिर जाय रवि देखते, कुबुधि जाय गुरु ज्ञान ।
सुमति जाय एक लोभते, जामें भुला जहान ॥६७॥

सूर्यसाम्मुख्यतो यद्वत्तमो नश्यति तत्क्षणात् ।
गुरो र्लब्धेन बोधेन वैपरीत्यं मतेस्तथा ॥३२॥
एकेनैव तु लोभेन सुबुद्धिश्च विनश्यति ।
कामेन दारुणेनेह भ्रमन्ति भ्रान्तजन्तवः ॥३६॥६७॥

यद्यपि वेदादि ज्ञान के हेतु हैं, तथापि वेदादि का ज्ञान ज्ञानी गुरु के बिना नहीं होता है। अतः जैसे सूर्य को देखते (सम्मुख = सामने होते) ही तिमिर (अन्धकार) स्वयं ही नष्ट हो जाता है। तैसे ही सद्गुरु द्वारा निःसंशय ज्ञान की प्राप्ति होते ही कुबुद्धि नष्ट हो जाती है, दम्भ, पाखण्ड, क्रूरता, हिंसा आदि के हेतुरूप बुद्धि निवृत्त हो जाती हैं। और गुरु ज्ञान का हेतु सुमति (निःछलता सरलता) आदि एक लोभ से नष्ट होता है। अतः लोभी को भावी हित की बुद्धि (धर्माधर्मादि के विवेकादि) नहीं रह जाती है। अतएव जिस लोभ में ही पड़कर सब जहान (संसारी) अपने मार्गों धर्मों कर्तव्यों को भूला है। उस लोभादि को त्यागकर गुरु से सुमति प्राप्तव्य है ॥६७॥

यह मन तो लोभी भया, खेत विरानो खाय ।
वाका फल आगे मिले, काल घसीटे धाय ॥६८॥
बिगरी जन्म अनेक की, सुधरी अबही आय ।
जब गुरु आप कृपा करी, शब्द दियो परखाय ॥६९॥

लोभाऽऽक्रान्तंमनोऽभूत्तत्परस्वं क्षेत्रमत्ति च ।
फलंह्यस्य मिलत्यग्रे कालः कर्षति वेगतः ॥३५॥६८॥

अनन्तजन्मतो नष्टा सुबुद्धिः सुस्मृतिर्धृतिः।
यदा गुरोः कृपा जाता सारशब्देन साऽभवत् ॥३५॥६९॥

सुमति के बिना यह लोगों का मन लोभी हुआ है, जिससे विरानी (अन्य के) स्त्री धन भूमि आदि रूप खेतों को चोरी बलात्कार वञ्चकता आदि द्वारा खाता (भोगता) है। यद्यपि अन्याय से भोगकाल में पाप लोभ का फल नहीं प्रतीत होता है, तथापि उस अविहित भोग रूप पाप का फल आगे अवश्य मिलता है, कि जब प्रारब्ध के अन्त में धाय (दौड़) कर काल पकड़ता है, और नरकादि में घसीटता है। अतः लोभ अवश्य त्याज्य है।६८॥ क्योंकि लोभ को त्यागने से जब सद्गुरु ने आप (स्वयं) कृपा करी, और जिसको सार शब्द तथा उसका अर्थ परखाय दिया (शब्द और अर्थ का अनुभव करा दिया) उसकी अनेक जन्म की बिगड़ी हुई बुद्धि, स्थिति, गति, अबही (तुरन्त) सुधर गई, और सुधर जाती है। मोह लोभादि नष्ट हो जाते हैं। प्राप्तव्य सब प्राप्त हो जाते हैं। अतः लोभादि को त्याग कर गुरु कृपा का पात्र बनना चाहिये ॥६९॥

गुरु माथे पर राखिये, चलिये आज्ञा माहिं।
कहहिं कबिर तिहि सन्त को, तीन लोक डर नाहिं ॥७०॥
साधु बड़े परमारथी, घन ह्वै बरषहिं आय।
तपत बुझावहिं और के, अपनो पारस लाय ॥७१॥

शिरसि श्रीगुरुर्धार्यो गन्तव्यस्तस्य शासने।
एवं न त्रिषु लोकेषु कुत्रापि विद्यतेभयम् ॥३६॥७०॥
साधवो गुरवः श्रेष्ठा भवन्ति परमार्थिनः।
स्वकीयं बोधजं दत्त्वा सुखं तापान् हरन्ति ते ॥३७॥७१॥

गुरु के कृपा पात्र बन कर गुरु को माथे (शिर) पर रखो, उनके उपदेशादि को शिरोधार्य करो, और आज्ञा में चलो। आज्ञा के अनुसार साधनादि करो। श्रीकबीर साहब कहते हैं कि ऐसा करने वाले उस सन्त (शिष्य भक्त) को तीनो लोकों में कहीं भय नहीं होता है। "अभयं सत्त्वसंशुद्धि" आदि दैवी सम्पत्ति की प्राप्ति पूर्वक ज्ञान पाकर वह मुक्त हो जाता है। क्योंकि "गुरु की आज्ञा आवई, गुरु की आज्ञा जाय। कहैं कबिर सो सन्त हैं, आवागमन नशाय ॥१॥ गुरु मिलिया तब जानिये, मिटे मोह तन पाप। हर्ष शोक व्यापै नहीं, तब गुरु आपे आप ॥२॥ हर्ष शोकादि से रहित होने पर शिष्य

आप गुरु रूपता को पाता है ॥७०॥ सन्त स्वरूप गुरु बड़े परमारथी (उत्तम अर्थ फल को सिद्ध करने वाले परोपकारी) होते हैं। मानो मेघ होकर संसार में आकर अमृत (मोक्ष) की वर्षा करते हैं। अपनो पारस (पावन रस = आनन्द) को अन्य के हृदय में लाकर उसके तापों को शान्त करते हैं ॥७१॥

वृक्षा फलै न आप को, नदी न अँचवै नीर।
परमारथ के कारणे, सन्तन धरा शरीर ॥७२॥

इति श्रीसद्गुरुकबीरकृते विविधबन्धबीजविध्वंसने बीजकनाम्निग्रन्थे
द्वादश परिशिष्टसाखीप्रकरणं समाप्तम् ॥ १२ ॥

तरवोऽपि हि जीवन्ति जीवन्ति मृगपक्षिणः।
स जीवति मनो यस्य मननेन न जीवति ॥३८।
"पिबन्ति नद्यः स्वयमेव नाम्भः स्वयं न खादन्ति फलानि वृक्षाः।
नादन्ति सस्यं खलु वारिवाहाः परोपकाराय सतां विभूतयः" ।३९॥
कृपालुरकृतद्रोहस्तितिक्षुः सर्वदेहिनाम्।
सत्यसारोऽनवद्यात्मा समः सर्वोपकारकः ॥४०॥
कामैरहतधीर्दान्तो मृदुः शुचिरमोघवाक्।
ईदृग्गुणान् सदा शान्तान् वन्दे साधून् महेश्वरान् ॥४१॥७२॥

इतिसाक्षिसाक्षात्कारेपरिशिष्टेषष्ठीविवृत्तिः ॥ ६ ॥

ॐ शान्ति ! शान्ति !! शान्ति !!!

❀ समाप्तश्चायं सपरिशिष्टग्रन्थः ❀

वृक्ष फलों को आपको (अपने लिये) नहीं फलता (उत्पन्न करता) है, न नदियाँ अपने नीरों (जलों) को आप अँचवती (अंचवन करती = पिती) हैं। किन्तु वृक्ष अन्य के लिये फलते हैं, नदियाँ अन्य के लिये नीर का धारण करती हैं। इसी प्रकार से परमारथ = अन्य के उपकार के लिये सन्तों ने शरीर का धारण किया है, और करते हैं ॥ ७२ ॥

इति श्रीसद्गुरुकबीरसाहबकृत बीजक का स्वामीश्रीहनुमान दासजी
साहब षटशास्त्री विरचित स्वल्पाक्षराहिन्दी व्याख्या
द्वादश परिशिष्ट साखी प्रकरण समाप्त ॥ १२ ॥

❀ ॐ राम ❀